॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

२६०

कालिदास-ग्रन्थावली

(महाकवि कालिदास की रचनाओं का सर्वांगपूर्ण संस्करण)

व्याख्याकार

पण्डित श्रीरामतेज शास्त्री

सम्पादक

डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी

साहित्य-आयुर्वेद-ज्यौतिष-आचार्य

एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० एस-सी० ए०

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
(प्राच्यभारती के प्रकाशक एवं वितरक)
के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन
पो० बा० नं० ११२९
वाराणसी २२१००१
☎ ३३३४३१

प्रथम संस्करण १९९६ ई०
मूल्य ४००-००

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
३८ यू० ए०, जवाहरनगर, बैंगलो रोड
पो० बा० नं० २११३
दिल्ली ११०००७
☎ ३३६३९१

प्रमुख वितरक
चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)
पो० बा० नं० १०६९
वाराणसी २२१००१
☎ : ३२०४०४

कम्प्यूटर टाइप-सेटर्स
सरस्वती टाइप फाउण्ड्री, इलाहाबाद

मुद्रक
ए० के० लिथोग्राफर, दिल्ली

सम्पादकीय

कविकुलकमलदिवाकर, कविताकामिनीकान्त तथा सरस्वती के वरदपुत्र महाकवि कालिदास परमशैव थे। उनकी द्राक्षापाकशालिनी अमर कृतियाँ दिग्-दिगन्तों तक व्याप्त हैं। समय-समय पर इनकी कृतियों के देशी एवं विदेशी भाषाओं में अनुवाद भी हुए हैं। जनसमाज दो प्रकार का होता है, एक गुणग्राही और दूसरा दोषदर्शी। इस प्रकार के लोगों की भी इनकी रचनाओं की ओर दृष्टि गयी, फलतः इन लोगों ने इनके बारे में अपने-अपने चरित्र के अनुरूप बहुत कुछ लिख डाला, जिस पर आज का विद्वत्समाज विचार कर रहा है; अगला समाज भी विचार करता रहेगा। इस ओर जब आलोचकों की दृष्टि पड़ी तो उन्होंने अपने अज्ञान के कारण महाकवि की रचनाओं के बारे में अनेक प्रकार की छींटाकसी की है। हम यहाँ इस प्रकार के कतिपय स्थलों को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत कर रहे हैं।

दोषदर्शन—यथा–**'त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श'** (कुमार०) को इस पद्यांश में 'त्र्यम्बकं' पद के स्थान पर अपाणिनीय 'त्रियम्बकं' पद का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार के अन्य अनेक प्रयोग इनके काव्य-नाटकों में आये हैं, जिनका स्पष्ट रूप से उल्लेख हमने परिशिष्ट में दिये गये **'कालिदास एवं अश्वघोष : एक ऐतिहासिक गवेषणा'** शीर्षक निबन्ध में किया है। उसे आप ध्यान से पढ़ें। जिस महाकवि ने अनेक प्राचीन व्याकरणों को अपने जीवनकाल में आत्मसात् कर सरस्वती के भण्डार को भरने का सफल प्रयत्न किया हो वह किसी एक व्याकरणशास्त्र के नियमों पर कैसे निर्भर रह सकता है? भला आप ही विचारिए। वास्तव में महाकवि के इस प्रकार के प्रयोग इनके कालनिर्णय में प्राचीनता के परिपोषक हैं।

आचार्य मम्मट ने कालिदास की कृतियों को आधार मानकर अपने **'काव्यप्रकाश'** में जिन दोषों की चर्चा की है, उनका प्रतिवाद **'कालिदासीय कृतियों की निर्दोषता'** नामक एक लेख इसी ग्रन्थावली के आलोचनात्मक परिशिष्ट में प्रकाशित है, उसे मनोयोगपूर्वक पढें और मनन करें। मम्मट ने **'अविमृष्टविधेयांश दोष'** के लिए जिस **'न्यक्कारो'** इत्यादि पद्य को उद्‌धृत किया है, वह अपने में एक विचारणीय विषय है। क्या उक्त पद्य में सचमुच उक्त दोष है? विवेकशील एवं निर्मत्सर विद्वान् इस पर विचार करें।

रचना-सम्बन्धी मतभेद—सुकृती महाकवि कालिदास की कृतियों के सम्बन्ध में विद्वानों में जो मतभेद है, तदनुसार कतिपय आलोचकों की मान्यता है कि 'ऋतुसंहार' नामक खण्डकाव्य इनकी कृति नहीं है। इस मान्यता को दूर करने के लिए आप निम्नलिखित स्थलों पर दृष्टिपात करें। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटक के आरम्भ में महाकवि ने जिस ग्रीष्म ऋतु के सन्ध्याकाल की इस प्रकार चर्चा की है—

'सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गिसुरभिवनवाताः ।
प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः' ॥ (शाकुन्तल)

उसी ग्रीष्म ऋतु के वर्णन को लेकर महाकवि ने उक्त 'ऋतुसंहार' का प्रारम्भ इस प्रकार किया है। दोनों पद्यों के भावसाम्य पर दृष्टिपात करें—

'प्रचण्डसूर्यः स्पृहणीयचन्द्रमाः सदावगाहक्षतवारिसञ्चयः ।
दिनान्तरम्योऽभ्युपशान्तमन्मथो निदाघकालोऽयमुपागतः प्रिये' ॥ (ऋतु०)

इसके अनन्तर **'मधुरेण समापयेत्'** इस सरस परम्परा का अनुसरण करते हुए महाकवि ने उक्त खण्डकाव्य की परिसमाप्ति 'वसन्त-वर्णन' द्वारा की है, जो महाकवि की भावनाओं के सर्वथा अनुरूप प्रतीत होता है। इस अन्तःसाक्ष्य से यह सिद्ध होता है कि 'ऋतुसंहार' भी इन्हीं की कृति है, क्योंकि ये निसर्ग कवि कहे जाते हैं।

मेघदूत—कुछ आधुनिक विद्वान् जिन्हें लक्षण-ग्रन्थों का ज्ञान नहीं है, वे कालिदास की कृति को 'गीतिकाव्य' मानते हैं, माना करें; हमें इस विषय में कुछ कहना नहीं है। खण्डकाव्य अथवा दूतकाव्य परम्परा में अनुपम **'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः'** का उज्ज्वल उदाहरण तथा **'निरङ्कुशाः कवयः'** इस सूक्ति का पूर्णरूपेण पोषक यह खण्डकाव्य विप्रलम्भ शृंगार का अप्रतिम निदर्शन है। इसके अतिरिक्त भी प्रस्तुत खण्डकाव्य में भाव तथा विषय सम्बन्धी ऐसी अनेक विशेषताएँ हैं जो अन्य दूतकाव्यों में सुलभ नहीं हैं। उन सबसे बढ़-चढ़कर महाकवि की यह सूझ-बूझ अत्यन्त प्रशंसनीय एवं मार्मिक है, जिसका अनुभव प्रत्येक विरही नर-नारी का हृदय करता है—

'त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं **नौ** कृतान्तः' ॥ (उत्तरमेघ)

उक्त पद्य में महाकवि ने एक-दूसरे से बिछुड़े हुए अतएव विरहविधुर उस यक्षदम्पति का **'नौ'** इस एक अक्षर से वर्णन किया है, जो तन से बिछुड़ जाने पर भी मन से तथा विचारों से सर्वथा अभिन्न थे। इस प्रयोग के लिए महाकवि की जितनी भी प्रशंसा की जाय वह कम ही है। **'नौ'** के स्थान पर उसी अर्थ का वाचक **'आवयोः'** पद उस अभिन्नता की अभिव्यञ्जना कदापि नहीं कर सकता, सहृदय विद्वान् इस तथ्य की ओर ध्यान दें। यह स्थल कालिदास के सूक्ष्मदर्शन, वर्णनचातुर्य एवं विचार-गाम्भीर्य का स्फुट उद्घोषक है।

ग्रन्थावली-परम्परा—किसी महाकवि की सभी रचनाएँ एक स्थान पर पाठकवृन्द को उपलब्ध हो सकें, इसी पवित्र संकल्प से प्रेरित हो विद्वानों ने इस परम्परा का सूत्रपात किया। तदनन्तर यह रुचिकर एवं उपयोगी परम्परा देखते-देखते उभर आयी। इसे हम उस-उस कवि के सुयश की जीवातु ही कहेंगे। इसी पवित्र परम्परा का यह अन्यतम सुवासित सुमनस्तवक **'कालिदास-ग्रन्थावली'** भी है।

सुप्रसिद्ध एवं यशस्वी महाकवि कालिदास के ग्रन्थरत्नों की आवली (रत्नहार) से अपने कंठ तथा वक्षःस्थल की सुषमा-वृद्धि कौन सरसहृदय व्यक्ति करना नहीं चाहेगा ? उक्त रत्नहार को पिरोना विद्वानों के लिए इसलिए अत्यन्त कठिन हो गया था कि कालिदास की कृतियों के सम्बन्ध में सुधीसमाज एकमत नहीं हो पाया था, क्योंकि समय-समय पर हुए अनेक कालिदास नामधारी विद्वान् उस सुप्रसिद्ध कविशेखर के प्रांशुलभ्य सुयश को प्राप्त करने की इच्छा से कुछ-न-कुछ लिखते गये। उन सबका साहित्य परस्पर होड़ लगाता हुआ सामने आया। ऐसी विषम स्थिति में काव्यमर्मज्ञ विद्वानों ने अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर जिन काव्य-नाटकों को इनकी अमर एवं अनुपम कृति के रूप में सादर स्वीकार किया है, प्रस्तुत ग्रन्थावली में उन्हीं कृतियों का सादर संग्रह किया गया है।

टीकाकारों के प्रमाद—महाकवि की कृतियों पर अनेक सुकृती विद्वानों ने समय-समय पर टीकाएँ लिखीं, किन्तु **'गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः'** प्रस्तुत उक्ति के अनुसार टीकाकारों से भी अनेक प्रकार के प्रमाद हुए हैं। प्रमाद होना मानव-स्वभावसुलभ धर्म है। बुद्धिगम्य न होने के कारण

मूल पाठों को बदल देना तथा अर्थ का अनर्थ कर देना आदि घोर अपराध हैं। इस प्रकार के प्रमादों को यथार्थ समझकर अन्धानुकरण-सम्प्रदाय के आचार्यों ने **'मक्षिकास्थाने मक्षिका'** की उक्ति को चरितार्थ किया है। इनके इन सहज अपराधों का दण्ड जिज्ञासु एवं सुकुमार बुद्धि वाले पाठकों को भुगतना न पड़े इसलिए उदाहरणार्थ कतिपय भ्रामक अर्थयुक्त स्थल यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं, पाठक इस ओर ध्यान दें।

१. **'नूपुर'** शब्द का 'बिछुआ' अर्थ करके उससे सम्बन्धित **'सिञ्जितानि'** की ओर टीकाकार ने ध्यान ही नहीं दिया, भला बिछुए में **'सिंजन'** गुण कैसे आ सकता है? २. **'घोषवृद्ध'** का अर्थ 'घोसीगाय' करके टीकाकार कृतार्थ हो गये, जब कि इसका अर्थ 'अहीरों के मुहल्ले में रहने वाले बूढ़े मनुष्य' होता है। ३. **'हैयङ्गवीन'** का अर्थ 'तुरंत निकाला हुआ मक्खन' किया गया है, जब कि इसका अर्थ होता है 'कल गाय को दुहकर प्राप्त दूध को जमाकर दूसरे दिन उस दही को मथकर निकाला गया मक्खन'। ४. कुछ टीकाकारों ने अपनी टीका में **'अनिर्वाणस्य'** पद का अर्थ ही छोड़ दिया है, कारण क्या था? वे ही जानें। ५. **'विदूरभूमिः'** का अर्थ 'विदूरपर्वत' किया है। आप देखें—**'विदूराञ्ञ्यः'** सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट लिखा है कि विदूरभूमि वह है, जहाँ वैदूर्यरत्न पाये जाते हैं। ६. **'वल्मीकाग्र'** शब्द का अर्थ मल्लिनाथ आदि सभी प्रसिद्ध प्राचीन एवं अर्वाचीन टीकाकारों ने 'बाँबी का अगला भाग' किया है, जो सहृदयजनसंवेद्य नहीं है। इसका वास्तविक एवं प्रसंगोचित अर्थ आप हमारे द्वारा सम्पादित मेघदूत की टीका में यथास्थान देखें। ७. **'पाटल'** का एक अर्थ अमरसिंह ने अपने कोश में वर्ण-विशेष का बोधक लिखा है, किन्तु **'पाटलसंसर्गिसुरभिवनवाताः'** में **'पाटल'** शब्द का अर्थ है—इस नाम के वृक्ष के फूलों की सुगन्ध से सुगन्धित उद्यानपवन। इस प्रकार के और भी अनेक स्थल हैं, जिनका ग्रन्थविस्तार के भय से यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है, किन्तु उन सभी का परिमार्जित रूप प्रस्तुत ग्रन्थावली में देखने को मिलेगा।

इस प्रकार के टीकाकारों में विशेष रूप से मल्लिनाथ कृत व्याख्या के स्खलनों को दृष्टि में रखकर मेघदूत पर सुप्रसिद्ध विद्युल्लता नामक टीका के कर्ता **पूर्णसरस्वती** ने इस प्रकार का प्रचण्ड आक्षेप किया है। देखें—

'सुकविवचसि पाठानन्यथाकृत्य मोहाद्
रसगतिमवधूय प्रौढमर्थं विहाय।
विबुधवरसमाजे व्याक्रियाकामुकानां
गुरुकुलविमुखानां धृष्टतायै नमोऽस्तु ॥'

पाठभेद—इस प्रसंगोचित आक्षेप को ध्यान में रखकर पाठकों से एक निवेदन यह भी करना है कि आपके सामने कालिदास की कृतियों से सम्बन्धित अनेक प्रकार के पाठभेदों के संग्रह आयेंगे, उनमें से आपको यह विचार करना होगा कि इनमें से कौन-सा पाठ कालिदास का हो सकता है? किन्तु इस कार्य में सक्षम वे ही हो सकते हैं, जो सहृदय हों, काव्यरसमर्मज्ञ हों, वैदर्भीरीति से सुपरिचित हों तथा जिन्होंने सरससाहित्यस्रोतस्विनी में बहुशः अवगाहन किया हो। इनके विपरीत जिनका स्मरण भर्तृहरि ने अपने नीतिशतक में **'यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्'** इस प्रकार किया है, वे कदापि कथमपि इस विवेचन के अधिकारी नहीं हो सकते।

सम्पादकीय दृष्टिकोण—आचार्य पं० रामतेज शास्त्रीजी अपने समय के विद्यानुरागियों में अन्यतम थे। आपके द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित 'कालिदास-ग्रन्थावली' में १. रघुवंश, २. कुमारसम्भव, ३. मेघदूत

तथा ४. अभिज्ञानशाकुन्तल, इन्हीं चार ग्रन्थों का ही समावेश था। शेष काव्य-नाटकों का अनुवाद कराकर सुरभारती प्रतिष्ठान ने प्रस्तुत ग्रन्थावली का नये ढंग से समुचित साज-सज्जा के साथ इस बार प्रकाशन किया है। प्रस्तुत ग्रन्थावली की अधिकाधिक उपादेयता हो, इस दृष्टि से इससे सम्बन्धित जो-जो विषय अपेक्षित समझे गये उन-उन का समावेश यथासम्भव इसके परिशिष्ट भाग में कर दिया गया है। साथ ही इसके अन्त में पारिभाषिक शब्दकोष भी दे दिया गया है, जिसमें कालिदास की कृतियों में आये हुए व्यक्तियों, प्राणियों, वस्तुओं, नदियों, पर्वतों तथा भौगोलिक स्थानों के नामों का सन्दर्भ सहित उल्लेख प्रथम बार प्रस्तुत किया गया है; जिसकी शब्दसंख्या प्रायः एक हजार है। परिशिष्ट के अन्त में **'कालिदासकालीन भारत का मानचित्र'** भी दे दिया गया है, जिसमें तत्कालीन भारत के स्थानों, देशों, पर्वतों तथा नदियों के संकेत दिये गये हैं। प्रत्येक नाटक के आरम्भ में सम्बन्धित पात्र-परिचय भी दिया गया है। हमारे इस प्रयास से पाठकवृन्द को सन्तोष का अनुभव हो, यही इसकी चरितार्थता है।

आभार—अन्त में उन सभी मनीषियों, टीकाकारों, महाकवि पं० वसन्तत्र्यम्बक शेवडेजी तथा सहयोगियों के प्रति मैं सादर नतमस्तक हूँ, जिनके कारण प्रस्तुत ग्रन्थावली का सुचारु रूप से सम्पादन हो सका। इसके सम्पादन में कालिदासीय कृतियों के विभिन्न संस्करणों के पर्यालोचन की आवश्यकता पड़ी, अतः उन-उन संस्करणों के सम्पादकों का भी मैं आभारी हूँ। साथ ही अपनी विदुषी धर्मपत्नी का भी मुझे इस कार्य में कायेन वाचा मनसा महान् सहयोग मिला, एतदर्थ मैं उनके उत्तम स्वास्थ्य एवं दीर्घायुष्य की सदैव कामना करता हूँ। अपने चारों पुत्रों को शुभाशीर्वाद प्रदान करता हूँ, जिनकी तत्परता से मुझे इसके सम्पादन में पर्याप्त सहायता मिली है।

समर्पण—इस ग्रन्थावली का समर्पण भास, कालिदास तथा बिल्हण आदि के प्रतिस्पर्धी **महाकवि पण्डित वसन्तत्र्यम्बक शेवडेजी** को किया गया है, जिनका व्यक्तित्व एवं कृतित्व आज के युग में अत्यन्त श्लाघनीय है; जो परममाहेश्वर हैं और जिनकी दृढ़ धारणा है— 'शरणं तरुणेन्दुशेखरः शरणं मे गिरिराजकन्यका' ।

धन्यवाद-ज्ञापन—चौखम्बा सुरभारती के अधिकारियों ने इस ग्रन्थावली को सँजोने-सँवारने में तन-मन-धन से जो तत्परता दिखलायी, उसी का सुपरिणाम है कि ग्रन्थावली का यह अभिनव स्वरूप आपके समक्ष प्रस्तुत है। आशा है यह सरस एवं सहृदय पाठकों के मानस को अनुरञ्जित करने में सफल होगी। भगवान् इनके उत्साहशक्ति की वृद्धि करे, जिससे ये भारतीय संस्कृत-वाङ्मय के अभ्युत्थान में सदैव इसी प्रकार प्रसरत्पद होते रहें।

विनीत

डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी

समर्पण
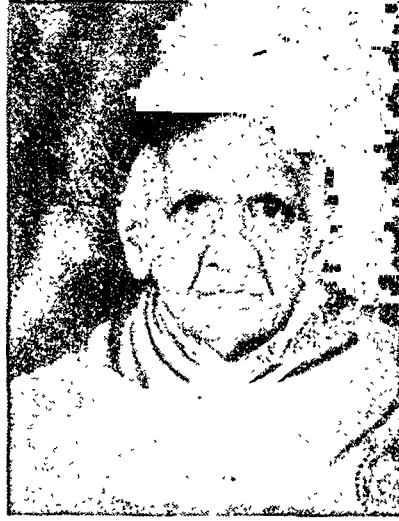
प्राच्य-पाश्चात्य उभयविध विद्याम्भोधिमन्थनसमुपलब्ध
प्रज्ञारत्नप्रभाभास्वर, विविध महाकाव्यों के रचयिता
अभिनव कालिदास, न्यायपञ्चानन, अप्रतिम-
वैयाकरण, शेवडेकुलकमलदिवाकर श्रद्धेय
पण्डित-प्रवर **वसन्तत्र्यम्बक** महोदय के
करकमलों में **कालिदासग्रन्थावली**
रूपी सुवासित सुमन-स्तबक
सादर समर्पित।

समर्पक

डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी

विषयानुक्रम

काव्य खण्ड

नाटक खण्ड

समीक्षात्मक निबन्ध

परिशिष्ट

प्रशस्ति-पद्य

पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाऽधिष्ठितकालिदासा।
अद्याऽपि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका साऽर्थवती वभूव॥

(सुभाषितसुधारत्नभाण्डागार)

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥

(वाणभट्ट : हर्षचरित)

अमृतेनेव संसिक्ताश्चन्दनेनेव चर्चिताः।
चन्द्रांशुभिरिवोद्घृष्टाः कालिदासस्य सूक्तयः॥

(जयन्त : न्यायमञ्जरी)

अस्पृष्टदोषा नलिनीव हृष्टा हारावलीव ग्रथिता गुणौघैः।
प्रियाङ्कपालीव विमर्दहृद्या न कालिदासादपरस्य वाणी॥

(श्रीकृष्णकवि)

माहिषं दधि, सशर्करं पयः, कालिदासकविता, नवं वयः।
शारदेन्दुरवला च कोमला सम्भवन्तु मम जन्म जन्मनि॥

(उद्भट)

अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः।
वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभूः पदानाम्॥

(सुभाषितसुधारत्नभाण्डागार)

देवानामिदमामनन्ति मुनयः कान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य वहुधाप्येकं समाराधनम्॥

(सुभाषितसुधारत्नभाण्डागार)

वासन्तं कुसुमं फलञ्च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वञ्च यद्-
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम्।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूर्लोकयो-
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे! शाकुन्तलं सेव्यताम्॥

(जर्मनकवि : गेटे)

'राजा प्रकृतिरञ्जनात्'

रघुवंशम्

॥ श्रीः ॥

रघुवंशम्

प्रथमः सर्गः

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥ १॥
क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः। तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥ २॥
मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्। प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः॥ ३॥
अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः। मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः॥ ४॥
सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम्। आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम्॥ ५॥
यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम्। यथाऽपराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम्॥ ६॥
त्यागाय सम्भृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्। यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥ ७॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्। वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥ ८॥

जैसे वाणी और अर्थ अलग होते हुए भी एक ही कहलाते हैं, वैसे ही पार्वतीजी और शिवजी भी कहने को दो रूप हैं, परन्तु वस्तुतः हैं वे एक ही। अतः वाणी और अर्थ को ठीक से समझने और उनका उचित उपयोग करने के लिए मैं संसार के माता-पिता पार्वती और शिवजी को प्रणाम करता हूँ, जो शब्द और अर्थ के समान एकरूप हैं॥ १॥ कहाँ सूर्य से उत्पन्न वह तेजस्वी वंश, जिसमें रघु और राम जैसे पराक्रमी राजा उत्पन्न हुए हैं और कहाँ स्वल्प बुद्धिवाला मैं। मुझे यह भलीभाँति ज्ञात है कि मैं रघुवंश का पार नहीं पा सकता; फिर भी मूर्खतावश छोटी-सी नाव द्वारा अपार समुद्र को पार करने की इच्छा कर रहा हूँ॥ २॥ यद्यपि मैं निपट मूर्ख हूँ, परन्तु चाह यह है कि मैं बड़े-बड़े कवियों में गिना जाऊँ। यह सुनकर लोग अवश्य मेरी हँसी उड़ायेंगे; क्योंकि मेरी यह करनी ही ऐसी है, जैसे कोई बौना अपने नन्हें-नन्हें हाथों को उठाकर उन फलों को तोड़ना चाहे, जहाँ केवल लम्बे पुरुषों की ही पहुँच हो सकती है॥ ३॥ तथापि मुझे बहुत बड़ा भरोसा यह है कि वाल्मीकि आदि प्राचीन कवियों ने सूर्यवंश पर सुन्दर काव्य लिखकर वाणी का द्वार पहले ही खोल दिया है। इसलिए उस द्वार से प्रवेश कर उस वंश का फिर से वर्णन करना मेरे लिए वैसा ही हो गया है, जैसे बिंधे हुए मणि में डोरा पिरोना सरल होता है॥ ४॥ जिनके चरित्र आद्योपान्त पवित्र रहे, जो किसी काम को उठाते थे तो उसे पूरा करके ही छोड़ते थे, जिनका राज्य समुद्र के इस पार से उस पार तक फैला हुआ था और जिनके रथ पृथ्वी से सीधे स्वर्ग तक आया-जाया करते थे॥ ५॥ जो शास्त्रानुसार यज्ञ करते थे, जो याचकों को अभिलषित वस्तु दान देते थे, जो अपराध के अनुसार अपराधियों को दण्ड देते थे और जो अवसर देखकर जगा करते थे॥ ६॥ जो त्याग करने के लिए धन जुटाते थे, सत्य की रक्षा के लिए बहुत कम बोलते थे, अपना यश बढ़ाने के लिए ही दूसरे देशों को जीतते थे और भोग-विलास के लिए नहीं, अपितु सन्तान उत्पन्न करने के लिए विवाह करते थे॥ ७॥ जो बाल्यकाल में पढ़ते थे, तरुणाई में संसार के भोगों को भोगते थे, बुढ़ापे में मुनियों के समान जंगलों में रहकर तपस्या करते

रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्। तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः॥ ९॥
तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः। हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकाऽपि वा॥
वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम्। आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव॥ ११॥
तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः। दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव॥ १२॥
व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः। आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः॥ १३॥
सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोभिभाविना। स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वी क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना॥ १४॥
आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः। आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः॥ १५॥
भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम्। अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः॥ १६॥
रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम्। न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः॥ १७॥
प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्। सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥ १८॥

थे और अन्त में योग द्वारा शरीर छोडते थे॥ ८॥ स्वल्प शब्दवैभव रखते हुए भी मैं मन्दमति उन प्रतापी रघुवंशियों का वंश-वर्णन करने को सन्नद्ध हूँ। क्योंकि रघुवंशियों के ये गुण जब मेरे कान में पड़े, तब इन्होंने ही मुझे यह काव्य लिखने की ढिठाई करने को बढावा दिया॥ ९॥ इस काव्य को सुनने के अधिकारी वे ही सज्जन हैं, जिन्हें भले-बुरे की परख है। क्योंकि सोने का खरा या खोटापन आग में डालने से ही जाना जा सकता है॥ १०॥ जैसे वेदों में सबसे पहले प्रणव (ॐ) आता है, वैसे ही राजाओं में सबसे पहले सूर्य के पुत्र वैवस्वत मनु हुए। उनका आदर बड़े-बड़े विद्वान् भी करते थे॥ ११॥ उन्हीं वैवस्वत मनु के उज्ज्वल वंश में राजाओं में चन्द्रमा के सदृश सबको सुख देने वाले तथा अत्यन्त शुद्ध चरित्रवान् राजा दिलीप ने वैसे ही जन्म लिया, जैसे क्षीरसागर से चन्द्रमा जनमे थे॥ १२॥ उनकी चौड़ी छाती, साँड के सदृश ऊँचा कंधा, शाल वृक्ष जैसी लंबी भुजाएँ और उनका अपार तेज देखकर ऐसा लगता था कि मानो क्षत्रियों का धर्म (वीरत्व) उनके शरीर में यह समझकर आ डटा है कि सज्जनों की रक्षा और दुर्जनों का नाश करने का काम इस शरीर से ही पूरा हो सकेगा॥ १३॥ जैसे सुमेरु पर्वत ने अपनी दृढता से संसार के सब दृढ पदार्थों को दबा दिया है, अपनी चमक से सब चमकीली वस्तुओं की चमक घटा दी है, अपनी ऊँचाई से सब ऊँची वस्तुओं को दबोच दिया है और अपने फैलाव से सारी पृथ्वी को ढँक लिया है, वैसे ही राजा दिलीप ने भी अपने बल, तेज और शरीर से सबको नीचा दिखलाकर सारी पृथ्वी को अपनी मुट्ठी में कर लिया था॥ १४॥ उनका जैसा सुन्दर रूप था, वैसी ही उनकी प्रखर बुद्धि भी थी। जैसी तीखी बुद्धि थी, तदनुसार ही शीघ्रता से उन्होंने सब शास्त्र पढ डाले थे। इसलिए वे शास्त्र के अनुसार ही किसी काम में हाथ डालते थे। अतएव उन्हें वैसी ही बड़ी सफलता भी मिलती थी॥ १५॥ मगरमच्छों जैसे भयानक जल-जन्तुओं के डर से जिस तरह लोग समुद्र में पैठने से डरते हैं, वैसे ही राजा दिलीप से भी उनके सेवक डरते थे। क्योंकि वे न्याय में बडे कठोर होने के कारण किसी के साथ पक्षपात नहीं करते थे। किन्तु समुद्र के सुन्दर एवं मनोहर रत्नों को पाने के लिए जैसे लोग समुद्र में पैठ ही जाते हैं, वैसे ही राजा दिलीप इतने दयालु, उदार और गुणी थे कि उनके सेवक उनकी कृपा पाने के लिए सदा उनका सहारा लिया करते थे॥ १६॥ जैसे कुशल सारथी रथ चलाता है तो रथ के पहिए बालभर भी लीक से बाहर नहीं जाते, वैसे ही राजा दिलीप ने इतने अच्छे ढंग से प्रजा का पालन किया था कि प्रजा का कोई भी व्यक्ति मनु के बतलाये हुए नियमों से हटकर बाहर चलने का साहस नहीं कर सकता था। सभी लोग वर्णो और आश्रमों के नियमों के अनुसार अपने धर्म पर दृढ रहते थे॥ १७॥ जैसे सूर्य अपनी किरणों से धरती का जितना जल सोखता है, उसका हजार गुना बरसा देता है। वैसे ही राजा दिलीप भी अपनी प्रजा से जितना कर लेते थे, वह सब प्रजा की भलाई में ही खर्च कर दिया करते थे॥ १८॥ जैसे अन्य राजाओं के पास बडी भारी सेना

सेना परिच्छदस्तस्य द्वयमेवार्थसाधनम् । शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिर्मौर्वी धनुषि चातता ॥ १९ ॥
तस्य संवृतमन्त्रस्य गूढाकारेङ्गितस्य च । फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव ॥ २० ॥
जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः । अगृध्नुराददे सोऽर्थमसक्तः सुखमन्वभूत् ॥ २१ ॥
ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः । गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव ॥ २२ ॥
अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्वनः । तस्य धर्मरतेरासीद्वृद्धत्वं जरसा विना ॥ २३ ॥
प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि । स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ॥ २४ ॥
स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान्परिणेतुः प्रसूतये । अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः ॥ २५ ॥
दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम् । सम्पद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम् ॥ २६ ॥

रहती है, वैसे ही राजा दिलीप के पास भी बड़ी भारी सेना थी। किन्तु वह केवल शोभा के लिए ही थी, वे उससे कोई काम नहीं लेते थे। शास्त्रों का उन्हें बहुत अच्छा ज्ञान था और धनुष चलाने में भी अद्वितीय थे। अतएव वे अपना सब काम अपनी तीक्ष्ण बुद्धि और धनुष पर चढ़ी हुई डोरी इन दोनों से ही निकाल लेते थे॥ १९ ॥ न तो वे अपने द्वारा विचारी हुई बात को किसी को बतलाते थे और न अपनी भावभंगी से किसी को यह जताते थे कि वे क्या करने वाले हैं। जैसे इस जन्म में किसी को सुखी या दुःखी देखकर लोग यह समझ लेते हैं कि उसने पिछले जन्म में अच्छे या बुरे कर्म किये थे, वैसे ही राजा दिलीप के मन की बात भी लोग तभी जान पाते थे, जब वह काम पूरा हो चुकता था, उससे पहले नहीं॥२०॥ वे निडर होकर आत्मरक्षा करते थे, बडे धैर्य के साथ अपने धर्म का पालन करते थे, निःस्पृहभाव से धन इकट्ठा करते थे और अनासक्त भाव से सांसारिक सुखों को भोगते थे॥ २१ ॥ जो लोग लिख-पढ लेते हैं, वे अपनी विद्या का ढिंढोरा पीटते हैं। जो बलवान् होते हैं, वे दूसरों को सताने में अपनी बड़ाई समझते हैं। जो लोग दान देते हैं या किसी के लिए कुछ त्याग करते हैं तो यह चाहते हैं कि चारों ओर हमारा नाम हो। किन्तु राजा दिलीप में ये बातें नहीं थीं। वे सब कुछ जान करके भी चुप रहते थे, शत्रुओं से बदला लेने की शक्ति रहते हुए भी उन्हें क्षमा कर देते थे और दान देकर भी वे अपनी प्रशंसा कराने की कामना नहीं करते थे। उनके इस लोकोत्तर व्यवहार को देखकर ऐसा लगता था कि चुप रहने, क्षमा करने और प्रशंसा से दूर भागने के गुण भी उनमें ज्ञान, शक्ति और त्याग के साथ ही साथ उपजे थे॥ २२ ॥ सांसारिक भोगों को वे अपने पास नहीं फटकने देते थे। सारी विद्याओं को उन्होंने हृदयंगम कर लिया था और वे अपना जीवन दिन-रात धर्म के कामों में ही लगाये रहते थे। छोटी अवस्था में ही वे इतने चतुर हो गये थे कि विना बुढापा आये ही उनकी गिनती बड़े-बूढों में होने लगी थी॥ २३ ॥ पिता जैसे अपने पुत्रों को बुरे कामों से रोकता है, अच्छे काम करने की सीख देता है, सब प्रकार से उनकी रक्षा करता है और उनको पाल-पोसकर बड़ा करता है; वैसे ही राजा दिलीप भी अपनी प्रजा को बुरे मार्ग पर जाने से रोकते थे, अच्छा काम करने को उत्साहित करते थे, विपत्तियों से उनकी रक्षा करते थे और उनके लिए अन्न, वस्त्र, धन तथा शिक्षा का प्रवन्ध करके उनका पालन-पोषण करते थे। इस प्रकार वे ही अपनी प्रजा के सच्चे पिता थे। उनके वास्तविक पिता तो केवल जन्म देने के कारण थे॥ २४॥ अपराधी को दण्ड देना राजा का धर्म है, क्योंकि अपराधी को दण्ड दिये विना राज्य ठहर नहीं सकता। अतएव वे अपराधियों को उचित दण्ड देते थे। वंश चलाना भी मनुष्य का धर्म है। अतएव सन्तान उत्पन्न करके वंश चलाने की इच्छा से ही उन्होंने विवाह किया था, भोग-विलास के लिए नहीं। इस प्रकार यद्यपि दण्ड और विवाह वास्तव में अर्थशास्त्र के विषय हैं, फिर भी उस विद्वान् राजा दिलीप के लिए वे अर्थ-काम धर्म ही थे॥ २५ ॥ राजा दिलीप प्रजा से जो कर लेते थे, वह इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ में लगा देते थे। क्योंकि उनका यह विश्वास था कि यज्ञ करने से देवता प्रसन्न और पुष्ट होते हैं। इससे इन्द्र भी प्रसन्न होकर

न किलानुययुस्तस्य राजानो रक्षितुर्यशः । व्यावृत्ता यत्परस्वेभ्यः श्रुतौ तस्करता स्थिता ॥ २७॥
द्वेष्योऽपि सम्मतः शिष्टस्तस्यार्तस्य यथौषधम्। त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता॥
तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना । तथा हि सर्वे तस्यासन्परार्थैकफला गुणाः ॥ २९॥
स वेलावप्रवलयां परिखीकृतसागराम् । अनन्यशासनामुर्वीं शशासैकपुरीमिव॥ ३०॥
तस्य दाक्षिण्यरूढेन नाम्ना मगधवंशजा। पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा॥ ३१॥
कलत्रवन्तमात्मानमवरोधे महत्यपि । तया मेने मनस्विन्या लक्ष्म्या च वसुधाधिपः॥ ३२॥
तस्यामात्मानुरूपायामात्मजन्मसमुत्सुकः । विलम्बितफलैः कालं स निनाय मनोरथैः॥ ३३॥
सन्तानार्थाय विधये स्वभुजादवतारिता । तेन धूर्जगतो गुर्वी सचिवेषु निचिक्षिपे॥ ३४॥
अथाभ्यर्च्य विधातारं प्रयतौ पुत्रकाम्यया । तौ दम्पती वसिष्ठस्य गुरोर्जग्मतुराश्रमम्॥ ३५॥
स्निग्धगम्भीरनिर्घोषमेकं स्यन्दनमाश्रितौ । प्रावृषेण्यं पयोवाहं विद्युदैरावताविव॥ ३६॥
मा भूदाश्रमपीडेति परिमेयपुरःसरौ । अनुभावविशेषात्तु सेनापरिवृताविव॥ ३७॥

आकाश को दुहते थे और जल बरसाते थे। जिससे खेत अन्न से भर जाते थे। इस प्रकार राजा दिलीप और इन्द्र एक-दूसरे की सहायता करके प्रजा का पालन करते थे॥ २६॥ राजा दिलीप के सिवाय और कोई भी राजा अपनी प्रजा की रक्षा करने में इतना यश नहीं कमा सका। क्योंकि सबके यहाँ कभी न कभी चोरी-डकैती हो ही जाती थी। परन्तु दिलीप का राज्य में ऐसा प्रभाव था कि चोरी का केवल नाम ही शेष रह गया था। उनके राज्य में कोई किसी का धन नहीं चुरा पाता था॥ २७॥ जैसे रोगी यह समझकर औषधि पी लेता है कि इससे मैं अच्छा हो जाऊँगा। वैसे ही राजा दिलीप उन वैरियों को भी अपना लेते थे, जो भले होते थे। जैसे साँप के काटने पर लोग अपनी उँगली भी काट डालते हैं, वैसे ही राजा दिलीप अपने उन सगे-सम्बन्धियों को भी राज्य से निकाल देते थे, जो दुष्ट होते थे॥ २८॥ ब्रह्माजी ने निश्चय ही महाराज दिलीप को पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—इन पाँचों तत्त्वों से बनाया था। क्योंकि जैसे ये तत्त्व निरन्तर सारी सृष्टि की गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द गुणों से सेवा करते हैं, वैसे ही राजा दिलीप के सब गुणों से केवल दूसरों का ही उपकार होता था॥ २९॥ जैसे कोई राजा किसी ऐसी नगरी पर शासन करे, जिसके चारों ओर परकोटा और खाई बनी हुई हो, वैसे ही दिलीप पूरी पृथ्वी पर एक नगरी की भाँति अकेले राज्य करते थे, जिसका परकोटा समुद्र का तट था और जिसकी खाई स्वयं समुद्र था॥ ३०॥ जैसे यज्ञ की पत्नी दक्षिणा है, वैसे ही मगधवंश में उत्पन्न सुदक्षिणा उनकी पत्नी थी, जो संसार में अपनी चतुरता के लिए विख्यात थी॥ ३१॥ वैसे तो राजा दिलीप की अनेक रानियाँ थीं, परन्तु वे यदि अपने को स्त्रीवाला समझते थे तो लक्ष्मी के समान मनस्विनी केवल अपनी पत्नी सुदक्षिणा से ही॥ ३२॥ उनकी बड़ी इच्छा थी कि मेरी प्यारी पत्नी की कोख से मेरे जैसा पुत्र उत्पन्न हो, परन्तु दिन बीतते चले जा रहे थे और मन की साध पूरी नहीं हो रही थी॥ ३३॥ तब उन्होंने सोचा कि सन्तान उत्पन्न करने का कोई उपाय करना ही चाहिए। तदनुसार उन्होंने पृथ्वी-पालन का सारा भार अपने कंधों से उतार कर मंत्रियो को दे दिया॥ ३४॥ राज्य की चिन्ता से मुक्त होकर पवित्र मन से राजा दिलीप और रानी सुदक्षिणा ने पुत्र की इच्छा करके पहले ब्रह्माजी की पूजा की, फिर वे दोनों पति-पत्नी वहाँ से अपने कुलगुरु वसिष्ठजी के आश्रम की ओर चल पड़े॥ ३५॥ जिस रथ पर वे दोनों बैठे थे, वह मीठी-मीठी घनघनाहट करता चला जा रहा था। उस पर बैठे हुए वे दोनों ऐसे लगते थे, मानो वर्षा के बादल पर ऐरावत और बिजली चढे चले जा रहे हों॥ ३६॥ उस समय उन्होंने अपने साथ अधिक सेवक नहीं लिये थे। क्योंकि उन्हें ध्यान था कि बहुत भीड़-भाड़ साथ ले जाने से आश्रम के काम में बाधा पड़ेगी, परन्तु उनका प्रताप और तेज इतना अधिक था कि जिससे ऐसा लगता था कि मानों उनके साथ बड़ी सेना चली जा रही हो॥ ३७॥ मार्ग में साल की गोंद की

सेव्यमानौ सुखस्पर्शैः शालनिर्यासगन्धिभिः । पुष्परेणूत्किरैर्वातैराधूतवनराजिभिः ॥ ३८ ॥
मनोभिरामाः शृण्वन्तौ रथनेमिस्वनोन्मुखैः । षड्जसंवादिनीः केका द्विधा भिन्नाः शिखण्डिभिः ॥
परस्पराक्षिसादृश्यमदूरोज्झितवर्त्मसु । मृगद्वन्द्वेषु पश्यन्तौ स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु ॥ ४० ॥
श्रेणीबन्धाद्वितन्वद्भिरस्तम्भां तोरणस्रजम् । सारसैः कलनिर्ह्रादैः क्वचिदुन्नमिताननौ ॥ ४१ ॥
पवनस्यानुकूलत्वात्प्रार्थनासिद्धिशंसिनः । रजोभिस्तुरगोत्कीर्णैरस्पृष्टालकवेष्टनौ ॥ ४२ ॥
सरसीष्वरविन्दानां वीचिविक्षोभशीतलम् । आमोदमुपजिघ्रन्तौ स्वनिःश्वासानुकारिणम् ॥
ग्रामेष्वात्मविसृष्टेषु यूपचिह्नेषु यज्वनाम् । अमोघाः प्रतिगृह्णन्तावर्घ्यानुपदमाशिषः ॥ ४४ ॥
हैयङ्गवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान् । नामधेयानि पृच्छन्तौ वन्यानां मार्गशाखिनाम् ॥ ४५ ॥
काऽप्यभिख्या तयोरासीद् व्रजतोः शुद्धवेषयोः । हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव ॥ ४६ ॥
तत्तद्भूमिपतिः पत्न्यै दर्शयन्प्रियदर्शनः । अपि लङ्घितमध्वानं बुबुधे न बुधोपमः ॥ ४७ ॥
स दुष्प्रापयशाः प्रापदाश्रमं श्रान्तवाहनः । सायं संयमिनस्तस्य महर्षेर्महिषीसखः ॥ ४८ ॥
वनान्तरादुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः । पूर्यमाणमदृश्याग्निप्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः ॥ ४९ ॥

गन्ध से सुवासित फूलों के रज-पराग को उड़ाता और वन के वृक्षों को धीरे-धीरे कँपाता हुआ पवन उनके शरीर को सुख देता हुआ उनकी सेवा करता था ॥ ३८ ॥ राजा दिलीप और रानी सुदक्षिणा ने देखा कि रथ की गड़गड़ाहट सुनकर बहुत से मोर अपना मुँह ऊपर उठाकर दुहरे मनोहर षड्ज शब्द सुना रहे थे ॥ ३९ ॥ कहीं उन्होंने देखा कि हिरणों के जोडे मार्ग से कुछ हटकर रथ को एकटक देख रहे हैं। उनकी सरस चितवन देखकर राजा दिलीप ने उन्हें सुदक्षिणा के नेत्रों के समान और सुदक्षिणा ने राजा दिलीप के नेत्रों के समान समझा ॥ ४० ॥ जब वे आँख उठाकर ऊपर देखते तो आकाश में उड़ते हुए मीठे बोलने वाले बगुले भी उन्हें दिखलाई पड जाते थे, जो एक पाँत में उड़ते हुए ऐसे दीखते थे कि मानो खम्भे के बिना ही आकाश में बन्दनवार टँगी हो ॥ ४१ ॥ उस समय पवन भी अनुकूल चलकर यह संकेत दे रहा था कि उनके मन की इच्छाएँ अवश्य पूरी होंगी। वह ऐसी दिशा से चल रहा था कि घोड़ों के खुरों से उड़ी हुई धूल न रानी सुदक्षिणा के बालों को और न राजा दिलीप की पगड़ी को ही छू पाती थी ॥ ४२ ॥ मार्ग में जो सरोवर पड़ते थे, उनमें लहर की झकोरों से जो कमलों की ठंडी सुगन्ध उड़ती थी, उसकी गन्ध लेते हुए वे चले जा रहे थे। वह सुगन्धित पवन उनकी साँस के समान ही सुवासित था ॥ ४३ ॥ जो गाँव उन्होंने दान करके ब्राह्मणों को दिये थे और जिनमें स्थान-स्थान पर यज्ञ के खम्भे गड़े हुए थे, वहाँ के ब्राह्मणों ने पहले तो अर्घ्य भेंट करके उनकी पूजा की और फिर ऐसे आशीर्वाद दिये, जो कदापि निष्फल नहीं हो सकते थे ॥ ४४ ॥ अहीरों के मुहल्ले के निवासी जो बड़े-बूढ़े तुरंत निकाला हुआ मक्खन लेकर उनको भेंट करने आये थे, उनसे राजा दिलीप और रानी मार्ग में छाया के लिए लगाये गये वृक्षों का नाम पूछते जाते थे ॥ ४५ ॥ चैत की पूर्णिमा को जैसे चित्रा नक्षत्र के साथ सुशोभित चन्द्रमा आँखों को अत्यन्त भला लगता है, वैसे ही मार्ग में जाते हुए शुभ्रवस्त्रधारी राजा दिलीप भी रानी सुदक्षिणा के साथ बडे सुन्दर लग रहे थे ॥ ४६ ॥ चन्द्रमा के पुत्र बुध के सदृश सुरूप राजा दिलीप सुदक्षिणा को मार्ग की विविध वस्तुएँ दिखलाते चलते थे। अतएव उन्हें कुछ पता ही नहीं चला और बडा लम्बा रास्ता तै हो गया ॥ ४७ ॥ साँझ होते-होते यशस्वी राजा दिलीप सुदक्षिणा के साथ संयमी महर्षि वसिष्ठजी के आश्रम के पास जा पहुँचे। उस समय उनके घोड़े भी थक चुके थे ॥ ४८ ॥ वहाँ पहुँचकर वे देखते क्या हैं कि संध्याकालीन अग्निहोत्र की अदृश्य अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए बहुत से तपस्वी हाथ में समिधा, कुश और फल लिये हुए जंगलों से आश्रम को लौट रहे थे ॥ ४९ ॥ बहुतेरे मृग आश्रम में इधर-उधर पर्णकुटियों के द्वार रोके खड़े थे, जो ऋषि-पत्नियों

आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः । अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः ॥ ५० ॥
सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम् । विश्वासाय विहङ्गानामालवालाम्बुपायिनाम् ॥
आतपात्ययसङ्क्षिप्तनीवारासु निषादिभिः । मृगैर्वर्तितरोमन्थमुटजाङ्गनभूमिषु ॥ ५२ ॥
अभ्युत्थिताग्निपिशुनैरतिथीनाश्रमोन्मुखान् । पुनानं पवनोद्धूतैर्धूमैराहुतिगन्धिभिः ॥ ५३ ॥
अथ यन्तारमादिश्य धुर्यान्विश्रामयेति सः । तामवारोहयत्पत्नीं रथादवततार च ॥ ५४ ॥
तस्मै सभ्याः सभार्याय गोप्त्रे गुप्ततमेन्द्रियाः । अर्हणामर्हते चक्रुर्मुनयो नयचक्षुषे ॥ ५५ ॥
विधेः सायन्तनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम् । अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम् ॥ ५६ ॥
तयोर्जगृहतुः पादान् राजा राज्ञी च मागधी । तौ गुरुर्गुरुपत्नी च प्रीत्या प्रतिननन्दतुः ॥ ५७ ॥
तमातिथ्यक्रियाशान्तरथक्षोभपरिश्रमम् । पप्रच्छ कुशलं राज्ये राज्याश्रममुनिं मुनिः ॥ ५८ ॥
अथाथर्वनिधेस्तस्य विजितारिपुरः पुरः । अर्थ्यामर्थपतिर्वाचमाददे वदतां वरः ॥ ५९ ॥
उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु यस्य मे । दैवीनां मानुषीणां च प्रतिहर्ता त्वमापदाम् ॥ ६० ॥
तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात्प्रशमितारिभिः । प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्टलक्ष्यभिदः शराः ॥ ६१ ॥
हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु । वृष्टिर्भवति सस्यानामवग्रहविशोषिणाम् ॥ ६२ ॥

के बच्चों की भाँति तिन्नी के दानों को खाया करते थे ॥ ५० ॥ वृक्षों की जडों में पानी दे-देकर ऋषि-कन्याएँ वहाँ मे इसलिये हट गयी थीं कि जिससे आश्रम के पक्षी निडर होकर उन वृक्षों के थालों का जल पी सकें ॥ ५१ ॥ धूप में सुखाने के लिए जो तिन्नी का अन्न फैलाया हुआ था, वह दिन छिपते ही समेटकर कुटिया के आँगन में ढेर लगा दिया गया था। उन आँगनों में ही बहुत-से हरिण सुख से बैठे हुए जुगाली कर रहे थे ॥ ५२ ॥ हवन-सामग्री की गंध से सुगन्धित अग्निहोत्र का धुआँ पवन के कारण चारों ओर फैल गया था और अब वह धुआँ आश्रम की ओर आते हुए अतिथियों को भी पवित्र कर रहा था ॥ ५३ ॥ वहाँ पहुँचकर राजा दिलीप ने सारथी को आज्ञा दी कि 'घोड़ों को आराम करने दो'। उसके बाद सहारा देकर पहले उन्होंने पत्नी को रथ से उतारा और फिर स्वयं उतरे ॥ ५४ ॥ यह समाचार जब आश्रमवालों को मिला, तब वहाँ के सभासद एवं संयमी मुनियों ने रक्षक, आदरणीय तथा नीतिशास्त्र के अनुसार चलने वाले सपत्नीक राजा दिलीप का ससम्मान स्वागत किया ॥ ५५ ॥ जब संध्या की सब क्रियाएँ सम्पन्न हो चुकीं, तब उन्होंने तपस्वी महामुनि वसिष्ठ को देखा। जिनके पीछे देवी अरुन्धतीजी उसी प्रकार बैठी थीं, जैसे अग्नि के पीछ स्वाहा विराजमान रहती है ॥ ५६ ॥ राजा दिलीप और मगध की राजकुमारी सुदक्षिणा ने उन दोनों के चरण छूकर प्रणाम किया। तब गुरु वसिष्ठ और उनकी पत्नी अरुन्धती ने बड़े प्यार से उन दोनों का आशीर्वाद आदि द्वारा अभिनन्दन किया ॥ ५७ ॥ वसिष्ठजी ने उनका ऐसा आतिथ्य-सत्कार किया कि रथ की हचक से उन्हें जो थकावट हुई थी, सो सब दूर हो गयी। तब राज्याश्रम के मुनि दिलीप से तपोवन के मुनि ने पूछा कि आपके राज्य में सब कुशल तो हैं? ॥ ५८ ॥ राजा दिलीप जिस प्रकार अपनी वीरता से शत्रुओं के नगर जीतकर धनाधीश बने थे, वैसे ही वे बातचीत करने की कला में भी बड़े निपुण थे। इसलिए उन्होंने अथर्ववेद के ज्ञाता वसिष्ठजी के प्रश्न का अर्थभरी वाणी द्वारा उत्तर दिया। ५९ ॥ आपकी कृपा से मेरे राज्य में राजा, मंत्री, मित्र, राजकोश, राज्य, दुर्ग और सेना—ये सातों अङ्ग सकुशल हैं। और फिर अग्नि, जल, महामारी, अकालमृत्यु आदि दैवी विपत्तियों तथा चोर, डाकू, शत्रु आदि मानुषी आपत्तियों को दूर करने वाले आप तो हैं ही ॥ ६० ॥ क्योंकि आप मंत्रों के रचयिता हैं। आपके मंत्र इतने शक्तिशाली हैं कि मुझे अपने बाण चलाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। अपने बाणों से मैं केवल उन्हें ही बेंध सकता हूँ, जो मेरे आगे आते हैं। किन्तु आपके मंत्र तो दूर से ही शत्रुओं को नष्ट कर देते हैं ॥ ६१ ॥ हे यज्ञकर्ता! शास्त्रीय विधि से आप जब अग्नि

पुरुषायुषजीविन्यो निरातङ्का निरीतयः। यन्मदीयाः प्रजास्तस्य हेतुस्त्वद्ब्रह्मवर्चसम्॥ ६३॥
त्वयैवं चिन्त्यमानस्य गुरुणा ब्रह्मयोनिना। सानुबन्धाः कथं न स्युः सम्पदो मे निरापदः॥ ६४॥
किन्तु वध्वां तवैतस्यामदृष्टसदृशप्रजम्। न मामवति सद्वीपा रत्नसूरपि मेदिनी॥ ६५॥
नूनं मत्तः परं वंश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः। न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधासङ्ग्रहतत्पराः॥ ६६॥
मत्परं दुर्लभं मत्त्वा नूनमावर्जितं मया। पयः पूर्वैः स्वनिःश्वासैः कवोष्णमुपभुज्यते॥ ६७॥
सोऽहमिज्याविशुद्धात्मा प्रजालोपनिमीलितः। प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकालोक इवाचलः॥
लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम्। सन्ततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे॥ ६९॥
तया हीनं विधातर्मा कथं पश्यन्न दूयसे। सिक्तं स्वयमिव स्नेहाद्वन्ध्यमाश्रमवृक्षकम्॥ ७०॥
असह्यपीडं भगवन्नृणमन्त्यमवेहि मे। अरुन्तुदमिवालानमनिर्वाणस्य दन्तिनः॥ ७१॥
तस्मान्मुच्ये यथा तात! संविधातुं तथाऽर्हसि। इक्ष्वाकूणां दुरापेऽर्थे त्वदधीना हि सिद्धयः॥
इति विज्ञापितो राज्ञा ध्यानस्तिमितलोचनः। क्षणमात्रमृषिस्तस्थौ सुप्तमीन इव ह्रदः॥ ७३॥
सोऽपश्यत्प्रणिधानेन सन्ततेः स्तम्भकारणम्। भावितात्मा भुवो भर्तुरथैनं प्रत्यबोधयत्॥ ७४॥

में घी का हवन करते हैं तो आपकी आहुतियाँ अनावृष्टि से सूखते हुए धान के खेतों पर जल बरसाने लगती हैं॥ ६२॥ यह आपके ब्रह्मतेज का ही तो बल है कि मेरी प्रजा में सब लोग कष्टरहित सौ बरस जीते हैं और किसी को बाढ़, सूखा, चूहा, टिड्डी, तोता, राज-कलह आदि किसी प्रकार की विपत्ति का डर नहीं रहता॥ ६३॥ जब साक्षात् ब्रह्माजी के पुत्र आप ही कुलगुरु होकर हमारे कल्याण की बात सोचते रहते हैं तो हमारी सम्पत्ति निर्विघ्न क्यों न रहेगी?॥ ६४॥ किन्तु हे देव! आपकी इतनी कृपा होते हुए भी जब आपकी पतोहू के गर्भ से बहुत समय बाद भी मेरे समान तेजस्वी पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ तो समस्त रत्नों को पैदा करने वाले और कई द्वीपों में फैली हुई अपने राज्य की यह पृथ्वी मुझे नहीं सोहाती॥ ६५॥ अब तो ऐसा लगता है कि मेरे बाद कोई हमें पिण्ड देने वाला भी नहीं रह जायगा। इसी दुःख से हमारे पितर मेरे दिये हुए श्राद्धान्न को भरपेट न खाकर उसका अधिक भाग आगे के लिए संचित करने लग गये हैं॥ ६६॥ तर्पण के समय जब मैं जलदान देने लगता हूँ, तब मेरे पितर यह सोचकर दुःख की साँसें लेने लगते हैं कि 'मेरे पीछे उन्हें जल भी नहीं मिलेगा' और वे उन उसाँसों से गुनगुने जल को ही पी लेते हैं॥ ६७॥ जैसे लोकालोक पर्वत एक ओर सूर्य का प्रकाश पड़ने से चमकता है और दूसरी ओर प्रकाश न पड़ने के कारण अँधियारा रहता है, उसी प्रकार सदा यज्ञ करने से मेरा चित्त प्रसन्न रहता है, किन्तु पुत्र न होने से सदा शोकाकुल भी रहा करता है॥ ६८॥ हे देव! तपस्या तथा दान से जो पुण्य मिलता है, वह केवल परलोक में सुख देता है। किन्तु अच्छी सन्तान सेवा-शुश्रूषा करके इस लोक में तो सुख देती ही है, तर्पण और पिण्डदान आदि के द्वारा वह परलोक में भी सुख देती है॥ ६९॥ हे गुरुदेव! अपने हाथों प्रेम से सींचे हुए आश्रम के वृक्ष में फल न लगता देखकर जैसे आपको दुःख होता है, वैसे ही जब मुझ कृपापात्र को सन्तानहीन देखते हैं तो आपको दुःख क्यों नहीं होता?॥ ७०॥ हे भगवन्! मेरे इस अन्तिम (पैतृक) ऋण को उस प्रकार कष्टदायक समझिये, जैसे बिना स्नान किया हुआ और खूँटे पर बँधा हाथी मर्मान्तिक कष्ट का अनुभव करता है॥ ७१॥ अतएव हे प्रभो! अब कोई ऐसा उपाय कीजिये जिससे मेरे पुत्र-रत्न उत्पन्न हो और मैं पितृऋण से मुक्त हो जाऊँ। क्योंकि इक्ष्वाकुवंशी राजाओं की सभी कठिनाइयाँ आपकी कृपा से सदा दूर होती आयी हैं॥ ७२॥ राजा की इस बात को सुनकर वसिष्ठजी ने नेत्र बन्द करके क्षण भर के लिए ध्यान लगाया। उस समय वे उस तड़ाग के समान निश्चल हो गये, जिसकी सब मछलियाँ सो गयी हों॥ ७३॥ वसिष्ठजी ने अपने योगबल से ध्यान द्वारा देखा कि इस राजा की सन्तानोत्पत्ति में रुकावट क्यों आ गयी। उसके

पुरा शक्रमुपस्थाय तवोर्वीं प्रति यास्यतः। आसीत् कल्पतरुच्छायामाश्रिता सुरभिः पथि ॥ ७५ ॥
धर्मलोपभयाद्राज्ञीमृतुस्नातामिमां स्मरन्। प्रदक्षिणक्रियार्हायां तस्यां त्वं साधु नाचरः ॥ ७६ ॥
अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति। मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा ॥ ७७ ॥
स शापो न त्वया राजन्न च सारथिना श्रुतः। नदत्याकाशगङ्गायाः स्रोतस्युद्दामदिग्गजे ॥ ७८ ॥
ईप्सितं तदवज्ञानाद्विद्धि सार्गलमात्मनः। प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ॥ ७९ ॥
हविषे दीर्घसत्रस्य सा चेदानीं प्रचेतसः। भुजङ्गपिहितद्वारं पातालमधितिष्ठति ॥ ८० ॥
सुतां तदीयां सुरभेः कृत्वा प्रतिनिधिं शुचिः। आराधय सपत्नीकः प्रीता कामदुघा हि सा ॥ ८१ ॥
इति वादिन एवास्य होतुराहुतिसाधनम्। अनिन्द्या नन्दिनी नाम धेनुराववृते वनात् ॥ ८२ ॥
ललाटोदयमाभुग्नं पल्लवस्निग्धपाटला। बिभ्रती श्वेतरोमाङ्कं सन्ध्येव शशिनं नवम् ॥ ८३ ॥
भुवं कोष्णेन कुण्डोध्नी मेध्येनावभृथादपि। प्रस्रवेनाभिवर्षन्ती वत्सालोकप्रवर्तिना ॥ ८४ ॥
रजःकणैः खुरोद्धूतैः स्पृशद्भिर्गात्रमन्तिकात्। तीर्थाभिषेकजां शुद्धिमादधाना महीक्षितः ॥ ८५ ॥
तां पुण्यदर्शनां दृष्ट्वा निमित्तज्ञस्तपोनिधिः। याज्यमाशंसितावन्ध्यप्रार्थनं पुनरब्रवीत् ॥ ८६ ॥

बाद वे राजा को समझाने लगे ॥ ७४ ॥ उन्होंने कहा— हे राजन्! बहुत दिन हुए, जब एक बार तुम इन्द्र की सेवा करके स्वर्ग से पृथिवी को लौट रहे थे, तब मार्गवर्ती कल्पवृक्ष की छाया में सुरभी (कामधेनु) बैठी हुई थी ॥ ७५ ॥ तुम्हारी पत्नी ने उस समय रजस्वला होने के बाद चौथे दिन स्नान किया था, अतः तुम सोच रहे थे कि यदि इस समय उसके साथ सम्भोग न करूँगा तो गृहस्थधर्म बिगड़ जायगा। इस धर्मलोप के भय से तुमने कामधेनु की ओर ध्यान नहीं दिया। यह तुमने ठीक नहीं किया, क्योंकि तुम्हें चाहिए था कि उस समय उसकी पूजा और प्रदक्षिणा करते ॥ ७६ ॥ इसी से रुष्ट होकर कामधेनु ने तुम्हें शाप दे दिया कि 'तुमने जो मेरा तिरस्कार किया है, इसका दंड यही है कि जब तक तुम मेरी सन्तान की सेवा नहीं करोगे, तब तक तुम्हें पुत्र नहीं प्राप्त होगा' ॥ ७७ ॥ उस समय बड़े-बड़े मतवाले दिग्गज आकाशगङ्गा में जलक्रीड़ा करते हुए चिंघाड रहे थे और आकाशगङ्गा के प्रवाह का भी कोलाहल व्याप्त था। इसलिए उस शाप को न तो तुमने सुना और न तुम्हारा सारथी ही सुन सका ॥ ७८ ॥ सो तुम्हारे पुत्र न होने का कारण उस कामधेनु का तिरस्कार ही है। क्योंकि जो पुरुष अपने पूज्यों की पूजा नहीं करता, उसके शुभ कार्यो में विघ्न पड़ता ही है ॥ ७९ ॥ किन्तु इस समय तो कामधेनु मिल नहीं सकती। क्योंकि वरुणदेव पाताल में एक बहुत बडा यज्ञ कर रहे हैं। उस यज्ञ में आहुति की हवि जुटाने के लिए कामधेनु भी पाताललोक गयी हुई है। उस लोक के द्वारों की बडे-बडे विषधर सर्प रखवाली कर रहें हैं ॥ ८० ॥ इसलिए तुम उसकी पुत्री नन्दिनी को ही उसकी प्रतिनिधि समझकर अपनी रानी के साथ शुद्ध मन से उसकी सेवा करो। यदि वह प्रसन्न हो जायगी तो तुम्हारी कामना पूर्ण कर देगी ॥ ८१ ॥ वसिष्ठजी यह कह ही रहे थे कि उसके लिए घृत आदि हवनसामग्री जुटानेवाली सुन्दर नन्दिनी गाय वन से लौटकर आ पहुँची ॥ ८२ ॥ उस नन्दिनी की देह नवपल्लव के समान कोमल और लाल थी। उसके माथे पर सफेद बालों की टेढ़ी रेखा बनी थी। इससे वह ऐसी दीखती थी, जैसी लाल सन्ध्या के माथे पर नया (द्वितीया का) चन्द्रमा विद्यमान हो ॥ ८३ ॥ अपना बछड़ा देखते ही उसके कुण्ड जैसे बड़े-बड़े थनों से गरम-गरम दूध निकलकर पृथ्वी पर टपकने लगा, जो यज्ञीय स्नान के जल से भी अधिक पुनीत था ॥ ८४ ॥ नन्दिनी के आते समय उसके खुरों से उडी हुई धूल के लगने से राजा दिलीप वैसे ही पवित्र हो गये, जैसे किसी तीर्थ में स्नान करके लौटे हों। शकुनशास्त्र के वेत्ता तपस्वी वसिष्ठजी ने जब उस गौ को देखा—जिसके दर्शन से ही पुण्य मिलता है, तब वे अपने यजमान राजा दिलीप से बोले, जो उस समय अपनी प्रार्थना सफल कराने के लिए वहाँ आये हुए थे ॥ ८५-८६ ॥

अदूरवर्तिनीं सिद्धिं राजन्विगणयात्मनः । उपस्थितेयं कल्याणी नाम्नि कीर्तित एव यत् ॥ ८७ ॥
वन्यवृत्तिरिमां शश्वदात्मानुगमनेन गाम्। विद्यामभ्यसनेनेव प्रसादयितुमर्हसि ॥ ८८ ॥
प्रस्थितायां प्रतिष्ठेथाः स्थितायां स्थितिमाचरेः । निषण्णायां निषीदास्यां पीताम्भसि पिबेरपः ॥
वधूर्भक्तिमती चैनामर्चितामातपोवनात्। प्रयता प्रातरन्वेतु सायं प्रत्युद्व्रजेदपि ॥ ९० ॥
इत्याप्रसादादस्यास्त्वं परिचर्यापरो भव। अविघ्नमस्तु ते स्थेयाः पितेव धुरि पुत्रिणाम् ॥ ९१ ॥
तथेति प्रतिजग्राह प्रीतिमान्सपरिग्रहः । आदेशं देशकालज्ञः शिष्यः शासितुरानतः ॥ ९२ ॥
अथ प्रदोषे दोषज्ञः संवेशाय विशाम्पतिम्। सूनुः सूनृतवाक्स्रष्टुर्विससर्जोर्जितश्रियम् ॥ ९३ ॥
सत्यामपि तपःसिद्धौ नियमापेक्षया मुनिः । कल्पवित्कल्पयामास वन्यामेवास्य संविधाम् ॥ ९४ ॥

निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशालामध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः ।
तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां संविष्टः कुशशयने निशां निनाय ॥ ९५ ॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये वसिष्ठा-
श्रमाभिगमनो नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

वे बोले— हे राजन्! तुम्हारा मनोरथ बहुत शीघ्र पूरा होगा। क्योंकि यह कल्याणमयी नन्दिनी नाम लेते ही आ पहुँची है ॥ ८७ ॥ विद्यार्थी जैसे अभ्यास से विद्या को प्राप्त करता है, वैसे ही तुम भी कन्द-मूल-फल खाते हुए इस गौ की सेवा करके इसको प्रसन्न करो ॥ ८८ ॥ जब यह चले तब तुम *भी इसके पीछे-पीछे चलना, जब खड़ी हो जाय तब तुम भी खड़े हो जाना, जब बैठे तो तुम भी* बैठ जाना और जब यह पानी पीने लगे तभी तुम भी पानी पीना ॥ ८९ ॥ तुम्हारी पत्नी सुदक्षिणा भी नित्य प्रातःकाल बड़ी भक्ति से इसकी पूजा करे और जब यह वन को जाने लगे, तब वह भी तपोवन के बाड़े तक इसके पीछे-पीछे जाय और सायंकाल को लौटते समय वहीं से अगवानी करके आश्रम लाये ॥ ९० ॥ इस प्रकार तब तक तुम इसकी सेवा करते रहो, जब तक यह गाय प्रसन्न न हो जाय। ईश्वर करे, तुम्हें कोई बाधा न हो और जैसे तुम अपने पिता के योग्य पुत्र हो, वैसे ही तुम्हें भी सुयोग्य पुत्र मिले ॥ ९१ ॥ तब बड़ी नम्रतापूर्वक उन्होंने वसिष्ठजी से कहा कि 'हम ऐसा ही करेंगे'। यह कहकर उन्होंने और उनकी पत्नी ने गुरुजी से इस व्रत के लिए आज्ञा प्राप्त की ॥ ९२ ॥ विद्वान्, मृदुभाषी और ब्रह्मा के पुत्र वसिष्ठजी ने परम तेजस्वी राजा दिलीप को रात के समय सोने की आज्ञा दी ॥ ९३ ॥ यद्यपि वसिष्ठजी चाहते तो अपनी तपस्या के प्रभाव से राजा दिलीप के योग्य राजसी भोजन और शयन का उचित प्रबन्ध कर सकते थे, परन्तु व्रत के नियमों को जानने के कारण उन्होंने राजा के व्रत के योग्य वन्य कन्दमूल का भोजन और चटाई का ही प्रबन्ध किया ॥ ९४ ॥ कुलपति वसिष्ठजी ने जो पर्णकुटी बतलायी थी, उसी में राजा दिलीप ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए रानी सुदक्षिणा के साथ कुशा की *चटाई पर सोये। प्रातःकाल वसिष्ठजी के शिष्यों ने जब वेदपाठ प्रारम्भ किया, तब उसकी ध्वनि सुनते* ही वे उठ बैठे ॥ ९५ ॥

इस प्रकार रघुवंशमहाकाव्य में राजा दिलीप का वसिष्ठाश्रमगमन
नामक पहला सर्ग समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः

अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम्।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच॥ १॥
तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया।
मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्॥ २॥
निवर्त्य राजा दयितां दयालुस्तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभिः।
पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम्॥ ३॥
व्रताय तेनानुचरेण धेनोर्न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः।
न चान्यतस्तस्य शरीररक्षा स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः॥ ४॥
आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च।
अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत्॥ ५॥
स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्॥ ६॥
स न्यस्तचिह्नामपि राजलक्ष्मीं तेजोविशेषानुमितां दधानः।
आसीदनाविष्कृतदानराजिरन्तर्मदावस्थ इव द्विपेन्द्रः॥ ७॥

दूसरे दिन सवेरे रानी सुदक्षिणा ने फूल-माला-चन्दन आदि से नन्दिनी की पूजा की। तदनन्तर जब नन्दिनी के बछड़े ने दूध पी लिया, तब यशस्वी राजा दिलीप ने उसे बाँध दिया और ऋषि की गायें को जंगल में चराने को ले जाने के लिए खोला॥ १॥ नन्दिनी चली तो उसके खुरों से उड़ी हुई धूल मार्ग को पवित्र करने लगी। उस मार्ग पर नन्दिनी के पीछे-पीछे चलती हुई राजा दिलीप की धर्मपत्नी और पतिव्रताओं में सर्वश्रेष्ठ रानी सुदक्षिणा ठीक वैसी ही लगती थी, जैसे श्रुति के पीछे-पीछे स्मृति चल रही हो॥ २॥ दयालु एवं यशस्वी राजा दिलीप ने आश्रम के द्वार से ही रानी सुदक्षिणा को लौटा दिया और स्वयं नन्दिनी की रक्षा करने लगे। जो ऐसी लग रही थी, जैसे साक्षात् पृथ्वी ने ही गौ का रूप धारण कर लिया हो और जिसके चारों थन ही मानो पृथ्वी के चार समुद्र हों॥ ३॥ कुछ दूर जाकर राजा दिलीप ने सब नौकर-चाकरों को भी लौटा दिया। क्योंकि उन्होंने तो गौ की सेवा का व्रत ही ले लिया था। रही अपने शरीर की रक्षा की बात, सो उसके लिए उन्होंने किसी सेवक की आवश्यकता ही नहीं समझी। क्योंकि मनु के वंश में उत्पन्न राजा अपनी रक्षा स्वयं कर लेता है॥ ४॥ राजा दिलीप बड़ी लगन से नन्दिनी की सेवा करने लगे। कभी वे स्वादिष्ट घास के ग्रास बनाकर अपने हाथों से खिलाते, कभी उसकी देह खुजलाते, कभी डाँस उड़ाते और वह जिधर भी जाना चाहती थी, उधर जाने देते थे॥ ५॥ जब वह खड़ी होती तो राजा भी खडे हो जाते और ज्यों ही वह चलने को पग बढाती, त्यों ही वे भी चल पड़ते थे। वह बैठती तो स्वयं भी बैठ जाते और जब वह जल पीने की इच्छा करती, तब राजा भी जल पीते थे। इस प्रकार वे छाया के समान उसके पीछे-पीछे चल रहे थे॥ ६॥ जैसे किसी मतवाले हाथी के माथे से मद की धारा न बहती हो तो भी उसको देखते ही उसके तेज का अनुमान हो जाता है, ठीक यही हाल राजा दिलीप का भी था। यद्यपि उन्होंने गोसेवा-व्रत के कारण छत्र-चँवर आदि सब राजसी वेश छोड़ दिये थे, फिर भी उनके सुगठित शरीर और मुख के तेज को देखकर कोई भी कह सकता था कि ये सम्राट् हैं॥ ७॥ व्रती होने के कारण उनके

लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैरधिज्यधन्वा विचचार दावम्।
रक्षापदेशान्मुनिहोमधेनोर्वन्यान्विनेष्यन्निव दुष्टसत्त्वान्॥ ८ ॥
विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य।
उदीरयामासुरिवोन्मदानामालोकशब्दं वयसां विरावैः॥ ९ ॥
मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्तमानम्।
अवाकिरन्बाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः॥ १० ॥
धनुर्भृतोऽप्यस्य दयार्द्रभावमाख्यातमन्तःकरणैर्विशङ्कैः।
विलोकयन्त्यो वपुरापुरक्ष्णां प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः॥ ११ ॥
स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम्।
शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः॥ १२ ॥
पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणामनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी।
तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूतं पवनः सिषेवे॥ १३ ॥
शशाम वृष्ट्याऽपि विना दवाग्निरासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धिः।
ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन्वनं गोप्तरि गाहमाने॥ १४ ॥
सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम्।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः॥ १५ ॥
तां देवतापित्रतिथिक्रियार्थामन्वग्ययौ मध्यमलोकपालः।
बभौ च सा तेन सतां मतेन श्रद्धेव साक्षाद्विधिनोपपन्ना॥ १६ ॥

सिर के बालों की लटें जंगल की लताओं के समान उलझ गयी थीं। हाथ में धनुष लेकर जब वे जंगल में घूमते थे, तब उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि मानो नन्दिनी की रक्षा के बहाने वे जंगल के दुष्ट जीवों को शान्त रहने की शिक्षा दे रहे हैं॥ ८॥ आस-पास के वृक्षों पर अगणित मतवाले पक्षी चहक रहे थे। उनके कलरव को सुनकर ऐसा लगता था कि मानो मार्ग के वृक्ष वरुण जैसे तेजस्वी राजा दिलीप की जय-जयकार कर रहे हों। क्योंकि उनकी जय-जयकार करने वाला कोई भी सेवक उनके साथ नहीं था॥ ९॥ जिधर-जिधर वे जाते थे, उधर-उधर की लताएँ अग्नि के समान तेजस्वी और पूजनीय राजा दिलीप के ऊपर उसी प्रकार फूलों की वर्षा कर रही थीं, जिस प्रकार राजा के स्वागत में नगर की कन्याएँ उनके ऊपर धान का लावा बरसाती थीं॥ १०॥ राजा दिलीप के हाथों में धनुष देखकर के भी वन की हरिणियाँ नहीं डरीं। क्योंकि वे उन्हें देखते ही समझ गयीं कि ये बड़े दयालु हैं। राजा दिलीप के सुन्दर शरीर को वे एकटक देखती रहीं। ऐसा करने से मानो नेत्रों के बड़े होने का उन्हें सच्चा फल प्राप्त हो गया॥ ११ ॥ राजा दिलीप सुन रहे थे और वन-देवियाँ वन की कुंजो में ऊँचे स्वर से उनका यश गा रही थीं। उस गीत के साथ वे बाँस भी बाँसुरी बजा रहे थे, जिनके छेदों में वायु भर जाने के कारण बड़े मधुर स्वर निकल रहे थे॥ १२॥ पहाड़ी झरनों की ठंडी फुहारों से लदा और मन्द-मन्द कम्पित वृक्षों के फूलों की गन्ध से सुवासित वायु उन सदाचारी राजा दिलीप की सेवा करता था, जिन्हें छत्र के बिना धूप से कष्ट हो रहा था॥ १३॥ प्रजापालक राजा दिलीप के जंगल में प्रवेश करने पर वर्षा के बिना ही वन की आग ठंडी हो गयी। वहाँ के पेड फलों और फूलों से लद गये और बड़े जीवों ने छोटे जीवों को सताना त्याग दिया॥ १४॥ साँझ के समय नये पत्तों की ललाई के समान सूर्य की लाली चारों ओर फैलकर तथा सब दिशाओं को पवित्र करके विश्राम करने के लिए घर को लौट रही थी। उधर लाल रंग की नन्दिनी भी अपने खुरों के स्पर्श से मार्ग

स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन्॥ १७॥
आपीनभारोद्वहनप्रयत्नाद् गृष्टिर्गुरुत्वाद्वपुषो नरेन्द्रः।
उभावलञ्चक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम्॥ १८॥
वसिष्ठधेनोरनुयायिनं तमावर्तमानं वनिता वनान्तात्।
पपौ निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम्॥ १९॥
पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या।
तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या॥ २०॥
प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां सुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता।
प्रणम्य चानर्च विशालमस्याः शृङ्गान्तरं द्वारमिवार्थसिद्धेः॥ २१॥
वत्सोत्सुकापि स्तिमिता सपर्यां प्रत्यग्रहीत् सेति ननन्दतुस्तौ।
भक्त्योपपन्नेषु हि तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि॥ २२॥
गुरोः सदारस्य निपीड्य पादौ समाप्य सान्ध्यं च विधिं दिलीपः।
दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीं भेजे भुजोच्छिन्नरिपुर्निषण्णाम्॥ २३॥
तामन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपामन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः।
क्रमेण सुप्तामनु संविवेश सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत्॥ २४॥

को पवित्र करती हुई तपोवन की ओर लौट पड़ी॥ १५॥ पृथ्वी का पालन करने वाले राजा दिलीप भी वसिष्ठ ऋषि के यज्ञ, श्राद्ध एवं अतिथि-पूजा आदि धर्म के कामों के लिए दूध देनेवाली उस नन्दिनी के पीछे-पीछे चल रहे थे। उस समय वह गाय ऐसी सुन्दर लग रही थी, जैसे ब्रह्मा की पुत्री श्रद्धा के साथ सदाचार शोभित हो रहा हो॥ १६॥ राजा दिलीप यह देखते हुए चल रहे थे कि कहीं छोटे-छोटे तालाबों से सूअरों के झुंड निकल रहे हैं, कहीं मोर अपने बसेरों की ओर उड़े जा रहे हैं, कहीं हरिण थककर हरी घासों पर बैठे हुए हैं और साँझ होने के कारण धीरे-धीरे वन की सब धरती धुँधली होती जा रही है॥ १७॥ उस समय नन्दिनी और दिलीप दोनों धीरे-धीरे चल रहे थे। नन्दिनी अपने थन के बोझ से धीरे-धीरे चलती थी और राजा दिलीप भारी शरीर होने के कारण धीरे-धीरे चलते थे। इस प्रकार अपने मन्द-मन्द गमन से वे दोनों उस मार्ग को अलंकृत कर रहे थे॥ १८॥ राजा दिलीप जब सायंकाल के समय नन्दिनी के पीछे-पीछे लौटे, तब सुदक्षिणा अपलक नेत्रों से उन्हें इस प्रकार देखती रही, मानो उसकी आँखें बहुत दिनों से राजा दिलीप के रूप की प्यासी रही हों॥ १९॥ अब आश्रम के मार्ग में गाय के पीछे राजा दिलीप थे और आगे अगवानी के लिए रानी सुदक्षिणा खड़ी थीं। इन दोनों के बीच में वह लाल रंग की नन्दिनी ऐसी शोभा दे रही थी, जैसे दिन और रात के बीच में साँझ की लाली खड़ी हो॥ २०॥ पहले सुदक्षिणा ने हाथ में अक्षत-चन्दन आदि सामग्री लेकर नन्दिनी की पूजा और प्रदक्षिणा की। फिर प्रणाम करके उसके सींगों के बीच में चन्दन-अक्षत लगाया। मानो वे सींग नहीं, अपितु पुत्रकामना पूरी करने के द्वार थे॥ २१॥ यद्यपि नन्दिनी उस समय अपना बछड़ा देखने को बहुत उतावली थी, फिर भी वह रानी से पूजा पाने के लिए खड़ी हो गयी। नन्दिनी का यह प्रेम देखकर वे दोनों बहुत प्रसन्न हुए। क्योंकि नन्दिनी के समान मनोरथ पूर्ण करने वाले देवता यदि भक्त पर प्रसन्न हो जायँ तो काम पूरा हो गया ही समझना चाहिए॥ २२॥ अपने हाथों शत्रुओं के संहारक राजा दिलीप ने गाय की पूजा हो जाने पर पहले वसिष्ठ और अरुन्धतीजी के चरणों की वन्दना की और फिर अपने सायंकालीन नित्य कर्मों को समाप्त किया। जब नन्दिनी का दूध दुह लिया

इत्थं व्रतं धारयतः प्रजार्थं समं महिष्या महनीयकीर्तेः।
सप्त व्यतीयुस्त्रिगुणानि तस्य दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य॥ २५॥
अन्येद्युरात्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमाना मुनिहोमधेनुः।
गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश॥ २६॥
सा दुष्प्रधर्षा मनसापि हिंस्रैरित्यद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन।
अलक्षिताभ्युत्पतनो नृपेण प्रसह्य सिंहः किल तां चकर्ष॥ २७॥
तदीयमाक्रन्दितमार्तसाधोर्गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम्।
रश्मिष्विवादाय नगेन्द्रसक्तां निवर्तयामास नृपस्य दृष्टिम्॥ २८॥
स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम्॥ २९॥
ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः।
जाताभिषङ्गो नृपतिर्निषङ्गादुद्धर्तुमैच्छत्प्रसभोद्धृतारिः॥ ३०॥
वामेतरस्तस्य करः प्रहर्तुर्नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे।
सक्ताङ्गुलिः सायकपुङ्ख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे॥ ३१॥
बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः।
राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः॥ ३२॥

गया और वह बैठ गयी, तब राजा दिलीप फिर उसकी सेवा करने लगे॥ २३॥ इस प्रकार प्रजापालक राजा दिलीप पूजादीप सामने रखकर अपनी पत्नी के साथ बहुत देर तक नन्दिनी की सेवा करते रहे। जब वह सो गयी, तब वे दोनों भी सोने चले गये और ज्यों ही वह सोकर उठी, त्यों ही ये दोनों भी उठ गये॥ २४॥ इस प्रकार अपनी पत्नी के साथ सन्तान-प्राप्ति के लिए वह कठोर व्रत पालन करते हुए दीनों के रक्षक तथा असाधारण यशस्वी राजा दिलीप के इक्कीस दिन बीत गये॥ २५॥ राजा दिलीप जब बाईसवें दिन उसे वन में ले गये, तब नन्दिनी अपने सेवक राजा दिलीप की परीक्षा के लिए गौरी के पति हिमालय की उस गुफा में घुस गयी, जिसमें गंगाजी की धारा गिर रही थी और जिसके तट पर घनी हरी-हरी घास उगी हुई थी॥ २६॥ महाराजा दिलीप ने भी उसे उधर जाने से नहीं रोका। क्योंकि उन्हें यह विश्वास था कि कोई भी हिंसक जन्तु नन्दिनी पर आक्रमण करने की बात भी नहीं सोच सकता। इतने में ही अचानक एक सिंह गाय को दबोच बैठा। उस समय राजा दिलीप पर्वत की शोभा देख रहे थे। इसलिए उन्हें यह दिखलाई नहीं पड़ा कि उस पर सिंह ने कब आक्रमण किया॥ २७॥ उस सिंह के आक्रमण से नन्दिनी चिल्लाने लगी और उसकी ध्वनि गुफा में गूँज उठी। राजा दिलीप की दृष्टि उस समय पर्वत की शोभा निहारने में उलझी थी, परन्तु इस चीत्कार ने उनकी दृष्टि को उसी प्रकार खींच लिया जैसे किसी ने रस्सी में बाँधकर उन्हें खींचा हो॥ २८॥ धनुषधारी राजा दिलीप ने देखा कि उस लाल गाय पर बैठा हुआ सिंह ऐसा लग रहा है कि जैसे गेरू के पहाड़ी की ढाल पर बहुतेरे पीले फूलोंवाला लोध का पेड़ फूला हुआ हो॥ २९॥ उस समय सिंह के समान चलनेवाले, शरणागतरक्षक और बलपूर्वक शत्रुओं का संहार करने वाले राजा दिलीप ने समझा कि यह सिंह गाय को मारकर मेरा अपमान करना चाहता है। बस, तुरन्त उन्होंने उस सिंह को मारने के लिए तूणीर से बाण निकालने को हाथ बढ़ाया॥ ३०॥ ज्यों ही राजा दिलीप उस सिंह को मारने जा रहे थे उसी समय उनके दाहिने हाथ की उँगलियाँ नखों से चमकनेवाले बाणों के पंखों में चिपक गईं। उन्हें देखकर ऐसा लगा कि जैसे उनके बाण निकालने का प्रयत्न करने का किसी ने चित्र ले लिया

तमार्यगृह्यं निगृहीतधेनुर्मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम्।
विस्मापयन्विस्मितमात्मवृत्तौ सिंहोरुसत्त्वं निजगाद सिंहः ॥ ३३ ॥
अलं महीपाल तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात्।
न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥ ३४ ॥
कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम्।
अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम् ॥ ३५ ॥
अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन।
यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः ॥ ३६ ॥
कण्डूयमानेन कटं कदाचिद्वन्यद्विपेनोन्मथिता त्वगस्य।
अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः ॥ ३७ ॥
तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थमस्मिन्नहमद्रिकुक्षौ।
व्यापारितः शूलभृता विधाय सिंहत्वमङ्कागतसत्त्ववृत्तिः ॥ ३८ ॥
तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण।
उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव ॥ ३९ ॥
स त्वं निवर्तस्व विहाय लज्जां गुरोर्भवान्दर्शितशिष्यभक्तिः।
शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति ॥ ४० ॥

हो ॥ ३१ ॥ इस तरह हाथ बँध जाने से पास ही खडे अपराधी पर प्रहार न कर सकने के कारण राजा दिलीप तमतमा उठे और अपने तेज से भीतर ही भीतर वैसे जलने लगे, जैसे मन्त्र और औषधि से बँधा हुआ साँप लाचार हो गया हो ॥ ३२ ॥ सज्जनों के आदरणीय, मनुवंश के पताका स्वरूप और सिंह के समान पराक्रमी राजा दिलीप बडे विस्मय में पडे थे और जब वह सिंह मनुष्य की वाणी में बोलने लगा, तब तो उनके आश्चर्य का ठिकाना ही नहीं रह गया ॥ ३३ ॥ सिंह ने कहा— हे राजन्! तुम मुझे मारने का प्रयास मत करो। तुम मुझ पर जो भी अस्त्र चलाओगे, वह व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि वायु का जो वेग वृक्षों को जड़ से उखाड देने की शक्ति रखता है, वह पर्वत का कुछ भी नहीं बिगाड़ पाता ॥ ३४॥ मैं कोई साधारण सिंह नहीं हूँ। मैं अष्टमूर्ति शंकरजी का कृपापात्र और उनका सेवक कुम्भोदर नामक गण और शिवजी के शक्तिशाली गण निकुम्भ का मित्र हूँ। शंकरजी जब कैलास पर्वत के समान अपने उजले नन्दी पर चढते हैं, तब वे पहले अपने चरणों को रखकर मेरी पीठ पवित्र करते हैं ॥ ३५ ॥ यह जो तुम्हारे सामने बडा-सा देवदारु का पेड दिख रहा है, इसे शंकरजी अपने पुत्र के समान मानते हैं। क्योंकि स्वयं पार्वतीजी ने अपने सोने के घडे जैसे स्तनों के दूध से सींच-सींचकर इसे पाला है ॥ ३६ ॥ एक बार एक जंगली हाथी इसके तने में रगड़-रगड अपनी कनपटी खुजलाने लगा। उससे इसकी तनिक-सी छाल छिल गयी। इतने से ही पार्वतीजी को उतना ही शोक हुआ, जितना दैत्यों के बाणों से घायल कार्तिकेय को देखकर हुआ था ॥ ३७ ॥ तभी से शंकरजी ने जंगली हाथियों को डराने के लिए मुझे यहाँ पहाड़ की इस कन्दरा में सिंह के रूप में रखवाला बनाकर बैठा दिया है और मेरा पेट भरने के लिए आज्ञा दे दी है कि यहाँ जो जीव आये, उसे तुम मारकर खा लिया करो ॥ ३८ ॥ चन्द्रमा का अमृत जैसे राहु को मिलता है, वैसे ही शिवजी की कृपा से ठीक भोजन के समय पर मुझे अपना रक्त पिलाने के लिए यह गाय आ गयी है, जो मेरे आज के भोजन के लिए पर्याप्त है ॥ ३९ ॥ अतएव अब तुम लाज छोडकर अपने घर लौट जाओ। तुमने अपनी गुरुभक्ति तो दिखला ही दी, किन्तु जब शस्त्र से किसी वस्तु की रक्षा हो ही न सके तो इसमें शस्त्र धारण करने वाले का क्या दोष? इससे उस शस्त्रधारी

इति प्रगल्भं पुरुषाधिराजो मृगाधिराजस्य वचो निशम्य।
प्रत्याहतास्त्रो गिरिशप्रभावादात्मन्यवज्ञां शिथिलीचकार॥४१॥
प्रत्यब्रवीच्चैनमिषुप्रयोगे तत्पूर्वभङ्गे वितथप्रयत्नः।
जडीकृतस्त्र्यम्बकवीक्षणेन वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः॥४२॥
संरुद्धचेष्टस्य मृगेन्द्र! कामं हास्यं वचस्तद्यदहं विवक्षुः।
अन्तर्गतं प्राणभृतां हि वेद सर्वं भवान्भावमतोऽभिधास्ये॥४३॥
मान्यः स मे स्थावरजङ्गमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः।
गुरोरपीदं धनमाहिताग्नेर्नश्यत्पुरस्तादनुपेक्षणीयम्॥४४॥
स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्तयितुं प्रसीद।
दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः॥४५॥
अथान्धकारं गिरिगह्वराणां दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन्।
भूयः स भूतेश्वरपार्श्ववर्ती किञ्चिद्विहस्यार्थपतिं बभाषे॥४६॥
एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्॥४७॥
भूतानुकम्पा तव चेदियं गौरेका भवेत्स्वस्तिमती त्वदन्ते।
जीवन्पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि॥४८॥
अथैकधेनोरपराधचण्डाद् गुरोः कृशानुप्रतिमाद्बिभेषि।
शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतुं गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोध्नीः॥४९॥

की अकीर्ति नहीं होती॥४०॥ सिंह की ऐसी ढिठाई भरी बातें सुनकर जब राजा दिलीप को यह विश्वास हो गया कि 'शंकरजी के प्रभाव से ही मैं अस्त्र नहीं चला सका' तब उनकी आत्मग्लानि कुछ कम हो गयी॥४१॥ एक समय इन्द्र ने शिवजी पर वज्र तान दिया था। तब शिवजी ने उनकी ओर केवल देख भर दिया। बस, इतने ही से जैसे इन्द्र को काठ मार गया। आज वही दशा दिलीप की भी हुई। बाण चलाने में असमर्थ एवं हाथबँधे राजा दिलीप ने सिंह से कहा—॥४२॥ हे सिंह! हाथ बँध जाने के कारण मैं कुछ नहीं कर सकता। इसलिए जो कुछ भी मैं कहूँगा उसकी खिल्ली ही उड़ायी जायगी। फिर भी तुम सबके मन की बात जानते हो, इसीलिए मैं तुमसे कहता हूँ॥४३॥ जड-चेतन सभी प्राणियों के जन्मदाता, पालक, पोषक और संहारक शिवजी का मैं सम्मान करता हूँ; तथापि मैं अपने अग्निहोत्री गुरु के इस गौरूपी धन को अपनी आँखों के आगे नष्ट होते नहीं देख सकता॥४४॥ अतएव तुम मुझे ही खाकर अपनी भूख मिटा लो और महर्षि वसिष्ठ की इस गाय को छोड़ दो। क्योंकि इसका नन्हा-सा बछड़ा साँझ के समय इसकी राह देख रहा होगा॥४५॥ यह सुनकर शिवजी का सेवक सिंह गुफा के अँधेरे में अपने दाँत की चमक से उजाला करता हुआ तनिक हँसकर राजा से बोला—॥४६॥ हे राजन्! ऐसा लगता है कि तुममें यह सोचने की शक्ति भी नहीं रह गयी है कि तुम्हें क्या करना चाहिए। क्योंकि एक साधारण गाय के पीछे तुम इतना बड़ा एकछत्र राज्य, यौवन और ऐसा सुन्दर शरीर छोड़ने को उद्यत हो गये हो॥४७॥ प्राणियों पर दया करने के विचार मे ही यदि तुम ऐसा कर रहे हो तो भी देह-त्याग उचित नहीं है। क्योंकि यदि तुम मेरे भोजन बन जाते हो तो केवल एक गाय की ही रक्षा होगी, परन्तु यदि जीते रहोगे तो पिता के समान तुम अपनी सारी प्रजा की रक्षा कर सकोगे॥४८॥ यदि एकमात्र इस गाय के स्वामी और अग्नि के समान तेजस्वी अपने गुरुजी से डरते हो तो घड़े जैसे बड़े-बड़े थनोंवाली करोड़ों गायें देकर तुम उन्हें राजी कर सकते हो॥४९॥ अभी तुम्हारे खेलने-खाने

तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणां भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम्।
महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नमृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः ॥ ५० ॥
एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन।
शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव ॥ ५१ ॥
निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाच।
धेन्वा तदध्यासितकातराक्ष्या निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः ॥ ५२ ॥
क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥ ५३ ॥
कथं न शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्राणनाच्चान्यपयस्विनीनाम्।
इमामनूनां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयाऽस्याम् ॥ ५४ ॥
सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः।
न पारणा स्याद्विहता तवैवं भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियार्थः ॥ ५५ ॥
भवानपीदं परवानवैति महान्हि यत्नस्तव देवदारौ।
स्थातुं नियोक्तुर्न हि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन ॥ ५६ ॥
किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥ ५७ ॥
सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुर्वृत्तः स नौ सङ्गतयोर्वनान्ते।
तद्भूतनाथानुग नार्हसि त्वं सम्बन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम् ॥ ५८ ॥

के दिन हैं। अतः तुम अपने इस बलवान् शरीर की रक्षा करो। क्योंकि विद्वानों का कथन है कि सुख और समृद्धि से सम्पन्न राज्य पृथ्वी पर ही स्वर्ग बन जाता है। उस स्वर्ग से इस स्वर्ग में अन्तर इतना ही है कि यह भूमि का और वह देवलोक का स्वर्ग होता है॥ ५० ॥ राजा दिलीप से इतना कहकर सिंह जब चुप हो गया, तब पर्वत की कन्दरा से भी उसकी प्रतिध्वनि सुनायी पड़ी। इससे ऐसा लगा कि जैसे उस पर्वत ने भी प्रसन्न होकर सिंह की ही बातों को दुहरा दिया हो॥ ५१ ॥ उधर राजा ने सिंह की बातें सुनीं और इधर देखा कि सिंह के नीचे दबी हुई गाय कातर नेत्रों से निहार रही है। इससे अत्यन्त दयालु राजा दिलीप का जी भर आया और वे बोले॥ ५२ ॥ हे सिंह! क्षत्रिय शब्द का अर्थ ही यह होता है कि दूसरों को नष्ट होने से बचाया जाय। यदि मैंने यह नहीं किया तो मेरा राज्य करना और अपयश लेकर जीते रहना ही किस काम का होगा॥ ५३ ॥ तुम कहते हो कि इसके बदले दूसरी गायें देकर मैं महर्षि वसिष्ठजी को राजी कर लूँ; ऐसा नहीं हो सकता। तुम इस गाय को नहीं पहचानते। यह कामधेनु से किसी प्रकार कम नहीं है। आज शंकरजी के प्रभाव से ही तुमने इस पर आक्रमण किया है, नहीं तो तुम इसकी ओर देख भी नहीं सकते थे॥ ५४॥ अतएव मुझे अपना शरीर खो करके भी इसे छुड़ाना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से तुम्हारी भूख भी मिट जायगी और गाय के न रहने से वसिष्ठजी की जो यज्ञ-क्रियाएँ रुक जातीं, वे भी न रुकेंगी॥ ५५॥ देखो, तुम भी दूसरे के सेवक हो और बड़ी लगन से इस देवदारु की रक्षा कर रहे हो। तुम यह तो जानते ही हो कि जिसकी रक्षा का भार सेवक पर रहता है, यदि वह नष्ट हो जाय और सेवक के शरीर पर आँच भी न आये तो वह अपने स्वामी के आगे कैसे जायगा?॥ ५६॥ किसी कारण यदि तुम मेरे ऊपर दया करना चाहते हो तो मेरे यशःशरीर की रक्षा करो। क्योंकि मेरे जैसे लोग पञ्चतत्त्व से बने नश्वर शरीर पर तनिक भी मोह नहीं करते॥ ५७ ॥ देखो, बातचीत से ही मित्रता प्रारम्भ होती है। सो इस जंगल में बातचीत

तथेति गामुक्तवते दिलीपः सद्यःप्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः।
स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत्पिण्डमिवामिषस्य॥५९॥
तस्मिन्क्षणे पालयितुः प्रजानामुत्पश्यतः सिंहनिपातमुग्रम्।
अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात विद्याधरहस्तमुक्ता॥६०॥
उत्तिष्ठ वत्सेत्यमृतायमानं वचो निशम्योत्थितमुत्थितः सन्।
ददर्श राजा जननीमिव स्वां गामग्रतः प्रस्रविणीं न सिंहम्॥६१॥
तं विस्मितं धेनुरुवाच साधो मायां मयोद्भाव्य परीक्षितोऽसि।
ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि प्रभुः प्रहर्तुं किमुतान्यहिंस्राः॥६२॥
भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीताऽस्मि ते पुत्र वरं वृणीष्व।
न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुघां प्रसन्नाम्॥६३॥
ततः समानीय स मानितार्थी हस्तौ स्वहस्तार्जितवीरशब्दः।
वंशस्य कर्तारमनन्तकीर्तिं सुदक्षिणायां तनयं ययाचे॥६४॥
सन्तानकामाय तथेति कामं राज्ञे प्रतिश्रुत्य पयस्विनी सा।
दुग्ध्वा पयः पत्रपुटे मदीयं पुत्रोपभुङ्क्ष्वेति तमादिदेश॥६५॥
वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृषेरनुज्ञामधिगम्य मातः।
औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः॥६६॥
इत्थं क्षितीशेन वसिष्ठधेनुर्विज्ञापिता प्रीततरा बभूव।
तदन्विता हैमवताच्च कुक्षेः प्रत्याययावाश्रममश्रमेण॥६७॥

चलाने के नाते अब हम दोनों मित्र हो गये हैं। अतएव हे शिव के सेवक! अपने इस नये मित्र की प्रार्थना न ठुकराना॥५८॥ सिंह ने कहा—अच्छी बात है। उसके ऐसा कहते ही तत्काल दिलीप का हाथ खुल गया और अपने अस्त्र फेंककर उन्होंने मांसपिंड के समान अपने शरीर को सिंह के सामने सौंप दिया॥५९॥ नीचा मुँह करके राजा दिलीप जब सिंह के भीषण आक्रमण की प्रतीक्षा कर रहे थे उसी समय प्रजापालक राजा दिलीप के ऊपर आकाश से विद्याधरों के हाथों से फूलों की वर्षा होने लगी॥६०॥ उसी समय उन्हें अमृत के समान ये मीठे वचन सुनायी दिये— 'उठो बेटा! उठो। राजा दिलीप ने सिर उठाया तो देखते क्या हैं कि दूध चुआती हुई माता के समान नन्दिनी आगे खड़ी है और सिंह न जाने कहाँ चला गया है॥६१॥ राजा दिलीप विस्मयभरे नयनों से यह सब देख रहे थे। तभी नन्दिनी मनुष्य की वाणी में बोली—हे साधो! मैंने माया रचकर तुम्हारी परीक्षा ली थी। वसिष्ठ ऋषि के प्रभाव से यमराज भी मुझ पर प्रहार नहीं कर सकते, फिर अन्य हिंसक जीवों की तो बात ही क्या है॥६२॥ हे पुत्र! तुमने जो अपने गुरु में भक्ति और मुझ पर दया दिखलायी है, उससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। अब जो चाहो, सो वर माँग लो। तुम मुझे केवल दूध देने वाली साधारण गाय मत समझना। मै यदि प्रसन्न हो जाऊँ तो मुझसे जो माँगा जाय, वह वर दे सकती हूँ॥६३॥ तब याचकों को मनचाहा दान देनेवाले और अपने पराक्रम से वीर कहलाने वाले राजा दिलीप ने हाथ जोडकर यह वर माँगा कि 'मेरी प्यारी रानी सुदक्षिणा के गर्भ से ऐसा यशस्वी पुत्र उत्पन्न हो, जिससे सूर्यवंश बराबर बढता जाय'॥६४॥ सन्तान चाहनेवाले राजा दिलीप से नन्दिनी ने प्रतिज्ञा की कि मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ण करूँगी और आज्ञा दी कि 'पुत्र! तुम एक दोने में मेरा दूध दुहकर पी लो'॥६५॥ राजा ने कहा—माता! मेरी यह इच्छा है कि बछड़े के पी लेने और हवन से बचने पर ऋषि की आज्ञानुसार मैं उसी प्रकार आपका दूध ग्रहण करूँगा, जैसे राज्य की रक्षा करके उसका षष्ठांश ग्रहण किया करता हूँ॥६६॥ राजा

तस्याः प्रसन्नेन्दुमुखः प्रसादं गुरुर्नृपाणां गुरवे निवेद्य।
प्रहर्षचिह्नानुमितं प्रियायै शशंस वाचा पुनरुक्तयेव॥ ६८॥
स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा सद्वत्सलो वत्सहुतावशेषम्।
पपौ वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः शुभ्रं यशो मूर्तमिवातितृष्णः॥ ६९॥
प्रातर्यथोक्तव्रतपारणान्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं प्रयुज्य।
तौ दम्पती स्वां प्रति राजधानीं प्रस्थापयामास वशी वसिष्ठः॥ ७०॥
प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताशमनन्तरं भर्तुररुन्धतीं च।
धेनुं सवत्सां च नृपः प्रतस्थे सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः॥ ७१॥
श्रोत्राभिरामध्वनिना रथेन स धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः।
ययावनुद्घातसुखेन मार्गं स्वेनेव पूर्णेन मनोरथेन॥ ७२॥
तमाहितौत्सुक्यमदर्शनेन प्रजाः प्रजार्थव्रतकर्शिताङ्गम्।
नेत्रैः पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भिर्नवोदयं नाथमिवौषधीनाम्॥ ७३॥
पुरन्दरश्रीः पुरमुत्पताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः।
भुजे भुजङ्गेन्द्रसमानसारे भूयः स भूमेर्धुरमाससञ्ज॥ ७४॥

की यह बात सुनकर नन्दिनी बहुत प्रसन्न हुई और राजा दिलीप के साथ हिमालय की उस कन्दरा से अनायास वह आश्रम को लौटी॥ ६७॥ निर्मल चन्द्रमा के सदृश सुन्दर मुखवाले महाराजा दिलीप जब वसिष्ठजी के पास पहुँचे तो उनकी प्रसन्नता को देखकर वसिष्ठजी सब बातें पहले से ही समझ गये। इसीलिए राजा ने जो समाचार सुनाया, वह उन्हें ऐसा लगा मानो बात दुहरा दी गयी हो। तदनन्तर उन्होंने यह समाचार महारानी सुदक्षिणा को भी सुनाया॥ ६८॥ शाम को जब बछड़ा दूध पी चुका और हवन भी सम्पन्न हो गया, तब सज्जनों के प्रिय और प्रशंसनीय राजा दिलीप ने गुरु वसिष्ट की आज्ञा से नन्दिनी के दूध को ऐसे पिया, मानो उन्हें बड़ी प्यास लगी हुई हो। उस समय ऐसा लगा कि जैसे उनका उजला यश ही दूध बनकर वहाँ चला आया था॥ ६९॥ दूसरे दिन सवेरे व्रत की पारणा हो जाने पर जितेन्द्रिय वसिष्ठजी ने राजा और रानी दोनों को आशीर्वाद दिया कि 'तुम्हारा मार्ग सुखसाध्य हो' और उन्हें राजधानी (अयोध्या) के लिए विदा कर दिया॥ ७०॥ वहाँ से चलते समय राजा ने अग्निसहित हवन-कुण्ड की, गुरु वसिष्ठ की, माता अरुन्धती की और बछड़े के साथ बैठी नन्दिनी की परिक्रमा की। महर्षि का आशीष पा लेने से उनका तेज और भी अधिक निखर उठा था॥ ७१॥ सहनशील राजा दिलीप अपनी धर्मपत्नी के साथ जिस रथ पर चढ़कर अयोध्या चले, उसकी ध्वनि कानों को बड़ी मीठी लग रही थी। वह रथ ऐसा अच्छा था कि उसमें नाम को भी हचक नहीं लगती थी। इसलिए उस पर सुखपूर्वक चढ़कर जाते हुए वे दोनों ऐसे लगते थे कि मानो अपने सफलमनोरथ पर ही बैठे हुए जा रहे हों॥ ७२॥ राजा को अयोध्या से गये बहुत दिन बीत चुके थे। अतएव प्रजा उनके दर्शन को तरस रही थी। पुत्र की उत्पत्ति के लिए उन्होंने जो व्रत किया था, उससे वे कुछ दुबले हो गये थे। अब बहुत दिनों पर लौटने से उनकी प्रजा उन्हें इस तरह देखने लगी, जैसे उदय होने पर लोग द्वितीया के चन्द्रमा को ध्यान से देखते हैं॥ ७३॥ इन्द्र के सदृश सम्पत्तिशाली राजा दिलीप ने प्रजा का आदर पाकर अयोध्या नगरी में प्रवेश किया। उनके स्वागत के लिए वहाँ स्थान-स्थान पर झंडियाँ फहरा रही थीं। तदनन्तर उन्होंने शेषनाग जैसी अपनी बलवती भुजाओं पर फिर राज-काज सँभाल लिया॥ ७४॥ अत्रि ऋषि के नेत्र से निकली हुई चन्द्रमारूपिणी ज्योति को जैसे आकाश ने धारण किया था और जैसे कार्तिकेय को उत्पन्न करने वाले शंकरजी के उस तेज को गंगाजी ने धारण किया था,

अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम्।
नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः॥७५॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये नन्दिनी-
वरप्रदानो नाम द्वितीयः सर्गः॥२॥

जिसे अग्नि भी नहीं सँभाल सकी थी, वैसे ही रानी सुदक्षिणा ने राजा दिलीप का वंश चलाने के लिए आठों दिशाओं के लोकपालों के तेज से परिपूर्ण प्रतापी गर्भ को धारण किया॥७५॥

इस प्रकार रघुवंशमहाकाव्य में राजा दिलीप को नन्दिनी का
वरदान नामक दूसरा सर्ग समाप्त॥२॥

तृतीयः सर्गः

अथेप्सितं भर्तुरुपस्थितोदयं सखीजनोद्वीक्षणकौमुदीमुखम्।
निदानमिक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेः सुदक्षिणा दौर्हृदलक्षणं दधौ॥ १॥
शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन साऽलक्ष्यत लोध्रपाण्डुना।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी॥ २॥
तदाननं मृत्सुरभिं क्षितीश्वरो रहस्युपाघ्राय न तृप्तिमाययौ।
करीव सिक्तं पृषतैः पयोमुचां शुचिव्यपाये वनराजिपल्वलम्॥ ३॥
दिवं मरुत्वानिव भोक्ष्यते भुवं दिगन्तविश्रान्तरथो हि तत्सुतः।
अतोऽभिलाषे प्रथमं तथाविधे मनो ववन्धान्यरसान्विलङ्घ्य सा॥ ४॥
न मे ह्रिया शंसति किञ्चिदीप्सितं स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधी।
इति स्म पृच्छत्यनुवेलमादृतः प्रियासखीरुत्तरकोसलेश्वरः॥ ५॥
उपेत्य सा दोहददुःखशीलतां यदेव वव्रे तदपश्यदाहृतम्।
न हीष्टमस्य त्रिदिवेऽपि भूपतेरभूदनासाद्यमधिज्यधन्वनः॥ ६॥
क्रमेण निस्तीर्य च दोहदव्यथां प्रचीयमानावयवा रराज सा।
पुराणपत्रापगमादनन्तरं लतेव सन्नद्धमनोज्ञपल्लवा॥ ७॥
दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरं तदीयमानीलमुखं स्तनद्वयम्।
तिरश्चकार भ्रमराभिलीनयोः सुजातयोः पङ्कजकोशयोः श्रियम्॥ ८॥

कुछ ही समय बाद रानी सुदक्षिणा के शरीर में उस गर्भ के ऐसे लक्षण दीखने लगे, जो राजा दिलीप की इच्छा पूरी होने का संकेत दे रहे थे। जिन्हें देखकर रानी की सखियों के नेत्रों को ऐसा सुख मिल रहा था कि मानो वे चाँदनी देखकर मगन हो रही हों और जो इस बात के प्रमाण थे कि अब इक्ष्वाकुवंश बराबर चलता रहेगा॥ १॥ गर्भिणी होने के कारण रानी दुबली हो गयी थी। इसलिए उन्होंने अपने कितने ही गहने उतार डाले। उनका मुँह लोध के फूल जैसा पीला पड गया और वे पौ फटते समय की उस रात जैसी लगने लगीं, जब थोडे से तारे बचे रहते हैं और चन्द्रमा पीला पड़ जाता है॥ २॥ गर्मी के अन्त में पहली वर्षा से जैसे जंगल के छोटे-छोटे तालों की मिट्टी सोंधी हो जाती है और हाथी उसे बार-बार सूँघते हैं, वैसे ही मिट्टी खाने से रानी सुदक्षिणा का भी मुँह सोंधा हो गया था। राजा दिलीप उसे एकान्त में बार-बार सूँघ करके भी तृप्त नहीं होते थे॥ ३॥ रानी होते हुए भी सुदक्षिणा ने सब पदार्थ छोडकर मानो मिट्टी इसलिए खाना आरम्भ किया था कि जिससे भविष्य में उसका पुत्र भी सारी पृथ्वी पर वैसे ही राज करे, जैसे इन्द्र स्वर्ग पर राज करते हैं॥ ४॥ राजा दिलीप जानते थे कि सुदक्षिणा बड़ी लजीली होने के कारण अपनी इच्छा प्रकट नहीं करती। इसलिए वे बार-बार उसके पास रहनेवाली सखियों से पूछते रहते थे कि रानी कौन-कौन-सी वस्तुओं को चाहती है॥ ५॥ गर्भिणी रानी सुदक्षिणा को जब जिस वस्तु की इच्छा होती थी, वह उसी समय उसे मिल जाती थी। क्योंकि धनुर्धर राजा दिलीप को स्वर्ग की भी वस्तुएँ प्राप्य थीं, फिर इस लोक की वस्तुओं की तो बात ही क्या थी॥ ६॥ धीरे-धीरे गर्भ के प्रारंभिक कष्ट बीत गये, तब रानी वैसे ही हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर दीखने लगी, जैसे वसन्त ऋतु में पुराने पत्ते गिरकर नये और कोमल पत्तों से लदी हुई लताएँ सुन्दर दीखने लगती हैं॥ ७॥ थोड़े ही दिनों बाद उसके बडे-बड़े स्तनों की घुंडियाँ तनिक काली पड़

निधानगर्भामिव सागराम्वरां शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम्।
नदीमिवान्तःसलिलां सरस्वतीं नृपः ससत्त्वां महिषीममन्यत॥ ९ ॥
प्रियानुरागस्य मनःसमुन्नतेर्भुजार्जितानां च दिगन्तसम्पदाम्।
यथाक्रमं पुंसवनादिकाः क्रिया धृतेश्च धीरः सदृशीर्व्यधत्त सः॥ १० ॥
सुरेन्द्रमात्राश्रितगर्भगौरवात्प्रयत्नमुक्तासनया गृहागतः।
तयोपचाराञ्जलिखिन्नहस्तया ननन्द पारिप्लवनेत्रया नृपः॥ ११ ॥
कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भभर्मणि।
पतिः प्रतीतः प्रसवोन्मुखीं प्रियां ददर्श काले दिवमभ्रितामिव॥ १२ ॥
ग्रहैस्ततः पञ्चभिरुच्चसंश्रयैरसूर्यगैः सूचितभाग्यसम्पदम्।
असूत पुत्रं समये शचीसमा त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम्॥ १३ ॥
दिशः प्रसेदुर्मरुतो ववुः सुखाः प्रदक्षिणार्चिर्हविरग्निराददे।
बभूव सर्वं शुभशंसि तत्क्षणं भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम्॥ १४ ॥
अरिष्टशय्यां परितो विसारिणा सुजन्मनस्तस्य निजेन तेजसा।
निशीथदीपाः सहसा हतत्विषो बभूवुरालेख्यसमर्पिता इव॥ १५ ॥
जनाय शुद्धान्तचराय शंसते कुमारजन्मामृतसम्मिताक्षरम्।
अदेयमासीत्त्रयमेव भूपतेः शशिप्रभं छत्रमुभे च चामरे॥ १६ ॥

गयीं। इससे रानी के स्तन ऐसे सुन्दर लगने लगे कि उनकी शोभा के समक्ष कमलयुगल पर बैठे हुए भौंरों की शोभा भी हार गयी॥८॥ राजा दिलीप गर्भिणी रानी सुदक्षिणा को वैसी ही महत्त्वशालिनी समझने लगे, जैसे बहुमूल्य रत्नों से भरी तथा समुद्र से घिरी हुई पृथ्वी, अपने भीतर अग्नि छुपाये शमीवृक्ष या भीतर ही भीतर जल बहाने वाली सरस्वती नदी होती है॥९॥ राजा दिलीप रानी को जितना प्यार करते थे, जितनी उन्हें प्रसन्नता थी और भुजबल से अर्जित जितना बड़ा उनका राज्य था, उतने ही ठाट-बाट से उन्होंने उसके पुंसवन आदि संस्कार सम्पन्न किये॥ १० ॥ धीरे-धीरे रानी सुदक्षिणा का वह गर्भ बढने लगा, जिसमें लोकपालों के अंश विद्यमान थे। उसके भार से रानी को उठने-बैठने में भी कठिनाई होने लगी। इसलिए जब राजा रनिवास में आते थे, तब वे बड़ी कठिनाई से उनके स्वागत के लिए उठ पाती थीं। उनको प्रणाम करने लिए जब वे हाथ जोड़ती थीं तो हाथ ढीले पड़ जाते थे और थकावट से उनकी आँखे नाचने लगती थीं। यह सब देखकर राजा दिलीप बहुत प्रसन्न होते थे॥ ११ ॥ बच्चों की चिकित्सा करने में निपुण बहुत-से विश्वसनीय वैद्य उन सब उपायों को कर रहे थे, जिनसे गर्भिणी का गर्भ पुष्ट होता है। दसवें महीने में राजा ने देखा तो शीघ्र ही पुत्र को जन्म देने वाली रानी ऐसी लग रही थी, जैसे बरसने वाले बादलों से घिरा आकाश हो॥ १२ ॥ जैसे कोई राजा अपने तेज, उत्साह और मन्त्रणाशक्ति से अचल सम्पत्ति पा लेता है, वैसे ही इन्द्राणी के समान तेजस्विनी सुदक्षिणा ने ठीक समय पर पुत्र उत्पन्न किया, जिसके सौभाग्यशाली होने की सूचना वे पाँच शुभ ग्रह दे रहे थे, जो उस समय सूर्य से दूर उच्च स्थान पर बैठे थे॥ १३ ॥ उस बालक के जन्म के समय दिशाएँ प्रसन्न हो गयीं, शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु बहने लगी और अग्नि की लपटें दक्षिण की ओर से घूमकर हवन की सामग्रियाँ ले रही थीं। सभी अच्छे शकुन हो रहे थे और ऐसा होना उचित भी था, क्योंकि ऐसे बालक संसार के कल्याण के लिए ही जन्म लेते हैं॥ १४॥ उस भाग्यशाली बालक का तेज सौरीघर में चारों ओर ऐसा फैला हुआ था कि आधी रात के समय घर में रखे हुए दीपकों का प्रकाश भी एकाएक फीका पड़ गया और वे ऐसे लगने लगे मानो चित्र में लिखे हों॥ १५ ॥ तत्काल

निवातपद्मस्तिमितेन चक्षुषा नृपस्य कान्तं पिबतः सुताननम्।
महोदधेः पूर इवेन्दुदर्शनाद् गुरुः प्रहर्षः प्रबभूव नात्मनि॥ १७॥
स जातकर्मण्यखिले तपस्विना तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते।
दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ॥ १८॥
सुखश्रवा मङ्गलतूर्यनिस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम्।
न केवलं सद्मनि मागधीपतेः पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि॥ १९॥
न संयतस्तस्य बभूव रक्षितुर्विसर्जयेद्यं सुतजन्महर्षितः।
ऋणाभिधानात्स्वयमेव केवलं तदा पितॄणां मुमुचे स बन्धनात्॥ २०॥
श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भकस्तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः।
अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थविच्चकार नाम्ना रघुमात्मसम्भवम्॥ २१॥
पितुः प्रयत्नात्स समग्रसम्पदः शुभैः शरीरावयवैर्दिने दिने।
पुपोष वृद्धिं हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमाः॥ २२॥
उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ॥ २३॥
रथाङ्गनाम्नोरिव भावबन्धनं बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम्।
विभक्तमप्येकसुतेन तत्तयोः परस्परस्योपरि पर्यचीयत॥ २४॥

अन्त:पुर के सेवक ने जाकर राजा दिलीप को पुत्र होने का समाचार सुनाया। यह सुनकर वे इतने प्रसन्न हुए कि छत्र और दोनों चँवर ये तीन वस्तुएँ तो वे नहीं दे सकते थे, क्योंकि वे राजचिह्न थे; शेष सब आभूषण उतारकर उन्होंने उसे दे दिये॥ १६॥ तत्पश्चात् वे तत्काल भीतर गये और जैसे वायु के रुक जाने पर कमल निश्चल हो जाता है, वैसे ही अपने स्थिर नयनों से पुत्र का मुँह देखने लगे। चन्द्रमा को देखकर जैसे महासमुद्र में ज्वार आ जाता है, वैसे ही पुत्र को देखकर राजा को इतना अधिक आनन्द मिला कि वह उनके हृदय में नहीं समा सका॥ १७॥ इस शुभ समाचार को पाकर तपोवन से आकर पुरोहित वसिष्ठजी ने स्वभावतः सुन्दर उस बालक के जातकर्म आदि संस्कार किये। तदनन्तर वह बालक वैसा सुन्दर लगने लगा, जैसे खान से निकालकर खरादा हुआ हीरा सुन्दर लगता है॥ १८॥ उस बालक के जन्म लेने पर केवल राजा दिलीप के ही राजमहल में बाजों के साथ वेश्याओं के नाच आदि उत्सव नहीं हो रहे थे, अपितु स्वर्ग में देवताओं के यहाँ भी उत्सव मनाया जा रहा था॥ १९॥ राजकुमार का जन्म होने पर बन्दीगृहों से कैदी छोड़े जाते हैं, परन्तु राजा दिलीप के राज्य में सुप्रबन्ध के कारण कोई बन्दी ही नहीं था कि जिसे वे पुत्र-जन्म की प्रसन्नता में छोड़ते। इसलिए पुत्र न होने से पितरों के ऋण के बन्धन में आबद्ध स्वयं को ही उन्होंने उस बन्धन से मुक्त मान लिया॥ २०॥ उन्होंने यह सोचकर उस बालक का नाम रघु रखा कि वह सम्पूर्ण शास्त्रों में और युद्धक्षेत्र में शत्रुओं के व्यूहों को तोड़कर उनके पार चला जायगा। 'रघु' शब्द संस्कृत के 'रघि' धातु से बनता है, जिसका अर्थ होता है—आगे बढना॥ २१॥ शुक्लपक्ष की प्रतिपदा का चन्द्रमा जैसे सूर्य की किरणें पाकर दिन-दिन बढ़ता है, वैसे ही बालक रघु के अंग भी सम्पत्तिशाली पिता की देख-रेख में दिन-दिन बढने लगे॥ २२॥ जैसे पुत्र कार्तिकेय को पाकर शंकर-पार्वती और प्रतापी पुत्र जयन्त को पाकर इन्द्र और शची प्रसन्न हुए थे, वैसे ही राजा दिलीप और रानी सुदक्षिणा भी उन दोनों ही जैसे तेजस्वी पुत्र को पाकर बहुत प्रसन्न हुए॥ २३॥ उन राजा और रानी में चकवा-चकई के समान जो गाढ़ स्नेह था, वह अब उन दोनों का स्नेह यद्यपि एकमात्र पुत्र पर बँट गया था, फिर भी उनके पारस्परिक प्रेम में कमी नहीं आयी,

उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम्।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः॥ २५॥
तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि।
उपान्तसम्मीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ॥ २६॥
अमंस्त चानेन परार्ध्यजन्मना स्थितेरभेत्ता स्थितिमन्तमन्वयम्।
स्वमूर्तिभेदेन गुणाग्र्यवर्तिना पतिः प्रजानामिव सर्गमात्मनः॥ २७॥
स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः।
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत्॥ २८॥
अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम्।
अवन्ध्ययत्नाश्च बभूवुरत्र ते क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति॥ २९॥
धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः।
ततार विद्याः पवनातिपातिभिर्दिशो हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः॥ ३०॥
त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवीमशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत्।
न केवलं तद्गुरुरेकपार्थिवः क्षितावभूदेकधनुर्धरोऽपि सः॥ ३१॥
महोक्षतां वत्सतरः स्पृशन्निव द्विपेन्द्रभावं कलभः श्रयन्निव।
रघुः क्रमाद्यौवनभिन्नशैशवः पुपोष गाम्भीर्यमनोहरं वपुः॥ ३२॥

अपितु वह दिन-दिन बढ़ता ही गया॥ २४॥ जब बालक रघु कुछ बडे हुए, तब धाय के सिखाने पर वे तोतली बोली बोलने लगे, उसकी उँगली पकडकर चलने लगे और बड़ों को सिर झुकाकर प्रणाम करना भी सीख लिया। इस प्रकार उस बालक ने पिता को आनन्दित किया ॥ २५॥ राजा जब उसे गोद में उठाते, तब उसके शरीर का स्पर्श करने से उन्हें ऐसा लगता था कि मानो उनके शरीर पर अमृत की फुहारें बरस रही हों। उस समय दोनों आँखें बन्द करके वे बडी देर तक इस आनन्द के रस का स्वाद लेते थे॥ २६॥ जैसे प्रजापति ब्रह्मा ने अपने सतोगुण के अंश से विष्णु के प्रकट होने पर यह समझ लिया था कि अब हमारी सृष्टि अमर हो गयी। वैसे ही मर्यादापालक दिलीप ने भी यह समझ लिया कि रघु से हमारा सूर्यवंश स्थायी बना रहेगा॥ २७॥ मुण्डनसंस्कार हो जाने पर रघु ने चंचल लटों से युक्त तथा समान आयु वाले मंत्रिपुत्रों के साथ पहले वर्णमाला को लिखना-पढना सीखा और उसके बाद इस तरह साहित्य का स्वाध्याय प्रारम्भ कर दिया, जैसे नदी मुहाने से वे समुद्र में प्रवेश कर गये हों॥ २८॥ यज्ञोपवीत हो जाने पर रघु को विद्वान्, पण्डित-गण और भी सब विद्याएँ पढ़ाने लगे। इसमें गुरुओं को विशेष परिश्रम नहीं करना पडा, क्योंकि चतुर शिष्य को दी हुई शिक्षा बहुत शीघ्र सफल होती है॥ २९॥ जैसे सूर्यनारायण अपने पवनवेग से दौडने वाले घोडों द्वारा थोडे ही समय में चारों दिशाओं को पार कर लेते हैं, वैसे ही बुद्धिमान् रघु ने अपनी तीव्र बुद्धि की सहायता से चार समुद्रों के समान विस्तृत आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति— इन चारों विद्याओं को शीघ्र सीख लिया॥ ३०॥ रुरु मृग का पवित्र चर्म पहनकर रघु ने मन्त्रयुक्त अस्त्रों की शिक्षा अपने पिता से ही प्राप्त की। क्योंकि उनके पिता दिलीप केवल चक्रवर्ती राजा ही नहीं थे, अपितु अद्वितीय धनुर्धर भी थे॥ ३१॥ जैसे गाय का बछड़ा बड़ा होकर साँड़ और हाथी का बच्चा बढकर गजराज बन जाता है, वैसे ही जब रघु ने बचपन बिताकर युवावस्था में पदार्पण किया, तब उनका शरीर और भी खिल उठा॥ ३२॥ बाईसवें वर्ष में गोदान-संस्कार करके राजा दिलीप ने उनका विवाह भी कर दिया। जैसे दक्ष की अश्विनी आदि कन्याएँ चन्द्रमा जैसे पति को पाकर प्रसन्न हुई थीं, वैसे ही वे राजकुमारियाँ भी

अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयद् गुरुः।
नरेन्द्रकन्यास्तमवाप्य सत्पतिं तमोनुदं दक्षसुता इवाबभुः॥ ३३॥
युवा युगव्यायतबाहुरंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरः।
वपुःप्रकर्षादजयद् गुरुं रघुस्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत॥ ३४॥
ततः प्रजानां चिरमात्मना धृतां नितान्तगुर्वीं लघयिष्यता धुरम्।
निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराजशब्दभाक्॥ ३५॥
नरेन्द्रमूलायतनादनन्तरं तदास्पदं श्रीर्युवराजसंज्ञितम्।
अगच्छदंशेन गुणाभिलाषिणी नवावतारं कमलादिवोत्पलम्॥ ३६॥
विभावसुः सारथिनेव वायुना घनव्यपायेन गभस्तिमानिव।
बभूव तेनातितरां सुदुःसहः कटप्रभेदेन करीव पार्थिवः॥ ३७॥
नियुज्य तं होमतुरङ्गरक्षणे धनुर्धरं राजसुतैरनुद्रुतम्।
अपूर्णमेकेन शतक्रतूपमः शतं क्रतूनामपविघ्नमाप सः॥ ३८॥
ततः परं तेन मखाय यज्वना तुरङ्गमुत्सृष्टमनर्गलं पुनः।
धनुर्भृतामग्रत एव रक्षिणां जहार शक्रः किल गूढविग्रहः॥ ३९॥
विषादलुप्तप्रतिपत्ति विस्मितं कुमारसैन्यं सपदि स्थितं च तत्।
वसिष्ठधेनुश्च यदृच्छयाऽऽगता श्रुतप्रभावा ददृशेऽथ नन्दिनी॥ ४०॥
तदङ्गनिःस्यन्दजलेन लोचने प्रमृज्य पुण्येन पुरस्कृतः सताम्।
अतीन्द्रियेष्वप्युपपन्नदर्शनो बभूव भावेषु दिलीपनन्दनः॥ ४१॥

रघु जैसे प्रतापशाली पति को पाकर बहुत प्रसन्न हुईं॥ ३३॥ रघु की भुजाएँ युवावस्था के कारण हल के जुए के समान दृढ और लम्बी हो गयीं, छाती चौड़ी हो गयी और कन्धे फैल गये। इस प्रकार डील-डौल बढ़ जाने पर रघु यद्यपि अपने बूढे पिता से ऊँचे और तगड़े दिखलायी देते थे, फिर भी वे इतने विनम्र थे कि कभी भी अपना बड़प्पन नहीं प्रकट होने देते थे॥ ३४॥ जब राजा दिलीप ने देखा कि शिक्षा आदि संस्कारों से रघु सुशिक्षित हो गये हैं और राज्य भली-भाँति सँभाल सकते हैं, तब उन्होंने गुरुतर राज्यभार हल्का करने के विचार से रघु को युवराज बना दिया॥ ३५॥ जैसे सुन्दरता की देवी मुरझाये हुए कमल को छोड़कर नये कमल पर चली जाती है, वैसे ही राज्यलक्ष्मी भी अब बूढे दिलीप को छोड़कर धीरे-धीरे रघु के पास जा पहुँची॥ ३६॥ जैसे अपने सारथी वायु की सहायता से अग्नि, शरद् ऋतु के खुले आकाश को पाकर सूर्य और मद बहने के कारण हाथी प्रचंड हो जाता है, वैसे ही प्रतापी रघु की सहायता से दिलीप इतने शक्तिशाली हो गये कि उनसे उनके शत्रु काँपने लगे॥ ३७॥ तदनन्तर इन्द्र के समान प्रभावशाली दिलीप ने यज्ञ के घोड़े की रक्षा का भार रघु तथा अन्य धनुर्धर राजकुमारों को सौंपकर निन्यानवे अश्वमेध यज्ञ निर्विघ्न पूरे कर लिये॥ ३८॥ जब दिलीप ने सौवाँ यज्ञ करने के लिए घोड़ा छोड़ा तो इन्द्र ने धनुषधारी रक्षकों के देखते-देखते उन्होंने अलक्षित रूप से उस घोड़े को चुरा लिया॥ ३९॥ घोड़े की रक्षा करने वाली रघु की सेना ने जब देखा कि घोड़ा देखते-देखते अदृश्य हो गया, तब वे बहुत घबराये और उन्हें आश्चर्य भी हुआ। उसी समय वसिष्ठ ऋषि की प्रभावशालिनी गाय नन्दिनी घूमती-घामती वहाँ आ पहुँची॥ ४०॥ सज्जनों के पूज्य रघु ने तत्काल नन्दिनी के मूत्र को अपनी आँखों में लगाया। जिससे उन्हें उन सब वस्तुओं को देख सकने की शक्ति प्राप्त हो गयी, जो सामान्य इन्द्रियों से किसी को नहीं दीख सकती थीं॥ ४१॥ इस प्रकार दिव्य दृष्टि प्राप्त करके रघु ने देखा कि पर्वतों के पंख काटने वाले इन्द्र स्वयं उस घोड़े को चुरा ले जा रहे हैं।

स पूर्वतः पर्वतपक्षशातनं ददर्श देवं नरदेवसम्भवः।
पुनः पुनः सूतनिषिद्धचापलं हरन्तमश्वं रथरश्मिसंयतम्॥४२॥
शतैस्तमक्ष्णामनिमेषवृत्तिभिर्हरिं विदित्वा हरिभिश्च वाजिभिः।
अवोचदेनं गगनस्पृशा रघुः स्वरेण धीरेण निवर्तयन्निव॥४३॥
मखांशभाजां प्रथमो मनीषिभिस्त्वमेव देवेन्द्र! सदा निगद्यसे।
अजस्रदीक्षाप्रयतस्य मद्गुरोः क्रियाविघाताय कथं प्रवर्तसे॥४४॥
त्रिलोकनाथेन सदा मखद्विषस्त्वया नियम्या ननु दिव्यचक्षुषा।
स चेत्स्वयं कर्मसु धर्मचारिणां त्वमन्तरायो भवसि च्युतो विधिः॥४५॥
तदङ्गमग्र्यं मघवन्महाक्रतोरमुं तुरङ्गं प्रतिमोक्तुमर्हसि।
पथः श्रुतेर्दर्शयितार ईश्वरा मलीमसामाददते न पद्धतिम्॥४६॥
इति प्रगल्भं रघुणा समीरितं वचो निशम्याधिपतिर्दिवौकसाम्।
निवर्तयामास रथं सविस्मयः प्रचक्रमे च प्रतिवक्तुमुत्तरम्॥४७॥
यदात्थ राजन्यकुमार तत्तथा यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः।
जगत्प्रकाशं तदशेषमिज्यया भवद्गुरुर्लङ्घयितुं ममोद्यतः॥४८॥
हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापरः।
तथा विदुर्मां मुनयः शतक्रतुं द्वितीयगामी न हि शब्द एष नः॥४९॥
अतोऽयमश्वः कपिलानुकारिणा पितुस्त्वदीयस्य मयाऽपहारितः।
अलं प्रयत्नेन तवात्र मा निधाः पदं पदव्यां सगरस्य सन्ततेः॥५०॥

वह घोड़ा भी उनके रथ के पीछे बँधा हुआ भागने का यत्न कर रहा था, जिसे इन्द्र का सारथी बार-बार सँभाल रहा था॥४२॥ रघु ने टकटकी लगाकर देखा तो घोडे को हरने वाले के शरीर पर सैकड़ों आँखें ही आँखे हैं। उन आँखों की पलकें नहीं गिरती थीं और उनके रथ के घोड़े भी हरे-हरे थे। इससे रघु ने समझ लिया कि वे इन्द्र हैं। तव ऊँचे एवं गम्भीर स्वर से रघु इस प्रकार इन्द्र से बोले कि मानो उन्हें लौटने को ललकारते हों॥४३॥ उन्होंने कहा—हे देवेन्द्र! विद्वानों का कहना है कि यज्ञ का भाग सर्वप्रथम आपको ही मिलता है। मेरे पिताजी भी सदा यज्ञ करते हैं, फिर आप उसमें विघ्न क्यों डाल रहे हैं॥४४॥ दिव्यदृष्टिसम्पन्न आपको तो यह चाहिए कि जो कोई यज्ञ में विघ्न डाले, उसे आप स्वयं दण्ड दें। क्योंकि आप तीनों लोकों के स्वामी हैं। जब स्वयं आप ही यज्ञ में विघ्न डालने लगेंगे तब तो धर्म लुप्त ही हो जायगा॥४५॥ अतएव हे इन्द्रदेव! आप मेरे पिता के अश्वमेध महायज्ञ के लिए आवश्यक इस घोड़े को छोड़ दीजिए। आप तो वेद का मार्ग दिखलानेवाले महापुरुष हैं। ऐसा तुच्छ काम आप जैसों को शोभा नहीं देता॥४६॥ रघु के अभिमान भरे इन वचनों को सुनकर देवेन्द्र को बहुत आश्चर्य हुआ और रथ घुमाकर उनकी बात का उत्तर देते हुए बोले॥४७॥ हे राजकुमार! तुम्हारा कथन यथार्थ है, किन्तु हम यशस्वियों का यह भी तो कर्त्तव्य है कि जो अपने से होड करे, उससे अपने यश की रक्षा करें। मैंने सौ यज्ञ करके जो यश पाया है, उसे तुम्हारा पिता मुझसे छीन लेना चाहते हैं॥४८॥ जैसे पुरुषोत्तम केवल विष्णु और त्र्यम्बक केवल शंकरजी ही हैं, वैसे ही मुनि लोग सौ यज्ञ करने वाला शतक्रतु केवल मुझे ही मानते आये हैं। जिन नामों से हम लोग विख्यात हैं, उन नामों को दूसरे लोग नहीं रख सकते॥४९॥ अतएव जैसे कपिल मुनि ने तुम्हारे पूर्वज सगर के घोड़े को हर लिया था, वैसे ही मैंने भी तुम्हारे पिता के इस घोड़े को हर लिया है। तुम इसे छुड़ाने का प्रयत्न मत करो। नहीं तो जैसे कपिल मुनि के क्रोध से सगर के साठ सहस्र पुत्र भस्म हो गये थे, वैसे ही हमारे क्रोध से तुम भी जलकर भस्म हो जाओगे॥५०॥ यह सुना तो अश्व के रक्षक रघु ने हँसकर और निडर होकर इन्द्र से कहा— यदि आपका यही निश्चय हो तो शस्त्र उठाइए और युद्ध करिए।

ततः प्रहस्यापभयः पुरन्दरं पुनर्बभाषे तुरगस्य रक्षिता।
गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एष ते न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान्॥५१॥
स एवमुक्त्वा मघवन्तमुन्मुखः करिष्यमाणः सशरं शरासनम्।
अतिष्ठदालीढविशेषशोभिना वपुःप्रकर्षेण विडम्बितेश्वरः॥५२॥
रघोरवष्टम्भमयेन पत्त्रिणा हृदि क्षतो गोत्रभिदप्यमर्षणः।
नवाम्बुदानीकमुहूर्तलाञ्छने धनुष्यमोघं समधत्त सायकम्॥५३॥
दिलीपसूनोः स बृहद्भुजान्तरं प्रविश्य भीमासुरशोणितोचितः।
पपावनास्वादितपूर्वमाशुगः कुतूहलेनेव मनुष्यशोणितम्॥५४॥
हरेः कुमारोऽपि कुमारविक्रमः सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुलौ।
भुजे शचीपत्रविशेषकाङ्किते स्वनामचिह्नं निचखान सायकम्॥५५॥
जहार चान्येन मयूरपत्त्रिणा शरेण शक्रस्य महाशनिध्वजम्।
चुकोप तस्मै स भृशं सुरश्रियः प्रसह्य केशव्यपरोपणादिव॥५६॥
तयोरुपान्तस्थितसिद्धसैनिकं गरुत्मदाशीविषभीमदर्शनैः।
बभूव युद्धं तुमुलं जयैषिणोरधोमुखैरूर्ध्वमुखैश्च पत्त्रिभिः॥५७॥
अतिप्रबन्धप्रहितास्त्रवृष्टिभिस्तमाश्रयं दुष्प्रसहस्य तेजसः।
शशाक निर्वापयितुं न वासवः स्वतश्च्युतं वह्निमिवाद्भिरम्बुदः॥५८॥
ततः प्रकोष्ठे हरिचन्दनाङ्किते प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीम्।
रघुः शशाङ्कार्धमुखेन पत्त्रिणा शरासनज्यामलुनाद्विडौजसः॥५९॥

रघु को जीते विना आप घोड़ा नहीं ले जा सकते॥५१॥ ऐसा कहकर रघु ने धनुष पर वाण चढाया और पैंतरा साधकर इन्द्र की ओर मुँह करके खडे हो गये। उस समय वे अपने तगडे शरीर से ऐसे लग रहे थे, मानो इन्द्र से युद्ध करने के लिए स्वयं शंकरजी वहाँ आ पहुँचे हों॥५२॥ तभी रघु ने खंभे के समान दृढ एक बाण इन्द्र की छाती में मारा। इससे इन्द्र भी क्रुद्ध हो गये और अपने धनुष पर उन्होंने ऐसा बाण चढाया, जिसका प्रहार कभी चूकता नहीं था। इन्द्र का वह धनुष इतना सुन्दर था कि थोड़ी देर के लिए उसने नये वादलों में इन्द्र-धनुष जैसा रंग भर दिया था॥५३॥ बड़े-बड़े भीषण राक्षसों का रक्त पीनेवाले उस वाण ने रघु की छाती में घुसकर वहाँ का रक्त बड़े चाव से पिया। क्योंकि उसे अब तक मनुष्य के रक्त का स्वाद नहीं मिला था॥५४॥ तब कार्तिकेय के समान पराक्रमी रघु ने भी अपना नाम खुदा हुआ एक वाण इन्द्र की उस बायीं भुजा में मारा, जिसकी उँगलियाँ वार-वार ऐरावत को थपथपाने से कड़ी हो गयी थीं और जिस पर शची ने कुंकुम आदि से चित्रकारी कर रक्खी थी॥५५॥ मोर की पंखवाले दूसरे वाण से रघु ने इन्द्र की वज्राङ्कित ध्वजा को भी काट डाला। इससे इन्द्र को ऐसा क्रोध हुआ, जैसे देवताओं की राज्यलक्ष्मी के सिर के केश काट लिये गये हों॥५६॥ उस संग्राम में रघु और इन्द्र दोनों अपनी-अपनी जीत चाहते थे। अतः दोनों सूर्य के समान तीखे बाणों से भयंकर युद्ध कर रहे थे। रघु को लक्ष्य बनाकर इन्द्र नीचे की ओर अपने बाण चलाते थे और इन्द्र को ताककर रघु ऊपर वाण चला रहे थे। ऊपर सिद्धगण और नीचे रघु के सैनिक इस विस्मयजनक युद्ध को देख रहे थे॥५७॥ जैसे बादल घोर वर्षा करके भी अपने आप में उत्पन्न बिजली को नहीं बुझा सकता। वैसे ही इन्द्र भी अपने अंश से उत्पन्न रघु को अपने वाणों की वर्षा से नहीं हरा सके॥५८॥ तब रघु ने अपने अर्द्धचन्द्राकार वाण से इन्द्र की ठीक कलाई के पास वाली धनुष की वह डोरी काट दी, जिसमें से वाण चलाते समय ऐसा प्रचण्ड शब्द निकलता था कि जैसे मथे जाने के समय क्षीरसागर

स चापमुत्सृज्य विवृद्धमत्सरः प्रणाशनाय प्रबलस्य विद्विषः।
महीध्रपक्षव्यपरोपणोचितं स्फुरत्प्रभामण्डलमस्त्रमाददे॥ ६०॥
रघुर्भृशं वक्षसि तेन ताडितः पपात भूमौ सह सैनिकाश्रुभिः।
निमेषमात्रादवधूय तद्व्यथां सहोत्थितः सैनिकहर्षनिःस्वनैः॥ ६१॥
तथापि शस्त्रव्यवहारनिष्ठुरे विपक्षभावे चिरमस्य तस्थुषः।
तुतोष वीर्यातिशयेन वृत्रहा पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते॥ ६२॥
असङ्गमद्रिष्वपि सारवत्तया न मे त्वदन्येन विसोढमायुधम्।
अवेहि मां प्रीतमृते तुरङ्गमात्किमिच्छसीति स्फुटमाह वासवः॥ ६३॥
ततो निषङ्गादसमग्रमुद्धृतं सुवर्णपुङ्खद्युतिरञ्जिताङ्गुलिम्।
नरेन्द्रसूनुः प्रतिसंहरन्निषुं प्रियंवदः प्रत्यवदत्सुरेश्वरम्॥ ६४॥
अमोच्यमश्वं यदि मन्यसे प्रभो! ततः समाप्ते विधिनैव कर्मणि।
अजस्रदीक्षाप्रयतः स मद्गुरुः क्रतोरशेषेण फलेन युज्यताम्॥ ६५॥
यथा च वृत्तान्तमिमं सदोगतस्त्रिलोचनैकांशतया दुरासदः।
तवैव सन्देशहराद्विशाम्पतिः शृणोति लोकेश! तथा विधीयताम्॥ ६६॥
तथेति कामं प्रतिशुश्रुवान् रघोर्यथागतं मातलिसारथिर्ययौ।
नृपस्य नातिप्रमनाः सदोगृहं सुदक्षिणासूनुरपि न्यवर्तत॥ ६७॥
तमभ्यनन्दत्प्रथमं प्रबोधितः प्रजेश्वरः शासनहारिणा हरेः।
परामृशन्हर्षजडेन पाणिना तदीयमङ्गं कुलिशव्रणाङ्कितम्॥ ६८॥

में भीषण निनाद होता था॥ ५९॥ इस प्रकार धनुष की डोरी कट जाने से इन्द्र को वड़ा क्रोध आया। अतः उन्होंने धनुष को दूर फेंका और अपने प्रवल शत्रु रघु को मारने के लिए पर्वतों के पंख काटने वाले और अग्नि के समान चमकीले वज्र को उठाया॥ ६०॥ उस वज्र की मार से रघु पृथ्वी पर गिर पड़े। उनके गिरते ही सैनिकों ने रोना-पीटना आरम्भ कर दिया। किन्तु क्षण भर में ही वे सँभलकर फिर उठ खड़े हुए और उनके सैनिकों की जय-जयकार आकाश तक गूँज उठी॥ ६१॥ वज्र के आघात से क्षण भर में ही सँभलकर रघु फिर लड़ने के लिए आ डटे। उनकी इस अद्वितीय वीरता को देखकर इन्द्र बहुत प्रसन्न हुए। ऐसा होना ठीक भी था, क्योंकि गुणों का सर्वत्र आदर होता है॥ ६२॥ इन्द्र बोले— हे राजकुमार! पर्वतों के पंख काटने वाले मेरे इस कठोर वज्र की चोट को तुम्हें छोड़कर आजतक कोई नहीं सह सका। मैं तुम्हारी वीरता पर प्रसन्न हूँ। इस घोडे को छोड़कर तुम और जो कुछ भी मुझ से माँगना चाहो, माँगो॥ ६३॥ इन्द्र के वचन सुनकर रघु ने तरकस से आधे निकाले हुए वाण को फिर से उसमें डाल दिया। जिसके सुनहले पंख की चमक से रघु की उँगलियों के नख चमक रहे थे। फिर वे इन्द्र से बोले॥ ६४॥ हे देवेन्द्र! यदि आप घोडे को नहीं देना चाहते तो यही वरदान दीजिए कि मेरे पिताजी विधिपूर्वक यज्ञ समाप्त करके इस घोड़े के विना ही सौ अश्वमेध यज्ञ करने का फल पा जायँ॥ ६५॥ हे लोकेश! मेरे पिता इस समय यज्ञ-मंडप में अष्टमूर्ति शिवजी के एक अंश के रूप में बैठे हुए हैं। अतः वहाँ इस समय हम लोगों में से कोई नहीं पहुँच सकता। इसलिए आप कोई ऐसा उपाय कीजिए कि जिससे आपका ही कोई दूत जाकर उनको यह समाचार सुना दे॥ ६६॥ 'ऐसा ही होगा' यह कहकर इन्द्र जिस मार्ग से आये थे, उसी मार्ग से चले गये। तब सुदक्षिणा के पुत्र रघु भी अपने पिता राजा दिलीप की सभा में लौट आये। वे बड़े खिन्न थे, क्योंकि युद्ध में इन्द्र से जीतने पर भी अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा न लौटा पाने का उन्हें बड़ा खेद था॥ ६७॥ रघु के पहुँचने से पहले ही

इति क्षितीशो नवतिं नवाधिकां महाक्रतूनां महनीयशासनः।
समारुरुक्षुर्दिवमायुषः क्षये ततान सोपानपरम्परामिव॥ ६९॥
अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम्।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम्॥ ७०॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
रघुराज्याभिषेको नाम तृतीयः सर्गः॥ ३॥
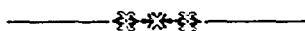
इन्द्र के दूत ने राजा दिलीप को सब समाचार सुना दिया था। अतएव जब रघु वहाँ पहुँचे, तब राजा दिलीप ने उनकी बड़ी प्रशंसा की और जहाँ वज्र लगा था, उस अङ्ग को धीरे-धीरे सहलाने लगे॥ ६८॥ इस तरह जिसकी आज्ञा कोई टाल नहीं सकता था, उन महाराज दिलीप ने मानो स्वर्ग जाने के लिए निन्यानबे यज्ञों की सीढ़ी तैयार कर ली॥ ६९॥ तब सांसारिक विषयों से मुँह मोड़े हुए राजा दिलीप ने अपने नवयुवक पुत्र रघु को विधिवत् छत्र-चँवर आदि राजचिह्न दे दिये और देवी सुदक्षिणा के साथ तप करने के लिए मुनियों के आश्रमों की राह ली। क्योंकि इक्ष्वाकुवंश के राजाओं में यह बात कुलपरंपरा से चली आयी है कि वे बूढे होने पर जंगल में जाकर तप करने लगते हैं॥ ७०॥

इस प्रकार रघुवंशमहाकाव्य में रघु का राज्याभिषेक
नामक तीसरा सर्ग समाप्त॥ ३॥

चतुर्थः सर्गः

स सज्यं गुरुणा दत्तं प्रतिपद्याधिकं बभौ। दिनान्ते निहितं तेजः सवित्रेव हुताशनः ॥ १ ॥
दिलीपानन्तरं राज्ये तं निशम्य प्रतिष्ठितम्। पूर्वं प्रधूमितो राज्ञां हृदयेऽग्निरिवोत्थितः ॥ २ ॥
पुरुहूतध्वजस्येव तस्योन्नयनपङ्क्तयः। नवाभ्युत्थानदर्शिन्यो ननन्दुः सप्रजाः प्रजाः ॥ ३ ॥
सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना। तेन सिंहासनं पित्र्यमखिलं चारिमण्डलम् ॥ ४ ॥
छायामण्डललक्ष्येण तमदृश्या किल स्वयम्। पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम् ॥ ५ ॥
परिकल्पितसान्निध्या काले काले च बन्दिषु। स्तुत्यं स्तुतिभिरर्थ्याभिरुपतस्थे सरस्वती ॥ ६ ॥
मनुप्रभृतिभिर्मान्यैर्भुक्ता यद्यपि राजभिः। तथाऽप्यनन्यपूर्वेव तस्मिन्नासीद्वसुन्धरा ॥ ७ ॥
स हि सर्वस्य लोकस्य युक्तदण्डतया मनः। आददे नातिशीतोष्णो नभस्वानिव दक्षिणः ॥ ८ ॥
मन्दोत्कण्ठाः कृतास्तेन गुणाधिकतया गुरौ। फलेन सहकारस्य पुष्पोद्गम इव प्रजाः ॥ ९ ॥
नयविद्भिर्नवे राज्ञि सदसच्चोपदर्शितम्। पूर्व एवाभवत्पक्षस्तस्मिन्नाभवदुत्तरः ॥ १० ॥
पञ्चानामपि भूतानामुत्कर्षं पुपुषुर्गुणाः। नवे तस्मिन्महीपाले सर्वं नवमिवाभवत् ॥ ११ ॥
यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा। तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात् ॥ १२ ॥

अपने पिता से राज्य पाकर रघु और भी अधिक तेजस्वी हो गये। जैसे सायंकालीन सूर्य का तेज लेकर अग्नि चमक उठता है ॥ १ ॥ दूसरे राजाओं ने जब सुना कि दिलीप के बाद रघु राजा हो गये हैं, तब उनके हृदय में वैर की जो धूमिल आग धीरे-धीरे सुलग रही थी, वह जैसे सहसा भड़क उठी ॥ २ ॥ राज्य के सब लोग रघु की ओर आँख उठाकर देखते हुए वैसे ही प्रसन्न होते थे, जैसे आकाश में उदित नवीन इन्द्रधनुष को देखकर लोग प्रसन्न होते हैं ॥ ३ ॥ गजराज के समान मस्ती से चलने वाले राजा रघु ने पिता के सिंहासन और समस्त शत्रुओं पर एक साथ अधिकार जमा लिया ॥४॥ जब वे सिंहासन पर बैठते थे, उस समय उनके चारों ओर प्रकाश का एक घेरा जैसा बन जाता था। उसे देखकर ऐसा लगता था कि मानो लक्ष्मी स्वयं प्रच्छन्न भाव से प्रकाशमान कमल का छत्र लेकर उस नये सम्राट् के पीछे खड़ी रहती हों ॥ ५ ॥ समय-समय पर सरस्वती भी उनके चारणों के कण्ठों में बैठकर सार्थक प्रशंसा-परक शब्दों द्वारा यशोगान करके उन प्रशंसनीय राजा रघु की सराहना किया करती थीं ॥ ६ ॥ वैसे तो रघु से पहले मनु आदि अनेक प्रतापी राजा पृथ्वी का भोग कर चुके थे, परन्तु रघु के शासन-काल में वही पृथ्वी ऐसी नयी जान पडती थी कि जैसे पहले-पहल रघु के हाथों में आयी हो ॥ ७ ॥ जैसे वासन्ती वायु बहुत ठंढी या बहुत गरम न होने के कारण सबके मन को भाती है, वैसे ही रघु भी किसी को आवश्यकता से अधिक कठोर या कोमल दंड नहीं देते थे। ऐसे न्याय से उनकी प्रजा उनसे बहुत प्रसन्न रहती थी ॥ ८ ॥ जैसे आम के सुन्दर फल देखकर लोग उसके बौरों को भूल जाते हैं, वैसे ही रघु में राजा दिलीप से अधिक गुण देखकर लोग दिलीप को भूल गये ॥ ९ ॥ नीतिज्ञ मन्त्रियों ने रघु के सरल और कुटिल दोनों प्रकार की नीतियों से राज्य चलाने की विधियाँ सिखा दीं, परन्तु उस धर्मात्मा राजा ने सरल नीति ही अपनायी और कुटिल नीति छोड दी ॥ १० ॥ नये राजा रघु के सिंहासन पर बैठते ही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—इन पाँचों तत्त्वों के गुण बढने लगे। उस समय ऐसा लगा कि मानो नये राजा को पाकर सभी वस्तुएँ नवीन हो गयी हों ॥ ११ ॥ जैसे सबको आनन्द देकर चन्द्रमा ने अपना नाम सार्थक किया और सबको तपाकर सूर्य ने अपना तपन नाम सार्थक किया था, वैसे ही रघु ने भी प्रजा को प्रसन्न करके और उन्हें सुख देकर अपना 'राजा' यह नाम सार्थक

कामं कर्णान्तविश्रान्ते विशाले तस्य लोचने। चक्षुष्मत्ता तु शास्त्रेण सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिना ॥ १३ ॥
लब्धप्रशमनस्वस्थमथैनं समुपस्थिता। पार्थिवश्रीर्द्वितीयेव शरत्पङ्कजलक्षणा ॥ १४ ॥
निर्वृष्टलघुभिर्मेघैर्मुक्तवर्त्मा सुदुःसहः। प्रतापस्तस्य भानोश्च युगपद्व्यानशे दिशः ॥ १५ ॥
वार्षिकं सञ्जहारेन्द्रो धनुर्जैत्रं रघुर्दधौ। प्रजार्थसाधने तौ हि पर्यायोद्यतकार्मुकौ ॥ १६ ॥
पुण्डरीकातपत्रस्तं विकसत्काशचामरः। ऋतुर्विडम्बयामास न पुनः प्राप तच्छ्रियम् ॥ १७ ॥
प्रसादसुमुखे तस्मिंश्चन्द्रे च विशदप्रभे। तदा चक्षुष्मतां प्रीतिरासीत्समरसा द्वयोः ॥ १८ ॥
हंसश्रेणीषु तारासु कुमुद्वत्सु च वारिषु। विभूतयस्तदीयानां पर्यस्ता यशसामिव ॥ १९ ॥
इक्षुच्छायानिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्। आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः ॥ २० ॥
प्रससादोदयादम्भः कुम्भयोनेर्महौजसः। रघोरभिभवाशङ्कि चुक्षुभे द्विषतां मनः ॥ २१ ॥
मदोदग्राः ककुद्मन्तः सरितां कूलमुद्रुजाः। लीलाखेलमनुप्रापुर्महोक्षास्तस्य विक्रमम् ॥ २२ ॥
प्रसवैः सप्तपर्णानां मदगन्धिभिराहताः। असूययेव तन्नागाः सप्तधैव प्रसुस्रुवुः ॥ २३ ॥
सरितः कुर्वती गाधाः पथश्चाश्यानकर्दमान्। यात्रायै चोदयामास तं शक्तेः प्रथमं शरत् ॥ २४ ॥
तस्मै सम्यग्घुतो वह्निर्वाजिनीराजनाविधौ। प्रदक्षिणार्चिर्व्याजेन हस्तेनेव जयं ददौ ॥ २५ ॥

कर दिया ॥ १२ ॥ यद्यपि रघु के नेत्र कानों तक फैले हुए और वहुत वड़े-वड़े थे परन्तु उन्हें अधिक भरोसा अपने उस शास्त्रज्ञानरूपी नेत्रों पर था, जिनसे वे सूक्ष्म से सूक्ष्म कामों को भी शीघ्र देख लेते थे ॥ १३ ॥ रघु ने जव अपने राज्य में शान्ति स्थापित कर ली और उनका चित्त ठिकाने हुआ, उसी समय दूसरी लक्ष्मी के समान शरद् ऋतु आ गयी, जिससे चारों ओर सुन्दर कमल खिल गये ॥ १४ ॥ वर्षा वीत चुकी थी, वादल हट गये थे और जिस तरह खुले आकाश में चमकते हुए सूर्य का प्रकाश चारों ओर फैल गया था, वैसे ही शत्रुओं के नष्ट हो जाने पर राजा रघु का प्रताप भी फैल गया ॥ १५ ॥ इन्द्र ने जव अपना वर्षाऋतुवाला इन्द्रधनुष हटाया, तव रघु ने अपना विजयी धनुष हाथ में उठा लिया। क्योंकि ये दोनों ही वारी-वारी से प्रजा की भलाई किया करते थे ॥ १६ ॥ रघु के छत्र और चँवर को देखकर कमल के छत्र और फूले हुए काँस के चँवर लेकर शरद् ऋतु रघु से होड़ करने चली, परन्तु सव कुछ करके भी रघु की शोभा नहीं पा सकी ॥१७॥ शरद् ऋतु में उजले चन्द्रमा तथा रघु के खिले हुए मुख दोनों को देखकर दर्शकों को एक-सा आनन्द मिलता था ॥ १८ ॥ उजले हंसों को उड़ती हुई पाँतों, रात में खिले हुए टिमटिमाते तारे और तालों में खिली हुई कोई को देखकर ऐसा लगता था कि रघु की कीर्त्ति ही इतने रूपों में फैली हुई है ॥ १९ ॥ प्रजा को वे इतने प्रिय थे कि धान के खेतों की रखवाली करने वाली किसानों की स्त्रियाँ भी ईख की छाया में वैठकर प्रजापालक राजा रघु की वचपन से अव तक की कथाओं के गीत वना-वनाकर गाया करती थीं ॥ २० ॥ इधर चमकीले अगस्त्य तारे का उदय होने से ज़ल निर्मल हो गया, उधर शत्रुओं के मन में यह सोचकर खलवली मच गयी कि अव न जाने कव रघु चढाई कर दें ॥ २१ ॥ ऊँचे-ऊँचे कंधों वाले मतवाले साँड नदियों के कगार ढहाते हुए ऐसे लगते थे कि मानो वे रघु के लड़कपन के वीरताभरे खिलवाड़ों का अनुकरण कर रहे हों ॥ २२ ॥ उन दिनों चारों ओर छतिवन के फूल फूले हुए थे। उनकी मतवाली गन्ध पाकर रघु के हाथियों ने सोचा कि ये भी हाथी हैं और हमसे होड़ करके मद वहा रहे हैं। इसलिए वे भी ईर्ष्यावश सूँड के नथनों, दोनों कपोलों, लिंग और दोनों आँखों से मद वहाने लगे ॥ २३ ॥ शरद्-ऋतु के आते ही नदियों का पानी उतर गया और मार्ग का कीचड भी सूख चला। जैसे शरद् ऋतु ने रघु के सोचने से पहले ही उन्हें दिग्विजय-यात्रा करने को प्रेरित कर दिया ॥ २४ ॥ उस यात्रा के लिए चलने से पहले घोड़ों की पूजा के लिए हवन होने लगा। हवन की आग दाहिनी ओर घूमती हुई उस तरह उठ रही थी कि मानो

स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिरयान्वितः। षड्विधं बलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया॥ २६॥
अवाकिरन् वयोवृद्धास्तं लाजैः पौरयोषितः। पृषतैर्मन्दरोद्धूतैः क्षीरोर्मय इवाच्युतम्॥ २७॥
स ययौ प्रथमं प्राचीं तुल्यः प्राचीनबर्हिषा। अहिताननिलोद्धूतैस्तर्जयन्निव केतुभिः॥ २८॥
रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैर्गजैश्च घनसन्निभैः। भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन्व्योमेव भूतलम्॥ २९॥
प्रतापोऽग्रे ततः शब्दः परागस्तदनन्तरम्। ययौ पश्चाद्रथादीति चतुःस्कन्धेव सा चमूः॥ ३०॥
मरुपृष्ठान्युदम्भांसि नाव्याः सुप्रतरा नदीः। विपिनानि प्रकाशानि शक्तिमत्त्वाच्चकार सः॥ ३१॥
स सेनां महतीं कर्षन्पूर्वसागरगामिनीम्। बभौ हरजटाभ्रष्टां गङ्गामिव भगीरथः॥ ३२॥
त्याजितैः फलमुत्खातैर्भग्नैश्च बहुधा नृपैः। तस्यासीदुल्बणो मार्गः पादपैरिव दन्तिनः॥ ३३॥
पौरस्त्यानेवमाक्रामंस्तांस्ताञ्जनपदाञ्जयी। प्राप तालीवनश्याममुपकण्ठं महोदधेः॥ ३४॥
अनम्राणां समुद्धर्तुस्तस्मात्सिन्धुरयादिव। आत्मा संरक्षितः सुह्मैर्वृत्तिमाश्रित्य वैतसीम्॥ ३५॥
वङ्गानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान्। निचखान जयस्तम्भान्गङ्गास्रोतोऽन्तरेषु सः॥ ३६॥
आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम्। फलैः संवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः॥ ३७॥

अपने हाथ उठाकर रघु को विजय का आशीर्वाद दे रही हो॥ २५॥ वीर रघु ने पहले राजधानी और सीमा के किलों की रक्षा का प्रबन्ध किया। फिर शुभ मुहूर्त में घुड़सवार, हाथी, रथ, पैदल, गुप्तचर और शत्रु के राज्य के मार्ग को जानने वाली—इन छः प्रकार की सेनाओं को लेकर वे दिग्विजय के लिए चले॥ २६॥ जैसे मन्दराचल से मथते समय क्षीरसागर की लहरों की उछलती हुई उजली फुहारें विष्णु भगवान् के ऊपर बरस रही थीं, वैसे ही नगर की बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों ने विजय-यात्रा के लिए प्रस्थित रघु के ऊपर धान की खीलें बरसाईं॥ २७॥ इन्द्र के सामान प्रतापी राजा रघु दिग्विजय के लिए पहले पूर्व की ओर चले। वायु लगने से सेना की जो झंडियाँ फरफराती थीं, वे मानो शत्रुओं को डपट रही थीं॥ २८॥ रघु के रथों से जो धूल ऊपर उड़ी, उसने आकाश को पृथ्वी बना दिया। इधर पृथ्वी पर चलती हुई सेना के काले-काले हाथी बादल जैसे लग रहे थे। उनके कारण पृथ्वी आकाश जैसी दीख रही थी॥ २९॥ आगे-आगे रघु का प्रताप चलता था, उसके पीछे उनकी सेना का कोलाहल सुनायी पड़ता था, तब धूल उड़ती दिखलायी देती थी और सबके पीछे रथ आदि की सेना चली जा रही थी। इस प्रकार रघु की सेना मानो चार भागों में बँटकर चल रही थी॥ ३०॥ रघु के पास ऐसी शक्ति तथा ऐसे साधन थे कि मरुभूमि में भी जल की धाराएँ बहने लगीं, गहरी नदियों पर पुल बँध गये और घने जंगलों में स्वच्छ मार्ग बन गये॥ ३१॥ जब वे अपनी विशाल सेना के साथ पूर्वी समुद्र की ओर चले तो ऐसे लग रहे थे, मानो शंकरजी की जटा से निकली हुई गंगाजी को साथ लिये भगीरथ पूर्वी समुद्र की ओर चले जा रहे हों॥ ३२॥ कोई जंगली हाथी जैसे फलों को गिराता और बडे-बडे पेड़ों को उखाड़ता-तोड़ता अपना मार्ग बनाता चलता है, वैसे ही रघु ने भी किसी राजा से कर लिया, किसी का राज्य छीना और किसी को लड़ाई में हराया। इस प्रकार शत्रुओं को नष्ट करके उन्होंने अपने मार्ग के सब रोड़े दूर कर दिये॥ ३३॥ विजयी राजा रघु विभिन्न पूर्वी राज्यों को जीतते हुए उस समुद्र के किनारे पर पहुँचे, जो तट पर खडे ताड़ के वृक्षों की छाया पड़ने से काला दीख रहा था॥ ३४॥ जैसे बेंत की शाखाएँ नदी की धारा में झुककर खड़ी रह जाती हैं, वैसे ही सुह्म देश के राजाओं ने अभिमानियों को उखाड़ फेंकनेवाले रघु की अधीनता चुपचाप स्वीकार कर ली और अपने प्राण बचा लिये॥ ३५॥ तदनन्तर रघु ने उन बंगीय राजाओं को हराया, जो जलसेना लेकर लडने आये थे। उन्हें जीतकर रघु ने गङ्गासागर के द्वीप में अपना विजयस्तम्भ गाड़ दिया॥ ३६॥ किसान जैसे धान के पौधों को एक खेत से उखाड़कर दूसरे खेत में रोपते हैं और फिर वे धान के पौधे किसान का घर अन्न से

स तीर्त्वा कपिशां सैन्यैर्बद्धद्विरदसेतुभिः। उत्कलादर्शितपथः कलिङ्गाभिमुखो ययौ॥ ३८॥
स प्रतापं महेन्द्रस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णं न्यवेशयत्। अङ्कुशं द्विरदस्येव यन्ता गम्भीरवेदिनः॥ ३९॥
प्रतिजग्राह कालिङ्गस्तमस्त्रैर्गजसाधनः। पक्षच्छेदोद्यतं शक्रं शिलावर्षीव पर्वतः॥ ४०॥
द्विषां विषह्य काकुत्स्थस्तत्र नाराचदुर्दिनम्। सन्मङ्गलस्नात इव प्रतिपेदे जयश्रियम्॥ ४१॥
ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचिताऽऽपानभूमयः। नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः॥ ४२॥
गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः। श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम्॥ ४३॥
ततो वेलातटेनैव फलवत्पूगमालिना। अगस्त्याचरितामाशामनाशास्यजयो ययौ॥ ४४॥
स सैन्यपरिभोगेण गजदानसुगन्धिना। कावेरीं सरितां पत्युः शङ्कनीयामिवाकरोत्॥ ४५॥
बलैरध्युषितास्तस्य विजिगीषोर्गताध्वनः। मारीचोद्भ्रान्तहारीता मलयाद्रेरुपत्यकाः॥ ४६॥
ससञ्जुरश्वक्षुण्णानामेलानामुत्पतिष्णवः। तुल्यगन्धिषु मत्तेभकटेषु फलरेणवः॥ ४७॥
भोगिवेष्टनमार्गेषु चन्दनानां समर्पितम्। नास्रसत्करिणां ग्रैवं त्रिपदीच्छेदिनामपि॥ ४८॥
दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि। तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे॥ ४९॥

भर देते हैं, वैसे ही रघु ने जिन राजाओं को हराकर उन्हें फिर राजगद्दी पर बैठा दिया, उन वंगीय राजाओं ने रघु के चरणकमलों को प्रणाम कर बहुत-सा धन-धान्य देकर उनका सत्कार किया॥ ३७॥ वहाँ से चलकर रघु ने हाथियों का पुल बनाकर अपनी पूरी सेना को कपिशा नदी के पार उतार दिया। वहाँ उड़ीसा के राजाओं ने तो अधीनता स्वीकार की ही थी साथ ही आगे का मार्ग भी बतलाया। तदनुसार रघु कलिङ्गदेश जीतने के लिए आगे बढे॥ ३८॥ जैसे हाथीवान् मतवाले हाथी के माथे पर अंकुश गड़ाता है, वैसे ही रघु ने महेन्द्र पर्वत पर पहुँचकर उसकी चोटी पर अपना शिविर स्थापित कर दिया॥ ३९॥ जैसे प्रस्तरवर्षी पर्वतों ने पत्थर बरसाकर पहाडों के पंख काटनेवाले इन्द्र का सामना किया था, वैसे ही हाथियों की सेना साथ लेकर अस्त्र बरसाते हुए कलिङ्गनरेश ने रघु का सामना किया॥ ४०॥ तीर्थों के जल से स्नान कराके जैसे राजाओं का राज्याभिषेक होता है और उन्हें राज्यलक्ष्मी मिलती है, वैसे ही रघु ने भी शत्रुओं के बाणों की वर्षा में स्नान करके विजय प्राप्त की॥ ४१॥ लड़ाई के बाद रघु के वीर सैनिकों ने महेन्द्र पर्वत पर पान के पत्तों को छवाकर मदिरालय बनाया और वे वहाँ नारियल की मदिरा के साथ-साथ शत्रुओं का यश भी पी गये॥ ४२॥ राजा रघु सदा धर्मयुद्ध करते थे, इसलिए उन्होंने कलिङ्ग-नरेश को बन्दी तो बना लिया, परन्तु जब उसने इनकी अधीनता स्वीकार कर ली तब, छोड दिया। इसी प्रकार उन्होंने कलिङ्गनरेश की राज्यश्री तो ले ली, परन्तु राज्य उसी को लौटा दिया॥ ४३॥ इस प्रकार पूर्व दिशा को जीतकर विजयी रघु समुद्र के तट पर होते हुए दक्षिण दिशा को चले, जहाँ फलों से लदे हुए सुपारियों के अनेक वृक्ष थे॥ ४४॥ जब कावेरी के तट पर पहुँचे, तब राजा रघु के सैनिकों तथा हाथियों ने जी भरकर उस नदी में नहाया और उसका जल मथ दिया। हाथियों के नहाने से जल में मद की गन्ध आने लगी। जब वह अपने पति समुद्र के पास गयी तो उसे कावेरी के चरित्र पर सन्देह होने लगा॥ ४५॥ वहाँ से चलकर वे बहुत दूर निकल गये और विजय चाहने वाले रघु के सैनिक मलयाचल की उस तलहटी में उतरे, जहाँ काली मिर्च की झाड़ियों में से हारीत पक्षी उड़ रहे थे॥ ४६॥ वहाँ पृथ्वी पर गिरे हुए इलायची के बीज घोड़ों की टापों से पिसकर वायु के सहारे जाकर हाथियों के उन गालों पर चिपक गये, जहाँ उन्हीं के गन्ध जैसे मद की गन्ध पहले से निकल रही थी॥ ४७॥ साँपों के लिपटे रहने से चन्दनवृक्षों के चारों ओर गहरी रेखाएँ बन गयी थीं, जिनमें बँधे हुए रस्सों को वे हाथी भी नहीं तोड़ सके, जो पैर के रस्सों को एक झटके में तोड़ डालते थे॥ ४८॥ दक्षिण दिशा में महाप्रतापशाली सूर्य का तेज भी मन्द पड जाता है, परन्तु रघु का तेज इतना प्रबल था कि वहाँ के पाण्ड्य राजा भी उनके आगे नहीं ठहर सके॥ ४९॥ दक्षिण के

ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः। ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव सञ्चितम्॥५०॥
स निर्विश्य यथाकामं तटेष्वालीनचन्दनौ। स्तनाविव दिशस्तस्याः शैलौ मलयदर्दुरौ॥५१॥
असह्यविक्रमः सह्यं दूरान्मुक्तमुदन्वता। नितम्बमिव मेदिन्याः स्रस्तांशुकमलङ्घयत्॥५२॥
तस्यानीकैर्विसर्पद्भिरपरान्तजयोद्यतैः। रामास्त्रोत्सारितोऽप्यासीत्सह्यलग्न इवार्णवः॥५३॥
भयोत्सृष्टविभूषाणां तेन केरलयोषिताम्। अलकेषु चमूरेणुश्चूर्णप्रतिनिधीकृतः॥५४॥
मुरलामारुतोद्धूतमगमत्कैतकं रजः। तद्योधवारबाणानामयत्नपटवासताम्॥५५॥
अभ्यभूयत वाहानां चरतां गात्रशिञ्जितैः। वर्मभिः पवनोद्धूतराजतालीवनध्वनिः॥५६॥
खर्जूरीस्कन्धनद्धानां मदोद्गारसुगन्धिषु। कटेषु करिणां पेतुः पुन्नागेभ्यः शिलीमुखाः॥५७॥
अवकाशं किलोदन्वान् रामायाभ्यर्थितो ददौ। अपरान्तमहीपालव्याजेन रघवे करम्॥५८॥
मत्तेभरदनोत्कीर्णव्यक्तविक्रमलक्षणम्। त्रिकूटमेव तत्रोच्चैर्जयस्तम्भं चकार सः॥५९॥
पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना। इन्द्रियाख्यानिव रिपूंस्तत्त्वज्ञानेन संयमी॥६०॥
यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः। बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदयः॥६१॥

पांड्य राजाओं ने ताम्रपर्णी और समुद्र के संगम से जितने मोती बटोरे थे, वे सब उन्होंने रघु को ऐसे सौंप दिये कि जैसे अपना बटोरा हुआ यश ही उन्होंने दे डाला हो॥५०॥ उन्हें जीतकर महाप्रतापी रघु ने उन मलय और दर्दुर नाम की पहाड़ियों पर बहुत दिनों तक पड़ाव डाल रक्खा, जिन पर चन्दन के पेड़ लगे हुए थे। जो ऐसे दिखायी पडते थे, मानो चन्दन लगे हुए दक्षिण दिशा के दो स्तन हों॥५१॥ तदनन्तर वे सह्य की उस पहाड़ी को पार करके आगे बढे जो समुद्र के दूर हट जाने से ऐसी दिखलायी पड़ती थी, मानो वह पृथ्वी का नितंब भाग हो और उस पर से कपड़ा हट गया हो॥५२॥ यद्यपि परशुराम ने अपने फरसे से समुद्र को सह्य पर्वत से दूर हटा दिया था, फिर भी उसके पास से जाती हुई रघु की सेना ऐसी लगती थी कि जैसे समुद्र फिर सह्याद्रि के पास चला आया हो॥५३॥ केरल देश की जो स्त्रियाँ साज-सिंगार तथा घर छोडकर रघु के भय से भाग खडी हुई थीं, उनके बालों पर रघु की सेना के चलने मे उडी हई जो धूल बैठ गयी थी, वह ऐसी लगती थी कि जैमे कस्तूरी का चूरा लगा हुआ हो॥५४॥ मुरला नदी की ओर से आनेवाली वायु के कारण जो केवड़े के फूलों की धूल उड़ रही थी, वह सैनिकों के कवचों पर बैठकर बिना यत्न के ही सुगन्धित चूर्ण का काम देने लग गयी॥५५॥ चलते समय घोड़ों के शरीर के कवच ऐसे ऊँचे स्वर से खनखना रहे थे कि वायु चलने से जो बड़े-बड़े ताड के पेड़ों में से ध्वनि निकल रही थी, वह भी उसके आगे मन्द पड़ गयी॥५६॥ नागकेसर के फूलों पर बैठे हुए भौंरों को जैसे ही खजूर के वृक्ष में बँधे हुए हाथियों के कपोलों से टपकते हुए मद की गन्ध मिली, तैसे ही वे उन्हें छोड़कर इन पर टूट पड़े॥५७॥ पश्चिम के राजाओं ने रघु के अधीन होकर जो उन्हें कर दिया, वह मानो उन्होंने नहीं, बल्कि उस प्रतापी समुद्र ने कर दिया था, जिसने बहुत प्रार्थना करने पर परशुरामजी को थोडी-सी जगह दी थी॥५८॥ रघु के मतवाले हाथियों ने अपने दाँतों की चोटों से त्रिकूट पर्वत पर जो रेखाएँ बना दीं, उनसे वह पर्वत ऐसा लगने लगा कि जैसे रघु की विजय का स्मरण दिलानेवाला जय-स्तम्भ खडा हो और उस पर रघु की विजयगाथा लिखी हुई हो॥५९॥ जैसे इन्द्रियरूपी शत्रुओं को जीतने के लिए कोई योगी तत्त्वज्ञान का सहारा लेता है, वैसे ही रघु ने भी पारसी राजाओं को जीतने के लिए स्थल का मार्ग पकडा॥६०॥ असमय में उठे बादलों से जैसे प्रभात की धूप में खिले हुए कमलों की चमक जाती रहती है, वैसे ही रघु ने अचानक आक्रमण करके मदिरा से लाल गालोंवाली यवनियों के मुखकमलों को मुरझा दिया॥६१॥ वहाँ पश्चिम देश के घुड़सवार राजाओं से रघु की भीषण लडाई हुई। उस समय सेना के चलने से इतनी धूल उड़ी

सङ्ग्रामस्तुमुलस्तस्य पाश्चात्यैरश्वसाधनैः। शार्ङ्गकूजितविज्ञेयप्रतियोधे रजस्यभूत्॥ ६२॥
भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम्। तस्तार सरघाव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव॥ ६३॥
अपनीतशिरस्त्राणाः शेषास्तं शरणं ययुः। प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम्॥ ६४॥
विनयन्ते स्म तद्योधा मधुभिर्विजयश्रमम्। आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु॥ ६५॥
ततः प्रतस्थे कौबेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम्। शरैरुस्रैरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन् रसानिव॥ ६६॥
विनीताध्वश्रमास्तस्य सिन्धुतीरविचेष्टनैः। दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धाँल्लग्नकुङ्कुमकेसरान्॥ ६७॥
तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्। कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम्॥ ६८॥
काम्बोजाः समरे सोढुं तस्य वीर्यमनीश्वराः। गजालानपरिक्लिष्टैरक्षोटैः सार्धमानताः॥ ६९॥
तेषां सदश्वभूयिष्ठास्तुङ्गा द्रविणराशयः। उपदा विविशुः शश्वन्नोत्सेकाः कोसलेश्वरम्॥ ७०॥
ततो गौरीगुरुं शैलमारुरोहाश्वसाधनः। वर्धयन्निव तत्कूटानुद्धूतैर्धातुरेणुभिः॥ ७१॥
शशंस तुल्यसत्त्वानां सैन्यघोषेऽप्यसम्भ्रमम्। गुहाशयानां सिंहानां परिवृत्यावलोकितम्॥ ७२॥
भूर्जेषु मर्मरीभूताः कीचकध्वनिहेतवः। गङ्गाशीकरिणो मार्गे मरुतस्तं सिषेविरे॥ ७३॥
विशश्रमुर्नमेरूणां छायास्वध्यास्य सैनिकाः। दृषदो वासितोत्सङ्गा निषण्णमृगनाभिभिः॥ ७४॥
सरलासक्तमातङ्गग्रैवेयस्फुरितत्विषः। आसन्नोषधयो नेतुर्नक्तमस्नेहदीपिकाः॥ ७५॥

कि आस-पास कुछ भी नहीं दिखलायी पड़ता था। केवल धनुष की टङ्कार से ही सैनिक लोग शत्रु को पहचान पाते थे॥ ६२॥ मधुमक्खियों से भरे छत्ते जैसी दाढ़ियों वाले यवनों के सिरों को भल्ल नाम के वाणों से काट-काटकर रघु ने सारी पृथ्वी पर फैला दिया॥ ६३॥ उनमें से जो जीते बचे, उन्होंने अपने लोहे के टोप उतार-उतारकर रघु के चरणों में रख दिये। क्योंकि महापुरुषों की कृपा प्राप्त करने का एकमात्र यही उपाय है कि उनकी शरण ले ली जाय॥ ६४॥ रघु के सैनिक वहाँ अंगूर की लताओं से घिरी हुई पृथ्वी पर सुहावनी मृगछालाएँ विछाकर चैन से बैठ गये और मदिरा पी-पीकर लडाई की थकान मिटाने लगे॥ ६५॥ जैसे सूर्य अपनी तीखी किरणों से पृथ्वी का जल खींचने के लिए उत्तर की ओर घूम जाता है, वैसे ही रघु भी उत्तर के राजाओं को जीतने के लिए उधर ही चल पडे॥ ६६॥ सिन्धु नदी के तट पर पहुँचकर रघु के घोड़े वहाँ की रेती में लोट-लोटकर अपनी थकावट मिटाने लगे। लोटने से उनके शरीर में जो केसर लग गयी थी, उसे उन्होंने देह हिलाकर झाड़ दिया॥ ६७॥ अपने प्रचण्ड पराक्रम से वहाँ रघु ने जिन हूण राजाओं को मार डाला था, उनकी स्त्रियाँ सिर पीट-पीटकर इतनी रोयीं कि उनके गाल लाल हो गये॥ ६८॥ कंवोज (कावुल) के राजे लडाई में रघु के आगे नहीं टिक सके। हाथियों के बाँधने से जैसे वहाँ अखरोट की डालियाँ झुक गयी थीं, वैसे ही वहाँ के राजे भी रघु के आगे झुक गये॥ ६९॥ हारे हुए उन कंवोज के राजाओं ने रघु को वहुत-से घोड़े और वहुत-सा धन दिया, परन्तु उतना धन पाकर भी कोशलेश्वर रघु को अभिमान नहीं हुआ॥ ७०॥ वहाँ से वे अपने घोड़ों की सेना लेकर हिमालय पहाड पर चढ गये, जैसे अपने घोड़ों की टापों द्वारा उठी हुई गेरू आदि धातुओं की लाल-लाल धूल से वे हिमालय की चोटियों को और भी ऊँची करना चाहते हों॥ ७१॥ सैनिकों के समान ही वलवान् सिंहों ने गुफाओं में लेटे-लेटे ही आँखें घुमाकर रघु की सेना को देखा। उनकी सेना के कोलाहल से उन सिंहों को तनिक भी घबराहट नहीं हुई॥ ७२॥ वहाँ पर भोजपत्रों में मर्मर करता, पहाड़ी बाँसो के छेदों में घुसकर बाँसुरी-सी बजाता और गंगाजी की फुहारों से ठण्डा होता हुआ वायु रघु की सेवा कर रहा था॥ ७३॥ रघु के सैनिक वहाँ नमेरु वृक्षों के नीचे उन पथरीली चट्टानों पर बैठकर सुस्ताने लगे, जिनमें से कस्तूरी मृगों के बैठने के कारण सुगन्ध आ रही थी॥ ७४॥ देवदार के पेड़ों में बँधे हुए हाथियों के गले में पड़ी साँकलें रात को चमकनेवाली बूटियों के प्रकाश

तस्योत्सृष्टनिवासेषु कण्ठरज्जुक्षतत्वचः। गजवर्ष्म किरातेभ्यः शशंसुर्देवदारवः ॥ ७६ ॥
तत्र जन्यं रघोर्घोरं पर्वतीयैर्गणैरभूत्। नाराचक्षेपणीयाश्मनिष्पेषोत्पतितानलम् ॥ ७७ ॥
शरैरुत्सवसङ्केतान्स कृत्वा विरतोत्सवान्। जयोदाहरणं बाह्वोर्गापयामास किन्नरान् ॥ ७८ ॥
परस्परेण विज्ञातस्तेषूपायनपाणिषु। राज्ञा हिमवतः सारो राज्ञः सारो हिमाद्रिणा ॥ ७९ ॥
तत्राक्षोभ्यं यशोराशिं निवेश्यावरुरोह सः। पौलस्त्यतुलितस्याद्रेरादधान इव ह्रियम् ॥ ८० ॥
चकम्पे तीर्णलौहित्ये तस्मिन्प्राग्ज्योतिषेश्वरः। तद्गजालानतां प्राप्तैः सह कालागुरुद्रुमैः ॥ ८१ ॥
न प्रसेहे स रुद्धार्कमधारावर्षदुर्दिनम्। रथवर्त्मरजोऽप्यस्य कुत एव पताकिनीम् ॥ ८२ ॥
तमीशः कामरूपाणामत्याखण्डलविक्रमम्। भेजे भिन्नकटैर्नागैरन्यानुपरुरोध यैः ॥ ८३ ॥
कामरूपेश्वरस्तस्य हेमपीठाधिदेवताम्। रत्नपुष्पोपहारेण छायामानर्च पादयोः ॥ ८४ ॥
इति जित्वा दिशो जिष्णुर्न्यवर्तत रथोद्धतम्। रजो विश्रामयन् राज्ञां छत्रशून्येषु मौलिषु ॥ ८५ ॥
स विश्वजितमाजह्रे यज्ञं सर्वस्वदक्षिणम्। आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव ॥ ८६ ॥

सत्रान्ते सचिवसखः पुरस्क्रियाभिर्गुर्वीभिः शमितपराजयव्यलीकान्।
काकुत्स्थश्चिरविरहोत्सुकावरोधान्राजन्यान् स्वपुरनिवृत्तयेऽनुमेने ॥ ८७ ॥

से चमचमा उठीं। इस प्रकार उन बूटियों ने रघु के लिए बिना तेल के ही दीपक का काम कर दिया ॥ ७५ ॥ रघु ने जब वहाँ से अपनी सेना का पडाव हटा लिया, तब देवदार की ऊँची-ऊँची शाखाओं पर हाथियों के गले की साँकलों की रगड से बनी हुई रेखाओं को देखकर ही जंगली किरातों ने रघु के हाथियों की ऊँचाई का अनुमान कर लिया ॥ ७६ ॥ वहाँ पहाडी गणों के साथ रघु की घनघोर लडाई हुई। रघु की सेना बाण चलाती थी और पहाडी लोग पत्थर बरसाते थे। इस प्रकार लोहे और पत्थर की भिड़न्त हो जाने पर तो बराबर आग उत्पन्न हो जाती थी ॥ ७७ ॥ रघु ने धुआँधार बाण बरसाकर उत्सवसंकेत नामक पहाडियों के छक्के छुडा दिये। इस पर किन्नरों ने मिलकर रघु के बाहुबल के अनेक गीत गाये ॥७८॥ उन पहाड़ी राजाओं ने रत्नों के ढेर रघु को भेंट में दिये, जिन्हें देखकर रघु ने हिमालय के अतुलित धन का और हिमालय ने युद्ध में रघु के पराक्रम का अनुमान कर लिया ॥ ७९ ॥ इस प्रकार हिमालय पर अपना यशस्वी झंडा गाडकर रघु आगे कैलास की ओर न बढकर लौट पडे। इससे कैलास पर्वत को यह सोचकर लज्जा हुई कि एक बार रावण ने मुझे उठा क्या लिया कि सभी लोग मुझको सदा के लिए हारा हुआ समझने लगे ॥ ८० ॥ वहाँ से लौहित्या नदी पार करके रघु प्राग्ज्योतिषपुर (आसाम के लोहित प्रदेश) में पहुँचे। वहाँ पर हाथियों के बँधने से जैसे कालागुरु के वृक्ष काँपते थे, वैसे ही प्राग्ज्योतिषपुर का राजा भी रघु के भय से काँप उठा ॥ ८१ ॥ वहाँ के राजा ने देखा कि बादलों के बिना केवल रघु की सेना की धूल से ही सूर्यमण्डल छिप गया। जब सेना की धूल से ही वह इतना घबरा गया तब वह उस सेना से कैसे लडता ॥ ८२ ॥ तदुपरान्त कामरूप के राजा ने जिन हाथियों को लेकर बड़े-बड़े शत्रुओं को हराया था, उन्हीं हाथियों को उसने इन्द्र से भी अधिक पराक्रमी रघु को भेंट में दे दिया ॥ ८३ ॥ कामरूप के नरेश ने सोने के पीढे पर पड़ी हुई महाराज रघु के चरणों की छाया को देवता जैसा समझकर रत्नों से पूजा ॥ ८४ ॥ इस प्रकार विजयी रघु जब सारी पृथ्वी को जीतकर अपनी राजधानी अयोध्या की ओर लौटे, तब उनके रथ के पहियों से उड़ी हुई धूल पीछे-पीछे चलनेवाले पराजित राजाओं के छत्र-विहीन मुकुटों पर बैठकर विश्राम करने लगी ॥ ८५ ॥ दिग्विजय से लौटकर रघु ने विश्वजित् नाम का यज्ञ किया, जिसमें उन्होंने अपनी सारी सम्पदा दक्षिणा में दे डाली। जैसे बादल समुद्र से जल लेकर फिर पृथ्वी पर बरसा देते हैं, वैसे ही महात्मा लोग भी धन को दान करने के लिए ही जुटाते हैं ॥ ८६ ॥ यज्ञ समाप्त हो जाने पर रघु और उनके मन्त्रियों ने पराजित राजाओं का बडा सत्कार किया और उनके

ते रेखाध्वजकुलिशातपत्रचिह्नं सम्राजश्चरणयुगं प्रसादलभ्यम् ।
प्रस्थानप्रणतिभिरङ्गुलीषु चक्रुर्मौलिस्रक्च्युतमकरन्दरेणुगौरम् ॥ ८८ ॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
रघुदिग्विजयो नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

मन मे हारने की जो लाज थी, उसे दूर कर दिया। फिर बहुत दिनों से अपनी रानियों से बिछुड़े हुए उन राजाओं को उन्होंने अपने-अपने देश जाने की आज्ञा प्रदान की॥ ८७॥ अयोध्या से जाते समय राजाओं ने रघु के उन कृपाप्राप्य चरणों में झुककर प्रणाम किया जिन पर ध्वजा, वज्र और छत्र आदि की रेखाएँ बनी हुई थीं। उस समय उन राजाओं के सिर की मालाओं से जो पराग गिरा, उससे रघु के चरणों की उंगलियाँ पहले की अपेक्षा और भी गोरी हो गयीं॥ ८८॥

इस प्रकार रघुवंशमहाकाव्य में रघु-दिग्विजय नामक
चौथा सर्ग समाप्त॥ ४॥

पञ्चमः सर्गः

तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशं निःशेषविश्राणितकोषजातम् ।
उपात्तविद्यो गुरुदक्षिणार्थी कौत्सः प्रपेदे वरतन्तुशिष्यः ॥ १ ॥
स मृण्मये वीतहिरण्मयत्वात्पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशीलः ।
श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः ॥ २ ॥
तमर्चयित्वा विधिवद्विधिज्ञस्तपोधनं मानधनाग्रयायी ।
विशाम्पतिर्विष्टरभाजमारात्कृताञ्जलिः कृत्यविदित्युवाच ॥ ३ ॥
अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धे! कुशली गुरुस्ते ।
यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः ॥ ४ ॥
कायेन वाचा मनसाऽपि शश्वद्यत्सम्भृतं वासवधैर्यलोपि ।
आपाद्यते न व्ययमन्तरायैः कच्चिन्महर्षेस्त्रिविधं तपस्तत् ॥ ५ ॥
आधारबन्धप्रमुखैः प्रयत्नैः संवर्धितानां सुतनिर्विशेषम् ।
कच्चिन्न वाय्वादिरुपप्लवो वः श्रमच्छिदामाश्रमपादपानाम् ॥ ६ ॥
क्रियानिमित्तेष्वपि वत्सलत्वादभग्नकामा मुनिभिः कुशेषु ।
तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला कच्चिन्मृगीणामनघा प्रसूतिः ॥ ७ ॥
निर्वर्त्यते यैर्नियमाभिषेको येभ्यो निवापाञ्जलयः पितॄणाम् ।
तान्युञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि शिवानि वस्तीर्थजलानि कच्चित् ॥ ८ ॥
नीवारपाकादि कडङ्गरीयैरामृश्यते जानपदैर्न कच्चित् ।
कालोपपन्नातिथिकल्प्यभागं वन्यं शरीरस्थितिसाधनं वः ॥ ९ ॥

महाराज रघु जब विश्वजित् यज्ञ में अपना सब प्रकार के कोश दान कर चुके, उसी समय वरतन्तु के शिष्य कौत्स ऋषि गुरुदक्षिणा के लिए धन माँगने के निमित्त उनके पास पहुँचे ॥ १ ॥ तब अत्यन्त शीलवान् और यशस्वी रघु मिट्टी का पात्र लेकर विद्वान् कौत्स ऋषि की पूजा करने चले। क्योंकि सोने-चाँदी के सब पात्र तो उन्होंने पहले ही दान कर दिये थे ॥ २ ॥ तपस्वी कौत्स कुश के आसन पर बैठे हुए थे। शास्त्र के विज्ञ एवं सबसे श्रेष्ठ सम्माननीय रघु ने बड़ी विधि से उनकी पूजा की और हाथ जोडकर बोले ॥ ३ ॥ हे बुद्धिमान्! सूर्य जैसे अपने प्रकाश से समस्त संसार को चैतन्य प्रदान करता है, वैसे ही जिनसे आपने समस्त ज्ञान प्राप्त किया है और जो मन्त्रद्रष्टा ऋषियों में सर्वश्रेष्ठ हैं, वे आपके गुरु वरतन्तु तो कुशल से हैं ॥ ४ ॥ उन्होंने शरीर, मन और वचन से तीनों प्रकार का जो कठिन तप करना प्रारम्भ किया था और जिसे देखकर इन्द्र भी घबरा उठे थे, उनका वह तप तो निर्विघ्न चल रहा है? ॥ ५ ॥ आप लोगों ने आश्रम के जिन वृक्षों के थाले बाँधकर उन्हें पुत्र के समान बड़े जतन से पाला है और जिनसे पथिकों को छाया मिलती है, उन वृक्षों को आँधी-पानी आदि उपद्रवों से कोई हानि तो नहीं पहुँची है? ॥ ६ ॥ हरिणियों के वे छोटे-छोटे बच्चे तो कुशल मे हैं, जिन्हें ऋषि लोग बड़े प्यार से गोद में बैठाकर खेलाते हैं? जिनकी नाभि का नाल ऋषियों की गोद में ही सूखकर गिरता है और जिन्हें ऋषिलोग यज्ञ के लिए संचित कुशा को भी खाने से नहीं रोकते? ॥ ७ ॥ उन नदियों का जल तो ठीक है, जिनमें आपलोग प्रतिदिन स्नान, सन्ध्या, तर्पण आदि करते हैं और जिनकी रेती पर आप लोगों ने अपने चुने हुए अन्न का छठाँ भाग राजा का अंश समझकर छोड़ रक्खा है ॥ ८ ॥ जिन तिन्नी के अन्नों और फलों से आप लोग अतिथियों का सत्कार करते हैं और जिन्हें खाकर ही आप लोग रह

अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्यग्विनीयानुमतो गृहाय।
कालो ह्ययं सङ्क्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते॥ १०॥
तवार्हतो नाभिगमेन तृप्तं मनो नियोगक्रिययोत्सुकं मे।
अप्याज्ञया शासितुरात्मना वा प्राप्तोऽसि सम्भावयितुं वनान्माम्॥ ११॥
इत्यर्घ्यपात्रानुमितव्ययस्य रघोरुदारामपि गां निशम्य।
स्वार्थोपपत्तिं प्रति दुर्बलाशस्तमित्यवोचद्वरतन्तुशिष्यः॥ १२॥
सर्वत्र नो वार्तमवेहि राजन्नाथे कुतस्त्वय्यशुभं प्रजानाम्।
सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा॥ १३॥
भक्तिः प्रतीक्ष्येषु कुलोचिता ते पूर्वान्महाभाग! तयाऽतिशेषे।
व्यतीतकालस्त्वहमभ्युपेतस्त्वामर्थिभावादिति मे विषादः॥ १४॥
शरीरमात्रेण नरेन्द्र! तिष्ठन्नाभासि तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः।
आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः॥ १५॥
स्थाने भवानेकनराधिपः सन्नकिञ्चनत्वं मखजं व्यनक्ति।
पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशोः कलाक्षयः श्लाघ्यतरो हि वृद्धेः॥ १६॥
तदन्यतस्तावदनन्यकार्यो गुर्वर्थमाहर्तुमहं यतिष्ये।
स्वस्त्यस्तु ते निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि॥ १७॥
एतावदुक्त्वा प्रतियातुकामं शिष्यं महर्षेर्नृपतिर्निषिध्य।
किं वस्तु विद्वन्! गुरवे प्रदेयं त्वया कियद्वेति तमन्वयुङ्क्त॥ १८॥

जाते हैं, उन्हें आस-पास वाले गाँवों के पशु तो नहीं चर जाते हैं?॥ ९॥ क्या ऋषि वरतन्तु ने आपकी विद्वत्ता से प्रसन्न होकर आपको गृहस्थ बन जाने की आज्ञा दे दी है? क्योंकि अब आपकी इतनी अवस्था भी हो गयी है कि आप विवाह करें और सबका उपकार करनेवाले गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हों॥ १०॥ आप जैसे पूज्य महात्मा के आने से मेरा जी नहीं भरा है। मुझे अपनी सेवा करने की भी कोई आज्ञा दीजिए और यह बतलाइए कि आपने केवल अपने गुरुजी की आज्ञा से ही यहाँ आकर मुझे कृतार्थ किया है या अपनी इच्छा से आने की कृपा की है॥ ११॥ कौत्स ने बड़े ध्यान से रघु की उदार बातें सुनीं, परन्तु देखा कि उनके पास केवल मिट्टी के पात्रभर बचे हैं। इसी से उन्होंने समझ लिया कि अब रघु के पास कुछ भी नहीं है। इससे उनका मुँह उतर गया और उन्होंने समझ लिया कि यहाँ हमारा काम नहीं बनेगा। यह सोचकर कौत्स बोले॥ १२॥ हे राजन्! आपके राज्य में हमें सब प्रकार का सुख है। जैसे सूर्य के रहते अँधेरा नहीं ठहर पाता, वैसे ही आपके राजा रहने पर प्रजा में दुःख कहीं नहीं है॥ १३॥ हे भाग्यशालिन्! बड़ों की पूजा करना तो आपके वंश का धर्म ही है और फिर आप तो इस बात में अपने पूर्वजों से भी आगे बढ़े हुए हैं। मैं आपके पास कुछ माँगने आया था, परन्तु मेरे आने में कुछ विलम्ब हो गया, इसी का मुझे दुःख है॥ १४॥ हे राजन्! आपने अपना सब धन सुपात्रों को दे डाला है और केवल शरीरभर आपके पास बचा है। इससे अब आप तिन्नी के पौधे के उस ठूँठ जैसे रह गये हैं, जिसके दाने तपस्वियों ने झाड़ लिये हों॥ १५॥ चक्रवर्ती होते हुए भी यज्ञ में सब कुछ दान दे देने के बाद दरिद्र होकर आप उस चन्द्रमा जैसे बड़े सुन्दर लग रहे हैं, जिसकी सारी कलाएँ धीरे-धीरे देवताओं ने पी ली हों॥ १६॥ आपके पास तो कुछ है नहीं, अतएव मैं अब गुरुदक्षिणा प्राप्त करने के लिए किसी दूसरे धनी का द्वार खटखटाऊँगा। क्योंकि पपीहा भी बिना जलवाले बादलों से पानी नहीं माँगता। आपका कल्याण हो॥ १७॥ ऐसा कहकर कौत्स जाने के लिए

ततो यथावद्विहिताध्वराय तस्मै स्मयावेशविवर्जिताय।
वर्णाश्रमाणां गुरवे स वर्णी विचक्षणः प्रस्तुतमाचचक्षे॥ १९॥
समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद्गुरुदक्षिणायै।
स मे चिरायास्खलितोपचारां तां भक्तिमेवागणयत्पुरस्तात्॥ २०॥
निर्बन्धसञ्जातरुषाऽर्थकार्श्यमचिन्तयित्वा गुरुणाऽहमुक्तः।
वित्तस्य विद्यापरिसङ्ख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति॥ २१॥
सोऽहं सपर्याविधिभाजनेन मत्वा भवन्तं प्रभुशब्दशेषम्।
अभ्युत्सहे सम्प्रति नोपरोद्धुमल्पेतरत्वाच्छ्रुतनिष्क्रयस्य॥ २२॥
इत्थं द्विजेन द्विजराजकान्तिरावेदितो वेदविदां वरेण।
एनोनिवृत्तेन्द्रियवृत्तिरेनं जगाद भूयो जगदेकनाथः॥ २३॥
गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम्।
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे मा भूत्परीवादनवावतारः॥ २४॥
स त्वं प्रशस्ते महिते मदीये वसंश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे।
द्वित्राण्यहान्यर्हसि सोढुमर्हन् यावद्यते साधयितुं त्वदर्थम्॥ २५॥
तथेति तस्यावितथं प्रतीतः प्रत्यग्रहीत्सङ्गरमग्रजन्मा।
गामात्तसारां रघुरप्यवेक्ष्य निष्क्रष्टुमर्थं चकमे कुबेरात्॥ २६॥
वसिष्ठमन्त्रोक्षणजात्प्रभावादुदन्वदाकाशमहीधरेषु।
मरुत्सखस्येव बलाहकस्य गतिर्विजघ्ने न हि तद्रथस्य॥ २७॥

खड़े हो गये। तब रघु ने उन्हें रोका और पूछा— हे विद्वन्! आप गुरुजी को कौन-सी वस्तु या कितना धन देना चाहते हैं? सो बतलाइए॥ १८॥ ब्रह्मचारी कौत्स ने देखा कि विश्वजित् यज्ञ करने पर भी रघु को अभिमान छू नहीं गया है। इसलिए वे वर्ण और आश्रम की रक्षा करने वाले रघु से अपने मन की बात बतलाते हुए कहने लगे॥ १९॥ हे राजन्! विद्या पढ़ चुकने पर मैंने गुरुजी से कहा कि 'आप मुझसे गुरु-दक्षिणा माँगिए'। गुरुजी ने कहा— 'मैं तुम्हारी गुरुभक्ति से बहुत प्रसन्न हूँ। तब गुरु-दक्षिणा लेकर क्या होगा'। मैंने बड़ी भक्ति से उनकी सेवा की थी। उसे ही उन्होंने गुरुदक्षिणा समझ लिया था॥ २०॥ किन्तु जब मैंने बार-बार दक्षिणा माँगने के लिए उनसे आग्रह किया तो वे क्रुद्ध हो गये और मेरी आर्थिक दरिद्रता का विचार किये बिना ही बोल उठे— 'मैंने तुम्हें चौदह विद्याएँ पढायी हैं, इसलिए तुम मुझे चौदह करोड़ स्वर्णमुद्राएँ लाकर दो'॥ २१॥ पूजा के लिए आपके हाथ में मिट्टी का पात्र देखकर ही मैं समझ गया कि आपके पास 'राजा' शब्द के सिवाय और कुछ भी नहीं बचा है। इधर मेरी गुरु-दक्षिणा भी बड़ी भारी है। अतएव अब मेरा मन ही नहीं करता कि आपसे कुछ माँगूँ॥ २२॥ वैदिक ब्राह्मणों में श्रेष्ठ कौत्स के यह कहने पर चन्द्रमासदृश सुन्दर, निष्पाप तथा जगतीतल के एकमात्र प्रभु रघु फिर बोले॥ २३॥ आप जैसे वेदपाठी ब्राह्मण गुरुदक्षिणा के लिए हमारे पास आयें और यहाँ से निराश लौटकर किसी दूसरे का द्वार देखें, ऐसा नहीं हो सकता। ऐसा अपयश मैं नहीं होने दूँगा॥ २४॥ अतएव आप हमारी यज्ञशाला में चलिए। वहाँ पर गार्हपत्य, दाक्षिणात्य और आहवनीय—ये तीन पूजनीय अग्नियाँ स्थापित हैं। आप भी चौथी अग्नि के समान पूजनीय होकर दो-तीन दिन ठहरिए। तब तक मैं आपकी गुरु-दक्षिणा के लिए कोई उपाय करता हूँ॥ २५॥ यह सुनकर कौत्स बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने सत्यवादी रघु की बात मान ली। रघु ने भी देखा कि पृथ्वी पर तो धन है नहीं, इसलिए उन्होंने कुबेर से धन लेने का निश्चय किया॥ २६॥ जैसे वायु के झोकों द्वारा मेघ कहीं

अथाधिशिश्ये प्रयतः प्रदोषे रथं रघुः कल्पितशस्त्रगर्भम्।
सामन्तसम्भावनयैव धीरः कैलासनाथं तरसा जिगीषुः॥ २८॥
प्रातः प्रयाणाभिमुखाय तस्मै सविस्मयाः कोषगृहे नियुक्ताः।
हिरण्मयीं कोषगृहस्य मध्ये वृष्टिं शशंसुः पतितां नभस्तः॥ २९॥
तं भूपतिर्भासुरहेमराशिं लब्धं कुबेरादभियास्यमानात्।
दिदेश कौत्साय समस्तमेव पादं सुमेरोरिव वज्रभिन्नम्॥ ३०॥
जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ।
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च॥ ३१॥
अथोष्ट्रवामीशतवाहितार्थं प्रजेश्वरं प्रीतमना महर्षिः।
स्पृशन्करेणानतपूर्वकायं सम्प्रस्थितो वाचमुवाच कौत्सः॥ ३२॥
किमत्र चित्रं यदि कामसूर्भूर्वृत्ते स्थितस्याधिपतेः प्रजानाम्।
अचिन्तनीयस्तु तव प्रभावो मनीषितं द्यौरपि येन दुग्धा॥ ३३॥
आशास्यमन्यत्पुनरुक्तभूतं श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते।
पुत्रं लभस्वात्मगुणानुरूपं भवन्तमीड्यं भवतः पितेव॥ ३४॥
इत्थं प्रयुज्याशिषमग्रजन्मा राज्ञे प्रतीयाय गुरोः सकाशम्।
राजाऽपि लेभे सुतमाशु तस्मादालोकमर्कादिव जीवलोकः॥ ३५॥

भी जा सकता है, वैसे ही वसिष्ठजी के मन्त्रों से पवित्र किया हुआ रघु का रथ अबाधरूप से समुद्र, आकाश और पर्वत कहीं भी जा सकता था अर्थात् उनके रथ की गति कहीं भी अवरुद्ध नहीं होती थी॥ २७॥ उन्होंने सोचा कि उस रथ पर चढ़कर मैं अकेला ही महाप्रतापी और कैलास के स्वामी कुबेर को एक छोटे से सामन्त राजा के समान सहज में जीत लूँगा। ऐसा निश्चय करके वे साँझ होते ही अस्त्र-शस्त्र रखकर रथ में सोये॥ २८॥ दूसरे दिन सवेरे जैसे ही रघु चलने को उद्यत हुए, तैसे ही राजकोष के रक्षकों ने आकर यह विस्मयभरा समाचार दिया कि आज रात को कोश में आकाश से बहुत देर तक सोने की वर्षा हुई है॥ २९॥ बात यह हुई कि रघु की चढ़ाई की बात सुनकर कुबेर ने रात को ही सोने की वर्षा कर दी थी। सोने का वह ढेर ऐसा चमक रहा था कि जैसे किसी ने वज्र से सुमेरु पर्वत का एक टुकड़ा काटकर धरती पर गिरा दिया हो। रघु ने वह सारा सोना कौत्स को दे दिया॥ ३०॥ उसे देखकर कौत्स ने कहा— मैं इतना ज्यादा सोना लेकर क्या करूँगा? मुझे तो गुरुदक्षिणा चुकाने भर को धन चाहिए। इस पर रघु बोले— यह नहीं हो सकता। आप यह सारा धन ले जाइए। यह देखकर अयोध्यानिवासियों ने उन दोनों की बड़ी प्रशंसा की। क्योंकि उन दोनों में एक इतना सन्तोषी था कि आवश्यकता से अधिक लेना नहीं चाहता था और दूसरा इतना बड़ा दाता था कि माँग से भी अधिक धन देने को सन्नद्ध था॥ ३१॥ उस धन को रघु ने सैकड़ों ऊँटों और खच्चरों पर लदवा दिया और जब कौत्स चलने लगे, तब राजा ने बड़ी नम्रता से उन्हें प्रणाम किया। कौत्स भी बड़े प्रसन्न थे। उन्होंने विनम्र राजा के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा॥ ३२॥ धर्मात्मा राजाओं के लिए यदि पृथ्वी उनकी इच्छा के अनुसार धन दे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है, परन्तु तुम्हारे प्रभाव को देखकर सचमुच बड़ा आश्चर्य होता है। क्योंकि तुमने तो स्वर्ग से भी जितना चाहा, उतना धन ले लिया॥ ३३॥ संसार की सभी वस्तुएँ तुम्हें सुलभ हैं। अतएव उनके लिए आशीर्वाद देना व्यर्थ है। तथापि मैं तुम्हें यह आशीर्वाद देता हूँ कि जैसे तुम्हारे पिता दिलीप को तुम्हारे जैसा श्रेष्ठ पुत्र मिला है, वैसा ही प्रतापी पुत्र तुम्हें भी प्राप्त हो॥ ३४॥ राजा रघु को यह आशीर्वाद देकर ब्राह्मण कौत्स अपने गुरुजी के पास चले गये।

ब्राह्मे मुहूर्ते किल तस्य देवी कुमारकल्पं सुषुवे कुमारम्।
अतः पिता ब्रह्मण एव नाम्ना तमात्मजन्मानमजं चकार॥ ३६॥
रूपं तदोजस्वि तदेव वीर्यं तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम्।
न कारणात्स्वाद्बिभिदे कुमारः प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्॥ ३७॥
उपात्तविद्यं विधिवद्गुरुभ्यस्तं यौवनोद्भेदविशेषकान्तम्।
श्रीः साभिलाषाऽपि गुरोरनुज्ञां धीरेव कन्या पितुराचकाङ्क्ष॥ ३८॥
अथेश्वरेण क्रथकैशिकानां स्वयंवरार्थं स्वसुरिन्दुमत्याः।
आप्तः कुमारानयनोत्सुकेन भोजेन दूतो रघवे विसृष्टः॥ ३९॥
तं श्लाघ्यसम्बन्धमसौ विचिन्त्य दारक्रियायोग्यदशं च पुत्रम्।
प्रस्थापयामास ससैन्यमेनमृद्धां विदर्भाधिपराजधानीम्॥ ४०॥
तस्योपकार्यारचितोपचारा वन्येतरा जानपदोपदाभिः।
मार्गे निवासा मनुजेन्द्रसूनोर्बभूवुरुद्यानविहारकल्पाः॥ ४१॥
स नर्मदारोधसि सीकरार्द्रैर्मरुद्भिरानर्तितनक्तमाले।
निवेशयामास विलङ्घिताध्वा क्लान्तं रजोधूसरकेतु सैन्यम्॥ ४२॥
अथोपरिष्टाद्भ्रमरैर्भ्रमद्भिः प्राक्सूचितान्तःसलिलप्रवेशः।
निर्धौतदानामलगण्डभित्तिर्वन्यः सरित्तो गज उन्ममज्ज॥ ४३॥

तदनन्तर जैसे सूर्य से संसार को प्रकाश मिलता है, वैसे ही ब्राह्मण के आशीर्वाद से थोडे ही दिनों बाद रघु को पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ॥ ३५॥ रघु की रानी की कोख मे बड़े तड़के ब्राह्ममुहूर्त में कार्त्तिकेय के समान तेजस्वी पुत्र पैदा हुआ। ब्राह्ममुहूर्त में जन्म लेने के कारण पिता रघु ने ब्रह्मा के नाम पर अपने लड़के का नाम 'अज' रक्खा॥ ३६॥ जैसे एक दीपक से जलाये जाने पर दूसरे दीपक में भी ठीक वैसी ही लौ और वैसी ही ज्योति प्रकट होती है, वैसे ही अज भी रूप, गुण और बल—सभी बातों में रघु के जैसा ही था॥ ३७॥ जैसे कोई शीलवती कन्या अपनी इच्छा के अनुरूप रूप-गुणवाले वर को चुन करके भी विवाह के लिए पिता की आज्ञा ले लेना चाहती हैं, वैसे ही राज्यलक्ष्मी भी यद्यपि सुन्दर और युवा अज को स्वामी बनाना चाहती थीं, तथापि वह रघु की आज्ञा की बाट जोह रही थी कि वे कब अज को राज्य सौंपते हैं॥ ३८॥ इसी बीच क्रथकैशिक (विदर्भदेश) के राजा भोज ने अपनी बहन इन्दुमती के स्वयंवर में अज को बुलाने के लिए अपना एक विश्वस्त दूत महाराजा रघु के पास भेजा॥ ३९॥ रघु ने भी भोजवंश के साथ अपने कुल का सम्बन्ध करना ठीक समझा और कुमार अज भी विवाह के योग्य हो गये थे। अतएव उन्होंने सेना के साथ अज को विदर्भनरेश की राजधानी में भेज दिया॥ ४०॥ मार्ग में अज के ठहरने के लिए अनेक ऐसे वितानों का प्रबन्ध किया गया था, जिनमें सब प्रकार के सुख की सामग्री एकत्र कर दी गयी और आस-पास के गाँववालों ने अज के लिए अच्छी-अच्छी वस्तुएँ भेट में लाकर दीं। इन सबसे वे ग्रामीण-स्थान भी ऐसे लगने लगे, मानो अज राजसी विलाससम्पन्न उद्यानों में टिके हुए हों॥ ४१॥ आगे चलकर अज ने नर्मदा नदी के किनारे अपनी उस थकी हुई सेना का पड़ाव ड़ाला, जिसकी पताकाएँ मार्ग की धूल लगने से मटमैली हो गयी थीं। वहाँ बडा शीतल वायु बह रहा था और उसके झोकों से करञ्ज के पेड़ झूम रहे थे॥ ४२॥ तभी एक जंगली हाथी झूमता हुआ नर्मदा के जल में से निकला। जल में घुसने से पहले ही मद के कारण झुण्ड के झुण्ड भौंरें उस पर मँडरा रहे थे। जल में स्नान करने के कारण उसके माथे के दोनों ओर का मद धुल गया था॥ ४३॥ नहाने से यद्यपि उसके दाँतों में लगी गेरू की लाली छूट गयी थी, फिर भी पत्थर

निःशेषविक्षालितधातुनाऽपि वप्रक्रियामृक्षवतस्तटेषु।
नीलोर्ध्वरेखाशबलेन शंसन्दन्तद्वयेनाश्मविकुण्ठितेन॥ ४४॥
संहारविक्षेपलघुक्रियेण हस्तेन तीराभिमुखः सशब्दम्।
बभौ स भिन्दन्बृहतस्तरङ्गान्वार्यर्गलाभङ्ग इव प्रवृत्तः॥ ४५॥
शैलोपमः शैवलमञ्जरीणां जालानि कर्षन्नुरसा स पश्चात्।
पूर्वं तदुत्पीडितवारिराशिः सरित्प्रवाहस्तटमुत्ससर्प॥ ४६॥
तस्यैकनागस्य कपोलभित्त्योर्जलावगाहक्षणमात्रशान्ता।
वन्येतरानेकपदर्शनेन पुनर्दिदीपे मददुर्दिनश्रीः॥ ४७॥
सप्तच्छदक्षीरकटुप्रवाहमसह्यमाघ्राय मदं तदीयम्।
विलङ्घिताधोरणतीव्रयत्नाः सेनागजेन्द्रा विमुखा बभूवुः॥ ४८॥
स च्छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्यं भग्नाक्षपर्यस्तरथं क्षणेन।
रामापरित्राणविहस्तयोधं सेनानिवेशं तुमुलं चकार॥ ४९॥
तमापतन्तं नृपतेरवध्यो वन्यः करीति श्रुतवान्कुमारः।
निवर्तयिष्यन्विशिखेन कुम्भे जघान नात्यायतकृष्टशार्ङ्गः॥ ५०॥
स विद्धमात्रः किल नागरूपमुत्सृज्य तद्विस्मितसैन्यदृष्टः।
स्फुरत्प्रभामण्डलमध्यवर्ति कान्तं वपुर्व्योमचरं प्रपेदे॥ ५१॥
अथ प्रभावोपनतैः कुमारं कल्पद्रुमोत्थैरवकीर्य पुष्पैः।
उवाच वाग्मी दशनप्रभाभिः संवर्धितोरःस्थलतारहारः॥ ५२॥

की रगड़ से उसके दोनों दाँतो पर जो नीली-नीली रेखाएँ बन गयी थीं, उनसे ऐसा लगता था कि जैसे उसने ऋक्षवान् पर्वत की शिलाओं में टक्करें मारी हों॥ ४४॥ वह हाथी ज्यों-ज्यों तट की ओर आगे बढ़ा त्यों-त्यों अपनी सूँड़ फैला और सिकोड़ कर चिंघाडता हुआ जल की लहरों को चीरने लगा। उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि मानो वह आलान की साँकलें तोड़ रहा है॥ ४५॥ तभी वह पहाड जैसा लम्बा-चौड़ा हाथी छाती से सेंवार को अपने साथ खींचता हुआ तट पर आ पहुँचा। इससे जल में जो लहरें उठीं, वे उससे भी पहले तट पर आ पहुँचीं॥ ४६॥ नदी में नहाने से यद्यपि उस हाथी के माथे का सब मद धुल चुका था, फिर भी अज की सेना के पालतू हाथियों को देखकर वह बलवान् और क्रुद्ध हाथी फिर माथे से मद बहाने लगा॥ ४७॥ जब अज के हाथियों को उसके छतिवन के दूध जैसे कसैले मद की गन्ध मिली, तब वे हाथीवानों के बार-बार रोकने पर भी इधर-उधर भागने लगे॥ ४८॥ उस विशाल जंगली हाथी को देखा तो सब घोड़े भी रस्सा तुड़ा-तुड़ाकर भाग चले। इस भगदड़ में जिन रथों के धुरे टूट गये थे, वे जहाँ-तहाँ गिरे पडे थे। सैनिक लोग अपनी स्त्रियों को छिपाने के लिए सुरक्षित स्थान ढूँढने लगे। इस प्रकार उस एक हाथी ने सारी सेना में भगदड मचा दी॥ ४९॥ वह हाथी अज की ओर बढा चला आ रहा था, किन्तु अज ने सोचा कि यह जंगली हाथी है, इसको मारना ठीक नहीं है। सो उन्होंने अपने धनुष को थोडा-सा खींचकर एक बाण उसके मस्तक में इस ढंग से मारा कि जिससे वह लौट जाय॥ ५०॥ बाण लगते ही वह हाथी का शरीर त्यागकर ऐसा सुन्दर और तेजस्वी हो गया, जैसे देवता होते हैं। यह देखकर अज के समस्त सैनिक आँखें फाड़-फाड़कर देखते हुए जहाँ के तहाँ खडे रह गये॥ ५१॥ उस देववेषधारी पुरुष ने अपने प्रभाव से कल्पवृक्ष के फूल मँगाकर अज के ऊपर बरसाये और जब उसने बोलने के लिए मुँह खोला, तब उसके दाँतों की दीप्ति से उसके गले में पड़ा हुआ हार चमक उठा॥५२॥ वह बोला—मैं गन्धर्वों के राजा प्रियदर्शन का पुत्र प्रियंवद हूँ।

मतङ्गशापादवलेपमूलादवाप्तवानस्मि मतङ्गजत्वम्।
अवेहि गन्धर्वपतेस्तनूजं प्रियंवदं मां प्रियदर्शनस्य॥५३॥
स चानुनीतः प्रणतेन पश्चान्मया महर्षिर्मृदुतामगच्छत्।
उष्णत्वमग्न्यातपसम्प्रयोगाच्छैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य॥५४॥
इक्ष्वाकुवंशप्रभवो यदा ते भेत्स्यत्यजः कुम्भमयोमुखेन।
संयोक्ष्यसे स्वेन वपुर्महिम्ना तदेत्यवोचत्स तपोनिधिर्माम्॥५५॥
सम्मोचितः सत्त्ववता त्वयाऽहं शापाच्चिरप्रार्थितदर्शनेन।
प्रतिप्रियं चेद्भवतो न कुर्यां वृथा हि मे स्यात्स्वपदोपलब्धिः॥५६॥
सम्मोहनं नाम सखे! ममास्त्रं प्रयोगसंहारविभक्तमन्त्रम्।
गान्धर्वमादत्स्व यतः प्रयोक्तुर्न चारिहिंसा विजयश्च हस्ते॥५७॥
अलं ह्रिया मां प्रति यन्मुहूर्तं दयापरोऽभूः प्रहरन्नपि त्वम्।
तस्मादुपच्छन्दयति प्रयोज्यं मयि त्वया न प्रतिषेधरौक्ष्यम्॥५८॥
तथेत्युपस्पृश्य पयः पवित्रं सोमोद्भवायाः सरितो नृसोमः।
उदङ्मुखः सोऽस्त्रविदस्त्रमन्त्रं जग्राह तस्मान्निगृहीतशापात्॥५९॥
एवं तयोरध्वनि दैवयोगादासेदुषोः सख्यमचिन्त्यहेतु।
एको ययौ चैत्ररथप्रदेशान् सौराज्यरम्यानपरो विदर्भान्॥६०॥
तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे तदागमारूढगुरुप्रहर्षः।
प्रत्युज्जगाम क्रथकैशिकेन्द्रश्चन्द्रं प्रवृद्धोर्मिरिवोर्मिमाली॥६१॥

एक वार मैंने अभिमानवश मतंग ऋषि का अपमान कर दिया था। अतएव उन्हीं के शाप से मैं हाथी हो गया॥५३॥ जब मैंने उन ऋषि से बहुत अनुनय-विनय किया तब उन्हें दया आ गयी। क्योंकि जल तो आग या धूप की गर्मी पाकर ही गरम होता है, उसका स्वभाव तो ठंडा ही रहता है॥५४॥ तब प्रसन्न होकर उन मतंग मुनि ने कहा—इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न अज नाम के कुमार जब तुम्हारे माथे पर लोहे के फलवाला वाण मारेंगे, तब उनकी महिमा से तुम्हें फिर से अपना वास्तविक शरीर प्राप्त हो जायेगा॥५५॥ तब मैं हाथी हो गया और आपके आने की बाट जोहने लगा। आज बड़े भाग्य से आप आ गये और मुझे शाप से छुडा दिया। इस उपकार के बदले यदि मैंने आपका कोई प्रत्युपकार न किया तो मेरा पुनः शरीर पाना ही व्यर्थ है॥५६॥ हे मित्र! मेरे पास यह सम्मोहन नाम का गन्धर्वास्त्र है, जिसके चलाने और रोकने के अलग-अलग मन्त्र हैं। इस दुर्लभ अस्त्र को आप ले लीजिए। इसमें विशेषता यह है कि जब आप इसे चलायेंगे, तब आप शत्रुओं के प्राण लिये विना ही उन्हें जीत लेंगे॥५७॥ आपने जो मेरे ऊपर वाण चलाया है, उससे जैसे आपके मन में कुछ संकोच हो रहा है। परन्तु लजाने की क्या बात है? क्योंकि वाण चलाते समय भी आपके मन में मुझे मारने की इच्छा तो थी नहीं, वल्कि आपने तो दया करके ही वाण चलाया था। अतः मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप यह अस्त्र ले लीजिए। इसमें आना-कानी मत करिए॥५८॥ तब चन्द्रमा के समान सुन्दर अज ने गन्धर्व का कहना मानकर पहले चन्द्रमा से उत्पन्न नर्मदा के जल का आचमन किया और फिर उत्तर की ओर मुँह करके शापमुक्त उस गन्धर्व से वह अस्त्र और उसके चलाने-रोकने का मंत्र भी ले लिया॥५९॥ इस प्रकार दैवयोग से अज और प्रियंवद की मार्ग में ही अकारण मित्रता हो गयी। वहाँ से प्रियंवद कुबेर के चित्ररथ नामक उपवन की ओर और अज उस विदर्भ देश की ओर चल पडे, जो सुन्दर शासन के कारण बड़ा रमणीक था॥६०॥ विदर्भनरेश को जब यह समाचार मिला कि अज आ गये हैं, तब वे बहुत प्रसन्न

प्रवेश्य चैनं पुरमग्रयायी नीचैस्तथोपाचरदर्पितश्रीः ।
मेने यथा तत्र जनः समेतो वैदर्भमागन्तुमजं गृहेशम् ॥ ६२ ॥
तस्याधिकारपुरुषैः प्रणतैः प्रदिष्टां प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्णकुम्भाम् ।
रम्यां रघुप्रतिनिधिः स नवोपकार्यां बाल्यात्परामिव दशां मदनोऽध्युवास ॥ ६३ ॥
तत्र स्वयंवरसमाहृतराजलोकं कन्याललाम कमनीयमजस्य लिप्सोः ।
भावावबोधकलुषा दयितेव रात्रौ निद्रा चिरेण नयनाभिमुखी बभूव ॥ ६४ ॥
तं कर्णभूषणनिपीडितपीवरांसं शय्योत्तरच्छदविमर्दकृशाङ्गरागम् ।
सूतात्मजाः सवयसः प्रथितप्रबोधं प्राबोधयन्नुषसि वाग्भिरुदारवाचः ॥ ६५ ॥
रात्रिर्गता मतिमतां वर ! मुञ्च शय्यां धात्रा द्विधैव ननु धूर्जगतो विभक्ता ।
तामेकतस्तव बिभर्ति गुरुर्विनिद्रस्तस्या भवानपरधुर्यपदावलम्बी ॥ ६६ ॥
निद्रावशेन भवताऽप्यनवेक्षमाणा पर्युत्सुकत्वमबला निशि खण्डितेव ।
लक्ष्मीर्विनोदयति येन दिगन्तलम्बी सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चन्द्रः ॥ ६७ ॥
तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत् सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे ।
प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्तश्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमरं च पद्मम् ॥ ६८ ॥
वृन्ताच्छ्लथं हरति पुष्पमनोकहानां संसृज्यते सरसिजैररुणांशुभिन्नैः ।
स्वाभाविकं परगुणेन विभातवायुः सौरभ्यमीप्सुरिव ते मुखमारुतस्य ॥ ६९ ॥

हुए और जैसे समुद्र अपनी लहरों को ऊँचे उठाकर चन्द्रमा का स्वागत करता है, वैसे ही उन्होंने भी नगर के बाहर अज के पडाव पर जाकर उनका स्वागत किया ॥ ६१ ॥ तदनन्तर राजा भोज अज को अपने साथ नगर में ले गये और वहाँ उन्हें अपना सब कुछ भेंट करके ऐसी नम्रता के साथ उनका सत्कार किया कि लोग यह समझने लगे कि अज इस घर के स्वामी हैं और भोज अतिथि हैं ॥ ६२ ॥ वहाँ से राजा भोज के सेवक अज को बडी नम्रता से उस मनोहर राजमहल में ले गये, जिसके द्वार की चौकियों पर जल से भरे मङ्गल-कलश रक्खे हुए थे। उस भवन में रघु के प्रतिनिधि अज ऐसे रहने लगे, मानो कामदेव ने अपना बचपन बिताकर जवानी में प्रवेश किया हो ॥ ६३ ॥ अब अज की यह इच्छा हुई कि किसी प्रकार उस कन्या को प्राप्त करें, जिसे पाने के लिए सैकड़ों राजा स्वयंवर में आये हुए हैं। इसी उलझन में पड़े रहने के कारण अज की आँखों में रात को उसी प्रकार बहुत विलम्ब से नींद आयी, जैसे पति के स्वभाव से अनभिज्ञ नयी बहू उसके पास विलम्ब से जाती है ॥ ६४ ॥ एक करवट सोने के कारण अज के भरे हुए कन्धों पर कुंडल के दबाव से उसका चिह्न पड गया था और बिछौने की रगड़ से उनके शरीर का अंगराग भी पुँछ गया। दिन निकलते ही उनकी समान अवस्था के और मृदुभाषी सूतपुत्र स्तुति करके बुद्धिमान् अज को जगाने लगे ॥ ६५ ॥ हे परम बुद्धिमान्! रात बीत गयी, अब शय्या छोड़िये। ब्रह्मा ने पृथ्वी का भार केवल दो भागों में बाँट रक्खा है, जिसे एक ओर तो तुम्हारे पिता सदा सजग रहकर सँभालते हैं और दूसरी ओर का भार जागकर आपको सँभालना है ॥ ६६ ॥ जब तुम्हारी सौन्दर्यलक्ष्मी ने यह देखा कि तुम निद्रारूपिणी दूसरी स्त्री के वश में हो गये हो, तब वह चाहती हुई भी रुष्ट होकर तुम्हारे ही मुख के समान सुन्दर चन्द्रमा के पास चली गयी, परन्तु इस समय चन्द्रमा भी मलिन हो गया है, इसलिए वह बेचारी निराधार हो गयी है। क्योंकि तुम्हारे मुख की बराबरी करनेवाला और कोई सुन्दर स्वरूप वाला तो है नहीं कि जिसके पास वह जा सके। अतएव जागकर तुम उसे फिर से अपना लो ॥ ६७ ॥ तुम्हारी बन्द आँखों में पुतलियाँ घूम रही हैं और तालाबों में कमलों के भीतर भौंरें गूँज रहे हैं। यदि इस समय उठो तो सूर्य के निकलने पर तुम्हारे नेत्र और कमल एक साथ खिलकर एक जैसे सुन्दर लगने लगेंगे ॥ ६८ ॥ प्रातःकालीन पवन वृक्षों की

ताम्रोदरेषु पतितं तरुपल्लवेषु निर्धौतहारगुलिकाविशदं हिमाम्भः।
आभाति लब्धपरभागतयाऽधरोष्ठे लीलास्मितं सदशनार्चिरिव त्वदीयम्॥ ७०॥
यावत्प्रतापनिधिराक्रमते न भानुरह्नाय तावदरुणेन तमो निरस्तम्।
आयोधनाग्रसरतां त्वयि वीर! याते किं वा रिपूँस्तव गुरुः स्वयमुच्छिनत्ति॥ ७१॥
शय्यां जहत्युभयपक्षविनीतनिद्राः स्तम्बेरमा मुखरशृङ्खलकर्षिणस्ते।
येषां विभान्ति तरुणारुणरागयोगाद्भिन्नाद्रिगैरिकतटा इव दन्तकोशाः॥ ७२॥
दीर्घेष्वमी नियमिताः पटमण्डपेषु निद्रां विहाय वनजाक्ष! वनायुदेश्याः।
वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति पुरोगतानि लेह्यानि सैन्धवशिलाशकलानि वाहाः॥ ७३॥
भवति विरलभक्तिर्म्लानपुष्पोपहारः स्वकिरणपरिवेषोद्भेदशून्याः प्रदीपाः।
अयमपि च गिरं नस्त्वत्प्रबोधप्रयुक्तामनुवदति शुकस्ते मञ्जुवाक्पञ्जरस्थः॥ ७४॥
इति विरचितवाग्भिर्बन्दिपुत्रैः कुमारः सपदि विगतनिद्रस्तल्पमुज्झाञ्चकार।
मदपटुनिनदद्भिर्बोधितो राजहंसैः सुरगज इव गाङ्गं सैकतं सुप्रतीकः॥ ७५॥
अथ विधिमवसाय्य शास्त्रदृष्टं दिवसमुखोचितमञ्चिताक्षिपक्ष्मा।
कुशलविरचितानुकूलवेषः क्षितिपसमाजमगात्स्वयंवरस्थम्॥ ७६॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये अजस्वयंवरा-
भिगमनो नाम पञ्चमः सर्गः॥ ५॥

शाखाओं पर झूलनेवाले तथा ढीली कोर के फूलों को गिराता और सूर्य की किरणों से खिले हुए कमलों को छूता हुआ चल रहा है। जैसे तुम्हें जागा हुआ न देखकर वह तुम्हारे मुख की स्वाभाविक सुगन्ध को औरों से लेने का प्रयास कर रहा हो॥ ६९॥ वृक्षों के लाल-लाल पत्तों पर गिरकर हार के उजले मोतियों के समान निर्मल ओस-कण वैसे ही सुन्दर लग रहे हैं, जैसे हँसते समय तुम्हारे लाल-लाल होंठों पर पडी हुई दाँतों की दीप्ति सुन्दर लगती है॥ ७०॥ सूर्य के उदय होने से पहले ही उनके चतुर सारथी अरुण ने संसार मे अँधेरे को भगा दिया। यह ठीक भी है, क्योंकि जब सेवक चतुर होता है, तब स्वामी को स्वयं कार्य करने का कष्ट नहीं उठाना पडता। इसी प्रकार जब तुम्हारे जैसे योग्य पुत्र युद्ध में जाकर लडते हैं, तब क्या तुम्हारे पिताजी को शत्रुओं को मारने का कष्ट उठाना पड़ता है?॥ ७१॥ तुम्हारी सेना के हाथी दोनों ओर करवटें बदलकर खनखनाती हुई साँकलों को खींचते हुए उठ खड़े हुए हैं। लाल सूर्य की किरणें पड़ने से उनके दाँत ऐसे लगते हैं कि मानो वे अभी गेरू का पहाड़ ढहाकर चले आ रहे हों॥ ७२॥ हे कमल सदृश नेत्रवाले अज! बडे-बड़े पट-मंडपों में बँधे तुम्हारे वनायु (पारस) देश के घोडे नींद छोडकर सेंधानमक के उन टुकडों को अपने मुँह की भाप से मैला कर रहे हैं, जो चाटने के लिए उनके आगे रक्खे हुए हैं॥ ७३॥ इस समय रात की सजावट के फूल मुरझाकर टूक-टूक हो गये हैं। उजाला हो जाने के कारण दीपक का प्रकाश अब अपनी लौ से बाहर नहीं जाता और पिंजरे में बैठा तथा मीठी बोली बोलनेवाला तुम्हारा यह तोता भी हमारी ही बातों को दुहरा रहा है॥ ७४॥ आकाशगंगा की रेती में लेटा हुआ देवताओं का सुप्रतीक नामक हाथी जैसे राजहंसों का शब्द सुनकर जाग जाता है, वैसे ही चारणों की मीठी वाणी सुनकर राजकुमार अज उठ बैठे॥ ७५॥ सुन्दर पलकोंवाले राजकुमार अज ने उठकर प्रातःकाल की सब शास्त्रविहित क्रियाएँ सम्पन्न कीं। बाद में उनके चतुर सेवकों ने उन्हें बहुत सुन्दर वस्त्र पहनाये। इस प्रकार समुचित वेषभूषा से सज-धजकर वे स्वयंवर के लिये आये हुए राजसमाज की ओर चल पडे॥ ७६॥

इस प्रकार रघुवंशमहाकाव्य में अज का स्वयंवर-गमन नामक
पाँचवाँ सर्ग समाप्त॥ ५॥

षष्ठः सर्गः

स तत्र मञ्चेषु मनोज्ञवेषान्सिंहासनस्थानुपचारवत्सु।
वैमानिकानां मरुतामपश्यदाकृष्टलीलान्नरलोकपालान्॥ १॥
रतेर्गृहीतानुनयेन कामं प्रत्यर्पितस्वाङ्गमिवेश्वरेण।
काकुत्स्थमालोकयतां नृपाणां मनो बभूवेन्दुमतीनिराशम्॥ २॥
वैदर्भनिर्दिष्टमसौ कुमारः क्लृप्तेन सोपानपथेन मञ्चम्।
शिलाविभङ्गैर्मृगराजशावस्तुङ्गं नगोत्सङ्गमिवारुरोह॥ ३॥
परार्ध्यवर्णास्तरणोपपन्नमासेदिवान् रत्नवदासनं सः।
भूयिष्ठमासीदुपमेयकान्तिर्मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन॥ ४॥
तासु श्रिया राजपरम्परासु प्रभाविशेषोदयदुर्निरीक्ष्यः।
सहस्रधात्मा व्यरुचद्विभक्तः पयोमुचां पङ्क्तिषु विद्युतेव॥ ५॥
तेषां महार्हासनसंस्थितानामुदारनेपथ्यभृतां स मध्ये।
रराज धाम्ना रघुसूनुरेव कल्पद्रुमाणामिव पारिजातः॥ ६॥
नेत्रव्रजाः पौरजनस्य तस्मिन्विहाय सर्वान्नृपतीन्निपेतुः।
मदोत्कटे रेचितपुष्पवृक्षा गन्धद्विपे वन्य इव द्विरेफाः॥ ७॥
अथ स्तुते बन्दिभिरन्वयज्ञैः सोमार्कवंश्ये नरदेवलोके।
सञ्चारिते चागुरुसारयोनौ धूपे समुत्सर्पति वैजयन्तीः॥ ८॥
पुरोपकण्ठोपवनाश्रयाणां कलापिनामुद्धतनृत्यहेतौ।
प्रध्मातशङ्खे परितो दिगन्तांस्तूर्यस्वने मूर्च्छति मङ्गलार्थे॥ ९॥

स्वयंवर की सभा में जाकर अज ने देखा कि सुसज्जित मंचों पर बैठे हुए राजालोग ऐसे सुन्दर लग रहे हैं, जैसे विमानों पर देवता बैठे हुए हों॥ १॥ वहाँ जब दूसरे राजाओं ने अज को देखा, तब उन्होंने इन्दुमती को पाने की सब आशाएँ छोड़ दीं। क्योंकि अज ऐसे लग रहे थे कि जैसे कामदेव हों और रति की प्रार्थना पर शिवजी ने उसे पुनः जीवित कर दिया हो॥२॥ जैसे सिंहशावक एक-एक शिला पर पैर रखता हुआ पहाड़ पर चढ जाता है, वैसे ही राजकुमार अज भी सुन्दर सीढ़ियों पर चढ़कर भोज के बतलाये हुए मंच पर जाकर बैठ गये॥ ३॥ जिस सिंहासन पर वे बैठे, वह सोने का बना हुआ था। उसमें रत्न जड़े थे और रंग-बिरंगे वस्त्र बिछे थे। उस पर बैठकर वे ऐसे सुन्दर लग रहे थे, जैसे कार्त्तिकेय अपने मोर की पीठ पर बैठे हुए हों॥ ४॥ उस सभा में बैठे राजाओं का ठाट-बाट और तड़क-भड़क देखकर आँखे चौंधियाँ जाती थीं और ऐसा लगता था कि मानों लक्ष्मी ने अपनी शोभा वैसे ही उन लोगों में बाँट दी हो, जैसे बिजली अपनी दीप्ति बादलों में बाँट देती है॥ ५॥ नन्दनवन के वृक्षों में जैसे पारिजात का वृक्ष सबसे सुन्दर होता है, वैसे ही बहुमूल्य सिंहासनों पर बैठे और ठाट-बाट से सजे हुए राजाओं के बीच में अकेले अज ही जँचते थे॥ ६॥ जैसे भौंरें फूलवाले वृक्षों को छोड़कर मदवाही जंगली हाथियों की ओर झुक पड़ते हैं, वैसे ही नगरवासियों की आँखें सब राजाओं से हटकर अज पर जा टिकीं॥ ७॥ उसी समय सब राजाओं के वंशों को जाननेवाले भाटों ने सूर्य और चन्द्रवंशी राजाओं की बिरुदावली बखानी और अगर के सार से बनायी हुई धूप-बत्तियों का धुआँ चारों ओर से उड़ता हुआ फहराती हुई पताकाओं तक जा पहुँचा॥ ८॥ जिन शंखों और मंगलवाद्यों के बजने पर

मनुष्यवाह्यं चतुरस्रयानमध्यास्य कन्या परिवारशोभि।
विवेश मञ्चान्तरराजमार्गं पतिंवरा क्लृप्तविवाहवेषा॥ १०॥
तस्मिन्विधानातिशये विधातुः कन्यामये नेत्रशतैकलक्ष्ये।
निपेतुरन्तःकरणैर्नरेन्द्रा देहैः स्थिताः केवलमासनेषु॥ ११॥
तां प्रत्यभिव्यक्तमनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः।
प्रवालशोभा इव पादपानां शृङ्गारचेष्टा विविधा बभूवुः॥ १२॥
कश्चित्कराभ्यामुपगूढनालमालोलपत्राभिहतद्विरेफम्।
रजोभिरन्तःपरिवेषबन्धि लीलारविन्दं भ्रमयाञ्चकार॥ १३॥
विस्रस्तमंसादपरो विलासी रत्नानुविद्धाङ्गदकोटिलग्नम्।
प्रालम्बमुत्कृष्य यथावकाशं निनाय साचीकृतचारुवक्त्रः॥ १४॥
आकुञ्चिताग्राङ्गुलिना ततोऽन्यः किञ्चित्समावर्जितनेत्रशोभः।
तिर्यग्विसंसर्पिनखप्रभेण पादेन हैमं विलिलेख पीठम्॥ १५॥
निवेश्य वामं भुजमासनार्धे तत्सन्निवेशादधिकोन्नतांसः।
कश्चिद्विवृत्तत्रिकभिन्नहारः सुहृत्समाभाषणतत्परोऽभूत्॥ १६॥
विलासिनीविभ्रमदन्तपत्रमापाण्डुरं केतकबर्हमन्यः।
प्रियानितम्बोचितसन्निवेशैर्विपाटयामास युवा नखाग्रैः॥ १७॥
कुशेशयाताम्रतलेन कश्चित्करेण रेखाध्वजलाञ्छनेन।
रत्नाङ्गुलीयप्रभयाऽनुविद्धानुदीरयामास सलीलमक्षान्॥ १८॥

नगर के आस-पास की अमराइयों के निवासी मोर उसे बादल की गर्जना समझकर नाचने लगते हैं, उन वाद्यों की ध्वनि से दसों दिशाएँ गूँज उठीं॥ ९॥ इसी बीच विवाह के समय का वेष धारण किये इन्दुमती वर चुनने के लिए पालकी पर चढ़कर मंचों के बीचवाले राजमार्ग से आयी। उस पालकी को मनुष्य ले चल रहे थे और उसके चारों ओर दासियाँ पैदल चल रही थीं॥ १०॥ वह कन्या ब्रह्मा की रचना का एक बहुत ही सुन्दर नमूना थी। उसे सैकड़ों आँखें एकटक देख रही थीं। उसकी सुन्दरता देखते ही सब राजाओं का मन तो उस पर चला गया, केवल उनके शरीरभर मंचों पर रह गये॥ ११॥ राजाओं ने अपना प्रेम प्रदर्शित करने के लिए वृक्षों के पत्तों की भाँति अनेक प्रकार से भौंह आदि चलाकर जो शृङ्गारमयी चेष्टाएँ कीं, वे ही मानो उनके प्रेम को इन्दुमती तक पहुँचाने वाली अग्रदूतियाँ थीं॥ १२॥ जैसे—कोई राजा कमल की डंठल पकड़कर घुमाने लगा। उसके घूमने से भौंरें तो भाग गये, परन्तु उसमें जो पराग भरा हुआ था, उसके फैलने से कमल के भीतर चारों ओर एक मण्डल-सा बन गया॥ १३॥ दूसरा विलासी राजा थोड़ा-सा मुँह घुमाकर कन्धे से सरकी और बाजूबन्ध में उलझी हुई रत्नों की माला को उठाकर ठीक से गले में पहनने लगा॥ १४॥ तीसरा राजा भौंहें चलाकर तथा पैर की उँगली सिकोड़कर पैर के नखों की कान्ति तिरछी डालते हुए सोने के पाँव-पीढ़े पर पैर से कुछ लिखने लगा॥ १५॥ एक राजा सिंहासन पर बाँयीं भुजा टेककर बैठ गया और अपने पास बैठे हुए मित्र से बातें करने लगा, जिससे उसका बायाँ कन्धा उठ गया और गले की माला पीठ पर लटक गयी॥ १६॥ एक दूसरा युवा राजा था, जिसके नख मानो प्रियतमा के नितम्बों पर चिह्न बनाने के लिए ही बने हुए थे। वह उन नखों से केतकी के उन पीले पत्तों को नोचने लगा, जो किसी विलासिनी स्त्री के शृङ्गार के लिए कान के आभूषण के रूप में कटे हुए थे॥ १७॥ एक दूसरे राजा ने, जिसकी हथेलियाँ कमल के समान लाल थीं और जिन पर ध्वजा की रेखाएँ बनी हुई थीं, वह अपने हाथों में पासे उछाल रहा था और उसकी

कश्चिद्यथाभागमवस्थितेऽपि स्वसन्निवेशाद्व्यतिलङ्घिनीव।
वज्रांशुगर्भाङ्गुलिरन्ध्रमेकं व्यापारयामास करं किरीटे॥ १९॥
ततो नृपाणां श्रुतवृत्तवंशा पुंवत्प्रगल्भा प्रतिहाररक्षी।
प्राक्सन्निकर्षं मगधेश्वरस्य नीत्वा कुमारीमवदत् सुनन्दा॥ २०॥
असौ शरण्यः शरणोन्मुखानामगाधसत्त्वो मगधप्रतिष्ठः।
राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्णः परन्तपो नाम यथार्थनामा॥ २१॥
कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्।
नक्षत्रताराग्रहसङ्कुलाऽपि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः॥ २२॥
क्रियाप्रबन्धादयमध्वराणामजस्रमाहूतसहस्रनेत्रः ।
शच्याश्चिरं पाण्डुकपोललम्बान्मन्दारशून्यानलकांश्चकार॥ २३॥
अनेन चेदिच्छसि गृह्यमाणं पाणिं वरेण्येन कुरु प्रवेशे।
प्रासादवातायनसंश्रितानां नेत्रोत्सवं पुष्पपुराङ्गनानाम्॥ २४॥
एवं तयोक्ते तमवेक्ष्य किञ्चिद्विस्रंसिदूर्वाङ्कमधूकमाला।
ऋजुप्रणामक्रिययैव तन्वी प्रत्यादिदेशैनमभाषमाणा॥ २५॥
तां सैव वेत्रग्रहणे नियुक्ता राजान्तरं राजसुतां निनाय।
समीरणोत्थेव तरङ्गलेखा पद्मान्तरं मानसराजहंसीम्॥ २६॥
जगाद चैनामयमङ्गनाथः सुराङ्गनाप्रार्थितयौवनश्रीः।
विनीतनागः किल सूत्रकारैरैन्द्रं पदं भूमिगतोऽपि भुङ्क्ते॥ २७॥

अंगूठी की झलक उन पासों पर पड़ रही थी॥ १८॥ एक राजा वार-वार अपने हाथ से उस मुकुट को सीधा कर रहा था, जो पहले से ही सीधा था। ऐसा करने से उसके हाथों की उँगलियों का मध्य भाग रत्नों की किरण से चमक उठता था॥ १९॥ उसी समय पुरुषों जैसी ढीठ और राजाओं के वंशों का वृत्तान्त जानने वाली रनिवास की प्रतिहारी सुनन्दा इन्दुमती को सबसे पहले मगधनरेश के सामने ले गयी और उससे कहने लगी—॥ २०॥ ये महाराज वडे पराक्रमी हैं और शरण में आनेवालों की रक्षा करते हैं। अपनी प्रजा को सुख देकर इन्होंने वड़ा यश कमाया है। इनका नाम परंतप है और ये वास्तव में परंतप (शत्रुओं) को ताप देने वाले हैं॥ २१॥ जैसे अगणित तारों, ग्रहों और नक्षत्रों से भरी रहने पर भी रात तभी चाँदनी रात कहलाती है जव कि चन्द्रमा खिला हुआ हो। वैसे ही यद्यपि संसार में सहस्रों राजा हैं, किन्तु इन्हीं के रहने से पृथ्वी राजायुक्त कहलाती है॥ २२॥ इन्होंने क्रमशः अनेक यज्ञ करके वार-वार इन्द्र को अपने यहाँ वुलाया है। जिसमे इन्द्राणी के सिर की चोटी कल्पवृक्ष के फूलों का शृङ्गार न होने से उनके पीले-पीले गालों पर झूलने लगी। क्योंकि पति के अपने पास न रहने से उन्होंने शृङ्गार करना ही छोड़ दिया था॥ २३॥ यदि इसके साथ तुम विवाह करना चाहो तो अवश्य करो। क्योंकि इनके साथ विवाह करके जव तुम इनकी राजधानी पाटलिपुत्र में पहुँचोगी, तव वहाँ की स्त्रियाँ झरोखों में वैठकर तुम्हें निहारेंगी। जिससे उनकी आँखों को सुख मिलेगा॥ २४॥ सुनन्दा की वातें सुनीं तो इन्दुमती ने तनिक आँख उठाकर उस राजा को देखा तो दूव में गुँथी हुई उसके हाथ की महुए की माला कुछ सरक गयी और विना कुछ कहे-सुने सीधा-सा प्रणाम करके उसे अस्वीकार करती हुई वह चुपचाप आगे वढ़ गयी॥ २५॥ जैसे मानसरोवर की राजहंसिनी वायु से उठी हुई लहर के सहारे एक कमल से दूसरे कमल पर पहुँच जाती है, उसी तरह सुनन्दा ने राजकुमारी इन्दुमती को दूसरे राजा के आगे पहुँचा दिया॥ २६॥ वह वोली— ये अंग देश के राजा हैं। इनके

अनेन पर्यासयताऽश्रुबिन्दून्मुक्ताफलस्थूलतमान् स्तनेषु।
प्रत्यर्पिताः शत्रुविलासिनीनामुन्मुच्य सूत्रेण विनैव हाराः॥ २८॥
निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन्द्वयं श्रीश्च सरस्वती च।
कान्त्या गिरा सूनृतया च योग्या त्वमेव कल्याणि! तयोस्तृतीया॥ २९॥
अथाङ्गराजादवतार्य चक्षुर्याहीति जन्यामवदत्कुमारी।
नासौ न काम्यो न च वेद सम्यग्द्रष्टुं न सा भिन्नरुचिर्हि लोकः॥ ३०॥
ततः परं दुष्प्रसहं द्विषद्भिर्नृपं नियुक्ता प्रतिहारभूमौ।
निदर्शयामास विशेषदृश्यमिन्दुं नवोत्थानमिवेन्दुमत्यै॥ ३१॥
अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः।
आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति॥ ३२॥
अस्य प्रयाणेषु समग्रशक्तेरग्रेसरैर्वाजिभिरुत्थितानि।
कुर्वन्ति सामन्तशिखामणीनां प्रभाप्ररोहास्तमयं रजांसि॥ ३३॥
असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः।
तमिस्रपक्षेऽपि सह प्रियाभिर्ज्योत्स्नावतो निर्विशति प्रदोषान्॥ ३४॥
अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु! कच्चिन्मनसो रुचिस्ते।
शिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु॥ ३५॥

यौवन को देवताओं की स्त्रियाँ भी चाहती हैं। हाथियों को सधाने की विद्या जानने वाले बड़े-बड़े लोग इनके हाथियों को सिखाते हैं। पृथ्वी पर रहते हुए भी ये इन्द्र के समान सुख भोगते हैं॥ २७॥ जिन राजाओं को इन्होंने युद्ध में मार डाला था, उनकी स्त्रियों ने अपने दिवंगत पति के शोक में मोतियों का हार उतार फेंका। परन्तु रोने के कारण उनके स्तनों पर गिरती हुई अश्रुबिन्दुओं की धाराएँ ही मोतियों के हार जैसी लगने लगीं। उन्हें देखकर ऐसा लगता था कि मानो इन्होंने शत्रुओं की स्त्रियों के गले से मोतियों के हार उतारकर उन्हें आँसुओं के हार पहना दिये हैं॥ २८॥ यों तो लक्ष्मी और सरस्वती दोनों में कभी नहीं पटती, परन्तु इनके पास वे दोनों ही मिल-जुलकर रहती हैं। हे कल्याणी! तुम सुन्दर हो और तुम्हारी वाणी भी मधुर है। अतः केवल तुम उन दोनों के साथ तीसरी सहचरी बनकर रह सकती हो॥ २९॥ इन्दुमती ने उस अंगदेश के राज़ा से आँखें हटा लीं और सुनन्दा से कहा—आगे चलो। यह बात नहीं थी कि वह राजा सुन्दर नहीं था और न यही बात थी कि इन्दुमती ने उसे ठीक से देखा नहीं था। लेकिन अपनी-अपनी रुचि ही तो है, किसी को कोई अच्छा लगता है और किसी को कोई भाता है॥ ३०॥ वहाँ से आगे बढकर प्रतिहारी सुनन्दा ने एक दूसरे राजा को दिखलाया, जो शत्रुओं को कँपानेवाला वीर था—जिसका रूप और जिसका यौवन पूर्णिमा के नवोदित चन्द्रमा जैसा सुन्दर था॥ ३१॥ उसे दिखाकर सुनन्दा बोली— देखो, ये जो लम्बी भुजा, चौडी छाती और पतली एवं गोल कमरवाले राजा सूर्य के समान चमक रहे हैं, ये अवन्ति देश के राजा हैं। ऐसा लगता है कि विश्वकर्मा ने अपने शान धरने के चक्र पर इन्हें बड़े यत्न से खरादा है॥ ३२॥ जब ये सारी शक्ति के साथ शत्रुओं पर चढ़ाई करते हैं, तब सेना के आगेवाले घोडों की टापों से उड़ी हुई धूल से शत्रुओं के मुकुटस्थ मणियों की चमक धुँधली पड़ जाती है॥ ३३॥ महाकाल-मन्दिर में बैठे हुए और सिर पर चन्द्रमा धारण करने वाले शिवजी के पास ही इनका राज-भवन है। अतएव अँधेरे पाख में भी शिवजी के सिर पर विद्यमान चन्द्रमा की चाँदनी से ये अपनी स्त्रियों के साथ सदा उजेले पाख का आनन्द लिया करते हैं। केले के खम्भे के समान जाँघवाली हे इन्दुमती! क्या तुम उज्जयिनी के उन उद्यानों

तस्मिन्नभिद्योतितबन्धुपद्मे प्रतापसंशोषितशत्रुपङ्के।
बबन्ध सा नोत्तमसौकुमार्या कुमुद्वती भानुमतीव भावम्॥ ३६॥
तामग्रतस्तामरसान्तराभामनूपराजस्य गुणैरनूनाम्।
विधाय सृष्टिं ललितां विधातुर्जगाद भूयः सुदतीं सुनन्दा॥ ३७॥
सङ्ग्रामनिर्विष्टसहस्रबाहुरष्टादशद्वीपनिखातयूपः।
अनन्यसाधारणराजशब्दो बभूव योगी किल कार्तवीर्यः॥ ३८॥
अकार्यचिन्तासमकालमेव प्रादुर्भवंश्चापधरः पुरस्तात्।
अन्तःशरीरेष्वपि यः प्रजानां प्रत्यादिदेशाविनयं विनेता॥ ३९॥
ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन यस्य विनिःश्वसद्वक्त्रपरम्परेण।
कारागृहे निर्जितवासवेन लङ्केश्वरेणोषितमाप्रसादात्॥ ४०॥
तस्यान्वये भूपतिरेष जातः प्रतीप इत्यागमवृद्धसेवी।
येन श्रियः संश्रयदोषरूढं स्वभावलोलेत्ययशः प्रमृष्टम्॥ ४१॥
आयोधने कृष्णगतिं सहायमवाप्य यः क्षत्रियकालरात्रिम्।
धारां शितां रामपरश्वधस्य सम्भावयत्युत्पलपत्रसाराम्॥ ४२॥
अस्याङ्कलक्ष्मीर्भव दीर्घबाहोर्माहिष्मतीवप्रनितम्बकाञ्चीम्।
प्रासादजालैर्जलवेणिरम्यां रेवां यदि प्रेक्षितुमस्ति कामः॥ ४३॥

में विहार करना चाहती हो, जिनमें दिन-रात शिप्रा नदी की ठंढी वायु बहती रहती है॥ ३४-३५॥ सुनन्दा की ये बातें सुन करके भी सुकुमारी इन्दुमती को मित्रों को प्रसन्न करने और शत्रुओं को मारनेवाला वह प्रतापी राजा अच्छा नहीं लगा, जैसे कुमुदिनी को सूर्य नहीं भाता। जो कमल को तो खिलाता है, किन्तु शत्रु रूप कीचड़ को सुखा दिया करता है॥ ३६॥ कमल जैसी सुन्दरी, असाधारण गुणवती, विधाता की सुन्दर रचना और सुन्दर दाँतोवाली इन्दुमती को सुनन्दा वहाँ से हटाकर अनूप देश के राजा के आगे ले जाकर बोली—॥ ३७॥ बहुत दिनों पहले कार्त्तवीर्य नाम के एक बहुत बड़े योगी हो गये हैं। उनमें विशेषता यह थी कि जब वे लडने जाते थे, तब उनके सहस्रों हाथ निकल आते थे। उन्होंने अठारह द्वीपों में जाकर यज्ञ के खम्भे गाडे थे। वे ऐसे प्रतापी थे कि उनके सामने कोई अपने को राजा नहीं कह पाता था॥ ३८॥ उस समय यदि कोई पाप करने का विचार करता था तो वे धनुष-बाण लेकर उसके समक्ष जा पहुँचते थे। ऐसा करके उस दण्डधारी राजा ने सब लोगों के मन से पापभावना निकाल डाली थी॥ ३९॥ जिस रावण ने इन्द्र को जीत लिया था, उसको भी उन्होंने अपने कारागार में बन्द कर दिया और उसकी भुजाएँ इस प्रकार धनुष की डोरी से कसकर बाँध दीं कि वह बेचारा दिन-रात गरम साँसें लेता रहा और जब तक कार्त्तवीर्य उस पर प्रसन्न नहीं हुए तब तक उसे नहीं छोडा॥ ४०॥ उन्हीं कार्त्तवीर्य नाम से प्रसिद्ध राजा के वंश में ये उत्पन्न हुए हैं। ये वेदों और वृद्धों की बड़ी सेवा करते हैं। लक्ष्मी पर लोग चंचलता का दोष लगाते थे, परन्तु उनका वह दोष भी तब से धुल गया, जब से वे इनके साथ रहने लगीं। क्योंकि लक्ष्मी तो उसी पुरुष को छोडकर जाती हैं, जो व्यसनी होते हैं। इनमें कोई व्यसन नहीं है, तब वे इन्हें छोड़कर क्यों जायँ॥ ४१॥ ये इतने बलवान् हैं कि अग्नि की सहायता पा लेने से परशुरामजी के उस फरसे की तेज धार को भी पंखुडीदार कमल के समान कोमल समझते हैं, जिसने युद्ध में क्षत्रियजाति का संहार कर दिया था॥ ४२॥ यदि तुम राजमहल के झरोखों से उस सुन्दर लहरोंवाली नर्मदा का सुन्दर दृश्य देखना चाहती हो, जो माहिष्मती नगरी के चारों ओर करधनी जैसी घूमी हुई है तो इस महाबाहु राजा के साथ विवाह कर लो॥ ४३॥

तस्याः प्रकामं प्रियदर्शनोऽपि न स क्षितीशो रुचये बभूव।
शरत्प्रमृष्टाम्बुधरोपरोधः शशीव पर्याप्तकलो नलिन्याः॥४४॥
सा शूरसेनाधिपतिं सुषेणमुद्दिश्य लोकान्तरगीतकीर्तिम्।
आचारशुद्धोभयवंशदीपं शुद्धान्तरक्ष्या जगदे कुमारी॥४५॥
नीपान्वयः पार्थिव एष यज्वा गुणैर्यमाश्रित्य परस्परेण।
सिद्धाश्रमं शान्तमिवैत्य सत्त्वैर्नैसर्गिकोऽप्युत्ससृजे विरोधः॥४६॥
यस्यात्मगेहे नयनाभिरामा कान्तिर्हिमांशोरिव सन्निविष्टा।
हर्म्याग्रसंरूढतृणाङ्कुरेषु तेजोऽविषह्यं रिपुमन्दिरेषु॥४७॥
यस्यावरोधस्तनचन्दनानां प्रक्षालनाद्वारिविहारकाले।
कलिन्दकन्या मथुरां गताऽपि गङ्गोर्मिसंसक्तजलेव भाति॥४८॥
त्रस्तेन तार्क्ष्यात्किल कालियेन मणिं विसृष्टं यमुनौकसा यः।
वक्षःस्थलव्यापिरुचं दधानः सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम्॥४९॥
सम्भाव्य भर्तारममुं युवानं मृदुप्रवालोत्तरपुष्पशय्ये।
वृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यतां सुन्दरि! यौवनश्रीः॥५०॥
अध्यास्य चाम्भःपृषतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि।
कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु॥५१॥
नृपं तमावर्तमनोज्ञनाभिः सा व्यत्यगादन्यवधूर्भवित्री।
महीधरं मार्गवशादुपेतं स्रोतोवहा सागरगामिनीव॥५२॥

जैसे बादलविहीन आकाशवाली शरद्‌ऋतु का पूर्ण चन्द्रमा भी कमलिनी को नहीं भाता, वैसे ही वह सुन्दर राजा भी इन्दुमती को नहीं जँचा॥४४॥ तब रनिवास की प्रतिहारी सुनन्दा राजकुमारी को मथुरा के राजा सुषेण के आगे ले गयी, जिसकी कीर्ति स्वर्ग के देवता भी गाते थे और जिसने अपने शुद्ध चरित्र से माता और पिता दोनों के कुलों को उज्ज्वल कर दिया था। उसे दिखलाती हुई सुनन्दा बोली—॥४५॥ ये मथुरा के महाराज बड़ी विधि से यज्ञ करते हैं और प्रशंसनीय वंश में उत्पन्न हुए हैं। जैसे ऋषियों के शान्त आश्रमों में सब जीव वैर छोड़कर एक साथ रहते हैं, वैसे ही विद्वत्ता और मौनता—ये परस्पर विरोधी गुण भी इनमें साथ-साथ रहते हैं॥४६॥ चन्द्रमा की चाँदनी की तरह आँखों को सुखदायी इनका प्रकाश तो घर में रहता है, किन्तु सूर्य के समान प्रचण्ड तेज शत्रुओं के उन राजभवनों पर छाया रहता है, जिनके उजड जाने पर उनमें घास जम गयी रहती है॥४७॥ जल-विहार के समय इनकी रानियों के स्तनों पर लगा हुआ चन्दन जल में मिलकर जब यमुना में बहता है, उस समय यमुनाजी का रंग ऐसा हो जाता है कि मानो मथुरा में ही उनका गंगाजी की लहरों से संगम हो गया हो॥४८॥ अपने गले में जब ये उस मणि को पहन लेते हैं, जो इन्हें उस कालिय नाग से मिली थी, जो गरुड़ के डर से यमुना के जल में रहने लगा था। उस समय इनकी शोभा कौस्तुभ मणि पहनकर सुशोभित श्रीकृष्णजी की शोभा को भी लजा देती है॥४९॥ हे सुन्दरी! इनके साथ विवाह करके आप कुबेर के चैत्ररथ उद्यान से भी सुन्दर वृन्दावन में कोमल पत्तों और फूलों की शय्याओं पर इच्छानुसार विहार करें॥५०॥ वर्षा के दिनों में गोवर्धन पर्वत की गुफाओं में पानी के फुहारों से भीगी शिलाजीत की गन्धवाली पत्थर की चट्टानों पर बैठकर मोरों का नाच देखें॥५१॥ पानी की भँवर जैसी गहरी नाभिवाली और अन्य किसी से विवाह न करने वाली इन्दुमती राजा सुषेण को छोडकर वैसे ही आगे बढ़ गयी, जैसे समुद्र की ओर जानेवाली नदी बीच में पड़नेवाले पहाडों को छोड़ देती है॥५२॥

अथाङ्गदाश्लिष्टभुजं भुजिष्या हेमाङ्गदं नाम कलिङ्गनाथम्।
आसेदुषीं सादितशत्रुपक्षं बालामबालेन्दुमुखीं बभाषे॥५३॥
असौ महेन्द्राद्रिसमानसारः पतिर्महेन्द्रस्य महोदधेश्च।
यस्य क्षरत्सैन्यगजच्छलेन यात्रासु यातीव पुरो महेन्द्रः॥५४॥
ज्याघातरेखे सुभुजो भुजाभ्यां बिभर्ति यश्चापभृतां पुरोगः।
रिपुश्रियां साञ्जनबाष्पसेके बन्दीकृतानामिव पद्धती द्वे॥५५॥
यमात्मनः सद्मनि सन्निकृष्टो मन्द्रध्वनित्याजितयामतूर्यः।
प्रासादवातायनदृश्यवीचिः प्रबोधयत्यर्णव एव सुप्तम्॥५६॥
अनेन सार्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु।
द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः॥५७॥
प्रलोभिताप्याकृतिलोभनीया विदर्भराजावरजा तयैवम्।
तस्मादपावर्तत दूरकृष्टा नीत्येव लक्ष्मीः प्रतिकूलदैवात्॥५८॥
अथोरगाख्यस्य पुरस्य नाथं दौवारिकी देवसरूपमेत्य।
इतश्चकोराक्षि! विलोकयेति पूर्वानुशिष्टां निजगाद भोज्याम्॥५९॥
पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन।
आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः॥६०॥
विन्ध्यस्य संस्तम्भयिता महाद्रेर्निःशेषपीतोज्झितसिन्धुराजः।
प्रीत्याश्वमेधावभृथार्द्रमूर्तेः सौस्नातिको यस्य भवत्यगस्त्यः॥६१॥

वहाँ से आगे बढकर दासी सुनन्दा पूर्ण चन्द्रमा जैसी मुखवाली इन्दुमती को उस कलिङ्गनरेश हेमाङ्गद के समक्ष ले गयी, जो अपनी बाँह में भुजबन्ध पहने हुए थे और जिन्होंने अपने शत्रुओं को नष्ट कर दिया था। उन्हें दिखलाती हुई सुनन्दा ने कहा—॥५३॥ ये महेन्द्र पर्वत के समान शक्तिशाली हैं और महेन्द्र पर्वत तथा समुद्र दोनों पर इनका अधिकार है। जब ये युद्ध करने चलते हैं, उस समय इनके आगे-आगे चलने वाले मतवाले हाथी ऐसे लगते हैं, मानो हाथियों का वेष बनाकर स्वयं महेन्द्र पर्वत चल रहा हो॥५४॥ इनको देखो, कैसी सुन्दर इनकी भुजाएँ हैं। धनुषधारियों में इनसे बढकर कोई नहीं है। इनकी भुजाओं पर जो दो काली-काली रेखाएँ धनुष की डोरी खींचने से बन गयी हैं, वे ऐसी लगती हैं कि मानो ये शत्रुओं की उस राज्यलक्ष्मी के आने की दो पगडंडियाँ हैं, जो इन्होंने शत्रुओं से छीन ली हैं और जिनके कजरारे नेत्रों से बहे हुए आँसुओं के कारण ये काले पड़ गये हैं। इनके राजभवन के नीचे ही समुद्र हिलोरें लेता है। उसकी लहरें राजभवन के झरोखों से साफ दिखलाई देती हैं। जब ये अपने राजमहल में सोते हैं, तब वह समुद्र ही नगाड़े की ध्वनि से भी गंभीर अपने गर्जन द्वारा सबेरे इन्हें जगाता है॥५५-५६॥ तुम्हारी इच्छा हो तो इनके साथ विवाह करके समुद्र के उन तटों पर विहार करो, जहाँ दिन-रात ताड़ के जंगलों की तड़तडाहट सुनाई देती रहती है। वहाँ जब तुम्हें पसीना होगा, तब लौंग के फूलों की सुगन्ध से सुवासित एवं दूसरे द्वीपों से आया हुआ शीतल पवन तुम्हारा पसीना पोंछ दिया करेगा॥५७॥ अपनी दासी की लुभावनी बातों को सुनकर भी विदर्भराज की छोटी बहन सुन्दरी इन्दुमती उस राजा को छोड़कर उसी प्रकार आगे बढ गयी, जैसे पुरुषार्थ से प्राप्त सम्पदा भाग्य के फेर से छोड़कर चली जाती है॥५८॥ उसके बाद सुनन्दा उसे देवता सदृश मनोहर नागपुर के राजा के पास ले जाकर बोली—हे चकोरनयनी! इधर देखो—॥५९॥ ये पांड्य देश के राजा हैं। इनके कंधे पर हार लटकता है और शरीर पर हरिचन्दन का लेप किया हुआ है। इस वेश में ये उस हिमालय के शिखर जैसे सुन्दर दीख रहे हैं, जो प्रातःकाल की धूप से लाल हो गया हो और जिस पर से पानी के अनेक झरने गिर रहे हों॥६०॥ अश्वमेध यज्ञ करके जब ये स्नान करते

अस्त्रं हरादाप्तवता दुरापं येनेन्द्रलोकावजयाय दृप्तः।
पुरा जनस्थानविमर्दशङ्की सन्धाय लङ्काधिपतिः प्रतस्थे॥ ६२॥
अनेन पाणौ विधिवद्गृहीते महाकुलीनेन महीव गुर्वी।
रत्नानुविद्धार्णवमेखलाया दिशः सपत्नी भव दक्षिणस्याः॥ ६३॥
ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगास्वेलालतालिङ्गितचन्दनासु।
तमालपत्रास्तरणासु रन्तुं प्रसीद शश्वन्मलयस्थलीषु॥ ६४॥
इन्दीवरश्यामतनुर्नृपोऽसौ त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः।
अन्योन्यशोभापरिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु॥ ६५॥
स्वसुर्विदर्भाधिपतेस्तदीयो लेभेऽन्तरं चेतसि नोपदेशः।
दिवाकरादर्शनबद्धकोशे नक्षत्रनाथांशुरिवारविन्दे॥ ६६॥
सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥ ६७॥
तस्यां रघोः सूनुरुपस्थितायां वृणीत मां नेति समाकुलोऽभूत्।
वामेतरः संशयमस्य बाहुः केयूरबन्धोच्छ्वसितैर्नुनोद॥ ६८॥
तं प्राप्य सर्वावयवानवद्यं व्यावर्ततान्योपगमात्कुमारी।
न हि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदाली॥ ६९॥
तस्मिन्समावेशितचित्तवृत्तिमिन्दुप्रभामिन्दुमतीमवेक्ष्य।
प्रचक्रमे वक्तुमनुक्रमज्ञा सविस्तरं वाक्यमिदं सुनन्दा॥ ७०॥

हैं, तब महाप्रतापी वे महर्षि अगस्त्य इनसे कुशल-क्षेम पूछने आते हैं, जिन्होंने विन्ध्याचल को आगे बढने से रोका था और पूरे समुद्र को पीकर फिर निकाल दिया था॥ ६१॥ महाप्रतापी रावण जब इन्द्र को जीतने चला, तब उसने इस डर से इनके साथ सन्धि कर ली थी कि कहीं ऐसा न हो कि ये मेरे देश को नष्ट-भ्रष्ट कर दें। क्योंकि इन्होंने शिवजी से बडा प्रतापशाली अस्त्र प्राप्त किया है॥ ६२॥ ये बड़े अच्छे कुल में उत्पन्न हुए हैं और तुम भी पृथ्वी के समान महिमामयी हो। इनके साथ विधिवत् विवाह करके तुम रत्नों से भरी उस दक्षिण देश की पृथ्वी की सौत बन जाओ, जिसकी मेखला रत्नों से भरा हुआ समुद्र है॥ ६३॥ यदि तुम मलय पर्वत की उन घाटियों में सदा विहार करना चाहो, जिनमें पान की बेलों से ढँके हुए सुपारी के पेड़ खडे हैं, इलायची की बेलों से लिपटे हुए चन्दन के पेड़ लगे हुए हैं और स्थान-स्थान पर ताड़ के पत्ते फैले हुए हैं तो तुम इनके साथ विवाह कर लो॥ ६४॥ और फिर ये नीलकमल के समान साँवले हैं और तुम गोरोचन सदृश गोरी हो। अतएव यदि तुम दोनों का विवाह हो जायगा तो तुम ऐसी सुन्दर लगोगी, जैसे बादल के साथ बिजली चमकती है॥ ६५॥ किन्तु सुनन्दा की ये बातें इन्दुमती के मन में वैसे ही घर नहीं कर सकीं, जैसे सूर्य के अस्त हो जाने पर बन्द कमल के भीतर चन्द्रमा की किरणें नहीं पहुँच पातीं॥ ६६॥ रात को लोग जब दीपक लेकर चलते हैं, तब राजमार्ग के जो-जो भवन पीछे छूटते हैं, वे अँधेरे में पडते जाते हैं। उसी प्रकार जिन-जिन राजाओं को छोड़कर इन्दुमती आगे बढ गयी, उनका मुँह उदास हो गया॥ ६७॥ क्रमशः जब वह रघु के पुत्र अज के आगे आयी, तब अज के मन में भी संशय होने लगा कि यह मुझे वरेगी या नहीं। किन्तु उसी समय भुजबन्ध के पास उनकी दाईं भुजा फड़कने लगी, जिससे उनकी शंका निवृत्त हो गयी॥ ६८॥ इन्दुमती ने सर्वाङ्गसुन्दर राजा अज को जब देखा, तब वह वहीं रुक गयी और फिर किसी राजा के आगे नहीं जा पायी। क्योंकि जब भौंरों का झुण्ड आम के वृक्ष पर पहुँचता है, तब उसे दूसरे वृक्षों के पास जाने की इच्छा नहीं रहती॥ ६९॥ बात करने में बड़ी चतुर सुनन्दा ने जब देखा कि चन्द्रमा

इक्ष्वाकुवंश्यः ककुदं नृपाणां ककुत्स्थ इत्याहितलक्षणोऽभूत्।
काकुत्स्थशब्दं यत उन्नतेच्छाः श्लाघ्यं दधत्युत्तरकोसलेन्द्राः॥ ७१॥
महेन्द्रमास्थाय महोक्षरूपं यः संयति प्राप्तपिनाकिलीलः।
चकार बाणैरसुराङ्गनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः॥ ७२॥
ऐरावतास्फालनविश्लथं यः सङ्घट्टयन्नङ्गदमङ्गदेन।
उपेयुषः स्वामपि मूर्तिमग्र्यामर्धासनं गोत्रभिदोऽधितस्थौ॥ ७३॥
जातः कुले तस्य कुलोरुकीर्तिः कुलप्रदीपो नृपतिर्दिलीपः।
अतिष्ठदेकोनशतक्रतुत्वे शक्राभ्यसूयाविनिवृत्तये यः॥ ७४॥
यस्मिन्महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम्।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम्॥ ७५॥
पुत्रो रघुस्तस्य पदं प्रशास्ति महाक्रतोर्विश्वजितः प्रयोक्ता।
चतुर्दिगावर्जितसम्भृतां यो मृत्पात्रशेषामकरोद् विभूतिम्॥ ७६॥
आरूढमद्रीनुदधीन्वितीर्णं भुजङ्गमानां वसतिं प्रविष्टम्।
ऊर्ध्वं गतं यस्य न चानुबन्धि यशः परिच्छेत्तुमियत्तयालम्॥ ७७॥
असौ कुमारस्तमजोऽनुजातस्त्रिविष्टपस्येव पतिं जयन्तः।
गुर्वीं धुरं यो भुवनस्य पित्रा धुर्येण दम्यः सदृशं बिभर्ति॥ ७८॥
कुलेन कान्त्या वयसा नवेन गुणैश्च तैस्तैर्विनयप्रधानैः।
त्वमात्मनस्तुल्यममुं वृणीष्व रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन॥ ७९॥

के समान मुखवाली इन्दुमती अज के रूप पर मुग्ध हो गयी है, तब वह बहुत विस्तार के साथ बात बनाती हुई बोली॥ ७०॥ देखिए इक्ष्वाकुवंश के सब राजाओं में श्रेष्ठ तथा सुन्दर लक्षणों से युक्त ककुत्स्थ नाम के राजा हो गये हैं। जिनके कारण उनके बादवाले उत्तरकोशल के सभी राजा अपने को काकुत्स्थ कहते हैं॥ ७१॥ उन राजा काकुत्स्थ ने युद्ध में जब असुरों को मारा था, तब वे बैल पर सवार शिवजी के समान लगते थे। उस समय स्वयं इन्द्र भगवान् उनके बैल बने थे और उस युद्ध में उन्होंने जिन असुरों को मार डाला था, उनकी स्त्रियों ने पतियों से बिछुड़ जाने के कारण अपने कपोलों पर चित्रकारी करना छोड दिया था॥ ७२॥ युद्ध की समाप्ति पर जब इन्द्र अपने सही रूप में ऐरावत पर चढ़कर स्वर्ग जाने लगे, तब उनके साथ ककुत्स्थ भी बैठे थे। उस समय वे इन्द्र की देह से ऐसे सटे हुए थे कि ऐरावत को बार-बार अंकुश लगाने से इन्द्र के जो भुजबन्ध ढीले पड़ गये थे, वे ककुत्स्थ के भुजबन्ध से बराबर रगड़ खाते चलते थे॥ ७३॥ उन्हीं प्रतापशाली ककुत्स्थ के वंश में यशस्वी राजा दिलीप जनमे। जो केवल निन्यानवे यज्ञ करके ही इसलिए चुप हो गये कि कहीं सौ यज्ञ पूरा करने से इन्द्र को दुःख न हो॥ ७४॥ राजा दिलीप ऐसे अच्छे ढंग से अपना राजकार्य चलाते थे और उनका ऐसा प्रभाव था कि मद पीकर उपवनों में सोई हुई स्त्रियों के वस्त्रों को वायु भी नहीं छू सकता था, फिर उन्हें हटाने का साहस भला कोई कैसे करता॥ ७५॥ बाद में उन्हीं के पुत्र राजा रघु हुए। जिन्होंने सब देशों को जीतकर अपार सम्पदा जुटायी और विश्वजित् यज्ञ में अपना सब धन खर्च कर दिया। इससे वे ऐसे अकिंचन हो गये कि केवल एक मिट्टी का पात्रभर उनके पास शेष रह गया॥ ७६॥ उनका यश कहाँ तक फैला है, उसकी थाह ही नहीं है। पर्वतों पर, समुद्र-पार, पाताल में, नागों के देश में, आकाश में, सब दिशाओं में और भूत, भविष्य तथा वर्त्तमान तीनों कालों में सर्वत्र उसका यश फैला हुआ है॥ ७७॥ जैसे देवराज इन्द्र के परम प्रतापी पुत्र जयन्त हुए थे, वैसे ही ये कुमार अज भी उन्हीं प्रतापी रघु के पुत्र हैं और अपने प्रतापी पिता के समान ही ये भी राज्य का सब काम सँभाले हुए हैं॥ ७८॥ इनका

ततः सुनन्दावचनावसाने लज्जां तनूकृत्य नरेन्द्रकन्या।
दृष्ट्या प्रसादामलया कुमारं प्रत्यग्रहीत्संवरणस्रजेव॥८०॥
सा यूनि तस्मिन्नभिलाषबन्धं शशाक शालीनतया न वक्तुम्।
रोमाञ्चलक्ष्येण स गात्रयष्टिं भित्त्वा निराक्रामदरालकेश्याः॥८१॥
तथागतायां परिहासपूर्वं सख्यां सखी वेत्रभृदाबभाषे।
आर्ये! व्रजामोऽन्यत इत्यथैनां वधूरसूयाकुटिलं ददर्श॥८२॥
सा चूर्णगौरं रघुनन्दनस्य धात्रीकराभ्यां करभोपमोरूः।
आसञ्जयामास यथाप्रदेशं कण्ठे गुणं मूर्तमिवानुरागम्॥८३॥
तया स्रजा मङ्गलपुष्पमय्या विशालवक्षःस्थललम्बया सः।
अमंस्त कण्ठार्पितबाहुपाशां विदर्भराजावरजां वरेण्यः॥८४॥
शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघमुक्तं जलनिधिमनुरूपं जह्नुकन्याऽवतीर्णा।
इति समगुणयोगप्रीतयस्तत्र पौराः श्रवणकटु नृपाणामेकवाक्यं विवव्रुः॥८५॥
प्रमुदितवरपक्षमेकतस्तत् क्षितिपतिमण्डलमन्यतो वितानम्।
उषसि सर इव प्रफुल्लपद्मं कुमुदवनप्रतिपन्ननिद्रमासीत्॥८६॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये स्वयंवरवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः॥६॥

कुल, इनका रूप, इनका यौवन और इनकी नम्रता—ये सब गुण ठीक तुम्हारे जैसे हैं। तुम इनसे अवश्य विवाह कर लो। जिससे रत्न और सोने का सही-सही संयोग हो जाय॥७९॥ इस प्रकार जब सुनन्दा कह चुकी, तब इन्दुमती ने नि:संकोच भाव से अपनी हँसती हुई आँखें अज पर डालीं और आँखों ही आँखों से उन्हें वर लिया। जैसे वह दृष्टि ही स्वयंवर की माला थी॥८०॥ लाज के मारे इन्दुमती अपने प्रेम की बात अज को तो नहीं जता सकी, परन्तु उस प्रेम के कारण उसे रोमांच हो आया। जिससे घुँघराले बालोंवाली इन्दुमती के हृदय का वह प्रेम छिपाये नहीं छिप सका। जैसे उन खडे रोंगटों के रूप में वह प्रेम ही शरीर फोडकर बाहर निकल आया हो॥८१॥ जब सुनन्दा ने इन्दुमती की यह दशा देखी तो ठठोली करते हुए उसने कहा—आर्ये! चलिए, आगे बढ़िए। तब आँखें तरेरकर इन्दुमती ने सुनन्दा की ओर निहारा॥८२॥ तदनन्तर हाथी की सूँड जैसी जंघाओंवाली इन्दुमती ने वह स्वयंवर की माला सुनन्दा के हाथों रघुतनय अज के गले में पहनवा दी। उस समय माला के डोरे में लगी हुई रोली साक्षात् अनुराग के समान दीख रही थी॥८३॥ अज के गले में जब वह फूलों की मंगलमयी माला पड़ी और उनकी चौडी छाती पर झूलने लगी, तब उसे देखकर अज ने यही समझा कि मानो इन्दुमती ने मेरे गले में अपनी भुजाएँ ही डाल दी हैं॥८४॥ वहाँ के नगरवासियों ने जब देखा कि समान गुणवाले अज और इन्दुमती का सम्बन्ध हो गया, तब वे एक साथ बोल उठे। वे कहने लगे कि यह तो चाँदनी और चन्द्रमा का मेल हुआ है अथवा गंगाजी समुद्र में जा मिली हैं। उनकी इन बातों को सुन-सुनकर अन्य राजा मन ही मन कुढ रहे थे॥८५॥ उस स्वयंवर-मंडप में एक ओर अज के पक्षवाले लोग हँसते हुए खड़े थे और दूसरी ओर उदास मुँहवाले राजा थे। उस समय वह मण्डप प्रात:काल के उस सरोवर सरीखा दीखने लगा, जिसमें एक ओर विकसित कमल हों और दूसरी ओर सम्पुटित कुमुदों का झुण्ड खड़ा हो॥८६॥

इस प्रकार रघुवंशमहाकाव्य में स्वयंवर-वर्णन नामक
छठा सर्ग समाप्त॥६॥

सप्तमः सर्गः

अथोपयन्त्रा सदृशेन युक्तां स्कन्देन साक्षादिव देवसेनाम्।
स्वसारमादाय विदर्भनाथः पुरप्रवेशाभिमुखो बभूव॥ १॥
सेनानिवेशान् पृथिवीक्षितोऽपि जग्मुर्विभातग्रहमन्दभासः।
भोज्यां प्रति व्यर्थमनोरथत्वाद्रूपेषु वेशेषु च साभ्यसूयाः॥ २॥
सान्निध्ययोगात्किल तत्र शच्याः स्वयंवरक्षोभकृतामभावः।
काकुत्स्थमुद्दिश्य समत्सरोऽपि शशाम तेन क्षितिपाललोकः॥ ३॥
तावत्प्रकीर्णाभिनवोपचारमिन्द्रायुधद्योतिततोरणाङ्कम्।
वरः स वध्वा सह राजमार्गं प्राप ध्वजच्छायनिवारितोष्णम्॥ ४॥
ततस्तदालोकनतत्पराणां सौधेषु चामीकरजालवत्सु।
बभूवुरित्थं पुरसुन्दरीणां त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि॥ ५॥
आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः।
बद्धुं न सम्भावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः॥ ६॥
प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान॥ ७॥
विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन सम्भाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा।
तथैव वातायनसन्निकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती॥ ८॥

स्वयंवर के वाद योग्य वर से युक्त अपनी वहिन इन्दुमती को लेकर विदर्भ-नरेश नगर की ओर चले। उस समय अपनी पत्नी इन्दुमती के साथ जाते हुए अज ऐसे दीख रहे थे, जैसे देवसेना के साथ साक्षात् कार्तिकेय जा रहे हों॥ १॥ अन्यान्य राजा भी प्रातःकालीन तारों के समान अपना उदास मुँह लिये अपने-अपने डेरों पर चले गये। वे सब कह रहे थे कि जब इन्दुमती नहीं मिली, तब हमारा यह रूप और यह वेश व्यर्थ है॥ २॥ उस स्वयंवर में साक्षात् इन्द्राणी उपस्थित थीं, इसी से वहाँ किसी राजा का साहस नहीं हुआ कि कुछ गड़बडी करे। यों तो वे हारे हुए सभी राजा अज से मन ही मन जलते थे, किन्तु इन्द्राणी की उपस्थिति से उनका भी क्रोध शान्त हो गया॥ ३॥ अज अपनी पत्नी के साथ उस समय नगर के बीच वाले राजपथ पर चल रहे थे। जगह-जगह उन पर सुन्दर ताजे फूल वरसाये जा रहे थे और इन्द्रधनुष जैसे रंग-विरंगे तोरण उनके स्वागतार्थ सजाये गये थे। नगर में इतनी झण्डियाँ लगीं थी कि उनसे धूप रुक गयी थी॥ ४॥ उन्हें देखने के लिए नगर की सुन्दरियाँ अपना सार काम छोड़कर अपने भवनों के झरोखों की ओर दौड़ पड़ीं॥ ५॥ उनमें से एक सुन्दरी उन्हें देखने के लिए जब झरोखे की ओर बढी, तब सहसा उसका जूड़ा खुल गया। किन्तु उस हडवड़ी में उसे अपना जूड़ा बाँधने की भी सुधि नहीं रही और वह केश हाथ में थामे ही खिडकी पर जा पहुँची। वालों के ढीले पड़ जाने से उनमें गुँथे हुए फूल बरावर गिरते जा रहे थे॥ ६॥ एक दूसरी स्त्री शृङ्गार करने वाली अपनी दासी से पैर में महावर लगवा रही थी। वह पैर खींचकर गीले पैरों से ही झरोखे की ओर दौड पड़ी। जिससे झरोखे तक उसके लाल-लाल पैरों की छाप की पाँत-सी वन गयी॥ ७॥ एक तीसरी स्त्री आँखों में आँजन लगा रही थी। वह दाईं आँख में तो अंजन लगा चुकी थी, परन्तु बाँई आँख में

जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम्।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः॥ ९ ॥
अर्धाञ्चिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती।
कस्याश्चिदासीद्रशना तदानीमङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा॥ १० ॥
तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम्।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन्॥ ११ ॥
ता राघवं दृष्टिभिरापिबन्त्यो नार्यो न जग्मुर्विषयान्तराणि।
तथा हि शेषेन्द्रियवृत्तिरासां सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा॥ १२ ॥
स्थाने वृता भूपतिभिः परोक्षैः स्वयंवरं साधुममंस्त भोज्या।
पद्मेव नारायणमन्यथासौ लभेत कान्तं कथमात्मतुल्यम्॥ १३ ॥
परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत्।
अस्मिन्द्वये रूपविधानयत्नः पत्युः प्रजानां वितथोऽभविष्यत्॥ १४ ॥
रतिस्मरौ नूनमिमावभूतां राज्ञां सहस्रेषु तथा हि बाला।
गतेयमात्मप्रतिरूपमेव मनो हि जन्मान्तरसङ्गतिज्ञम्॥ १५ ॥
इत्युद्गताः पौरवधूमुखेभ्यः शृण्वन्कथाः श्रोत्रसुखाः कुमारः।
उद्भासितं मङ्गलसंविधाभिः सम्बन्धिनः सद्म समाससाद॥ १६ ॥

लगाये बिना सलाई हाथ में लिये हुए ही झरोखे की ओर चली गयी॥ ८॥ एक और स्त्री झरोखे में आँखें गडाये खड़ी थी। सहसा उसका नारा खुल गया, परन्तु उसको बाँधने की उसे सुधि ही नहीं थी। वह कपड़े हाथ से थामे इस प्रकार खडी थी कि उसके हाथ के आभूषणों की चमक उसकी नाभि तक जा पहुँचती थी॥ ९॥ एक स्त्री बैठी-बैठी मणियों की तागड़ी गूँथ रही थी। सो उसका एक छोर उसने एक पैर के अँगूठे में बाँध रक्खा था। अभी आधी ही तागडी पिरो पायी थी कि सहसा उठकर अज को देखने के लिए झरोखे की ओर दौड़ी। जिसका फल यह हुआ कि वहाँ पहुँचते-पहुँचते मणियाँ तो निकल-निकल कर बिखर गयीं और केवल उसका डोराभर पाँव में बँधा रह गया॥ १० ॥ मदिरा की गन्ध से सुवासित मुखों वाली और झरोखों में उत्सुकता से झाँकती हुई वे स्त्रियाँ ऐसी लगती थीं, जैसे उन झरोखों में बहुत-से कमल सजे हों और उन पर बहुत से भौंरें बैठे हुए हों। क्योंकि उनके सुन्दर मुखों पर आँखें ऐसी लगती थीं, जैसे कमलों पर भौंरें बैठे हों॥ ११ ॥ वे स्त्रियाँ टकटकी लगाकर अपने नेत्रों से अज का रूप इस तरह पी रही थीं कि उनका ध्यान किसी अन्य काम की ओर गया ही नहीं। जैसे उनकी सब इन्द्रियों की शक्ति एकमात्र आँखों में ही जुट गयी हो॥ १२॥ वे स्त्रियाँ आपस में कह रही थीं—वैसे तो बहुत-से राजाओं ने स्वतः आकर इन्दुमती मे विवाह की प्रार्थना की थी, किन्तु राजकुमारी ने स्वयंवर करके ही अपना विवाह करना उचित समझा और यह ठीक भी था। जैसे स्वयंवर में लक्ष्मी ने नारायण को वरा था, वैसे ही इन्दुमती ने अज को वर लिया है। बिना स्वयंवर के उसे ऐसा वर कैसे मिल सकता था॥ १३ ॥ ब्रह्मा यदि परस्पर शोभा की होड करने वाली इस सुन्दर जोड़ी को न मिलाते तो इनको सुन्दर बनाने का उनका सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाता॥ १४॥ पिछले जन्म में ये दोनो रति और कामदेव ही रहे होंगे। तभी तो सहस्रों राजाओं के बीच में इन्दुमती ने इन्हें पा लिया। क्योंकि मन पिछले जन्म के सम्बन्ध को भलीभाँति पहचानता है॥ १५॥ नगर की उन महिलाओं के मुँह से ऐसी मीठी बातें सुनते हुए कुमार अज अपने सम्बन्धी भोज के उस राजमहल में पहुँचे, जो मंगलमयी सामग्रियों की सजावट से जगमगा रहा था॥ १६॥ वहाँ पहुँचकर वे तुरन्त हथिनी से नीचे

ततोऽवतीर्याशु करेणुकायाः स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः।
वैदर्भनिर्दिष्टमथो विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः॥ १७॥
महार्हसिंहासनसंस्थितोऽसौ सरत्नमर्घ्यं मधुपर्कमिश्रम्।
भोजोपनीतं च दुकूलयुग्मं जग्राह सार्धं वनिताकटाक्षैः॥ १८॥
दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधरक्षैः।
वेलासकाशं स्फुटफेनराजिर्नवैरुदन्वानिव चन्द्रपादैः॥ १९॥
तत्रार्चितो भोजपतेः पुरोधा हुत्वाऽग्निमाज्यादिभिरग्निकल्पः।
तमेव चाधाय विवाहसाक्ष्ये वधूवरौ सङ्गमयाञ्चकार॥ २०॥
हस्तेन हस्तं परिगृह्य वध्वाः स राजसूनुः सुतरां चकासे।
अनन्तराशोकलताप्रवालं प्राप्येव चूतः प्रतिपल्लवेन॥ २१॥
आसीद्वरः कण्टकितप्रकोष्ठः स्विन्नाङ्गुलिः संववृते कुमारी।
तस्मिन्द्वये तत्क्षणमात्मवृत्तिः समं विभक्तेव मनोभवेन॥ २२॥
तयोरपाङ्गप्रतिसारितानि क्रियासमापत्तिनिवर्तितानि।
ह्रीयन्त्रणामानशिरे मनोज्ञामन्योन्यलोलानि विलोचनानि॥ २३॥
प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुनं चकासे।
मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमानमन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम्॥ २४॥
नितम्बगुर्वी गुरुणा प्रयुक्ता वधूर्विधातृप्रतिमेन तेन।
चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ॥ २५॥
हविःशमीपल्लवलाजगन्धी पुण्यः कृशानोरुदियाय धूमः।
कपोलसंसर्पिशिखः स तस्या मुहूर्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे॥ २६॥

उतरे और कामरूप के राजा के हाथ में हाथ डालकर विदर्भराज के बतलाये भीतरी चौक में ऐसे पैठे, जैसे वे वहाँ की स्त्रियों के मन में पैठ गये हों॥ १७॥ वहाँ वे एक सुन्दर और बहुमूल्य सिंहासन पर जाकर बैठे। तब भोज ने उन्हें रेशमी वस्त्रों के एक जोड़े के साथ जो दही, मधु और घी मिला हुआ मधुपर्क भेंट किया, उसे उन्होंने वहाँ की स्त्रियों की बाँकी चितवन के साथ-साथ ले लिया॥ १८॥ चन्द्रमा की नयी किरणें जैसे समुद्र के उजले फेन वाली लहरों को किनारे तक खींच ले आती हैं, वैसे ही रनिवास के विनम्र सेवक युवराज अज को इन्दुमती के पास ले गये॥ १९॥ वहाँ अग्नि के समान तेजस्वी विदर्भराज के पुरोहित ने घी आदि सामग्रियों से हवन करने के बाद उसी अग्नि को साक्षी बनाकर वर और वधू का ग्रन्थिबन्धन कर दिया॥ २०॥ जैसे आम्रवृक्ष अपनी पत्तियों के साथ अशोकलता की लाल पत्तियों के साथ मिल जाने से मनोहर लगता है, वैसे ही जब अज ने अपनी पत्नी इन्दुमती का हाथ थामा, तब वे बहुत सुन्दर दिखने लगे थे॥ २१॥ पत्नी का हाथ थामने से अज के गट्टे पर रोमांच हो आया और इन्दुमती की उँगलियों में पसीना आ गया। उस समय ऐसा लगा कि मानो कामदेव ने अपना प्रेमभाव उन दोनों में समान रूप से बाँट दिया हो॥ २२॥ वे दोनों कनखियों से एक-दूसरे को देखते थे और आँखें मिलते ही लज्जा से आँखें नीची कर लेते थे। उनका वह लाजभरा संकोच दर्शकों को बड़ा सुन्दर लग रहा था॥ २३॥ जब अज और इन्दुमती हवन के अग्निकुण्ड का फेरा देने लगे, उस समय ऐसा लगा कि जैसे रात और दिन का जोड़ा मिलकर दोनों सुमेरु पर्वत की फेरी कर रहे हों॥ २४॥ तदनन्तर बड़े-बड़े नितम्बों से युक्त एवं मत्त चकोर जैसी आँखों वाली लजीली इन्दुमती ने ब्रह्मा के सदृश पूज्य पुरोहित के कहने से अग्नि में धान की खीलें डालीं॥ २५॥ घी, शमी के पत्तों तथा धान की खीलों

तदञ्जनक्लेदसमाकुलाक्षं प्रम्लानबीजाङ्कुरकर्णपूरम्।
वधूमुखं पाटलगण्डलेखमाचारधूमग्रहणाद्बभूव॥ २७॥
तौ स्नातकैर्बन्धुमता च राज्ञा पुरन्ध्रिभिश्च क्रमशः प्रयुक्तम्।
कन्याकुमारौ कनकासनस्थावार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम्॥ २८॥
इति स्वसुर्भोजकुलप्रदीपः सम्पाद्य पाणिग्रहणं स राजा।
महीपतीनां पृथगर्हणार्थं समादिदेशाधिकृतानधिश्रीः॥ २९॥
लिङ्गैर्मुदः संवृतविक्रियास्ते ह्रदाः प्रसन्ना इव गूढनक्राः।
वैदर्भमामन्त्र्य ययुस्तदीयां प्रत्यर्प्य पूजामुपदाछलेन॥ ३०॥
स राजलोकः कृतपूर्वसंविदारम्भसिद्धौ समयोपलभ्यम्।
आदास्यमानः प्रमदामिषं तदावृत्य पन्थानमजस्य तस्थौ॥ ३१॥
भर्ताऽपि तावत्क्रथकैशिकानामनुष्ठितानन्तरजाविवाहः।
सत्त्वानुरूपाहरणीकृतश्रीः प्रास्थापयद्राघवमन्वगाच्च॥ ३२॥
तिस्रस्त्रिलोकप्रथितेन सार्धमजेन मार्गे वसतीरुषित्वा।
तस्मादपावर्तत कुण्डिनेशः पर्वात्यये सोम इवोष्णरश्मेः॥ ३३॥
प्रमन्यवः प्रागपि कोसलेन्द्रे प्रत्येकमात्तस्वतया बभूवुः।
अतो नृपाश्चक्षमिरे समेताः स्त्रीरत्नलाभं न तदात्मजस्य॥ ३४॥
तमुद्वहन्तं पथि भोजकन्यां रुरोध राजन्यगणः स दृप्तः।
बलिप्रदिष्टां श्रियमाददानं त्रैविक्रमं पादमिवेन्द्रशत्रुः॥ ३५॥

की गंध से भरा पवित्र धुआँ अग्नि से निकलकर जब इन्दुमती के कपोल तक पहुँचा, तब ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो इन्दुमती ने नीलकमल का कर्णफूल पहन रक्खा हो॥ २६॥ उस विवाह की अग्नि का धुआँ लगने से इन्दुमती की आँखों से अंजनमिश्रित आँसू निकलने लगे, उनसे उनके कानों के कर्णफूल कुम्हला गये और गालें लाल हो गयीं॥ २७॥ फेरे हो चुकने के बाद सोने के सिंहासन पर बैठे हुए वर-वधू के ऊपर स्नातकों ने, कुटुम्बियों ने, भोजराज और पुरोहित ने बारी-बारी से गीले अक्षत छोड़कर आशीर्वाद दिये॥ २८॥ भोजकुल के दीपक लक्ष्मीवान् उस राजा ने अपनी बहन का विवाहसंस्कार पूरा करने के बाद सेवकों को आज्ञा दी कि वे अलग-अलग सभी राजाओं का आदर-सत्कार करें॥ २९॥ जिसके निर्मल जल में घड़ियाल छिपा बैठा हो, उस सरोवर के समान दूसरे राजा ऊपर से तो बडे प्रसन्न दिखलाई देते थे, परन्तु मन ही मन कूढे हुए थे। अतः वे सब विदर्भराज से आज्ञा ले और उनकी दी हुई सामग्री भेंट के बहाने लौटाकर अपने-अपने देशों को लौट गये॥ ३०॥ उन राजाओं ने पहले निश्चय कर लिया था कि अज इन्दुमती को लेकर चलें तो उन्हें घेर लिया जाय और उनसे सुन्दरी इन्दुमती को छीन लिया जाय। सो वे सब अज का मार्ग रोककर बीच में रुक गये॥ ३१॥ इधर छोटी बहन का विवाह करके विदर्भराज ने अपनी सामर्थ्य के अनुसार धन देकर रघु के पुत्र अज को विदा किया और उनके साथ कुछ दूर तक जाकर पहुँचाने गये॥ ३२॥ कुण्डिनपुर के राजा भोज ने त्रिलोकविख्यात अज के साथ मार्ग में तीन रातें बितायी और उसके बाद वैसे ही लौटे, जैसे अमावस्या को सूर्य के पास से चन्द्रमा लौट पड़ता है॥ ३३॥ जो राजा मार्ग रोककर खडे थे, उनका कोशलपति रघु ने दिग्विजय के समय सब धन ले लिया था। इसलिए वे पहले से ही उनसे वैर रखते थे। इसी कारण वे यह नहीं सह सके कि रघु का पुत्र हम लोगों के रहते स्त्रियों में रत्नस्वरूपा इन्दुमती को ले जाय॥ ३४॥ अज जब इन्दुमती को लिये जा रहे थे, उस समय उन अभिमानी राजाओं ने अज को उसी प्रकार रोक लिया,

तस्याः स रक्षार्थमनल्पयोधमादिश्य पित्र्यं सचिवं कुमारः।
प्रत्यग्रहीत्पार्थिववाहिनीं तां भागीरथीं शोण इवोत्तरङ्गः॥ ३६॥
पत्तिः पदातिं रथिनं रथेशस्तुरङ्गसादी तुरगाधिरूढम्।
यन्ता गजस्याभ्यपतद्गजस्थं तुल्यप्रतिद्वन्द्वि बभूव युद्धम्॥ ३७॥
नदत्सु तूर्येष्वविभाव्यवाचो नोदीरयन्ति स्म कुलोपदेशान्।
बाणाक्षरैरेव परस्परस्य नामोर्जितं चापभृतः शशंसुः॥ ३८॥
उत्थापितः संयति रेणुरश्वैः सान्द्रीकृतः स्यन्दनवंशचक्रैः।
विस्तारितः कुञ्जरकर्णतालैर्नेत्रक्रमेणोपरुरोध सूर्यम्॥ ३९॥
मत्स्यध्वजा वायुवशाद्विदीर्णैर्मुखैः प्रवृद्धध्वजिनीरजांसि।
बभुः पिबन्तः परमार्थमत्स्याः पर्याविलानीव नवोदकानि॥ ४०॥
रथो रथाङ्गध्वनिना विजज्ञे विलोलघण्टाक्वणितेन नागः।
स्वभर्तृनामग्रहणाद्बभूव सान्द्रे रजस्यात्मपरावबोधः॥ ४१॥
आवृण्वतो लोचनमार्गमाजौ रजोऽन्धकारस्य विजृम्भितस्य।
शस्त्रक्षताश्वद्विपवीरजन्मा बालारुणोऽभूद्रुधिरप्रवाहः॥ ४२॥
स च्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुस्तस्योपरिष्टात्पवनावधूतः।
अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवाबभासे॥ ४३॥
प्रहारमूर्च्छापगमे रथस्था यन्तॄनुपालभ्य निवर्तिताश्वान्।
यैः सादिता लक्षितपूर्वकेतूँस्तानेव सामर्षतया निजघ्नुः॥ ४४॥

जैसे इन्द्र के शत्रु वृत्रासुर ने वामन के चरण को उस समय रोक लिया था, जब बलि की राज्य-लक्ष्मी लेकर चले जा रहे थे॥ ३५॥ तब अज ने अपने पिता के मंत्री को आज्ञा दी कि आप थोड़े-से योद्धा लेकर इन्दुमती की रक्षा करें। स्वयं उस राजसंघ की सेना को रोककर उसी प्रकार खड़े हो गये, जैसे बाढ के दिनों में ऊँची तरंगों वाला शोणनद गङ्गाजी की धारा को रोक लिया करता है॥ ३६॥ बस, लड़ाई छिड़ गयी। पैदल पैदलों से, रथवाले रथवालों से, घुडसवार घुड़सवारों से और हाथीसवार हाथीसवारों से भिड़ गये। इस प्रकार बराबर जोड़े की लड़ाई होने लगी॥ ३७॥ उस समय वहाँ इतनी तुरहियाँ बज रही थीं कि कुछ सुनाई ही नहीं देता था। इसलिए धनुषधारीगण अपना कुल और नाम भी नहीं बतला पाते थे। वहाँ वे जो बाण चला रहे थे, उन पर खुदे हुए अक्षरों से उनके नामों का पता लग पाता था॥ ३८॥ उस युद्धक्षेत्र में घोड़ों की टाप से जो धूल उड़ी थी, उसमें रथ के पहियों से उठी हुई धूल मिलकर और भी घनी हो गयी। हाथियों के कानों के डुलाने से वह धूल चारों तरफ इस तरह फैल गयी कि जैसे सूर्य को कपड़े से ढाँक दिया गया हो॥ ३९॥ वायु के झोंके से सेना की मछली के आकार वाली झण्डियों के मुँह खुल गये थे। उनमें जब धूल घुसने लगी, तब वे ऐसी जान पड़ती थीं कि मानो वर्षा का गँदला पानी पीने वाली सच्ची मछलियाँ हों॥ ४०॥ उस युद्ध से इतनी धूल उड़ी कि वहाँ पर सैनिकों ने पहियों का शब्द सुनकर ही जाना था कि रथ आ रहा है। अपने-पराये का ज्ञान उन्हें तब होता था, जब दोनों ओर के सैनिक अपने-अपने राजाओं का नाम ले-लेकर लड़ते थे॥ ४१॥ आँखों के आगे अन्धेरा करने वाली और युद्धभूमि में फैली हुई उस धूल के अँधियारे में शस्त्रों से घायल घोड़ों, हाथियों और योद्धाओं के शरीर से निकला हुआ रक्त प्रातःकालीन सूर्य की लाली जैसा दिखने लगा॥ ४२॥ उस समय पृथ्वी पर इतना रक्त बहा कि नीचे की धूल दब गयी और जो धूल ऊपर उठ चुकी थी, वह वायु के सहारे इधर-उधर फैलकर उस धुएँ जैसी लगने लगी, जो अग्नि से उठकर फैल गयी हो और नीचे केवल अंगारे भर बचे रह गये हों॥ ४३॥ जो योद्धा चोट लगने से मूर्च्छित हो गये थे, उनको

अभ्यर्धमार्गे परबाणलूना धनुर्भृतां हस्तवतां पृषत्काः।
सम्प्रापुरेवात्मजवानुवृत्त्या पूर्वार्धभागैः फलिभिः शरव्यम्॥४५॥
आधोरणानां गजसन्निपाते शिरांसि चक्रैर्निशितैः क्षुराग्रैः।
हृतान्यपि श्येननखाग्रकोटिव्यासक्तकेशानि चिरेण पेतुः॥४६॥
पूर्वं प्रहर्ता न जघान भूयः प्रतिप्रहाराक्षममश्वसादी।
तुरङ्गमस्कन्धनिषण्णदेहं प्रत्याश्वसन्तं रिपुमाचकाङ्क्ष॥४७॥
तनुत्यजां वर्मभृतां विकोशैर्बृहत्सु दन्तेष्वसिभिः पतद्भिः।
उद्यन्तमग्निं शमयाम्बभूवुर्गजा विविग्नाः करशीकरेण॥४८॥
शिलीमुखोत्कृत्तशिरःफलाढ्या च्युतैः शिरस्त्रैश्चषकोत्तरेव।
रणक्षितिः शोणितमद्यकुल्या रराज मृत्योरिव पानभूमिः॥४९॥
उपान्तयोर्निष्कुषितं विहङ्गैराक्षिप्य तेभ्यः पिशितप्रियापि।
केयूरकोटिक्षततालुदेशा शिवा भुजच्छेदमपाचकार॥५०॥
कश्चिद्द्विषत्खड्गहृतोत्तमाङ्गः सद्यो विमानप्रभुतामुपेत्य।
वामाङ्गसंसक्तसुराङ्गनः स्वं नृत्यत्कबन्धं समरे ददर्श॥५१॥
अन्योन्यसूतोन्मथनादभूतां तावेव सूतौ रथिनौ च कौचित्।
व्यश्वौ गदाव्याहतसम्प्रहारौ भग्नायुधौ बाहुविमर्दनिष्ठौ॥५२॥

उनके सारथी रथ में डालकर लौटा लाये। परन्तु जब उनकी मूर्च्छा दूर हुई तो वे अपने सारथियों को बहुत बुरा-भला कहने लगे और जिनकी मार से वे घायल हुए थे, उन्हें रथ के झण्डों से पहचान-पहचान कर मारने लगे॥४४॥ जिन धनुषधारियों के हाथ बाण चलाने में मधे हुए थे, उनके बाण यद्यपि शत्रुओं के बाणों से बीच में ही दो टूक हो जाते थे, तथापि उनमें इतना वेग होता था कि फल लगा हुआ उनका अगला भाग लक्ष्य पर पहुँच ही जाता था ॥४५॥ हाथियों के युद्ध में पैने छुरे वाले चक्रों से जिन हाथीवानों के सिर कट जाते थे, वे सिर बहुत देर बाद पृथ्वी पर गरते थे। क्योंकि उनके लम्बे-लम्बे बाल बाजों के नखों में उलझ जाने से बहुत देर तक ऊपर ही टँगे रह जाते थे॥४६॥ एक घुड़सवार ने अपने शत्रु घुड़सवार पर चोट की। चोट खाते ही वह घोड़े के कन्धे पर झुक गया और उसमें इतनी भी शक्ति नहीं रह गयी कि सिर उठा सके। जिस घुड़सवार ने प्रहार किया था, उसने यह देखकर फिर उस पर हाथ नहीं चलाया, बल्कि मन ही मन यह मनाने लगा कि वह फिर से जी जाय तो दो-दो हाथ युद्ध और हो॥४७॥ जो कवचधारी योद्धा हथेली पर प्राण लिये लड़ रहे थे, उन्होंने जब नंगी तलवार से हाथियों के दाँतों पर चोटें कीं, तब उनसे आग निकलने लगी। उस आग से हाथी डर गये और वे अपनी सूँड़ के जल से उस आग को बुझाने लगे॥४८॥ उस समय वह युद्धक्षेत्र मृत्युदेव के मदिरालय जैसा दिख रहा था। जिसमें बाण से कटे हुए सिर ही फल, उलटकर गिरे हुए लौहटोप ही प्याले और बहता हुआ रक्त ही मानो मदिरा थी॥४९॥ एक जगह किसी के बाँह का टुकड़ा पड़ा था, जिसे गिद्ध आदि पक्षियों ने नोच डाला था। उसे मांस के लोभ से एक सियारिन खींच ले गयी, किन्तु ज्यों ही उसने उस पर मुँह मारा त्यों ही बाँह में बँधे भुजबन्ध की नोक से उसका तालू छिद गया और वह उसे वहीं छोड़कर चली गयी॥५०॥ किसी योद्धा का सिर शत्रु की तलवार से कट गया। युद्ध में मृत्यु होने से वह देवता बन गया और अपनी बाँयीं ओर एक अप्सरा लिये हुए विमान पर चढ़कर आकाश से अपना नाचता हुआ धड देखने लगा॥५१॥ दो योद्धाओं के सारथी मारे जा चुके थे। इसलिए वे स्वयं रथ चला रहे थे और लड़ भी रहे थे। परन्तु जब उनके घोडे भी मार डाले

परस्परेण क्षतयोः प्रहर्त्रोरुत्क्रान्तवाय्वोः समकालमेव।
अमर्त्यभावेऽपि कयोश्चिदासीदेकाप्सरःप्रार्थितयोर्विवादः॥५३॥
व्यूहावुभौ तावितरेतरस्माद्भङ्गं जयं चापतुरव्यवस्थम्।
पश्चात्पुरोमारुतयोः प्रवृद्धौ पर्यायवृत्त्येव महार्णवोर्मी॥५४॥
परेण भग्नेऽपि बले महौजा ययावजः प्रत्यरिसैन्यमेव।
धूमो निवर्त्येत समीरणेन यतस्तु कक्षस्तत एव वह्निः॥५५॥
रथी निषङ्गी कवची धनुष्मान्दृप्तः स राजन्यकमेकवीरः।
निवारयामास महावराहः कल्पक्षयोद्वृत्तमिवार्णवाम्भः॥५६॥
स दक्षिणं तूणमुखेन वामं व्यापारयन्हस्तमलक्ष्यताजौ।
आकर्णकृष्टा सकृदस्य योद्धुर्मौर्वीव बाणान्सुषुवे रिपुघ्नान्॥५७॥
स रोषदष्टाधिकलोहितोष्ठैर्व्यक्तोर्ध्वरेखा भ्रुकुटीर्वहद्भिः।
तस्तार गां भल्लनिकृत्तकण्ठैर्हुङ्कारगर्भैर्द्विषतां शिरोभिः॥५८॥
सर्वैर्बलाङ्गैर्द्विरदप्रधानैः सर्वायुधैः कङ्कटभेदिभिश्च।
सर्वप्रयत्नेन च भूमिपालास्तस्मिन्प्रजह्रुर्युधि सर्व एव॥५९॥
सोऽस्त्रव्रजैश्छन्नरथः परेषां ध्वजाग्रमात्रेण बभूव लक्ष्यः।
नीहारमग्नो दिनपूर्वभागः किञ्चित्प्रकाशेन विवस्वतेव॥६०॥
प्रियंवदात्प्राप्तमसौ कुमारः प्रायुङ्क्त राजस्वधिराजसूनुः।
गान्धर्वमस्त्रं कुसुमास्त्रकान्तः प्रस्वापनं स्वप्ननिवृत्तलौल्यः॥६१॥

गये तब वे रथों से कूदकर पैदल ही गदा लेकर लड़ने लगे और जब उनकी गदाएँ भी टूट गयीं, तब वे मल्ल-युद्ध करने लगे॥५२॥ दो वीर एक-दूसरे के प्रभाव से एक साथ मारे गये। दोनों देवता बनकर जब स्वर्ग पहुँचे, तब वहाँ एक ही अप्सरा पर दोनों रीझ गये और वहाँ भी वे उसके लिए आपस में लड़ने लगे॥५३॥ समुद्र की दो लहरें जैसे आगे-पीछे बहने वाली वायु के झोंके से हटती-बढ़ती रहती है, वैसे ही दोनों सेनाएँ भी कभी जीततीं और कभी हारकर आगे-पीछे हटती-बढ़ती रहती थीं॥५४॥ यद्यपि उन प्रबल शत्रुओं ने अज की सेना को मार भगाया था, परन्तु महापराक्रमी अज शत्रु की सेना में बढ़ते ही चले गये। क्योंकि वायु धुएँ को भले ही उड़ा दे, परन्तु आग को तो जहाँ तक घास-फूस मिलती है, वहाँ तक बढ़ती ही चली जाती है॥५५॥ प्रलयकाल में जैसे वाराह भगवान् समुद्र के बढ़े हुए जल को चीरते हुए आगे बढ़ रहे थे, वैसे ही घोड़े पर चढ़े और तूणीर बाँधे स्वाभिमानी वीर अज अकेले ही शत्रुसेना को चीरते हुए चले जा रहे थे॥५६॥ उस समय वे इतनी फुर्ती से बाण चला रहे थे कि पता ही नहीं चलता था कि कब अपना हाथ तूणीर में डालते और कब बाण निकालते थे। बल्कि ऐसा लगता था कि जब वे कान तक धनुष की डोरी खींचते थे, तब उसी में से शत्रुओं का नाश करने वाले बाण स्वतः निकलते जा रहे थे॥५७॥ जिन राजाओं ने होठों को क्रोध से चबा-चबाकर लाल कर लिया था और जो भौंहें तानकर हुंकार करते हुए आगे बढ़ रहे थे, उनके सिर काट-काटकर अज ने पृथ्वी ढाँक दी॥५८॥ उन राजाओं ने अज पर इतने अस्त्र बरसाये कि उनका रथ ढँक गया। कुहरे के दिन जैसे प्रभात होने का ज्ञान धुँधले सूर्य को देखकर होता है, वैसे ही उनके रथ की पताका के सिरे को देखकर ही अज का पता लगता था॥६०॥ तदनन्तर महाराज रघु के पुत्र, कामदेव के समान सुन्दर और सावधान अज ने प्रियंवद का दिया हुआ वह गान्धर्व अस्त्र उन राजाओं पर छोड़ा, जिससे निद्रा आ जाती थी॥६१॥ वह अस्त्र छोड़ते ही उन राजाओं की सेना के हाथ ऐसे बँध गये

ततो धनुष्कर्षणमूढहस्तमेकांसपर्यस्तशिरस्त्रजालम्।
तस्थौ ध्वजस्तम्भनिषण्णदेहं निद्राविधेयं नरदेवसैन्यम्॥ ६२॥
ततः प्रियोपात्तरसेऽधरोष्ठे निवेश्य दध्मौ जलजं कुमारः।
तेन स्वहस्तार्जितमेकवीरः पिबन्यशो मूर्तमिवाबभासे॥ ६३॥
शङ्खस्वनाभिज्ञतया निवृत्तास्तं सन्नशत्रुं ददृशुः स्वयोधाः।
निमीलितानामिव पङ्कजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमाशशाङ्कम्॥ ६४॥
सशोणितैस्तेन शिलीमुखाग्रैर्निक्षेपिताः केतुषु पार्थिवानाम्।
यशो हृतं सम्प्रति राघवेण न जीवितं वः कृपयेति वर्णाः॥ ६५॥
स चापकोटीनिहितैकबाहुः शिरस्त्रनिष्कर्षणभिन्नमौलिः।
ललाटबद्धश्रमवारिबिन्दुर्भीतां प्रियामेत्य वचो बभाषे॥ ६६॥
इतः परानर्भकहार्यशस्त्रान्वैदर्भि! पश्यानुमता मयाऽसि।
एवंविधेनाहवचेष्टितेन त्वं प्रार्थ्यसे हस्तगता ममैभिः॥ ६७॥
तस्याः प्रतिद्वन्द्विभवाद्विषादात्सद्यो विमुक्तं मुखमाबभासे।
निःश्वासबाष्पापगमात्प्रपन्नः प्रसादमात्मीयमिवात्मदर्शः॥ ६८॥
हृष्टापि सा ह्रीविजिता न साक्षाद्वाग्भिः सखीनां प्रियमभ्यनन्दत्।
स्थली नवाम्भःपृषताऽभिवृष्टा मयूरकेकाभिरिवाभ्रवृन्दम्॥ ६९॥
इति शिरसि स वामं पादमाधाय राज्ञामुदवहदनवद्यां तामवद्यादपेतः।
रथतुरगरजोभिस्तस्य रूक्षालकाग्रा समरविजयलक्ष्मीः सैव मूर्ता बभूव॥ ७०॥

कि वे अपना धनुष तक नहीं खींच सके। उनकी पगडियाँ गिरकर कन्धों पर झूल गयीं और सारी सेना पताकाओं के डंडों के सहारे सो गयी॥ ६२॥ इन्दुमती के चुम्बन का रस लेने वाले अपने होठों से शंख फूँकते हुए अज उस समय ऐसे लग रहे थे कि जैसे अपने बाहुबल से अर्जित मूर्तिमान् यश को ही पी रहे हों॥ ६३॥ शंख की ध्वनि पहचान कर अज के योद्धा लौट आये। सोते हुए शत्रुओं के बीच अज उन्हें ऐसे लगे, जैसे सम्पुटित कमलों के बीच में चन्द्रमा चमक रहा हो॥ ६४॥ उन मूर्च्छित पड़े हुए राजाओं की ध्वजाओं पर रुधिर से सने बाणों की नोकों से यह वाक्य लिख दिया गया— हे राजाओ! इस समय राजकुमार अज ने तुम लोगों का यश तो ले लिया, परन्तु दया करके उन्होंने तुम्हारे प्राण नहीं लिये हैं॥ ६५॥ उसके बाद जब अज ने अपने सिर का लौहटोप उतारा तो उनके बाल छितरा गये, उनके माथे पर पसीना छा गया और वे इन्दुमती के पास जा तथा धनुष के एक छोर पर हाथ टेककर भयभीत प्रिया से कहने लगे॥ ६६॥ इन्दुमती! चलो तुम्हें दिखायें कि इस समय उन राजाओं के शस्त्र बालक भी छीन सकते हैं, इस प्रकार वे सब युद्धभूमि में सोये हुए हैं। देखो तो इसी बूते पर ये तुम्हें मेरे हाथों से छीनने को सन्नद्ध थे॥ ६७॥ जब इन्दुमती को विश्वास हो गया कि शत्रु हार गये, तब उसका विषादमुक्त मुँह उस दर्पण जैसा सुन्दर लगने लगा; जिस पर पडी हुई साँस की भाप पोंछ डाली गयी हो॥ ६८॥ अपने पति अज का पराक्रम देखकर इन्दुमती बहुत प्रसन्न हुई, परन्तु वह इतनी लजा गयी थी कि उसके मुँह से उनके अभिनन्दन के लिए शब्द ही नहीं निकल सके, परन्तु जैसे नये बादलों की बूँदों से भींगी हुई पृथ्वी मोर के शब्दों से मेघों का स्वागत करती है, वैसे ही उसकी सखियों ने जो अज की प्रशंसा की, सो जैसे इन्दुमती ने ही उसका अभिनन्दन किया था॥ ६९॥ इस प्रकार पूतात्मा अज उन राजाओं के सिर पर अपना बाँयाँ पैर रख और सुन्दरी इन्दुमती को लेकर चले। उनके रथ के घोड़ों की टापों द्वारा उड़ी हुई धूल से इन्दुमती के केश भर गये थे और वह मूर्तिमती विजयलक्ष्मी

प्रथमपरिगतार्थस्तं रघुः संनिवृत्तं विजयिनमभिनन्द्य श्लाघ्यजायासमेतम्।
तदुपहितकुटुम्बः शान्तिमार्गोत्सुकोऽभून्न हि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय॥७१॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये अजस्वयं-
वराभिगमनो नाम सप्तमः सर्गः॥७॥

वैसी शोभा नहीं थी॥७०॥ महाराज रघु को यह समाचार पहले ही मिल चुका था। इसलिए उन्होंने सुन्दरी पत्नी के साथ आये हुए विजयी अज का स्वागत किया। फिर उन्हें कुटुम्ब का भार सौंपकर वे मोक्ष की साधना में लग गये। क्योंकि सूर्यवंशी राजाओं का यह नियम था कि जब पुत्र कुल का भार सम्भालने योग्य हो जाता था, तब वे घर में नहीं रहते थे॥७१॥

इस प्रकार रघुवंशमहाकाव्य में अज का इन्दुमती के साथ
पाणिग्रहण नामक सातवाँ सर्ग समाप्त॥७॥

अष्टमः सर्गः

अथ तस्य विवाहकौतुकं ललितं बिभ्रत एव पार्थिवः।
वसुधामपि हस्तगामिनीमकरोदिन्दुमतीमिवापराम्॥ १॥
दुरितैरपि कर्तुमात्मसात्प्रयतन्ते नृपसूनवो हि यत्।
तदुपस्थितमग्रहीदजः पितुराज्ञेति न भोगतृष्णया॥ २॥
अनुभूय वसिष्ठसम्भृतैः सलिलैस्तेन सहाभिषेचनम्।
विशदोच्छ्वसितेन मेदिनी कथयामास कृतार्थतामिव॥ ३॥
स बभूव दुरासदः परैर्गुरुणाऽथर्वविदा कृतक्रियः।
पवनाग्निसमागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा॥ ४॥
रघुमेव निवृत्तयौवनं तममन्यन्त नवेश्वरं प्रजाः।
स हि तस्य न केवलां श्रियं प्रतिपेदे सकलान्गुणानपि॥ ५॥
अधिकं शुशुभे शुभंयुना द्वितयेन द्वयमेव सङ्गतम्।
पदमृद्धमजेन पैतृकं विनयेनास्य नवं च यौवनम्॥ ६॥
सदयं बुभुजे महाभुजः सहसोद्वेगमियं व्रजेदिति।
अचिरोपनतां स मेदिनीं नवपाणिग्रहणां वधूमिव॥ ७॥
अहमेव मतो महीपतेरिति सर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत्।
उदधेरिव निम्नगाशतेष्वभवन्नास्य विमानना क्वचित्॥ ८॥

जब कि अज ने अभी विवाह का सुन्दर मंगलसूत्र भी नहीं उतारा था, तभी रघु ने अज के हाथों में सारी पृथ्वी इस प्रकार सौंप दी, जैसे वह भी दूसरी इन्दुमती हो॥ १॥ राजपुत्रजन जिस राज्य को पाने के लिए पापमय उपायों तक का प्रयोग करने में भी नहीं सकुचाते, उसी राज्य को अज ने दूसरे दिन केवल अपने पिता की आज्ञा मानकर स्वीकार कर लिया, भोग की इच्छा से उसे नहीं अपनाया॥ २॥ जब अज का राज्याभिषेक हुआ, उस समय वसिष्ठजी ने उनके ऊपर जो पवित्र जल छिडका, वह पृथ्वी पर भी गिरा। उसके पड़ने पर पृथ्वी से जो भाप निकली, वह मानो यह सूचित कर रही थी कि वह भी अज के राजा होने से प्रसन्न है॥ ३॥ अथर्ववेद के विज्ञ वसिष्ठजी ने जब उनका राज्याभिषेक कर दिया, तब वे इतने तेजस्वी हो गये कि सहसा उनके सब शत्रु काँप उठे। क्योंकि जब क्षात्रतेज के साथ ब्रह्मतेज मिल जाता है, तब वह वैसा ही सशक्त हो जाता है, जैसे वायु का सहारा पाकर अग्नि भभक उठता है॥ ४॥ अयोध्या की प्रजा ने भी अज के राजा होने पर यही समझा कि मानो रघु ही फिर से युवा हो गये हों। क्योंकि अज ने रघु की केवल राज्यलक्ष्मी ही नहीं पायी थी, बल्कि रघु के सब गुण भी उन्होंने प्राप्त कर लिये थे॥ ५॥ संसार में उस समय केवल दो ही एक-दूसरे से मिलकर सुन्दर जँचे, एक तो पिता का भरा-पूरा राज्य पाकर अज और दूसरे अज की विनम्रता पाकर उनका नवयौवन॥ ६॥ महाबाहु अज ने यह समझकर दयालुता के साथ नवप्राप्त पृथ्वी का भोगना प्रारम्भ किया कि अधिक कठोरता का व्यवहार करने से कहीं वह नयी ब्याही हुई बहू के समान घबरा न उठे॥ ७॥ राजा अज अपनी प्रजा को बहुत प्यार करते थे। इससे सभी लोग यही सोचते थे कि वे हमें ही सबसे अधिक मानते हैं। जैसे समुद्र सैकड़ों नदियों से एक-सा व्यवहार करता है, वैसे ही वे भी किसी का बुरा नहीं

न खरो न च भूयसा मृदुः पवमानः पृथिवीरुहानिव।
स पुरस्कृतमध्यमक्रमो नमयामास नृपाननुद्धरन्॥ ९ ॥
अथ वीक्ष्य रघुः प्रतिष्ठितं प्रकृतिष्वात्मजमात्मवत्तया।
विषयेषु विनाशधर्मसु त्रिदिवस्थेष्वपि निःस्पृहोऽभवत्॥ १० ॥
गुणवत्सुतरोपितश्रियः परिणामे हि दिलीपवंशजाः।
पदवीं तरुवल्कवाससां प्रयताः संयमिनां प्रपेदिरे॥ ११ ॥
तमरण्यसमाश्रयोन्मुखं शिरसा वेष्टनशोभिना सुतः।
पितरं प्रणिपत्य पादयोरपरित्यागमयाचतात्मनः॥ १२ ॥
रघुरश्रुमुखस्य तस्य तत्कृतवानीप्सितमात्मजप्रियः।
न तु सर्प इव त्वचं पुनः प्रतिपेदे व्यपवर्जितां श्रियम्॥ १३ ॥
स किलाश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथे पुराद्बहिः।
समुपास्यत पुत्रभोग्यया स्नुषयेवाविकृतेन्द्रियः श्रिया॥ १४ ॥
प्रशमस्थितपूर्वपार्थिवं कुलमभ्युद्यतनूतनेश्वरम्।
नभसा निभृतेन्दुना तुलामुदितार्केण समारुरोह तत्॥ १५ ॥
यतिपार्थिवलिङ्गधारिणौ ददृशाते रघुराघवौ जनैः।
अपवर्गमहोदयार्थयोर्भुवमंशाविव धर्मयोर्गतौ॥ १६ ॥
अजिताधिगमाय मन्त्रिभिर्युयुजे नीतिविशारदैरजः।
अनपायिपदोपलब्धये रघुराप्तैः समियाय योगिभिः॥ १७ ॥

चाहते थे और न किसी से वैर रखते थे॥ ८॥ वे न बहुत कठोर थे और न बड़े कोमल। उन्होंने बीच का मार्ग अपनाया था। अपने शत्रु राजाओं को उन्होंने राजगद्दी से उतारे बिना ही उसी प्रकार विनम्र बना दिया, जैसे मध्यम गति से बहने वाला वायु वृक्षों को उखाड़ता नहीं, परन्तु झुका तो देता ही है॥ ९॥ जब रघु ने देखा कि मेरे पुत्र अज का प्रजा में बड़ा आदर है और वह भलीभाँति राज-काज कर रहा है, तब उन्हें इतना आत्मज्ञान हो गया कि स्वर्ग के उन सुखों की अभिलाषा भी उन्होंने छोड़ दी, जो कभी न कभी नष्ट हो ही जाते हैं॥ १०॥ अब तक दिलीप के वंश में जायमान सभी राजा वृद्धावस्था में सब राज-काज अपने गुणवान् पुत्र को सौंपकर वन में चले जाते थे॥ ११॥ अतएव जब राजा रघु जंगल को जाने लगे, तब अज ने सुन्दर पगड़ी वाला अपना सिर उनके चरणों पर रखकर प्रार्थना की कि 'आप मुझे छोड़कर मत जाइए'॥ १२॥ रघु अपने पुत्र अज को बहुत चाहते थे। इसलिए अज की आँखों में आँसू देखकर वे रुक तो गये, परन्तु जैसे साँप अपनी केंचुली छोड़कर फिर उसे नहीं धारण करता, वैसे ही उन्होंने जिस राज्य-लक्ष्मी को एक बार छोड़ दिया था, उसे फिर नहीं अपनाया॥ १३॥ अब संन्यास लेकर वे नगर के बाहर एक कुटिया में रहने लगे। जिस भूमि पर उनके पुत्र राज्य कर रहे थे, वह जितेन्द्रिय रघु को फल-फूल देकर पतोहू के समान उनकी सेवा कर रही थी॥ १४॥ उस समय सूर्यवंश उस आकाश जैसा लग रहा था, जिसमें एक ओर चन्द्रमा छिप रहे हों और दूसरी ओर सूर्य निकल रहे हों। क्योंकि एक ओर राजा रघु संन्यास लेकर शान्तिमय जीवन बिता रहे थे और दूसरी ओर ऐश्वर्यशाली अज नये राजा बनकर गद्दी पर विराजमान थे॥ १५॥ इस प्रकार संन्यासी बने हुए रघु और राजा बने हुए अज को देखकर लोगों ने समझा कि मोक्ष और ऐश्वर्य देने वाले धर्म के दो अंश पृथ्वी पर एक साथ उतर आये हैं॥ १६॥ एक ओर अज नीतिज्ञ मंत्रियों के साथ दिग्विजय का मंसूबा बाँधने लगे, दूसरी ओर रघु मोक्ष पद पाने के लिए तत्त्वदर्शी योगियों के साथ शास्त्रचर्चा में

नृपतिः प्रकृतीरवेक्षितुं व्यवहारासनमाददे युवा।
परिचेतुमुपांशु धारणां कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम्॥ १८॥
अनयत्प्रभुशक्तिसम्पदा वशमेको नृपतीननन्तरान्।
अपरः प्रणिधानयोग्यया मरुतः पञ्च शरीरगोचरान्॥ १९॥
अकरोदचिरेश्वरः क्षितौ द्विषदारम्भफलानि भस्मसात्।
इतरो दहने स्वकर्मणां विवृते ज्ञानमयेन वह्निना॥ २०॥
पणबन्धमुखान्गुणानजः षडुपायुङ्क्त समीक्ष्य तत्फलम्।
रघुरप्यजयद्गुणत्रयं प्रकृतिस्थं समलोष्ठकाञ्चनः॥ २१॥
न नवः प्रभुराफलोदयात्स्थिरकर्मा विरराम कर्मणः।
न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरापरमात्मदर्शनात्॥ २२॥
इति शत्रुषु चेन्द्रियेषु च प्रतिषिद्धप्रसरेषु जाग्रतौ।
प्रसितावुदयापवर्गयोरुभयीं सिद्धिमुभाववापतुः॥ २३॥
अथ काश्चिदजव्यपेक्षया गमयित्वा समदर्शनः समाः।
तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः॥ २४॥
श्रुतदेहविसर्जनः पितुश्चिरमश्रूणि विमुच्य राघवः।
विदधे विधिमस्य नैष्ठिकं यतिभिः सार्धमनग्निमग्निचित्॥ २५॥
अकरोत्स तदौर्ध्वदैहिकं पितृभक्त्या पितृकार्यकल्पवित्।
न हि तेन पथा तनुत्यजस्तनयावर्जितपिण्डकाङ्क्षिणः॥ २६॥

तल्लीन हो गये॥ १७॥ एक तरफ युवा राजा जनता के कामों की देखभाल के लिए न्याय के आसन पर बैठता था, उधर बूढे राजा रघु अपने मन को साधने का अभ्यास करने के लिए अकेले में कुशा के पवित्र आसन पर बैठते थे॥ १८॥ अज ने अपने प्रभुत्व से आस-पास के सभी शत्रु राजाओं को मुट्ठी में कर लिया। उधर रघु ने अपने योगबल से शरीर के भीतर रहने वाले प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान—इन पाँचों पवनों को अपने वश में कर लिया॥ १९॥ अज ने पृथ्वी पर के शत्रुओं की सब चालें नष्ट कर दीं और रघु ने ज्ञान की अग्नि से अपने सारे कर्मों को भस्म कर डाला॥ २०॥ अज संधि, विग्रह, यान, आसन, आश्रय और द्वैधीभाव—इन छः नीतियों का परिणाम समझकर प्रयोग करते थे, दूसरी ओर मिट्टी और सोना बराबर समझने वाले रघु ने प्रकृति के सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणों पर विजय पा ली॥ २१॥ दृढ़प्रतिज्ञ अज जब किसी काम में हाथ लगाते थे तो उसे तब तक नहीं छोड़ते थे, जब तक वह पूरा नहीं हो जाता था। वैसे ही स्थिरचित्त रघु ने भी तब तक योगक्रिया नहीं छोडी, जब तक उन्हें भगवान् का दर्शन नहीं मिल गया॥ २२॥ एक ओर राजा अज सारे संसार का ऐश्वर्य प्राप्त करने में जागरूक थे और दूसरी ओर रघु मोक्ष प्राप्त करने में तन्मय थे। इस प्रकार अज ने अपने शत्रुओं का बढाव रोककर और रघु ने इन्द्रियों को काबू में करके दोनों ने अपनी-अपनी सिद्धियाँ प्राप्त कर लीं॥ २३॥ समदर्शी रघु ने अज के कहने से संसार में कुछ वर्ष और बिताये। उसके बाद योगबल से सदा प्रकाशमान और अविनाशी परमात्मा में विलीन हो गये॥ २४॥ इस तरह अपने पिता के देहान्त का समाचार पाकर अग्निहोत्री अज बहुत रोये। पिता के शरीर का दाहसंस्कार उन्होंने नहीं किया, बल्कि योगियों के साथ उनके शरीर को ले जाकर पृथ्वी में समाधि दे दी॥ २५॥ रघु जैसे जो महात्मा अपने योगबल से शरीर को त्याग कर मुक्त हो जाते हैं, उन्हें यद्यपि अपने पुत्रों से पिण्डदान की आवश्यकता नहीं रहती, तथापि अज यह जानते थे कि पिता का संस्कार कैसे करना चाहिए। अतः

स परार्ध्यगतेरशोच्यतां पितुरुद्दिश्य सदर्थवेदिभिः।
शमिताधिरधिज्यकार्मुकः कृतवानप्रतिशासनं जगत्॥ २७॥
क्षितिरिन्दुमती च भामिनी पतिमासाद्य तमग्र्यपौरुषम्।
प्रथमा बहुरत्नसूरभूदपरा वीरमजीजनत्सुतम्॥ २८॥
दशरश्मिशतोपमद्युतिं यशसा दिक्षु दशस्वपि श्रुतम्।
दशपूर्वरथं यमाख्यया दशकण्ठारिगुरुं विदुर्बुधाः॥ २९॥
ऋषिदेवगणस्वधाभुजां श्रुतयागप्रसवैः स पार्थिवः।
अनृणत्वमुपेयिवान् बभौ परिधेर्मुक्त इवोष्णदीधितिः॥ ३०॥
बलमार्तभयोपशान्तये विदुषां सत्कृतये बहु श्रुतम्।
वसु तस्य विभोर्न केवलं गुणवत्ताऽपि परप्रयोजना॥ ३१॥
स कदाचिदवेक्षितप्रजः सह देव्या विजहार सुप्रजाः।
नगरोपवने शचीसखो मरुतां पालयितेव नन्दने॥ ३२॥
अथ रोधसि दक्षिणोदधेः श्रितगोकर्णनिकेतमीश्वरम्।
उपवीणयितुं ययौ रवेरुदयावृत्तिपथेन नारदः॥ ३३॥
कुसुमैर्ग्रथितामपार्थिवैः स्रजमातोद्यशिरोनिवेशिताम्।
अहरत् किल तस्य वेगवानधिवासस्पृहयेव मारुतः॥ ३४॥
भ्रमरैः कुसुमानुसारिभिः परिकीर्णा परिवादिनी मुनेः।
ददृशे पवनावलेपजं सृजती बाष्पमिवाञ्जनाविलम्॥ ३५॥

उन्होंने बडी भक्ति से अपने पिता के श्राद्ध आदि संस्कार सम्पन्न किये॥ २६॥ जब तत्त्वज्ञानी पण्डितों ने अज को समझाया कि तुम्हारे पिता ने मोक्ष पा लिया है, तब उन्हें धीरज बँधा और उनका शोक घटा। तदनन्तर हाथ में धनुष-बाण लेकर वे सारे संसार पर एकछत्र राज्य करने लगे॥ २७॥ पृथ्वी और इन्दुमती दोनों ही अज जैसे महापराक्रमी को पति के रूप में पाकर बहुत प्रसन्न हुई। अतएव पृथ्वी ने बहुत-से रत्न उत्पन्न किये और इन्दुमती ने एक वीर पुत्र को जन्म दिया॥ २८॥ ये अज के पुत्र दस सौ (हजारों) किरणों वाले सूर्य के समान तेजस्वी थे। जिनका यश दसों दिशाओं में व्याप्त था, जो उन रामजी के पिता थे जिन्होंने दस सिर वाले रावण को मारा था और जिन्हें पंडित लोग 'दशरथ' कहते हैं॥ २९॥ इस प्रकार वेदों का अध्ययन करके ऋषिऋण से, यज्ञ करके देवऋण से और पुत्र उत्पन्न करके पितृऋण से मुक्त होकर राजा अज वैसे ही शोभित हुए, जैसे मण्डल (ग्रहण) से छूटकर सूर्य शोभित होता है॥ ३०॥ राजा अज ने केवल अपने धन से ही दूसरों को लाभ नहीं पहुँचाया, बल्कि अपने गुणों से भी लोगों का उपकार किया। क्योंकि अपने पराक्रम से तो उन्होंने दीनों और दुर्बलों का डर दूर किया और अपने शास्त्रज्ञान से विद्वानों का सत्कार किया॥ ३१॥ एक दिन की बात है, सुन्दर प्रजा (सन्तान) वाले तथा प्रजापालक राजा अज अपनी रानी इन्दुमती के साथ नगर के उपवन में उसी प्रकार विहार कर रहे थे, जैसे देवताओं के राजा इन्द्र नन्दन वन में इन्द्राणी के साथ विहार करते हैं॥ ३२॥ उसी समय दक्षिणी समुद्र के किनारे गोकर्णनिवासी शंकरजी को वीणावादन के साथ गाना सुनाने के लिए नारदजी आकाशमार्ग से चले जा रहे थे॥ ३३॥ उनकी उस वीणा के सिरे पर स्वर्गीय फूलों से गुँथी हुई एक माला लटकी थी। उस समय वेग से चलनेवाले वायु के कारण वह माला इस प्रकार खिसक कर नीचे गिर गयी, जैसे वायु ने ही सुगन्ध के लोभ से उसे वहाँ से उतार लिया हो॥ ३४॥ यद्यपि वह माला गिर गयी, परन्तु पुष्परस के लोभी भौंरें अब तक उस वीणा पर मँडरा रहे थे। उन्हें देखकर

अभिभूय विभूतिमार्तवीं मधुगन्धातिशयेन वीरुधाम्।
नृपतेरमरस्रगाप सा दयितोरुस्तनकोटिसुस्थितिम्॥ ३६॥
क्षणमात्रसखीं सुजातयोः स्तनयोस्तामवलोक्य विह्वला।
निमिमील नरोत्तमप्रिया हृतचन्द्रा तमसेव कौमुदी॥ ३७॥
वपुषा करणोज्झितेन सा निपतन्ती पतिमप्यपातयत्।
ननु तैलनिषेकबिन्दुना सह दीपार्चिरुपैति मेदिनीम्॥ ३८॥
उभयोरपि पार्श्ववर्तिनां तुमुलेनार्तरवेण वेजिताः।
विहगाः कमलाकरालयाः समदुःखा इव तत्र चुक्रुशुः॥ ३९॥
नृपतेर्व्यजनादिभिस्तमो नुनुदे सा तु तथैव संस्थिता।
प्रतिकारविधानमायुषः सति शेषे हि फलाय कल्पते॥ ४०॥
प्रतियोजयितव्यवल्लकीसमवस्थामथ सत्त्वविप्लवात्।
स निनाय नितान्तवत्सलः परिगृह्योचितमङ्कमङ्गनाम्॥ ४१॥
पतिरङ्कनिषण्णया तया करणापायविभिन्नवर्णया।
समलक्ष्यत बिभ्रदाविलां मृगलेखामुषसीव चन्द्रमाः॥ ४२॥
विललाप स बाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम्।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु॥ ४३॥
कुसुमान्यपि गात्रसङ्गमात्प्रभवन्त्यायुरपोहितुं यदि।
न भविष्यति हन्त साधनं किमिवान्यत्प्रहरिष्यतो विधेः॥ ४४॥

ऐसा लगता था कि मानो वायु से अपमानित होकर वह वीणा काजल मिले हुए आँसू बहा रही थी॥ ३५॥ उस स्वर्गीय माला में इतना अधिक मधु और इतनी अधिक सुगन्ध थी कि उसके आगे वसन्त के वृक्षों और लताओं का मधु और सुवास लजा जाता था। सहसा वह माला रानी इन्दुमती के वडे-वडे स्तनों के बीच में आ गिरी॥ ३६॥ अज की प्रियतमा इन्दुमती ने क्षणभर के लिए अपने स्तनों की सखी उस माला को देखा और देखते ही उसने व्याकुल होकर उसी तरह ऑखे मूँद लीं, जैसे चन्द्रमा को राहु ने ग्रस लिया हो॥ ३७॥ प्राणहीन होने से इन्दुमती धरती पर गिर पडी और उसके साथ-साथ अज भी गिर पडे। क्योंकि गिरते हुए तेल की बूँदों के साथ दीपक की लौ भी तो पृथ्वी पर गिर पड़ती है॥ ३८॥ यह देखकर उन दोनों के जिन सेवकों ने रोना-चिल्लाना प्रारम्भ कर दिया था, उनसे डरकर तालावों में रहने वाले पक्षी भी इस प्रकार चिल्ला उठे, जैसे वे भी उनके दुःख से दुःखी हो गये हों॥ ३९॥ पंखा डुलाने आदि उपायों से किसी प्रकार अज की मूर्च्छा तो दूर हो गयी, परन्तु रानी इन्दुमती वैसे ही पड़ी रही। क्योंकि उपचार तो तभी काम करता है कि जब आयु शेष हो॥ ४०॥ तदनन्तर उस अत्यन्त प्यारे राजा ने अपनी मृत पत्नी इन्दुमती को अपनी गोद में उठाकर वैसे ही रख लिया, जैसे तार मिलाने के लिए वीणा गोद में रख ली जाती है॥ ४१॥ प्राण निकल जाने से इन्दुमती के शरीर का रंग पीला पड गया था। उसे गोदी में लिटाये राजा अज उस प्रातःकालीन चन्द्रमा के समान दीख रहे थे, जिसकी गोद में मृग की धुँधली छाया विद्यमान हो॥ ४२॥ शोक से उनका स्वाभाविक धीरज जाता रहा, गला भर आया और वे घिघियाकर रोने लगे। क्योंकि तपने पर लोहा भी नरम हो जाता है, तव देहधारियों की बात ही क्या है॥ ४३॥ वे रोते हुए कह रहे थे— हाय! यदि फूल भी शरीर को छूकर प्राण ले सकते हैं, तव तो दैव जब किसी को मारना चाहे तब किसी भी वस्तु से मार सकता है॥ ४४॥ यह भी संभव है कि कोमल वस्तु को मारने के लिए दैव कोमल वस्तु का ही उपयोग करता

अथवा मृदु वस्तु हिंसितुं मृदुनैवारभते प्रजान्तकः।
हिमसेकविपत्तिरत्र मे नलिनी पूर्वनिदर्शनं मता॥४५॥
स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम्।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया॥४६॥
अथवा मम भाग्यविप्लवादशनिः कल्पित एष वेधसा।
यदनेन तरुर्न पातितः क्षपिता तद्विटपाश्रिता लता॥४७॥
कृतवत्यसि नावधीरणामपराद्धेऽपि यदा चिरं मयि।
कथमेकपदे निरागसं जनमाभाष्यमिमं न मन्यसे॥४८॥
ध्रुवमस्मि शठः शुचिस्मिते! विदितः कैतववत्सलस्तव।
परलोकमसन्निवृत्तये यदनापृच्छ्य गताऽसि मामितः॥४९॥
दयितां यदि तावदन्वगाद्विनिवृत्तं किमिदं तया विना।
सहतां हतजीवितं मम प्रबलामात्मकृतेन वेदनाम्॥५०॥
सुरतश्रमसम्भृतो मुखे ध्रियते स्वेदलवोद्गमोऽपि ते।
अथ चास्तमिता त्वमात्मना धिगिमां देहभृतामसारताम्॥५१॥
मनसाऽपि न विप्रियं मया कृतपूर्वं तव किं जहासि माम्।
ननु शब्दपतिः क्षितेरहं त्वयि मे भावनिबन्धना रतिः॥५२॥
कुसुमोत्खचितान् वलीभृतश्चलयन् भृङ्गरुचस्तवालकान्।
करभोरु! करोति मारुतस्त्वदुपावर्तनशङ्कि मे मनः॥५३॥
तदपोहितुमर्हसि प्रिये! प्रतिबोधेन विषादमाशु मे।
ज्वलितेन गुहागतं तमस्तुहिनाद्रेरिव नक्तमोषधिः॥५४॥

हो। क्योंकि पहले ही देखा गया है कि कमलिनी को नष्ट करने के लिए पाला ही पर्याप्त होता है॥४५॥ यदि यह माला ही प्राण लेने वाली हो तो मैं भी इसे छाती पर रख लेता हूँ, परन्तु यह हमें क्यों नहीं मार डालती। ईश्वर की इच्छा ही तो है। कहीं विष भी अमृत और अमृत विष बन जाता है॥४६॥ अथवा यह मेरा दुर्भाग्य है कि विधाता ने इस माला को वह वज्र बनाकर भेजा है, जिसने पेड़ को तो छोड़ दिया, किन्तु उसके साथ लिपटी हुई लता को नष्ट कर डाला॥४७॥ हे इन्दुमती ! मैंने बहुत अपराध किये, परन्तु तुमने कभी मेरा तिरस्कार नहीं किया। फिर आज एकाएक बिना अपराध के ही तुम मुझे बात करने योग्य भी क्यों नहीं समझती ?॥४८॥ हे मीठी हँसी हँसने वाली प्रिये ! क्या तुमने सचमुच यह समझ लिया है कि मैं तुमसे झूठा प्रेम करता हूँ? इसीसे तो मुझसे बिना पूछे तुम सदा के लिए परलोक चली गयी॥४९॥ मेरे ये नीच प्राण जब प्रिया के साथ चले गये थे, तब फिर लौट क्यों आये ? जब इनकी करनी ही ऐसी है, तब ये दारुण दुःख भोगें। मैं कर ही क्या सकता हूँ॥५०॥ हे प्रिये ! अभी तुम्हारे मुँह पर से सम्भोगकालीन थकावट के पसीने की बूँदे भी नहीं सूखीं और तुम चल बसी। मनुष्य की ऐसी नश्वरता को धिक्कार है॥५१॥ मैंने कभी मन से भी तुम्हारी बुराई नहीं की, फिर तुम मुझे क्यों छोड़ रही हो? मैं पृथ्वी का पति तो नाम मात्र का हूँ, मेरा सच्चा प्रेम तुमसे ही है॥५२॥ हे सुंजघने ! फूलों से गुँथी और भौरों जैसी काली तुम्हारी लटें जब वायु से हिलती हैं, तब मेरे मन को यह आशा होने लगती है कि अब तुम अवश्य ही उठ बैठोगी॥५३॥ अतएव हे प्रिये! जैसे रात में चमकने वाली बूटियाँ हिमालय की अँधेरी गुफा में भी प्रकाश कर देती हैं, वैसे ही तुम भी फिर से जागकर मेरा दुःख दूर कर दो॥५४॥ मौन भौरों से भरे और रात में मुँदे अकेले

इदमुच्छ्वसितालकं मुखं तव विश्रान्तकथं दुनोति माम्।
निशि सुप्तमिवैकपङ्कजं विरताभ्यन्तरषट्पदस्वनम्॥ ५५॥
शशिनं पुनरेति शर्वरी दयिता द्वन्द्वचरं पतत्रिणम्।
इति तौ विरहान्तरक्षमौ कथमत्यन्तगता न मां दहेः॥ ५६॥
नवपल्लवसंस्तरेऽपि ते मृदु दूयेत यदङ्गमर्पितम्।
तदिदं विषहिष्यते कथं वद वामोरु! चिताधिरोहणम्॥ ५७॥
इयमप्रतिबोधशायिनीं रशना त्वां प्रथमा रहःसखी।
गतिविभ्रमसादनीरवा न शुचा नानु मृतेव लक्ष्यते॥ ५८॥
कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम्।
पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमाः॥ ५९॥
त्रिदिवोत्सुकयाऽप्यवेक्ष्य मां निहिताः सत्यममी गुणास्त्वया।
विरहे तव मे गुरुव्यथं हृदयं न त्ववलम्बितुं क्षमाः॥ ६०॥
मिथुनं परिकल्पितं त्वया सहकारः फलिनी च नन्विमौ।
अविधाय विवाहसत्क्रियामनयोर्गम्यत इत्यसाम्प्रतम्॥ ६१॥
कुसुमं कृतदोहदस्त्वया यदशोकोऽयमुदीरयिष्यति।
अलकाभरणं कथं नु तत्तव नेष्यामि निवापमाल्यताम्॥ ६२॥
स्मरतेव सशब्दनूपुरं चरणानुग्रहमन्यदुर्लभम्।
अमुना कुसुमाश्रुवर्षिणा त्वमशोकेन सुगात्रि! शोच्यसे॥ ६३॥
तव निःश्वसितानुकारिभिर्बकुलैरर्धचितां समं मया।
असमाप्य विलासमेखलां किमिदं किन्नरकण्ठि! सुप्यते॥ ६४॥

कमल जैसा तथा बिखरी अलकों से ढँका तुम्हारा मौन मुख देखकर मुझे बड़ा दुःख हो रहा है॥ ५५॥ चन्द्रमा को रात्रि फिर मिल जाती है और चकवे को चकवी प्रातःकाल मिलती है। इसलिए उन्हें विछोह का दुःख थोड़ी ही देर रहता है, परन्तु तुम तो सदा के लिए चली जा रही हो। फिर बतलाओ, मुझे विरह की आग जलाकर क्यों न भस्म कर देगी?॥ ५६॥ कोमल पल्लवों का बिछौना भी जिस शरीर में गड़ता था, हे सुन्दर जंघाओं वाली! तुम्हीं बतलाओ कि तुम्हारा वही शरीर चिता पर कैसे रक्खा जा सकेगा?॥ ५७॥ क्या तुम नहीं देखती कि तुम्हारी भावभरी चाल के बन्द हो जाने से तुम्हारी प्रिय सखी यह करधनी भी तुम्हें सदा के लिए सोती देखकर तुम्हारे शोक में मरी-सी दीख रही है॥ ५८॥ तुम्हारी मीठी बोली कोयलों ने और तुम्हारी मन्दगति कलहंसिनियों ने ले ली। तुम्हारी चंचल चितवन हरिणियों को मिल गयी और तुम्हारा चुलबुलापन वायु से हिलती हुई लताओं में जा पहुँचा है॥ ५९॥ यद्यपि स्वर्ग जाने की उतावली में मुझे बहलाने के लिए तुम अपने गुण यहीं छोड गयी हो, परन्तु तुम्हारे विछोह से मैं इतना अधीर हो गया हूँ कि इन सबसे मेरे हृदय को तनिक भी सन्तोष नहीं मिलेगा॥ ६०॥ हे प्रिये! तुमने इस आम और प्रियंगुलता का विवाह ठीक किया था। सो इन दोनों का विवाह किये बिना तुम्हारा जाना उचित नहीं है॥ ६१॥ देखो, जिस अशोक को तुमने अपने चरणों की ठोकर लगायी थी, वह जब आगे चलकर फूलेगा, तब तुम्हारे केशों को सजाने वाले उन फूलों को मैं तुम्हारे लिए जलदान की अञ्जलि में कैसे ले पाऊँगा॥ ६२॥ हे सुन्दरी! तुम्हारे झुनझुनाते बिछुओं वाले चरण की ठोकर किसी को नहीं मिलती थी, परन्तु तुमने बडी कृपा करके उस अशोक को ठोकर लगाई थी। अब उन तुम्हारे चरणों की कृपा का स्मरण करके यह अशोक वृक्ष फूलों के आँसू बरसाकर तुम्हारे लिए रो रहा है॥ ६३॥ हे किन्नरों जैसी मधुरभाषिणी! अपने श्वास सदृश सुगन्धवाले मौलसिरी के फूलों

समदुःखसुखः सखीजनः प्रतिपच्चन्द्रनिभोऽयमात्मजः।
अहमेकरसस्तथापि ते व्यवसायः प्रतिपत्तिनिष्ठुरः॥ ६५॥
धृतिरस्तमिता रतिश्च्युता विरतं गेयमृतुर्निरुत्सवः।
गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्य मे॥ ६६॥
गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥ ६७॥
मदिराक्षि! मदाननार्पितं मधु पीत्वा रसवत्कथं नु मे।
अनुपास्यसि बाष्पदूषितं परलोकोपनतं जलाञ्जलिम्॥ ६८॥
विभवेऽपि सति त्वया विना सुखमेतावदजस्य गण्यताम्।
अहृतस्य विलोभनान्तरैर्मम सर्वे विषयास्त्वदाश्रयाः॥ ६९॥
विलपन्निति कोसलाधिपः करुणार्थग्रथितं प्रियां प्रति।
अकरोत्पृथिवीरुहानपि सुतशाखारसबाष्पदूषितान्॥ ७०॥
अथ तस्य कथञ्चिदङ्कतः स्वजनस्तामपनीय सुन्दरीम्।
विससर्ज तदन्त्यमण्डनामनलायागुरुचन्दनैधसे॥ ७१॥
प्रमदामनु संस्थितः शुचा नृपतिः सन्निति वाच्यदर्शनात्।
न चकार शरीरमग्निसात् सह देव्या न तु जीविताशया॥ ७२॥
अथ तेन दशाहतः परे गुणशेषामुपदिश्य भामिनीम्।
विदुषा विधयो महर्द्धयः पुर एवोपवने समापिताः॥ ७३॥

की जो सुन्दर माला तुम मेरे साथ गूँथ रही थी, उसे अधगुँथी ही छोड़कर इस तरह क्यों सो रही हो?॥ ६४॥ तुम्हारे सुख-दुःख की साथिन ये सखियाँ खड़ी हैं, शुक्लपक्ष के चन्द्रमा जैसा प्रसन्न मुख वाला तुम्हारा पुत्र भी यहीं है और तुम्हारा अनन्य प्रेमी मैं भी तुम्हारे पास हूँ। तब हम लोगों को छोड़कर चले जाने की जो तुमने ठान ली है, यह तुम्हारी बड़ी निर्दयता है॥ ६५॥ आज मेरा धीरज छूट गया, आनन्द जाता रहा, गाना-बजाना दूर हो गया, ऋतुएँ फीकी पड़ गयीं, पहनना-ओढ़ना बेकार हो गया और मेरी शय्या सूनी हो गयी॥ ६६॥ एकमात्र तुम्हीं मेरी स्त्री थी, सम्मति देने वाली मित्र थी, एकान्त की सखी थी और गानविद्या आदि ललित कलाओं में मेरी शिष्या थी। बतलाओ तो सही, तुम्हें मुझसे छीनकर निर्दयी विधाता ने मेरा क्या नहीं छीन लिया॥ ६७॥ हे मदभरे नयनोंवाली! तुमने मेरे मुँह से छूटा हुआ स्वादिष्ट आसव पिया है, तो अब तुम परलोक में आँसुओं के जल से मिली हुई गँदली जलाञ्जलि को कैसे पी पाओगी॥ ६८॥ इतना विशाल ऐश्वर्य होने पर भी तुम्हारे विना अज का सारा सुख जाता रहा। क्योंकि मुझे और किसी वस्तु से प्रेम नहीं है, मेरे तो सब सुखों का केन्द्र केवल तुम्हीं थी॥ ६९॥ कोसलनरेश अज जब अपनी प्रिया के लिए इस प्रकार विलाप कर रहे थे, उस समय उन्हें देखकर उपवन के वृक्ष भी मानो अपनी शाखाओं से रस बहा-बहाकर रुदन करने लगे॥ ७०॥ कुटुम्बियों ने किसी प्रकार अज की गोद से इन्दुमती के शरीर को हटाया और उसी पुष्पमाला से उनका शृंगार करके अगर तथा चन्दन की लकड़ियों से उसका दाह-संस्कार सम्पन्न किया॥ ७१॥ अपनी पत्नी के वियोग से राजा अज इतने दुःखी हो गये कि उन्हें जीने की साध नहीं रह गयी, किन्तु वे इन्दुमती के साथ चिता पर इसलिए नहीं चढे कि कहीं लोग यह न कहने लगें कि राजा अज विद्वान् होकर भी अपनी स्त्री के शोक में मर गये॥ ७२॥ शास्त्रज्ञ अज ने जिस इन्दुमती के केवल गुण शेष रह गये थे, उस प्रिया के सब क्रिया-कर्म दस दिन बीत जाने पर उसी उपवन में बड़े धूम-धाम से पूर्ण किये॥ ७३॥

स विवेश पुरीं तया विना क्षणदापायशशाङ्कदर्शनः।
परिवाहमिवावलोकयन् स्वशुचः पौरवधूमुखाश्रुषु॥ ७४॥
अथ तं सवनाय दीक्षितः प्रणिधानाद्गुरुराश्रमस्थितः।
अभिषङ्गजडं विजज्ञिवानिति शिष्येण किलान्वबोधयत्॥ ७५॥
असमाप्तविधिर्यतो मुनिस्तव विद्वानपि तापकारणम्।
न भवन्तमुपस्थितः स्वयं प्रकृतौ स्थापयितुं पथश्च्युतम्॥ ७६॥
मयि तस्य सुवृत्त! वर्तते लघुसन्देशपदा सरस्वती।
शृणु विश्रुतसत्त्वसार! तां हृदि चैनामुपधातुमर्हसि॥ ७७॥
पुरुषस्य पदेष्वजन्मनः समतीतं च भवच्च भावि च।
स हि निष्प्रतिघेन चक्षुषा त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति॥ ७८॥
चरतः किल दुश्चरं तपस्तृणबिन्दोः परिशङ्कितः पुरा।
प्रजिघाय समाधिभेदिनीं हरिरस्मै हरिणीं सुराङ्गनाम्॥ ७९॥
स तपःप्रतिबन्धमन्युना प्रमुखाविष्कृतचारुविभ्रमाम्।
अशपद्भव मानुषीति तां शमवेलाप्रलयोर्मिणा भुवि॥ ८०॥
भगवन्परवानयं जनः प्रतिकूलाचरितं क्षमस्व मे।
इति चोपनतां क्षितिस्पृशं कृतवानासुरपुष्पदर्शनात्॥ ८१॥
क्रथकैशिकवंशसम्भवा तव भूत्वा महिषी चिराय सा।
उपलब्धवती दिवश्च्युतं विवशा शापनिवृत्तिकारणम्॥ ८२॥

इन्दुमती के वियोग में महाराज अज ऐसे उदास लगने लगे, जैसे रात बीत जाने पर चन्द्रमा मन्द पड जाता है। जब वे नगर में घुसे, तब उन्हें देखकर नगरभर की स्त्रियाँ इस तरह फूट-फूटकर रोने लगीं जैसे अज का सारा शोक उनकी आँखों से वह रहा हो॥ ७४॥ उन दिनों महर्षि वसिष्ठ यज्ञ कर रहे थे। आश्रम में ही उन्होंने योगबल से राजा के शोक का कारण जान लिया और एक शिष्य द्वारा शोकाकुल अज के पास सन्देश भेजा। तदनुसार शिष्य ने आकर अज से कहा—॥ ७५॥ वसिष्ठ मुनि का यज्ञ समाप्त नहीं हुआ था, इसलिए आपके दुःख को जानते हुए भी न तो वे यहाँ आ सके और न शोक से पथभ्रष्ट आपको धीरज ही बँधा सके॥ ७६॥ हे सदाचारिन्! मैं उनका एक छोटा-सा सन्देश लाया हूँ, उसे आप धीरज धर के सुनिए, समझिए और हृदयङ्गम करिए॥ ७७॥ वे अपने ज्ञान के अप्रतिहत नेत्रों से तीनों कालों की बीती हुई, होती हुई और होने वाली सभी बातों को जानते हैं॥ ७८॥ एक समय तृणबिन्दु मुनि कठोर तप कर रहे थे। उनकी तपस्या से डरकर इन्द्र ने उनका तप भंग करने के लिए हरिणी नाम की एक अप्सरा उनके पास भेजी॥ ७९॥ प्रलयकाल की लहर जैसे समुद्र के तट को ढहा देती है, वैसे ही ऋषि का तप डिगाने के लिए वह अप्सरा वहाँ गयी। उसे देखते ही मुनि ने क्रुद्ध होकर शाप देते हुए कहा कि जा, तू संसार में मनुष्य की स्त्री हो जा॥ ८०॥ शाप सुनते ही वह घबरा उठी और धरती पर लोट तथा गिड़गिडाकर बोली—— भगवन्! मैं पराधीन हूँ और मैंने दूसरों के कहने से यह काम किया है। मेरा इसमें कुछ भी दोष नहीं है, मुझे क्षमा कीजिए। तब ऋषि ने कहा——जब तक तुझे स्वर्गीय पुष्प नहीं दीखेंगे, तब तक तुझको पृथ्वी पर रहना ही होगा॥ ८१॥ वह हरिणी अप्सरा क्रथकैशिक (विदर्भ) राजा के वंश में जन्म लेकर तुम्हारी रानी हुई थी—और इतने दिनों पर जैसे ही उसे स्वर्गीय पुष्प दिखलायी दिया, तैसे ही वह शापमुक्त हो तथा शरीर छोड़कर

तदलं तदपायचिन्तया विपदुत्पत्तिमतामुपस्थिता।
वसुधेयमवेक्ष्यतां त्वया वसुमत्या हि नृपाः कलत्रिणः॥८३॥
उदये मदवाच्यमुज्झता श्रुतमाविष्कृतमात्मवत्त्वया।
मनसस्तदुपस्थिते ज्वरे पुनरक्लीबतया प्रकाश्यताम्॥८४॥
रुदता कुत एव सा पुनर्भवता नानुमृतापि लभ्यते।
परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम्॥८५॥
अपशोकमनाः कुटुम्बिनीमनुगृह्णीष्व निवापदत्तिभिः।
स्वजनाश्रु किलातिसन्ततं दहति प्रेतमिति प्रचक्षते॥८६॥
मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ॥८७॥
अवगच्छति मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम्।
स्थिरधीस्तु तदेव मन्यते कुशलद्वारतया समुद्धृतम्॥८८॥
स्वशरीरशरीरिणावपि श्रुतसंयोगविपर्ययौ यदा।
विरहः किमिवानुतापयेद्वद बाह्यैर्विषयैर्विपश्चितम्॥८९॥
न पृथग्जनवच्छुचो वशं वशिनामुत्तम! गन्तुमर्हसि।
द्रुमसानुमतां किमन्तरं यदि वायौ द्वितयेऽपि ते चलाः॥९०॥
स तथेति विनेतुरुदारमतेः प्रतिगृह्य वचो विससर्ज मुनिम्।
तदलब्धपदं हृदि शोकघने प्रतियातमिवान्तिकमस्य गुरोः॥९१॥

देवलोक चली गयी॥८२॥ इसलिए अब आप उसकी मृत्यु का शोक न करें। क्योंकि जो जन्म लेता है, वह मरता ही है। अतएव अब शोक का त्याग तथा सावधान होकर आप पृथ्वी का पालन करिए। क्योंकि राजाओं की सच्ची सहधर्मचारिणी तो पृथ्वी ही होती है॥८३॥ ऐश्वर्य पाकर कितने ही राजा मतवाले हो जाते हैं, किन्तु आप सुख के दिनों में भी इस अपयश से बचे रहे और अभिमान छोड़कर आपने अपने आत्मज्ञान का परिचय दिया था। उमी तरह इस दुःख के समय भी धीरज धर के आप फिर उसी ज्ञान का प्रकाश कीजिए॥८४॥ रोने की बात ही क्या, यदि आप मर जायँ तब भी इन्दुमती अब आपको नहीं मिल सकती। क्योंकि मरने के बाद मब प्राणी अपने-अपने कर्म के अनुसार अलग-अलग मार्ग से जाते हैं॥८५॥ सो अब आप शोक त्यागकर पिण्डदान आदि के द्वारा अपनी पत्नी का परलोक सुधारिए। क्योंकि शास्त्र कहते हैं कि जिसके कुटुम्बी बहुत रोते हैं, उस प्रेतात्मा को बड़ा सन्ताप होता है॥८६॥ जिसने देह धारण किया है, उसका मरना तो स्वाभाविक है। विद्वानों का तो कहना है कि जीना ही बड़ा भारी विकार है। अतः प्राणी जितने क्षण जी जाय, उतने से ही वह सन्तोष कर ले॥८७॥ मूर्ख लोग प्रियजन की मृत्यु को वैसा ही कष्टकारक मानते हैं, जैमे छाती में कील गड़ गयी हो। किन्तु विद्वान् लोगों की समझ में मृत्यु वैसा ही सुख देती है, जैसे हृदय में गडी हुई कील निकल जाने पर सुख होता है॥८८॥ जब कि शरीर और आत्मा भी बिछुडने वाले माने गये हैं, तब पुत्र-स्त्री आदि बाहरी सम्बन्धियों के विछोह से विद्वानों को क्यों दुःख होगा॥८९॥ और फिर आप तो जितेन्द्रियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। तब साधारण लागों के समान शोक मत कीजिए। यदि पर्वत भी वृक्ष के समान आँधी से हिल उठें तो उन दोनों में अन्तर ही क्या रहेगा?॥९०॥ उदारबुद्धि एवं विद्वान् शिक्षक गुरु वसिष्ठ का उपदेश राजा ने स्वीकार किया और उनके शिष्य को इस तरह विदा दी, जैसे अज के शोकभरे

तेनाष्टौ परिगमिताः समाः कथञ्चिद्बालत्वादवितथसूनृतेन सूनोः।
सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनैः प्रियायाः स्वप्नेषु क्षणिकसमागमोत्सवैश्च॥ ९२।
तस्य प्रसह्य हृदयं किल शोकशङ्कुः प्लक्षप्ररोह इव सौधतलं बिभेद।
प्राणान्तहेतुमपि तं भिषजामसाध्यं लाभं प्रियानुगमने त्वरया स मेने॥ ९३॥
सम्यग्विनीतमथ वर्महरं कुमारमादिश्य रक्षणविधौ विधिवत्प्रजानाम्।
रोगोपसृष्टतनुदुर्वसतिं मुमुक्षुः प्रायोपवेशनमतिर्नृपतिर्बभूव॥ ९४॥
तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वोर्देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः।
पूर्वाकाराधिकतररुचा सङ्गतः कान्तयाऽसौ लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु॥ ९५॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
अजविलापो नामाष्टमः सर्गः॥ ८॥

हृदय में स्थान न पाने से उनका उपदेश ही लौटकर चला गया हो॥ ९१॥ प्रिय तथा सत्यभाषी राजा अज ने अपने पुत्र के बचपन का ध्यान करके और प्रियतमा के चित्र को देख-देख तथा स्वप्न में उससे क्षणभर के समागम का आनन्द ले-लेकर किसी प्रकार आठ वर्ष काटे॥ ९२॥ जैसे वटवृक्ष की जटाएँ भवन की तलहटी को छेदकर नीचे घुस जाती हैं, वैसे ही शोक की बर्छी ने राजा अज के हृदय को बलपूर्वक आरपार बींध दिया था। परन्तु अपनी प्रिया के लिए प्राण दे देने को वे इतने उतावले थे कि उन्होंने प्राण लेने वाली और वैद्यों से अच्छी न होनेवाली उस शोक की बर्छी को भी अपना सहायक ही माना॥ ९३॥ तदनन्तर सुशिक्षित तथा कवचधारी कुमार दशरथ को शास्त्रानुसार प्रजा-पालन करने का उपदेश देकर वे उस रुग्ण शरीर से छुटकारा पाने के लिए उपवास करने लगे॥ ९४॥ थोड़े ही दिनों बाद गंगा और सरयू के संगम पर उन्होंने अपना तन त्याग दिया और तत्काल देवता बनकर पहले से भी अधिक सुंदरी भार्या के साथ नन्दन वन के विलासमय भवनों में रमण करने लगे॥ ९५॥

इस प्रकार रघुवंश महाकाव्य में अज-विलाप नामक
आठवाँ सर्ग समाप्त॥ ८॥

नवमः सर्गः

पितुरनन्तरमुत्तरकोसलान् समधिगम्य समाधिजितेन्द्रियः।
दशरथः प्रशशास महारथो यमवतामवतां च धुरि स्थितः॥ १॥
अधिगतं विधिवद्यदपालयत्प्रकृतिमण्डलमात्मकुलोचितम्।
अभवदस्य ततो गुणवत्तरं सनगरं नगरन्ध्रकरौजसः॥ २॥
उभयमेव वदन्ति मनीषिणः समयवर्षितया कृतकर्मणाम्।
बलनिषूदनमर्थपतिं च तं श्रमनुदं मनुदण्डधरान्वयम्॥ ३॥
जनपदे न गदः पदमादधावभिभवः कुत एव सपत्नजः।
क्षितिरभूत्फलवत्यजनन्दने शमरतेऽमरतेजसि पार्थिवे॥ ४॥
दशदिगन्तजिता रघुणा यथा श्रियमपुष्यदजेन ततः परम्।
तमधिगम्य तथैव पुनर्बभौ न न महीनमहीनपराक्रमम्॥ ५॥
समतया वसुवृष्टिविसर्जनैर्नियमनादसतां च नराधिपः।
अनुययौ यमपुण्यजनेश्वरौ सवरुणावरुणाग्रसरं रुचा॥ ६॥
न मृगयाभिरतिर्न दुरोदरं न च शशिप्रतिमाभरणं मधु।
तमुदयाय न वा नवयौवना प्रियतमा यतमानमपाहरत्॥ ७॥
न कृपणा प्रभवत्यपि वासवे न वितथा परिहासकथास्वपि।
न च सपत्नजनेष्वपि तेन वागपरुषा परुषाक्षरमीरिता॥ ८॥

संयम द्वारा अपनी इन्द्रियों को जीत लेने वाले योगियों और प्रजा का पालन करने वाले राजाओं में सर्वश्रेष्ठ दशरथजी ने अपने पिता के बाद उत्तरकोसल का राज्य बड़ी योग्यता से सँभाल लिया॥ १॥ क्योंकि वे क्रौञ्च पहाड़ को फोड़ देने वाले कार्तिकेय के समान बलवान् थे। अतएव उन्होंने अपने पूर्वजों से पायी हुई राजधानी और मण्डलों का ऐसे अच्छे ढंग से पालन किया कि सारी प्रजा उन्हें पहले के सभी राजाओं से अच्छा मानने लगी॥ २॥ विद्वानों का कथन है कि संसार में दो ही तो ऐसे हुए हैं, जिन्होंने कर्तव्य पालन करने वाले लोगों को उनके परिश्रम का ठीक-ठीक पुरस्कार दिया है। उसमें से एक तो इन्द्र हैं, जिन्होंने समय पर वर्षा करके किसानों का परिश्रम सफल किया और दूसरे हैं— मनुवंशी दशरथ, जिन्होंने सुकर्मियों को धन देकर उनका पालन-पोषण किया॥ ३॥ राजा दशरथ देवताओं जैसे तेजस्वी थे और उनका मन सब प्रकार से शान्त था। राज्य को हाथ में लेते ही उनका देश धन-धान्य से भर गया, रोग भी उनके राज्य की सीमा में पैर नहीं जमा सके, फिर शत्रुओं के आक्रमण की तो संभावना ही कैसे होती॥ ४॥ जैसे दसों दिशाएँ जीतने वाले रघु ने और बाद में उनके पुत्र अज ने पृथ्वी की शोभा बढ़ायी थी, वैसे ही उन्हीं दोनों के समान शक्तिशाली महापराक्रमी दशरथ को राजा के रूप में पाकर पृथ्वी की शोभा न बढ़ी हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता॥ ५॥ जैसे यमराज सबको एक समान समझते हैं, वैसे ही वे भी सबसे एक सरीखा व्यवहार करते थे। जैसे कुबेर धन बरसाते हैं, वैसे वे भी धन बाँटते थे। जैसे वरुण दुष्टों को दण्ड देते हैं, वैसे वे भी दुष्टों को दण्ड देते थे। जैसे सूर्य का बड़ा तेज है, वैसे ही उनका भी असाधारण तेज था॥ ६॥ सांसारिक ऐश्वर्य की प्राप्ति में वे ऐसे तल्लीन थे कि आखेट का व्यसन, जुए का खेल, चन्द्रमा की परछाईंयुक्त मदिरा और नवयौवना पत्नी, कोई भी उन्हें आकृष्ट नहीं कर सका॥ ७॥ वे इतने मनस्वी थे कि कभी इन्द्र तक के आगे नहीं गिड़गिड़ाये, हँसी में भी वे झूठ नहीं बोले और क्रुद्ध होने की तो बात ही दूर है, उन्होंने अपने शत्रु

उदयमस्तमयं च रघूद्वहादुभयमानशिरे वसुधाधिपाः।
स हि निदेशमलङ्घयतामभूत्सुहृदयोहृदयः प्रतिगर्जताम्॥ ९ ॥
अजयदेकरथेन स मेदिनीमुदधिनेमिमधिज्यशरासनः।
जयमघोषयदस्य तु केवलं गजवती जवतीव्रहया चमूः ॥१०॥
अवनिमेकरथेन वरूथिना जितवतः किल तस्य धनुर्भृतः।
विजयदुन्दुभितां ययुरर्णवा घनरवा नरवाहनसम्पदः॥ ११॥
शमितपक्षबलः शतकोटिना शिखरिणां कुलिशेन पुरन्दरः।
स शरवृष्टिमुचा धनुषा द्विषां स्वनवतां नवतामरसाननः॥ १२॥
चरणयोर्नखरागसमृद्धिभिर्मुकुटरत्नमरीचिभिरस्पृशन् ।
नृपतयः शतशो मरुतो यथा शतमखं तमखण्डितपौरुषम्॥ १३॥
निववृते स महार्णवरोधसः सचिवकारितबालसुताञ्जलीन्।
समनुकम्प्य सपत्नपरिग्रहाननलकानलकानवमां पुरीम्॥ १४॥
उपगतोऽपि च मण्डलनाभितामनुदितान्यसितातपवारणः।
श्रियमवेक्ष्य स रन्ध्रचलामभूदनलसोऽनलसोमसमद्युतिः॥ १५॥
तमपहाय ककुत्स्थकुलोद्भवं पुरुषमात्मभवं च पतिव्रता।
नृपतिमन्यमसेवत देवता सकमला कमलाघवमर्थिषु॥ १६॥

को भी कभी कोई कठोर बात नहीं कही॥८॥ उन रघुवंश में श्रेष्ठ राजा दशरथ के हाथों अनेक राजा बने और अनेक बिगडे। क्योंकि जो उनका कहना मान लेते थे तो वे दया करके उन्हें छोड देते थे, पर जो ऐंठकर उनसे टक्कर लेने के लिए सामना करते थे, उन्हें वे मिटाकर ही दम लेते थे॥ ९॥ केवल धनुष लेकर तथा अकेले ही एक रथ पर चढकर उन्होंने समुद्र तक फैली हुई सारी पृथ्वी जीत ली। वेग से चलनेवाले हाथी-घोडों वाली उनकी सेना तो जय-जयकार मात्र करती चलती थी॥ १०॥ जब अकेले रथ पर चढे हुए कुवेर के समान सम्पत्तिशाली एवं धनुषधारी दशरथजी पृथ्वी को जीतते हुए चलते थे, तब बादल के जैसा गरजता हुआ समुद्र उनकी विजय-दुंदुभी बजाता था॥ ११॥ इन्द्र ने जैसे नोकोंवाले वज्र से पर्वतों के पंख काटे थे, वैसे ही नवीन कमल जैसे सुन्दर मुखवाले दशरथजी ने बाणवर्षा करने वाले अपने धनुष से शत्रुपक्ष को मार दिया॥ १२॥ देवता लोग जैसे इन्द्र के चरण छूते हैं, वैसे ही सैकड़ों राजाओं ने दशरथ के चरणों पर अपने उन मुकुटों से सुशोभित सिर रख दिये, जिनके मुकुटमणि दशरथजी के पैर के नखों की लाल कान्ति से चमक उठे थे॥ १३॥ जिन-जिन देशों के राजाओं को उन्होंने मार डाला था, उनकी रानियाँ अपने पुत्रों को लेकर राजा दशरथ के आगे आयीं और उन देशों के मन्त्रियों ने उन राजपुत्रों को राजा दशरथ के आगे हाथ जोडवाकर खडा कर दिया। उन खुले केशों वाली शत्रुओं की रानियों के साथ दशरथजी ने बहुत ही दयापूर्ण व्यवहार किया और उस महासमुद्र के तट से वे अपनी उस अयोध्या राजधानी को लौट आये, जो कुबेर की राजधानी अलकापुरी से किसी तरह कम नहीं थी॥ १४॥ इस प्रकार चारों ओर के राजाओं का मण्डल उनकी मुट्ठी में आ गया, जिससे वे अग्नि और चन्द्रमा जैसे तेजस्वी लगने लगे। उनका प्रताप इतना बढ गया कि कोई भी दूसरा राजा श्वेत छत्र नहीं लगाता था। किन्तु चक्रवर्ती हो जाने पर भी वे पास नहीं फटकने देते थे। क्योंकि वे जानते थे कि अपने में जहाँ एक भी छोड़कर चली जायगी॥ १५॥ फिर भगवान् विष्णु तथा दशरथ को था कि जिसके यहाँ हाथ में कमल [illegible] करने वाली एवं पति

तमलभन्त पतिं पतिदेवताः शिखरिणामिव सागरमापगाः।
मगधकोसलकेकयशासिनां दुहितरोऽहितरोपितमार्गणम्॥ १७॥
प्रियतमाभिरसौ तिसृभिर्बभौ तिसृभिरेव भुवं सह शक्तिभिः।
उपगतो विनिनीषुरिव प्रजा हरिहयोऽरिहयोगविचक्षणः॥ १८॥
स किल संयुगमूर्ध्नि सहायतां मघवतः प्रतिपद्य महारथः।
स्वभुजवीर्यमगापयदुच्छ्रितं सुरवधूरवधूतभयाः शरैः॥ १९॥
क्रतुषु तेन विसर्जितमौलिना भुजसमाहृतदिग्वसुना कृताः।
कनकयूपसमुच्छ्रयशोभिनो वितमसा तमसासरयूतटाः॥ २०॥
अजिनदण्डभृतं कुशमेखलां यतगिरं मृगशृङ्गपरिग्रहाम्।
अधिवसंस्तनुमध्वरदीक्षितामसमभासमभासयदीश्वरः॥ २१॥
अवभृथप्रयतो नियतेन्द्रियः सुरसमाजसमाक्रमणोचितः।
नमयति स्म स केवलमुन्नतं वनमुचे नमुचेररये शिरः॥ २२॥
असकृदेकरथेन तरस्विना हरिहयाग्रसरेण धनुर्भृता।
दिनकराभिमुखा रणरेणवो रुरुधिरे रुधिरेण सुरद्विषाम्॥ २३॥
अथ समाववृते कुसुमैर्नवैस्तमिव सेवितुमेकनराधिपम्।
यमकुबेरजलेश्वरवज्रिणां समधुरं मधुरञ्चितविक्रमम्॥ २४॥
जिगमिषुर्धनदाध्युषितां दिशं रथयुजा परिवर्तितवाहनः।
दिनमुखानि रविर्हिमनिग्रहैर्विमलयन्मलयं नगमत्यजत्॥ २५॥

पर्वतों से निकलने वाली नदियाँ जैसे समुद्र को पा लेती हैं, वैसे ही कोसल, मगध और केकय देश के राजाओं की कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयी नाम की राजकन्याओं ने शत्रुओं पर वाण वरसाने वाले दशरथजी को पति के रूप में पा लिया॥ १७॥ शत्रुओं को नष्ट करने वाले दशरथ अपनी तीनों रानियों के साथ ऐसे लगते थे, जैसे स्वर्ग पर राज्य करने वाले स्वयं इन्द्र ही प्रभाव, उत्साह और मंत्र नाम की अपनी तीनों शक्तियों के साथ अवतरित हो गये हों॥ १८॥ महारथी दशरथ ने युद्ध में इन्द्र की सहायता करते हुए अपने वाणों से उनके शत्रुओं का नाश करके देवताओं की स्त्रियों का सब डर दूर कर दिया था। इसीलिए वे सब दशरथजी के वाहुवल के गीत ऊँचे स्वरों से गाने लगी थीं॥ १९॥ अपने वाहुवल से उन्होंने चारों ओर का धन लाकर एकत्र कर लिया था और उनमें नाम को भी तामसी भाव नहीं था। उन्हीं महाराज दशरथ ने अश्वमेध यज्ञ करते समय अपना मुकुट उतारकर तमसा और सरयू के तट पर सोने के अनेक यज्ञस्तम्भ खडे कर दिये॥ २०॥ जब वे मृगछाला पहनकर, हाथ में दण्ड लेकर, कुश की मेखला बाँधकर चुपचाप हरिण की सींग हाथ में लिये यज्ञ की दीक्षा लेकर बैठे, उस समय अष्टमूर्ति महादेव उनके शरीर में प्रविष्ट हो गये, जिससे उनकी शोभा वहुत बढ गयी॥ २१॥ जब यज्ञ समाप्त हो गया और वे स्नान करके पवित्र हुए, तब देवताओं के साथ बैठने योग्य संयमी राजा दशरथ ने केवल नमुचि राक्षस के शत्रु एवं जल वरसाने वाले देवराज इन्द्र के आगे हीं अपना उन्नत मस्तक झुकाया॥ २२॥ रथ पर चढकर एकाकी युद्ध करने वाले, पराक्रमी, धनुर्धर और युद्ध में इन्द्र से भी आगे चलने वाले दशरथ ने सूर्य पर छायी हुई युद्ध की धूल को कई-कई वार राक्षसों के रक्त से सींच-सींचकर दवाया था॥ २३॥ यम, कुबेर, वरुण और इन्द्र सदृश पराक्रमी उन एकछत्र राजा दशरथ का अभिनन्दन करने के लिए वसन्त ऋतु भी नये-नये फूलों की भेंट लेकर आ उपस्थित हुई॥ २४॥ उस समय सूर्य उत्तर की ओर घूम जाना चाहते थे, अतएव उनके सारथी अरुण ने घोड़ों की रास उधर

कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम्।
इति यथाक्रममाविरभून्मधुर्द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम्॥ २६॥
नयगुणोपचितामिव भूपतेः सदुपकारफलां श्रियमर्थिनः।
अभिययुः सरसो मधुसम्भृतां कमलिनीमलिनीरपतत्त्रिणः॥ २७॥
कुसुममेव न केवलमार्तवं नवमशोकतरोः स्मरदीपनम्।
किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिताश्रवणार्पितः॥ २८॥
विरचिता मधुनोपवनश्रियामभिनवा इव पत्रविशेषकाः।
मधुलिहां मधुदानविशारदाः कुरबका रवकारणतां ययुः॥ २९॥
सुवदनावदनासवसम्भृतस्तदनुवादिगुणः कुसुमोद्गमः।
मधुकरैरकरोन्मधुलोलुपैर्बकुलमाकुलमायतपङ्क्तिभिः ॥ ३०॥
उपहितं शिशिरापगमश्रिया मुकुलजालमशोभत किंशुके।
प्रणयिनीव नखक्षतमण्डनं प्रमदया मदयापितलज्जया॥ ३१॥
व्रणगुरुप्रमदाधरदुःसहं जघननिर्विषयीकृतमेखलम्।
न खलु तावदशेषमपोहितुं रविरलं विरलं कृतवान्हिमम्॥ ३२॥
अभिनयान् परिचेतुमिवोद्यता मलयमारुतकम्पितपल्लवा।
अमदयत्सहकारलता मनः सकलिका कलिकामजितामपि॥ ३३॥
प्रथममन्यभृताभिरुदीरिताः प्रविरला इव मुग्धवधूकथाः।
सुरभिगन्धिषु शुश्रुविरे गिरः कुसुमितासु मिता वनराजिषु॥ ३४॥

ही मोड़ दी। तदनन्तर सर्दी दूर करके प्रातःकाल का पाला हटा तथा उसे और भी अधिक चमकाते हुए सूर्य ने मलय पर्वत से विदा ली॥ २५॥ पहले फूल खिले, फिर नयी कोपलें फूटीं, फिर भौंरें गूँजने लगे और तब कोयल की कूक सुनायी देने लगी। इस क्रम से धीरे-धीरे वनस्थली में वसन्त छाया हुआ दीखने लगा॥ २६॥ राजा दशरथ की चतुराई से उनके पास बहुत धन एकत्र हो गया था और उस धन से वे अपनी प्रजा का बहुत उपकार करते थे। अतः जैसे उनकी लक्ष्मी के समक्ष अनेक याचक हाथ फैलाया करते थे, वैसे ही वसन्त की शोभा से सम्पन्न तालाब की कमलिनी के भी आस-पास भौंरें और हंस मँडराने लगे॥ २७॥ उस समय वसन्त में फूले हुए अशोक के फूल ही कामोद्दीपन नहीं करते थे, बल्कि कामियों को मस्त बना देने वाले जिन कोमल कोपलों के गुच्छों को स्त्रियों ने अपने कानों पर रख लिया था, उन्हें देखकर लोगों का मन भी विचलित हो जाता था॥ २८॥ वन में खडे कुरबक के पेड़ ऐसे लगते थे कि जैसे वसन्त ने वनश्री के शरीर पर बेल-बूटे बनाकर उसका शृंगार किया हो। उन वृक्षों से इतना मधु बह रहा था कि भौंरें मस्त होकर उन्हीं पर गुञ्जार रहे थे॥ २९॥ बकुल (मौलसिरी) के जो वृक्ष सुन्दरी स्त्रियों के मदिरा के कुल्ले से फूल उठे थे और जिनमें उन्हीं स्त्रियों जैसे गुण भरे थे, उन्हें झुण्ड बनाकर उडते हुए मधु के लोभी भौंरों ने बहुत तंग किया॥ ३०॥ वसन्त के आगमन से पलास में भी कलियाँ फूट पडीं। वे ऐसी लगती थीं कि मानो काम के आवेश में आकर तथा लाज छोड़कर किसी प्रणयिनी ने अपने प्रियतम के शरीर पर नखक्षत करके उसकी शोभा बढा दी हो॥ ३१॥ जब पतियों के दाँतों से घायल स्त्रियों के ओंठ दुःखा करते हैं और ठंडी होने के कारण स्त्रियाँ अपनी कमर की करधनी भी उतार डालती हैं, वह ठंड अभी भली प्रकार दूर नहीं हुई थी। हाँ, सूर्य ने अपने तेज से कुछ जाड़ा अवश्य कम कर दिया था॥ ३२॥ सहसा नये बौरे हुए आम के वृक्षों की डालियाँ मलय वायु से ऐसी झूम उठीं, जैसे उन्होंने अभिनय सीखना प्रारम्भ कर दिया हो। उन्हें देखकर राग-द्वेष से दूर रहने वाले योगियों का मन भी मस्त हो गया॥ ३३॥ जब मनोहर सुगन्धमयी

श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो वभुः।
उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः ॥ ३५॥
ललितविभ्रमवन्धविचक्षणं सुरभिगन्धपराजितकेसरम्।
पतिषु निर्विविशुर्मधुमङ्गनाः स्मरसखं रसखण्डनवर्जितम् ॥ ३६॥
शुशुभिरे स्मितचारुतराननाः स्त्रिय इव श्लथशिञ्जितमेखलाः।
विकचतामरसा गृहदीर्घिका मदकलोदकलोलविहङ्गमाः ॥ ३७॥
उपययौ तनुतां मधुखण्डिता हिमकरोदयपाण्डुमुखच्छविः।
सदृशमिष्टसमागमनिर्वृतिं वनितयाऽनितया रजनीवधूः ॥ ३८॥
अपतुषारतया विशदप्रभैः सुरतसङ्गपरिश्रमनोदिभिः।
कुसुमचापमतेजयदंशुभिर्हिमकरो मकरोर्जितकेतनम् ॥ ३९॥
हुतहुताशनदीप्ति वनश्रियः प्रतिनिधिः कनकाभरणस्य यत्।
युवतयः कुसुमं दधुराहितं तदलके दलकेसरपेशलम् ॥ ४०॥
अलिभिरञ्जनविन्दुमनोहरैः कुसुमपङ्क्तिनिपातिभिरङ्कितः।
न खलु शोभयति स्म वनस्थलीं न तिलकस्तिलकः प्रमदामिव ॥ ४१॥
अमदयन्मधुगन्धसनाथया किसलयाधरसङ्गतया मनः।
कुसुमसम्भृतया नवमल्लिका स्मितरुचा तरुचारुविलासिनी ॥ ४२॥
अरुणरागनिषेधिभिरंशुकैः श्रवणलब्धपदैश्च यवाङ्कुरैः।
परभृताविरुतैश्च विलासिनः स्मरबलैरबलैकरसाः कृताः ॥ ४३॥

कुसुमित वन की लताओं पर बैठकर कोयल कूकी तो ऐसा लगा कि जैसे कहीं कोई मुग्धा नायिका बोल रही हो ॥ ३४॥ वन के किनारे बढ़ी हुई लताएँ ऐसी सजीव दीखती थीं कि मानो कानों को सुखदायी भौंरों की गुंजार ही उनके गीत हों और विकसित कोमल फूल ही उनकी हँसी के दाँत हों तथा वायु से हिलती हुई शाखाओं वाले हाथों से वे तरह-तरह के हाव-भाव दिखाती हों ॥ ३५॥ कटाक्ष आदि मधुर हाव-भाव करने को उकसाने और बकुलों को भी अपनी सुगन्ध से हरा देने वाले कामदेव के साथी मद्य को स्त्रियों ने पति के प्रेम में बिना कोई बाधा डाले ही पी लिया ॥ ३६॥ नागरिकों के घरों में बनी हुई बावलियों में जो कमल खिले हुए थे और वहाँ मधुर शब्द करते हुए जो जल-पक्षी तैर रहे थे, उनसे वे बावलियाँ ऐसी सुन्दर लगती थीं कि मानो उनमें मुस्कुराती हुई सुन्दर मुखवाली और ढीली होने से बजती हुई करधनी वाली स्त्रियाँ सुशोभित हों ॥ ३७॥ अपने प्रियतम से समागम न होने के कारण जैसे खंडिता नायिका दुबली होती जाती है, वैसे ही रात्रिरूपिणी नायिका भी वसन्त के आगमन से छोटी होती चली गयी और उसका चन्द्रमुख भी पीला पड़ता गया ॥ ३८॥ तुषार (पाला) दूर हो जाने से चन्द्रमा निर्मल हो गया और संभोग की थकावट दूर करने वाली उसकी ठंडी किरणों से कामदेव के पुष्पमय धनुष को जैसे और भी अधिक बल मिल गया ॥ ३९॥ आहुति-प्राप्त अग्नि के समान दमकते हुए कनैर के फूल वनलक्ष्मी के कानों के कर्णफूल जैसे लगते थे। अपने प्रियतमों के हाथों जूड़ों में लगाये हुए वे सुन्दर पंखुड़ी तथा पराग वाले फूल स्त्रियों के केशों में बड़े ही सुन्दर लग रहे थे ॥ ४०॥ उस समय तिलक के वृक्ष ने भी वनस्थली की शोभा कम नहीं बढ़ायी। जैसे किसी युवती के शृंगार के लिए उसका मुँह चित्रित किया जाता है, वैसे ही तिलक वृक्ष के फूलों पर मँडराते हुए काजल की बुँदकियों जैसे सुन्दर भौंरे ऐसे जान पड़ते थे कि जैसे वनस्थली का मुख चित्रित कर दिया गया हो ॥ ४१॥ वृक्षों की सुन्दर नायिका नवमल्लिका लता थी। वह अपने मकरन्दरूपी मद्य के गन्ध से भरी लाल-लाल पत्तों रूपी होठों पर फूलों की मुसकान देखने वालों को आत्मविभोर बना देती थी ॥ ४२॥ उस समय

उपचितावयवा शुचिभिः कणैरलिकदम्बकयोगमुपेयुषी।
सदृशकान्तिरलक्ष्यत मञ्जरी तिलकजालकजालकमौक्तिकैः॥४४॥
ध्वजपटं मदनस्य धनुर्भृतश्छविकरं मुखचूर्णमृतुश्रियः।
कुसुमकेसररेणुमलिव्रजाः सपवनोपवनोत्थितमन्वयुः॥४५॥
अनुभवन्नवदोलमृतूत्सवं पटुरपि प्रियकण्ठजिघृक्षया।
अनयदासनरज्जुपरिग्रहे भुजलतां जलतामबलाजनः॥४६॥
त्यजत मानमलं बत विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः।
परभृताभिरितीव निवेदिते स्मरमते रमते स्म वधूजनः॥४७॥
अथ यथासुखमार्तवमुत्सवं समनुभूय विलासवतीसखः।
नरपतिश्चकमे मृगयारतिं स मधुमन्मधुमन्मथसन्निभः॥४८॥
परिचयं चललक्ष्यनिपातने भयरुषोश्च तदिङ्गितबोधनम्।
श्रमजयात्प्रगुणां च करोत्यसौ तनुमतोऽनुमतः सचिवैर्ययौ॥४९॥
मृगवनोपगमक्षमवेषभृद् विपुलकण्ठनिषक्तशरासनः ।
गगनमश्वखुरोद्धतरेणुभिर्नृसविता स वितानमिवाकरोत्॥५०॥
ग्रथितमौलिरसौ वनमालया तरुपलाशसवर्णतनुच्छदः।
तुरगवल्गनचञ्चलकुण्डलो विरुरुचे रुरुचेष्टितभूमिषु॥५१॥

प्रातःकाल की लाली से भी अधिक लाल वस्त्रों ने, कान पर रखे हुए जौ के अंकुरों ने और कोयल की कूकों की सेना लेकर कामदेव ने ऐसा जाल बिछाया कि सभी विलासी पुरुष युवती स्त्रियों के प्रेम में अपनी सुध-बुध खो बैठे॥४३॥ उजले पराग से भरे तिलक वृक्ष के फूलों के जो गुच्छे बहुत बढ़ चुके थे, अपने ऊपर मँडराते हुए भौंरों के झुण्ड से वे ऐसे सुन्दर लगने लगे कि जैसे किसी स्त्री ने अपने सिर पर मोतियों की जाली ओढ ली हो॥४४॥ जब वायु ने उपवन के फूलों का पराग उड़ाया तो भौंरों के झुण्ड भी उसके पीछे-पीछे उडने लगे। वह उडता हुआ पराग ऐसा लगता था कि मानो धनुर्धारी कामदेव की पताका हो अथवा वसंतश्री के मुख पर लगाने का शृंगारचूर्ण हो॥४५॥ वसन्तोत्सव में जो स्त्रियाँ नये झूलों पर सावधानी के साथ झूला झूल रही थीं, वे भी अपने हाथ की रस्सी को इसलिए छोड़ देती थीं कि हाथ छूटने पर हमारे प्रियतम हमको थाम ही लेंगे और इसी बहाने हम उनके गले से लग जायेंगी॥४६॥ उन दिनों कूकती हुई कोयल जैसे कामदेव का यह आदेश सुना रही थी कि 'हे स्त्रियो ! अब रूठना छोड़ दो। लड़ाई-झगड़ा मत करो, बीता हुआ चतुर यौवन फिर हाथ नहीं आयेगा'। यह सन्देश सुनकर सभी स्त्रियाँ अपने-अपने पतियों के साथ फिर विहार करने लगीं॥४७॥ भगवान् विष्णु जैसे पराक्रमी, वसंत ऋतु के सदृश प्रसन्न और कामदेव के समान सुन्दर दशरथजी ने भी सुन्दरी स्त्रियों के साथ वसंत ऋतु का आनन्द लिया। फिर उनके मन में आखेट करने की इच्छा जाग गयी॥४८॥ क्योंकि आखेट से बड़े लाभ होते हैं। उससे चलते हुए लक्ष्य को बींधने का अभ्यास हो जाता है, जीवों के भय और क्रोध आदि भाव पहचाने जाते हैं और परिश्रम करने से शरीर भी खूब बन जाता है। अतएव मंत्रियों से सलाह करके वे आखेट के लिए चल पडे॥४९॥ जब शिकारी का वेष बनाकर अपने ऊँचे कन्धे पर धनुष टाँगे हुए तेजस्वी राजा दशरथ घोडे पर चढकर चले, तब उनके घोड़ों की टापों से इतनी धूल उड़ी कि उससे आकाश में चँदोवा-सा तन गया॥५०॥ उनके केशों में वनमाला गुँथी थी। वे वृक्ष के पत्तों जैसा गहरे हरे रंग का कवच पहने थे और घोडे के वेग से चलने के कारण उनके कानों के कुण्डल हिल रहे थे। इस वेष में चलते हुए वे उस जंगल में जाकर पहुँचे, जहाँ रुरु जाति

तनुलताविनिवेशितविग्रहा भ्रमरसङ्क्रमितेक्षणवृत्तयः।
ददृशुरध्वनि तं वनदेवताः सुनयनं नयनन्दितकोसलम्॥५२॥
श्वगणिवागुरिकैः प्रथमास्थितं व्यपगतानलदस्यु विवेश सः।
स्थिरतुरङ्गमभूमिनिपानवन्मृगवयोगवयोपचितं वनम्॥५३॥
अथ नभस्य इव त्रिदशायुधं कनकपिङ्गतडिद्गुणसंयुतम्।
धनुरधिज्यमनाधिरुपाददे नरवरो रवरोषितकेसरी॥५४॥
तस्य स्तनप्रणयिभिर्मुहुरेणशावैर्व्याहन्यमानहरिणीगमनं पुरस्तात्।
आविर्बभूव कुशगर्भमुखं मृगाणां यूथं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम्॥५५॥
तत्प्रार्थितं जवनवाजिगतेन राज्ञा तूणीमुखोद्धृतशरेण विशीर्णपङ्क्तिः।
श्यामीचकार वनमाकुलदृष्टिपातैर्वातेरितोत्पलदलप्रकरैरिवार्द्रैः॥५६॥
लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम्।
आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसञ्जहार॥५७॥
तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोः कर्णान्तमेत्य बिभिदे निबिडोऽपि मुष्टिः।
त्रासातिमात्रचटुलैः स्मरतः सुनेत्रैः प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि॥५८॥
उत्तस्थुषः सपदि पल्वलपङ्कमध्यान्मुस्ताप्ररोहकवलावयवानुकीर्णम्।
जग्राह स द्रुतवराहकुलस्य मार्गं सुव्यक्तमार्द्रपदपङ्क्तिभिरायताभिः॥५९॥

के हरिण घूमा करते थे॥५१॥ कोमल लताओं का रूप धारण करके वनदेवता भी भौंरों की आँखों जैसे सुन्दर नेत्रवाले और अपनी नीति से कोसल की प्रजा को सदा सुख पहुँचाने वाले राजा दशरथ को देखने के लिए वहाँ जा पहुँचे॥५२॥ तदनन्तर वे उस जंगल में पहुँचे, जहाँ उनके सेवक पहले से ही जालों और शिकारी कुत्तों को लेकर पहुँच चुके थे। वहाँ न अग्नि का भय था, न चोरों का। वहाँ की पृथ्वी घोड़ों के लिए अच्छी थी। वहाँ बहुत-से ताल थे, जिनके चारों ओर बहुत-से हरिण, पक्षी और नीलगाएँ चरा करती थीं॥५३॥ तब उस सुन्दर तथा स्वस्थ राजा ने अपना वह चढा हुआ धनुष उठाया, जिसकी टंकार सुनकर सिंह भी गरज उठे। उस समय वे उस भादों के महीने जैसे लग रहे थे, जिसमें इन्द्रधनुष निकला हुआ हो और उसमें सोने के रंग की पीली बिजली की डोरी बँधी हुई हो॥५४॥ तभी उन्होंने देखा कि हरिणों का एक झुण्ड चला आ रहा है, जिसमें बहुत-सी हरिणियाँ भी हैं। जो अपने उन बच्चों के कारण रुकती चलती हैं, जो कुशा का अंकुर चबाते-चबाते अपनी माँ के स्तनों का दूध पीने के लिए बीच-बीच में रुक जाते हैं। उस झुण्ड के आगे-आगे एक गर्वीला काला हरिण भी चल रहा था॥५५॥ राजा दशरथ ने ज्यों ही अपने द्रुतगामी घोड़ों पर चढ और तूणीर में से बाण निकाल कर उसका पीछा किया कि वह झुण्ड छितरा गया और उनकी घबरायी हुई आँखों से भरा हुआ वह सारा जंगल ऐसा लगने लगा कि जैसे वायु ने वहाँ नीले कमलों की भींगी पंखुड़ियाँ बिखेर दी हों॥५६॥ तभी इन्द्र के समान शक्तिशाली एवं चतुर धनुर्धर राजा दशरथ ने देखा कि वे जिस हरिण को मारना चाहते थे, उसकी स्त्री हरिणी बीच में आकर खड़ी हो गयी। वे स्वयं भी प्रेमी थे। अतएव अपने हरिण के प्रति हरिणी का यह प्रेम देखकर उनका हृदय दया से भर आया और उन्होंने कान तक खींचा हुआ अपना बाण उतार कर तूणीर में रख लिया॥५७॥ उसके बाद वे दूसरे हरिणों पर बाण चलाना चाहते थे और उन्होंने बाण की चुटकी कान तक खींच भी ली थी, परन्तु जब उन्होंने उन हरिणों की डरी हुई आँखें देखी तो उन्हें अपनी युवती प्रियतमा के चंचल नेत्रों का स्मरण हो आया और उनके हाथ ढीले पड़ गये॥५८॥ अब उन्हें छोड़कर राजा दशरथ उधर घूम पड़े, जिधर आधे

तं वाहनादवनतोत्तरकायमीषद् विध्यन्तमुद्धतसटाः प्रतिहन्तुमीषुः।
नात्मानमस्य विविदुः सहसा वराहा वृक्षेषु विद्धमिषुभिर्जघनाश्रयेषु॥ ६०॥
तेनाभिघातरभसस्य विकृष्य पत्री वन्यस्य नेत्रविवरे महिषस्य मुक्तः।
निर्भिद्य विग्रहमशोणितलिप्तपुङ्खस्तं पातयां प्रथममास पपात पश्चात्॥ ६१॥
प्रायो विषाणपरिमोक्षलघूत्तमाङ्गान्खड्गांश्चकार नृपतिर्निशितैः क्षुरप्रैः।
शृङ्गं स दृप्तविनयाधिकृतः परेषामत्युच्छ्रितं न ममृषे न तु दीर्घमायुः॥ ६२॥
व्याघ्रानभीरभिमुखोत्पतितान्गुहाभ्यः फुल्लासनाग्रविटपानिव वायुरुग्णान्।
शिक्षाविशेषलघुहस्ततया निमेषात् तूणीचकार शरपूरितवक्त्ररन्ध्रान्॥ ६३॥
निर्घातोग्रैः कुञ्जलीनाञ्जिघांसुर्ज्यानिर्घोषैः क्षोभयामास सिंहान्।
नूनं तेषामभ्यसूयापरोऽभूद् वीर्योदग्रे राजशब्दो मृगेषु॥ ६४॥
तान्हत्वा गजकुलबद्धतीव्रवैरान्काकुत्स्थः कुटिलनखाग्रलग्नमुक्तान्।
आत्मानं रणकृतकर्मणां गजानामानृण्यं गतमिव मार्गणैरमंस्त॥ ६५॥
चमरान्परितः प्रवर्तिताश्वः क्वचिदाकर्णविकृष्टभल्लवर्षी।
नृपतीनिव तान्वियोज्य सद्यः सितबालव्यजनैर्जगाम शान्तिम्॥ ६६॥

चाबे हुए मोथे की घास के मुट्ठे स्थान-स्थान पर बिखरे पड़े थे और पैर की गीली छापों की पाँत देखकर ऐसा जान पडता था कि तालों के कीचड़ से निकल-निकलकर बनैले सुअरों का झुण्ड उधर ही गया है॥ ५९॥ ज्यों ही उन्होंने घोड़े पर स्थित अपना शरीर आगे झुकाकर उन सुअरों पर बाण चलाया, त्यों ही वे सूअर भी अपने कड़े बाल खड़े करके राजा दशरथ पर झपटे। किन्तु राजा ने तत्काल ऐसे कसकर बाण मारे कि उन सूअरों का पता ही नहीं चला कि कब वे बाण के साथ उन पेड़ों में चिपक गये, जिनके सहारे खडे थे॥ ६०॥ सहसा उन्होंने देखा कि एक जंगली भैंसा उनकी ओर दौड़ता चला आ रहा है। तत्काल उन्होंने उसकी आँख में एक ऐसा बाण मारा कि वह भैंसे के शरीर में से बड़ी फुर्ती से पार हो गया। किन्तु बाण के पुंख में तनिक-सा भी रक्त नहीं लगा। विशेषता यह थी कि बाण तो देर से गिरा, किन्तु भैंसा पहले ही धराशायी हो गया॥ ६१॥ इतने में उन्हें गैंडों का झुण्ड दिखलाई पडा। तुरन्त राजा दशरथ ने अपने अर्द्धचन्द्र बाणों से उनकी सींग काटकर उनके सिर का बोझ हलका कर दिया। क्योंकि वे सिर उठाकर चलने वालों का दमन अवश्य करते थे। इसी से उन्होंने अकड़कर चलने के साधन उनकी सींगों को काट डाला और उन्हें उनके दीर्घायु प्राणों से तो कोई वैर था ही नहीं॥ ६२॥ बाघ जब अपने माँदों में से निकल कर उनकी ओर झपटे, तब निर्भय राजा दशरथ ने इतनी शीघ्रता से उन पर बाण चलाये कि उनके खुले हुए मुँह बाणों का तूणीर बन गये और वे ऐसे दीखने लगे कि जैसे आँधी से उखड़े और फूले हुए असन (सर्ज) वृक्ष की शिखर की टहनियाँ हों॥ ६३॥ तदुपरान्त झाडियों में लेटे हुए सिंहों को मारने के लिए उन्होंने पहले वज्रपात के समान भयंकर शब्द करने वाले अपने धनुष की डोरी से टंकार किया। उसे सुनते ही वे सिंह भड़क उठे। क्योंकि राजा दशरथ को उन अत्यन्त शक्तिशाली सिंहों की इस बात से चिढ थी कि वे मृग आदि वन्य जीवों के राजा क्यों कहे जाते हैं॥ ६४॥ बस, हाथियों से वैर रखने वाले उन सिंहों को उन्होंने मार डाला, जिनके नुकीले नखों में अब तक गजमुक्ताएँ अटकी हुई थीं। इस प्रकार उन ककुत्स्थवंशी राजा दशरथ ने अपने बाणों से उन हाथियों का ऋण चुका दिया, जो उनकी सेना में युद्ध के समय काम कर रहे थे॥ ६५॥ चमरमृगों के चारों ओर अपना घोड़ा दौड़ाते हुए राजा ने भाले की नोकवाले बाण बरसाकर उन मृगों की चँवर वाली पूँछें काट लीं। इससे उन्हें ऐसा सन्तोष हुआ कि जैसे चँवरधारी राजाओं के श्वेत चँवर ही उन्होंने छीन लिये हों॥ ६६॥ उनके पास से कभी-कभी सुन्दर और चमकीली पूँछों वाले मोर भी उड़ जाते

अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं न स रुचिरकलापं बाणलक्ष्यीचकार।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः ॥ ६७ ॥

तस्य कर्कशविहारसम्भवं स्वेदमाननविलग्नजालकम्।
आचचाम सतुषारशीकरो भिन्नपल्लवपुटो वनानिलः ॥ ६८ ॥

इति विस्मृतान्यकरणीयमात्मनः सचिवावलम्बिधुरं धराधिपम्।
परिवृद्धरागमनुबन्धसेवया मृगया जहार चतुरेव कामिनी ॥ ६९ ॥

स ललितकुसुमप्रवालशय्यां ज्वलितमहौषधिदीपिकासनाथाम्।
नरपतिरतिवाहयाम्बभूव क्वचिदसमेतपरिच्छदस्त्रियामाम् ॥ ७० ॥

उषसि स गजयूथकर्णतालैः पटुपटहध्वनिभिर्विनीतनिद्रः।
अरमत मधुराणि तत्र शृण्वन्विहगविकूजितबन्दिमङ्गलानि ॥ ७१ ॥

अथ जातु रुरोर्गृहीतवर्त्मा विपिने पार्श्वचरैरलक्ष्यमाणः।
श्रमफेनमुचा तपस्विगाढां तमसां प्राप नदीं तुरङ्गमेण ॥ ७२ ॥

कुम्भपूरणभवः पटुरुच्चैरुच्चचार निनदोऽम्भसि तस्याः।
तत्र स द्विरदबृंहितशङ्की शब्दपातिनमिषुं विससर्ज ॥ ७३ ॥

नृपतेः प्रतिषिद्धमेव तत्कृतवान्पङ्क्तिरथो विलङ्घ्य यत्।
अपथे पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः ॥ ७४ ॥

हा तातेति क्रन्दितमाकर्ण्य विषण्णस्तस्यान्विष्यन्वेतसगूढं प्रभवं सः।
शल्यप्रोतं प्रेक्ष्य सकुम्भं मुनिपुत्रं तापादन्तःशल्य इवासीत्क्षितिपोऽपि ॥ ७५ ॥

थे। परन्तु वे उन पर बाण नहीं चलाते थे। क्योंकि उन्हें देखकर राजा दशरथ को रंग-बिरंगी मालाओं से गुँथे और संभोग के कारण खुले हुए अपनी प्रियतमा के केशों का स्मरण हो आता था ॥ ६७ ॥ कठोर परिश्रम से उनके मुँह पर जो पसीना आ गया था, उसे उस वन्य वायु ने सुखा दिया, जो जल के कणों से शीतल होकर पत्तों और कलियों को गिराता हुआ बह रहा था ॥ ६८ ॥ इस प्रकार अपना सब काम भूल और राज्य का भार मंत्रियों पर छोड़कर वन में आये हुए राजा दशरथ का मन आखेट के व्यसन ने वैसे ही लुभा लिया, जैसे कोई स्त्री अपने पति की सेवा करके उसे अपनी मुट्ठी में कर लेती है ॥ ६९ ॥ आखेट का व्यसन उन्हें ऐसा लगा कि कभी-कभी उनको सारी रात फूल-पत्तों की शय्या पर रात को चमकने वाली बूटियों के प्रकाश में बिना किसी सेवक के अकेले ही काटनी पड़ जाती थी ॥ ७० ॥ सवेरे जब नगाड़ों के समान शब्द करने वाले हाथियों के कानों की फट-फट ध्वनि होती थी, तब उनकी नींद खुलती थी। उस समय वन के पक्षी चारणों के समान जो मंगलगीत गाते थे, उन्हें सुनकर वे मस्त हो जाते थे ॥ ७१ ॥ एक दिन राजा दशरथ जंगल में एक रुरु मृग का पीछा करते हुए अपने साथियों से दूर निकल गये। थकावट के कारण उनका घोड़ा मुँह से फेन फेंकने लगा। उसी पर चढ़े हुए वे तमसा नदी के तट पर जा पहुँचे, जहाँ बहुत-से तपस्वियों के आश्रम थे ॥ ७२ ॥ उस समय वहाँ कोई जल में घड़ा भर रहा था। सो सुनकर उन्होंने समझा कि यह हाथी है। बस, बाण निकाला और शब्द पर लक्ष्य करके राजा ने तुरन्त शब्दवेधी बाण चला दिया ॥ ७३ ॥ हाथी को मारना शास्त्रविरुद्ध है । इसलिए दशरथ ने जो किया, वह उनके लिए अनुचित था, परन्तु कभी-कभी विद्वान् लोग भी आवेश में आकर अंधे हो जाते हैं और उलटा काम कर डालते हैं ॥ ७४ ॥ तत्काल कोई चिल्ला पड़ा—'हाय पिता !' यह सुनकर राजा का माथा ठनका और वे उसे ढूँढने चले। आगे जाकर उन्होंने देखा कि नरकट की झाड़ियों में बाणों से बिंधा और घड़े पर झुका हुआ एक मुनिपुत्र पड़ा हुआ है। उसे देखकर उनको ऐसा कष्ट हुआ कि मानो अपने ही तन में बाण चुभ गया हो ॥ ७५ ॥ जब श्रेष्ठवंशज

तेनावतीर्य तुरगात्प्रथितान्वयेन पृष्टान्वयः स जलकुम्भनिषण्णदेहः।
तस्मै द्विजेतरतपस्विसुतं स्खलद्भिरात्मानमक्षरपदैः कथयाम्बभूव ॥ ७६ ॥
तच्चोदितं स तमनुद्धृतशल्यमेव पित्रोः सकाशमवसन्नदृशोर्निनाय।
ताभ्यां तथागतमुपेत्य तमेकपुत्रमज्ञानतः स्वचरितं नृपतिः शशंस ॥ ७७ ॥
तौ दम्पती बहु विलप्य शिशोः प्रहर्त्रा शल्यं निखातमुदहारयतामुरस्तः।
सोऽभूत्परासुरथ भूमिपतिं शशाप हस्तार्पितैर्नयनवारिभिरेव वृद्धः ॥ ७८ ॥
दिष्टान्तमाप्स्यति भवानपि पुत्रशोकादन्त्ये वयस्यहमिवेति तमुक्तवन्तम्।
आक्रान्तपूर्वमिव मुक्तविषं भुजङ्गं प्रोवाच कोसलपतिः प्रथमापराद्धः ॥ ७९ ॥
शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम्।
कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति ॥ ८० ॥
इत्थङ्गते गतघृणः किमयं विधत्तां वध्यस्तवेत्यभिहितो वसुधाधिपेन।
एधान्हुताशनवतः स मुनिर्ययाचे पुत्रं परासुमनुगन्तुमनाः सदारः ॥ ८१ ॥
प्राप्तानुगः सपदि शासनमस्य राजा सम्पाद्य पातकविलुप्तधृतिर्निवृत्तः।
अन्तर्निविष्टपदमात्मविनाशहेतुं शापं दधज्ज्वलनमौर्वमिवाम्बुराशिः ॥ ८२ ॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
मृगयावर्णनं नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

राजा दशरथ ने घोडे से उतरकर घड़े पर झुके मुनिपुत्र से उसका वंश-परिचय पूछा, तव उसने लड़खड़ाती वाणी में बतलाया कि मैं ब्राह्मण नहीं हूँ। मेरे पिता वैश्य और माता शूद्रा है॥ ७६॥ तदनन्तर उसने राजा दशरथ से कहा कि मुझे मेरे अंधे माता-पिता के पास ले चलो। तव राजा दशरथ ने उस बाण से विंधे मुनिपुत्र को उठाया और उसके माता-पिता के पास ले गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने उनको सब बात बता दी कि मैंने भूल से आपके इकलौते पुत्र पर किस प्रकार बाण चला दिया है॥ ७७॥ यह सुनते ही वे दोनों अन्धी-अन्धे विलाप कर रोने लगे और उन्होंने अपने पुत्र के हत्यारे को आज्ञा दी कि मेरे पुत्र की छाती में से बाण निकाल लो। बाण निकलते ही उस मुनिकुमार के प्राण निकल गये। इस पर उस बूढ़े तपस्वी ने अपने आँसुओं से ही अंजली भरकर राजा दशरथ को शाप देते हुए कहा— ॥ ७८॥ हे राजन्! जाओ, तुम भी हमारे ही समान बुढापे में पुत्रशोक से मरोगे। जैसे पैर से दबने पर सर्प विष उगल कर शान्त हो जाता है, वैसे ही शाप देकर जब वे बूढे मुनि शान्त हो गये, तब पहले-पहल के अपराधी राजा दशरथ ने उनसे कहा— ॥ ७९॥ हे मुनि! मुझे तो आज तक पुत्र के मुखकमल का दर्शन ही नहीं मिला है। इसलिए मैं आपके शाप को भी वरदान समझता हूँ। क्योंकि इसी बहाने मुझे पुत्र तो प्राप्त होगा। जंगल की लकडी की आग चाहे तो एक बार पृथ्वी को भले ही जला दे, किन्तु वह पृथ्वी को इतनी उर्वरा बना देती है कि आगे चलकर उसमें बड़ी अच्छी उपज होती है॥ ८०॥ तदनन्तर राजा ने फिर उनसे कहा—मैं तो इसी योग्य हूँ कि आप मेरा वध कर दें। अब मुझ नीच के लिए आपकी क्या आज्ञा होती है? यह सुनकर उस मुनि ने कहा कि अब हम और हमारी स्त्री दोनों ही अपने पुत्र के साथ मर जायेंगे। अतएव हमारे लिए तुम ईंधन और अग्नि जुटा दो॥ ८१॥ तब तक राजा दशरथ के अनुचर भी वहाँ पहुँच चुके थे। मुनि के आज्ञानुसार तत्काल ईंधन और अग्नि जुटा दी गयी। तदुपरान्त जैसे समुद्र के उदर में वड़वानल जला करता है, वैसे ही अपने पाप से अधीर हृदय में मुनि का शाप लिये हुए अवधेश अपने घर लौटे॥ ८२॥

इस प्रकार रघुवंशमहाकाव्य में मृगया-वर्णन नामक
नवाँ सर्ग समाप्त॥ ९॥

दशमः सर्गः

पृथिवीं शासतस्तस्य पाकशासनतेजसः । किञ्चिदूनमनूनर्द्धेः शरदामयुतं ययौ ॥ १ ॥
न चोपलेभे पूर्वेषामृणनिर्मोक्षसाधनम् । सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोकतमोऽपहम् ॥ २ ॥
अतिष्ठत्प्रत्ययापेक्षसन्ततिः स चिरं नृपः । प्राङ्मन्थादनभिव्यक्तरत्नोत्पत्तिरिवार्णवः ॥ ३ ॥
ऋष्यशृङ्गादयस्तस्य सन्तः सन्तानकाङ्क्षिणः । आरेभिरे जितात्मानः पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः ॥
तस्मिन्नवसरे देवाः पौलस्त्योपप्लुता हरिम् । अभिजग्मुर्निदाघार्तश्छायावृक्षमिवाध्वगाः ॥ ५ ॥
ते च प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुषः । अव्याक्षेपो भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्हि लक्षणम् ॥ ६ ॥
भोगिभोगासनासीनं ददृशुस्तं दिवौकसः । तत्फणामण्डलोदर्चिर्मणिद्योतितविग्रहम् ॥ ७ ॥
श्रियः पद्मनिषण्णायाः क्षौमान्तरितमेखले । अङ्के निक्षिप्तचरणमास्तीर्णकरपल्लवे ॥ ८ ॥
प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षं बालातपनिभांशुकम् । दिवसं शारदमिव प्रारम्भसुखदर्शनम् ॥ ९ ॥
प्रभानुलिप्तश्रीवत्सं लक्ष्मीविभ्रमदर्पणम् । कौस्तुभाख्यमपां सारं बिभ्राणं बृहतोरसा ॥ १० ॥
बाहुभिर्विटपाकारैर्दिव्याभरणभूषितैः । आविर्भूतमपां मध्ये पारिजातमिवापरम् ॥ ११ ॥
दैत्यस्त्रीगण्डलेखानां मदरागविलोपिभिः । हेतिभिश्चेतनावद्भिरुदीरितजयस्वनम् ॥ १२ ॥
मुक्तशेषविरोधेन कुलिशव्रणलक्ष्मणा । उपस्थितं प्राञ्जलिना विनीतेन गरुत्मता ॥ १३ ॥

इन्द्र के समान तेजस्वी और अपार धनवाले राजा दशरथ को पृथ्वी पर राज़ करते हुए कुछ कम दस सहस्र बीत गये ॥ १ ॥ परन्तु अब तक पितरों के ऋण से छुटकारा दिलाने तथा शोक के अँधेरे को दूर करने वाली वह ज्योति उन्हें नहीं मिल सकी, जिसे पुत्र कहा जाता है ॥ २ ॥ जैसे समुद्र को रत्न उत्पन्न करने के लिए मथे जाने तक ठहरना पडा था, वैसे ही संतान के लिए कोई उपाय होने तक राजा दशरथ को भी रुकना पड़ा ॥ ३ ॥ उसके बाद ऋष्यशृङ्ग आदि जितेन्द्रिय सन्तों तथा यज्ञ करने वाले ऋषियों ने संतानेच्छुक राजा दशरथ के लिए पुत्रेष्टि यज्ञ प्रारंभ किया ॥ ४ ॥ उसी समय रावण के अत्याचार से घबराये हुए देवता उसी प्रकार विष्णु भगवान् की शरण में गये, जैसे धूप से व्याकुल पथिक छायादार वृक्ष के नीचे जा पहुँचते हैं ॥ ५ ॥ जैसे ही देवता क्षीरसागर में पहुँचे, वैसे ही विष्णु भगवान् भी योगनिद्रा से जाग गये। काम में देर न होना ही उसके पूर्ण होने का सबसे शुभ लक्षण है ॥ ६ ॥ वहाँ पर देवताओं ने देखा कि विष्णु भगवान् शेषशय्या पर लेटे हुए हैं और शेष के फणों की मणियों से उनका शरीर और भी अधिक देदीप्यमान हो उठा है ॥ ७ ॥ उन्हीं के पास कमल पर लक्ष्मीजी बैठी हुई थीं, जिनकी कमर में रेशमी वस्त्र था और जो विष्णु के चरण गोद में लेकर दबा रही थीं ॥ ८ ॥ खिले हुए कमलों और शरद् ऋतु के प्रारंभिक दिन बड़े सुन्दर लगते हैं, वैसे ही खिले हुए कमल जैसी आँखों वाले, प्रातःकाल की धूप जैसे सुनहले वस्त्र पहने और ध्यानमग्न योगियों को सरलता से दर्शन देने वाले विष्णु बडे सुन्दर दीख रहे थे ॥ ९ ॥ उनके विशाल वक्षःस्थल पर वह कौस्तुभमणि चमक रहा था, जिसमें लक्ष्मीजी शृङ्गार अथवा हाव-भाव करते समय अपना मुँह देखा करती हैं और जिसकी चमक से भृगु के चरणप्रहार से बना हुआ श्रीवत्स चिह्न भी चमक रहा था ॥ १० ॥ विविध आभूषणों से सजी हुई उनकी बड़ी-बड़ी भुजाएँ वृक्ष की शाखाओं जैसी थीं। उन भुजाओं से वे ऐसे लग रहे थे, जैसे समुद्र में एक दूसरा कल्पवृक्ष उग आया हो ॥ ११ ॥ दैत्यों को मारकर उनकी स्त्रियों के गालों से मद की लाली मिटाने वाले उनके चक्र-गदा आदि अस्त्र सजीव रूप में खड़े होकर उनकी जय-जयकार कर रहे थे ॥ १२ ॥ शेषनाग से स्वाभाविक विरोध छोड़कर इन्द्र के वज्र की चोट का चिह्न

योगनिद्रान्तविशदैः पावनैरवलोकनैः । भृग्वादीननुगृह्णन्तं सौखशायनिकानृषीन्॥ १४॥
प्रणिपत्य सुरास्तस्मै शमयित्रे सुरद्विषाम् । अथैनं तुष्टुवुः स्तुत्यमवाङ्मनसगोचरम्॥ १५॥
नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते । अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधास्थितात्मने॥ १६॥
रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्यं पयोऽश्नुते । देशे देशे गुणेष्वेवमवस्थास्त्वमविक्रियः॥ १७॥
अमेयो मितलोकस्त्वमनर्थी प्रार्थनावहः । अजितो जिष्णुरत्यन्तमव्यक्तो व्यक्तकारणम्॥ १८॥
हृदयस्थमनासन्नमकामं त्वां तपस्विनम्। दयालुमनघस्पृष्टं पुराणमजरं विदुः॥ १९॥
सर्वज्ञस्त्वमविज्ञातः सर्वयोनिस्त्वमात्मभूः । सर्वप्रभुरनीशस्त्वमेकस्त्वं सर्वरूपभाक्॥ २०॥
सप्तसामोपगीतं त्वां सप्तार्णवजलेशयम् । सप्तार्चिर्मुखमाचख्युः सप्तलोकैकसंश्रयम्॥ २१॥
चतुर्वर्गफलं ज्ञानं कालावस्थाश्चतुर्गुणाः । चतुर्वर्णमयो लोकस्त्वत्तः सर्वं चतुर्मुखात्॥ २२॥
अभ्यासनिगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम् । ज्योतिर्मयं विचिन्वन्ति योगिनस्त्वां विमुक्तये॥ २३॥
अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः । स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव॥ २४॥
शब्दादीन्विषयान्भोक्तुं चरितुं दुश्चरं तपः । पर्याप्तोऽसि प्रजाः पातुमौदासीन्येन वर्तितुम्॥ २५॥

धारण किये हुए गरुड़जी बड़ी नम्रता से हाथ जोडकर उनके समक्ष खडे थे॥ १३॥ योगनिद्रा से उठकर वे अपनी स्वच्छ और पवित्र दृष्टि से उन भृगु आदि ऋषियों को अनुगृहीत कर रहे थे, जो उनसे पूछ रहे थे—'भगवन्! आप सानन्द सो चुके?'॥ १४॥ तब देवताओं ने दैत्यों को नष्ट करने वाले विष्णु भगवान् को प्रणाम किया और उन प्रशंसनीय विष्णु की स्तुति करने लगे, जिन तक न वाणी की पहुँच होती है और न मन ही वहाँ पहुँच सकता है। वे बाले—॥ १५॥ हे प्रभो! पहले विश्व को बनाने वाले, फिर उसका पालन करने वाले और अंत में उसका संहार करने वाले— ये तीन रूप आप धारण किये रहते हैं। आपको हमारा प्रणाम है॥ १६॥ एक ही स्वाद वाला वर्षा का जल अलग-अलग देशों में बरस कर जैसे अलग-अलग स्वादवाला हो जाता है, वैसे ही आप सब प्रकार के विकारों से दूर रहते हुए भी सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों के सहारे अनेक रूप धारण कर लेते हैं॥ १७॥ हे भगवन्! आप कितने बडे हैं, यह कोई नहीं नाप सकता। किन्तु आपने सब लोक नाप डाले हैं। आपको कोई नहीं जीत सकता, परन्तु आपने सबको जीत लिया है। आप किसी को नहीं दीखते, परन्तु आपने ही इस दृश्यमान संसार को उत्पन्न किया है॥ १८॥ हे भगवन्! विद्वानों का कहना है कि आप सबके हृदय में रहते हुए भी सबसे दूर हैं। आपकी कोई इच्छा नहीं है, फिर भी नर-नारायण के रूप से बदरिकाश्रम में तपस्या करते हैं। आप दयालु हैं, परन्तु आपको शोक नहीं होता। आपको लोग पुराणपुरुष कहते हैं, परन्तु आप कभी भी बूढे नहीं होते॥ १९॥ आप सबको जानते हैं, परन्तु आपको कोई नहीं जानता। आपने सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न की है, परन्तु आपको किसी ने नहीं उत्पन्न किया है। आप सबके स्वामी हैं, परन्तु आपका कोई भी स्वामी नहीं है और एक रूप होते हुए भी आप सारे संसार के सब रूप धारण किये हुए हैं॥ २०॥ विद्वानों का कथन है कि सामवेद के सातों प्रकार के गीतों में आपके ही गुण गाये गये हैं। आप ही सातों समुद्रों के जल में निवास करते हैं। सातों प्रकार की अग्नियाँ आपके ही मुख हैं और सातों लोकों के आधार एकमात्र आप ही हैं॥ २१॥ आपके ही चारों मुखों से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष देने वाला ज्ञान उत्पन्न हुआ है। चारों युगों में बँटा हुआ समय भी आपने ही उत्पन्न किया है और चार वर्णो वाला यह संसार भी आपका ही बनाया हुआ है॥ २२॥ प्राणायाम आदि के द्वारा मन को वश में करके मुक्ति पाने के लिए योगी लोग अपने हृदय में बैठे हुए ज्योतिस्वरूप आपकी ही सदा खोज करते रहते हैं॥ २३॥ हे भगवन्! आप अजन्मा कहलाते हुए भी जन्म लेते हैं और अकर्मा होकर भी शत्रुओं का संहार करते हैं। योगनिद्रा में सोते हुए भी आप जागते रहते हैं। तब आपका यथार्थ स्वरूप भला कौन जान सकता है?॥ २४॥ कृष्ण आदि के रूपों में आप शब्द,

बहुधाऽप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः । त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥ २६ ॥
त्वय्यावेशितचित्तानां त्वत्समर्पितकर्मणाम् । गतिस्त्वं वीतरागाणामभूयः सन्निवृत्तये ॥ २७ ॥
प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादिर्महिमा तव । आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा ॥
केवलं स्मरणेनैव पुनासि पुरुषं यतः । अनेन वृत्तयः शेषा निवेदितफलास्त्वयि ॥ २९ ॥
उदधेरिव रत्नानि तेजांसीव विवस्वतः । स्तुतिभ्यो व्यतिरिच्यन्ते दूराणि चरितानि ते ॥ ३० ॥
अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किञ्चन विद्यते । लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः ॥ ३१ ॥
महिमानं यदुत्कीर्त्य तव संह्रियते वचः। श्रमेण तदशक्त्या वा न गुणानामियत्तया ॥ ३२ ॥
इति प्रसादयामासुस्ते सुरास्तमधोक्षजम् । भूतार्थव्याहृतिः सा हि न स्तुतिः परमेष्ठिनः ॥ ३३ ॥
तस्मै कुशलसम्प्रश्नव्यञ्जितप्रीतये सुराः । भयमप्रलयोद्वेलादाचख्युर्नैर्ऋतोदधेः ॥ ३४ ॥
अथ वेलासमासन्नशैलरन्ध्रानुनादिना । स्वरेणोवाच भगवान् परिभूतार्णवध्वनिः ॥ ३५ ॥
पुराणस्य कवेस्तस्य वर्णस्थानसमीरिता । बभूव कृतसंस्कारा चरितार्थैव भारती ॥ ३६ ॥
बभौ सदशनज्योत्स्ना सा विभोर्वदनोद्गता । निर्यातशेषा चरणाद्गङ्गेवोर्ध्वप्रवर्तिनी ॥ ३७ ॥

स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि का भोग करते हैं। नर-नारायण रूप से कठोर तप करते हैं। राम आदि का रूप धारण करके प्रजा का पालन करते हैं और शान्त रूप धारण करके आप उन सवसे उदासीन भी वन जाते हैं॥ २५ ॥ जैसे गंगाजी की सभी धाराएँ समुद्र में जा गिरती हैं, उसी प्रकार सिद्धि (परमानन्द) पाने के जितने मार्ग वतलाये गये हैं, अलग-अलग शास्त्रों में अलग-अलग रूप से वतलाये जाने पर भी वे सव मार्ग आपके ही पास जाते हैं॥ २६ ॥ जो लोग सदा आपका ही ध्यान धरते हैं, जिन्होंने अपने सव कर्म आपको ही अर्पित कर दिये हैं और जो राग-द्वेष से दूर हैं, उनको आप ही जन्म-मरण के वन्धन से छुड़ाते हैं॥ २७ ॥ यद्यपि पृथ्वी आदि को देखने से आपकी महिमा प्रकट होती है, परन्तु उतने से ही आपका वर्णन नहीं किया जा सकता। तव वेदों के वर्णन तथा अनुमान से आपका ज्ञान कैसे हो सकेगा ? ॥ २८ ॥ आपके स्मरणमात्र से लोग पवित्र हो जाते हैं। फिर यदि उन्हें आपका दर्शन मिल जाय, वे आपका चरण छूकर तथा आपकी वाणी सुनकर जो उन्हें पुण्य होगा, उसका वर्णन कौन कर सकता है ? ॥ २९ ॥ जैसे समुद्र के रत्न और सूर्य की किरणें नहीं गिनी जा सकतीं, वैसे ही स्तुति करके आपके पूरे चरित्र का वर्णन नहीं किया जा सकता॥ ३० ॥ संसार में प्राप्त करने योग्य ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो आपके हाथ में न हो। फिर भी आप जो जन्म लेते और कर्म करते हैं, उसका उद्देश्य यही है कि आप संसार पर कृपा करना चाहते हैं॥ ३१ ॥ आपके महत्त्व की प्रशंसा करके जो हम चुप हो रहे हैं, सो इसलिए नहीं कि हमने आपके सव गुण वखान डाले, वल्कि इसलिए कि हम अव थक गये और आगे वोलने की शक्ति हममें नहीं रह गयी है॥ ३२ ॥ जो भगवान् किसी भी इन्द्रिय से नहीं प्राप्त होते, उनकी स्तुति करके देवताओं ने उन्हें प्रसन्न कर लिया। वह स्तुति भी उनकी झूठी प्रशंसा नहीं थी, अपितु सव वातें यथार्थ थीं॥ ३३ ॥ तव विष्णु भगवान् ने प्रसन्न होकर उनसे कुशल-मंगल पूछा। जिसके उत्तर में देवताओं ने कहा कि आजकल ऐसे-ऐसे राक्षसरूपी समुद्र उत्पन्न हो गये हैं, जिन्होंने विना प्रलयकाल के ही सारे संसार की मर्यादा भंग करके चारों ओर हाहाकार मचा रखा है॥ ३४ ॥ यह सुना तो समुद्र से भी वढकर गंभीर ध्वनि में भगवान् वोले। तव क्षीरसागर के तट पर विद्यमान पहाड़ों की गुफाओं में पहुँचकर उनके शब्द गूँज उठे॥ ३५ ॥ भगवान् विष्णु तो सवसे पुराने कवि हैं। इसलिए जव उनके कण्ठ, तालु, दाँत तथा होठ आदि उच्चारण के स्थानों से भली-भाँति वाणी निकली, तव जैसे सरस्वतीजी अपने जन्म लेने का फल पा गयीं॥ ३६ ॥ उनके दाँतों की द्युति से जगमगाती हुई उनकी वाणी जव मुख से निकली, तव वह ऐसी सुन्दर लगी कि जैसे उनके चरणों से निकलकर गंगाजी ऊपर आकाश को चली जा रही हों॥ ३७ ॥ विष्णु भगवान् ने कहा—हे देवताओ! जैसे संसार

जाने वो रक्षसाक्रान्तावनुभावपराक्रमौ । अङ्गिनां तमसेवोभौ गुणौ प्रथममध्यमौ ॥ ३८ ॥
विदितं तप्यमानं च तेन मे भुवनत्रयम् । अकामोपनतेनेव साधोर्हृदयमेनसा ॥ ३९ ॥
कार्येषु चैककार्यत्वादभ्यर्थ्योऽस्मि न वज्रिणा । स्वयमेव हि वातोऽग्नेः सारथ्यं प्रतिपद्यते ॥ ४० ॥
स्वासिधारापरिहृतः कामं चक्रस्य तेन मे । स्थापितो दशमो मूर्धा लभ्यांश इव रक्षसा ॥ ४१ ॥
स्रष्टुर्वरातिसर्गात्तु मया तस्य दुरात्मनः । अत्यारूढं रिपोः सोढं चन्दनेनेव भोगिनः ॥ ४२ ॥
धातारं तपसा प्रीतं ययाचे स हि राक्षसः । दैवात्सर्गादवध्यत्वं मर्त्येष्वास्थापराङ्मुखः ॥ ४३ ॥
सोऽहं दाशरथिर्भूत्वा रणभूमेर्बलिक्षमम् । करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैस्तच्छिरःकमलोच्चयम् ॥ ४४ ॥
अचिराद्यज्वभिर्भागं कल्पितं विधिवत्पुनः । मायाविभिरनालीढमादास्यध्वे निशाचरैः ॥ ४५ ॥
वैमानिकाः पुण्यकृतस्त्यजन्तु मरुतां पथि । पुष्पकालोकसङ्क्षोभं मेघावरणतत्पराः ॥ ४६ ॥
मोक्ष्यध्वे स्वर्गबन्दीनां वेणीबन्धानदूषितान् । शापयन्त्रितपौलस्त्यबलात्कारकचग्रहैः ॥ ४७ ॥
रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन सः । अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे ॥ ४८ ॥
पुरुहूतप्रभृतयः सुरकार्योद्यतं सुराः । अंशैरनुययुर्विष्णुं पुष्पैर्वायुमिव द्रुमाः ॥ ४९ ॥
अथ तस्य विशाम्पत्युरन्ते काम्यस्य कर्मणः । पुरुषः प्रबभूवाग्नेर्विस्मयेन सहर्त्विजाम् ॥ ५० ॥

के जीवों के सतोगुण और रजोगुण को उनका तमोगुण दबा देता है, वैसे ही आपके तेज और बल को रावण ने दबा दिया है॥ ३८॥ जैसे अनजान में किये हुए पाप से सज्जन का मन घबरा जाता है, वैसे ही रावण के अत्याचारों से तीनों लोक घबरा उठे हैं॥ ३९॥ अतएव रावण को मिटा डालने का काम जैसे इन्द्र का है, वैसा ही मेरा भी है। एतदर्थ इन्द्र ने जो मेरी प्रार्थना की है, उसकी मैं कोई आवश्यकता नहीं समझता। क्योंकि आग की सहायता के लिए वायु से कहना नहीं पड़ता, वह तो स्वयं आग को भडका देता है॥ ४०॥ शिवजी को प्रसन्न करने के लिए रावण ने पूर्वकाल में अपने नौ सिर काटकर चढा दिये थे। अब ऐसा लगता है कि उस राक्षस ने अपना दसवाँ सिर मेरे चक्र से कटने के लिए ही बाकी रख छोडा है॥ ४१॥ ब्रह्माजी ने जो उसे वरदान दे दिया था, उसी से मैंने उस दुष्ट का दिन-प्रतिदिन ऊपर चढना उसी प्रकार सह लिया है, जैसे अपने ऊपर चढते हुए साँप को चन्दन का पेड सह लिया करता है॥ ४२॥ ब्रह्माजी जब उसकी तपस्या से प्रसन्न हुए, तब उसने यही वरदान माँगा था कि मैं देवताओं के हाथ से न मारा जा सकूँ। क्योंकि मनुष्यों को वह कुछ समझता ही नहीं है॥ ४३॥ इसीलिए मैं राजा दशरथ के यहाँ पुत्ररूप में जन्म लेकर अपने तीखे बाणों से उसके सिरों को कमल के सदृश उतार कर रणभूमि में भेंट चढाऊँगा॥ ४४॥ हे देवताओ! यजमानों द्वारा विधि से तुम्हें दिया हुआ यज्ञभाग अब राक्षस लोग नहीं खा सकेंगे। वह आप ही लोग पायेंगे॥ ४५॥ अब निडर होकर आप लोग अपने-अपने विमानों पर चढकर आकाश में घूमिए और रावण का पुष्पक विमान देख और उससे डरकर बादलों में छिपना छोड़ दीजिए॥ ४६॥ स्वर्ग की जिन स्त्रियों को रावण ने अपने यहाँ बन्दी बना लिया है, उनके जूडों पर नल-कूबर के शाप के डर से उसने हाथ नहीं लगाया है। अब आप ही लोग उन स्त्रियों के पवित्र जूडे अपने हाथों से खोलिएगा॥ ४७॥ जैसे सूखे के समय कोई बादल धान के खेत पर जल बरसाकर चला जाय, वैसे ही रावण के डर से सूखे हुए देवताओं पर अपना मधुर वचनामृत बरसाकर विष्णु भगवान् अन्तर्धान हो गये॥ ४८॥ वायु के चलने पर जैसे वन के वृक्ष स्वयं उसके पीछे न जाकर अपने फूल उसके साथ भेज देते हैं, वैसे ही जब भगवान् विष्णु देवताओं का कार्य करने को चले, तब इन्द्र आदि देवताओं ने भी अपने-अपने अंश उनके साथ भेज दिये॥ ४९॥ इधर जैसे राजा दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ समाप्त हुआ, वैसे ही यज्ञ के अग्निकुण्ड से एक पुरुष प्रकट हुआ, जिसे देखकर यज्ञ करने वाले सभी ऋत्विक् बडे आश्चर्य में पड़ गये॥ ५०॥ उस पुरुष के हाथों

हेमपात्रगतं दोर्भ्यामादधानः पयश्चरुम् । अनुप्रवेशादाद्यस्य पुंसस्तेनापि दुर्वहम् ॥ ५१ ॥
प्राजापत्योपनीतं तदन्नं प्रत्यग्रहीन्नृपः । वृषेव पयसां सारमाविष्कृतमुदन्वता ॥ ५२ ॥
अनेन कथिता राज्ञो गुणास्तस्यान्यदुर्लभाः । प्रसूतिं चकमे तस्मिंस्त्रैलोक्यप्रभवोऽपि यत् ॥ ५३ ॥
स तेजो वैष्णवं पत्न्योर्विभेजे चरुसंज्ञितम् । द्यावापृथिव्योः प्रत्यग्रमहर्पतिरिवातपम् ॥ ५४ ॥
अर्चिता तस्य कौसल्या प्रिया केकयवंशजा । अतः सम्भाविताां ताभ्यां सुमित्रामैच्छदीश्वरः ॥
ते बहुज्ञस्य चित्तज्ञे पत्न्यौ पत्युर्महीक्षितः । चरोरर्धार्धभागाभ्यां तामयोजयतामुभे ॥ ५६ ॥
सा हि प्रणयवत्यासीत्सपत्न्योरुभयोरपि । भ्रमरी वारणस्येव मदनिस्यन्दरेखयोः ॥ ५७ ॥
ताभिर्गर्भः प्रजाभूत्यै दध्रे देवांशसम्भवः । सौरीभिरिव नाडीभिरमृताख्याभिरम्मयः ॥ ५८ ॥
सममापन्नसत्त्वास्ता रेजुरापाण्डुरत्विषः । अन्तर्गतफलारम्भाः सस्यानामिव सम्पदः ॥ ५९ ॥
गुप्तं ददृशुरात्मानं सर्वाः स्वप्नेषु वामनैः । जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रलाञ्छितमूर्तिभिः ॥ ६० ॥
हेमपक्षप्रभाजालं गगने च वितन्वता । उह्यन्ते स्म सुपर्णेन वेगाकृष्टपयोमुचा ॥ ६१ ॥
बिभ्रत्या कौस्तुभन्यासं स्तनान्तरविलम्बिनम् । पर्युपास्यन्त लक्ष्म्या च पद्मव्यजनहस्तया ॥ ६२ ॥
कृताभिषेकैर्दिव्यायां त्रिस्रोतसि च सप्तभिः । ब्रह्मर्षिभिः परं ब्रह्म गृणद्भिरुपतस्थिरे ॥ ६३ ॥
ताभ्यस्तथाविधान्स्वप्नाञ्छ्रुत्वा प्रीतो हि पार्थिवः । मेने परार्ध्यमात्मानं गुरुत्वेन जगद्गुरोः ॥
विभक्तात्मा विभुस्तासामेकः कुक्षिष्वनेकधा । उवास प्रतिमाचन्द्रः प्रसन्नानामपामिव ॥ ६५ ॥

में खीर से भरा हुआ स्वर्णपात्र था। उस खीर में सारे ब्रह्माण्ड को सँभालने वाले विष्णु भगवान् समाये हुए थे। इसलिए वह दिव्य पुरुष उस पात्र को बड़ी कठिनाई से सँभाले हुए था ॥ ५१ ॥ इन्द्र ने जैसे समुद्र में से निकले अमृतकलश को ले लिया था, वैसे ही राजा दशरथ ने भी उस दिव्य पुरुष के हाथ से वह खीर ले ली ॥ ५२ ॥ उस पुरुष ने राजा के असाधारण गुणों की ऐसी प्रशंसा की कि त्रिलोकी के जनक विष्णु को भी उनके यहाँ जन्म लेने की इच्छा हो गयी ॥ ५३ ॥ सूर्यनारायण जैसे अपनी नयी धूप पृथ्वी और आकाश दोनों में बाँट देते हैं, वैसे ही खीर के रूप में पाये हुए विष्णु के तेज को राजा दशरथ ने कौसल्या और कैकेयी में बराबर-बराबर बाँट दिया ॥ ५४ ॥ कौसल्या उनकी बड़ी रानी और कैकेयी उनकी प्यारी थी। अतएव वे चाहते थे कि दोनों रानियाँ स्वयं अपने-अपने भाग में से कुछ अंश देकर सुमित्रा का सम्मान करें ॥ ५५ ॥ तदनुसार सर्वज्ञ राजा दशरथ की इच्छा जानकर उन दोनों रानियों ने अपनी-अपनी खीर का कुछ भाग सुमित्रा को दे दिया ॥ ५६ ॥ हाथी के दोनों कपोलों से बहने वाले मद की दोनों धाराओं से जैसे भ्रमरी प्रेम करती है, वैसे ही सुमित्रा भी अपनी दोनों सौतों से बराबर प्रेम करती थी ॥ ५७ ॥ जैसे जल बरसाने वाली अमृता नाम की सूर्य की किरणें संसार के कल्याणार्थ जल धारण किये रहती हैं, वैसे ही उन तीनों रानियों ने लोककल्याणार्थ विष्णु के अंशस्वरूप गर्भ को धारण किया ॥ ५८ ॥ एक साथ गर्भ धारण करने वाली वे रानियाँ गर्भ से पीली पडकर दानाभरे अनाज की बालों जैसी पीली लगती थीं ॥ ५९ ॥ वे यह स्वप्न देखती थीं कि कमल, तलवार, गदा, शार्ङ्ग धनुष और चक्र लिये हुए कोई बौना-सा पुरुष उनकी रक्षा कर रहा है ॥ ६० ॥ अपने स्वर्णपंखों से प्रकाश फैलाता और वेग के कारण बादलों को भी साथ खींचकर ले जाता हुआ गरुड़ हमें आकाश में उड़ाये लिये जा रहा है ॥ ६१ ॥ अपने वक्षःस्थल पर लटकने वाला कौस्तुभमणि पहने हुए लक्ष्मी हाथ में कमल का पंखा लेकर हमारी सेवा कर रही हैं ॥ ६२ ॥ उनके अतिरिक्त आकाशगङ्गा में स्नान करके सप्तर्षि भी वेद-पाठ करते हुए हमारी ही उपासना करते हैं ॥ ६३ ॥ रानियों ने जब राजा को अपने ये स्वप्न सुनाये, तब वे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने समझ लिया कि अब संसार में मुझसे बढकर भाग्य वान् कोई नहीं है। क्योंकि मैं विष्णु भगवान् का भी पिता बनूँगा ॥ ६४ ॥ यद्यपि विष्णु भगवान् का

अथाग्र्यमहिषी राज्ञः प्रसूतिसमये सती । पुत्रं तमोपहं लेभे नक्तं ज्योतिरिवौषधिः ॥ ६६ ॥
राम इत्यभिरामेण वपुषा तस्य चोदितः । नामधेयं गुरुश्चक्रे जगत्प्रथममङ्गलम् ॥ ६७ ॥
रघुवंशप्रदीपेन तेनाप्रतिमतेजसा । रक्षागृहगता दीपाः प्रत्यादिष्टा इवाभवन् ॥ ६८ ॥
शय्यागतेन रामेण माता शातोदरी बभौ । सैकताम्भोजबलिना जाह्नवीव शरत्कृशा ॥ ६९ ॥
कैकेय्यास्तनयो जज्ञे भरतो नाम शीलवान् । जनयित्रीमलञ्चक्रे यः प्रश्रय इव श्रियम् ॥ ७० ॥
सुतौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रा सुषुवे यमौ । सम्यगाराधिता विद्या प्रबोधविनयाविव ॥ ७१ ॥
निर्दोषमभवत्सर्वमाविष्कृतगुणं जगत् । अन्वगादिव हि स्वर्गो गां गतं पुरुषोत्तमम् ॥ ७२ ॥
तस्योदये चतुर्मूर्तेः पौलस्त्यचकितेश्वराः । विरजस्कैर्नभस्वद्भिर्दिश उच्छ्वसिता इव ॥ ७३ ॥
कृशानुरपधूमत्वात् प्रसन्नत्वात् प्रभाकरः । रक्षोविप्रकृतावास्तामपविद्धशुचाविव ॥ ७४ ॥
दशाननकिरीटेभ्यस्तत्क्षणं राक्षसश्रियः । मणिव्याजेन पर्यस्ताः पृथिव्यामश्रुबिन्दवः ॥ ७५ ॥
पुत्रजन्मप्रवेश्यानां तूर्याणां तस्य पुत्रिणः । आरम्भं प्रथमं चक्रुर्देवदुन्दुभयो दिवि ॥ ७६ ॥
सन्तानकमयी वृष्टिर्भवने चास्य पेतुषी । सन्मङ्गलोपचाराणां सैवादिरचनाऽभवत् ॥ ७७ ॥
कुमाराः कृतसंस्कारास्ते धात्रीस्तन्यपायिनः । आनन्देनाग्रजेनेव समं ववृधिरे पितुः ॥ ७८ ॥
स्वाभाविकं विनीतत्वं तेषां विनयकर्मणा । मुमूर्च्छ सहजं तेजो हविषेव हविर्भुजाम् ॥ ७९ ॥

एक ही रूप है, परन्तु जैसे निर्मल जल में चन्द्रमा के बहुत-से प्रतिबिम्ब दीखते हैं, वैसे ही वे भगवान् भी तीनों रानियों के गर्भो में अलग-अलग रह रहे थे॥ ६५॥ जैसे पर्वत की अनेक जड़ी-बूटियों में रात को अँधेरा दूर करने वाला प्रकाश आ जाता है, वैसे ही राजा की पटरानी कौसल्या ने तमोगुण को दूर करने वाला एक तेजस्वी पुत्र उत्पन्न किया॥ ६६॥ उस बालक के सुन्दर शरीर को देखकर वसिष्ठजी ने उसका संसार में प्रथम मङ्गलकारी 'राम' नाम रख दिया॥ ६७॥ रघुवंश को उजागर करने वाले उस बालक का इतना प्रखर तेज था कि उसके समक्ष सौरीघर के दीपकों की ज्योति मन्द पड गयी॥ ६८॥ प्रसव से दुबली माता कौसल्या नन्हें-से राम को लिये पलंग पर लेटी हुई ऐसी सुन्दर दीखती थी, जैसे शरद् ऋतु में पतली धारावाली गङ्गाजी के तट पर पूजारूप में चढाया हुआ नीलकमल रखा हो॥ ६९॥ उधर कैकेयी ने भरत को जन्म दिया। उन्हें पाकर वह ऐसी सुन्दर लग रही थी, जैसे लक्ष्मी के साथ विनय शोभित होता है॥ ७०॥ जैसे अभ्यास से प्राप्त विद्या द्वारा ज्ञान और विनय दोनों मिल जाते हैं, वैसे ही सुमित्रा के लक्ष्मण और शत्रुघ्न नाम के दो जुड़वाँ पुत्र उत्पन्न हुए॥ ७१॥ उस समय सारे संसार के दोष भाग गये और चारों ओर गुण ही गुण फैल गये। जैसे विष्णु भगवान् के साथ-साथ स्वर्ग भी पृथ्वी पर उतर आया हो॥ ७२॥ दसों दिशाओं में बिना धूल की जो स्वच्छ हवा चलने लगी, वह ऐसी लगती थी कि जैसे रावण से भयभीत कुबेर आदि दिक्पालों ने पृथ्वी पर चार रूपों में अवतरित भगवान् को पाकर सन्तोष की साँस ली हो॥ ७३॥ रावण द्वारा सताये हुए अग्नि का धुआँ निकल गया और सूर्य भी निर्मल हो गये। जैसे उन दिनों उनका शोक दूर हो गया हो॥ ७४॥ उसी समय सहसा रावण के मुकुट से निकल कर कुछ मणि पृथ्वी पर ऐसे गिर पडे जैसे राक्षसों की राजलक्ष्मी के आँसू चू पड़े हों॥ ७५॥ पुत्रवान् दशरथ के घर पुत्र-जन्म के समय नगाडे आदि बाजे बाद में बजे, उसके पहले देवताओं ने स्वर्ग में बधाई की दुंदुभी बजा दी॥ ७६॥ उनके राजमहल पर आकाश से कल्पवृक्षों के फूलों की जो वर्षा हुई, उसी से उन चारों पुत्रों के माङ्गलिक संस्कारों का श्रीगणेश हुआ॥ ७७॥ जातकर्म आदि संस्कार हो जाने पर धाय का दूध पी-पीकर जैसे-जैसे वे राजकुमार बढने लगे, वैसे ही वैसे राजा का आनन्द भी बढने लगा। जैसे वह आनन्द भी उन चारों भाइयों का बड़ा भाई हो॥ ७८॥ जैसे घी आदि की आहुति पड़ने से हवन की अग्नि का तेज बढ जाता है, वैसे ही शिक्षा पाने से उन

परस्परविरुद्धास्ते तद्रघोरनघं कुलम् । अलमुद्द्योतयामासुर्देवारण्यमिवर्तवः ॥ ८० ॥
समानेऽपि हि सौभ्रात्रे यथोभौ रामलक्ष्मणौ । तथा भरतशत्रुघ्नौ प्रीत्या द्वन्द्वं बभूवतुः ॥ ८१ ॥
तेषां द्वयोर्द्वयोरैक्यं बिभिदे न कदाचन । यथा वायुविभावस्वोर्यथा चन्द्रसमुद्रयोः ॥ ८२ ॥
ते प्रजानां प्रजानाथास्तेजसा प्रश्रयेण च । मनो जह्रुर्निदाघान्ते श्यामाभ्रा दिवसा इव ॥ ८३ ॥
स चतुर्धा बभौ व्यस्तः प्रसवः पृथिवीपतेः । धर्मार्थकाममोक्षाणामवतार इवाङ्गभाक् ॥ ८४ ॥
गुणैराराधयामासुस्ते गुरुं गुरुवत्सलाः । तमेव चतुरन्तेशं रत्नैरिव महार्णवाः ॥ ८५ ॥

सुरगज इव दन्तैर्भग्नदैत्यासिधारैर्नय इव पणबन्धव्यक्तयोगैरुपायैः ।
हरिरिव युगदीर्घैर्दोर्भिरंशैस्तदीयैः पतिरवनिपतीनां तैश्चकाशे चतुर्भिः ॥ ८६ ॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
रामावतारो नाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥

चारों राजकुमारों की स्वाभाविक विनम्रता और भी अधिक बढ़ गयी ॥ ७९ ॥ जैसे छहों ऋतुएँ नन्दन वन को देदीप्यमान कर देती हैं, वैसे ही पारस्परिक प्रेम से उन चारों कुमारों ने पवित्र रघुकुल को जगमगा दिया ॥ ८० ॥ यद्यपि चारों भाइयों में परस्पर बहुत प्रेम था, फिर भी विशेष प्रेम के कारण जैसे राम और लक्ष्मण की एक जोड़ी बन गयी थी, वैसे ही भरत और शत्रुघ्न की भी जोड़ी बन गयी ॥ ८१ ॥ जैसे वायु और अग्नि का तथा चन्द्रमा और समुद्र का जोड़ा कभी नहीं बिछुड़ता, वैसे ही राम और लक्ष्मण का तथा भरत और शत्रुघ्न का साथ कभी नहीं छूटता था ॥ ८२ ॥ प्रजाजनों के स्वामी उन राजकुमारों ने अपने तेज और नम्र व्यवहार से अपनी प्रजा का मन उसी प्रकार हर लिया, जैसे गर्मी के अंत में काले बादल लोगों का मन हर लेते हैं ॥ ८३ ॥ राजा की वे चारों संतानें ऐसी सुन्दर लग रहीं थीं जैसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष— ये चारों पदार्थ अवतरित हो गये हों ॥ ८४ ॥ उन चारों पितृभक्त राजकुमारों ने राजा दशरथ को अपने गुणों से उसी प्रकार मोह लिया, जैसे चारों समुद्रों ने विविध रत्न देकर चारों दिशाओं के स्वामी राजा दशरथ को मोह लिया था ॥ ८५ ॥ असुरों की तलवारों की धार कुंठित करने वाले अपने चार दाँतों से जैसे ऐरावत शोभित होता है; जैसे साम, दाम, दण्ड और भेद—इन चार उपायों से राजनीति शोभित होती है और रथ के जुए के समान अपनी लम्बी-लम्बी चार भुजाओं से जैसे विष्णु भगवान् शोभित होते हैं, वैसे ही दशरथ भी अपने चारों सुयोग्य पुत्रों से सुशोभित हुए ॥ ८६ ॥

इस प्रकार रघुवंशमहाकाव्य में रामावतार नामक
दशवाँ सर्ग समाप्त ॥ १० ॥

एकादशः सर्गः

कौशिकेन स किल क्षितीश्वरो राममध्वरविघातशान्तये।
काकपक्षधरमेत्य याचितस्तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते॥ १॥
कृच्छ्रलब्धमपि लब्धवर्णभाक् तं दिदेश मुनये सलक्ष्मणम्।
अप्यसुप्रणयिनां रघोः कुले न व्यहन्यत कदाचिदर्थिता॥ २॥
यावदादिशति पार्थिवस्तयोर्निर्गमाय पुरमार्गसंस्क्रियाम्।
तावदाशु विदधे मरुत्सखैः सा सपुष्पजलवर्षिभिर्घनैः॥ ३॥
तौ निदेशकरणोद्यतौ पितुर्धन्विनौ चरणयोर्निपेततुः।
भूपतेरपि तयोः प्रवत्स्यतोर्नम्रयोरुपरि बाष्पबिन्दवः॥ ४॥
तौ पितुर्नयनजेन वारिणा किञ्चिदुक्षितशिखण्डकावुभौ।
धन्विनौ तमृषिमन्वगच्छतां पौरदृष्टिकृतमार्गतोरणौ॥ ५॥
लक्ष्मणानुचरमेव राघवं नेतुमैच्छदृषिरित्यसौ नृपः।
आशिषं प्रयुयुजे न वाहिनीं सा हि रक्षणविधौ तयोः क्षमा॥ ६॥
मातृवर्गचरणस्पृशौ मुनेस्तौ प्रपद्य पदवीं महौजसः।
रेजतुर्गतिवशात्प्रवर्तिनौ भास्करस्य मधुमाधवाविव॥ ७॥
वीचिलोलभुजयोस्तयोर्गतं शैशवाच्चपलमप्यशोभत।
तोयदागम इवोद्ध्यभिद्ययोर्नामधेयसदृशं विचेष्टितम्॥ ८॥

तदनन्तर एक दिन विश्वामित्रजी राजा दशरथ के पास आये और उन्होंने कहा कि मेरे यज्ञ की रक्षा के लिए आप काकपक्षधारी राम को हमारे साथ भेज दें। क्योंकि जो तेजस्वी होते हैं, उनके लिए यह नहीं सोचा जाता कि वे उम्र में छोटे हैं या बड़े॥ १॥ यद्यपि राजा दशरथ ने राम और लक्ष्मण को बड़ी तपस्या से पाया था, किन्तु वे विद्वानों के इतने भक्त थे कि उन्होंने तत्काल राम-लक्ष्मण को मुनि के साथ भेज दिया। क्योंकि रघुकुल की सदा से यह रीति रही है कि यदि कोई उनसे प्राण भी माँगे तो उसे विमुख नहीं करते थे॥ २॥ राजा दशरथ उनकी विदाई के लिए सडक सजाने की आज्ञा दे ही रहे थे कि इतने में वायु ने फूल और बादलों ने जल लाकर उन सडकों पर बरसा दिया॥ ३॥ अपने पिता की आज्ञा का पालन करने को प्रस्तुत होकर दोनों धनुर्धर राजकुमार राम-लक्ष्मण अपने पिता के चरणों में प्रणाम करने को झुके, वैसे ही दशरथजी की आँखों से उन दोनों पर आँसुओं की बूँदें टपक पड़ीं॥ ४॥ उन आँसुओं से दोनों राजकुमारों की चोटियाँ भींग गयीं। धनुष लेकर जब दोनों भाई विश्वामित्रजी के पीछे-पीछे चले, उस समय उन्हें देखते हुए पुरवासियों की आँखें ऐसी लग रही थीं, जैसे उन नेत्रों की वंदनवारें बाँध दी गयी हों॥ ५॥ महर्षि विश्वामित्र केवल राम और लक्ष्मण को ही ले जाना चाहते थे। अतएव राजा ने उनकी सहायता के लिए केवल अपना आशीर्वाद दिया, सेना नहीं। क्योंकि उनका आशीर्वाद ही उनकी रक्षा के लिए पर्याप्त था॥ ६॥ अपनी माताओं के चरण छूकर दोनों राजकुमार उन तेजस्वी मुनि के पीछे चलते हुए ऐसे शोभित हो रहे थे, जैसे सूर्य के पीछे-पीछे चैत्र और वैशाख मास चले जा रहे हों। बचपन के कारण लहरों के समान चंचल बाँहों वाले उन दोनों

तौ बलातिबलयोः प्रभावतो विद्ययोः पथि मुनिप्रदिष्टयोः।
मम्लतुर्न मणिकुट्टिमोचितौ मातृपार्श्वपरिवर्तिनाविव॥ ९ ॥
पूर्ववृत्तकथितैः पुराविदः सानुजः पितृसखस्य राघवः।
उह्यमान इव वाहनोचितः पादचारमपि न व्यभावयत्॥ १० ॥
तौ सरांसि रसवद्भिरम्बुभिः कूजितैः श्रुतिसुखैः पतत्त्रिणः।
वायवः सुरभिपुष्परेणुभिश्छायया च जलदाः सिषेविरे॥ ११ ॥
नाम्भसां कमलशोभिनां तथा शाखिनां च न परिश्रमच्छिदाम्।
दर्शनेन लघुना यथा तयोः प्रीतिमापुरुभयोस्तपस्विनः॥ १२ ॥
स्थाणुदग्धवपुषस्तपोवनं प्राप्य दाशरथिरात्तकार्मुकः।
विग्रहेण मदनस्य चारुणा सोऽभवत्प्रतिनिधिर्न कर्मणा॥ १३ ॥
तौ सुकेतुसुतया खिलीकृते कौशिकाद्विदितशापया पथि।
निन्यतुः स्थलनिवेशिताटनी लीलयैव धनुषी अधिज्यताम्॥ १४ ॥
ज्यानिनादमथ गृह्णती तयोः प्रादुरास बहुलक्षपाछविः।
ताडका चलकपालकुण्डला कालिकेव निबिडा बलाकिनी॥ १५ ॥
तीव्रवेगधुतमार्गवृक्षया प्रेतचीवरवसा स्वनोग्रया।
अभ्यभावि भरताग्रजस्तया वात्ययेव पितृकाननोत्थया॥ १६ ॥

राजकुमारों का चुलबुलापन ऐसा सुन्दर लग रहा था, जैसे वर्षा ऋतु में दो उद्धच और भिद्य नदियाँ लहराती, इठलाती और तटों को ढाती हुई बहती चली जा रहीं हों॥ ७-८॥ अब तक उन बालकों ने कभी घर से बाहर पैर नहीं रखा था। अतएव विश्वामित्रजी ने मार्ग में ही उन्हें बला और अतिबला नाम की दोनों विद्याएँ सिखा दीं। जिससे ऊबड़-खाबड़ वन्य मार्ग में चलते समय उन्हें वैसा ही सुख हो रहा था, जैसे वे अपने मणिजटित भवनों में अपनी माता के आम-पास घूम रहे हों॥ ९॥ जो रामं और लक्ष्मण सदा दिव्य रथों पर चढ़कर चलते थे, उन्हें पैदल चलने में तनिक भी थकावट नहीं हुई। क्योंकि उनके पिता के मित्र विश्वामित्रजी उन्हें मार्ग में अनेक पुरानी कथाएँ सुनाते चलते थे॥ १० ॥ मार्ग के सरोवरों ने अपना मीठा जल पिलाकर, पक्षियों ने मधुर गीत सुनाकर, वायु ने सुगन्धित पराग फैलाकर और बादलों ने शीतल छाया देकर उन दोनों की बहुत बडी सेवा की॥ ११ ॥ कमलों से भरे सरोवरों तथा थकावट हरने वाले वृक्षों की छाया को देख करके भी आश्रम के तपस्वी उतने हर्षित कभी नहीं हुए थे, जितने इन दोनों राजकुमारों को देखकर हर्षित हुए॥ १२॥ शिवजी ने जिस तपोवन में कामदेव को भस्म किया था, वहाँ सुन्दर शरीर वाले राम धनुष लिये हुए जब पहुँचे, तब ऐसा लगा कि जैसे वे वहाँ कामदेव की केवल सुन्दरता के प्रतिनिधि बनकर आये हों, उसके कार्यों के प्रतिनिधि नहीं॥ १३ ॥ मार्ग में उन्हें सुकेतु की कन्या वह ताडका राक्षसी मिली, जिसने सारा मार्ग उजाड़ बना डाला था और विश्वामित्र ने जिसके शाप की कथा पहले ही राम को सुना दी थी। उसे देखा तो उन दोनों भाइयों ने अपने धनुषों को पृथ्वी पर टेक कर प्रत्यंचा चढा ली॥ १४॥ उनके धनुष की प्रत्यंचा की टंकार सुनते ही कानों में लटकती हुई मनुष्य की खोपड़ियों का कुण्डल हिलाती हुई और अमावास्या की रात्रि के समान काली-कलूटी ताड़का उनके समक्ष आकर इस तरह खड़ी हो गयी, जैसे बगुलों की पाँतों से भरी काली बदली छा गयी हो॥ १५ ॥ बड़े वेग से मार्ग के वृक्षों को ढाती, प्रेतों के वस्त्र पहने, भयंकर गर्जन करने वाली तथा श्मशान से उठे हुए बवंडर के समान आकृति वाली ताडका राम पर सहसा टूट पंडी॥ १६ ॥ वृक्ष की शाखा जैसी अपनी बाँह उठाये और कमर में आँतों की करधनी

उद्यतैकभुजयष्टिमायतीं श्रोणिलम्बिपुरुषान्त्रमेखलाम्।
तां विलोक्य वनितावधे घृणां पत्त्रिणा सह मुमोच राघवः॥ १७॥
यच्चकार विवरं शिलाघने ताडकोरसि स रामसायकः।
अप्रविष्टविषयस्य रक्षसां द्वारतामगमदन्तकस्य तत्॥ १८॥
बाणभिन्नहृदया निपेतुषी सा स्वकाननभुवं न केवलाम्।
विष्टपत्रयपराजयस्थिरां रावणश्रियमपि व्यकम्पयत्॥ १९॥
राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा॥ २०॥
नैर्ऋतघ्नमथ मन्त्रवन्मुनेः प्रापदस्त्रमवदानतोषितात्।
ज्योतिरिन्धननिपाति भास्करात्सूर्यकान्त इव ताडकान्तकः॥ २१॥
वामनाश्रमपदं ततः परं पावनं श्रुतमृषेरुपेयिवान्।
उन्मनाः प्रथमजन्मचेष्टितान्यस्मरन्नपि बभूव राघवः॥ २२॥
आससाद मुनिरात्मनस्ततः शिष्यवर्गपरिकल्पितार्हणम्।
बद्धपल्लवपुटाञ्जलिद्रुमं दर्शनोन्मुखमृगं तपोवनम्॥ २३॥
तत्र दीक्षितमृषिं ररक्षतुर्विघ्नतो दशरथात्मजौ शरैः।
लोकमन्धतमसात्क्रमोदितौ रश्मिभिः शशिदिवाकराविव॥ २४॥
वीक्ष्य वेदिमथ रक्तबिन्दुभिर्बन्धुजीवपृथुभिः प्रदूषिताम्।
सम्भ्रमोऽभवदपोढकर्मणामृत्विजां च्युतविकङ्कतस्रुचाम्॥ २५॥

पहने उस ताड़का को देखकर राम ने स्त्री को मारने की घृणा और अपना बाण दोनों एक साथ छोड़ दिया॥ १७॥ राम के उस बाण ने पत्थर की चट्टान जैसी कठोर ताडका की छाती में जो छेद किया, वह, मानो राक्षसों के उस देश में यमराज को प्रविष्ट होने के लिए द्वार खोल दिया, जहाँ अभी वे जा नहीं सके थे॥ १८॥ रामबाण के आघात से ताडका की छाती फट गयी और वह जब नीचे गिरी, तब उसके गिरने से वह जङ्गल ही नहीं, बल्कि तीनों लोकों को जीतकर प्राप्त रावण की राजलक्ष्मी भी काँप उठी॥ १९॥ राम के बाण से बिंधकर दुर्गन्धित रुधिर से लिपटी ताड़का इस प्रकार सीधे यमलोक चली गयी, जैसे काम के बाण से घायल कोई अभिसारिका चन्दन का लेप करके अपने प्रेमी के घर जा पहुँची हो॥ २०॥ सूर्य जैसे लकड़ी जलाने का तेज सूर्यकान्त मणि को दे देता है, वैसे ही ताड़का के मरने से प्रसन्न महर्षि विश्वामित्र ने राक्षसों का संहार करने वाला मंत्रसहित दिव्य अस्त्र राम को दे दिया॥ २१॥ वहाँ से चलकर रामचन्द्र भगवान् वामन के उस पवित्र आश्रम में गये, जिसके विषय में विश्वामित्रजी ने उन्हें पहले ही सब बता दिया था। वहाँ अपने पूर्वजन्म के वामनावतार की लीलाओं का ठीक-ठीक स्मरण न होने पर भी वे कुछ उत्कंठित जैसे हो उठे॥ २२॥ वहाँ से विश्वामित्र अपने आश्रम पहुँचे, जहाँ शिष्यों ने पूजा की सब सामग्री इकट्ठी कर रखी थी। वहाँ के वृक्ष पत्तों की अञ्जली बाँधे खड़े थे और मृग बड़ी उत्सुकता से उन्हें निहार रहे थे॥ २३॥ सूर्य और चन्द्रमा जैसे बारी-बारी से अपनी किरणों द्वारा पृथ्वी का अँधेरा दूर करते हैं, वैसे ही आश्रम में राम और लक्ष्मण बारी-बारी से यज्ञ करने वाले ऋषि विश्वामित्र के विघ्नों को दूर कर रहे थे॥ २४॥ उसी समय यज्ञ की वेदी पर दुपहिया के फूल के जैसी बड़ी-बडी रक्त की बूँदें देखकर ऋषियों को बडा आश्चर्य हुआ। उन्होंने यज्ञ बन्द करके अपने-अपने खैर के स्रुवे धरती पर रख दिये॥ २५॥ तत्काल राम ने अपने तूणीर से बाण निकाला और ऊपर मुँह करके आकाश की ओर देखा तो गिद्ध के पंखों की वायु से हिलती हुई

उन्मुखः सपदि लक्ष्मणाग्रजो बाणमाश्रयमुखात्समुद्धरन्।
रक्षसां बलमपश्यदम्बरे गृध्रपक्षपवनेरितध्वजम्॥ २६॥
तत्र यावधिपती मखद्विषां तौ शरव्यमकरोत्स नेतरान्।
किं महोरगविसर्पिविक्रमो राजिलेषु गरुडः प्रवर्तते॥ २७॥
सोऽस्त्रमुग्रजवमस्त्रकोविदः सन्दधे धनुषि वायुदैवतम्।
तेन शैलगुरुमप्यपातयत् पाण्डुपत्रमिव ताडकासुतम्॥ २८॥
यः सुबाहुरिति राक्षसोऽपरस्तत्र तत्र विससर्प मायया।
तं क्षुरप्रशकलीकृतं कृती पत्त्रिणां व्यभजदाश्रमाद्बहिः॥ २९॥
इत्यपास्तमखविघ्नयोस्तयोः सांयुगीनमभिनन्द्य विक्रमम्।
ऋत्विजः कुलपतेर्यथाक्रमं वाग्यतस्य निरवर्तयन्क्रियाः॥ ३०॥
तौ प्रणाममचलकाकपक्षकौ भ्रातराववभृथाप्लुतो मुनिः।
आशिषामनुपदं समस्पृशद् दर्भपाटिततलेन पाणिना॥ ३१॥
तं न्यमन्त्रयत सम्भृतक्रतुर्मैथिलः स मिथिलां व्रजन्वशी।
राघवावपि निनाय बिभ्रतौ तद्धनुःश्रवणजं कुतूहलम्॥ ३२॥
तैः शिवेषु वसतिर्गताध्वभिः सायमाश्रमतरुष्वगृह्यत।
येषु दीर्घतपसः परिग्रहो वासवक्षणकलत्रतां ययौ॥ ३३॥
प्रत्यपद्यत चिराय यत्पुनश्चारु गौतमवधूः शिलामयी।
स्वं वपुः स किल किल्बिषच्छिदां रामपादरजसामनुग्रहः॥ ३४॥

ध्वजाओं वाली राक्षसों की सेना खड़ी दिखलायी दी॥ २६॥ तब राम ने और सबको छोड़कर उन्हीं दो राक्षसों को बाण मारे, जो उस सेना के सेनापति थे और यज्ञ मे घृणा करते थे। बड़े-बड़े सर्पो पर आक्रमण करने वाला गरुड़ क्या कभी जल के छोटे-छोटे साँपों पर आक्रमण करता है?॥ २७॥ दिव्य अस्त्रों को चलाने में राम का हाथ ऐसा सधा हुआ था कि उन्होंने तुरन्त अपने धनुष पर वायव्य अस्त्र चढाया और पर्वत से भी बड़े ताड़का के पुत्र मारीच को उस बाण से इस तरह उड़ा दिया, जैसे कोई सूखा पत्ता उडा दे॥ २८॥ सुबाहु नाम का दूसरा राक्षस अपनी माया से इधर-उधर घूम रहा था। उसे राम ने अपने बाणों से टुकड़े-टुकड़े करके आश्रम के बाहर फेंक दिया, जिसे पक्षियों ने आपस में बाँटकर खा लिया॥ २९॥ यज्ञ करने वाले ऋषियों ने जब देखा कि थोडे ही समय में राम ने सारे विघ्न दूर कर दिये तो उन्होंने राम और लक्ष्मण के पराक्रम की भूरि-भूरि प्रशंसा की और मौन धारण किये हुए महामुनि विश्वामित्र ने विधिवत् अपना यज्ञ सम्पन्न कर लिया॥ ३०॥ यज्ञ समाप्त हो जाने पर अवभृथ स्नान करके महर्षि विश्वामित्र ने उन राम और लक्ष्मण को बहुत बड़ा आशीर्वाद दिया, जिनके बालों की लटें प्रणाम करते समय हिल रही थीं। कुशा से छिली हुई अपनी हथेली उनके सिर पर रखकर ऋषि ने अपना स्नेह दिखलाया॥ ३१॥ उन्हीं दिनों मिथिलेश जनक ने धनुषयज्ञ का आयोजन कर रखा था। उसमें उन्होंने मुनियों को भी आमंत्रित किया। धनुषयज्ञ की बात सुनकर दोनों राजकुमारों को बड़ा कुतूहल हुआ। अतएव विश्वामित्रजी उन दोनों को साथ लेकर मिथिलापुरी की ओर चल पडे॥ ३२॥ वे कुछ ही दूर चले थे कि साँझ हो गयी, जिससे वे उस आश्रम के सुन्दर वृक्षों के नीचे टिक गये, जहाँ महान् तपस्वी गौतम की स्त्री अहल्या थोड़ी देर के लिए इन्द्र की पत्नी बन गयी थी॥ ३३॥ राम के चरणों की धूल सब पापों को हरने वाली थी। इसलिए उसके छूते ही पति के शाप से पत्थर बनी हुई अहल्या को इतने दिनों बाद फिर वही पहले वाला सुन्दर शरीर प्राप्त हो गया॥ ३४॥

राघवान्वितमुपस्थितं मुनिं तं निशम्य जनको जनेश्वरः।
अर्थकामसहितं सपर्यया देहवद्धमिव धर्ममभ्यगात्॥ ३५॥
तौ विदेहनगरीनिवासिनां गां गताविव दिवः पुनर्वसू।
मन्यते स्म पिवतां विलोचनैः पक्ष्मपातमपि वञ्चनां मनः॥ ३६॥
यूपवत्यवसिते क्रियाविधौ कालवित्कुशिकवंशवर्धनः।
राममिष्वसनदर्शनोत्सुकं मैथिलाय कथयाम्बभूव सः॥ ३७॥
तस्य वीक्ष्य ललितं वपुः शिशोः पार्थिवः प्रथितवंशजन्मनः।
स्वं विचिन्त्य च धनुर्दुरानमं पीडितो दुहितृशुल्कसंस्थया॥ ३८॥
अब्रवीच्च भगवन्मतङ्गजैर्यद्बृहद्भिरपि कर्म दुष्करम्।
तत्र नाहमनुमन्तुमुत्सहे मोघवृत्ति कलभस्य चेष्टितम्॥ ३९॥
ह्रेपिता हि बहवो नरेश्वरास्तेन तात! धनुषा धनुर्भृतः।
ज्यानिघातकठिनत्वचो भुजान्स्वान्विधूय धिगिति प्रतस्थिरे॥ ४०॥
प्रत्युवाच तमृषिर्निशम्यतां सारतोऽयमथवा गिरा कृतम्।
चाप एव भवतो भविष्यति व्यक्तशक्तिरशनिर्गिराविव॥ ४१॥
एवमाप्तवचनात् स पौरुषं काकपक्षकधरेऽपि राघवे।
श्रद्दधे त्रिदशगोपमात्रके दाहशक्तिमिव कृष्णवर्त्मनि॥ ४२॥
व्यादिदेश गणशोऽथ पार्श्वगान्कार्मुकाभिहरणाय मैथिलः।
तैजसस्य धनुषः प्रवृत्तये तोयदानिव सहस्रलोचनः॥ ४३॥

राजा जनक को जब यह समाचार मिला कि विश्वामित्रजी के साथ राम और लक्ष्मण भी आये हुए हैं, तब वे पूजा की सामग्री लेकर उनकी अगवानी करने चले। जनकजी को वे दोनों भाई ऐसे लगे, मानो मूर्तिमान् धर्म के साथ अर्थ और काम भी चले आये हों॥ ३५॥ वे दोनों राजकुमार ऐसे सुन्दर लग रहे थे, जैसे दो पुनर्वसु नक्षत्र पृथ्वी पर उतर आये हों। जनकपुर के निवासी तो ऐसे मगन होकर अपनी आँखों से उनका रूपामृत पी रहे थे कि पलकों का गिरना भी उन्हें बहुत अखर रहा था॥ ३६॥ धनुषयज्ञ की यज्ञसम्बन्धी सब क्रियाएँ जब समाप्त हो गयीं, तब ठीक अवसर समझकर मुनि विश्वामित्र ने जनक से कहा कि राम भी वह धनुष देखना चाहते हैं॥ ३७॥ किन्तु जनक ने जब एक ओर प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न बालक राम का कोमल शरीर देखा और दूसरी ओर अपने उस धनुष पर दृष्टि डाली, जिसे बड़े-बड़े वीर भी नहीं झुका सके थे, तब उन्हें इस बात का बड़ा पछतावा हुआ कि मैंने अपनी कन्या के विवाह के निमित्त यह धनुष तोडने की प्रतिज्ञा क्यों की॥ ३८॥ उन्होंने विश्वामित्रजी से कहा—भगवन्! बडे-बडे मतवाले गजराज जो काम नहीं कर सकते, उसे हाथी के बच्चे से कराना व्यर्थ की बात है। अतएव मेरा मन तो नहीं चाहता कि इनसे धनुष उठवाया जाय॥ ३९॥ इस धनुष को उठाने में बडे-बड़े धनुर्धारी राजा भी लजाकर रह गये और अपनी उन भुजाओं को धिक्कारते हुए चले गये, जिन पर धनुष की डोरी के बडे-बडे घट्ठे पड़े हुए थे॥ ४०॥ यह सुनकर मुनि बोले— राजन्! इनकी शक्ति मैं आपको बतलाऊँगा, परन्तु कहने से क्या होता है। जैसे वज्र की शक्ति की परीक्षा पहाड़ पर होती है, वैसे ही इनकी शक्ति की परीक्षा उस धनुष पर ही हो लेने दी जाय॥ ४१॥ मुनि के कथन से जनकजी को कुछ-कुछ विश्वास हो चला कि जैसे वीरबहूटी के बराबर छोटी-सी चिनगारी में भी जलाने की महती शक्ति छिपी रहती है, वैसे ही काकपक्षधारी राम में भी धनुष उठाने की शक्ति हो सकती है॥ ४२॥ अतएव जनकजी ने उसी प्रकार अपने सेवकों को धनुष लाने की आज्ञा

तत्प्रसुप्तभुजगेन्द्रभीषणं वीक्ष्य दाशरथिराददे धनुः।
विद्रुतक्रतुमृगानुसारिणं येन वाणमसृजद् वृषध्वजः॥ ४४॥
आततज्यमकरोत् स संसदा विस्मयस्तिमितनेत्रमीक्षितः।
शैलसारमपि नातियत्नतः पुष्पचापमिव पेशलं स्मरः॥ ४५॥
भज्यमानमतिमात्रकर्षणात् तेन वज्रपरुषस्वनं धनुः।
भार्गवाय दृढमन्यवे पुनः क्षत्रमुद्यतमिव न्यवेदयत्॥ ४६॥
दृष्टसारमथ रुद्रकार्मुके वीर्यशुल्कमभिनन्द्य मैथिलः।
राघवाय तनयामयोनिजां रूपिणीं श्रियमिव न्यवेदयत्॥ ४७॥
मैथिलः सपदि सत्यसङ्गरो राघवाय तनयामयोनिजाम्।
सन्निधौ द्युतिमतस्तपोनिधेरग्निसाक्षिक इवातिसृष्टवान्॥ ४८॥
प्राहिणोच्च महितं महाद्युतिः कोसुलाधिपतये पुरोधसम्।
भृत्यभावि दुहितुः परिग्रहाद्दिश्यतां कुलमिदं निमेरिति॥ ४९॥
अन्वियेष सदृशीं स च स्नुषां प्राप चैनमनुकूलवाग्द्विजः।
सद्य एव सुकृतां हि पच्यते कल्पवृक्षफलधर्मि काङ्क्षितम्॥ ५०॥
तस्य कल्पितपुरस्क्रियाविधेः शुश्रुवान् वचनमग्रजन्मनः।
उच्चचाल बलभित्सखो वशी सैन्यरेणुमुषितार्कदीधितिः॥ ५१॥
आससाद मिथिलां स वेष्टयन्पीडितोपवनपादपां बलैः।
प्रीतिरोधमसहिष्ट सा पुरी स्त्रीव कान्तपरिभोगमायतम्॥ ५२॥

दी, जैसे देवराज इन्द्र बादलों को अपना धनुष प्रकट करने की आज्ञा देते हैं॥ ४३॥ तदनुसार धनुष लाया गया। वह ऐसा दीखता था कि मानो कोई बड़ा भारी अजगर सोया हुआ हो। राम ने देखते-देखते उस शिवधनुष को उठा लिया, जिसे हाथों में लेकर शङ्करजी ने मृग का रूप धरकर भागने वाले यज्ञदेवता के ऊपर वाण बरसाये थे॥ ४४॥ यह देखकर सभी सभासदों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि राम ने इस पर्वत जैसे विशाल धनुष पर वैसी ही सरलता से डोरी चढ़ा दी, जैसे कामदेव अपने फूलों के धनुष पर डोरी चढाता है॥ ४५॥ तदनन्तर राम ने धनुष को इतनी जोर से ताना कि वह वज्र के समान भयङ्कर शब्द करके कड़कड़ाता हुआ टूट गया। ऐसा करके जैसे उसने महाक्रोधी परशुराम को यह सूचना दे दी कि क्षत्रिय लोग अब फिर सिर उठाने लगे हैं॥ ४६॥ जब राजा जनक ने देखा कि धनुष तोड़कर राम ने अपना पराक्रम दिखला दिया है, तब उन्होंने उनका बड़ा आदर किया और पृथ्वी से उत्पन्न अपनी कन्या जानकी उसी प्रकार राम के हाथों सौंप दी, मानो साक्षात् अपनी राज्यलक्ष्मी ही उन्हें दे डाली हो॥ ४७॥ अपनी प्रतिज्ञा सत्य करने वाले जनक ने विश्वामित्रजी को ही विवाह का साक्षी अग्नि समझ लिया और उन्हीं के आगे राम को सीता समर्पित कर दी॥ ४८॥ तब राजा जनक ने अपने पूज्य पुरोहित द्वारा दशरथजी के पास यह सन्देश भेजा कि मेरी पुत्री सीता को स्वीकार करके आप इस निमि-कुल पर वैसी ही कृपा कीजिये, जैसे अपने सेवकों पर कृपा करते हैं॥ ४९॥ उधर राजा दशरथ यह सोच ही रहे थे कि योग्य पतोहू मेरे घर में आये। इतने में ही जनकजी के पुरोहित उनकी इच्छा पूर्ण होने का समाचार लेकर जा पहुँचे। ठीक ही है, पुण्यवानों की अभिलाषा कल्पवृक्ष के समान तत्काल फल देती है॥ ५०॥ इन्द्र के मित्र और जितेन्द्रिय दशरथ ने जनक के पुरोहित का बड़ा सत्कार किया। उनकी बातें सुनकर वे अपने साथ इतनी बड़ी सेना लेकर चले कि उससे उठी हुई धूल ने सूर्य को भी ढँक दिया॥ ५१॥ वे ऐसे ठाट-बाट से मिथिला पहुँचे कि मानो उसे घेरते हुए आये हों। मिथिला

तौ समेत्य समये स्थितावुभौ भूपती वरुणवासवोपमौ।
कन्यकातनयकौतुकक्रियां स्वप्रभावसदृशीं वितेनतुः॥५३॥
पार्थिवीमुदवहद् रघूद्वहो लक्ष्मणस्तदनुजामथोर्मिलाम्।
यौ तयोरवरजौ वरौजसौ तौ कुशध्वजसुते सुमध्यमे॥५४॥
ते चतुर्थसहितास्त्रयो बभुः सूनवो नववधूपरिग्रहाः।
सामदानविधिभेदनिग्रहाः सिद्धिमन्त इव तस्य भूपतेः॥५५॥
ता नराधिपसुता नृपात्मजैस्ते च ताभिरगमन्कृतार्थताम्।
सोऽभवद् वरवधूसमागमः प्रत्ययप्रकृतियोगसन्निभः॥५६॥
एवमात्तरतिरात्मसम्भवांस्तान्निवेश्य चतुरोऽपि तत्र सः।
अध्वसु त्रिषु विसृष्टमैथिलः स्वां पुरीं दशरथो न्यवर्तत॥५७॥
तस्य जातु मरुतः प्रतीपगा वर्त्मसु ध्वजतरुप्रमाथिनः।
चिक्लिशुर्भृशतया वरूथिनीमुत्तटा इव नदीरयाः स्थलीम्॥५८॥
लक्ष्यते स्म तदनन्तरं रविर्बद्धभीमपरिवेषमण्डलः।
वैनतेयशमितस्य भोगिनो भोगवेष्टित इव च्युतो मणिः॥५९॥
श्येनपक्षपरिधूसरालकाः सान्ध्यमेघरुधिरार्द्रवाससः।
अङ्गना इव रजस्वला दिशो नो बभूवुरवलोकनक्षमाः॥६०॥
भास्करश्च दिशमध्युवास यां तां श्रिताः प्रतिभयं ववासिरे।
क्षत्रशोणितपितृक्रियोचितं चोदयन्त्य इव भार्गवं शिवाः॥६१॥

के उपवनों को तो उनकी सेना ने रौंद ही डाला। परन्तु इस प्रेम के घेरे को उस नगरी ने वैसे ही सह लिया, जैसे स्त्री अपने प्रियतम के कठोर सम्भोग को सह लेती है॥५२॥ तदनन्तर वरुण और इन्द्र के समान प्रतापी उन दोनों राजाओं ने मिलकर शास्त्रीय विधि से ऐश्वर्य के अनुरूप अपने-अपने पुत्रों और कन्याओं का विवाह सम्पन्न कर दिया॥५३॥ राम का सीता से और लक्ष्मण का सीता की छोटी बहन उर्मिला से विवाह हुआ। जनकजी के छोटे भाई कुशध्वज की माण्डवी और श्रुतकीर्ति नाम की कन्याओं से भरत और शत्रुघ्न का विवाह हो गया॥५४॥ वे चारों भाई उन नयी बहुओं के साथ ऐसे सुशोभित हुए, जैसे राजा दशरथ को साम, दाम, दण्ड और भेद— इन चारों उपायों की सिद्धियाँ मिल गयी हों॥५५॥ उन चारों राजकुमारों को पाकर राजकन्याएँ और राजकन्याओं को पाकर वे राजकुमार निहाल हो गये। वरों और वधुओं का वह मिलन ऐसा जँचा कि जैसे शब्द के मूलरूप में प्रत्यय जुड़ गये हों॥५६॥ इस प्रकार महाराज दशरथ ने चारों बेटों का विवाह करके मार्ग में तीन पड़ाव आगे पहुँच कर वहाँ से जनकजी को लौटा दिया और स्वयं बड़े प्रसन्न मन से अयोध्या की ओर चल पडे॥५७॥ बढ़ी हुई नदी की धारा जैसे आस-पास की भूमि को उजाड देती है, वैसे ही एक दिन मार्ग में सेना के ध्वजारूपी वृक्षों को झकझोर देने वाली वायु ने सारी सेना को बहुत क्लेश दिया॥५८॥ तदनन्तर सूर्य के चारों ओर एक बडा भारी मण्डल बन गया। वह ऐसा लगने लगा कि जैसे गरुड़ द्वारा मारा हुआ कोई साँप अपने सिर से गिरे हुए मणि के चारों ओर कुण्डली मारकर बैठा हुआ हो॥५९॥ जैसे रूखे और मैले बालों तथा रक्त से लाल कपडों वाली रजस्वला स्त्री देखने में अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार उस समय वे चारों दिशाएँ भी आँखों को अच्छी नहीं लग रही थीं, जिनमें मटमैले बाजों के पंख उड़ रहे थे और सन्ध्या के लाल बादल छाये हुए थे॥६०॥ महसा सूर्य की ओर मुख करके सियारिनें रोने लगीं। जैसे वे क्षत्रियों के रक्त से अपने पिता का तर्पण करनेवाले परशुराम को पुकार रही हों॥६१॥

तत्प्रतीपपवनादि वैकृतं प्रेक्ष्य शान्तिमधिकृत्य कृत्यवित्।
अन्वयुङ्क्त गुरुमीश्वरः क्षितेः स्वान्तमित्यलघयत्स तद्व्यथाम् ॥ ६२ ॥
तेजसः सपदि राशिरुत्थितः प्रादुरास किल वाहिनीमुखे।
यः प्रमृज्य नयनानि सैनिकैर्लक्षणीयपुरुषाकृतिश्चिरात् ॥ ६३ ॥
पित्र्यमंशमुपवीतलक्षणं मातृकं च धनुरूर्जितं दधत्।
यः ससोम इव घर्मदीधितिः सद्विजिह्व इव चन्दनद्रुमः ॥ ६४ ॥
येन रोषपरुषात्मनः पितुः शासने स्थितिभिदोऽपि तस्थुषा।
वेपमानजननीशिरश्छिदा प्रागजीयत घृणा ततो मही ॥ ६५ ॥
अक्षबीजवलयेन निर्बभौ दक्षिणश्रवणसंस्थितेन यः।
क्षत्रियान्तकरणैकविंशतेर्व्याजपूर्वगणनामिवोद्वहन् ॥ ६६ ॥
तं पितुर्वधभवेन मन्युना राजवंशनिधनाय दीक्षितम्।
बालसूनुरवलोक्य भार्गवं स्वां दशां च विषसाद पार्थिवः ॥ ६७ ॥
नाम राम इति तुल्यमात्मजे वर्तमानमहिते च दारुणे।
हृद्यमस्य भयदायि चाभवद् रत्नजातमिव हारसर्पयोः ॥ ६८ ॥
अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं नृपं सोऽनवेक्ष्य भरताग्रजो यतः।
क्षत्रकोपदहनार्चिषं ततः सन्दधे दृशमुदग्रतारकाम् ॥ ६९ ॥
तेन कार्मुकनिषक्तमुष्टिना राघवो विगतभीः पुरोगतः।
अङ्गुलीविवरचारिणं शरं कुर्वता निजगदे युयुत्सुना ॥ ७० ॥

विपरीत वायु आदि अशकुन देखकर उनकी शान्ति के लिए दशरथजी ने अपने गुरु से पूछा—"अब क्या करना चाहिए?" गुरुजी ने कहा—"चिन्ता की कोई बात नहीं है। इनका फल अच्छा ही होगा।" यह सुनकर दशरथजी के मन को कुछ ढाढ़स बँधा ॥ ६२ ॥ उसी समय सहसा एक ऐसा प्रकाशपुञ्ज सेना के आगे उठता दिखलाई दिया, जिसे देखकर सब सैनिकों की आँखें चौंधिया गयीं। जब उन्होंने आँखें मलकर देखा, तब वह प्रकाशपुञ्ज एक पुरुष के रूप में परिवर्तित दीखा ॥ ६३ ॥ उस तेजस्वी पुरुष के शरीर पर ब्राह्मण पिता के अंश का सूचक यज्ञोपवीत और कन्धे पर क्षत्रिय माता का अंशसूचक धनुष लटका हुआ था। इस वेश में वह ऐसा लगता था कि जैसे सूर्य के साथ चन्द्रमा हों या चन्दन के पेड़ में साँप लिपटे हों ॥ ६४ ॥ उन्होंने जब क्रोध से कठोरहृदय और उचित-अनुचित का विचार छोड़ देने वाले पिता की आज्ञा मानकर अपनी काँपती हुई माता का सिर काट लिया था, उस समय उन्होंने पहले घृणा को जीता और फिर सम्पूर्ण पृथ्वी जीत ली ॥ ६५ ॥ उनके दाहिने कान पर इक्कीस दाने की रुद्राक्ष की माला लटक रही थी। जैसे इक्कीस बार क्षत्रियों के विनाश को गिनती करने के लिए ही उन्होंने वह माला पहन ली हो ॥ ६६ ॥ दशरथजी ने जब उन परशुराम को देखा, जिन्होंने अपने पिता के मारे जाने पर क्रोध से क्षत्रियों का नाश करने की प्रतिज्ञा कर ली थी, तब उन्हें अपनी दशा देखकर बड़ी चिन्ता हुई। क्योंकि उनके पुत्र अभी निरे बच्चे ही थे ॥ ६७ ॥ उनके पुत्र राम और परशुराम दोनों में राम नाम विद्यमान था। इसलिए जैसे गले के हार और सर्प दोनों में रहने वाला मणि आनन्द भी देता है और भय भी, वैसे ही अपने पुत्र और परशुराम दोनों में आये हुए राम नाम से उन्हें भय भी हुआ और आनन्द भी ॥ ६८ ॥ यद्यपि दशरथजी कहते ही रह गये कि आपके सत्कार के लिए यह अर्घ्य है, किन्तु परशुरामजी ने उधर ध्यान न देकर क्षत्रियों को जलाने वाली अपनी टेढ़ी नजर से राम को देखा ॥ ६९ ॥ युद्ध के लिए उद्यत और मुट्ठी में धनुष पकड़कर उँगलियों में बाण नचाते हुए परशुरामजी

क्षत्त्रजातमपकारवैरि मे तन्निहत्य बहुशः शमं गतः।
सुप्तसर्प इव दण्डघट्टनाद्रोषितोऽस्मि तव विक्रमश्रवात्॥ ७१॥
मैथिलस्य धनुरन्यपार्थिवैस्त्वं किलानमितपूर्वमक्षणोः।
तन्निशम्य भवता समर्थये वीर्यशृङ्गमिव भग्नमात्मनः॥ ७२॥
अन्यदा जगति राम इत्ययं शब्द उच्चरित एव मामगात्।
व्रीडमावहति मे स सम्प्रति व्यस्तवृत्तिरुदयोन्मुखे त्वयि॥ ७३॥
बिभ्रतोऽस्त्रमचलेऽप्यकुण्ठितं द्वौ रिपू मम मतौ समागसौ।
धेनुवत्सहरणाच्च हैहयस्त्वं च कीर्तिमपहर्तुमुद्यतः॥ ७४॥
क्षत्त्रियान्तकरणोऽपि विक्रमस्तेन मामवति नाजिते त्वयि।
पावकस्य महिमा स गण्यते कक्षवज्ज्वलति सागरेऽपि यः॥ ७५॥
विद्धि चात्तबलमोजसा हरेरैश्वरं धनुरभाजि यत्त्वया।
खातमूलमनिलो नदीरयैः पातयत्यपि मृदुस्तटद्रुमम्॥ ७६॥
तन्मदीयमिदमायुधं ज्यया सङ्गमय्य सशरं विकृष्यताम्।
तिष्ठतु प्रधनमेवमप्यहं तुल्यबाहुतरसा जितस्त्वया॥ ७७॥
कातरोऽसि यदि वोद्गतार्चिषा तर्जितः परशुधारया मम।
ज्यानिघातकठिनाङ्गुलिर्वृथा वध्यतामभययाचनाञ्जलिः॥ ७८॥

ने अपने आगे निडर खडे राम से कहा—॥७०॥ मेरे पिता का वध करके क्षत्रियों ने मुझसे शत्रुता मोल ले ली है। उन्हें बहुत बार मारकर मुझे कुछ शान्ति मिली थी। परन्तु जैसे डंडे से छेड देने पर साँप फुफकार उठता है, वैसे ही तुम्हारे पराक्रम का हाल सुनकर मेरे शरीर में क्रोध की आग भड़क उठी है॥७१॥ राजा जनक के जिस धनुष को कोई राजा झुका भी नहीं सका था, उसी को तुमने तोड़ डाला है। यह सुनकर मैंने यही समझा है कि आज तक जो मैं सबसे बढकर बलवान् समझा जाता था, वह मेरा यश आज नष्ट हो गया॥७२॥ संसार में पहले राम कहने से लोग मुझे ही समझते थे, परन्तु ज्यों-ज्यों तुम ऊँचे चढते चले जा रहे हो, त्यों-त्यों वह अर्थ तुम्हारे नाम के साथ लगता चला जा रहा है। यह देखकर मुझे लज्जा आने लगी है॥७३॥ जिस परशुराम के अस्त्र पहाड़ों से टकरा करके भी कुण्ठित नहीं होते, उसके दो ही शत्रु आज तक समान अपराधी हुए हैं। उनमें से पहला तो था सहस्रबाहु, जो मेरे पिता से कामधेनु का बछडा छीन ले गया था और दूसरे तुम हो, जो मेरी कीर्ति छीनने को उद्यत हो॥७४॥ अतः क्षत्रियों को नष्ट करने वाला मेरा पराक्रम तब तक मुझे अच्छा नहीं लगेगा, जब तक मैं तुम्हें न जीत लूँ। क्योंकि आग का प्रताप तभी सराहनीय होता है, जब वह समुद्र में भी वैसे ही भडककर जले, जैसे सूखी घास के ढेर में जलती है॥७५॥ और फिर शिवजी के जिस धनुष को तोड़कर तुम इतरा रहे हो, उसकी कठोरता तो भगवान् विष्णु ने पहले ही हर ली थी, उसे तोड़कर तुमने कोई वीरता नहीं की है। क्योंकि जिस वृक्ष की जड़ नदी की प्रचण्ड धारा ने पहले ही खोखली कर दी हो, वह तो वायु के तनिक-से झोंके में ही ढह जाता है॥७६॥ देखो राम! युद्ध तो बाद में होगा, पहले तुम मेरे धनुष पर डोरी चढा तथा बाण रखकर इसे खींचो। यदि तुम इतना भी कर लोगे तो मैं समझूँगा कि तुम मेरे ही समान बलवान् हो। बस, मैं इतने से ही हार मान लूँगा॥७७॥ और यदि तुम मेरे फरसे की चमकती हुई धार को देखकर डर गये होओ तो अपने उन हाथों को जोड़कर मुझसे अभय की भीख माँगो, जिनकी उँगलियों में धनुष की डोरी चढ़ाने से व्यर्थ घट्ठे पड़े हुए हैं॥७८॥ भयङ्कर वेश वाले परशुरामजी ने जब यह कहा तो राम ने हँसते-हँसते

एवमुक्तवति भीमदर्शने भार्गवे स्मितविकम्पिताधरः।
तद्धनुर्ग्रहणमेव राघवः प्रत्यपद्यत समर्थमुत्तरम्॥ ७९॥
पूर्वजन्मधनुषा समागतः सोऽतिमात्रलघुदर्शनोऽभवत्।
केवलोऽपि सुभगो नवाम्बुदः किं पुनस्त्रिदशचापलाञ्छितः॥ ८०॥
तेन भूमिनिहितैककोटि तत्कार्मुकं च बलिनाऽधिरोपितम्।
निष्प्रभश्च रिपुरास भूभृतां धूमशेष इव धूमकेतनः॥ ८१॥
तावुभावपि परस्परस्थितौ वर्धमानपरिहीनतेजसौ।
पश्यति स्म जनता दिनात्यये पार्वणौ शशिदिवाकराविव॥ ८२॥
तं कृपामृदुरवेक्ष्य भार्गवं राघवः स्खलितवीर्यमात्मनि।
स्वं च संहितममोघमाशुगं व्याजहार हरसूनुसन्निभः॥ ८३॥
न प्रहर्तुमलमस्मि निर्दयं विप्र! इत्यभिभवत्यपि त्वयि।
शंस किं गतिमनेन पत्रिणा हन्मि लोकमुत ते मखार्जितम्॥ ८४॥
प्रत्युवाच तमृषिर्न तत्त्वतस्त्वां न वेद्मि पुरुषं पुरातनम्।
गां गतस्य तव धाम वैष्णवं कोपितो ह्यसि मया दिदृक्षुणा॥ ८५॥
भस्मसात्कृतवतः पितृद्विषः पात्रसाच्च वसुधां ससागराम्।
आहितो जयविपर्ययोऽपि मे श्लाघ्य एव परमेष्ठिना त्वया॥ ८६॥
तद्गतिं मतिमतां वरेप्सितां पुण्यतीर्थगमनाय रक्ष मे।
पीडयिष्यति न मां खिलीकृता स्वर्गपद्धतिरभोगलोलुपम्॥ ८७॥

इस तरह वह धनुष हाथ में ले लिया, मानो परशुरामजी के वचनों का वही उचित उत्तर हो॥ ७९॥ जैसे ही राम ने वह अपने पिछले जन्म वाला धनुष हाथ में लिया, वैसे ही उनकी शोभा और भी बढ गयी। क्योंकि एक तो नया बादल यों ही सुन्दर लगता है. फिर यदि उसमें इन्द्र-धनुष भी उदित हो जाय, तब तो उसकी शोभा का कहना ही क्या है॥ ८०॥ पराक्रमी राम ने उस धनुष की एक छोर पृथ्वी पर टेककर जैसे ही उस पर डोरी चढायी, वैसे ही क्षत्रियों के शत्रु परशुरामजी उस अग्नि के समान निस्तेज हो गये, जिसमें केवल धुआँ भर शेष रह गया हो॥ ८१॥ आमने-सामने खड़े राम और परशुराम में से एक का तेज बढा और दूसरे का घट गया। इस प्रकार वे दोनों ऐसे दीखने लगे, जैसे सन्ध्याकालीन चन्द्रमा और सूर्य हों॥ ८२॥ कार्त्तिकेय के समान तेजस्वी एवं दयालु रामचन्द्रजी ने एक बार उन निस्तेज परशुरामजी को और उसके बाद धनुष पर चढे हुए अपने अचूक बाण को देखकर फिर बोले—॥ ८३॥ यद्यपि आपने हमारा बहुत बड़ा अपमान किया है, परन्तु आप ब्राह्मण हैं, अतएव मैं निर्दयी होकर आपको मारूँगा नहीं। किन्तु यह तो बताइए कि अब इस बाण से मैं आपकी गति रोकूँ या आपके उन दिव्य लोकों को नष्ट कर दूँ, जो आपने यज्ञ कर-करके जीते हैं॥ ८४॥ परशुरामजी बोले—ऐसी बात नहीं है कि आपको देखते ही मैंने न पहचाना हो कि आप ही साक्षात् पुरातन पुरुष हैं, किन्तु मैंने यह जानने के लिए आपको कुपित किया था कि देखूँ, आप विष्णु भगवान् का कितना तेज लेकर पृथ्वी पर अवतरित हुए हैं॥ ८५॥ पिता के शत्रुओं को नष्ट करने और सागर तक फैली हुई पृथ्वी ब्राह्मणों को दान देने वाले मुझ परशुराम के लिए आप परम पुरुष के हाथों हारना भी बड़े महत्त्व की बात है॥ ८६॥ अतएव आप मेरी गति न रोकिए, जिससे मैं पवित्र तीर्थों में आ जा सकूँ। मुझे भोग की इच्छा नहीं है। अतएव यदि स्वर्ग न भी मिले तो मुझे कुछ भी दुःख नहीं होगा॥ ८७॥ यह सुना तो राम ने परशुरामजी का कहना मानकर पूर्व दिशा की ओर मुँह करके वह बाण छोड़ दिया।

प्रत्यपद्यत तथेति राघवः प्राङ्मुखश्च विससर्ज सायकम्।
भार्गवस्य सुकृतोऽपि सोऽभवत्स्वर्गमार्गपरिघो दुरत्ययः॥८८॥
राघवोऽपि चरणौ तपोनिधेः क्षम्यतामिति वदन्समस्पृशत्।
निर्जितेषु तरसा तरस्विनां शत्रुषु प्रणतिरेव कीर्तये॥८९॥
राजसत्त्वमवधूय मातृकं पित्र्यमस्मि गमितः शमं यदा।
नन्वनिन्दितफलो मम त्वया निग्रहोऽप्ययमनुग्रहीकृतः॥९०॥
साधयाम्यहमविघ्नमस्तु ते देवकार्यमुपपादयिष्यतः।
ऊचिवानिति वचः सलक्ष्मणं लक्ष्मणाग्रजमृषिस्तिरोदधे॥९१॥
तस्मिन्गते विजयिनं परिरभ्य रामं स्नेहादमन्यत पिता पुनरेव जातम्।
तस्याभवत्क्षणशुचः परितोषलाभः कक्षाग्निलङ्घिततरोरिव वृष्टिपातः॥९२॥
अथ पथि गमयित्वा क्लृप्तरम्योपकार्ये कतिचिदवनिपालः शर्वरीः शर्वकल्पः।
पुरमविशदयोध्यां मैथिलीदर्शनीनां कुवलयितगवाक्षां लोचनैरङ्गनानाम्॥९३॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये सीता-
विवाहवर्णनं नामैकादशः सर्गः॥११॥

यद्यपि परशुरामजी ने बहुत पुण्य किये थे, तथापि वह बाण सदा के लिए परशुरामजी के द्वारा अर्जित स्वर्ग का मार्ग रोककर खडा हो गया॥८८॥ तदनन्तर राम ने परशुराम से क्षमा माँगते हुए उनके श्रीचरणों का स्पर्श किया। क्योंकि कोई भी पराक्रमी जब अपने बल से शत्रु को जीत लेता है, तब वह यदि नम्रता भी दिखलाये तो उसकी कीर्ति ही बढती है॥८९॥ परशुराम ने कहा—मुझे यह दण्ड देकर आपने मेरा बहुत बडा उपकार किया है। इससे मेरा सबसे बड़ा लाभ तो यह हुआ कि आपने क्षत्रिय माता से प्राप्त मेरे रजोगुण को दूर करके मुझे मेरे पिता का सतोगुण दे दिया है॥९०॥ अब मैं जाता हूँ। आप देवताओं का जो कार्य करने धरती पर आये हैं, वह बिना विघ्न के पूरा हो। राम और लक्ष्मण से यह कहकर परशुरामजी तत्काल अन्तर्धान हो गये॥९१॥ इस प्रकार परशुराम के चले जाने पर विजयी राम को दशरथजी ने गले से लगा लिया और वे स्नेहसिक्त होकर यह समझने लगे कि राम का दूसरा जन्म हुआ है। इस अल्पकालीन दुःख के पश्चात् उन्हें ऐसा संतोष मिला, जैसे जङ्गल की आग से झुलसे हुए वृक्ष को वर्षा का जल मिल जाय॥९२॥ तब शिव के समान राजा दशरथ ने कुछ रातें तो उस मार्ग में ही बितायीं, जहाँ उनके लिए सुन्दर डेरे बने हुए थे। तदनन्तर वे उस अयोध्या नगरी में पहुँचे, जहाँ सीताजी को देखने के लिए उत्सुक नगर की सुन्दरी स्त्रियों की आँखें झरोखों में कमल जैसी दीख रही थीं॥९३॥

इस प्रकार रघुवंशमहाकाव्य में सीताविवाह-वर्णन नामक ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त॥११॥

द्वादशः सर्गः

निर्विष्टविषयस्नेहः स दशान्तमुपेयिवान् । आसीदासन्ननिर्वाणः प्रदीपार्चिरिवोषसि ॥ १ ॥
तं कर्णमूलमागत्य रामे श्रीर्न्यस्यतामिति। कैकेयीशङ्कयेवाह पलितच्छद्मना जरा ॥ २ ॥
सा पौरान्पौरकान्तस्य रामस्याभ्युदयश्रुतिः । प्रत्येकं ह्लादयाञ्चक्रे कुल्येवोद्यानपादपान् ॥ ३ ॥
तस्याभिषेकसम्भारं कल्पितं क्रूरनिश्चया । दूषयामास कैकेयी शोकोष्णैः पार्थिवाश्रुभिः ॥ ४ ॥
सा किलाश्वासिता चण्डी भर्त्रा तत्संश्रुतौ वरौ । उद्ववामेन्द्रसिक्ता भूर्बिलमग्नाविवोरगौ ॥ ५ ॥
तयोश्चतुर्दशैकेन रामं प्राव्राजयत्समाः । द्वितीयेन सुतस्यैच्छद्वैधव्यैकफलां श्रियम् ॥ ६ ॥
पित्रा दत्तां रुदन्रामः प्राङ्महीं प्रत्यपद्यत । पश्चाद्वनाय गच्छेति तदाज्ञां मुदितोऽग्रहीत् ॥ ७ ॥
दधतो मङ्गलक्षौमे वसानस्य च वल्कले । ददृशुर्विस्मितास्तस्य मुखरागं समं जनाः ॥ ८ ॥
स सीतालक्ष्मणसखः सत्याद्गुरुमलोपयन् । विवेश दण्डकारण्यं प्रत्येकं च सतां मनः ॥ ९ ॥
राजाऽपि तद्वियोगार्तः स्मृत्वा शापं स्वकर्मजम् । शरीरत्यागमात्रेण शुद्धिलाभममन्यत ॥ १० ॥
विप्रोषितकुमारं यद्राज्यमस्तमितेश्वरम् । रन्ध्रान्वेषणदक्षाणां द्विषामामिषतां ययौ ॥ ११ ॥
अथानाथाः प्रकृतयो मातृबन्धुनिवासिनम् । मौलैरानाययामासुर्भरतं स्तम्भिताश्रुभिः ॥ १२ ॥

जब राजा दशरथ ने सब सुख भोग लिये और बूढ़े हो चले, तब उनकी दशा प्रातःकाल के उस दीपक जैसी हो गयी, जिसका तेल चुक गया हो और वह बुझने ही वाला हो ॥ १ ॥ उनकी कनपटी के पासवाले बाल पक गये थे, जिससे ऐसा प्रतीत होता था कि मानो बुढ़ापा कैकेयी से सशंक होकर राजा के कान में कह रह था कि अब राम को राज्य सौंप दीजिए ॥ २ ॥ जैसे पानी की गूल से सिंचकर पूरे उद्यान के वृक्ष हरे-भरे हो जाते हैं, वैसे ही लोकप्रिय राम के राज्याभिषेक का समाचार सुनकर अयोध्या का प्रत्येक निवासी फूला नहीं समाया ॥ ३ ॥ किन्तु निष्ठुर कैकेयी ने ऐसा चक्र रचा कि राज्याभिषेक का सारा उत्साह शोकसन्तप्त राजा दशरथ के आँसुओं में बह गया ॥ ४ ॥ उस कठोर स्वभाववाली कैकेयी को जब राजा दशरथ ने बहुत समझाया, तब उसने वे दो वर माँगे, जिनके लिए राजा दशरथ पहले से ही वचन दे चुके थे। वे दोनों वर ऐसे ही थे, जैसे वर्षा मे भीगी हुई पृथ्वी के छेदों में से सहसा दो साँप निकल आये हों ॥ ५ ॥ उनमें से कैकेयी ने एक वर तो यह माँगा कि चौदह वर्ष के लिए राम वन को चले जायँ। दूसरा यह कि मेरे बेटे भरत को राज्य मिले। किन्तु ये वर माँगने का एकमात्र फल यही हुआ कि कैकेयी विधवा हो गयी ॥ ६ ॥ दशरथजी राम को जब राजगद्दी दे रहे थे, तब राम ने आँखों में आँसू भरके उसे स्वीकार किया था, किन्तु जब उनसे कहा गया कि 'वन चले जाओ', तब उन्होंने इस आज्ञा को हँसते-हँसते अंगीकार कर लिया ॥ ७ ॥ यह देखकर लोगों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा कि राम के मुँह का भाव राज्याभिषेक के रेशमी वस्त्र पहनते समय जैसे था, ठीक वैसा ही भाव वन जाने के लिए पेड़ की छाल के वस्त्र पहनते समय भी था ॥ ८ ॥ अपने पिता की बात सत्य करने के लिए वे सीता और लक्ष्मण के साथ केवल दण्डक वन में ही नहीं, बल्कि अपने इस शुभ व्यवहार से सज्जनों के मन में भी पैठ गये ॥ ९ ॥ उनके वियोग में राजा दशरथ को बड़ा दुःख हुआ। उसी समय उन्हें श्रवण के पिता का शाप स्मरण हो आया और उन्होंने समझ लिया कि अब प्राण देकर ही मेरी आत्मा की शुद्धि होगी ॥ १० ॥ उनके शत्रु तो ऐसे अवसर की ताक में थे ही। जब उन्होंने देखा कि अवधेश स्वर्ग चले और राजकुमार भी राज्य छोड़कर चल दिये तो उन्होंने झट अयोध्या पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया ॥ ११ ॥ तब अयोध्या की अनाथ प्रजा ने उन कुल-मंत्रियों को भेजकर भरत

श्रुत्वा तथाविधं मृत्युं कैकेयीतनयः पितुः । मातुर्न केवलं स्वस्याः श्रियोऽप्यासीत्पराङ्मुखः ॥
ससैन्यश्चान्वगाद्रामं दर्शितानाश्रमालयैः । तस्य पश्यन्ससौमित्रेरुदश्रुर्वसतिद्रुमान् ॥ १४ ॥
चित्रकूटवनस्थं च कथितस्वर्गतिर्गुरोः । लक्ष्म्या निमन्त्रयाञ्चक्रे तमनुच्छिष्टसम्पदा ॥ १५ ॥
स हि प्रथमजे तस्मिन्नकृतश्रीपरिग्रहे । परिवेत्तारमात्मानं मेने स्वीकरणाद्भुवः ॥ १६ ॥
तमशक्यमपाक्रष्टुं निदेशात्स्वर्गिणः पितुः । ययाचे पादुके पश्चात्कर्तुं राज्याधिदेवते ॥ १७ ॥
स विसृष्टस्तथेत्युक्त्वा भ्रात्रा नैवाविशत्पुरीम् । नन्दिग्रामगतस्तस्य राज्यं न्यासमिवाभुनक् ॥ १८ ॥
दृढभक्तिरिति ज्येष्ठे राज्यतृष्णापराङ्मुखः । मातुः पापस्य भरतः प्रायश्चित्तमिवाकरोत् ॥ १९ ॥
रामोऽपि सह वैदेह्या वने वन्येन वर्तयन् । चचार सानुजः शान्तो वृद्धेक्ष्वाकुव्रतं युवा ॥ २० ॥
प्रभावस्तम्भितच्छायमाश्रितः स वनस्पतिम् । कदाचिदङ्के सीतायाः शिश्ये किञ्चिदिव श्रमात् ॥
ऐन्द्रिः किल नखैस्तस्या विददार स्तनौ द्विजः । प्रियोपभोगचिह्नेषु पौरोभाग्यमिवाचरन् ॥ २२ ॥
तस्मिन्नास्थदिषीकास्त्रं रामो रामावबोधितः । आत्मानं मुमुचे तस्मादेकनेत्रव्ययेन सः ॥ २३ ॥
रामस्त्वासन्नदेशत्वाद्भरतागमनं पुनः । आशङ्क्योत्सुकसारङ्गां चित्रकूटस्थलीं जहौ ॥ २४ ॥

को उनके ननिहाल से बुलवाया, जिन्होंने अपने आँसू रोक रखे थे ॥ १२ ॥ भरतजी को जब अपने पिता की मृत्यु का समाचार मिला, तब वे केवल अपनी माँ से ही नहीं, बल्कि अयोध्या की राजलक्ष्मी तक से उदासीन हो गये ॥ १३ ॥ अपने साथ सेना लेकर वे राम को ढूँढ़ने निकल पड़े। मार्ग के आश्रमवासियों ने जब उन्हें वे वृक्ष दिखलाये, जिनके नीचे राम और लक्ष्मण जाते समय टिके थे, तब उनकी आँखों में आँसू उमड पड़े ॥ १४ ॥ उन दिनों राम चित्रकूट के वन में रहते थे। वहाँ पहुँचकर भरतजी ने उन्हें दशरथजी की मृत्यु का समाचार सुनाया और कहा कि अयोध्या की राजलक्ष्मी का मैंने स्पर्श भी नहीं किया है। अब आप ही चलकर उसे सम्हालिए ॥ १५ ॥ क्योंकि बडे भाई ने जिस राज्य को स्वीकार नहीं किया, उसे लेना मैं उतना ही बडा पाप समझता हूँ, जितना कि बडे भाई के अविवाहित रहने पर छोटे भाई का अपना विवाह कर लेना ॥ १६ ॥ किन्तु राम अपने स्वर्गीय पिता की आज्ञा से तनिक भी विचलित नहीं हुए। तब भरतजी ने उनसे प्रार्थना की कि आप मुझे अपनी खड़ाऊँ दे दीजिए, जिन्हें मैं अयोध्या का अधिदेवता बनाकर राज्य का काम चलाऊँगा ॥ १७ ॥ तब राम ने अपनी खड़ाऊँ दे दी। उसे लेकर भरतजी लौट पडे, परन्तु वे अयोध्या नहीं आये। उन्होंने नन्दिग्राम में डेरा डाला और वहीं से अयोध्या के राज्य की उसी प्रकार रक्षा की, जैसे अपने भाई की धरोहर सम्हाल रहे हों ॥ १८ ॥ इस प्रकार अपने बडे भाई में भक्ति करके और राजपद ठुकराकर भरतजी ने अपनी माता के पाप का प्रायश्चित्त कर लिया ॥ १९ ॥ उधर राम भी सीता तथा लक्ष्मण के साथ कन्द-मूल खाते हुए युवावस्था में ही व्रत को करने लगे, जिसे इक्ष्वाकुवंशवाले राजा बुढापे में किया करते थे ॥ २० ॥ एक दिन थके हुए राम सीताजी की गोद में सिर रखकर एक ऐसे वृक्ष के नीचे लेटे थे, जिसकी छाया को उन्होंने अपने अलौकिक प्रभाव से बाँध दिया था ॥ २१ ॥ उसी समय इन्द्र का पुत्र जयन्त कौवा बनकर आया और उसने अपने नखों से सीताजी के स्तनों पर चोंच मारी, जैसे वह सीताजी के स्तनों पर राम के हाथ से निर्मित नखक्षतों को प्रकट करके अपनी यह आदत बतला रहा हो कि मेरा काम दूसरों का दोष ढूँढ़ना ही है ॥ २२ ॥ तब तुरन्त सीताजी ने राम को जगाया, उसी समय राम ने उस पर सींक का एक बाण छोड़ा। उससे बचने के लिए उस कौवे ने इधर-उधर बहुत चक्कर काटा, परन्तु जब तक उसने अपनी एक आँख नहीं दे दी तब तक वह विपत्ति से नहीं छूटा ॥ २३ ॥ थोड़े ही दिन बाद राम ने चित्रकूट का वह आश्रम छोड दिया, जहाँ के हरिण राम से इतने हिल-मिल गये थे कि दिन-रात उन्हें ही देखा करते थे। राम ने इस डर से चित्रकूट छोडा था कि अयोध्या पास में ही है, कहीं ऐसा न

प्रययावातिथेयेषु वसन् ऋषिकुलेषु सः । दक्षिणां दिशमृक्षेषु वार्षिकेष्विव भास्करः ॥ २५ ॥
बभौ तमनुगच्छन्ती विदेहाधिपतेः सुता । प्रतिषिद्धाऽपि कैकेय्या लक्ष्मीरिव गुणोन्मुखी ॥ २६ ॥
अनसूयाऽतिसृष्टेन पुण्यगन्धेन काननम् । सा चकाराङ्गरागेण पुष्पोच्चलितषट्पदम् ॥ २७ ॥
सन्ध्याभ्रकपिशस्तस्य विराधो नाम राक्षसः । अतिष्ठन्मार्गमावृत्य रामस्येन्दोरिव ग्रहः ॥ २८ ॥
स जहार तयोर्मध्ये मैथिलीं लोकशोषणः । नभोनभस्ययोर्वृष्टिमवग्रह इवान्तरे ॥ २९ ॥
तं विनिष्पिष्य काकुत्स्थौ पुरा दूषयति स्थलीम् । गन्धेनाशुचिना चेति वसुधायां निचख्नतुः ॥
पञ्चवट्यां ततो रामः शासनात्कुम्भजन्मनः । अनपोढस्थितिस्तस्थौ विन्ध्याद्रिः प्रकृताविव ॥
रावणावरजा तत्र राघवं मदनातुरा । अभिपेदे निदाघार्ता व्यालीव मलयद्रुमम् ॥ ३२ ॥
सा सीतासन्निधावेव तं वव्रे कथितान्वया । अत्यारूढो हि नारीणामकालज्ञो मनोभवः ॥ ३३ ॥
कलत्रवानहं बाले! कनीयांसं भजस्व मे । इति रामो वृषस्यन्तीं वृषस्कन्धः शशास ताम् ॥ ३४ ॥
ज्येष्ठाभिगमनात्पूर्वं तेनाप्यनभिनन्दिताम् । साऽभूद्रामाश्रया भूयो नदीवोभयकूलभाक् ॥ ३५ ॥
संरम्भं मैथिलीहासः क्षणसौम्यां निनाय ताम् । निवातस्तिमितां वेलां चन्द्रोदय इवोदधेः ॥ ३६ ॥
फलमस्योपहासस्य सद्यः प्राप्स्यसि पश्य माम् । मृग्याः परिभवो व्याघ्र्यामित्यवेहि त्वया कृतम् ॥

हो कि भरत फिर यहाँ आ पहुँचें॥ २४॥ जैसे वर्षा के दस नक्षत्रों में ठहरता हुआ सूर्य दक्षिण को घूम जाता है, वैसे ही अतिथि-सत्कार करनेवाले ऋषियों के आश्रमों में टिकते हुए राम भी वहाँ से दक्षिण दिशा की ओर मुड़ पड़े॥ २५ ॥ यद्यपि राम को कैकेयी ने राजलक्ष्मी से हटा दिया था, तथापि उनके पीछे-पीछे चलनेवाली सीता ऐसी जान पड़ती थीं कि जैसे गुणों के पीछे चलनेवाली साक्षात् लक्ष्मी ही चल रही हों॥ २६ ॥ जब वे अत्रि ऋषि के आश्रम पर पहुँचे, तब उनकी पत्नी अनसूया ने सीताजी के शरीर में ऐसा सुगन्धित अङ्गराग लगाया कि उसकी पवित्र सुगन्ध पाकर भौंरें भी जंगली फूलों से उड़-उड़कर उधर ही दौड आये॥ २७ ॥ जैसे राहु चन्द्रमा का मार्ग रोक लेता है, वैसे ही सन्ध्या के बादल के समान लाल रंगवाला विराध राक्षस एकाएक राम का मार्ग रोककर खड़ा हो गया॥ २८॥ जैसे कोई खोटा ग्रह सावन और भादों महीनों की वर्षा ले बीतता है, वैसे ही उस राक्षस ने राम और लक्ष्मण के बीच से सीताजी का अपहरण कर लिया॥ २९ ॥ तब राम-लक्ष्मण ने उसे तुरन्त मार डाला और यह सोचकर उसे पृथ्वी में गाड दिया कि कहीं इसके शरीर की दुर्गन्धि इस प्रदेशभर में न फैल जाय॥ ३० ॥ अगस्त्यजी की आज्ञा से जैसे विन्ध्याचल अपनी मर्यादा में रह गया था, वैसे ही राम भी मर्यादापूर्वक पञ्चवटी में रहने लगे॥ ३१ ॥ कोई नागिन जैसे धूप से घबराकर चन्दन के पेड़ के पास पहुँच जाय वैसे ही काम से पीड़ित रावण की छोटी बहन शूर्पणखा एक दिन राम के पास जा पहुँची॥ ३२ ॥ उसने पहले तो अपने कुल का परिचय दिया, फिर सीताजी के सामने ही वह राम से कहने लगी कि 'मैं तुम्हें अपना पति मानती हूँ।' क्योंकि जब स्त्रियाँ बहुत अधिक कामासक्त हो जाती हैं, तब उन्हें समय का ध्यान नहीं रहता कि कब क्या करना चाहिए॥ ३३ ॥ कामासक्ता शूर्पणखा की बातें सुनकर साँड़ के जैसे ऊँचे कन्धोंवाले राम बोले—बाले! मैं विवाहित हूँ, तुम मेरे छोटे भाई से मिलो॥ ३४॥ तब वह लक्ष्मण के पास पहुँची। लक्ष्मण ने कहा—तू पहले मेरे बडे भाई के पास विवाह की इच्छा से जा चुकी है। अतः तू मेरी माता के समान है। मैं तुझसे विवाह नहीं कर सकता। यह सुनकर वह फिर राम के पास लौटी। इस प्रकार राम और लक्ष्मण के पास आती-जाती हुई शूर्पणखा उस नदी के जैसी हो गयी, जो बारी-बारी से अपने दोनों तटों को छूती हुई बह रही हो॥ ३५॥ वायु के रुके रहने से शान्त समुद्र का जल जैसे चन्द्रमा के निकलने पर हिलोरें लेने लगता है, वैसे ही सीताजी को हँसते हुए देखकर क्षणभर के लिए सुन्दर रूप धारण करनेवाली कुरूपा शूर्पणखा एकदम बिगड़ गयी॥ ३६॥ वह बोली—'इधर देखो! तुम्हें इस हँसी का फल बहुत शीघ्र मिलेगा। यह समझ लो

इत्युक्त्वा मैथिलीं भर्तुरङ्के निविशतीं भयात् । रूपं शूर्पणखा नाम्नः सदृशं प्रत्यपद्यत ॥ ३८ ॥
लक्ष्मणः प्रथमं श्रुत्वा कोकिलामञ्जुवादिनीम् । शिवाघोरस्वनां पश्चाद्बुबुधे विकृतेति ताम् ॥
पर्णशालामथ क्षिप्रं विकृष्टासिः प्रविश्य सः । वैरूप्यपौनरुक्त्येन भीषणां तामयोजयत् ॥ ४० ॥
सा वक्रनखधारिण्या वेणुकर्कशपर्वया । अङ्कुशाकारयाऽङ्गुल्या तावतर्जयदम्बरे ॥ ४१ ॥
प्राप्य चाशु जनस्थानं खरादिभ्यस्तथाविधम् । रामोपक्रममाचख्यौ रक्षःपरिभवं नवम् ॥ ४२ ॥
मुखावयवलूनां तां नैर्ऋता यत्पुरो दधुः । रामाभियायिनां तेषां तदेवाभूदमङ्गलम् ॥ ४३ ॥
उदायुधानापततस्तान्दृप्तान्प्रेक्ष्य राघवः । निदधे विजयाशंसां चापे सीतां च लक्ष्मणे ॥ ४४ ॥
एको दाशरथिः कामं यातुधानाः सहस्रशः । ते तु यावन्त एवाजौ तावांश्च ददृशे स तैः ॥ ४५ ॥
असज्जनेन काकुत्स्थः प्रयुक्तमथ दूषणम् । न चक्षमे शुभाचारः स दूषणमिवात्मनः ॥ ४६ ॥
तं शरैः प्रतिजग्राह खरत्रिशिरसौ च सः । क्रमशस्ते पुनस्तस्य चापात्सममिवोद्ययुः ॥ ४७ ॥
तैस्त्रयाणां शितैर्बाणैर्यथापूर्वविशुद्धिभिः । आयुर्देहातिगैः पीतं रुधिरं तु पतत्त्रिभिः ॥ ४८ ॥
तस्मिन्रामशरोत्कृत्ते बले महति रक्षसाम् । उत्थितं ददृशेऽन्यच्च कबन्धेभ्यो न किञ्चन ॥ ४९ ॥
सा बाणवर्षिणं रामं योधयित्वा सुरद्विषाम् । अप्रबोधाय सुष्वाप गृध्रच्छाये वरूथिनी ॥ ५० ॥

कि तुमने वैसे ही मेरा अपमान किया है, जैसे कोई हरिणी किसी बाघिन का अपमान करे' ॥ ३७ ॥ यह सुनते ही सीताजी डर के मारे राम के पीछे जा छिपीं और शूर्पणखा ने अपने नाम के अनुसार सूप के समान बड़े-बडे नखोंवाला अपना विकराल रूप दिखलाया ॥ ३८ ॥ लक्ष्मण ने जब देखा कि अभी तो कोयल के समान मधुर बोली बोल रही थी और अब सियारिन सदृश हुआँ-हुआँ करने लगी, तब समझ गये कि यह कोई कपटी स्त्री है ॥ ३९ ॥ यह समझते ही वे अपनी कुटिया में गये और वहाँ से तलवार लाकर शूर्पणखा के नाक-कान काट लिये। नाक-कान कट जाने से वह और भी कुरूप दीखने लगी ॥ ४० ॥ इस प्रकार नकटी होकर वह आकाश में उडी। वहाँ से अंकुश जैसे टेढ़े नखों और बाँस के से भद्दे पोरोंवाली अपनी उँगलियाँ चमका-चमकाकर वह राम-लक्ष्मण को धमकाने लगी ॥ ४१ ॥ तत्काल वहाँ से चलकर वह जनस्थान में जा पहुँची और उसने खर आदि राक्षसों को यह कहकर उभाड़ा कि आज पहली बार राम ने इस तरह राक्षसों को अपमानित किया है ॥ ४२ ॥ तदनन्तर आगे-आगे नकटी शूर्पणखा और उसके पीछे-पीछे वे राक्षस राम से लड़ने के लिए चले। इस प्रकार उस नकटी को आगे करके ही उन लोगों ने अपना सगुन बिगाड लिया ॥ ४३ ॥ जब राम ने दूर से देखा कि हाथ में शस्त्र लिये घमंडी राक्षस आगे बढे चले आ रहे हैं तो उन्हें विश्वास हो गया कि इन्हें तो हम स्वयं अपने धनुष से ही जीत लेंगे। अतएव उन्होंने सीता की रक्षा का भार लक्ष्मण को सौंप दिया ॥ ४४ ॥ यद्यपि राम अकेले और राक्षस हजारों थे, परन्तु राम ऐसे लड रहे थे कि वहाँ जितने राक्षस थे, उन्हें उतने ही राम दीख रहे थे ॥ ४५ ॥ जैसे सदाचारी राम अपने ऊपर नीच पुरुषों द्वारा लगाया हुआ दूषण नहीं सह सकते थे, वैसे ही वे युद्ध में दूषण राक्षस का आगमन भी नहीं सह सके ॥ ४६ ॥ उन्होंने दूषण, खर और त्रिशिरा पर एक-एक करके बाण चलाये, किन्तु अत्यन्त शीघ्रता से चलाये हुए वे बाण ऐसे जान पडते थे कि मानों वे एक साथ धनुष से छूटे हुए हों ॥ ४७ ॥ राम के वे बाण उनका शरीर छेदकर इतने वेग से बाहर निकल गये कि उनमें रक्त भी नहीं लग सका। क्योंकि बाण तो उनकी आयु पीने के लिये गये थे, उनका रक्त तो पक्षियों ने पिया ॥ ४८ ॥ उन राम ने अपने बाणों से राक्षसों की पूरी सेना को इस प्रकार काट डाला कि युद्धभूमि में राक्षसों के धडों के सिवाय कुछ नहीं दीखता था ॥ ४९ ॥ इस प्रकार बाण बरसानेवाले राम से लड़कर राक्षसों की वह सेना गिद्धों के पंखों की छाया में सदा

राघवास्त्रविदीर्णानां रावणं प्रति रक्षसाम् । तेषां शूर्पणखैवैका दुष्प्रवृत्तिहराऽभवत् ॥ ५१ ॥
निग्रहात्स्वसुराप्तानां वधाच्च धनदानुजः । रामेण निहितं मेने पदं दशसु मूर्धसु ॥ ५२ ॥
रक्षसा मृगरूपेण वञ्चयित्वा स राघवौ । जहार सीतां पक्षीन्द्रप्रयासक्षणविघ्नितः ॥ ५३ ॥
तौ सीतान्वेषिणौ गृध्रं लूनपक्षमपश्यताम् । प्राणैर्दशरथप्रीतेरनृणं कण्ठवर्तिभिः ॥ ५४ ॥
स रावणहृतां ताभ्यां वचसाऽऽचष्ट मैथिलीम् । आत्मनः सुमहत्कर्म व्रणैरावेद्य संस्थितः ॥ ५५ ॥
तयोस्तस्मिन्नवीभूतपितृव्यापत्तिशोकयोः । पितरीवाग्निसंस्कारात्परा ववृतिरे क्रियाः ॥ ५६ ॥
वधनिर्धूतशापस्य कबन्धस्योपदेशतः । मुमूर्च्छ सख्यं रामस्य समानव्यसने हरौ ॥ ५७ ॥
स हत्वा वालिनं वीरस्तत्पदे चिरकाङ्क्षिते । धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं सन्न्यवेशयत् ॥ ५८ ॥
इतस्ततश्च वैदेहीमन्वेष्टुं भर्तृचोदिताः । कपयश्चेरुरार्तस्य रामस्येव मनोरथाः ॥ ५९ ॥
प्रवृत्तावुपलब्धायां तस्याः सम्पातिदर्शनात् । मारुतिः सागरं तीर्णः संसारमिव निर्ममः ॥ ६० ॥
दृष्टा विचिन्वता तेन लङ्कायां राक्षसीवृता । जानकी विषवल्लीभिः परीतेव महौषधिः ॥ ६१ ॥
तस्यै भर्तुरभिज्ञानमङ्गुलीयं ददौ कपिः । प्रत्युद्गतमिवानुष्णैस्तदानन्दाश्रुबिन्दुभिः ॥ ६२ ॥
निर्वाप्य प्रियसन्देशैः सीतामक्षवधोद्धतः । स ददाह पुरीं लङ्कां क्षणसोढारिनिग्रहः ॥ ६३ ॥

के लिए सो गयी ॥ ५० ॥ राम के अस्त्र से मारे हुए उन राक्षसों की मृत्यु का समाचार रावण के पास पहुँचाने के लिए अकेली शूर्पणखा ही बाकी बची ॥ ५१ ॥ अपनी बहन का अपमान और खर-दूषण आदि अपने सगे-संबन्धियों का वध रावण को इतना अपमानजनक जान पड़ा कि जैसे राम ने उसके दसों सिरों पर एक साथ पैर रख दिया हो ॥ ५२ ॥ तब उसने मारीच को मायामृग बनाया और राम-लक्ष्मण को धोखा देते हुए सीताजी को चुराकर लङ्का में ले गया। मार्ग में गृद्धराज जटायु कुछ क्षण उससे लड़ा भी, परन्तु वह कुछ नहीं कर सका ॥ ५३ ॥ अब राम और लक्ष्मण सीता को ढूँढने चले। मार्ग में उन्होंने जटायु को देखा। उसके पंख कटे हुए थे और प्राण कण्ठ तक आ गये थे, परन्तु उसने सीता को चुरानेवाले रावण से लडकर अपने मित्र दशरथ का ऋण चुका दिया था ॥ ५४ ॥ उसने राम-लक्ष्मण से कहा कि सीताजी को रावण चुरा ले गया है। बेचारे जटायु के घावों को देखकर ही यह स्पष्ट हो गया कि वह रावण से कितना लड़ा था ॥ ५५ ॥ केवल इतना कहकर ही जटायु मर गया। उसके मरने से राम-लक्ष्मण को उतना ही शोक हुआ, जितना अपने पिता के मरने पर हुआ था। पिता के ही सदृश विधिवत् दाहसंस्कार करके उन्होंने उसका श्राद्ध आदि भी किया ॥ ५६ ॥ वहाँ से आगे चलने पर उन्हें कबन्ध मिला, जो किसी ऋषि के शाप से राक्षस हो गया था। राम ने उसकी भुजाएँ काट डालीं, जिससे शापमुक्त होकर वह फिर देवता बन गया। उसने प्रसन्न होकर सुग्रीव का पता बतलाया। उस सुग्रीव के राज्य और स्त्री को उसके भाई वाली ने छीन लिया था। सो उसने स्त्री से बिछुड़े हुए राम से शीघ्र मित्रता कर ली ॥ ५७ ॥ तब पराक्रमी राम ने वाली को मारकर उसके सिंहासन पर सुग्रीव को वैसे ही बैठा दिया, जैसे कोई वैयाकरण लिट्-लुट् आदि लकारों में अस् धातु के बदले भू आदि धातुओं का सन्निवेश कर दे ॥ ५८ ॥ सुग्रीव ने वानरों को आज्ञा दी कि 'जाओ सीताजी का पता लगाओ'। जैसे विरही राम का मन सीताजी की खोज में भटकता था, वैसे ही वानर भी सर्वत्र घूम-घूमकर सीताजी की खोज करने लगे ॥ ५९ ॥ मार्ग में जटायु के भाई सम्पाती से वे मिले। उसने कहा कि समुद्रपार लङ्काद्वीप का राजा रावण सीताजी को चुरा ले गया है। यह सुनकर हनुमान्जी वैसे ही संमुद्र को लाँघ गये, जैसे निर्मोही पुरुष संसार-सागर को पार कर लेता है ॥ ६० ॥ लङ्का में पहुँचकर ढूँढते-ढूँढते उन्होंने एक स्थान पर सीताजी को देखा। चारों ओर राक्षसियों से घिरी हुई वे ऐसी दीख रही थीं, जैसे विषवेलि के बीच में संजीवनी बूटी जगमगा रही हो ॥ ६१ ॥ उनके पास जाकर हनुमान्जी ने राम की अंगूठी दी। सीताजी ने उसका स्वागत उमड़े हुए आनन्द के ठंढे आँसुओं से किया ॥ ६२ ॥ पहले तो हनुमान्जी

प्रत्यभिज्ञानरत्नं च रामायादर्शयत्कृती । हृदयं स्वयमायातं वैदेह्या इव मूर्तिमत् ॥ ६४ ॥
स प्राप हृदयन्यस्तमणिस्पर्शनिमीलितः । अपयोधरसंसर्गां प्रियालिङ्गननिर्वृतिम् ॥ ६५ ॥
श्रुत्वा रामः प्रियोदन्तं मेने तत्सङ्गमोत्सुकः । महार्णवपरिक्षेपं लङ्कायाः परिखालघुम् ॥ ६६ ॥
स प्रतस्थेऽरिनाशाय हरिसैन्यैरनुद्रुतः । न केवलं भुवः पृष्ठे व्योम्नि सम्बाधवर्त्मभिः ॥ ६७ ॥
निविष्टमुदधेः कूले तं प्रपेदे विभीषणः । स्नेहाद्राक्षसलक्ष्म्येव बुद्धिमादिश्य चोदितः ॥ ६८ ॥
तस्मै निशाचरैश्वर्यं प्रतिशुश्राव राघवः । काले खलु समारब्धाः फलं बध्नन्ति नीतयः ॥ ६९ ॥
स सेतुं बन्धयामास प्लवगैर्लवणाम्भसि । रसातलादिवोन्मग्नं शेषं स्वप्नाय शार्ङ्गिणः ॥ ७० ॥
तेनोत्तीर्य पथा लङ्कां रोधयामास पिङ्गलैः । द्वितीयं हेमप्राकारं कुर्वद्भिरिव वानरैः ॥ ७१ ॥
रणः प्रववृते तत्र भीमः प्लवगरक्षसाम् । दिग्विजृम्भितकाकुत्स्थपौलस्त्यजयघोषणः ॥ ७२ ॥
पादपाविद्धपरिघः शिलानिष्पिष्टमुद्गरः । अतिशस्त्रनखन्यासः शैलरुग्णमतङ्गजः ॥ ७३ ॥
अथ रामशिरश्छेददर्शनोद्भ्रान्तचेतनाम् । सीतां मायेति शंसन्ती त्रिजटा समजीवयत् ॥ ७४ ॥
कामं जीवति मे नाथ! इति सा विजहौ शुचम्। प्राङ्गत्वा सत्यमस्यान्तं जीविताऽस्मीति लज्जिता॥

ने रामचन्द्रजी का प्यारभरा सन्देश सुनाकर सीताजी को ढाढस बँधाया। फिर रावण के पुत्र अक्षकुमार को मार कर तथा थोडी देर के लिए शत्रुओं के हाथ वन्दी बनकर उन्होंने लङ्का में आग लगाकर उसे जला डाला ॥ ६३ ॥ फिर पहचान के लिए सीताजी से चूड़ामणि लेकर वे राम के पास लौट आये। वह मणि पाकर राम को इतना आनन्द हुआ कि जैसे साक्षात् सीताजी का मूर्तिमान् हृदय ही चला आया हो ॥ ६४ ॥ उस मणि को हृदय से लगा तथा सुध-बुध भूलकर वे आनन्दविभोर हो गये। उन्हें उस समय ऐसी प्रसन्नता हुई कि जैसे स्तन के स्पर्श के सिवाय स्वयं सीताजी ही हृदय से आ लगी हों ॥ ६५ ॥ अपनी प्रियतमा का सन्देश सुनकर राम उनसे मिलने के लिए अधीर हो उठे। उसी उत्साह में उन्हें लङ्का के चारों ओर का चौडा और गहरा समुद्र खाई से भी कम चौड़ा जँचने लगा ॥ ६६ ॥ बस, वे वानरों की अपार सेना साथ लेकर शत्रु का संहार करने चल पड़े। वह सेना इतनी अधिक थी कि पृथ्वी की कौन कहे, आकाश में भी बडी कठिनाई से चल सकती थी ॥ ६७ ॥ राम जब समुद्रतट पर पहुँचे तो रावण का भाई विभीषण उनसे मिलने आया। उस समय ऐसा लगा कि जैसे राक्षसों की राजलक्ष्मी ने ही उसकी बुद्धि में पैठकर यह समझा दिया हो कि अब राम की शरण में जाने पर ही तुम्हारा कल्याण हो सकेगा ॥ ६८ ॥ राम ने तत्काल उससे यह प्रतिज्ञा कर ली कि 'हम तुम्हें राक्षसों का राजा बना देंगे।' ठीक भी है। समय पर काम में लायी हुई कूटनीति आगे चलकर अवश्य फल देती है ॥ ६९ ॥ राम ने वानरों के द्वारा समुद्र पर जो पत्थरों का पुल बँधवाया, वह ऐसा लगता था कि मानो विष्णु को अपने ऊपर सुलाने के लिए स्वयं शेषनाग धरती पर उतर आये हों ॥ ७० ॥ उस पुल से समुद्र पार करके पीले-पीले वानरों ने लङ्का को चारों ओर से घेर लिया। उनसे घिरी हुई लङ्का ऐसी दीखती थी कि जैसे लङ्का के चारों ओर सोने का एक और परकोटा बन गया हो ॥ ७१ ॥ तदनन्तर वहाँ वानरों और राक्षसों का ऐसा भयङ्कर युद्ध होनें लगा कि राम और रावण की जय-जयकार से दिशाएँ फटने लगीं ॥ ७२ ॥ उस युद्ध में वानर पेड़ों से मार-मारकर राक्षसों की लोहे की गदाएँ चूर कर देते थे, पत्थर बरसाकर उनके मुद्गर पीस डालते थे, अपने नखों से वे इतने भयङ्कर घाव कर देते थे कि शस्त्रों से भी वैसे घाव नहीं किये जा सकते थे और हाथियों के सिरों पर चट्टानें पटक-पटक कर उनको मार डालते थे ॥ ७३ ॥ उसी समय एक मायावी राक्षस ने मायामय राम का सिर बनाकर सीताजी के आगे ला रखा। उसे देखते ही सीताजी मूर्च्छित होकर गिर गयीं। परन्तु जब त्रिजटा ने उन्हें समझाया कि 'यह सब राक्षसी माया है', तब सीताजी को शान्ति मिली ॥ ७४ ॥ यह जानकर उनका शोक तो दूर हो गया कि मेरे 'पतिदेव जीवित है', परन्तु उन्हें इस बात की बड़ी लज्जा हुई कि पति के मारे जाने का समाचार

गरुडापातविश्लिष्टमेघनादास्त्रबन्धनः । दाशरथ्योः क्षणक्लेशः स्वप्नवृत्त इवाभवत् ॥ ७६ ॥
ततो बिभेद पौलस्त्यः शक्त्या वक्षसि लक्ष्मणम् । रामस्त्वनाहतोऽप्यासीद्विदीर्णहृदयः शुचा ॥
स मारुतिसमानीतमहौषधिहृतव्यथः । लङ्कास्त्रीणां पुनश्चक्रे विलापाचार्यकं शरैः ॥ ७८ ॥
स नादं मेघनादस्य धनुश्चेन्द्रायुधप्रभम् । मेघस्येव शरत्कालो न किञ्चित्पर्यशेषयत् ॥ ७९ ॥
कुम्भकर्णः कपीन्द्रेण तुल्यावस्थः स्वसुः कृतः । रुरोध रामं शृङ्गीव टङ्कच्छिन्नमनःशिलः ॥ ८० ॥
अकाले बोधितो भ्रात्रा प्रियस्वप्नो वृथा भवान् । रामेषुभिरितीवासौ दीर्घनिद्रां प्रवेशितः ॥ ८१ ॥
इतराण्यपि रक्षांसि पेतुर्वानरकोटिषु । रजांसि समरोत्थानि तच्छोणितनदीष्विव ॥ ८२ ॥
निर्ययावथ पौलस्त्यः पुनर्युद्धाय मन्दिरात् । अरावणमरामं वा जगदद्येति निश्चितः ॥ ८३ ॥
रामं पदातिमालोक्य लङ्केशं च वरूथिनम् । हरियुग्यं रथं तस्मै प्रजिघाय पुरन्दरः ॥ ८४ ॥
तमाधूतध्वजपटं व्योमगङ्गोर्मिवायुभिः । देवसूतभुजालम्बी जैत्रमध्यास्त राघवः ॥ ८५ ॥
मातलिस्तस्य माहेन्द्रमामुमोच तनुच्छदम् । यत्रोत्पलदलक्लैव्यमस्त्राण्यापुः सुरद्विषाम् ॥ ८६ ॥
अन्योन्यदर्शनप्राप्तविक्रमावसरं चिरात् । रामरावणयोर्युद्धं चरितार्थमिवाभवत् ॥ ८७ ॥
भुजमूर्धोरुबाहुल्यादेकोऽपि धनदानुजः । ददृशे ह्ययथापूर्वो मातृवंश इव स्थितः ॥ ८८ ॥

सुनकर भी मैं जीवित क्यों रह गयी, मरी क्यों नहीं ? ॥ ७५ ॥ मेघनाद ने उसी समय राम और लक्ष्मण को नागपाश में बाँध लिया, परन्तु तत्काल गरुड़ ने आकर वह फन्दा काट दिया। पाश में बँधने का वह क्षणिक क्लेश उन दोनों भाइयों को ऐसा लगा कि मानो स्वप्न में वैसा हुआ हो ॥ ७६ ॥ तब मेघनाद ने लक्ष्मण की छाती में शक्ति-बाण मारा, जिसके आघात से लक्ष्मण गिर गये। उन्हें देखकर राम का हृदय शोक से फटने लगा। तत्काल हनुमान्जी जाकर हिमालय से संजीवनी बूटी ले आये, जिसे पिलाते ही लक्ष्मण की पीड़ा जाती रही और फिर उठकर उन्होंने अपने बाणों से असंख्य राक्षसों को मारा, जिससे लङ्का की स्त्रियों को फिर विलाप करने के लिए विवश कर दिया ॥ ७७-७८ ॥ जैसे शरद् ऋतु आने पर न बादल का गर्जन रह जाता है और न इन्द्रधनुष ही दिखलायी देता है, वैसे ही लक्ष्मण ने भी मेघनाद के गर्जन और उसके इन्द्रधनुष सदृश धनुष को क्षणभर में समाप्त कर दिया ॥ ७९ ॥ तभी सुग्रीव ने कुम्भकर्ण की नाक काटकर उसे भी शूर्पणखा जैसा बना दिया। तब वह राम का मार्ग रोककर ऐसे खड़ा हो गया, जैसे छेनी से कटी हुई मैनसिल की चट्टान आ गयी हो ॥ ८० ॥ तब राम के बाणों से घायल होकर वह मर गया। जैसे उन बाणों ने उसे यह कहकर गहरी नींद में सुला दिया हो कि 'तुमको नींद बड़ी प्यारी है, तुम्हारे भाई ने व्यर्थ तुम्हें असमय में जगा दिया' ॥ ८१ ॥ उन करोड़ों वानरों की सेना में बहुत-से राक्षस इस प्रकार मर-मरकर गिर रहे थे कि जैसे राक्षसों के रक्त की नदी में रणक्षेत्र से उठी हुई धूल गिर रही हो ॥ ८२ ॥ रावण ने जब सब हाल सुना, तब वह स्वयं अपने राजमहल से निकलकर रणभूमि में आया। उसने ठान लिया था कि आज संसार में या तो रावण नहीं रहेगा या राम ही नहीं रहेंगे ॥ ८३ ॥ रावण को रथ पर और राम को पैदल देखकर इन्द्र ने उनके लिए अपना वह रथ भेजा, जिसमें बड़े अच्छे घोड़े जुते हुए थे ॥ ८४ ॥ उस रथ की पताका आकाशगङ्गा की लहरों के पवन से फहरा रही थी। इन्द्र के सारथी मातलि का हाथ थामकर राम उस पर चढे ॥ ८५ ॥ तब मातलि ने उन्हें इन्द्र का वह कवच भी पहना दिया, जिस पर राक्षसों के अस्त्र का प्रहार कमल के फूल जैसा लगता था ॥ ८६ ॥ बहुत दिनों बाद राम और रावण ने एक-दूसरे को देखा और उन दोनों को अपनी वीरता दिखलाने का अवसर मिला। तीनों लोकों में राम-रावण का जो युद्ध प्रसिद्ध था, वह अब चरितार्थ हुआ ॥ ८७ ॥ असंख्य राक्षसों के मारे जाने से रावण अकेला रह गया था, फिर भी अपनी अनेक बाँहों और अनेक मुखों के कारण वह ऐसा लगता था कि मानो उसके साथ बहुत-से

जेतारं लोकपालानां स्वमुखैरर्चितेश्वरम् । रामस्तुलितकैलासमरातिं बह्वमन्यत॥ ८९ ॥
तस्य स्फुरति पौलस्त्यः सीतासङ्गमशंसिनि। निचखानाधिकक्रोधः शरं सव्येतरे भुजे॥ ९० ॥
रावणस्यापि रामास्तो भित्त्वा हृदयमाशुगः। विवेश भुवमाख्यातुमुरगेभ्य इव प्रियम्॥ ९१ ॥
वचसैव तयोर्वाक्यमस्त्रमस्त्रेण निघ्नतोः । अन्योन्यजयसंरम्भो ववृधे वादिनोरिव॥ ९२ ॥
विक्रमव्यतिहारेण सामान्याऽभूद्द्वयोरपि । जयश्रीरन्तरा वेदिर्मत्तवारणयोरिव॥ ९३ ॥
कृतप्रतिकृतप्रीतैस्तयोर्मुक्तां सुरासुरैः । परस्परशरव्राताः पुष्पवृष्टिं न सेहिरे॥ ९४ ॥
अयःशङ्कुचितां रक्षः शतघ्नीमथ शत्रवे। हृतां वैवस्वतस्येव कूटशाल्मलिमक्षिपत्॥ ९५ ॥
राघवो रथमप्राप्तां तामाशां च सुरद्विषाम्। अर्धचन्द्रमुखैर्बाणैश्चिच्छेद कदलीसुखम्॥ ९६ ॥
अमोघं सन्दधे चास्मै धनुष्येकधनुर्धरः। ब्राह्ममस्त्रं प्रियाशोकशल्यनिष्कर्षणौषधम्॥ ९७ ॥
तद्व्योम्नि शतधा भिन्नं ददृशे दीप्तिमन्मुखम्। वपुर्महोरगस्येव करालफणमण्डलम्॥ ९८ ॥
तेन मन्त्रप्रयुक्तेन निमेषार्धादपातयत् । स रावणशिरःपङ्क्तिमज्ञातव्रणवेदनाम्॥ ९९ ॥
बालार्कप्रतिमेवाप्सु वीचिभिन्ना पतिष्यतः। रराज रक्षःकायस्य कण्ठच्छेदपरम्परा॥ १००॥

राक्षस हैं॥८८॥ जिसने इन्द्र आदि लोकपालों को जीत लिया था, जिसने अपने सिर काट-काटकर शिवजी को चढा दिये थे और जिसने कैलास पर्वत को उँगलियों पर उठा लिया था, उस रावण को देखकर राम ने समझा कि यह बहुत बडा पराक्रमी है॥८९॥ तभी रावण ने बड़े क्रोध के साथ राम की दाहिनी भुजा में बाण मारा, जो फडककर यह सूचना दे रही थी कि अब सीता की प्राप्ति में देर नहीं है॥९०॥ तब राम ने जो बाण छोडा, वह रावण की छाती छेदकर पाताल में चला गया। जैसे पातालवासियों को रावण के मरने की शुभ सूचना देने के लिए वह वहाँ गया हो॥९१॥ वे दोनों क्रोध से एक-दूसरे को ललकारते और अस्त्र को शस्त्र से काटते हुए जूझ रहे थे। उनका क्रोध वैसे ही बढ़ता जा रहा था, जैसे विजय के लिए शास्त्रार्थ करनेवालों का क्रोध बढता जाता है॥९२॥ कभी राम अपना पराक्रम दिखलाते थे और कभी रावण दिखलाता था। अतः विजयश्री कभी राम के पास जाती तो कभी रावण के पास। उस विजयश्री की दशा वैसी ही थी, जैसे लडते हुए दो मतवाले हाथियों के बीच में स्थित दीवार हो॥९३॥ राम जब बाण चलाते या रावण का वार रोकते, तब देवता उनके ऊपर फूल बरसाने लगते और जब राम पर रावण प्रहार करता या उनका वार रोकता, तब असुर उस पर फूल बरसाने लगते थे। परन्तु राम के अस्त्र रावण के ऊपर बरसने वाले फूलों को ऊपर ही तितर-बितर कर देते और रावण के बाण राम पर बरसनेवाले फूलों को आकाश में ही छितरा दिया करते थे॥९४॥ तभी रावण ने लोहे की कीलों से जटित वह शतघ्नी राम पर चलायी, जो यमराज के अस्त्र कूटशाल्मली के समान भीषण थी॥९५॥ उसे देखकर राक्षसों को पूरी आशा हो गयी कि इस अस्त्र से राम अवश्य समाप्त हो जायेंगे, परन्तु राम ने उस शतघ्नी को रथ तक पहुँचने के पहले ही अपनी तिरछी नोकवाले बाणों द्वारा ऐसी सरलता से खण्ड-खण्ड कर डाला, मानो केले का छिलका उतार रहे हों। यह देखकर राक्षसों की रही-सही आशा भी जाती रही॥९६॥ राम साधारण धनुषधारी नहीं थे। उन्होंने रावण को मारने के लिए धनुष पर वह ब्रह्मास्त्र चढाया, जो कभी व्यर्थ नहीं जाता था। वह सीता के शोकरूपी काँटो को निकालने की अचूक औषधि जैसा था॥९७॥ आकाश में जाते ही वह ब्रह्मास्त्र दस भागों में बँट गया और उसमें से निकलनेवाली आग फणों का चमकीला मंडल लिये हुए शेषनाग जैसी दीख रही थी॥९८॥ मन्त्रचालित उस ब्रह्मास्त्र से राम ने रावण के दसों सिर आधे पल में काट कर पृथ्वी पर गिरा दिया और रावण को तनिक भी कष्ट नहीं हुआ॥९९॥ कट-कटकर गिरते हुए रावण के सिर ऐसे अच्छे लगते थे, जैसे चंचल लहरों में प्रातःकाल के सूर्य का प्रतिबिम्ब सुन्दर लगता है॥१००॥

मरुतां पश्यतां तस्य शिरांसि पतितान्यपि । मनो नातिविशश्वास पुनः सन्धानशङ्किनाम् ॥

अथ मदगुरुपक्षैर्लोकपालद्विपानामनुगतमलिवृन्दैर्गण्डभित्तीर्विहाय ।
उपनतमणिबन्धे मूर्ध्नि पौलस्त्यशत्रोः सुरभि सुरविमुक्तं पुष्पवर्षं पपात ॥ १०२ ॥
यन्ता हरेः सपदि संहृतकार्मुकज्यमापृच्छ्य राघवमनुष्ठितदेवकार्यम् ।
नामाङ्करावणशराङ्कितकेतुयष्टिमूर्ध्वं रथं हरिसहस्रयुजं निनाय ॥ १०३ ॥

रघुपतिरपि जातवेदोविशुद्धां प्रगृह्य प्रियां
प्रियसुहृदि विभीषणे सङ्गमय्य श्रियं वैरिणः ।
रविसुतसहितेन तेनानुयातः ससौमित्रिणा
भुजविजितविमानरत्नाधिरूढः प्रतस्थे पुरीम् ॥ १०४ ॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
रावणवधो नाम द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

रावण के कटे हुए उन सिरों को देख करके भी देवताओं को विश्वास नहीं हो रहा था। क्योंकि उन्हें यह डर था कि कहीं ये फिर से न जुड़ जायें ॥ १०१ ॥ जिन राम पर राज्याभिषेक का जल छिड़का जानेवाला था, उन्हीं के सिर पर देवताओं ने वे फूल बरसाये, जिनकी सुगन्ध पाकर मद से भींगी हुई पाँखोंवाले भौंरें दिग्गजों के मद बहनेवाले कपोलों को छोड़कर रस लेने के लिए उनके पीछे-पीछे दौड़ पड़े ॥ १०२ ॥ अब राम ने अपने धनुष की डोरी उतार दी। क्योंकि वे देवताओं का काम पूरा कर चुके थे। इन्द्र का सारथी मातलि उनसे आज्ञा लेकर अपने सहस्रों घोड़ेवाला रथ लेकर स्वर्ग चला गया। उस रथ के ध्वजदण्ड पर अब तक रावण के नाम खुदे हुए बाणों के चिह्न विद्यमान थे ॥ १०३ ॥ बाद में राम ने रावण की राज्यश्री विभीषण को दे दी और सीताजी को अग्नि में शुद्ध करके सुग्रीव, विभीषण तथा लक्ष्मण के साथ अपने बाहुबल से जीते हुए पुष्पक विमान पर चढ़कर अयोध्या को लौट पड़े ॥ १०४ ॥

इस प्रकार रघुवंशमहाकाव्य में रावण-वध नामक
बारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १२ ॥

——————❀——————

त्रयोदशः सर्गः

अथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः पदं विमानेन विगाहमानः।
रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः स जायां रामाभिधानो हरिरित्युवाच॥ १ ॥
वैदेहि! पश्यामलयाद्विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम्।
छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम्॥ २ ॥
गुरोर्यियक्षोः कपिलेन मेध्ये रसातलं सङ्क्रमिते तुरङ्गे।
तदर्थमुर्वीमवदारयद्भिः पूर्वैः किलायं परिवर्धितो नः॥ ३ ॥
गर्भं दधत्यर्कमरीचयोऽस्माद् विवृद्धिमत्राश्नुवते वसूनि।
अबिन्धनं वह्निमसौ बिभर्ति प्रह्लादनं ज्योतिरजन्यनेन॥ ४ ॥
तां तामवस्थां प्रतिपद्यमानं स्थितं दश व्याप्य दिशो महिम्ना।
विष्णोरिवास्यानवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा॥ ५ ॥
नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा।
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान्पुरुषोऽधिशेते॥ ६ ॥
पक्षच्छिदा गोत्रभिदात्तगन्धाः शरण्यमेनं शतशो महीध्राः।
नृपा इवोपप्लविनः परेभ्यो धर्मोत्तरं मध्यममाश्रयन्ते॥ ७ ॥
रसातलादादिभवेन पुंसा भुवः प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः।
अस्याच्छमम्भः प्रलयप्रवृद्धं मुहूर्तवक्त्राभरणं बभूव ॥ ८ ॥

विमान पर चढे और शब्दगुणात्मक आकाश में जाते हुए गुणी राम कहलाने वाले विष्णु भगवान् सीताजी से बोले—॥१॥ हे सीते! इस फेन से भरे समुद्र को तो देखो, जिसे मेरे बनाये हुए पुल ने मलय पर्वत तक दो भागों में इस प्रकार बाँट दिया है, जैसे सुन्दर तारों से भरे हुए शरद् ऋतु के खुले आकाश को आकाशगङ्गा दो भागों में विभक्त कर देती है॥२॥ तुम्हें मालूम है कि समुद्र कैसे बना है? जब हमारे पुरखे महाराज सगर अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे, तब कपिलजी उनका घोडा लेकर पाताल-लोक में ले गये। उस समय महाराज सगर के पुत्रों ने घोड़े की खोज करने के लिए सम्पूर्ण पृथ्वी खोद डाली, उनकी खुदाई से यह इतना लम्बा-चौडा समुद्र बन गया॥३॥ यह समुद्र बड़े काम का है। इसी में से सूर्य की किरणें जल खींच-खींचकर पृथ्वी पर बरसाती हैं। इसी से रत्न मिलते हैं, अपने शत्रु वड़वानल को यह अपनी गोद में पालता है और सुखदायक प्रकाश वाला चन्द्रमा भी इसी में से उत्पन्न हुआ है॥४॥ यह सदा अपना रूप बदलता रहता है और यह इतना बडा है कि दसों दिशाओं में दूर-दूर तक फैला हुआ है। अतः जैसे विष्णु भगवान् के विषय में नहीं कहा जा सकता कि वे ऐसे और इतने बडे हैं, वैसे ही इसके विषय में भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह कैसा है या कितना बड़ा है॥५॥ आदिपुरुष विष्णु भगवान् जब तीनों लोकों का संहार कर चुकते हैं, तब यहीं पहुँचकर योगनिद्रा में सोते हैं और उनकी नाभि से जायमान कमल से उत्पन्न होने वाले ब्रह्माजी सदा इनके गुण गाते रहते हैं॥६॥ शत्रुओं से डरकर जैसे राजे किसी धर्मात्मा और तटस्थ राजा की शरण लेते हैं, वैसे ही उन सैकडों पहाडों ने भी इसकी शरण ली थी, जिनके पंख इन्द्र ने काट दिये थे और अभिमान चूर कर दिया था॥७॥ सृष्टि के आरम्भ में जब वाराह भगवान् पृथ्वी को पाताल से ले आ रहे थे,

मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरङ्गाधरदानदक्षः।
अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः पिबत्यसौ पाययते च सिन्धूः ॥ ९ ॥
ससत्त्वमादाय नदीमुखाम्भः सम्मीलयन्तो विवृताननत्वात्।
अमी शिरोभिस्तिमयः सरन्ध्रैरूर्ध्वं वितन्वन्ति जलप्रवाहान् ॥ १० ॥
मातङ्गनक्रैः सहसोत्पतद्भिर्भिन्नान्द्विधा पश्य समुद्रफेनान्।
कपोलसंसर्पितया य एषां व्रजन्ति कर्णक्षणचामरत्वम् ॥ ११ ॥
वेलानिलाय प्रसृता भुजङ्गा महोर्मिविस्फूर्जथुनिर्विशेषाः।
सूर्यांशुसम्पर्कसमृद्धरागैर्व्यज्यन्त एते मणिभिः फणस्थैः ॥ १२ ॥
तवाधरस्पर्धिषु विद्रुमेषु पर्यस्तमेतत्सहसोर्मिवेगात्।
ऊर्ध्वाङ्कुरप्रोतमुखं कथञ्चित्क्लेशादपक्रामति शङ्खयूथम् ॥ १३ ॥
प्रवृत्तमात्रेण पयांसि पातुमावर्तवेगाद्भ्रमता घनेन।
आभाति भूयिष्ठमयं समुद्रः प्रमथ्यमानो गिरिणेव भूयः ॥ १४ ॥
दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी तमालतालीवनराजिनीला।
आभाति वेला लवणाम्बुराशेर्धारानिबद्धेव कलङ्करेखा ॥ ॥ १५ ॥
वेलानिलः केतकरेणुभिस्ते सम्भावयत्याननमायताक्षि!।
मामक्षमं मण्डनकालहानेर्वेत्तीव बिम्बाधरबद्धतृष्णम् ॥ १६ ॥
एते वयं सैकतभिन्नशुक्तिपर्यस्तमुक्तापटलं पयोधेः।
प्राप्ता मुहूर्तेन विमानवेगात् कूलं फलावर्जितपूगमालम् ॥ १७ ॥

उस समय प्रलय से बढा हुआ इसका स्वच्छ जल क्षणभर के लिए उनका घूँघट बन गया था॥८॥ दूसरे लोग केवल स्त्रियों का अधरपान करते हैं, अपना अधर उन्हें नहीं पिलाते। किन्तु समुद्र इस बात में भी औरों से बढकर है। क्योंकि जब नदियाँ ढीठ होकर चुम्बन के लिए अपना मुख इसके आगे बढाती है, तब यह बड़ी चतुराई से अपना तरङ्गरूपी अधर उनको पिलाता है और उनका अधर स्वयं पीता है॥९॥ इधर देखो, ये बड़े-बडे मगरमच्छ अपना मुँह खोलकर मछलियों के साथ-साथ समुद्र का जल भी पी जाते हैं और फिर मुँह बन्द करके मस्तक के छेदों से जल की धाराएँ छोडने लगते हैं॥१०॥ मगरमच्छों के अचानक उठ जाने से समुद्र की फटी हुयी फेन को तो देखो। इनके गालों पर क्षणभर के लिए लगी हुयी फेन ऐसी दीखती है कि मानो इनके कानों पर चँवर टँगे हुए हों॥११॥ ये जो बड़ी-बड़ी लहरों जैसे दिखलायी दे रहे हैं, ये साँप हैं। जो तट का वायु पीने के लिए बाहर निकल आये हैं। परन्तु जब सूर्य की किरणों से इनकी मणियाँ चमक उठती हैं, तब ये पहचान लिये जाते हैं॥१२॥ देखो, लहरों के झोंके में तुम्हारे अधरों जैसे लाल-लाल मूँगे की चट्टान से टकरा जाने से इन जीवित शंखों के मुँह छिद गये हैं और उस पीड़ा से ये बेचारे बड़ी कठिनाई से चल रहे हैं॥१३॥ इधर देखो, ये काले-काले बादल समुद्र का पानी लेने आये हैं और समुद्र की भँवर के साथ-साथ बड़ी तीव्र गति से चक्कर काट रहे हैं। इससे यह समुद्र ऐसा दीख रहा है कि जैसे मन्दराचल फिर इसे मथ रहा हो॥१४॥ देखो! दूरी के कारण पहिये की हाल जैसा बहुत पतला और ताड़ तथा तमाल आदि वृक्षों जैसा दीखने वाला नीला समुद्रतट ऐसा लगता है कि जैसे चक्र की धार पर मुर्चा लग गया हो॥१५॥ हे सुनयनी! समुद्रतट का वायु तुम्हारे मुख पर केतकी का पराग छिडक रहा है। जैसे उसे पता न हो कि मैं तुम्हारे अधरों को चूमने ही वाला हूँ और अब अधिक शृंगार की बाट नहीं जोहूँगा॥१६॥ यह देखो, हम लोग विमान की तीव्र गति के कारण क्षणभर में ही समुद्र के दूसरे तट पर पहुँच गये,

कुरुष्व तावत्करभोरु! पश्चान्मार्गे मृगप्रेक्षिणि! दृष्टिपातम्।
एषा विदूरीभवतः समुद्रात्सकानना निष्पततीव भूमिः॥ १८॥
क्वचित्पथा सञ्चरते सुराणां क्वचिद्घनानां पततां क्वचिच्च।
यथाविधो मे मनसोऽभिलाषः प्रवर्तते पश्य तथा विमानम्॥ १९॥
असौ महेन्द्रद्विपदानगन्धिस्त्रिमार्गगावीचिविमर्दशीतः।
आकाशवायुर्दिनयौवनोत्थानाचामति स्वेदलवान्मुखे ते॥ २०॥
करेण वातायनलम्बितेन स्पृष्टस्त्वया चण्डि! कुतूहलिन्या।
आमुञ्चतीवाभरणं द्वितीयमुद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते॥ २१॥
अमी जनस्थानमपोढविघ्नं मत्वा समारब्धनवोटजानि।
अध्यासते चीरभृतो यथास्वं चिरोज्झितान्याश्रममण्डलानि॥ २२॥
सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्॥ २३॥
त्वं रक्षसा भीरु! यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता मे।
अदर्शयन्वक्तुमशक्नुवत्यः शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः॥ २४॥
मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं समबोधयन्माम्।
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि॥ २५॥
एतद्गिरेर्माल्यवतः पुरस्तादाविर्भवत्यम्बरलेखि शृङ्गम्।
नवं पयो यत्र घनैर्मया च त्वद्विप्रयोगाश्रु समं विसृष्टम्॥ २६॥

जहाँ बालू पर सीपों के फैल जाने मे मोती बिखरे पडे हैं और फलों के भार से सुपारी के पेड झुक गये हैं॥ १७॥ हे हाथी की सूँड जैसी जाँघों वाली मृगनयनी! पीछे की ओर तो देखो । दूर निकल आने मे यह जङ्गलों से भरी हुई भूमि ऐसी दीख रही है, जैसे समुद्र में से अचानक निकल आयी हो॥ १८॥ देखो, मैं जिधर चाहता हूँ, उधर ही यह विमान घूम जाता है। यह कभी देवताओं के मार्ग में, कभी बादलों में और कभी पक्षियों के मार्ग में ही उडने लग जाता है॥ १९॥ ऐरावत के मद की गन्ध से सुवासित और आकाशगङ्गा की लहरों से शीतल हुई आकाशवायु तुम्हारे मुख पर दोपहर की गर्मी से छहरी हुई पसीने की बूँदों को पीती चल रही है॥ २०॥ हे चण्डी! जब तुम खेल-खेल में अपना हाथ विमान से बाहर निकाल कर बादल को छू लेती हो तो तुम्हारे मणिबन्ध के चारों ओर बिजली कौंध जाती है। उस समय ऐसा लगता है कि मानो बादल तुम्हारे हाथ में बिजली का दूसरा कंगन पहना रहे हैं॥ २१॥ नीचे की ओर देखो। रावण आदि राक्षसों के मारे जाने की बात सुनकर इन वल्कल-वसनधारी तपस्वियों ने समझ लिया है कि अब कोई भय नहीं रहा। इसलिए नयी कुटिया बना-बनाकर तपोवन में सुख से रहने लगे हैं॥ २२॥ इधर देखो, यह वही स्थान है कि जहाँ तुम्हें ढूँढते हुए मैंने पृथ्वी पर पड़ा हुआ तुम्हारा बिछुआ देखा था। चुपचाप पडा हुआ वह ऐसा लगता था कि मानो तुम्हारे चरणों से अलग होने के दुःख मे चुप हो गया हो॥ २३॥ हे भीरु! तुम्हें जिस मार्ग से रावण ले गया था, उस मार्ग की लताएँ मुझे कृपा करके तुम्हारे जाने का मार्ग बतलाना चाहती थीं। किन्तु बोल न सकने के कारण इन्होंने अपनी पत्तों युक्त डालियाँ उधर झुकाकर मुझे तुम्हारा मार्ग बतला दिया था॥ २४॥ हरिणियों ने भी जब देखा कि मुझे तुम्हारे जाने का मार्ग पता नहीं है, तब वे कुश के अंकुर चरना छोड तथा उभरी हुई पलकों वाली आँखें दक्षिण दिशा की ओर करके मुझे मार्ग बतलाने लगी थीं॥ २५॥ यह जो आगे माल्यवान् पर्वत की ऊँची चोटी दीखती है, यहाँ जब बादलों ने नया जल बरसाना आरम्भ

गन्धश्च धाराहतपल्वलानां कादम्बमर्धोद्गतकेसरं च।
स्निग्धाश्च केकाः शिखिनां बभूवुर्यस्मिन्नसह्यानि विना त्वया मे॥ २७॥
पूर्वानुभूतं स्मरता च यत्र कम्पोत्तरं भीरु! तवोपगूढम्।
गुहाविसारीण्यतिवाहितानि मया कथञ्चिद्घनगर्जितानि॥ २८॥
आसारसिक्तक्षितिबाष्पयोगान्मामक्षिणोद् यत्र विभिन्नकोशैः।
विडम्ब्यमाना नवकन्दलैस्ते विवाहधूमारुणलोचनश्रीः॥ २९॥
उपान्तवानीरवनोपगूढान्यालक्ष्यपारिप्लवसारसानि।
दूरावतीर्णा पिबतीव खेदादमूनि पम्पासलिलानि दृष्टिः॥ ३०॥
अत्रावियुक्तानि रथाङ्गनाम्नामन्योन्यदत्तोत्पलकेसराणि।
द्वन्द्वानि दूरान्तरवर्तिना ते मया प्रिये! सस्पृहमीक्षितानि॥ ३१॥
इमां तटाशोकलतां च तन्वीं स्तनाभिरामस्तबकाभिनम्राम्।
त्वत्प्राप्तिबुद्ध्या परिरब्धुकामः सौमित्रिणा साश्रुरहं निषिद्धः॥ ३२॥
अमूर्विमानान्तरलम्बिनीनां श्रुत्वा स्वनं काञ्चनकिङ्किणीनाम्।
प्रत्युद्व्रजन्तीव खमुत्पतन्त्यो गोदावरीसारसपङ्क्तयस्त्वाम्॥ ३३॥
एषा त्वया पेशलमध्ययाऽपि घटाम्बुसंवर्धितबालचूता।
आनन्दयत्युन्मुखकृष्णसारा दृष्टा चिरात्पञ्चवटी मनो मे॥ ३४॥

किया, तब तुम्हारे वियोग में मेरी आँखें भी जल बरसाने लगी थीं॥ २६॥ उस समय वर्षा के कारण पोखरों से उठी हुई सोंधी-सोंधी गन्ध, अधखिली मञ्जरियों वाले कदम्ब के फूल और मोरों के मनोहर स्वर तुम्हारे बिना मुझे बहुत अखरे थे॥ २७॥ जब बादल गरजते थे और गुफाओं में उनकी प्रतिध्वनि होने लगती थी, तब मुझे वे दिन स्मरण हो आते थे कि जब बादलों के गर्जने से डरकर तुम मुझसे लिपट जाती थी। इस प्रकार माल्यवान् पर्वत पर पावस के दिन मैंने बडे कष्ट से बिताये थे॥ २८॥ वर्षा के कारण वहाँ की धरती से जो भाप निकली, उससे कन्दलियों की कलियाँ खिल उठीं और वैसी ही लाल-लाल हो गयीं, जैसे विवाह के समय हवन का धुआँ लगने से तुम्हारी आँखें लाल हो गयी थीं। अतः उन्हें देखकर तुम्हारा स्मरण हो आने से मैं बेचैन हो उठा था॥ २९॥ देखो, बहुत उँचाई और बेंत के जंगलों से ढँके होने के कारण कठिनाई से दीखनेवाले एवं चंचल सारसों से युक्त पम्पा के जल को बहुत नीचे उतरकर मेरी खिन्न दृष्टि जैसे पी रही है॥ ३०॥ हे प्रिये! यहाँ चकवा-चकवी के जोडे एक-दूसरे को बडे प्रेम से कमल का केसर दिया करते थे। तुमसे बहुत दूर होने के कारण उन्हें देख-देखकर मैं यही सोचता रहता था कि मुझे भी ऐसे दिन कब देखने को मिलेंगे॥ ३१॥ उन दिनों तुम्हारे वियोग में मैं ऐसा पागल हो गया था कि एक दिन स्तन जैसे गुच्छों वाली इस पतली अशोकलता को मैंने यह समझ कर गले लगाना चाहा था कि तुम्हीं हो। जैसे ही मैं ऐसा करने चला, वैसे ही मेरा पागलपन देखकर लक्ष्मण ने मुझे वहाँ से हटा लिया। उस समय मैं रो रहा था॥ ३२॥ इधर देखो, विमान के नीचे लटकने वाली सोने की किङ्किणियों का शब्द सुनकर गोदावरी नदी के सारसों की पाँतें उडती हुई ऊपर चली आ रही हैं। जैसे ये तुम्हारी अगवानी करने आती हों॥ ३३॥ बहुत दिनों बाद आज पञ्चवटी को देखकर मेरा मन खिल उठा है। यह देखो, यहाँ के मृग ऊपर सिर उठाकर विमान को देख रहे हैं। यहीं तो तुमने अपनी पतली कमर पर घड़े रख-रखकर आम के वृक्षों को सींचा

अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेदः।
रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः॥ ३५॥
भ्रूभेदमात्रेण पदान्मघोनः प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार।
तस्याविलाम्भःपरिशुद्धिहेतोर्भौमो मुनेः स्थानपरिग्रहोऽयम्॥ ३६॥
त्रेताग्निधूमाग्रमनिन्द्यकीर्तेस्तस्येदमाक्रान्तविमानमार्गम्।
घ्रात्वा हविर्गन्धि रजोविमुक्तः समश्नुते मे लघिमानमात्मा॥ ३७॥
एतन्मुनेर्मानिनि! शातकर्णेः पञ्चाप्सरो नाम विहारवारि।
आभाति पर्यन्तवनं विदूरान्मेघान्तरालक्ष्यमिवेन्दुबिम्बम्॥ ३८॥
पुरा स दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिश्चरन्मृगैः सार्धमृषिर्मघोना।
समाधिभीतेन किलोपनीतः पञ्चाप्सरोयौवनकूटबन्धम्॥ ३९॥
तस्यायमन्तर्हितसौधभाजः प्रसक्तसङ्गीतमृदङ्गघोषः।
वियद्गतः पुष्पकचन्द्रशालाः क्षणं प्रतिश्रुन्मुखराः करोति॥ ४०॥
हविर्भुजामेधवतां चतुर्णां मध्ये ललाटन्तपसप्तसप्तिः।
असौ तपस्यत्यपरस्तपस्वी नाम्ना सुतीक्ष्णश्चरितेन दान्तः॥ ४१॥
अमुं सहासप्रहितेक्षणानि व्याजार्धसन्दर्शितमेखलानि।
नालं विकर्तुं जनितेन्द्रशङ्कं सुराङ्गनाविभ्रमचेष्टितानि॥ ४२॥
एषोऽक्षमालावलयं मृगाणां कण्डूयितारं कुशसूचिलावम्।
सभाजने मे भुजमूर्ध्वबाहुः सव्येतरं प्राध्वमितः प्रयुङ्क्ते॥ ४३॥

और पाला-पोसा था॥ ३४॥ मुझे वे दिन अब याद आते हैं, जब मैं यहाँ उस एकान्त वाली बेंत की झोपडी मे तुम्हारी गोद में सिर रखकर सोता था और गोदावरी की ठण्डी हवा आखेट की थकावट मिटाती थी॥ ३५॥ यह देखो, आगे उन तपस्वी अगस्त्य ऋषि का आश्रम है। जिन्होंने केवल भौं तानकर राजा नहुष को इन्द्र के पद से च्युत कर दिया था। ये ही उदय होकर वर्षा का सब गँदला जल स्वच्छ कर देते हैं॥ ३६॥ उन्हीं यशस्वी ऋषि की गार्हपत्य, दाक्षिणात्य और आवहनीय अग्नियों का हवन-सामग्री की गन्ध से मिला हुआ धुआँ मेरे विमान के पास तक उडा चला आ रहा है। जिसे सूँघते ही मेरी आत्मा पवित्र हो गयी है॥ ३७॥ हे मानिनि! यह शातकर्णि ऋषि का पञ्चाप्सर क्रीड़ासरोवर है। चारों ओर काले-काले जंगलों से घिरा हुआ यह दूर से ऐसा दीख रहा है, जैसे बादलों के बीच में कुछ-कुछ दीखने वाला चन्द्रबिम्ब हो॥ ३८॥ पहले ये महर्षि तपस्या के समय मृगों के साथ कुश चरा करते थे। इनकी ऐसी कठोर तपस्या देखकर इन्द्र को भय हुआ कि कहीं ये हमारा इन्द्रासन न छीन लें। अतएव इनका तप भंग करने के लिए इन्द्र ने इन पर एक साथ पाँच अप्सराओं का जाल फेंका और ये बेचारे उसमें फँस गये॥ ३९॥ यह जो गाना सुनायी दे रहा है, यह जल के भीतर बने हुए उन्हीं के भवन का है। वहीं के मृदङ्ग की ध्वनि आकाशचारी पुष्पक-विमान की छतरी से टकरा कर गूँज रही है॥ ४०॥ यह जो चार अग्नियों के बीच में और ऊपर सूर्य की किरणों से तपते हुए तपस्वी बैठे हैं, इनका नाम तो सुतीक्ष्ण है, परन्तु ये चरित्र के बड़े ही उदार हैं॥ ४१॥ इनके तप से भी डरकर इन्द्र ने इनके पास भी अप्सराओं को भेजा था। वे मुस्कुरा-मुस्कुराकर इन पर तिरछी चितवन चलातीं और किसी न किसी बहाने अपनी करधनी उघाड़कर इन्हें दिखा देती थीं, पर उनकी यह सारी चटक-मटक इन्हें नहीं मोह सकी॥ ४२॥ देखो, मुझे देखकर वे रुद्राक्ष की माला बँधी तथा मृगों को खुजलाने और कुश

वाचंयमत्वात्प्रणतिं ममैष कम्पेन किञ्चित्प्रतिगृह्य मूर्ध्नः।
दृष्टिं विमानव्यवधानमुक्तां पुनः सहस्रार्चिषि सन्निधत्ते॥ ४४॥
अदः शरण्यं शरभङ्गनाम्नस्तपोवनं पावनमाहिताग्नेः।
चिराय सन्तर्प्य समिद्भिरग्निं यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत्॥ ४५॥
छायाविनीताध्वपरिश्रमेषु भूयिष्ठसम्भाव्यफलेष्वमीषु।
तस्यातिथीनामधुना सपर्या स्थिता सुपुत्रेष्विव पादपेषु॥ ४६॥
धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः।
बध्नाति मे बन्धुरगात्रि! चक्षुर्दृप्तः ककुद्मानिव चित्रकूटः॥ ४७॥
एषा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी।
मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे मुक्तावली कण्ठगतेव भूमेः॥ ४८॥
अयं सुजातोऽनुगिरं तमालः प्रवालमादाय सुगन्धि यस्य।
यवाङ्कुरापाण्डुकपोलशोभी मयाऽवतंसः परिकल्पितस्ते॥ ४९॥
अग्निग्रहत्रासविनीतसत्त्वमपुष्पलिङ्गात्फलबन्धिवृक्षम्।
वनं तपःसाधनमेतदत्रेराविष्कृतोदग्रतरप्रभावम्॥ ५०॥
अत्राभिषेकाय तपोधनानां सप्तर्षिहस्तोद्धृतहेमपद्माम्।
प्रवर्तयामास किलानुसूया त्रिस्रोतसं त्र्यम्बकमौलिमालाम्॥ ५१॥

उखाड़नेवाली अपनी दाहिनी भुजा उठाकर मेरा स्वागत कर रहे हैं॥ ४३॥ ये सदा मौन रहते हैं। अतः केवल सिर हिलाकर ही इन्होंने मेरा प्रणाम स्वीकार किया है। विमान के बीच में आ जाने से जो इनकी दृष्टि सूर्य से अलग हो गयी थी, फिर उसे इन्होंने सूर्य में लगा दी है॥ ४४॥ यह शरणागतों की रक्षा करने वाले अग्निहोत्री शरभङ्ग ऋषि का तपोवन है। जिन्होंने बहुत दिनों तक अग्नि को समिधा से तृप्त करके अन्त में मंत्र से पवित्र अपना शरीर भी उसमें हवन कर दिया था॥ ४५॥ जैसे सुपुत्र अपने पिता के धर्म का पालन करते हैं, वैसे ही अब अतिथिसेवा का काम उनके बदले ये आश्रम के वृक्ष करते हैं, जिनकी छाया में बैठकर पथिक थकान दूर करते हैं और जिनमें बडे मीठे-मीठे फल लदे रहते हैं॥ ४६॥ हे सुन्दरी! मस्त साँड जैसा यह चित्रकूट पर्वत मुझे बड़ा सुहावना लग रहा है। गुफा ही इसका मुख है, इससे निकलने वाले जल की धारा का शब्द ही साँड़ की डकार है, इसकी चोटी ही उसकी सींगें हैं और इस पर छाये हुए बादल ही मानों सींगों पर लगी हुई कीचड है॥ ४७॥ यह लो, गङ्गाजी आ गयीं। इनका जल कैसा स्वच्छ है और कैसे धीरे-धीरे बह रहा है। यहाँ से दूर होने के कारण ये कितनी पतली दीख रही हैं। चित्रकूट पर्वत के नीचे बहती हुई ये ऐसी लगती हैं, जैसे पृथ्वीरूपिणी नायिका के गले में मोतियों की माला पड़ी हुई हो॥ ४८॥ इस पहाड की ढाल पर तमाल का वृक्ष दीख रहा है। यह वही है जिसके प्रवाल का कर्णफूल बनाकर मैंने तुम्हारे कान में पहनाया था और जो तुम्हारे जौ के अंकुर जैसे पीले गालों पर लटकता हुआ बड़ा ही सुन्दर लगता था॥ ४९॥ यह अत्रि मुनि का तपोवन है, जहाँ के सिंह आदि पशु बिना मारे-पीटे ही इतने सीधे हो गये हैं कि किसी से कुछ नहीं बोलते। यह तपोवन ऐसा प्रभावशाली है कि यहाँ बिना फूल आये ही वृक्षों में फल लग जाते हैं॥ ५०॥ महर्षि अत्रि की पत्नी अनसूयाजी ऋषियों के स्नान के लिए उन त्रिपथगा (गङ्गाजी) को यहाँ ले आयी हैं, जिनमें से सप्तर्षिगण स्वर्णकमल चुनते हैं और जो शिवजी के सिर पर माला जैसी सुन्दर लगती हैं॥ ५१॥ इस आश्रम के वृक्षों के नीचे वेदियों पर तपस्वी लोग वीरासन लगा-लगाकर ध्यान किया

वीरासनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्याः।
निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढा इव शाखिनोऽपि॥ ५२॥
त्वया पुरस्तादुपयाचितो यः सोऽयं वटः श्याम इति प्रतीतः।
राशिर्मणीनामिव गारुडानां सपद्मरागः फलितो विभाति॥ ५३॥
क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा।
अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव॥ ५४॥
क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पङ्क्तिः।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव॥ ५५॥
क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभःप्रदेशा॥ ५६॥
क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य।
पश्यानवद्याङ्गि! विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः॥ ५७॥
समुद्रपत्न्योर्जलसन्निपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात्।
तत्त्वावबोधेन विनापि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः॥ ५८॥
पुरं निषादाधिपतेरिदं तद्यस्मिन्मया मौलिमणिं विहाय।
जटासु बद्धास्वरुदत्सुमन्त्रः कैकेयि! कामाः फलितास्तवेति॥ ५९॥
पयोधरैः पुण्यजनाङ्गनानां निर्विष्टहेमाम्बुजरेणु यस्याः।
ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति॥ ६०॥

करते हैं और यहाँ के वृक्ष भी वायु न चलने के कारण ऐसे स्थिर खडे हैं, जैसे ये भी योगासन कर रहे हों॥ ५२॥ वही यह काला-काला बरगद का पेड है, जिसकी तुमने मनौती मानी थी। इसमें जो लाल-लाल फल लगे हैं, उनसे यह पेड ऐसा लग रहा है कि जैसे मरकत मणियों की ढेरी में बहुत-से पद्मराग मणि भरे पडे हों॥ ५३॥ इधर देखो, यमुना की साँवली लहरों मे मिली हुई उजली लहरों वाली गङ्गाजी कैसी सुन्दर दीख रही हैं। कहीं ये चमकने वाली इन्द्रनीलमणियों मे गुँथी हुई माला जैसी लगती हैं और कहीं नीले तथा श्वेत कमलों की मिली हुई माला जैसी दीखती हैं॥ ५४॥ कहीं यह साँवले रंग के हंसों में मिले हुए उजले रंग के मानसरोवरप्रेमी राजहंसों की पाँत जैसी शोभित हो रही है और कहीं श्वेत चन्दन से चित्रित पृथ्वी पर बीच-बीच में काले अगर से रंगी हुई-सी दीखती है॥ ५५॥ कहीं-कहीं वृक्ष की नीचे वाली उस चाँदनी के सदृश लगती है, जिसके बीच-बीच में पत्तों की छाया पड़ रही हो। कहीं पर शरद् ऋतु के उन उजले बादलो जैसी है, जिनके बीच-बीच से नीला आकाश दीख रहा हो और कहीं पर ये भस्म लगाये हुए शिवजी के उस शरीर जैसी दीख रही है, जिस पर काले-काले सर्प लिपटे हुए हों। हे शोभने! यमुनाजी की तरंगों से मिलकर गंगा का प्रवाह विभिन्न रूपों में दीख रहा है॥ ५६-५७॥ समुद्र की इन दो पत्नियों के संगम में स्नान करके जो पवित्र होते हैं, वे तत्त्वज्ञानी न होने पर भी माया के बन्धन से छूट जाते हैं॥ ५८॥ यह वही निषादराज का नगर है, जहाँ मैंने मुकुटमणि उतार कर जटा बाँधी थी और जिसे देखकर सुमन्त्र यह कहते हुए रो पडे कि 'कैकेयी! तेरी इच्छा पूरी हो गयी'॥ ५९॥ ऋषि लोग कहते हैं कि जैसे अव्यक्त अर्थात् प्रकृति से बुद्धि उत्पन्न हुई, वैसे ही यह सरयू नदी भी उस मानसरोवर से निकली है, जिसके कमलों का पराग यक्षिणियाँ अपने स्तनों में लगाती हैं॥ ६०॥ यह नदी इक्ष्वाकुवंशी राजाओं की राजधानी अयोध्या से सटकर बहती

जलानि या तीरनिखातयूपा वहत्ययोध्यामनु राजधानीम्।
तुरङ्गमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि॥ ६१॥'
यां सैकतोत्सङ्गसुखोचितानां प्राज्यैः पयोभिः परिवर्धितानाम्।
सामान्यधात्रीमिव मानसं मे सम्भावयत्युत्तरकोसलानाम्॥ ६२॥
सेयं मदीया जननीव तेन मान्येन राज्ञा सरयूर्वियुक्ता।
दूरे वसन्तं शिशिरानिलैर्मां तरङ्गहस्तैरुपगूहतीव॥ ६३॥
विरक्तसन्ध्याकपिशं पुरस्ताद्यतो रजः पार्थिवमुज्जिहीते।
शङ्के हनूमत्कथितप्रवृत्तिः प्रत्युद्गतो मां भरतः ससैन्यः॥ ६४॥
अद्धा श्रियं पालितसङ्गराय प्रत्यर्पयिष्यत्यनघां स साधुः।
हत्वा निवृत्ताय मृधे खरादीन्संरक्षितां त्वामिव लक्ष्मणो मे॥ ६५॥
असौ पुरस्कृत्य गुरुं पदातिः पश्चादवस्थापितवाहिनीकः।
वृद्धैरमात्यैः सह चीरवासा मामर्घ्यपाणिर्भरतोऽभ्युपैति॥ ६६॥
पित्रा विसृष्टां मदपेक्षया यः श्रियं युवाऽप्यङ्कगतामभोक्ता।
इयन्ति वर्षाणि तया सहोग्रमभ्यस्यतीव व्रतमासिधारम्॥ ६७॥
एतावदुक्तवति दाशरथौ तदीयामिच्छां विमानमधिदेवतया विदित्वा।
ज्योतिष्पथादवततार सविस्मयाभिरुद्वीक्षितं प्रकृतिभिर्भरतानुगाभिः॥ ६८॥
तस्मात्पुरःसरविभीषणदर्शितेन सेवाविचक्षणहरीश्वरदत्तहस्तः।
यानादवातरददूरमहीतलेन मार्गेण भङ्गिरचितस्फटिकेन रामः॥ ६९॥

है। इसके तट पर यत्र-तत्र यज्ञों के खम्भे गड़े हुए हैं, जिनमें बाँधकर पशुओं की बलि दी जाती थी। अश्वमेध करने के बाद सूर्यवंशी राजाओं ने जो इसमे स्नान किया है, उससे इसका जल पवित्र हो गया है॥ ६१॥ मैं इस नदी का बड़ा आदर करता हूँ। क्योंकि यह उत्तरकोसल के राजाओं की धाय है। इसी की बालू में खेल-खेलकर वे पलते हैं और इसी का मीठा जल पीकर परिपुष्ट होते हैं॥ ६२॥ माननीय महाराज दशरथ से बिछुड़ी हुई मेरी माता के समान यह सरयू अपने ठंडे वायु वाले तरंग रूपी हाथ उठा रही है, जैसे इतने ऊँचे से ही मुझे गले लगा लेना चाहती है॥ ६३॥ उधर लाल सन्ध्या के समान जो धूल पृथ्वी से उठ रही है, उससे ऐसा जान पड़ता है कि हनुमान्‌जी के द्वारा मेरे आगमन का समाचार सुनकर भरत सेना के साथ मेरा स्वागत करने आ रहे हैं॥ ६४॥ खर-दूषण आदि राक्षसों को मार कर मैं जब लौटा था, उस समय जैसे लक्ष्मण ने तुम्हें मेरे हाथों सुरक्षित रूप से सौंप दिया था, वैसे ही अब मैं वनवास की अवधि पूरी करके लौटा हूँ तो ऐसा लगता है कि सज्जन भरत मुझे सुरक्षित राज्यलक्ष्मी अवश्य ही सौंप देंगे॥ ६५॥ गेरुआ वस्त्र पहने, पैदल चलते हुए तथा हाथ में पूजन-सामग्री लिये हुए मन्त्रियों के साथ भरत मेरी ही ओर आ रहे हैं। देखो, उनके आगे-आगे वसिष्ठजी और पीछे-पीछे सेना चल रही है॥ ६६॥ जैसे कोई सुन्दर स्त्री किसी युवा पुरुष की गोद में आकर बैठ जाय और वह उसके साथ भोग न करके तलवार की धार पर चलने के समान कठोर इन्द्रियों को वश में रखने का व्रत ले ले, वैसे ही भरत ने भी पिता की दी हुई राज्यलक्ष्मी को भोगने की शक्ति रहते हुए भी मेरे कारण उसका भोग न करके कठिन असिधार व्रत का पालन किया है॥ ६७॥ राम ऐसा कह ही रहे थे कि राम की इच्छा को ही विमान का चालक मानकर वह विमान आकाश से नीचे उतर आया और भरतजी के पीछे चलने वाली सारी विस्मित जनता आँख फाड़-फाड़कर उसे देखने लगी॥ ६८॥ तब सेवा में चतुर सुग्रीव के हाथों का सहारा लेकर स्फटिकमणि-जटित सीढ़ी द्वारा रामचन्द्रजी विमान से नीचे उतरे और

इक्ष्वाकुवंशगुरवे प्रयतः प्रणम्य सभ्रातरं भरतमर्घ्यपरिग्रहान्ते।
पर्यश्रुरस्वजत मूर्धनि चोपजघ्रौ तद्भक्त्यपोढपितृराज्यमहाभिषेके॥ ७० ॥
श्मश्रुप्रवृद्धिजनिताननविक्रियांश्च प्लक्षान्प्ररोहजटिलानिव मन्त्रिवृद्धान्।
अन्वग्रहीत्प्रणमतः शुभदृष्टिपातैर्वार्तानुयोगमधुराक्षरया च वाचा॥ ७१ ॥
दुर्जातबन्धुरयमृक्षहरीश्वरो मे पौलस्त्य एष समरेषु पुरःप्रहर्ता।
इत्यादृतेन कथितौ रघुनन्दनेन व्युत्क्रम्य लक्ष्मणमुभौ भरतो ववन्दे॥ ७२ ॥
सौमित्रिणा तदनु संससृजे स चैनमुत्थाप्य नम्रशिरसं भृशमालिलिङ्ग।
रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणकर्कशेन क्लिश्यन्निवास्य भुजमध्यमुरःस्थलेन॥ ७३ ॥
रामाज्ञया हरिचमूपतयस्तदानीं कृत्वा मनुष्यवपुरारुरुहुर्गजेन्द्रान्।
तेषु क्षरत्सु बहुधा मदवारिधाराः शैलाधिरोहणसुखान्युपलेभिरे ते॥ ७४ ॥
सानुप्लवः प्रभुरपि क्षणदाचराणां भेजे रथान्दशरथप्रभवानुशिष्टः।
मायाविकल्परचितैरपि ये तदीयैर्न स्यन्दनैस्तुलितकृत्रिमभक्तिशोभाः॥ ७५ ॥
भूयस्ततो रघुपतिर्विलसत्पताकमध्यास्त कामगति सावरजो विमानम्।
दोषातनं बुधबृहस्पतियोगदृश्यस्तारापतिस्तरलविद्युदिवाभ्रवृन्दम्॥ ७६ ॥
तत्रेश्वरेण जगतां प्रलयादिवोर्वी वर्षात्ययेन रुचमभ्रघनादिवेन्दोः।
रामेण मैथिलसुतां दशकण्ठकृच्छ्रात् प्रत्युद्धृतां धृतिमतीं भरतो ववन्दे॥ ७७ ॥

विभीषण उनके आगे-आगे मार्ग दिखलाते हुए चले॥ ६९ ॥ सुशिक्षित राम ने पहले इक्ष्वाकुवंश के कुलगुरु वसिष्ठजी को प्रणाम किया। फिर अर्घ्य ग्रहण करके आँखों में आँसू भरकर उन्होंने पहले शत्रुघ्न समेत भरतजी को छाती से लगाया, फिर उनका वह मस्तक सूँघा, जिसने राम के भक्तिवश राज्याभिषेक भी अस्वीकृत कर दिया था॥ ७० ॥ मूँछ और दाढ़ी बढ जाने से मंत्रिगण ऐसे दीख रहे थे कि जैसे घनी जटा वाले बरगद के वृक्ष हों। तब राम ने प्रेमभरी आँखों द्वारा मूक भाषा में उनसे कृपापूर्वक कुशल-क्षेम पूछा॥ ७१ ॥ भरतजी को सुग्रीव का परिचय देते हुए राम ने कहा कि ये वानरों और भालुओं के सेनापति हैं और बड़े गाढे दिनों में ये हमारे काम आये है। फिर विभीषण का परिचय देते हुए कहा कि ये पुलस्त्यकुल में उत्पन्न विभीषण हैं। ये युद्ध के समय हमसे आगे बढकर शत्रुओं पर प्रहार करते थे। यह सुनकर भरतजी ने लक्ष्मण को छोडकर पहले उन्हीं दोनों की वन्दना की॥ ७२ ॥ तब भरतजी लक्ष्मण से मिले और प्रणाम के लिए झुके हुए लक्ष्मण का मस्तक उठाकर मेघनाद के प्रहारों से कठोर उनकी छाती को अपनी भुजाओं से सहलाते हुए उन्हें अपनी छाती से लगा लिया॥ ७३ ॥ राम के कथनानुसार वानरों और भालुओं के सेनापति मनुष्यों का वेश धारण करके हाथियों पर चढ गये। उन हाथियों के मस्तक से मद की धारा बह रही थी, अतः सूँड की ओर से चढते समय उनको ऐसा आनन्द मिला कि मानों झरने वाले पहाड़ों पर चढ रहे हों॥ ७४॥ राम की आज्ञा से विभीषण और उनके साथी रथों पर चढ गये। वे रथ यद्यपि मनुष्यों के बनाये हुए थे, फिर भी इतने सुन्दर थे कि राक्षसों की माया से निर्मित रथ भी उनकी सुन्दरता के आगे फीके लगते थे॥ ७५ ॥ जैसे बुध और बृहस्पति के साथ चन्द्रमा सन्ध्या को बिजली वाले बादलों पर बैठता है, वैसे ही राम भी भरत और लक्ष्मण के साथ पताकाओं से अलंकृत और इच्छानुसार चलने वाले पुष्पक विमान पर फिर चढ़ गये॥ ७६ ॥ आदिवराह ने जैसे प्रलय से पृथ्वी को उबार लिया था और जैसे वर्षा बीतने पर शरद् ऋतु बादलों से चाँदनी छीन लेती है, वैसे ही राम ने रावणरूपी संकट से जिन्हें उबार लिया था, विमान में बैठी हुई उन सीताजी को भरतजी ने जाकर प्रणाम किया॥ ७७॥ सीताजी के जिन पवित्र चरणों

लङ्केश्वरप्रणतिभङ्गदृढव्रतं तद्वन्द्यं युगं चरणयोर्जनकात्मजायाः।
ज्येष्ठानुवृत्तिजटिलं च शिरोऽस्य साधोरन्योन्यपावनमभूदुभयं समेत्य॥ ७८॥
क्रोशार्धं प्रकृतिपुरःसरेण गत्वा काकुत्स्थः स्तिमितजवेन पुष्पकेण।
शत्रुघ्नप्रतिविहितोपकार्यमार्यः साकेतोपवनमुदारमध्युवास॥ ७९॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये दण्डकात्
प्रत्यागमनो नाम त्रयोदशः सर्गः॥ १३॥

ने रावण की प्रणय-प्रार्थना को दृढता से ठुकरा दिया था, उन पर जब भरतजी ने बडे भाई की भक्ति के कारण बढी हुई जटावाला अपना मस्तक रखा तो उन दोनों ने आपस में मिलकर एक-दूसरे को पवित्र कर दिया॥ ७८॥ उस समय आगे-आगे अयोध्या की जनता चल रही थी और पीछे-पीछे वह पुष्पक विमान धीरे-धीरे चला जा रहा था, जिस पर राम विराजमान थे। इस प्रकार आधे कोस तक चलकर उन्होंने अयोध्या के उस सुन्दर उपवन में डेरा डाला, जिसे पहले से ही शत्रुघ्न ने भलीभाँति सजा रखा था॥ ७९॥

इस प्रकार रघुवंशमहाकाव्य में दण्डक वन से प्रत्यागमन
नामक तेरहवाँ सर्ग समाप्त॥ १३॥

चतुर्दशः सर्गः

भर्तुः प्रणाशादथ शोचनीयं दशान्तरं तत्र समं प्रपन्ने।
अपश्यतां दाशरथी जनन्यौ छेदादिवोपघ्नतरोर्व्रतत्यौ॥ १॥
उभावुभाभ्यां प्रणतौ हतारी यथाक्रमं विक्रमशोभिनौ तौ।
विस्पष्टमस्रान्धतया न दृष्टौ ज्ञातौ सुतस्पर्शसुखोपलम्भात्॥ २॥
आनन्दजः शोकजमश्रु बाष्पस्तयोरशीतं शिशिरो बिभेद।
गङ्गासरय्वोर्जलमुष्णतप्तं हिमाद्रिनिस्यन्द इवावतीर्णः॥ ३॥
ते पुत्रयोर्नैर्ऋतशस्त्रमार्गानार्द्रानिवाङ्गे सदयं स्पृशन्त्यौ।
अपीप्सितं क्षत्रकुलाङ्गनानां न वीरसूशब्दमकामयेताम्॥ ४॥
क्लेशावहा भर्तुरलक्षणाऽहं सीतेति नाम स्वमुदीरयन्ती।
स्वर्गप्रतिष्ठस्य गुरोर्महिष्यावभक्तिभेदेन वधूर्ववन्दे॥ ५॥
उत्तिष्ठ वत्से! ननु सानुजोऽसौ वृत्तेन भर्त्ता शुचिना तवैव।
कृच्छ्रं महत्तीर्ण इति प्रियार्हां तामूचतुस्ते प्रियमप्यमिथ्या॥ ६॥
अथाभिषेकं रघुवंशकेतोः प्रारब्धमानन्दजलैर्जनन्योः।
निर्वर्तयामासुरमात्यवृद्धास्तीर्थाहृतैः काञ्चनकुम्भतोयैः॥ ७॥
सरित्समुद्रान् सरसीश्च गत्वा रक्षःकपीन्द्रैरुपपादितानि।
तस्यापतन्मूर्ध्नि जलानि जिष्णोर्विन्ध्यस्य मेघप्रभवा इवापः॥ ८॥

उपर्युक्त उपवन में पहुँचकर राम अपनी दोनों माताओं से मिले, जो पति के मर जाने से वैसे ही उदास लग रही थीं, जैसे वृक्ष के कट जाने पर उसके सहारे सटी हुई लताएँ कुम्हला जाती हैं॥ १॥ पराक्रमी राम और लक्ष्मण ने बारी-बारी से कौसल्या और सुमित्रा को प्रणाम किया। अपने पुत्रों को देखते ही दोनों माताओं की आँखों में आँसू उमड आये, इसलिए वे आँख भर उन्हें देख भी नहीं सकीं, परन्तु पुत्रों के स्पर्शजनित आनन्द से उन्हें पहचान गयीं॥ २ जैसे गर्मी के दिनों में हिमालय का शीतल जल गङ्गा और सरयू के गर्म जल को ठंडा कर देता है, वैसे ही उन दोनों रानियों की आँखों से बहे हुए आनन्द के ठंडे आँसुओं ने शोक के गरम आँसुओं को ठंडा कर दिया॥ ३॥ पुत्रों के शरीर के जिन अंगों पर राक्षसों के शस्त्रों के घाव लगे थे, उन्हें वे दोनों माताएं इस प्रकार सहलाने लगीं, मानो वे घाव अभी ताजे ही हों। उस समय अपने पुत्रों की चोटें देखकर वे इतनी व्याकुल हो गयीं कि उन्हें वीर पुत्र की माता कहलाना भी अच्छा नहीं लगा॥ ४॥ 'मैं ही पति को कष्ट देने वाली कुलक्षणा सीता हूँ' यह कहते हुए सीताजी ने एक जैसी भक्ति के साथ स्वर्गवासी ससुर की दोनों रानियों के चरण छुए॥ ५॥ उन माताओं ने सीताजी को उठाते हुए बडी प्यारी और सच्ची बात कही—'उठो बेटी! तुम्हारे ही पातिव्रत के प्रभाव से राम और लक्ष्मण इस बड़े भारी संकट को पार कर सके हैं॥ ६॥ राम के जिस राज्याभिषेक का आरम्भ माताओं के हर्षभरे आँसुओं से हुआ था, वह अभिषेक सोने के घडों में भरे और तीर्थों से लाये हुए जल से राम को नहला कर बूढे मन्त्रियों ने सम्पन्न कर दिया॥ ७॥ राक्षसों और वानरों के नायकों ने नदियों, समुद्रों और सरोवरों से जो जल लाकर दिया, वह अभिषेक के समय राम के सिर पर वैसे ही गिर रहा था, जैसे विन्ध्याचल की चोटी पर बादलों का जल बरसता है॥ ८॥ तपस्वी के वेश में भी जो राम बहुत सुन्दर लगते थे, वे अब राजसी वस्त्र पहनकर और भी

तपस्विवेषक्रिययाऽपि तावद् यः प्रेक्षणीयः सुतरां बभूव।
राजेन्द्रनेपथ्यविधानशोभा तस्योदिताऽऽसीत्पुनरुक्तदोषा ॥ ९ ॥
स मौलरक्षोहरिभिः ससैन्यस्तूर्यस्वनानन्दितपौरवर्गः।
विवेश सौधोद्गतलाजवर्षामुत्तोरणामन्वयराजधानीम् ॥ १० ॥
सौमित्रिणा सावरजेन मन्दमाधूतबालव्यजनो रथस्थः।
धृतातपत्रो भरतेन साक्षादुपायसङ्घात इव प्रवृद्धः ॥ ११ ॥
प्रसादकालागुरुधूमराजिस्तस्याः पुरो वायुवशेन भिन्ना।
वनान्निवृत्तेन रघूत्तमेन मुक्ता स्वयं वेणिरिवाबभासे ॥ १२ ॥
श्वश्रूजनानुष्ठितचारुवेषां कर्णीरथस्थां रघुवीरपत्नीम्।
प्रासादवातायनदृश्यबन्धैः साकेतनार्योऽञ्जलिभिः प्रणेमुः ॥ १३ ॥
स्फुरत्प्रभामण्डलमानुसूयं सा बिभ्रती शाश्वतमङ्गरागम्।
रराज शुद्धेति पुनः स्वपुर्यै सन्दर्शिता वह्निगतेव भर्त्रा ॥ १४ ॥
वेश्मानि रामः परिबर्हवन्ति विश्राण्य सौहार्दनिधिः सुहृद्भ्यः।
बाष्पायमाणो बलिमन्निकेतमालेख्यशेषस्य पितुर्विवेश ॥ १५ ॥
कृताञ्जलिस्तत्र यदम्ब! सत्यान्नाभ्रश्यत स्वर्गफलाद्गुरुर्नः।
तच्चिन्त्यमानं सुकृतं तवेति जहार लज्जां भरतस्य मातुः ॥ १६ ॥
तथैव सुग्रीवविभीषणादीनुपाचरत्कृत्रिमसंविधाभिः ।
सङ्कल्पमात्रोदितसिद्धयस्ते क्रान्ता यथा चेतसि विस्मयेन ॥ १७ ॥

सुन्दर लगने लगे॥ ९ ॥ तदनन्तर वृद्ध मन्त्रियों, राक्षसों और वानरों को साथ लेकर राम अपनी सेना के साथ उस राजधानी अयोध्या में गये, जो बन्दनवारों से सजायी गयी थी। जहाँ के श्वेत भवनों पर से धान का लावा बरस रहा था और जहाँ के निवासी तुरही आदि वाद्य सुन-सुनकर प्रसन्न हो रहे थे॥ १० ॥ उस समय लक्ष्मण-शत्रुघ्न राम पर चँवर डुला रहे थे और भरत हाथ में छत्र लिये हुए थे। इस प्रकार जब राम भाइयों के साथ अयोध्या में प्रविष्ट हुए, तब चारों भाई ऐसे लग रहे थे कि जैसे साम, दाम, दण्ड और भेद—ये चारों उपाय एकत्र हो गये हों॥ ११ ॥ वहाँ के भवनों पर वायु से छितराया हुआ काले अगर का धुआँ ऐसा लग रहा था कि जैसे लौटकर राम ने अयोध्यापुरी का जूड़ा अपने हाथ से खोलकर बिखेर दिया हो॥ १२॥ उन भवनों के झरोखों में आँख पसारे दीखने वाली अयोध्या की महिलाओं ने हाथ जोड़कर उन सीताजी को प्रणाम किया, जो उस समय पालकी पर चल रही थीं और जिन्हें कौसल्या आदि सासुओं ने बडे मनोहर ढंग से वस्त्र और आभूषणों द्वारा सजाया था॥ १३ ॥ सीताजी के तन पर अब भी वह अमिट कान्ति वाला अङ्गराग लगा हुआ था, जो अनसूयाजी ने उनके शरीर में लगाया था। उससे अग्नि के सदृश देदीप्यमान उनका शरीर ऐसा दीख रहा था कि जैसे पुरवासियों को सीताजी की पवित्रता दिखलाने के लिए राम ने उन्हें फिर अग्नि में बैठा दिया हो॥ १४॥ मित्रप्रेमी राम ने पहले सुग्रीव आदि मित्रों को सभी सामग्रियों से सजे भवनों में ठहराया। तब वे अपने पिताजी के निजी घर में गये। वहाँ दशरथजी का चित्रमात्र देखकर राम की आँखों में आँसू उमड पड़े॥ १५ ॥ कैकेयी उदास बैठी थी। राम ने हाथ जोड़कर कहा—'माँ! तुम्हारे ही पुण्य-प्रताप से हमारे पिताजी अपने उस सत्य से नहीं डिगे, जिससे स्वर्ग मिलता है। यदि तुम उनसे वरदान न माँगती तो उन्होंने जो तुम्हें वरदान देने की प्रतिज्ञा की थी, वह झूठी हो जाती।' सो सुनकर कैकेयी के मन में जो आत्मग्लानि भरी हुई थी कि 'राम मेरे विषय में न जाने क्या सोचते होंगे और मैं उन्हें कैसे मुँह दिखलाऊँगी।' वह सब ग्लानि दूर हो गयी॥ १६॥ वहाँ से लौटकर उन्होंने सुग्रीव-विभीषण आदि मित्रों का भलीभाँति

सभाजनायोपगतान्स दिव्यान्मुनीन्पुरस्कृत्य हतस्य शत्रोः।
शुश्राव तेभ्यः प्रभवादि वृत्तं स्वविक्रमे गौरवमादधानम्॥ १८॥
प्रतिप्रयातेषु तपोधनेषु सुखादविज्ञातगतार्धमासान्।
सीतास्वहस्तोपहृताग्र्यपूजान्रक्षःकपीन्द्रान्विससर्ज रामः॥ १९॥
तच्चात्मचिन्तासुलभं विमानं हृतं सुरारेः सह जीवितेन।
कैलासनाथोद्वहनाय भूयः पुष्पं दिवः पुष्पकमन्वमंस्त॥ २०॥
पितुर्नियोगाद्वनवासमेवं निस्तीर्य रामः प्रतिपन्नराज्यः।
धर्मार्थकामेषु समां प्रपेदे यथा तथैवावरजेषु वृत्तिम्॥ २१॥
सर्वासु मातृष्वपि वत्सलत्वात्स निर्विशेषप्रतिपत्तिरासीत्।
षडाननापीतपयोधरासु नेता चमूनामिव कृत्तिकासु॥ २२॥
तेनार्थवाँल्लोभपराङ्मुखेन तेन घ्नता विघ्नभयं क्रियावान्।
तेनास लोकः पितृमान्विनेत्रा तेनैव शोकापनुदेव पुत्री॥ २३॥
स पौरकार्याणि समीक्ष्य काले रेमे विदेहाधिपतेर्दुहित्रा।
उपस्थितश्चारु वपुस्तदीयं कृत्वोपभोगोत्सुकयेव लक्ष्म्या॥ २४॥
तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुषोः सद्मसु चित्रवत्सु।
प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु सञ्चिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन्॥ २५॥
अथाधिकस्निग्धविलोचनेन मुखेन सीता शरपाण्डुरेण।
आनन्दयित्री परिणेतुरासीदनक्षरव्यञ्जितदोहदेन॥ २६॥

स्वागत-सत्कार किया। उन मित्रों को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि 'हम जो चाहते हैं, वह तुरन्त मिल जाता है'॥ १७॥ तदनन्तर राम ने उन अगस्त्य आदि ऋषियों का सत्कार किया, जो उन्हें बधाई देने आये थे। उन ऋषियों को बैठाकर उन्होंने अपने शत्रु रावण के जन्म से लेकर मृत्यु तक का वह सब वृत्तान्त सुना, जो राम का गौरव बढ़ाने वाला था॥ १८॥ ऋषियों के चले जाने पर राम ने उन राक्षसों और सेनापतियों को विदा किया, जो अयोध्या में इतने आनन्द से रहे कि उन्हें पता ही नहीं चला कि आधा महीना कब बीत गया। चलते समय सीताजी ने स्वयं अपने हाथों से उनकी पूजा की॥ १९॥ तब राम ने उस स्वर्ग के फूल जैसे पुष्पक विमान को भी कुबेर के पास जाने की आज्ञा दे दी, जो इच्छा करते ही उनकी सेवा के लिए आ जाता था और जिसे उन्होंने रावण से उसके प्राण के साथ-साथ छीन लिया था॥ २०॥ इस तरह पिता की आज्ञा से वनवास की अवधि बिताकर राम ने अपने पिता का राज्य पाया। जैसे वे धर्म, अर्थ और काम के साथ समान व्यवहार करते थे, वैसे ही वे अपने भाइयों के साथ भी समान प्रेम का बर्ताव करते थे॥ २१॥ वे निर्लोभ थे, इसीलिए उन्होंने प्रजा पर कोई कर नहीं लगाया। जिसका फल यह हुआ कि थोड़े ही दिनों में प्रजा धनी हो गयी। वे कहीं भी विघ्न नहीं आने देते थे, इसलिए सब लोग प्रसन्नता से यज्ञ आदि सत्कर्म करने लगे। वे सबको ठीक मार्ग पर चलाते थे, अतएव सब उन्हें पिता के समान मानते थे और विपत्ति पड़ने पर वे सबकी सहायता करते थे, इसलिए वे प्रजा के पुत्र भी थे॥ २२-२३॥ वे ठीक समय पर प्रजा का सब काम देख-भालकर सीताजी के साथ रमण भी करते थे। इसी से ऐसा लगता था कि मानो राज्यलक्ष्मी ने ही राम के साथ रमण करने की इच्छा से सीता का सुन्दर रूप धर लिया है॥ २४॥ उस भवन में वे दोनों इच्छानुसार भोग-विलास करते थे, जिसमें वनवासकालीन चित्र टँगे थे। उन चित्रों को देख-देखकर दण्डक वन के दुःखों का स्मरण करके भी उन्हें सुख ही मिलता था॥ २५॥ अब धीरे-धीरे सीताजी के नेत्रों की शोभा बढ़ने लगी और उनका मुख पके सरपत (मूँज) जैसा पीला पड़ने लगा। गर्भ के इन लक्षणों को देखकर

तामङ्कमारोप्य कृशाङ्गयष्टिं वर्णान्तराक्रान्तपयोधराग्राम्।
विलज्जमानां रहसि प्रतीतः पप्रच्छ रामां रमणोऽभिलाषम्॥ २७॥
सा दष्टनीवारबलीनि हिंस्रैः सम्बद्धवैखानसकन्यकानि।
इयेष भूयः कुशवन्ति गन्तुं भागीरथीतीरतपोवनानि॥ २८॥
तस्यै प्रतिश्रुत्य रघुप्रवीरस्तदीप्सितं पार्श्वचरानुयातः।
आलोकयिष्यन्मुदितामयोध्यां प्रासादमभ्रंलिहमारुरोह॥ २९॥
ऋद्धापणं राजपथं स पश्यन्विगाह्यमानां सरयूं च नौभिः।
विलासिभिश्चाध्युषितानि पौरैः पुरोपकण्ठोपवनानि रेमे॥ ३०॥
स किंवदन्तीं वदतां पुरोगः स्ववृत्तमुद्दिश्य विशुद्धवृत्तः।
सर्पाधिराजोरुभुजोऽपसर्पं पप्रच्छ भद्रं विजितारिभद्रः॥ ३१॥
निर्बन्धपृष्टः स जगाद सर्वं स्तुवन्ति पौराश्चरितं त्वदीयम्।
अन्यत्र रक्षोभवनोषितायाः परिग्रहान्मानवदेव देव्याः॥ ३२॥
कलत्रनिन्दागुरुणा किलैवमभ्याहतं कीर्तिविपर्ययेण।
अयोघनेनाय इवाभितप्तं वैदेहिबन्धोर्हृदयं विदद्रे॥ ३३॥
किमात्मनिर्वादकथामुपेक्षे जायामदोषामुत सन्त्यजामि।
इत्येकपक्षाश्रयविक्लवत्वादासीत् स दोलाचलचित्तवृत्तिः॥ ३४॥
निश्चित्य चानन्यनिवृत्ति वाच्यं त्यागेन पत्न्याः परिमार्ष्टुमैच्छत्।
अपि स्वदेहात्किमुतेन्द्रियार्थाद्यशोधनानां हि यशो गरीयः॥ ३५॥

राम बहुत प्रसन्न हुए॥ २६॥ जब उन्हें पूरा विश्वास हो गया कि सीताजी गर्भिणी हैं, तब वे दुबली तथा काले स्तनोंवाली लजीली सीताजी को एकान्त में गोद में बैठाकर पूछने लगे—'बतलाओ, तुम्हारी क्या-क्या इच्छा है॥ २७॥ सीताजी बोलीं—'मैं गङ्गाजी के तटवर्ती उन तपोवनों को देखना चाहती हूँ, जहाँ के हिंसक जन्तु मांस न खाकर नीवार ही खाते हैं। जहाँ मेरी सखियाँ तपस्वियों की कन्याएँ रहती हैं और जहाँ कुशा की झाड़ियाँ चारों ओर फैली हुई हैं॥ २८॥ रामचन्द्रजी ने कहा—'अच्छी बात है। मैं तुम्हें उस तपोवन में अवश्य भेजूँगा'। वहाँ से उठकर वे अपने सेवकों के साथ सुन्दर अयोध्या की छटा निहारने के लिए आकाश से बातें करने वाले अपने ऊँचे राजमहल की छत पर चढ गये॥ २९॥ वहाँ पर से उन्होंने देखा कि राजमार्ग की दूकानें धन-धान्य से भरी हुई हैं, सरयू में नावें चल रहीं हैं और अयोध्या के उद्यानों में विलासी नागरिक प्रसन्न होकर विहार कर रहे हैं॥ ३०॥ अयोध्या की वह शोभा देखकर वक्ताओं में श्रेष्ठ, सदाचारी और शेषनाग जैसी बड़ी-बड़ी बाँहों वाले शत्रुजयी राम ने अपने भद्र नाम के गुप्तचर से पूछा—'भद्र! हमारे विषय में प्रजा की क्या धारणा है?'॥ ३१॥ यह सुनकर पहले तो भद्र चुप रहा, परन्तु जब राम ने आग्रहपूर्वक पूछा, तब वह बोला—'हे नरश्रेष्ठ! जनता आपकी सब बातों की तो प्रशंसा करती है, किन्तु आपने रावण के घर में रही हुई देवी सीता को जो फिर से स्वीकार कर लिया है, उसे लोग अनुचित समझते हैं'॥ ३२॥ अपनी पत्नी पर लगे हुए इस भीषण कलङ्क को सुनकर सीतापति राम का हृदय वैसे ही फट गया, जैसे घन की चोट से तपाया हुआ लोहा फट जाय॥ ३३॥ वे सोचने लगे कि 'अब दो ही मार्ग हैं। या तो मैं इस बात को अनसुनी करके टाल दूँ या फिर निर्दोष पत्नी को सदा के लिए त्याग दूँ।' उस समय उनका मन डगमगा गया और वे निश्चय ही नहीं कर पा रहे थे कि क्या करें और क्या न करें॥ ३४॥ किन्तु वह कलङ्क मिटाने का कोई दूसरा उपाय नहीं था। इसलिए उन्होंने निश्चय कर लिया कि सीता को त्याग कर

स सन्निपात्यावरजान् हतौजास्तद्विक्रियादर्शनलुप्तहर्षान् ।
कौलीनमात्माश्रयमाचचक्षे तेभ्यः पुनश्चेदमुवाच वाक्यम् ॥ ३६ ॥
राजर्षिवंशस्य रविप्रसूतेरुपस्थितः पश्यत कीदृशोऽयम् ।
मत्तः सदाचारशुचेः कलङ्कः पयोदवातादिव दर्पणस्य ॥ ३७ ॥
पौरेषु सोऽहं बहुलीभवन्तमपां तरङ्गेष्विव तैलबिन्दुम् ।
सोढुं न तत्पूर्वमवर्णमीशे आलानिकं स्थाणुमिव द्विपेन्द्रः ॥ ३८ ॥
तस्यापनोदाय फलप्रवृत्तावुपस्थितायामपि निर्व्यपेक्षः ।
त्यक्ष्यामि वैदेहसुतां पुरस्तात् समुद्रनेमिं पितुराज्ञयेव ॥ ३९ ॥
अवैमि चैनामनघेति किन्तु लोकापवादो बलवान्मतो मे ।
छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वेनारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः ॥ ४० ॥
रक्षोवधान्तो न च मे प्रयासो व्यर्थः स वैरप्रतिमोचनाय ।
अमर्षणः शोणितकाङ्क्षया किं पदा स्पृशन्तं दशति द्विजिह्वः ॥ ४१ ॥
तदेष सर्गः करुणार्द्रचित्तैर्न मे भवद्भिः प्रतिषेधनीयः ।
यद्यर्थिता निर्हृतवाच्यशल्यान्प्राणान्मया धारयितुं चिरं वः ॥ ४२ ॥
इत्युक्तवन्तं जनकात्मजायां नितान्तरूक्षाभिनिवेशमीशम् ।
न कश्चन भ्रातृषु तेषु शक्तो निषेद्धुमासीदनुमोदितुं वा ॥ ४३ ॥
स लक्ष्मणं लक्ष्मणपूर्वजन्मा विलोक्य लोकत्रयगीतकीर्तिः ।
सौम्येति चाभाष्य यथार्थभाषी स्थितं निदेशे पृथगादिदेश ॥ ४४ ॥

ही इस कलङ्क को मिटाया जाय। क्योंकि यशस्वियों को अपना यश शरीर से भी अधिक प्रिय होता है। फिर स्त्री आदि भोग की वस्तुओं की तो बात ही न्यारी है॥ ३५॥ निस्तेज राम ने तुरन्त भाइयों को बुलाया। वे भी इनकी दशा देखकर सन्न रह गये। कलंक की बात बतलाते हुए राम ने कहा—॥ ३६॥ 'यद्यपि मैं सदाचारी और पवित्र हूँ, फिर भी जैसे बरसाती हवा लगने से स्वच्छ दर्पण भी धुँधला हो जाता है, वैसे ही सूर्यवंशी राजर्षियों के कुल पर मेरे कारण कैसा कलंक लग रहा है॥ ३७॥ पानी की लहरों पर जैसे तेल की बूँद फैल जाती है, वैसे ही इस समय घर-घर मेरी निन्दा हो रही है। सो जैसे हाथी अपने बन्धन के खूँटे से खींचकर उसे उखाड़ने की चेष्टा करता है, वैसे ही मैं भी इस कलंक को नहीं सह सकूँगा॥ ३८॥ यद्यपि इस समय सीता गर्भिणी है, तथापि अपने कलंक को मिटाने के लिए मैं सब मोह तोडकर उसे वैसे ही छोड दूँगा, जैसे पिताजी की आज्ञा से मैंने राज्य त्याग दिया था॥ ३९॥ मैं जानता हूँ कि वह निर्दोष है, परन्तु बदनामी सत्य से भी अधिक बलवती होती है। देखो न, निर्मल चन्द्रबिम्ब पर पडी हुई पृथ्वी की छाया को लोग चन्द्रमा का कलङ्क कहते हैं और झूठ होने पर भी सारा संसार इसे ठीक मानता है॥ ४०॥ अब तुम शायद यह कहोगे कि 'यदि ऐसा ही था तो राक्षसों को क्यों मारा?' उसका उत्तर यह है कि सीता को छुडाने के लिए मैंने जो राक्षसों को मारा, मेरा वह प्रयत्न सीता को निकाल देने से बेकार नहीं कहा जायगा। क्योंकि वह तो मैंने अपनी स्त्री के अपहरण का उन राक्षसों से बदला लिया था। क्योंकि जब साँप पैर से दब जाता है, तब वह रक्त के लोभ से नहीं, बल्कि बदला लेने के लिए ही डँसता है॥ ४१॥ अतएव यदि तुम लोग इस कलंक रूपी बाण को मेरे हृदय से निकालकर मुझे जीवित रखना चाहते हो तो केवल सीता की दशा पर दया दिखलाते हुए उसका पक्ष लेकर मेरे इस निश्चय का विरोध न करो॥ ४२॥ जब भाइयों ने देखा कि राजा राम नितान्त निठुराई करना चाहते हैं, तब भाइयों में से न तो किसी ने उनका समर्थन ही किया और न विरोध॥ ४३॥ तीनों लोकों में प्रसिद्ध यशस्वी और अपनी बात के धनी राम

प्रजावती दोहदशंसिनी ते तपोवनेषु स्पृहयालुरेव।
स त्वं रथी तद्व्यपदेशनेयां प्रापय्य वाल्मीकिपदं त्यजैनाम्॥ ४५॥
स शुश्रुवान्मातरि भार्गवेण पितुर्नियोगात्प्रहृतं द्विषद्वत्।
प्रत्यग्रहीदग्रजशासनं तदाज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया॥ ४६॥
अथानुकूलश्रवणप्रतीतामत्रस्नुभिर्युक्तधुरं तुरङ्गैः।
रथं सुमन्त्रप्रतिपन्नरश्मिमारोप्य वैदेहसुतां प्रतस्थे॥ ४७॥
सा नीयमाना रुचिरान्प्रदेशान्प्रियङ्करो मे प्रिय इत्यनन्दत्।
नाबुद्ध कल्पद्रुमतां विहाय जातं तमात्मन्यसिपत्रवृक्षम्॥ ४८॥
जुगूह तस्याः पथि लक्ष्मणो यत्सव्येतरेण स्फुरता तदक्ष्णा।
आख्यातमस्यै गुरु भावि दुःखमत्यन्तलुप्तप्रियदर्शनेन॥ ४९॥
सा दुर्निमित्तोपगताद्विषादात्सद्यःपरिम्लानमुखारविन्दा।
राज्ञः शिवं सावरजस्य भूयादित्याशशंसे करणैरबाह्यैः॥ ५०॥
गुरोर्नियोगाद्वनितां वनान्ते साध्वीं सुमित्रातनयो विहास्यन्।
अवार्यतेवोत्थितवीचिहस्तैर्जह्नोर्दुहित्रा स्थितया पुरस्तात्॥ ५१॥
रथात्स यन्त्रा निगृहीतवाहात्तां भ्रातृजायां पुलिनेऽवतार्य।
गङ्गां निषादाहृतनौविशेषस्ततार सन्धामिव सत्यसन्धः॥ ५२॥
अथ व्यवस्थापितवाक्कथञ्चित्सौमित्रिरन्तर्गतबाष्पकण्ठः।
औत्पातिको मेघ इवाश्मवर्षं महीपतेः शासनमुज्जगार॥ ५३॥

ने जब देखा कि लक्ष्मण उनकी आज्ञा मानने को तैयार हैं, तब वे उनसे बोले— 'लक्ष्मण! तुम बड़े अच्छे हो'। यह कहकर उन्हें एकान्त में ले गये और कहने लगे—॥ ४४॥ तुम्हारी गर्भिणी भाभी तपोवन देखना चाहती ही हैं। सो तुम उन्हें इसी बहाने रथ पर बिठाकर वाल्मीकिजी के आश्रम पर छोड़ आओ॥ ४५॥ लक्ष्मण ने सुन रखा था कि पिता की आज्ञा से परशुरामजी ने अपनी माता को वैसे ही निर्दयतापूर्वक मार डाला था, जैसे कोई अपने शत्रु को मारे। सो उन्होंने पिता के समान राम की आज्ञा मान ली। क्योंकि बड़ों की आज्ञा में मीन-मेख निकालना ठीक नहीं होता॥ ४६॥ उधर सीताजी यह सुनकर प्रसन्न हुईं कि लक्ष्मण हमें तपोवन दिखाने ले जायेंगे। तदनुसार लक्ष्मणजी उन्हें ऐसे रथ पर चढ़ाकर ले चले, जिसे स्वयं सुमन्त्र हाँक रहे थे और जिसके घोड़े ऐसे सुशिक्षित थे कि रथ के चलते समय गर्भिणी सीता को तनिक भी हचक नहीं लगती थी॥ ४७॥ मनोहर प्रदेशों में होकर रथ पर जाती हुई सीताजी यह सोचकर बड़ी प्रसन्न थीं कि मेरे प्राणप्रिय पति सदा मेरे मन की ही बात करते हैं। उन्हें क्या पता कि इस समय वे मेरे लिए मनोरथ पूरा करने वाले कल्पवृक्ष के बदले उस असिपत्र के वृक्ष सदृश कष्टदायक हो गये हैं, जिसके पत्ते तलवार की धार जैसे तीक्ष्ण होते हैं॥ ४८॥ लक्ष्मण ने सीताजी को मार्ग में कुछ नहीं बतलाया कि 'तुम पर क्या विपत्ति आने वाली है' परन्तु सीताजी के दाहिने नेत्र ने फड़क कर आने वाले दुःख की सूचना दे ही दी॥ ४९॥ यह असगुन देखते ही उनका मुँह उतर गया और वे मनाने लगीं कि भाइयों के साथ राम सदा सुखी रहें॥ ५०॥ मार्ग में गङ्गाजी पड़ीं। उनमें जो लहरें उठ रही थीं, वे बड़े भाई की आज्ञा से पतिव्रता सीता को वन में छोड़ने के लिए ले जाते हुए लक्ष्मण से मानो हाथ हिला-हिलाकर कह रही थीं कि 'ऐसा न करो'॥ ५१॥ गङ्गातट पर पहुँचकर सारथी ने रास खींच ली। तब प्रतिज्ञा के सच्चे लक्ष्मण ने सीताजी को रेती पर उतारा और केवट जो नाव लाया, उस पर चढ़कर सीताजी के साथ गङ्गाजी से पार हो गये। साथ ही उस प्रतिज्ञा से भी पार हो गये, जो उन्होंने सीता को गङ्गापार छोड़ने के लिए राम से की थी॥ ५२॥ उस पार पहुँच तथा

ततोऽभिषङ्गानिलविप्रविद्धा प्रभ्रश्यमानाभरणप्रसूना।
स्वमूर्तिलाभप्रकृतिं धरित्रीं लतेव सीता सहसा जगाम॥५४॥
इक्ष्वाकुवंशप्रभवः कथं त्वां त्यजेदकस्मात्पतिरार्यवृत्तः।
इति क्षितिः संशयितेव तस्यै ददौ प्रवेशं जननी न तावत्॥५५॥
सा लुप्तसंज्ञा न विवेद दुःखं प्रत्यागतासुः समतप्यतान्तः।
तस्याः सुमित्रात्मजयत्नलब्धो मोहादभूत्कष्टतरः प्रबोधः॥५६॥
न चावदद्भर्तुरवर्णमार्या निराकरिष्णोर्वृजिनादृतेऽपि।
आत्मानमेव स्थिरदुःखभाजं पुनः पुनर्दुष्कृतिनं निनिन्द॥५७॥
आश्वास्य रामावरजः सतीं तामाख्यातवाल्मीकिनिकेतमार्गः।
निघ्नस्य मे भर्तृनिदेशरौक्ष्यं देवि! क्षमस्वेति बभूव नम्रः॥५८॥
सीता तमुत्थाप्य जगाद वाक्यं प्रीताऽस्मि ते सौम्य! चिराय जीव।
बिडौजसा विष्णुरिवाग्रजेन भ्रात्रा यदित्थं परवानसि त्वम्॥५९॥
श्वश्रूजनं सर्वमनुक्रमेण विज्ञापय प्रापितमत्प्रणामः।
प्रजानिषेकं मयि वर्तमानं सूनोरनुध्यायत चेतसेति॥६०॥
वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य॥६१॥
कल्याणबुद्धेरथवा तवायं न कामचारो मयि शङ्कनीयः।
ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः॥६२॥

आँसू रोककर लक्ष्मण ने रुँधे हुए गले से सीताजी को राजा राम की आज्ञा इस तरह सुनायी, जैसे कोई भयंकर बादल ओले बरसाता हो॥५३॥ लू लगने से जैसे लता के फूल झड़ जाते हैं और लता सूखकर पृथ्वी पर गिर पड़ती है, वैसे ही यह अपमानजनक बात सुनकर सीता के आभूषण गिर गये और वे स्वयं अपनी माँ पृथ्वी की गोद में गिर पडीं॥५४॥ पृथ्वी ने उस समय सीताजी को जैसे इस दुविधा से अपने भीतर नहीं समेट लिया कि इक्ष्वाकुवंशी और सदाचारी पति राम इस प्रकार सीताजी को अचानक क्यों छोड़ेंगे॥५५॥ मूर्च्छा आ जाने से उन्हें उस समय तो दुःख नहीं हुआ, परन्तु जब वे मूर्च्छा से जागीं, तब उनके हृदय में बडी व्यथा हुई। जब लक्ष्मण ने प्रयत्न करके उनकी मूर्च्छा दूर की तो वह बात उन्हें मूर्च्छा से भी अधिक अखरी॥५६॥ सीताजी इतनी साध्वी थी कि निरपराध पत्नी को घर से निकालने वाले अपने पति को उन्होंने कुछ भी नहीं कहा, बल्कि बार-बार वे नित्य दुःखदायी अपने आप को ही कोसने लगीं॥५७॥ तब लक्ष्मण ने उन्हें बहुत समझाया और वाल्मीकि के आश्रम का मार्ग दिखाकर कहा—'देवि! मैं पराधीन हूँ। अतएव स्वामी की आज्ञा से मैंने आपके साथ जो कठोर व्यवहार किया है, उसे क्षमा कीजिए'। इस प्रकार कहकर वे सीता के पैरों पर लोट गये॥५८॥ सीताजी ने लक्ष्मण को उठाया और बोलीं— 'हे सौम्य! मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। तुम बहुत दिनों तक जियो। क्योंकि जैसे इन्द्र के छोटे भाई विष्णु सदा अपने बड़े भाई की आज्ञा मानते हैं, वैसे ही तुम भी अपने बड़े भाई की आज्ञा मानते हो॥५९॥ यहाँ से जाकर तुम सभी सासुओं से मेरा प्रणाम कहकर कहना कि 'मेरे गर्भ में आपके पुत्र का जो तेज है, आपलोग हृदय से उसका कुशल मनाते रहियेगा'॥६०॥ बाद में अयोध्या के राजा से मेरी जबानी कहना कि—''आपने अपने सामने ही मुझे अग्नि में शुद्ध किया था। सो इस समय अपयश के डर से जो आपने मुझे छोड दिया है वह क्या उस प्रसिद्ध कुल के अनुरूप है, जिसमें आपने जन्म लिया है?॥६१॥ परन्तु नहीं, आप तो सबकी

उपस्थितां पूर्वमपास्य लक्ष्मीं वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः।
तदास्पदं प्राप्य तयाऽतिरोषात्सोढास्मि न त्वद्भवने वसन्ती॥ ६३॥
निशाचरोपप्लुतभर्तृकाणां तपस्विनीनां भवतः प्रसादात्।
भूत्वा शरण्या शरणार्थमन्यं कथं प्रपत्स्ये त्वयि दीप्यमाने॥ ६४॥
किं वा तवात्यन्तवियोगमोघे कुर्यामुपेक्षां हतजीवितेऽस्मिन्।
स्याद्रक्षणीयं यदि मे न तेजस्त्वदीयमन्तर्गतमन्तरायः॥ ६५॥
साऽहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः॥ ६६॥
नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः।
निर्वासिताऽप्येवमतस्त्वयाऽहं तपस्विसामान्यमवेक्षणीया॥ ६७॥
तथेति तस्याः प्रतिगृह्य वाचं रामानुजे दृष्टिपथं व्यतीते।
सा मुक्तकण्ठं व्यसनातिभाराच्चक्रन्द विग्ना कुररीव भूयः॥ ६८॥
नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान्विजहुर्हरिण्यः।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद्रुदितं वनेऽपि॥ ६९॥
तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥ ७०॥
तमश्रु नेत्रावरणं प्रमृज्य सीता विलापाद् विरता ववन्दे।
तस्यै मुनिर्दोहदलिङ्गदर्शी दाश्वान् सुपुत्राशिषमित्युवाच॥ ७१॥

भलाई करते हैं। आप अपने मन से हमारे साथ ऐसा व्यवहार नहीं कर सकते। यह सब मेरे पूर्वजन्म के पापों का ही असह्य फल है॥ ६२॥ कुछ समय पहले आप जिस राज्यलक्ष्मी को ठुकराकर मेरे साथ वन में चले गये थे, वह राज्यलक्ष्मी मुझसे रुठ गयी है और उसे आपके घर में मेरा रहना असह्य हो गया है॥ ६३॥ पिछली बार वनवास के समय आपकी कृपा से मैंने बहुत-सी ऐसी तपस्विनियों को अपने आश्रम में आश्रय दिया था, जिनके पतियों को राक्षसों ने मार डाला था। अब आप ही बतलाइये कि आपके रहते मैं शरणार्थिनी बनकर किस मुँह से उन्हीं तपस्विनियों के पास जाऊँगी?॥ ६४॥ मेरे गर्भ में आया हुआ आपका वह तेज यदि बाधक न होता, जिसकी रक्षा करना आवश्यक है, तो मैं आपसे सदा के लिए बिछुडे हुए अपने प्राण भी त्याग देती॥ ६५॥ किन्तु पुत्र हो जाने पर मैं सूर्य में दृष्टि लगाकर ऐसी तपस्या करूँगी कि अगले जन्म में भी आप ही मेरे पति हों। तब आपसे मुझे अलग न होना पडेगा॥ ६६॥ मनु ने कहा है कि—'राजाओं का धर्म वर्णों और आश्रमों की रक्षा करना है'। इसलिए घर से निकाल देने पर भी आप यह समझकर मेरी देख-भाल करते रहियेगा कि सीता भी एक साधारण तपस्विनी हैं॥ ६७॥ यह सुनकर लक्ष्मण ने कहा— 'मैं सब कुछ कह दूँगा'। यह कहकर वे ज्यों ही-वहाँ से चलकर आँखों से ओझल हुए, त्यों ही उस महती विपत्ति के भार से व्याकुल होकर सीताजी डरी हुई कुररी के समान रोने लगीं॥ ६८॥ उनका रुदन सुनकर मोरों ने नाचना बन्द कर दिया, वृक्ष फूल के आँसू गिराने लगे और हरिणियों ने मुँह में भरी हुई घास का ग्रास त्याग दिया। इस प्रकार महारानी सीताजी के दुःख से दुःखी होकर सारा वन रोने लगा॥ ६९॥ जिन वाल्मीकि ऋषि का शोक व्याध के हाथ से मारे हुए क्रौंच को देखकर श्लोक बनकर निकल पडा था, वे उस समय कुशोत्पाटन को निकले थे। रोदन का शब्द सुनकर वे सीताजी के पास आये॥ ७०॥ उन्हें देखा तो सीताजी ने आँसू पोंछकर चुपचाप प्रणाम किया। गर्भ के चिह्न देखकर ऋषि ने उन्हें आशीर्वाद दिया कि 'तुम पुत्रवती

जाने विसृष्टां प्रणिधानतस्त्वां मिथ्यापवादक्षुभितेन भर्त्रा।
तन्मा व्यथिष्ठा विषयान्तरस्थं प्राप्तासि वैदेहि! पितुर्निकेतम्॥७२॥
उत्खातलोकत्रयकण्टकेऽपि सत्यप्रतिज्ञेऽप्यविकत्थनेऽपि।
त्वां प्रत्यकस्मात् कलुषप्रवृत्तावस्त्येव मन्युर्भरताग्रजे मे॥७३॥
तवोरुकीर्तिः श्वशुरः सखा मे सतां भवोच्छेदकरः पिता ते।
धुरि स्थिता त्वं पतिदेवतानां किं तन्न येनासि ममानुकम्प्या॥७४॥
तपस्विसंसर्गविनीतसत्त्वे तपोवने वीतभया वसास्मिन्।
इतो भविष्यत्यनघप्रसूतेरपत्यसंस्कारमयो विधिस्ते॥७५॥
अशून्यतीरां मुनिसन्निवेशैस्तमोपहन्त्रीं तमसां वगाह्य।
तत्सैकतोत्सङ्गबलिक्रियाभिः सम्पत्स्यते ते मनसः प्रसादः॥७६॥
पुष्पं फलं चार्तवमाहरन्त्यो बीजं च बालेयमकृष्टरोहि।
विनोदयिष्यन्ति नवाभिषङ्गामुदारवाचो मुनिकन्यकास्त्वाम्॥७७॥
पयोघटैराश्रमबालवृक्षान् संवर्धयन्ती स्वबलानुरूपैः।
असंशयं प्राक्तनयोपपत्तेः स्तनन्धयप्रीतिमवाप्स्यसि त्वम्॥७८॥
अनुग्रहप्रत्यभिनन्दिनीं तां वाल्मीकिरादाय दयार्द्रचेताः।
सायं मृगाध्यासितवेदिपार्श्वं स्वमाश्रमं शान्तमृगं निनाय॥७९॥
तामर्पयामास च शोकदीनां तदागमप्रीतिषु तापसीषु।
निर्विष्टसारां पितृभिर्हिमांशोरन्त्यां कलां दर्श इवौषधीषु॥८०॥

होओ'। उसके बाद वे बोले—॥७१॥ ''बेटी वैदेहि! मैंने योगबल से जान लिया है कि तुम्हारे पति ने झूठे अपयश से डरकर तुम्हें घर से निकाल दिया है। पुत्री! तुम अपने पिता के ही घर आ गयी हो, अब शोक त्याग दो॥७२॥ यद्यपि राम ने तीनों लोकों का दुःख दूर कर दिया है, वे अपनी प्रतिज्ञा के पक्के हैं और कभी अपने मुँह से अपनी बड़ाई नहीं करते, फिर भी तुम्हारे साथ उन्होंने जो यह अनुचित व्यवहार किया है, इसे देखकर मुझे उन पर बडा क्रोध आ रहा है॥७३॥ तुम्हारे यशस्वी ससुर दशरथजी मेरे मित्र थे और तुम्हारे पिता जनकजी भी ज्ञानोपदेश देकर बहुत से सज्जनों को संसार के बन्धन से छुडाते रहते हैं। तुम स्वयं भी पतिव्रताओं में सर्वश्रेष्ठ हो। तब फिर क्या कारण है कि जिससे मैं तुम्हारे ऊपर कृपा न करूँगा॥७४॥ तपस्वियों के संसर्ग में रहते-रहते यहाँ के सभी जीव बडे सीधे हो गये हैं। ये किसी को नहीं छेडते। सो इसी आश्रम में तुम भी निर्भय भाव से रहो। तुम्हारी पवित्र सन्तान का जातकर्म आदि संस्कार यहीं होगा॥७५॥ तमोगुण मिटानेवाली जिस तमसा के तट पर तपस्वी लोग सदा रहते हैं, उसमें स्नान करके तुम उसकी रेती पर देवताओं की पूजा करो। इससे तुम्हारा मन प्रसन्न रहा करेगा॥७६॥ आश्रम की मुनि-कन्याएँ तुम्हें सब ऋतुओं के फूल-फल और पूजा के योग्य तिन्नी आदि अन्न लाकर दिया करेंगी और मीठी-मीठी बातें करके तुम्हारा मन बहलायेंगी॥७७॥ जो तुमसे उठ सके, ऐसे घड़े लेकर तुम आश्रम के पौधों को प्रेम से सींचो। इससे लाभ यह होगा कि बच्चा पैदा होने के पहले ही तुम यह सीख लोगी कि बच्चों को प्यार कैसे करना चाहिए''॥७८॥ उनकी कृपा को सराहती हुई सीता को दयालु वाल्मीकि अपने साथ आश्रम में ले गये। साँझ हो जाने के कारण बहुत से मृग वहाँ वेदी को घेरे बैठे थे और सिंह आदि जन्तु चुपचाप आँखें मूँदे हुए पड़े थे॥७९॥ अमावास्या जैसे जडी-बूटियों और लता-वृक्षों को चन्द्रमा की वह सारहीन एवं अन्तिम कला सौंप देती है, जिसका अमृत पितर खींच चुके रहते हैं, वैसे ही ऋषि ने भी शोक से व्याकुल सीता

ता इङ्गुदीस्नेहकृतप्रदीपमास्तीर्णमेध्याजिनतल्पमन्तः ।
तस्यै सपर्यानुपदं दिनान्ते निवासहेतोरुटजं वितेरुः ॥ ८१ ॥
तत्राभिषेकप्रयता वसन्ती प्रयुक्तपूजा विधिनाऽतिथिभ्यः ।
वन्येन सा वल्कलिनी शरीरं पत्युः प्रजासन्ततये बभार ॥ ८२ ॥
अपि प्रभुः सानुशयोऽधुना स्यात्किमुत्सुकः शक्रजितोऽपि हन्ता ।
शशंस सीतापरिदेवनान्तमनुष्ठितं शासनमग्रजाय ॥ ८३ ॥
बभूव रामः सहसा सबाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः ।
कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः ॥ ८४ ॥
निगृह्य शोकं स्वयमेव धीमान्वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः ।
स भ्रातृसाधारणभोगमृद्धं राज्यं रजोरिक्तमनाः शशास ॥ ८५ ॥
तामेकभार्यां परिवादभीरोः साध्वीमपि त्यक्तवतो नृपस्य ।
वक्षस्यसङ्घट्टसुखं वसन्ती रेजे सपत्नीरहितेव लक्ष्मीः ॥ ८६ ॥
सीतां हित्वा दशमुखरिपुर्नोपयेमे यदन्यां तस्या एव प्रतिकृतिसखो यत्क्रतूनाजहार ।
वृत्तान्तेन श्रवणविषयप्रापिणा तेन भर्तुः सा दुर्वारं कथमपि परित्यागदुःखं विषेहे ॥ ८७ ॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
सीतापरित्यागो नाम चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

को आश्रम की उन तपस्विनियों के हाथों सौंप दिया, जो सीताजी के आगमन से बहुत प्रसन्न थीं ॥ ८० ॥ पूजा हो जाने के बाद उन तपस्विनियों ने सीता को रहने के लिए एक पर्णकुटी दे दी, जिसमें हिंगोट के तेल का दीपक जल रहा था और मृगचर्म बिछा हुआ था ॥ ८१ ॥ सीताजी प्रतिदिन स्नान करतीं और बड़े संयम से वहाँ रहती थीं। वे विधिवत् अतिथियों की पूजा करतीं, वृक्षों की छाल के कपड़े पहनतीं और केवल पति का वंश चलाने की इच्छा से कन्द-मूल खाकर शरीर धारण किये हुए थीं ॥ ८२ ॥ वन में सीताजी ने रो-रोकर जो बातें कही थीं, अयोध्या पहुँचकर मेघनाद-विजयी लक्ष्मणजी ने राम से यह सोचकर वह सब बातें कह दीं कि देखें, राम अब भी पछताते हैं या नहीं ॥ ८३ ॥ यह सुनकर ओस बरसाने वाले पूस के चन्द्रमा जैसे राम की आँखों से आँसू टपकने लगे। क्योंकि उन्होंने सीताजी को अपने मन से नहीं, बल्कि कलंक के डर से घर-बाहर किया था ॥ ८४ ॥ तदनन्तर वर्णाश्रम धर्म के रक्षक बुद्धिमान् राम संसार के सुखों का मोह छोड़ और शोक को रोककर भाइयों के साथ अपने भरे-पूरे राज्य का पालन करने लगे ॥ ८५ ॥ कलङ्क के डर से राजा राम ने अपनी सच्चरित्र नारी को भी छोड़ दिया था। इसीलिए मानो बिना सौत की होकर राज्यलक्ष्मी उनके हृदय में सुख से रहने लगी ॥ ८६ ॥ राजा राम ने सीता को त्यागकर किसी अन्य स्त्री से विवाह नहीं किया, बल्कि अश्वमेध यज्ञों को करते समय उन्होंने सीताजी की स्वर्णमयी मूर्ति को ही अपने बाँयीं बगल बैठाया था। जब सीताजी ने अपने पति के इस व्यवहार का समाचार सुना, तब उनके मन में जो पति द्वारा त्यागे जाने का दुःख था, वह दुःसह होते हुए भी सह्य हो गया ॥ ८७ ॥

इस प्रकार रघुवंशमहाकाव्य में सीता का परित्याग नामक
चौदहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १४ ॥

पञ्चदशः सर्गः

कृतसीतापरित्यागः स रत्नाकरमेखलाम् । बुभुजे पृथिवीपालः पृथिवीमेव केवलाम्॥ १ ॥
लवणेन विलुप्तेज्यास्तामिस्रेण तमभ्ययुः । मुनयो यमुनाभाजः शरण्यं शरणार्थिनः॥ २ ॥
अवेक्ष्य रामं ते तस्मिन्न प्रजह्रुः स्वतेजसा। त्राणाभावे हि शापास्त्राः कुर्वन्ति तपसो व्ययम्॥३॥
प्रतिशुश्राव काकुत्स्थस्तेभ्यो विघ्नप्रतिक्रियाम् । धर्मसंरक्षणार्थैव प्रवृत्तिर्भुवि शार्ङ्गिणः॥ ४ ॥
ते रामाय वधोपायमाचख्युर्विबुधद्विषः । दुर्जयो लवणः शूली विशूलः प्रार्थ्यतामिति॥ ५ ॥
आदिदेशाथ शत्रुघ्नं तेषां क्षेमाय राघवः । करिष्यन्निव नामास्य यथार्थमरिनिग्रहात्॥ ६ ॥
यः कश्चन रघूणां हि परमेकः परन्तपः । अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः॥ ७ ॥
अग्रजेन प्रयुक्ताशीस्ततो दाशरथी रथी । ययौ वनस्थलीः पश्यन्पुष्पिताः सुरभीरभीः॥ ८ ॥
रामादेशादनुगता सेना तस्यार्थसिद्धये । पश्चादध्ययनार्थस्य धातोरधिरिवाभवत्॥ ९ ॥
आदिष्टवर्त्मा मुनिभिः स गच्छंस्तपतां वरः । विरराज रथप्रष्ठैर्वालखिल्यैरिवांशुमान्॥ १० ॥
तस्य मार्गवशादेका बभूव वसतिर्यतः । रथस्वनोत्कण्ठमृगे वाल्मीकीये तपोवने॥ ११ ॥
तमृषिः पूजयामास कुमारं क्लान्तवाहनम् । तपःप्रभावसिद्धाभिर्विशेषप्रतिपत्तिभिः॥ १२ ॥
तस्यामेवास्य यामिन्यामन्तर्वत्नी प्रजावती । सुतावसूत सम्पन्नौ कोशदण्डाविव क्षितिः॥ १३ ॥

सीताजी को छोड़ने के बाद राजा रामचन्द्रजी ने केवल समुद्रों से परिवेष्टित पृथ्वी का ही भोग किया, किसी दूसरी स्त्री के सम्पर्क की बात भी नहीं सोची॥ १॥ तभी एक दिन यमुनातटनिवासी कुछ तपस्वी शरणागतवत्सल राम के पास शरण माँगने आये। क्योंकि तामसी लवणासुर नामक राक्षस के उपद्रवों से उनकी यज्ञ आदि क्रियाएँ बन्द हो गयी थीं॥ २॥ यदि तपस्वी चाहते तो अपने तेज से ही लवणासुर को नष्ट कर डालते, किन्तु उन्होंने ऐसा करना ठीक नहीं समझा। क्योंकि जिनमें शाप देकर नष्ट करने की शक्ति होती है, वे तपस्या से अर्जित तेज को तभी ऐसे काम में लगाते हैं, जब कोई उनका दूसरा रक्षक सुलभ न हो॥ ३॥ राम ने उनके विघ्न दूर करने का वचन दे दिया। क्योंकि धर्म की रक्षा के लिए ही तो भगवान् संसार में अवतार लेते हैं॥४॥ उन्हीं मुनियों ने राम को उसके वध का उपाय वतलाते हुए कहा कि जब तक लवणासुर के हाथ में त्रिशूल रहेगा, तव तक उसको मारना कठिन है। अतः उस पर ऐसे समय प्रहार करना चाहिए कि जब उसके हाथ में त्रिशूल न रहे॥५॥ तव राम ने शत्रुघ्न को उन मुनियों की रक्षा का आदेश दिया। जैसे उनके हाथों में शत्रु का संहार कराकर वे उनका 'शत्रुघ्न' नाम सार्थक करना चाहते थे॥ ६॥ जैसे व्याकरणशास्त्र में कोई अपवादवाला सूत्र व्यापक नियमवाले सूत्र को भी उलट देता है, वैसे ही रघु के वंश का प्रत्येक व्यक्ति शत्रु को पछाड़ सकता था॥७॥ निर्भय शत्रुघ्न जब रथ पर चढ़कर चले, तव राम ने उन्हें आशीर्वाद दिया और वे सुगन्धित वनों की शोभा निहारते हुए चले॥८॥ शत्रुघ्न के साथ राम की आज्ञा से जो सेना गयी थी, वह वैसे ही व्यर्थ थी, जैसे अध्ययन शब्द में इङ् धातु में लगा हुआ अधि उपसर्ग व्यर्थ होता है। इसी प्रकार लवणासुर को अकेले शत्रुघ्न जीत सकते थे॥ ९॥ रथ पर चढे हुए सूर्य को जैसे वालखिल्य ऋषि मार्ग दिखलाते हुए चलते हैं, वैसे ही रथ पर वैठे शत्रुघ्न को भी वे मुनि लोग मार्ग दिखलाते हुए चल रहे थे॥ १०॥ मार्ग में जाते समय उन्होंने पहली रात वाल्मीकिजी के उस आश्रम पर बितायी, जहाँ के मृग रथ का शब्द सुनकर वड़े चाव से उनको देखने लगे थे॥ ११॥ शत्रुघ्नजी के घोडे थक गये थे। इसलिए रुकना आवश्यक हो गया था। अपनी तपस्या के प्रभाव से आतिथ्य की विशिष्ट सामग्री जुटाकर वाल्मीकिजी ने शत्रुघ्न का बड़ा सत्कार किया॥ १२॥ उसी रात में उनकी गर्भिणी भाभी सीता ने दो तेजस्वी पुत्रों को जन्म दिया, जैसे पृथ्वी अपने राजा के लिए धन तथा सेना उत्पन्न करती है॥ १३॥

सन्तानश्रवणाद्भ्रातुः सौमित्रिः सौमनस्यवान्। प्राञ्जलिर्मुनिमामन्त्र्य प्रातर्युक्तरथो ययौ॥ १४॥
स च प्राप मधूपघ्नं कुम्भीनस्याश्च कुक्षिजः। वनात्करमिवादाय सत्त्वराशिमुपस्थितः॥ १५॥
धूमधूम्रो वसागन्धी ज्वालाबभ्रुशिरोरुहः। क्रव्याद्गणपरीवारश्चिताग्निरिव जङ्गमः॥ १६॥
अपशूलं तमासाद्य लवणं लक्ष्मणानुजः। रुरोध सम्मुखीनो हि जयो रन्ध्रप्रहारिणाम्॥ १७॥
नातिपर्याप्तिमालक्ष्य मत्कुक्षेरद्य भोजनम्। दिष्ट्या त्वमसि मे धात्रा भीतेनेवोपपादितः॥ १८॥
इति सन्तर्ज्य शत्रुघ्नं राक्षसस्तज्जिघांसया। प्रांशुमुत्पाटयामास मुस्तास्तम्बमिव द्रुमम्॥ १९॥
सौमित्रेर्निशितैर्बाणैरन्तरा शकलीकृतः। गात्रं पुष्परजः प्राप न शाखी नैर्ऋतेरितः॥ २०॥
विनाशात्तस्य वृक्षस्य रक्षस्तस्मै महोपलम्। प्रजिघाय कृतान्तस्य मुष्टिं पृथगिव स्थितम्॥ २१॥
ऐन्द्रमस्त्रमुपादाय शत्रुघ्नेन स ताडितः। सिकतात्वादपि परां प्रपेदे परमाणुताम्॥ २२॥
तमुपाद्रवदुद्यम्य दक्षिणं दोर्निशाचरः। एकताल इवोत्पातपवनप्रेरितो गिरिः॥ २३॥
कार्ष्णेन पत्रिणा शत्रुः स भिन्नहृदयः पतन्। आनिनाय भुवः कम्पं जहाराश्रमवासिनाम्॥ २४॥
वयसां पङ्क्तयः पेतुर्हतस्योपरि विद्विषः। तत्प्रतिद्वन्द्विनो मूर्ध्नि दिव्याः कुसुमवृष्टयः॥ २५॥
स हत्वा लवणं वीरस्तदा मेने महौजसः। भ्रातुः सोदर्यमात्मानमिन्द्रजिद्वधशोभिनः॥ २६॥
तस्य संस्तूयमानस्य चरितार्थैस्तपस्विभिः। शुशुभे विक्रमोदग्रं व्रीडयाऽवनतं शिरः॥ २७॥

भाई के पुत्र होने की बात सुनकर शत्रुघ्न वहुत प्रसन्न हुए और अगले दिन तड़के ही उन्होंने हाथ जोड़कर मुनि से आज्ञा ली तथा रथ जोतकर आगे वढे॥ १४॥ जिस समय वे लवणपुर में पहुँचे, उसी समय रावण की वहन कुम्भीनसी का पुत्र लवणासुर अनेक पशुओं को मारकर वन से इस प्रकार लौटा था, जैसे वन ने उसे वह सब कर के रूप में दिया हो॥ १५॥ उसकी देह धुएँ जैसी काली थी, उसमें से चर्वी की गन्ध निकल रही थी, आग की लपटों के समान लाल और उसके वाल विखरे हुए थे। मांसाहारी कुत्ते, गिद्ध, मांसभक्षी पशु-पक्षी उसके चारों ओर चल रहे थे। इस तरह वह उस चिता की जंगम अग्नि जैसा लग रहा था॥ १६॥ शत्रुघ्न ने देखा कि यह अवसर ठीक है। क्योंकि इसके हाथ में त्रिशूल नहीं है। वस, तुरन्त उन्होंने लवणासुर को घेर लिया। क्योंकि शक्तिहीन शत्रु पर प्रहार करने वाला वीर अवश्य विजयी होता है॥ १७॥ शत्रुघ्न को देखकर लवणासुर बोला—आज मेरे भोजन की सामग्री कम थी, यह देख विधाता ने डरकर मेरा भोजन पूरा करने के लिए ही तुम्हें यहाँ भेजा है॥ १८॥ ऐसा कहकर उसने शत्रुघ्न को मारने के लिए अनायास एक वड़ा भारी पेड़ उखाड़ लिया, जैसे मोथा घास का मुट्ठा उखाड़ लिया हो॥ १९॥ ज्यों ही लवणासुर ने वह वृक्ष शत्रुघ्न पर फेंका, त्यों ही अपने वाणों से शत्रुघ्न ने उसे बीच में ही काटकर टुकडे-टुकड़े कर डाला। इस प्रकार वह वृक्ष तो उनके शरीर पर नहीं पहुँच सका, केवल उसके फूलों का पराग भर उन तक पहुँच पाया॥ २०॥ वृक्ष के टूक-टूक हो जाने पर उस राक्षस ने एक ऐसी भयंकर शिला शत्रुघ्न पर फेंकी, जैसे वह यमराज का घूँसा हो॥ २१॥ किन्तु शत्रुघ्न ने अपना ऐन्द्र अस्त्र चलाकर उसे धूल से भी महीन चूर्ण कर डाला॥ २२॥ तब वह अपना दाहिना हाथ उठाकर शत्रुघ्न की ओर लपका। उस समय वह ऐसा लगा, जैसे ववंडर द्वारा उड़ाया हुआ कोई ऐसा पहाड़ चला आ रहा हो, जिसकी चोटी पर ताड़ का एक पेड़ खड़ा हो॥ २३॥ किन्तु शत्रुघ्न-प्रेरित वैष्णव वाण लगते ही लवणासुर धराशायी हो गया। उसके गिरने से ऐसी धमक हुई कि धरती काँप उठी, किन्तु आश्रमवासियों का भय से काँपना दूर हो गया॥ २४॥ उस मरे हुए शत्रु के ऊपर गिद्ध आदि मांसभक्षी पक्षी टूट पड़े और उसके प्रतिद्वन्द्वी शत्रुघ्न पर फूलों की वर्षा होने लगी॥ २५॥ जव शत्रुघ्नजी लवणासुर को मार चुके, तव उन्हें यह सन्तोष हुआ कि अव मैं मेघनादघाती तेजस्वी लक्ष्मण का सगा भाई हूँ॥ २६॥ जव तपस्वियों का काम पूरा हो गया, तव वे वीर शत्रुघ्न

उपकूलं स कालिन्द्याः पुरीं पौरुषभूषणः । निर्ममे निर्ममोऽर्थेषु मथुरां मधुराकृतिः ॥ २८ ॥
या सौराज्यप्रकाशाभिर्बभौ पौरविभूतिभिः । स्वर्गाभिष्यन्दवमनं कृत्वेवोपनिवेशिता ॥ २९ ॥
तत्र सौधगतः पश्यन्यमुनां चक्रवाकिनीम् । हेमभक्तिमतीं भूमेः प्रवेणीमिव पिप्रिये ॥ ३० ॥
सखा दशरथस्यापि जनकस्य च मन्त्रकृत् । सञ्चस्कारोभयप्रीत्या मैथिलेयौ यथाविधि ॥ ३१ ॥
स तौ कुशलवोन्मृष्टगर्भक्लेदौ तदाख्यया । कविः कुशलवावेव चकार किल नामतः ॥ ३२ ॥
साङ्गं च वेदमध्याप्य किञ्चिदुत्क्रान्तशैशवौ । स्वकृतिं गापयामास कविप्रथमपद्धतिम् ॥ ३३ ॥
रामस्य मधुरं वृत्तं गायन्तौ मातुरग्रतः । तद्वियोगव्यथां किञ्चिच्छिथिलीचक्रतुः सुतौ ॥ ३४ ॥
इतरेऽपि रघोर्वंश्यास्त्रयस्त्रेताग्नितेजसः । तद्योगात्पतिवत्नीषु पत्नीष्वासन्द्विसूनवः ॥ ३५ ॥
शत्रुघातिनि शत्रुघ्नः सुबाहौ च बहुश्रुते । मथुराविदिशे सून्वोर्निदधे पूर्वजोत्सुकः ॥ ३६ ॥
भूयस्तपोव्ययो मा भूद्वाल्मीकेरिति सोऽत्यगात् । मैथिलीतनयोद्गीतनिःस्पन्दमृगमाश्रमम् ॥
वशी विवेश चायोध्यां रथ्यासंस्कारशोभिनीम् । लवणस्य वधात्पौरैरीक्षितोऽत्यन्तगौरवम् ॥
स ददर्श सभामध्ये सभासद्भिरुपस्थितम् । रामं सीतापरित्यागादसामान्यपतिं भुवः ॥ ३९ ॥
तमभ्यनन्दत्प्रणतं लवणान्तकमग्रजः । कालनेमिवधात्प्रीतस्तुराषाडिव शार्ङ्गिणम् ॥ ४० ॥

की प्रशंसा करने लगे। अपनी बडाई सुनकर शत्रुघ्न का सिर लाज से झुककर सुशोभित हुआ॥ २७॥ तदनन्तर पराक्रमी, संयमी और धन से निस्पृह शत्रुघ्न ने यमुना के तट पर मधुरा (मथुरा) नाम की नगरी बसायी॥ २८॥ अच्छा राजा पाकर उस नगरी के लोग ऐसे धनी और सुखी हो गये कि जैसे स्वर्ग में जनसंख्या बढ जाने से वहाँ के कुछ लोग यहाँ लाकर बसा दिये गये हों॥ २९॥ तब शत्रुघ्न ने मधुरा के एक ऊँचे भवन पर चढकर उस नीले जल वाली यमुना को देखा, जिसमें अनेक चकवे चहक रहे थे। उस समय यमुना उन्हें ऐसी सुन्दर दीखी कि जैसे वह पृथ्वी की सुनहरी फुन्दोंवाली चोटी हो॥ ३०॥ इधर दशरथ के मित्र और जनक के परामर्शदाता होने के कारण मन्त्रद्रष्टा वाल्मीकिजी ने सीताजी के दोनों पुत्रों के विधिवत् जातकर्म आदि संस्कार सम्पन्न किये॥ ३१॥ ज्येष्ठ पुत्र लव के उत्पन्न होते समय सीताजी की प्रसव-पीडा गाय के पूँछ के बाल से और छोटे पुत्र की उत्पत्ति के समय वह पीड़ा कुशा से दूर हुई थी। इसीलिए वाल्मीकिजी ने दोनों बच्चो का नाम इन्हीं दोनों वस्तुओं के नाम पर लव और कुश रखा॥ ३२॥ जब वे बच्चे कुछ बड़े हुए, तब ऋषि ने उन दोनों को वेद-वेदाङ्ग पढाकर अपनी रचना आदिकाव्य रामायण का गायन सिखाया॥ ३३॥ अब उन दोनों बालकों ने अपनी माता सीता के आगे राम का यश गा-गाकर उनकी वियोगजनित व्यथा कुछ कम कर दी॥ ३४॥ दाक्षिणात्य, गार्हपत्य और आहवनीय, इन तीनों अग्नियों के सदृश तेजस्वी भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न—इन तीनों भाइयों ने भी अपनी-अपनी पत्नियों से दो-दो पुत्र उत्पन्न किये॥ ३५॥ अधिक समय बाहर रहने के कारण शत्रुघ्न अपने बड़े भाइयों से मिलने को आतुर थे। अतएव उन्होंने शत्रुघाती बहुश्रुत और सुबाहु नामक अपने दो पुत्रों को मधुरा और विदिशा का का राज्य सौंप दिया॥ ३६॥ शत्रुघ्नजी लौटते समय वाल्मीकि के उस तपोवन में नहीं गये, जहाँ के मृग शान्तभाव मे लव और कुश के गीत सुना करते थे। क्योंकि शत्रुघ्न ने सोचा कि मेरे जाने पर वाल्मीकिजी अपनी तपस्या के बल से मेरे सत्कार की सामग्री जुटाने लगेंगे, जिससे व्यर्थ उनका तपोबल क्षीण होगा॥ ३७॥ इस प्रकार वहाँ से चलकर जितेन्द्रिय शत्रुघ्न उस अयोध्या में पहुँचे जहाँ की सडकें उनके स्वागत में बडे अच्छे ढंग से सजायी गयी थीं। वे लवणासुर को मारकर लौटे थे, इसलिए सभी पुरवासी उन्हें बडे आदर की दृष्टि से देख रहे थे॥ ३८॥ उन्होंने राजसभा में पहुँचकर देखा कि राम बैठे हैं और बहुल मे सभासद उनकी स्तुति कर रहे हैं। सीताजी को छोड़ देने पर अब वे एकमात्र पृथ्वी के ही पति रह गये थे॥ ३९॥ जैसे कालनेमि को मारनेवाले विष्णु का इन्द्र ने प्रसन्नतापूर्वक स्वागत किया था, वैसे ही लवणासुर को मारनेवाले शत्रुघ्नजी

स पृष्टः सर्वतो वार्तमाख्यद्राज्ञे न सन्ततिम्। प्रत्यर्पयिष्यतः काले कवेराद्यस्य शासनात्॥४१॥
अथ जानपदो विप्रः शिशुमप्राप्तयौवनम्। अवतार्याङ्कशय्यास्थं द्वारि चक्रन्द भूपतेः॥४२॥
शोचनीयाऽसि वसुधे! या त्वं दशरथाच्च्युता। रामहस्तमनुप्राप्य कष्टात्कष्टतरं गता॥४३॥
श्रुत्वा तस्य शुचो हेतुं गोप्ता जिह्राय राघवः। न ह्यकालभवो मृत्युरिक्ष्वाकुपदमस्पृशत्॥४४॥
स मुहूर्तं क्षमस्वेति द्विजमाश्वास्य दुःखितम्। यानं सस्मार कौबेरं वैवस्वतजिगीषया॥४५॥
आत्तशस्त्रस्तदध्यास्य प्रस्थितः स रघूद्वहः। उच्चचार पुरस्तस्य गूढरूपा सरस्वती॥४६॥
राजन्! प्रजासु ते कश्चिदपचारः प्रवर्तते। तमन्विष्य प्रशमयेर्भवितासि ततः कृती॥४७॥
इत्याप्तवचनाद्रामो विनेष्यन्वर्णविक्रियाम्। दिशः पपात पत्रेण वेगनिष्कम्पकेतुना॥४८॥
अथ धूमाभिताम्राक्षं वृक्षशाखावलम्बिनम्। ददर्श कश्चिदैक्ष्वाकस्तपस्यन्तमधोमुखम्॥४९॥
पृष्टनामान्वयो राज्ञा स किलाचष्ट धूमपः। आत्मानं शम्बुकं नाम शूद्रं सुरपदार्थिनम्॥५०॥
तपस्यनधिकारित्वात्प्रजानां तमघावहम्। शीर्षच्छेद्यं परिच्छिद्य नियन्ता शस्त्रमाददे॥५१॥
स तद्वक्त्रं हिमक्लिष्टकिञ्जल्कमिव पङ्कजम्। ज्योतिष्कणाहतश्मश्रु कण्ठनालादपातयत्॥५२॥
कृतदण्डः स्वयं राज्ञा लेभे शूद्रः सतां गतिम्। तपसा दुश्चरेणापि न स्वमार्गविलङ्घिना॥५३॥

जब उन्हें प्रणाम करने को झुके, तब राम ने भी उनका सहर्ष अभिनन्दन किया॥४०॥ राम के पूछने पर उन्होंने और सब हाल तो सुना दिया, परन्तु पुत्र होने की बात नहीं कही। क्योंकि वाल्मीकिजी ने कह दिया था कि समय आने पर हम दोनों पुत्र राम को सौंप देंगे, तुम मत कहना॥४१॥ कुछ समय बाद एक दिन उसी जनपद का निवासी एक ब्राह्मण अपना मृत बालक राजा की ड्योढी पर गोद से उतारकर यह कहता हुआ फूट-फूटकर रोने लगा॥४२॥ हे पृथ्वी! तुम दशरथ के हाथ से छूटकर तथा राम के हाथों में आकर बड़े संकट में पड़ गयी हो और तुम्हारी दशा बडी शोचनीय हो गयी है॥४३॥ प्रजापालक राम ने जब उसके शोक की बात सुनी, तब उन्हें बड़ी लज्जा आयी। क्योंकि इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के राज्य में किसी की भी अकाल मृत्यु नहीं होती थी॥४४॥ उस दुःखी विप्र को राम ने यह कहकर ढाढस बँधाया कि तुम थोड़ी देर ठहरो, मैं अभी तुम्हारा शोक दूर करता हूँ। यह कहकर यमराज को जीतने की इच्छा से उन्होंने कुबेर के पुष्पक विमान का स्मरण किया॥४५॥ इस प्रकार जब वे अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर पुष्पक विमान पर बैठकर चलने लगे, तब यह आकाशवाणी सुनायी दी—॥४६॥ 'हे राजन्! आपकी प्रजा में वर्णधर्म सम्बन्धी कुछ दोष आ गया है। उसे खोजकर दूर करो, तभी तुम्हारा उद्देश्य पूर्ण होगा'॥४७॥ इस विश्वसनीय वचन को सुनकर वेग से चलने के कारण निष्कम्प ध्वजा वाले पुष्पक विमान पर चढकर राम यह देखने के लिए सभी दिशाओं में चक्कर काटने लगे कि कहाँ वर्णधर्म में दोष आया है॥४८॥ घूमते-घूमते एक स्थान पर राम ने देखा कि एक पेड़ की शाखा पर उलटा लटका हुआ एक मनुष्य नीचे जलती हुई आग का धुआँ पी-पीकर तप कर रहा है और धुआँ लगने से उसकी आँखें लाल हो गयी हैं॥४९॥ उससे राम ने पूछा—'आपका नाम क्या है और आप किस वंश के हैं?' वह तपस्वी बोला—'मै देव पद पाने के लिए तप कर रहा हूँ। मेरा नाम शम्बुक है और मैं शूद्र हूँ'॥५०॥ शूद्रों को तप करने का अधिकार नहीं है। यही अनधिकृत कार्य करने से प्रजा में पाप फैल रहा था। अतः राम ने निश्चय कर लिया कि इसका सिर काटना ही होगा और शस्त्र उठा लिया॥५१॥ फिर उसका सिर वैसे ही गले से काटकर अलग कर दिया, जैसे डंडी से कमल उतार दिया गया हो। आग की चिनगारियों से झुलसी दाढी वाला उसका सिर ऐसा लग रहा था कि जैसे पाले से जली हुई केसरवाला कमलगट्टा हो॥५२॥ इस प्रकार साक्षात् राजा राम से दण्ड पाकर उस शूद्र को वह सद्गति मिली, जो वह अपने उस कठोर तप से कभी भी न पाता, जिसे वह वर्णाश्रम धर्म का उल्लङ्घन करके प्राप्त करना चाहता था॥५३॥ जैसे चन्द्रमा शरद्

रघुनाथोऽप्यगस्त्येन मार्गसन्दर्शितात्मना। महौजसा संयुयुजे शरत्काल इवेन्दुना॥५४॥
कुम्भयोनिरलङ्कारं तस्मै दिव्यपरिग्रहम्। ददौ दत्तं समुद्रेण पीतेनेवात्मनिष्क्रयम्॥५५॥
तं दधन्मैथिलीकण्ठनिर्व्यापारेण बाहुना। पश्चान्निववृते रामः प्राक्परासुर्द्विजात्मजः॥५६॥
तस्य पूर्वोदितां निन्दां द्विजः पुत्रसमागतः। स्तुत्या निवर्तयामास त्रातुर्वैवस्वतादपि॥५७॥
तमध्वराय मुक्ताश्वं रक्षःकपिनरेश्वराः। मेघाः सस्यमिवाम्भोभिरभ्यवर्षन्नुपायनैः॥५८॥
दिग्भ्यो निमन्त्रिताश्चैनमभिजग्मुर्महर्षयः। न भौमान्येव धिष्ण्यानि हित्वा ज्योतिर्मयान्यपि॥
उपशल्यनिविष्टैस्तैश्चतुर्द्वारमुखी बभौ। अयोध्या सृष्टलोकेव सद्यः पैतामही तनुः॥६०॥
श्लाघ्यस्त्यागोऽपि वैदेह्याः पत्युः प्राग्वंशवासिनः। अनन्यजानेः सैवासीद्यस्माज्जाया हिरण्मयी॥
विधेरधिकसम्भारस्ततः प्रववृते मखः। आसन्यत्र क्रियाविघ्ना राक्षसा एव रक्षिणः॥६२॥
अथ प्राचेतसोपज्ञं रामायणमितस्ततः। मैथिलेयौ कुशलवौ जगतुर्गुरुचोदितौ॥६३॥
वृत्तं रामस्य वाल्मीकेः कृतिस्तौ किन्नरस्वनौ। किं तद्येन मनो हर्तुमलं स्यातां न शृण्वताम्॥
रूपे गीते च माधुर्यं तयोस्तज्ज्ञैर्निवेदितम्। ददर्श सानुजो रामः शुश्राव च कुतूहली॥६५॥
तद्गीतश्रवणैकाग्रा संसदश्रुमुखी बभौ। हिमनिष्यन्दिनी प्रातर्निर्वातेव वनस्थली॥६६॥
वयोवेषविसंवादि रामस्य च तयोस्तदा। जनता प्रेक्ष्य सादृश्यं नाक्षिकम्पं व्यतिष्ठत॥६७॥

ऋतु से मिलता है, वैसे ही राम को मार्ग में सहसा अगस्त्य ऋषि मिल गये॥५४॥ ऋषि ने राम को वह सुन्दर आभूषण दिया, जो उन्हें समुद्र ने उस समय दण्ड के रूप में दिया था, जब उन्होंने समुद्र को पिया था॥५५॥ राम ने वह आभूषण लेकर अपनी उस भुजा में बाँध लिया, जो सीताजी के वन चले जाने पर उनके गले में पडने से वंचित हो गया था। जब राम अयोध्या लौटे, तब उन्हें ज्ञात हुआ कि उनके आने से पहले ही ब्राह्मणपुत्र जी उठा है॥५६॥ पुत्र के जी जाने पर ब्राह्मण ने राम की बडी स्तुति की और पहले जो निन्दा की थी, उसे उसने अपनी इन स्तुतियों से धो डाला। क्योंकि राम ने उसके पुत्र को यमराज के हाथ से छुडाया था॥५७॥ कुछ समय बाद राम ने अश्वमेध यज्ञ के लिए घोड़ा छोड़ा। तब जैसे बादल धान के खेत पर जल बरसाते हैं, वैसे ही सुग्रीव, विभीषण तथा अन्य राजाओं ने आकर राम के आगे उपहार के रूप में धन की वर्षा की॥५८॥ उस यज्ञ में विभिन्न देशों के ऋषियों को आमन्त्रित किया गया था। वे ऋषि पृथ्वी से ही नहीं, बल्कि सप्तर्षि-मण्डल आदि दिव्य स्थानों से भी राम के पास आये॥५९॥ वे लोग वहाँ आकर नगर के आस-पासवाले देहातों में टिक गये थे। जब वे अयोध्या के चारों द्वारों से नगर में प्रविष्ट हुए, तब चार द्वारों वाली वह अयोध्या ऐसी दीखी कि जैसे ब्रह्माजी की चतुर्मुखी देह हो॥६०॥ सीता के त्याग से राम की इसलिए भी प्रशंसा हुई कि उन्होंने किसी दूसरी स्त्री से अपना विवाह नहीं किया था। अतएव यज्ञ में सोने की सीता बनवाकर राम ने अपनी पत्नी के स्थान पर उसे बैठा दिया था॥६१॥ इस प्रकार वह प्रसिद्ध यज्ञ प्रारम्भ हुआ, जिसमें आवश्यकता से अधिक सामग्री इकट्ठी हुई थी। विशेषता यह थी कि यज्ञकार्य में विघ्न डालने वाले राक्षस ही उसकी रखवाली कर रहे थे॥६२॥ उसी समय वाल्मीकिजी की आज्ञा से सीताजी के पुत्र लव और कुश वाल्मीकिरचित रामायण गाते हुए वहाँ घूमने लगे॥६३॥ एक तो राम का चरित्र, उस पर वाल्मीकिजी उसके रचयिता और फिर किन्नरों के समान मधुर कण्ठ वाले लव और कुश उसके गायक। तब बतलाइये कि उसमें क्या कमी रह गयी थी, जिससे लोग उसे सुनकर मोहित न हो जाते॥६४॥ यह बात राम के कानों तक पहुँची। उन्होंने उन दोनों बालकों को बुलवाया और अपने भाइयों के साथ उन बालकों के रूप और गीत की मधुरता को आश्चर्य के साथ देखा और सुना॥६५॥ सारी सभा एकाग्र मन से उनका गीत सुनती और आँखों से आँसू बहाती जा रही थी। उस समय वह सभा प्रातःकाल की उस वनस्थली जैसी दीख रही थी, जिसमें वृक्षों से ओस की बूँदें टपक रही हों॥६६॥ लोगों ने

उभयोर्न तथा लोकः प्रावीण्येन विसिष्मिये । नृपतेः प्रीतिदानेषु वीतस्पृहतया यथा ॥ ६८ ॥
गेये को नु विनेता वां कस्य चेयं कृतिः कवेः । इति राज्ञा स्वयं पृष्टौ तौ वाल्मीकिमशंसताम् ॥ ६९ ॥
अथ सावरजो रामः प्राचेतसमुपेयिवान् । ऊरीकृत्यात्मनो देहं राज्यमस्मै न्यवेदयत् ॥ ७० ॥
स तावाख्याय रामाय मैथिलेयौ तदात्मजौ । कविः कारुणिको वव्रे सीतायाः सम्परिग्रहम् ॥
तात! शुद्धा समक्षं नः स्नुषा ते जातवेदसि । दौरात्म्याद्रक्षसस्तां तु नात्रत्याः श्रद्दधुः प्रजाः ॥
ताः स्वचारित्रमुद्दिश्य प्रत्याययतु मैथिली । ततः पुत्रवतीमेनां प्रतिपत्स्ये त्वदाज्ञया ॥ ७३ ॥
इति प्रतिश्रुते राज्ञा जानकीमाश्रमान्मुनिः । शिष्यैरानाययामास स्वसिद्धिं नियमैरिव ॥ ७४ ॥
अन्येद्युरथ काकुत्स्थः सन्निपात्य पुरौकसः । कविमाह्वाययामास प्रस्तुतप्रतिपत्तये ॥ ७५ ॥
स्वरसंस्कारवत्याऽसौ पुत्राभ्यामथ सीतया । ऋचेवोदर्चिषं सूर्यं रामं मुनिरुपस्थितः ॥ ७६ ॥
काषायपरिवीतेन स्वपदार्पितचक्षुषा । अन्वमीयत शुद्धेति शान्तेन वपुषैव सा ॥ ७७ ॥
जनास्तदालोकपथात्प्रतिसंहृतचक्षुषः । तस्थुस्तेऽवाङ्मुखाः सर्वे फलिता इव शालयः ॥ ७८ ॥
तां दृष्टिविषये भर्तुर्मुनिरास्थितविष्टरः । कुरु निःसंशयं वत्से! स्ववृत्ते लोकमित्यशात् ॥ ७९ ॥
अथ वाल्मीकिशिष्येण पुण्यमावर्जितं पयः । आचम्योदीरयामास सीता सत्यां सरस्वतीम् ॥ ८० ॥
वाङ्मनःकर्मभिः पत्यौ व्यभिचारो यथा न मे । तथा विश्वम्भरे देवि! मामन्तर्धातुमर्हसि ॥ ८१ ॥

राम और उन दोनों बालकों का चेहरा एकदम मिलता-जुलता देखा। जिसमें इतना ही अन्तर था कि वे दोनों अभी बच्चे थे तथा वनवासियों के जैसे वस्त्र पहने थे और राम प्रौढ थे तथा राजसी वस्त्र पहने हुए थे ॥ ६७ ॥ जनता को उनके गायन का कौशल देखकर उतना आश्चर्य नहीं हुआ, जितना इस बात पर विस्मय हुआ कि राजा ने उन्हें प्रेम से जो दान दिया था, वह भी उन्होंनें लौटा दिया ॥ ६८ ॥ राम ने जब उनसे पूछा कि तुमने संगीत किससे सीखा है और यह किस कवि की रचना है, तब उन्होंने वाल्मीकिजी का नाम बता दिया ॥ ६९ ॥ तब अपने भाइयों को साथ लेकर रामचन्द्र वाल्मीकिजी के पास गये। उन्होंने वहाँ जाकर अपने शरीर के सिवाय शेष सम्पूर्ण राज्य वाल्मीकि को भेंट कर दिया ॥ ७० ॥ तब दयालु ऋषि ने राम से कहा—'ये दोनों गायक कुमार सीताजी के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं और तुम्हारे पुत्र हैं। अब तुम सीताजी को स्वीकार कर लो' ॥ ७१ ॥ राम बोले—आपकी पतोहू सीता हमारे सामने ही अग्नि में शुद्ध हो चुकी हैं, परन्तु रावण की दुष्टता का विचार करके यहाँ की प्रजा को विश्वास नहीं होता ॥ ७२ ॥ अतः यदि सीता अपनी शुद्धता का प्रमाण देकर प्रजा को विश्वास दिला दें, तब मैं आपकी आज्ञा से पुत्रों के साथ उन्हें ग्रहण कर लूँगा ॥ ७३ ॥ राम की यह प्रतिज्ञा सुनकर वाल्मीकि ने शिष्यों को भेजकर सीताजी को आश्रम से इस प्रकार बुलाया, जैसे वे नियमों के द्वारा अपनी सिद्धि को बुलवा रहे हों ॥ ७४ ॥ दूसरे दिन राम ने इस काम के लिए अयोध्या की सम्पूर्ण प्रजा को एकत्र करके वाल्मीकिजी को बुलवाया ॥ ७५ ॥ तदनुसार वाल्मीकिजी लव, कुश और सीताजी को साथ लेकर राम के समक्ष आ उपस्थित हुए। पुत्रों के साथ राम के पास जाती हुई सीताजी ऐसी लगती थीं, जैसे स्वर और संस्कारों के साथ गायत्री देवी सूर्य के पास जा रही हों ॥ ७६ ॥ गेरुए वस्त्र पहने और आँखें नीची किये हुए सीताजी अपने शान्त शरीर से ही पवित्र दिखलाई देती थीं ॥ ७७ ॥ उन्हें देखते ही सब लोगों ने उसी प्रकार आँखें नीची कर ली, जैसे फले हुए धान के पौधे झुक जाते हैं। क्योंकि उन्हें लज्जा लगी कि हम लोगों ने व्यर्थ इस साध्वी पर कलंक लगाया ॥ ७८ ॥ तब राम के समक्ष आसन पर आसीन वाल्मीकि ने सीताजी से कहा—'बेटी! जनता के मन में तुम्हारे चरित्र पर सन्देह है, उसे तुम मिटा दो' ॥ ७९ ॥ तभी वाल्मीकिजी के एक शिष्य ने पवित्र जल लाकर सीताजी को दिया, उससे आचमन करके सीताजी ने यह सत्य वचन कहा—॥ ८० ॥ 'यदि मैंने मन, वचन और कर्म से अपना पातिव्रत भंग न किया हो तो हे धरती माता!

एवमुक्ते तया साध्व्या रन्ध्रात्सद्योभवाद्भुवः । शातह्रदमिव ज्योतिः प्रभामण्डलमुद्ययौ ॥ ८२ ॥
तत्र नागफणोत्क्षिप्तसिंहासननिषेदुषी । समुद्ररशना साक्षात्प्रादुरासीद्वसुन्धरा ॥ ८३ ॥
सा सीतामङ्कमारोप्य भर्तृप्रणिहितेक्षणाम् । मा मेति व्यवहरत्येव तस्मिन् पातालमभ्यगात् ॥
धरायां तस्य संरम्भं सीताप्रत्यर्पणैषिणः । गुरुर्विधिबलापेक्षी शमयामास धन्विनः ॥ ८५ ॥
ऋषीन्विसृज्य यज्ञान्ते सुहृदश्च पुरस्कृतान् । रामः सीतागतं स्नेहं निदधे तदपत्ययोः ॥ ८६ ॥
युधाजितश्च सन्देशात्स देशं सिन्धुनामकम् । ददौ दत्तप्रभावाय भरताय भृतप्रजः ॥ ८७ ॥
भरतस्तत्र गन्धर्वान्युधि निर्जित्य केवलम् । आतोद्यं ग्राहयामास समत्याजयदायुधम् ॥ ८८ ॥
स तक्षपुष्कलौ पुत्रौ राजधान्योस्तदाख्ययोः । अभिषिच्याभिषेकार्हौ रामान्तिकमगात्पुनः ॥
अङ्गदं चन्द्रकेतुं च लक्ष्मणोऽप्यात्मसम्भवौ । शासनाद्रघुनाथस्य चक्रे कारापथेश्वरौ ॥ ९० ॥
इत्यारोपितपुत्रास्ते जननीनां जनेश्वराः । भर्तृलोकप्रपन्नानां निवापान्विदधुः क्रमात् ॥ ९१ ॥
उपेत्य मुनिवेषोऽथ कालः प्रोवाच राघवम् । रहःसंवादिनौ पश्येदावां यस्तं त्यजेरिति ॥ ९२ ॥
तथेति प्रतिपन्नाय विवृतात्मा नृपाय सः । आचख्यौ दिवमध्यास्व शासनात्परमेष्ठिनः ॥ ९३ ॥
विद्वानपि तयोर्द्वाःस्थः समयं लक्ष्मणोऽभिनत् । भीतो दुर्वाससः शापाद्रामसन्दर्शनार्थिनः ॥
स गत्वा सरयूतीरं देहत्यागेन योगवित् । चकारावितथां भ्रातुः प्रतिज्ञां पूर्वजन्मनः ॥ ९५ ॥

तुम मुझे अपनी गोद में छिपा लो' ॥ ८१ ॥ पतिव्रता सीता के ऐसा कहते ही पृथ्वी फट गयी और तुरन्त उसमें से बिजली के समान चमकीला एक तेजोमण्डल निकला ॥ ८२ ॥ उसमें से नाग के फण पर रखे सिंहासन पर बैठी और समुद्र की करधनी पहने साक्षात् धरती माता प्रकट हो गयीं ॥ ८३ ॥ उन्होंने उन सीताजी को अपनी गोद में ले लिया, जो राम पर आँखें लगाये हुए थीं। राम कहते ही रह गये—'हैं, यह क्या करती हो, यह क्या करती हो ?' परन्तु वे सबके देखते-देखते पाताल में समा गयीं ॥ ८४ ॥ इससे राम पृथ्वी पर क्रुद्ध हो गये और पृथ्वी से सीता को लौटा लेने के लिए उन्होंने धनुष उठाया। परन्तु वसिष्ठजी तो सब कुछ जानते थे, उन्होंने ही राम को समझाया और उनका कोप शान्त किया ॥ ८५ ॥ वह यज्ञ समाप्त हो जाने पर राम ने ऋषियों तथा अभ्यागतों को पुरस्कृत करके विदा किया। तदनन्तर वे सीता पर रहने वाला प्रेम उनके पुत्रों पर रख कर राजकार्य करने लगे ॥ ८६ ॥ भरत के मामा युधाजित् के कहने पर प्रजापालक राम ने सिन्धु देश का राज्य प्रभावशाली भरत को दे दिया ॥ ८७ ॥ वहाँ भरत ने गन्धर्वों को युद्ध में जीतकर उनके हाथों में वीणा दे दी और शस्त्र छुड़वा दिया ॥ ८८ ॥ बाद में उन्होंने तक्ष और पुष्कल नामक अपने योग्य पुत्रों को तक्ष और पुष्कल की राजधानियों का राजा बना दिया और स्वयं राम के पास अयोध्या लौट आये ॥ ८९ ॥ राम की आज्ञा से लक्ष्मण ने अङ्गद और चन्द्रकेतु नाम के अपने दोनों पुत्रों को कारापथ का राजा बना दिया ॥ ९० ॥ इस प्रकार पुत्रों को राज्य देकर उन चारों भाइयों ने क्रमशः अपनी स्वर्गीया माताओं के श्राद्ध आदि संस्कार सम्पन्न किये ॥ ९१ ॥ कुछ समय बाद एक दिन राम के पास मुनि के वेश में काल आया और कहने लगा—'हम आपसे एकान्त में कुछ बातें करेंगे। हम लोगों की वार्ता में जो आये, उसे देश-निकाला दे दें ॥ ९२ ॥ राम ने कहा—'अच्छी बात है'। तब उसने अपना असली रूप दिखलाया और कहा कि 'ब्रह्माजी की आज्ञा है कि अब आप चलकर स्वर्ग में रहें' ॥ ९३ ॥ उन दोनों में बात हो ही रही थी कि इसी बीच दुर्वासा मुनि आ गये। उन्होंने द्वार पर बैठे हुए लक्ष्मण से कहा—'अभी जाकर राम से कहो कि मैं आया हूँ'। लक्ष्मण तो जानते ही थे कि जो इस समय राम के पास जायेगा, उसका देश-निकाला होगा। फिर भी मुनि के शाप से डरकर उन दोनों की बात-चीत के बीच में ही पहुँचकर उन्होंने वह शर्त तोड़ दी ॥ ९४ ॥ वहाँ से चलकर योगमार्ग के विज्ञ लक्ष्मण सरयू के तट पर गये और योगबल से शरीर

तस्मिन्नात्मचतुर्भागे प्राङ्नाकमधितस्थुषि । राघवः शिथिलं तस्थौ भुवि धर्मस्त्रिपादिव ॥ ९६ ॥
स निवेश्य कुशावत्यां रिपुनागाङ्कुशं कुशम् । शरावत्यां सतां सूक्तैर्जनिताश्रुलवं लवम् ॥ ९७ ॥
उदक्प्रतस्थे स्थिरधीः सानुजोऽग्निपुरःसरः । अन्वितः पतिवात्सल्याद्गृहवर्जमयोध्यया ॥ ९८ ॥
जगृहुस्तस्य चित्तज्ञाः पदवीं हरिराक्षसाः । कदम्बमुकुलस्थूलैरभिवृष्टां प्रजाश्रुभिः ॥ ९९ ॥
उपस्थितविमानेन तेन भक्तानुकम्पिना । चक्रे त्रिदिवनिःश्रेणिः सरयूरनुयायिनाम् ॥ १०० ॥
यद्गोप्रतरकल्पोऽभूत्सम्मर्दस्तत्र मज्जताम् । अतस्तदाख्यया तीर्थं पावनं भुवि पप्रथे ॥ १०१ ॥
स विभुर्विबुधांशेषु प्रतिपन्नात्ममूर्तिषु । त्रिदशीभूतपौराणां स्वर्गान्तरमकल्पयत् ॥ १०२ ॥

निर्वर्त्यैवं दशमुखशिरश्छेदकार्यं सुराणां
विष्वक्सेनः स्वतनुमविशत्सर्वलोकप्रतिष्ठाम् ।
लङ्कानाथं पवनतनयं चोभयं स्थापयित्वा
कीर्तिस्तम्भद्वयमिव गिरौ दक्षिणे चोत्तरे च ॥ १०३ ॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये राम-
स्वर्गारोहणो नाम पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

छोड़कर उन्होंने बडे भाई के प्रतिज्ञा की रक्षा कर ली॥ ९५॥ इस प्रकार अपने चौथाई अंश लक्ष्मण के स्वर्गवासी हो जाने पर राम वैसे ही ढीले पड़ गये, जैसे त्रेतायुग में पृथ्वी पर तीन पैर वाला धर्म ढीला पड़ जाता है॥ ९६॥ तदनन्तर स्थिरबुद्धि राम ने शत्रुरूपी हाथियों के लिए अंकुश सरीखे भयदायक कुश को कुशावती का राज्य दे दिया और अपने मधुर वचनों द्वारा सज्जनों की आँखों में आँसू ला देने वाले लव को उन्होंने शरावती का राजा बनाया॥ ९७॥ तदनन्तर अग्निहोत्र की अग्नि आगे करके अपने भाइयों के साथ राम उत्तर की ओर चल पड़े। अयोध्यावासियों ने जब यह सुना तो प्रेमवश वे सब भी घरों को छोड़कर उनके साथ हो लिये॥ ९८॥ राम के मन की बात जानने वाले वानर और राक्षस भी उनके पीछे-पीछे चल दिये। जिस मार्ग से वे चल रहे थे, वह मार्ग राम के पीछे-पीछे जाने वाली जनता के स्थूल अश्रुबिन्दुओं से भींग गया॥ ९९॥ इस प्रकार भक्तवत्सल राम विमान पर चढकर स्वर्ग चले गये। सरयू को उन्होंने अपने पीछे आने वालों के लिए स्वर्ग की सीढी बना दिया। अर्थात् जो सरयू में स्नान करता था, वह तुरन्त स्वर्ग चला जाता था॥ १००॥ अतएव वहाँ पर स्नानार्थियों की वैसी ही भीड़ हुई, जैसे गायों को नदी पार कराते समय होती है। इसीलिए वह पवित्र स्थान संसार में 'गोप्रतरतीर्थ' के नाम से प्रसिद्ध हो गया॥ १०१॥ तदनन्तर देवताओं के अंशधारी रीछ-वानरों ने भी अपना देवरूप धारण कर लिया। इसलिए स्वर्ग में इतने लोग पहुँच गये कि सामर्थ्यशाली राम को देवपद-प्राप्त अयोध्यावासियों को रहने के लिए एक दूसरा ही स्वर्ग बनाना पड़ा॥ १०२॥ इस प्रकार विष्णु भगवान् ने रावण का वध करके देवताओं का कार्य पूरा किया। फिर उत्तरगिरि (हिमालय) पर हनुमान्जी को तथा दक्षिणगिरि (त्रिकूट पर्वत) पर विभीषणजी को अपने दो कीर्तिस्तम्भों के रूप में स्थापित करके वे अपने विराट् शरीर में लीन हो गये॥ १०३॥

इस प्रकार रघुवंशमहाकाव्य में राम-स्वर्गारोहण नामक
पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त॥ १५॥

षोडश: सर्ग:

अथेतरे सप्त रघुप्रवीरा ज्येष्ठं पुरोजन्मतया गुणैश्च।
चक्रुः कुशं रत्नविशेषभाजं सौभ्रात्रमेषां हि कुलानुसारि॥ १॥
ते सेतुवार्तागजबन्धमुख्यैरभ्युच्छ्रिताः कर्मभिरप्यवन्ध्यैः।
अन्योन्यदेशप्रविभागसीमां वेलां समुद्रा इव न व्यतीयुः॥ २॥
चतुर्भुजांशप्रभवः स तेषां दानप्रवृत्तेरनुपारतानाम्।
सुरद्विपानामिव सामयोनिर्भिन्नोऽष्टधा विप्रससार वंशः॥ ३॥
अथार्धरात्रे स्तिमितप्रदीपे शय्यागृहे सुप्तजने प्रबुद्धः।
कुशः प्रवासस्थकलत्रवेषामदृष्टपूर्वा वनितामपश्यत्॥ ४॥
सा साधुसाधारणपार्थिवर्द्धेः स्थित्वा पुरस्तात्पुरुहूतभासः।
जेतुः परेषां जयशब्दपूर्वं तस्याञ्जलिं बन्धुमतो बबन्ध॥ ५॥
अथानपोढार्गलमप्यगारं छायामिवादर्शतलं प्रविष्टाम्।
सविस्मयो दाशरथेस्तनूजः प्रोवाच पूर्वार्धविसृष्टतल्पः॥ ६॥
लब्धान्तरा सावरणेऽपि गेहे योगप्रभावो न च लक्ष्यते ते।
बिभर्षि चाकारमनिर्वृतानां मृणालिनी हैममिवोपरागम्॥ ७॥
का त्वं शुभे! कस्य परिग्रहो वा किं वा मदभ्यागमकारणं ते।
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्तिः॥ ८॥

तदनन्तर लव आदि सात रघुवंशी वीरों ने अपने सबसे बड़े भाई गुणवान् कुश को अग्रणी बनाया। क्योंकि भ्रातृप्रेम उनके कुल का धर्म था॥ १॥ वे सभी कर्मठ भाई पुल बाँधने, कृषि की रक्षा करने और हाथियों को पकड़ने में कुशल थे। तथापि जैसे समुद्र अपने तट का उल्लंघन नहीं करता, वैसे ही उनमें से किसी ने भी अपने राज्य की सीमा लाँघकर दूसरे भाई के राज्य की सीमा में प्रवेश करने का प्रयत्न नहीं किया॥ २॥ जैसे सामवेद के कुल में उत्पन्न मतवाले दिग्गजों का वंश आठ भागों में बँट गया था, वैसे ही विष्णु के अंश से उत्पन्न राम का त्यागी कुल भी आठ भागों में फैल गया॥ ३॥ एक दिन आधी रात के समय जब शयनकक्ष का दीपक टिमटिमा रहा था और सब लोग सोये हुए थे, तब कुश को एक ऐसी स्त्री दिखलायी दी, जिसे उन्होंने पहले कभी नहीं देखा था। उसके वेश को देखकर ऐसा लगता था कि जैसे उसका पति परदेश चला गया है॥ ४॥ अपनी सम्पत्ति से सज्जनों का उपकार करने वाले, इन्द्र के समान तेजस्वी और शत्रुओं को जीतने वाले कुश के आगे वह स्त्री उनकी जय-जयकार करती हुई हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी॥ ५॥ दर्पण में जैसे मुँह का प्रतिबिम्ब प्रविष्ट हो जाता है, वैसे ही वह स्त्री द्वार बन्द रहने पर भी घर के भीतर आ पहुँची थी। उसे देखकर कुश को बहुत विस्मय हुआ। वे शय्या पर आधे शरीर से उठकर उससे बोले—॥ ६॥ तुम हमारे इस बन्द भवन में सहसा घुस आयी हो, परन्तु तुम्हारे मुख से यह नहीं प्रकट होता कि तुम कोई योगिनी हो। क्योंकि तुम पाले से मारी हुई कमलिनी जैसी उदास दीख रही हो॥ ७॥ हे शुभे! तुम कौन हो? तुम्हारे पति का क्या नाम है और मेरे पास किस काम से आयी हो? लेकिन तुम यह समझकर कुछ मत कहना कि रघुवंशियों का चित्त परायी स्त्री की ओर आकृष्ट नहीं होता॥ ८॥ स्त्री बोली—भगवान् राम जब

तमब्रवीत्सा गुरुणाऽनवद्या या नीतपौरा स्वपदोन्मुखेन।
तस्याः पुरः सम्प्रति वीतनाथां जानीहि राजन्नधिदेवतां माम्॥ ९ ॥
वस्वौकसाराममभिभूय साऽहं सौराज्यबद्धोत्सवया विभूत्या।
समग्रशक्तौ त्वयि सूर्यवंश्ये सति प्रपन्ना करुणामवस्थाम्॥ १० ॥
विशीर्णतल्पाट्टशतो निवेशः पर्यस्तशालः प्रभुणा विना मे।
विडम्बयत्यस्तनिमग्नसूर्य दिनान्तमुग्रानिलभिन्नमेघम्॥ ११ ॥
निशासु भास्वत्कलनूपुराणां यः सञ्चरोऽभूदभिसारिकाणाम्।
नन्दन्मुखोल्काविचितामिषाभिः स वाह्यते राजपथः शिवाभिः॥ १२ ॥
आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत्।
वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम्॥ १३ ॥
वृक्षेशया यष्टिनिवासभङ्गान्मृदङ्गशब्दापगमादलास्याः।
प्राप्ता दवोल्काहतशेषवर्हाः क्रीडामयूरा वनवर्हिणत्वम्॥ १४ ॥
सोपानमार्गेषु च येषु रामा निक्षिप्तवत्यश्चरणान्सरागान्।
सद्योहतन्यङ्कुभिरस्रदिग्धं व्याघ्रैः पदं तेषु निधीयते मे॥ १५ ॥
चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभङ्गाः।
नखाङ्कुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति॥ १६ ॥
स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम्।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सङ्गान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः॥ १७ ॥

वैकुण्ठ जाने लगे, तब इस निर्दोष अयोध्यापुरी के निवासियों को भी साथ लेते गये। हे राजन्! मैं उसी अनाथिनी अयोध्यापुरी की अधिष्ठात्री देवी हूँ॥ ९ ॥ पहले सुशासन के कारण मैं इतनी ऐश्वर्यशालिनी हो गयी थी कि मेरे आगे कुबेर की अलकापुरी भी फीकी लगती थी। अब तुम्हारे जैसे प्रतापी राजा के रहते हुए भी मेरी बड़ी हीन दशा हो गयी है॥ १० ॥ स्वामी के अभाव में सैकड़ों तल्लों वाली अट्टालिकाओं के टूट जाने से मेरी निवासभूमि अयोध्या ऐसी उदास लगती है, जैसे सूर्यास्तकालीन वह सन्ध्या हो कि जिसमें वायु के झोंके से छितराये हुए वादल कहीं-कहीं दिखलायी देते हों॥ ११ ॥ रात के समय पहले जिन सड़कों पर चमकीले बिछुओंवाली अभिसारिकाएँ चलती थीं, उन पर आजकल मांस खोजनेवाली वे सियारिनें घूमती हैं, जिनके मुख से चिल्लाते समय आग की लपटें निकलती हैं॥ १२ ॥ पहले नगर की जिन बावलियों का जल जलक्रीडानिरत सुन्दरियों के हाथ के थपेडों से मृदङ्ग के समान गम्भीर ध्वनि करता था, वही आजकल जङ्गली भैंसों की सींगों की चोट खा-खाकर चिल्लाता रहता है॥ १३ ॥ अड्डों के टूट जाने से यहाँ के मोर अब वृक्षों पर बैठते हैं और मृदङ्ग न बजने के कारण उन्होंने नाचना भी छोड़ दिया है। वे अब उन जंगली मोरों जैसे लगते हैं, जिनकी पूछें वन की आग से झुलस गयी हों॥ १४ ॥ जिन सीढियों पर पहले सुन्दरियाँ अपने महावर लगे लाल-लाल पैर रखती हुई चलती थीं, उन्हीं पर मृगघाती बाघ अपने रक्तलिप्त लाल पैर रखते हुए चलते हैं॥ १५ ॥ जिन चित्रों में दिखलाया गया था कि हाथी कमल के सरोवर में उतर रहे हैं और हथिनियाँ उन्हें मूँड़ से कमल का डण्ठल तोड़-तोडकर दे रही है, उन चित्रलिखित हाथियों के मस्तकों को सच्चे हाथी का मस्तक समझकर सिंहों ने अपने नखों से फाड डाला है॥ १६ ॥ जिन खम्भों में स्त्रियों की मूर्तियाँ बनी हुई थीं, आज-कल उन मूर्तियों का रंग उड़ गया है और वे धुँधली पड़ गयी हैं। उन खम्भों में जो साँप लिपटें उनमें से उनकी केंचुलें छूटकर उन मूर्तियों में सँटकर ऐसी लगती हैं कि जैसे उन पत्थर की स्त्रियों ने स्तन ढँकने के लिए

कालान्तरश्यामसुधेषु नक्तमितस्ततो रूढतृणाङ्कुरेषु।
त एव मुक्तागुणशुद्धयोऽपि हर्म्येषु मूर्च्छन्ति न चन्द्रपादाः॥१८॥
आवर्ज्य शाखाः सदयं च यासां पुष्पाण्युपात्तानि विलासिनीभिः।
वन्यैः पुलिन्दैरिव वानरैस्ताः क्लिश्यन्त उद्यानलता मदीयाः॥१९॥
रात्रावनाविष्कृतदीपभासः कान्तामुखश्रीवियुता दिवाऽपि।
तिरस्क्रियन्ते कृमितन्तुजालैर्विच्छिन्नधूमप्रसरा गवाक्षाः॥२०॥
बलिक्रियावर्जितसैकतानि स्नानीयसंसर्गमनाप्नुवन्ति।
उपान्तवानीरगृहाणि दृष्ट्वा शून्यानि दूये सरयूजलानि॥२१॥
तदर्हसीमां वसतिं विसृज्य मामभ्युपेतुं कुलराजधानीम्।
हित्वा तनुं कारणमानुषीं तां यथा गुरुस्ते परमात्ममूर्तिम्॥२२॥
तथेति तस्याः प्रणयं प्रतीतः प्रत्यग्रहीत् प्राग्रहरो रघूणाम्।
पूरप्यभिव्यक्तमुखप्रसादा शरीरबन्धेन तिरोबभूव॥२३॥
तदद्भुतं संसदि रात्रिवृत्तं प्रातर्द्विजेभ्यो नृपतिः शशंस।
श्रुत्वा त एनं कुलराजधान्या साक्षात्पतित्वे वृतमभ्यनन्दन्॥२४॥
कुशावतीं श्रोत्रियसात् स कृत्वा यात्रानुकूलेऽहनि सावरोधः।
अनुद्रुतो वायुरिवाभ्रवृन्दैः सैन्यैरयोध्याभिमुखः प्रतस्थे॥२५॥
सा केतुमालोपवना बृहद्भिर्विहारशैलानुगतेव नागैः।
सेना रथोदारगृहा प्रयाणे तस्याभवज्जङ्गमराजधानी॥२६॥

कोई कपड़ा डाल लिया हो॥१७॥ पहले भवनों पर मोती की माला जैसी शुभ्र चाँदनी चमकती थी, उन पर अब वह नहीं चमकती। क्योंकि बहुत दिनों से चूना न लगने से उन कोठों के चूने का रंग काला पड़ गया है और उन पर जहाँ-तहाँ घास उग आयी है॥१८॥ पहले उद्यानों की जिन लताओं को धीरे से झुकाकर सुन्दर स्त्रियाँ फूल तोड़ती थीं, उन मेरी प्रिय लताओं को वन्य भीलों के समान उत्पाती बन्दर झकझोरते हैं॥१९॥ अब अटारियों के झरोखों से न रात को दीपकों की किरणें निकलती हैं, न दिन में सुन्दरियों का मुख दीखता है और न ही कहीं से अगरु का धुआँ ही निकलता है। अब वे झरोखे मकड़ियों के जालों से भर गये हैं॥२०॥ यह देखकर मुझे बड़ा दुःख होता है कि अब न सरयू की रेती पर देवताओं की पूजा की जाती है और न स्त्रियों के स्नान करने पर उनके शरीर से अंगराग आदि की सुगन्ध निकलती है। सरयू के तट पर बनी हुई बेत की झोपड़ियाँ भी सूनी पड़ी रहती हैं॥२१॥ अतएव तुम्हारे पिता राम ने राक्षसों को मारने के लिए जो मानव शरीर धारण किया था, उसे छोड़कर जैसे वे परमात्मा में लीन हो गये, वैसे ही तुम भी यह नयी राजधानी कुशावती त्यागकर अपनी कुल-परम्परा की राजधानी अयोध्या में चलकर निवास करो॥२२॥ कुश ने उसकी प्रार्थना स्वीकार करते हुए कहा—'ऐसा ही करेंगे'। यह सुनकर प्रसन्न मन से अयोध्या की अधिष्ठात्री देवी अन्तर्धान हो गयी॥२३॥ रात की वह विस्मयजनक घटना राजा ने सवेरे सभा में ब्राह्मणों से कही। सो सुनकर ब्राह्मणों ने कुश की प्रशंसा की और कहा कि 'आप धन्य हैं, जिसे कुल की राजधानी ने स्वेच्छा से अपना पति चुना है'॥२४॥ तदनन्तर उन्होंने कुशावती नगरी वेदपाठी ब्राह्मणों को दान करके दे दी और जैसे वायु के पीछे-पीछे बादल चलते हैं, वैसे ही अपनी सेना साथ लेकर वे शुभ मुहूर्त में अयोध्या की ओर चल पड़े॥२५॥ उस यात्रा के समय चलती हुई कुश की सेना सचल राजधानी जैसी लगती थी। क्योंकि उसका ध्वजाओं वाला भाग लतायुक्त उपवनों जैसा, बड़े-बड़े हाथी बनावटी

तेनातपत्रामलमण्डलेन प्रस्थापितः पूर्वनिवासभूमिम्।
बभौ बलौघः शशिनोदितेन वेलामुदन्वानिव नीयमानः॥ २७॥
तस्य प्रयातस्य वरूथिनीनां पीडामपर्याप्तवतीव सोढुम्।
वसुन्धरा विष्णुपदं द्वितीयमध्यारुरोहेव रजश्छलेन॥ २८॥
उद्यच्छमाना गमनाय पश्चात्पुरो निवेशे पथि च व्रजन्ती।
सा यत्र सेना ददृशे नृपस्य तत्रैव सामग्र्यमतिं चकार॥ २९॥
तस्य द्विपानां मदवारिसेकात्खुराभिघाताच्च तुरङ्गमाणाम्।
रेणुः प्रपेदे पथि पङ्कभावं पङ्कोऽपि रेणुत्वमियाय नेतुः॥ ३०॥
मार्गैषिणी सा कटकान्तरेषु वैन्ध्येषु सेना बहुधा विभिन्ना।
चकार रेवेव महाविरावा बद्धप्रतिश्रुन्ति गुहामुखानि॥ ३१॥
स धातुभेदारुणयाननेमिः प्रभुः प्रयाणध्वनिमिश्रतूर्यः।
व्यलङ्घयद्विन्ध्यमुपायनानि पश्यन्पुलिन्दैरुपपादितानि॥ ३२॥
तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात् प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम्।
अयत्नबालव्यजनीबभूवुर्हंसा नभोलङ्घनलोलपक्षाः॥ ३३॥
स पूर्वजानां कपिलेन रोषाद्भस्मावशेषीकृतविग्रहाणाम्।
सुरालयप्राप्तिनिमित्तमम्भस्त्रैस्रोतसं नौलुलितं ववन्दे॥ ३४॥
इत्यध्वनः कैश्चिदहोभिरन्ते कूलं समासाद्य कुशः सरय्वाः।
वेदिप्रतिष्ठान्विततताध्वराणां यूपानपश्यच्छतशो रघूणाम्॥ ३५॥
आधूय शाखाः कुसुमद्रुमाणां स्पृष्ट्वा च शीतान्सरयूतरङ्गान्।
तं क्लान्तसैन्यं कुलराजधान्याः प्रत्युज्जगामोपवनान्तवायुः॥ ३६॥

पर्वतों जैसे और रथ ऊँची-ऊँची अटारियों सरीखे लगते थे॥ २६॥ जैसे चन्द्रमा उदित होकर समुद्र को तट तक खींच लाता है, वैसे ही श्वेत छत्रधारी कुश अपनी सेना को रघुकुल की पुरानी राजधानी अयोध्या की ओर लेकर चले जा रहे थे॥ २७॥ जब कुश चले तो उनकी सेना का भार पृथ्वी नहीं सह सकी। अतएव उड़ती हुई धूल ऐसी लगती थी कि जैसे पृथ्वी विष्णु के दूसरे पद अर्थात् आकाश में पहुँची हो॥ २८॥ कुशावती से चलने की तैयारी करती हुई, आगे के पड़ाव पर पहुँची हुई या मार्ग में चलने वाली कुश की सम्पूर्ण सैनिक-टुकड़ियाँ पूरी सेना ही मालूम देती थीं॥ २९॥ कुश के हाथियों के मदजल से सिंचकर मार्ग की धूल कीचड़ बनी और वह कीचड़ भी घोड़ों की टापों से मर्दित होकर फिर धूल बन गयी॥ ३०॥ मार्ग भूल जाने से वह सेना विन्ध्याचल के आस-पास मार्ग ढूँढ़ती हुई कई भागों में बँट गयी। नर्मदा के समान उस सेना के गम्भीर गर्जन से पर्वत की गुफाएँ गूँज उठीं॥ ३१॥ गेरू आदि धातुओं से जिनके रथ के पहिये लाल हो गये थे और जिनकी चलती हुई सेना के शब्द से तुरही के शब्द भी दब गये थे, वे राजा कुश विन्ध्याचलनिवासी किरातों से प्राप्त भेंट की सामग्री को देखते हुए विन्ध्य से आगे बढ़े॥ ३२॥ वहाँ ही पश्चिम की ओर बहने वाली गंगाजी पर हाथियों का पुल बनाकर जब वे पार उतरने लगे, तब आकाश में उड़ते हुए चंचल पंखों वाले हंस कुश पर डुलाये जाते हुए चँवर के समान दीखने लगे॥ ३३॥ वहाँ कुश ने नावों के यातायात से चंचल जलवाली गंगाजी को प्रणाम किया। क्योंकि कपिल मुनि के कोप से जले हुए उनके पूर्वज (सगरपुत्र) उसी जल की कृपा से स्वर्ग गये थे॥ ३४॥ इस तरह मार्ग में कुछ दिन बिताकर कुश सरयू के तट पर पहुँचे। वहाँ उन्हें बड़े-बड़े यज्ञ करने वाले रघुवंशी राजाओं के गाड़े हुए सैकड़ों यज्ञस्तम्भ दिखलायी पड़े॥ ३५॥ अयोध्या

अथोपशल्ये रिपुमग्नशल्यस्तस्याः पुरः पौरसखः स राजा।
कुलध्वजस्तानि चलध्वजानि निवेशयामास बली बलानि॥ ३७॥
तां शिल्पिसङ्घाः प्रभुणा नियुक्तास्तथागतां सम्भृतसाधनत्वात्।
पुरं नवीचक्रुरपां विसर्गान्मेघा निदाघग्लपितामिवोर्वीम्॥ ३८॥
ततः सपर्यां सपशूपहारां पुरः परार्ध्यप्रतिमागृहायाः।
उपोषितैर्वास्तुविधानविद्भिर्निर्वर्तयामास रघुप्रवीरः॥ ३९॥
तस्याः स राजोपपदं निशान्तं कामीव कान्ताहृदयं प्रविश्य।
यथार्हमन्यैरनुजीविलोकं सम्भावयामास यथाप्रधानम्॥ ४०॥
स मन्दुरासंश्रयिभिस्तुरङ्गैः शालाविधिस्तम्भगतैश्च नागैः।
पूराबभासे विपणिस्थपण्या सर्वाङ्गनद्धाभरणेव नारी॥ ४१॥
वसन् स तस्यां वसतौ रघूणां पुराणशोभामधिरोपितायाम्।
न मैथिलेयः स्पृहयाम्बभूव भर्त्रे दिवो नाप्यलकेश्वराय॥ ४२॥
अथास्य रत्नग्रथितोत्तरीयमेकान्तपाण्डुस्तनलम्बिहारम्।
निःश्वासहार्यांशुकमाजगाम धर्मः प्रियावेषमिवोपदेष्टुम्॥ ४३॥
अगस्त्यचिह्नादयनात्समीपं दिगुत्तरा भास्वति सन्निवृत्ते।
आनन्दशीतामिव बाष्पवृष्टिं हिमस्रुतिं हैमवतीं ससर्ज॥ ४४॥
प्रवृद्धतापो दिवसोऽतिमात्रमत्यर्थमेव क्षणदा च तन्वी।
उभौ विरोधक्रियया विभिन्नौ जायापती सानुशयाविवास्ताम्॥ ४५॥

के उपवनों में वायु ने फूले हुए वृक्षों की डालियाँ कँपा कर सरयू के शीतल जल का स्पर्श करके थकी हुई सेना के साथ आये हुए कुश की अगवानी की॥ ३६॥ शत्रुविनाशक और प्रजाहितैषी राजा कुश ने फहराती हुई ध्वजावाली अपनी सेना को नगर के आस-पास वाले स्थानों में ठहरा दिया॥ ३७॥ जैसे बादल इन्द्र की आज्ञा से जल बरसाकर गरमी से तपी धरती को हरी-भरी कर देते हैं, वैसे ही कुश की आज्ञा से कारीगरों ने अपने यन्त्रों के सहारे अयोध्या को नया रूप दे दिया॥ ३८॥ तदनन्तर रघुकुलवीर कुश ने व्रती, उपवासी एवं वास्तु-विद्या में निपुण पंडितों द्वारा अनमोल मूर्तियों से भरे घरों वाली अयोध्या का विधिवत् पूजन कराके पशुओं की बलि दी॥ ३९॥ जैसे कोई कामी पुरुष स्त्री के हृदय में प्रविष्ट हो जाता है, वैसे ही कुश भी अयोध्या के राजमहल में प्रविष्ट हो गये और उन्होंने अपने मन्त्रियों आदि को रहने के लिए दूसरे अनेक भवन दिये॥ ४०॥ अयोध्या की बाजारों में सुन्दर वस्तुएँ सजी हुई थीं, घुडसाल में घोडे बँधे थे और हस्तिशालाओं में खम्भों से हाथी बँधे हुए थे। इस प्रकार वह नगरी ऐसी सुन्दर लगती थी, जैसे सारे शरीर में गहना पहने कोई स्त्री खड़ी हो॥ ४१॥ अब अयोध्या फिर पहले जैसी सुन्दर लगने लगी। उसमें निवास करते हुए जानकीजी के पुत्र कुश को ऐसा सुख मिला कि न तो उन्हें सुन्दरी अप्सराओं से भरे स्वर्ग के स्वामी बनने की इच्छा रह गयी और न असंख्य रत्नों वाली अलकापुरी ही पाने की चाह रही॥ ४२॥ तभी ग्रीष्म ऋतु आ गयी, जिसने मानो इन्हें अपनी उस प्रिया का स्मरण करा दिया—जिसकी ओढनी में रत्न जडे हों, जिसके गोरे-गोरे स्तनों पर मोतियों का हार लटका हुआ हो और जो साँस की हवा से उडने वाले महीन कपडे पहने हो॥ ४३॥ गर्मी से जो बर्फ गलने लगी, वह ऐसी लगी कि जैसे दक्षिण दिशा से सूर्य के लौट आने की प्रसन्नता में उत्तर दिशा ने हिमालय से आनन्द के ठंडे आँसुओं जैसी पानी की ठंडी धारा बहा दी हो॥ ४४॥ उस समय अत्यन्त ताप से भरे दिन और बहुत छोटी-छोटी रातें—ये दोनों उन पछताते

दिने दिने शैवलवन्त्यधस्तात्सोपानपर्वाणि विमुञ्चदम्भः।
उद्दण्डपद्मं गृहदीर्घिकाणां नारीनितम्बद्वयसं बभूव॥४६॥
वनेषु सायन्तनमल्लिकानां विजृम्भणोद्गन्धिषु कुड्मलेषु।
प्रत्येकनिक्षिप्तपदः सशब्दं सङ्ख्यामिवैषां भ्रमरश्चकार॥४७॥
स्वेदानुविद्धार्द्रनखक्षताङ्के भूयिष्ठसन्दष्टशिखं कपोले।
च्युतं न कर्णादपि कामिनीनां शिरीषपुष्पं सहसा पपात॥४८॥
यन्त्रप्रवाहैः शिशिरैः परीतान्रसेन धौतान्मलयोद्भवस्य।
शिलाविशेषानधिशय्य निन्युर्धारागृहेष्वातपमृद्धिमन्तः॥४९॥
स्नानार्द्रमुक्तेष्वनुधूपवासं विन्यस्तसायन्तनमल्लिकेषु।
कामो वसन्तात्ययमन्दवीर्यः केशेषु लेभे बलमङ्गनानाम्॥५०॥
आपिञ्जरा बद्धरजःकणत्वान्मञ्जर्युदारा शुशुभेऽर्जुनस्य।
दग्ध्वाऽपि देहं गिरिशेन रोषात्खण्डीकृता ज्येव मनोभवस्य॥५१॥
मनोज्ञगन्धं सहकारभङ्गं पुराणशीधुं नवपाटलं च।
सम्बध्नता कामिजनेषु दोषाः सर्वे निदाघावधिना प्रमृष्टाः॥५२॥
जनस्य तस्मिन्समये विगाढे बभूवतुर्द्वौ सविशेषकान्तौ।
तापापनोदक्षमपादसेवौ स चोदयस्थौ नृपतिः शशी च॥५३॥
अथोर्मिलोलोन्मदराजहंसे रोधोलतापुष्पवहे सरय्वाः।
विहर्तुमिच्छा वनितासखस्य तस्याम्भसि ग्रीष्मसुखे बभूव॥५४॥

हुए पति-पत्नी सदृश दीखने लगे, जो आपस में झगड़ा करके एक-दूसरे से रूठ गये हों॥४५॥ अतिशय गर्मी से घर की बावलियाँ सेवार जमी हुई सीढ़ियाँ छोड़कर पीछे हटने लगीं और उनका पानी सूखने लगा। उनमें कमल की डंडियाँ दीखने लगीं और पानी घटकर स्त्रियों की कमरभर रह गया॥४६॥ वनों में चमेली खिल गयी और उसकी सुगन्ध सब ओर फैलने लगी। सन्ध्या को गुनगुनाते हुए भौंरे एक-एक फूल पर बैठकर जैसे उनकी गिनती करने लगे॥४७॥ स्त्रियों के गालों पर प्रियतम के हाथों द्वारा बने हुए नखक्षतों पर पसीने की बूँदें फैल जाती थीं और कान पर रखे हुए सिरस के फूलों की केसर उन पर सट जाती थी। अतएव जब वे फूल कान पर से खिसकते भी थे तो सहसा पृथ्वी पर नहीं गिर पड़ते थे॥४८॥ धनी लोग गर्मी में ठंडी रहने वाली उन खास तरह की शिलाओं पर सोकर दुपहरी बिताते थे, जो चन्दनमिश्रित जल से धुली होती थीं और जिनके चारों ओर जल की धाराएँ छूटती रहती थीं॥४९॥ वसन्त बीत जाने से जो कामदेव मन्द पड़ गया था, वह स्त्रियों के उन केशों में जा बसा, जो स्नान करने पर खोल दिये जाते थे और जिनमें धूप से सुगन्धित करने के बाद शाम को फूलने वाली चमेली के सुगन्धित फूल खोंस लिये जाया करते थे॥५०॥ पराग से परिपूर्ण कुछ पीली-पीली अर्जुन की मञ्जरी ऐसी लगती थी कि जैसे कामदेव का शरीर भस्म करने के पश्चात् शिवजी के हाथ टूटी हुई कामदेव के धनुष की डोरी पड़ी हो॥५१॥ उस समय मनोहर गन्ध वाला आम का बौर, पुरानी मदिरा और नये पाटल के फूल लाकर ग्रीष्म ऋतु ने कामी पुरुषों की सब न्यूनता पूर्ण कर दी॥५२॥ उस भीषण ग्रीष्म काल में उदित होकर ही दोनों प्रजा को बहुत प्रिय लगे। एक तो सेवा से प्रसन्न होने पर निर्धनता आदि सन्तापों को दूर करने वाले राजा कुश और दूसरे शीतल किरण से गर्मी का सन्ताप दूर करने वाले चन्द्रमा॥५३॥ एक दिन कुश की यह इच्छा हुई कि जल की लहर से मतवाले हंसों से युक्त तट की लताओं के फूल बहाने वाली और गर्मी में सुखदायिनी सरयू के जल में रानियों

स तीरभूमौ विहितोपकार्यामानायिभिस्तामपकृष्टनक्राम् ।
विगाहितुं श्रीमहिमानुरूपं प्रचक्रमे चक्रधरप्रभावः ॥ ५५ ॥
सा तीरसोपानपथावतारादन्योन्यकेयूरविघट्टिनीभिः ।
सनूपुरक्षोभपदाभिरासीदुद्विग्नहंसा सरिदङ्गनाभिः ॥ ५६ ॥
परम्पराभ्युक्षणतत्पराणां तासां नृपो मज्जनरागदर्शी ।
नौसंश्रयः पार्श्वगतां किरातीमुपात्तबालव्यजनां बभाषे ॥ ५७ ॥
पश्यावरोधैः शतशो मदीयैर्विगाह्यमानो गलिताङ्गरागैः ।
सन्ध्योदयः साभ्र इवैष वर्णं पुष्यत्यनेकं सरयूप्रवाहः ॥ ५८ ॥
विलुप्तमन्तःपुरसुन्दरीणां यदञ्जनं नौलुलिताभिरद्भिः ।
तद्बध्नतीभिर्मदरागशोभां विलोचनेषु प्रतिमुक्तमासाम् ॥ ५९ ॥
एता गुरुश्रोणिपयोधरत्वादात्मानमुद्वोढुमशक्नुवत्यः ।
गाढाङ्गदैर्बाहुभिरप्सु बालाः क्लेशोत्तरं रागवशात् प्लवन्ते ॥ ६० ॥
अमी शिरीषप्रसवावतंसाः प्रभ्रंशिनो वारिविहारिणीनाम् ।
पारिप्लवाः स्रोतसि निम्नगायाः शैवाललोलांश्छलयन्ति मीनान् ॥ ६१ ॥
आसां जलास्फालनतत्पराणां मुक्ताफलस्पर्धिषु शीकरेषु ।
पयोधरोत्सर्पिषु शीर्यमाणः संलक्ष्यते न च्छिदुरोऽपि हारः ॥ ६२ ॥
आवर्तशोभा नतनाभिकान्तेर्भङ्गो भ्रुवां द्वन्द्वचराः स्तनानाम् ।
जातानि रूपावयवोपमानान्यदूरवर्तीनि विलासिनीनाम् ॥ ६३ ॥

के साथ विहार किया जाय ॥ ५४ ॥ ऐसा निश्चय करके विष्णु जैसे प्रभावशाली कुश सरयू के जल में विहार करने को चले। तदनुसार सरयू के तट पर डेरे तन गये और मल्लाहों ने ग्राह आदि जन्तुओं को सरयू से निकाल दिया ॥ ५५ ॥ कुश की रानियाँ सीढ़ियों से जब पानी में उतरने लगीं, उस समय उनके भुजबन्द एक-दूसरे से टकराने लगे, पैर के बिछुए बजने लगे और इन शब्दों को सुनकर सरयू के हंस उद्विग्न हो उठे ॥ ५६ ॥ तभी वे रानियाँ जल में उतरकर एक-दूसरे के ऊपर छींटे डालने लगीं। उन रानियों के स्नान की वह शोभा देखकर नाव पर बैठे हुए राजा कुश पास ही चँवर लेकर खड़ी किरातिनी से बोले ॥ ५७ ॥ देखो, मेरे रनवास की सैकड़ों रानियों के स्नान करने और उनके शरीर से धुले हुए अंगराग के मिल जाने से सरयू की धारा बादलों से भरी सन्ध्या जैसी रंग-बिरंगी दीख रही है ॥ ५८ ॥ नावों के चलने से जल में उठने वाली लहरों ने इन सुन्दरियों की आँखों का अञ्जन धोकर उसके बदले मदपान के समय की लाली लेकर इनकी आँखों में भर दी है ॥ ५९ ॥ बोझिल नितम्बों तथा स्तनों के कारण ये भलीभाँति तैर नहीं पातीं, तथापि खेल में सम्मिलित होने के कारण ये अपने मोटे-मोटे भुजबन्दों वाली बाँहों से जल में बड़ी कठिनाई से तैरती हैं ॥ ६० ॥ इन जलक्रीडानिरत रानियों के कानों से गिरे हुए सिरस के कर्णफूल नदी में तैर रहे हैं। इन्हें देखने वाली मछलियों को सेवार का भ्रम होता है और वे इन पर मुँह मार रही हैं ॥ ६१ ॥ देखो, जलक्रीड़ा में संलग्न रानियों को यह भी नहीं मालूम कि इनके हार टूट गये हैं और मोती बिखर गये हैं। वे मोतियों के समान दीखने वाले जलबिन्दुओं को ही मोती समझ बैठी हैं और इनका ख्याल है कि हार नहीं टूटा है ॥ ६२ ॥ देख, सुन्दरी स्त्रियों के के अंगों की तरह जो वस्तुएँ प्रसिद्ध हैं वे सब इन सुन्दरियों के पास स्वतः जुट गयी भँवर इनकी गहरी नाभि के सदृश, लहरें भौंहों के समान और चकवा-च

तीरस्थलीवर्हिभिरुत्कलापैः प्रस्निग्धकेकैरभिनन्द्यमानम्।
श्रोत्रेषु सम्मूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदङ्गवाद्यम्॥ ६४॥
सन्दष्टवस्त्रेष्वबलानितम्बेष्विन्दुप्रकाशान्तरितोडुतुल्याः।
अमी जलापूरितसूत्रमार्गा मौनं भजन्ते रशनाकलापाः॥ ६५॥
एताः करोत्पीडितवारिधारा दर्पात्सखीभिर्वदनेषु सिक्ताः।
वक्रेतराग्रैरलकैस्तरुण्यश्चूर्णारुणान् वारिलवान् वमन्ति॥ ६६॥
उद्बन्धकेशश्च्युतपत्रलेखो विश्लेषिमुक्ताफलपत्रवेष्टः।
मनोज्ञ एव प्रमदामुखानामम्भोविहाराकुलितोऽपि वेषः॥ ६७॥
स नौविमानादवतीर्य रेमे विलोलहारः सह ताभिरप्सु।
स्कन्धावलग्नोद्धृतपद्मिनीकः करेणुभिर्वन्य इव द्विपेन्द्रः॥ ६८॥
ततो नृपेणानुगताः स्त्रियस्ता भ्राजिष्णुना सातिशयं विरेजुः।
प्रागेव मुक्ता नयनाभिरामाः प्राप्येन्द्रनीलं किमुतोन्मयूखम्॥ ६९॥
वर्णोदकैः काञ्चनशृङ्गमुक्तैस्तमायताक्ष्यः प्रणयादसिञ्चन्।
तथागतः सोऽतितरां बभासे सधातुनिष्यन्द इवाद्रिराजः॥ ७०॥
तेनावरोधप्रमदासखेन विगाहमानेन सरिद्वरां ताम्।
आकाशगङ्गारतिरप्सरोभिर्वृतो मरुत्वाननुयातलीलः॥ ७१॥
यत्कुम्भयोनेरधिगम्य रामः कुशाय राज्येन समं दिदेश।
तदस्य जैत्राभरणं विहर्तुरज्ञातपातं सलिले ममज्ज॥ ७२॥

हैं॥ ६३॥ गाती हुई ये जो मृदंग बजाने के समान थपकी दे-देकर जल पीट रही हैं, उसे सुनकर तट पर बैठे हुए मोर अपनी पूँछ उठाकर और बोलकर उनका अभिनन्दन करते हैं॥ ६४॥ अपने नितम्बों पर रानियों ने श्वेत वस्त्र लपेट लिया है, उसके नीचे करधनी के घुँघरू चाँदनी से ढके हुए तारे जैसे दीखते हैं। उनके डोरों में जल भर जाने से इन स्त्रियों के इधर-उधर दौड़ने पर भी ये बजते नहीं हैं॥ ६५॥ इनकी सखियाँ जब इनके मुँह पर पानी डालती हैं और ये भी अहंकार से अपनी सखियों पर पानी उछालती हैं, तब इनके सीधे लटके हुए बालों से कुंकुम-मिश्रित लाल रंग की बूँदें टपकने लगती हैं॥ ६६॥ यद्यपि स्नान के कारण बाल खुल जाने, मुँह और स्तनों पर बनी हुई चित्रकारी धुल जाने तथा मोतियों के कर्णफूल कान से निकल जाने पर स्त्रियों का वेश अस्त-व्यस्त हो गया है, तथापि ये कितनी सुन्दर लग रही हैं॥ ६७॥ ऐसा कहकर कुश भी नौका से पानी में उतर पड़े और जैसे कमलिनियों को कन्धे पर लटकाये हुए जंगली हाथी हथिनियों के साथ जलक्रीड़ा करते हैं वैसे ही हिलते हुए हारवाले कुश भी उन स्त्रियों के साथ जल-विहार करने लगे॥ ६८॥ उस कान्तिमान् राजा के साथ जलक्रीड़ा करती हुई वे रानियाँ और भी अधिक सुन्दर लगने लगीं। क्योंकि मोती यों ही सुन्दर होते हैं, फिर यदि वह इन्द्रनीलमणि के साथ मिल जाय, तब उसकी शोभा का क्या कहना॥ ६९॥ तब वे स्त्रियाँ सोने की पिचकारियों से रंग छोड़-छोड़कर राजा कुश को भिंगोने लगीं। उस समय वे ऐसे दीखने लगे, जैसे पर्वतराज हिमालय पर से गेरू का झरना झर रहा हो॥ ७०॥ उन स्त्रियों के साथ सरयू में जलक्रीड़ा करते समय कुश ऐसे लगते थे, जैसे देवराज इन्द्र स्वर्गीय अप्सराओं के साथ आकाशगंगा में जलक्रीड़ा कर रहे हों॥ ७१॥ अगस्त्य ऋषि ने राम को जैत्र (सदा जीतने वाला) जो आभूषण दिया था, उसे राम ने राज्य के साथ ही कुश को दे दिया था। जलक्रीडा करते समय सहसा वह आभूषण पानी में गिर गया और किसी

स्नात्वा यथाकाममसौ सदारस्तीरोपकार्यां गतमात्र एव।
दिव्येन शून्यं वलयेन बाहुमपोढनेपथ्यविधिर्ददर्श॥७३॥
जयश्रियः संवननं यतस्तदामुक्तपूर्वं गुरुणा च यस्मात्।
सेहेऽस्य न भ्रंशमतो न लोभात्स तुल्यपुष्पाभरणो हि धीरः॥७४॥
ततः समाज्ञापयदाशु सर्वानानायिनस्तद्विचये नदीष्णान्।
वन्ध्यश्रमास्ते सरयूं विगाह्य तमूचुरम्लानमुखप्रसादाः॥७५॥
कृतः प्रयत्नो न च देव! लब्धं मग्नं पयस्याभरणोत्तमं ते।
नागेन लौल्यात्कुमुदेन नूनमुपात्तमन्तर्ह्रदवासिना तत्॥७६॥
ततः स कृत्वा धनुराततज्यं धनुर्धरः कोपविलोहिताक्षः।
गारुत्मतं तीरगतस्तपस्वी भुजङ्गनाशाय समाददेऽस्त्रम्॥७७॥
तस्मिन् ह्रदः संहितमात्र एव क्षोभात्समाविद्धतरङ्गहस्तः।
रोधांसि निघ्नन्नवपातमग्नः करीव वन्यः परुषं ररास॥७८॥
तस्मात् समुद्रादिव मथ्यमानादुद्वृत्तनक्रात् सहसोन्ममज्ज।
लक्ष्म्येव सार्धं सुरराजवृक्षः कन्यां पुरस्कृत्य भुजङ्गराजः॥७९॥
विभूषणप्रत्युपहारहस्तमुपस्थितं वीक्ष्य विशाम्पतिस्तम्।
सौपर्णमस्त्रं प्रतिसञ्जहार प्रह्वेष्वनिर्बन्धरुषो हि सन्तः॥८०॥
त्रैलोक्यनाथप्रभवं प्रभावात्कुशं द्विषामङ्कुशमस्त्रविद्वान्।
मनोन्नतेनाप्यभिवन्द्य मूर्ध्ना मूर्धाभिषिक्तं कुमुदो बभाषे॥८१॥

को इस बात का ज्ञान ही नहीं रहा॥७२॥ इस प्रकार रानियों के साथ यथेच्छ जलक्रीडा करके कुश जब जल से बाहर निकले और डेरे पर गये, तब कपड़े बदलने के पहले ही उन्होंने देखा कि भुजा पर से वह दिव्य आभूषण गायब है॥७३॥ यद्यपि बुद्धिमान् राजा कुश फूल और आभूषण दोनों को बराबर समझते थे, अतएव आभूषण के खो जाने का इसलिए दुःख नहीं हुआ कि वह बहुमूल्य था, बल्कि इसलिए दुःख हुआ कि वह आभूषण विजयलक्ष्मी प्राप्त कराने वाला और अपने पिता राम का चिह्न था॥७४॥ अतएव उन्होंने सब धीवरों को वह आभूषण ढूँढ़ने की आज्ञा दी। बहुत देर तक उन लोगों ने पानी में टटोला, परन्तु उनका सब परिश्रम व्यर्थ हो गया। तब वे कुश के पास आकर बोले—॥७५॥ हे देव! बहुत परिश्रम करने पर भी हम लोग जल में गिरे हुए आपके आभूषण को नहीं पा सके। ऐसा लगता है कि इस जल में रहने वाले कुमुद नाम के नाग ने लोभवश चुरा लिया है॥७६॥ यह सुना वैसे ही कुश की आँखें क्रोध से लाल हो गयीं। तट पर खड़े होकर उन्होंने अपना धनुष सम्हाला और नाग को नष्ट करने के लिए उस पर गारुडास्त्र चढ़ा लिया॥७७॥ उनके धनुष चढ़ाते ही उस सरोवर का जल खलबलाता हुआ अपना तरंग रूपी हाथ उठाकर तट को तोड़ता हुआ इस तरह गरजने लगा, जैसे गड्ढे में गिरा हुआ कोई हाथी चिग्घाड रहा हो॥७८॥ समुद्र के समान उस जल को मथा जाता देखकर नक्र-घड़ियाल आदि जीव घबरा उठे। इतने में उस जल में से एक कन्या को आगे किये नागराज कुमुद इस प्रकार निकला, जैसे लक्ष्मी को साथ लेकर कल्पवृक्ष निकला हो॥७९॥ राजा कुश ने देखा कि कुमुद के हाथ में वही आभूषण विद्यमान है, इसलिए उन्होंने धनुष पर से गारुडास्त्र उतार लिया। क्योंकि सज्जन लोग ऐसे लोगों पर क्रोध नहीं करते हैं, जो विनम्र होकर उनके समक्ष पहुँच जाते हैं॥८०॥ त्रिलोकीनाथ राजा राम के पुत्र तथा शत्रुओं को अंकुश सदृश दुःख देने वाले कुश को अभिमान से उठा हुआ अपना सिर नवाकर कुमुद ने प्रणाम किया। क्योंकि वह कुश के बाण की शक्ति को भलीभाँति

अवैमि कार्यान्तरमानुषस्य विष्णोः सुताख्यामपरां तनुं त्वाम्।
सोऽहं कथं नाम तवाचरेयमाराधनीयस्य धृतेर्विघातम्॥ ८२॥
कराभिघातोत्थितकन्दुकेयमालोक्य बालाऽतिकुतूहलेन।
ह्रदात्पतज्ज्योतिरिवान्तरिक्षादादत्त जैत्राभरणं त्वदीयम्॥ ८३॥
तदेतदाजानुविलम्बिना ते ज्याघातरेखाकिणलाञ्छनेन।
भुजेन रक्षापरिघेण भूमेरुपैतु योगं पुनरंसलेन॥ ८४॥
इमां स्वसारं च यवीयसीं मे कुमुद्वतीं नार्हसि नानुमन्तुम्।
आत्मापराधं नुदतीं चिराय शुश्रूषया पार्थिव! पादयोस्ते॥ ८५॥
इत्यूचिवानुपहृताभरणः क्षितीशं श्लाघ्यो भवान्स्वजन इत्यनुभाषितारम्।
संयोजयां विधिवदास समेतबन्धुः कन्यामयेन कुमुदः कुलभूषणेन॥ ८६॥
तस्याः स्पृष्टे मनुजपतिना साहचर्याय हस्ते माङ्गल्योर्णावलयिनि पुरः पावकस्योच्छिखस्य।
दिव्यस्तूर्यध्वनिरुदचरद्व्यश्नुवानो दिगन्तान्गन्धोदग्रं तदनु ववृषुः पुष्पमाश्चर्यमेघाः॥ ८७॥
इत्थं नागस्त्रिभुवनगुरोरौरसं मैथिलेयं लब्ध्वा बन्धुं तमपि च कुशः पञ्चमं तक्षकस्य।
एकः शङ्कां पितृवधरिपोरत्यजद्वैनतेयाच्छान्तव्यालामवनिमपरः पौरकान्तः शशास॥ ८८॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये कुमुद्वती-
परिणयो नाम षोडशः सर्गः॥ १६॥

जानता था। इस प्रकार प्रणाम करके वह कहने लगा॥ ८१॥ मैं जानता हूँ कि आप राक्षसों का नाश करने के लिए मनुष्य का शरीर धारण करने वाले विष्णु के दूसरे रूप अर्थात् उनके पुत्र हैं। आप मेरे पूजनीय हैं। अतः मैं भला आपसे वैर कैसे कर सकता हूँ॥ ८२॥ यह कन्या गेंद खेल रही थी। इसकी थपकी से गेंद ऊपर उछल गयी। उसे देखने को इसने जो ऊपर आँख उठायी तो देखा कि आकाश से गिरते हुए तारे के समान आपका आभूषण नीचे चला आ रहा है। बस, इसने उसे पकड़ लिया॥ ८३॥ अब आप इसे ले लीजिए और अपनी उस मोटी और लम्बी भुजा में फिर बाँध लीजिए, जिसमें धनुष की डोरी के आघात से घट्ठे पड गये हैं और जो पृथ्वी की रक्षा करती रहती है॥ ८४॥ हे राजन्! मेरी छोटी बहन कुमुद्वती जीवनभर आपकी सेवा करके अपने अपराध का मार्जन करना चाहती है। अतएव आप इसे अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कर लें॥ ८५॥ ऐसा कहकर कुमुद ने वह आभूषण कुश को दे दिया। कुश ने कहा—आज से आप मेरे आदरणीय सम्बन्धी हुए। यह सुनकर कुमुद ने अपने कुटुम्बियों को बुलाया और बड़ी धूम-धाम से उस कन्या का कुश के साथ विवाह कर दिया॥ ८६॥ राजा कुश ने जब अग्नि के समक्ष उस कन्या का ऊँनी कंगन बँधा हुआ हाथ पकड़ा, उस समय तुरही आदि बाजों की ध्वनि से दसों दिशाएँ गूँज उठीं और विचित्र प्रकार के मेघों ने आ-आकर आकाश से उनके ऊपर सुगन्धित पुष्पों की वर्षा की॥ ८७॥ नागराज कुमुद ने इस प्रकार त्रिलोकीनाथ विष्णु अर्थात् राम के पुत्र कुश को अपना सम्बन्धी बनाकर गरुड़ से डरना छोड़ दिया। क्योंकि अब गरुड़ उनके सम्बन्धी के पिता के वाहन मात्र रह गये थे। इधर कुश ने भी नागराज तक्षक के पाँचवें पुत्र कुमुद को अपना सम्बन्धी बनाया, तभी से सर्प शान्त हो गये और कुश पृथ्वी पर यथावत् शासन करने लगे॥ ८८॥

इस प्रकार रघुवंशमहाकाव्य में कुमुद्वती-परिणय नामक
सोलहवाँ सर्ग समाप्त॥ १६॥

सप्तदशः सर्गः

अतिथिं नाम काकुत्स्थात्पुत्रं प्राप कुमुद्वती । पश्चिमाद्यामिनीयामात्प्रसादमिव चेतना ॥ १ ॥
स पितुः पितृमान्वंशं मातुश्चानुपमद्युतिः । अपुनात् सवितेवोभौ मार्गावुत्तरदक्षिणौ ॥ २ ॥
तमादौ कुलविद्यानामर्थमर्थविदां वरः । पश्चात्पार्थिवकन्यानां पाणिमग्राहयत्पिता ॥ ३ ॥
जात्यस्तेनाभिजातेन शूरः शौर्यवता कुशः । अमन्यतैकमात्मानमनेकं वशिना वशी ॥ ४ ॥
स कुलोचितमिन्द्रस्य साहायकमुपेयिवान् । जघान समरे दैत्यं दुर्जयं तेन चावधि ॥ ५ ॥
तं स्वसा नागराजस्य कुमुदस्य कुमुद्वती । अन्वगात्कुमुदानन्दं शशाङ्कमिव कौमुदी ॥ ६ ॥
तयोर्दिवस्पतेरासीदेकः सिंहासनार्धभाक् । द्वितीयाऽपि सखी शच्याः पारिजातांशभागिनी ॥ ७ ॥
तदात्मसम्भवं राज्ये मन्त्रिवृद्धाः समादधुः । स्मरन्तः पश्चिमामाज्ञां भर्तुः सङ्ग्रामयायिनः ॥ ८ ॥
ते तस्य कल्पयामासुरभिषेकाय शिल्पिभिः । विमानं नवमुद्वेदि चतुःस्तम्भप्रतिष्ठितम् ॥ ९ ॥
तत्रैनं हेमकुम्भेषु सम्भृतैस्तीर्थवारिभिः । उपतस्थुः प्रकृतयो भद्रपीठोपवेशितम् ॥ १० ॥
नदद्भिः स्निग्धगम्भीरं तूर्यैराहतपुष्करैः । अन्वमीयत कल्याणं तस्याविच्छिन्नसन्तति ॥ ११ ॥
दूर्वायवाङ्कुरप्लक्षत्वगभिन्नपुटोत्तरान् । ज्ञातिवृद्धैः प्रयुक्तान्स भेजे नीराजनाविधीन् ॥ १२ ॥
पुरोहितपुरोगास्तं जिष्णुं जैत्रैरथर्वभिः । उपचक्रमिरे पूर्वमभिषेक्तुं द्विजातयः ॥ १३ ॥
तस्यौघमहती मूर्ध्नि निपतन्ती व्यरोचत । सशब्दमभिषेकश्रीर्गङ्गेव त्रिपुरद्विषः ॥ १४ ॥

रात के चौथे पहर अर्थात ब्राह्म मुहूर्त में जैसे बुद्धि को नवीनता प्राप्त हो जाती है, वैसे ही कुश को कुमुद्वती की कोख से अतिथि नाम का पुत्र प्राप्त हुआ ॥ १ ॥ जैसे तेजस्वी सूर्य अपने प्रकाश से उत्तर तथा दक्षिण दोनों दिशाएँ पवित्र कर देते हैं, वैसे ही असाधारण तेजस्वी पुत्र अतिथि ने माता और पिता दोनों के कुल पवित्र कर दिये ॥ २ ॥ पिता कुश ने पहले उसे आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति—ये चारों राजविद्याएँ सिखायीं। फिर राजाओं की कन्याओं के साथ उसका विवाह सम्पन्न कर दिया ॥ ३ ॥ अतिथि भी कुश के समान ही कुलीन, वीर और जितेन्द्रिय थे। इसलिए कुश अपने पुत्र को अपना ही दूसरा स्वरूप मानते थे ॥ ४ ॥ अपनी कुलपरम्परा के अनुसार कुश भी एक बार युद्ध में इन्द्र की सहायता करने गये थे। वहाँ उन्होंने दुर्जय नाम के राक्षस को मारा और स्वयं भी वीरगति को प्राप्त हो गये ॥ ५ ॥ जैसे कुमुदिनी को विकसित करनेवाले चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर चाँदनी भी समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार नागराज कुमुद की बहन कुमुद्वती भी कुश के साथ सती हो गयी ॥ ६ ॥ राजा कुश को तो इन्द्र के सिंहासन का आधा भाग मिला और कुमुद्वती ने जाकर शची (इन्द्राणी) के पारिजात का आधा भाग बँटा लिया ॥ ७ ॥ उस युद्ध में जाते समय कुश ने जैसी आज्ञा दी थी, तदनुसार मन्त्रियों ने उनके पुत्र अतिथि को कुश का उत्तराधिकारी राजा बनाया ॥ ८ ॥ उसके अभिषेक के लिए मंत्रियों ने कारीगरों से ऊँची वेदी के चार खम्भों का नया मंडप बनवाया ॥ ९ ॥ तब प्रजा ने भद्रपीठ पर बैठे हुए राजा अतिथि को सोने के घड़ों में भरे हुए तीर्थजल से नहलाया ॥ १० ॥ उस समय मृदङ्ग आदि वाद्यों को बजाने पर जो मधुर और गम्भीर शब्द निकलता था, उससे यह अनुमान हो रहा था कि राजा अतिथि का सदा कल्याण होगा ॥ ११ ॥ दूब, जौ के अंकुर तथा वटवृक्ष की छाल दोनों में रखकर कुल के बड़े-बूढ़ों ने जो आरती की, उसे राजा अतिथि ने सादर स्वीकार किया ॥ १२ ॥ तब पुरोहित को आगे करके ब्राह्मण आये और विजयी राजा को अथर्ववेद के उन मन्त्रों को पढ़ते हुए नहलाने लगे, जिनसे विजय प्राप्त होती है ॥ १३ ॥ उस समय उनके सिर पर गिरती हुई अभिषेक के जल

स्तूयमानः क्षणे तस्मिन्नलक्ष्यत स बन्दिभिः । प्रवृद्ध इव पर्जन्यः सारङ्गैरभिनन्दितः ॥ १५ ॥
तस्य सन्मन्त्रपूताभिः स्नानमद्भिः प्रतीच्छतः । ववृधे वैद्युतस्याग्नेर्वृष्टिसेकादिव द्युतिः ॥ १६ ॥
स तावदभिषेकान्ते स्नातकेभ्यो ददौ वसु । यावतैषां समाप्येरन्यज्ञाः पर्याप्तदक्षिणाः ॥ १७ ॥
ते प्रीतमनसस्तस्मै यामाशिषमुदैरयन् । सा तस्य कर्मनिर्वृत्तैर्दूरं पश्चात्कृता फलैः ॥ १८ ॥
बन्धच्छेदं स बद्धानां वधार्हाणामवध्यताम् । धुर्याणां च धुरो मोक्षमदोहं चादिशद्गवाम् ॥ १९ ॥
क्रीडापतत्रिणोऽप्यस्य पञ्जरस्थाः शुकादयः । लब्धमोक्षास्तदादेशाद्यथेष्टगतयोऽभवन् ॥ २० ॥
ततः कक्ष्यान्तरन्यस्तं गजदन्तासनं शुचि । सोत्तरच्छदमध्यास्त नेपथ्यग्रहणाय सः ॥ २१ ॥
तं धूपाश्यानकेशान्तं तोयनिर्णिक्तपाणयः । आकल्पसाधनैस्तैस्तैरुपसेदुः प्रसाधकाः ॥ २२ ॥
तेऽस्य मुक्तागुणोन्नद्धं मौलिमन्तर्गतस्रजम् । प्रत्यूपुः पद्मरागेण प्रभामण्डलशोभिना ॥ २३ ॥
चन्दनेनाङ्गरागं च मृगनाभिसुगन्धिना । समापय्य ततश्चक्रुः पत्रं विन्यस्तरोचनम् ॥ २४ ॥
आमुक्ताभरणः स्रग्वी हंसचिह्नदुकूलवान् । आसीदतिशयप्रेक्ष्यः स राज्यश्रीवधूवरः ॥ २५ ॥
नेपथ्यदर्शिनश्छाया तस्यादर्शे हिरण्मये । विरराजोदिते सूर्ये मेरौ कल्पतरोरिव ॥ २६ ॥
स राजककुदव्यग्रपाणिभिः पार्श्वचर्तिभिः । ययावुदीरितालोकः सुधर्मानवमां सभाम् ॥ २७ ॥
वितानसहितं तत्र भेजे पैतृकमासनम् । चूडामणिभिरुद्घृष्टपादपीठं महीक्षिताम् ॥ २८ ॥

की धारा ऐसी सुन्दर लगती थीं, जैसे शिवजी के सिर पर गङ्गाजी की धारा गिरती हो॥ १४॥ भाट और चारण जब अतिथि का यश गाने लगे तो ऐसा लगा कि जैसे अनेक चातक मिलकर बादल के गुण गा रहे हैं॥ १५॥ मन्त्रों से अभिमंत्रित जल से स्नान करते समय उनके शरीर का तेज वैसे ही बढ गया, जैसे वर्षा के जल मे बिजली की दीप्ति बढ जाती है॥ १६॥ अभिषेक के बाद राजा अतिथि ने स्नातक ब्राह्मणों को इतना धन दिया कि उस धन से वे अच्छी दक्षिणा दे देकर अनेक यज्ञ कर सकते थे॥ १७॥ उन ब्राह्मणों ने प्रसन्न होकर उन्हें जो आशीर्वाद दिया, उसको सफल होने के लिए बहुत दिन प्रतीक्षा करनी पड़ी। क्योंकि आर्शीर्वाद के समय तो राजा अतिथि अपने पूर्वजन्म के सत्कर्मो का ही फल भोग रहे थे, आर्शीर्वाद का फल तो उस फल की समाप्ति पर प्रारम्भ होता॥ १८॥ उस राज्याभिषेक की प्रसन्नता में अतिथि ने आज्ञा दी कि सब कैदी छोड दिये जायँ, मृत्युदण्ड पाये हुए अपराधी न मारे जायँ, भारवाही पशुओं के कन्धे से जुए उतार लिये जायँ और गौओं का दुहना वन्द कर दिया जाय॥ १९॥ पिंजडे के सुग्गे आदि पक्षी भी उनकी आज्ञा से छोड दिये गये, जिससे वे यथेच्छ उड़ने लगे॥ २०॥ तदनन्तर वह राजा अतिथि अपना राजसी सिंगार कराने के लिए हाथीदाँत के बने सिंहासन पर बैठे, जो राजमहल में एक ओर रखा था और जिस पर विछौना बिछा हुआ था॥ २१॥ तब सिंगारकलाकुशलों ने धुले हाथों से धूप से सुगंधित केशवाले राजा अतिथि को सब अलंकारों से सजाना आरम्भ किया॥ २२॥ फूलों और मोतियों की मालाओं से ग्रथित राजा के सिर पर उन्होंने वह पद्मरागमणि बाँधी, जिसकी सुन्दर चमक चारों ओर फैल गयी॥ २३॥ तत्पश्चात् उन्होंने कस्तूरी से सुवासित चन्दन का अंगराग लगाकर गोरोचन से राजा के मुख पर चित्रकारी की॥ २४॥ आभूषण तथा माला पहने और हंस का चित्र छपा हुआ दुपट्टा ओढ़े हुए अतिथि राजा उस समय ऐसे सुन्दर लगते थे, मानो राजलक्ष्मीरूपिणी वधू के दुल्हे हों॥ २५॥ सोने के चौखटेवाले दर्पण में जब वे अपनी सजावट देखने लगे, उस समय उनका प्रतिबिम्ब ऐसा लगा कि जैसे सूर्योदयकाल में सुमेरु पर्वत पर कल्पवृक्ष प्रतिबिम्बित हो रहा हो॥ २६॥ अब वे अपनी उस सभा की ओर चले, जो देवताओं की सभा सुधर्मा से कुछ भी कम नहीं थी। उनके पीछे-पीछे बहुत से सेवक चँवर डुलाते तथा जय-जयकार करते हुए चल रहे थे॥ २७॥ वहाँ पहुँचकर चँदोवा लगे हुए अपने पूर्वजों के सिंहासन पर वे जा बैठे। उनके पैर के नीचे जो पीढा

शुशुभे तेन चाक्रान्तं मङ्गलायतनं महत् । श्रीवत्सलक्षणं वक्षः कौस्तुभेनेव कैशवम् ॥ २९ ॥
बभौ भूयः कुमारत्वादाधिराज्यमवाप्य सः । रेखाभावादुपारूढः सामग्र्यमिव चन्द्रमाः ॥ ३० ॥
प्रसन्नमुखरागं तं स्मितपूर्वाभिभाषिणम् । मूर्तिमन्तममन्यन्त विश्वासमनुजीविनः ॥ ३१ ॥
स पुरं पुरुहूतश्रीः कल्पद्रुमनिभध्वजाम् । क्रममाणश्चकार द्यां नागेनैरावतौजसा ॥ ३२ ॥
तस्यैकस्योच्छ्रितं छत्रं मूर्ध्नि तेनामलत्विषा । पूर्वराजवियोगौष्म्यं कृत्स्नस्य जगतो हृतम् ॥ ३३ ॥
धूमादग्नेः शिखाः पश्चादुदयादंशवो रवेः । सोऽतीत्य तेजसां वृत्तिं सममेवोत्थितो गुणैः ॥ ३४ ॥
तं प्रीतिविशदैर्नेत्रैरन्वयुः पौरयोषितः । शरत्प्रसन्नैर्ज्योतिर्भिर्विभावर्य इव ध्रुवम् ॥ ३५ ॥
अयोध्यादेवताश्चैनं प्रशस्तायतनार्चिताः । अनुदध्युरनुध्येयं सान्निध्यैः प्रतिमागतैः ॥ ३६ ॥
यावन्नाश्यायते वेदिरभिषेकजलाप्लुता । तावदेवास्य वेलान्तं प्रतापः प्राप दुःसहः ॥ ३७ ॥
वसिष्ठस्य गुरोर्मन्त्राः सायकास्तस्य धन्विनः । किं तत्साध्यं यदुभये साधयेयुर्न सङ्गताः ॥ ३८ ॥
स धर्मस्थसखः शश्वदर्थिप्रत्यर्थिनां स्वयम् । ददर्श संशयच्छेद्यान्व्यवहारानतन्द्रितः ॥ ३९ ॥
ततः परमभिव्यक्तसौमनस्यनिवेदितैः । युयोज पाकाभिमुखैर्भृत्यान्विज्ञापनाफलैः ॥ ४० ॥
प्रजास्तद्गुरुणा नद्यो नभसेव विवर्धिताः । तस्मिंस्तु भूयसीं वृद्धिं नभस्ये ता इवाययुः ॥ ४१ ॥
यदुवाच न तन्मिथ्या यद्ददौ न जहार तत् । सोऽभूद्भग्नव्रतः शत्रूनुद्धृत्य प्रतिरोपयन् ॥ ४२ ॥

रखा था, वह प्रणाम करने वाले राजाओं के सिर के मणियों की रगड से घिस गया था॥ २८॥ भृगु के चरण की चोट से बने हुए श्रीवत्स-चिह्नवाला विष्णु का वक्षःस्थल जैसे कौस्तुभमणि से चमक उठा था, वैसे ही राजा अतिथि के बैठने से वह सभाभवन भी जगमगाने लगा॥ २९॥ इस प्रकार राजा अतिथि को युवराज बनने का अवसर ही नहीं मिला। क्योंकि वे कुमार अवस्था के बाद तुरन्त महाराज हो गये। जैसे एक ही कलावाले चन्द्रमा में तुरन्त सोलहों कलाएँ आ गयी हों॥ ३०॥ उनका मुख सदा प्रसन्न रहता था और वे सबसे हँसकर बोलते थे। अतः उनके सेवक उन्हें मूर्तिमान् विश्वास समझते थे॥ ३१॥ इन्द्र जैसे ऐश्वर्यशाली राजा अतिथि जब ऐरावत के सदृश बलवान् हाथी पर चढकर अयोध्या में घूमने निकले, तब कल्पवृक्ष के समान ध्वजाओं से अलंकृत अयोध्या नगरी स्वर्ग-सदृश दीखने लगी॥ ३२॥ राजछत्र यद्यपि केवल राजा अतिथि के सिर पर ही लगा हुआ था, परन्तु उस श्वेत छत्र ने सारे संसार का वह ताप दूर कर दिया, जो कुश के वियोग से उत्पन्न हो गया था॥ ३३॥ धुआँ निकलने के बाद आग की लपटें उठती हैं और किरणें सूर्योदय के पश्चात् दिखलायी देती हैं, परन्तु अतिथि ने इन तेजस्वियों के नियमों को भी उलट दिया। क्योंकि उनके गुण राजा बनने के साथ-साथ प्रकट हो गये॥ ३४॥ शरद् ऋतु की निर्मल रातों के तारे जैसे ध्रुव के चारों ओर घूमते हैं, वैसे ही नगर की स्त्रियों की प्रेमभरी आँखें अतिथि पर जा अटकीं॥ ३५॥ अयोध्या के बडे-बडे मन्दिरों में जिन देवताओं की पूजा की गयी, उन्होंने अपनी मूर्तियों में आकर कृपा के योग्य राजा अतिथि पर बहुत बडी कृपा की॥ ३६॥ अभी उनके अभिषेक के जल से भींगी वेदी सूखने भी नहीं पायी थी कि उनका दुःसह प्रताप समुद्र के तट तक जा पहुँचा॥ ३७॥ गुरु वसिष्ठ के मन्त्र और धनुषधारी राजा अतिथि के बाण इन दोनों ने कोई भी ऐसा कार्य नहीं था, जिसे मिलकर न पूरा किया हो॥ ३८॥ धर्मात्माओं के मित्र राजा अतिथि आलस्य छोड़कर वादी-प्रतिवादियों के पेंचीदे झगडे स्वय निपटाया करते थे॥ ३९॥ जैसे वृक्ष को पुष्पित देखकर यह अनुमान हो जाता है कि इससे इतने फल मिलेंगे। वैसे ही राजा अतिथि का प्रसन्न मुख देखकर ही उनके सेवक जान जाते थे कि हमें इतना धन मिलेगा॥ ४०॥ कुश के समय में जो प्रजा सावन की नदी के समान भरी-पूरी थी, वह अतिथि के राज्य में भादों की नदी के समान और भी अधिक बढ़ गयी॥ ४१॥ राजा अतिथि ने मुँह से जो कहा, वह कर दिखलाया और जिसे जो दिया, उससे फिर

वयोरूपविभूतीनामेकैकं मदकारणम् । तानि तस्मिन्समस्तानि न तस्योत्सिषिचे मनः ॥ ४३ ॥
इत्थं जनितरागासु प्रकृतिष्वनुवासरम् । अक्षोभ्यः स नवोऽप्यासीद्दृढमूल इव द्रुमः ॥ ४४ ॥
अनित्याः शत्रवो बाह्या विप्रकृष्टाश्च ते यतः । अतः सोऽभ्यन्तरान्नित्यान् षट्पूर्वमजयद्रिपून् ॥
प्रसादाभिमुखे तस्मिंश्चपलापि स्वभावतः । निकषे हेमरेखेव श्रीरासीदनपायिनी ॥ ४६ ॥
कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम् । अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः ॥
न तस्य मण्डले राज्ञो न्यस्तप्रणिधिदीधितेः । अदृष्टमभवत्किञ्चिद्व्यभ्रस्येव विवस्वतः ॥ ४८ ॥
रात्रिन्दिवविभागेषु यदादिष्टं महीक्षिताम् । तत्सिषेवे नियोगेन स विकल्पपराङ्मुखः ॥ ४९ ॥
मन्त्रः प्रतिदिनं तस्य बभूव सह मन्त्रिभिः । स जातु सेव्यमानोऽपि गुप्तद्वारो न सूच्यते ॥ ५० ॥
परेषु स्वेषु च क्षिप्तैरविज्ञातपरस्परैः । सोऽपसर्पैर्जजागार यथाकालं स्वपन्नपि ॥ ५१ ॥
दुर्गाणि दुर्ग्रहाण्यासंस्तस्य रोद्धुरपि द्विषाम् । नहि सिंहो गजास्कन्दी भयाद्गिरिगुहाशयः ॥ ५२ ॥
भव्यमुख्याः समारम्भाः प्रत्यवेक्ष्या निरत्ययाः । गर्भशालिसधर्माणस्तस्य गूढं विपेचिरे ॥ ५३ ॥
अपथेन प्रववृते न जातूपचितोऽपि सः । वृद्धौ नदीमुखेनैव प्रस्थानं लवणाम्भसः ॥ ५४ ॥

लिया नहीं। पर हाँ, शत्रुओं को उखाड़कर उन्हें फिर जमाते समय उन्होंने यह नियम नहीं निवाहा ॥ ४२ ॥ यौवन, सौन्दर्य और ऐश्वर्य—इनमें से यदि एक भी किसी के पास होता है तो वह मतवाला हो जाता है, परन्तु राजा अतिथि के पास ये सभी वस्तुएँ थीं, तथापि उन्हें अभिमान नहीं था ॥ ४३ ॥ इस प्रकार प्रजा उनसे दिनोदिन अधिक प्रेम करने लगी और नये राजा होने पर भी वे दृढ जड़वाले वृक्ष-सदृश अचल हो गये ॥ ४४ ॥ बाहरी शत्रु एक तो सदा होते नहीं और होते भी हैं तो दूर रहते हैं, यह सोचकर उन्होंने सदा शरीर के भीतर रहनेवाले काम आदि छहों शत्रुओं को पहले जीता ॥ ४५ ॥ स्वभावतः चंचला लक्ष्मी भी प्रसन्नमुख अतिथि के पास आकर वैसे ही अचल भाव से बैठ गयी, जैसे कसौटी पर खिंची हुई सोने की लकीर पक्की हो जाती है ॥ ४६ ॥ सदा कूटनीति से काम लेना कायरता है और मार-काट करके जीतना हिंसक पशुओं का काम है। इसलिए उन्होंने कूटनीति और मार-काट इन दोनों नीतियों को मिलाकर शत्रुओं को जीता ॥ ४७ ॥ जैसे खुले आकाश में सूर्य की किरणों के फैल जाने से कुछ भी छिपा नहीं रहता, वैसे ही अतिथि ने चारों ओर गुप्तचरों का ऐसा जाल बिछा दिया था कि प्रजा की कोई बात उनसे छिपी नहीं रहती थी ॥ ४८ ॥ राजाओं के लिए शास्त्रों ने दिन और रात के जो कर्तव्य निर्धारित किये हैं, उन सबको राजा अतिथि नियमपूर्वक पालते थे ॥ ४९ ॥ वे प्रतिदिन मन्त्रियों के साथ राज्यसम्बन्धी मन्त्रणा करते थे, परन्तु वे मंत्रणाएँ इतनी गुप्त होती थीं कि प्रतिदिन व्यवहार में आने पर भी कोई उनको नहीं जान पाता था ॥ ५० ॥ अपने कर्मचारियों तथा शत्रुओं का भेद जानने के लिए उन्होंने ऐसी चतुराई से उनके पीछे दूत लगा रखे थे कि वे दूत भी परस्पर एक-दूसरे को नहीं पहचानते थे। उन दूतों द्वारा सब समाचार मिलते रहने से वे सोते हुए भी सदा जागते रहते थे ॥ ५१ ॥ यद्यपि वे युद्ध में ही शत्रुओं का अवरोध करते थे, तथापि उन्होंने राजधानी के चारों ओर बहुत बड़े-बडे दुर्ग बनवा रखे थे। क्योंकि हाथियों को मारनेवाला सिंह हाथियों के भय से गुफा में नहीं सोता, बल्कि उसका स्वभाव ही ऐसा होता है ॥ ५२ ॥ राजा अतिथि जो काम करते थे, वे सब कल्याणकारी होते थे। वे कोई भी काम करने से पहले उस पर भलीभाँति सोच लेते थे। इसीलिए उसमें किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं पड़ती थी। जैसे धान का दाना भीतर ही पकता है, वैसे ही उनका काम गुप्तरूप से आरम्भ होकर पूरा होता था ॥ ५३ ॥ ऐश्वर्यशाली होते हुए भी उन्होंने कभी गलत मार्ग पर पैर नहीं रखा। क्योंकि ज्वार के समय भी समुद्र नदियों के मार्ग से ही बढ़ता है, दूसरे मार्गों से नहीं ॥ ५४ ॥

कामं प्रकृतिवैराग्यं सद्यः शमयितुं क्षमः । यस्य कार्यः प्रतीकारः स तन्नैवोदपादयत् ॥ ५५ ॥
शक्येष्वेवाभवद्यात्रा तस्य शक्तिमतः सतः । समीरणसहायोऽपि नाम्भःप्रार्थी दवानलः ॥ ५६ ॥
न धर्ममर्थकामाभ्यां बबाधे न च तेन तौ । नार्थं कामेन कामं वा सोऽर्थेन सदृशस्त्रिषु ॥ ५७ ॥
हीनान्यनुपकर्तॄणि प्रवृद्धानि विकुर्वते । तेन मध्यमशक्तीनि मित्राणि स्थापितान्यतः ॥ ५८ ॥
परात्मनोः परिच्छिद्य शक्त्यादीनां बलाबलम् । ययावेभिर्बलिष्ठश्चेत्परस्मादास्त सोऽन्यथा ॥
कोशेनाश्रयणीत्वमिति तस्यार्थसङ्ग्रहः । अम्बुगर्भो हि जीमूतश्चातकैरभिनन्द्यते ॥ ६० ॥
परकर्मापहः सोऽभूदुद्यतः स्वेषु कर्मसु । आवृणोदात्मनो रन्ध्रं रन्ध्रेषु प्रहरन् रिपून् ॥ ६१ ॥
पित्रा संवर्धितो नित्यं कृतास्त्रः साम्परायिकः । तस्य दण्डवतो दण्डः स्वदेहान्न व्यशिष्यत ॥ ६२ ॥
सर्पस्येव शिरोरत्नं नास्य शक्तित्रयं परः । स चकर्ष परस्मात्तदयस्कान्त इवायसम् ॥ ६३ ॥
वापीष्विव स्रवन्तीषु वनेषूपवनेष्विव । सार्थाः स्वैरं स्वकीयेषु चेरुर्वेश्मस्विवाद्रिषु ॥ ६४ ॥
तपो रक्षन्स विघ्नेभ्यस्तस्करेभ्यश्च सम्पदः । यथास्वमाश्रमैश्चक्रे वर्णैरपि षडंशभाक् ॥ ६५ ॥
खनिभिः सुषुवे रत्नं क्षेत्रैः सस्यं वनैर्गजान् । दिदेश वेतनं तस्मै रक्षासदृशमेव भूः ॥ ६६ ॥
स गुणानां बलानां च षण्णां षण्मुखविक्रमः । बभूव विनियोगज्ञः साधनीयेषु वस्तुषु ॥ ६७ ॥

उनमें इतनी प्रबल शक्ति थी कि यदि किसी कारण प्रजा में असन्तोष फैले तो उसे तुरन्त दूर कर दे, परन्तु उन्होंने प्रजा में कोई ऐसा असन्तोष उत्पन्न ही नहीं होने दिया कि जिसे दूर करने की आवश्यकता पडती ॥ ५५ ॥ वे बडे शक्तिमान् थे। अतएव शक्तिशाली राजाओं पर ही चढाई करते थे, दुर्बलों पर नहीं। क्योंकि वायु की सहायता मिलने पर भी वन में लगी हुई दवाग्नि पानी को नहीं जलाती ॥ ५६ ॥ अर्थ और काम के लिए उन्होंने कभी धर्म को नहीं छोडा और धर्म मे बँधकर अर्थ तथा काम को नहीं त्यागा और न अर्थ के कारण काम को या काम के कारण अर्थ को ही छोडा, अपितु धर्म, अर्थ और काम तीनों के साथ वे एक-सा व्यवहार करते थे ॥ ५७ ॥ यदि नीच और धनी मित्र मिल जाते हैं तो कुछ न कुछ बाधा डालते हैं, इसीलिए उन्होंने ऐसे लोगों को मित्र बनाया, जो न नीच थे और न धनी ॥ ५८ ॥ चढाई करने के पहले वे अपने तथा अपने शत्रु का बल और त्रुटि भलीभाँति जान लेते थे। जब शत्रु से अपना बल अधिक देखते, तभी उस पर आक्रमण करते थे; नहीं तो चुप बैठ जाते थे ॥ ५९ ॥ उन्होंने धन इसलिए एकत्र किया कि इससे दीन लोग आश्रय पाते हैं। क्योंकि चातक जलभरे बादलों का ही स्वागत करते हैं ॥ ६० ॥ इस प्रकार शत्रुओं का उद्योग नष्ट करके वे अपने काम में लग गये। उन्होंने शत्रुओं के दोष देखकर उन्हें नष्ट कर दिया और अपने भी दोष दूर कर दिये ॥ ६१ ॥ पिता कुश के प्रयत्न से बढी, शास्त्रास्त्रसम्पन्न तथा युद्ध करने में समर्थ सेना को दंडधर अतिथि अपने शरीर के समान प्यार करते थे ॥ ६२ ॥ सर्प के सिर से जैसे मणि नहीं निकाली जा सकती, वैसे ही शत्रुगण इनके प्रभाव, उत्साह और मन्त्र—इन तीन शक्तियों को अपनी ओर नहीं खींच सके। जैसे चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींच लेता है, वैसे ही इन्होंने शत्रुओं की उन तीनों शक्तियों को अपनी ओर खींच लिया ॥ ६३ ॥ राजा अतिथि का इतना प्रताप था कि व्यापारी लोग बेरोक-टोक व्यापार करते थे। उनके लिए नदियाँ बावलियों जैसे घरेलू, वन उद्यान-सदृश सुखकर और पहाड अपने घर जैसे सुगम हो गये थे ॥ ६४ ॥ अतिथि ने विघ्नों से तपस्वियों के तप की रक्षा की, चोरों से प्रजा की सम्पत्ति बचायी और चारों आश्रमों तथा चारों वर्णों से उनकी पूँजी के अनुसार छठा भाग प्राप्त किया ॥ ६५ ॥ जैसे वे पृथ्वी की रक्षा कर रहे थे, वैसे ही पृथ्वी भी उन्हें उचित वेतन दे रही थी। खानों ने रत्न दिये, खेतों ने अन्न दिया और वनों ने हाथी दिये ॥ ६६ ॥ कार्तिकेय जैसे पराक्रमी राजा अतिथि यह भलीभाँति जानते थे कि सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव—इन छः राजगुणों को कैसे उपयोग में लाना

इति क्रमात्प्रयुञ्जानो राजनीतिं चतुर्विधाम् । आतीर्थादप्रतीघातं स तस्याः फलमानशे ॥ ६८ ॥
कूटयुद्धविधिज्ञेऽपि तस्मिन्सन्मार्गयोधिनि । भेजेऽभिसारिकावृत्तिं जयश्रीर्वीरगामिनी ॥ ६९ ॥
प्रायः प्रतापभग्नत्वादरीणां तस्य दुर्लभः । रणो गन्धद्विपस्येव गन्धभिन्नान्यदन्तिनः ॥ ७० ॥
प्रवृद्धौ हीयते चन्द्रः समुद्रोऽपि तथाविधः । स तु तत्समवृद्धिश्च न चाभूत्ताविव क्षयी ॥ ७१ ॥
सन्तस्तस्याभिगमनादत्यर्थं महतः कृशाः । उदधेरिव जीमूताः प्रापुर्दातृत्वमर्थिनः ॥ ७२ ॥
स्तूयमानः स जिह्राय स्तुत्यमेव समाचरन् । तथापि ववृधे तस्य तत्कारिद्वेषिणो यशः ॥ ७३ ॥
दुरितं दर्शनेन घ्नंस्तत्त्वार्थेन नुदंस्तमः । प्रजाः स्वतन्त्रयाञ्चक्रे शश्वत्सूर्य इवोदितः ॥ ७४ ॥
इन्दोरगतयः पद्मे सूर्यस्य कुमुदेंऽशवः । गुणास्तस्य विपक्षेऽपि गुणिनो लेभिरेऽन्तरम् ॥ ७५ ॥
पराभिसन्धानपरं यद्यप्यस्य विचेष्टितम् । जिगीषोरश्वमेधाय धर्म्यमेव बभूव तत् ॥ ७६ ॥
एवमुद्यन्प्रभावेण शास्त्रनिर्दिष्टवर्त्मना । वृषेव देवो देवानां राज्ञां राजा बभूव सः ॥ ७७ ॥
पञ्चमं लोकपालानामूचुः साधर्म्ययोगतः । भूतानां महतां षष्ठमष्टमं कुलभूभृताम् ॥ ७८ ॥
दूरापवर्जितच्छत्रैस्तस्याज्ञां शासनार्पिताम् । दधुः शिरोभिर्भूपाला देवाः पौरन्दरीमिव ॥ ७९ ॥

चाहिए ॥ ६७ ॥ इस प्रकार साम-दाम आदि चारों उपायों के साथ राजनीति का उपयोग करते हुए महाराज अतिथि ने मंत्रियों आदि की सहायता से बिना किसी बाधा के उपर्युक्त उपायों का फल अनायास प्राप्त कर लिया ॥ ६८ ॥ वे कपटयुद्ध भी करना जानते थे, परन्तु युद्ध में सदा धर्म की लड़ाई ही लड़ते थे। अतएव वीरों की अनुचरी विजयश्री अभिसारिका की भाँति चुपके से उनके पास चली आती थी ॥ ६९ ॥ युद्धक्षेत्र में अतिथि को देखते ही शत्रुओं के छक्के छूट जाते थे और वे प्राण लेकर भाग खड़े होते थे। इसलिए जैसे मदहीन हाथी मदवाले हाथी से नहीं लड पाते, वैसे ही अतिथि से लडने का कोई भी शत्रु साहस ही नहीं कर पाता था ॥ ७० ॥ पूरी तरह बढ चुकने पर चन्द्रमा घटने लगता है और समुद्र की भी यही दशा होती है, परन्तु अतिथि के साथ यह बात नहीं थी। वे चन्द्रमा और समुद्र के समान बढे, किन्तु उनके समान घटे नहीं ॥ ७१ ॥ जैसे बिना पानीवाले मेघ समुद्र के पास जाते हैं और वह उन्हें इतना जल दे देता है कि वे सम्पूर्ण संसार को जल बाँटने लगते हैं, वैसे ही जो बहुत से निर्धन विद्वान् राजा अतिथि के पास जाते थे, उन्हें वे इतना धन दे देते थे कि वे विद्वान् स्वयं भी दूसरों को धन-दान देने लग जाते थे ॥ ७२ ॥ उनके सभी काम प्रशंसनीय होते थे, परन्तु जब कोई उनकी प्रशंसा करता था तब वे सकुचा जाते थे। प्रशंसा की इच्छा न करने पर भी उनका यश बराबर बढता गया ॥ ७३ ॥ जैसे उदीयमान सूर्य के दर्शन से पाप दूर हो जाते हैं, वैसे ही उनके भी दर्शन से पाप भाग जाते थे। वे ज्ञानी थे, सो दूसरों को तत्त्वज्ञान सिखाकर अज्ञान का अँधेरा मिटाते थे। अतएव उन्होंने प्रजा को सब प्रकार से स्वतंत्र कर दिया था ॥ ७४ ॥ चन्द्रमा की किरणें कमल में तथा सूर्य की किरणें कुमुद में नहीं प्रविष्ट हो पातीं, परन्तु अतिथि के गुणों ने शत्रुओं के हृदय में भी घर कर लिया था अर्थात् शत्रु भी उनके गुणों का आदर करते थे ॥ ७५ ॥ अश्वमेध यज्ञ के लिए जब वे दिग्विजय करने को निकले, तब उनका काम यद्यपि शत्रुओं को किसी भी प्रकार हराना ही था, परन्तु उस समय भी उन्होंने धर्म से ही काम लिया, कूटनीति अथवा छल का प्रयोग नहीं किया ॥ ७६ ॥ इस तरह शास्त्रीय मार्ग पर चलने से अतिथि का प्रभाव बढ गया और जैसे इन्द्र देवताओं के देवता है, वैसे ही वे राजाओं के राजा हो गये ॥ ७७ ॥ इन्द्र आदि चारों लोकपालों के समान पराक्रमी होने के कारण लोग उन्हें पाँचवाँ लोकपाल कहते थे। पृथ्वी-जल आदि पाँचों तत्त्वों के समान महान् होने के कारण लोग उन्हें छठा तत्त्व मानते थे। हिमाचल आदि सात कुलपर्वतों के समान विशाल होने के कारण वे आठवें कुलपर्वत कहलाते थे ॥ ७८ ॥ जैसे देवता इन्द्र की आज्ञा मानते हैं, वैसे ही सब राजे अपने-अपने छत्र उतारकर

ऋत्विजः स तथाऽनर्च्च दक्षिणाभिर्महाक्रतौ । यथा साधारणीभूतं नामास्य धनदस्य च ॥ ८० ॥
इन्द्राद्वृष्टिर्नियमितगदोद्रेकवृत्तिर्यमोऽभूद्यादोनाथः शिवजलपथः कर्मणे नौचराणाम् ।
पूर्वापेक्षी तदनु विदधे कोषवृद्धिं कुबेरस्तस्मिन्दण्डोपनतचरितं भेजिरे लोकपालाः ॥ ८१ ॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
अतिथिवर्णनं नाम सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करते थे ॥ ७९ ॥ अश्वमेध महायज्ञ में जिन ब्राह्मणों ने यज्ञ कराया था, उनको अतिथि ने इतनी दक्षिणा दी कि लोग उन्हें भी दूसरा कुबेर मानने लगे ॥ ८० ॥ उनके साम्राज्य पर इन्द्र ने वर्षा की, यमराज ने रोगों की रोक-थाम की, वरुण ने नाविकों के लिए जल का मार्ग खोल दिया और कुबेर ने इनका राजकोश भरा। इस प्रकार इन्द्र आदि लोकपाल जैसे उनके प्रताप से ही डरकर उनकी सेवकाई किया करते थे ॥ ८१ ॥

इस प्रकार रघुवंशमहाकाव्य में अतिथि-वर्णन नामक
सतरहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १७ ॥

अष्टादशः सर्गः

स नैषधस्यार्थपतेः सुतायामुत्पादयामास निषिद्धशत्रुः।
अनूनसारं निषधान्नगेन्द्रात्पुत्रं यमाहुर्निषधाख्यमेव॥ १॥
तेनोरुवीर्येण पिता प्रजायै कल्पिष्यमाणेन ननन्द यूना।
सुवृष्टियोगादिव जीवलोकः सस्येन सम्पत्तिफलोन्मुखेन॥ २॥
शब्दादि निर्विश्य सुखं चिराय तस्मिन्प्रतिष्ठापितराजशब्दः।
कौमुद्वतेयः कुमुदावदातैर्द्यामर्जितां कर्मभिरारुरोह॥ ३॥
पौत्रः कुशस्यापि कुशेशयाक्षः ससागरां सागरधीरचेताः।
एकातपत्रां भुवमेकवीरः पुरार्गलादीर्घभुजो बुभोज॥ ४॥
तस्यानलौजास्तनयस्तदन्ते वंशश्रियं प्राप नलाभिधानः।
यो नड्वलानीव गजः परेषां बलान्यमृद्नान्नलिनाभवक्त्रः॥ ५॥
नभश्चरैर्गीतयशाः स लेभे नभस्तलश्यामतनुं तनूजम्।
ख्यातं नभःशब्दमयेन नाम्ना कान्तं नभोमासमिव प्रजानाम्॥ ६॥
तस्मै विसृज्योत्तरकोसलानां धर्मोत्तरस्तत्प्रभवे प्रभुत्वम्।
मृगैरजर्यं जरसोपदिष्टमदेहबन्धाय पुनर्बबन्ध॥ ७॥
तेन द्विपानामिव पुण्डरीको राज्ञामजय्योऽजनि पुण्डरीकः।
शान्ते पितर्याहृतपुण्डरीका यं पुण्डरीकाक्षमिव श्रिता श्रीः॥ ८॥
स क्षेमधन्वानममोघधन्वा पुत्रं प्रजाक्षेमविधानदक्षम्।
क्ष्मां लम्भयित्वा क्षमयोपपन्नं वने तपः क्षान्ततरश्चचार॥ ९॥

शत्रुओं को नष्ट करनेवाले राजा अतिथि की रानी निषधराज की पुत्री थी। उस रानी से अतिथि ने निषध पर्वत के समान बलवान् पुत्र उत्पन्न किया और उसका नाम भी निषध ही था॥ १॥ जैसे सामयिक वर्षा से फले हुए अनाज के पके खेतों को देखकर संसार के प्राणी प्रसन्न होते हैं, वैसे ही अत्यन्त प्रतापी युवराज निषध को देखकर राजा अतिथि भी बहुत प्रसन्न हुए॥ २॥ कुमुद्वतीतनय अतिथि ने बहुत दिनों तक सुख भोगा। तदनन्तर निषध को राजपाट सौंपकर अपने पुण्यबल से प्राप्त स्वर्गलोक का सुख भोगने चले गये॥ ३॥ कमल के समान नेत्र, समुद्र के समान गम्भीरचित्त और नगर के प्रधान फाटक की अर्गला के समान बडी-बड़ी बाँहोंवाले अद्वितीय वीर निषध ने भी सागर तक विस्तृत पृथ्वी का भोग किया॥ ४॥ तदनन्तर उनके अग्नि के समान तेजस्वी पुत्र नल हुए। उस कमल जैसे सुन्दर मुखवाले राजा ने शत्रुओं के बल को वैसे ही तोड दिया, जैसे हाथी नरकट को तोड़ डालता है॥ ५॥ राजा नल इतने यशस्वी थे कि देवलोक में गन्धर्व लोग उनके गुण गाते थे। उनको आकाश सदृश साँवला नभ नाम का पुत्र प्राप्त हुआ, जो लोगों को श्रावण मास जैसा प्यारा लगा॥ ६॥ धर्मात्मा नल ने उत्तरकोसल का राज्य उस पुत्र नभ को सौंप दिया और स्वयं बुढापे के कारण जंगलों में मृगों के साथ इसलिए रहने लगे कि जिससे फिर संसार में जन्म न लेना पड़े॥ ७॥ नभ को पुण्डरीक नामक पुत्र प्राप्त हुआ और जैसे हाथियों में पुण्डरीक नाम का हाथी सर्वश्रेष्ठ है, वैसे ही उस समय के राजाओं में वे ही सर्वश्रेष्ठ थे। पिता के स्वर्गवासी हो जाने पर कमलधारिणी लक्ष्मी ने उन्हें ही विष्णु मानकर पति बना लिया॥ ८॥ सफल धनुषधारी पुण्डरीक ने प्रजा का कल्याण करने में समर्थ और शान्त स्वभाववाले अपने पुत्र

अनीकिनीनां समरेऽग्रयायी तस्यापि देवप्रतिमः सुतोऽभूत्।
व्यश्रूयतानीकपदावसानं देवादि नाम त्रिदिवेऽपि यस्य॥ १०॥
पिता समाराधनतत्परेण पुत्रेण पुत्री स यथैव तेन।
पुत्रस्तथैवात्मजवत्सलेन स तेन पित्रा पितृमान् बभूव॥ ११॥
पूर्वस्तयोरात्मसमे चिरोढामात्मोद्भवे वर्णचतुष्टयस्य।
धुरं निधायैकनिधिर्गुणानां जगाम यज्वा यजमानलोकम्॥ १२॥
वशी सुतस्तस्य वशंवदत्वात् स्वेषामिवासीद्द्विषतामपीष्टः।
सकृद्विविग्नानपि हि प्रयुक्तं माधुर्यमीष्टे हरिणान् ग्रहीतुम्॥ १३॥
अहीनगुर्नाम स गां समग्रामहीनबाहुद्रविणः शशास।
यो हीनसंसर्गपराङ्मुखत्वाद् युवाप्यनर्थैर्व्यसनैर्विहीनः॥ १४॥
गुरोः स चानन्तरमन्तरज्ञः पुंसां पुमानाद्य इवावतीर्णः।
उपक्रमैरस्खलितैश्चतुर्भिश्चतुर्दिगीशश्चतुरो बभूव॥ १५॥
तस्मिन्प्रयाते परलोकयात्रां जेतर्यरीणां तनयं तदीयम्।
उच्चैःशिरस्त्वाज्जितपारियात्रं लक्ष्मीः सिषेवे किल पारियात्रम्॥ १६॥
तस्याभवत् सूनुरुदारशीलः शीलः शिलापट्टविशालवक्षाः।
जितारिपक्षोऽपि शिलीमुखैर्यः शालीनतामव्रजदीड्यमानः॥ १७॥
तमात्मसम्पन्नमनिन्दितात्मा कृत्वा युवानं युवराजमेव।
सुखानि सोऽभुङ्क्त सुखोपरोधि वृत्तं हिं राज्ञामुपरुद्धवृत्तम्॥ १८॥

क्षेमधन्वा को राज्य सौंप दिया और स्वयं शान्त मन से जङ्गल में तप करने चले गये॥ ९॥ उस क्षेमधन्वा को भी इन्द्र के समान प्रतापी पुत्र प्राप्त हुआ, जो युद्ध में सेना के आगे चलता था। जिसका देव शब्द से आरम्भ और अनीक शब्द से अन्त होनेवाला 'देवानीक' नाम स्वर्ग में भी प्रसिद्ध हो गया था॥ १०॥ उस पितृभक्त पुत्र को पाकर जैसे क्षेमधन्वा सुपुत्रवान् हुए थे, वैसे ही पुत्रप्रिय पिता को पाकर देवानीक भी पितृमान् हुए॥ ११॥ बड़े-बड़े यज्ञ करनेवाले और गुणी क्षेमधन्वा अपने ही जैसे तेजस्वी पुत्र को चारों वर्णों की रक्षा का भार सौंपकर स्वर्ग चले गये॥ १२॥ उनके जितेन्द्रिय पुत्र देवानीक इतने मधुरभाषी थे कि शत्रु भी उनका वैसे ही आदर करते थे जैसे मित्र करते थे, क्योंकि मधुर वाणी में ऐसा प्रभाव होता है कि एक वार के डरे हुए हिरन भी उनके वशीभूत हो जाते हैं॥ १३॥ देवानीक के पुत्र का नाम अहीनगु था। उसकी वाँहें बड़ी शक्तिशालिनी थीं। उसने कभी नीच लोगों का साथ नहीं किया। इसलिए व्यसनों से दूर रहकर युवावस्था में ही वह सम्पूर्ण पृथ्वी पर शासन करने लगा॥ १४॥ राजा अहीनगु वड़ा चतुर था और सबके मन की बातें जान लेता था। पिता के मर जाने पर राजा होकर वह सफलता के साथ साम-दाम-दण्ड-भेद का प्रयोग करके शीघ्र ही विष्णु के समान चारों दिशाओं का स्वामी बन गया॥ १५॥ उस शत्रुविजयी राजा के स्वर्गवासी हो जाने पर अयोध्या की राजलक्ष्मी उन्हीं के जैसे प्रतापी पुत्र पारियात्र की सेवा करने लगी, जिसने अपने सिर की ऊँचाई से पारियात्र पर्वत को भी नीचा दिखा दिया था॥ १६॥ उन्हें शील नाम का वड़ा शीलवान् पुत्र प्राप्त हुआ, जिसकी छाती पत्थर की पटिया जैसी मोटी थी। यद्यपि उसने अपने बाणों से शत्रुओं को जीत लिया था, फिर भी स्वयं सदा विनम्र बना रहा॥ १७॥ शुद्धचरित्र पारियात्र ने बुद्धिमान् शील को युवराज बनाने के बाद ही सुख भोगना प्रारंभ किया। क्योंकि राजा रहते समय उनके पास इतने अधिक काम थे कि उन्हें

तं रागबन्धिष्ववितृप्तमेव भोगेषु सौभाग्यविशेषभोग्यम्।
विलासिनीनामरतिक्षमापि जरा वृथा मत्सरिणी जहार॥ १९॥
उन्नाभ इत्युद्गतनामधेयस्तस्यायथार्थोन्नितनाभिरन्ध्रः।
सुतोऽभवत् पङ्कजनाभकल्पः कृत्स्नस्य नाभिर्नृपमण्डलस्य॥ २०॥
ततः परं वज्रधरप्रभावस्तदात्मजः संयति वज्रघोषः।
बभूव वज्राकरभूषणायाः पतिः पृथिव्याः किल वज्रनाभः॥ २१॥
तस्मिन्गते द्यां सुकृतोपलब्धां तत्सम्भवं शङ्खणमर्णवान्ता।
उत्खातशत्रुं वसुधोपतस्थे रत्नोपहारैरुदितैः खनिभ्यः॥ २२॥
तस्यावसाने हरिदश्वधामा पित्र्यं प्रपेदे पदमश्विरूपः।
वेलातटेषूषितसैनिकाश्वं पुराविदो यं व्युषिताश्वमाहुः॥ २३॥
आराध्य विश्वेश्वरमीश्वरेण तेन क्षितेर्विश्वसहो विजज्ञे।
पातुं सहो विश्वसखः समग्रां विश्वम्भरामात्मजमूर्तिरात्मा॥ २४॥
अंशे हिरण्याक्षरिपोः स जाते हिरण्यनाभे तनये नयज्ञः।
द्विषामसह्यः सुतरां तरूणां हिरण्यरेता इव सानिलोऽभूत्॥ २५॥
पिता पितॄणामनृणस्तमन्ते वयस्यनन्तानि सुखानि लिप्सुः।
राजानमाजानुविलम्बिबाहुं कृत्वा कृती वल्कलवान् बभूव॥ २६॥
कौसल्य इत्युत्तरकोसलानां पत्युः पतङ्गान्वयभूषणस्य।
तस्यौरसः सोमसुतः सुतोऽभून्नेत्रोत्सवः सोम इव द्वितीयः॥ २७॥
यशोभिराब्रह्मसभं प्रकाशः स ब्रह्मभूयं गतिमाजगाम।
ब्रह्मिष्ठमाधाय निजेऽधिकारं ब्रह्मिष्ठमेव स्वतनुप्रसूतम्॥ २८॥

सुख भोगने का अवसर ही नहीं मिलता था॥ १८॥ वे अभी भोगों से तृप्त नहीं हुए थे और सुन्दरी स्त्रियों से भोग कर ही रहे थे कि उन्हें उस वृद्धावस्था ने आ दबोचा, जो स्वयं अभोग्य होने पर भी सुन्दरियों से ईर्ष्या किया किरती है॥ १९॥ शील को उन्नाभ नाम का पुत्र प्राप्त हुआ, जिसकी नाभि गहरी थी और जो विष्णु के समान पराक्रमी होने से संसार के सभी राजाओं का अग्रणी बन गया॥ २०॥ उसके बाद उसका पुत्र वज्रनाभ हीरे की खानों का आभूषण पहनने वाली पृथ्वी का स्वामी बना। वह इन्द्र जैसा प्रभावशाली था और युद्धक्षेत्र में वज्र के समान गरजता था॥ २१॥ अपने पुण्यबल से उसने स्वर्ग प्राप्त किया और उसके बाद शंखण नामक उसका शत्रुविनाशक पुत्र रत्नोपहारदात्री पृथ्वी का शासक बना॥ २२॥ उसके बाद उसका अश्विनीकुमार जैसा सुन्दर और सूर्य-सदृश तेजस्वी पुत्र राजा बना। जिसने सभी देशों को जीतकर अपनी सेना और घोड़ों को समुद्र के तट पर टिकाया। इसलिए वृद्धों ने उसका नाम व्युषिताश्व (घोड़ों को बहुत दूर तक ले जानेवाला) रखा था॥ २३॥ काशी के विश्वेश्वर की आराधना करके उसने विश्वसह नाम का पुत्र पाया, जो बड़ा लोकप्रिय हुआ और जिसने सारी पृथ्वी पर शासन किया॥ २४॥ उस नीतिज्ञ विश्वसह से हिरण्यनाभ नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ, जो साक्षात् विष्णु का अंश था। ऐसा पुत्र पाकर विश्वसह शत्रुओं के लिए वैसा ही भयंकर हो गया, जैसे वायु की सहायता पाने पर वृक्षों के लिए अग्नि भयंकर हो जाती है॥ २५॥ अब वह पिता के ऋण से उऋण हो गया और अनेक सुख भोगने के बाद वृद्धावस्था में पुत्र को राज्य देकर स्वयं वल्कल-वसन पहन लिया और वन को चला गया॥ २६॥ उत्तरकोसल के स्वामी तथा सूर्यकुल के भूषण उस हिरण्यनाभ को कौसल्य नाम का पुत्र प्राप्त हुआ, जो सब की आँखों को उसी प्रकार आनन्द देता था, जैसे दूसरा चन्द्रमा ही हो॥ २७॥ राजा कौसल्य का यश ब्रह्मा की सभा तक पहुँच गया। वृद्धावस्था में उसने

तस्मिन्कुलापीडनिभे विपीडं सम्यङ्महीं शासति शासनाङ्काम्।
प्रजाश्चिरं सुप्रजसि प्रजेशे ननन्दुरानन्दजलाविलाक्ष्यः॥ २९॥
पात्रीकृतात्मा गुरुसेवनेन स्पष्टाकृतिः पत्त्ररथेन्द्रकेतोः।
तं पुत्रिणां पुष्करपत्रनेत्रः पुत्रः समारोपयदग्रसङ्ख्याम्॥ ३०॥
वंशस्थितिं वंशकरेण तेन सम्भाव्य भावी स सखा मघोनः।
उपस्पृशन् स्पर्शनिवृत्तलौल्यस्त्रिपुष्करेषु त्रिदशत्वमाप॥ ३१॥
तस्य प्रभानिर्जितपुष्परागं पौष्यां तिथौ पुष्यमसूत पत्नी।
तस्मिन्नपुष्यन्नुदिते समग्रां पुष्टिं जनाः पुष्य इव द्वितीये॥ ३२॥
महीं महेच्छः परिकीर्य सूनौ मनीषिणे जैमिनयेऽर्पितात्मा।
तस्मात् सयोगादधिगम्य योगमजन्मनेऽकल्पत जन्मभीरुः॥ ३३॥
ततः परं तत्प्रभवः प्रपेदे ध्रुवोपमेयो ध्रुवसन्धिरुर्वीम्।
यस्मिन्नभूज्ज्यायसि सत्यसन्धे सन्धिर्ध्रुवः सन्नमतामरीणाम्॥ ३४॥
सुते शिशावेव सुदर्शनाख्ये दर्शात्ययेन्दुप्रियदर्शने सः।
मृगायताक्षो मृगयाविहारी सिंहादवापद्विपदं नृसिंहः॥ ३५॥
स्वर्गामिनस्तस्य तमैकमत्यादमात्यवर्गः कुलतन्तुमेकम्।
अनाथदीनाः प्रकृतीरवेक्ष्य साकेतनाथं विधिवच्चकार॥ ३६॥
नवेन्दुना तन्नभसोपमेयं शावैकसिंहेन च काननेन।
रघोः कुलं कुड्मलपुष्करेण तोयेन चाप्रौढनरेन्द्रमासीत्॥ ३७॥

ब्रह्मिष्ठ नाम के अपने ब्रह्मज्ञानी पुत्र को राज्य दे दिया और स्वयं ब्रह्मप्राप्ति के निमित्त वन में तप करने चला गया॥ २८॥ अच्छी सन्तानवाला राजा ब्रह्मिष्ठ भी अपने कुल का शिरोमणि था। उसने बड़ी योग्यता से प्रजा पर शासन किया। उसके सुन्दर शासन को देखकर प्रजा के नेत्रों में आनन्द के आँसू आ जाते थे। उसके सुशासन में प्रजा बहुत दिनों तक सुख भोगती रही॥ २९॥ उसके सुपुत्र ने भी उन्हें पुत्रवानों का शिरोमणि बना दिया। पिता की सेवा-शुश्रूषा करने के कारण वे बडे योग्य हो गये थे। वे गरुड़ध्वज विष्णु के समान सुन्दर थे और उन कमललोचन का नाम भी पुत्र था॥ ३०॥ सभी विषय-वासनाओं से दूर रहकर इन्द्र के भावी मित्र उस ब्रह्मिष्ठ ने अपनी कुलप्रतिष्ठा अपने पुत्र को सौंप दी और स्वयं त्रिपुष्कर क्षेत्र में स्नान करता हुआ स्वर्ग चला गया॥ ३१॥ उस पुत्र की पत्नी से पूस की पूर्णिमा के दिन पद्मरागमणि से भी सुन्दर पुष्य नाम का पुत्र पैदा हुआ। उसके जन्म से प्रजा उसी प्रकार धन-धान्य से सम्पन्न हो गयी, मानो दूसरा पुष्य नक्षत्र ही उदित हो गया हो॥ ३२॥ पुत्र बड़े उदार हृदय का राजा था। वह संसार में फिर जन्म नहीं लेना चाहता था। इसलिए उसने पृथ्वी का भार अपने पुत्र पुष्य को सौंप दिया और स्वयं जैमिनि ऋषि का शिष्य बन गया। बाद में योगविद्या सीखकर वह संसार के आवागमन से मुक्त हो गया॥ ३३॥ पुष्य के बाद ध्रुव के समान निश्चल पुत्र ध्रुवसन्धि राजा बना। जिससे डरकर शत्रुओं ने सन्धि कर ली। उसका लिखा हुआ सन्धिपत्र पक्का होता था, क्योंकि वह अपनी बात का धनी था॥ ३४॥ उसके नेत्र मृगों के नेत्रों जैसे बड़े-बड़े थे और वह पुरुषों में सिंह-सदृश था। एक दिन वह जंगल में आखेट करता हुआ सिंह द्वारा मारा गया। तब तक द्वितीया के चन्द्रमा के समान सुन्दर सुदर्शन नाम का उसका पुत्र निरा बालक ही था॥ ३५॥ उस दिवंगत राजा के मन्त्रियों ने राजा के अभाव में प्रजा की दीन दशा देखकर सर्वसम्मति से उसके इकलौते पुत्र सुदर्शन को विधिवत् अयोध्या का राजा बना दिया॥ ३६॥ उस बालक से राजा रघु का कुल वैसे ही

लोकेन भावी पितुरेव तुल्यः सम्भावितो मौलिपरिग्रहात्सः।
दृष्टो हि वृण्वन्कलभप्रमाणोऽप्याशाः पुरोवातमवाप्य मेघः॥ ३८॥
तं राजवीथ्यामधिहस्ति यान्तमाधोरणालम्बितमग्र्यवेशम्।
षड्वर्षदेशीयमपि प्रभुत्वात् प्रैक्षन्त पौराः पितृगौरवेण॥ ३९॥
कामं न सोऽकल्पत पैतृकस्य सिंहासनस्य प्रतिपूरणाय।
तेजोमहिम्ना पुनरावृतात्मा तद्व्याप चामीकरपिञ्जरेण॥ ४०॥
तस्मादधः किञ्चिदिवावतीर्णावसंस्पृशन्तौ तपनीयपीठम्।
सालक्तकौ भूपतयः प्रसिद्धैर्ववन्दिरे मौलिभिरस्य पादौ॥ ४१॥
मणौ महानील इति प्रभावादल्पप्रमाणेऽपि यथा न मिथ्या।
शब्दो महाराज इति प्रतीतस्तथैव तस्मिन् युयुजेऽर्भकेऽपि॥ ४२॥
पर्यन्तसञ्चारितचामरस्य कपोललोलोभयकाकपक्षात्।
तस्याननादुच्चरितो विवादश्चस्खाल वेलास्वपि नार्णवानाम्॥ ४३॥
निर्वृत्तजाम्बूनदपट्टशोभे न्यस्तं ललाटे तिलकं दधानः।
तेनैव शून्यान्यरिसुन्दरीणां मुखानि स स्मेरमुखश्चकार॥ ४४॥
शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यः खेदं स यायादपि भूषणेन।
नितान्तगुर्वीमपि सोऽनुभावाद्धुरं धरित्र्या बिभराम्बभूव॥ ४५॥
न्यस्ताक्षरामक्षरभूमिकायां कार्त्स्न्येन गृह्णाति लिपिं न यावत्।
सर्वाणि तावच्छ्रुतवृद्धयोगात् फलान्युपायुङ्क्त स दण्डनीतेः॥ ४६॥

सुशोभित हुआ जैसे द्वितीया के चन्द्रमा से आकाश, सिंह के बच्चे से वन और कमल की कली से तालाब शोभित होता है॥ ३७॥ बालक सुदर्शन ने जब सिर पर मुकुट धारण किया तभी प्रजा ने समझ लिया कि यह अपने पिता के समान ही तेजस्वी होगा। क्योंकि हाथी के बच्चे जैसा छोटा दिखलायी देनेवाला बादल भी पुरवाई के पवन का सहारा पाकर चारों दिशाओं में फैल जाता है॥ ३८॥ जब छः वर्ष का छोटा-सा वह राजा हाथी पर चढकर राज-मार्ग से निकलता था, तब हाथीवान् उसके राजसी वस्त्रों का कोना थामे रहता था कि कहीं वह गिर न जाय। तब भी उसे देखकर जनता उसके पिता के समान ही उसका आदर करती थी॥ ३९॥ जब वह अपने पिता के सिंहासन पर बैठता था, तब राजा से छोटा होने के कारण राज-सिंहासन भरता नहीं था। परन्तु उसके शरीर से जो सुवर्ण जैसा तेज निकलता था, उससे वह सिंहासन भरा-सा ही दीखता था॥ ४०॥ उस स्वर्णसिंहासन से उसके पैर लटकते रहते थे। क्योंकि छोटा होने के कारण वे पादपीठ तक पहुँच नहीं पाते थे। फिर भी सामन्त राजाओं ने अपने प्रसिद्ध मुकुटों से उन महावर लगे पैरों की वन्दना की॥ ४१॥ छोटा होने पर भी जैसे मणि का महानील नाम निरर्थक नहीं होता, वैसे ही बालक राजा सुदर्शन का महाराज नाम भी उसे फबता था॥ ४२॥ उसके आस-पास चँवर डुलाये जाते थे और उसके गालों पर लटें लटकती रहती थीं। इस अवस्था में भी उसने जो आज्ञाएँ दीं, उन्हें समुद्रतटवर्ती लोगों ने भी नहीं टाला, फिर पास रहनेवालों की तो बात ही क्या थी॥ ४३॥ स्वर्णपट्ट बँधे हुए अपने ललाट पर वह स्वयं तिलक लगाता और सदा हँसमुख बना रहता था। परन्तु संग्राम में शत्रुओं को नष्ट करके उसने शत्रुओं की स्त्रियों के मुख का तिलक और उनकी मुस्कुराहट दोनों ही छीन ली॥ ४४॥ वह सिरस के फूल से भी अधिक सुकुमार था। अतएव गहने पहनने में भी उसे कष्ट होता था। तथापि उसमें आत्मबल इतना अधिक था कि उसने पृथ्वी के अत्यन्त भारी भार को भी सँभाल लिया॥ ४५॥ अभी वह पटिया पर भलीभाँति अक्षर भी लिखना नहीं सीख

उरस्यपर्याप्तनिवेशभागा प्रौढीभविष्यन्तमुदीक्षमाणा।
सञ्जातलज्जेव तमातपत्रच्छायाच्छलेनोपजुगूह लक्ष्मीः॥४७॥
अनश्नुवानेन युगोपमानमबद्धमौर्वीकिणलाञ्छनेन।
अस्पृष्टखड्गत्सरुणापि चासीद् रक्षावती तस्य भुजेन भूमिः॥४८॥
न केवलं गच्छति तस्य काले ययुः शरीरावयवा विवृद्धिम्।
वंश्या गुणाः खल्वपि लोककान्ताः प्रारम्भसूक्ष्माः प्रथिमानमापुः॥४९॥
स पूर्वजन्मान्तरदृष्टपाराः स्मरन्निवाक्लेशकरो गुरूणाम्।
तिस्रस्त्रिवर्गाधिगमस्य मूलं जग्राह विद्याः प्रकृतीश्च पित्र्याः॥५०॥
व्यूह्य स्थितः किञ्चिदिवोत्तरार्धमुन्नद्धचूडोऽञ्चितसव्यजानुः।
आकर्णमाकृष्टसबाणधन्वा व्यरोचतास्त्रेषु विनीयमानः॥५१॥
अथ मधु वनितानां नेत्रनिर्वेशनीयं मनसिजतरुपुष्पं रागबन्धप्रवालम्।
अकृतकविधि सर्वाङ्गीणमाकल्पजातं विलसितपदमाद्यं यौवनं स प्रपेदे॥५२॥
प्रतिकृतिरचनाभ्यो दूतिसन्दर्शिताभ्यः समधिकतररूपाः शुद्धसन्तानकामैः।
अधिविविदुरमात्यैराहृतास्तस्य यूनः प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवौ राजकन्याः॥५३॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
वंशानुक्रमो नामाष्टादशः सर्गः॥१८॥

सका था, फिर भी बडों के संसर्ग से उसने दण्डनीति और राजनीति की सारी बातें जान लीं॥४६॥ उस बालक राजा के हृदय को छोटा समझकर लक्ष्मी उसके युवा होने की प्रतीक्षा कर रही थी, परन्तु बीच-बीच में छत्र की छाया बनकर वह उसका आलिङ्गन कर लेती थी। जैसे छोटा पति होने के कारण वह उससे खुलकर गले लगाने में लजाती हो॥४७॥ यद्यपि उसकी भुजा जुए जैसी मोटी और लम्बी नहीं थी, धनुष की डोरी खींचने से कडी भी नहीं हो पाती थी और तलवार की मूठ भी नहीं छू सकी थी, तथापि उसने पृथ्वी की रक्षा भलीभाँति कर ली॥४८॥ कुछ दिनों बाद केवल उसके शरीर के अंग ही नहीं बढ़े, बल्कि उसके वंशपरम्परावाले गुण भी बढ़े, जो पहले छोटे ही थे और प्रजा को बहुत अच्छे लगते थे॥४९॥ सुदर्शन ने अर्थ और काम फल देनेवाली त्रयी (तीनों वेद), वार्ता (कृषि) और दण्डनीति—इन तीनों विद्याओं को इतनी शीघ्रता से सीख लिया, जैसे जन्मते ही वह उन्हें पढ चुका हो। अपने पिता की प्रजा को भी उसने अपने वश में कर लिया था॥५०॥ धनुर्विद्या सीखते समय जब वह अपने शरीर का ऊपरी भाग कुछ आगे बढा देता था, बाल ऊपर बाँध लेता था, बाँयीं जाँघ कुछ झुका लेता था और बाण चढ़ाकर धनुष की डोरी कान तक खींचता था, उस समय वह बड़ा सुन्दर लगता था॥५१॥ कुछ दिनों बाद सुदर्शन के शरीर में यौवन आ गया। जो स्त्रियों की आँखों की मदिरा, शरीर की स्वाभाविक शोभा और विलास का पहला अड्डा होता है॥५२॥ भिन्न-भिन्न राजधानियों में जाकर दूतियाँ सुन्दर-सुन्दर राजकुमारियों का चित्र ले आयीं और उस राजा के सन्तान होने की इच्छा से मन्त्रियों ने चित्र से बढ़कर सुन्दरी उन राजकुमारियों का महाराज सुदर्शन से विवाह करा दिया। इस प्रकार विवाह हो जाने पर वे सब राजकुमारियाँ राजा की पहली रानियों की, पृथ्वी की और राजलक्ष्मी की सौत-सदृश दीखने लगीं॥५३॥

इस प्रकार रघुवंशमहाकाव्य में वंशानुक्रम नामक
अठारहवाँ सर्ग समाप्त॥१८॥

एकोनविंशः सर्गः

अग्निवर्णमभिषिच्य राघवः स्वे पदे तनयमग्नितेजसम् ।
शिश्रिये श्रुतवतामपश्चिमः पश्चिमे वयसि नैमिषं वशी ॥ १ ॥
तत्र तीर्थसलिलेन दीर्घिकास्तल्पमन्तरितभूमिभिः कुशैः ।
सौधवासमुटजेन विस्मृतः सञ्चिकाय फलनिःस्पृहस्तपः ॥ २ ॥
लब्धपालनविधौ न तत्सुतः खेदमाप गुरुणा हि मेदिनी ।
भोक्तुमेव भुजनिर्जितद्विषा न प्रसाधयितुमस्य कल्पिता ॥ ३ ॥
सोऽधिकारमभिकः कुलोचितं काश्चन स्वयमवर्तयत् समाः ।
सन्निवेश्य सचिवेष्वतःपरं स्त्रीविधेयनवयौवनोऽभवत् ॥ ४ ॥
कामिनीसहचरस्य कामिनस्तस्य वेश्मसु मृदङ्गनादिषु ।
ऋद्धिमन्तमधिकर्द्धिरुत्तरः पूर्वमुत्सवमपोहदुत्सवः ॥ ५ ॥
इन्द्रियार्थपरिशून्यमक्षमः सोढुमेकमपि स क्षणान्तरम् ।
अन्तरेव विहरन् दिवानिशं न व्यपैक्षत समुत्सुकाः प्रजाः ॥ ६ ॥
गौरवाद्यदपि जातु मन्त्रिणां दर्शनं प्रकृतिकाङ्क्षितं ददौ ।
तद्गवाक्षविवरावलम्बिना केवलेन चरणेन कल्पितम् ॥ ७ ॥
तं कृतप्रणतयोऽनुजीविनः कोमलात्मनखरागरूषितम् ।
भेजिरे नवदिवाकरातपस्पृष्टपङ्कजतुलाधिरोहणम् ॥ ८ ॥
यौवनोन्नतविलासिनीस्तनक्षोभलोलकमलाश्च दीर्घिकाः ।
गूढमोहनगृहास्तदम्बुभिः स व्यगाहत विगाढमन्मथः ॥ ९ ॥

विद्वानों में संयमी राजा सुदर्शन ने वृद्धावस्था में अपने अग्नि जैसे तेजस्वी पुत्र अग्निवर्ण को राजा बना दिया और स्वयं नैमिषारण्य में जाकर रहने लगे ॥ १ ॥ वहाँ वे तीर्थजल के आगे घर की बावलियों को, भूमि पर बिछे हुए कुश के आगे राजसी पलंग को तथा कुटिया के आगे बड़े-बड़े भव्य भवनों को भूल गये और फल की इच्छा छोड़कर तप करने लगे ॥ २ ॥ पिता से प्राप्त पृथ्वी का पालन करने में अग्निवर्ण को कोई कठिनाई नहीं हुई। क्योंकि उनके पिता ने सब शत्रुओं को पहले ही हरा दिया था। अतएव इन्हें तो केवल भोग करने के लिए ही राज्य मिला था, राज्य के शत्रुओं को मिटाने के लिए नहीं ॥ ३ ॥ जिसके फलस्वरूप राजा अग्निवर्ण कामुक हो गये। कुछ दिनों तक तो उन्होंने स्वयं राजकाज देखा, फिर मन्त्रियों पर राज्य का भार डालकर जवानी का रस लेने लगे ॥ ४ ॥ अब वह कामी राजा दिन-रात कामिनियों के साथ उन भवनों में पड़ा रहने लगा, जिनमें बराबर मृदंग बजते रहते थे और प्रतिदिन एक से एक बढकर ऐसे उत्सव होते थे कि अगले दिन के उत्सव के धूम-धाम के आगे पहले दिनवाला उत्सव फीका पड़ जाता था ॥ ५ ॥ उसे ऐसा चसका लग गया कि वह क्षणभर भी भोग-विलास के बिना नहीं रह पाता था। अतएव वह सदा रनिवास के भीतर रहकर ही विहार करने लगा। उसके दर्शनार्थ प्रजा अधीर रहती थीं, परन्तु वह कभी उसकी ओर नहीं देखता था ॥ ६ ॥ यदि कभी मंत्रियों के कहने-सुनने से वह प्रजा को दर्शन देता भी था तो बस इतना ही कि झरोखे से अपना एक पैर बाहर लटका दिया करता था ॥ ७ ॥ राजकर्मचारी नखों की लालीवाले उसके चरण को ही नमस्कार करके आराधना करते थे, जो प्रभात की लाल किरणों से भरे हुए कमल जैसा था ॥ ८ ॥ वह महाकामी राजा उन बावलियों में सुन्दरी स्त्रियों के साथ विहार करता था, जिनमें विलासगृह भी

तत्र सेकहृतलोचनाञ्जनैर्धौतरागपरिपाटलाधरैः।
अङ्गनास्तमधिकं व्यलोभयन्नर्पितप्रकृतकान्तिभिर्मुखैः ॥ १० ॥
घ्राणकान्तमधुगन्धकर्षिणीः पानभूमिरचनाः प्रियासखः।
अभ्यपद्यत स वासितासखः पुष्पिताः कमलिनीरिव द्विपः ॥ ११ ॥
सातिरेकमदकारणं रहस्तेन दत्तमभिलेषुरङ्गनाः।
ताभिरप्युपहृतं मुखासवं सोऽपिबद् बकुलतुल्यदोहदः ॥ १२ ॥
अङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिते तस्य निन्यतुरशून्यतामुभे।
वल्लकी च हृदयङ्गमस्वना वल्गुवागपि च वामलोचना ॥ १३ ॥
स स्वयं प्रहतपुष्करः कृती लोलमाल्यवलयो हरन्मनः।
नर्तकीरभिनयातिलङ्घिनीः पार्श्ववर्तिषु गुरुष्वलज्जयत् ॥ १४ ॥
चारु नृत्यविगमे च तन्मुखं स्वेदभिन्नतिलकं परिश्रमात्।
प्रेमदत्तवदनानिलः पिबन्नत्यजीवदमरालकेश्वरौ ॥ १५ ॥
तस्य सावरणदृष्टसन्धयः काम्यवस्तुषु नवेषु सङ्गिनः।
वल्लभाभिरुपसृत्य चक्रिरे सामिभुक्तविषयाः समागमाः ॥ १६ ॥
अङ्गुलीकिसलयाग्रतर्जनं भ्रूविभङ्गकुटिलं च वीक्षितम्।
मेखलाभिरसकृच्च बन्धनं वञ्चयन् प्रणयिनीरवाप सः ॥ १७ ॥

बने हुए थे। स्त्रियों के ऊँचे-ऊँचे स्तन जब बावली के कमलों से टकराते थे, तब हिलने लगते थे ॥ ९ ॥ जल में स्नान करने से जब उन स्त्रियों की आँखों का अञ्जन छूट जाता था और होठों पर लगी लाली धुल जाती थी, तब उनकी स्वाभाविक सुन्दरता देखकर वह कामी और अधिक उत्तेजित हो उठता था ॥ १० ॥ जैसे हाथी विकसित कमलिनियों की गन्ध से भरे सरोवर में हथिनियों के साथ प्रविष्ट होता है, वैसे ही अग्निवर्ण भी सुन्दरी स्त्रियों के साथ मद्य के गंध में बसी हुई मधुशाला में पहुँचता था ॥ ११ ॥ वहाँ वे स्त्रियाँ अग्निवर्ण का जूठा और नशीला आसव बडे प्रेम से पीती थीं। जैसे मौलसिरी का वृक्ष स्त्रियों के मुख का आसव पीने को इच्छुक रहता है, वैसे ही अग्निवर्ण भी उनके मुँह का जूठा आसव पीता था ॥ १२ ॥ उसके समक्ष गोद में बैठाने योग्य दो ही वस्तुएँ थीं, एक तो मनोहर शब्दवाली वीणा और दूसरी मधुरभाषिणी कामिनी। इन दोनों से उसकी गोद सदा भरपूर रहती थी ॥ १३ ॥ नर्तकियों के नाचते समय जब वह स्वयं मृदंग बजाने लगता था, तब उसके गले की माला हिलने लगती थी। उस समय वह ऐसा सुन्दर लगता था कि नर्तकियाँ अपना आपा खोकर नाचना भी भूल जाती थीं। इसका फल यह होता था कि उन्हें नृत्य सिखानेवाले उनके जो गुरु वहाँ बैठे रहते थे, उनके आगे वे इस बात से लजा जाती थीं ॥ १४ ॥ वह नृत्य जब समाप्त हो जाता था और नाचने के परिश्रम से उनके मुख पर पसीने की बूँदें छहर जाती थीं, तब राजा अग्निवर्ण बडे प्रेम से फूँक मार-मारकर उनका मुख चूमने लगता था। उस समय वह समझता था कि मैं इन्द्र और कुबेर से भी सुखी और भाग्यशाली हूँ ॥ १५ ॥ वह सदा नवीन भोग की सामग्रियाँ चाहता था। जिस वस्तु से उसका जी भर जाता था, उसे छोड देता था। अतः स्त्रियाँ संभोग के समय राजा के साथ आधी ही रति करके उठ खडी होती थीं, पूरी नहीं; क्योंकि उन्हें यह डर था कि यदि राजा पूर्णरूप से तृप्त हो जायेगा तो हमें त्याग देगा ॥ १६ ॥ कभी-कभी जब वह राजा उन कामिनियों को चकमा दे देता था, तब वे बिगड़कर अपनी लाल-लाल उँगलियाँ चमकाकर उसे धमकाती थीं, भौंहें तरेरती थीं और अपनी करधनी से बाँध दिया करती थीं ॥ १७ ॥ जिस रात को उसे किसी स्त्री से संभोग करने को जाना होता था तो दूती को सब

तेन दूतिविदितं निषेदुषा पृष्ठतः सुरतवाररात्रिषु।
शुश्रुवे प्रियजनस्य कातरं विप्रलम्भपरिशङ्किनो वचः॥ १८॥
लौल्यमेत्य गृहिणीपरिग्रहान्नर्तकीष्वसुलभासु तद्वपुः।
वर्तते स्म स कथञ्चिदालिखन्नङ्गुलीक्षरणसन्नवर्तिकः॥ १९॥
प्रेमगर्वितविपक्षमत्सरादायताच्च मदनान्महीक्षितम्।
निन्युरुत्सवविधिच्छलेन तं देव्य उज्झितरुषः कृतार्थताम्॥ २०॥
प्रातरेत्य परिभोगशोभिना दर्शनेन कृतखण्डनव्यथाः।
प्राञ्जलिः प्रणयिनीः प्रसादयन्सोऽदुनोत्प्रणयमन्थरः पुनः॥ २१॥
स्वप्नकीर्तितविपक्षमङ्गनाः प्रत्यभैत्सुरवदन्त्य एव तम्।
प्रच्छदान्तगलिताश्रुबिन्दुभिः क्रोधभिन्नवलयैर्विवर्तनैः॥ २२॥
क्लृप्तपुष्पशयनाँल्लतागृहानेत्य दूतिकृतमार्गदर्शनः।
अन्वभूत् परिजनाङ्गनारतं सोऽवरोधभयवेपथूत्तरम्॥ २३॥
नाम वल्लभजनस्य ते मया प्राप्य भाग्यमपि तस्य काङ्क्ष्यते।
लोलुपं ननु मनो ममेति तं गोत्रविस्खलितमूचुरङ्गनाः॥ २४॥
चूर्णबभ्रु लुलितस्रगाकुलं छिन्नमेखलमलक्तकाङ्कितम्।
उत्थितस्य शयनं विलासिनस्तस्य विभ्रमरतान्यपावृणोत्॥ २५॥

बातें बता देता था और पास ही छिपकर बैठ जाता था। वह स्त्री जब आर्ता और विप्रलब्धा नायिका के समान दूती से विरह की बातें करने लगती कि पता नहीं वे कब आयेंगे, अभी तक आये क्यों नहीं इत्यादि, तब वह उन बातों को छिपे-छिपे बड़े प्रेम से सुना करता था॥ १८॥ जब कभी उसे रानियाँ रोक लेती थीं, तब नर्तकियों के न मिलने से वह विरहकातर हो जाता था और हाथ में तूलिका लेकर किसी नर्तकी का चित्र बनाने लगता था। उस समय उसे वह नर्तकी याद आ जाती थी और सात्विक भावोदय के कारण उसकी उँगलियों में पसीना आ जाता था, जिससे कूँची फिसल पड़ती थी। इस तरह वह बड़ी कठिनाई से चित्र बना पाता था॥ १९॥ यदि वह किसी रानी से प्रेम करता था तो वह गर्व से फूली नहीं समाती थी। यह देखकर उसकी सौतें जल उठती थीं और कामातुर हो जाती थीं। तब किसी उत्सव का बहाना करके वे राजा को अपने यहाँ बुलाकर उसके साथ अपने जी की तपन बुझाती थीं॥ २०॥ रात में किसी बाहरी स्त्री से संभोग करके राजा जब सबेरे घर लौटता था, तब रात के भोगकालीन वेश में उसे देखकर उसकी प्रेमिकाएँ खंडिता नायिका की तरह आँसू बहाने लगती थीं। तब राजा हाथ जोड़कर उन्हें मना लेता था। किन्तु जब रात की थकावट के कारण वह उनसे भरपूर भोग नहीं कर पाता था, तब वे फिर व्याकुल हो उठती थीं॥ २१॥ वे स्त्रियाँ जब देखतीं कि राजा स्वप्न में बड़बड़ाते हुए किसी दूसरी स्त्री की बड़ाई कर रहा है, तब वे कामिनियाँ बिना बोले ही बिस्तर के कोने पर आँसू गिराती हुई क्रोध से कंगन तथा पीठ फेरकर सो जाती थीं॥ २२॥ दूतियाँ कभी-कभी राजा को मार्ग दिखलाती हुई उस स्थान पर ले जाती थीं, जहाँ लताओं के बीच में सेवकों की स्त्रियों के साथ सम्भोग के लिए फूलों की सेज बिछी रहती थी। उस समय उसे यह डर होता था कि कहीं वे दासियाँ जाकर रानियों से न कह दें। अतएव वह उन दासियों से सम्भोग करके उन्हें प्रसन्न कर देता था॥ २३॥ वह कभी-कभी भूल से अपनी स्त्रियों के आगे किसी अन्य प्रेमिका का नाम ले लेता था। उसे सुनकर वे स्त्रियाँ कहने लगतीं कि बड़ा अच्छा हुआ, जो आपने अपनी प्रेमिका का नाम बता दिया। उसका भाग्य धन्य है, परन्तु क्या करें, हमारा भी लोभी मन तो नहीं मानता॥ २४॥ वह जब सोकर उठता था, तब उसका पलंग फैले हुए केसर के चूर्ण से सुनहला दीखता था। उस पर फूलों

स स्वयं चरणरागमादधे योषितां न च तथा समाहितः।
लोभ्यमाननयनः श्लथांशुकैर्मेखलागुणपदैर्नितम्बिभिः॥ २६॥
चुम्बने विपरिवर्तिताधरं हस्तरोधि रशनाविघट्टने।
विघ्नितेच्छमपि तस्य सर्वतो मन्मथेन्धनमभूद्वधूरतम्॥ २७॥
दर्पणेषु परिभोगदर्शिनीर्नर्मपूर्वमनुपृष्ठसंस्थितः।
छायया स्मितमनोज्ञया वधूर्ह्रीनिमीलितमुखीश्चकार सः॥ २८॥
कण्ठसक्तमृदुबाहुबन्धनं न्यस्तपादतलमग्रपादयोः।
प्रार्थयन्त शयनोत्थितं प्रियास्तं निशात्ययविसर्गचुम्बनम्॥ २९॥
प्रेक्ष्य दर्पणतलस्थमात्मनो राजवेशमतिशक्रशोभिनम्।
पिप्रिये न स तथा यथा युवा व्यक्तलक्ष्म परिभोगमण्डनम्॥ ३०॥
मित्रकृत्यमपदिश्य पार्श्वतः प्रस्थितं तमनवस्थितं प्रियाः।
विद्म हे शठ! पलायनच्छलान्यञ्जसेति रुरुधुः कचग्रहैः॥ ३१॥
तस्य निर्दयरतिश्रमालसाः कण्ठसूत्रमपदिश्य योषितः।
अध्यशेरत बृहद्भुजान्तरं पीवरस्तनविलुप्तचन्दनम्॥ ३२॥
सङ्गमाय निशि गूढचारिणं चारदूतिकथितं पुरोगताः।
वञ्चयिष्यसि कुतस्तमोवृतः कामुकेति चकृषुस्तमङ्गनाः॥ ३३॥

की मसली हुई मालाएँ और टूटी हुई करधनियाँ पड़ी रहती थीं और जहाँ-तहाँ महावर की छाप लगी रहती थी, जिसे देखकर यह प्रकट होता था कि वह कितना बड़ा कामुक है॥ २५॥ कभी-कभी वह स्त्रियों के पैरों में स्वयं महावर लगाने बैठ जाता था। परन्तु उसी समय उसकी दृष्टि स्त्रियों के उन नितम्बों पर पड़ जाती थी, जिन पर से कपड़ा खिसका हुआ रहता था। उन्हें देखकर वह ऐसा मुग्ध हो जाता कि जिससे महावर भी नहीं लगा पाता था॥ २६॥ सम्भोगकाल में जब वह स्त्रियों के होठ चूमने लगता था, तब वे मुँह फेर लेती थीं और जब कमर का नारा खोलने लगता, तब वे हाथ थाम लेती थीं। इस प्रकार वह जो करना चाहता था, स्त्रियाँ कुछ भी नहीं करने देती थीं। फिर भी उसका कामवेग बढ़ता ही जाता था॥ २७॥ वे स्त्रियाँ जब कभी दर्पण के आगे खड़ी होकर दाँत काटने के दाग आदि संभोग के चिह्नों को देखने लगती थीं, तब वह राजा उनके पीछे आकर चुपके से खड़ा हो जाता था और मुस्कुरा देता था। दर्पण में जब उसका प्रतिबिम्ब स्त्रियाँ देख लेती थीं, तब वे झेंपकर मुँह नीचा कर लिया करती थीं॥ २८॥ सवेरे जब वह पलँग से उठकर जाने लगता था, तब स्त्रियों की इच्छा होती थी कि बिछुड़ने से पहले राजा एक बार गले में बाँहें डालकर फिर हमें चूम ले॥ २९॥ इन्द्र के वस्त्रों से भी सुन्दर अपने राजसी वस्त्र दर्पण में देखकर वह राजा उतना प्रसन्न नहीं होता था, जितना कि संभोग के चिह्नों को देखकर प्रसन्न होता था॥ ३०॥ अपनी रानियों के पास बैठे-बैठे यदि कभी उसके मन में किसी प्रियतमा के पास जाने की इच्छा हो जाती थी तो वह यह कहकर उठने लगता था—'मुझे एक मित्र से मिलने जाना है'। यह सुनकर वे रानियाँ ताड जातीं और कहने लगती थीं कि 'हम भी खूब जानती हैं कि तुम किस मित्र के यहाँ जा रहे हो' और बाल पकड़कर उसे रोक लेती थीं॥ ३१॥ उसके साथ बहुत देर तक निर्दय संभोग करने के कारण स्त्रियाँ जब श्रम से अलसा जाती थीं, तब वे अपने मोटे-मोटे स्तनों से राजा की छाती का चन्दन पोंछती हुई उसके वक्षःस्थल पर ऐसे सो जाती थीं कि जैसे संभोग का कंठसूत्र नामक आसन साध रही हों, जिसमें स्त्रियाँ पति के ऊपर लेटकर अपने स्तनों से धीरे-धीरे प्रियतम की छाती को थपथपाती हुई कसकर लिपट जाती हैं॥ ३२॥ रात को जब वह संभोग की इच्छा से छिपकर बाहर जाने को होता था तो दूतियों द्वारा

योषितामुडुपतेरिवार्चिषां स्पर्शनिर्वृतिमसाववाप्नुवन्।
आरुरोह कुमुदाकरोपमां रात्रिजागरपरो दिवाशयः ॥ ३४॥
वेणुना दशनपीडिताधरा वीणया नखपदाङ्कितोरवः।
शिल्पकार्य उभयेन वेजितास्तं विजिह्मनयना व्यलोभयन्॥ ३५॥
अङ्गसत्त्ववचनाश्रयं मिथः स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शयन्।
स प्रयोगनिपुणैः प्रयोक्तृभिः सञ्जघर्ष सह मित्रसन्निधौ॥ ३६॥
अंसलम्बिकुटजार्जुनस्रजस्तस्य नीपरजसाऽङ्गरागिणः।
प्रावृषि प्रमदबर्हिणेष्वभूत् कृत्रिमाद्रिषु विहारविभ्रमः॥ ३७॥
विग्रहाच्च शयने पराङ्मुखीर्नानुनेतुमबलाः स तत्वरे।
आचकाङ्क्ष घनशब्दविक्लवास्ता विवृत्य विशतीर्भुजान्तरम्॥ ३८॥
कार्तिकीषु सवितानहर्म्यभाग्यामिनीषु ललिताङ्गनासखः।
अन्वभुङ्क्त सुरतश्रमापहां मेघमुक्तविशदां स चन्द्रिकाम्॥ ३९॥
सैकतं च सरयूं विवृण्वतीं श्रोणिबिम्बमिव हंसमेखलम्।
स्वप्रियाविलसितानुकारिणीं सौधजालविवरैर्व्यलोकयत्॥ ४०॥
मर्मरैरगुरुधूपगन्धिभिर्व्यक्तहेमरशनैस्तमेकतः।
जह्रुराग्रथनमोक्षलोलुपं हैमनैर्निवसनैः सुमध्यमाः॥ ४१॥
अर्पितस्तिमितदीपदृष्टयो गर्भवेश्मसु निवातकुक्षिषु।
तस्य सर्वसुरतान्तरक्षमाः साक्षितां शिशिररात्रयो ययुः॥ ४२॥

पहले ही समाचार पाकर उसकी स्त्रियाँ उसके आगे खड़ी हो जाती थीं और यह कहते हुए उसे ख़ींच लाती थीं कि 'कहिए, हमें चकमा देकर रात को कहाँ चले?' ॥ ३३॥ उन स्त्रियों के स्पर्श से उसको वैसा ही आनन्द मिलता था, जैसा कि चन्द्रमा की किरणों से। अतएव वह कुमुदों की भाँति रातभर जागता और दिनभर सोता था॥ ३४॥ उसने गानेवाली स्त्रियों के होठों पर अपने दाँत के और उनकी जाँघों पर चिकोटी काटकर नखों के ऐसे घाव कर दिये थे कि जब वे अपने अधरों पर बाँसुरी और जाँघ पर वीणा रखती थीं, तब उन्हें बड़ा कष्ट होता था और वे टेढ़ी भौंहों से राजा की ओर यह जताती हुई देखने लगती थीं कि यह सब आपकी ही करनी है। उनकी यह भावभंगिमा देखकर राजा और भी उत्तेजित हो जाता था॥ ३५॥ एकान्त में जब वह स्त्रियों को आंगिक, सात्त्विक और वाचिक तीनों प्रकार का अभिनय सिखाकर अपने मित्रों के समक्ष उनका प्रदर्शन करता था, उस समय वह बड़े-बड़े नाट्यशास्त्रियों को भी नीचा दिखा देता था॥ ३६॥ वह वर्षा ऋतु में कुटज और अर्जुन की माला पहन तथा शरीर में कदम्ब के पराग का अंगराग लगाकर मतवाले मोरों से भरे क्रीड़ापर्वतों पर विहार करता था॥ ३७॥ पलंग पर लेटी हुई स्त्रियाँ जब रूठकर तथा पीठ फेरकर सो जाती थीं, तब राजा उन्हें जल्दी मनाना नहीं चाहता था। बल्कि यह चाहता था कि किसी प्रकार बादल गरज उठें, जिससे डरकर ये मेरी भुजाओं में भर जायँ॥ ३८॥ कार्तिक की रातों में वह राजमहल के ऊपर चँदवा तनवा देता था और सुन्दरियों के साथ उस चाँदनी का आनन्द लेता था, जो संभोग का श्रम दूर करती है और बादलों के अभाव में बराबर निखरी रहती है॥ ३९॥ अपने राजमहल के झरोखे से वह उस सरयू को देखता था, जिसके तट पर उज़ले हंसों की पाँते बैठी रहती थीं। वह दृश्य ऐसा था कि मानो सरयू उन सुन्दरियों का अनुकरण कर रही थी, जिनके नितम्बों पर करधनी पड़ी हुई हो॥ ४०॥ पतली कमरवाली वे स्त्रियाँ जाड़े में ऐसे कपड़े पहनती थीं, जो माँडी के कारण करकराते रहते थे। जिनके नीचे झलकती हुई सोने की करधनी देख उसे बाँधने और खोलने के लिए लालायित वह राजा मुग्ध हो जाता था॥ ४१॥ सब

दक्षिणेन पवनेन सम्भृतं प्रेक्ष्य चूतकुसुमं सपल्लवम्।
अन्वनैषुरवधूतविग्रहास्तं दुरुत्सहवियोगमङ्गनाः॥४३॥
ताः स्वमङ्कमधिरोप्य दोलया प्रेङ्खयन् परिजनापविद्धया।
मुक्तरज्जु निबिडं भयच्छलात् कण्ठबन्धनमवाप बाहुभिः॥४४॥
तं पयोधरनिषिक्तचन्दनैर्मौक्तिकग्रथितचारुभूषणैः।
ग्रीष्मवेषविधिभिः सिषेविरे श्रोणिलम्बिमणिमेखलैः प्रियाः॥४५॥
यत्स लग्नसहकारमासवं रक्तपाटलसमागमं पपौ।
तेन तस्य मधुनिर्गमात् कृशश्चित्तयोनिरभवत्पुनर्नवः॥४६॥
एवमिन्द्रियसुखानि निर्विशन्नन्यकार्यविमुखः स पार्थिवः।
आत्मलक्षणनिवेदितानृतूनत्यवाहयदनङ्गवाहितः॥४७॥
तं प्रमत्तमपि न प्रभावतः शेकुराक्रमितुमन्यपार्थिवाः।
आमयस्तु रतिरागसम्भवो दक्षशाप इव चन्द्रमक्षिणोत्॥४८॥
दृष्टदोषमपि तन्न सोऽत्यजत् सङ्गवस्तु भिषजामनाश्रवः।
स्वादुभिस्तु विषयैर्हृतस्ततो दुःखमिन्द्रियगणो निवार्यते॥४९॥
तस्य पाण्डुवदनाऽल्पभूषणा सावलम्बगमना मृदुस्वना।
राजयक्ष्मपरिहानिराययौ कामयानसमवस्थया तुलाम्॥५०॥

प्रकार की संभोग-क्रीड़ा करने योग्य हेमन्त ऋतु की बड़ी-बडी रातों में वह राजमहल की उन भीतरी कोठियों में विहार करता था, जहाँ उसके साक्षी केवल वे दीपक थे, जो वायु के न आने से एकटक सब कुछ देखा करते थे॥४२॥ मलय पर्वत से आनेवाले दक्षिणी पवन से आमों में बौर आ गये थे। जिन्हें देखकर प्रेमिकाओं ने कामोन्मत्त होकर राजा से रूठना छोड दिया और उसके विरह में व्याकुल होकर वे स्वयं उसे खोजने लगीं॥४३॥ एक दिन स्त्रियों को गोद में बैठाकर वह उन झूलों पर झूलने लगा, जिन्हें नौकर झुला रहे थे। सहसा राजा ने एक बार झूले को ऐसा झटका दिया कि उन स्त्रियों ने भय का बहाना करके रस्सी छोड दी और राजा के गले में बाँहें डालकर उससे लिपट गई॥४४॥ ग्रीष्म ऋतु में स्तनों पर चन्दन लगाकर तथा मोतियों का आभूषण पहनकर नितम्ब पर मणिजटित करधनी लटकाये वे स्त्रियाँ उस राजा के साथ सम्भोग करके उसे प्रसन्न करती थीं॥४५॥ वह आम की बौर और पाटल के लाल फूल से अलंकृत पात्र में मदिरा पीता था, जिससे वसन्त बीतने के कारण मंद पड़ा हुआ उसका काम-वेग फिर उद्दीप्त हो उठता था॥४६॥ इस प्रकार वह कामी राजा राज-काज आदि अन्य काम छोडकर इन्द्रियसुखों का रस लेता हुआ ऋतुएँ बिताने लगा। काम-क्रीडा के लिए वह भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न प्रकार का वेश बनाता था। अतएव उसके वेश को ही देखकर ज्ञात हो जाता था कि किस समय कौन-सी ऋतु चल रही है॥४७॥ इतना व्यसनी होने पर भी प्रभाववश दूसरे राजे उसके राज्य पर आक्रमण नहीं करते थे। तथापि जैसे दक्ष के शाप से चन्द्रमा को क्षयरोग हो गया था, वैसे ही अधिक भोग-विलास करने के कारण उसे भी क्षयरोग हो गया और वह राजा को धीरे-धीरे क्षीण करने लगा॥४८॥ वैद्यों के बार-बार रोकने पर भी उसने काम को उत्तेजित करनेवाली वस्तुएँ नहीं छोड़ी। क्योंकि जब इन्द्रियाँ एक बार विषयों के सुस्वादु रस में फँस जाती हैं, तब उन्हें रोकना कठिन हो जाता है॥४९॥ धीरे-धीरे उसका शरीर पीला पडता गया। दुर्बलता के कारण उसने आभूषण पहनना कम कर दिया। बाद में वह नौकरों के सहारे चलने लगा। उसकी आवाज धीमी पड़ गयी और यक्ष्मा रोग से सूखकर वह ठीक विरहियों जैसा दुर्बल दीखने लगा॥५०॥ राजा अग्निवर्ण

व्योम पश्चिमकलास्थितेन्दु वा पङ्कशेषमिव घर्मपल्वलम्।
राज्ञि तत्कुलमभूत् क्षयातुरे वामनार्चिरिव दीपभाजनम्॥ ५१॥
बाढमेष दिवसेषु पार्थिवः कर्म साधयति पुत्रजन्मने।
इत्यदर्शितरुजोऽस्य मन्त्रिणः शश्वदूचुरघशङ्किनीः प्रजाः॥ ५२॥
स त्वनेकवनितासखोऽपि सन्पावनीमनवलोक्य सन्ततिम्।
वैद्ययत्नपरिभाविनं गदं न प्रदीप इव वायुमत्यगात्॥ ५३॥
तं गृहोपवन एव सङ्गताः पश्चिमक्रतुविदा पुरोधसा।
रोगशान्तिमपदिश्य मन्त्रिणः सम्भृते शिखिनि गूढमादधुः॥ ५४॥
तैः कृतप्रकृतिमुख्यसङ्ग्रहैराशु तस्य सहधर्मचारिणी।
साधु दृष्टशुभगर्भलक्षणा प्रत्यपद्यत नराधिपश्रियम्॥ ५५॥
तस्यास्तथाविधनरेन्द्रविपत्तिशोकादुष्णैर्विलोचनजलैः प्रथमाभितप्तः।
निर्वापितः कनककुम्भमुखोज्झितेन वंशाभिषेकविधिना शिशिरेण गर्भः॥ ५६॥
तं भावार्थं प्रसवसमयाकाङ्क्षिणीनां प्रजानामन्तर्गूढं क्षितिरिव नभोबीजमुष्टिं दधाना।
मौलैः सार्धं स्थविरसचिवैर्हेमसिंहासनस्था राज्ञी राज्यं विधिवदशिषद्भर्तुरव्याहताज्ञा॥ ५७॥

इति महाकविकालिदासकृतौ अग्निवर्णश्रृङ्गारो
नामैकोनविंशः सर्गः॥ १९॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

के क्षयरोगग्रस्त होने पर सूर्यकुल ऐसा क्षीण हो गया कि जैसे एक कलाभर बचा हुआ कृष्णपक्ष की चतुर्दशी का चन्द्रमा, कीचड़भर बचा हुआ गर्मी के दिनों का ताल अथवा तनिक-सी बची हुई दीपक की लौ॥ ५१॥ जब प्रजा मन्त्रियों से पूछती थी कि राजा को कोई भयानक रोग तो नहीं है? तब वे मन्त्री प्रजा को यह कहकर समझाते थे कि महाराज इस समय पुत्रोत्पत्ति के लिए व्रत आदि कर रहे हैं, इसी कारण दुर्बल होते जा रहे हैं। इस प्रकार वे राजा के रोग की बात जनता से छिपाते रहे॥ ५२॥ अनेक रानियों के होते हुए भी वह राजा पुत्र का पवित्र मुँह नहीं देख सका और वैद्य लोग राजा को नीरोग नहीं कर सके। जैसे वायु के आगे दीपक का वश नहीं चलता, वैसे ही राजा अग्निवर्ण भी उस रोग से ही काल के गाल में समा गया॥ ५३॥ तब और्ध्वदैहिक कर्मकाण्ड के विज्ञ पुरोहित को साथ लेकर मंत्रियों ने राजमहल के उपवन में ही रोगशान्ति के बहाने धधकती हुई अग्नि में चुपचाप दिवंगत राजा अग्निवर्ण का दाहसंस्कार कर दिया॥ ५४॥ तदनन्तर शीघ्र ही मंत्रियों ने उस राजा की धर्मपत्नी को शुभ गर्भ धारण किये देखकर उसी को राजगद्दी पर बिठा दिया॥ ५५॥ राजा के मरण की कठोर विपत्ति से उमड़े हुए गरम आँसुओं द्वारा रानी के गर्भ को जो ताप पहुँचा था, वह अब स्वर्णकलश के मुख से निकले तीर्थजल के अभिषेक से शान्त हो गया॥ ५६॥ रानी के प्रसवकाल की प्रतीक्षा करनेवाली प्रजा के कल्याणार्थ अपने उदर में बीजमुष्टि को सँजोये हुए धरती के समान वह रानी गर्भ धारण किये हुए ही राज्य के स्वर्णसिंहासन पर बैठी। तदनन्तर आप्तजनों के परामर्शानुसार वह शास्त्रीय विधि से अपने पति के राज्य का पालन करने लगी। उस समय उसकी आज्ञा का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता था॥ ५७॥

इस प्रकार रघुवंशमहाकाव्य में अग्निवर्ण-शृङ्गार नामक
उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त॥ १९॥

'क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते'

कुमारसम्भवम्

|| श्रीः ||

कुमारसम्भवम्

प्रथमः सर्गः

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥ १ ॥
यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम् ॥ २ ॥
अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ॥ ३ ॥
यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां सम्पादयित्रीं शिखरैर्बिभर्ति।
बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम् ॥ ४ ॥
आमेखलं सञ्चरतां घनानां छायामधःसानुगतां निषेव्य।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः ॥ ५ ॥
पदं तुषारस्रुतिधौतरक्तं यस्मिन्नदृष्ट्वाऽपि हतद्विपानाम्।
विदन्ति मार्गं नखरन्ध्रमुक्तैर्मुक्ताफलैः केसरिणां किराताः ॥ ६ ॥

भारत के उत्तरी भाग में देवता-सदृश पूजनीय हिमालय नाम का एक बडा भारी पर्वत है, जो पूर्व और पश्चिम के समुद्र तक फैला हुआ है। उसे देखकर ऐसा लगता है कि मानो वह पृथ्वी को नापने का मापदंड हो॥ १॥ राजा पृथु के कथनानुसार सब पर्वतों ने उसे वछडा बनाया और दुहने में चतुर सुमेरु पर्वत को दोग्धा (दुहने वाला) बनाकर पृथ्वीरूपिणी गाय से सब चमकीले रत्न और जड़ी-बूटियाँ दुहकर निकालीं॥ २॥ उस अगणित रत्न के उत्पादक हिमालय की शोभा हिम के कारण कुछ भी कम नहीं हुई। क्योंकि जहाँ अनेक गुण हों, वहाँ यदि एक-आध अवगुण भी आ जाय तो उसका वैसे ही पता नहीं चल पाता, जैसे चन्द्रमा की किरणों में उसका कलंक छिप जाता है॥ ३ ॥ हिमालय की कुछ चोटियों पर गेरू आदि धातुओं की अनेक रंग-बिरंगी चट्टानें हैं। अतएव कभी-कभी उन चट्टानों के पास पहुँचे हुए बादलों के टुकड़े उनके रंग की छाया पड़ने पर सन्ध्याकालीन बादलों जैसे रंग-बिरंगे दिखलाई पड़ने लगते हैं। उन्हें देखकर सन्ध्या होने के पहले ही वहाँ की अप्सराओं को यह भ्रम हो जाता है कि मानो असमय में सन्ध्या हो गयी हो॥ ४॥ उसकी कुछ चोटियाँ इतनी ऊँची हैं कि मेघ भी उनके बीच तक ही पहुँच कर रह जाते हैं। उन चोटियों का ऊपरी आधा भाग मेघों के ऊपर ही रहता है। अतएव निछले भाग में रहकर छाया का आनन्द लेने वाले सिद्ध जाति के लोग जब अधिक वर्षा होने से घवड़ा जाते हैं, तब वे बादलों के ऊपर उठी हुई उन चोटियों पर जाकर रहने लगते हैं। क्योंकि उस समय भी वहाँ धूप बनी रहती है॥ ५ ॥ वहाँ के सिंह जब हाथियों को

न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेखक्रिययोपयोगम्॥ ७ ॥
यः पूरयन् कीचकरन्ध्रभागान् दरीमुखोत्थेन समीरणेन।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम्॥ ८ ॥
कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम्।
यत्र स्रुतक्षीरतया प्रसूतः सानूनि गन्धः सुरभीकरोति॥ ९ ॥
वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः॥ १० ॥
उद्वेजयत्यङ्गुलिपार्ष्णिभागान् मार्गे शिलीभूतहिमेऽपि यत्र।
न दुर्वहश्रोणिपयोधरार्ता भिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्यः॥ ११ ॥
दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम्।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैःशिरसां सतीव॥ १२ ॥
लाङ्गूलविक्षेपविसर्पिशोभैरितस्ततश्चन्द्रमरीचिगौरैः।
यस्यार्थयुक्तं गिरिराजशब्दं कुर्वन्ति बालव्यजनैश्चमर्यः॥ १३ ॥
यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छया किम्पुरुषाङ्गनानाम्।
दरीगृहद्वारविलम्बिबिम्बास्तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति॥ १४ ॥

मारकर चले जाते हैं, तब रक्त से लाल-लाल उनके पंजों की पड़ी हुई छाप हिम की धारा से धुल जाती है। तथापि उन सिंहों के नखों से गिरी हुई गजमुक्ताओं को देखकर ही वहाँ के किरात सिंहों के मार्ग को जान लेते हैं॥ ६॥ उस पर्वत पर उत्पन्न जिन भोजपत्रों पर लिखे हुए अक्षर हाथी की सूँड़ पर बनी हुई लाल बुँदकियों जैसे दीखते हैं, ऐसे उन भोजपत्रों को विद्याधरियाँ अपने प्रेमपत्र लिखने के काम में लाती हैं॥ ७॥ उस पर्वत पर ऐसे छेद वाले बाँस बहुतायत से होते हैं, जो वायु भर जाने पर बजने लगते हैं। उनके बजने पर ऐसा लगता है कि मानों ऊँचे स्वर से गाने वाले किन्नरों के गायन के साथ वे संगत कर रहे हों॥ ८॥ जब वहाँ के हाथी अपनी कनपटी खुजलाने के लिए देवदारु के पेड़ों पर माथा रगड़ते हैं, तब उनसे ऐसा सुगन्धित दूध बहने लगता है कि उसकी सुगन्धि से उस पर्वत की सभी चोटियाँ एक साथ महकने लग जाती हैं॥ ९॥ वहाँ की गुफाओं में रात के समय चमकने वाली अनेक जड़ी-बूटियाँ भी होती हैं। अतएव वहाँ के किरात जब अपनी-अपनी प्रियतमाओं के साथ उन गुफाओं में रमण करने आते हैं, तब वे चमकीली जड़ी-बूटियाँ ही उनकी काम-क्रीड़ा के समय बिना तेल के दीपक बन जाती हैं॥ १०॥ जब जमे हुए हिम के मार्गों पर वहाँ की किन्नरियाँ चलती हैं, तब ठंड से उनकी उँगलियाँ और एड़ियाँ ऐठ जाती हैं। परन्तु वे अपने भारी नितम्बों और स्तनों के बोझ के मारे बेचारी शीघ्रता से नहीं चल पाती और चाहते हुए भी वे अपने स्वाभाविक मन्द गति को त्याग नहीं सकतीं॥ ११॥ उस हिमालय की लम्बी गुफाओं में दिन को भी अँधेरा छाया रहता है। जिससे ऐसा लगता है कि मानों अँधेरा भी दिन से डरकर इसकी गुफाओं में छिप जाता है और हिमालय उसे अपनी गोद में शरण दे देता है। क्योंकि महान् पुरुष अपनी शरण में आये हुए नीचों पर भी वैसी ही ममता बनाये रखते हैं, जैसी कि सज्जनों के साथ उनकी ममता रहती है॥ १२॥ वे चमरी गायें जब वहाँ चन्द्रमा की किरणों के समान अपनी श्वेत पूँछों को इधर-उधर घुमाती हुई चलती हैं, तब ऐसा लगता है कि मानो वे पर्वतराज पर अपनी पूँछ के चँवर डुलाकर उसका 'गिरिराज' नाम सार्थक कर रही हैं॥ १३॥ जब वहाँ गुफाओं में किन्नरियाँ शरीर पर से वस्त्र हट जाने के कारण लजाने लगती

भागीरथीनिर्झरसीकराणां वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः॥ १५॥
सप्तर्षिहस्तावचितावशेषाण्यधो विवस्वान् परिवर्तमानः।
पद्मानि यस्याग्रसरोरुहाणि प्रबोधयत्यूर्ध्वमुखैर्मयूखैः॥ १६॥
यज्ञाङ्गयोनित्वमवेक्ष्य यस्य सारं धरित्रीधरणक्षमं च।
प्रजापतिः कल्पितयज्ञभागं शैलाधिपत्यं स्वयमन्वतिष्ठत्॥ १७॥
स मानसीं मेरुसखः पितॄणां कन्यां कुलस्य स्थितये स्थितिज्ञः।
मेनां मुनीनामपि माननीयामात्मानुरूपां विधिनोपयेमे॥ १८॥
कालक्रमेणाथ तयोः प्रवृत्ते स्वरूपयोग्ये सुरतप्रसङ्गे।
मनोरमं यौवनमुद्वहन्त्या गर्भोऽभवद् भूधरराजपत्न्याः॥ १९॥
असूत सा नागवधूपभोग्यं मैनाकमम्भोनिधिबद्धसख्यम्।
क्रुद्धेऽपि पक्षच्छिदि वृत्रशत्राववेदनाज्ञं कुलिशक्षतानाम्॥ २०॥
अथावमानेन पितुः प्रयुक्ता दक्षस्य कन्या भवपूर्वपत्नी।
सती सती योगविसृष्टदेहा तां जन्मने शैलवधूं प्रपेदे॥ २१॥
सा भूधराणामधिपेन तस्यां समाधिमत्यामुदपादि भव्या।
सम्यक्प्रयोगादपरिक्षतायां नीताविवोत्साहगुणेन सम्पत्॥ २२॥

हैं, तब वादल उन गुफाओं के द्वारों पर जाकर परदा का रूप धारण कर लेते हैं॥ १४॥ गंगाजी के झरनों की फुहारों से लदे, वार-वार देवदारु के वृक्षों को कँपाने और किरातों की कमर में वँधे मोरपंखों को फरफराने वाले वहाँ के शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन से वे किरात थकान मिटाते हैं, जो मृगों की खोज में हिमालय पर इधर-उधर घूमा करते हैं॥ १५॥ स्वयं सप्तर्षिगण अपने सप्तर्षि-मण्डल से आकर उसकी ऊँची चोटियों के तालाबों में खिलने वाले कमलों को पूजा के लिए तोड़ ले जाया करते हैं। उनके चुनने से जो कमल बचे रहते हैं, उन्हें सूर्य सायंकाल के समय ऊपर की ओर पड़ने वाली अपनी किरणों से खिलाता रहता है॥ १६॥ यज्ञ में काम आने वाली सामग्री को उत्पन्न करने और पृथ्वी को सम्हाले रहने की शक्ति रखने के कारण हिमालय को स्वयं ब्रह्माजी ने उन पर्वतों का स्वामी बना दिया था, जिन्हें यज्ञ में भाग पाने का अधिकार मिला हुआ है॥ १७॥ सुमेरु के मित्र और मर्यादा के ज्ञाता हिमालय ने अपनी वंशवृद्धि के लिए मेना नाम की उस कन्या से शास्त्र के अनुसार विवाह किया, जो पितरों के मन से उत्पन्न हुई थी। जिनका मुनिगण भी आदर करते थे और जो सर्वथा उसके अनुरूप थी॥ १८॥ विवाह हो जाने के कुछ समय वाद जब हिमालय और मेना दोनों ने मनचाहा भोग-विलास किया तो हिमालय की वह सुन्दरी और युवती पत्नी मेना गर्भवती हो गयीं॥ १९॥ मेना ने मैनाक नाम का एक ऐसा प्रतापी पुत्र उत्पन्न किया, जिसका नागकन्या के साथ विवाह हुआ था। समुद्र के साथ जिसने मित्रता की थी और पर्वतों के पंख काटने वाले इन्द्र के क्रुद्ध होने पर भी उसने उनके वज्र की चोट अपने शरीर पर नहीं झेली॥ २०॥ उस मैनाक के जन्म के कुछ ही दिनों वाद महादेवजी की पहली पत्नी और दक्ष की परम साध्वी कन्या सती ने अपने पिता से अपमानित होकर योगवल से अपना शरीर छोड़ दिया और दूसरा जन्म लेने के लिए वे मेना के गर्भ में आ पैठीं॥ २१॥ जैसे ठीक-ठी[illegible] लायी जाने से न विगड़ने वाली नीति उत्साह गुण का मेल पाकर वड़ी [illegible] ही हिमालय ने पतिव्रता मेना से एक कल्याणी कन्या को जन्म [illegible]

प्रसन्नदिक्पांसुविविक्तवातं शङ्खस्वनानन्तरपुष्पवृष्टि।
शरीरिणां स्थावरजङ्गमानां सुखाय तज्जन्मदिनं बभूव॥ २३॥
तया दुहित्रा सुतरां सवित्री स्फुरत्प्रभामण्डलया चकासे।
विदूरभूमिर्नवमेघशब्दादुद्भिन्नया रत्नशलाकयेव॥ २४॥
दिने दिने सा परिवर्धमाना लब्धोदया चान्द्रमसीव लेखा।
पुपोष लावण्यमयान्विशेषाज्ज्योत्स्नान्तराणीव कलान्तराणि॥ २५॥
तां पार्वतीत्याभिजनेन नाम्ना बन्धुप्रियां बन्धुजनो जुहाव।
उमेति मात्रा तपसो निषिद्धा पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम॥ २६॥
महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम्।
अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा॥ २७॥
प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च॥ २८॥
मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः सा कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकैश्च।
रेमे मुहुर्मध्यगता सखीनां क्रीडारसं निर्विशतीव बाल्ये॥ २९॥
तां हंसमालाः शरदीव गङ्गां महौषधिं नक्तमिवात्मभासः।
स्थिरोपदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः॥ ३०॥
असम्भृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साऽथ वयः प्रपेदे॥ ३१॥

दिशाएँ प्रसन्न थीं, पवन में धूल नहीं थी, आकाश से शंखध्वनि के साथ-साथ फूल बरस रहे थे और चर-अचर सभी प्राणी उसके जन्म से प्रसन्न थे॥ २३॥ जैसे नये मेघ के गरजने पर वैदूर्यरत्न को उत्पन्न करने वाली विदूर-भूमि तत्काल पैदा हुई चमकीली रत्नशलाका से चमक उठती है, वैसे ही उस कन्या के जन्म से मेना सुशोभित हुई॥ २४॥ अब पार्वतीजी चन्द्रकला के समान दिन-प्रतिदिन बढने लगीं। जैसे चाँदनी के साथ-साथ चन्द्रमा की अन्यान्य कलाएँ भी बढने लगती हैं, वैसे ही ज्यों-ज्यों पार्वतीजी बढने लगीं त्यों-त्यों उनके सुन्दर और सुडौल अंग भी बढने लगे॥ २५॥ पर्वत से उत्पन्न होने के कारण पिता तथा कुटुम्बी जन सब की प्रिय उस कन्या को 'पार्वती' कहकर पुकारने लगे। बाद में जब पार्वती को उनकी माता ने उ मा (उ=हे वत्से! मा=तप मत करो) कहकर तपस्या करने से रोका, तबसे उनका 'उमा' नाम पड़ गया॥ २६॥ जैसे भौंरों का झुण्ड वसन्त ऋतु में विकसित अन्य फूलों को छोड़कर आम्रमंजरियों पर ही मँडराता रहता है, वैसे ही अनेक सन्तानों के होते हुए भी हिमवान् के नेत्र पार्वती को देखकर नहीं अघाते थे॥ २७॥ जैसे अत्यन्त प्रकाशमान लौ पाकर दीपक, मन्दाकिनी को पाकर स्वर्ग का मार्ग तथा व्याकरण से शुद्ध वाणी पाकर विद्वान् पवित्र और सुन्दर लगने लगते हैं, वैसे ही पार्वतीजी को पाकर हिमवान् भी पवित्र और सुन्दर लगने लगे॥ २८॥ कुछ सयानी होकर पार्वतीजी सखियों के साथ कभी गंगाजी के बलुए तट पर वेदियाँ बनातीं, कभी गेंद खेलतीं और कभी गुड्डे-गुड्डियाँ बना-बनाकर उनसे खेलती थीं। इस प्रकार वे बचपन में क्रीड़ा-रस में डूबी-सी रहती थीं॥ २९॥ अत्यन्त तीव्र बुद्धिवाली पार्वतीजी ने पढ़ना प्रारम्भ किया तो पूर्वजन्म की सभी विद्याएँ उन्हें वैसे ही स्मरण हो आयीं, जैसे शरद् ऋतु के आगमन पर गंगाजी में हंस स्वयं आ जाते हैं अथवा जैसे स्वतः चमकने वाली जडी-बूटियों में रात को चमक आ जाया करती है॥ ३०॥ धीरे-धीरे उनका बचपन बीत गया और उनके शरीर में वह यौवन फूट पडा, जो शरीररूपिणी लता का स्वाभाविक शृंगार है। जो मदिरा के बिना ही मन

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन॥ ३२॥
अभ्युन्नताङ्गुष्ठनखप्रभाभिर्निक्षेपणाद् रागमिवोद्गिरन्तौ।
आजह्रतुस्तच्चरणौ पृथिव्यां स्थलारविन्दश्रियमव्यवस्थाम्॥ ३३॥
सा राजहंसैरिव सन्नताङ्गी गतेषु लीलाञ्चितविक्रमेषु।
व्यनीयत प्रत्युपदेशलुब्धैरादित्सुभिर्नूपुरसिञ्जितानि॥ ३४॥
वृत्तानुपूर्वे च न चातिदीर्घे जङ्घे शुभे सृष्टवतस्तदीये।
शेषाङ्गनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्य उत्पाद्य इवास यत्नः॥ ३५॥
नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वादेकान्तशैत्यात् कदलीविशेषाः।
लब्ध्वापि लोके परिणाहि रूपं जातास्तदूर्वोरुपमानबाह्याः॥ ३६॥
एतावता नन्वनुमेयशोभि काञ्चीगुणस्थानमनिन्दितायाः।
आरोपितं यद्गिरिशेन पश्चादनन्यनारीकमनीयमङ्कम्॥ ३७॥
तस्याः प्रविष्टा नतनाभिरन्ध्रं रराज तन्वी नवलोमराजिः।
नीवीमतिक्रम्य सितेतरस्य तन्मेखलामध्यमणेरिवार्चिः॥ ३८॥
मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या वलित्रयं चारु बभार बाला।
आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम्॥ ३९॥

को मतवाला बना देता है और जो बिना फूलोंवाला कामदेव का बाण है॥ ३१॥ कूँची से ठीक-ठीक रंग भरने पर जैसे चित्र खिल उठता है और सूर्य की किरणों का स्पर्श पाकर कमल का फूल खिलने लगता है, वैसे ही पार्वतीजी का शरीर भी नवयौवन पाकर खिल गया॥ ३२॥ जब वे चलती थीं, तब उनके स्वाभाविक लाल और कोमल पैरों के उभडे हुए अँगूठों के नखों से निकलने वाली चमक देखकर ऐसा लगता था कि मानों वे पैर लाली उगल रहे हों। जब वे अपने उन चरणों को उठाकर रखती हुई चलती थीं, तब ऐसा लगता था कि मानों वे पग-पग पर स्थलकमल उगाती चल रही हों॥ ३३॥ यौवन के भार से झुकी हुई वे जब हाव-भाव प्रदर्शित करती चलती थीं तो ऐसा लगता था कि मानो उनके पायल से निकलनेवाली मधुर ध्वनि सीखने के लिए ललचाये हुए राजहंसों ने अपनी हाव-भाव भरी चाल बदले में उन्हें पहले ही सिखा दी हो॥ ३४॥ उनके शरीर को सुन्दर बनाने के लिए ब्रह्मा ने सुन्दरता की जितनी सामग्रियाँ एकत्र की थीं, वे सब उनकी ठीक चढ़ाव-उतार वाली, गोल और उचित मोटाईवाली जाँघों के बनाने में ही लग गयीं। अतः शेष अंगों को बनाने के लिए सुन्दरता की और सामग्रियाँ जुटाने में ब्रह्माजी को बडा प्रयत्न करना पडा॥ ३५॥ पार्वतीजी की दोनों मोटी जाँघों की उपमा दो ही वस्तुओं से दी जा सकती थी— एक तो हाथी की सूँड़ से और दूसरे केले के खम्भे से। किन्तु हाथी की सूँड़ की त्वचा खुरदरी होती है और केले का खम्भा बहुत ठंडा होता है। इसलिए पार्वतीजी की बड़ी-बडी जाँघों के जोड़े की कोई भी ठीक उपमा नहीं मिल सकी॥ ३६॥ उन अत्यन्त सुन्दर अंगों वाली पार्वतीजी के नितम्ब कितने सुन्दर रहे होंगे, यह तो इसी बात से आँका जा सकता है कि विवाह होने पर स्वयं शिवजी ने उन नितम्बों को अपनी उस गोद में रखा, जहाँ तक पहुँचने की कोई अन्य स्त्री इच्छा भी नहीं कर सकती॥ ३७॥ नारे के ऊपर गहरी नाभि तक पहुँची और नये यौवन के आने से बालों की जो नयी उगी हुई पतली रेखा बन गयी थी, उसे देखकर ऐसा लगता था कि मानों नारे के ऊपर बँधी हुई उनकी तागड़ी के बीचो-बीच जडा हुआ नीलम चमक रहा हो॥ ३८॥ पतली कमरवाली और नवयौवना पार्वतीजी के पेट पर जो सिकुडन की तीन रेखाएँ पड़ी हुई थीं, उन्हें

अन्योन्यमुत्पीडयदुत्पलाक्ष्याः स्तनद्वयं पाण्डु तथा प्रवृद्धम्।
मध्ये यथा श्याममुखस्य तस्य मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम्॥४०॥
शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्कः।
पराजितेनापि कृतौ हरस्य यौ कण्ठपाशौ मकरध्वजेन॥४१॥
कण्ठस्य तस्याः स्तनबन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य।
अन्योन्यशोभाजननाद् बभूव साधारणो भूषणभूष्यभावः॥४२॥
चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम्।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः॥४३॥
पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद् विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य॥४४॥
स्वरेण तस्याममृतस्रुतेव प्रजल्पितायामभिजातवाचि।
अप्यन्यपुष्टा प्रतिकूलशब्दा श्रोतुर्वितन्त्रीरिव ताड्यमाना॥४५॥
प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या।
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः॥४६॥
तस्याः शलाकाञ्जननिर्मितेव कान्तिर्भ्रुवोरायतलेखयोर्या।
तां वीक्ष्य लीलाचतुरामनङ्गः स्वचापसौन्दर्यमदं मुमोच॥४७॥

देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि मानो कामदेव को ऊपर के स्थान आदि अंगों पर चढा ले जाने के लिए नये यौवन ने सीढ़ी बना दी हो॥३९॥ उस कमलनयनी के साँवली घुंडियोंवाले गोरे-गोरे दोनों स्तन बढ़कर आपस में ऐसे सट गये थे और उनके बीच में इतना भी स्थान नहीं रह गया था कि कमलनाल का एक सूत भी उसमें समा सके॥४०॥ मेरी समझ में पार्वतीजी की भुजाएँ सिरस के फूल से भी अधिक कोमल थीं, तभी तो मकरध्वज कामदेव ने शिवजी से हार जाने पर उनके गले में उन्हीं भुजाओं का फन्दा डाला था॥४१॥ पार्वतीजी का गोल-गोल गला और उसमें से उनके ऊँचे स्तनों पर लटका हुआ गोल मोतियों का हार, दोनों परस्पर एक-दूसरे की शोभा बढा रहे थे। अर्थात् पार्वतीजी के गले की शोभा हार बढ़ा रहा था और हार की शोभा उनका गला बढाता था॥४२॥ जब तक पार्वतीजी उत्पन्न नहीं हुई थीं, तब तक चञ्चला लक्ष्मी बड़ी दुविधा में पड़ी रहती थीं। क्योंकि रात को जब वे चन्द्रमा में पहुँचती थीं, तब उन्हें कमल का आनन्द नहीं मिलता था और जब दिन को कमल में आ विराजती थीं तब रात के चन्द्रमा का आनन्द उन्हें नहीं मिल पाता था। किन्तु जब से वे चन्द्रमा और कमल दोनों के गुणों से सम्पन्न पार्वतीजी के मुख में आ बसीं, तब से उन्हें चन्द्रमा और कमल दोनों का आनन्द मिलने लगा॥४३॥ उनके लाल-लाल ओठों पर फैली उनकी मुस्कुराहट का प्रकाश ऐसा सुन्दर लगता था, जैसे नये लाल कोपल में कोई उजला फूल रखा हुआ हो अथवा मूँगे के बीच में मोती जड़ दिया गया हो॥४४॥ मधुर वाणीवाली पार्वतीजी जब बोलती थीं, तब जैसे अमृत की धारा फूट निकलती थी। उनकी मीठी बोली के आगे कोयल की कूक कानों को ऐसी कर्कश लगती थी, जैसे किसी अनाड़ी ने बिना मिली वीणा के बेसुरे तार छेड़ दिये हों॥४५॥ बड़ी-बड़ी आँखों वाली पार्वतीजी की चितवन आँधी से हिलते हुए नीले कमल के समान चञ्चल दीखती थी। उसे देखकर यही नहीं पता चलता था कि यह कला उन्होंने हरिणियों से सीखी थी अथवा हरिणियों ने ही उनसे सीखी थी॥४६॥ उनकी लम्बी और मनोहर भौंहें ऐसी लगती थीं, जैसे किसी ने कूँची से बना दी हो। वे इतनी सुन्दर थीं कि अपने धनुष की सुन्दरता का घमण्ड करने वाले कामदेव ने भी उन भौंहों के आगे अपना

लज्जा तिरश्चां यदि चेतसि स्यादसंशयं पर्वतराजपुत्र्याः।
तं केशपाशं प्रसमीक्ष्य कुर्युर्बालप्रियत्वं शिथिलं चमर्यः॥ ४८॥
सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव॥ ४९॥
तां नारदः कामचरः कदाचित्कन्यां किल प्रेक्ष्य पितुः समीपे।
समादिदेशैकवधूं भवित्रीं प्रेम्णा शरीरार्धहरां हरस्य॥ ५०॥
गुरुः प्रगल्भेऽपि वयस्यतोऽस्यास्तस्थौ निवृत्तान्यवराभिलाषः।
ऋते कृशानोर्न हि मन्त्रपूतमर्हन्ति तेजांस्यपराणि हव्यम्॥ ५१॥
अयाचितारं न हि देवदेवमद्रिः सुतां ग्राहयितुं शशाक।
अभ्यर्थनाभङ्गभयेन साधुर्माध्यस्थ्यमिष्टेऽप्यवलम्बतेऽर्थे॥ ५२॥
यदैव पूर्वे जनने शरीरं सा दक्षरोषात् सुदती ससर्ज।
तदाप्रभृत्येव विमुक्तसङ्गः पतिः पशूनामपरिग्रहोऽभूत्॥ ५३॥
स कृत्तिवासास्तपसे यतात्मा गङ्गाप्रवाहोक्षितदेवदारु।
प्रस्थं हिमाद्रेर्मृगनाभिगन्धि किञ्चित्क्वणत्किन्नरमध्युवास॥ ५४॥
गणा नमेरुप्रसवावतंसा भूर्जत्वचः स्पर्शवतीर्दधानाः।
मनःशिलाविच्छुरिता निषेदुः शैलेयनद्धेषु शिलातलेषु॥ ५५॥

अभिमान त्याग दिया॥ ४७॥ यदि पशु-पक्षियों में भी मनुष्य के समान लज्जा होती तो अपने बालों पर इतरानेवाली चमरी गायें उनके बालों को देखकर अपने चँवरों पर इठलाना भूल जातीं॥ ४८॥ संसार को बनाने वाले ब्रह्माजी पृथ्वी की सारी सुन्दरता एक साथ देखना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने सुन्दर अंगों की उपमा में आने वाली सब वस्तुओं को बड़े जतन मे बटोर तथा उन्हें सब अंगों पर यथास्थान सजाकर सुन्दरता की मूर्ति पार्वतीजी का निर्माण किया था॥ ४९॥ स्वेच्छया इधर-उधर घूमने वाले नारदजी एक दिन घूमते-घामते हिमालय के घर पहुँचे। वहाँ हिमालय के पास बैठी उनकी कन्या को देखकर नारदजी ने भविष्यवाणी की कि 'यह कन्या अपने प्रेम से शिवजी के आधे शरीर की स्वामिनी और उनकी एकमात्र पत्नी बनकर रहेगी'॥ ५०॥ यद्यपि पार्वतीजी बराबर सयानी होती चली जा रही थीं, किन्तु नारदजी की बात से हिमालय इतने निश्चिन्त हो गये कि उन्होंने दूसरा वर खोजने की चिन्ता ही छोड़ दी। क्योंकि जैसे मन्त्र से पवित्र हवन की सामग्री को अग्नि के सिवाय और कोई नहीं ले सकता, वैसे ही महादेवजी को छोडकर पार्वतीजी को कोई दूसरा नहीं पा सकता था॥ ५१॥ हिमालय ने यह सोचा कि 'जब तक स्वयं महादेवजी कन्या माँगने नहीं आते, तब तक उन्हें अपने-आप कन्या देने जाना ठीक नहीं होगा'। इसलिए जहाँ सज्जनों को निरादर का डर रहता है, वहाँ वे अपने काम में किसी मध्यस्थ को साथ ले लेते हैं॥ ५२॥ जब सती ने अपने पिता दक्ष के द्वारा महादेवजी का अपमान होने पर क्रोध करके यज्ञ की अग्नि में अपना शरीर भस्म कर दिया, तभी से शिवजी ने भी सब भोग-विलास छोडकर दूसरा विवाह नहीं किया था॥ ५३॥ इन्द्रियजयी और गजचर्म धारण करने वाले भगवान् शंकर कस्तूरी की गन्ध से सुगन्धित हिमालय की एक ऐसी सुन्दर चोटी पर जाकर तप करने लगे, जहाँ देवदारु के वृक्षों को गंगाजी की धारा सींचती थी और जहाँ दिन-रात गन्धर्व गाते रहते थे॥ ५४॥ उनके आस-पास सिर पर नमेरु के कोमल फूलों की माला बाँधे, शरीर पर भोजपत्र के वृक्षों की छाल के कपड़े लपेटे और मैनसिल के रंग से अपना शरीर रंगे हुए उनके प्रमथ आदि गण शिलाजीत से पुती चट्टानों पर

तुषारसङ्घातशिलाः खुराग्रैः समुल्लिखन्दर्पकलः ककुद्मान्।
दृष्टः कथञ्चिद् गवयैर्विविग्नैरसोढसिंहध्वनिरुन्ननाद॥ ५६॥
तत्राग्निमाधाय समित्समिद्धं स्वमेव मूर्त्यन्तरमष्टमूर्तिः।
स्वयं विधाता तपसः फलानां केनापि कामेन तपश्चचार॥ ५७॥
अनर्घ्यमर्घ्येण तमद्रिनाथः स्वर्गौकसामर्चितमर्चयित्वा।
आराधनायास्य सखीसमेतां समादिदेश प्रयतां तनूजाम्॥ ५८॥
प्रत्यर्थिभूतामपि तां समाधेः शुश्रूषमाणां गिरिशोऽनुमेने।
विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः॥ ५९॥
अवचितबलिपुष्पा वेदिसम्मार्गदक्षा नियमविधिजलानां बर्हिषां चोपनेत्री।
गिरिशमुपचचार प्रत्यहं सा सुकेशी नियमितपरिखेदा तच्छिरश्चन्द्रपादैः॥ ६०॥

इति महाकविकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये
उमोत्पत्तिर्नाम प्रथमः सर्गः॥ १॥
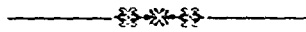
बैठे रहते थे॥ ५५॥ उनका गर्वीला नन्दी गरजते हुए सिंह की दहाड़ को न सह सकने के कारण जब अपने खुरों से हिम की चट्टानों को खोदता हुआ डकारने लगता था, तब घबरायी हुई नीलगायें उसे देखती ही रह जाती थीं कि यह सिंह जैसा गरजने वाला दूसरा कौन वीर यहाँ आ पहुँचा॥ ५६॥ उसी पर्वत-शिखर पर सब तपस्याओं के स्वयं फलदाता शिवजी अपनी दूसरी मूर्ति अग्नि को समिधाओं से सुलगाकर न जाने किस फल की इच्छा से तप करने लगे॥ ५७॥ स्वर्ग के देवता महादेवजी को पूजते हैं, उनकी पूजा के लिए हिमालय अपनी पुत्री के साथ बहुमूल्य सामग्री लेकर पहुँचे। पहले उन्होंने स्वयं उनकी पूजा की और बाद में अपनी कन्या को आज्ञा दी कि सखियों के साथ जाकर नित्य शिवजी की पूजा किया करो॥ ५८॥ यद्यपि वहाँ पार्वतीजी के आने से शिवजी के तप में बाधा पड़ सकती थी, तथापि उन्होंने पार्वतीजी की सेवा स्वीकार कर ली। क्योंकि सच्चे धर्मात्मा उन्हें ही समझना चाहिए कि जिनका मन विकार उत्पन्न करने वाली वस्तुओं के बीच में रहकर भी विकृत नहीं होता॥ ५९॥ सुन्दर केशों वाली पार्वतीजी वहाँ रहकर नियम से प्रतिदिन पूजा के लिए फूल चुनतीं, बड़े अच्छे ढंग से वेदी को धोती-पोंछतीं और नित्यकर्म के लिए जल तथा कुश लाकर उनकी सेवा करती हुई तनिक भी नहीं थकती थीं। क्योंकि महादेवजी के माथे पर विराजमान चन्द्रमा की ठण्डी किरणें पार्वतीजी की थकान बराबर मिटाती रहती थीं॥ ६०॥

इस प्रकार महाकविकालिदासरचित कुमारसम्भवमहाकाव्य में
उमाजन्म नामक पहला सर्ग समाप्त॥ १॥

द्वितीयः सर्गः

तस्मिन्विप्रकृताः काले तारकेण दिवौकसः । तुरासाहं पुरोधाय धाम स्वायम्भुवं ययुः ॥ १ ॥
तेषामाविरभूद्ब्रह्मा परिम्लानमुखश्रियाम् । सरसां सुप्तपद्मानां प्रातर्दीधितिमानिव ॥ २ ॥
अथ सर्वस्य धातारं ते सर्वे सर्वतोमुखम् । वागीशं वाग्भिरर्थ्याभिः प्रणिपत्योपतस्थिरे ॥ ३ ॥
नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने । गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे ॥ ४ ॥
यदमोघमपामन्तरुप्तं बीजमज! त्वया । अतश्चराचरं विश्वं प्रभवस्तस्य गीयसे ॥ ५ ॥
तिसृभिस्त्वमवस्थाभिर्महिमानमुदीरयन् । प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतां गतः ॥ ६ ॥
स्त्रीपुंसावात्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया । प्रसूतिभाजः सर्गस्य तावेव पितरौ स्मृतौ ॥ ७ ॥
स्वकालपरिमाणेन व्यस्तरात्रिन्दिवस्य ते । यौ तु स्वप्नावबोधौ तौ भूतानां प्रलयोदयौ ॥ ८ ॥
जगद्योनिरयोनिस्त्वं जगदन्तो निरन्तकः । जगदादिरनादिस्त्वं जगदीशो निरीश्वरः ॥ ९ ॥
आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना । आत्मना कृतिना च त्वमात्मन्येव प्रलीयसे ॥ १० ॥
द्रवः सङ्घातकठिनः स्थूलः सूक्ष्मो लघुर्गुरुः । व्यक्तो व्यक्तेतरश्चासि प्राकाम्यं ते विभूतिषु ॥ ११ ॥
उद्घातः प्रणवो यासां न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम् । कर्म यज्ञः फलं स्वर्गस्तासां त्वं प्रभवो गिराम् ॥

उसी समय तारकासुर नाम के राक्षस द्वारा सताये हुए देवता इन्द्र को अगुआ बनाकर ब्रह्माजी के पास गये ॥ १ ॥ उदास मुँहवाले उन देवताओं के आगे ब्रह्माजी उसी प्रकार उपस्थित हुए, जैसे तालाब में सोये हुए कमलों के आगे प्रातःकाल का सूर्य निकल आता है ॥ २ ॥ अपने आगे उपस्थित देखते ही चार मुँह वाले और सारे जगत् को बनाने वाले ब्रह्माजी को प्रणाम करके वे देवता बड़े भावभरे शब्दों में इस तरह स्तुति करने लगे— ॥ ३ ॥ हे भगवन्! संसार की रचना के पहले आपका केवल एक रूप रहता है, किन्तु जब संसार रचने लगते हैं उस समय सत्त्व, रज और तम— ये तीन गुण उत्पन्न करके आप ब्रह्मा, विष्णु और महेश नाम से त्रिमूर्ति बन जाते हैं। आपको हमारा प्रणाम है ॥ ४ ॥ हे ब्रह्मन्! सर्वप्रथम आपने जल उत्पन्न करके उसमें ऐसा बीज बो दिया है, जो कभी व्यर्थ नहीं जाता। जिससे एक ओर ये पशु, पक्षी, मनुष्य आदि जंगम और दूसरी ओर वृक्ष-पहाड़ आदि स्थावर जगत् उत्पन्न हुए हैं। अतएव लोग आपको ही समस्त संसार का जन्मदाता कहते हैं ॥ ५ ॥ एकमात्र आप ही शिव, विष्णु और हिरण्यगर्भ— इन तीनों रूपों से अपनी शक्ति प्रकट करके इस संसार का नाश, पालन और सृष्टि करते हैं ॥ ६ ॥ जब आप स्त्री और पुरुष की सृष्टि करने चलते हैं, उस समय आप ही स्त्री और पुरुष दो रूप बन जाते हैं। आपके वे ही दोनों रूप सारे संसार के माता-पिता कहलाते हैं ॥ ७ ॥ आपने समय की जो नाप बना रखी है, उसी के अनुसार दिन और रात होते हैं। उसमें जब आप सोते हैं, तब संसार का प्रलय हो जाता है और जब आप जागते हैं, तब संसार की सृष्टि होती है ॥ ८ ॥ यद्यपि आपने संसार को उत्पन्न किया है, किन्तु आपको किसी ने नहीं उत्पन्न किया। आप संसार का अन्त करते हैं, परन्तु आपका कोई अन्त नहीं कर सकता। आपने संसार का प्रारम्भ किया है, परन्तु आपका प्रारम्भ कभी नहीं हुआ। आप समस्त संसार के स्वामी हैं, परन्तु आपका स्वामी कोई नहीं है ॥ ९ ॥ आप ही अपने को जानते हैं और आप ही अपने को उत्पन्न करते हैं और जब अपना काम पूरा कर लेते हैं, तब आप अपने को अपने में ही लीन कर लेते हैं ॥ १० ॥ आप तरल भी हैं और कठोर भी। मोटे भी हैं और पतले भी। बड़े भी हैं और छोटे भी। आप दिखलायी भी देते हैं और नहीं भी दिखलायी देते। इस प्रकार सभी सिद्धियाँ आपके हाथ में हैं। आप जब जैसा चाहें, वैसा बन सकते हैं ॥ ११ ॥ उस वैदिकी वाणी को आपने ही उत्पन्न किया है, जिसका प्रारम्भ ॐकार से होता है। जिसका उच्चारण

त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम् । तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः ।। १३ ।।
त्वं पितृणामपि पिता देवानामपि देवता । परतोऽपि परश्चासि विधाता वेधसामपि ।। १४ ।।
त्वमेव हव्यं होता च भोज्यं भोक्ता च शाश्वतः । वेद्यं च वेदिता चासि ध्याता ध्येयं च यत्परम् ।।
इति तेभ्यः स्तुतीः श्रुत्वा यथार्था हृदयङ्गमाः । प्रसादाभिमुखो वेधाः प्रत्युवाच दिवौकसः ।।
पुराणस्य कवेस्तस्य चतुर्मुखसमीरिता । प्रवृत्तिरासीच्छब्दानां चरितार्था चतुष्टयी ।। १७ ।।
स्वागतं स्वानधीकारान्प्रभावैरवलम्ब्य वः । युगपद्युगबाहुभ्यः प्राप्तेभ्यः प्राज्यविक्रमाः ।। १८ ।।
किमिदं द्युतिमात्मीयां न बिभ्रति यथा पुरा । हिमक्लिष्टप्रकाशानि ज्योतींषीव मुखानि वः ।। १९ ।।
प्रशमादर्चिषामेतदनुद्गीर्णसुरायुधम् । वृत्रस्य हन्तुः कुलिशं कुण्ठितश्रीव लक्ष्यते ।। २० ।।
किं चायमरिदुर्वारः पाणौ पाशः प्रचेतसः । मन्त्रेण हतवीर्यस्य फणिनो दैन्यमाश्रितः ।। २१ ।।
कुबेरस्य मनःशल्यं शंसतीव पराभवम् । अपविद्धगदो बाहुर्भग्नशाख इव द्रुमः ।। २२ ।।
यमोऽपि विलिखन्भूमिं दण्डेनास्तमितत्विषा । कुरुतेऽस्मिन्नमोघेऽपि निर्वाणालातलाघवम् ।।
अमी च कथमादित्याः प्रतापक्षतिशीतलाः । चित्रन्यस्ता इव गताः प्रकामालोकनीयताम् ।। २४ ।।
पर्याकुलत्वान्मरुतां वेगभङ्गोऽनुमीयते । अम्भसामोघसंरोधः प्रतीपगमनादिव ।। २५ ।।

उदात्त, अनुदात्त और स्वरित— इन तीनों स्वरों से होता है और जिसके मन्त्रों द्वारा यज्ञ करके लोग स्वर्ग प्राप्त करते हैं।। १२ ।। आपको ही लोग धर्म, अर्थ, काम और माक्ष के लिए मनुष्य को प्रेरित करने वाली मूल प्रकृति कहते हैं और आप ही उस प्रकृति का दर्शन करने वाले उदासीन पुरुष भी कहलाते हैं।। १३ ।। आप पितरों के भी पिता और देवताओं के भी देवता हैं। आप अच्छों से भी अच्छे हैं और सृष्टि करने वाले प्रजापतियों की सृष्टि भी आप ही करते हैं।। १४।। आप ही हवन की सामग्री हैं और आप ही होता (हवन करने वाले) भी हैं। आप ही भोग की वस्तुएँ हैं और आप ही भोक्ता हैं। आप ही जानने के योग्य हैं और आप ही ज्ञाता भी हैं। आप ही ध्यान करने वाले हैं और आप ही वे सर्वश्रेष्ठ प्रभु हैं कि जिनका ध्यान किया जाना चाहिए।। १५ ।। उन देवताओं की ऐसी वास्तविक और मनभावनी स्तुति सुनकर दयालु ब्रह्माजी देवताओं से बोले।। १६ ।। उस समय सबसे पुराने कवि ब्रह्माजी के चार मुखों से निकली हुई वाणी ने परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—इन चार रूपों वाली होना सार्थक कर दिया।। १७।। ब्रह्माजी ने कहा—एक साथ आये हुए, अपनी शक्ति से अपने-अपने अधिकारों की रक्षा करने वाले और बडी-बड़ी भुजाओं वाले हे प्रचुर शक्तिशाली देवताओ! मैं आप सबका स्वागत करता हूँ।। १८ ।। परन्तु यह तो बतलाइए कि आप लोगों के मुँह की कान्ति पहले जैसी क्यों नहीं है? कुहरे से ढँके हुए धुँधले तारे के समान आप लोग उदास क्यों दिखलायी दे रहे हैं?।। १९ ।। वृत्रासुर को मारने वाला और इन्द्रधनुष के समान चमकीला इन्द्र का वज्र भी आज अपनी चमक खोकर कुण्ठित जैसा क्यों दीख रहा है।। २० ।। शत्रुओं को नष्ट करने वाला यह वरुणदेव के हाथ का पाश (फन्दा) मन्त्र से बँधे हुए सर्प के समान ऐसा दीन क्यों हो रहा है।। २१ ।। गदा के बिना कुबेर की विशाल भुजा भी कटी हुई शाखा वाले वृक्ष के ठूँठ जैसी क्यों लग रही है? यह बतलाता है कि किसी बड़े प्रबल शत्रु से हार जाने का काँटा इनके हृदय में चुभा हुआ है।। २२ ।। अपने निस्तेज दण्ड से पृथ्वी को कुरेदते हुए यमराज भी ऐसे क्यों दीख रहे हैं कि मानो इनका विकराल दण्ड भी बुझी लुकाठी जैसा बेकाम हो गया है।। २३ ।। ठण्डे पड़े हुए ये बारह आदित्य भी अपना तेज गँवा कर चित्रलिखित जैसे होकर ऐसे मंद क्यों दिखलायी दे रहे हैं कि कोई भी जब तक चाहे तब तक इस समय इन्हें देख सकता है।। २४।। ऊँचे की ओर बहने वाले जल का बहाव जैसे धीमा पड़ जाता है, वैसे ही उनचासों पवन ऐसे क्यों दीख रहे हैं, जैसे ये भी घबराहट से मन्द पड़ गये हों।। २५।। पराजय के दुःख से झुकी और

आवर्जितजटामौलिविलम्बिशशिकोटयः । रुद्राणामपि मूर्धानः क्षतहुङ्कारशंसिनः ॥ २६ ॥
लब्धप्रतिष्ठाः प्रथमं यूयं किं बलवत्तरैः । अपवादैरिवोत्सर्गाः कृतव्यावृत्तयः परैः ॥ २७ ॥
तद्ब्रूत वत्साः किमितः प्रार्थयध्वं समागताः । मयि सृष्टिर्हि लोकानां रक्षा युष्मास्ववस्थिता ॥
ततो मन्दानिलोद्धूतकमलाकरशोभिना । गुरुं नेत्रसहस्रेण नोदयामास वासवः ॥ २९ ॥
स द्विनेत्रं हरेश्चक्षुः सहस्रनयनाधिकम् । वाचस्पतिरुवाचेदं प्राञ्जलिर्जलजासनम् ॥ ३० ॥
एवं यदात्थ भगवन्नामृष्टं नः परैः पदम् । प्रत्येकं विनियुक्तात्मा कथं न ज्ञास्यसि प्रभो ! ॥ ३१ ॥
भवल्लब्धवरोदीर्णस्तारकाख्यो महासुरः । उपप्लवाय लोकानां धूमकेतुरिवोत्थितः ॥ ३२ ॥
पुरे तावन्तमेवास्य तनोति रविरातपम् । दीर्घिकाकमलोन्मेषो यावन्मात्रेण साध्यते ॥ ३३ ॥
सर्वाभिः सर्वदा चन्द्रस्तं कलाभिर्निषेवते । नादत्ते केवलां लेखां हरचूडामणीकृताम् ॥ ३४ ॥
व्यावृत्तगतिरुद्याने कुसुमस्तेयसाध्वसात् । न वाति वायुस्तत्पार्श्वे तालवृन्तानिलाधिकम् ॥ ३५ ॥
पर्यायसेवामुत्सृज्य पुष्पसम्भारतत्पराः । उद्यानपालसामान्यमृतवस्तमुपासते ॥ ३६ ॥
तस्योपायनयोग्यानि रत्नानि सरिताम्पतिः । कथमप्यम्भसामन्तरानिष्पत्तेः प्रतीक्षते ॥ ३७ ॥
ज्वलन्मणिशिखाश्चैनं वासुकिप्रमुखा निशि । स्थिरप्रदीपतामेत्य भुजङ्गाः पर्युपासते ॥ ३८ ॥
तत्कृतानुग्रहापेक्षी तं मुहुर्दूतहारितैः । अनुकूलयतीन्द्रोऽपि कल्पद्रुमविभूषणैः ॥ ३९ ॥

खुली जटाओं में लटकती हुई चन्द्रकलाओं वाले ग्यारह रुद्रों के मस्तक भी यही बता रहे हैं कि इनकी हुंकार करने की शक्ति अब लुप्त हो गयी है ॥ २६ ॥ जैसे व्याकरण आदि शास्त्रों में अपवाद वाला नियम किसी व्यापक नियम को व्यर्थ कर देता है, वैसे ही लब्धप्रतिष्ठ आप लोग भी किसी पराक्रमी शत्रु से क्या अपना-अपना अधिकार खो चुके हैं? ॥ २७ ॥ हे वत्स! मुझे बतलाइये कि आप लोग इकट्ठे होकर क्या कहने के लिए मेरे पास आये हैं। क्योंकि हमारा काम तो केवल संसार की सृष्टि करना है, उसकी रक्षा का भार तो आप ही लोगों पर है ॥ २८ ॥ ब्रह्माजी की बात सुनकर इन्द्र ने अपने सहस्र नेत्रों को एक साथ इस प्रकार चलाकर बृहस्पतिजी को बोलने के लिए प्रेरित किया, जैसे मन्द पवन के झोंके से कमल का वन हिल उठे ॥ २९ ॥ जिनके दो नेत्रों में ही इंद्र के सहस्र नेत्रों से भी अधिक देखने की शक्ति थी, वे बृहस्पतिजी हाथ जोडकर ब्रह्माजी से बोले ॥ ३० ॥ हे ब्रह्मन्! आपने जो कुछ कहा है, वह सत्य है। हम लोगों के सब स्थान शत्रुओं ने हस्तगत कर लिये हैं। आप तो घट-घट में रमे हुए हैं, तब भला आपसे कोई बात कैसे छिपी रह सकती है ॥ ३१ ॥ भगवन्! आपसे वरदान पाकर तारक नाम का ढीठ राक्षस उसी प्रकार सिर उठाता चला जा रहा है, जैसे संसार का नाश करने के लिए धूमकेतु (पुच्छल) तारा निकल आया हो ॥ ३२ ॥ प्रचण्ड किरणों वाले सूर्य भी डरकर उसके नगर पर केवल उतनी ही किरणें फैलाते हैं, जिनसे तालाब का कमल खिल जायँ ॥ ३३ ॥ चन्द्रमा भी पूरे महीने भर अपनी पूर्ण कला से चमकते हैं। वे केवल उस एक कला को छोड देते हैं, जिसे शिवजी ने अपने मस्तक की मणि बना रखा है ॥ ३४ ॥ पवन भी उसके पास पंखे की वायु से अधिक वेग से नहीं बहता। क्योंकि वह डरता है कि कहीं तारकासुर की फुलवारी के फूल न झड़ जायँ, जिससे उसे फूल की चोरी का दण्ड भोगना पड जाय ॥ ३५ ॥ छहों ऋतुएँ अपने-अपने समय का विचार छोड़कर एक साथ फुलवारी की मालिनों की भाँति एक दूसरी ऋतु के फूलों को बिना छेड़े हुए अपनी-अपनी ऋतु के फूल उपजाकर तारकासुर की सेवा करती रहती हैं ॥ ३६ ॥ समुद्र भी उसके पास भेंट के योग्य रत्न भेजने लिए तब तक जल के भीतर रखकर प्रतीक्षा करता रहता है, जब तक कि वे रत्न ठीक से पुष्ट नहीं हो जाते ॥ ३७ ॥ चमकती हुयी मणि युक्त फनों वाले वासुकी आदि बड़े-बड़े सर्प अपने मणियों के न बुझने वाले स्थायी दीपक लेकर उसकी सेवा करते हैं ॥ ३८ ॥ उसकी कृपा पाने के लिए

इत्थमाराध्यमानोऽपि क्लिश्नाति भुवनत्रयम्। शाम्येत्प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः ॥ ४० ॥
तेनामरवधूहस्तैः सदयालूनपल्लवाः। अभिज्ञाश्छेदपातानां क्रियन्ते नन्दनद्रुमाः ॥ ४१ ॥
वीज्यते स हि संसुप्तः श्वाससाधारणानिलैः। चामरैः सुरबन्दीनां बाष्पसीकरवर्षिभिः ॥ ४२ ॥
उत्पाट्य मेरुशृङ्गाणि क्षुण्णानि हरितां खुरैः। आक्रीडपर्वतास्तेन कल्पिताः स्वेषु वेश्मसु ॥ ४३ ॥
मन्दाकिन्याः पयः शेषं दिग्वारणमदाविलम्। हेमाम्भोरुहसस्यानां तद्वाप्यो धाम साम्प्रतम् ॥
भुवनालोकनप्रीतिः स्वर्गिभिर्नानुभूयते। खिलीभूते विमानानां तदापातभयात् पथि ॥ ४५ ॥
यज्वभिः सम्भृतं हव्यं विततेष्वध्वरेषु सः। जातवेदोमुखान्मायी मिषतामाच्छिनत्ति नः ॥ ४६ ॥
उच्चैरुच्चैःश्रवास्तेन हयरत्नमहारि च। देहबद्धमिवेन्द्रस्य चिरकालार्जितं यशः ॥ ४७ ॥
तस्मिन्नुपायाः सर्वे नः क्रूरे प्रतिहतक्रियाः। वीर्यवन्त्यौषधानीव विकारे सान्निपातिके ॥ ४८ ॥
जयाशा यत्र चास्माकं प्रतिघातोत्थितार्चिषा। हरिचक्रेण तेनास्य कण्ठे निष्कमिवार्पितम् ॥ ४९ ॥
तदीयास्तोयदेष्वद्य पुष्करावर्तकादिषु। अभ्यस्यन्ति तटाघातं निर्जितैरावता गजाः ॥ ५० ॥
तदिच्छामो विभो! स्रष्टुं सेनान्यं तस्य शान्तये। कर्मबन्धच्छिदं धर्मं भवस्येव मुमुक्षवः ॥ ५१ ॥
गोप्तारं सुरसैन्यानां यं पुरस्कृत्य गोत्रभित्। प्रत्यानेष्यति शत्रुभ्यो बन्दीमिव जयश्रियम् ॥ ५२ ॥
वचस्यवसिते तस्मिन्ससर्ज गिरमात्मभूः। गर्जितानन्तरां सृष्टिं सौभाग्येन जिगाय सा ॥ ५३ ॥

इन्द्र भी बार-बार अपने दूतों के हाथों कल्पवृक्ष से उत्पन्न सुन्दर रत्न उसके पास भेजकर उसे प्रसन्न करते रहते हैं॥ ३९ ॥ ऐसी सेवा करने पर भी वह तीनों भुवनों को दुःख दे रहा है। क्योंकि दुर्जन लात खाकर ही सीधे होते हैं—उपकार से नहीं॥ ४० ॥ नन्दन वन के जिन वृक्षों के कोमल पत्ते देवताओं की स्त्रियाँ बड़ी कोमलता के साथ कर्णफूल बनाने के लिए तोडती थीं, उन्हीं वृक्षों को वह राक्षस बड़ी निर्दयता से काट-काटकर गिरा रहा है॥ ४१ ॥ उसके सोते समय बन्दी की हुई देवताओं की स्त्रियाँ गरम-गरम साँसें लेती और आँसू बहाती हुई उस पर चँवर डुलाती हैं॥ ४२ ॥ सूर्य के घोडों की टापों से विशृङ्खलित मेरु पर्वत की चोटियों को उखाड़-उखाड़ कर उसने अपने घर में ले जाकर उनके क्रीड़ा-पर्वत बना लिये हैं॥४३॥ मन्दाकिनी के स्वर्णकमल उखाड-उखाड़कर उसने अपने घर की बावलियों में लगा लिये हैं। इसी कारण मन्दाकिनी में आजकल केवल दिग्गजों के मद से गँदला जल रह गया है॥ ४४॥ पहले देवतागण विमानों पर चढकर इस लोक से उस लोक में घूमते-फिरते थे, परन्तु अब उसके आ जाने के डर से वे आकाश में निकल ही नहीं पाते॥ ४५ ॥ जब यज्ञ में यजमान हम लोगों को आहुति देता है, तब यह मायावी हम लोगों के देखते-देखते अग्नि के मुँह से हमारा भाग छीन ले जाता है॥ ४६ ॥ उच्चैःश्रवाः नाम के उस सुन्दर घोडे को भी उसने छीन लिया है, जो बहुत दिनों से एकत्रित इन्द्र के यश के समान महान् था॥ ४७॥ बड़ी-बड़ी ओषधियाँ भी जैसे सन्निपात में काम नहीं करतीं, उसी प्रकार हम लोग भी उस दुष्ट को मारने के लिए जितने भी उपाय करते हैं, वे सब व्यर्थ हो जाते हैं॥ ४८ ॥ विष्णु के जिस चक्र पर हम अपनी जीत की आस लगाये हुए थे, वह भी जब उसके गले पर जाकर टकराता है, तब उसमें से निकली हुयी चिनगारियाँ उस राक्षस के गले में स्वर्णमय आभूषण जैसी दीखती है॥ ४९ ॥ इन्द्रगज (ऐरावत) को भी हरा देने वाले उसके हाथी पुष्करावर्त्तक आदि प्रलयंकर बादलों से टकराकर टीले ढहाने का खेल खेलते हैं॥ ५० ॥ हे प्रभो! जैसे मोक्ष पाने के इच्छुक लोग जन्म-मरण से छूटने के लिए कर्मबन्धनों को काटने वाला उपाय खोजा करते हैं, वैसे ही हमलोग राक्षस को नष्ट करने के लिए एक ऐसा सेनापति उत्पन्न करना चाहते हैं, जिसको देवताओं की सेना का रक्षक बनाकर और उसे सेना के आगे करके भगवान् इन्द्र शत्रुओं के हाथ में बन्दी के समान पड़ी हुई विजय-श्री को लौटा लायें॥ ५१-५२ ॥ उनके ऐसा कहने पर ब्रह्माजी ऐसी मीठी वाणी बोले, जो मेघगर्जन के बाद

सम्पत्स्यते वः कामोऽयं कालः कश्चित्प्रतीक्ष्यताम्। न त्वस्य सिद्धौ यास्यामि सर्गव्यापारमात्मना ॥
इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम्। विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम् ॥ ५५ ॥
वृत्तं तेनेदमेव प्राङ्मया चास्मै प्रतिश्रुतम्। वरेण शमितं लोकानलं दग्धुं हि तत्तपः ॥ ५६ ॥
संयुगे सांयुगीनं तमुद्यतं प्रसहेत कः। अंशादृते निषिक्तस्य नीललोहितरेतसः ॥ ५७ ॥
स हि देवः परं ज्योतिस्तमःपारे व्यवस्थितम्। परिच्छिन्नप्रभावर्द्धिर्न मया न च विष्णुना ॥ ५८ ॥
उमारूपेण ते यूयं संयमस्तिमितं मनः। शम्भोर्यतध्वमाक्रष्टुमयस्कान्तेन लोहवत् ॥ ५९ ॥
उभे एव क्षमे वोढुमुभयोर्बीजमाहितम्। सा वा शम्भोस्तदीया वा मूर्तिर्जलमयी मम ॥ ६० ॥
तस्यात्मा शितिकण्ठस्य सैनापत्यमुपेत्य वः। मोक्ष्यते सुरबन्दीनां वेणीर्वीर्यविभूतिभिः ॥ ६१ ॥
इति व्याहृत्य विबुधान्विश्वयोनिस्तिरोदधे। मनस्याहितकर्तव्यास्तेऽपि देवा दिवं ययुः ॥ ६२ ॥
तत्र निश्चित्य कन्दर्पमगमत्पाकशासनः। मनसा कार्यसंसिद्धौ त्वराद्विगुणरंहसा ॥ ६३ ॥
अथ स ललितयोषिद्भ्रूलताचारुशृङ्गं रतिवलयपदाङ्के चापमासज्य कण्ठे।
सहचरमधुहस्तन्यस्तचूताङ्कुरास्त्रः शतमखमुपतस्थे प्राञ्जलिः पुष्पधन्वा ॥ ६४ ॥

इति महाकविकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये
ब्रह्मसाक्षात्कारो नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

होने वाली वर्षा के समान भली लग रही थी ॥ ५३ ॥ उन्होंने कहा—आप लोगों की इच्छा पूरी हो जायगी, परन्तु आपको थोडे दिन और धैर्य धरना पडेगा। तारकासुर को मारने के लिए मैं स्वयं तो अवतार ले नहीं सकता। क्योंकि उस राक्षस को मैंने ही वरदान दिया है अतएव अपने हाथ से उसे मारना ठीक नहीं लगता। अपने हाथ मे लगाये हुए विषवृक्ष को भी अपने ही हाथ से काटना उचित नहीं होता ॥ ५४-५५ ॥ उस समय उसने मुझसे जो वरदान माँगा था, यदि मैं उसे न देता तो उसकी तपस्या से सारा संसार जल जाता ॥ ५६ ॥ महादेवजी के वीर्य से उत्पन्न होने वाले पुत्र के सिवाय युद्धभूमि में उस प्रसिद्ध वीर तारकासुर का नाश और कोई नहीं कर सकता ॥ ५७ ॥ क्योंकि शंकर भगवान् अन्धकार के परे रहने वाले वह परम तेज हैं कि जिन्हें अविद्या छू भी नहीं पाती। अतएव हम और विष्णु भी उनकी महिमा का पता अब तक नहीं लगा सके हैं ॥ ५८ ॥ अब आप लोग कोई ऐसा उपाय कीजिए कि जैसे चुम्बक से लोहा खिंच आता है, वैसे ही समाधिमग्न शंकरजी का मन पार्वतीजी के रूप की ओर खिंच जाय ॥ ५९ ॥ क्योंकि शिवजी के वीर्य को केवल पार्वतीजी ही धारण कर सकती हैं और हमारे वीर्य को शिवजी की जलमयी मूर्ति धारण कर सकती है ॥ ६० ॥ उन पार्वतीजी से शंकरजी का जो पुत्र होगा, वही आप लोगों का सेनापति बनकर अपने पराक्रम से देवताओं की बन्दी स्त्रियों को छुड़ाकर उनके उलझे हुए बाल सुलझा सकेगा ॥ ६१ ॥ संसार के रचयिता ब्रह्माजी ऐसा कहकर अन्तर्धान हो गये और देवता भी आगे का काम सोचकर स्वर्गलोक को चले गये ॥ ६२ ॥ उक्त कार्य को सम्पन्न करने में कामदेव ही समर्थ है, ऐसा निश्चय करके इन्द्र भी चले गये, क्योंकि जब कार्यसिद्धि होनी होती है तो मन उस कार्य को करने में दुगुने वेग से प्रवृत्त होता है ॥ ६३ ॥ इस प्रकार इन्द्र के स्मरण करते ही रति के कंगन की छाप से अङ्कित गले में सुन्दर स्त्री की भौंहों जैसा सुन्दर धनुष लटका तथा अपने साथी वसन्त के हाथ में आम के बौर का बाण देकर हाथ जोडे हुए कामदेव इन्द्र के आगे आकर उपस्थित हुआ ॥ ६४ ॥

इस प्रकार महाकविकालिदासरचित कुमारसम्भवमहाकाव्य में
ब्रह्मा से भेंट नामक दूसरा सर्ग समाप्त ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः

तस्मिन् मघोनस्त्रिदशान् विहाय सहस्रमक्ष्णां युगपत्पपात।
प्रयोजनापेक्षितया प्रभूणां प्रायश्चलं गौरवमाश्रितेषु॥ १॥
स वासवेनासनसन्निकृष्टमितो निषीदेति निसृष्टभूमिः।
भर्तुः प्रसादं प्रतिनन्द्य मूर्ध्ना वक्तुं मिथः प्राक्रमतैवमेनम्॥ २॥
आज्ञापय ज्ञातविशेष! पुंसां लोकेषु यत्ते करणीयमस्ति।
अनुग्रहं संस्मरणप्रवृत्तमिच्छामि संवर्धितमाज्ञया ते॥ ३॥
केनाभ्यसूया पदकाङ्क्षिणा ते नितान्तदीर्घैर्जनिता तपोभिः।
यावद् भवत्याहितसायकस्य मत्कार्मुकस्यास्य निदेशवर्ती॥ ४॥
असम्मतः कस्तव मुक्तिमार्गं पुनर्भवक्लेशभयात् प्रपन्नः।
बद्धश्चिरं तिष्ठतु सुन्दरीणामारेचितभ्रूचतुरैः कटाक्षैः॥ ५॥
अध्यापितस्योशनसाऽपि नीतिं प्रयुक्तरागप्रणिधिर्द्विषस्ते।
कस्यार्थधर्मौ वद पीडयामि सिन्धोस्तटावोघ इव प्रवृद्धः॥ ६॥
कामेकपत्नीव्रतदुःखशीलां लोलं मनश्चारुतया प्रविष्टाम्।
नितम्बिनीमिच्छसि मुक्तलज्जां कण्ठे स्वयंग्राहनिषक्तबाहुम्॥ ७॥
कयाऽसि कामिन्! सुरतापराधात् पादानतः कोपनयाऽवधूतः।
तस्याः करिष्यामि दृढानुतापं प्रवालशय्याशरणं शरीरम्॥ ८॥

वहाँ कामदेव के आते ही इन्द्र की हजारों आँखें देवताओं पर से हटकर बड़े ही आदर के साथ कामदेव पर जा पड़ीं। क्योंकि प्रायः स्वामी को अपने सेवकों से जब जैसा काम निकालना होता है, उसी के अनुसार वे उन पर आदर प्रदर्शित करते हैं॥ १॥ इन्द्र ने कामदेव से कहा—आओ, यहाँ बैठो। ऐसा कहकर उसे अपने पास बैठाया। उसने भी सिर झुकाकर इन्द्र की कृपा स्वीकार कर ली और उनसे बातें करने लगा॥ २॥ वह बोला— सबके गुणों को पहचानने वाले हे स्वामी! आज्ञा दीजिए, तीनों लोकों में ऐसा कौन-सा काम है, जो आप मुझसे कराना चाहते हैं। क्योंकि मुझे स्मरण करके आपने जो कृपा की है, उस कृपा को मैं आपकी आज्ञा पालन करके और भी बढाने का इच्छुक हूँ॥ ३॥ आपका सिंहासन चाहने वाला ऐसा कौन पुरुष उत्पन्न हो गया है, जिसने बहुत बड़ी-बड़ी तपस्याएँ करके आपके मन में ईर्ष्या जगा दी है। आप मुझे उसका नाम बतलाइये। मैं अभी जाकर उसे अपने इस बाण चढे हुए धनुष से जीत लूँगा॥ ४॥ वह आपका शत्रु कौन पुरुष है, जो संसार के कष्टों से घबराकर मोक्ष की ओर चल पड़ा है। मैं उसे अभी उन सुन्दरियों की चितवन में बहुत दिनों के लिए फँसाये देता हूँ, जो नयनबाण चलाने में बड़ी चतुर हैं॥ ५॥ आपका वह शत्रु अगर शुक्राचार्य से नीतिशास्त्र पढ़ा होगा तब भी मैं अत्यन्त भोगासक्ति को दूत बनाकर उसके पास भेजता हूँ, जो उसका धर्म और अर्थ दोनों उसी प्रकार नष्ट कर देगा, जैसे बरसात में बढी हुई नदी का वेग दोनों तटों को ढहा देता है॥ ६॥ अथवा कौन ऐसी सुन्दर और हठीली पतिव्रता आपके चंचल मन में पैठ गयी है। मैं उस सुन्दरी पर ऐसा बाण चलाऊँगा कि वह लाज-शील छोड़कर आपके गले से आ लगेगी॥ ७॥ हे कामिन्! कौन-सी ऐसी स्त्री है, जो आपका सम्भोग न पाने से क्रोध करके इतनी रूठ गयी है कि

प्रसीद विश्राम्यतु वीर! वज्रं शरैर्मदीयैः कतमः सुरारिः।
बिभेतु मोघीकृतबाहुवीर्यः स्त्रीभ्योऽपि कोपस्फुरिताधराभ्यः॥ ९ ॥
तव प्रसादात् कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा।
कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये॥ १०॥
अथोरुदेशादवतार्य पादमाक्रान्तिसम्भावितपादपीठम्।
सङ्कल्पितार्थे विवृतात्मशक्तिमाखण्डलः काममिदं बभाषे॥ ११॥
सर्वं सखे! त्वय्युपपन्नमेतदुभे ममास्त्रे कुलिशं भवांश्च।
वज्रं तपोवीर्यमहत्सु कुण्ठं त्वं सर्वतोगामि च साधकं च॥ १२॥
अवैमि ते सारमतः खलु त्वां कार्ये गुरुण्यात्मसमं नियोक्ष्ये।
व्यादिश्यते भूधरतामवेक्ष्य कृष्णेन देहोद्वहनाय शेषः॥ १३॥
आशंसता बाणगतिं वृषाङ्के कार्यं त्वया नः प्रतिपन्नकल्पम्।
निबोध यज्ञांशभुजामिदानीमुच्चैर्द्विषामीप्सितमेतदेव ॥ १४॥
अमी हि वीर्यप्रभवं भवस्य जयाय सेनान्यमुशन्ति देवाः।
स च त्वदेकेषुनिपातसाध्यो ब्रह्माङ्गभूर्ब्रह्मणि योजितात्मा॥ १५॥
तस्मै हिमाद्रेः प्रयतां तनूजां यतात्मने रोचयितुं यतस्व।
योषित्सु तद्वीर्यनिषेकभूमिः सैव क्षमेत्यात्मभुवोपदिष्टम् ॥ १६॥

पैरों में पड़कर मनाने पर भी नहीं मानती। मैं उनके मन में ऐसा पछतावा उत्पन्न कर दूँगा कि उसका शरीर कामदाहवश नवकिसलयों की शय्या पर सोने के लिए विवश हो जायेगा॥ ८॥ हे वीर! आप चिन्ता न करें और अपने वज्र को विश्राम करने दें। मुझे यह बतलाइये कि वह कौन-सा दैत्य है, जो मेरे बाणों की मार से इतना शक्तिहीन हो जाना चाहता है कि क्रोध से काँपते हुए ओठोंवाली नारी भी उसे डरा दे॥ ९॥ यदि आपकी कृपा हो तो मैं केवल वसन्त को साथ लेकर अपने फूल के बाणों से पिनाक धनुष धारण करने वाले महादेवजी तक के छक्के छुड़ा दूँ, फिर दूसरे धनुषधारी किस गिनती में हैं॥ १०॥ यह सुनकर इन्द्र को कुछ ढाढस बँधा और उन्होंने अपने पैर पालथी से उतार कर चौकी पर रखे और जिस कामदेव ने उनके सोचे हुए काम में स्वयं इतना उत्साह दिखाया था, उससे बोले—॥ ११॥ हे मित्र! तुम सब कुछ कर सकते हो। क्योंकि तुम और वज्र ये ही तो मेरे दो अस्त्र हैं। किन्तु शत्रुओं की तपस्या ने मेरे वज्र की धार कुंठित कर दी है। अब तुम्हीं बचे हो, जो बेरोक-टोक सर्वत्र जाकर हमारा काम कर सकते हो॥ १२॥ मैं तुम्हारी शक्ति को भलीभाँति जानता हूँ, तभी तो तुम्हें अपने जैसा मानकर इतने बड़े काम में लगाना चाहता हूँ। प्रलयकाल में अपने सोने के लिए भगवान् ने शेष को ही अपनी शय्या क्यों बनाया था? इसीलिए कि वे देख चुके थे कि शेषनाग जब पृथ्वी का भार धारण कर सकते हैं तो मेरा बोझ भी सह लेंगे॥ १३॥ अभी-अभी तुमने कहा है कि हम अपने बाणों से शंकरजी को भी वश में कर सकते हैं। अतएव एक प्रकार से तुमने हमारा काम बनाने का बीड़ा ही उठा लिया है। इसलिए समझ लो कि बलवान् शत्रु से सताये और डरे हुए देवता तुमसे यही काम लेना चाहते हैं॥ १४॥ देवता चाहते हैं कि शत्रु को जीतने के लिए शिवजी के वीर्य से हमारा सेनापति उत्पन्न हो। अतः मन्त्र-बल से ब्रह्म में ध्यान लगाये हुए महादेवजी की समाधि तुम्हीं अपने एक बाण से भंग कर सकते हो॥ १५॥ अब तुम ऐसा प्रयत्न करो कि समाधिस्थ महादेवजी के मन में हिमालय की पुत्री पार्वती के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाय। क्योंकि ब्रह्माजी ने मुझे यह बात बतलायी है कि स्त्रियों में वे ही एक ऐसी हैं, जो शिवजी का वीर्य धारण करने में समर्थ हैं॥ १६॥ अप्सराओं के मुँह से मैंने

गुरोर्नियोगाच्च नगेन्द्रकन्या स्थाणुं तपस्यन्तमधित्यकायाम्।
अन्वास्त इत्यप्सरसां मुखेभ्यः श्रुतं मया मत्प्रणिधिः स वर्गः ॥ १७ ॥
तद्गच्छ सिद्धयै कुरु देवकार्यमर्थोऽयमर्थान्तरभाव्य एव।
अपेक्षते प्रत्ययमुत्तमं त्वां बीजाङ्कुरः प्रागुदयादिवाम्भः ॥ १८ ॥
तस्मिन्सुराणां विजयाभ्युपाये तवैव नामास्त्रगतिः कृती त्वम्।
अप्यप्रसिद्धं यशसे हि पुंसामनन्यसाधारणमेव कर्म ॥ १९ ॥
सुराः समभ्यर्थयितार एते कार्यं त्रयाणामपि विष्टपानाम्।
चापेन ते कर्म न चातिहिंस्रमहो! बतासि स्पृहणीयवीर्यः ॥ २० ॥
मधुश्च ते मन्मथ! साहचर्यादसावनुक्तोऽपि सहाय एव।
समीरणो नोदयिता भवेति व्यादिश्यते केन हुताशनस्य ॥ २१ ॥
तथेति शेषामिव भर्तुराज्ञामादाय मूर्ध्ना मदनः प्रतस्थे।
ऐरावतास्फालनकर्कशेन हस्तेन पस्पर्श तदङ्गमिन्द्रः ॥ २२ ॥
स माधवेनाभिमतेन सख्या रत्या च साशङ्कमनुप्रयातः।
अङ्गव्ययप्रार्थितकार्यसिद्धिः स्थाण्वाश्रमं हैमवतं जगाम ॥ २३ ॥
तस्मिन्वने संयमिनां मुनीनां तपःसमाधेः प्रतिकूलवर्ती।
सङ्कल्पयोनेरभिमानभूतमात्मानमाधाय मधुर्जजृम्भे ॥ २४ ॥
कुबेरगुप्तां दिशमुष्णरश्मौ गन्तुं प्रवृत्ते समयं विलङ्घ्य।
दिग्दक्षिणा गन्धवहं मुखेन व्यलीकनिश्वासमिवोत्ससर्ज ॥ २५ ॥

सुना है कि अपने पिता की आज्ञा से पार्वतीजी हिमालय पर तप करते हुए महादेवजी की सेवा कर रही हैं॥ १७॥ अतएव तुम जाओ और देवताओं का यह काम कर डालो। जैसे बीज को अंकुर बनाने के लिए जल की आवश्यकता पडती है, वैसे ही यह काम तुम्हारी सहायता के लिए ही रुका हुआ था॥ १८॥ सब देवताओं की विजय तुम्हारे ही बाणों से हो सकती है। सचमुच तुम बड़े भाग्यशाली हो, क्योंकि संसार में ऐसा ही काम करने से यश होता है, जिसे कोई दूसरा न कर सके॥ १९॥ और फिर एक तो सब देवता तुमसे इस काम के लिए भीख माँग रहे हैं, दूसरे यह कार्य तीनों लोक वालों का है, तीसरी बात यह है कि यद्यपि इस काम में तुम्हारा धनुष काम करेगा सही, परन्तु इससे किसी की हिंसा नहीं हो पायेगी। आज तुम्हें देखकर सबके मन में यह इच्छा जागृत हो उठी है कि हमें भी तुम्हारी जैसी ही शक्ति प्राप्त हो जाय॥ २०॥ हे कामदेव! यद्यपि तुम्हारी सहायता के लिए मैंने वसन्त का नाम नहीं लिया है, परन्तु वह तो तुम्हारा सदा का साथी है। क्योंकि पवन को कहीं यह थोड़े ही कहना पड़ता है कि तुम जाकर आग की सहायता करो। चाहे कोई कहे या न कहे, वह तो आग को भडकाता ही है॥ २१॥ कामदेव बोला—जैसी आज्ञा। तब जैसे कोई उपहार में दी हुई माला को सिर पर चढ़ाता है, वैसे ही कामदेव ने इन्द्र की आज्ञा शिरोधार्य कर ली। जब वह जाने लगा, तब इन्द्र ने उसकी पीठ पर अपना वह हाथ फेरकर उत्साहित किया, जो ऐरावत की पीठ को रगड़ने से खुरदरा हो गया था॥ २२॥ कामदेव ने निश्चय कर लिया कि अपना शरीर देकर भी मैं देवताओं का काम करूँगा। तदनुसार वसन्त को साथ लेकर वह उस ओर चल पड़ा, जहाँ शिवजी बैठे तप कर रहे थे। उन दोनों के पीछे-पीछे बेचारी रति भी यह सोचती हुई चली कि आज न जाने क्या बीतेगी॥ २३॥ उस वन में जाकर संयमी मुनियों के तप तथा समाधि को डिगाने और कामदेव का सहायक बनने का घमण्ड करने वाला वसन्त अपना पूरा रूप दिखाकर चारों ओर छा गया॥ २४॥ वसन्त के छा जाने

असूत सद्यः कुसुमान्यशोकः स्कन्धात्प्रभृत्येव सपल्लवानि।
पादेन नापैक्षत सुन्दरीणां सम्पर्कमासिञ्जितनूपुरेण॥ २६॥
सद्यः प्रवालोद्गमचारुपत्रे नीते समाप्तिं नवचूतबाणे।
निवेशयामास मधुर्द्विरेफान्नामाक्षराणीव मनोभवस्य॥ २७॥
वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः।
प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः॥ २८॥
बालेन्दुवक्राण्यविकाशभावाद्बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्॥ २९॥
लग्नद्विरेफाञ्जनभक्तिचित्रं मुखे मधुश्रीस्तिलकं प्रकाश्य।
रागेण बालारुणकोमलेन चूतप्रवालोष्ठमलञ्चकार॥ ३०॥
मृगाः पियालद्रुममञ्जरीणां रजःकणैर्विघ्नितदृष्टिपाताः।
मदोद्धताः प्रत्यनिलं विचेरुर्वनस्थलीर्मर्मरपत्रमोक्षाः॥ ३१॥
चूताङ्कुरास्वादकषायकण्ठः पुंस्कोकिलो यन्मधुरं चुकूज।
मनस्विनीमानविघातदक्षं तदेव जातं वचनं स्मरस्य॥ ३२॥
हिमव्यपायाद् विशदाधराणामापाण्डरीभूतमुखच्छवीनाम्।
स्वेदोद्गमः किम्पुरुषाङ्गनानां चक्रे पदं पत्रविशेषकेषु॥ ३३॥
तपस्विनः स्थाणुवनौकसस्तामाकालिकीं वीक्ष्य मधुप्रवृत्तिम्।
प्रयत्नसंस्तम्भितविक्रियाणां कथञ्चिदीशा मनसां बभूवुः॥ ३४॥

पर असमय में ही सूर्य दक्षिणायन से उत्तरायण हो गये। उस समय दक्षिण से बहने वाला मलय पवन ऐसा लगता था, मानो अपने पति सूर्य के चले जाने पर दक्षिण दिशा खिन्न होकर अपने मुँह से लम्बी-लम्बी साँसें छोड रही है॥ २५॥ वहाँ अशोक का वृक्ष भी तत्काल नीचे से ऊपर तक फूल-पत्तों से लद गया और झनझनाते पायलों वाली सुन्दरियों के चरणप्रहार की राह उसने नहीं देखी॥ २६॥ तभी वसन्त ने नयी कोपलों में पंख लगाकर आम की मंजरियों के बाण तैयार कर दिये और उन पर उसने जो भौंरें बैठाये, वे ऐसे लग रहे थे मानो उन बाणों पर कामदेव के नाम के अक्षर लिखे हुए हों॥ २७॥ फूले हुए कर्णिकार देखने में तो बडे सुन्दर लगते थे, परन्तु गन्ध न होने के कारण वे मन को नहीं भाते थे। ब्रह्मा की कुछ आदत ही ऐसी पड गयी है कि वे किसी वस्तु में पूरे गुण नहीं भरते॥ २८॥ वहाँ वसन्त के आते ही दूज के चन्द्रमा सदृश टेढे, अत्यन्त लाल-लाल और अधखिले टेसू के फूल ऐसे लग रहे थे, जैसे वनस्थलियों के साथ विहार करके वसन्त ने उन पर अपने नखों के नये चिह्न अंकित कर दिये हों॥ २९॥ उड़ते हुए भौंरें, खिले हुए तिलक के फूल और प्रातःकाल के सूर्य की लाली से चमकने वाली कोपलें ऐसी दीखती थीं, मानो वसन्त की शोभा रूपी स्त्री ने भौंरें रूपी आँजन से मुँह पोत तथा अपने माथे पर तिलक के फूल का तिलक लगाकर प्रातःकाल निकले हुए सूर्य की कोमल लाली से चमकने वाले आम की कोपलों से अपने ओठ रंग लिये हों॥ ३०॥ प्रियाल के फूलों के पराग उड-उडकर आँखों में पड़ने से जो मतवाले हरिण भलीभाँति नहीं देख पाते थे, वे पवन से झड़े हुए सूखे पत्तों से मर्मर करती हुई वनैली भूमि पर इधर-उधर दौड रहे थे॥ ३१॥ आम की मंजरियाँ खा लेने से जिस कोकिल का कंठस्वर मीठा हो गया था, वह जब मीठे स्वर से कूँकता था तो उसे सुनकर रूठी हुई स्त्रियों को रूठना भूल जाता था॥ ३२॥ जाडा बीतने और गर्मी आ जाने से कोमल होंठों और गोरे मुखों वाली किन्नरियों के मुख पर रचित चित्रकारी पर पसीना छहराने लग गया॥ ३३॥ महादेवजी

तं देशमारोपितपुष्पचापे रतिद्वितीये मदने प्रपन्ने।
काष्ठागतस्नेहरसानुविद्धं द्वन्द्वानि भावं क्रियया विवव्रुः॥ ३५॥
मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः।
शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः॥ ३६॥
ददौ रसात् पङ्कजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः।
अर्धोपभुक्तेन बिसेन जायां सम्भावयामास रथाङ्गनामा॥ ३७॥
गीतान्तरेषु श्रमवारिलेशैः किञ्चित्समुच्छ्वासितपत्रलेखम्।
पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुखं किम्पुरुषश्चुचुम्बे॥ ३८॥
पर्याप्तपुष्पस्तबकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालोष्ठमनोहराभ्यः।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि ॥ ३९॥
श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन् हरः प्रसङ्ख्यानपरो बभूव।
आत्मेश्वराणां नहि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति॥ ४०॥
लतागृहद्वारगतोऽथ नन्दी वामप्रकोष्ठार्पितहेमवेत्रः।
मुखार्पितैकाङ्गुलिसंज्ञयैव मा चापलायेति गणान् व्यनैषीत्॥ ४१॥
निष्कम्पवृक्षं निभृतद्विरेफं मूकाण्डजं शान्तमृगप्रचारम्।
तच्छासनात् काननमेव सर्वं चित्रार्पितारम्भमिवावतस्थे॥ ४२॥
दृष्टिप्रपातं परिहृत्य तस्य कामः पुरःशुक्रमिव प्रयाणे।
प्रान्तेषु संसक्तनमेरुशाखं ध्यानास्पदं भूतपतेर्विवेश॥ ४३॥

के वन में रहने वाले तपस्वियों ने असमय में उपस्थित वसन्त को देखकर अपने मन को विकारों से हटाकर बड़ी कठिनाई से रोका॥ ३४॥ जब फूल के धनुष पर वाण चढाकर रति को साथ लिये हुए कामदेव आया, तब चर और अचर प्राणियों की अत्यन्त बढ़ी हुई सम्भोग की इच्छा उनकी चाल-चलन में दीखने लगी॥ ३५॥ भौंरा अपनी प्यारी भौंरी के साथ एक ही फूल की कटोरी में मकरन्द पीने लगा। कृष्णसार मृग अपनी उस मृगी को सींग से खुजलाने लगा, जो उसके स्पर्श का सुख लेती हुई आँख मूँदकर बैठी थी॥ ३६॥ हथिनी बड़े प्रेमपूर्वक कमल के पराग से सुवासित जल सूँड़ से निकालकर अपने हाथी को पिलाने लगी और चकवा आधी कुतरी हुई कमलनाल चकवी को देने लगा॥ ३७॥ किन्नरगण गीतों के बीच में ही अपनी प्रियाओं के उन मुखों को चूमने लगे, जिन पर थकावट के कारण पसीना छहरा गया था। जिन पर की हुई चित्रकारी पुँछ गयी थी और जिनके नेत्र फूलों की मदिरा के नशे से मतवाले होकर बड़े सुन्दर लग रहे थे॥ ३८॥ वृक्ष तक अपनी झुकी हुई डालियाँ फैला-फैलाकर उन लताओं से लिपटने लगे, जिनमें बड़े-बड़े फूलों के गुच्छों के रूप में स्तन लटक रहे थे और पत्तों रूपी जिनके सुन्दर ओठ हिल रहे थे॥ ३९॥ इसी समय अप्सराओं ने नृत्य-गान आरम्भ कर दिया, किन्तु महादेवजी टस से मस नहीं हुए और अपने ध्यान में ही मग्न रहे। क्योंकि जो लोग अपना मन वश में कर लेते हैं, उनकी समाधि को भला कोई कैसे भङ्ग कर सकता है?॥ ४०॥ उस समय अपने बाँयें हाथ में सोने का डंडा लिये हुए नन्दी लतामण्डप के द्वार पर बैठा मुँह पर एक उँगली रखकर सब गणों को संकेत से मना कर रहा था कि तुम लोग चपलता त्यागकर चुपचाप बैठो॥ ४१॥ उसकी आज्ञा से वृक्षों ने हिलना बन्द कर दिया, भौंरों का गूँजना रुक गया, सब जीव-जन्तु चुप हो गये और पशु भी जहाँ के तहाँ खड़े रह गये। सारा वन उस एक ही संकेत में चित्रलिखित-सदृश दीखने लगा॥ ४२॥ जैसे यात्रा के समय लोग सामने के शुक्र की दृष्टि से बचते हैं, उसी प्रकार कामदेव भी नन्दी की आँखों

स देवदारुद्रुमवेदिकायां शार्दूलचर्मव्यवधानवत्याम्।
आसीनमासन्नशरीरपातस्त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श॥४४॥
पर्यङ्कबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं सन्नमितोभयांसम्।
उत्तानपाणिद्वयसन्निवेशात् प्रफुल्लराजीवमिवाङ्कमध्ये ॥४५॥
भुजङ्गमोन्नद्धजटाकलापं कर्णावसक्तद्विगुणाक्षसूत्रम्।
कण्ठप्रभासङ्गविशेषनीलां कृष्णत्वचं ग्रन्थिमतीं दधानम्॥४६॥
किञ्चित्प्रकाशस्तिमितोग्रतारैर्भ्रूविक्रियायां विरतप्रसङ्गैः।
नेत्रैरविस्पन्दितपक्ष्ममालैर्लक्ष्यीकृतघ्राणमधोमयूखैः ॥४७॥
अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरङ्गम् ।
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपम्॥४८॥
कपालनेत्रान्तरलब्धमार्गैर्ज्योतिःप्ररोहैरुदितैः शिरस्तः।
मृणालसूत्राधिकसौकुमार्यां बालस्य लक्ष्मीं ग्लपयन्तमिन्दोः॥४९॥
मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम्॥५०॥
स्मरस्तथाभूतमयुग्मनेत्रं पश्यन्नदूरान्मनसाऽप्यधृष्यम्।
नालक्षयत्साध्वससन्नहस्तः स्रस्तं शरं चापमपि स्वहस्तात्॥५१॥
निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्यं सन्धुक्षयन्तीव वपुर्गुणेन।
अनुप्रयाता वनदेवताभ्यामदृश्यत स्थावरराजकन्या॥५२॥

से वचकर नमेरु की शाखाओं से घिरे उस स्थान में जा घुसा, जहाँ महादेवजी समाधि लगाये बैठे थे॥४३॥ थोड़ी ही देर बाद मृत्यु के मुँह में पहुँचने वाले कामदेव ने देखा कि देवदारु के पेड की जड़ पर पत्थर की पटियों से बनी हुई चौकी पर बाघम्बर बिछा है और उस पर महादेवजी समाधिस्थ हैं॥४४॥ वे वीरासन से बैठे हैं, उन्होंने अपना धड़ सीधा और अचल कर रखा है। दोनों कन्धे झुकाकर अपनी गोद में कमल के समान दोनों हथेलियों को नीचे-ऊपर किये हुए वे निश्चल बैठे हैं॥४५॥ साँपों से वे जटा को बाँधे हैं। दाहिने कान पर दुहरी रुद्राक्ष की माला लटकी हुई है। गले की नीली आभा पड़ने से और भी अधिक साँवली दीखने वाली मृगछाला में गाँठ लगाकर वे शरीर पर बाँधे हुए हैं॥४६॥ उनकी भौंहें तनी हैं और प्रकाश देनेवाली, निश्चल, उग्र तारों युक्त और अपनी किरणें नीचे डालने वाली अपलक आँखों से वे नाक के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर बैठे हैं॥४७॥ शरीर के भीतर चलने वाले सभी पवनों को रोककर वे ऐसे अचल भाव से विराजमान हैं, जैसे कोई न बरसने वाला बादल हो, बिना लहरों वाला निश्चल तालाब हो या पवनरहित स्थान में खडी लौ वाला दीपक हो॥४८॥ उस समय उनके मस्तक और नेत्रों से जो तेज निकल रहा था, उसके समक्ष कमलतन्तु से भी अधिक कोमल बालचन्द्रमा की शोभा फीकी पड़ गयी थी॥४९॥ इस प्रकार समाधिस्थ शंकरजी उस अविनाशी आत्मा की ज्योति को अपने भीतर देख रहे थे, जिसे ज्ञानी लोग अपनी नवों इन्द्रियों के द्वार रोक तथा मन को समाधि द्वारा वश में करके उसे अपने हृदय में रखकर जान पाते हैं॥५०॥ उन तीन नेत्रवाले शंकरजी का जो रूप बुद्धि तथा मन से भी परे था, उसी रूप को इतने पास से देखकर डर के मारे कामदेव के हाथ ऐसे ढीले पड़ गये कि उसे यह भी ज्ञात नहीं हुआ कि हाथ से कब धनुष-बाण छूटकर गिर गये॥५१॥ इस तरह डर के मारे कामदेव की शक्ति तो नष्ट हो चुकी थी, परन्तु जब उसने मालिनी और विजया नाम की वनदेवियों के साथ आती हुई अत्यन्त सुन्दरी पार्वतीजी का सुन्दर रूप देखा तो

अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम्।
मुक्ताकलापीकृतसिन्धुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती॥५३॥
आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव॥५४॥
स्रस्तां नितम्बादवलम्वमाना पुनः पुनः केसरदामकाञ्चीम्।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण मौर्वीद्वितीयामिव कार्मुकस्य॥५५॥
सुगन्धिनिश्वासविवृद्धतृष्णं विम्बाधरासन्नचरं द्विरेफम्।
प्रतिक्षणं सम्भ्रमलोलदृष्टिर्लीलारविन्देन निवारयन्ती॥५६॥
तां वीक्ष्य सर्वावयवानवद्यां रतेरपि ह्रीपदमादधानाम्।
जितेन्द्रिये शूलिनि पुष्पचापः स्वकार्यसिद्धिं पुनराशशंसे॥५७॥
भविष्यतः पत्युरुमा च शम्भोः समाससाद प्रतिहारभूमिम्।
योगात्स चान्तः परमात्मसंज्ञं दृष्ट्वा परं ज्योतिरुपारराम॥५८॥
ततो भुजङ्गाधिपतेः फणाग्रैरधः कथञ्चिद्धृतभूमिभागः।
शनैः कृतप्राणविमुक्तिरीशः पर्यङ्कबन्धं निविडं विभेद॥५९॥
तस्मै शशंस प्रणिपत्य नन्दी शुश्रूषया शैलसुतामुपेताम्।
प्रवेशयामास च भर्तुरेनां भ्रूक्षेपमात्रानुमतप्रवेशाम्॥६०॥
तस्याः सखीभ्यां प्रणिपातपूर्वं स्वहस्तलूनः शिशिरात्ययस्य।
व्यकीर्यत त्र्यम्बकपादमूले पुष्पोच्चयः पल्लवभङ्गभिन्नः॥६१॥

जैसे उसकी खोई हुई शक्ति पुनः लौट आयी॥५२॥ उस समय पार्वतीजी के तन पर लाल मणि को लज्जित करने वाले अशोक के पत्तों के, सोने की चमक को घटाने वाले कर्णिकार पुष्पों के और मोतियों की माला सदृश उजले सिन्धुवार के वासन्ती फूलों के आभूषण सजे थे॥५३॥ स्तनों के बोझ से तनिक झुके शरीर पर प्रातःकाल के सूर्य-सदृश लाल कपड़े पहने हुए वे ऐसी लग रही थीं, जैसे फूलों के गुच्छों के भार से झुकी लाल-लाल कोपलों वाली कोई चलती-फिरती लता हो॥५४॥ कमर में पड़ी केसर के फूलों की तागड़ी जब-जब नितम्ब से नीचे खिसक आती थी, तब-तब वे उसे हाथ से ऊपर सरका लेती थीं। वह तागड़ी ऐसी दीखती थी कि मानो कहाँ क्या पहनना चाहिए, इस बात के जानकार कामदेव ने अपने हाथ से उनकी कमर में अपनी धनुष की दूसरी डोरी पहना दी हो॥५५॥ कामदेव ने देखा कि उनकी अति सुगन्धित साँस पर ललचाये हुए भौंरे जब उनके लाल-लाल ओठों के पास आते थे, तब वे घबराकर आँखें नचाती हुई लीला के कमलों से उन्हें मार भगाती थीं॥५६॥ जब कामदेव ने रति को जगाने वाली तथा अधिक सुघड़ अङ्गोंवाली पार्वतीजी को देखा, तब उसके मन में जितेन्द्रिय महादेवजी को अपने वश में करने की आशा फिर से जाग उठी॥५७॥ तभी पार्वतीजी अपने भावी पति शंकरजी के आश्रम के द्वार पर पहुँचीं। ठीक उसी समय महादेवजी ने भी परमात्मा नाम की परमज्योति का दर्शन करके अपनी समाधि भङ्ग की॥५८॥ अब आँखें खोलकर उन्होंने धीरे-धीरे साँस लेना प्रारम्भ कर दिया और अपनी कठोर पल्थी भी खोल दी। अतएव उनका शरीर जो समाधि के समय बहुत हलका था, फिर इतना भारी हो गया कि उनकी आसनभूमि को शेषजी भी बड़ी कठिनाई से अपने फणों पर सँभाल सके॥५९॥ समाधि खुली देखकर नन्दी ने उन्हें प्रणाम किया और कहा कि 'आप की सेवा करने के लिए पार्वतीजी आयी हुई हैं'। महादेवजी ने भौंहों से उन्हें बुलाने का संकेत किया और नन्दी पार्वतीजी को भीतर ले आये॥६०॥ पार्वतीजी की दोनों सखियों ने पहले शङ्करजी

उमापि नीलालकमध्यशोभि विस्रंसयन्ती नवकर्णिकारम्।
चकार कर्णच्युतपल्लवेन मूर्ध्ना प्रणामं वृषभध्वजाय॥ ६२॥
अनन्यभाजं पतिमाप्नुहीति सा तथ्यमेवाभिहिता भवेन।
न हीश्वरव्याहृतयः कदाचित् पुष्णन्ति लोको विपरीतमर्थम्॥ ६३॥
कामस्तु बाणावसरं प्रतीक्ष्य पतङ्गवद्वह्निमुखं विविक्षुः।
उमासमक्षं हरबद्धलक्ष्यः शरासनज्यां मुहुराममर्श॥ ६४॥
अथोपनिन्ये गिरिशाय गौरी तपस्विने ताम्ररुचा करेण।
विशोषितां भानुमतो मयूखैर्मन्दाकिनीपुष्करबीजमालाम्॥ ६५॥
प्रतिग्रहीतुं प्रणयिप्रियत्वात् त्रिलोचनस्तामुपचक्रमे च।
सम्मोहनं नाम च पुष्पधन्वा धनुष्यमोघं समधत्त बाणम्॥ ६६॥
हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि॥ ६७॥
विवृण्वती शैलसुताऽपि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन॥ ६८॥
अथेन्द्रियक्षोभमयुग्मनेत्रः पुनर्वशित्वाद् बलवन्निगृह्य।
हेतुं स्वचेतोविकृतेर्दिदृक्षुर्दिशामुपान्तेषु ससर्ज दृष्टिम्॥ ६९॥
स दक्षिणापाङ्गनिविष्टमुष्टिं नतांसमाकुञ्चितसव्यपादम्।
ददर्श चक्रीकृतचारुचापं प्रहर्तुमभ्युद्यतमात्मयोनिम्॥ ७०॥

को प्रणाम किया और फिर अपने हाथ से चुने पत्तों के टुकड़े मिले हुए वासन्ती फूलों का ढेर उनके पैरों पर बिखेर दिया॥ ६१॥ जब पार्वतीजी ने शिवजी को प्रणाम करने के लिए सिर झुकाया, तब उनके काले-काले बालों में गुँथे कर्णिकार के फूल और कान पर धरे हुए पल्लव पृथ्वी पर गिर गये॥ ६२॥ तदनन्तर प्रणाम करती हुई पार्वतीजी को शंकरजी ने यह सत्य आशीर्वाद दिया कि 'तुम्हें ऐसा पति मिले, जैसा किसी भी स्त्री को न मिला हो'। उनका कथन यथार्थ था। भला ऐसे ऐश्वर्यशालियों की वाणी कभी झूठी होती है?॥ ६३॥ जैसे फतिंगा आग में कूदने को बेचैन हो, वैसे ही कामदेव ने भी सोचा कि बाण छोड़ने का यही ठीक अवसर है। बस, वह पार्वतीजी के आगे बैठे हुए शिवजी की ओर ताक-ताककर धनुष की डोरी खींचने लगा॥ ६४॥ प्रणाम करने के बाद पार्वतीजी ने धूप में सुखाये हुए मन्दाकिनी के कमलबीजों की माला लेकर अपने लाल-लाल हाथों से समाधि से जगे हुए शंकरजी के गले में पहना दी॥ ६५॥ भक्त पर प्रेम करने के नाते शंकरजी ने पार्वतीजी की वह माला ली ही थी कि इतने में पुष्पधन्वा कामदेव ने सम्मोहन नाम का अमोघ बाण अपने धनुष पर चढ़ा लिया॥ ६६॥ जैसे चन्द्रमा के उदय होने पर समुद्र में ज्वार आ जाता है, वैसे ही पार्वतीजी को देखकर महादेवजी के हृदय में कुछ हलचल-सी मच गयी और उन्होंने पार्वतीजी के बिम्ब-सदृश लाल-लाल ओठों पर अपनी आँखें जमा दीं॥ ६७॥ पार्वतीजी भी फूले हुए नये कदम्ब की भाँति पुलकित अंगों से प्रेम जताती तथा लजीली आँखों से निहारती हुई अपना अत्यन्त सुन्दर मुख कुछ तिरछा करके खड़ी रहीं॥ ६८॥ किन्तु महादेवजी तत्काल सँभल गये। संयमी होने के नाते उन्होंने तत्काल इन्द्रियों की चञ्चलता को हठात् रोक लिया और यह देखने के लिए चारों ओर दृष्टि दौडायी कि मेरे मन में यह विकार कैसे आया॥ ६९॥ तभी शंकरजी ने देखा कि अपना धनुष खींच और गोल करके दाहिनी आँख की कोर तक चुटकी से डोरी खींचे और दाहिना कन्धा झुकाकर बाँयें पैर का घुटना मोडे हुए कामदेव बाण चलाने

तपःपरामर्शविवृद्धमन्योर्भ्रूभङ्गदुष्प्रेक्ष्यमुखस्य तस्य।
स्फुरन्नुदर्चिः सहसा तृतीयादक्ष्णः कृशानुः किल निष्पपात॥ ७१॥
क्रोधं प्रभो! संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति।
तावत् स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार॥ ७२॥
तीव्राभिषङ्गप्रभवेण वृत्तिं मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम्।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्तं कृतोपकारेव रतिर्बभूव॥ ७३॥
तमाशु विघ्नं तपसस्तपस्वी वनस्पतिं वज्र इवावभज्य।
स्त्रीसन्निकर्षं परिहर्तुमिच्छन्नन्तर्दधे भूतपतिः सभूतः॥ ७४॥
शैलात्मजाऽपि पितुरुच्छिरसोऽभिलाषं व्यर्थं समर्थ्य ललितं वपुरात्मनश्च।
सख्योः समक्षमिति चाधिकजातलज्जा शून्या जगाम भवनाभिमुखी कथञ्चित्॥ ७५॥
सपदि मुकुलिताक्षीं रुद्रसंरम्भभीत्या दुहितरमनुकम्प्यामद्रिरादाय दोर्भ्याम्।
सुरगज इव बिभ्रत् पद्मिनीं दन्तलग्नां प्रतिपथगतिरासीद्वेगदीर्घीकृताङ्गः॥ ७६॥

इति महाकविकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये
मदनदहनो नाम तृतीयः सर्गः॥ ३॥

को उद्यत है॥ ७०॥ तब अपने तप में बाधा डालने वाले कामदेव पर महादेवजी को इतना क्रोध आया कि उनकी चढ़ी भौंहों वाला नेत्र बड़ी कठिनाई से देखा जा सकता था। तभी उनका तीसरा नेत्र खुल गया और उसमें से सहसा धधकती आग की लपटें निकलने लगीं॥ ७१॥ यह देखकर आकाश में सब देवता एक साथ चिल्ला उठे—'रोकिए! रोकिए! अपने क्रोध को रोकिए प्रभो!' परन्तु इतनी ही देर में महादेवजी की तीसरी आँख से निकलने वाली उस भीषण आग ने कामदेव को जलाकर राख कर डाला॥ ७२॥ अपने सिर पर आयी हुई वह भारी विपत्ति देखकर कामदेव की स्त्री रति मूर्च्छित होकर धरती पर गिर पड़ी। उसकी इन्द्रियाँ स्तब्ध हो गयीं और ऐसा लगा कि मानो शंकर भगवान् ने कृपा करके उतनी देर के लिए पति की मृत्यु का ज्ञान हरकर उसे दुःख से बचा लिया॥ ७३॥ किसी पेड़ पर गिरकर बिजली जैसे उसे ध्वस्त कर डालती है, वैसे ही अपनी तपस्या में बाधा डालने वाले कामदेव को जलाकर शिवजी ने निश्चय किया कि स्त्रियों का साथ छोड़ देना ही उचित है। बस, तपस्वी महादेवजी तत्काल अपने भूत-प्रेतों के साथ अन्तर्धान हो गये॥ ७४॥ यह देखकर पार्वतीजी को इस बात पर बड़ी ग्लानि हुई कि आज सखियों के आगे मेरे ऊँचे सिर वाले पिता का मनोरथ और मेरा सौन्दर्य दोनों व्यर्थ हो गये और वे बहुत उदास मन से किसी-किसी प्रकार अपने घर को चलीं॥ ७५॥ तत्काल हिमवान् भी वहाँ पहुँच गये और जैसे ऐरावत अपने दाँतों पर कमलिनी को उठा ले, वैसे ही महादेवजी के क्रोध से डरकर आँख बन्द करके जाती हुई अपनी दुःखिनी कन्या को गोद में उठा लिया और वेग के साथ जिधर से आये थे, उधर ही चले गये॥ ७६॥

इस प्रकार महाकविकालिदासरचित कुमारसम्भवमहाकाव्य में
मदन-दहन नामक तीसरा सर्ग समाप्त॥ ३॥

चतुर्थः सर्गः

अथ मोहपरायणा सती विवशा कामवधूर्विबोधिता।
विधिना प्रतिपादयिष्यता नववैधव्यमसह्यवेदनम्॥ १॥
अवधानपरे चकार सा प्रलयान्तोन्मिषिते विलोचने।
न विवेद तयोरतृप्तयोः प्रियमत्यन्तविलुप्तदर्शनम्॥ २॥
अयि जीवितनाथ! जीवसीत्यभिधायोत्थितया तया पुरः।
ददृशे पुरुषाकृति क्षितौ हरकोपानलभस्म केवलम्॥ ३॥
अथ सा पुनरेव विह्वला वसुधालिङ्गनधूसरस्तनी।
विललाप विकीर्णमूर्धजा समदुःखामिव कुर्वती स्थलीम्॥ ४॥
उपमानमभूद् विलासिनां करणं यत्तव कान्तिमत्तया।
तदिदं गतमीदृशीं दशां न विदीर्ये कठिनाः खलु स्त्रियः॥ ५॥
क्व नु मां त्वदधीनजीवितां विनिकीर्य क्षणभिन्नसौहृदः।
नलिनीं क्षतसेतुबन्धनो जलसङ्घात इवासि विद्रुतः॥ ६॥
कृतवानसि विप्रियं न मे प्रतिकूलं न च ते मया कृतम्।
किमकारणमेव दर्शनं विलपन्त्यै रतये न दीयते॥ ७॥
स्मरसि स्मर! मेखलागुणैरुत गोत्रस्खलितेषु बन्धनम्।
च्युतकेशरदूषितेक्षणान्यवतंसोत्पलताडनानि वा॥ ८॥

इस प्रकार महादेवजी के अन्तर्धान होने और पार्वतीजी के चले जाने पर काठ के समान मूर्च्छित पड़ी कामदेव की पतिव्रता पत्नी रति को ब्रह्मा ने नये विधवापन का दुःख सहने के लिए जगा दिया॥ १॥ मूर्च्छा हटते ही रति चारों ओर आँखें दौड़ाकर देखने लगीं, परन्तु उसे यह नहीं ज्ञात हुआ कि जिसे सदा अपने आगे देखते रहने पर भी आँखें नहीं अघाती थीं, वही प्यारा सदा के लिए मेरी आँखों से ओझल हो गया है॥ २॥ 'हे प्राणनाथ! क्या तुम जीते हो?'—यह कहती हुई जैसे ही वह खड़ी हुई तो देखा की महादेवजी के क्रोध से जली हुई पुरुष के आकार की राख की ढेर सामने पृथ्वी पर पड़ी है॥ ३॥ वह राख की ढेर देखते ही रति विकल हो उठी और मिट्टी में लोटती हुई बाल बिखेर और बिलख-बिलखकर रोने लगी तो ऐसा लगा कि मानो सारी वनभूमि उसके साथ-साथ रो रही है॥ ४॥ वह रो-रोकर कहने लगी—'प्यारे! आज तक तुम्हारे जिस सुन्दर शरीर से विलासियों की शरीर की तुलना की जाती थी, उसे ऐसी दशा में देख कर के भी मेरी छाती नहीं फट गयी। वास्तव में स्त्रियों का हृदय बहुत कठोर होता है॥ ५॥ जैसे पानी का बहाव बाँध तोड़कर जल में बहने वाली कमलिनी को वहीं छोड़कर आगे निकल जाता है, वैसे ही तुम्हारे हाथ में अपने प्राण सौंपने वाली मुझ अभागिन को त्यागकर तुम इतनी शीघ्र रूठकर कहाँ चले गये?॥ ६॥ हे प्यारे! तुमने कभी मेरी अनभिलषित बात नहीं की और मैंने भी कभी तुम्हारे प्रतिकूल कुछ नहीं किया। फिर अकारण मुझ बिलखती हुई रति को तुम दर्शन क्यों नहीं देते?॥ ७॥ हे प्रियतम! पहले एक बार जब भूल से तुमने अपने किसी दूसरी प्यारी का नाम ले लिया था, उस पर मैंने जो तुम्हें अपनी तागड़ी से बाँध दिया था, क्या उसी बात का स्मरण करके तुम मुझसे रूठ गये हो? अथवा जब मैंने अपने कान में पहने हुए कमल से

हृदये वससीति मत्प्रियं यदवोचस्तदवैमि कैतवम्।
उपचारपदं न चेदिदं त्वमनङ्गः कथमक्षता रतिः॥ ९ ॥
परलोकनवप्रवासिनः प्रतिपत्स्ये पदवीमहं तव।
विधिना जन एष वञ्चितस्त्वदधीनं खलु देहिनां सुखम्॥ १०॥
रजनीतिमिरावगुण्ठिते पुरमार्गे घनशब्दविक्लवाः।
वसतिं प्रिय! कामिनां प्रियास्त्वदृते प्रापयितुं क ईश्वरः॥ ११॥
नयनान्यरुणानि घूर्णयन् वचनानि स्खलयन् पदे पदे।
असति त्वयि वारुणीमदः प्रमदानामधुना विडम्बना॥ १२॥
अवगम्य कथीकृतं वपुः प्रियबन्धोस्तव निष्फलोदयः।
बहुलेऽपि गते निशाकरस्तनुतां दुःखमनङ्ग! मोक्ष्यति॥ १३॥
हरितारुणचारुबन्धनः कलपुंस्कोकिलशब्दसूचितः।
वद सम्प्रति कस्य बाणतां नवचूतप्रसवो गमिष्यति॥ १४॥
अलिपङ्क्तिरनेकशस्त्वया गुणकृत्ये धनुषो नियोजिता।
विरुतैः करुणस्वनैरियं गुरुशोकामनुरोदितीव माम्॥ १५॥
प्रतिपद्य मनोहरं वपुः पुनरप्यादिश तावदुत्थितः।
रतिदूतिपदेषु कोकिलां मधुरालापनिसर्गपण्डिताम्॥ १६॥
शिरसा प्रणिपत्य याचितान्युपगूढानि सवेपथूनि च।
सुरतानि च तानि ते रहः स्मर! संस्मृत्य न शान्तिरस्ति मे॥ १७॥

तुम्हें पीटा था, उस समय उसका पराग पड जाने से जो तुम्हारी आँखें दुःखने लगी थीं, क्या उसी बात का स्मरण करके तुम मुझसे रूठे हुए हो? ॥८॥ जो तुम मुझसे नित्य मीठी-मीठी बातों में कहा करते थे कि तुम सदा मेरे हृदय में बसती हो, वह बात झूठ थी। क्योंकि यदि वह बात केवल मेरा मन रखने भर को न होती तो तुम्हारे भस्म हो जाने पर तुम्हारी रति भला जीवित कैसे बची रहती? ॥९॥ अभी-अभी तुम स्वर्ग को गये हो, मैं भी तुम्हारे पीछे-पीछे वहीं आ रही हूँ। ब्रह्मा ने मूर्च्छित करके मुझे बड़ा धोखा दिया। नहीं तो मैं उसी समय तुम्हारे साथ चल पड़ती। क्योंकि मेरा ही नहीं, बल्कि सारे संसार का सुख तुम अपने साथ लेकर चले गये हो॥ १०॥ हे प्यारे! यह तो कहो कि वर्षा के समय रात की घनी अँधियारी भरे भयावने नगर के मार्गों पर बिजली की कडक से डर जानेवाली कामिनियों को उनके प्यारों के घर अब तुम्हारे सिवाय और कौन पहुँचायेगा? ॥ ११॥ लाल-लाल नेत्रों को नचाती और एक-एक शब्द पर रुक-रुककर बोलती हुई प्रमदाओं का मदिरापान तुम्हारे न रहने पर अब भला किस काम का होगा? ॥ १२॥ हे अनङ्ग! तुम चन्द्रमा के बड़े प्यारे मित्र थे। जब उसे यह ज्ञात होगा कि अब तुम्हारा शरीर कहानी भर रह गया है, तब वह व्यर्थ उदित चन्द्रमा शुक्लपक्ष में भी बडी कठिनाई से अपना दुबलापन छोड़ सकेगा॥ १३॥ बहुत सुन्दर हरे और लाल रङ्ग में बँधा और कोयल की मीठी कूक से गूँजता हुआ आम का नया बौर अब किसका बाण बनेगा? ॥ १४॥ जिन भौंरों की पंक्तियों को तुम अपने धनुष की डोरी बनाया करते थे, उनकी दुःखभरी गुञ्जार अब ऐसी लगती है कि मानो वे भी दुःख से बिलखती हुई मुझ दुःखिया के साथ-साथ रो रही हैं॥ १५॥ हे कामदेव! तुम पहले जैसा सुन्दर शरीर फिर धारण करके उठकर स्वभावतः मधुर बोलने में निपुण इस कोयल को आज्ञा दो कि यह रतिदूती बनकर अपनी मीठी कूक से प्रेमियों को मिलने का स्थान बतलाना आरम्भ कर दे॥ १६॥ हे कामदेव! जब तुम मेरे पैरों में पड़कर मनाते हुए मुझे गले से लगा लेते थे और एकान्त

रचितं रतिपण्डित! त्वया स्वयमङ्गेषु ममेदमार्तवम्।
ध्रियते कुसुमप्रसाधनं तव तच्चारु वपुर्न दृश्यते॥ १८॥
विबुधैरसि यस्य दारुणैरसमाप्ते परिकर्मणि स्मृतः।
तमिमं कुरु दक्षिणेतरं चरणं निर्मितरागमेहि मे॥ १९॥
अहमेत्य पतङ्गवर्त्मना पुनरङ्काश्रयणी भवामि ते।
चतुरैः सुरकामिनीजनैः प्रिय! यावन्न विलोभ्यसे दिवि॥ २०॥
मदनेन विनाकृता रतिः क्षणमात्रं किल जीवितेति मे।
वचनीयमिदं व्यवस्थितं रमण! त्वामनुयामि यद्यपि॥ २१॥
क्रियतां कथमन्त्यमण्डनं परलोकान्तरितस्य ते मया।
सममेव गतोऽस्यतर्कितां गतिमङ्गेन च जीवितेन च॥ २२॥
ऋजुतां नयतः स्मरामि ते शरमुत्सङ्गनिषण्णधन्वनः।
मधुना सह सस्मितां कथां नयनोपान्तविलोकितं च यत्॥ २३॥
क्व नु ते हृदयङ्गमः सखा कुसुमायोजितकार्मुको मधुः।
न खलूग्ररुषा पिनाकिना गमितः सोऽपि सुहृद्गतां गतिम्॥ २४॥
अथ तैः परिदेविताक्षरैर्हृदये दिग्धशरैरिवाहतः।
रतिमभ्युपपत्तुमातुरां मधुरात्मानमदर्शयत् पुरः॥ २५॥
तमवेक्ष्य रुरोद सा भृशं स्तनसम्बाधमुरो जघान च।
स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते॥ २६॥

में काँपते हुए अनेक प्रकार से संभोग करते थे। उन बातों का स्मरण कर-करके मुझे शान्ति नहीं मिल रही है॥ १७॥ हे काम-क्रीड़ा में चतुर! तुमने अपने हाथों मेरा जो वासन्ती शृंगार किया था, वह अभी ज्यों का त्यों है। किन्तु तुम्हारा सुन्दर शरीर अब नहीं दीखता॥ १८॥ अभी जब तुम मेरे पैरों में महावर लगाते-लगाते केवल दाहिने पाँव में ही लगा सके थे, उसी समय कठोरहृदय देवताओं ने तुम्हें अपने काम के लिए बुला लिया था। अब आकर मेरे इस बाँयें पैर में भी महावर लगा दो॥ १९॥ हे प्यारे! स्वर्ग की अप्सराएँ तुम्हें अपने रूप से न लुभा लेंगी, उसके पहले ही मैं आग में जलकर तुम्हारी गोद में आ बैठूँगी॥ २०॥ हे रमण! यद्यपि मैं तुम्हारे पीछे-पीछे आ रही हूँ, फिर भी मुझ पर यह कलंक का टीका तो लग ही चुका कि कामदेव के वियोग में रति क्षणभर जीवित रही॥ २१॥ तुम अपना शरीर और प्राण दोनों साथ लेकर स्वर्ग सिधारे। अब परलोक चले जाने पर मैं यह नहीं सोच पाती कि तुम्हारे शरीर का अन्तिम शृंगार किस तरह करूँ॥ २२॥ वह तुम्हारा गोद में धनुष रखकर बाण सीधा करना, वसन्त के साथ हँस-हँसकर बातें करना और बीच-बीच में मेरी ओर तिरछी चितवन से देखना मुझे बार-बार स्मरण आता है॥ २३॥ तुम्हारे लिए फूलों का धनुष बनाने वाला तुम्हारा प्रिय मित्र वसन्त कहाँ गया? कहीं वह भी महादेवजी के तीखे क्रोधाग्नि में अपने मित्र के साथ-साथ भस्म तो नहीं हो गया॥ २४॥ उसका रुदन सुनते ही बिलखती हुई वियोगिनी रति को ढाढ़स बँधाने के लिए वसन्त वहाँ आ पहुँचा। वह ऐसा दुःखी दीख रहा था कि जैसे उसके हृदय को रति के विलाप-वचनरूपी बाणों ने बींध डाला हो॥ २५॥ वसन्त को समक्ष देखकर वह और भी जोर से छाती पीटती हुई फूट-फूटकर रोने लगी। क्योंकि दुःख में स्वजनों को देखकर दुःख वैसे ही बढ जाता है, जैसे किसी रुकी हुई वस्तु को बाहर निकालने के लिए एक बड़ा भारी द्वार खुल जाय॥ २६॥ रोती हुई रति बड़े दुःख से बोली—वसन्त! तुम्हारे मित्र की कैसे यह दशा हो गयी? वह देखो, तुम्हारा मित्र राख बनकर पडा हुआ है। कबूतर

इति चैनमुवाच दुःखिता सुहृदः पश्य वसन्त! किं स्थितम्।
तदिदं कणशो विकीर्यते पवनैर्भस्म कपोतकर्बुरम्॥ २७॥
अयि सम्प्रति देहि दर्शनं स्मर! पर्युत्सुक एष माधवः।
दयितास्वनवस्थितं नृणां न खलु प्रेम चलं सुहृज्जने॥ २८॥
अमुना ननु पार्श्ववर्तिना जगदाज्ञां ससुरासुरं तव।
बिसतन्तुगुणस्य कारितं धनुषः पेलवपुष्पपत्त्रिणः॥ २९॥
गत एव न ते निवर्तते स सखा दीप इवानिलाहतः।
अहमस्य दशेव पश्य मामविषह्यव्यसनेन धूमिताम्॥ ३०॥
विधिना कृतमर्धवैशसं ननु मां कामवधे विमुञ्चता।
अनपायिनि संश्रयद्रुमे गजभग्ने पतनाय वल्लरी॥ ३१॥
तदिदं क्रियतामनन्तरं भवता बन्धुजनप्रयोजनम्।
विधुरां ज्वलनातिसर्जनान्ननु मां प्रापय पत्युरन्तिकम्॥ ३२॥
शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते।
प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि॥ ३३॥
अमुनैव कषायितस्तनी सुभगेन प्रियगात्रभस्मना।
नवपल्लवसंस्तरे यथा रचयिष्यामि तनुं विभावसौ॥ ३४॥
कुसुमास्तरणे सहायतां बहुशः सौम्य! गतस्त्वमावयोः।
कुरु सम्प्रति तावदाशु मे प्रणिपाताञ्जलियाचितश्चिताम्॥ ३५॥
तदनु ज्वलनं मदर्पितं त्वरयेर्दक्षिणवातवीजनैः।
विदितं खलु ते यथा स्मरः क्षणमप्युत्सहते न मां विना॥ ३६॥

के पंख-सदृश उसकी भूरी राख को पवन इधर-उधर छितरा रहा है॥ २७॥ हे कामदेव! तुम्हारा मित्र वसन्त तुम्हें देखने के लिए बहुत उत्सुक है, आकर इसे दर्शन दो। संभव है कि पुरुष अपनी स्त्री से प्रेम करने में ढिलाई कर दे, परन्तु अपने प्रेमी मित्रों पर तो उसका प्रेम सदा के लिए अटल बना रहता है॥ २८॥ तुम्हारे साथी वसन्त के कारण ही तो सब देवता और राक्षस तुम्हारे कमलतन्तु से बनी हुई डोरी वाले और कोमल फूलों के बाण वाले धनुष की आज्ञा मानते थे॥ २९॥ वसन्त! देखो, तुम्हारा मित्र कामदेव वायु के झोंके से बुझे दीपक के समान जाकर अब लौटता ही नहीं है। अत्यन्त दुःख में भरी हुई मैं बुझे हुए दीपक की धुआँ देती हुई बत्ती-सदृश बची हुई हूँ॥ ३०॥ ब्रह्मा ने मुझे जीवित छोड़कर मेरे आधे अङ्गस्वरूप कामदेव का वध करके मेरा केवल आधा ही वध किया है। किन्तु ऐसा नहीं है, बल्कि उसने मुझे ही मार डाला है। क्योंकि हाथी की टक्कर से वृक्ष के टूट जाने पर उस पर लिपटी हुई लता क्या कभी बची रह सकती है?॥ ३१॥ बन्धु होने के नाते अब तुम मेरा दाह करके मुझ विधवा को भी शीघ्र मेरे पति कामदेव के पास पहुँचा दो॥ ३२॥ क्योंकि चाँदनी चन्द्रमा के साथ अलक्षित हो जाती है और बिजली बादल के साथ ही चली जाती है। इस प्रकार पति के साथ जाना तो जड़ों में भी देखा जाता है, तब मैं चेतन होती हुई भी अपने पति कामदेव के पास क्यों न जाऊँ?॥ ३३॥ अब मैं अपने प्यारे के शरीर की इस सुन्दर भस्म से इन स्तनों का शृंगार करके चिता पर चढ़कर उसी प्रकार लेट रही हूँ, जैसे कोई नयी-नयी लाल कोपलों से सजी हुई सेज पर जाकर सो जाय॥ ३४॥ वसन्त! तुमने बहुत बार हम दोनों के लिए फूलों के बिछौने बनाने में सहायता की है। अतएव अब मैं हाथ जोड़कर तुमसे यही भीख माँगती हूँ कि तुम मेरे लिए शीघ्र चिता रच दो॥ ३५॥ तब उस

इति चापि विधाय दीयतां सलिलस्याञ्जलिरेक एव नौ।
अविभज्य परत्र तं मया सहितः पास्यति ते स बान्धवः॥ ३७॥
परलोकविधौ च माधव! स्मरमुद्दिश्य विलोलपल्लवाः।
निवपेः सहकारमञ्जरीः प्रियचूतप्रसवो हि ते सखा॥ ३८॥
इति देहविमुक्तये स्थितां रतिमाकाशभवा सरस्वती।
शफरीं ह्रदशोषविक्लवां प्रथमा वृष्टिरिवान्वकम्पयत्॥ ३९॥
कुसुमायुधपत्नि! दुर्लभस्तव भर्ता न चिराद् भविष्यति।
शृणु येन स कर्मणा गतः शलभत्वं हरलोचनार्चिषि॥ ४०॥
अभिलाषमुदीरितेन्द्रियः स्वसुतायामकरोत् प्रजापतिः।
अथ तेन निगृह्य विक्रियामभिशप्तः फलमेतदन्वभूत्॥ ४१॥
परिणेष्यति पार्वतीं यदा तपसा तत्प्रवणीकृतो हरः।
उपलब्धसुखस्तदा स्मरं वपुषा स्वेन नियोजयिष्यति॥ ४२॥
इति चाह स धर्मयाचितः स्मरशापावधिदां सरस्वतीम्।
अशनेरमृतस्य चोभयोर्वशिनश्चाम्बुधराश्च योनयः॥ ४३॥
तदिदं परिरक्ष शोभने! भवितव्यप्रियसङ्गमं वपुः।
रविपीतजला तपात्यये पुनरोघेन हि युज्यते नदी॥ ४४॥

पर शीघ्र दक्षिणी पवन का पंखा झलकर उसमें बड़ी-बड़ी लपटें भी उठा दो, जिससे मैं तुरन्त जलकर राख हो जाऊँ। यह तो तुम जानते ही हो कि मेरा प्यारा कामदेव मेरे बिना एक क्षण भी अकेला नहीं रह सकता॥ ३६॥ जब मैं जल जाऊँ, तब तुम हम दोनों के लिए एक ही जलांजलि देना। जिससे परलोकगामी तुम्हारा मित्र मेरे ही साथ वह जल पिये॥ ३७॥ वसन्त! जब तुम अपने मित्र कामदेव का श्राद्ध करना, तब उसमें उनके लिए चंचल पत्तों वाली आम की मञ्जरी अवश्य देना। क्योंकि तुम्हारे मित्र को आम की मञ्जरी बहुत प्रिय थी॥ ३८॥ जैसे सूखते हुए तालाब की व्याकुल मछलियों को वर्षा की पहली वृष्टि जिला देती है, वैसे ही अचानक सुनायी देनेवाली आकाशवाणी ने प्राण छोड़ने को उद्यत रति पर कृपा करके कहा—॥ ३९॥ हे कामदेव की पत्नी! तुम्हारा पति तुम्हें शीघ्र ही मिल जायेगा। वह महादेवजी की नेत्रज्वाला में पतंग बनकर कैसे जला, अब यह वृत्तान्त सुनो॥ ४०॥ सृष्टि करते समय जब ब्रह्माजी ने सरस्वती को उत्पन्न किया था, तब कामदेव ने उनके मन में ऐसा पाप भर दिया कि वे सरस्वती के ही रूप पर मोहित हो गये और उसके साथ सम्भोग की इच्छा करने लगे। परन्तु तत्काल उन्हें कामदेव की इस करतूत का पता चल गया और उन्होंने अपना मन रोककर कामदेव को शाप दिया कि 'जाओ, तुम शिवजी के तृतीय नेत्र की ज्वाला में जलकर भस्म हो जाओगे'। उसी शाप का यह फल उसे मिला है॥ ४१॥ किन्तु जब धर्म ने ब्रह्माजी से सृष्टि के रक्षार्थ कामदेव को जिलाने की प्रार्थना की, तब ब्रह्माजी ने कहा कि 'जब पार्वतीजी की तपस्या से प्रसन्न होकर महादेवजी उनके साथ विवाह कर लेंगे, तब कामदेव को अपना सहायक समझकर वे इसे फिर पहले जैसा शरीर दे देंगे और तभी हमारा शाप भी निवृत्त हो जायेगा। यह सत्य है कि जैसे बादल में बिजली और जल दोनों एक साथ रहते हैं, वैसे ही संयमी लोगों के मन में भी क्रोध और क्षमा दोनों साथ ही रहा करते हैं॥ ४२-४३॥ अतएव हे सुन्दरी! अपने प्रियतम से मिलने के लिए तुम अपने शरीर की रक्षा करो। देखो! जो नदियाँ गरमी में सूर्य की किरणों को अपना जल पिलाकर छिछली हो जाती हैं, उन्हीं नदियों में वर्षा के समय बाढ़ भी आ जाती है'॥ ४४॥ यह आकाशवाणी सुनकर रति ने अपने प्राण

इत्थं रतेः किमपि भूतमदृश्यरूपं मन्दीचकार मरणव्यवसायबुद्धिम्।
तत्प्रत्ययाच्च कुसुमायुधबन्धुरेनामाश्वासयत् सुचरितार्थपदैर्वचोभिः ॥ ४५ ॥
अथ मदनवधूरुपप्लवान्तं व्यसनकृशा परिपालयाम्बभूव।
शशिन इव दिवातनस्य लेखा किरणपरिक्षयधूसरा प्रदोषम् ॥ ४६ ॥

इति महाकविकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये
रतिविलापो नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

त्यागने का विचार छोड़ दिया और उस आकाशवाणी पर विश्वास करके कामदेव के मित्र वसन्त ने भी उसे बहुत समझा-बुझाकर धीरज बँधाया ॥ ४५ ॥ उस आकाशवाणी तथा वसन्त के ढाढ़स बँधाने पर शोक से दुबली रति कामदेव के शाप निवृत्त होने की अवधि की उसी प्रकार प्रतीक्षा करने लगी, जैसे दिन में दीखनेवाले निस्तेज चन्द्रमा की किरण साँझ होने की प्रतीक्षा करती है ॥ ४६ ॥

इस प्रकार महाकविकालिदासरचित कुमारसम्भवमहाकाव्य में
रति-विलाप नामक चौथा सर्ग समाप्त ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः

तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता॥ १॥
इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥ २॥
निशम्य चैनां तपसे कृतोद्यमां सुतां गिरीशप्रतिसक्तमानसाम्।
उवाच मेना परिरभ्य वक्षसा निवारयन्ती महतो मुनिव्रतात्॥ ३॥
मनीषिताः सन्ति गृहेषु देवतास्तपः क्व वत्से! क्व च तावकं वपुः।
पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्त्रिणः॥ ४॥
इति ध्रुवेच्छामनुशासती सुतां शशाक मेना न नियन्तुमुद्यमात्।
क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत्॥ ५॥
कदाचिदासन्नसखीमुखेन सा मनोरथज्ञं पितरं मनस्विनी।
अयाचतारण्यनिवासमात्मनः फलोदयान्ताय तपःसमाधये॥ ६॥
अथानुरूपाभिनिवेशतोषिणा कृताभ्यनुज्ञा गुरुणा गरीयसा।
प्रजासु पश्चात्प्रथितं तदाख्यया जगाम गौरीशिखरं शिखण्डिमत्॥ ७॥

जब महादेवजी ने पार्वतीजी के समक्ष कामदेव को भस्म कर डाला, यह दुर्घटना देखकर उनकी सब आशाएँ समाप्त हो गयीं और वे अपने सौन्दर्य को कोसने लगीं। क्योंकि जो सुन्दरता अपने प्रणयी को न रिझा सके, उसका होना किस काम का?॥ १॥ यह सोचकर उन्होंने मन में ठान लिया कि जिसे मैं अपने रूप से नहीं रिझा सकी, उसे अब समाधिस्थ मन से तपस्या करके प्राप्त करूँगी। ठीक ही है, क्योंकि ऐसा अनोखा प्रेम और ऐसा अनोखा पति भला कहीं विना तपस्या के भी मिल सकता है?॥ २॥ उनकी माँ मेना ने जब सुना कि हमारी पुत्री शिवजी पर आसक्त होकर उनको पाने के लिए तप करने जा रही है, तब पार्वतीजी को छाती से लगाकर उन्हें ऐसी कठोर तपस्या से रोकती हुई बोलीं—॥ ३॥ वत्से! तुम्हारे घर में ही इतने बड़े-बड़े देवता हैं कि तुम जो चाहो सो वर उनसे माँग लो। फिर तपस्या कोई हँसी-खेल का काम थोड़े ही है। कहो तो सही, कहाँ तपस्या और कहाँ तुम्हारा यह कोमल शरीर। शिरीष के फूल पर भौंरें आकर बैठ जायें तो कोई हर्ज नहीं, किन्तु यदि उस पर पक्षी बैठने लगें, तब तो वह सुकुमार फूल नष्ट ही हो जायेगा॥ ४॥ किन्तु बहुत तरह से समझा करके भी वे अपनी पुत्री के हठ को नहीं टाल सकीं। क्योंकि अपनी बात के पक्के लोगों का मन तथा नीचे गिरते हुए पानी के वेग को भला कौन पलट सकता है?॥ ५॥ हिमालय को तो पार्वतीजी के मन की बात ज्ञात ही थी। सो एक दिन पार्वतीजी ने अपने सखी के द्वारा पिताजी से पुछवाया कि 'क्या मैं तब तक के लिए वन में जाकर तपस्या कर सकती हूँ कि जब तक शिवजी मुझ पर प्रसन्न न हो जायँ?'॥ ६॥ यह सुनकर हिमालय ने समझ लिया कि पार्वतीजी अपनी टेक से नहीं डिगेंगी, तब उन्होंने पार्वतीजी को वन में रहकर तप करने की आज्ञा दे दी। अपने पूज्य पिताजी की आज्ञा पाकर वे हिमालय की एक ऐसी चोटी पर तप करने पहुँची, जहाँ अनेक मोर रहा करते थे। आगे चलकर उन्हीं के नाम पर उसका गौरीशिखर नाम पड़ गया॥ ७॥ दृढ़ निश्चय वाली पार्वती ने अपना वह हार उतार दिया, जिसके सदा हिलते रहने से उनकी छाती पर लगा हरिचन्दन पुँछकर उसमें लग जाता था। उसके

विमुच्य सा हारमहार्यनिश्चया विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनम्।
बबन्ध बालारुणबभ्रु वल्कलं पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति॥ ८ ॥
यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहैर्जटाभिरप्येवमभूत् तदाननम्।
न षट्पदश्रेणिभिरेव पङ्कजं सशैवलासङ्गमपि प्रकाशते॥ ९ ॥
प्रतिक्षणं सा कृतरोमविक्रियां व्रताय मौञ्जीं त्रिगुणां बभार याम्।
अकारि तत्पूर्वनिबद्धया तया सरागमस्या रसनागुणास्पदम्॥ १० ॥
विसृष्टरागादधरान्निवर्तितः स्तनाङ्गरागारुणिताच्च कन्दुकात्।
कुचाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः कृतोऽक्षसूत्रप्रणयी तया करः॥ ११ ॥
महार्हशय्यापरिवर्तनच्युतैः स्वकेशपुष्पैरपि या स्म दूयते।
अशेत सा बाहुलतोपधायिनी निषेदुषी स्थण्डिल एव केवले॥ १२ ॥
पुनर्ग्रहीतुं नियमस्थया तया द्वयेऽपि निक्षेप इवार्पितं द्वयम्।
लतासु तन्वीषु विलासचेष्टितं विलोलदृष्टं हरिणाङ्गनासु च॥ १३ ॥
अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान् घटस्तनप्रस्रवणैर्व्यवर्धयत्।
गुहोऽपि येषां प्रथमाप्तजन्मनां न पुत्रवात्सल्यमपाकरिष्यति॥ १४ ॥
अरण्यबीजाञ्जलिदानलालितास्तथा च तस्यां हरिणा विशश्वसुः।
यथा तदीयैर्नयनैः कुतूहलात् पुरः सखीनाममिमीत लोचने॥ १५ ॥
कृताभिषेकां हुतजातवेदसं त्वगुत्तरासङ्गवतीमधीतिनीम्।
दिदृक्षवस्तामृषयोऽभ्युपागमन्न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते॥ १६ ॥

स्थान पर उन्होंने प्रातःकालीन सूर्य-सदृश लाल-लाल वल्कल-वसन बाँध लिया॥ ८॥ जटा रख लेने पर भी उनका मुख वैसे ही सुन्दर बना रहा, जैसा सुन्दर पहले सजी हुई चोटियों से लगा करता था। क्योंकि केवल भौंरों से ही कमल नहीं शोभता, बल्कि सेवार से लिपटा होने पर भी वह वैसा ही सुन्दर लगता है॥ ९॥ तपस्या के लिए उन्होंने अपनी कमर में जो मूँज की तिहरी मेखला बाँध रखी थी, वह उनके कोमल शरीर पर ऐसी चुभती थी कि वे पीड़ा से घड़ी-घड़ी काँप उठती थीं और पहले-पहल उसे पहनने से तो उनकी सारी कमर ही लाल पड़ गयी थी॥ १०॥ पहले वे अपने हाथों से ओठ रँगती और स्तन के अंगराग से लाल रँगी हुई गेंद से खेला करती थीं, किन्तु अब उन्हीं कोमल हाथों में रुद्राक्ष की माला थाम ली और कुश के अंकुर उखाड़-उखाड़कर अपने हाथों की उँगलियों में घाव कर लिये॥ ११॥ पिता के घर सजे पलंग पर करवटें लेते समय अपने बालों से गिरे हुए फूलों के दबने से जो पार्वतीजी घबडा उठती थीं, वे ही अब अपने हाथों का तकिया लगाकर निखरहरी भूमि पर बैठी-बैठी ही सो जाती थीं॥ १२॥ तपस्या के समय वे इतनी शान्त हो गयी थीं कि जैसे उतने समय तक के लिए उन्होंने अपना हाव-भाव कोमल लताओं को एवं अपनी चंचल चितवन हरिणियों को धरोहर के रूप में सौंप दी हो॥ १३॥ आलस्य छोड़कर उन्होंने वहाँ के जिन छोटे-छोटे पौधों को अपने स्तनों जैसे घड़ों के जल से सींच-सींचकर पाला था, उन पर वे पुत्रों के समान इतना ज्यादा प्यार करती थीं कि बाद में जब कार्तिकेय का जन्म हो गया, तब भी उनका वात्सल्य उन पौधों पर ज्यों का त्यों बना रहा॥ १४॥ उन्होंने वहाँ के जिन हरिणों को अपने हाथों से तिन्नी के दाने खिला-खिलाकर पाला था, वे इतने परच गये थे कि कभी-कभी मन बहलाव के लिए पार्वतीजी अपनी सखियों के आगे उन्हें लाकर उन हरिणों के नेत्रों से अपने नेत्र नापती थीं॥ १५॥ पार्वतीजी यद्यपि छोटी-सी थीं, फिर भी जब वे स्नान तथा हवन करके वल्कल की चादर ओढकर पूजा-पाठ करती थीं, तब उन्हें देखने के लिए दूर-दूर से

विरोधिसत्त्वोज्झितपूर्वमत्सरं द्रुमैरभीष्टप्रसवार्चितातिथि।
नवोटजाभ्यन्तरसम्भृतानलं तपोवनं तच्च बभूव पावनम्॥ १७॥
यदा फलं पूर्वतपःसमाधिना न तावता लभ्यममंस्त काङ्क्षितम्।
तदानपेक्ष्य स्वशरीरमार्दवं तपो महत्सा चरितुं प्रचक्रमे॥ १८॥
क्लमं ययौ कन्दुकलीलयापि या तया मुनीनां चरितं व्यगाह्यत।
ध्रुवं वपुः काञ्चनपद्मनिर्मितं मृदु प्रकृत्या च ससारमेव च॥ १९॥
शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा।
विजित्य नेत्रप्रतिघातिनीं प्रभामनन्यदृष्टिः सवितारमैक्षत॥ २०॥
तथातितप्तं सवितुर्गभस्तिभिर्मुखं तदीयं कमलश्रियं दधौ।
अपाङ्गयोः केवलमस्य दीर्घयोः शनैः शनैः श्यामिकया कृतं पदम्॥ २१॥
अयाचितोपस्थितमम्बु केवलं रसात्मकस्योडुपतेश्च रश्मयः।
बभूव तस्याः किल पारणाविधिर्न वृक्षवृत्तिव्यतिरिक्तसाधनः॥ २२॥
निकामतप्ता विविधेन वह्निना नभश्चरेणेन्धनसम्भृतेन सा।
तपात्यये वारिभिरुक्षिता नवैर्भुवा सहोष्माणममुञ्चदूर्ध्वगम्॥ २३॥
स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः॥ २४॥

बड़े-बडे ऋषि-मुनि उनके पास आते थे। क्योंकि जो धार्मिक जीवन बिताने में बढे-चढे होते हैं, उनकी अवस्था का विचार नहीं किया जाता॥ १६॥ उस तपोवन के पशु-पक्षियों ने अपना पिछला आपसी वैर छोड़ दिया था। वहाँ के वृक्ष फल-फूल से इतने लद गये थे कि वहाँ गये हुए अतिथि जो चाहते थे, उन्हें वही मिल जाता था। वहाँ उस नवीन पर्णकुटी में सदा हवन की अग्नि जलती रहती थी। इन कारणों से वह तपोवन पवित्र हो गया था॥ १७॥ जब पार्वतीजी ने देखा कि इन प्रारम्भिक नियमों से काम नहीं बनता, तब उन्होंने अपने शरीर की कोमलता का विचार त्यागकर अति कठोर तपस्या आरम्भ कर दी॥ १८॥ पहले जो पार्वतीजी गेंद खलने में भी थक जाती थीं, उन्होंने ही जब मुनियों का कठोर व्रत ले लिया, तब ऐसा लगा कि मानों उनका शरीर सोने के कमलों के मेल से बना हुआ था। कमल से वने होने के कारण जो स्वभावतः कोमल था, परन्तु साथ ही सोने का बना होने से ऐसा पक्का भी था कि तपस्या से कुम्हला न सके॥ १९॥ पतली कमरवाली और हँसमुख पार्वतीजी ग्रीष्मऋतु में अपने चारों ओर आग की अहरें जलाकर उन्हीं के बीच खड़ी रहती थीं और आँखों में चकाचौंध उत्पन्न करने वाले सूर्य के प्रकाश को भी जीतकर वे सूर्य की ओर टकटकी लगाकर देखती थीं॥ २०॥ इस प्रकार कठोर तप करते रहने पर भी उनका मुख सूर्य की किरणों से तपकर कुम्हलाया नहीं, बल्कि कमल के समान खिल गया। इतना अवश्य हुआ कि उनकी बड़ी-बड़ी आँखों के निचले भाग में कुछ-कुछ साँवलापन आ गया॥ २१॥ वर्षा के दिनों मे वे बिना माँगे अपने आप बरसे हुए जल को तथा अमृत से भरी चन्द्रमा की किरणों को पीकर ही रह जाती थीं। बस, यही समझ लीजिए कि उन दिनों पार्वतीजी का आहार वही था, जो वृक्षों का हुआ करता है॥ २२॥ वर्षाकाल में एक ओर गर्मी से तपी हुई पृथ्वी से भाप निकली और इधर ईंधन की आग तथा सूर्य की गर्मी से तपे हुए पार्वतीजी के शरीर से भाप निकलने लगी॥ २३॥ उनके सिर पर वर्षा का जो जल पडता था, वह पलभर तो उनकी पलकों पर टिकता था, फिर वहाँ से लुढककर उनके ओठों पर जा पडता था। वहाँ से उनके कठोर स्तनों पर गिरता और बूँद-बूँद बनकर छितराकर उनके पेट पर बनी हुई सलवटों में

शिलाशयां तामनिकेतवासिनीं निरन्तरास्वन्तरवातवृष्टिषु।
व्यलोकयन्नुन्मिषितैस्तडिन्मयैर्महातपःसाक्ष्य इव स्थिताः क्षपाः॥ २५॥
निनाय सात्यन्तहिमोत्किरानिलाः सहस्यरात्रीरुदवासतत्परा।
परस्पराक्रन्दिनि चक्रवाकयोः पुरो वियुक्ते मिथुने कृपावती॥ २६॥
मुखेन सा पद्मसुगन्धिना निशि प्रवेपमानाधरपत्रशोभिना।
तुषारवृष्टिक्षतपद्मसम्पदां सरोजसन्धानमिवाकरोदपाम्॥ २७॥
स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः।
तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः॥ २८॥
मृणालिकापेलवमेवमादिभिर्व्रतैः स्वमङ्गं ग्लपयन्त्यहर्निशम्।
तपः शरीरैः कठिनैरुपार्जितं तपस्विनां दूरमधश्चकार सा॥ २९॥
अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाग्ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा।
विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा॥ ३०॥
तमातिथेयी बहुमानपूर्वया सपर्यया प्रत्युदियाय पार्वती।
भवन्ति साम्येऽपि निविष्टचेतसां वपुर्विशेषेष्वतिगौरवाः क्रियाः॥ ३१॥
विधिप्रयुक्तां परिगृह्य सत्क्रियां परिश्रमं नाम विनीय च क्षणम्।
उमां स पश्यन्नृजुनैव चक्षुषा प्रचक्रमे वक्तुमनुज्झितक्रमः॥ ३२॥

होता हुआ वह बड़ी देर में नाभि तक पहुँचता था॥ २४॥ घनघोर वर्षा के साथ-साथ जब रात-रात भर आँधियाँ चला करती थीं, उन दिनों भी वे खुले मैदान में पत्थर की पटिया पर ही पडी रहती थीं। अँधेरी रातें अपनी बिजली की आँखें खोल-खोलकर इस ढंग से उन्हें देखा करती थीं कि मानो वे उनके कठोर तप की गवाह हों॥ २५॥ पूस मास की जिन रातों में वहाँ का शीत पवन चारों ओर हिम ही हिम बिखेरता हुआ चलता था, उन दिनों वे रात-रातभर जल में बैठकर बिता देती थीं। उनके सामने ही चकवे और चकवी का जो जोड़ा एक-दूसरे से बिछुड़ा हुआ चिल्लाया करता था, उससे वे सहानुभूति प्रकट करती थीं॥ २६॥ जाड़े की उन रातों में जल के ऊपर पार्वतीजी का केवल मुँहभर दिखलायी देता था। जाड़े से उनके ओठ काँपते थे। उनकी साँस से कमल की गन्ध के समान जो सुगन्ध निकलती थी, उसकी महक चारों ओर फैल जाती थी। उस समय जल में खडी-खड़ी वे ऐसी लगती थीं कि जैसे पाले से मारे हुए कमलों के गल जाने पर उनके मुखकमल ने ही उस ताल को कमलमय बना रखा हो॥ २७॥ अपने आप टूटकर गिरे हुए पत्तों को खाकर रहना ही तप की पराकाष्ठा समझी जाती है, परन्तु आगे चलकर पार्वतीजी ने उन पत्तों को भी खाना छोड दिया। इसीलिए उन मधुरभाषिणी पार्वतीजी को पण्डित लोग पत्ते न खाने वाली 'अपर्णा' कहने लगे॥ २८॥ कमलिनी-सदृश अपने कोमल अङ्गों को इस प्रकार की कठिन तपस्या से रात-दिन सुखाकर पार्वतीजी ने कठोर शरीर वाले तपस्वियों को भी मात कर दिया॥ २९॥ इसी अवसर पर एक दिन जैसे ब्रह्मचर्य के तेज से चमकता हुआ, हरिण की खाल ओढे, पलाशदंड हाथ में लिये, गठीले शरीर वाला और बोलने में निपुण एक जटाधारी ब्रह्मचारी उस तपोवन में आया। उसे देखकर ऐसा लगता था कि मानो साक्षात् ब्रह्मचर्याश्रम ही उठकर वहाँ चला आया हो॥ ३०॥ अतिथि का सत्कार करने में निपुण पार्वतीजी ने बड़े आदर के साथ आगे बढकर उसकी पूजा की। क्योंकि जिन्होंने अपने मन को भली प्रकार वश में कर लिया है, वे अपने बराबर की अवस्थावाले तेजस्वी पुरुषों से भी बड़े आदर के साथ मिलते हैं॥ ३१॥ भेंट-पूजा लेकर और पलभर अपनी थकावट मिटाकर वह ब्रह्मचारी पार्वतीजी की ओर एकटक देखते हुए बिना क्रमशः कहने लगा॥ ३२॥

अपि क्रियार्थं सुलभं समित्कुशं जलान्यपि स्नानविधिक्षमाणि ते।
अपि स्वशक्त्या तपसि प्रवर्तसे शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्॥ ३३॥
अपि त्वदावर्जितवारिसम्भृतं प्रवालमासामनुबन्धि वीरुधाम्।
चिरोज्झितालक्तकपाटलेन ते तुलां यदारोहति दन्तवाससा॥ ३४॥
अपि प्रसन्नं हरिणेषु ते मनः करस्थदर्भप्रणयापहारिषु।
य उत्पलाक्षि! प्रचलैर्विलोचनैस्तवाक्षिसादृश्यमिव प्रयुञ्जते॥ ३५॥
यदुच्यते पार्वति! पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।
तथाहि ते शीलमुदारदर्शने तपस्विनामप्युपदेशतां गतम्॥ ३६॥
विकीर्णसप्तर्षिबलिप्रहासिभिस्तथा न गाङ्गैः सलिलैर्दिवश्च्युतैः।
यथा त्वदीयैश्चरितैरनाविलैर्महीधरः पावित एष सान्वयः॥ ३७॥
अनेन धर्मः सविशेषमद्य मे त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भामिनि!।
त्वया मनोनिर्विषयार्थकामया यदेक एव प्रतिगृह्य सेव्यते॥ ३८॥
प्रयुक्तसत्कारविशेषमात्मना न मां परं सम्प्रतिपत्तुमर्हसि।
यतः सतां सन्नतगात्रि! सङ्गतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते॥ ३९॥
अतोऽत्र किञ्चिद्भवतीं बहुक्षमां द्विजातिभावादुपपन्नचापलः।
अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने! न चेद्रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि॥ ४०॥
कुले प्रसूतिः प्रथमस्य वेधसस्त्रिलोकसौन्दर्यमिवोदितं वपुः।
अमृग्यमैश्वर्यसुखं नवं वयस्तपःफलं स्यात्किमतः परं वद॥ ४१॥

कहिए, हवन आदि कार्यों के लिए आपको इस तपोवन में समिधा, कुश और स्नान करने योग्य जल तो मिल जाता है न? आप अपने शरीर की शक्ति के अनुसार ही तप करती हैं न? क्योंकि धर्म के जितने भी कार्य हैं, उनमें शरीर की रक्षा करना सबसे पहला काम है॥ ३३॥ आपके हाथ से सींची हुई इन लताओं में कोमल तथा लाल-लाल पत्तियोंवाली वे कोपलें फूट आयी होंगी, जो आपके उन ओठों से होड़ कर रही होंगी, जो बहुत दिनों से आलता न रंगे जाने पर भी लाल बने हुए हैं॥ ३४॥ हे कमलनयनी! आपके हाथ से प्रेमपूर्वक कुशा छीनकर खाने वाले उन हरिणों से तो आपका मन बहलता रहता है, जिनकी आँखें आपकी आँखों के समान ही चञ्चल रहती हैं?॥ ३५॥ हे पार्वतीजी! लोग यह ठीक ही कहते हैं कि सुन्दरता पाप की ओर नहीं जाती। क्योंकि हे सुन्दरी! आपका शील-स्वभाव इतना अच्छा है कि बडे-बड़े तपस्वी भी इससे शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं॥ ३६॥ यद्यपि सप्तऋषियों के हाथ से चढाये हुए पूजा के फूल और आकाश से उतरी हुयी गंगा की धाराएँ हिमालय पर गिरती हैं, किन्तु इससे भी सपरिवार हिमालय उतना पवित्र नहीं हुआ था, जितना कि आपके रहन-सहन से पवित्र हुआ है॥ ३७॥ हे देवि! आपके इस आचरण को देखकर ही मैं समझ रहा हूँ कि धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों में धर्म ही सबसे श्रेष्ठ है। क्योंकि आप अर्थ और काम से अपना मन हटाकर एकमात्र धर्म का पालन कर रही हैं॥ ३८॥ हे सुन्दरी! लोग कहते हैं कि सज्जनों की पहली भेंट में सात शब्दों की बात से ही उनकी मित्रता पक्की हो जाती है। अतएव आपने जो मेरा सत्कार किया है, उसीसे यह सिद्ध हो गया कि आप मुझे पराया नहीं मानतीं॥ ३९॥ हे तपस्विनी! यदि उसी अपनेपन के नाते मैं ब्राह्मण होने की ढिठाई करके आपसे कुछ ऐसी-वैसी बातें पूछ बैठूँ तो बुरा न मानिएगा और यदि कोई छिपाने की बात न हो तो कृपया उसका उत्तर भी दे दीजिएगा॥ ४०॥ मैं आपसे यही पूछना चाहता हूँ कि ब्रह्मा के वंश में तो आपका जन्म हुआ, शरीर भी आपका ऐसा सुन्दर है

भवत्यनिष्टादपि नाम दुःसहान्मनस्विनीनां प्रतिपत्तिरीदृशी।
विचारमार्गप्रहितेन चेतसा न दृश्यते तच्च कृशोदरि! त्वयि॥४२॥
अलभ्यशोकाभिभवेयमाकृतिर्विमानना सुभ्रु! कुतः पितुर्गृहे।
पराभिमर्शो न तवास्ति कः करं प्रसारयेत् पन्नगरत्नसूचये॥४३॥
किमित्यपास्याभरणानि यौवने धृतं त्वया वार्धकशोभि वल्कलम्।
वद प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका विभावरी यद्यरुणाय कल्पते॥४४॥
दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा श्रमः पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः।
अथोपयन्तारमलं समाधिना न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्॥४५॥
निवेदितं निःश्वसितेन सोष्मणा मनस्तु मे संशयमेव गाहते।
न दृश्यते प्रार्थयितव्य एव ते भविष्यति प्रार्थितदुर्लभः कथम्॥४६॥
अहो स्थिरः कोऽपि तवेप्सितो युवा चिराय कर्णोत्पलशून्यतां गते।
उपेक्षते यः श्लथलम्बिनीर्जटाः कपोलदेशे कलमाग्रपिङ्गलाः॥४७॥
मुनिव्रतैस्त्वामतिमात्रकर्शितां दिवाकराप्लुष्टविभूषणास्पदाम्।
शशाङ्कलेखामिव पश्यतो दिवा सचेतसः कस्य मनो न दूयते॥४८॥

कि मानो तीनों लोकों की सुन्दरता आप में ही लाकर भर दी गयी हो, धन का सुख तो इतना है कि कुछ पूछना ही नहीं और जवानी भी अभी चढाव पर है। तब आपको तप करने की आवश्यकता क्यों आ पडी?॥४१॥ हाँ, कभी-कभी अपने वैरी से वदला लेने के लिए भी मानिनी स्त्रियाँ कठोर तपस्या करने लगती हैं, परन्तु जहाँ तक मेरा ख्याल है, ऐसी भी कोई वात नहीं दीखती॥४२॥ क्योंकि हे सुन्दर भौंहोंवाली! आपका स्वरूप ही ऐसा है कि न कोई आप पर क्रोध कर सकता है और न निरादर। क्योंकि पिता के घर में तो आपका निरादर करने वाला कोई है नहीं और यह भी संभव नहीं है कि कोई शत्रु आपका अपमान करे। क्योंकि ऐसा कौन है, जो साँप की मणि लेने के लिए उस पर हाथ लगायेगा॥४३॥ अतएव हे गौरी! आप यह भी वतलाइए कि इस भरी जवानी में आपने सुन्दर गहने छोडकर ये बुढियों वाले वल्कल-वसन क्यों पहन रखे हैं? चढती हुई रात की सजावट खिले हुए चन्द्रमा और तारों से होती है या कि सवेरे के सूर्य की लालिमा से?॥४४॥ यदि आप स्वर्ग पाने की इच्छा से तप कर रही हों, तव तो आपका सारा परिश्रम व्यर्थ है। क्योंकि आपके पिता हिमालय का जितना राज्य है, उसी में तो सव देवता रहते हैं। यदि आप अपने योग्य पति पाने के लिए ऐसा करती हों, तव भी तपस्या व्यर्थ है। क्योंकि मणि किसी को खोजने नहीं जाता, वल्कि मणि को ही लोग खोजते हैं॥४५॥ अभी आपने जो लम्बी साँस ली, इससे मैं समझता हूँ कि आप योग्य पति पाने के लिए ही तपस्या कर रही हैं। किन्तु मेरे मन में यह वड़ा भारी सन्देह है कि आप जिसे चाहें वह आपको न मिले, यह वात कैसे संभव हो सकती है? क्योंकि मुझे तो संसार में कोई ऐसा पुरुष नहीं दीखता, जिसके पीछे आपको दौड़ना पड़े॥४६॥ वास्तव में यह बड़े आश्चर्य की वात है कि जिस युवक को आप चाहती हों, वह ऐसा हठी हो कि जो वहुत दिनों से कर्णफूल से सूने आपके गालों पर लटकी हुई इन धान के वालों जैसी पीली जटाओं को देखकर भी नहीं पिघलता॥४७॥ ऐसा कौन पुरुष होगा, जिसका जी तपस्या से अत्यन्त सूखे हुए आपके इस शरीर को देखकर दुःखी न हो, जिसके आभूषण पहनने के अङ्ग सूर्य की किरणों से झुलस गये हैं और जो दिन के चन्द्रमा के समान उदास दीख रहा है॥४८॥ मेरी समझ में तो आप जिसे प्यार करती हैं, वह अपनी सुन्दरता का झूठा घमण्डी

अवैमि सौभाग्यमदेन वञ्चितं तव प्रियं यश्चतुरावलोकिनः।
करोति लक्ष्यं चिरमस्य चक्षुषो न वक्त्रमात्मीयमरालपक्ष्मणः॥४९॥
कियच्चिरं श्राम्यसि गौरि! विद्यते ममापि पूर्वाश्रमसञ्चितं तपः।
तदर्धभागेन लभस्व काङ्क्षितं वरं तमिच्छामि च साधु वेदितुम्॥५०॥
इति प्रविश्याभिहिता द्विजन्मना मनोगतं सा न शशाक शंसितुम्।
अथो वयस्यां परिपार्श्ववर्तिनीं विवर्तितानञ्जननेत्रमैक्षत॥५१॥
सखी तदीया तमुवाच वर्णिनं निबोध साधो! तव चेत्कुतूहलम्।
यदर्थमम्भोजमिवोष्णवारणं कृतं तपःसाधनमेतया वपुः॥५२॥
इयं महेन्द्रप्रभृतीनधिश्रियश्चतुर्दिगीशानवमत्य मानिनी।
अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात् पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति॥५३॥
असह्यहुङ्कारनिवर्तितः पुरा पुरारिमप्राप्तमुखः शिलीमुखः।
इमां हृदि व्यायतपातमक्षिणोद् विशीर्णमूर्तेरपि पुष्पधन्वनः॥५४॥
तदाप्रभृत्युन्मदना पितुर्गृहे ललाटिकाचन्दनधूसरालका।
न जातु बाला लभते स्म निर्वृतिं तुषारसङ्घातशिलातलेष्वपि॥५५॥
उपात्तवर्णे चरिते पिनाकिनः सबाष्पकण्ठस्खलितैः पदैरियम्।
अनेकशः किन्नरराजकन्यका वनान्तसङ्गीतसखीररोदयत्॥५६॥
त्रिभागशेषासु निशासु च क्षणं निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत।
क्व नीलकण्ठ! व्रजसीत्यलक्ष्यवागसत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना॥५७॥

है। नहीं तो उसे यहाँ आकर अपने मुँह को आपकी कटीली भौंहों वाले सुन्दर नयनों का लक्ष्य बना देना चाहिए था॥४९॥ हे गौरी! यह तो बतलाइए कि आप कब तक यह तप करती रहेंगी? देखिए, ब्रह्मचर्य की अवस्था में मैंने बहुत-सा तप एकत्र कर रखा है। उसका आधा भाग आप ले लें और आपकी जो भी कामनाएँ हों, वह सब उनसे पूर्ण कर लीजिए। किन्तु यह तो बता ही दीजिए कि आपका प्रेमपात्र वह कौन पुरुष है?॥५०॥ उस ब्राह्मण ने इस ढंग से ये बातें कहीं कि जैसे पार्वतीजी के हृदय में पैठकर उसने सब बातें जान ली हों। उन्हें सुनकर पार्वतीजी इतनी लजा गयीं कि वे अपने मन की बात अपने मुँह से नहीं कह सकीं। अतएव उन्होंने अपने काजल लगे नेत्र पास ही बैठी हुई सखी की ओर घुमाकर बोलने के लिए संकेत कर दिया॥५१॥ पार्वतीजी की सखी ने उस ब्रह्मचारी से कहा—हे साधो! यदि आप सुनने को विशेष उत्सुक हों तो मैं बतलाती हूँ कि जैसे कोई धूप से बचने के लिए कमल का छाता लगा ले, वैसे ही इन्होंने भी अपने इस कोमल शरीर को कठोर तपस्या में क्यों लगा दिया है॥५२॥ मानिनी पार्वतीजी इन्द्र आदि बडे-बडे चारों दिक्पालों को छोड़कर उन महादेवजी से विवाह करना चाहती हैं, जो कामदेव के नष्ट हो जाने के कारण केवल रूप दिखाकर नहीं प्रसन्न किये जा सकते॥५३॥ उस समय कामदेव ने शिवजी पर जो बाण चलाया था, वह उनकी हुंकार सुनकर ही लौट पडा और उस जलकर राख बने हुए कामदेव का वह बाण मेरी सखी के हृदय में लगकर बडा घाव कर गया॥५४॥ तभी से ये अपने पिता के घर में प्रेम की पीड़ा से व्याकुल होकर इस तरह पडी रहती थीं कि माथे पर पुते हुए चन्दन से बाल भर जाने और जमे हुए बर्फ की पाटियों पर लेटे रहने पर भी इन्हें चैन नहीं मिल रही थी॥५५॥ ये जब महादेवजी के गीत गाने लगती थीं, तब इनकी संगीत की सखियाँ और वनवासिनी किन्नरी राजकुमारियाँ इनके रुँधे गले से निकले हुए शब्दों को सुन-सुनकर प्रायः रो देती थीं॥५६॥ रात के पहले ही पहर में क्षणभर के लिए आँख लगते

यदा बुधैः सर्वगतस्त्वमुच्यसे न वेत्सि भावस्थमिमं कथं जनम्।
इति स्वहस्तोल्लिखितश्च मुग्धया रहस्युपालभ्यत चन्द्रशेखरः॥५८॥
यदा च तस्याधिगमे जगत्पतेरपश्यदन्यं न विधिं विचिन्वती।
तदा सहास्माभिरनुज्ञया गुरोरियं प्रपन्ना तपसे तपोवनम्॥५९॥
द्रुमेषु सख्या कृतजन्मसु स्वयं फलं तपःसाक्षिषु दृष्टमेष्वपि।
न च प्ररोहाभिमुखोऽपि दृश्यते मनोरथोऽस्याः शशिमौलिसंश्रयः॥६०॥
न वेद्मि स प्रार्थितदुर्लभः कदा सखीभिरस्रोत्तरमीक्षितामिमाम्।
तपःकृशामभ्युपपत्स्यते सखीं वृषेव सीतां तदवग्रहक्षताम्॥६१॥
अगूढसद्भावमितीङ्गितज्ञया निवेदितो नैष्ठिकसुन्दरस्तया।
अयीदमेवं परिहास इत्युमामपृच्छदव्यञ्जितहर्षलक्षणः॥६२॥
अथाग्रहस्ते मुकुलीकृताङ्गुलौ समर्पयन्ती स्फटिकाक्षमालिकाम्।
कथञ्चिदद्रेस्तनया मिताक्षरं चिरव्यवस्थापितवागभाषत॥६३॥
यथा श्रुतं वेदविदां वर! त्वया जनोऽयमुच्चैःपदलङ्घनोत्सुकः।
तपः किलेदं तदवाप्तिसाधनं मनोरथानामगतिर्न विद्यते॥६४॥
अथाह वर्णी विदितो महेश्वरस्तदर्थिनी त्वं पुनरेव वर्त्तसे।
अमङ्गलाभ्यासरतिं विचिन्त्य तं तवानुवृत्तिं न च कर्तुमुत्सहे॥६५॥

ही विना बात के ये चौंककर यह बड़बड़ाती हुई जाग जाती थीं कि हे नीलकंठ! तुम कहाँ जा रहे हो? उसी सपने में ये अपने हाथों को इस तरह फैलाती थीं कि जैसे शिवजी के गले में हाथ डालकर उन्हें रोकने का प्रयास कर रही हों॥५७॥ कभी-कभी नींद में उठकर ये अपने हाथ से बनाये हुए शंकरजी के चित्र को ही शंकरजी समझकर उन्हें यह कहती हुई उलाहना देने लगती थीं— आपके लिए पंडित लोग तो कहते हैं कि आप घट-घट की बातें जानते हैं। फिर आप मेरे मन की लगन को क्यों नहीं जान पाते, जो आपको शुद्ध हृदय से प्यार करती है॥५८॥ उन संसार के स्वामी शिवजी को पाने का जब इन्हें कोई दूसरा उपाय नहीं सूझा तो ये अपने पिता की आज्ञा लेकर तप करने के लिए हम लोगों के साथ यहाँ इस तपोवन में चली आयीं॥५९॥ हमारी सखी को यहाँ तप करते इतने दिन बीत गये कि इनके हाथ के रोपे हुए वृक्षों ने इनके तप को खड़े-खड़े देखा है। वे भी फल गये, परन्तु महादेवजी को पाने की जो इनकी कामना थी, उसमें अभी अंकुर भी नहीं फूटे॥६०॥ तप ने इनको ऐसा सुखा दिया है कि इन्हें देखकर हमारी सखियों की आँखें भर आती हैं, तथापि ये दुर्लभ वर पाने के लिए इतने कष्ट सह रही हैं। देखें, कब वह शिव हमारी सखी पर उसी प्रकार कृपा बरसाता है, जैसे जुती भूमि होने पर भी पानी न बरसने से सूखी धरती पर इन्द्र जल बरसाते हैं॥६१॥ इस प्रकार पार्वती के मन की बात जाननेवाली उस सखी ने तपस्या का सही-सही कारण बता दिया। सो सुनकर उस ब्रह्मचारी सुन्दर पुरुष ने अपने मुख पर तनिक भी प्रसन्नता नहीं व्यक्त होने दी और पार्वतीजी से पूछा कि ये जो कह रही हैं, क्या वह सच है या मखौल कर रही हैं?॥६२॥ यह पूछने पर बहुत देर तक तो पार्वतीजी लज्जावश कुछ भी नहीं बोलीं और अपनी अँगुलियों को समेटकर स्फटिक की माला हाथ में पहन ली और बडे नपे-तुले शब्दों में वे किसी-किसी प्रकार बोलीं॥६३॥ हे वेदज्ञों में श्रेष्ठ! आपने जैसा सुना है, मेरे मन में वैसा ही ऊँचा पद पाने की लालसा जाग गयी है और यह तप भी मैं उसी को पाने के लिए कर रही हूँ। क्योंकि इच्छा कहाँ तक पहुँचती हैं, इसका कोई ठिकाना नहीं है॥६४॥ ब्रह्मचारी बोला—जिसने पहले ही आपके प्यार को ठुकरा दिया, उसे पाने के लिए क्या आपके मन में अभी भी इच्छा बनी हुई है? मैं तो जब उन अशुभ वेश धारण करने

अवस्तुनिर्बन्धपरे कथं नु ते करोऽयमामुक्तविवाहकौतुकः।
करेण शम्भोर्वलयीकृताहिना सहिष्यते तत्प्रथमावलम्बनम्॥ ६६॥
त्वमेव तावत्परिचिन्तय स्वयं कदाचिदेते यदि योगमर्हतः।
वधूदुकूलं कलहंसलक्षणं गजाजिनं शोणितबिन्दुवर्षि च॥ ६७॥
चतुष्कपुष्पप्रकरावकीर्णयोः परोऽपि को नाम तवानुमन्यते।
अलक्तकाङ्कानि पदानि पादयोर्विकीर्णकेशासु परेतभूमिषु॥ ६८॥
अयुक्तरूपं किमतः परं वद त्रिनेत्रवक्षः सुलभं तवापि यत्।
स्तनद्वयेऽस्मिन् हरिचन्दनास्पदे पदं चिताभस्मरजः करिष्यति॥ ६९॥
इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना यदूढया वारणराजहार्यया।
विलोक्य वृद्धोक्षमधिष्ठितं त्वया महाजनः स्मेरमुखो भविष्यति॥ ७०॥
द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया पिनाकिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥ ७१॥
वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि! मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने॥ ७२॥
निवर्तयास्मादसदीप्सितान्मनः क्व तद्विधस्त्वं क्व च पुण्यलक्षणा।
अपेक्ष्यते साधुजनेन वैदिकी श्मशानशूलस्य न यूपसत्क्रिया॥ ७३॥
इति द्विजातौ प्रतिकूलवादिनि प्रवेपमानाधरलक्ष्यकोपया।
विकुञ्चितभ्रूलतमाहिते तया विलोचने तिर्यगुपान्तलोहिते॥ ७४॥

वाले शिवजी का विचार करता हूँ, तब मेरा मन नहीं करता कि आपको ऐसा करने की सम्मति दूँ॥ ६५॥ हे पार्वतीजी! आप भी किस योग्य से प्रेम करने चली हैं। तनिक सोचिए तो, पाणि-ग्रहण के समय विवाह के मंगलसूत्र से सजा हुआ आपका हाथ शंकरजी के साँप लिपटे हुए हाथ को पहली बार कैसे छू सकेगा?॥ ६६॥ आप सोचें तो सही, कहाँ तो हंसपंक्ति छपी हुई चुँदरी ओढे हुए आप और कहाँ रक्त की बूँदे टपकाती हुई महादेवजी के कन्धे पर पड़ी हुई हाथी की खाल! भला इन दोनों का मेल कैसे बैठेगा?॥ ६७॥ अब तक आप फूल बिछी फर्श पर चलती थीं। अब अपने महावर से रँगे पैरों को उस श्मशान की भूमि पर कैसे रखेंगी, जहाँ इधर-उधर मुर्दो के बाल बिखरे पड़े रहेंगे। यह बात तो आपका शत्रु भी आपके लिए नहीं चाह सकेगा॥ ६८॥ और कदाचित् शिवजी आपको मिलें भी तो इससे बढ़कर अनर्थ और क्या होगा कि आपके जिन स्तनों पर हरिचन्दन लगाया जाता है, उन पर चिता की भस्म लपेटी जाय॥ ६९॥ और फिर सबसे हँसी की बात तो तब होगी, जब हाथी पर चढ़ने योग्य आप उनके बूढे बैल पर चढकर अपनी ससुराल चलेंगी और नगर के भलेमानुस आपको देखकर ठठोली करेंगे॥ ७०॥ मेरी समझ में तो शिवजी को पाने के फेर में इन दोनों के भाग्य फूट गये। एक तो चन्द्रमा की उस कला के, जो उनके माथे पर रहती है। दूसरे आपके, जो समस्त संसार के नेत्रों को आनन्द देती हैं॥ ७१॥ और फिर उनके तीन-तीन आँखें हैं, उनके जन्म का कोई ठिकाना नहीं है, सदा नंगे रहने से ही आप समझ सकती हैं कि उनके घर में क्या सम्पत्ति होगी। अतएव हे मृग के छौने सरीखी आँखोंवाली पार्वतीजी! वरों में जो गुण खोजे जाते हैं, उनमें से कोई एक भी तो महादेवजी में नहीं है॥ ७२॥ इस कारण आप अपने मन से यह तुच्छ इच्छा हटा ही दीजिए। कहाँ महादेव और कहाँ सुन्दर लक्षणों से युक्त आप। श्मशान में शूली देने के लिए जो खंभा गड़ा रहता है, उससे भले लोग यज्ञ के खंभे का काम नहीं लेते, वैसे ही उन महादेवजी को पति बनाना भी आपके लिए उचित नहीं है॥ ७३॥ उस ब्राह्मण की ऐसी अटपटी बातें सुनकर कोप से पार्वतीजी के ओठ काँपने

उवाच चैनं परमार्थतो हरं न वेत्सि नूनं यत एवमात्थ माम्।
अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम्॥ ७५॥
विपत्प्रतीकारपरेण मङ्गलं निषेव्यते भूतिसमुत्सुकेन वा।
जगच्छरण्यस्य निराशिषः सतः किमेभिराशोपहतात्मवृत्तिभिः॥ ७६॥
अकिञ्चनः सन् प्रभवः स सम्पदां त्रिलोकनाथः पितृसद्मगोचरः।
स भीमरूपः शिव इत्युदीर्यते न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः॥ ७७॥
विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा गजाजिनालम्बि दुकूलधारि वा।
कपालि वा स्यादथवेन्दुशेखरं न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः॥ ७८॥
तदङ्गसंसर्गमवाप्य कल्पते ध्रुवं चिताभस्म रजोविशुद्धये।
तथाहि नृत्याभिनयक्रियाच्युतं विलिप्यते मौलिभिरम्बरौकसाम्॥ ७९॥
असम्पदस्तस्य वृषेण गच्छतः प्रभिन्नदिग्वारणवाहनो वृषा।
करोति पादावुपगम्य मौलिना विनिद्रमन्दाररजोरुणाङ्गुली॥ ८०॥
विवक्षता दोषमपि च्युतात्मना त्वयैकमीशं प्रति साधु भाषितम्।
यमामनन्त्यात्मभुवोऽपि कारणं कथं स लक्ष्यप्रभवो भविष्यति॥ ८१॥
अलं विवादेन यथा श्रुतस्त्वया तथाविधस्तावदशेषमस्तु सः।
ममात्र भावैकरसं मनः स्थितं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते॥ ८२॥

लगे, उनकी आँखें लाल हो गयीं और भौंहें तानकर उस ब्रह्मचारी की ओर आँखें तरेरकर उन्होंने देखा॥ ७४॥ वे फिर बोलीं—तब तो तुम महादेवजी को अच्छी तरह जानते ही नहीं हो, तभी मुझसे ऐसा कहते हो। जो लोग बुरे होते हैं, वे ही उन महात्माओं के अनोखे कामों को बुरा-भला कहते हैं, जिनमें पहचानने की योग्यता का अभाव रहता है॥ ७५॥ जो लोग गन्ध आदि मंगलमय वस्तुएँ काम में लाते हैं, उसका एकमात्र कारण यह होता है कि वे या तो अमंगल दूर करने को अथवा अपनी तड़क-भड़क दिखलाने के लिए ऐसा करते हैं। परन्तु जो तीनों लोकों की रक्षा करते हैं और जिनके मन में कोई इच्छा नहीं रहती, वे शंकरजी इन वस्तुओं को लेकर क्या करेंगे?॥ ७६॥ अपने पास कुछ न होते हुए भी सारी सम्पत्तियाँ उन्हीं से उत्पन्न होती हैं। श्मशान में रहते हुए भी शंकरजी तीनों लोकों के स्वामी हैं और डरावने दिखलायी देने पर भी वे सबके कल्याणकारी कहलाते हैं। अतएव उनका सच्चा स्वरूप संसार में कोई नहीं समझ सकता॥ ७७॥ इस संसार में जितने रूप दिखलायी देते हैं, वे सब उन्हीं के हैं। तब उनका शरीर गहनों से सजा हो या साँपों से लिपटा हो, हाथी की खाल लटकाये हुए हो अथवा वस्त्र ओढे हो, गले में खोपडियों की माला पहने हो या माथे पर चन्द्रमा सजाये हुए हो, उस पर यह विचार नहीं किया जाता कि वह कैसा है और कैसा नहीं है॥ ७८॥ उनके शरीर पर लगकर चिता की राख भी पवित्र हो जाती है। इसी से तो जब वे तांडव नृत्य करने लगते हैं, तब उनके शरीर से झड़ी हुई भस्म को देवता लोग तक बड़ी श्रद्धा से माथे पर लगाते हैं॥ ७९॥ जिनको तुम दरिद्र कहते हो वे ही जब अपने बैल पर चढकर चलते हैं, तब मतवाले ऐरावत पर चढकर चलनेवाला इन्द्र भी आकर उनके पैरों पर मस्तक झुकाता है और फूले हुए कल्पवृक्ष के पराग से उनके पैरों की उँगलियाँ रंगता है॥ ८०॥ अपने दुष्ट स्वभाववश कहते-कहते तुमने कम से कम एक बात तो उनके विषय में ठीक कह ही दी कि जो ब्रह्म तक का स्रष्टा कहा जाता है, उस ईश्वर के जन्म और कुल को भला कोई जान ही कैसे सकेगा॥ ८१॥ अब यह झगड़ा समाप्त कीजिये। आपने उन्हें जैसा सुना वे वैसे ही सही, परन्तु मेरा मन तो उन्हीं में रमा हुआ है। जब किसी का मन किसी

निवार्यतामालि! किमप्ययं बटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः।
न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्॥८३॥
इतो गमिष्याम्यथवेति वादिनी चचाल बाला स्तनभिन्नवल्कला।
स्वरूपमास्थाय च तां कृतस्मितः समाललम्बे वृषराजकेतनः॥८४॥
तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिर्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ॥८५॥
अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि! तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ।
अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते॥८६॥

इति महाकविकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये
तपःफलोदयो नाम पञ्चमः सर्गः॥५॥

में रम जाता है, तब वह किसी के कहने-सुनने पर ध्यान नहीं देता॥८२॥ तभी पार्वती ने देखा कि ब्रह्मचारी कुछ और कहना चाहता है। तब वे अपनी सखी से बोलीं—सखी! इस ब्रह्मचारी के ओठ फड़क रहे हैं। यह फिर कुछ कहना चाहता है। इससे तुम कह दो कि अब एक शब्द भी न बोले। क्योंकि जो बड़ों की निन्दा करता है, केवल वही पाप का भागी नहीं होता। बल्कि जो सुनता है, उसे भी पाप लगता है॥८३॥ अथवा मैं ही यहाँ से उठकर चली जाती हूँ। यह कहकर वे उठ खड़ी हुईं। इस जल्दबाजी में उनके स्तन पर पड़ा हुआ वल्कल-वसन फट गया और ज्यों ही उन्होंने चलने के लिए पैर आगे बढाया, त्यों ही अपना सच्चा रूप धारण करके मुस्कुराते हुए महादेवजी ने उनका हाथ पकड़ लिया॥८४॥ सहसा महादेवजी को समक्ष देखकर पार्वतीजी का शरीर काँप उठा। वे पसीने-पसीने हो गयीं और आगे चलने को उद्यत अपना पैर उन्होंने रोक लिया। जैसे धारा के बीच में पहाड़ पड़ जाने से नदी न आगे बढ पाती है, न पीछे हट पाती है। उसी प्रकार हिमालय की कन्या पार्वतीजी भी न तो आगे ही बढ़ीं और न खडी ही रह सकीं॥८५॥ शिवजी ने कहा—'हे कोमल शरीरवाली! आज से तुम मुझको तप से खरीदा हुआ अपना दास समझो'। यह सुनते ही अब तक तपस्या से पार्वतीजी को जितना कष्ट हुआ था, वह सब दूर हो गया। क्योंकि जब काम बन जाता है, तब उसके लिए किया हुआ कष्ट दुःख नहीं देता॥८६॥

इस प्रकार महाकविकालिदासरचित कुमारसम्भवमहाकाव्य में
तप का फलोदय नामक पाँचवाँ सर्ग समाप्त॥५॥

षष्ठः सर्गः

अथ विश्वात्मने गौरी सन्दिदेश मिथः सखीम्। दाता मे भूभृतां नाथः प्रमाणीक्रियतामिति॥ १॥
तया व्याहृतसन्देशा सा बभौ निभृता प्रिये। चूतयष्टिरिवाभ्याशे मधौ परभृतोन्मुखी॥ २॥
स तथेति प्रतिज्ञाय विसृज्य कथमप्युमाम्। ऋषीञ्ज्योतिर्मयान्सप्त सस्मार स्मरशासनः॥ ३॥
ते प्रभामण्डलैर्व्योम द्योतयन्तस्तपोधनाः। सारुन्धतीकाः सपदि प्रादुरासन्पुरः प्रभोः॥ ४॥
आप्लुतास्तीरमन्दारकुसुमोत्करवीचिषु। व्योमगङ्गाप्रवाहेषु दिङ्नागमदगन्धिषु॥ ५॥
मुक्तायज्ञोपवीतानि बिभ्रतो हैमवल्कलाः। रत्नाक्षसूत्राः प्रव्रज्यां कल्पवृक्षा इवाश्रिताः॥ ६॥
अधःप्रस्थापिताश्वेन समावर्जितकेतुना। सहस्ररश्मिना साक्षात्सप्रणाममुदीक्षिताः॥ ७॥
आसक्तबाहुलतया सार्धमुद्धृतया भुवा। महावराहदंष्ट्रायां विश्रान्ताः प्रलयापदि॥ ८॥
सर्गशेषप्रणयनाद् विश्वयोनेरनन्तरम्। पुरातनाः पुराविद्भिर्धातार इति कीर्तिताः॥ ९॥
प्राक्तनानां विशुद्धानां परिपाकमुपेयुषाम्। तपसामुपभुञ्जानाः फलान्यपि तपस्विनः॥ १०॥
तेषां मध्यगता साध्वी पत्युः पादार्पितेक्षणा। साक्षादिव तपःसिद्धिर्बभासे बह्वरुन्धती॥ ११॥
तामगौरवभेदेन मुनींश्चापश्यदीश्वरः। स्त्रीपुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम्॥ १२॥

इसके बाद पार्वतीजी ने घट-घटवासी शंकरजी के प्रति अपनी सखी के मुँह से कहलाया कि 'मेरा विवाह करने वाले मेरे पिता हिमालय हैं। अतएव यदि आप मुझसे विवाह करना चाहते हों तो उन्हीं से मिलिए'॥ १॥ प्रियतम के प्रेम में पगी हुई पार्वतीजी सखी के मुँह से महादेवजी को यह सन्देश कहलाती हुई वैसी ही सुशोभित हुई, जैसे कोयल की बोली में वसन्त के पास अपना सन्देश भेजती हुई आम की डाल शोभित होती हो॥ २॥ कामरिपु महादेवजी बोले—'अच्छी बात है' और किसी-किसी तरह पार्वतीजी को घर जाने की आज्ञा दी। पार्वतीजी के चली जाने पर उन्होंने तुरन्त परम तेजस्वी सप्त ऋषियों का स्मरण किया॥ ३॥ उनके स्मरण करते ही अपने तेजोमंडल से आकाश को जगमगाते हुए अरुन्धती के साथ वे सातों ऋषि तत्काल शंकरजी के आगे आकर खड़े हो गये॥४॥ उन्होंने उस आकाशगंगा में स्नान कर रखा था, जो अपने तीर पर गिरे हुए कल्पवृक्ष के फूलों को अपनी लहरों पर उछालती चलती है और जिसके जल में दिग्गजों के मद की सुगन्धि भरी रहती है॥५॥ उनके कन्धों पर मोती के बने यज्ञोपवीत लटके हुए थे। पीठ पर स्वर्णवल्कल पड़े हुए थे। वे अपने हाथों में रत्नों की माला लिये थे। इस वेश में वे ऐसे दीखते थे, मानों अनेक कल्पवृक्षों ने संन्यास ले लिया हो॥ ६॥ उनके नीचे से जाते हुए सूर्य ने अपने घोड़े रोके और झंडी उतारकर बड़ी नम्रतापूर्वक उन्हें आँख उठाकर प्रणाम करते हुए देखा॥७॥ वे प्रलयकाल में वराह भगवान् के जबड़ों से उबारी हुई पृथ्वी के साथ-साथ फिर उन्हीं जबड़ों में विश्राम करते हैं॥८॥ उनके विषय में लोग कहते हैं कि ब्रह्मा के सृष्टि कर चुकने पर बाद में इन्हीं ऋषियों ने संसार की सृष्टि की थी। इसीलिए उन्हें पुराने लोग विधाता भी कहते हैं॥ ९॥ अपने पूर्वजन्म की तपस्या का फल भोगते रहने पर भी वे अब तक निरन्तर तप करते चले जा रहे हैं॥ १०॥ उनके बीच में विद्यमान तथा अपने पति वसिष्ठजी के चरणों की ओर निहारती हुई सती अरुन्धती ऐसी दीख रही थी, जैसे साक्षात् तप की सिद्धि ही आ उपस्थित हुई हो॥ ११॥ भगवान् शंकर ने अरुन्धतीजी और ऋषियों को बिना स्त्री-पुरुष का भेद-भाव किये समान भाव से देखा। क्योंकि सज्जन लोगों को व्यवहार करते समय यह नहीं देखा जाता कि कौन पुरुष है और कौन स्त्री, बल्कि यह देखा जाता है कि किसका चरित्र कैसा है॥ १२॥ जब शिवजी ने अरुन्धतीजी

तद्दर्शनादभूच्छम्भोर्भूयान्दारार्थमादरः । क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम् ॥ १३ ॥
धर्मेणापि पदं शर्वे कारिते पार्वतीं प्रति । पूर्वापराधभीतस्य कामस्योच्छ्वसितं मनः ॥ १४ ॥
अथ ते मुनयः सर्वे मानयित्वा जगद्गुरुम् । इदमूचुरनूचानाः प्रीतिकण्टकितत्वचः ॥ १५ ॥
यद्ब्रह्म सम्यगाम्नातं यदग्नौ विधिना हुतम् । यच्च तप्तं तपस्तस्य विपक्वं फलमद्य नः ॥ १६ ॥
यदध्यक्षेण जगतां वयमारोपितास्त्वया । मनोरथस्याविषयं मनोविषयमात्मनः ॥ १७ ॥
यस्य चेतसि वर्तेथाः स तावत्कृतिनां वरः । किं पुनर्ब्रह्मयोनेर्यस्तव चेतसि वर्तते ॥ १८ ॥
सत्यमर्काच्च सोमाच्च परमध्यास्महे पदम् । अद्य तूच्चैस्तरं ताभ्यां स्मरणानुग्रहात्तव ॥ १९ ॥
त्वत्सम्भावितमात्मानं बहु मन्यामहे वयम् । प्रायः प्रत्ययमाधत्ते स्वगुणेषूत्तमादरः ॥ २० ॥
या नः प्रीतिर्विरूपाक्ष ! त्वदनुध्यानसम्भवा । सा किमावेद्यते तुभ्यमन्तरात्मासि देहिनाम् ॥ २१ ॥
साक्षाद्दृष्टोऽसि न पुनर्विद्मस्त्वां वयमञ्जसा । प्रसीद कथयात्मानं न धियां पथि वर्त्तसे ॥ २२ ॥
किं येन सृजसि व्यक्तमुत येन बिभर्षि तत् । अथ विश्वस्य संहर्ता भागः कतम एष ते ॥ २३ ॥
अथवा सुमहत्येषा प्रार्थना देव ! तिष्ठतु । चिन्तितोपस्थितांस्तावच्छाधि नः करवाम किम् ॥
अथ मौलिगतस्येन्दोर्विशदैर्दशनांशुभिः । उपचिन्वन् प्रभां तन्वीं प्रत्याह परमेश्वरः ॥ २५ ॥
विदितं वो यथा स्वार्था न मे काश्चित्प्रवृत्तयः । ननु मूर्तिभिरष्टाभिरित्थम्भूतोऽस्मि सूचितः ॥

को देखा, तब उनके मन में यह बात और भी पक्के तौर से जम गयी कि बिना पतिव्रता पत्नी से विवाह किये धार्मिक क्रियाएँ पूर्ण नहीं हो पातीं ॥ १३ ॥ शंकरजी के मन में पार्वतीजी से धर्म-विवाह करने की इच्छा जागती देखकर उस कामदेव के मन में भी कुछ-कुछ ढाढ़स होने लगा, जो अब तक अपने एक बार के किये हुए अपराध से भयभीत था ॥ १४ ॥ तब वेद-वेदान्त के ज्ञाता और प्रेम से पुलकित शरीर वाले सप्तऋषियों ने जगद्गुरु शंकरजी का सम्मान करके कहा कि भली प्रकार वेद पढ़ने का, विधिपूर्वक हवन करने का और तप करने का जो कुछ भी फल हो सकता है, वह सब हमें आज मिल गया ॥ १५-१६ ॥ क्योंकि आपके जिस मन तक किसी की इच्छाएँ भी नहीं पहुँच सकतीं, उसी मन के द्वारा संसार के स्वामी होते हुए भी आपने हमें स्मरण किया है ॥ १७ ॥ वैसे तो आप जिसके मन में बसते हैं, वही सबसे पुण्यात्मा है। फिर जो आपके चित्त में जाकर बसे तो उसका क्या कहना ॥ १८ ॥ यद्यपि हम यों ही सूर्य और चन्द्रमा दोनों से ऊपर रहते हैं, परन्तु आज स्मरण करके आपने हमें उनसे और भी ऊँचे उठा दिया है ॥ १९ ॥ आपसे यह आदर पाकर हम अपने मन में फूले नहीं समाते। क्योंकि अपने गुणों पर लोगों को तभी पूरा विश्वास होता है, जब बड़े लोग उनके गुणों का आदर करते हैं ॥ २० ॥ हे शिवजी! इस प्रकार स्मरण करने से हमारे मन में आपके प्रति जो प्रेम उत्पन्न हुआ है, उसे हम अपने मुँह से कैसे कहें। क्योंकि आप तो घट-घट की बात जानते हैं ॥ २१ ॥ हे देव ! यद्यपि हम आपको अपने समक्ष खड़ा देख रहे हैं, फिर भी हम आपका भेद ठीक-ठीक जान नहीं पाते। अतएव आप कृपा करके अपना स्वरूप तो बतलाइये। क्योंकि हमारी बुद्धि आप तक पहुँच नहीं पा रही है ॥ २२ ॥ आपकी जो मूर्ति हम देख रहे हैं, क्या यह वही है, जिससे आप सृष्टि अथवा पालन अथवा जिससे संसार का संहार करते हैं ॥ २३ ॥ अथवा हे देव! यह तो बड़ी लम्बी कथा है। इसे रहने दीजिए और पहले यह बतलाइए कि आपने हमें इस समय किस लिए स्मरण किया है। कहिए कि हमें क्या करना है ॥ २४ ॥ तब अपनी मन्द हँसी तथा चमकते हुए दाँत की दमक से सिर पर बैठे हुए बालचन्द्रमा की मन्द चमक को बढ़ाते हुए महादेवजी ने सप्तऋषियों से कहा—॥ २५ ॥ हे मुनियो! आप लोग यह तो जानते ही हैं कि हम अपने लिए कुछ नहीं करते। हमारी आठों मूर्तियाँ —(पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र और होता) इस बात की साक्षी हैं ॥ २६ ॥ सो जैसे प्यासे चातक बादलों से जल की बूँदें

सोऽहं तृष्णातुरैर्वृष्टिं विद्युत्वानिव चातकैः । अरिविप्रकृतैर्देवैः प्रसूतिं प्रतियाचितः ॥ २७॥
अत आहर्तुमिच्छामि पार्वतीमात्मजन्मने । उत्पत्तये हविर्भोक्तुर्यजमान इवारणिम्॥ २८॥
तामस्मदर्थे युष्माभिर्याचितव्यो हिमालयः । विक्रियायै न कल्पन्ते सम्बन्धाः सदनुष्ठिताः ॥ २९॥
उन्नतेन स्थितिमता धुरमुद्वहता भुवः । तेन योजितसम्बन्धं वित्त मामप्यवञ्चितम्॥ ३०॥
एवं वाच्यः स कन्यार्थमिति वो नोपदिश्यते । भवत्प्रणीतमाचारमामनन्ति हि साधवः ॥ ३१॥
आर्याप्यरुन्धती तत्र व्यापारं कर्तुमर्हति । प्रायेणैवंविधे कार्ये पुरन्ध्रीणां प्रगल्भता॥ ३२॥
तत्प्रयातौषधिप्रस्थं सिद्धये हिमवत्पुरम् । महाकोशीप्रपातेऽस्मिन्सङ्गमः पुनरेव नः ॥ ३३॥
तस्मिन्संयमिनामाद्ये जाते परिणयोन्मुखे । जहुः परिग्रहव्रीडां प्राजापत्यास्तपस्विनः ॥ ३४॥
ततः परममित्युक्त्वा प्रतस्थे मुनिमण्डलम् । भगवानपि सम्प्राप्तः प्रथमोद्दिष्टमास्पदम्॥ ३५॥
ते चाकाशमसिश्याममुत्पत्य परमर्षयः । आसेदुरोषधिप्रस्थं मनसा समरंहसः ॥ ३६॥
अलकामतिवाह्येव वसतिं वसुसम्पदाम् । स्वर्गाभिष्यन्दवमनं कृत्वेवोपनिवेशितम्॥ ३७॥
गङ्गास्रोतःपरिक्षिप्तं वप्रान्तर्ज्वलितौषधि । बृहन्मणिशिलासालं गुप्तावपि मनोहरम्॥ ३८॥
जितसिंहभया नागा यत्राश्वा बिलयोनयः । यक्षाः किम्पुरुषाः पौरा योषितो वनदेवताः ॥ ३९॥
शिखरासक्तमेघानां व्यज्यन्ते यत्र वेश्मनाम् । अनुगर्जितसन्दिग्धाः करणैर्मुरजस्वनाः ॥ ४०॥

माँगते हैं, वैसे ही शत्रुओं से सताये हुए देवता मुझसे पुत्र उत्पन्न कराना चाहते हैं॥ २७॥ अतएव पुत्र उत्पन्न करने की इच्छा से मैं पार्वतीजी को उसी प्रकार व्याह लाना चाहता हूँ, जैसे अग्नि उत्पन्न करने के लिए यजमान अरणि लाता है॥ २८॥ अतः आप लोग मेरी ओर से जाकर हिमालय से पार्वतीजी को माँगिए। क्योंकि भले लोग बीच में पड़कर जो सम्बन्ध करा देते हैं, उसमें फिर कभी कोई बाधा नहीं आती॥ २९॥ और फिर ऐसी ऊँची स्थिति वाले और पृथ्वीभारधारी हिमालय से सम्बन्ध करके मैं भी अपने को धन्य मानूँगा॥ ३०॥ आप लोगों को यह समझाना तो व्यर्थ है कि कन्या को माँगने के लिए ऐसे कहियेगा। क्योंकि ऐसी शिष्टाचार की जो बातें दूसरे पण्डित लोग काम में लाते हैं, उन्हें आप ही लोगों ने बनायी है॥ ३१॥ आर्या अरुन्धती भी इस कार्य में सहायक हो सकती हैं। क्योंकि इन बातों में स्त्रियाँ अधिक चतुर होती हैं॥ ३२॥ सो अब आप लोग कार्यसिद्धि के लिए हिमालय के ओषधिप्रस्थ नगर को जाइए और वहाँ से लौटने पर महाकोशी नदी के झरने पर आकर मुझसे मिलिएगा॥ ३३॥ सप्तऋषियों ने जब देखा कि संयमियों में श्रेष्ठ महादेवजी ही विवाह के लिए इतने उतावले हैं, तब उन प्राजापत्य तपस्वियों के मन में विवाह की बातों से जो झिझक थी, वह लुप्त हो गयी॥ ३४॥ तब वे सप्तऋषि 'तथास्तु' कहकर चल पड़े और भगवान् शंकरजी भी वहाँ जा पहुँचे, जहाँ ऋषियों से मिलने को कहा था॥ ३५॥ मन के समान द्रुतगामी वे परम ऋषि कृपाण के सदृश नीले आकाश में उड़ते हुए शीघ्र ओषधिप्रस्थ नगर में जा पहुँचे॥ ३६॥ वह नगर ऐसा सम्पन्न था कि मानो उसने धन-सम्पत्ति से भरी हुई अलकापुरी को भी नीचा दिखा दिया हो। ऐसा लगता था कि मानो स्वर्ग का बढा हुआ सब धन लाकर उसमें ही भर दिया गया था॥ ३७॥ उस नगर के चारों ओर गंगाजी की धारा बहती थी, चमकीली जड़ी-बूटियाँ प्रकाश करती थीं और मणियों के ऊँचे-ऊँचे परकोटों में छिपे रहने पर भी वह नगर बड़ा सुन्दर लग रहा था॥ ३८॥ वहाँ के हाथी सिंह को भी पछाड़ सकते थे। सभी घोड़े बिल जाति के थे। वहाँ के नागरिक यक्ष अथवा किन्नर थे और सब स्त्रियाँ वनदेवियाँ थीं॥ ३९॥ उस नगर के घरों पर सदा बादल छाये रहते थे। अतएव जब उन घरों में मृदङ्ग बजता था, तब लोगों को पहले यह भ्रम हो जाता था कि यह बादलों का गर्जन है। किन्तु उनकी ताल से समझ जाते थे कि ये बादल नहीं गरजते, बल्कि मृदङ्ग बज रहे हैं॥ ४०॥ कल्पवृक्ष की चपल शाखाएँ ही उस नगर

यत्र कल्पद्रुमैरेव विलोलविटपांशुकैः । गृहयन्त्रपताकाश्रीरपौरादरनिर्मिता ॥४१॥
यत्र स्फटिकहर्म्येषु नक्तमापानभूमिषु । ज्योतिषां प्रतिबिम्बानि प्राप्नुवन्त्युपहारताम् ॥४२॥
यत्रौषधिप्रकाशेन नक्तं दर्शितसञ्चराः । अनभिज्ञास्तमिस्राणां दुर्दिनेष्वभिसारिकाः ॥४३॥
यौवनान्तं वयो यस्मिन्नान्तकः कुसुमायुधात् । रतिखेदसमुत्पन्ना निद्रा संज्ञाविपर्ययः ॥४४॥
भ्रूभेदिभिः सकम्पोष्ठैर्ललिताङ्गुलितर्जनैः । यत्र कोपैः कृताः स्त्रीणामाप्रसादार्थिनः प्रियाः ॥
सन्तानकतरुच्छायासुप्तविद्याधराध्वगम् । यस्य चोपवनं बाह्यं गन्धवद्गन्धमादनम् ॥४६॥
अथ ते मुनयो दिव्याः प्रेक्ष्य हैमवतं पुरम् । स्वर्गाभिसन्धिसुकृतं वञ्चनामिव मेनिरे ॥४७॥
ते सद्मनि गिरेर्वेगादुन्मुखद्वाःस्थवीक्षिताः । अवतेरुर्जटाभारैर्लिखितानलनिश्चलैः ॥४८॥
गगनादवतीर्णा सा यथावृद्धपुरःसरा । तोयान्तर्भास्करालीव रेजे मुनिपरम्परा ॥४९॥
तानर्घ्यानर्घ्यमादाय दूरात्प्रत्युद्ययौ गिरिः । नमयन् सारगुरुभिः पादन्यासैर्वसुन्धराम् ॥५०॥
धातुताम्राधरः प्रांशुर्देवदारुबृहद्भुजः । प्रकृत्यैव शिलोरस्कः सुव्यक्तो हिमवानिति ॥५१॥
विधिप्रयुक्तसत्कारैः स्वयं मार्गस्य दर्शकः । स तैराक्रमयामास शुद्धान्तं शुद्धकर्मभिः ॥५२॥
तत्र वेत्रासनासीनान् कृतासनपरिग्रहः । इत्युवाचेश्वरान् वाचं प्राञ्जलिर्भूधरेश्वरः ॥५३॥
अपमेघोदयं वर्षमदृष्टकुसुमं फलम् । अतर्कितोपपन्नं वो दर्शनं प्रतिभाति मे ॥५४॥

की पताकाएँ थीं। यद्यपि उन्हें किसी नागरिक ने नहीं बनाया था, फिर भी वे ऐसी दीखती थीं मानों घरों पर डंडे खडे करके वे उनमें बाँध दी गयी हों॥४१॥ स्फटिक के भवनों में सजे मदिरालय पर रात को जब तारों की छाया पड़ती थी तो ऐसा लगता था कि मानो किसी ने फूल बिखेर दिये हों॥४२॥ बरसात के दिनों में रात को चमकने वाली जडी-बूटियाँ ऐसा प्रकाश करती थीं की वहाँ की अभिसारिकाओं को बरसात की अँधियारी में भी अँधेरा नहीं लगता था॥४३॥ वहाँ के लोग सदा जवान रहते थे, कामदेव को छोडकर और कोई किसी को मारता नहीं था। संभोग की थकावट से लोगों को जो नींद आती थी, वही वहाँ की मूर्च्छा मानी जाती थी॥४४॥ वहाँ कोई किसी को डाँटता-डपटता नहीं था, परन्तु वहाँ की स्त्रियाँ अलबत्ते भौंहें चढा-चढा, ओठ कँपा-कँपा और सुन्दर उँगलियाँ चमका-चमकाकर अपने प्रेमियों को तब तक अवश्य डाँटती थीं, जब तक उनके प्रेमी उन्हें मना नहीं लेते थे॥४५॥ वह गन्धमादन नामक सुगन्धित पर्वत ही उस नगर का बाहरी उपवन था, जिसके कल्पवृक्षों की छाया में पथिक विद्याधर लोग चलते-चलते थककर सो जाया करते थे॥४६॥ हिमालय की राजधानी देखकर उन दिव्य मुनियों ने सोचा कि स्वर्ग के लिए इतनी तपस्या करके हम लोग व्यर्थ ठगा गये॥४७॥ चित्र में लिखित आग की निश्चल लपटों सदृश जटाओं वाले वे मुनि बडे वेग से जब हिमालय के भवन पर उतरे, तब हिमालय के द्वाररक्षक ऊपर मुँह उठा-उठाकर उन्हें साश्चर्य से देखने लगे॥४८॥ आकाश से उतरते हुए वे मुनि ऐसे सुन्दर दीख रहे थे, जैसे जल में पडे हुए सूर्य के अनेक प्रतिबिम्ब हों॥४९॥ दूर से ही उन पूज्य मुनियों को देख हाथ में अर्घ्य-पाद्य लेकर उनकी पूजा करने के लिए जब हिमालय अपने ठोस और बोझिल पैर बढ़ाता हुआ चला तो उसके पैरों की धमक से पृथ्वी भी झुक चली॥५०॥ मुनियों ने उसे देखते ही पहचान लिया कि यह गेरू आदि धातुओं की लाल चट्टानों के ओठों, देवदारु के बड़े-बड़े वृक्षों की भुजाओं और स्वभावतः पत्थर की शिलाओं युक्त चौडी छाती वाला हिमालय ही आ रहा है॥५१॥ बड़ी विधि के साथ पूजा करके हिमालय उन सत्कर्म करने वाले ऋषियों को मार्ग दिखलाता हुआ अपने साथ अन्तःपुर में ले गया॥५२॥ वहाँ गिरिराज हिमालय ने ऋषियों को बेंत के आसनों पर बैठा दिया। तब स्वयं भी बैठ तथा हाथ जोडकर कहा—॥५३॥ इस प्रकार अचानक आपका आगमन ऐसा लग रहा है, जैसे बिना बादलों के वर्षा हो जाय अथवा बिना फूल के आये ही

मूढं बुद्धमिवात्मानं हेमीभूतमिवायसम् । भूमेर्दिवमिवारूढं मन्ये भवदनुग्रहात्॥५५॥
अद्यप्रभृति भूतानामधिगम्योऽस्मि शुद्धये । यदध्यासितमर्हद्भिस्तद्धि तीर्थं प्रचक्षते॥५६॥
अवैमि पूतमात्मानं द्वयेनैव द्विजोत्तमाः । मूर्ध्नि गङ्गाप्रपातेन धौतपादाम्भसा च वः॥५७॥
जङ्गमं प्रैष्यभावे वः स्थावरं चरणाङ्कितम् । विभक्तानुग्रहं मन्ये द्विरूपमपि मे वपुः॥५८॥
भवत्सम्भावनोत्थाय परितोषाय मूर्च्छते । अपि व्याप्तदिगन्तानि नाङ्गानि प्रभवन्ति मे॥५९॥
न केवलं दरीसंस्थं भास्वतां दर्शनेन वः । अन्तर्गतमपास्तं मे रजसोऽपि परं तमः॥६०॥
कर्तव्यं वो न पश्यामि स्याच्चेत्किं नोपपद्यते । मन्ये मत्पावनायैव प्रस्थानं भवतामिह॥६१॥
तथापि तावत्कस्मिंश्चिदाज्ञां मे दातुमर्हथ । विनियोगप्रसादा हि किङ्कराः प्रभविष्णुषु॥६२॥
एते वयममी दाराः कन्येयं कुलजीवितम् । ब्रूत येनात्र वः कार्यमनास्था बाह्यवस्तुषु॥६३॥
इत्यूचिवांस्तमेवार्थं गुहामुखविसर्पिणा । द्विरिव प्रतिशब्देन व्याजहार हिमालयः॥६४॥
अथाङ्गिरसमग्रण्यमुदाहरणवस्तुषु । ऋषयो नोदयामासुः प्रत्युवाच स भूधरम्॥६५॥
उपपन्नमिदं सर्वमतः परमपि त्वयि । मनसः शिखराणां च सदृशी ते समुन्नतिः॥६६॥
स्थाने त्वां स्थावरात्मानं विष्णुमाहुस्तथा हि ते । चराचराणां भूतानां कुक्षिराधारतां गतः॥६७॥

वृक्षों में फल आ जायँ॥५४॥ आपकी इस कृपा से मैं आज अपने को ऐसा समझ रहा हूँ कि मानो मुझ मूर्ख को ज्ञान मिल गया हो, मैं लोहे से सोना वन गया होऊँ अथवा पृथ्वी पर रहते हुए भी स्वर्ग में चला गया होऊँ॥५५॥ आज से मैं अपने को इतना वडा भारी तीर्थ मानने लगा हूँ कि जहाँ आते ही लोग शुद्ध हो जायँ। क्योंकि सज्जन लोग जहाँ जाकर वैठ जायँ, वह स्थान तीर्थ हो जाया करता है॥५६॥ हे ब्रह्मर्षियो! मैं अव अपने को दो प्रकार से पवित्र मानता हूँ। एक तो सिर पर गंगाजी की धारा गिरने से और दूसरे आप लोगों के चरण धोवन का जल पा लेने से॥५७॥ हे मुनियो! मुझे तो ऐसा लगता है कि आप लोगों ने मेरे चल और अचल दोनों शरीरों पर अलग-अलग कृपा की है। क्योंकि मेरे चल शरीर को तो आपने अपना दास वना लिया है और मेरे अचल शरीर पर अपने पवित्र चरण रखे हैं॥५८॥ आपने यहाँ पधारकर जो कृपा की है, उससे मुझे इतनी प्रसन्नता हो रही है कि दूर-दूर तक विस्तृत अपने इतने वडे अंगों में भी मैं फूला नहीं समाता॥५९॥ आप सदृश तेजस्वियों के दर्शन से केवल मेरी गुफाओं का ही अँधेरा नहीं मिटा, वल्कि मेरे हृदय के अज्ञान का अँधेरा भी दूर हो गया॥६०॥ मैं समझता हूँ कि आप किसी काम से तो यहाँ न आये होंगे। क्योंकि आप लोगों में स्वतः इतनी शक्ति है कि किसी भी काम को सोचते ही पूरा कर लें। अतएव मेरा विचार है कि केवल मुझे पवित्र करने के लिए ही आप यहाँ आये हैं॥६१॥ किन्तु जब आ ही गये हैं तो मेरे लिए कोई सेवा वतलाइए। क्योंकि प्रभुओं को तभी प्रसन्न समझना चाहिए, जव कि वे सेवक से कुछ काम करने को कहें॥६२॥ आपकी आज्ञा का पालन करने के लिए मैं स्वयं आपके आगे खड़ा ही हूँ। ये मेरी स्त्रियाँ हैं और यह मेरे घरभर की प्यारी कन्या है। इनमें से जिससे भी आपका काम वने, उसे आज्ञा दीजिए। क्योंकि धन-सम्पत्ति आदि जितनी वाहरी वस्तुएँ हैं, वे तो आपकी सेवा के लिए तुच्छ हैं॥६३॥ हिमवान् के यह कहने पर गुफाओं में से जो प्रतिध्वनि निकली, उससे मानो हिमालय ने अपनी वात फिर से दुहरा दी॥६४॥ अव ऋषियों ने हिमालय से महादेवजी का संदेश कहने के लिए उन अंगिरा ऋषि को उभाड़ा, जो वातें करने में बड़े निपुण थे। तव अंगिरा ऋषि ने हिमालय से कहा—॥६५॥ हे हिमालय! जो कुछ तुमने कहा है और उससे भी अधिक जो कुछ कहा जा सकता है, वह सव तुम्हें शोभा देता है। क्योंकि तुम्हारा मन भी उतना ही ऊँचा है, जितनी कि तुम्हारी चोटियाँ ऊँची हैं॥६६॥ तुमको जो सव अचल पदार्थों का विष्णु कहा गया है, वह यथार्थ

गामधास्यत्कथं नागो मृणालमृदुभिः फणैः । आ रसातलमूलात्त्वमवालम्बिष्यथा न चेत् ॥ ६८ ॥
अच्छिन्नामलसन्तानाः समुद्रोर्म्यनिवारिताः । पुनन्ति लोकान्पुण्यत्वात्कीर्तयः सरितश्च ते ॥
यथैव श्लाघ्यते गङ्गा पादेन परमेष्ठिनः । प्रभवेण द्वितीयेन तथैवोच्छिरसा त्वया ॥ ७० ॥
तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्च व्यापको महिमा हरेः । त्रिविक्रमोद्यतस्यासीत्स तु स्वाभाविकस्तव ॥ ७१ ॥
यज्ञभागभुजां मध्ये पदमातस्थुषा त्वया । उच्चैर्हिरण्मयं शृङ्गं सुमेरोर्वितथीकृतम् ॥ ७२ ॥
काठिन्यं स्थावरे काये भवता सर्वमर्पितम् । इदं तु ते भक्तिनम्रं सतामाराधनं वपुः ॥ ७३ ॥
तदागमनकार्यं नः शृणु कार्यं तवैव तत् । श्रेयसामुपदेशात्तु वयमत्रांशभागिनः ॥ ७४ ॥
अणिमादिगुणोपेतमस्पृष्टपुरुषान्तरम् । शब्दमीश्वर इत्युच्चैः सार्धचन्द्रं बिभर्ति यः ॥ ७५ ॥
कल्पितान्योन्यसामर्थ्यैः पृथिव्यादिभिरात्मभिः । येनेदं ध्रियते विश्वं धुर्यैर्यानमिवाध्वनि ॥ ७६ ॥
योगिनो यं विचिन्वन्ति क्षेत्राभ्यन्तरवर्तिनम् । अनावृत्तिभयं यस्य पदमाहुर्मनीषिणः ॥ ७७ ॥
स ते दुहितरं साक्षात्साक्षी विश्वस्य कर्मणाम् । वृणुते वरदः शम्भुरस्मत्सङ्क्रामितैः पदैः ॥ ७८ ॥
तमर्थमिव भारत्या सुतया योक्तुमर्हसि । अशोच्या हि पितुः कन्या सद्भर्तृप्रतिपादिता ॥ ७९ ॥
यावन्त्येतानि भूतानि स्थावराणि चराणि च । मातरं कल्पयन्त्वेनामीशो हि जगतः पिता ॥ ८० ॥

है। क्योंकि चर और अचर सब प्राणी तुम्हारी गोद में ही आश्रय पाते हैं। सभी रत्न तुम्हारी गोद में होते हैं और तुम्हारी ही गोद से निकली हुई नदियों से आर्यावर्त जीवित है॥ ६७॥ पाताल के नीचे तक यदि तुम पृथ्वी को अपने बोझ से न दबाये होते तो शेषनाग अपनी कमल की नाल के समान कोमल फणों पर उसको कैसे धारण करते? ॥ ६८॥ तुम्हारे यहाँ से निकलकर सदा बहती हुई और समुद्र की लहरों से भी टक्कर लेने वाली निर्मल नदियाँ जैसे अपनी पवित्रता से सारे संसार को पवित्र करती हैं, वैसे ही तुम्हारी कीर्ति भी सब लोकों को पवित्र करती है॥ ६९॥ जैसे गंगाजी विष्णु के चरणों से निकलकर अपने को महान् मानती हैं, वैसे ही तुम्हारे शिखर से निकलकर बहने में भी वे अपनी बड़ाई समझती हैं॥ ७०॥ विष्णु भगवान् की महिमा तो संसार में तब फैली, जब उन्होंने वामन अवतार धारण करके ऊपर-नीचे और तिरछे पैर रखकर तीनों लोक नाप डाले, किन्तु तुम्हारी महिमा तो पहले से ही त्रिलोकी भर में फैली हुई है॥ ७१॥ तुमने यज्ञ का भाग पाने वाले देवताओं में स्थान पाकर सुमेरु पर्वत की सुनहरी और ऊँची चोटियों को भी नीचा दिखा दिया है॥ ७२॥ अपनी सारी कठोरता तुमने अपने अचल शरीर में रख दी है और तुम्हारा यह चल शरीर सदा भक्ति से झुका रहता है। इसी से तो सज्जन लोग आ-आकर नित्य इसकी पूजा किया करते हैं॥ ७३॥ अब हम तुम्हें अपने आने का कारण बतलाते हैं। वह काम ऐसा है, जिससे तुम्हारी ही भलाई है और यह भली बात तुम्हें समझाने के बहाने हमारी भी थोड़ी-सी भलाई हो जायेगी॥ ७४॥ तुम तो जानते ही हो कि जो अणिमा आदि आठों सिद्धियों के स्वामी हैं, जिनके सिवाय दूसरा कोई ईश्वर नहीं कहला सकता और जिनके माथे पर सदा आधा चन्द्रमा बैठा रहता है॥ ७५॥ जो अपने पृथ्वी-जल आदि उन आठों शरीरों से पृथ्वी को जीवित रखते हैं। जो एक-दूसरे की शक्ति बढ़ाते हुए संसार को इस तरह ठीक से चलाते हैं, जैसे सधे हुए घोडे रथ को मार्ग में बाँध रखते हैं॥ ७६॥ योगी लोग जिन्हें अपने शरीर के भीतर बैठा देखते हैं और जिनको विद्वान् लोग जन्म-मरण के बन्धनों से बाहर मानते हैं॥ ७७॥ समस्त संसार का काम देखने वाले और वरदायक उन्हीं शंकरजी ने हम लोगों के द्वारा सन्देश भेजकर तुम्हारी पुत्री पार्वतीजी को माँगा है॥ ७८॥ अतः तुम शिवजी के साथ अपनी पुत्री का वैसे ही अटूट सम्बन्ध कर दो, जैसे वाणी का अर्थ से सम्बन्ध होता है। क्योंकि अच्छे वर से कन्या का विवाह हो जाने पर पिता की चिन्ता मिट जाती है॥ ७९॥ महादेवजी सम्पूर्ण संसार के पिता हैं। अतएव पार्वतीजी

प्रणम्य शितिकण्ठाय विबुधास्तदनन्तरम् । चरणौ रञ्जयन्त्वस्याश्चूडामणिमरीचिभिः ॥ ८१ ॥
उमा वधूर्भवान्दाता याचितार इमे वयम् । वरः शम्भुरलं ह्येष त्वत्कुलोद्भूतये विधिः ॥ ८२ ॥
अस्तोतुः स्तूयमानस्य वन्द्यस्यानन्यबन्दिनः । सुतासम्बन्धविधिना भव विश्वगुरोर्गुरुः ॥ ८३ ॥
एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी । लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥ ८४ ॥
शैलः सम्पूर्णकामोऽपि मेनामुखमुदैक्षत । प्रायेण गृहिणीनेत्राः कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः ॥ ८५ ॥
मेने मेनापि तत्सर्वं पत्युः कार्यमभीप्सितम् । भवन्त्यव्यभिचारिण्यो भर्तुरिष्टे पतिव्रताः ॥ ८६ ॥
इदमत्रोत्तरं न्याय्यमिति बुद्ध्या विमृश्य सः । आददे वचसामन्ते मङ्गलालङ्कृतां सुताम् ॥ ८७ ॥
एहि विश्वात्मने वत्से ! भिक्षाऽसि परिकल्पिता । अर्थिनो मुनयः प्राप्तं गृहमेधिफलं मया ॥ ८८ ॥
एतावदुक्त्वा तनयामृषीनाह महीधरः । इयं नमति वः सर्वास्त्रिलोचनवधूरिति ॥ ८९ ॥
ईप्सितार्थक्रियोदारं तेऽभिनन्द्य गिरेर्वचः । आशीर्भिरेधयामासुः पुरःपाकाभिरम्बिकाम् ॥ ९० ॥
तां प्रणामादरस्रस्तजाम्बूनदवतंसकाम् । अङ्कमारोपयामास लज्जमानामरुन्धती ॥ ९१ ॥
तन्मातरं चाश्रुमुखीं दुहितृस्नेहविक्लवाम् । वरस्यानन्यपूर्वस्य विशोकामकरोद्गुणैः ॥ ९२ ॥
वैवाहिकीं तिथिं पृष्टास्तत्क्षणं हरबन्धुना । ते त्र्यहादूर्ध्वमाख्याय चेरुश्चीरपरिग्रहाः ॥ ९३ ॥
ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्राप्य च शूलिनम् । सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः ॥ ९४ ॥

भी चर-अचर संसार की माता बन जायेगी ॥ ८० ॥ ये इतनी पूजनीय हो जायेंगी कि सब देवता महादेवजी को प्रणाम करके अपनी चूड़ामणि की किरणों से पार्वतीजी के चरणों को रंगा करेंगे ॥ ८१ ॥ यदि उमा बहू हों, तुम कन्या के दाता बनो, हम विवाह के संदेशवाहक हों और महादेवजी वर बनें तो तुम्हारे कुल के लिए इससे बढ़कर प्रतिष्ठा की और कौन-सी बात होगी ॥ ८२ ॥ तुम अपनी पुत्री का उनसे विवाह करके उन महादेवजी के भी बड़े बन जाओ, जो स्वयं किसी की स्तुति नहीं करते, किन्तु संसार जिनकी स्तुति करता है। जो स्वयं किसी की वन्दना नहीं करते परन्तु सारा संसार जिनकी वन्दना करता है ॥ ८३ ॥ जब देवर्षि लोग ऐसा कह रहे थे, उस समय पार्वतीजी अपने पिता के पास नीचा मुँह करके बैठी खिलौने के कमल के पत्ते गिन रही थीं ॥ ८४ ॥ यद्यपि हिमवान् स्वयं इस बात से सहमत थे, फिर भी उन्होंने इसका उत्तर पाने के लिए मेनका की ओर निहारा। क्योंकि कन्या के सम्बन्ध की बात में गृहस्थ लोग स्त्रियों से ही सलाह करते हैं ॥ ८५ ॥ मेना ने भी अपने पति की इच्छा में अपनी इच्छा मिलाकर वह बात मान ली। क्योंकि सती स्त्रियाँ किसी बात में पति से प्रतिकूल नहीं होतीं ॥ ८६ ॥ तब हिमालय ने सुन्दर मांगलिक वस्त्रों से अलंकृत अपनी कन्या को बुलाया और कहा—यहाँ आओ वत्से! देखो, घट-घट में रमने वाले शिवजी ने मुझसे तुम्हें माँगा है और वह भिक्षा लेने के लिए ये सप्तर्षि लोग आये हुए हैं। वास्तव में आज ही मुझे गृहस्थ होने का सच्चा फल मिला है। क्योंकि ऐसे महान् भिक्षुक मेरे द्वार पर पधारे हैं। अपनी पुत्री से इतना कहकर हिमालय ने ऋषियों से कहा—यह महादेवजी की पत्नी आप लोगों को प्रणाम कर रही है ॥ ८९ ॥ इस प्रकार अपना काम पूरा हुआ देखकर सप्तर्षियों ने हिमालय की भूरि-भूरि प्रशंसा की और अम्बिका को ऐसे आशीष दिये, जो तत्काल फलदायक थे ॥ ९० ॥ उन ऋषियों को प्रणाम करने के लिए पार्वतीजी लजाती हुई जब झुकीं तो सहसा उनके कानों से सोने का कुण्डल गिर गया और अरुन्धतीजी ने उन्हें तुरन्त उठाकर अपनी गोद में बैठा लिया ॥ ९१ ॥ उस समय मेना अपनी पुत्री के स्नेह से इतनी विकल हो उठीं कि उनकी आँखें डबडबा आयीं, किन्तु अरुन्धतीजी ने उन्हें शिवजी जैसे अनोखे वर के गुण सुनाकर धीरज बँधाया ॥ ९२ ॥ जब विवाह की तिथि पूछी गयी तो सप्तर्षियों ने कहा कि आज से तीन दिन बाद विवाह करना ठीक होगा। यह कहकर वे चीर-वल्कलधारी ऋषि वहाँ से चल पड़े ॥ ९३ ॥ इस प्रकार हिमालय से विदा लेकर उन्होंने महादेवजी

पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः ।
कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः ॥ ९५ ॥

इति महाकविकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये
उमाप्रदानो नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

को बतलाया कि सब ठीक हो गया है। फिर उनसे आज्ञा लेकर वे आकाश में यथास्थान चले गये ॥ ९४ ॥
अब पार्वतीजी से मिलने के लिए महादेवजी इतने अधीर हो उठे कि उन तीनों दिनों को भी उन्होंने बड़ी कठिनाई से काटा। जब महादेवजी जैसों की प्रेम में ऐसी दशा हो सकती है, तब भला साधारण लोगों को ऐसे मनोभाव क्यों न विकल कर देंगे ॥ ९५ ॥

इस प्रकार महाकविकालिदासरचित कुमारसम्भवमहाकाव्य में
'पार्वतीजी की मँगनी' नामक छठा सर्ग समाप्त ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः

अथौषधीनामधिपस्य वृद्धौ तिथौ च जामित्रगुणान्वितायाम् ।
समेतबन्धुर्हिमवान् सुताया विवाहदीक्षाविधिमन्वतिष्ठत् ॥ १ ॥
वैवाहिकैः कौतुकसंविधानैर्गृहे गृहे व्यग्रपुरन्ध्रिवर्गम् ।
आसीत् पुरं सानुमतोऽनुरागादन्तःपुरं चैककुलोपमेयम् ॥ २ ॥
सन्तानकाकीर्णमहापथं तच्चीनांशुकैः कल्पितकेतुमालम् ।
भासोज्ज्वलत्काञ्चनतोरणानां स्थानान्तरं स्वर्ग इवावभासे ॥ ३ ॥
एकैव सत्यामपि पुत्रपङ्क्तौ चिरस्य दृष्टेव मृतोत्थितेव ।
आसन्नपाणिग्रहणेति पित्रोरुमा विशेषोच्छ्वसितं बभूव ॥ ४ ॥
अङ्काद्ययावङ्कमुदीरिताशीः सा मण्डनान्मण्डनमन्वभुङ्क्त ।
सम्बन्धिभिन्नोऽपि गिरेः कुलस्य स्नेहस्तदेकायतनं जगाम ॥ ५ ॥
मैत्रे मुहूर्ते शशलाञ्छनेन योगं गतासूत्तरफल्गुनीषु ।
तस्याः शरीरे प्रतिकर्म चक्रुर्बन्धुस्त्रियो याः पतिपुत्रवत्यः ॥ ६ ॥
सा गौरसिद्धार्थनिवेशवद्भिर्दूर्वाप्रवालैः प्रतिभिन्नशोभम् ।
निर्नाभि कौशेयमुपात्तबाणमभ्यङ्गनेपथ्यमलञ्चकार ॥ ७ ॥
बभौ च सम्पर्कमुपेत्य बाला नवेन दीक्षाविधिसायकेन ।
करेण भानोर्बहुलावसाने सन्धुक्ष्यमाणेव शशाङ्करेखा ॥ ८ ॥

तीन दिनों बाद जब लग्न से सातवें घर में शुभ ग्रह थे, तब शुक्लपक्ष की शुभ तिथि को अपने भाई-बन्धुओं को एकत्रित करके हिमवान् ने अपनी पुत्री का शंकरजी के साथ विवाह का कार्य निश्चय कर दिया ॥ १ ॥ नगर के सब लोग हिमालय से ऐसा प्रेम करते थे कि वहाँ के घर-घर में स्त्रियाँ बड़े धूम-धाम के साथ विवाह का उत्सव मनाने लगीं। घर-बाहर के लोग इस तरह मिल-जुलकर काम कर रहे थे जैसे सब एक कुल के ही हों ॥ २ ॥ नगर की बड़ी-बड़ी सड़कों पर कल्पवृक्ष के फूल बिछे थे, दोनों ओर रेशमी झंडियाँ कतारों में टँगी हुई थीं और द्वार-द्वार पर स्वर्णिम बन्दनवार बँधे थे। इन सब की चमक से जगमगाता हुआ वह नगर ऐसा लगता था, जैसे स्वर्ग ही उतर आया हो ॥ ३ ॥ यद्यपि हिमालय के कई पुत्र थे, फिर भी उस समय हिमालय और मेना दोनों को पार्वतीजी प्राणों से बढ़कर प्रिय लग रही थीं। मानों वे बहुत दिनों पर मिली हों, अथवा मरकर अभी जी उठी हों। क्योंकि विवाह हो जाने पर वे परायी हो जाने वाली थीं ॥ ४ ॥ बारी-बारी से सब कुटुम्बियों ने पार्वतीजी को अपनी-अपनी गोद में बैठाकर आशीर्वाद देते हुए एक-से-एक बढ़कर गहने दिये। जैसे हिमालय के सब कुटुम्बियों का स्नेह पार्वतीजी में ही आकर एकत्र हो गया था ॥ ५ ॥ सूर्योदय के तीन मुहूर्त बाद उत्तरफाल्गुनी नक्षत्र में कुटुम्ब की सुहागिन और पुत्रवती स्त्रियाँ पार्वतीजी का शृंगार करने लगीं ॥ ६ ॥ सर्वप्रथम उन्होंने दूब के अंकुरों और सरसों के दाने से उनका शृंगार किया। फिर नाभि तक ऊँची रेशमी साड़ी पहनाकर उसमें एक बाण खोंस दिया गया। इस प्रकार तेल-उबटन लगाकर सजावट पूरी कर दी गयी ॥ ७ ॥ विवाह का नया बाण कमर में खोंस कर पार्वतीजी ऐसी सुन्दर लगने लगीं, जैसे शुक्लपक्ष में सूर्य की किरणें पाकर चन्द्रमा चमक उठता है ॥ ८ ॥ तब सुहागिन स्त्रियों ने उनके शरीर पर लो

तां लोध्रकल्केन हृताङ्गतैलामाश्यानकालेयकृताङ्गरागाम् ।
वासो वसानामभिषेकयोग्यं नार्यश्चतुष्काभिमुखं व्यनैषुः ॥ ९ ॥
विन्यस्तवैदूर्यशिलातलेऽस्मिन्नावद्धमुक्ताफलभक्तिचित्रे ।
आवर्जिताष्टापदकुम्भतोयैः सतूर्यमेनां स्नपयाम्बभूवुः ॥ १० ॥
सा मङ्गलस्नानविशुद्धगात्री गृहीतपत्युद्गमनीयवस्त्रा ।
निर्वृत्तपर्जन्यजलाभिषेका प्रफुल्लकाशा वसुधेव रेजे ॥ ११ ॥
तस्मात् प्रदेशाच्च वितानवन्तं युक्तं मणिस्तम्भचतुष्टयेन ।
पतिव्रताभिः परिगृह्य निन्ये क्लृप्तासनं कौतुकवेदिमध्यम् ॥ १२ ॥
तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीं क्षणं व्यलम्बन्त पुरोनिषण्णाः ।
भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्राः प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्यः ॥ १३ ॥
धूपोष्मणा त्याजितमार्द्रभावं केशान्तमन्तःकुसुमं तदीयम् ।
पर्याक्षिपत् काचिदुदारबन्धं दूर्वावता पाण्डुमधूकदाम्ना ॥ १४ ॥
विन्यस्तशुक्लागुरु चक्रुरङ्गं गोरोचनापत्रविभक्तमस्याः ।
सा चक्रवाकाङ्कितसैकतायास्त्रिस्रोतसः कान्तिमतीत्य तस्थौ ॥ १५ ॥
लग्नद्विरेफं परिभूय पद्मं समेघलेखं शशिनश्च बिम्बम् ।
तदाननश्रीरलकैः प्रसिद्धैश्चिच्छेद सादृश्यकथाप्रसङ्गम् ॥ १६ ॥
कर्णार्पितो लोध्रकषायरूक्षे गोरोचनाक्षेपनितान्तगौरे ।
तस्याः कपोले परभागलाभाद्बबन्ध चक्षूंषि यवप्ररोहः ॥ १७ ॥

तेल को लोध की बुकनी से सुखाया और कुछ गीले तथा सुगन्धित लेप से उनका शरीर रंगा। तदनन्तर स्नान करने का कपड़ा पहनाकर वे उन्हें स्नानघर के चबूतरे पर ले गयीं॥ ९॥ स्नानघर में नीलमणि की एक सुन्दर चौकी बिछी थी। चारों ओर रंग-बिरंगी मोतियों की मालाएँ लटकी थीं। उन स्त्रियों ने उमा को चौकी पर बैठाकर गायन-वाद्य के साथ सोने के घडे के जल से नहलाया॥ १०॥ उस मंगलस्नान से पार्वतीजी का शरीर अत्यन्त निर्मल हो गया और उन्होंने विवाह के वस्त्र पहने। उस समय वे ऐसी सुन्दर लगने लगीं कि जैसे गरजते हुए बादलों के जल से धुली और काँस के फूलों से भरी हुई धरती शोभित हो रही हो॥ ११॥ इस प्रकार नहलाकर वे सुहागिनियाँ पार्वतीजी को सहारा देकर उस कोहबर में ले गयीं, जहाँ मणिस्तम्भों पर चँदवा तना था। बीच में मंगलवेदी बनी हुई थी और उस पर सुसज्ज आसन बिछा था॥ १२॥ वहाँ उन्होंने पार्वतीजी को पूर्वाभिमुख करके बैठा दिया। श्रृंगार की सभी वस्तुएँ पास में होने पर भी वे सब पार्वतीजी की स्वाभाविक शोभा पर ही इतनी मुग्ध हो गयीं कि कुछ देर तक वे सुध-बुध खोकर उनकी ओर एकटक निहारती बैठी रहीं॥ १३॥ फिर किसी ने अगरचन्दन के धुएँ से उनके बाल सुखाकर फूल गूँथे। दूब में गूँथी हुई पीले महुए के फूलों की माला जूड़े में बाँधी॥ १४॥ किसी सुहागिन ने उजले अगर में पिसा हुआ अंगराग उनके शरीर पर मला और फिर अत्यन्त लाल गोरोचन से उनके शरीर को चित्रित किया। उस समय पार्वतीजी इतनी सुन्दर दीख रही थीं कि उनके रूप के आगे उज्ज्वल धारा वाली उन गंगाजी की शोभा भी मन्द पड़ गयी, जिनके तट की बालू में चकवे बैठे हुए हों॥ १५॥ भौंरों से घिरा कमल और बादलों में छिपा हुआ चन्द्रमा, इनमें कोई भी ऐसा नहीं दिखलाई पडा, जो उनकी गुँथी चोटी वाले मुख की सुन्दरता के आगे टिक पाये॥ १६॥ उनके कानों पर लटकने वाले जौ के अंकुर और लोध से पुते तथा गोरोचन लगे हुए गौरवर्ण गाल इतने सुन्दर दीखने लगे कि सबकी आँखें बरबस उनकी ओर खिंची जा रही थीं॥ १७॥ सुडौल अंगों वाली पार्वतीजी

रेखाविभक्तः सुविभक्तगात्र्याः किञ्चिन्मधूच्छिष्टविमृष्टरागः।
कामप्यभिख्यां स्फुरितैरपुष्यदासन्नलावण्यफलोऽधरोष्ठः॥ १८॥
पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम्।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान॥ १९॥
तस्याः सुजातोत्पलपत्रकान्ते प्रसाधिकाभिर्नयने निरीक्ष्य।
न चक्षुषोः कान्तिविशेषबुद्ध्या कालाञ्जनं मङ्गलमित्युपात्तम्॥ २०॥
सा सम्भवद्भिः कुसुमैर्लतेव ज्योतिर्भिरुद्यद्भिरिव त्रियामा।
सरिद्विहङ्गैरिव लीयमानैरामुच्यमानाभरणा चकासे॥ २१॥
आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शविम्बे स्तिमितायताक्षी।
हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेशः॥ २२॥
अथाङ्गुलिभ्यां हरितालमार्द्रं माङ्गल्यमादाय मनःशिलां च।
कर्णावसक्तामलदन्तपत्रं माता तदीयं मुखमुन्नमय्य॥ २३॥
उमास्तनोद्भेदमनु प्रवृद्धो मनोरथो यः प्रथमं बभूव।
तमेव मेना दुहितुः कथञ्चिद्विवाहदीक्षातिलकं चकार॥ २४॥
बबन्ध चास्राकुलदृष्टिरस्याः स्थानान्तरे कल्पितसन्निवेशाम्।
धात्र्यङ्गुलीभिः प्रतिसार्यमाणमूर्णामयं कौतुकहस्तसूत्रम्॥ २५॥

का जो निचला ओठ ऊपर के ओठ से एक रेखा के द्वारा अलग हो गया था, जिस पर लगी हुई चिकनाई ने और भी लाली बढाकर उसे सुन्दर बना दिया था और जिसकी सुन्दरता फैलने ही वाली थी, वह ओठ जब फड़कता था, उस समय की शोभा अनिर्वचनीय थी॥ १८॥ एक सखी पार्वतीजी के चरणों में जब महावर लगा चुकी, तब उसने हँसी-हँसी में आशीर्वाद दिया कि भगवान् करे, तुम इन पैरों से अपने पति के सिर की चन्द्रकला को छुओ। इस पर पार्वतीजी कुछ बोलीं तो नहीं, परन्तु एक माला उठाकर उसीसे उसकी पीठ पर मार दी॥ १९॥ भृङ्गार करने वाली एक स्त्री ने पार्वतीजी की नीलकमल जैसी बड़ी-बड़ी और काली-काली आँखों में जो काजल लगाया, वह इसलिए नहीं कि आँजन से आँखों की कुछ शोभा बढ़ेगी, बल्कि इसीलिए कि वह भी एक मंगलाचार था॥ २०॥ जैसे फूल आ जाने पर लताएँ स्वयं खिल उठती हैं, जैसे तारे निकलने पर रात जगमगाने लगती है, या कि जैसे रंग-बिरंगे पक्षियों के आ जाने से नदी सुन्दर लगने लगती है, वैसे ही मणियों-मोतियों और सोने के गहने पहना दिये जाने पर पार्वतीजी की सुन्दरता और भी निखर उठी॥ २१॥ अपने इस सँवारे हुए रूप को दर्पण में देखकर स्वयं पार्वतीजी भी चकित हो गयीं और महादेवजी से मिलने के लिए उतावली हो उठीं। क्योंकि स्त्रियों का शृङ्गार तभी सफल होता है जब प्रियतम उसे देखे॥ २२॥ उसी समय पार्वतीजी की माता मेना वहाँ आयीं। उन्होंने उमा का वह मुख ऊपर उठाया, जिसके दोनों कानों में सुन्दर कर्णफूल झूल रहे थे। उस रूप को देखकर वे आनन्द से विभोर हो गयीं, किन्तु किसी तरह उन्होंने दो उँगलियों से गीली हरताल और मंगलसूचक मैनसिल लेकर पुत्री के माथे पर विवाह का तिलक किया। उस समय ऐसा लगा कि मानो मेना ने तिलक लगाकर पार्वतीजी के मन में स्तन उभड़ने के समय से ही शंकरजी को पाने की जो इच्छा बराबर बढ रही थी, उसे पूर्ण कर दी॥ २३-२४॥ आनन्दातिरेक से मेना की आँखों में आँसू उमड़ आये। अतएव ठीक-ठीक न देख सकने के कारण उन्होंने पार्वतीजी के हाथ में बँधने वाला कंगन वहाँ न बाँधकर कहीं अन्यत्र बाँध दिया। बाद में उनकी धाय ने अपनी उँगलियों से उस ऊन के कंगन को खिसकाकर ठीक स्थान पर कर दिया॥ २५॥ रेशमी साड़ी पहने और हाथ

क्षीरोदवेलेव सफेनपुञ्जा पर्याप्तचन्द्रेव शरत्त्रियामा।
नवं नवक्षौमनिवासिनी सा भूयो बभौ दर्पणमादधाना॥ २६॥
तामर्चिताभ्यः कुलदेवताभ्यः कुलप्रतिष्ठां प्रणमय्य माता।
अकारयत् कारयितव्यदक्षा क्रमेण पादग्रहणं सतीनाम्॥ २७॥
अखण्डितं प्रेम लभस्व पत्युरित्युच्यते ताभिरुमा स्म नम्रा।
तया तु तस्यार्धशरीरभाजा पश्चात्कृताः स्निग्धजनाशिषोऽपि॥ २८॥
इच्छाविभूत्योरनुरूपमद्रिस्तस्याः कृती कृत्यमशेषयित्वा।
सभ्यः सभायां सुहृदास्थितायां तस्थौ वृषाङ्कागमनप्रतीक्षः॥ २९॥
तावद्भवस्यापि कुबेरशैले तत्पूर्वपाणिग्रहणानुरूपम्।
प्रसाधनं मातृभिरादृताभिर्न्यस्तं पुरस्तात् पुरशासनस्य॥ ३०॥
तद्गौरवान्मङ्गलमण्डनश्रीः सा पस्पृशे केवलमीश्वरेण।
स एव वेषः परिणेतुरिष्टं भावान्तरं तस्य विभोः प्रपेदे॥ ३१॥
बभूव भस्मैव सिताङ्गरागः कपालमेवामलशेखरश्रीः।
उपान्तभागेषु च रोचनाङ्को गजाजिनस्यैव दुकूलभावः॥ ३२॥
शङ्खान्तरद्योति विलोचनं यदन्तर्निविष्टामलपिङ्गतारम्।
सान्निध्यपक्षे हरितालमय्यास्तदेव जातं तिलकक्रियायाः॥ ३३॥
यथाप्रदेशं भुजगेश्वराणां करिष्यतामाभरणान्तरत्वम्।
शरीरमात्रं विकृतिं प्रपेदे तथैव तस्थुः फणरत्नशोभाः॥ ३४॥
दिवापि निष्ठ्यूतमरीचिभासा बाल्यादनाविष्कृतलाञ्छनेन।
चन्द्रेण नित्यं प्रतिभिन्नमौलेश्चूडामणेः किं ग्रहणं हरस्य॥ ३५॥

में दर्पण लिये वे उतराते हुए फेन वाली क्षीरसमुद्र की लहर एवं चन्द्रयुक्त शारदी रात्रि जैसी दीखने लगीं॥ २६॥ विवाह के रीति-रिवाज से अभिज्ञ मेना ने अपने कुल का यश बढाने वाली पार्वतीजी से कुलदेवताओं को प्रणाम करवाकर सब सखियों के चरणस्पर्श कराये॥ २७॥ तब लाज से सकुचाती हुई पार्वतीजी को सब सखियों ने यह आशीर्वाद दिया कि 'तुम्हारे पति तुम्हें सदा तन-मन से प्यार करें'। परन्तु पार्वतीजी ने भगवान् शंकर के आधे शरीर में बसकर अपनी सखियों के आशीर्वाद भी पिछाड़ दिये॥ २८॥ उधर हिमालय ने भी बड़े उत्साह तथा वैभव के अनुरूप पार्वतीजी के विवाह के सब उपकरण जुटा लिये और फिर सभा में बैठकर भगवान् शंकरजी के आगमन की राह देखने लगे। उसी समय कैलास पर्वत पर भी सप्तमाताओं ने शृङ्गार की वह सब सामग्रियाँ महादेवजी के आगे रख दीं, जो उनके पहले विवाह में काम आयी थीं॥ २९-३०॥ माताओं का आदर करने के लिए शिवजी ने उन मंगल-शृङ्गार की सामग्रियों को केवल स्पर्श कर दिया, पहना नहीं। अपनी शक्ति से ही उन्होंने अपने वेश को विवाह के योग्य बना लिया॥ ३१॥ उनके लिए चिता की भस्म उजला अंगराग, कपाल सिर का सुन्दर आभूषण और गजचर्म ही ऐसा सुन्दर रेशमी वस्त्र बन गया, जिसके आँचलों पर गोरोचन से छपाई की हुई थी॥ ३२॥ उनके माथे में पीली पुतली वाला चमकता हुआ जो तृतीय नेत्र था, वही हरताल के सुन्दर तिलक के रूप में परिणत हो गया॥ ३३॥ उनके अंगों में जो बहुत-से साँप लिपटे थे, वे भी उन-उन अंगों के आभूषण बन गये। किन्तु उनके फणों पर जो मणियाँ थीं, वे ज्यों की त्यों चमकती रहीं॥ ३४॥ उनके मुकुट पर सदा विद्यमान रहने वाला जो बाल-चन्द्र दिन में भी अपनी

इत्यद्भुतैकप्रभवः प्रभावात् प्रसिद्धनेपथ्यविधेर्विधाता।
आत्मानमासन्नगणोपनीते खड्गे निषक्तप्रतिमं ददर्श॥ ३६॥
स गोपतिं नन्दिभुजावलम्बी शार्दूलचर्मान्तरितोरुपृष्ठम्।
तद्भक्तिसङ्क्षिप्तबृहत्प्रमाणमारुह्य कैलासमिव प्रतस्थे॥ ३७॥
तं मातरो देवमनुव्रजन्त्यः स्ववाहनक्षोभचलावतंसाः।
मुखैः प्रभामण्डलरेणुगौरैः पद्माकरं चक्रुरिवान्तरिक्षम्॥ ३८॥
तासां च पश्चात्कनकप्रभाणां काली कपालाभरणा चकासे।
बलाकिनी नीलपयोदराजी दूरं पुरःक्षिप्तशतह्रदेव॥ ३९॥
ततो गणैः शूलभृतः पुरोगैरुदीरितो मङ्गलतूर्यघोषः।
विमानभृङ्गाण्यवगाहमानः शशंस सेवावसरं सुरेभ्यः॥ ४०॥
उपाददे तस्य सहस्ररश्मिस्त्वष्ट्रा नवं निर्मितमातपत्रम्।
स तद्दुकूलादविदूरमौलिर्बभौ पतद्गङ्ग इवोत्तमाङ्गे॥ ४१॥
मूर्ते च गङ्गायमुने तदानीं सचामरे देवमसेविषाताम्।
समुद्रगारूपविपर्ययेऽपि सहंसपाते इव लक्ष्यमाणे॥ ४२॥
तमभ्यगच्छत्प्रथमो विधाता श्रीवत्सलक्ष्मा पुरुषश्च साक्षात्।
जयेति वाचा महिमानमस्य संवर्धयन्तौ हविषेव वह्निम्॥ ४३॥
एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम्।
विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद् वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ॥ ४४॥

किरणें चमकाता था और जिसके छोटे होने से उसका कलंक दिखलाई नहीं देता था, वह चन्द्रमा ही उनका चूड़ामणि बन गया। तब वे दूसरा चूड़ामणि लेकर क्या करते॥ ३५॥ अपनी शक्ति से संसार के सभी शृङ्गारों को बनाने में निपुण और सदा अनोखे काम करने वाले महादेवजी ने अपने पास बैठे हुए गण से खड्ग मँगा कर उसमें अपना मुँह देखा॥ ३६॥ तब नन्दी के हाथ का सहारा लेकर वे अपने उस लम्बे-चौड़े डीलवाले बैल की पीठ पर चढकर चले, जिस पर सिंह की खाल बिछी थी और जो ऐसा दीखता था कि जैसे शंकरजी में भक्ति रखने के कारण कैलास ने ही अपना बड़ा रूप छोटा कर लिया हो॥ ३७॥ तेजोमंडल से दमकती गोरे-गोरे मुखवाली सुन्दर माताएँ जब अपने-अपने रथों पर बैठकर उनके पीछे-पीछे चलीं तो वाहनों के झटके से उनके कर्णफूल हिल उठे। आकाश में उनके मुँह ऐसे लग रहे थे, जैसे किसी विशाल तालाब में बहुत-से कमल खिल गये हों॥ ३८॥ सोने के समान चमकती हुई उन माताओं के पीछे-पीछे श्वेत खप्परों से देह सजाये भद्रकालीजी चल रही थीं, जो ऐसी लगती थीं कि मानो बगुलों से भरी और दूर तक चमकती हुई बिजली युक्त नीले बादलों की घटा चल रही हो॥ ३९॥ महादेवजी के आगे-आगे चलने वाले गणों ने जो मंगलमयी तुरही बजायी तो उसकी ध्वनि ने देवताओं के विमानों की छतों पर गूँज कर उन्हें यह सूचना दी कि अब सबको अपने-अपने काम पर जुट जाना है॥ ४०॥ तत्काल सूर्य ने विश्वकर्मा के हाथ का बना नया छत्र लेकर शिवजी के ऊपर लगा दिया। उस समय शिवजी के सिर के पास छत्र से लटका हुआ कपड़ा ऐसा दीख रहा था, मानो उनके सिर पर गंगाजी की धारा गिर रही हो॥ ४१॥ गंगा और यमुना भी मूर्तरूप में प्रकट होकर महादेवजी पर चँवर डुलाने लगीं। वे चँवर ऐसे दीखते थे, मानो हंस उड़ते हों॥ ४२॥ आग में घी डालने से जैसे उसकी लपट बढ़ जाती है, वैसे ही ब्रह्मा और विष्णु ने जय-जयकार करके उनकी महिमा बढ़ा दी॥ ४३॥ सच तो यह है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश एक ही मूर्ति के तीन रूप

तं लोकपालाः पुरुहूतमुख्याः श्रीलक्षणोत्सर्गविनीतवेषाः।
दृष्टिप्रदाने कृतनन्दिसंज्ञास्तद्दर्शिताः प्राञ्जलयः प्रणेमुः॥ ४५॥
कम्पेन मूर्ध्नः शतपत्रयोनिं वाचा हरिं वृत्रहणं स्मितेन।
आलोकमात्रेण सुरानशेषान् सम्भावयामास यथाप्रधानम्॥ ४६॥
तस्मै जयाशीः ससृजे पुरस्तात्सप्तर्षिभिस्तान् स्मितपूर्वमाह।
विवाहयज्ञे विततेऽत्र यूयमध्वर्यवः पूर्ववृता मयेति॥ ४७॥
विश्वावसुप्राग्रहरैः प्रवीणैः सङ्गीयमानत्रिपुरावदानः।
अध्वानमध्वान्तविकारलङ्घ्यस्ततार ताराधिपखण्डधारी॥ ४८॥
खे खेलगामी तमुवाह वाहः सशब्दचामीकरकिङ्किणीकः।
तटाभिघातादिव लग्नपङ्के धुन्वन् मुहुः प्रोतघने विषाणे॥ ४९॥
स प्रापदप्राप्तपराभियोगं नगेन्द्रगुप्तं नगरं मुहूर्तात्।
पुरोविलग्नैर्हरदृष्टिपातैः सुवर्णसूत्रैरिव कृष्यमाणः॥ ५०॥
तस्योपकण्ठे घननीलकण्ठः कुतूहलादुन्मुखपौरदृष्टः।
स्वबाणचिह्नादवतीर्य मार्गादासन्नभूपृष्ठमियाय देवः॥ ५१॥
तमृद्धिमद्बन्धुजनाधिरूढैर्वृन्दैर्गजानां गिरिचक्रवर्ती।
प्रत्युज्जगामागमनप्रतीतः प्रफुल्लवृक्षैः कटकैरिव स्वैः॥ ५२॥
वर्गावुभौ देवमहीधराणां द्वारे पुरस्योद्घटितापिधाने।
समीयतुर्दूरविसर्पिघोषौ भिन्नैकसेतू पयसामिवौघौ॥ ५३॥

हो गये हैं। और ये तीनों आपस में एक-दूसरे से छोटे-बड़े होते ही रहते हैं। कभी शिवजी विष्णु से, कभी ब्रह्मा इन दोनों से और कभी ये दोनों ब्रह्मा से बड़े हो जाते हैं॥ ४४॥ जब अपना राजसी ठाट छोड़ और विनीत वेश बनाकर इन्द्र आदि लोकपाल उनका दर्शन करने आये तो नन्दी ने संकेत से उन लोगों को महादेवजी के दर्शन करा दिये, तब इन लोगों ने हाथ जोडकर शिवजी को प्रणाम किया॥ ४५॥ शिवजी ने भी ब्रह्माजी की ओर सिर हिलाकर, विष्णु से कुशल-मंगल पूछकर, इन्द्र की ओर मुस्कुराकर और सब देवताओं को केवल निहार कर सब छोटे-बड़े देवताओं का सम्मान किया॥ ४६॥ जब सप्तर्षि आये और क्रमशः जय-जयकार करके उन्हें आशीर्वाद दिया, तब शिवजी ने उनसे कहा कि इस बड़े भारी विवाह के यज्ञ में पुरोहित का काम मैंने पहले से ही आपके लिए निश्चित कर रखा है॥ ४७॥ सब विकारों से परे महादेवजी जब चले तो उस समय विश्वावसु आदि प्रसिद्ध गन्धर्व त्रिपुरासुर पर विजय पाने के गीत गाते हुए उनके आगे-आगे चल रहे थे॥ ४८॥ मन्द-मन्द चाल से चलने वाला और गले में लटकी हुई सोने की छोटी-छोटी घंटियों को टनटनाता हुआ शिवजी का बैल उन बादलों को अपनी सींगों से बार-बार झटकारता जाता था, जो उसकी सींगों में इस प्रकार सँट गये थे, जैसे नदी के तटवर्ती टीले ढाते समय उनमें कीचड़ लग गया हो॥ ४९॥ वह बैल कभी किसी से भी न हारने वाले हिमालय के ओषधिप्रस्थ नामक नगर में इस प्रकार क्षण भर में ही पहुँच गया, मानो आगे पड़ती हुई शिवजी की दृष्टिरूपिणी सोने की डोरियाँ उसे बरबस खींच ले गयी हों॥ ५०॥ उस नगर के पास बादलों जैसे नीले कण्ठवाले महादेवजी आकाश से उस पृथ्वी पर उतरे, जिसमें उन्होंने त्रिपुरासुर को मारते समय बहुत-से बाणों द्वारा चिह्न बना दिये थे। वहाँ के निवासी बड़े चाव से ऊपर मुहँ उठाये हुए उन्हें निहार रहे थे॥ ५१॥ इस प्रकार महादेवजी के आगमन से पर्वतराज हिमालय बहुत प्रसन्न हुए और अपने उन धनी कुटुम्बियों को हाथी पर चढ़ाकर शिवजी की अगवानी के लिए ले चले, जो हिमालय की ढाल पर फूलों से लदे हुए वृक्ष की तरह अपने सैनिकों से सुसज्जित थे॥ ५२॥ वर-कन्या

ह्रीमानभूद्भूमिधरो हरेण त्रैलोक्यवन्द्येन कृतप्रणामः।
पूर्वं महिम्ना स हि तस्य दूरमावर्जितं नात्मशिरो विवेद॥५४॥
स प्रीतियोगाद् विकसन्मुखश्रीर्जामातुरग्रेसरतामुपेत्य।
प्रावेशयन्मन्दिरमृद्धमेनमागुल्फकीर्णापणमार्गपुष्पम्॥५५॥
तस्मिन्मुहूर्ते पुरसुन्दरीणामीशानसन्दर्शनलालसानाम्।
प्रासादमालासु बभूवुरित्थं त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि॥५६॥
आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः।
बद्धुं न सम्भावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः॥५७॥
प्रसाधिकाऽऽलम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान॥५८॥
विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन सम्भाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा।
तथैव वातायनसन्निकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती॥५९॥
जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम्।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः॥६०॥
अर्धाचिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती।
कस्याश्चिदासीद्रसना तदानीमङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा॥६१॥
तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम्।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन्॥६२॥

दोनों ही पक्ष वालों का कोलाहल दूर तक सुनायी दे रहा था और वे जब नगर के खुले फाटकों वाले द्वार पर आकर मिले तो ऐसे लगने लगे, मानो बाँध टूट जाने पर जल की दो धाराएँ आकर परस्पर मिल गयी हों॥५३॥ पहले शंकरजी ने जब हिमालय को प्रणाम किया तो वे लाज से मानो गड़ गये, परन्तु उन्हें यह नहीं ज्ञात हुआ कि प्रणाम करने के पहले शिवजी की महिमा से ही उनका सिर झुक चुका था॥५४॥ इस सम्बन्ध में हिमालय बहुत प्रसन्न थे। वे आगे-आगे चलकर उस सम्पन्न नगर में अपने जामाता को उस मार्ग से ले गये, जहाँ बाजार के मार्ग में टखनों तक फूल बिछे थे॥५५॥ उस समय महादेवजी के दर्शन के लिए उतावली नगर की सुन्दरियाँ अपना सब काम-काज छोड़कर अपने-अपने भवनों की छतों पर गयीं॥५६॥ एक स्त्री ज्यों ही खिडकी की ओर हड़बड़ी में भागी कि उसके जूड़े में बँधी हुई फूल की माला खुल गयी और वह उसे अपने हाथ में थामे ही चली गयी। क्योंकि उसे बाँधने की सुध ही नहीं रही॥५७॥ एक स्त्री अपने पैर में महावर लगवा रही थी। उसे यों ही छुड़ाकर वह खिड़की के पास तक अपने महावर लगे पैरों की छाप बनाती हुई दौड़ पड़ी॥५८॥ एक स्त्री अपनी दाईं आँख में काजल लगा चुकी थी, परन्तु बाँईं आँख में काजल बिना लगाये और हाथ में सलाई लिये हुए ही खिड़की की ओर चल पड़ी॥५९॥ एक दूसरी स्त्री ज्यों ही जाकर खिड़की की जालियों में झाँकने लगी, तभी उसकी कमर का नारा खुल गया और उसे बिना बाँधे ही हाथ से कपड़ा पकड़े जो खड़ी हुई तो उसके हाथ के कङ्गन के रत्नों की चमक से उसकी नाभि चमकती दीखने लगी॥६०॥ एक स्त्री डोरे में मणि पोह रही थी। इतने में ही वह शंकरजी की बरात आने का कोलाहल सुनकर हड़बड़ा उठी और खिड़की की ओर दौड़ी। जिससे ऐसा हुआ कि खिड़की तक जाते-जाते मणियों के सब दाने बिखर गये, किन्तु पैर के अँगूठे में बँधा हुआ डोरा ज्यों का त्यों पड़ा रहा॥६१॥ उन उत्सुकता भरे नैनवालियों के आसव से महकते और चंचल नेत्र वाले मुख खिड़कियों में झाँकते हुए ऐसे दीख रहे थे,

तावत्पताकाकुलमिन्दुमौलिरुत्तोरणं राजपथं प्रपेदे।
प्रासादशृङ्गाणि दिवापि कुर्वञ्ज्योत्स्नाभिषेकद्विगुणद्युतीनि ॥ ६३ ॥
तमेकदृश्यं नयनैः पिबन्त्यो नार्यो न जग्मुर्विषयान्तराणि।
तथाहि शेषेन्द्रियवृत्तिरासां सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा ॥ ६४ ॥
स्थाने तपो दुश्चरमेतदर्थमपर्णया पेलवयाऽपि तप्तम्।
या दास्यमप्यस्य लभेत नारी सा स्यात्कृतार्था किमुताङ्कशय्याम् ॥ ६५ ॥
परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत्।
अस्मिन्द्वये रूपविधानयत्नः पत्युः प्रजानां विफलोऽभविष्यत् ॥ ६६ ॥
न नूनमारूढरुषा शरीरमनेन दग्धं कुसुमायुधस्य।
व्रीडादमुं देवमुदीक्ष्य मन्ये संन्यस्तदेहः स्वयमेव कामः ॥ ६७ ॥
अनेन सम्बन्धमुपेत्य दिष्ट्या मनोरथप्रार्थितमीश्वरेण।
मूर्धानमालि! क्षितिधारणोच्चमुच्चैस्तरं वक्ष्यति शैलराजः ॥ ६८ ॥
इत्यौषधिप्रस्थविलासिनीनां शृण्वन् कथाः श्रोत्रसुखास्त्रिनेत्रः।
केयूरचूर्णीकृतलाजमुष्टिं हिमालयस्यालयमाससाद ॥ ६९ ॥
तत्रावतीर्याच्युतदत्तहस्तः शरद्घनाद्दीधितिमानिवोक्ष्णः।
क्रान्तानि पूर्वं कमलासनेन कक्ष्यान्तराण्यद्रिपतेर्विवेश ॥ ७० ॥
तमन्वगिन्द्रप्रमुखाश्च देवाः सप्तर्षिपूर्वाः परमर्षयश्च।
गणाश्च गिर्यालयमभ्यगच्छन् प्रशस्तमारम्भमिवोत्तमार्थाः ॥ ७१ ॥

जैसे खिड़कियों की जालियों में भौंरों से युक्त कमल लटकाये हुए हों ॥ ६२ ॥ उसी समय उन चूने से पुते श्वेत भवनों के कंगूरों को अपने सिर के चन्द्रमा की चाँदनी से और भी अधिक चमकाते हुए महादेवजी ने ध्वजाओं और पताकाओं से सुसज्जित राजमार्ग में प्रवेश किया ॥ ६३ ॥ उस नगर की स्त्रियाँ सुध-बुध भूलकर इस तरह टकटकी लगाकर देखती हुई शिवजी को अपने नेत्रों से पी रही थीं, जैसे उनकी सब इन्द्रियाँ आँखों में ही समा गयी हों ॥ ६४ ॥ उन्होंने सोचा कि ऐसे उत्तम वर के लिए सुकुमार पार्वती का तप करना उचित ही था। क्योंकि ये इतने सुन्दर हैं कि जो स्त्री इनकी दासी हो, वह भी धन्य हो जाय। फिर जो इनकी गोद में सोये, उसका क्या कहना है ॥ ६५ ॥ सौन्दर्य में एक-दूसरे से बढ़े-चढ़े इस जोड़ का यदि विवाह न होता तो हम यही समझती हैं कि ब्रह्माजी ने इन दोनों का रूप बनाने में जो परिश्रम किया, वह सब व्यर्थ हो जाता ॥ ६६ ॥ अब हम समझ रही हैं कि इन्होंने कामदेव को क्रोध करके नहीं भस्म किया था। बल्कि कामदेव ही इनकी सुन्दरता देखकर टीस के मारे स्वयं जल मरा ॥ ६७ ॥ हे सखी! पर्वतेश्वर हिमवान् बडे भाग्यशाली हैं। एक तो पृथ्वी धारण करने से उनका मस्तक वैसे ही ऊँचा था, उस पर अपने मनचाहे वर शंकरजी से सम्बन्ध करके उनका सिर और भी उन्नत हो जायेगा ॥ ६८ ॥ ओषधिप्रस्थ नगर की स्त्रियों की ऐसी मीठी-मीठी बातें सुनते हुए महादेवजी हिमालय के उस घर में पहुँचे, जहाँ इतनी भीड थी कि कुमारियों ने मङ्गलाचार के लिए जो धान के लावे फेंके थे, वे वहाँ के लोगों के भुजबन्धों की रगड़ से ही पिसकर चूर-चूर हो गये ॥ ६९ ॥ वहाँ पहुँचने पर भगवान् विष्णु ने हाथ का सहारा देकर महादेवजी को इस प्रकार बैल से उतारा, जैसे शरद् ऋतु के उजले बादलों से सूर्य को उतारा हो। वहाँ से चलकर वे हिमालय के भवन की उस भीतरी कोठी में पहुँचे, जहाँ ब्रह्माजी पहले से ही विराजमान थे ॥ ७० ॥ उनके पीछे-पीछे इन्द्र आदि देवता, सप्तर्षियों के साथ सभी महर्षि और महादेवजी के सब गण हिमालय के घर में उसी प्रकार गये, जैसे किसी काम

तत्रेश्वरो विष्टरभाग्यथावत् सरत्नमर्घ्यं मधुमच्च गव्यम्।
नवे दुकूले च नगोपनीतं प्रत्यग्रहीत् सर्वममन्त्रवर्जम्॥ ७२॥
दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधदक्षैः।
वेलासमीपं स्फुटफेनराजिर्नवैरुदन्वानिव चन्द्रपादैः॥ ७३॥
तया प्रवृद्धाननचन्द्रकान्त्या प्रफुल्लचक्षुःकुमुदः कुमार्या।
प्रसन्नचेतःसलिलः शिवोऽभूत्संसृज्यमानः शरदेव लोकः॥ ७४॥
तयोः समापत्तिषु कातराणि किञ्चिद्व्यवस्थापितसंहृतानि।
ह्रीयन्त्रणां तत्क्षणमन्वभूवन्नन्योन्यलोलानि विलोचनानि॥ ७५॥
तस्याः करं शैलगुरूपनीतं जग्राह ताम्राङ्गुलिमष्टमूर्तिः।
उमातनौ गूढतनोः स्मरस्य तच्छङ्किनः पूर्वमिव प्ररोहम्॥ ७६॥
रोमोद्गमः प्रादुरभूदुमायाः स्विन्नाङ्गुलिः पुङ्गवकेतुरासीत्।
वृत्तिस्तयोः पाणिसमागमेन समं विभक्तेव मनोभवस्य॥ ७७॥
प्रयुक्तपाणिग्रहणं यदन्यद् वधूवरं पुष्यति कान्तिमग्र्याम्।
सान्निध्ययोगादनयोस्तदानीं किं कथ्यते श्रीरुभयस्य तस्य॥ ७८॥
प्रदक्षिणप्रक्रमणात् कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुनं चकासे।
मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमानमन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम्॥ ७९॥
तौ दम्पती त्रिः परिणीय वह्निमन्योन्यसंस्पर्शनिमीलिताक्षौ।
स कारयामास वधूं पुरोधास्तस्मिन्समिद्धार्चिषि लाजमोक्षम्॥ ८०॥

के प्रारम्भ हो जाने पर उसके पीछे और भी बहुत-से बड़े-बड़े काम सिद्ध हो जाते हैं॥ ७१॥ वहाँ महादेवजी को आसन पर बैठाकर हिमालय ने रत्न, अर्घ्य, मधु, दही और दो नये वस्त्र आदि जो कुछ लाकर दिये, उन सबको उन्होंने मंत्र के साथ ले लिया॥ ७२॥ तदनन्तर रेशमी वस्त्र पहने हुए महादेवजी को रनिवास के सेवक उसी प्रकार पार्वतीजी के पास ले गये, जैसे चन्द्रमा की किरणें फेन वाले समुद्र को तट तक पहुँचा दिया करती हैं॥ ७३॥ शरद् ऋतु के आने पर जैसे लोग प्रसन्न होते हैं, वैसे ही अत्यन्त देदीप्यमान चंद्रमा के सदृश मुखवाली पार्वतीजी को देखकर शंकरजी के नेत्ररूपी कुमुद खिल गये और उनका मन जल के समान स्वच्छ हो गया॥ ७४॥ पार्वतीजी और शंकरजी के नेत्र थोड़ी देर के लिए मिलते और फिर हट जाते थे। इस प्रकार वे दोनों एक-दूसरे को चावभरी आँखों से देखते थे, किन्तु उनके हृदय में फिर बड़ी लज्जा आ जाती थी कि हमें ऐसा करते देखकर दूसरे लोग क्या कहेंगे॥ ७५॥ तभी हिमालय ने पार्वतीजी का हाथ आगे बढाकर शंकरजी के हाथ पर रख दिया। पार्वतीजी का वह लाल-लाल उँगलियों वाला हाथ ऐसा दीख रहा था कि जैसे महादेवजी के डर से छिपे हुए कामदेव के अंकुर फिर से निकल रहे हो॥ ७६॥ इस प्रकार उनके हाथ पकड़ते ही पार्वतीजी को रोमांच हो आया और महादेवजी की उँगलियों से भी पसीना निकलने लगा। इससे ऐसा जान पड़ा कि मानो इन दोनों का हाथ मिलाकर कामदेव ने दोनों को एक साथ अपने अधीन कर लिया हो॥ ७७॥ विवाह के समय जिन पार्वती और शंकरजी का स्मरण किये जाने पर वे वधू और वर की शोभा बढाते हैं, उन्हीं पार्वती और शंकरजी का जब स्वयं ही विवाह हो रहा है, तब उनकी शोभा का क्या कहना है॥ ७८॥ जलती हुई अग्नि का फेरा देते समय पार्वती और शंकरजी इस प्रकार शोभित हुए, जैसे रात और दिन दोनों मिलकर सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा कर रहे हों॥ ७९॥ पार्वती और शंकरजी आँख मूँदकर एक-दूसरे के स्पर्श का आनन्द लेते हुए अग्नि की प्रदक्षिणा कर रहे थे। जलती हुई अग्नि के जब तीन

सा लाजधूमाञ्जलिमिष्टगन्धं गुरूपदेशाद्वदनं निनाय।
कपोलसंसर्पिशिखः स तस्या मुहूर्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे॥८१॥
तदीषदार्द्रारुणगण्डलेखमुच्छ्वासि कालाञ्जनरागमक्ष्णोः।
वधूमुखं क्लान्तयवावतंसमाचारधूमग्रहणाद् बभूव॥८२॥
वधूं द्विजः प्राह तवैष वत्से! वह्निर्विवाहं प्रति कर्मसाक्षी।
शिवेन भर्त्रा सह धर्मचर्या कार्या त्वया मुक्तविचारयेति॥८३॥
आलोचनान्तं श्रवणे वितत्य पीतं गुरोस्तद्वचनं भवान्या।
निदाघकालोल्बणतापयेव माहेन्द्रमम्भः प्रथमं पृथिव्या॥८४॥
ध्रुवेण भर्त्रा ध्रुवदर्शनाय प्रयुज्यमाना प्रियदर्शनेन।
सा दृष्ट इत्याननमुन्नमय्य ह्रीसन्नकण्ठी कथमप्युवाच॥८५॥
इत्थं विधिज्ञेन पुरोहितेन प्रयुक्तपाणिग्रहणोपचारौ।
प्रणेमतुस्तौ पितरौ प्रजानां पद्मासनस्थाय पितामहाय॥८६॥
वधूर्विधात्रा प्रतिनन्द्यते स्म कल्याणि! वीरप्रसवा भवेति।
वाचस्पतिः सन्नपि सोऽष्टमूर्तौ त्वाशास्य चिन्तास्तिमितो बभूव॥८७॥
क्लृप्तोपचारां चतुरस्रवेदीं तावेत्य पश्चात् कनकासनस्थौ।
जायापती लौकिकमेषणीयमार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम्॥८८॥
पत्रान्तलग्नैर्जलबिन्दुजालैराकृष्टमुक्ताफलजालशोभम्।
तयोरुपर्यायतनालदण्डमाधत्त लक्ष्मीः कमलातपत्रम्॥८९॥

फेरे हो गये, पुरोहित ने अग्नि में धान के लावा का हवन कराया॥८०॥ पुरोहित के कथनानुसार पार्वतीजी ने उस होम से उठे हुए सुगन्धित धुएँ को अपने हाथ की अंजली से लेकर कपोलों पर लगाया। उनके गालों के पास पहुँचकर वह धुआँ क्षणभर के लिए उनके कानों का कर्णफूल बन गया॥८१॥ उस हवन के गरम धुएँ से पार्वतीजी के नेत्र कुछ लाल हो गये, मुँह पर पसीने की बूँदे छहरा गयीं, आँखों का काला आँजन फैल गया और कानों पर धरे हुए यवांकुर धुँधले पड़ गये॥८२॥ तभी पुरोहित ने पार्वतीजी से कहा—वत्से! यह अग्नि तुम्हारे विवाह का साक्षी है। आज से तुम सब प्रकार के संशय छोड़कर शिवजी के साथ सदा धर्म के काम करते रहना॥८३॥ पार्वतीजी ने आँखों तक अपने कान फैलाकर पुरोहित की बात को वैसे ही आदर से पी लिया, जैसे गरमी से तपी हुई धरती वर्षा की पहली फुहार को पी लेती है॥८४॥ जब शंकरजी ने सदा स्थायी ध्रुव की ओर देखो कहा, तब पार्वतीजी ने ऊपर मुँह उठाकर बहुत लजाते हुए किसी प्रकार इतना भर कहा—'हाँ, देख लिया'॥८५॥ इस प्रकार कर्मकाण्ड के विज्ञ पुरोहित ने संसार के माता-पिता शिव-पार्वती का विवाह-कार्य पूरा कर दिया। तब कमल के आसन पर बैठे हुए पितामह ब्रह्माजी को वर-वधू दोनों ने प्रणाम किया॥८६॥ तब ब्रह्माजी ने बहू को आशीर्वाद देते हुए कहा—हे कल्याणी! तुम वीर पुत्र की माता बनो। किन्तु वाणी के स्वामी होते हुए भी ब्रह्माजी यह नहीं समझ सके कि सब इच्छाओं से ऊपर रहने वाले शंकरजी को हम कौन-सा आशीर्वाद दें॥८७॥ वहाँ से ले जाकर महादेव और पार्वतीजी दोनों सजे हुए चौक में सोने के आसन पर बैठाये गये। वहाँ लौकिक विधि के अनुसार उन पर लोगों ने गीले और पीले अक्षत फेंके॥८८॥ उस समय पत्तों के कोरों पर लटकती तथा मोती के समान चमकती हुई जल की बूँदों से भरे हुए

द्विधाप्रयुक्तेन च वाङ्मयेन सरस्वती तन्मिथुनं नुनाव।
संस्कारपूतेन वरं वरेण्यं वधूं सुखग्राह्यनिबन्धनेन॥ ९०॥
तौ सन्धिषु व्यञ्जितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम्।
अपश्यतामप्सरसां मुहूर्तं प्रयोगमाद्यं ललिताङ्गहारम्॥ ९१॥
देवास्तदन्ते हरमूढभार्यं किरीटबद्धाञ्जलयो निपत्य।
शापावसाने प्रतिपन्नमूर्तेर्ययाचिरे पञ्चशरस्य सेवाम्॥ ९२॥
तस्यानुमेने भगवान् विमन्युर्व्यापारमात्मन्यपि सायकानाम्।
कालप्रयुक्ता खलु कार्यविद्भिर्विज्ञापना भर्तृषु सिद्धिमेति॥ ९३॥
अथ विबुधगणांस्तानिन्दुमौलिर्विसृज्य क्षितिधरपतिकन्यामाददानः करेण।
कनककलशयुक्तं भक्तिशोभासनाथं क्षितिविरचितशय्यं कौतुकागारमागात्॥ ९४॥
नवपरिणयलज्जाभूषणां तत्र गौरीं वदनमपहरन्तीं तत्कृताक्षेपमीशः।
अपि शयनसखीभ्यो दत्तवाचं कथञ्चित् प्रमथमुखविकारैर्हासयामास गूढम्॥ ९५॥

इति महाकविकालिदासककृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये
उमापरिणयो नाम सप्तमः सर्गः॥ ७॥

लम्बी डंठल वाले कमल का छत्र उनके ऊपर लगाकर स्वयं लक्ष्मीजी खड़ी हुईं॥ ८९॥ स्वयं देवी सरस्वतीजी संस्कृत और प्राकृत भाषाओं में शिव-पार्वतीजी की स्तुति करने लगीं। संस्कृत में प्रशंसनीय वर की और सरलता से समझने योग्य प्राकृत भाषा में उन्होंने वधू की स्तुति आरम्भ कर दी॥ ९०॥ तदनन्तर पार्वती और शंकरजी ने थोड़ी देर शृङ्गार आदि रसों से युक्त सुन्दर हाव-भाव से भरा और पाँचों सन्धियों में अलग-अलग भाषा की शैलियों से निबद्ध वह नाटक देखा, जिसे अप्सराओं ने खेला था॥ ९१॥ नाटक समाप्त हो जाने पर इन्द्र आदि देवता विवाहित शंकरजी के पास गये और अपने किरीट युक्त सिर पर हाथ जोड़कर कहा—'आपका विवाह हो जाने से शाप भी समाप्त हो गया। अब आप आज्ञा दें तो कामदेव फिर जी उठे और आपकी सेवा करे'॥ ९२॥ तब प्रसन्न मन से शंकरजी ने कहा—'अच्छा, अब कामदेव से कह दो कि वह जी भरकर हम पर बाण चलाये'। ठीक ही कहा है कि जो चतुर सेवक यह जानते हैं कि स्वामी से कौन बात कब कहनी चाहिए, वे स्वामी से जो प्रार्थना करते हैं, वह अवश्य पूरी होती है॥ ९३॥ तब शंकरजी ने इन्द्र आदि देवताओं को विदा किया और पार्वतीजी का हाथ पकड़कर उस शयन-गृह में पहुँचे जहाँ सेज बिछी थी, फूलों की मालाएँ सजी थीं और स्वर्णकलश धरा था॥ ९४॥ नवविवाह होने से लज्जित, महादेवजी के हाथों आँचल खींचने पर मुँह छिपाने वाली और सखियों की ठठोलियों का उचित उत्तर देने वाली पार्वतीजी के आगे जब प्रमथ आदि गण अनेक प्रकार से मुँह बनाने लगे तो पार्वतीजी मन्द-मन्द मुसकाने लगीं॥ ९५॥

इस प्रकार महाकविकालिदासरचित कुमारसम्भवमहाकाव्य में पार्वतीजी के विवाह का वर्णन नामक सातवाँ सर्ग समाप्त॥ ७॥

अष्टमः सर्गः

पाणिपीडनविधेरनन्तरं शैलराजदुहितुर्हरं प्रति।
भावसाध्वसपरिग्रहादभूत् कामदोहदमनोहरं वपुः ॥ १ ॥
व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥ २ ॥
कैतवेन शयिते कुतूहलात् पार्वती प्रतिमुखं निपातितम्।
चक्षुरुन्मिषति सस्मितं प्रिये! विद्युदाहतमिव न्यमीलयत् ॥ ३ ॥
नाभिदेशनिहितः सकम्पया शङ्करस्य रुरुधे तया करः।
तद्दुकूलमथ चाभवत् स्वयं दूरमुच्छ्वसितनीविबन्धनम् ॥ ४ ॥
एवमालि निगृहीतसाध्वसं शङ्करो रहसि सेव्यतामिति।
सा सखीभिरुपदिष्टमाकुला नास्मरत् प्रमुखवर्तिनि प्रिये ॥ ५ ॥
अप्यवस्तुनि कथाप्रवृत्तये प्रश्नतत्परमनङ्गशासनम्।
वीक्षितेन परिवीक्ष्य पार्वती मूर्धकम्पमयमुत्तरं ददौ ॥ ६ ॥
शूलिनः करतलद्वयेन सा सन्निरुध्य नयने हृतांशुका।
तस्य पश्यति ललाटलोचने मोघयत्नविधुरा रहस्यभूत् ॥ ७ ॥
चुम्बनेष्वधरदानवर्जितं खिन्नहस्तसदयोपगूहनम्।
क्लिष्टमन्मथमपि प्रियं प्रभोर्दुर्लभप्रतिकृतं वधूरतम् ॥ ८ ॥

विवाह के बाद पार्वतीजी शिवजी का सान्निध्य चाहती हुई भी कुछ झिझकती थीं। उनके इस प्रेम तथा झिझक से भरे सुन्दर शरीर को देखकर महादेवजी उन पर मुग्ध होते जा रहे थे। वे इतनी लजाती थीं कि शिवजी कुछ पूछते तो बोलती नहीं थीं, यदि वे आँचल थाम लेते तो उठकर भागने लगती थीं और साथ सोते समय दूसरी ओर मुँह फेरकर सोती थीं। परन्तु शिवजी इन बातों से भी प्रसन्न होते थे॥ २॥ शिवजी जब सोने का बहाना कर के लेट जाते थे, तब पार्वतीजी उनकी ओर घूमकर उन्हें एकटक देखा करतीं। तभी मुस्कुराकर शिवजी आँखे खोल देते तो ये चटपट इस तरह आँखें मींच लेतीं, जैसे वे बिजली की चकाचौंध से मिंच गयी हों॥ ३ ॥ शंकरजी जब अपना हाथ उनकी नाभि की ओर बढाते तो काँपती हुई पार्वतीजी उनका हाथ थाम लेतीं, परन्तु न जाने कैसे उनकी साडी की गाँठ ढीली पड़कर स्वतः खुल जाती थी॥ ४॥ पार्वतीजी की सखियाँ सिखाती हुई कहतीं कि सखी! तुम डरना मत और जैसे-जैसे हम बतलाती हैं, वैसे-वैसे अकेले में शंकरजी के पास रहना। किन्तु शिवजी के सामने पहुँचते ही वे इतनी घबरा जाती थीं कि सखियों की सब सिखावन भूल जाती थी॥ ५॥ जब कभी शिवजी वासनाभरी ऊटपटाँग बातें छेडकर उनसे उत्तर माँगते तो वे अपने मुँह से तो कुछ न बोलतीं, परन्तु अपनी आँखें ऊपर उठा और सिर हिलाकर यह जता देतीं कि मैं आपके मन की सब बातें जानती हूँ॥ ६ ॥ अकेले में शिवजी जब कभी उनके कपड़े खींचकर उघाड देते तो वे अपनी दोनों हथेलियों से शिवजी के दोनों नेत्र बन्द कर लेती थीं, जिससे वे देख न सकें। परन्तु शिवजी तुरन्त अपना तीसरा नेत्र खोल लेते तो हार मानकर बैठ जाती थीं॥ ७॥ महादेवजी जब उन्हें चूमना चाहते थे तो वे अपना ओठ ही नहीं बढाती थीं और जब वे उन्हें कसकर छाती से लगाना चाहते तो ये अपने

यन्मुखग्रहणमक्षताधरं दानमव्रणपदं नखस्य यत्।
यद्रतं च सदयं प्रियस्य तत्पार्वती विषहते स्म नेतरत्॥ ९ ॥
रात्रिवृत्तमनुयोक्तुमुद्यतं सा प्रभातसमये सखीजनम्।
नाकरोदपकुतूहलं ह्रिया शंसितुं तु हृदयेन तत्वरे॥ १०॥
दर्पणे च परिभोगदर्शिनी पृष्ठतः प्रणयिनो निषेदुषः।
प्रेक्ष्य बिम्बमुपबिम्बमात्मनः कानि कानि न चकार लज्जया॥ ११ ॥
नीलकण्ठपरिभुक्तयौवनां तां विलोक्य जननी समाश्वसत्।
भर्तृवल्लभतया हि मानसीं मातुरस्यति शुचं वधूजनः॥ १२॥
वासराणि कतिचित्कथश्चन स्थाणुना रतमकारि चानया।
ज्ञातमन्मथरसा शनैः शनैः सा मुमोच रतिदुःखशीलताम्॥ १३॥
सस्वजे प्रियमुरोनिपीडनं प्रार्थितं मुखमनेन नाहरत्।
मेखलाप्रणयलोलतां गतं हस्तमस्य शिथिलं रुरोध सा॥ १४॥
भावसूचितमदृष्टविप्रियं दार्ढ्यभाक्क्षणवियोगकातरम्।
कैश्चिदेव दिवसैस्तथा तयोः प्रेम गूढमितरेतराश्रयम्॥ १५॥
तं यथात्मसदृशं वरं वधूरन्वरज्यत वरस्तथैव ताम्।
सागरादनपगा हि जाह्नवी सोऽपि तन्मुखरसैकवृत्तिभाक्॥ १६॥

हाथ तक नहीं उठाती थीं। इन बाधाओं और अधूरे रस के साथ भी शिवजी ने नववधू के साथ जो संभोग किया, उसमें भी उन्हें आनन्द मिला॥ ८॥ धीरे-धीरे पार्वतीजी की झिझक मिटने लगी। इसलिए जब कभी महादेवजी उन्हें चूमते समय अधर नहीं काटते थे, नखक्षत करते हुए घाव नहीं करते थे और संभोग बहुत धीरे-धीरे करते थे तो वे आनाकानी नहीं करती थीं। परन्तु इससे आगे बढने पर वे घबरा उठती थीं॥ ९॥ सवेरे जब सखियाँ उनसे रात की बातें पूछने लगतीं तो वे चाहती हुई भी लज्जा के मारे नहीं बता पाती थीं॥ १०॥ जब वे हाथ में दर्पण लेकर उसमें अपने शरीर पर बने सम्भोग के चिह्न देखतीं और उस समय कहीं पीछे से चुपचाप शिवजी पहुँच जाते तो उनकी परछाईं दर्पण में पडते ही वे लजा जाती थीं और झेंप के मारे न जाने क्या-क्या करने लगती थीं॥ ११॥ यह देखकर मेना को बड़ा सन्तोष हुआ कि महादेवजी मेरी कन्या के यौवन का उपभोग कर रहे हैं। क्योंकि कोई भी माता जब यह देख लेती है कि मेरा दामाद कन्या को प्यार करता है तो उसको मानसिक शान्ति मिलती है॥ १२॥ कुछ दिनों तक तो महादेवजी ज्यों-त्यों करके पार्वतीजी के साथ संभोग करते रहे। किन्तु जब धीरे-धीरे पार्वतीजी को भी संभोग का रस मिलने लगा, तब उनकी भी झिझक धीरे-धीरे निवृत्त हो गयी॥ १३॥ अब महादेवजी जब उन्हें कसकर छाती से लगाते तो वे भी उन्हें दोनों हाथों से कस लेतीं, जब चूमने को मुँह बढाते तो वे अपना मुँह हटाती नहीं थीं और जब शंकरजी उनकी तागड़ी पकड़कर खींचते तो पार्वतीजी आधे मन से ही उनका हाथ रोकती थीं॥ १४॥ थोड़े ही दिनों में दोनों की चाल-ढाल से यह निश्चित हो गया कि अब वे परस्पर घुल-मिल गये हैं। क्योंकि अब दोनो एक-दूसरे की बड़ाई करते थे और यदि क्षणभर के लिए भी एक-दूसरे से अलग होते तो तड़पने लगते थे॥ १५॥ जैसे गंगाजी समुद्र के पास जा और उसमें मिलकर वहाँ से लौटने का नाम नहीं लेतीं और समुद्र भी उन्हीं के मुख का जल ले-लेकर बराबर उनसे प्रम करता रहता है, वैसे ही पार्वतीजी जैसे-जैसे अपने प्रियतम का मन बहलातीं, वैसे-वैसे महादेवजी भी उनके मन की ही बातें करते थे॥ १६॥ शंकरजी से पार्वतीजी ने अकेले में जो कामकला सीखी थी, उस कला के अनुरूप उन्होंने महादेवजी

शिष्यतां निधुवनोपदेशिनः शङ्करस्य रहसि प्रपन्नया।
शिक्षितं युवतिनैपुणं तया यत्तदेव गुरुदक्षिणीकृतम्॥ १७॥
दष्टमुक्तमधरोष्ठमम्बिका वेदनाविधुरहस्तपल्लवा।
शीतलेन निरवापयत् क्षणं मौलिचन्द्रशकलेन शूलिनः॥ १८॥
चुम्बनादलकचूर्णदूषितं शङ्करोऽपि नयनं ललाटजम्।
उच्छ्वसत्कमलगन्धये ददौ पार्वतीवदनगन्धवाहिने॥ १९॥
एवमिन्द्रियसुखस्य वर्त्मनः सेवनादनुगृहीतमन्मथः।
शैलराजभवने सहोमया मासमात्रमवसद्वृषध्वजः॥ २०॥
सोऽनुमान्य हिमवन्तमात्मभूरात्मजाविरहदुःखखेदितम्।
तत्र तत्र विजहार सम्पतन्नप्रमेयगतिना ककुद्मता॥ २१॥
मेरुमेत्य मरुदाशुगोक्षकः पार्वतीस्तनपुरस्कृतान्कृती।
हेमपल्लवविभङ्गसंस्तरानन्वभूत् सुरतमर्दनक्षमान्॥ २२॥
पद्मनाभचरणाङ्किताश्मसु प्राप्तवत्स्वमृतविप्रुषो नवाः।
मन्दरस्य कटकेषु चावसत् पार्वतीवदनपद्मषट्पदः॥ २३॥
रावणध्वनितभीतया तया कण्ठसक्तदृढबाहुबन्धनः।
एकपिङ्गलगिरौ जगद्गुरुर्निर्विवेश विशदाः शशिप्रभाः॥ २४॥
तस्य जातु मलयस्थलीरते धूतचन्दनलतः प्रियाक्लमम्।
आचचाम सलवङ्गकेसरश्चाटुकार इव दक्षिणानिलः॥ २५॥

के साथ नववधुओं के चटक-मटक से भरा जो संभोग किया, वही मानो कला सीखने की गुरुदक्षिणा थी॥ १७॥ महादेवजी जब कभी पार्वतीजी का ओठ काट लेते तो वे पीड़ा से अपने हाथ झटकने लगती थीं। फिर तत्काल महादेवजी के सिर पर बैठे चन्द्रमा पर ओठ रख देतीं तो उन्हें ऐसी ठंडक मिलती थी कि उनकी सब पीड़ा दूर हो जाती थी॥ १८॥ चुम्बन लेते समय जब पार्वतीजी की केशों का चूर्ण शिवजी के तीसरे नेत्र पर पड़ता तो वह नेत्र दुःखने लगता था। तब खिले हुए कमल की गन्धयुक्त पार्वतीजी के मुँह की फूँक पाने के लिए वे अपना नेत्र उठाकर उनके मुँह तक पहुँचा दिया करते थे॥ १९॥ इस प्रकार इन्द्रियसुख भोगकर महादेवजी ने कामदेव पर बड़ी कृपा की और उमा के साथ हिमालय के घर में रहते हुए उन्होंने एक महीना बिताया॥ २०॥ इसके बाद शंकरजी ने हिमालय से जाने की आज्ञा माँगी। कन्या को अपने से अलग करने में हिमालय को बहुत दुःख हुआ, किन्तु उन्होंने विदा दे दी। अब वे अपने बेरोक-टोक चलने वाले नन्दी पर चढकर जहाँ-तहाँ घूमते हुए विहार करने लगे॥ २१॥ वायु-सदृश द्रुतगामी बैल पर चढ तथा आगे पार्वतीजी को बैठाकर उनके स्तन पकड़े हुए वे सुमेरु पर्वत पर पहुँचे और वहाँ सुनहरे पत्तों की शय्या पर उन्होंने एक रात सम्भोग किया॥ २२॥ पार्वतीजी के मुखकमल के मधुकर महादेवजी वहाँ से चलकर मन्दराचल की उस ढाल पर पहुँचे, जिसकी चट्टानों पर विष्णु के चरणों की छाप और समुद्रमन्थन के समय उड़े अमृत की बूँदों के नये-नये छींटे पडे हुए थे॥ २३॥ वहाँ से चलकर वे कुबेर की राजधानी कैलास पर पहुँचे, जहाँ रावण का गर्जन सुनकर पार्वतीजी ऐसी डरीं कि वे अपनी कोमल भुजाएँ शिवजी के गले में डालकर उनसे लिपट गयीं। वहाँ रहकर शंकरजी ने उजली चाँदनी का भरपूर आनन्द लिया॥ २४॥ वहाँ से चलकर वे मलय पर्वत पर जा पहुँचे, जहाँ चन्दन की कोमल शाखाओं को हिलाने और लौंग के फूलों की केसर उड़ाने वाला दक्षिणी पवन सम्भोग से थकी पार्वतीजी की थकावट वैसे ही दूर कर रहा था, जैसे कोई मीठी-मीठी बातें करके किसी थके

हेमतामरसताडितप्रिया तत्कराम्बुविनिमीलितेक्षणा।
सा व्यगाहत तरङ्गिणीमुमा मीनपङ्क्तिपुनरुक्तमेखला॥ २६॥
तां पुलोमतनयालकोचितैः पारिजातकुसुमैः प्रसाधयन्।
नन्दने चिरमयुग्मलोचनः सस्पृहं सुरवधूभिरीक्षितः॥ २७॥
इत्यभौममनुभूय शङ्करः पार्थिवं च दयितासखः सुखम्।
लोहितायति कदाचिदातपे गन्धमादनवनं व्यगाहत॥ २८॥
तत्र काञ्चनशिलातलाश्रयो नेत्रगम्यमवलोक्य भास्करम्।
दक्षिणेतरभुजव्यपाश्रयां व्याजहार सहधर्मचारिणीम्॥ २९॥
पद्मकान्तिमरुणत्रिभागयोः सङ्क्रमय्य तव नेत्रयोरिव।
सङ्क्षये जगदिव प्रजेश्वरः संहरत्यहरसावहर्पतिः॥ ३०॥
सीकरव्यतिकरं मरीचिभिर्दूरयत्यवनते विवस्वति।
इन्द्रचापपरिवेषशून्यतां निर्झरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी॥ ३१॥
दष्टतामरसकेसरस्रजोः क्रन्दतोर्विपरिवृत्तकण्ठयोः।
निघ्नयोः सरसि चक्रवाकयोरल्पमन्तरमनल्पतां गतम्॥ ३२॥
स्थानमाह्निकमपास्य दन्तिनः सल्लकीविटपभङ्गवासितम्।
आविभातचरणाय गृह्णते वारि वारिरुहबद्धषट्पदम्॥ ३३॥
पश्य पश्चिमदिगन्तलम्बिना निर्मितं मितकथे! विवस्वता।
लब्धया प्रतिमया सरोऽम्भसां तापनीयमिव सेतुबन्धनम्॥ ३४॥

हुए पथिक का मन बहलाता हो॥ २५॥ वहाँ पार्वतीजी कभी उस आकाशगंगा में जल-विहार करने लगतीं, जहाँ उनकी कमर के चारों ओर खेलने वाली मछलियाँ ऐसी लगती थीं कि जैसे उन्होंने दूसरी करधनी पहन ली हो। वहाँ वे सोने के कमल तोड-तोड़कर उनसे महादेवजी को मारती थीं और महादेवजी भी इस तरह पानी उछालते थे कि उमा की आँखें बन्द हो जाती थीं॥ २६॥ वहाँ से नन्दन वन में जाकर महादेवजी पारिजात के उन फूलों से बहुत दिनों तक पार्वतीजी का शृङ्गार करते रहे, जिनसे इन्द्राणी के केश सजाये जाते थे। वहाँ की अप्सराएँ महादेवजी की इस कला को बडे चाव से देखती थीं॥ २७॥ इस प्रकार अपनी प्राणप्यारी के साथ सांसारिक और स्वर्गीय दोनों सुख भोगते हुए सन्ध्या के समय जब सूर्य लाल-लाल दीख रहे थे उस समय एक दिन वे गन्धमादन पर्वत पर पहुँचे।॥ २८॥ वे सोने की एक चट्टान पर बैठ गये। उस समय सूर्य का तेज़ इतना क्षीण हो गया था कि उसकी ओर आसानी से देखा जा सकता था। उसे देखकर बाँयीं भुजा के सहारे बैठी अपनी धर्मपत्नी उमा से महादेवजी ने कहा—॥ २९॥ देखो प्यारी! इस समय सूर्य ऐसा दीख रहा है, जैसे यह तुम्हारी तिहाई लाल आँखों के समान सुन्दर कमलों की शोभा को लजाकर उसी प्रकार दिन को समेट रहा है, जैसे प्रलय के समय ब्रह्माजी सारे संसार को समेट लिया करते हैं॥ ३०॥ जैसे-जैसे दिन ढलता जाता है, वैसे-वैसे सूर्य की किरणें हिमालय के झरनों की फुहारों से दूर होती जाती हैं और उनके हटते ही उन फुहारों में बने हुए इन्द्रधनुष भी अदृश्य होते जा रहे हैं॥ ३१॥ कटे हुए कमलों की केसर को चोंच में दबाकर ये चकवी-चकवे एक-दूसरे के कंठ से अलग होकर चीखने लगे हैं और तालाब का यह छोटा-सा पाट भी इनके लिए बहुत बड़ा बन गया है॥ ३२॥ सलई के वृक्षों के टूटने से जहाँ गन्ध फैल गयी है और जहाँ हाथी दिन में रहा करते थे, उन स्थानों को अगले दिन तक के लिए छोडकर ये हाथी उस ताल की ओर जा रहे हैं, जहाँ कमलों में भौंरें बन्द हैं॥ ३३॥ हे मधुरभाषिणि! पश्चिम दिशा में लटके

उत्तरन्ति विनिकीर्य पल्वलं गाढपङ्कमतिवाहितातपाः।
दंष्ट्रिणो वनवराहयूथपा दष्टभङ्गुरबिसाङ्कुरा इव॥ ३५॥
एष वृक्षशिखरे कृतास्पदो जातरूपरसगौरमण्डलम्।
हीयमानमहरत्ययातपं पीवरोरु! पिबतीव बर्हिणः॥ ३६॥
पूर्वभागतिमिरप्रवृत्तिभिर्व्यक्तपङ्कमिव जातमेकतः।
खं हृतातपजलं विवस्वता भाति किञ्चिदिव शेषवत्सरः॥ ३७॥
आविशद्भिरुटजाङ्गणं मृगैर्मूलसेकसरसैश्च वृक्षकैः।
आश्रमाः प्रविशदग्र्यधेनवो बिभ्रति श्रियमुदीरिताग्नयः॥ ३८॥
बद्धकोशमपि तिष्ठति क्षणं सावशेषविवरं कुशेशयम्।
षट्पदाय वसतिं ग्रहीष्यते प्रीतिपूर्वमिव दातुमन्तरम्॥ ३९॥
दूरमग्रपरिमेयरश्मिना वारुणी दिगरुणेन भानुना।
भाति केसरवतेव मण्डिता बन्धुजीवतिलकेन कन्यका॥ ४०॥
सामभिः सहचराः सहस्रशः स्यन्दनाश्वहृदयङ्गमस्वनैः।
भानुमग्निपरिकीर्णतेजसं संस्तुवन्ति किरणोष्मपायिनः॥ ४१॥
सोऽयमानतशिरोधरैर्हयैः कर्णचामरविघट्टितेक्षणैः।
अस्तमेति युगभुग्नकेसरैः संनिधाय दिवसं महोदधौ॥ ४२॥
खं प्रसुप्तमिव संस्थिते रवौ तेजसो महत ईदृशी गतिः।
तत्प्रकाशयति यावदुद्गतं मीलनाय खलु तावतश्च्युतम्॥ ४३॥

हुए सूर्य ने अपनी परछाई से तालाब के जल में एक सुनहरा पुल-सा बना दिया है॥ ३४॥ तालावों को मथकर तथा उनके गाढ़े कीचड़ में लोट-लोटकर दिनभर की गर्मी विताने के बाद ये जो बड़े-बड़े दाँत वाले लम्बे-चौड़े जंगली सूअर निकले चले आ रहे हैं। इनके दाँत ऐसे दीख रहे हैं, जैसे इनके खाये हुए कमलों की डंठलें जवड़ों में अटक गयी हों॥ ३५॥ इस पेड़ की शाखा पर बैठे मोर की पूँछ में बनी हुई गोल-गोल और सोने के पानी-सदृश सुनहरी चन्द्रिकाओं को देखकर ऐसा लगता है कि मानो यह बैठा हुआ मोर साँझ की सब धूप पिये ले रहा है और इसी से दिन ढलता जाता है॥ ३६॥ सूर्य ने आकाश से आतपरूपी पानी खींच लिया है। अतएव आकाश उस तालाब के समान दीख रहा है, जिसमें पूर्व की ओर अँधेरा बढ़ते जाने से उधर कीचड़ ही बचा रह गया है। पश्चिम दिशा में कुछ-कुछ उजाला रहने से ऐसा दीखता है कि उधर अभी थोडा-थोडा पानी बचा हुआ है॥ ३७॥ पर्णकुटियों के आँगन में आते हुए हिरनों, सींचे हुए जडवाले हरे-भरे पौधों, वन से लौटकर आती हुई सुन्दर गौओं और हवन की जलती हुई अग्नि से ये आश्रम कैसे सुन्दर दीख रहे हैं॥ ३८॥ इस समय कमल मुँद चले, फिर भी क्षणभर के लिए अपना मुँह थोड़ा-सा इस वास्ते खुला रखे हुए हैं कि जो भौंरें बाहर रह गये हों, उन्हें वे प्रेम से अपने हृदय में बैठा लें॥ ३९॥ बहुत दूर पर सूर्य की हलकी-सी झलक दीखने के कारण पश्चिम दिशा उस कन्या जैसी लग रही है, जिसने अपने माथे पर केसर से भरे बन्धुजीव के फल का तिलक लगा लिया हो॥ ४०॥ सूर्य की किरणों की गर्मी पीने वाले सहस्रों बालखिल्य आदि ऋषि सूर्य के रथ के घोडों को भाने वाला सामवेद गा-गाकर उन सूर्यदेव की स्तुति कर रहे हैं, जिन्होंने इस समय अपना तेज अग्नि को सौंप दिया है॥ ४१॥ दिन को समुद्र में रखकर सूर्य अपने उन घोड़ों को लिये हुए अस्ताचल की ओर बढ़े जा रहे हैं, जिनके सिर नीचे उतरने के कारण झुके हुए हैं, जिनके कानों की चौरियाँ आँखों पर झूल रही हैं और जिनकी गर्दन के बाल जूए से लग-लगकर छितरा गये हैं॥ ४२॥ सूर्य के अस्त होते ही सारा आकाश सोया हुआ-सा दीखने लगा। तेजस्वियों की बात ही

सन्ध्ययाऽप्यनुगतं रवेर्वपुर्वन्द्यमस्तशिखरे समर्पितम्।
येन पूर्वमुदये पुरस्कृता नानुयास्यति कथं तमापदि॥४४॥
रक्तपीतकपिशाः पयोमुचां कोटयः कुटिलकेशि! भान्त्यमूः।
द्रक्ष्यसि त्वमिति सन्ध्ययानया वर्तिकाभिरिव साधुमण्डिताः॥४५॥
सिंहकेसरसटासु भूभृतां पल्लवप्रसविषु द्रुमेषु च।
पश्य धातुशिखरेषु भानुना संविभक्तमिव सान्ध्यमातपम्॥४६॥
अद्रिराजतनये तपस्विनः पावनाम्बुविहिताञ्जलिक्रियाः।
ब्रह्म गूढमभिसन्ध्यमादृताः शुद्धये विधिविदो गृणन्त्यमी॥४७॥
तन्मुहूर्तमनुमन्तुमर्हसि प्रस्तुताय नियमाय मामपि।
त्वां विनोदनिपुणः सखीजनो वल्गुवादिनि! विनोदयिष्यति॥४८॥
निर्विभुज्य दशनच्छदं ततो वाचि भर्तुरवधीरणापरा।
शैलराजतनया समीपगामाललाप विजयामहेतुकम्॥४९॥
ईश्वरोऽपि दिवसात्ययोचितं मन्त्रपूर्वमनुतस्थिवान्विधिम्।
पार्वतीमवचनामसूयया प्रत्युपेत्य पुनराह सस्मितम्॥५०॥
मुञ्च कोपमनिमित्तकोपने! सन्ध्यया प्रणमितोऽस्मि नान्यया।
किं न वेत्सि सहधर्मचारिणं चक्रवाकसमवृत्तिमात्मनः॥५१॥
निर्मितेषु पितृषु स्वयम्भुवा या तनुः सुतनु पूर्वमुज्झिता।
सेयमस्तमुदयं च सेवते तेन मानिनि! ममात्र गौरवम्॥५२॥

ऐसी होती है कि वे जहाँ निकलते हैं वहाँ उजाला हो जाता है और जहाँ छिपते हैं वहाँ अँधेरा छा जाता है॥४३॥ पूजनीय सूर्य अस्ताचल को गये तो सन्ध्या भी उनके साथ चली गयी। सवेरे उदयकाल में जो सन्ध्या सूर्य के आगे-आगे रही, वह विपत्ति के समय उनका साथ कैसे छोड़ती॥४४॥ हे घुँघराले वालों वाली! सामने फैले हुए ये लाल और भूरे बादल के टुकड़े ऐसे लग रहे हैं, मानो सन्ध्यासुन्दरी ने उनको यह समझकर तूलिका से रंग दिया है कि उन्हें तुम देखोगी॥४५॥ हिमालयनिवासी सिंहों के लाल केसरों, नये पत्तों से लदे वृक्षों और रंगीन धातुवाली हिमालय की चोटियों को देखकर ऐसा लगता है कि अस्ताचल को गये हुए सूर्य ने अपनी लाल धूप इन सबमें बाँट दी है॥४६॥ हे पार्वती! सब क्रियाएँ जानने वाले ये तपस्वी पवित्र जल से सूर्य को सायंकालीन अर्घ्य देकर आत्मशुद्धि के लिए बड़ी श्रद्धा के साथ रहस्य-भरा गायत्रीमंत्र जप रहे हैं॥४७॥ हे मधुरभाषिणी! अब साँझ हो चली है। अतएव तुम मुझे थोड़ी देर की छुट्टी दे दो तो मैं भी सन्ध्या कर लूँ। उतनी देर तक तुम्हारी चतुर सखियाँ तुम्हारा मन बहलायेंगी॥४८॥ यह सुनकर पार्वतीजी ने जैसे महादेवजी की बात अनसुनी करके ओठ बिचका दिया और पास ही बैठी हुई विजया के साथ वे बेमतलब की बातें करने लगीं॥४९॥ मंत्रोच्चारणपूर्वक सन्ध्या पूर्ण करके महादेवजी उन पार्वतीजी के पास पहुँचे, जो चुप्पी साधकर रूठी हुई बैठी थीं। तब मुस्कुराते हुए शिवजी बोले—॥५०॥ बिना कारण के क्रोध करने वाली हे भामिनी! क्रोध न करो। मैं सन्ध्या करने ही तो गया था। तुम्हारे ही साथ सदा धर्म का काम करने वाले मुझको क्या तुम चकवे के जैसा सच्चा प्रेमी नहीं समझतीं?॥५१॥ हे सुन्दरी! पितरों को रचते समय ब्रह्मा ने अपनी एक छोटी-सी मूर्ति बना ली थी। सूर्योदय और सूर्यास्त के समय संध्या के रूप में वही मूर्ति पूजी जाती है। इसलिए हे मानिनि! मैं भी सन्ध्या का इतना सम्मान करता हूँ॥५२॥ हे पार्वती! एक ओर बढ़ते हुए अन्धकार से घिरी हुई सन्ध्या इस समय ऐसी दीख रही है, जैसे बहती हुई गेरू की

तामिमां तिमिरवृद्धिपीडितां शैलराजतनयेऽधुना स्थिताम्।
एकतस्तटतमालमालिनीं पश्य धातुरसनिम्नगामिव॥५३॥
सान्ध्यमस्तमितशेषमातपं रक्तलेखमपरा बिभर्ति दिक्।
सम्परायवसुधासशोणितं मण्डलाग्रमिव तिर्यगुज्झितम्॥५४॥
यामिनीदिवससन्धिसम्भवे तेजसि व्यवहिते सुमेरुणा।
एतदन्धतमसं निरङ्कुशं दिक्षु दीर्घनयने विजृम्भते॥५५॥
नोर्ध्वमीक्षणगतिर्न चाप्यधो नाभितो न पुरतो न पृष्ठतः।
लोक एष तिमिरौघवेष्टितो गर्भवास इव वर्तते निशि॥५६॥
शुद्धमाविलमवस्थितं चलं वक्रमार्जवगुणान्वितं च यत्।
सर्वमेव तमसा समीकृतं धिङ्महत्त्वमसतां हृतान्तरम्॥५७॥
नूनमुन्नमति यज्वनां पतिः शार्वरस्य तमसो निषिद्धये।
पुण्डरीकमुखि! पूर्वदिङ्मुखं कैतकैरिव रजोभिराहतम्॥५८॥
मन्दरान्तरितमूर्तिना निशा लक्ष्यते शशभृता सतारका।
त्वं मया प्रियसखीसमागता श्रोष्यतेव वचनानि पृष्ठतः॥५९॥
रुद्धनिर्गमनमादिनक्षयात् पूर्वदृष्टतनु! चन्द्रिकास्मितम्।
एतदुद्गिरति चन्द्रमण्डलं दिग्रहस्यमिव रात्रिनोदितम्॥६०॥
पश्य पक्वफलिनी फलत्विषा बिम्बलाञ्छितवियत्सरोम्भसा।
विप्रकृष्टविवरं हिमांशुना चक्रवाकमिथुनं विडम्ब्यते॥६१॥

धारा के एक किनारे तमाल के पेड खड़े हों॥५३॥ दूसरी ओर अस्त होने से बचे हुए सन्ध्या के प्रकाश की लाल रेखा पश्चिम में ऐसी दीख रही है, मानो युद्धभूमि में टेढ़ी चलाई हुई रक्तरंजित तलवार हो॥५४॥ हे उमा! सूर्यास्त हो जाने पर रात और दिन का मेल कराने वाली सन्ध्या का सब प्रकाश सुमेरु पर्वत के बीच में आ जाने से रुक गया और अब मनमाने ढंग से चारों ओर फैल रहा है॥५५॥ अब अँधेरा फैल जाने से न तो ऊपर कुछ दीखता है न नीचे, न आसपास और न आगे-पीछे। इस समय सम्पूर्ण संसार इस प्रकार अँधेरे से घिर गया है, जैसे गर्भ की झिल्ली में लिपटा हुआ कोई बालक पड़ा हो॥५६॥ इस अँधेरे में उजले और मैले, खड़े और चलते, सीधे और टेढे सब एक-से हो गये हैं। धिक्कार है ऐसे दुष्टों के राज्य को, जहाँ भले-बुरे सब एक घाट लगते हों॥५७॥ हे कमलमुखी! पूर्वदिशा का भाग कुछ-कुछ ऐसा उजला दीख रहा है, मानो केतकी के फूल का पराग उधर फैल गया हो। इससे ज्ञात होता है कि रात का अँधेरा दूर करने के लिए चन्द्रमा निकल रहे हैं॥५८॥ अभी चन्द्रोदय नहीं हुआ है, किन्तु आकाश में तारे निकल आये हैं। अतएव इस समय मन्दराचल के पीछे छिपे हुए इन्द्रदेव इस तारों भरी रात में ऐसे लग रहे हैं, जैसे मैं तुम्हारे पीछे से आकर तुम लोगों की बात उस समय सुनता हूँ, जब तुम अपनी सखियों के साथ बैठकर बातें करती रहती हो॥५९॥ जो चन्द्रमा दिनभर नहीं दीखता था, इस समय निकला हुआ ऐसा लगता है कि मानो रात के कहने से वह चाँदनी के रूप में मुस्कुराता हुआ पूर्वदिशा के सब भेद खोल दे रहा है॥६०॥ हे पार्वती! यह उदयकालीन चन्द्रमा इस समय पके हुए प्रियंगु के फल की नाई के समान लाल दीख रहा है। इस समय आकाश का चन्द्रमा और ताल के पानी में विद्यमान चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब दोनों ऐसे लगते हैं, जैसे रात होने पर चकवी-चकवे का जोड़ा दूर जा पड़ा हो॥६१॥ चन्द्रमा की खिलती हुई नवीन किरणें नये और कोमल जौ के अंकुरों

शक्यमोषधिपतेर्नवोदयाः कर्णपूररचनाकृते तव।
अप्रगल्भयवसूचिकोमलाश्छेत्तुमग्रनखसम्पुटैः कराः ॥ ६२ ॥
अङ्गुलीभिरिव केशसञ्चयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥ ६३ ॥
पश्य पार्वति! नवेन्दुरश्मिभिर्भिन्नसान्द्रतिमिरं नभस्तलम्।
लक्ष्यते द्विरदभोगदूषितं सप्रसादमिव मानसं सरः ॥ ६४ ॥
रक्तभावमपहाय चन्द्रमा जात एष परिशुद्धमण्डलः।
विक्रिया न खलु कालदोषजा निर्मलप्रकृतिषु स्थिरोदया ॥ ६५ ॥
उन्नतेषु शशिनः प्रभा स्थिता निम्नसंश्रयपरं निशातमः।
नूनमात्मसदृशी प्रकल्पिता वेधसा हि गुणदोषयोर्गतिः ॥ ६६ ॥
चन्द्रपादजनितप्रवृत्तिभिश्चन्द्रकान्तजलबिन्दुभिर्गिरिः।
मेखलातरुषु निद्रितानमून् बोधयत्यसमये शिखण्डिनः ॥ ६७ ॥
कल्पवृक्षशिखरेषु सम्प्रति प्रस्फुरद्भिरिव पश्य सुन्दरि!।
हारयष्टिरचनामिवांशुभिः कर्तुमागतकुतूहलः शशी ॥ ६८ ॥
उन्नतावनतभाववत्तया चन्द्रिका सतिमिरा गिरेरियम्।
भक्तिभिर्बहुविधाभिरर्पिता भाति भूतिरिव मत्तहस्तिनः ॥ ६९ ॥
एतदुच्छ्वसितपीतमैन्दवं वोढुमक्षममिव प्रभारसम्।
मुक्तषट्पदविरावमञ्जसा भिद्यते कुमुदमानिबन्धनात् ॥ ७० ॥

जैसी कोमल हैं। तुम चाहो तो कर्णफूल बनाने के लिए अपने नखों की नोक से उन्हें तोड़ सकती हो ॥ ६२ ॥ इस समय कमल सम्पुटित हो गये हैं और चाँदनी फैल जाने से अँधेरा दूर हो गया है। इसलिए ऐसा लग रहा है कि मानो चन्द्रमा अपनी किरण रूपी उँगलियों से रात्रिरूपिणी नायिका के मुँह पर फैले अँधेरेरूपी बालों को हटाकर उसका मुँह चुम रहा है और रात भी उस चुम्बन का रस लेने के लिए अपने कमलरूपी नेत्र मूँदे बैठी है ॥ ६३ ॥ हे पार्वती! उदित चन्द्रमा की किरणों से घना अँधेरा मिट जाने पर आकाश ऐसा दीख रहा है, जैसे हाथियों की जलक्रीड़ा से गँदला मानसरोवर निर्मल हो गया हो ॥ ६४ ॥ अब चन्द्रमा का मण्डल लाली त्यागकर धीरे-धीरे श्वेत हो चला है। क्योंकि जो लोग निर्मल स्वभाव के होते हैं, उनमें समय के फेर से यदि कभी कोई दोष भी आ जाता है तो वह बहुत दिनों तक नहीं टिकता ॥ ६५ ॥ ऊँची जगहों पर तो चाँदनी फैल गयी है, परन्तु घाटियों और खड्डों में अभी अँधेरा ही बना हुआ है। वस्तुतः ब्रह्मा ने गुण और दोष की स्थिति ही ऐसी बनायी है कि गुण ऊँचे रहता है और दोष नीचे चला जाता है ॥ ६६ ॥ चन्द्रमा की किरणें पड़ने के कारण इस पर्वत के चन्द्रकान्त मणि की चट्टानों से जल की बूँदें टपक रही हैं। अतएव पर्वत की ढाल पर वृक्षों की छाया में सोये हुए मोर इन बूँदों को वर्षा की बूँदें समझकर बिना वर्षा आये ही जाग गये हैं ॥ ६७ ॥ हे सुन्दरी! इस समय कल्पवृक्ष की फुनगियों पर चमकती हुई किरणों को देखकर ऐसा लगता है कि मानो चन्द्रमा अपनी किरणों से कल्पवृक्ष में चन्द्रहार बनाने आया हुआ है ॥ ६८ ॥ इस पहाड़ के ऊँचा-नीचा होने से कहीं तो चाँदनी है और कहीं अँधेरा। अतएव यह ऐसा दीख रहा है कि जैसे मतवाले हाथी पर अनेक प्रकार की चित्रकारी कर दी गयी हो ॥ ६९ ॥ भौंरों की गूँज से भरा यह जो कुमुद खिल रहा है, वह ऐसा लगता है कि मानो साँस ले-लेकर इसने जो भरपेट चाँदनी पी ली थी, उसे पचा न सकने के कारण इसका पेट फट गया है और अब यह कराह रहा है ॥ ७० ॥ हे चण्डिके! कल्पवृक्षों में लटके कपड़ों

पश्य कल्पतरुलम्बि शुद्धया ज्योत्स्नया जनितरूपसंशयम्।
मारुते चलति चण्डिके! बलाद्व्यज्यते विपरिवृत्तमंशुकम्॥ ७१॥
शक्यमङ्गुलिभिरुत्थितैरधः शाखिनां पतितपुष्पपेशलैः।
पत्रजर्जरशशिप्रभालवैरेभिरुत्कचयितुं तवालकान्॥ ७२॥
एष चारुमुखि! योग्यतारया युज्यते तरलबिम्बया शशी।
साध्वसादुपगतप्रकम्पया कन्ययेव नवदीक्षया वरः॥ ७३॥
पाकभिन्नशरकाण्डगौरयोरुल्लसत्प्रकृतिजप्रसादयोः।
रोहतीव तव गण्डलेखयोश्चन्द्रबिम्बनिहिताक्षि! चन्द्रिका॥ ७४॥
लोहितार्कमणिभाजनार्पितं कल्पवृक्षमधु बिभ्रति स्वयम्।
त्वामियं स्थितिमतीमुपागता गन्धमादनवनाधिदेवता॥ ७५॥
आर्द्रकेसरसुगन्धि ते मुखं मत्तरक्तनयनं स्वभावतः।
अत्र लब्धवसतिर्गुणान्तरं किं विलासिनि! मदः करिष्यति॥ ७६॥
मान्यभक्तिरथवा सखीजनः सेव्यतामिदमनङ्गदीपनम्।
इत्युदारमभिधाय शङ्करस्तामपाययत पानमम्बिकाम्॥ ७७॥
पार्वती तदुपयोगसम्भवां विक्रियामपि सतां मनोहराम्।
अप्रतर्क्यविधियोगनिर्मितामाम्रतेव सहकारतां ययौ॥ ७८॥
तत्क्षणं विपरिवर्तितह्रियोर्नेष्यतोः शयनमिद्धरागयोः।
सा बभूव वशवर्तिनी द्वयोः शूलिनः सुवदना मदस्य च॥ ७९॥
घूर्णमाननयनं स्खलत्कथं स्वेदबिन्दु मदकारणस्मितम्।
आननेन न तु तावदीश्वरश्चक्षुषा चिरमुमामुखं पपौ॥ ८०॥

और चन्द्रमा की निर्मल किरणों के एक जैसे होने के कारण धोखा हो जाता है। परन्तु वायु के चलने पर जब कपड़े हिलने लगते हैं, तब स्वतः पता चल जाता है कि यह कपड़ा है॥ ७१॥ पत्तों से छनकर धरती पर पड़ने वाली चाँदनी ऐसी सुन्दर और सुहावनी दीख रही है कि जैसे पेड़ों पर से गिरे हुए फूल हों। इसलिए यदि तुम चाहो तो फूलों के समान दीखनेवाले इन चाँदनी के फूलों से ही तुम्हारे केश गूँथ दिये जायँ॥ ७२॥ जैसे नववधू पहली बार संभोग के डर से काँपती हुई अपने पति के पास जाती है, वैसे ही हे सुन्दरी! ये टिमटिमाती हुई तारिकाएँ भी काँपती हुई चन्द्रमा के पास जा रही हैं॥ ७३॥ हे सुन्दरी! तुम-जो चन्द्रमा की ओर एकटक देख रही हो तो पके हुए सरकंडे-सदृश गोरे-गोरे और अपनी स्वाभाविक प्रसन्नता से खिले हुए तुम्हारी गालें ऐसी लगती हैं, जैसे उन पर चाँदनी चढ़ रही है॥ ७४॥ तुम्हें यहाँ बैठी देखकर लाल सूर्यकान्तमणि के प्याले में कल्पवृक्ष की मदिरा लिये हुए गन्धमादन की वनदेवी अपने आप तुम्हारी आवभगत करने आयी हुई है॥ ७५॥ तुम्हारी मतवाली आँखें स्वभावतः लाल हैं। अतएव हे विलासिनि! मदिरा पीने से भी तुम पर क्या कोई विशेष प्रभाव पड़ेगा ?॥ ७६॥ और फिर सखियों का आग्रह टालना भी नहीं चाहिए। इसलिए लो, काम को उकसानेवाली यह मदिरा पी ही लो। ऐसा कहकर शंकरजी ने उदारतापूर्वक वह मदिरा पार्वतीजी को पिला दी॥ ७७॥ जैसे वसन्त ऋतु में विधाता की कृपा से आम का पेड़ अधिक सुगन्धित होकर सहकार बन जाता है, वैसे ही मदिरा पीने से पार्वतीजी की स्वाभाविक सुन्दरता बढ गयी॥ ७८॥ मदिरा पीकर सुन्दर मुखवाली पार्वतीजी ऐसी मदहोश होकर शंकरजी की गोद में गिरीं कि उनकी लाज जाती रही, कामवेग बढ गया और उसी दशा में वे शयनागार में पहुँचायी गयीं॥ ७९॥ उस समय पार्वतीजी की आँखें नाच रही थीं, नशे

तां विलम्बितपनीयमेखलामुद्वहञ्जघनभारदुर्वहाम्।
ध्यानसम्भृतविभूतिरीश्वरः प्राविशन्मणिशिलागृहं रहः॥८१॥
तत्र हंसधवलोत्तरच्छदं जाह्नवीपुलिनचारुदर्शनम्।
अध्यशेत शयनं प्रियासखः शारदाभ्रमिव रोहिणीपतिः॥८२॥
क्लिष्टकेशमवलुप्तचन्दनं व्यत्ययार्पितनखं समत्सरम्।
तस्य तच्छिदुरमेखलागुणं पार्वतीरतमभून्न तृप्तये॥८३॥
केवलं प्रियतमादयालुना ज्योतिषामवनतासु पङ्क्तिषु।
तेन तत्प्रतिगृहीतवक्षसा नेत्रमीलनकुतूहलं कृतम्॥८४॥
स व्यबुध्यत बुधस्तवोचितः शातकुम्भकमलाकरैः समम्।
मूर्च्छनापरिगृहीतकैशिकैः किन्नरैरुषसि गीतमङ्गलः॥८५॥
तौ क्षणं शिथिलितोपगूहनौ दम्पती चलितमानसोर्मयः।
पद्मभेदपिशुनाः सिषेविरे गन्धमादनवनान्तमारुताः॥८६॥
ऊरुमूलनखमार्गराजिभिस्तत्क्षणं हृतविलोचनो हरः।
वाससः प्रशिथिलस्य संयमं कुर्वती प्रियतमामवारयत्॥८७॥
स प्रजागरकषायलोचनं गाढदन्तपरिताडिताधरम्।
आकुलालकमरंस्त रागवान्प्रेक्ष्य भिन्नतिलकं प्रियामुखम्॥८८॥

के कारण मुँह से सीधी बात नहीं निकलती थी, मुँह पर पसीने की बूँदें छहरा आयी थीं और बिना बात के ही वे हँस रही थीं। पार्वतीजी के उस मुख को भगवान् शंकर ने अपने मुँह से चूमा ही नहीं, बल्कि बहुत देर तक अपनी आँखों से ही उस सुन्दरता को पीते रहे॥८०॥ सोने की करधनी लटकाये और भारी नितम्बों के बोझ से धीरे-धीरे चलने वाली पार्वती को लिए हुये शिवजी मणिशिला के बने उस सुनसान घर में पहुँचे, जहाँ सुख की सभी सामग्री उनके सोचते ही उपस्थित हो गयी थी॥८१॥ जैसे रोहिणीपति चन्द्रमा श्वेत बादलों में विश्राम करते-से दीखते हैं, वैसे ही उस शयनागार में हंस के समान उजली चादरयुक्त और गङ्गातट के समान मनोहर दीखने वाली पलँग पर शंकरजी अपनी प्रियतमा के साथ जा लेटे॥८२॥ दोनो एक-दूसरे को परास्त करने पर तुले थे। अतएव उमा और शंकरजी ने ऐसा सम्भोग किया कि दोनों के केश छितरा गये, चन्दन पुँछ गया, नख-चिह्न इधर-उधर हो गये और पार्वतीजी की करधनी की लड़ी टूट गयी। फिर भी पार्वतीजी के साथ संभोग करके शंकरजी का मन नहीं भरा॥८३॥ पिछली रात में जब तारे छिपने जा रहे थे, तब अपनी प्रियतमा पर दया करके शंकरजी ने उमा के भुजपाश में बँधे-बँधे ही सोने के लिए अपनी आँखें मूँद लीं॥८४॥ फिर जब सुनहले कमल खिलने लगे और वीणाधारी गन्धर्व आलाप भरते हुए मङ्गल-गान गाने लगे, उस उषाकाल में देवताओं के पूज्य शिवजी जाग गये॥८५॥ उस समय गन्धमादन वन का जो पवन मानसरोवर में लहरियाँ लेता हुआ मन्द-मन्द बह रहा था और जिसके छू जाने से ही कमल खिलते जा रहे थे, शिव-पार्वती ने उस वायु का थोड़ी देर तक अलग होकर आनन्द लिया॥८६॥ वायु के झोंके से कपड़ा हट जाने के कारण पार्वतीजी की नंगी जाँघों पर नखों के चिह्नों की जो पाँत दीख रही थी, उसे शिवजी एकटक देख रहे थे। जब अपने उड़े हुए कपड़े को पार्वतीजी ठीक करने लगीं तो शिवजी ने उनका हाथ पकड़ लिया॥८७॥ रातभर जागने से पार्वतीजी की आँखें लाल हो गयी थीं, ओठों पर शिवजी के दाँतों के घाव भरे थे, सँवारे हुए केश छितरा गये थे और तिलक पुँछ गया था, तो भी प्रियतमा उमा का मुख देखकर प्रेमी शंकरजी गद्गद हो उठे॥८८॥ जिस पलंग पर वे सोये थे, उसकी चादर

तेन भिन्नविषमोत्तरच्छदं मध्यपिण्डितविसूत्रमेखलम्।
निर्मलेऽपि शयनं निशात्यये नोज्झितं चरणरागलाञ्छितम्॥ ८९॥
स प्रियामुखरसं दिवानिशं हर्षवृद्धिजननं सिषेविषुः।
दर्शनप्रणयिनामदृश्यतामाजगाम विजयानिवेदनात्॥ ९०॥
समदिवसनिशीथं सङ्गिनस्तत्र शम्भोः शतमगमदृतूनां साग्रमेका निशेव।
न तु सुरतसुखेभ्यश्छिन्नतृष्णो बभूव ज्वलन इव समुद्रान्तर्गतस्तज्जलौघैः॥ ९१॥

इति महाकविकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये
उमासुरतवर्णनं नामाष्टमः सर्गः॥ ८॥

में सलवटें पड़ गयी थीं। बिना डोरी वाली टूटी करधनी पड़ी थी और उस पर पाँव के महावर की छाप जहाँ-तहाँ लगी हुई थी। वह पलंग शिवजी को इतना प्रिय था कि दिन निकल आने पर भी उन्होंने उसे नहीं छोड़ा॥ ८९॥ सुख बढाने वाले प्रियतमा के ओठों का रस दिन-रात पीने को इच्छुक शिवजी की यह दशा हो गयी कि यदि कोई उनका दर्शन करने आता तो विजया से सूचना पाने पर भी वे दर्शन देने तक को बाहर नहीं आते थे॥ ९०॥ शंकरजी ने दिन-रात पार्वतीजी के साथ संभोग करते हुए सैकड़ों वर्ष एक रात्रि की भाँति बिता दिये। परन्तु भगवान् शंकरजी का मन इतने संभोग से भी वैसे ही नहीं भरा, जैसे समुद्र के जल में रहने पर भी वडवानल की प्यास नहीं बुझती॥ ९१॥

इस प्रकार महाकविकालिदासविरचित कुमारसम्भवमहाकाव्य में
उमासुरत-वर्णन नामक आठवाँ सर्ग समाप्त॥ ८॥

नवमः सर्गः

तथाविधेऽनङ्गरसप्रसङ्गे मुखारविन्दे मधुपः प्रियायाः।
सम्भोगवेश्म प्रविशन्तमन्तर्ददर्श पारावतमेकमीशः॥ १॥
सुकान्तकान्तामणितानुकारं कूजन्तमाघूर्णितरक्तनेत्रम्।
प्रस्फारितोन्नम्रविनम्रकण्ठं मुहुर्मुहुर्न्यञ्चितचारुपुच्छम्॥ २॥
विशृङ्खलं पक्षतियुग्ममीषद् दधानमानन्दगतिं मदेन।
शुभ्रांशुवर्णं जटिलाग्रपादमितस्ततो मण्डलकैश्चरन्तम्॥ ३॥
रतिद्वितीयेन मनोभवेन ह्रदात् सुधायाः प्रविगाह्यमानात्।
तं वीक्ष्य फेनस्य चयं नवोत्थमिवाभ्यनन्दत्क्षणमिन्दुमौलिः॥ ४॥
तस्याकृतिं कामपि वीक्ष्य दिव्यामन्तर्भवश्छद्मविहङ्गमग्निम्।
विचिन्तयन् संविविदे स देवो भ्रूभङ्गभीमश्च रुषा बभूव॥ ५॥
स्वरूपमास्थाय ततो हुताशस्त्रसन्वलत्कम्पकृताञ्जलिः सन्।
प्रवेपमानो नितरां स्मरारिमिदं वचो व्यक्तमथाध्युवाच॥ ६॥
असि त्वमेको जगतामधीशः स्वर्गौकसां त्वं विपदो निहंसि।
ततः सुरेन्द्रप्रमुखाः प्रभो! त्वामुपासते दैत्यवरैर्विधूताः॥ ७॥
त्वया प्रियाप्रेमवशंवदेन शतं व्यतीये सुरतादृतूनाम्।
रहःस्थितेन त्वदवीक्षणार्तो दैन्यं परं प्राप सुरैः सुरेन्द्रः॥ ८॥
त्वदीयसेवावसरप्रतीक्षैरभ्यर्थितः शक्रमुखैः सुरैस्त्वाम्।
उपागतोऽन्वेष्टुमहं विहङ्गरूपेण विद्वन् समयोचितेन॥ ९॥

जब पार्वतीजी के मुख-कमल पर भौंरें के समान मुग्ध होकर शिवजी संभोग कर रहे थे, उन्हीं दिनों एक बार शिवजी ने जिस घर में वे थे, उसी में एक कबूतर को घुसते देखा॥ १॥ वह कबूतर वैसा ही बोल रहा था, जैसे संभोग के समय सुन्दरियाँ कराहती हैं। उसकी लाल-लाल आँखें इधर-उधर नाच रही थीं। वह कभी अपना कण्ठ ऊँचा कर लेता, कभी झुका लेता और बार-बार अपनी पूँछ को सिकोड़ता-फैलाता था॥ २॥ चन्द्रमा के समान उजला वह कबूतर अपने पंजे समेटे और दोनों पंख खोले मस्ती से आनन्द लेता हुआ चक्कर काट रहा था॥ ३॥ उस कबूतर को देखकर शिवजी बड़े प्रसन्न हुए। क्योंकि उन्हें वह ऐसा दीख रहा था, जैसे उस अमृत-कुण्ड का नया फेनपिंड हो, जिसमें कामदेव ने रति के साथ डुबकी लगाकर नहाया हो॥ ४॥ किन्तु जब भगवान् शंकर ने उसका रङ्ग-ढङ्ग देवताओं जैसा देखा तो माथा ठनका और ध्यान लगाकर देखते ही समझ गये कि अग्नि कपट-वेश बनाकर आया है। यह देखते ही क्रोध से उनकी टेढ़ी भौंहें भीषण बन गयीं॥ ५॥ शिवजी का ऐसा रूप देखकर अग्नि अपने सच्चे रूप में प्रकटे और काँपते हुए दोनों हाथ जोड़कर अत्यन्त भयभीत भाव से सच्ची-सच्ची बात बतलाते हुए उन्होंने कहा—॥ ६॥ हे भगवन्! संसार के एकमात्र स्वामी आप ही हैं। आप ही स्वर्ग-निवासी देवताओं की विपत्तियाँ मिटाते हैं। इसी से इन्द्र आदि देवता जब दैत्यों से हारते हैं, तब-तब आपकी ही शरण लेते हैं॥ ७॥ अपनी प्रिया के प्रेम और संभोग में ही आपने सौ वर्ष बिता दिये और अब यहाँ ऐसे एकान्त में रहने लगे कि आपका दर्शन न पाने से इन्द्र आदि देवता बहुत घबड़ा उठे॥ ८॥ हे विद्वन्! वे सब आपके दर्शन की बाट जोह रहे हैं। उन्हीं के कहने से मैं आपको ढूँढ़ने निकला था।

इति प्रभो! चेतसि सम्प्रधार्य तन्नोऽपराधं भगवन्क्षमस्व।
पराभिभूता वद किं क्षमन्ते कालातिपातं शरणार्थिनोऽमी॥ १०॥
प्रभो! प्रसीदाशु सृजात्मपुत्रं यं प्राप्य सेनान्यमसौ सुरेन्द्रः।
स्वर्लोकलक्ष्मीप्रभुतामवाप्य जगत्त्रयं पाति तव प्रसादात्॥ ११॥
स शङ्करस्तामिति जातवेदोविज्ञापनामर्थवतीं निशम्य।
अभूत् प्रसन्नः परितोषयन्ति गीर्भिर्गिरीशा रुचिराभिरीशम्॥ १२॥
प्रसन्नचेता मदनान्तकारः स तारकारेर्जयिनो भवाय।
शक्रस्य सेनाधिपतेर्जयाय व्यचिन्तयच्चेतसि भावि किञ्चित्॥ १३॥
युगान्तकालाग्निमिवाविषह्यं परिच्युतं मन्मथरङ्गभङ्गात्।
रतान्तरेतः स हिरण्यरेतस्यथोर्ध्वरेतास्तदमोघमाधात्॥ १४॥
अथोष्णबाष्पानिलदूषितान्तं विशुद्धमादर्शमिवात्मदेहम्।
बभार भूम्ना सहसा पुरारिरेतःपरिक्षेपकुवर्णमग्निः॥ १५॥
त्वं सर्वभक्षो भव भीमकर्मा कुष्ठाभिभूतोऽनल! धूमगर्भः।
इत्थं शशापाद्रिसुता हुताशं रुष्टा रतानन्दसुखस्य भङ्गात्॥ १६॥
दक्षस्य शापेन शशी क्षयीव प्लुष्टो हिमेनेव सरोजकोशः।
वहन् विरूपं वपुरुग्ररेतश्चयेन वह्निः किल निर्जगाम॥ १७॥
स पावकालोकरुषा विलक्षां स्मरत्रपास्मेरविनम्रवक्त्राम्।
विनोदयामास गिरीन्द्रपुत्रीं भृङ्गारगर्भैर्मधुरैर्वचोभिः॥ १८॥

मैंने यह जानकर ही पक्षी का रूप बना लिया था कि आप इस समय संभोग कर रहे होंगे॥ ९॥ अतः हे भगवन्! आप मेरा अपराध क्षमा कीजिए। आप ही सोचिए कि शत्रुओं से हार और अपमानित होकर आपके शरणागत देवता कितने दिनों तक मन मारे बैठे रहते॥ १०॥ इसलिए हे प्रभो! आप प्रसन्न होकर अपने वीर्य से शीघ्र एक ऐसा पुत्र उत्पन्न कीजिए, जिसे सेनापति बनाकर इन्द्र स्वर्गलोक की प्रभुता पाकर आपकी कृपा से फिर तीनों लोकों का पालन कर सकें॥ ११॥ अग्नि की यथार्थ बात सुनकर शंकरजी का क्रोध शान्त हो गया। क्योंकि जिन्हें बात करने का ढङ्ग आता है, वे अपनी मीठी बातों से अपने स्वामियों को प्रसन्न कर ही लिया करते हैं॥ १२॥ तब कामदेव के नाशक और हँसमुख शंकरजी ने ऐसा पुत्र उत्पन्न करने का विचार किया, जो तारक राक्षस को जीत सके और सेनापति बनकर इन्द्र को समर में जिता दे॥ १३॥ तदनुसार अपने वीर्य को ऊपर खींचने में समर्थ शंकरजी का जो प्रलय की आग के समान असह्य तथा अचूक वीर्य संभोग के अन्त में निकला, उसे उन्होंने अग्नि को दे दिया॥ १४॥ उस वीर्य को लेते ही अग्नि की देदीप्यमान देह ऐसी धुँधली पड़ गयी, जैसे मुँह की भाप से दर्पण धुँधला पड़ जाता है॥ १५॥ उस समय संभोग-सुख में इस प्रकार बाधा पड़ने से पार्वतीजी क्रुद्ध हो उठीं और उन्होंने अग्नि को शाप दे दिया—'तुम आज से पवित्र-अपवित्र सब वस्तुएँ खाओगे, संसार की वस्तुओं को जलाने का भयानक काम करोगे, कोढ़ी हो जाओगे और सदा धुएँ से भरे रहोगे'॥ १६॥ महादेवजी का वीर्य लेने से अग्नि का रूप ऐसा विगड गया, जैसे दक्ष के शाप से क्षयरोगी चन्द्रमा का अथवा पाले से मारे हुए कमलकोश का रूप, विगड जाता है। वही कुरूप रूप लेकर अग्नि वहाँ से चले॥ १७॥ अचानक संभोग के समय ही अग्नि ने उन्हें देख लिया था, इसीलिए पार्वतीजी क्रोध के मारे तमतमा उठीं। तब काम और लाज को मुस्कुराहट में छिपाती और नीचा मुँह करके बैठी हुयी पार्वतीजी को शंकर भगवान् प्रेम-भरे मीठे वचनों से मनाने लगे॥ १८॥ अत्यधिक पसीने की बूँदों से पार्वतीजी की आँखों का

हरो विकीर्णं घनघर्मतोयैर्नेत्राञ्जनाङ्कं हृदयप्रियायाः।
द्वितीयकौपीनचलाञ्चलेनाहरन्मुखेन्दोरकलङ्किनोऽस्याः ॥ १९ ॥
मन्देन स्विन्नाङ्गुलिना करेण कम्पेन तस्या वदनारविन्दात्।
परामृशन् घर्मजलं जहार हरः सहेलं व्यजनानिलेन ॥ २० ॥
रतिश्लथं तत्कबरीकलापमंसावसक्तं विगलत्प्रसूनम्।
स पारिजातोद्भवपुष्पमय्या स्रजा बबन्धामृतमूर्तिमौलिः ॥ २१ ॥
कपोलपाल्यां मृगनाभिचित्रपत्रावलीमिन्दुमुखः सुमुख्याः।
स्मरस्य सिद्धस्य जगद्विमोहमन्त्राक्षरश्रेणिमिवोल्लिलेख ॥ २२ ॥
रथस्य कर्णाविभि तन्मुखस्य ताटङ्कचक्रद्वितयं न्यधात् सः।
जगज्जिगीषुर्विषमेषुरेष ध्रुवं यमारोहति पुष्पचापः ॥ २३ ॥
तस्याः स कण्ठे पिहितस्तनाग्रां न्यधत्त मुक्ताफलहारवल्लीम्।
या प्राप मेरुद्वितयस्य मूर्ध्नि स्थितस्य गङ्गौघयुगस्य लक्ष्मीम् ॥ २४ ॥
नखव्रणश्रेणिवरे बबन्ध नितम्बविम्बे रशनाकलापम्।
चलस्वचेतोमृगबन्धनाय मनोभुवः पाशमिव स्मरारिः ॥ २५ ॥
भालेक्षणाग्नौ स्वयमञ्जनं स भङ्क्त्वा दृशोः साधु निवेश्य तस्याः।
नवोत्पलाक्ष्याः पुलकोपगूढे कण्ठे विनीलेऽङ्गुलिमुज्जघर्ष ॥ २६ ॥
अलक्तकं पादसरोरुहाग्रे सरोरुहाक्ष्याः किल सन्निवेश्य।
स्वमौलिगङ्गासलिलेन हस्तारुणत्वमक्षालयदिन्दुचूडः ॥ २७ ॥

आँजन उनके मुँह पर फैल गया था। शंकरजी की प्रियतमा के मुखचन्द्र पर वे आँजन के चिह्न चन्द्रमा के कलंक जैसे लग रहे थे। सो महादेवजी ने वह फैला हुआ आँजन अपने कन्धे पर धरे हुए कौपीन से पोंछ दिया॥ १९॥ तब अपनी गीली अँगुलियों वाले हाथों को पंखे सदृश झलकर उन्होंने धीरे-धीरे पार्वतीजी के मुख-कमल का पसीना सुखाया॥ २०॥ संभोग के समय जूड़ा खुल जाने से पार्वतीजी के बाल कन्धों पर छितरा गये थे और जूड़े में खुँसे हुए सब फूल गिर गये थे। उस जूड़े को महादेवजी ने पारिजात के फूलों की माला से बाँध दिया॥ २१॥ चन्द्रमा के समान मुख वाले शंकरजी ने सुमुखी पार्वतीजी के गाल कस्तूरी के लेप से चित्रित कर दिये। उसे देखकर ऐसा लगा कि मानो वह चित्रकारी नहीं, बल्कि सिद्ध कामदेव के हाथों लिखे हुए वे मंत्र हों, जिनसे वह सारे संसार को अपने वश में रखता है॥ २२॥ जब शंकरजी ने पार्वतीजी के दोनों कानों में दो गोल कर्णफूल पहना दिये तो उनसे उनका मुख ऐसा सुन्दर दीखने लगा कि जैसे वह कामदेव का ऐसा रथ हो, जिस पर बैठकर वह तीनों लोक जीतने निकला हो और वे दोनों कर्णफूल उस रथ के दोनों पहिये हों॥ २३॥ शंकरजी ने जब पार्वतीजी के गले में मोतियों का हार पहनाया तो उनके स्तनों की घुंडियों को छूकर छाती पर लटका हुआ वह हार ऐसा लगने लगा कि मानो दो सुमेरु पर्वतों की चोटियों से गंगाजी की दो धाराएँ गिर रही हों॥ २४॥ शंकरजी ने पार्वतीजी के उन नितम्बों पर करधनी पहना दी, जिन पर उनके हाथों से बने हुए नखचिह्न चमक रहे थे। वह करधनी ऐसी लगती थी कि मानो कामदेव ने अपने चञ्चल चित्तरूपी मृग को बाँधने के लिए रस्सी बना दी हो॥ २५॥ उन्होंने अपने ललाट में जलने वाली नेत्राग्नि से स्वयं काजल पारकर नये कमल जैसी आँखों वाली पार्वतीजी के नयनों में लगा दिया। फिर उँगली में लगा हुआ काजल पोंछने के लिए वह उँगली अपने नीले कंठ में रगड़ दी॥ २६॥ कमलनयनी पार्वतीजी के चरणकमलों में महावर लगाकर शंकरजी ने अपने सिर पर बहती हुई गंगा की धारा में हाथ का

भस्मानुलिप्ते वपुषि स्वकीये सहेलमादर्शतलं विमृज्य।
नेपथ्यलक्ष्म्याः परिभावनार्थमदर्शयज्जीवितवल्लभां सः॥ २८॥
प्रियेण दत्ते मणिदर्पणे सा सम्भोगचिह्नं स्ववपुर्विभाव्य।
त्रपावती तत्र घनानुरागं रोमाञ्चदम्भेन बहिर्बभार॥ २९॥
नेपथ्यलक्ष्मीं दयितोपक्लृप्तां सस्मेरमादर्शतले विलोक्य।
अमंस्त सौभाग्यवतीषु धुर्यामात्मानमुद्भूतविलक्षभावा॥ ३०॥
अन्तः प्रविश्यावसरेऽथ तत्र स्निग्धे वयस्ये विजया जया च।
सुसम्पदोपाचरतां कलानामङ्के स्थितां तां शशिखण्डमौलेः॥ ३१॥
व्यधुर्बहिर्मङ्गलगानमुच्चैर्वैतालिकाश्चित्रचरित्रचारु।
जगुश्च गन्धर्वगणाः सशङ्खस्वनं प्रमोदाय पिनाकपाणेः॥ ३२॥
ततः स्वसेवावसरे सुराणां गणांस्तदालोकनतत्पराणाम्।
द्वारि प्रविश्य प्रणतोऽथ नन्दी निवेदयामास कृताञ्जलिः सन्॥ ३३॥
महेश्वरो मानसराजहंसीं करे दधानस्तनयां हिमाद्रेः।
सम्भोगलीलालयतः सहेलं हरो बहिस्तानभि निर्जगाम॥ ३४॥
क्रमान्महेन्द्रप्रमुखाः प्रणेमुः शिरोनिबद्धाञ्जलयो महेशम्।
प्रालेयशैलाधिपतेस्तनूजां देवीं च लोकत्रयमातरं ते॥ ३५॥
यथागतं तान्विबुधान्विसृज्य प्रसाद्य मानक्रियया प्रतस्थे।
स नन्दिना दत्तभुजोऽधिरुह्य वृषं वृषाङ्कः सह शैलपुत्र्या॥ ३६॥
मनोऽतिवेगेन ककुद्मता स प्रतिष्ठमानो गगनाध्वनोऽन्तः।
वैमानिकैः साञ्जलिभिर्ववन्दे विहारहेलागतिभिर्गिरीशः॥ ३७॥

रंग धो डाला॥ २७॥ यह सब करके बड़े मगन मन से उन्होंने अपने भस्म लगे हुए शरीर पर दर्पण रगड़कर साफ किया। फिर पार्वतीजी को शृंगार की सजावट दिखलाने को वह दर्पण उनके आगे रख दिया॥ २८॥ शंकरजी के द्वारा दिखाये हुए दर्पण में अपने शरीर पर बने संभोग के चिह्नों को देखने से पार्वतीजी को लाज के मारे रोमांच हो आया। उसी से उन्होंने बतला दिया कि मै शंकरजी से कितना प्रेम करती हूँ॥ २९॥ अपने प्यारे पति के हाथों किये हुए शृंगार की शोभा को जब उन्होंने दर्पण में देखा तो मुस्कुरा पड़ीं और क्रोध त्यागकर ऐसी प्रसन्न हो गयीं कि अपने को संसार की समस्त सौभाग्यवती स्त्रियों में सबसे बढकर मानने लगीं॥ ३०॥ तब जया और विजया नाम की सखियों ने देखा कि यह अवसर ठीक है तो वे झट भीतर गयीं और शंकरजी की गोद में बैठी हुई पार्वतीजी का शृङ्गार करने लगीं॥ ३१॥ उसी समय शंकरजी को प्रसन्न करने के लिए चारणों ने उनके सुन्दर चरित्र के मनोहर यशोगान प्रारम्भ कर दिये और गन्धर्वगण शंख बजा-बजाकर गाने लगे॥ ३२॥ महादेवजी की सेवा करने का ठीक अवसर समझकर नन्दी भीतर आ गये और उन्होंने शंकरजी से कहा कि सब देवता आपके दर्शनार्थ बाहर आकर खड़े हैं॥ ३३॥ यह सुनकर अपनी प्राणप्यारी के हाथ में हाथ डाले शंकर भगवान् देवताओं से मिलने के लिए उस संभोग-भवन से बाहर आये॥ ३४॥ उनके बाहर आते ही इन्द्र आदि देवताओं ने बारी-बारी से शिवजी तथा तीनों लोकों की माता पार्वतीजी को हाथ जोड और सिर नवाकर प्रणाम किया॥ ३५॥ शंकरजी ने सब देवताओं को सम्मान द्वारा प्रसन्न करके विदा किया। तब नन्दी के हाथ के सहारे पार्वतीजी के साथ बैल पर चढकर वे स्वयं भी वहाँ से चल पडे॥ ३६॥ मन से भी तीव्र वेग से चलने वाले उस बैल पर चढकर जब वे आकाश-मार्ग से जा रहे थे, उस समय जो देवता

स्वर्वाहिनीवारिविहारचारी रतान्तनारीश्रमशान्तिकारी।
तौ पारिजातप्रसवप्रसङ्गो मरुत्सिषेवे गिरिजागिरीशौ॥ ३८॥
पिनाकिनापि स्फटिकाचलेन्द्रः कैलासनामा कलिताम्बरांशः।
धृतार्धसोमोऽद्भुतभोगिभोगो विभूतिधारी स्व इव प्रपेदे॥ ३९॥
विलोक्य यत्र स्फटिकस्य भित्तौ सिद्धाङ्गनाः स्वं प्रतिबिम्बमारात्।
भ्रान्त्या परस्या विमुखीभवन्ति प्रियेषु मानग्रहिला नमत्सु॥ ४०॥
सुबिम्बितस्य स्फटिकांशुगुप्तेश्चन्द्रस्य चिह्नप्रकरः करोति।
गौर्यर्पितस्येव रसेन यत्र कस्तूरिकायाः शकलस्य लीलाम्॥ ४१॥
यदीयभित्तौ प्रतिविम्बिताङ्गमात्मानमालोक्य रुषा करीन्द्राः।
मत्तान्यकुम्भिभ्रमतोऽतिभीमदन्ताभिघातव्यसनं वहन्ति॥ ४२॥
निशासु यत्र प्रतिविम्बितानि ताराकुलानि स्फटिकालयेषु।
दृष्ट्वा रतान्तच्युततारहारमुक्ताभ्रमं बिभ्रति सिद्धवध्वः॥ ४३॥
नभश्चरीमण्डनदर्पणश्रीः सुधानिधिर्मूर्धनि यस्य तिष्ठन्।
अनर्घ्यचूडामणितामुपैति शैलाधिनाथस्य शिवालयस्य॥ ४४॥

अपने-अपने विमानों पर चढकर आकाश में घूम रहे थे, उन सबने हाथ जोड़कर शिवजी को प्रणाम किया॥ ३७॥ उस समय आकाश-गंगा के जल की फुहारों से शीतल, पारिजात के फूलों से सुगन्धित और संभोग करके थकी हुई उमा की थकावट को मिटाने वाले पवन ने चलकर शंकर और पार्वतीजी की बड़ी सेवा की॥ ३८॥ यों चलते-चलते शंकर भगवान् स्फटिक-निर्मित तथा पर्वतों में श्रेष्ठ कैलास पर जा पहुँचे। वह पहाड शंकरजी के समान ही पूज्य था। क्योंकि अपने बड़प्पन से शंकरजी सारे आकाश में व्याप्त हैं और कैलास के भी चारों ओर आकाश है, अतएव दोनों आकाश से सजे हैं। सोम कहलाने वाले भगवान् शंकर उस पर्वत पर रहते हैं और सोम कहलाने वाला चन्द्रमा महादेवजी के माथे पर रहता है। इसलिए दोनों ही सोम को धारण करते हैं। पर्वत पर भोगी या कामी अनूठा संभोग करते हैं और महादेवजी पर भोगी अर्थात् साँप अनूठे ढंग से लिपटे रहते हैं। इसलिए दोनों ही अनूठे भोगी हैं। पर्वत पर बहुत विभूति अर्थात् रत्न-मणि आदि पाये जाते हैं और महादेवजी के शरीर पर विभूति अर्थात् भस्म है। अतएव दोनों ही विभूति वाले हैं॥ ३९॥ सिद्धों की स्त्रियाँ जब अपने पतियों के साथ कैलास पर्वत की स्फटिक की दीवारों के पास पहुँच कर अपना प्रतिविम्ब देखती हैं तो उन्हें यह धोखा हो जाता है कि हमारे पति किसी दूसरी स्त्री को साथ लिये हुए हैं। फल यह होता है कि अपने पतियों के मनाते रहने पर भी वे रूठी बैठी रहती हैं॥ ४०॥ जब उस स्फटिकमय कैलास पर चन्द्रमा की सुन्दर परछाई पड़ती है, तब चन्द्रमा के कलंक की छाया तो दीखती है, परन्तु वह उसी में मिल जाती है। तब वह छाया ऐसी लगती है, मानो पार्वतीजी ने कस्तूरी की पिण्डी बनाकर वहाँ लगा दी हो॥ ४१॥ उस पर्वत की भीतों पर अङ्गों की छाया देखकर मतवाले हाथी उसे दूसरा मतवाला हाथी समझ लेते हैं। अतएव क्रोध में भरकर अपने दाँतों से वे उन पर करारी चोटें करने लग जाते हैं॥ ४२॥ वहाँ के स्फटिकमय भवनों पर जब तारों की परछाई पड़ती है तो सिद्धों की स्त्रियों को यह धोखा होने लगता है कि ये कहीं संभोग के समय छूटकर गिरे हुए मोतियों के दाने तो नहीं हैं॥ ४३॥ अप्सराओं के दर्पण सदृश सुन्दर लगने वाला चन्द्रमा जब कैलास की चोटी पर पहुँचता है, तब कैलास उस हिमालय का अनमोल चूड़ामणि-सा लगने लगता है, जिस पर शिवजी रहते हैं॥ ४४॥ कामातुर देवता अपनी-अपनी स्त्रियों को साथ लेकर जब वहाँ एकान्त में विहार करने जाते हैं, तब अकेले होने पर भी अनेक परछाइयाँ

समीयिवांसो रहसि स्मरार्ता रिरंसवो यत्र सुराः प्रियाभिः।
एकाकिनोऽपि प्रतिविम्बभाजो विभान्ति भूयोभिरिवान्विताः स्वैः ॥ ४५ ॥
देवोऽपि गौर्या सह चन्द्रमौलिर्यदृच्छया स्फाटिकशैलभृङ्गे।
शृङ्गारचेष्टाभिरनारताभिर्मनोहराभिर्व्यहरच्चिराय ॥ ४६ ॥
देवस्य तस्य स्मरसूदनस्य हस्तं समालिङ्ग्य सुविभ्रमश्रीः।
सा नन्दिना वेत्रभृतोपदिष्टमार्गा पुरोगेण कलं चचाल ॥ ४७ ॥
चलच्छिखाग्रो विकटाङ्गभङ्गः सुदन्तुरः शुक्लसुतीक्ष्णतुण्डः।
भ्रुवोपदिष्टः स तु शङ्करेण तस्या विनोदाय ननर्त भृङ्गी ॥ ४८ ॥
कण्ठस्थलीलोलकपालमाला दंष्ट्राकरालाननमभ्यनृत्यत्।
प्रीतेन तेन प्रभुणा नियुक्ता काली कलत्रस्य मुदे प्रियस्य ॥ ४९ ॥
भयङ्करौ तौ विकटं नदन्तौ विलोक्य बाला भयविह्वलाङ्गी।
सरागमुत्सङ्गमनङ्गशत्रोर्गाढं प्रसह्य स्वयमालिलिङ्ग ॥ ५० ॥
उत्तुङ्गपीनस्तनपिण्डपीडं ससम्भ्रमं तत्परिरम्भमीशः।
प्रपद्य सद्यः पुलकोपगूढः स्मरेण रूढप्रमदो ममाद ॥ ५१ ॥
इति गिरितनुजाविलासलीलाविविधविभङ्गिभिरेष तोषितः सन्।
अमृतकरशिरोमणिर्गिरीन्द्रे कृतवसतिर्वशिभिर्गणैर्ननन्द ॥ ५२ ॥

इति महाकविकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये
कैलासगमनो नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

पडने से उन्हें ऐसा लगता है कि मानो उनके अनेक रूप हो गये हों ॥ ४५ ॥ उसी सुन्दर कैलास की स्फटिकमयी चोटी पर शंकरजी ने भी पार्वतीजी के साथ बहुत दिनों तक लगातार अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ कीं ॥ ४६ ॥ अपने सरस हाव-भाव से मन लुभाने वाली पार्वतीजी शंकरजी के हाथ में हाथ डाले हुए उन पथों पर घूमती थीं, जहाँ हाथ में वेंत लिये हुए नन्दी आगे-आगे चलकर मार्ग बतलाता था ॥ ४७ ॥ शंकरजी की भौंहों का संकेत पाकर बड़े-बडे दाँतों, लहराती हुई चोटी, टेढे-मेढे अङ्गों और उजले तथा बेढंगे मुँहवाले भृङ्गी ने पार्वतीजी का मन बहलाने के लिए अपना नाच दिखलाया ॥ ४८ ॥ सर्वथा प्रसन्न शंकरजी की आज्ञा पाकर खोपडियों की झूलती हुई माला गले में पहने कालिका भी डरावने दाँतों वाला मुँह बना-बनाकर अपने स्वामी की प्रेयसी उमा का मन बहलाने के लिए नाचने लगीं ॥ ४९ ॥ इस प्रकार विकट रूप से भयंकर शब्द करते हुए भृङ्गी और काली को देखते ही पार्वतीजी मारे डर के इतनी घबरा गयीं कि बड़े प्रेम से शंकरजी की छाती से जा चिपकीं ॥ ५० ॥ इस घबराहट में पार्वतीजी के उठे हुए मोटे-मोटे स्तनों के अपनी छाती पर लगते ही शंकरजी के मन में इतना कामवेग उत्पन्न हो गया कि वे प्रेम से मतवाले हो उठे ॥ ५१ ॥ इस प्रकार पार्वतीजी की अनेक हाव-भाव भरी लीलाओं और अनेक प्रकार के संभोग से सन्तुष्ट भगवान् शंकर अपने साथ कैलास पर रहने वाले गणों के साथ बहुत प्रसन्न हुए ॥ ५२ ॥

इस प्रकार महाकविकालिदासविरचित कुमारसम्भवमहाकाव्य में
कैलासगमन नामक नवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः

आससाद सुनासीरं सदसि त्रिदशैः सह । एष त्रैयम्बकं तीव्रं वहन्वह्निर्महन्महः॥ १ ॥
सहस्रेण दृशामीशः कुत्सिताङ्गं च सादरम् । दुर्दर्शनं ददर्शाग्निं धूम्रधूमितमण्डलम्॥ २ ॥
दृष्ट्वा तथाविधं वह्निमिन्द्रः क्षुब्धेन चेतसा । व्यचिन्तयच्चिरं किञ्चित्कन्दर्पद्वेषिरोषजम्॥ ३ ॥
स विलक्ष्यमुखैर्देवैर्वीक्ष्यमाणः क्षणं क्षणम् । उपाविशत् सुरेन्द्रेणादिष्टं सादरमासनम्॥ ४ ॥
हव्यवाह! त्वयाऽऽसादि दुर्दशेयं दशा कुतः । इति पृष्टः सुरेन्द्रेण स निःश्वस्य वचोऽवदत्॥ ५ ॥
अनतिक्रमणीयात्ते शासनात्सुरनायक! । पारावतं वपुः प्राप्य वेपमानोऽतिसाध्वसात्॥ ६ ॥
अभिगौरिरतासक्तं जगामाहं महेश्वरम् । कालस्येव स्मररातेः स्वं रूपमहमासदम्॥ ७ ॥
दृष्ट्वा छद्मविहङ्गं मां सुज्ञो विज्ञाय जम्भभित् । ज्वलद्भालानले होतुं कोपनो माममन्यत॥ ८ ॥
वचोभिर्मधुरैः सार्थैर्विनम्रेण मया स्तुतः । प्रीतिमानभवद्देवः स्तोत्रं कस्य न तुष्टये॥ ९ ॥
शरण्यः सकलत्राता मामत्रायत शङ्करः । क्रोधाग्नेर्ज्वलतो ग्रासात् त्रासतो दुर्निवारतः॥ १०॥
परिहृत्य परीरम्भरभसं दुहितुर्गिरेः । कामकेलिरसोत्सेकाद् व्रीडया विरराम सः॥ ११॥
रङ्गभङ्गच्युतं रेतस्तदाऽमोघं सुदुर्वहम् । त्रिजगद्दाहकं सद्यो मद्विग्रहमधि न्यधात्॥ १२॥
दुर्विषह्येण तेनाहं तेजसा दहनात्मना । निर्दग्धमात्मनो देहं दुर्वहं वोढुमक्षमः॥ १३॥
रौद्रेण दह्यमानस्य महसाऽतिमहीयसा । मम प्राणपरित्राणप्रगुणो भव वासव!॥ १४॥

शिवजी के उस आज्वल्यमान वीर्य को लेकर अग्नि देवसभा में जा पहुँचे, जहाँ इन्द्र देवताओं के साथ बैठे थे॥ १ ॥ बडे आदर के साथ अपनी सहस्रों आँखों से इन्द्र ने उन अग्निदेव को देखा, जिनके अंग वेढंगे, भद्दे और धुएँ से काले पड़ गये थे॥ २॥ अग्नि का वह रूप देखकर इन्द्र बहुत दुःखी हुए और तनिक सोचते ही समझ गये कि शंकरजी के क्रोध से ही अग्नि का यह हाल हुआ है॥ ३॥ जिनकी ओर सब देवता बडे दुःखी होकर वार-वार देख रहे थे, उन अग्नि को इन्द्र ने संकेत से एक आसन पर बैठाया॥ ४॥ तब उन्होंने अग्निदेव से पूछा—कहिए, आपकी यह दुर्दशा कैसे हुई? तव लम्बी साँस लेकर अग्निदेव बोले—॥ ५॥ हे देवेन्द्र! आपकी अटल आज्ञा से मैं कबूतर बनकर बहुत डरता-डरता महादेवजी के पास गया। उस समय वे पार्वतीजी के साथ विहार कर रहे थे। मुझे पहचानकर जब वे क्रोध के मारे महाकाल के समान भयंकर हो उठे, तब मैंने कबूतर का रूप छोड़कर डर के मारे अपना सच्चा रूप प्रकट किया॥ ६-७॥ हे इन्द्र! पक्षी के कपटवेष में मुझे देखकर सर्वज्ञ शंकरजी को इतना क्रोध आया कि वे मुझे अपने ललाट के नेत्र की जलती हुई आग में झोंक देने को तत्पर हो गये॥ ८॥ जब मैंने बहुत गिड़गिड़ाकर बड़े अर्थ-भरे तथा मीठे शब्दों में उनकी बड़ी स्तुति की तो वे पिघल गये। क्योंकि अपनी प्रशंसा किसको अच्छी नहीं लगती॥ ९॥ जो शंकरजी की शरण में पहुँच जाता है, उसकी और सारे जगत् की वे रक्षा करते हैं। अतएव उनके क्रोध की धधकती हुई जिस आग से कोई बच नहीं सकता, उसकी आहुति बनते-बनते मैं बच गया॥ १०॥ तुरन्त उन्होंने पार्वतीजी के कसकर बँधे हुए हाथों से अपने को छुड़ा लिया और लज्जावश सम्भोग-सुख की इच्छा छोड़कर वे हट गये॥ ११॥ संभोग के बीच में ही रंग में भङ्ग पड़ जाने से तीनों लोकों को जलाने वाला और सबके लिए असह्य उनका जो अचूक वीर्य निकला, उसे उन्होंने मेरे शरीर में डाल दिया॥ १२॥ अब मैं उस असह्य और जलते हुए तेज से ऐसा जला जा रहा हूँ कि अपना शरीर भी ढोने में असमर्थ हो गया हूँ॥ १३॥ हे इन्द्र! महादेवजी के इस अत्यन्त भयानक तेज से मेरा शरीर जला जा रहा है। सो आप

इति श्रुत्वा वचो वह्नेः परितापोपशान्तये। हेतुं विचिन्तयामास मनसा विबुधेश्वरः॥ १५॥
तेजोदग्धानि गात्राणि पाणिनाऽस्य परामृशन्। किञ्चित्कृपीटयोनिं तं दिवस्पतिरभाषत॥ १६॥
प्रीतः स्वाहास्वधाहन्तकारैः प्रीणयसे स्वयम्। देवान्पितॄन्मनुष्यांस्त्वमेकस्तेषां मुखं यतः॥ १७॥
त्वयि जुह्वति होतारो हवींषि ध्वस्तकल्मषाः। भुञ्जन्ति स्वर्गमेकस्त्वं स्वर्गप्राप्तौ हि कारणम्॥
हवींषि मन्त्रपूतानि हुताश! त्वयि जुह्वतः। तपस्विनस्तपःसिद्धिं यान्ति त्वं तपसां प्रभुः॥ १९॥
निधत्से हुतमर्काय स पर्जन्योऽभिवर्षति। ततोऽन्नानि प्रजास्तेभ्यस्तेनासि जगतः पिता॥ २०॥
अन्तश्चरोऽसि भूतानां तानि त्वत्तो भवन्ति च। ततो जीवितभूतस्त्वं जगतः प्राणदोऽसि च॥
जगतः सकलस्यास्य त्वमेकोऽस्युपकारकृत्। कार्योपपादने तत्र त्वत्तोऽन्यः कः प्रगल्भते॥ २२॥
अमीषां सुरसङ्घनां त्वमेकोऽर्थसमर्थने। विपत्तिरपि संश्लाघ्योपकारव्रतिनोऽनल!॥ २३॥
देवी भागीरथी पूर्वं भक्त्याऽस्माभिः प्रतोषिता। निमज्जतस्तवोदीर्णं तापं निर्वापयिष्यति॥
गङ्गां तद्गच्छ मा कार्षीर्विलम्बं हव्यवाहन!। कार्येष्ववश्यकार्येषु सिद्धये क्षिप्रकारिता॥ २५॥
शम्भोरम्भोमयी मूर्तिः सैव देवी सुरापगा। त्वत्तः स्मरद्विषो बीजं दुर्धरं धारयिष्यति॥ २६॥
इत्युदीर्य सुनासीरो विरराम स चानलः। तद्विसृष्टस्तमापृच्छ्य प्रतस्थे स्वर्धुनीमभि॥ २७॥
हिरण्यरेतसा तेन देवी स्वर्गतरङ्गिणी। तीर्णाध्वना प्रपेदे सा निःशेषक्लेशनाशिनी॥ २८॥
स्वर्गारोहणनिःश्रेणिर्मोक्षमार्गाधिदेवता। उदारदुरितोद्गारहारिणी दुर्गतारिणी॥ २९॥

किसी प्रकार मेरे प्राण बचाकर यशस्वी बनिए॥ १४॥ अग्नि की बात सुनकर देवराज इन्द्र मन ही मन कोई ऐसा उपाय सोचने लगे कि जिससे अग्नि की जलन मिट जाय॥ १५॥ तब महादेवजी के तेज से जलते हुए अग्नि के अंगों पर हाथ फेरते हुए देवराज इन्द्र ने कहा—॥ १६॥ हे अग्निदेव! देखो, जब हवन करने वाले होता स्वाहा, स्वधा और वषट् कहकर हवन करते हैं, तब तुम प्रसन्न होकर देवों, पितरों और मनुष्यों को प्रसन्न करते हो। क्योंकि तुम्हारे ही मुख से तो सबको अपना-अपना यज्ञभाग मिलता है॥ १७॥ होतागण तुममें हवन करके पाप से छूट जाते तथा स्वर्गलोक में जाकर सुख भोगते हैं। क्योंकि तुम्हीं उनको स्वर्ग पहुँचाते हो॥ १८॥ हे अग्नि! यज्ञ करने वाले तपस्वी मन्त्रोच्चारण करके तुम्हें जो आहुति देते हैं, उससे वे अपनी तपःसिद्धि का पूरा फल पा जाते हैं। क्योंकि तप के देवता एकमात्र तुम्हीं हो॥ १९॥ सूर्य के लिए जो आहुति दी जाती है, उसे तुम धरोहर की भाँति लेकर उन्हें दे देते हो। सूर्य उसे बादल बनाकर बरसाते हैं, जिससे अन्न पैदा होता है और फिर उसी अन्न से संसार के प्राणियों का पेट भरता है। इस प्रकार तुम्हीं समस्त संसार के पिता हो॥ २०॥ हे अग्नि! सब प्राणियों के भीतर तुम्हीं रहते हो और सब तुम्हीं से उत्पन्न होते हैं। अतः तुम्हीं संसार के जीवन और प्राणदाता हो॥ २१॥ सारे संसार का भला करने वाले एक तुम्हीं हो। अतः ऐसे कष्ट वाला काम तुम्हें छोड़ कर और कौन कर सकता है॥ २२॥ हे अग्नि! तुम्हीं अकेले ऐसे हो, जो देवताओं का काम बना सकते हो। जो लोग दूसरों की भलाई करने का बीडा उठाते हैं, वे जो कष्ट सहते हैं, वह भी बड़े गौरव और बड़ाई की बात होती है॥ २३॥ हम लोगों ने पहले से ही बहुत हाथ-पैर जोडकर गङ्गाजी को मना लिया है॥ अतः ज्यों ही तुम उनकी धारा में स्नान करोगे, त्यों ही वे इस घोर दाह को शान्त कर देंगी॥ २४॥ हे अग्नि! तुम अभी गङ्गाजी के पास जाओ, देर न करो। क्योंकि जिस काम को पूरा करने की बात जी में ठान ले, उसे पूरा करने में देर नहीं करनी चाहिए॥ २५॥ गङ्गाजी शंकरजी की ही जलमयी मूर्ति है। वे उनके दुर्धर्ष वीर्य को तुमसे लेकर स्वयं रख लेंगी॥ २६॥ ऐसा कहकर इन्द्र चुप हो गये और अग्निदेव भी उनसे विदा लेकर गङ्गाजी की ओर चल पडे॥ २७॥ वहाँ से चलकर वे उन गङ्गाजी के तट पर जा पहुँचे, जो सब दुःखों को मिटा देती हैं॥ २८॥ जो सीढ़ी बनकर भक्तों

महेश्वरजटाजूटवासिनी पापनाशिनी । सगरान्वयनिर्वाणकारिणी धर्मधारिणी ॥ ३० ॥
विष्णुपादोदकोद्भूता ब्रह्मलोकादुपागता । त्रिभिः स्रोतोभिरश्रान्तं पुनाना भुवनत्रयम् ॥ ३१ ॥
जातवेदसमायान्तमूर्मिहस्तैः समुत्थितैः । आजुहावार्थसिद्ध्यै तं सुप्रसादधरेव सा ॥ ३२ ॥
सम्मिलद्भिर्मरालैः सा कलं कूजद्भिरुन्मदैः । ददे श्रेयांसि दुःखानि निहन्मीति तमभ्यधात् ॥ ३३ ॥
कल्लोलैरुद्गतैरर्वाचीनं तटमभिद्रुतैः । प्रीतेव तमभीयाय स्वर्धुनी जातवेदसम् ॥ ३४ ॥
अथाभ्युपेतस्तापार्तो निममज्जानलः किल । विपदा परिभूताः किं व्यवस्यन्ति विलम्बितुम् ॥ ३५ ॥
गङ्गावारिणि कल्याणकारिणि श्रमहारिणि । स मग्नो निर्वृतिं प्राप पुण्यभारिणि तारिणि ॥ ३६ ॥
तत्र माहेश्वरं धाम सञ्चक्राम हविर्भुजः । गङ्गायामुत्तरङ्गायामन्तस्तापविपद्धृति ॥ ३७ ॥
कृशानुरेतसो रेतस्यादृते सरिता तया । निश्चक्राम ततः सौख्यं हव्यवाहो वहन्बहु ॥ ३८ ॥
सुधासारैरिवाम्भोभिरभिषिक्तो हुताशनः । यथागतं जगामाथ परां निर्वृतिमादधत् ॥ ३९ ॥
सा सुदुर्विषहं गङ्गा धाम कामजितो महत् । आदधाना परीतापमवाप व्योमवाहिनी ॥ ४० ॥
बहिरार्ता युगान्ताग्नेस्तप्तानीव शिलाशतैः । हित्वोष्णानि जलान्यस्या निर्जग्मुर्जलजन्तवः ॥
तेजसा तेन रौद्रेण तप्तानि सलिलान्यपि । समुदञ्चन्ति चण्डानि दुर्धराणि बभार सा ॥ ४२ ॥
जगच्चक्षुषि चण्डांशौ किञ्चिदभ्युदयोन्मुखे । जग्मुः षट् कृत्तिका माघे मासि स्नातुं सुरापगाम् ॥

को स्वर्ग पहुँचा देती हैं, मोक्ष तक दे डालती हैं, बड़े-बड़े पाप हर लेती हैं और कठिनाइयाँ दूर कर लेती हैं ॥ २९ ॥ सगर के पुत्रों को तारने वाली और धर्म की रक्षा करने वाली वे पापनाशिनी तथा मोक्षदायिनी गङ्गाजी शंकरजी के जटा-जूट में रहती हैं ॥ ३० ॥ जो विष्णु के चरण से जल के रूप में निकल कर ब्रह्मलोक से आयी हैं और अपनी तीन धाराओं से तीनों लोकों को सदा पवित्र किया करती हैं ॥ ३१ ॥ वहाँ पर गङ्गाजी की उठती हुई लहरें ऐसी लगती थीं, जैसे अग्नि को आते देखकर प्रसन्न मन से वे अपनी लहरों के हाथों से उनका काम बनाने के लिए उन्हें दूर से ही बुला रही थीं ॥ ३२ ॥ वहाँ मतवाले जो अनेक राजहंस एक साथ मिलकर बोल रहे थे, उनसे ऐसा लगता था कि मानो गङ्गाजी अग्नि से कह रही हों कि मैं सबका भला करती हूँ और सारा दुःख हर लेती हूँ ॥ ३३ ॥ गङ्गाजी की ऊँची उठती और हर-हर करके आगे बढ़ती हुयी तरंगें तट पर बढ़ी आ रही थीं, वे ऐसी लगती थीं कि मानों वे आगे आकर अग्नि का स्वागत कर रही हों ॥ ३४ ॥ ताप से दुःखी अग्नि ने वहाँ पहुँचकर तुरन्त गङ्गाजी में गोता लगाया। ठीक ही है, विपदा मारे हुए लोगों को कुछ देर रुककर सोचने की सुधि थोड़े ही रहती है ॥ ३५ ॥ कल्याणकारिणी, श्रमहारिणी, परम पवित्र तथा सबको तारने वाली गंगाजी के जल में डुबकी लगाकर अग्नि को बड़ा आनन्द मिला ॥ ३६ ॥ अब अपनी ज्वाला से धधकता हुआ शंकरजी का वीर्य अग्नि की देह से निकलकर ऊँची-ऊँची तरंगों वाली गंगाजी में जा पहुँचा ॥ ३७ ॥ इस प्रकार जब गंगाजी ने बड़े आदरपूर्वक शंकरजी का वीर्य ले लिया, तब अग्नि बहुत प्रसन्न होकर जल से बाहर निकले ॥ ३८ ॥ उस अमृत की धारा-सदृश गंगाजल से अत्यन्त सुख पाकर अग्निदेव जहाँ से आये थे, वहीं लौट गये ॥ ३९ ॥ शंकरजी के उस असह्य वीर्य को लेकर आकाश में बहने वाली गंगाजी भी मारे ताप के एकदम उबल उठीं ॥ ४० ॥ जैसे प्रलयकालीन अग्नि की भीषण लपटों से खौलते हुए जल को छोड़कर जलजीव पानी से निकल आते हैं, वैसे ही गंगाजी के तपते हुए जल को छोड़कर सब जीव घबराकर बाहर निकल पड़े ॥ ४१ ॥ शिवजी के उस भयानक तेज से वह जल उबलकर इतना गरम हो गया कि छुआ तक नहीं जा सकता था, फिर भी गंगाजी उस तेज को लिये ही रहीं ॥ ४२ ॥ उसी दिन माघ के महीने में जब संसार के नेत्र खुल गये तथा प्रचंड किरणों वाले भगवान् सूर्य थोड़े-थोड़े निकल रहे थे, उसी समय छहों कृत्तिकाएँ नहाने के लिए गंगाजी के तट पर आयीं ॥ ४३ ॥ उस समय

शुभ्रैरभ्रङ्कषैरूर्मिशतैः स्वर्गनिवासिनाम् । कथयन्तीमिवालोकावगाहाचमनादिकम् ॥४४॥
सुस्नातानां मुनीन्द्राणां बलिकर्मोचितैरलम् । बर्हिः पुष्पोत्करैः कीर्णतीरां दूर्वाक्षतान्वितैः ॥
ब्रह्मध्यानपरैर्योगपरैर्ब्रह्मासनस्थितैः । योगनिद्रागतैर्योगपट्टबन्धैरुपाश्रिताम् ॥४६॥
पादाङ्गुष्ठाग्रभूमिस्थैः सूर्यसम्बद्धदृष्टिभिः । ब्रह्मर्षिभिः परं ब्रह्म गृणद्भिरुपसेविताम् ॥४७॥
अथ दिव्यां नदीं देवीमभ्यनन्दन्विलोक्य ताः । कं नाभिनन्दयत्येषा दृष्टा पीयूषवाहिनी ॥४८॥
चन्द्रचूडामणिर्देवो यामुद्वहति मूर्धनि । यस्या विलोकनं पुण्यं श्रद्दधुस्ता मुदा हृदि ॥४९॥
दिव्यां विष्णुपदीं देवीं निर्वाणपददेशिनीम् । निर्धूतकल्मषां मूर्ध्ना सुप्रह्वास्ता ववन्दिरे ॥५०॥
सौभाग्यैः खलु सुप्रापां मोक्षप्रतिभुवं सतीम् । भक्त्याऽत्र तुष्टुवुस्तां ताः श्रद्दधाना दिवो धुनीम् ॥
मुक्तिस्त्रीसङ्गदूत्यज्ञैस्तत्र ता विमलैर्जलैः । प्रक्षालितमलाः सस्नुः सुस्नातास्तपसान्विताः ॥५२॥
स्नात्वा तत्र सुलभ्यायां भाग्यैः परिपचेलिमैः । चरितार्थं स्वमात्मानं बहु ता मेनिरे मुदा ॥५३॥
कृशानुरेतसो रेतस्तासामभिकलेवरम् । अमोघं सञ्चचाराथ सद्यो गङ्गावगाहनात् ॥५४॥
रौद्रं सुदुर्धरं धाम दधाना दहनात्मकम् । परितापमवापुस्ता मग्ना इव विषाम्बुधौ ॥५५॥
अक्षमा दुर्वहं वोढुमम्बुनो बहिरातुराः । अग्निं ज्वलन्तमन्तस्ता दधाना इव निर्ययुः ॥५६॥
अमोघं शाम्भवं बीजं सद्यो नद्योज्झितं महत् । तासामभ्युदरं दीप्तं स्थितं गर्भत्वमागमत् ॥५७॥
सुज्ञा विज्ञाय ता गर्भभूतं तद्वोढुमक्षमाः । विषादमदधुः सद्यो गाढं भर्तृभिया ह्रिया ॥५८॥

गंगाजी की उजली तथा आकाश चूमने वाली सैकड़ों तरंगे उछल-उछलकर जैसे यह कह रही थीं कि स्वर्ग के निवासी देवता यहीं आकर दर्शन, स्नान और आचमन करते हैं॥४४॥ गंगातट पर फूल, दूब, अक्षत आदि पूजा की सब सामग्री बिखरी पडी थीं, जो मुनियों ने भली प्रकार स्नान-पूजा करके वहाँ चढ़ायी थीं॥४५॥ वहाँ कुश के आसनों पर पद्मासन बाँधकर ब्रह्म का ध्यान करते हुए और समाधि लगाये ऋषि लोग कमर से घुटने तक कपडे ओढे सदा बैठे रहते थे॥४६॥ वहाँ ही पाँव के अगूठों पर खड़े होकर सूर्य की ओर ताकते हुए ब्रह्मर्षि परब्रह्म का ध्यान किया करते थे॥४७॥ उस दिव्य नदी को छहों कृत्तिकाओं ने प्रणाम किया। भला ऐसी अमृतधारामयी गंगाजी को देखकर कौन मुग्ध न हो जायगा॥४८॥ स्वयं भगवान् शंकर जिनको मस्तक पर रखते हैं और जिनके दर्शन करने से ही पुण्य होता है। उन गंगाजी को देखकर कृत्तिकाएँ बहुत प्रसन्न हुई और उनके मन में गंगाजी के प्रति असाधारण श्रद्धा जाग गयी॥४९॥ उन कृत्तिकाओं ने मुक्तिदायिनी, विष्णु के चरणों से निकलनेवाली और पापनाशिनी गंगाजी की बड़ी भक्तिपूर्वक वन्दना की॥५०॥ बडे सौभाग्य से जिनका दर्शन होता है और जो साक्षात् मोक्ष ही हैं, उन गंगाजी की कृत्तिकाओं ने बड़ी भक्ति के साथ स्तुति की॥५१॥ तदनन्तर उन तपस्विनी कृत्तिकाओं ने खूब मलकर गंगाजी के उस निर्मल जल में स्नान किया, जो मानो उन्हें मुक्ति के पास पहुँचा रहा हो॥५२॥ जिन गंगाजी में पिछले जन्म के पुण्यवान् प्राणी ही स्नान कर पाते हैं, उनमें बड़े आनन्द से स्नान करके उन कृत्तिकाओं ने अपने भाग्य को बहुत सराहा॥५३॥ वे जब गङ्गाजी में नहा रही थीं, उसी समय शंकरजी का अमोघ वीर्य गंगाजी से निकलकर उन कृत्तिकाओं के शरीर में समा गया॥५४॥ शिवजी के उस भयंकर, असह्य एवं अग्नि के समान तेजस्वी वीर्य के अपनी देह में आ जाने से वे सन्तप्त हो उठीं और उन्हें ऐसा लगने लगा कि मानो वे सब विष के समुद्र में डूब गयी हों॥५५॥ उस असह्य तेज को न सह सकने के कारण भीतर ही भीतर जलती हुई वे कृत्तिकाएँ उसे लिये हुए ही जल से बाहर निकलीं॥५६॥ भभकता हुआ शंकरजी का वह अमोघ वीर्य गंगाजी से उन कृत्तिकाओं के पेट में पहुँचकर गर्भ बन गया॥५७॥ उन कृत्तिकाओं ने जब देखा कि वह गर्भ बन गया है और सँभाले नहीं सँभलेगा, तब वे बुद्धिमती कृत्तिकाएँ अपने-अपने पतियों

ततः शरवणे सार्धं भयेन व्रीडया च ताः । तद्गर्भजातमुत्सृज्य स्वान्गृहानभिनिर्ययुः ॥५९॥
ताभिस्तत्रामृतकरकलाकोमलं भासमानं तद्विक्षिप्तं क्षणमभिनभोगर्भमभ्युज्जिहानैः ।
स्वैस्तेजोभिर्दिनपतिशतस्पर्धमानैरमानैर्वक्त्रैः षड्भिः स्मरहरगुरुस्पर्धयेवाजनीव ॥६०॥

इति महाकविकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये
कुमारोत्पत्तिर्नाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥

के डर से और लाज के मारे बहुत दुःखी हुईं॥५८॥ लज्जा और भय के कारण वे एक सरपत के जंगल में गर्भ को त्यागकर अपने घर चली गयीं॥५९॥ उस सरपत के जंगल में कृत्तिकाओं ने चन्द्रमा की किरणों के सदृश कोमल और तेजस्वी जो गर्भ छोड़े थे, वे ऐसे तेजस्वी थे कि उनका तेज उदय होते हुए सैकड़ों सूर्यो से भी होड़ करता था और अपने छ मुखों से वे चतुर्मुख ब्रह्मा से भी स्पर्धा कर रहे थे॥६०॥

इस प्रकार महाकविकालिदासरचित कुमारसम्भवमहाकाव्य में
कुमार-जन्म नामक दसवाँ सर्ग समाप्त॥ १० ॥

एकादशः सर्गः

अभ्यर्थ्यमाना विबुधैः समग्रैः प्रह्वैः सुरेन्द्रप्रमुखैरुपेत्य।
तं पाययामास सुधातिपूर्णं सुरापगा स्वं स्तनमाशु मूर्ता॥१॥
पिबन् स तस्याः स्तनयोः सुधौघं क्षणं क्षणं साधु समेधमानः।
प्रापाकृतिं कामपि षड्भिरेत्य निषेव्यमाणः खलु कृत्तिकाभिः॥२॥
भागीरथीपावककृत्तिकानामानन्दबाष्पाकुललोचनानाम्।
तं नन्दनं दिव्यमुपात्तुमासीत् परस्परं प्रौढतरो विवादः॥३॥
अत्रान्तरे पर्वतराजपुत्र्या समं शिवः स्वैरविहारहेतोः।
नभो विमानेन विगाहमानो मनोऽतिवेगेन जगाम तत्र॥४॥
निसर्गवात्सल्यवशाद्विवृद्धचेतःप्रमोदौ गलदश्रुनेत्रौ।
अपश्यतां तं गिरिजागिरीशौ षडाननं षड्दिनजातमात्रम्॥५॥
अथाह देवी शशिखण्डमौलिं कोऽयं शिशुर्दिव्यवपुः पुरस्तात्।
कस्याथवा धन्यतमस्य पुंसो माताऽस्य का भाग्यवतीषु धुर्या॥६॥
स्वर्गापगासावनलोऽयमेताः षट् कृत्तिकाः किं कलहायमानाः।
पुत्रो ममायं न तवायमित्थं मिथ्येति वैलक्ष्यमुदाहरन्ति॥७॥
एतेषु कस्येदमपत्यमीशाखिलत्रिलोकीतिलकायमानम्।
अन्यस्य कस्याप्यथ देवदैत्यगन्धर्वसिद्धोरगराक्षसेषु॥८॥
श्रुत्वेति वाक्यं हृदयप्रियायाः कौतूहलिन्या विमलस्मितश्रीः।
सान्द्रप्रमोदोदयसौख्यहेतुभूतं वचोऽवोचत चन्द्रचूडः॥९॥

इन्द्र आदि देवताओं ने जब गंगाजी के पास जाकर बड़े विनीत भाव से प्रार्थना की, तब वे स्त्री का रूप धारण करके आयीं और उस बालक को अपना अमृत से परिपूर्ण स्तन पिलाने लगीं॥१॥ छः मुखों वाला वह बालक अमृत की धारा पीकर पल-पल में बड़े वेग से बढ़ने लगा। जब छहों कृतिकाएँ भी आकर उसकी देखभाल करने लगीं, तब उसका रूप-रंग बड़े अनोखे ढंग से निखर उठा॥२॥ उस दिव्यरूपधारी बालक को देखकर गंगाजी, अग्नि और छहों कृतिकाएँ आँखों में प्रेम के आँसू भरकर उसे अपना पुत्र बनाने के लिए आपस में जोरों से झगड़ने लगीं॥३॥ उसी समय शिवजी भी पार्वतीजी के साथ स्वेच्छा से घूमते-घामते मन के समान वेग से चलने वाले विमान पर चढ़कर आकाश में उड़ते हुए वहाँ जा पहुँचे॥४॥ केवल छः दिनों के उस छः मुँहवाले बालक को देखते ही शिव और पार्वतीजी की आँखें स्वाभाविक पुत्र-प्रेमवश छलछला उठीं॥५॥ तब पार्वतीजी शंकरजी से पूछने लगीं—'यह दिव्य शरीर वाला बालक कौन है? यह किसका पुत्र है और कौन सबसे बड़भागी स्त्री इसकी माता है?॥६॥ ये अग्नि, गंगा और छहों कृतिकाएँ यह कह-कहकर क्यों लड़ रही हैं कि यह मेरा पुत्र है, तुम्हारा नहीं। ये ऐसी बेतुकी और झूठी बातें क्यों बकती हैं॥७॥ हे ईश! तीनों लोकों में तिलक के समान और सबका सिरमौर यह सुन्दर बालक वस्तुतः इन तीनों में से किसका है? अथवा इनको छोड़कर यह किसी और ही देव, दैत्य, गन्धर्व, सिद्ध, नाग तथा राक्षस का पुत्र है'?॥८॥ अपनी प्राणप्यारी पार्वती की यह चावभरी बात सुनकर शंकरजी मुस्कुराहट की निर्मल कान्ति फैलाते

जगत्त्रयीनन्दन एष वीरः प्रवीरमातुस्तव नन्दनोऽस्ति।
कल्याणि! कल्याणकरः सुराणां त्वत्तोऽपरस्याः कथमेष सर्गः॥ १०॥
देवि! त्वमेवास्य निदानमास्से सर्गे जगन्मङ्गलगानहेतोः।
सत्यं त्वमेवेति विचारयस्व रत्नाकरे युज्यत एव रत्नम्॥ ११॥
अतः शृणुष्वावहितेन वृत्तं बीजं यदग्नौ निहितं मया तत्।
सङ्क्रान्तमन्तस्त्रिदशापगायां ततोऽवगाहे सति कृत्तिकासु॥ १२॥
गर्भत्वमाप्तं तदमोघमेतत्ताभिः शरस्तम्बमधि न्यधायि।
बभूव तत्रायमभूतपूर्वो महोत्सवोऽशेषचराचरस्य॥ १३॥
अशेषविश्वप्रियदर्शनेन धुर्या त्वमेतेन सुपुत्रिणीनाम्।
अलं विलम्ब्याचलराजपुत्रि! स्वपुत्रमुत्सङ्गतले निधेहि॥ १४॥
अथेति वादिन्यमृतांशुमौलौ शैलेन्द्रपुत्री रभसेन सद्यः।
सान्द्रप्रमोदेन सुपीनगात्री धात्री समस्तस्य चराचरस्य॥ १५॥
किरीटबद्धाञ्जलिभिर्नभःस्थैर्नमस्कृता सत्वरनाकिलोकैः।
विमानतोऽवातरदात्मजं तं ग्रहीतुमुत्कण्ठितमानसाऽभूत्॥ १६॥
स्वर्गापगापावककृत्तिकादीन् कृताञ्जलीनानमतोऽपि भूयः।
हित्वोत्सुका तं सुतमाससाद पुत्रोत्सवे माद्यति का न हर्षात्॥ १७॥
प्रमोदबाष्पाकुललोचना सा न तं ददर्श क्षणमग्रतोऽपि।
परिस्पृशन्ती करकुड्मलेन सुखान्तरं प्राप किमप्यपूर्वम्॥ १८॥

हुए बोले—॥ ९॥ तीनों लोकों को आनन्द देने वाले इस वीर बालक की वीर माता तुम हो। हे कल्याणी! तुम्हें छोड़कर देवताओं का कल्याण करने वाला ऐसा पुत्र भला और कौन उत्पन्न कर सकता है?॥ १०॥ हे देवि! संसारभर के मंगल कामों के अवसर पर जिस बालक की कीर्ति गायी जायेगी, वह तुम्हारा यही पुत्र है। तुम्हीं ठीक-ठीक विचार करके देख लो कि रत्न तो रत्नाकर से ही निकलता है॥ ११॥ हे पार्वती! अब सावधान होकर तुम इस बालक के उत्पन्न होने की कथा सुनो। मैंने अपना जो अमोघ वीर्य अग्नि के शरीर में रख दिया था, उसे अग्नि ने गंगाजी में छोड़ दिया। वह स्नान करती हुई छहों कृत्तिकाओं के पेट में पहुँचकर गर्भ बन गया और तब उस गर्भ को कृत्तिकाओं ने सरपत के जंगल में फेंक दिया। उसी गर्भ से चर और अचर प्राणियों को हर्षदायक यह अनोखा बालक जन्मा है॥ १२-१३॥ हे पार्वती! सारे संसार के प्रिय इस बालक की माता होने के कारण तुम अपने को सब पुत्रवती स्त्रियों में श्रेष्ठ समझो। अब देर मत करो और अपने पुत्र को उठाकर गोद में ले लो॥ १४॥ भगवान् शंकर की यह बात सुनकर समस्त संसार की माता पार्वतीजी हर्ष से फूली नहीं समायीं और तुरन्त विमान से उतरकर उस पुत्र-रत्न को गोद में लेने के लिए अधीर हो उठीं। उस समय आकाश में उपस्थित इन्द्र आदि देवता अपने मुकुटों पर हाथ जोड़ और सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम करने लगे॥ १५-१६॥ गंगा, अग्नि और कृतिकाएँ सभी बार-बार झुक-झुककर उन्हें प्रणाम कर रही थीं, परन्तु पार्वतीजी का ध्यान उधर गया ही नहीं और उन्होंने वड़े चाव से उस पुत्र को अपनी गोद में उठा लिया। भला कौन ऐसी माता होगी, जो अपने पुत्र के प्रेम में हर्षविभोर न हो जाती हो॥ १७॥ आँखों में आनन्द के आँसू उमड़ आने से वे थोड़ी देर तक तो अपने समक्ष विद्यमान पुत्र को देख ही नहीं सकीं और कली के समान अपने कोमल हाथ से उसे सहलाकर ही अनोखा सुख लेती रहीं॥ १८॥ वह मनोहर बालक उन्हें तब दिखलायी पडा, जब उनकी आँखें आश्चर्य और आनन्द से खिली जा रही थीं, हृदय उमडा

सुविस्मयानन्दविकस्वरायाः शिशुर्गलद्वाष्पतरङ्गितायाः।
विवृद्धवात्सल्यरसोत्तराया देव्या दृशोर्गोचरतां जगाम॥ १९॥
तमीक्षमाणा क्षणमीक्षणानां सहस्रमासुं विनिमेषमैच्छत्।
सा नन्दनालोकनमङ्गलेषु क्षणं क्षणं तृप्यति कस्य चेतः॥ २०॥
विनम्रदेवासुरपृष्ठगाभ्यामादाय तं पाणिसरोरुहाभ्याम्।
नवोदयं पार्वणचन्द्रचारुं गौरी स्वमुत्सङ्गतलं निनाय॥ २१॥
स्वमङ्कमारोप्य सुधानिधानमिवात्मनो नन्दनमिन्दुवक्त्रा।
तमेकमेषा जगदेकवीरं बभूव पूज्या धुरि पुत्रिणीनाम्॥ २२॥
निसर्गवात्सल्यरसौघसिक्ता सान्द्रप्रमोदामृतपूरपूर्णा।
तमेकपुत्रं जगदेकमाताऽभ्युत्सङ्गिनं प्रस्नविणी बभूव॥ २३॥
अशेषलोकत्रयमातुरस्याः षाण्मातुरः स्तन्यसुधामधासीत्।
सुरस्रवन्त्याः किल कृत्तिकाभिर्मुहुर्मुहुः सस्पृहमीक्ष्यमाणः॥ २४॥
सुखाश्रुपूर्णेन मृगाङ्कमौलेः कलत्रमेकेन मुखाम्बुजेन।
तस्यैकनालोद्गतपञ्चपद्मलक्ष्मीं क्रमात् षड्वदनीं चुचुम्ब॥ २५॥
हैमी फलं हेमगिरेर्लतेव विकस्वरं नाकनदीव पद्मम्।
पूर्वेव दिङ्नूतनमिन्दुमाभात्तं पार्वती नन्दनमादधाना॥ २६॥
प्रीतात्मना सा प्रयतेन दत्तहस्तावलम्बा शशिशेखरेण।
कुमारमुत्सङ्गतले दधाना विमानमभ्रंलिहमारुरोह॥ २७॥

पड़ रहा था, आँसू बहे जा रहे थे और वात्सल्यभाव छलक रहा था॥ १९॥ बच्चे की ओर एकटक देखती हुई पार्वतीजी सोचने लगीं कि यदि मुझे इस समय एक सहस्र अनिमेष नेत्र मिल जाते तो बड़ा अच्छा होता। पुत्र का दर्शन करके भला किसका जी भरता है?॥ २०॥ प्रणाम के समय झुके हुए देवताओं और दैत्यों की पीठ पर अपने जो हाथ फेरकर वे आशीष देती थीं, उन्हीं हाथों से पार्वतीजी ने पूर्णिमा के चन्द्रमा जैसे सुन्दर पुत्र को उठाकर गोद में ले लिया॥ २१॥ चन्द्रमा-सदृश मुखवाली पार्वतीजी ने संसार में सर्वश्रेष्ठ अपने उस वीर पुत्र को गोद में इस प्रकार उठा लिया, जैसे उन्होंने अमृत का कलश पा लिया हो। इससे वे पुत्रवतियों में सबसे श्रेष्ठ और पूजनीय हो गयीं॥ २२॥ सारे संसार की माता पार्वतीजी ने जब उस अनोखे पुत्र को गोद में लिया तो उनके रोम-रोम से वात्सल्य रस की धारा उमड़ पड़ी, हर्ष से अमृत की बाढ आ गयी और स्तनों से दूध की धारा बह चली॥ २३॥ कार्तिकेय जब तीनों लोकों की माता पार्वतीजी के स्तन पीने लगे, तब गंगाजी और कृत्तिकाएँ डाह से उनकी ओर बार-बार निहारने लगीं॥ २४॥ हर्ष के आँसू बहाती हुई शंकरजी की प्रिया पार्वतीजी ने कमल के समान अपने एक मुख से उस पुत्र के छहों मुखों को चूमा। जो कमल की एक डंठल से निकले पाँच कमल जैसे थे, उन पाँचों के बीच में उन कमलों की ही शोभा छठा कमल बनकर निकल आयी थी॥ २५॥ गोद में एक सुन्दर पुत्र लिये हुए पार्वतीजी ऐसी सुन्दर लग रही थीं, जैसे सोने के सुमेरु पर्वत पर उत्पन्न होने वाली सुनहरी लता में फल आ गया हो अथवा आकाशगंगा में कमल खिल उठा हो या कि पूर्व दिशा में चन्द्रमा निकल आया हो॥ २६॥ तभी पुत्र को गोद में लिये हुए आनन्दित मन से पार्वतीजी परम प्रसन्न शंकरजी के हाथ का सहारा लेकर उस गगनचुम्बी विमान पर चढ़ गयीं॥ २७॥

महेश्वरोऽपि प्रमदप्ररूढरोमोद्गमो भूधरनन्दनायाः।
अङ्कादुपादत्त तदङ्कतः सा तस्यास्तु सोऽप्यात्मजवत्सलत्वात्॥ २८॥
दधानया नेत्रसुधैकसत्रं पुत्रं पवित्रं सुतया तयाऽद्रेः।
संश्लिष्यमाणः शशिखण्डधारी विमानवेगेन गृहाञ्जगाम॥ २९॥
अधिष्ठितः स्फाटिकशैलशृङ्गे तुङ्गे निजं धाम निकामरम्यम्।
महोत्सवाय प्रमथप्रमुख्यान् पृथून् गणाञ्शम्भुरथादिदेश॥ ३०॥
पृथुप्रमोदः प्रगुणो गणानां गणः समग्रो वृषवाहनस्य।
गिरीन्द्रपुत्र्यास्तनयस्य जन्मन्यथोत्सवं संववृते विधातुम्॥ ३१॥
स्फुरन्मरीचिच्छुरिताम्बराणि सन्तानशाखिप्रसवाञ्चितानि।
उच्चिक्षिपुः काञ्चनतोरणानि गणा वराणि स्फटिकालयेषु॥ ३२॥
दिक्षु प्रसर्पस्तदधीश्वराणामथामराणामिव मध्यलोके।
महोत्सवं शंसितुमाहतोऽन्यैर्दध्वान धीरः पटहः पटीयान्॥ ३३॥
महोत्सवे तत्र समागतानां गन्धर्वविद्याधरसुन्दरीणाम्।
सम्भावितानां गिरिराजपुत्र्या गृहेऽभवन्मङ्गलगीतकानि॥ ३४॥
सुमङ्गलोपायनपात्रहस्तास्तं मातरो मातृवदभ्युपेताः।
विधाय दूर्वाक्षतकानि मूर्ध्नि निन्युः स्वमङ्कं गिरिजातनूजम्॥ ३५॥
ध्वनत्सु तूर्येषु सुमन्द्रमङ्क्यालिङ्ग्योर्ध्वकेष्वप्सरसो रसेन।
सुसन्धिबन्धं ननृतुः सुवृत्तगीतानुगं भावरसानुविद्धम्॥ ३६॥
वाता ववुः सौख्यकराः प्रसेदुराशा विधूमो हुतभुग्दिदीपे।
जलान्यभूवन् विमलानि तत्रोत्सवेऽन्तरिक्षं प्रससाद सद्यः॥ ३७॥

वे दोनों पुत्र-प्रेम में इतने मगन हो गये थे कि कभी पार्वतीजी की गोद से शंकरजी उस पुत्र को ले लेते थे और कभी उनकी गोद से उसे पार्वतीजी ले लेती थीं। इस प्रकार पुत्र-प्रेम में विभोर होकर दोनों उसे खेला रहे थे॥ २८॥ आँखों को अमृत-सदृश सुखदायी उस पवित्र पुत्र को गोद में लिये तथा अपनी छाती से लिपटी हुई पार्वतीजी को साथ लेकर शंकरजी वेग से चलने वाले विमान पर चढकर कैलास को लौट गये॥ २९॥ उस स्फटिकमय कैलास के ऊँचे शिखर पर बने अपने सुन्दर भवन में बैठकर शंकरजी ने मुख्य-मुख्य प्रमथ आदि गणों को आज्ञा दी कि पुत्र उत्पन्न होने के उपलक्ष्य में तुम लोग उत्सव मनाओ॥ ३०॥ तब बड़े आनन्द और चाव से सभी गुणवान् गण पार्वतीजी और शंकरजी के पुत्रजन्म के उपलक्ष्य में महोत्सव मनाने लगे॥ ३१॥ कुछ गण स्फटिकमणि में चमकती हुई किरणों के पड़ने से रंग-बिरंगे दीखने वाले कपड़ों, कल्पवृक्ष के फूलों और पत्तों के बने सुनहले बन्दनवारों से अपने स्फटिक-निर्मित भवन सजाने लगे॥ ३२॥ कुछ गणों के नगाड़ा बजाने से उसकी गम्भीर ध्वनि जब दसों दिशाओं में फैली तो धरती से उठी हुई उसकी गमक जैसे यह बता रही थी कि दिक्पालों और देवताओं के लोक के समान ही वहाँ भी पुत्रोत्सव मनाया जा रहा है॥ ३३॥ उस महोत्सव में गन्धर्वों और विद्याधरों की सुन्दरियों ने आकर बधैया गायी और पार्वतीजी ने उनकी बड़ी आवभगत की॥ ३४॥ ब्राह्मी आदि माताएँ भी हाथ में बधावे के मङ्गलोपहार ले-लेकर बालक के पास आयीं और उसके सिर पर दूब तथा अक्षत छिड़क-छिड़ककर सबने उसे अपनी-अपनी गोद में लिया॥ ३५॥ उस समय अङ्क्य, आलिङ्ग्य और ऊर्ध्वक नाम की अनेक तुरहियाँ मीठे स्वर में बज रही थीं और भाव तथा रसभरे अच्छे छन्दों में बँधे गाने गाती हुई अप्सराएँ बड़े हाव-भाव से नाच रही थीं॥ ३६॥ उस समय

गम्भीरशङ्खध्वनिमिश्रमुच्चैर्गृहोद्भवा दुन्दुभयः प्रणेदुः।
दिवौकसां व्योम्नि विमानसङ्घा विमुच्य पुष्पप्रचयान् प्रसस्रुः॥ ३८॥
इत्थं महेशाद्रिसुतासुतस्य जन्मोत्सवे सम्मदयाञ्चकार।
चराचरं विश्वमशेषमेतत् परं चकम्पे किल तारकश्रीः॥ ३९॥
ततः कुमारः समुदां निदानैः स बाललीलाचरितैर्विचित्रैः।
गिरीशगौर्योर्हृदयं जहार मुदे न हृद्या किमु बालकेलिः॥ ४०॥
महेश्वरः शैलसुता च हर्षात् सतर्षमेकेन मुखेन गाढम्।
अजातदन्तानि मुखानि सूनोर्मनोहराणि क्रमतश्चुचुम्ब॥ ४१॥
क्वचित्स्खलद्भिः क्वचिदस्खलद्भिः क्वचित्प्रकम्पैः क्वचिदप्रकम्पैः।
बालः स लीलाचलनप्रयोगैस्तयोर्मुदं वर्धयति स्म पित्रोः॥ ४२॥
अहेतुहासच्छुरिताननेन्दुर्गृहाङ्गणक्रीडनधूलिधूम्रः।
मुहुर्वदन् किञ्चिदलक्षितार्थं मुदं तयोरङ्कगतस्ततान॥ ४३॥
गृह्णन्विषाणे हरवाहनस्य स्पृशन्नुमाकेसरिणं सलीलम्।
स भृङ्गिणः सूक्ष्मतरं शिखाग्रं कर्षन्बभूव प्रमदाय पित्रोः॥ ४४॥
एको नव द्वौ दश पञ्च सप्तेत्यजीगणन्नात्ममुखं प्रसार्य।
महेशकण्ठोरगदन्तपङ्क्तिं तदङ्कगः शैशवमौग्ध्यमैशिः॥ ४५॥
कपर्दिकण्ठान्तकपालदाम्नोऽङ्गुलिं प्रवेश्याननकोटरेषु।
दन्तानुपात्तुं रभसीबभूव मुक्ताफलभ्रान्तिकरः कुमारः॥ ४६॥

सुखदायक पवन बहने लगा, दिशाएँ खिल उठीं, धुआँ मिट जाने से आग चमक उठी और जल निर्मल हो गया। यहाँ तक कि उस उत्सव में आकाश भी तत्काल स्वच्छ हो गया॥ ३७॥ शंख की गम्भीर ध्वनि के साथ घर-घर के छोटे नगाडे बजने लगे। देवता भी आकाश में विमानों से आ-आकर फूल बरसाते जाते थे॥ ३८॥ इस प्रकार शंकर और पार्वतीजी के पुत्र के जन्मोत्सव से संसार के सभी चर और अचर प्राणी तो हर्ष से गद्‌गद हो गये, परन्तु तारकासुर की राजलक्ष्मी काँप उठी॥ ३९॥ वह बालक भी धीरे-धीरे अपनी मनोहर और अनोखी बाल-लीलाओं से शंकर और पार्वतीजी को आनन्द देने लगा॥ ४०॥ वे हर्ष से मतवाले होकर अपने पुत्र के दन्तहीन और मनोहर मुखों को बार-बार बड़े भाव से चूमा करते थे॥ ४१॥ कहीं लड़खड़ाता, कहीं सीधा चलता, कहीं काँपता और कहीं तना हुआ-सा वह बालक अपनी खेलवाड़-भरी चालों से उन दोनों का मन लुभाने लगा॥ ४२॥ अपने माता-पिता की गोद में बैठा वह बालक अनेक तरह से उनका जी बहलाया करता था। कभी उस बच्चे का मुखचन्द्र बिना किसी बात की हँसी से चमक उठता था, कभी घर के आँगन में खेलने से उसका शरीर धूल से भर जाता था और कभी वह बार-बार तोतली बोली बोलकर अपने माता-पिता को प्रसन्न करता था॥ ४३॥ कभी वह शंकरजी के बैल का सींग पकडता, कभी पार्वतीजी के सिंह का केसर खींचता और कभी भृङ्गी की चोटी के बाल नोचने लगता था। यह सब देखकर उसके माता-पिता हर्ष से फूले नहीं समाते थे॥ ४४॥ कभी-कभी वह बाल्यचपलतावश शिवजी के गले में पड़े सर्पों के मुख खोलकर एक नौ दस पाँच कहकर उनके दाँत गिनने लगता था और शिव-पार्वती हँसने लगते थे॥ ४५॥ कभी-कभी शंकरजी के गले में पड़ी मुंडमाला के मुखों में उँगली डालकर उनके दाँतों को मोती समझकर निकालने लगता था॥ ४६॥ कभी वह शंकरजी की जटा पर गंगाजी की ठंडी धारा में अपना हाथ डाल देता,

शम्भोः शिरोऽन्तः सरितस्तरङ्गान्विगाह्य गाढं शिशिरान्नसेन।
स जातजाड्यं निजपाणिपद्ममतापयद्भालविलोचनाग्नौ ॥ ४७ ॥
किञ्चित्कलं भङ्गुरकन्धरस्य नमज्जटाजूटधरस्य शम्भोः।
प्रलम्बमानं किल कौतुकेन चिरं चुचुम्बे मुकुटेन्दुखण्डम् ॥ ४८ ॥
इत्थं शिशोः शैशवकेलिवृत्तैर्मनोऽभिरामैर्गिरिजागिरीशौ।
मनोविनोदैकरसप्रसक्तौ दिवानिशं नाविदतां कदाचित् ॥ ४९ ॥

इति बहुविधं बालक्रीडाविचित्रविचेष्टितं,
ललितललितं सान्द्रानन्दं मनोहरमाचरन्।
अलभत परां बुद्धिं षष्ठे दिने नवयौवनं,
स किल सकलं शास्त्रं शस्त्रं विवेद विभुर्यया ॥ ५० ॥

इति महाकविकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये
कुमारोत्पत्तिर्नामैकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

परन्तु ठंड लगने से उसके हाथ सुन्न हो जाते। तब वह अपना कमल जैसा कोमल हाथ शिवजी के माथे पर जलते हुए तीसरे नेत्र की आग पर ले जाकर सेंक लेता था ॥ ४७ ॥ वह जब देखता कि शंकरजी का कन्धा तनिक नीचा हो गया है और उनके जटा-जूट झुक गये हैं, तब वह जटा के साथ नीचे लटकने वाले उनके सिर पर विद्यमान चन्द्रमा को बड़ी देर तक चूमता रहता था ॥ ४८ ॥ पुत्र की मनोहर और खेलवाड से भरी बाल-लीलाओं का आनन्द लेते हुए शंकर और पार्वतीजी इतने मगन हो गये कि उन्हें यही सुधि नहीं रह गयी कि कब दिन चढ़ा और कब रात आयी ॥ ४९ ॥ इस तरह अनेक प्रकार की लुभावनी और सुहावनी बाल-लीलाएँ करते हुए वह बालक छठें ही दिन बड़ा बुद्धिमान् जवान हो गया और छः ही दिनों में उसे सब शास्त्र और शस्त्रविद्याएँ भलीभाँति आ गयीं ॥ ५० ॥

**इस प्रकार महाकविकालिदासरचित कुमारसम्भवमहाकाव्य में
कार्तिकेय-जन्म नामक ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ ११ ॥**

द्वादशः सर्गः

अथ प्रपेदे त्रिदशैरशेषैः क्रूरासुरोपप्लवदुःखितात्मा।
पुलोमपुत्रीदयितोऽन्धकारिं पत्रीव तृष्णातुरितः पयोदम्॥ १॥
दृप्तारिसन्त्रासखिलीकृतात् स कथञ्चिदम्भोदविहारमार्गात्।
अवाततारभिगिरिं गिरीशगौरीपदन्यासविशुद्धमिन्द्रः॥ २॥
सङ्क्रन्दनः स्यन्दनतोऽवतीर्य मेघात्मनो मातलिदत्तहस्तः।
पिनाकिनोऽथालयमुच्चचाल शुचौ पिपासाकुलितो यथाम्भः॥ ३॥
इतस्ततोऽथ प्रतिबिम्बभाजं विलोकमानः स्फटिकाद्रिभूमौ।
आत्मानमप्येकमनेकधा स व्रजन् विभोरास्पदमाससाद॥ ४॥
विचित्रचञ्चन्मणिभङ्गिसङ्गं सौवर्णदण्डं दधताऽतिचण्डम्।
स नन्दिनाऽधिष्ठितमध्यतिष्ठत् सौधाङ्गणद्वारमनङ्गशत्रोः॥ ५॥
ततः स कक्षाहितहेमदण्डो नन्दी सुरेन्द्रं प्रतिपद्य सद्यः।
प्रतोषयामास सुगौरवेण गत्वा शशंस स्वयमीश्वरस्य॥ ६॥
भ्रूसंज्ञयाऽनेन कृताभ्यनुज्ञः सुरेश्वरं तं जगदीश्वरेण।
प्रवेशयामास सुरैः पुरोगः समं स नन्दी सदनं सदस्य॥ ७॥
स चण्डिभृङ्गिप्रमुखैर्गरिष्ठैर्गणैरनेकैर्विविधस्वरूपैः।
अधिष्ठितं संसदि रत्नमय्यां सहस्रनेत्रः शिवमालुलोके॥ ८॥
कपर्दमुद्बद्धमहीनमूर्धरत्नांशुभिर्भासुरमुल्लसद्भिः।
दधानमुच्चैस्तरमिद्धधातोः सुमेरुशृङ्गस्य समत्वमाप्तम्॥ ९॥

जैसे प्यासा पपीहा बादल की शरण में जाता है, वैसे ही अत्याचारी तारकासुर के उपद्रवों से दुःखी इन्द्र सब देवताओं के साथ शंकरजी के पास गये॥ १॥ उस घमंडी शत्रु तारक से भयभीत देवता किसी भी मार्ग से नहीं आ-जा सकते। अतएव इन्द्र बादलों के बीच छिपते-छिपते किसी प्रकार उस कैलास पर जा उतरे, जो शंकर और पार्वतीजी के चरण पडने से पवित्र हो चुका था॥॥२॥ वहाँ मातलि के हाथ के सहारे इन्द्र रथ मे उतरे और शंकरजी के भवन की ओर वैसे ही बढ़े, जैसे गर्मी में प्यासा पानी की ओर झपटे॥ ३॥ स्फटिक मणि से बने हुए उस कैलास पर चारों ओर अपनी बहुत-सी परछाइयाँ देखते हुए वे शंकरजी के निवासस्थान पर जा पहुँचे॥ ४॥ शंकरजी के भवन के द्वार पर पहुँचकर इन्द्र रुक गये। वहाँ रंग-बिरंगे मणियों की पच्चीकारी की हुई थी और एक बड़ा भारी सोने का डंडा हाथ में लिये हुए नन्दी पहरा दे रहे थे॥ ५॥ इन्हें देखा तो अपने सोने के डंडे को एक कोने में रखकर नन्दी ने चटपट आगे बढ़कर इन्द्र की आवभगत करते हुए स्वागत किया और भीतर जाकर महादेवजी को उनके आगमन की खबर दी॥ ६॥ शंकरजी ने भौंहों के संकेत से ही उन्हें भीतर लाने का आदेश दे दिया। उनकी आज्ञा पाकर आगे-आगे मार्ग दिखलाते हुए नन्दी इन्द्र आदि देवताओं को शंकरजी के पास ले गये॥ ७॥ वहाँ इन्द्र ने देखा कि रत्नजटित सभा-मण्डप में चण्डी-भृङ्गी आदि अनेक रूप-रंगवाले बहुत-से गणों से घिरे शिवजी बैठे हुए हैं॥ ८॥ साँपों से लिपटा हुआ शिवजी के सिर का जटाजूट वासुकी आदि बडे-बडे साँपों के फनों के मणियों की किरणों से चमकता हुआ सुमेरु

विभ्राणमुत्तुङ्गतरङ्गमालां गङ्गां जटाजूटतटं भजन्तीम्।
गौरीं तदुत्सङ्गजुषं हसन्तीमिव स्वफेनैः शरदभ्रशुभ्रैः॥ १०॥
गङ्गातरङ्गप्रतिबिम्बितैः स्वैर्बहूभवन्तं शिरसा सुधांशुम्।
चलन्मरीचिप्रचयैस्तुषारगौरैर्हिमद्योतितमुद्वहन्तम् ॥ ११॥
भालस्थले लोचनमेधमानधामाधरीभूतरवीन्दुनेत्रम्।
युगान्तकालोचितहव्यवाहं मीनध्वजप्लोषणमादधानम्॥ १२॥
महार्हरत्नाञ्चितयोरुदारं स्फुरत्प्रभामण्डलयोः समन्तात्।
कर्णस्थिताभ्यां शशिभास्कराभ्यामुपासितं कुण्डलयोश्छलेन॥ १३॥
स्ववद्धया कण्ठिकयेव नीलमाणिक्यमय्या कुतुकेन गौर्याः।
नीलस्य कण्ठस्य परिस्फुरन्त्या कान्त्या महत्या सुविराजमानम्॥ १४॥
कालार्दितानां त्रिदशासुराणां चितारजोभिः परिपाण्डुराङ्गम्।
महन्महेभाजिनमुद्गताभ्रप्रालेयशैलश्रियमुद्वहन्तम् ॥ १५॥
पाणिस्थितब्रह्मकपालपात्रं वैकुण्ठभाजाऽपि निषेव्यमाणम्।
नरास्थिखण्डाभरणं रणान्तमूलं त्रिशूलं कलयन्तमुच्चैः॥ १६॥
पुरातनीं ब्रह्मकपालमालां कण्ठे वहन्तं पुनराश्वसन्तीम्।
उद्गीतवेदां मुकुटेन्दुवर्षत्सुधाभरौघाप्लवलब्धसंज्ञाम्॥ १७॥
सलीलमङ्कस्थितया गिरीन्द्रपुत्र्या नवाष्टापदवल्लिभासा।
विराजमानं शरदभ्रखण्डं परिस्फुरन्त्याऽचिररोचिषेव॥ १८॥

पर्वत के शिखर की नाई दीख रहा था॥ ९॥ शिवजी के जटाजूट के अग्रभाग में बैठी ऊँची-ऊँची तरङ्गोंवाली गंगाजी शरत्कालीन बादलों के समान उजली फेन उछाल-उछालकर जैसे शंकरजी की गोद में बैठी पार्वतीजी की हँसी उड़ा रही थीं कि देखो, हम तो शिवजी के सिर पर चढ़ी बैठी हैं॥ १०॥ शिवजी के सिर के चन्द्रमा की हिम जैसी उजली किरणों की जो परछाई गंगाजी की तरंगों में बहुत रूपों में नाच रही थी, वह ऐसी लगती थी कि मानो उस अकेले चन्द्रमा के अनेक चन्द्रमा बन गये हों॥ ११॥ उनके मस्तक पर कामदेव को जलाने वाला और प्रलय की अग्नि के समान वह भीषण तीसरा नेत्र चमक रहा था, जिसके तेज के आगे प्रलयकालीन सूर्य और चन्द्र रूपी नेत्र भी चौंधिया जाते थे॥ १२॥ उनके दोनों कानों में किरणों के घेरे से घिरे तथा अनमोल रत्नों से जड़े दो कुण्डल ऐसे झूल रहे थे, जैसे उनके बहाने सूर्य और चन्द्रमा ही शंकरजी के दोनों कानों पर बैठकर उनकी सेवा कर रहे हों॥ १३॥ उनका नीला कंठ ठीक वैसे ही चमकता था, जैसे कभी-कभी खिलवाड में नीलम का हार पहन लेने पर पार्वतीजी का कंठ चमक उठता है॥ १४॥ मरे हुए देवताओं और दानवों की चिताओं की भस्म पुते हुए अपने उजले अंग पर उजले हाथी की खाल ओढ़े हुए वे ऐसे दीख रहे थे, मानो बादलों से घिरा हुआ विशाल हिमालय पर्वत हो॥ १५॥ उनके एक हाथ में ब्रह्म-कपाल का पात्र था, गले में मरे मनुष्यों की हड्डियों के टुकडों के गहने थे और दूसरे हाथ में वे युद्ध समाप्त करने वाला अपना त्रिशूल ऊपर उठाये हुए थे। इस विचित्र वेश में होने पर भी वैकुंठवासी विष्णु तक उनकी सेवा करते थे॥ १६॥ उनके गले में ब्रह्म-कपालों की एक पुरानी माला पडी हुई थी, जो सिर पर बैठे हुए चन्द्रमा से बरसी हुई अमृत की बूँदें पीने से जीवित-सी होकर वेद का गान कर रही थी॥ १७॥ सोने की नवीन लता के समान सुन्दरी पार्वतीजी को अपनी गोद में बैठाये हुए शिवजी ऐसे दीख रहे थे, मानो चमकती हुई बिजली वाला कोई शरद् ऋतु का बादल हो॥ १८॥ उनके हाथ में वह पिनाक नाम का

दृसान्धकप्राणहरं पिनाकं महासुरस्त्रीविधवात्वहेतुम्।
करेण गृह्णन्तमगृह्यमन्यैः पुरा स्मरप्लोषणकेलिकारम्॥ १९॥
भद्रासनं काञ्चनपादपीठं महार्हमाणिक्यविभङ्गिचित्रम्।
अधिष्ठितं चन्द्रमरीचिगौरैरुद्वीज्यमानं चमरैर्गणाभ्याम्॥ २०॥
शस्त्रास्त्रविद्याभ्यसनैकसक्ते सविस्मयैरेत्य गणैः सुदृष्टे।
नीराज्यमाने स्फटिकाचलेन सानन्दनिर्दिष्टदृशं कुमारे॥ २१॥
तथाविधं शैलसुताधिनाथं पुलोमपुत्रीदयितो निरीक्ष्य।
आसीत्क्षणं क्षोभपरो न कस्य मनो न हि क्षुभ्यति धामधाम्नि॥ २२॥
विकस्वराम्भोजवनश्रिया तं दृशां सहस्रेण निरीक्षमाणः।
रोमालिभिः स्वर्गपतिर्बभासे पुष्पोत्कराकीर्ण इवाम्रशाखी॥ २३॥
दृष्ट्वा सहस्रेण दृशां महेशमभूत्कृतार्थोऽतितरां महेन्द्रः।
सर्वाङ्गजातं तदथो विरूपमिव प्रियाकोपकरं विवेद॥ २४॥
ततः कुमारं कनकाद्रिसारं पुरन्दरः प्रेक्ष्य धृतास्त्रशस्त्रम्।
महेश्वरोपान्तिकवर्तमानं शत्रोर्जयाशां मनसा बबन्ध॥ २५॥
श्रीनीलकण्ठ! द्युपतिः पुरोऽस्ति त्वयि प्रणामावसरं प्रतीच्छन्।
सहस्रनेत्रेऽत्र भव त्रिनेत्र! दृष्ट्या प्रसादप्रगुणो महेश!॥ २६॥
इति प्रबद्धाञ्जलिरेत्य नन्दी निधाय कक्षामभि हेमवेत्रम्।
प्रसादपात्रं पुरतो भविष्णुरथ स्मरारातिमुवाच वाचम्॥ २७॥

धनुष था, जिसने अन्धक नाम के मतवाले दैत्य के प्राण लिये थे, बड़े-बड़े दानवों को मारकर उनकी स्त्रियों को विधवा बना दिया था, कामदेव को जलाकर राख कर दिया था और जिसे दूसरा कोई नहीं धारण कर सकता था॥ १९॥ अनमोल मोतियों और मणियों की सजावट से रंग-बिरंगे दीखने वाले उस सिंहासन पर शिवजी बैठे हुए थे, जिसके नीचे सोने का पैर-पीढ़ा रखा हुआ था। दोनों ओर दो गण उन पर चन्द्रमा की किरणों के सदृश उजले चँवर डुला रहे थे॥ २०॥ शिवजी बैठे हुए बड़े चाव से उन कुमार कार्तिकेय की शस्त्रास्त्र-विद्या का अभ्यास देख रहे थे, जिन्हें शंकरजी के गण भी बड़े आश्चर्य से देखते थे और वह स्फटिक का पहाड़ भी जिनकी आरती उतारता था॥ २१॥ इस प्रकार के शंकरजी को देखकर थोड़ी देर के लिए इन्द्र का मन भी लुभा गया। अचानक इतनी सुख-सम्पदा इकट्ठी देखकर भला किसका मन नहीं ललच जायेगा॥ २२॥ विकसित कमलों के समान अपने सुन्दर सहस्रों नयनों से शंकरजी को देखकर इन्द्र उस आम के पेड़ जैसे सुन्दर लगने लगे, जो नीचे से ऊपर तक बौर से लदा हुआ हो॥ २३॥ अपनी सहस्रों आँखों से शंकरजी को देखकर इन्द्र ने अपने को बड़ा भाग्यवान् माना। परन्तु इससे उनके शरीरभर में जो रोमाञ्च हो आया, उसे देखकर उन्हें यह डर भी हो गया कि कहीं इन्द्राणी यह न समझ लें कि किसी दूसरी सुन्दरी को देखने से इन्हें रोमांच हो आया है और इस पर वे सौतियाडाह करके रूठ न जायँ॥ २४॥ इसके बाद जब उन्होंने शंकरजी के पास बैठे, सुमेरु के समान बलवान् और अस्त्र-शस्त्रधारी कार्तिकेय को देखा तो उनके मन में यह आशा हो चली कि अब हम शत्रु पर अवश्य विजय प्राप्त कर लेंगे॥ २५॥ तभी अपने सोने के डंडे को एक कोने में रख तथा आगे बढ़ और हाथ जोड़कर शंकरजी की कृपा पाने की इच्छा से नन्दी ने जाकर शंकरजी से कहा—हे नीलकण्ठ! देवताओं के स्वामी इन्द्रदेव आप को प्रणाम करने के लिए यहाँ खड़े हैं। अतएव कृपा करके इन पर भी अपनी कृपादृष्टि करिए॥ २६-२७॥ यह सुनकर त्रिपुरासुर के नाशक और संसार

पुरा सुरेन्द्रं सुरसङ्घसेव्यं त्रिलोकसेव्यस्त्रिपुरासुरारिः।
प्रीत्या सुधासारनिधारिणेव ततोऽनुजग्राह विलोकनेन॥ २८॥
किरीटकोटिच्युतपारिजातपुष्पोत्करेणानमितेन मूर्ध्ना।
स्वर्गैकवन्द्यो जगदेकवन्द्यं तं देवदेवं प्रणनाम देवः॥ २९॥
अनेकलोकैकनमस्क्रियार्हं महेश्वरं तं त्रिदशेश्वरः सः।
भक्त्या नमस्कृत्य कृतार्थतायाः पात्रं पवित्रं परमं बभूव॥ ३०॥
सुभक्तिभाजामधि पादपीठं प्रान्तक्षितिं नम्रतरैः शिरोभिः।
ततः प्रणेमुः पुरतो गणानां गणाः सुराणां क्रमतः पुरारिम्॥ ३१॥
गणोपनीते प्रभुणोपदिष्टः शुभासने हेममये पुरस्तात्।
प्रापोपविश्य प्रमुदं सुरेन्द्रः प्रभुप्रसादो हि मुदे न कस्य॥ ३२॥
क्रमेण चान्येऽपि विलोकनेन सम्भाविताः सस्मितमीश्वरेण।
उपाविशंस्तोषविशेषमाप्ता दृग्गोचरे तस्य सुराः समग्राः॥ ३३॥
अथाह देवा बलवैरिमुख्यान् वर्णिवर्गान् करुणार्द्रचेताः।
कृताञ्जलीकानसुराभिभूतान् ध्वस्तश्रियः श्रान्तमुखानवेक्ष्य॥ ३४॥
अहो बतानन्तपराक्रमाणां दिवौकसो वीरवरायुधानाम्।
हिमोदबिन्दुग्लपितस्य किं वः पद्मस्य दैन्यं दधते मुखानि॥ ३५॥
स्वर्गौकसः स्वर्गपरिच्युताः किं स्वपुण्यराशौ सुमहत्तमेऽपि।
चिह्नं चिरोढं न तु यूयमेते निजाधिपत्यस्य परित्यजध्वम्॥ ३६॥
दिवौकसो देवगृहं विहाय मनुष्यसाधारणतामवाप्ताः।
यूयं कुतः कारणतश्चरध्वं महीतले मानभृतो महान्तः॥ ३७॥

के पूजनीय शंकर भगवान् ने देवताओं के आराध्य इन्द्र को अपनी अमृत की धारा बरसाती हुई-सी दृष्टि से देखने की कृपा की॥ २८॥ स्वर्ग में जिनकी सब पूजा करते हैं, वे देवराज इन्द्र जब सारे संसार के एकमात्र पूजनीय और देवताओं के भी देवता महादेवजी को प्रणाम करने के लिए झुके तो उनके मस्तक के किरीट की नोक से आहत परिजात के बहुत-से फूल गिरकर छितरा गये॥ २९॥ सब लोकों के एकमेव पूजनीय शंकरजी को भक्ति के साथ प्रणाम करके स्वर्ग के स्वामी इन्द्र ने अपने को परम पवित्र और धन्य माना॥ ३०॥ अन्य देवताओं ने भी प्रमथ आदि गणों के समक्ष बड़ी भक्ति से शंकरजी के पैर रखने के पीढे के पास धरती पर माथा टेक-टेककर बारी-बारी से वन्दना की॥ ३१॥ तदनन्तर शंकरजी की आज्ञा पाकर एक गण गया और एक सोने का आसन उठा लाया। उस पर बैठकर इन्द्र को बड़ा आनन्द मिला। शंकरजी जैसे प्रभु का प्रसाद पाकर कौन अपने को धन्य नहीं समझेगा॥ ३२॥ क्रमशः सब देवताओं की ओर देखकर मुस्कुराते हुए शंकरजी ने उन सब का समुचित सम्मान किया। इससे वे भी बहुत प्रसन्न होकर उनके समक्ष बैठ गये॥ ३३॥ इन्द्र आदि देवता हाथ जोडे आगे बैठे थे और दैत्यों से हार जाने के कारण जिनके मुँह उदास और सुस्त दीख रहे थे, उनकी ओर देखकर करुणा से आर्द्र हृदयवाले शिवजी ने कहा—॥ ३४॥ हे देवताओ! इतने बड़े-बड़े वीर होकर, एक से एक उत्कृष्ट अस्त्र-शस्त्रों से सज-धजकर स्वर्ग में रहते हुए भी आप लोगों के मुख पाला मारे हुए कमलों के समान उदास क्यों दीख रहे हैं?॥ ३५॥ हे देवताओ! इतने बड़े पुण्यात्मा होने पर भी आप लोग स्वर्ग से निकले कैसे? आप इतने दिनों से छत्र-चँवर आदि राज-चिह्न धारण करते आ रहे थे, उन्हें आप मत छोड़िए॥ ३६॥ आप लोग इतने मनस्वी, महिमामय और स्वर्गनिवासी होते हुए भी स्वर्ग छोडकर

अनन्यसाधारणसिद्धमुच्चैस्तद्दैवतं धाम निकामरम्यम्।
कस्मादकस्मान्निरगाद्भवद्भ्यश्चिरार्जितं पुण्यमिवापचारात्॥ ३८॥
दिवौकसो वो हृदयस्य कस्मात्तथाविधं धैर्यमहार्यमार्याः।
अगादगाधस्य जलाशयस्य ग्रीष्मातितापादिवशादिवाम्भः॥ ३९॥
सुराः सुराधीशपुरःसराणां समीयुषां वः सममातुराणाम्।
तद्ब्रूत लोकत्रयजित्वरात्किं महासुरात्तारकतो विरुद्धम्॥ ४०॥
पराभवं तस्य महासुरस्य निषेद्धुमेकोऽहमलम्भविष्णुः।
दावानलप्लोषविपत्तिमन्यो महाम्बुदात् किं हरते वनानाम्॥ ४१॥
इतीरिते मन्मथमर्दनेन सुराः सुरेन्द्रप्रमुखा मुखेषु।
सान्द्रप्रमोदाश्रुतरङ्गितेषु दधुः श्रियं सत्वरमाश्वसन्तः॥ ४२॥
ततो गिरीशस्य गिरां विरामे जगाद लब्धेऽवसरे सुरेन्द्रः।
भवन्ति वाचोऽवसरे प्रयुक्ता ध्रुवं फलाविष्टमहोदयाय॥ ४३॥
ज्ञानप्रदीपेन तमोपहेनाविनश्वरेणास्खलितप्रभेण।
भूतं भवद्भावि च यच्च किञ्चित्सर्वज्ञ सर्वं तव गोचरं तत्॥ ४४॥
दुर्वारदोरुद्यमदुःसहेन यत्तारकेणामरघस्मरेण।
तदीशतामाप्तवता निरस्ता वयं दिवोऽमी वद किं न वेत्सि॥ ४५॥
विधेरमोघं स वरप्रसादमासाद्य सद्यस्त्रिजगज्जिगीषुः।
सुरानशेषानहकप्रमुख्यान् दोर्दण्डचण्डो मनुते तृणाय॥ ४६॥

साधारण मनुष्यों के समान पृथ्वी-तल पर इधर-उधर क्यों भटक रहे हैं? ॥ ३७॥ जैसे पाप करने से बहुत दिनों का संचित पुण्य हाथ से निकल जाता है, वैसे ही बड़ी-बड़ी सिद्धियों से परिपूर्ण बड़ा सुन्दर स्वर्ग आपलोगों के हाथ से अचानक कैसे निकल गया? ॥ ३८॥ हे देवताओ! जैसे अधिक गर्मी पडने से गहरा तालाब भी सूख जाता है, वैसे ही आपलोगों के हृदय का वह अटल धीरज कहाँ चला गया? ॥ ३९॥ व्याकुल होकर आज एक साथ आये हुए हे इन्द्र आदि देवताओ! यह तो बतलाइये कि आप लोगों ने तीनों लोकों को जीतनेवाले दैत्यराज तारकासुर से तो लडाई नहीं ठान ली है? ॥ ४०॥ उस महादैत्य ने जो आपलोगों का अपमान किया है, उसका बदला केवल मैं ही ले सकता हूँ। क्योंकि जंगलों में लगी हुई आग बादलों की बड़ी घटा को छोडकर और कौन बुझा सकता है॥ ४१॥ शंकरजी के वचन सुनकर इन्द्र आदि देवताओं की आँखों में आनन्द के आँसू उमड पडे और जब उन्हें यह ढाढस बँध गया कि अब आपलोगों की प्राणरक्षा हो जायेगी तो वे सब खिल उठे॥ ४२॥ जब भगवान् शंकर बोल चुके तो ठीक अवसर जानकर इन्द्र ने कहना आरम्भ किया। क्योंकि ठीक अवसर पर कही हुई बात का फल अवश्य मिलता है॥ ४३॥ हे प्रभो! आप तो घट-घट की बात जानते हैं, आप अज्ञानता को मिटाने वाले हैं, आपका कभी नाश नहीं होता और कभी भी न बुझने वाले ज्ञान के प्रकाश से आप संसार के भूत, भविष्य और वर्तमान—इन तीनों कालों की सब बातें जान लेते हैं॥ ४४॥ अतएव हे नाथ! आप क्या यह नहीं जानते कि अपनी कठोर भुजाओं के पराक्रम से मतवाला होकर देवताओं को पीड़ा देनेवाला तारकासुर स्वर्ग का प्रभु बन बैठा है और उसने हम सबको स्वर्ग से निकाल दिया है॥ ४५॥ वह असुर ब्रह्मा से अमोघ वरदान पाकर अपनी भुजाओं के बल पर तुरन्त तीनों लोक जीत लेना चाहता है। वह मुझे तथा दूसरे बड़े-बडे देवताओं को तिनके के बराबर तुच्छ समझे हुए है॥ ४६॥ हे भगवन्! हम लोगों ने जब ब्रह्माजी की स्तुति की थी, तब प्रसन्न होकर उन्होंने कहा था कि जब

स्तुत्या पुराऽस्माभिरुपासितेन पितामहेनेति निरूपितं नः।
सेनापतिः संयति दैत्यमेतं पुरः स्मरारातिसुतो निहन्ति॥ ४७॥
अहो ततोऽनन्तरमद्ययावत्सुदुःसहां तस्य पराभवार्तिम्।
विषेहिरे हन्त! हृदन्तशल्यमाज्ञानिवेशं त्रिदिवौकसोऽमी॥ ४८॥
निदाघधामक्लमविक्लवानां नवीनमम्भोदमिवौषधीनाम्।
सुनन्दनं नन्दनमात्मनो नः सेनान्यमेतं स्वयमादिश त्वम्॥ ४९॥
त्रैलोक्यलक्ष्मीहृदयैकशल्यं समूलमुत्खाय महासुरं तम्।
अस्माकमेषां पुरतो भवन्सन्दुःखापहारं युधि यो विधत्ते॥ ५०॥
महाहवे नाथ! तवास्य सूनोः शस्त्रैः शितैः कृत्तशिरोधराणाम्।
महासुराणां रमणीविलापैर्दिशो दशैता मुखरीभवन्तु॥ ५१॥
महारणक्षोणिपशूपहारीकृतेऽसुरे तत्र तवात्मजेन।
बन्दिस्थितानां सुदृशां करोतु वेणिप्रमोक्षं सुरलोक एषः॥ ५२॥
इत्थं सुरेन्द्रे वदति स्मरारिः सुरारिदुश्चेष्टितजातरोषः।
कृतानुकम्पस्त्रिदशेषु तेषु भूयोऽपि भूताधिपतिर्बभाषे॥ ५३॥
अहो अहो देवगणाः! सुरेन्द्रमुख्याः! शृणुध्वं वचनं ममैते।
विचेष्टते शङ्कर एष देवः कार्याय सज्जो भवतां सुताद्यैः॥ ५४॥
पुरा मयाऽकारि गिरीन्द्रपुत्र्याः प्रतिग्रहोऽयं नियतात्मनाऽपि।
तत्रैष हेतुः खलु तद्भवेन वीरेण यद्वध्यत एव शत्रुः॥ ५५॥
अत्रोपपन्नं तदमी नियुज्य कुमारमेनं पृतनापतित्वे।
निघ्नन्तु शत्रुं सुरलोकमेष भुनक्तु भूतोऽपि सुरैः सहेन्द्रः॥ ५६॥

शंकरजी का पुत्र देवताओं का सेनापति बनकर उससे लडेगा, तभी वह दैत्य मरेगा॥ ४७॥ तब से अब तक हम सब देवता तारकासुर के हाथ से हारने की कसक और हृदय में चुभे हुए काँटे के समान खटकनेवाली उसकी आज्ञा का पालनरूपी अपमान सह रहे हैं॥ ४८॥ हे भगवन्! जैसे गर्मी के सूर्य की तपन से दग्ध लता-वृक्षों को नये बादल हरा कर देते हैं, वैसे ही अपने इस आनन्ददायक पुत्र को हमारा सेनापति बनने की आज्ञा देकर आप हमें जिला लें॥ ४९॥ समस्त त्रिलोकी के हृदय में काँटे जैसे चुभनेवाले उस महादैत्य को जब आपके पुत्र कार्तिकेय युद्ध में आगे बढ़कर मार डालेंगे, तभी हमारा दुःख मिटेगा॥ ५०॥ हे नाथ! आप ऐसा कुछ कीजिए कि उस महासंग्राम में आपके पुत्र के तीखे बाणों से महादैत्यों के सिर कट-कटकर गिरें और उन दैत्यों की स्त्रियों के विलाप से दसों दिशाएँ गूँज उठें॥ ५१॥ आपके पुत्र जब उस महासमर में दैत्यों को सियार आदि जन्तुओं की भेंट चढायें, तब स्वर्ग में बन्दी बनी अपनी सुनयनी स्त्रियों की उलझी हुई चोटियों को ये देवता जाकर खोलें॥ ५२॥ इस प्रकार इन्द्र के मुँह से तारक का अत्याचार सुनकर शंकरजी क्रोध से तमतमा उठे और उन देवताओं पर कृपा करके बोले— ॥ ५३॥ हे इन्द्र आदि देवताओ! आप लोग मेरी बात सुनें। अब मैं अपने पुत्र को लेकर तुम्हारा काम करने को तैयार हूँ, तुम भी तैयार होओ॥ ५४॥ हे देवो! समाधिस्थ होने पर भी मैंने पार्वती के साथ इसलिए विवाह किया था कि इनका पुत्र तारक को मारे॥ ५५॥ आपका काम करने वाले इस कुमार को सेनापति बनाकर आप शत्रु का नाश कीजिए और इन्द्र के साथ फिर स्वर्ग का आनन्द लूटिए॥ ५६॥ तदनन्तर शंकरजी ने घोर संग्राम को एक महोत्सव मानने वाले अपने पुत्र कार्तिकेय से कहा—हे पुत्र! तुम जाकर

इत्युदीर्य भगवांस्तमात्मजं घोरसङ्गरमहोत्सवोत्सुकम्।
नन्दनं हि जहि देवविद्विषं संयतीति निजगाद शङ्करः।५७॥
शासनं पशुपतेः स कुमारः स्वीचकार शिरसाऽवनतेन।
सर्वथैव पितृभक्तिरतानामेष एव परमः खलु धर्मः॥५८॥
असुरयुद्धविधौ विबुधेश्वरे पशुपतौ वदतीति तमात्मजम्।
गिरिजया मुमुदे सुतविक्रमे सति न नन्दति का खलु वीरसूः॥५९॥

सुरपरिवृढः प्रौढं वीरं कुमारमुमापते-
र्बलवदमरारातिस्त्रीणां दृगञ्जनभञ्जनम्।
जगदभयदं सद्यः प्राप्य प्रमोदपरोऽभवद्
ध्रुवमभिमते पूर्णे को वा मुदा नहि माद्यति॥६०॥

इति महाकविकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये
कुमारसैनापत्यवर्णनं नाम द्वादशः सर्गः॥१२॥

देवताओं के शत्रु तारकासुर को युद्धभूमि में मार डालो॥५७॥ कुमार कार्तिकेय ने सिर झुकाकर शंकरजी की आज्ञा मान ली। क्योंकि पितृभक्त पुत्रों का यही धर्म है कि वे पिता की आज्ञा मानें॥५८॥ सब देवताओं के स्वामी शिवजी अब अपने पुत्र को दैत्यों से युद्ध की बात समझाने लगे तो पार्वतीजी गद्गद हो गयीं। क्योंकि कौन ऐसी वीर माता होगी, जो अपने पुत्र की वीरता की बात से प्रसन्न न हो॥५९॥ बलवान् दैत्यों के स्त्रियों की आँख का आँजन मिटानेवाले तथा संसार को अभयदान देनेवाले परम पराक्रमी कुमार कार्तिकेय को पाकर इन्द्र आनन्द से खिल उठे। क्योकि ऐसा कौन है, जो अपनी इच्छा पूरी हो जाने पर आनन्द से पागल न हो जाय॥६०॥

इस प्रकार महाकविकालिदासरचित कुमारसम्भवमहाकाव्य में कुमार का
सेनापति होना नामक बारहवाँ सर्ग समाप्त॥१२॥

त्रयोदशः सर्गः

प्रस्थानकालोचितचारुवेषः स स्वर्गिवर्गैरनुगम्यमानः।
ततः कुमारः शिरसा नतेन त्रैलोक्यभर्तुः प्रणनाम पादौ॥ १॥
जहीन्द्रशत्रुं समरेऽमरेशपदं स्थिरत्वं नय वीर वत्स!।
इत्याशिषा तं प्रणमन्तमीशो मूर्धन्युपाघ्राय मुदाऽभ्यनन्दत्॥ २॥
प्रह्वीभवन्नम्रतरेण मूर्ध्ना नमश्चकाराङ्घ्रियुगं स्वमातुः।
तस्याः प्रमोदाश्रुपयःप्रवृष्टिस्तस्याभवद् वीरवराभिषेकः॥ ३॥
तमङ्कमारोप्य सुता हिमाद्रेराश्लिष्य गाढं सुतवत्सला सा।
शिरस्युपाघ्राय जगाद शत्रुं जित्वा कृतार्थीकुरु वीरसूं माम्॥ ४॥
उद्दामदैत्येशविपत्तिहेतुः श्रद्धालुचेताः समरोत्सवस्य।
आपृच्छ्य भक्त्या गिरिजागिरीशौ ततः प्रतस्थेऽभिदिवं कुमारः॥ ५॥
देवं महेशं गिरिजां च देवीं ततः प्रणम्य त्रिदिवौकसोऽपि।
प्रदक्षिणीकृत्य च नाकनाथपूर्वाः समस्तास्तमथानुजग्मुः॥ ६॥
अथ व्रजद्भिस्त्रिदशैरशेषैः स्फुरत्प्रभाभासुरमण्डलैस्तैः।
नभो बभासे परितो विकीर्णं दिवापि नक्षत्रगणैरिवोग्रैः॥ ७॥
रराज तेषां व्रजतां सुराणां मध्ये कुमारोऽधिककान्तिकान्तः।
नक्षत्रताराग्रहमण्डलानामिव त्रियामारमणो नभोऽन्ते॥ ८॥
गिरीशगौरीतनयेन सार्धं पुलोमपुत्रीदयितादयस्ते।
उत्तीर्य नक्षत्रपथं मुहूर्तात् प्रपेदिरे लोकमथात्मनीनम्॥ ९॥

लड़ाई का वस्त्र पहन और सब देवताओं के आगे होकर कुमार कार्तिकेय ने चलते समय त्रिलोकी के स्वामी शिवजी के चरणों को प्रणाम किया॥ १॥ इस प्रकार प्रणाम करते हुए पुत्र को उठा और उसका सिर सूँघकर शिवजी ने यह आशीर्वाद देते हुए कुमार को प्रोत्साहित किया—हे वीर पुत्र! जाओ, युद्ध में इन्द्र के शत्रु को मार डालो और इन्द्र को उनके पद पर स्थायी रूप से बैठा दो॥ २॥ कार्तिकेय जब झुककर अपने माताजी के दोनों चरणों को प्रणाम कर रहे थे उस समय पार्वतीजी की आँखों से जो प्रेम के आँसू बरसे, उन आँसुओं के जल से ही मानों कुमार का सेनापति पद के लिए अभिषेक हो गया॥ ३॥ पुत्रवत्सला पार्वती ने कुमार को गोद में लेकर अपने हृदय से लगा लिया और माथा सूँघकर आशीर्वाद दिया और कहा—पुत्र! लड़ाई में शत्रु को जीतकर यह बात सार्थक कर दो कि मैं वीरप्रसविनी माता हूँ॥ ४॥ तदननतर उस बलवान् दैत्य को मारने तथा संग्रामरूपी उत्सव मनाने के लिए उतावले बने हुए कुमार कार्तिकेय बड़ी भक्तिपूर्वक अपने माता-पिता से आज्ञा लेकर स्वर्ग की ओर चल पड़े॥ ५॥ इन्द्र आदि सब देवता भी भगवान् शंकर और पार्वतीजी को प्रणाम तथा प्रदक्षिणा करके कुमार के पीछे-पीछे चले॥ ६॥ चारों ओर फैली हुई कान्तिवाले उन सब देवताओं के एक साथ चलने से आकाश ऐसा दीखने लगा, जैसे दिन में भी चमकनेवाले बडे-बडे और उग्र तारे निकल आये हों॥ ७॥ आकाश में चलते हुए देवताओं के बीच में अपनी अनुपम दीप्ति से सुन्दर दीखने वाले कुमार कार्तिकेय ऐसे लगते थे, मानों नक्षत्रों और तारों के बीच में चन्द्रमा चल रहे हों॥ ८॥ कुमार कार्तिकेय

ते स्वर्गलोकं चिरकालदृष्टं महासुरत्रासवशंवदत्वात्।
सद्यः प्रवेष्टुं न विषेहिरे तत्क्षणं व्यलम्बन्त सुराः समग्राः॥ १०॥
पुरो भव त्वं न पुरो भवामि नाहं पुरोगोऽस्मि पुरःसरस्त्वम्।
इत्थं सुरास्तत्क्षणमेव भीताः स्वर्गं प्रवेष्टुं कलहं वितेनुः॥ ११॥
सुरालयालोकनकौतुकेन मुदा शुचिस्मेरविलोचनास्ते।
दधुः कुमारस्य मुखारविन्दे दृष्टिं द्विषत्साध्वसकातरान्ताम्॥ १२॥
सहेलहासच्छुरिताननेन्दुस्ततः कुमारः पुरतो भविष्णुः।
स तारकापातमपेक्षमाणो रणप्रवीरो हि सुरानवोचत्॥ १३॥
भीत्यालमद्य त्रिदिवौकसोऽमी स्वर्गं भवन्तः प्रविशन्तु सद्यः।
अत्रैव मे दृक्पथमेतु शत्रुर्महासुरो वः खलु दृष्टपूर्वः॥ १४॥
स्वर्लोकलक्ष्मीकचकर्षणाय दोर्मण्डलं वल्गति यस्य चण्डम्।
इहैव तच्छोणितपानकेलिमह्नाय कुर्वन्तु शरा ममैते॥ १५॥
शक्तिर्ममासावहतप्रचारा प्रभावसारा सुमहःप्रसारा।
स्वर्लोकलक्ष्म्या विपदावहारेः शिरो हरन्ती दिशतान्मुदं वः॥ १६॥
इत्यन्धकारातिसुतस्य दैत्यवधाय युद्धोत्सुकमानसस्य।
सर्वं शुचिस्मेरमुखारविन्दं गीर्वाणवृन्दं वचसा ननन्द॥ १७॥
सान्द्रप्रमोदात् पुलकोपगूढः सर्वाङ्गसम्फुल्लसहस्रनेत्रः।
तस्योत्तरीयेण निजाम्बरेण निरुञ्छनं चारु चकार शक्रः॥ १८॥
घनप्रमोदाश्रुतरङ्गिताक्षैर्मुखैश्चतुर्भिः प्रचुरप्रसादैः।
अथो अचुम्बद्विधिरादिवृद्धः षडाननं षट्सु शिरःसु चित्रम्॥ १९॥

के पीछे-पीछे चलते हुए इन्द्र आदि देवता थोड़ी ही देर में आकाश पार करके अपने स्वर्गलोक में पहुँच गये॥ ९॥ दैत्यराज तारक के डर से देवता स्वर्ग में नहीं जा पाते थे। इसलिए वे झिझक के कारण एकदम भीतर नहीं जा सके॥ १०॥ उस समय वे भयभीत देवता आपस में एक-दूसरे को धकेलते हुए झगड़ने लगे—तुम आगे चलो। मैं आगे नहीं चलूँगा। मैं क्यों आगे चलूँ? तुम्हीं को आगे चलना चाहिए॥ ११॥ स्वर्ग को सामने देखकर मगन देवताओं की आँखें आनन्द से खिल गयीं, परन्तु शत्रु के डर से उनकी आँखें कातर होकर कुमार के मुख-कमल पर जा टिकीं॥ १२॥ यह देखकर कुमार का मुख-चन्द्र खिलवाड़ भरी हँसी से खिल उठा और तारक के आक्रमण की बाट जोहते हुए रणवीर कुमार कार्तिकेय ने आगे आकर देवताओं से कहा—॥ १३॥ हे देवताओ! अब डरने की कोई बात नहीं है। आप लोग निडर होकर स्वर्ग में घुसिए। मैं चाहता हूँ कि जिस महान् असुर तारक को आप लोग देख चुके हैं, वह यहीं मेरे आगे आ उपस्थित हो॥ १४॥ मेरी इच्छा यह है कि जिस तारकासुर की भुजाएँ बलपूर्वक स्वर्गलक्ष्मी के बाल पकडकर दुर्दशा करते हुए उन्हें खींचने के लिए मचल रही हैं, उसके लहू पीने का आनन्द मेरे बाणों को तुरन्त यहीं मिल जाय॥ १५॥ यह अत्यन्त तेजस्विनी, अमोघ गति, प्रतापशालिनी और स्वर्गलोक की राजलक्ष्मी का कष्ट दूर करनेवाली मेरी शक्ति यहीं पर शत्रु का सिर काटकर लोगों को आनन्दित करें॥ १६॥ दैत्यों का नाश करने की इच्छावश जो लड़ाई करने को उद्यत थे, उन कुमार कार्तिकेय की बातें सुनकर उन देवताओं के सुन्दर मुख-कमल खिल उठे॥ १७॥ आनन्दातिरेक के कारण इन्द्र भी पुलकित हो उठे और उनके शरीर की सहस्रों आँखें खिल गयीं। तब इन्द्र और कुमार ने परस्पर एक-दूसरे से वस्त्र बदलकर अपनी मित्रता पक्की कर ली॥ १८॥ उन देवताओं में सबसे वयोवृद्ध ब्रह्माजी

तं साधु साध्वित्यभितः प्रशस्य मुदा कुमारं त्रिपुरासुरारेः।
आनन्दयन्वीर! जयेति वाचा गन्धर्वविद्याधरसिद्धसङ्घाः॥ २०॥
दिव्यर्षयः शत्रुविजेष्यमाणं तमभ्यनन्दन्किल नारदाद्याः।
निरुञ्छनं चक्रुरथोत्तरीयैश्चामीकरीयैर्निजवल्कलैश्च॥ २१॥
ततः सुराः शक्तिधरस्य तस्यावष्टम्भतः साध्वसमुत्सृजन्तः।
उत्सेहिरे स्वर्गमनन्तशक्तेर्गन्तुं वनं यूथपतेरिवेभाः॥ २२॥
अथाभिपृष्ठं गिरिजासुतस्य पुरन्दरारातिवधं चिकीर्षोः।
सुरा निरीयुस्त्रिपुरं दिधक्षोरिव स्मरारेः प्रमथाः समन्तात्॥ २३॥
सुराङ्गनानां जलकेलिभाजां प्रक्षालितैः सन्ततमङ्गरागैः।
प्रपेदिरे पिञ्जरवारिपूरां स्वर्गौकसः स्वर्गधुनीं पुरस्तात्॥ २४॥
दिग्दन्तिनां वारिविहारभाजां कराहतैर्भीमतरैस्तरङ्गैः।
आप्लावयन्तीं मुहुरालवालश्रेणीं तरूणां निजतीरजानाम्॥ २५॥
लीलारसाभिः सुरकन्यकाभिर्हिरण्मयीभिः सिकताभिरुच्चैः।
माणिक्यगर्भाभिरुपाहिताभिः प्रकीर्णतीरां वरवेदिकाभिः॥ २६॥
सौरभ्यलुब्धभ्रमरोपगीतैर्हिरण्यहंसावलिकेलिलोलैः।
चामीकरीयैः कमलैर्विनिद्रैश्च्युतैः परागैः परिपिङ्गतोयाम्॥ २७॥
कुतूहलाद् द्रष्टुमुपागताभिस्तीरस्थिताभिः सुरसुन्दरीभिः।
अभ्यूर्मिराजिप्रतिबिम्बिताभिर्मुदं दिशन्तीं व्रजतां जनानाम्॥ २८॥

की आँखें भी अत्यधिक आनन्दवश उमड़े हुए आँसुओं की लहरों से छलछला आयीं और उनके चारों मुख प्रसन्नता से खिल उठे। उन्होंने अपने चारों मुखों से कुमार के छहों मुखों को विचित्र ढङ्ग से चूमा॥ १९॥ उस समय गन्धर्व, विद्याधर और सिद्धों ने शिवतनय कुमार की 'साधु-साधु' कहते हुए बड़े आनन्दपूर्वक बड़ाई की और यह कहकर उन्हें आनन्दित किया कि 'हे वीर! तुम्हारी विजय हो'॥ २०॥ देवर्षि नारद आदि ने भी शत्रुविजयी होने के इच्छुक कुमार की प्रशंसा की और उनके सुनहले उत्तरीय आदि वस्त्रों से अपने वल्कल बदलकर उनसे भाईचारे का नाता जोड़ लिया॥ २१॥ शक्तिधारी कुमार का सहारा पाकर देवता लोग निड़र हो गये और वे उसी उत्साह से स्वर्ग में घुस पड़े, जैसे किसी शक्तिशाली बड़े हाथी का सहारा पाकर छोटे हाथी भी जंगल में घुस जाते हैं॥ २२॥ त्रिपुरासुर को जलाने के लिए जाते समय जैसे शंकरजी के पीछे-पीछे उनके प्रमथ आदि गण गये थे, वैसे ही तारकासुर को मारने के इच्छुक देवता भी कुमार के पीछे-पीछे चले॥ २३॥ सर्वप्रथम उन्हें वह आकाशगंगा दिखलायी दी, जिनका जल जलविहार करने वाली अप्सराओं के धुले अङ्गों से छूटे हुए अंगराग से रँग जाता था॥ २४॥ जिनके जल में नहाते समय दिक्पालों के हाथी लहरों पर अपनी सूँड़ पटकते हैं और जिनकी लहरों के जल से तट पर खड़े पेड़ों के थाले सदा सिंचते रहते हैं॥ २५॥ जहाँ खेल खेलने आयी हुई देवकन्याओं के हाथ की बनी सुनहरी बालू की वे ऊँची-ऊँची वेदिकाएँ दूर-दूर तक विद्यमान थीं, जो उन्होंने बीच-बीच में माणिक डाल-डालकर खेलने के लिए बनायी थीं॥ २६॥ सुगन्ध के लोभी भौंरें जहाँ सदा गुनगुनाते हैं, सुनहले हंस किलोलें करते हैं और जहाँ ऐसे सोने के कमल खिलते हैं, जिनके पराग से वहाँ का जल पीला पड़ जाता है॥ २७॥ जहाँ देवताओं की सुन्दरियाँ मनबहलाव के लिए आ-आकर तट पर बैठी रहती हैं और तरंगों में पड़ती हुई जिनकी परछाई उधर से आने-जानेवाले पथिकों का जी लुभा लेती हैं॥ २८॥ बहुत दिनों बाद उस देव-नदी को देखकर इन्द्र प्रसन्न हो उठे और आगे बढ़कर सादर

ननन्द सद्यश्चिरकालदृष्टां विलोक्य शक्रः सुरदीर्घिकां ताम्।
अदर्शयत् सादरमद्रिपुत्रीमहेशपुत्राय ततः पुरोगः॥ २९॥
स कार्तिकेयः पुरतः परीतः सुरैः समस्तैः सुरनिम्नगां ताम्।
अपूर्वदृष्टामवलोकमानः सविस्मयः स्मेरविलोचनोऽभूत्॥ ३०॥
उपेत्य तां तत्र किरीटकोटिन्यस्ताञ्जलिर्भक्तिपरः कुमारः।
गीर्वाणवृन्दैः प्रणुतां प्रणुत्य नम्रेण मूर्ध्ना मुदितो ववन्दे॥ ३१॥
प्रणर्तितस्मेरसरोजराजिः पुरः परीरम्भमिलन्महोर्मिः।
कपोलपालिश्रमवारिहारि भेजे गुहं तं सरितः समीरः॥ ३२॥
ततो व्रजन्नन्दननामधेयं लीलावनं जम्भजितः पुरस्तात्।
विभिन्नभग्नोद्धृतशालसङ्घं प्रेक्षाञ्चकार स्मरशत्रुसूनुः॥ ३३॥
सुरद्विषोपप्लुतमेवमेतद् वनं वलस्य द्विषतो गतश्रि।
इत्थं विचिन्त्यारुणलोचनोऽभूद्भ्रूभङ्गदुष्प्रेक्ष्यमुखः स कोपात्॥ ३४॥
निर्लूनलीलोपवनामपश्यद् दुःसञ्चरीभूतविमानमार्गाम्।
विध्वस्तसौधप्रचयां कुमारो विश्वैकसाराममरावतीं सः॥ ३५॥
गतश्रियं वैरिवराभिभूतां दशां सुदीनामभितो दधानाम्।
नारीमवीरामिव तामवेक्ष्य स बाढमन्तः करुणापरोऽभूत्॥ ३६॥
दुश्चेष्टिते देवरिपौ सरोषस्तस्याविषण्णः समराय चोत्कः।
तथाविधां तां स विवेश पश्यन्सुरैः सुराधीश्वरराजधानीम्॥ ३७॥
दैतेयदन्तावलदन्तघातैः क्षुण्णान्तराः स्फाटिकहर्म्यपङ्क्तीः।
महाहिनिर्मोकपिनद्धजालाः स वीक्ष्य तस्यां विषसाद सद्यः॥ ३८॥

उन्होंने कुमार को भी वह नदी दिखलायी॥ २९॥ देवताओं से घिरे हुए कार्तिकेयजी को वह नयी नदी देखकर बड़ा विस्मय हुआ और प्रसन्नता से उनकी आँखें खिल उठीं॥ ३०॥ सब देवता जिसकी स्तुति करते हैं, उस मंदाकिनी के तट पर जाकर कुमार कार्तिकेय ने सिर झुका तथा अपने किरीट के सिरे पर हाथ जोडकर बड़ी भक्ति और प्रसन्न मन से उनकी वन्दना की॥ ३१॥ उस समय खिले हुए कमलों को नचानेवाली तरंगों से गले लगकर चलने और गालों का पसीना सुखानेवाले उस मन्दाकिनी के मन्द पवन ने वहाँ आये हुए कुमार का सत्कार किया॥ ३२॥ वहाँ से आगे जाकर कार्तिकेय ने इन्द्र के नन्दन वन को देखा। वहाँ पर सब साल के पेड या तो उखाड डाले गये थे अथवा जड़ से काट दिये गये थे॥ ३३॥ अब कार्तिकेय ने समझ लिया कि तारकासुर के अत्याचार से ही इन्द्र के इस सुन्दर उपवन की शोभा बिगड़ी है। बस, मारे क्रोध के उनका मुँह लाल हो गया, भौंहें तन गयीं और आँखें आग उगलने लगीं॥ ३४॥ वहाँ से और आगे बढकर कुमार ने विश्व की सर्वश्रेष्ठ नगरी अमरावती देखी। जिसके लीला-उपवन नष्ट-भ्रष्ट हो गये थे, ऊँचे-ऊँचे महल गिरा दिये गये थे और ऐसा उजाड हो गया था कि उधर विमान पर चढकर जाने को भी मन नहीं करता था॥ ३५॥ तारकासुर के हाथों उजडी हुई वह नष्ट-भ्रष्ट और सुनसान नगरी देखकर कार्तिकेय को उसी प्रकार बडी दया आयी, जैसे किसी नपुंसक की स्त्री को देखकर दया आ जाती है॥ ३६॥ अमरावती की दुर्दशा देखते ही कुमार उस दुष्ट दैत्य पर बहुत क्रुद्ध हो उठे और युद्ध के लिए उतावले होकर देवताओं की राजधानी में घुसे॥ ३७॥ वहाँ के स्फटिक-निर्मित बडे-बड़े भवन दैत्यों के हाथियों के दाँतों की टक्करों से टूट-फूट गये थे और जहाँ-तहाँ

उत्कीर्णचामीकरपङ्कजानां दिग्दन्तिदानद्रवदूषितानाम्।
हिरण्यहंसव्रजवर्जितानां विदीर्णवैदूर्यमहाशिलानाम्॥ ३९॥
आविर्भवद्बालतृणाञ्चितानां तदीयलीलागृहदीर्घिकाणाम्।
स दुर्दशां वीक्ष्य विरोधिजातां विषादवैलक्ष्यभरं बभार॥ ४०॥
तद्दन्तिदन्तक्षतहेमभित्ति सुतन्तुजालाकुलरत्नजालाम्।
निन्ये सुरेन्द्रेण पुरोगतेन स वैजयन्ताभिधमात्मसौधम्॥ ४१॥
निर्दिष्टवर्त्मा विबुधेश्वरेण सुरैः समग्रैरनुगम्यमानः।
स प्राविशत्तं विविधाश्मरश्मिच्छिन्नेन सोपानपथेन सौधम्॥ ४२॥
निसर्गकल्पद्रुमतोरणं तं स पारिजातप्रसवस्रगाढ्यम्।
दिव्यैः कृतस्वस्त्ययनं मुनीन्द्रैरन्तःप्रविष्टप्रमदं प्रपेदे॥ ४३॥
पादौ महर्षेः किल कश्यपस्य कुलादिवृद्धस्य सुरासुराणाम्।
प्रदक्षिणीकृत्य कृताञ्जलिः सन् षड्भिः शिरोभिः स नतैर्ववन्दे॥ ४४॥
स देवमातुर्जगदेकवन्द्यौ पादौ तथैव प्रणनाम कामम्।
मुनेः कलत्रस्य च तस्य भक्त्या प्रह्वीभवञ्शैलसुतातनूजः॥ ४५॥
स कश्यपः सा जननी सुराणां तमेधयामासतुराशिषा द्वौ।
तया यया नैकजगज्जिगीषुं जेता मृधे तारकमुग्रवीर्यम्॥ ४६॥
स्वदर्शनार्थं समुपेयुषीणां सुदेवतानामदितिश्रितानाम्।
पादौ ववन्दे पतिदेवतास्तमाशीर्वचोभिः पुनरभ्यनन्दन्॥ ४७॥

बड़े-बड़े साँपों की केचुलियाँ बिखरी पड़ी थीं। यह सब देखकर कुमार को बड़ा क्लेश हुआ॥ ३८॥ वहाँ उन्होंने देखा कि देवताओं के विलासभवनों में बनी बावलियों में से सोने के कमल उखाड़ डाले गये थे, दिग्गजों के मद से उनका जल गँदला हो गया था, सुनहले हंस वहाँ से उड़ गये थे, पन्नों की बनी बड़ी-बड़ी पटियाँ भी टूट गयी थीं और चारों ओर छोटी-छोटी घासें उग आयी थीं। शत्रुओं के हाथों स्वर्ग की यह दुर्दशा देखकर उनका मन दुःख से भर गया॥ ३९-४०॥ तदनन्तर इन्द्र कुमार को अपने उस वैजयन्त नाम के भवन में ले गये, जहाँ की सुनहली दीवारें दैत्यों के हाथियों के दाँतों की टक्करों से फट गयी थीं और मकड़ियों ने जाले तान दिये थे॥ ४१॥ आगे-आगे राह बतलाते हुए इन्द्र चल रहे थे और उनके पीछे-पीछे सब देवता थे। विविध रत्नों की चमक से सुहावनी सीढ़ियों पर चढ़कर कुमार कार्तिकेय उस भवन में गये॥ ४२॥ वहाँ से सब लोग उस सुन्दर भवन में पहुँचे, जहाँ कल्पवृक्ष स्वयं बन्दनवार बना हुआ था। जहाँ ढेर के ढेर पारिजात के फूल बिखरे पड़े थे, जहाँ देवर्षियों ने स्वस्ति-पाठ किया था और जहाँ एक से एक बढ़कर अप्सराएँ रहती थीं॥ ४३॥ वहाँ देव-दानव वंश के सबसे वयोवृद्ध महर्षि कश्यप के चरणों की प्रदक्षिणा करके कुमार ने अपने छहों सिरों से उन्हें प्रणाम किया॥ ४४॥ बड़ी भक्ति से कुमार ने कश्यप की स्त्री और देवों की माता अदिति के उन चरणों को भी भलीभाँति नतमस्तक होकर प्रणाम किया, जिन्हें सारा संसार पूजता है॥ ४५॥ तब कश्यप और देव-माता अदिति ने कुमार को यह आशीर्वाद देकर उनका उत्साह बढ़ाया कि तीनों लोकों को जीतने वाले शक्तिशाली तारकासुर को तुम युद्ध में अवश्य परास्त करोगे॥ ४६॥ तभी अदिति के यहाँ देवाङ्गनाएँ भी कुमार को देखने के लिए आ पहुँचीं। कुमार ने उनको भी प्रणाम किया और उन सब पतिव्रताओं ने कुमार

पुलोमपुत्रीं विबुधाधिभर्तुस्ततः शचीं नाम कलत्रमेषः।
नमश्चकार स्मरशत्रुसूनुस्तमाशिषा सा समुपाचरच्च॥ ४८॥
अथादितीन्द्रप्रमदाः समेतास्ता मातरः सप्त घनप्रमोदाः।
उपेत्य भक्त्या नमते महेशपुत्राय तस्मै ददुराशिषः प्राक्॥ ४९॥
समेत्य सर्वेऽपि मुदं दधाना महेन्द्रमुख्यास्त्रिदिवौकसोऽथ।
आनन्दकल्लोलितमानसं तं समभ्यषिञ्चन् पृतनाधिपत्ये॥ ५०॥
सकलविबुधलोकः स्रस्तनिःशेषशोकः कृतरिपुविजयाशः प्राप्तयुद्धावकाशः।
अजनि हरसुतेनानन्तवीर्येण तेनाखिलविबुधचमूनां प्राप्य लक्ष्मीमनूनाम्॥ ५१॥

इति महाकविकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये कुमार-
सैनापत्याभिषेको नाम त्रयोदशः सर्गः॥ १३॥

को आशीर्वाद दे-देकर उनका मान बढ़ाया॥ ४७॥ तदनन्तर कुमार ने इन्द्र की पत्नी शची को प्रणाम किया और उन्होंने भी आशीष देकर उनका उत्साह बढ़ाया॥ ४८॥ अब कुमार ने कश्यप की उन सातों पत्नियों के पास जाकर बड़ी भक्ति से प्रणाम किया, जो बड़े आनन्द से वहीं बैठी हुई थीं। उन्होंने प्रणाम करने से पहले ही कुमार को विजय-प्राप्ति का आशीर्वाद दे दिया॥ ४९॥ इसके बाद इन्द्र आदि सभी देवताओं ने आनन्द के साथ एकत्र होकर प्रसन्न कुमार कार्तिकेय को अपना सेनापति बनाया॥ ५०॥ इस प्रकार जब अनन्त शक्तिशाली कुमार कार्तिकेय देवताओं की समस्त सेना के सेनापति हो गये, तब देवताओं को विश्वास हो गया कि अब हम लोग युद्ध में शत्रुओं को अवश्य जीतेंगे। यह सोचकर उनका सारा शोक लुप्त हो गया॥ ५१॥

इस प्रकार महाकविकालिदासरचित कुमारसम्भवमहाकाव्य में कुमार का सेनापतिपद पर अभिषेक नामक तेरहवाँ सर्ग समाप्त॥ १३॥

चतुर्दशः सर्गः

रणोत्सुकेनान्धकशत्रुसूनुना समं प्रयुक्तैस्त्रिदशैर्जिगीषुणा।
महासुरं तारकसंज्ञकं द्विषं प्रसह्य हन्तुं समनह्यत द्रुतम्॥ १॥
स दुर्निवारं मनसोऽतिवेगिनं जयश्रियः सन्नयनं सुदुःसहम्।
विजित्वरं नाम तदा महारथं धनुर्धरः शक्तिधरोऽध्यरोहयत्॥ २॥
सुरालयश्रीविपदां निवारणं सुरारिसम्पत्परितापकारणम्।
केनापि दध्रेऽस्य विरोधिदारणं सुचारु चामीकरघर्मवारणम्॥ ३॥
शरच्चरच्चन्द्रमरीचिपाण्डुरैः स वीज्यमानो वरचारुचामरैः।
पुरःसरैः किन्नरसिद्धचारणैः रणेच्छुरस्तूयत वाग्भिरुल्बणैः॥ ४॥
प्रयाणकालोचितचारुवेषभृद्वज्रं वहन् पर्वतपक्षदारणम्।
ऐरावतं स्फाटिकशैलसोदरं ततोऽधिरुह्य द्युपतिस्तमन्वगात्॥ ५॥
तमन्वगच्छद्गिरिशृङ्गसोदरं मदोद्धतं मेषमधिष्ठितः शिखी।
विरोधिविद्वेषरुषाधिकं ज्वलन् महोमहीयस्तरमायुधं दधत्॥ ६॥
अथेन्द्रनीलाचलचण्डविग्रहं विषाणविध्वस्तमहापयोधरम्।
अधिष्ठितः कासरमुद्धतं मुदा वैवस्वतो दण्डधरस्तमन्वगात्॥ ७॥
मदोद्धतं प्रेतमथाधिरूढवाँस्तमन्धकद्वेषितनूजमन्वगात्।
महासुरद्वेषविशेषभीषणः सुरोषणश्चण्डरणाय नैर्ऋतः॥ ८॥
नवोद्यदम्भोधरघोरदर्शने युद्धाय रूढो मकरे महत्तरे।
दुर्वारपाशो वरुणो रणोल्वणस्तमन्वियाय त्रिपुरान्तकात्मजम्॥ ९॥

विजय की कामना से लड़ने को उद्यत कुमार कार्तिकेय की प्रेरणा से सब देवता मिलकर बलपूर्वक तारक को मार डालने के लिए अस्त्र-शस्त्र बाँधने लगे॥ १॥ तब धनुर्धर तथा शक्तिशाली कुमार अपने 'विजित्वर' नाम के उस बड़े भारी रथ पर जा चढ़े, जो मन से भी अधिक वेग से चलता था, जो किसी के रोकने से रुकता नहीं था और जिस पर चढ़कर लड़ने से सदा विजय मिलती थी॥ २॥ उसी समय किसी ने उन पर एक शत्रुनाशक सोने का छत्र लाकर लगा दिया, जो स्वर्ग की लक्ष्मी को सुखदायक तथा दैत्यों की सम्पत्ति का नाशक था॥ ३॥ कुमार के दोनों ओर शरत्कालीन चन्द्रमा की किरणों के सदृश श्वेत चँवर डुल रहे थे और उनके आगे किन्नर, सिद्ध और चारण युद्धप्रेमी कुमार की बड़ाई के गीत गा रहे थे॥ ४॥ युद्ध का साज सजा तथा पर्वतों के पंख काटनेवाला वज्र लेकर इन्द्र भी स्फटिक पर्वत के समान उजले और ऊँचे ऐरावत हाथी पर चढ़कर उनके पीछे-पीछे चले॥ ५॥ शत्रु पर क्रोध के मारे और भी अधिक जलते हुए अग्निदेव भी पर्वत-शिखर के समान ऊँचे और बिगड़ैल मेढ़े पर चढ़ तथा बड़ा भयंकर और दहकता हुआ शस्त्र हाथ में लेकर कुमार के साथ चल पड़े॥ ६॥ हाथ में दंड लेकर यमराज भी अपने नीलम के पहाड़ जैसे ऊँचे और काले उस भैंसे पर चढ़कर कुमार कार्तिकेय के पीछे चले, जो अपनी सींगों से बादलों को फाड़ता चलता था॥ ७॥ नैर्ऋत्य दिशा का स्वामी नैर्ऋत राक्षस भी तारक से चिढ़कर बड़ा भयानक हो गया और शत्रु से लड़ने के लिए मतवाले प्रेत पर चढ़कर कुमार के पीछे-पीछे चल पड़ा॥ ८॥ हाथ में अपना अमोघ पाश लिये हुए बडे बलवान् वरुणदेव अपने

दिगम्बराधिक्रमणोल्बणं क्षणान्मृगं महीयांसमरुद्धविक्रमम्।
अधिष्ठितः सङ्गरकेलिलालसो मरुन्महेशात्मजमन्वगाद् द्रुतम्॥ १०॥
विरोधिना शोणितपारणैषिणीं गदामनूनां नरवाहनो वहन्।
महाहवाम्भोधिविगाहनोद्धतं यियासुमन्वागमदीशनन्दनम्॥ ११॥
महाहिनिर्बद्धजटाकलापिनो ज्वलत्त्रिशूलप्रबलायुधा युधे।
रुद्रास्तुषाराद्रिसखं महावृषं ततोऽधिरूढास्तमयुः पिनाकिनः॥ १२॥
अन्येऽपि सन्नह्य महारणोत्सवश्रद्धालवः स्वर्गिगणास्तमन्वयुः।
स्ववाहनानि प्रबलान्यधिष्ठिताः प्रमोदविस्मेरमुखाम्बुजश्रियः॥ १३॥
उद्दण्डहेमध्वजदण्डसङ्कुलाश्चञ्चद्विचित्रातपवारणोज्ज्वलाः।
चलद्घनस्यन्दनघोषभीषणाः करीन्द्रघण्टारवचण्डचीत्कृताः॥ १४॥
स्फुरद्विचित्रायुधकान्तिमण्डलैरुद्द्योतिताशावलयाम्बरान्तराः।
दिवौकसां सोऽनुवहन्महाचमूः पिनाकपाणेस्तनयस्ततो ययौ॥ १५॥
कोलाहलेनोच्चलतां दिवौकसां महाचमूनां गुरुभिर्ध्वजव्रजैः।
घनैर्निरुच्छ्वासमभूदनन्तरं दिङ्मण्डलं व्योमतलं महीतलम्॥ १६॥
सुरारिलक्ष्मीपरिकम्पहेतवो दिक्चक्रवालप्रतिनादमेदुराः।
नभोऽन्तकुक्षिम्भरयो घनाः स्वना निहन्यमानैः पटहैर्वितेनिरे॥ १७॥
प्रमथ्यमानाम्बुधिगर्जितर्जनैः सुरारिनारीगणगर्भपातनैः।
नभश्चमूधूलिकुलैरिवाकुलं ररास गाढं पटहप्रतिस्वनैः॥ १८॥

उस बड़े भारी घड़ियाल पर बैठकर युद्ध के लिए कुमार के पीछे-पीछे चले, जो नयी उठी हुई घटा के समान काला था॥ ९॥ लड़ाई की इच्छा से क्षणभर में तैयार होकर पवनदेव भी अपने उस पराक्रमी हरिण पर बैठकर कुमार के पीछे चल पड़े, जो पृथ्वी और आकाश में सर्वत्र बिना रुके चौकडी भरता चलता था॥ १०॥ जो शत्रुओं का लहू पीकर ही व्रत का पारण करती थी, वह भारी गदा लेकर कुबेर उस पालकी पर चढ़कर कुमार के पीछे चले, जिसे मनुष्य ढो रहे थे॥ ११॥ अपने-अपने हाथों में पिनाक धनुष और जलते हुए त्रिशूल ले तथा अपने जटा-जूटों को बड़े-बडे साँपों से कसकर हिमालय जैसे उजले बैलों पर चढ़कर ग्यारहों रुद्र कुमार के पीछे-पीछे चले॥ १२॥ उस महायुद्ध के उत्सव में रुचि रखने वाले दूसरे सब देवता भी अपने-अपने तगडे वाहनों पर चढ तथा आनन्द से हँसकर अपना मुख-कमल खिलाते हुए कार्तिकेय के साथ चल पड़े॥ १३॥ इस प्रकार सब साजों से सजी हुई, अगणित सोने के डंडे ऊपर उठाकर चलती, चमचमाते हुए रंग-बिरंगे छत्र चमकाती, झुण्ड के झुण्ड चलने वाले रथों की घरघराहट से भयंकर लगती, मतवाले हाथियों के घण्टों की टन-टन ध्वनि और उनके चिग्घाड़ों से कान फाड़ती हुई तथा अनेक प्रकार से झिलमिलाते अस्त्र-शस्त्रों की चमक से चारों दिशाओं और आकाश को चमकाती हुई देवताओं की उस महासेना को लिये हुए वीर कुमार कार्तिकेय चले॥ १४-१५॥ उछलते-कूदते चलने वाले देवताओं के कोलाहल और उस बड़ी भारी सेना की ऊँची-ऊँची तथा बड़ी-बड़ी ध्वजाओं से दसों दिशाएँ, आकाश और पृथ्वी सब एक-से दीखने लगे॥ १६॥ सब दिशाओं में प्रतिध्वनित होती हुई उनके नगाड़ों की घनघोर ध्वनि की गूँज सुनकर दैत्यों की राजलक्ष्मी भी काँप उठी॥ १७॥ सेना के चलने से उड़ी हुई धूल से भरा आकाश ऐसा लगता था, जैसे मथने के समय समुद्र के गर्जन से भी अधिक डरावनी ध्वनिवाले और दैत्यों की स्त्रियों के गर्भ गिराने वाले नगाड़ों की धमक सुनकर आकाश रो पड़ा हो॥ १८॥ सुमेरु पर्वत की धूल इस ढङ्ग से आकाश में पहुँची कि पहले रथों ने पहिए

क्षुण्णं रथैर्वाजिभिराहतं खुरैः करीन्द्रकर्णैः परितः प्रसारितम्।
धूतं ध्वजैः काञ्चनशैलजं रजो वातैर्हृतं व्योम समारुहत्क्रमात्॥ १९॥
खातं खुरै रथ्यतुरङ्गपुङ्गवैरुपत्यकाहाटकमेदिनीरजः।
गतं दिगन्तान्मुखरैः समीरणैः सुविभ्रमं भूरि बभार भूयसा॥ २०॥
अधस्तथोर्ध्वं पुरतोऽथ पृष्ठतोऽभितोऽपि चामीकररेणुरुच्चकैः।
चमूषु सर्पन्मरुदाहतोऽहरन्नवीनसूर्यस्य च कान्तिवैभवम्॥ २१॥
बलोद्धूतं काञ्चनभूमिजं रजो बभौ दिगन्तेषु नभःस्थले स्थितम्।
अकालसन्ध्याघनरागपिङ्गलं घनं घनानामिव वृन्दमुद्यतम्॥ २२॥
हेमावनीषु प्रतिबिम्बमात्मनो मुहुर्विलोक्याभिमुखं महागजाः।
रसातलोत्तीर्णगजभ्रमात् क्रुधा दन्तप्रकाण्डप्रहृतानि तेनिरे॥ २३॥
सुजातसिन्दूरपरागपिञ्जरैः कलं चलद्भिः सुरसैन्यसिन्धुरैः।
शुद्धासु चामीकरशैलभूमिषु नादृश्यत स्वं प्रतिबिम्बमग्रतः॥ २४॥
इति क्रमेणामरराजवाहिनी महाहवाम्भोधिविलासलालसा।
अवातरत् काञ्चनशैलतो द्रुतं कोलाहलाक्रान्तविधूतकन्दरा॥ २५॥
महाचमूस्यन्दनचण्डचीत्कृतैर्विलोलघण्टेभपतेश्च बृंहितैः।
सुरेन्द्रशैलेन्द्रमहागुहाशयाः सिंहा महत्स्वप्नसुखं न तत्यजुः॥ २६॥
गम्भीरभेरीध्वनितैर्भयङ्करैर्महागुहान्तप्रतिनादमेदुरैः।
महारथानां गुरुनेमिनिःस्वनैरनाकुलैस्तैर्मृगराजताऽजनि॥ २७॥

से मिट्टी उखाड़ी, घोड़ों ने अपने टापों से खूँद-खूँदकर उसे महीन कर दिया, हाथियों ने अपने कान हिला-हिलाकर उसे चारों ओर फैला दिया, लहराती हुई झाड़ियों ने उस धूल को इधर-उधर बिखेर दिया और तब वायु उसे आकाश में उड़ा ले गया॥ १९॥ सुमेरु की तलहटी से उठी हुई वह सुनहली धूल रथ खींचनेवाले उत्तम घोड़ों के खुरों से पिसकर हरहराते हुए पवन के सहारे सभी दिशाओं में फैलकर चमकने लगी॥ २०॥ वायु के सहारे सेना के ऊपर-नीचे, आगे-पीछे और चारों ओर फैली हुई वह सुनहली धूल इतनी सुन्दर लगती थी कि निकलते हुए सूर्य की सुनहरी धूप भी उसके आगे तुच्छ लगती थी॥ २१॥ सेना के चलने से उड़ी हुई वह सुनहरी धूल सब दिशाओं और आकाश में भरकर ऐसी सुन्दर दीखने लगी, जैसे सन्ध्या हुए बिना ही सुनहले बादलों के झुण्ड उमड़कर आकाश में छा गये हों॥ २२॥ सेना के साथ चलनेवाले हाथियों ने वहाँ की सुनहरी धरती पर अपनी परछाई देखी तो उन्होंने समझा कि ये पाताल से निकले हुए बड़े-बड़े हाथी हैं। इसीलिए बहुत बिगड़कर वे उन प्रतिबिम्बों पर ही अपने बड़े-बड़े दाँतों से टक्कर मारने लगे॥ २३॥ बढ़िया सिन्दूर से रंगे हुए और धीरे-धीरे चलनेवाले उन देवताओं की सेना के हाथियों को सुमेरुगिरि की चमकदार सोने की धरती पर भी अपनी परछाई ठीक-ठीक नहीं दीखती थी, क्योंकि दोनों का रंग एक जैसा था॥ २४॥ इस प्रकार युद्ध के समुद्र में तैरने को उद्यत देवराज इन्द्र की सेना अपने कोलाहल से गुफाओं को गुँजाती हुई सुमेरु पर्वत से बड़े वेग के साथ नीचे उतरी॥ २५॥ देवताओं की उस विशाल सेना के रथों की घोर घरघराहट तथा बजते हुए घण्टों और बड़े-बड़े हाथियों के चिग्घाड़ों की विकराल ध्वनि होते हुए भी सुमेरु पर्वत की बड़ी-बड़ी गुफाओं में सोनेवाले सिंहों ने अपनी नींद का सुख नहीं छोड़ा, वे सोते ही रहे॥ २६॥ गुफाओं में गूँजते हुए नगाड़ों की गम्भीर तथा भयंकर ध्वनि और बडे-बडे रथों के पहियों की घड़घड़ाहट गुफाओं से टकराकर दूनी गूँज रही थी। फिर भी वहाँ के सिंह ज्यों के त्यों बैठे रहे। ऐसा करके उन्होंने

समुत्थितेन त्रिदिवौकसां महाचमूरवेणाद्रितटान्तदारिणा ।
प्रपेदिरे केसरिणोऽधिकं मदं स्ववीर्यलक्ष्मीमृगराजतावशात् ॥ २८ ॥
भिया सुरानीकविमर्दजन्मना विदुद्रुवुर्दूरतरं द्रुतं मृगाः ।
गुहागृहान्ताद्बहिरेत्य हेलया तस्थुर्विशङ्कं नितरां मृगाधिपाः ॥ २९ ॥
विलोकिताः कौतुकिनाऽमरावतीजनेन जुष्टप्रमदेन दूरतः ।
सुराचलप्रान्तभुवः प्रपेदिरे सुविस्तृतायाः प्रसरं सुसैनिकाः ॥ ३० ॥
पीतासितारक्तसितैः सुराचलप्रान्तस्थितैर्धातुरजोभिरम्बरम् ।
अयत्नगन्धर्वपुरोदयभ्रमं बभार भूम्नोत्पतितैरितस्ततः ॥ ३१ ॥
महास्वनः सैन्यविमर्दसम्भवः कर्णान्तिकूलङ्कषतामुपेयिवान् ।
पयोनिधेः क्षुब्धतरस्य वर्धनो बभूव भूम्ना भुवनोदरम्भरिः ॥ ३२ ॥
महागजानां गुरुबृंहितैस्ततैः सुहेषितैर्घोरतरैश्च वाजिनाम् ।
घनै रथानां गुरुचण्डचीत्कृतैस्तिरोहितोऽभूत्पटहस्य निःस्वनः ॥ ३३ ॥
महासुराणामवरोधयोषितां कचाक्षिपक्ष्मस्तनमण्डलेषु च ।
ध्वजेषु नागेषु रथेषु वाजिषु क्षणेन तस्थौ सुरसैन्यजं रजः ॥ ३४ ॥
घनैर्विलोक्य स्थगितार्कमण्डलैश्चमूरजोभिर्निचितं नभःस्थलम् ।
अयायि हंसैरभिमानसं घनभ्रमेण सानन्दमनर्ति केकिभिः ॥ ३५ ॥
सान्द्रैः सुरानीकरजोभिरम्बरे नवाम्बुदानीकनिभैरमिश्रिते ।
चकाशिरे स्वर्णमया महाध्वजाः परिस्फुरन्तस्तडिताङ्गणा इव ॥ ३६ ॥
विलोक्य धूलीपटलैर्भृशं भृतं द्यावापृथिव्योरलमन्तरं महत् ।
किमूर्ध्वतोऽधः किमधस्त उर्ध्वतो रजोऽभ्युपैतीति जनैरतर्क्यत ॥ ३७ ॥

यह सिद्ध कर दिया कि हम मृगराज हैं ॥ २७ ॥ सुमेरु की चट्टानों को फोड़नेवाली देवताओं की उस महासेना के चलने से जो कोलाहल हो रहा था, उसे सुन-सुनकर वे सिंह और भी मस्त हो उठे, जो अपने बूते पर सब पशुओं के राजा बने हुए थे ॥ २८ ॥ वहाँ जितने हरिण थे, वे सब तो इस डर से चौकड़ी भरकर दूर भाग गये कि कहीं देवताओं की सेना हमें न मार डाले। परन्तु जितने सिंह थे, वे अपनी गुफाओं के बाहर निकल-निकलकर खड़े हो गये ॥ २९ ॥ वे सैनिक जब उस ऊँचे सुमेरु पर्वत की तलहटी में उतरे, उस समय अमरावती में रहनेवाले स्त्री-पुरुष उन्हें बडे चाव से देखने लगे ॥ ३० ॥ सुमेरु पर्वत की पीली, नीली, लाल और उजली चट्टानों की उडी हुई धूल से भरा हुआ आकाश ऐसा लगने लगा, जैसे बिना परिश्रम के ही वह अनेक रत्नों से परिपूर्ण गन्धर्वनगर बन गया हो ॥ ३१ ॥ कानों के परदे फाड़नेवाला देवसेना का वह उठता हुआ घनघोर शब्द हडहड़ाते हुए समुद्र के कोलाहल से भी अधिक बढ़कर सारे ब्रह्माण्ड में गूँज उठा ॥ ३२ ॥ यहाँ तक कि मतवाले हाथियों की भारी चिग्घाड, घोड़ों की हिनहिनाहट और चलते हुए रथों की घोर घरघराहट में गम्भीर और कान फाड़नेवाली नगाड़ों की ध्वनि बिलकुल दब गयी ॥ ३३ ॥ क्षणभर में ही देवसेना के चलने से उडी हुई धूल धीरे-धीरे दैत्यों की स्त्रियों के बालों, आँखों, अलकों और स्तनों पर बैठती हुई उनकी पताकाओं, हाथियों, रथों और घोड़ों पर जा पहुँची ॥ ३४ ॥ जब सेना की घनी धूल सूर्य को ढँककर आकाश में छा गयी तो हंसों ने समझा कि ये बादल हैं। बरसात आयी जानकर वे मानसरोवर की ओर उड चले और मोर मस्ती के साथ नाचने लगे ॥ ३५ ॥ सेना के चलने से उड़ी हुई धूल आकाश में नये बादलों की पाँत जैसे दीखने लगी और सुनहली पताकाएँ चमचमाती हुई बिजली की लहरों की भाँति चमकने लगीं ॥ ३६ ॥ आकाश

नोर्ध्वं न चाधो न पुरो न पृष्ठतो न पार्श्वतोऽभूत्खलु चक्षुषोर्गतिः।
सूच्यग्रभेद्यैः पृतनारजश्चयैराच्छादिता प्राणिगणस्य सर्वतः॥ ३८॥
दिगन्तदन्तावलदानहारिभिर्विमानरन्ध्रप्रतिनादमेदुरैः।
अनेकवाद्यध्वनितैरनारतैर्जगर्ज गाढं गुरुभिर्नभस्तलम्॥ ३९॥
भुवं विगाह्य प्रययौ महाचमूः क्वचिन्न मान्ती महतीं दिवं खलु।
सुसङ्कुलायामपि तत्र निर्भरात्किं कान्दिशीकत्वमवाप नाकुला॥ ४०॥
उद्दामदानद्विपवृन्दबृंहितैर्नितान्तमुत्तुङ्गतुरङ्गहेषितैः।
चलद्घनस्यन्दननेमिनिःस्वनैरभून्निरुच्छ्वासमिवाकुलं जगत्॥ ४१॥
महागजानां गुरुभिस्तु गर्जितैर्विलोलघण्टारणितै रणोल्बणैः।
वीरप्रणादैः प्रमदप्रमेदुरैर्वाचालतामादधिरेतरां दिशः॥ ४२॥
दन्तीन्द्रदानद्रववारिवीचिभिः सद्योऽपि नद्यो बहुधा पुपूरिरे।
धारा रजोभिस्तुरगैः क्षतैर्भृता याः पङ्कतामेत्य रथैः स्थलीकृताः॥ ४३॥
निम्नाः प्रदेशाः स्थलतामुपागमन्निम्नत्वमुच्चैरपि सर्वतश्च ते।
तुरङ्गमाणां व्रजतां खुरैः क्षता रथैर्गजेन्द्रैः परितः समीकृताः॥ ४४॥
नभोदिगन्तप्रतिघोषभीषणैर्महामहीभृत्तटदारणोल्बणैः।
पयोधिनिर्धूननकेलिभिर्जगद् बभूव भेरीध्वनितैः समाकुलम्॥ ४५॥
इतस्ततो वातविधूतचञ्चलैर्नीरन्ध्रिताशागमनैर्ध्वजांशुकैः।
लक्षैः क्वणत्काञ्चनकिङ्किणीकुलैरमज्जि धूलीजलधौ नभोगते॥ ४६॥

और पृथ्वी के बीचोंबीच छायी हुई इस धूल को देखकर लोग यही सोचते रह गये कि यह धूल ऊपर से नीचे उतर रही है या नीचे से ऊपर चढ़ रही है॥ ३७॥ सेना के चलने से उड़ी हुई धूल ऐसी छा गयी कि सुई की नोक बराबर स्थान खाली नहीं रह गया। अतएव सब की आँखों के आगे ऐसा अँधेरा छा गया कि किसी को भी नीचे-ऊपर, आग-पीछे, इधर-उधर कहीं कुछ दीखता ही नहीं था॥ ३८॥ उस सेना में अनेक बाजे निरंतर बज रहे थे, जिनकी घनघोर ध्वनि सुनकर मतवाले हाथियों का मद भी सूख जाता था। वह ध्वनि विमानों की छतरियों से टकराकर और भी जोर से गूँज उठती थी। उन्हें सुनकर ऐसा लगता था कि जैसे आकाश ही घनघोर गर्जन कर रहा है॥ ३९॥ देवताओं की वह महासेना पहले तो सारी धरती में भर गयी, परन्तु वहाँ न समा सकने के कारण आकाश में जा पहुँची और जब वहाँ भी नहीं समा सकी तो जैसे वह यह समझकर घबरा गयी कि अब यहाँ से कहाँ चला जाय॥ ४०॥ मतवाले हाथियों की चिग्वाड़, अत्यन्त ऊँचे घोड़ों की हिनहिनाहट और चलने वाले रथों की घड़घड़ाहट से लोग ऐसे घबरा उठे कि जैसे उनकी साँस घुटी जा रही हो॥ ४१॥ बड़े-बड़े हाथियों की चिग्घाड़, उनके हिलते हुए घंटों की टन-टन ध्वनि और मतवाले वीरों की ललकार चारों ओर फैलकर ऐसी लग रही थी कि जैसे दसों दिशाएँ कोलाहल मचा रही हों॥ ४२॥ बड़े-बड़े हाथियों का मद इतना बहा कि उससे सूखी हुई नदियों में भी तुरन्त बाढ़ आ गयी। फिर घोड़ों की खुरों से उड़ी हुई धूल भर जाने से उन नदियों में कीचड़ ही कीचड़ हो गया। किन्तु रथों के पहियों से दबकर वहाँ पर फिर ज्यों की त्यों धरती निकल आयी॥ ४३॥ चलते हुए घोड़ों के खुरों से रौंदी जाने पर और रथों तथा हाथियों के चलने से दब जाने पर नीचे के स्थान ऊँचे हो गये और ऊँचे स्थान नीचे हो गये॥ ४४॥ बड़े से बड़े पहाड़ों को फोड़ देने और समुद्र में हलचल मचा देनेवाली नगाड़े की ध्वनि आकाश और दिशाओं में गूँजी तो उसकी और भी भयानक प्रतिध्वनि सुनकर सारा संसार घबरा गया॥ ४५॥ उस

घण्टारवै रौद्रतरैर्निरन्तरं विसृत्वरैर्गर्जरवैः सुभैरवैः।
मत्तद्विपानां प्रथयाम्बभूविरे न वाहिनीनां पटहस्य निःस्वनाः॥ ४७॥
करालवाचालमुखाश्च्यमूस्वनैर्ध्वस्ताम्बरा वीक्ष्य दिशो रजस्वलाः।
तिरोबभूवे गहनैर्दिनेश्वरो रजोऽन्धकारैः परितः कुतोऽप्यसौ॥ ४८॥
आक्रान्तपूर्वा रभसेन सैनिकैर्दिगङ्गना व्योम रजोभिदूषिता।
भेरीरवाणां प्रतिशब्दितैर्घनैर्जगर्ज गाढं घनमत्सरादिव॥ ४९॥
गुरुसमीरसमीरितभूधरा इव गजा गगनं विजगाहिरे।
गुरुतरा इव वारिधरा रथा भुवमितीह विवर्त इवाभवत्॥ ५०॥
बलमदसुरलोकानल्पकल्पान्तकाले निरवधय इवाम्भोराशयो घोरघोषाः।
गुरुतरपरिमज्जद्भूभृतो देवसेना ववृधुरपि सुपूर्णा व्योमभूम्यन्तराले॥ ५१॥

इति महाकविकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये
देवसेनाप्रयाणं नाम चतुर्दशः सर्गः॥ १४॥

सेना की बजते हुए घुँघुरुओं युक्त लाखों झंडियाँ सारे आकाश में भरकर मार्ग रोके हुए वायु के झोंके से फरफरा रही थीं। वे भी उस सेना के चलने से उड़ी हुई धूल के समुद्र में डूब गयीं॥ ४६॥ मतवाले हाथियों की गूँजती हुई चिग्घाड और पल-पल में भयंकर होकर बढती हुई घंटे की ध्वनि के आगे नगाड़ों का शब्द सुनायी ही नहीं दे रहा था॥ ४७॥ जैसे किसी हल्ला मचानेवाली नंगी रजस्वला स्त्री को देखकर लोग आड़ कर लेते हैं, वैसे ही सेना के शब्द से घोर कोलाहल करती हुई और आकाशरूपी वस्त्र को फाड़कर रज से भरी हुई दिशारूपिणी नायिका को देखकर सूर्य ने चारों ओर फैले हुए धूल के बने अँधेरे की ओट करके अपने को छिपा लिया॥ ४८॥ सेना में जो नगाडे बज रहे थे, उनका शब्द ऐसा लग रहा था कि जैसे आकाशरूपी नायक धूल से भरी हुई अपनी दिशारूपिणी रजस्वला नायिका पर सैनिकों का इतना बड़ा आक्रमण देखकर घोर ईर्ष्या से गरज रहा हो॥ ४९॥ आकाश में बडे-बड़े हाथी इधर-उधर घूम रहे थे, जैसे किसी बडी भारी आँधी से पहाड़ी चट्टानें ऊपर उड़ रही हों। भूमि पर रथ इस प्रकार चलते थे, जैसे बड़े-बडे बादल चल रहे हों। उस युद्ध में ऐसा जान पड़ता था कि मानो पृथ्वी के पहाड़ आकाश में और आकाश के बादल धरती पर चल रहे हों॥ ५०॥ भीषण कोलाहल मचाती हुई बड़े-बड़े राजाओं से भरी वह देवसेना भली प्रकार चारों ओर से परिपूर्ण होने पर भी और अधिक बढने लगी। उसे देखकर ऐसा लगता था कि मानो बलवान् असुरों के इस महाप्रलय के समय घोररूप से गरजता हुआ महासागर उमड़ पडा हो॥ ५१॥

इस प्रकार महाकविकालिदासरचित कुमारसम्भवमहाकाव्य में देवसेना का प्रस्थान नामक चौदहवाँ सर्ग समाप्त॥ १४॥

पञ्चदशः सर्गः

सेनापतिं नन्दनमन्धकद्विषो युधे पुरस्कृत्य बलस्य शात्रवः।
सैन्यैरुपैतीति सुरद्विषां पुरोऽभूत् किंवदन्ती हृदयप्रकम्पिनी॥ १॥
चमूप्रभुं मन्मथमर्दनात्मजं विजित्वरीभिर्विजयश्रियाश्रितम्।
श्रुत्वा सुराणां पृतनाभिरागतं चित्ते चिरं चुक्षुभिरे महासुराः॥ २॥
समेत्य दैत्याधिपतेः पुरे स्थिताः किरीटबद्धाञ्जलयः प्रणम्य ते।
न्यवेदयन्मन्मथशत्रुसूनुना युयुत्सुना जम्भजितं सहागतम्॥ ३॥
दासीकृताशेषजगत्त्रयं न मां जिगाय युद्धे कतिशः शचीपतिः।
गिरीशपुत्रस्य बलेन साम्प्रतं ध्रुवं विजेतेति स काकुतोऽहसत्॥ ४॥
ततः क्रुधा विस्फुरिताधरः सन् स तारको दर्पितदोर्बलोद्धतान्।
युधे त्रिलोकीजयकेलिलालसः सेनापतीन्सन्नहनार्थमादिशत्॥ ५॥
महाचमूनामधिपाः समन्ततः सन्नह्य सद्यः सुतरामुदायुधाः।
तस्थुर्विनम्रक्षितिपालसङ्कुले तदङ्गणद्वारवरप्रकोष्ठके॥ ६॥
स द्वारपालेन पुरः प्रदर्शितान् कृतानतीन्बाहुवरानधिष्ठितान्।
महाहवाम्भोधिविधूननोद्धतान् ददर्श राजा पृतनाधिपान्बहून्॥ ७॥
बली बलारातिबलातिशातनं दिद्गन्तिनादद्रवनाशनस्वनम्।
महीधराम्भोधिनवारितक्रमं ययौ रथं घोरमथाधिरुह्य सः॥ ८॥

उधर दैत्यों के नगर में जब यह कोलाहल मचा कि शंकरजी के पुत्र कार्तिकेय को सेनापति बना तथा देवताओं की सेना लेकर दैत्यों के शत्रु इन्द्र युद्ध करने आ रहे हैं, तो दैत्यों में बड़ी खलबली मच गयी॥ १॥ जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि विजयलक्ष्मी के साथ देवताओं की सेना लेकर विजयी कार्तिकेय वास्तव में सेनापति बनकर आये हैं, तब नगरनिवासी दैत्य बहुत देर तक घबराये॥ २॥ दैत्यों के राजा तारकासुर की नगरी में रहने वाले सब दैत्य मिलकर तारक के पास पहुँचे और उसको प्रणाम करके कहने लगे कि युद्ध करने के लिए उद्यत कुमार को साथ लेकर इन्द्र यहाँ आ गये हैं॥ ३॥ यह सुना तो तारक ने बड़े ताने के साथ हँसकर कहा—पिछले कई युद्धों में तो मुझ त्रैलोक्यविजयी को इन्द्र नहीं जीत सका था। अब कुमार के भरोसे मुझसे लड़ने चला है तो अवश्य जीतेगा॥ ४॥ यह कहने के साथ ही खेल-खेल में तीनों लोकों को जीतने की सामर्थ्य रखनेवाले तारकासुर के ओठ क्रोध से काँपने लगे और उसने अपने उन नामी सेनापतियों को युद्ध के लिए तैयार होने की आज्ञा दी, जिन्हें अपने बाहुबल पर बड़ा घमण्ड था॥ ५॥ तब अस्त्र-शस्त्र बाँधकर बड़े-बड़े दैत्यसेनापति तुरन्त तारकासुर के उस भारी फाटकवाले आँगन में आ खड़े हुए, जहाँ बहुत-से राजा विनम्रभाव से खड़े थे॥ ६॥ जो-जो सेनापति द्वार पर पहुँचकर प्रणाम करते थे, उन-उन बड़ी-बड़ी भुजाओंवाले वीरों को ले जाकर द्वारपाल तारकासुर के सामने खड़ा करता जाता था। दैत्यराज तारक ने देखा कि ये अगणित सेनापति महायुद्ध के समुद्र में हलचल मचाने में एक से एक प्रबल हैं॥ ७॥ तब वह बलवान् दैत्य भी उस भयंकर रथ पर चढकर चल पड़ा, जो अकेला ही इन्द्र की सेना को तहस-नहस कर सकता था। जिसकी घरघराहट सुनकर दिग्गजों का चिग्घाड़ना और मद बहाना बन्द हो जाता था और जो पर्वत और समुद्र में कहीं

युगक्षयक्षुब्धपयोधिनिःस्वनाश्चलत्पताकाकुलवारितातपाः ।
धरारजोग्रस्तदिगन्तभास्कराः पतिं प्रयान्तं पृतनास्तमन्वयुः ॥ ९ ॥
चमूरजः प्राप दिगन्तदन्तिनां महासुरस्याभिसुरं प्रसर्पिणः ।
दन्तप्रकाण्डेषु सितेषु शुभ्रतां कुम्भेषु दानाम्बुघनेषु पङ्कताम् ॥ १० ॥
महीभृतां कन्दरदारणोल्बणैस्तद्वाहिनीनां पटहस्वनैर्घनैः ।
उद्वेलिताश्चुक्षुभिरे महार्णवा नभःस्रवन्ती सहसाऽभ्यवर्धत ॥ ११ ॥
सुरारिनाथस्य महाचमूस्वनैर्विगाह्यमाना तुमुलैः सुरापगा ।
अभ्युच्छ्रितैरूर्मिशतैश्च वारिजैरक्षालयन्नाकनिकेतनावलीम् ॥ १२ ॥
अथ प्रयाणाभिमुखस्य नाकिनां द्विषः पुरस्तादशुभोपदेशिनी ।
अगाधदुःखाम्बुधिमध्यमज्जनं बभूव चोत्पातपरम्परा तदा ॥ १३ ॥
आगामिदैत्याशनकेलिकाङ्क्षिणी कुपक्षिणां घोरतरा परम्परा ।
दधौ पदं व्योम्नि सुरारिवाहिनीरुपर्युपर्येत्यनिवारितातपा ॥ १४ ॥
मुहुर्विभग्नातपवारणध्वजश्चलद्धराधूलिकलाकुलेक्षणः ।
धूताश्वमातङ्गमहारथाकरानवेक्षणोऽभूत् प्रसभं प्रभञ्जनः ॥ १५ ॥
सद्योविभिन्नाञ्जनपुञ्जतेजसो मुखैर्विषाग्निं विकिरन्त उच्चकैः ।
पुरः पथोऽतीत्य महाभुजङ्गमा भयङ्कराकारभृतो भृशं ययुः ॥ १६ ॥
मिलन्महाभीमभुजङ्गभीषणं प्रभुर्दिनानां परिवेषमादधौ ।
महासुरस्य द्विषतोऽतिमत्सरादिवान्तमासूचयितुं भयङ्करः ॥ १७ ॥

भी बेरोक-टोक पहुँच सकता था ॥ ८ ॥ पृथ्वी से उड़ी हुई धूल से सब दिशाओं तथा आकाश को ढँकती हुई दैत्यों की सेनाएँ भी अपने सेनापति तारकासुर के पीछे-पीछे चल पड़ीं, जो प्रलयकाल के हड़बड़ाते हुए समुद्र के समान घोर हल्ला मचा रही थीं और जिनमें इतनी पताकाएँ उड रही थीं कि धूप तक रुक गयी थी ॥ ९ ॥ जब देवताओं से लड़ने के लिए दैत्यराज तारक की सेना चली तो उसके चलने से उड़ी हुई धूल दिग्गजों के उजले दाँतों पर पड़कर उजली हो जाती थी और जब वह उनके मद बहते हुए गालों पर पड़ती थी, तब कीचड़ बन जाती थी ॥ १० ॥ उसकी सेना के नगाड़ों की गम्भीर ध्वनि पहाड़ों की कन्दराओं को भी फोड सकती थी। उसे सुनकर समुद्र हिलोरें लेकर अपने तट से बाहर चला आया और आकाशगंगा में भी अचानक बाढ़ आ गयी ॥ ११ ॥ दैत्यराज तारक की बड़ी भारी सेना का भीषण कोलाहल आकाशगंगा में जा गूँजा और उसमें उछली हुई सुन्दर कमलों से भरी सैकड़ों लहरों ने वहाँ के भवन धो दिये ॥ १२ ॥ जब वह दैत्य लडने को चला तो उसके आगे ऐसे बुरे-बुरे असगुन होने लगे, जिनसे ऐसा लगा कि अब तारकासुर किसी बड़ी भारी विपत्ति के समुद्र में डूबनेवाला है ॥ १३ ॥ उसी समय दैत्यों का मांस खाने की आशा से बहुत-से गिद्ध-कौए आदि भयंकर जीव-जन्तु कतार बाँधकर दैत्यों की सेना के ऊपर ऐसे मँडराने लगे कि धूप भी नीचे नहीं आ पाती थी ॥ १४ ॥ आकाश में बार-बार ऐसी आँधियाँ चलने लगीं कि दैत्यों के छत्र-चमर और पताकाएँ टूट-फूट गयीं। धूल उड़-उड़कर सबकी आँखों में भर गयी और घोडे, हाथी, रथ सबको उन आँधियों ने अस्त-व्यस्त कर दिया ॥ १५ ॥ तुरन्त तैयार किये हुए काजल से टूटकर गिरे हुए टुकडे के समान काले और विषभरी आग की ऊँची-ऊँची लपटें उगलनेवाले भयंकर साँप सेना का मार्ग काट-काटकर सामने से निकलने लगे ॥ १६ ॥ वैर के कारण ही मानो सूर्य ने भयंकर साँपों की कुण्डली के समान बडा-सा मंडल अपने चारों ओर डाल लिया। जिससे ऐसा ज्ञात होता था कि अब देवताओं के शत्रु तारक के दिन पूरे हो

त्विषामधीशस्य पुरोऽधिमण्डलं शिवाः समेताः परुषं ववाशिरे।
सुराग्रिराजस्य रणान्तशोणितं प्रसह्य पातुं द्रुतमुत्सुका इव॥ १८॥
दिवापि तारास्तरलास्तरस्विनीः परापतन्तीः परितोऽथ वाहिनीः।
विलोक्य लोको मनसा व्यचिन्तयत्प्राणव्ययान्तं व्यसनं सुरद्विषः॥ १९॥
ज्वलद्भिरुच्चैरभितः प्रभाभरैरुद्भासिताशेषदिगन्तराम्बरम्।
रवेण रौद्रेण हृदन्तदारणं पपात वज्रं नभसो निरम्बुदात्॥ २०॥
ज्वलद्भिरङ्गारचयैर्नभस्तलं ववर्ष गाढं सह शोणितास्थिभिः।
धूमं ज्वलन्तो व्यसृजन्मुखै रजो दधुर्दिशो रासभकण्ठधूसरम्॥ २१॥
निर्घातघोषो गिरिभृङ्गशातनो घनोऽम्बराशाकुहरोदरम्भरिः।
बभूव भूम्ना श्रुतिभित्तिभेदनः प्रकोपिकालार्जितगर्जितर्जनः॥ २२॥
स्खलन्महेभं प्रपतत्तुरङ्गमं परस्पराश्लिष्टजनं समन्ततः।
प्रक्षुभ्यदम्भोधिविभिन्नभूधराद् बलं द्विषोऽभूदवनिप्रकम्पात्॥ २३॥
ऊर्ध्वीकृतास्या रविदत्तदृष्टयः समेत्य सर्वे सुरविद्विषः पुरः।
श्वानः स्वरेण श्रवणान्तशातिना मिथो रुदन्तः करुणेन निर्ययुः॥ २४॥
अपीति पश्यन् परिणामदारुणां महत्तमां गाढमरिष्टसन्ततिम्।
दुर्दैवदष्टो न खलु न्यवर्तत क्रुधा प्रयाणव्यवसायतोऽसुरः॥ २५॥
अरिष्टमाशङ्क्य विपाकदारुणं निवार्यमाणोऽपि बुधैर्महासुरः।
पुरः प्रतस्थे महतां वृथा भवेदसद्ग्रहान्धस्य हितोपदेशनम्॥ २६॥
क्षितौ निरस्तं प्रतिकूलवायुना तदीयचामीकरघर्मवारणम्।
रराज मृत्योरिव पारणाविधौ प्रकल्पितं हाटकभाजनं महत्॥ २७॥

गये हैं॥ १७॥ युद्ध में तारक का रुधिर पीने को उतावली सियारिनियाँ सूर्य-मंडल की ओर मुख कर-करके बड़े भीषण स्वरों में रोने लगीं॥ १८॥ दिन में ही निकले हुए तारे उस सेना के चारों ओर बड़े वेग से टूट-टूटकर गिरने लगे। यह देखकर लोगों को विश्वास हो गया कि ये सब उपद्रव तारक के नाश के लिए ही हो रहे हैं॥ १९॥ घोर और भयंकर तड़प से हृदय फाड़ देने वाली और अपनी जलती हुई चमक से सारी दिशाओं तथा आकाश को चमका देने वाली बिजली बिना बादल के ही आकाश से गिरने लगी॥ २०॥ आकाश से धधकते अङ्गारों, लहू और हड्डियों की वर्षा हो रही थी। दसों दिशाएँ गधे के कण्ठ के रंग जैसा भूरा-भूरा धुआँ उगल रही थीं॥ २१॥ आकाश और दसों दिशाओं में ऐसा भयंकर कोलाहल हो रहा था, जो क्रोध में भरे हुए काल की गर्जना के समान कानों के पर्दे फाड़े देता था और उसकी गूँज से पहाड़ की चोटियाँ फटी जा रही थीं॥ २२॥ इतने में ही ऐसा भूकम्प आया कि समुद्र हिलोरें लेने लगे, पहाड़ों में दरारें पड़ गयीं, तारक के सैनिक एक-दूसरे से लिपट गये, बड़े-बड़े हाथी लड़खड़ा गये और घोड़े जहाँ-तहाँ गिरने लगे॥ २३॥ सूर्य की ओर देखते हुए ऊपर मुँह उठाकर एक साथ बहुत-से कुत्ते रोते और बुरी तरह भूँकते हुए तारक के सामने से निकले॥ २४॥ इस प्रकार के भद्दे और भीषण असगुन देखकर भी दुर्भाग्यवश उस महादैत्य ने लड़ाई में जाने से मुख नहीं मोड़ा॥ २५॥ इन डरावने और बुरे असगुनों को देखकर विद्वानों ने उसे बहुत रोकना चाहा, परन्तु वह आगे बढ़ता ही गया। आग्रह से अन्धे लोगों को बड़े-बूढ़ों का उपदेश भी अच्छा नहीं लगता॥ २६॥ इतने में उलटे बहते हुए वायु का एक ऐसा झोंका आया कि उसका सुनहला राजछत्र भूमि में जा गिरा। जिसे देखकर

विजानता भाविशिरोनिकृन्तनं प्रज्ञेन शोकादिव तस्य मौलिना।
मुहुर्गलद्भिस्तरलैरलन्तरामरोदि मुक्ताफलबाष्पबिन्दुभिः ॥ २८ ॥
निवार्यमाणैरभितोऽनुयायिभिर्गृहीतुकामैरिव तं मुहुर्मुहुः।
अपाति गृध्रैरभि मौलिमाकुलैर्भविष्यदेतन्मरणोपदेशिभिः ॥ २९ ॥
सद्योनिकृत्ताञ्जनसोदरद्युतिं फणामणिप्रज्वलदंशुमण्डलम्।
निर्यद्विषोल्कानलगर्भफूत्कृतं ध्वजे जनस्तस्य महाहिमैक्षत ॥ ३० ॥
रथाश्वकेशावलिकर्णचामरं ददाह बाणासनबाणबाणधीन्।
अकाण्डतश्चण्डतरो हुताशनस्तस्यातनुस्यन्दनधुर्यगोचरः ॥ ३१ ॥
इत्याद्यरिष्टैरशुभोपदेशिभिर्विहन्यमानोऽप्यसुरः पुनः पुनः।
यदा मदान्धो न गतान्यवर्तताम्बरात् तदाभून्मरुतां सरस्वती ॥ ३२ ॥
मदान्ध! मा गा भुजदण्डचण्डिमावलेपतो मन्मथहन्तृसूनुना।
सुरैः सनाथेन पुरन्दरादिभिः समं समन्तात् समरं विजित्वरैः ॥ ३३ ॥
गुहोऽसुरैः षड्दिनजातमात्रको निदाघधामेव निशातमोभरैः।
विषह्यते नाभिमुखो हि सङ्गरे कुतस्त्वया तस्य समं विरोधिता ॥ ३४ ॥
अभ्रंलिहैः शृङ्गशतैः समन्ततो दिक्चक्रवालैः स्थगितस्य भूभृतः।
क्रौञ्चस्य रन्ध्रं विशिखेन निर्ममे येनाहवस्तस्य सह त्वया कुतः ॥ ३५ ॥
लब्ध्वा धनुर्वेदमनङ्गविद्विषस्त्रिःसप्तकृत्वः समरे महीभुजाम्।
कृत्वाभिषेकं रुधिराम्बुभिर्घनैः स्वक्रोधवह्निं शमयाम्बभूव यः ॥ ३६ ॥
न जामदग्न्यः क्षयकालरात्रिकृत्स क्षत्रियाणां समराय वल्गति।
येन त्रिलोकीसुभटेन तेन कुतोऽवकाशः सह विग्रहग्रहे ॥ ३७ ॥

ऐसा लगा कि मानो उसकी मृत्यु ने पारणा करने के लिए सोने का थाल ला रखा हो ॥ २७ ॥ तारक के किरीट से टूट-टूटकर गिरते हुए मोती ऐसे दीख रहे थे, मानो तारक का सिर कटने की बात पहले से जाननेवाला वह विज्ञ मुकुट बार-बार अपनी मोती के आँसू बरसाकर रो रहा हो ॥ २८ ॥ तारकासुर के सिर पर मँडराते हुए गिद्धों को उसके सेवक बार-बार भगा रहे थे, फिर भी वे गिद्ध व्याकुल भाव से सिर पर ही गिरकर मानो यह बता रहे थे कि अब तुम्हारे दिन पूरे हो गये हैं ॥ २९ ॥ सहसा लोगों ने देखा कि उसके झंडे पर तुरन्त बनाये हुए काजल जैसा काला, अपने फन के मणि की किरणों के प्रकाश से चमकते हुए फनोंवाला और भयानक विषभरी आग की फुँकारें छोडने वाला एक बड़ा भारी साँप लपटा हुआ है ॥ ३० ॥ अचानक उसके रथ के धुरे से आग की भीषण लपट उठी कि रथ के घोड़ों के बाल, कान और चँवर झुलस गये और तारकासुर के धनुष-बाण तथा तूणीर जल गये ॥ ३१ ॥ बार-बार ऐसे बुरे-बुरे असगुन होने पर भी जब घमंड में चूर वह दैत्य नहीं लौटा, तब आकाश से यह देववाणी सुनायी पडी— ॥ ३२ ॥ अरे मदान्ध दैत्य! तू अपने भुजदण्डों पर घमंड करके उन शिवतनय कार्तिकेयजी के साथ लडने मत जा, जिनके साथ इन्द्र और दूसरे विजयी देवता चले आ रहे हैं ॥ ३३ ॥ ओ मतवाले दैत्य! छः दिन के बालक कार्तिकेय के आगे युद्ध में दैत्यों की वही दुर्दशा होगी, जो सूर्य के आगे रात के अन्धकार की होती है। भला तू क्या उनसे लड पायेगा? ॥ ३४ ॥ अरे तारक! जिस क्रौञ्च पर्वत के सैकड़ों शिखर आकाश चूमते हैं और जो दसों दिशाओं में फैला हुआ है, उसे भी जिसने अपने बाणों से बींध डाला, उसके साथ तुम क्या लड़ सकोगे? ॥ ३५ ॥ जिन परशुरामजी ने शंकरजी से धनुर्विद्या

त्यजाशु गर्वं मदमूढ मा स्म गाः स्मरारिसूनोर्वरशक्तिगोचरम्।
तमेव नूनं शरणं व्रजाधुना जगत्सुवीरं स चिराय जीव तत्॥ ३८॥
श्रुत्वेति वाचं वियतो गरीयसीं क्रोधादहङ्कारपरो महासुरः।
प्रकम्पिताशेषजगत्त्रयोऽपि सन्नकम्पतोच्चैर्दिवमभ्यधाच्च सः॥ ३९॥
किं ब्रूथ रे व्योमचरा! महासुराः! स्मरारिसूनुप्रतिपक्षवर्तिनः।
मदीयबाणव्रणवेदना हि साऽधुना कथं विस्मृतिगोचरीकृता॥ ४०॥
कटुस्वरैः प्रालपथाम्बरस्थिताः शिशोर्बलात् षड्दिनजातकस्य किम्।
श्वानः प्रमत्ता इव कार्तिके निशि स्वैरं वनान्ते मृगधूर्तका इव॥ ४१॥
सङ्गेन वो गर्भतपस्विनः शिशुर्वराक एषोऽन्तमवाप्स्यति ध्रुवम्।
अतस्करस्तस्करसङ्गतो यथा तद्वो निहन्मि प्रथमं ततोऽप्यमुम्॥ ४२॥
इतीरयत्युग्रतरं महासुरे महाकृपाणं कलयत्यलं क्रुधा।
परस्परोत्पीडितजानवो भयान्नभश्चरा दूरतरं विदुद्रुवुः॥ ४३॥
ततोऽवलेपाद्विकटं विहस्य स व्यधत्त कोशादसिमुत्तमं बहिः।
रथं द्रुतं प्रापय वासवान्तिकं नन्वित्यवोचन्निजसारथिं रथी॥ ४४॥
मनोतिवेगेन रथेन सारथिप्रणोदितेन प्रचलन्महासुरः।
ततः प्रपेदे सुरसैन्यसागरं भयङ्कराकारमपारमग्रतः॥ ४५॥
पुरः सुराणां पृतनां प्रथीयसीं विलोक्य वीरः पुलकं प्रमोदजम्।
बभार भूम्नाथ स बाहुदण्डयोः प्रचण्डयोः सङ्गरकेलिकौतुकी॥ ४६॥

सीख तथा इक्कीस बार युद्ध में राजाओं के गाढे रक्त में स्नान करके अपना क्रोध शान्त किया है, ऐसे क्षत्रियों के नाश की कालरात्रि बुलानेवाले परशुराम भी जिनसे लड़ने में घबराते हैं, उन त्रिभुवन-प्रसिद्ध महायोद्धा से लड़ने का साहस तुममें कहाँ है?॥ ३६-३७॥ अरे घमंड से अन्धे दैत्य! अपना घमंड छोड़कर कोई ऐसा उपाय कर जिससे तू कुमार की शक्ति के आगे न पडे। इस समय उन्हीं की शरण में जाने से तेरे प्राण बच सकेंगे॥ ३८॥ तीनों लोक कँपानेवाला वह क्रोधी और घमंडी दैत्य भी यह आकाशवाणी सुनकर एक बार काँप उठा, किन्तु फिर सँभलकर आकाश की ओर मुँह करके गरजता हुआ बोला—॥ ३९॥ अरे ओ कार्तिकेय की बड़ाई करते हुए आकाश में घूमने वाले देवताओ! क्या आज तुम्हें मेरे बाणों के घावों की पीड़ा भूल गयी, जो इस प्रकार बक रहे हो?॥ ४०॥ अरे देवताओ! कार्तिक के महीने में जैसे पागल कुत्ते भूँकते हैं और रात को वन में सियार-लोमड़ी आदि धूर्त पशु बोला करते हैं, वैसे ही तुमलोग भी आकाश में चढ़कर उस छः दिन के बच्चे कुमार के बल की ऐसे कटु स्वर में झूठी प्रशंसा कर रहे हो?॥ ४१॥ अरे देवताओ! तुम लोगों के साथ आने के कारण बेचारा बालक कार्तिकेय भी तुम्हारे साथ वैसे ही मेरे हाथों मारा जायेगा, जैसे चोर का साथी भी दण्ड भोगता है॥ ४२॥ यह कहकर उस महान् असुर ने अपनी भारी और भयावनी कृपाण उठायी तो आकाश-स्थित सब देवताओं में भगदड़ मच गयी॥ ४३॥ तब घमंड के साथ विकट हँसी हँसकर उसने म्यान से अपनी तलवार निकाली और सारथी से कहा कि रथ बढ़ाकर मुझे झटपट इन्द्र के पास पहुँचाओ॥ ४४॥ मन से भी अधिक वेग से चलनेवाले जिस रथ को सारथी बढाये लिये चला जा रहा था, उस पर बैठा वह महादैत्य देवताओं की उस सेना के आगे जा पहुँचा, जो अथाह समुद्र के समान भीषण दीख रही थी॥ ४५॥ देवताओं की उस बड़ी भारी सेना को सामने देखकर युद्ध के लिए उतावले उस वीर के भारी भुजदंडों के रोयें खड़े हो गये और उसके हृदय में युद्ध का उत्साह उमड़ पड़ा॥ ४६॥ तभी इन्द्र के बड़े-बडे लड़ाके और

ततो महेन्द्रस्य चराश्चमूचरा रणान्तलीलारभसेन भूयसा।
पुरः प्रचेलुर्मनसोऽतिवेगिनो युयुत्सुभिः किं समरे विलम्ब्यते॥ ४७॥
पुरःस्थितं देवरिपोश्चमूचरा वलद्विषः सैन्यसमुद्रमभ्ययुः।
भुजं समुत्क्षिप्य परेभ्य आत्मनोऽभिधानमुच्चैरभितो न्यवेदयन्॥ ४८॥
पुरोगतं दैत्यचमूमहार्णवं दृष्ट्वा परं चुक्षुभिरे महासुराः।
पुरारिसूनोर्नयनैककोणके ययुर्भटास्तस्य रणेऽवहेलया॥ ४९॥
द्विषद्बलत्रासविभीषिताश्चमूर्दिवौकसामन्धकशत्रुनन्दनः।
अपश्यदुद्दिश्य महारणोत्सवं प्रसादपीयूषधरेण चक्षुषा॥ ५०॥
उत्साहिताः शक्तिधरस्य दर्शनान्मृधे महेन्द्रप्रमुखा मखाशनाः।
अहं मृधे जेतुमरीनरीरमन्त्र कस्य वीर्याय वरस्य सङ्गतिः॥ ५१॥
परस्परं वज्रधरस्य सैनिका द्विषोऽपि योद्धुं स्वकरोद्धृतायुधाः।
वैतालिकश्रावितताराविक्रमाभिधानमीयुर्विजयैषिणो रणे॥ ५२॥

सङ्ग्रामं प्रलयाय सन्निपततो वेलामतिक्रामतो
वृन्दारासुरसैन्यसागरयुगस्याशेषदिग्व्यापिनः।
कालातिथ्यभुजो बभूव बहलः कोलाहलः क्रोषणः
शैलोत्तालतटीविघट्टनपटुर्ब्रह्माण्डकुक्षिम्भरिः॥ ५३॥

इति महाकविकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये
सुरासुरसैन्यसङ्घट्टो नाम पञ्चदशः सर्गः॥ १५॥

रण के लिए ललचाये वीर सैनिक मन से भी अधिक वेग से उस दैत्य की सेना पर टूट पड़े। लड़ाई के प्यासे लोग अवसर आने पर आगा-पीछा नहीं देखते॥ ४७॥ दैत्यसेना के सैनिक भी आगे खड़ी इन्द्र की सेना पर टूट पड़े और चारों ओर भुजाएँ उठा-उठा तथा ललकार-ललकार कर अपना-अपना नाम सुनाने लगे॥ ४८॥ अपने समक्ष समुद्र के समान हिलोरें लेती हुई वह दैत्यसेना को देखकर बड़े-बड़े देवता भी दंग रह गये, परन्तु उस दैत्यसेना को कनखियों मे देखकर ही निडर कार्तिकेय ने समझ लिया कि इसमें कुछ दम नहीं है॥ ४९॥ उन दैत्यों की सेना के डर से घबरायी हुई देवसेना की ओर अपने आनन्दामृत-परिपूर्ण नेत्रों से देखकर कुमार ने संकेत किया कि निर्भीक होकर लडते चलो। देवताओं ने जब रण में शक्तिशाली कार्तिकेय का दर्शन पाया तो उनका उत्साह बढ गया और इन्द्र आदि सभी देवता यह कहकर प्रसन्नता से उछलने-कूदने लगे कि मैं शत्रुओं को युद्ध में अवश्य जीतूँगा। भले लोगों का संग करने से भला किसका बल नहीं बढ जाता॥ ५०-५१॥ अपने-अपने शस्त्र लेकर देवताओं तथा दैत्यों के सैनिक अपने-अपने चारणों द्वारा गाये हुए अपने पराक्रम के गीत सुनकर विजय की इच्छा से समर में आ डटे॥ ५२॥ जैसे प्रलय करने के लिए अपनी मर्यादा त्यागकर चारों ओर फैले और सारे संसार को डुबाते-बहाते एवं काल का भोजन बनाते हुए दो समुद्र एक-दूसरे से टकराते हुए बढ आये हों, वैसे ही ताड़ के वृक्षोंवाले पहाड़ों की तलहटी को फाड देनेवाला वह देवताओं और दैत्यों की सेनाओं के भीषण समुद्रों का भारी कोलाहल यमराज को आमंत्रित करता हुआ समस्त ब्रह्माण्ड में फैल गया॥ ५३॥

इस प्रकार महाकविकालिदासरचित कुमारसम्भवमहाकाव्य में देवताओं-दैत्यों का युद्ध नामक पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त॥ १५॥

षोडशः सर्गः

अथान्योन्यं विमुक्तास्त्रशस्त्रजालैर्भयङ्करैः । युद्धमासीत् सुनासीरसुरारिबलयोर्महत्॥ १ ॥
पत्तिः पत्तिमभीयाय रणाय रथिनं रथी । तुरङ्गस्थं तुरङ्गस्थो दन्तिस्थं दन्तिनि स्थितः ॥ २ ॥
युद्धाय धावतां धीरं वीराणामितरेतरम् । वैतालिकाः कुलाधीशा नामान्यलमुदाहरन्॥ ३ ॥
पठतां बन्दिवृन्दानां प्रवीरा विक्रमावलीम् । क्षणं विलम्ब्य चित्तानि ददुर्युद्धोत्सुकाः पुरः ॥ ४ ॥
सङ्ग्रामानन्दवर्धिष्णौ विग्रहे पुलकाञ्चिते । आसीत्कवचविच्छेदो वीराणां मिलतां मिथः ॥ ५ ॥
निर्दयं खड्गभिन्नेभ्यः कवचेभ्यः समुत्थितैः । आसन्व्योमदिशस्तूलैः पलितैरिव पाण्डुराः ॥ ६ ॥
खड्गा रुधिरसंलिप्ताश्चण्डांशुकरभासुराः । इतस्ततोऽपि वीराणां विद्युतां वैभवं दधुः ॥ ७ ॥
विसृजन्तो मुखैर्ज्वाला भीमा इव भुजङ्गमाः । विसृष्टाः सुभटैः रुष्टैर्व्योम व्यानशिरे शराः ॥ ८ ॥
बाढं वपूंषि निर्भिद्य धन्विनां निघ्नतां मिथः । अशोणितमुखा भूमिं प्राविशन्दूरमाशुगाः ॥ ९ ॥
निर्भिद्य दन्तिनः पूर्वं पातयामासुराशुगाः । पेतुः प्रवरयोधानां प्रीतानामाहवोत्सवे ॥ १० ॥
ज्वलदग्निमुखैर्बाणैर्नीरन्ध्रैरितरेतरम् । उच्चैर्वैमानिका व्योम्नि कीर्णे दूरमपासरन्॥ ११ ॥
विभिन्नं धन्विनां बाणैर्व्यथार्तमिव विह्वलम् । ररास विरसं व्योम श्येनप्रतिरवच्छलात्॥ १२ ॥
चापैराकर्णमाकृष्टैर्विमुक्ता दूरमाशुगाः । अधावन् रुधिरास्वादलुब्धा इव रणैषिणाम्॥ १३ ॥

तदनन्तर इन्द्र और तारक की सेनाएँ परस्पर एक-दूसरे पर भयंकर शस्त्र-अस्त्र की वर्षा करती हुई घोर युद्ध करने लगीं ॥ १ ॥ पैदल से पैदल, रथवालों से रथवाले, घुड़सवारों से घुड़सवार और हाथीसवार हाथीसवारों से जूझने लगे ॥ २ ॥ निडर होकर जो सैनिक वैरियों पर प्रहार कर रहे थे, उन्हें लड़ने को उत्साहित करने के लिए दोनों ओर के चारण उन वीरों के कुल का बड़प्पन बता-बताकर उनकी सराहना कर रहे थे ॥ ३ ॥ परन्तु वे वीर युद्ध में ऐसे जी-जान से लड़ रहे थे कि उन्हें इतना अवकाश ही कहाँ था कि चारणों के मुँह से अपने पराक्रम के गीत सुनते। इसलिए वे बीच-बीच में कभी क्षणभर को रुकते थे, तब चारणों के गीत भी सुन लेते थे ॥ ४ ॥ उन्हें लड़ाई में ऐसा आनन्द मिला कि उत्साह से उनके रोएँ-रोएँ फड़क उठे। जब वे आपस में भिड़ जाते तो उनके कवचों के टाँके तक खुल जाया करते थे ॥ ५ ॥ वहाँ पर सैनिक इतनी करारी तलवार चलाते थे कि कवचों के कट जाने से उनके नीचे बँधी रुई आकाश और दिशाओं में उड़-उड़कर ऐसी फैल गयी कि सब दिशाएँ बूढ़े के बालों सरीखी उजली हो गयीं ॥ ६ ॥ सूर्य की किरणें पड़ने पर जहाँ-तहाँ वीरों के लहू से रंगी तलवारें बिजली की भाँति चमक उठती थीं ॥ ७ ॥ क्रोध में भर-भरकर वीरों ने जो आग उगलते हुए भयंकर साँपों के समान विषैले बाण छोड़े, उनसे सारा आकाश भर गया ॥ ८ ॥ वे दूर से एक-दूसरे पर जो बाणवर्षा कर रहे थे, वे बाण दूसरी ओर के धनुर्धारियों के शरीर को ऐसी शीघ्रता से बींधते हुए पार निकलकर पृथ्वी में जा धँसते थे कि उनमें लहू तक नहीं लगने पाता था ॥ ९ ॥ युद्ध के उस उत्सव में जो बड़े-बड़े योद्धा जी खोलकर लड़ रहे थे, वे बाणों से हाथियों पर ऐसी चोट करते थे कि हाथियों का सिर पहले कटकर गिर जाता था और बाण पीछे गिरता था ॥ १० ॥ जलती हुई लपटोंवाले बाणों की घनी पाँते जब आकाश में भर गयीं तो विमानों पर बैठे हुए देवता वहाँ से दूर हट गये कि कहीं हम भी इनकी लपेट में न आ जायँ ॥ ११ ॥ उन धनुर्धारी सैनिकों ने इतने बाण छोड़े कि आकाश की छाती चलनी हो गयी। इसीलिए आकाश भी जैसे पीड़ा से व्याकुल होकर बाज पक्षी के डरावने शब्दों में रुदन करने लगा ॥ १२ ॥ लड़ाके योद्धाओं ने कानों तक खींच-खींचकर जो बाण छोड़े, वे मानो रुधिर के लोभ से ही बड़ी दूर तक दौड़े चले गये ॥ १३ ॥ संग्राम में वीरों के हाथों की नंगी तलवारें जैसे मतवाली हो-होकर अपनी धार की

गृहीताः पाणिभिर्वीरैर्विकोशाः खड्गराजयः । कान्तिजालच्छलादाजौ व्यहसन्सम्मदादिव ॥
खड्गाः शोणितसन्दिग्धा नृत्यन्तो वीरपाणिषु । रजोघने रणेऽनन्ते विद्युतां वैभवं दधुः ॥ १५ ॥
कुन्ताश्चकाशिरे चण्डमुल्लसन्तो रणार्थिनाम् । जिह्वाभोगा यमस्येव लेलिहाना रथाङ्गणे ॥ १६ ॥
प्रज्वलत्कान्तिचक्राणि चक्राणि वरचक्रिणाम् । चण्डांशुमण्डलश्रीणि रणव्योमनि बभ्रमुः ॥ १७ ॥
केचिद्वीरैः प्रणादैश्च वीराणामभ्युपेयुषाम् । निपेतुः क्षोभतो वाहादपरे मुमुहुर्मदात् ॥ १८ ॥
कश्चिदभ्यागते वीरे जिघांसौ मुदमादधौ । परावृत्य गते क्षुब्धे विषसादाहवप्रियः ॥ १९ ॥
बहुभिः सह युद्ध्वा वा परिभ्रम्य रणोल्बणाः । उद्दिश्य तानुपेयुः केऽपि ये पूर्ववृता रणे ॥ २० ॥
अभितोऽभ्यागतान्योद्धुं वीरान्रणमदोद्धतान् । प्रत्यनन्दन्भुजादण्डरोमोद्गमभृतो भटाः ॥ २१ ॥
शस्त्रभिन्नेभकुम्भेभ्यो मौक्तिकानि च्युतान्यधः । अध्याहवक्षेत्रमुप्तकीर्तिबीजाङ्कुरश्रियम् ॥ २२ ॥
वीराणां विषमैर्घोषैर्विद्रुता वारणा रणे । शास्यमाना अपि त्रासाद्वेजुर्धूताङ्कुशा दिशः ॥ २३ ॥
रणे बाणगणैर्भिन्ना भ्रमन्तो भिन्नयोधिनः । निममज्जुर्मिलद्रक्तनिम्नगासु महागजाः ॥ २४ ॥
अपारेऽसृक्सरित्पूरे रथेषूच्चैस्तरेष्वपि । रथिनोऽभिरिपुं क्रुद्धा हुङ्कृतैर्व्यसृजञ्शरान् ॥ २५ ॥
खड्गनिर्लूनमूर्धानो व्यापतन्तोऽपि वाजिनः । प्रथमं पातयामासुरसिना दारितान्नरीन् ॥ २६ ॥
वीराणां शस्त्रभिन्नानि शिरांसि निपतन्त्यपि । अधावन्दन्तदष्टोष्ठभीमान्यभिरिपुं क्रुधा ॥ २७ ॥
शिरांसि वरयोधानामर्धचन्द्रहृतान्यलम् । आददाना भृशं पादैः श्येना व्यानशिरे नभः ॥ २८ ॥

चमक से ही हँस रही थीं ॥ १४ ॥ उन वीरों के हाथों में नाचनेवाली लहू से तर तलवारें, धूल से पटे तथा दूर तक फैले हुए रणक्षेत्र में बिजली के समान चमकती थीं ॥ १५ ॥ समर में लड़नेवाले वीरों के चमकते हुए भयंकर भाले यमराज की लपलपाती जीभ जैसे दिखलायी पड़ते थे ॥ १६ ॥ चकाचौंध पैदा करनेवाली चमक से घिरे और प्रचंड सूर्यमण्डल जैसे चमकवाले चक्रधारी वीरों के चक्र उस रणरूपी आकाशमंडल में चारों ओर चक्कर काट रहे थे ॥ १७ ॥ जब कोई वीर सामने आता और गरजकर ललकारने लगता था तो अनेक वीर उस ललकार को सुनकर ही घोड़ों से नीचे गिर पडते और कितने हदस के मारे मूर्च्छित हो जाते थे ॥ १८ ॥ अनेक वीरों को तो जब कोई मारने के लिए सामने आता तो वे प्रसन्न हो उठते थे कि चलो, इसी से दो-दो हाथ बज जाय। परन्तु जब वह घबराकर लौट पड़ता, तब उन्हें इस बात का बड़ा दुःख होता था कि हाय, हम लड न सके ॥ १९ ॥ कुछ ऐसे भी लड़ाके थे, जो बहुतों के साथ लड़-भिड और इधर-उधर घूम-घामकर उन वीरों के पास जा पहुँचते थे, जिनसे लडने के लिए उन्होंने पहले से ही ठान ली थी ॥ २० ॥ जब सच्चे लडाकों ने देखा कि रण के लिए मतवाले और लडने के लिए फड़कती बाँहोंवाले वीर चारों ओर आ जुटे हैं तो वे प्रसन्न हुए कि अब जी भरकर लड़ने को तो मिलेगा ॥ २१ ॥ शस्त्रों से कटे हुए हाथियों के मस्तकों से गिरे हुए मोती ऐसे लग रहे थे, जैसे समर के खेत में बोये हुए कीर्ति के अंकुर फूट निकले हों ॥ २२ ॥ उस रण में वीरों की भयानक ललकारों से भागे हाथी हाथीवानों के अंकुश खा-खाकर भी इधर-उधर भाग जाते थे ॥ २३ ॥ जिन हाथियों के हाथीवान् रण में शत्रुओं के बाणों से मर चुके थे, वे हाथी स्वतंत्र घूमते हुए लहू की नदी में नहाकर लाल हो गये ॥ २४ ॥ ऊँचे-ऊँचे रथों पर चढे हुए सैनिक, रुधिरमयी नदी की अपार धारा में डूबते हुए भी कुपित हो-होकर शत्रु पर बाण छोड़ रहे थे ॥ २५ ॥ बहुत-से ऐसे वीर भी थे, जो शत्रु की तलवार से सिर कट जाने पर जब वे अपने घोडों से नीचे गिरते थे तो गिरते-गिरते भी अपनी तलवार से शत्रु का सिर काट लेते थे ॥ २६ ॥ शस्त्रों से कटकर गिरे हुए वीरों के मस्तक कुपित होकर दाँतों से होंठ काटते हुए शत्रु की ओर दौड पड़ते थे ॥ २७ ॥ अर्धचन्द्र बाणों ने जो सिर काटे और जिन्हें अपने पंजों में जकडकर बाज उड़ा ले गये, उन बडे-बडे वीरों के सिरों से सारा आकाश भर गया ॥ २८ ॥

क्रोधादभ्यापतद्दन्तिदन्तारूढाः पदातयः । अश्वारोहा गजारोहप्राणान्प्रासैरपाहरन् ॥ २९ ॥
शस्त्रच्छिन्नगजारोहा विभ्रमन्त इतस्ततः । युगान्तवातचलिताः शैला इव गजा बभुः ॥ ३० ॥
मिलितेषु मिथो योद्धुं दन्तिषु प्रसभं भटाः । अगृह्णन्रुध्यमानाश्च शस्त्रैः प्राणान्परस्परम् ॥ ३१ ॥
रुषा मिथो मिलद्दन्तिदन्तसङ्घर्षजोऽनलः । योधाञ्शस्त्रहृतप्राणानदहत्सहसाऽरिभिः ॥ ३२ ॥
आक्षिप्ता अपि दन्तीन्द्रैः कोपनैः पत्तयः परम् । तदसूनहरन्खड्गघातैः स्वस्य पुरः प्रभोः ॥ ३३ ॥
उत्क्षिप्य करिभिर्दूरान्मुक्तानां योधिनां दिवि । प्रापि जीवात्मभिर्दिव्या गतिर्वा विग्रहैर्महो ॥ ३४ ॥
खड्गैर्धवलधारालैर्निहत्य करिणां करान् । तैर्भुवापि समं विद्धान्सन्तोषं न भटा ययुः ॥ ३५ ॥
आक्षिप्याभिदिवं नीताः पत्तयः करिभिः करैः । दिव्याङ्गनाभिरादातुं रक्ताभिर्द्रुतमीषिरे ॥ ३६ ॥
धन्विनस्तुरगारूढा गजारोहाञ्शरैः क्षतान् । प्रत्यैच्छन्मूर्च्छितान्भूयो योद्धुमाश्वसतश्चिरम् ॥ ३७ ॥
क्रुद्धस्य दन्तिनः पत्तिर्जिघृक्षोरसिना करम् । निर्भिद्य दन्तमुसलावारुरोह जिघृक्षया ॥ ३८ ॥
खड्गेन मूलतो हत्वा दन्तिनो रदनद्वयम् । प्रातिपक्ष्ये प्रविष्टोऽपि पदातिर्निरगाद्द्रुतम् ॥ ३९ ॥
करेण करिणा वीरः सुगृहीतोऽपि कोपिना । असिनाऽसूञ्जहाराशु तस्यैव स्वयमक्षतः ॥ ४० ॥
तुरङ्गी तुरगारूढं प्रासेनाहत्य वक्षसि । पततस्तस्य नाज्ञासीत्प्रासघातं स्वके हृदि ॥ ४१ ॥
द्विषा प्रासहृतप्राणो वाजिपृष्ठदृढासनः । हस्तोद्धृतमहाप्रासो भुवि जीवन्निवाभ्रमत् ॥ ४२ ॥

पैदल और घुड़सवार सैनिकों ने क्रोध से पागल हो तथा सामने पडनेवाले हाथियों के दाँतों पर चढ-चढकर हाथीसवार सैनिकों को अपने भालों से मार डाला ॥ २९ ॥ हाथीसवारों के मार डाले जाने पर उनके स्वतंत्र घूमनेवाले हाथी ऐसे दीख रहे थे, जैसे प्रलयकाल की आँधी से पहाड़ उड़ रहे हों ॥ ३० ॥ जब दो हाथी लड़ने लगते थे तो उन पर बैठे हुए वीर परस्पर लड़कर बलात् एक-दूसरे को मार डालते थे ॥ ३१ ॥ क्रोध से परस्पर लड़नेवाले हाथियों के दाँतों की टक्कर से ऐसी आग निकलती थी कि जिसमें शत्रु के हाथों से मृत सैनिक जल जाते थे ॥ ३२ ॥ पैदल सैनिक तो ऐसे लड़ रहे थे कि यदि उन्हें अत्यन्त क्रुद्ध हाथी अपनी सूँड़ से उठाकर ऊपर उछाल देते थे तो वे अपने स्वामी के समक्ष ही अपनी तलवार के प्रहार से उनको मार डालते थे ॥ ३३ ॥ जिन वीरों को हाथियों ने उछाल दिया था, उनके प्राण तो स्वर्ग चले गये और उन्हें दिव्य गति मिली। केवल उनके शरीर अलबत्ते पृथ्वी पर आ गिरे ॥ ३४ ॥ यद्यपि अपनी उजली धारवाली तलवारों से योद्धा लोग हाथियों की सूँड़ ऐसे झटके से काट रहे थे कि उनकी तलवारें पृथ्वी में धँस जाती थीं, फिर भी उनका जी नहीं भरता था ॥ ३५ ॥ हाथियों की सूँड़ों से उछाले जाने पर जिन वीरों ने वीरगति पायी थी, स्वर्ग में पहुँचे हुए उन सैनिकों को अपना प्रेमी बनाने के लिए देवाङ्गनाएँ उतावली हो उठती थीं ॥ ३६ ॥ जब कोई घुड़सवार धनुर्धारी योद्धा अपने बाणों से किसी हाथीसवार को बाण मारकर मूर्च्छित कर देता था, तब वह बड़ी देर तक यह सोचकर खड़ा रह जाता था कि वह फिर उठे तो उससे युद्ध करें। क्योंकि जो मूर्च्छित हो जाता था, वे उसे नहीं मारते थे ॥ ३७ ॥ एक बिगड़ैल हाथी एक पैदल सैनिक को अपनी सूँड़ में लपेटना चाहता था। इतने में उसने अपनी तलवार का एक हाथ मारकर उसकी सूँड़ काट डाली। फिर उसके दाँत उखाड़ने के लिए वह उसके लम्बे-लम्बे दाँतों पर चढ़कर बैठ गया ॥ ३८ ॥ एक दूसरा पैदल सैनिक शत्रु की सेना में घुसा और अपनी तलवार से एक हाथी के दोनों दाँतों को जड़ से काटकर फिर अपनी सेना में लौट आया ॥ ३९ ॥ क्रोध में भरे हुए एक हाथी द्वारा सूँड़ में कसकर लपेट लिये जाने पर भी एक वीर अपनी तलवार से हाथी को मारकर सकुशल लौट आया ॥ ४० ॥ एक घुड़सवार दूसरे घुड़सवार की छाती में भाला भोंककर इतना प्रसन्न हुआ कि जब उस घोड़े से गिरते हुए सैनिक ने उछलकर उस पर भाला चलाया तो उसे यह पता ही नहीं चला कि मुझे भी चोट लगी है ॥ ४१ ॥ हाथ में भारी भाला लेकर घोड़े की पीठ पर

तुरङ्गसादिनं शस्त्रहृतप्राणं गतं भुवि । अबद्धोऽपि महावाजी न साश्रुनयनोऽत्यजत् ॥ ४३ ॥
भल्लेन शितधारेण भिन्नोऽपि रिपुणाश्वगः । नामूर्च्छत्कोपतो हन्तुमियेष प्रपतन्नपि ॥ ४४ ॥
मिथः प्रासाहतौ वाजिच्युतौ भूमिगतौ रुषा । शस्त्र्या युयुधतुः कौचित्केशाकेशि भुजाभुजि ॥४५॥
रथिनो रथिभिर्बाणैर्हृतप्राणा दृढासनाः । क्षतकार्मुकसन्धानाः सप्राणा इव मेनिरे ॥ ४६ ॥
न रथी रथिनं भूयः प्राहरच्छस्त्रमूर्च्छितम् । प्रत्याश्वसन्तमन्विच्छन्नातिष्ठद्युधि लोभतः ॥ ४७ ॥
अन्योन्यं रथिनौ कौचिद्‌गतप्राणौ दिवं गतौ । एकामप्सरसं प्राप्य युयुधाते वरायुधौ ॥ ४८ ॥
मिथोऽर्धचन्द्रनिर्लूनमूर्धानौ रथिनौ रुचा । खेचरौ भुवि नृत्यन्तौ स्वकबन्धावपश्यताम् ॥ ४९ ॥

रणाङ्गणे शोणितपङ्कपिच्छिले कथं कथञ्चिन्ननृतुर्धृतायुधाः ।
नदत्सु तूर्येषु परेतयोषितां गणेषु गायत्सु कबन्धराजयः ॥ ५० ॥

इति सुररिपुर्वृत्ते युद्धे सुरासुरसैन्ययो रुधिरसरितां मज्जद्दन्तिव्रजेषु तटेष्वलम् ।
अरुणनयनः क्रोधाद्भीमभ्रमद्भ्रुकुटीमुखः सपदि ककुभामीशानभ्यागमत्स युयुत्सया ॥ ५१ ॥

इति महाकविकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये सुरासुरसैन्य-
सङ्ग्रामवर्णनं नाम षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

जमकर बैठा हुआ एक सैनिक शत्रु के भाल से मारे जाने पर भी ऐसा लग रहा था, जैसे वह अभी जीवित ही हो ॥ ४२ ॥ किसी शस्त्र की चोट से एक घुडसवार पृथ्वी पर मरा पड़ा था, उसका बड़ा-सा घोड़ा आँसूभरी आँखों से अपने स्वामी को देखता हुआ वहीं खडा रह गया, हटा नहीं ॥ ४३ ॥ एक क्रुद्ध घुड़सवार शत्रु के तीखे भाले की मार खाकर लडखडाता हुआ भी मूर्च्छित नहीं हो रहा था। वह चाहता था कि शत्रु मिले तो मैं उसे अभी मार डालूँ ॥ ४४ ॥ दो घुडसवार आपस में एक-दूसरे के भाले की मार से घायल होकर भूमि में गिर करके भी क्रोधपूर्वक एक-दूसरे के बाल तथा भुजा से भुजा पकड़कर छुरियाँ लेकर लड़ रहे थे ॥ ४५ ॥ एक रथी योद्धा को दूसरे रथवाले ने मार डाला। फिर भी वह अपने टूटे धनुष को खींचे रथ पर मरकर भी ऐसा जमकर बैठा था, मानो अभी जीता ही हो ॥ ४६ ॥ एक रथी सैनिक ने दूसरे रथी को शस्त्र से मूर्च्छित कर दिया, परन्तु उस पर पुनः प्रहार न करके वह देखने लगा कि यह सचेत हो तो फिर लड़ूँ ॥ ४७ ॥ दो रथी एवं श्रेष्ठ शस्त्रधारी योद्धा एक-दूसरे को मारकर जब स्वर्ग में पहुँचे, तब वहाँ वे दोनों एक अप्सरा के लिए आपस में लड़ने लगे ॥ ४८ ॥ अर्द्धचन्द्र बाणों से एक-दूसरे का सिर काटकर दो रथी स्वर्ग में जा पहुँचे और वहाँ से वे अपने उन धड़ों का खेल देखने लगे, जो बहुत देर तक हाथ में तलवार लिये युद्धभूमि में नाच रहे थे ॥ ४९ ॥ उस युद्धभूमि में जहाँ-तहाँ नगाडे बज रहे थे और भूत-प्रेतों की स्त्रियाँ गीत गा रही थीं। वहाँ पर लहू के कीचड से इतनी फिसलन हो गयी थी कि शस्त्र लिये हुए वीरों के धड बड़ी कठिनाई से नाच पाते थे ॥ ५० ॥ इस प्रकार जब देव-दानवों में तुमुल युद्ध होने लगा और लहू की नदी के तट पर ही लोग डूबने लगे, तब देवताओं का शत्रु तारक क्रोध से भौंहें नचाता हुआ लाल-लाल आँखें करके युद्ध करने के लिए तुरन्त इन्द्र आदि दिक्पालों के समक्ष आया ॥ ५१ ॥

इस प्रकार महाकविकालिदासरचित कुमारसम्भवमहाकाव्य में देवताओं और दैत्यों की सेनाओं का युद्ध नामक सोलहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १६ ॥

सप्तदशः सर्गः

दृष्ट्वाभ्युपेतमथ दैत्यपतिं पुरस्तात् सङ्ग्रामकेलिकुतुकेन घनप्रमोदम्।
योद्धुं मदेन मिमिलुः ककुभामधीशा बाणान्धकारितदिगम्बरगर्भमेत्य॥ १॥
देवद्विषां परिवृढो विकटं विहस्य बाणावलीभिरमरान्विकटान् ववर्ष।
शैलानिव प्रवरवारिधरो गरिष्ठानद्भिः पराभिरथ गाढमनारताभिः॥ २॥
जम्भद्विषत्प्रभृतिदिक्पतिचापमुक्ता बाणाः शिता दनुजनायकबाणसङ्घान्।
अह्नाय तार्क्ष्यनिवहा इव नागपूगान् सद्यो विचिच्छिदुरलं कणशो रणान्ते॥ ३॥
तान् प्रज्वलत्फलमुखैर्विषमैः सुरारिनामाङ्कितैः पिहितदिग्गगनान्तरालैः।
आच्छादितस्तृणचयानिव हव्यवाहश्चिच्छेद सोऽपि सुरसैन्यशराञ्शरौघैः॥ ४॥
दैत्येश्वरो ज्वलितरोषविशेषभीमः सद्यो मुमोच युधि यान्विशिखान्सहेलः।
ते प्रापुरुद्भटभुजङ्गमभीमभावं गाढं बबन्धुरपि ताँस्त्रिदशेन्द्रमुख्यान्॥ ५॥
ते नागपाशविशिखैरसुरेण बद्धाः श्वासानिलाकुलमुखा विमुखा रणस्य।
दिङ्नायका बलरिपुप्रमुखाः स्मरारिसूनोः समीपमगमन् विपदन्तहेतोः॥ ६॥
दृष्टिप्रपातवशतोऽपि पुरारिसूनोस्ते नागपाशघनबन्धविपत्तिदुःखात्।
इन्द्रादयो मुमुचिरे स्वयमस्य देवाः सेवां व्यधुर्निकटमेत्य महाजिगीषोः॥ ७॥
उद्दीप्तकोपदहनोऽथ सुरेन्द्रशत्रुरह्नाय सारथिमवोचत चण्डबाहुः।
बद्धा मया सुरपतिप्रमुखाः प्रसह्य बालस्य धूर्जटिसुतस्य निरीक्षणेण॥ ८॥

जिस दैत्यराज तारक के रोम-रोम लड़ाई के लिए फड़क रहे थे और जिसने धुआँधार बाण बरसाकर धरती और आकाश में सर्वत्र अँधेरा कर दिया था, उसे आता देख सब दिक्पाल मतवाले होकर एक साथ उससे जूझने के लिए रणभूमि में डट गये॥ १॥ जैसे सावन-भादों की घटाएँ निरन्तर जल बरसाकर बड़े-बड़े पहाड़ों को नीचे से ऊपर तक भिंगो देती हैं, वैसे ही देवताओं का शत्रु तारक भी बड़ी डरावनी हँसी हँसता हुआ देवताओं पर भयंकर रूप से धुआँधार बाण-वर्षा करने लगा॥ २॥ उस रणभूमि में इन्द्र आदि देवता जितने तीखे-तीखे बाण छोड़ते थे, उन्हें चुन-चुनकर दैत्यराज के बाण उतनी ही फुर्ती से काटते चले जा रहे थे, जैसे अनेक गरुड़ मिलकर साँपों के झुण्ड को काटते जा रहे हों॥ ३॥ देवताओं ने उस पर जो बाणों की झड़ी लगायी, उसे उसने अपने नाम खुदे हुए, आग के समान प्रज्ज्वलित, तीखे फलवाले, सब दिशाओं तथा आकाश को भर देनेवाले बाणों से उसी प्रकार नष्ट कर दिया, जैसे अपने ऊपर पड़े हुए घास-फूस को धधकती हुई आग जला देती है॥ ४॥ क्रोध से लाल उस भयंकर दैत्य ने उस युद्ध को कुछ न समझते हुए जो बाण छोड़े, वे तुरंत साँपों की भाँति भीषण बनकर इन्द्र आदि देवताओं के गलों में जा लिपटे॥ ५॥ गले में उस दैत्य के बाणों की फाँसी पड़ जाने पर इन्द्रादि दिक्पालों की साँसें घुटने लगीं और वे लड़ना-भिड़ना छोड़-छोड़कर इस विपत्ति से छुटकारा पाने के लिए शंकरपुत्र कात्तिकेय के पास जा पहुँचे॥ ६॥ कात्तिकेय ने उनकी ओर देखते ही इन्द्र आदि देवताओं के गले में कसे हुए वे नाग-फाँस के फन्दे स्वतः खुल गये। तब वे सब देवता कात्तिकेय के पास जा-जाकर उनकी सराहना करने लगे, जो दैत्यों को जीतने के लिए उद्यत थे॥ ७॥ उस बड़ी-बड़ी भुजाओंवाले तारक ने जब यह सब देखा, तब वह क्रोध से जल उठा और उसने तुरन्त सारथी से कहा कि मैंने

मुक्ता बभूवुरधुना तदिमान् विहाय कर्तास्म्यमुं समरभूमिपशूपहारम्।
तत्स्यन्दनं सपदि वाहय शम्भुसूनुं द्रष्टाऽस्मि दर्पितभुजावलमाहवाय॥ ९ ॥
तत्स्यन्दनः सपदि सारथिसम्प्रणुन्नः प्रक्षुब्धवारिधरधीरगभीरघोषः।
चण्डश्चचाल दलिताखिलशत्रुसैन्यमांसास्थिशोणितविपङ्कविलुप्तचक्रः॥ १० ॥
दृष्ट्वा रथं प्रलयवातचलद्गिरीन्द्रकल्पं दलद्बलविरावविशेषरौद्रम्।
अभ्यागतं सुरारिपोः सुरराजसैन्यं क्षोभं जगाम परमं भयवेपमानम्॥ ११ ॥
प्रक्षुभ्यमाणमवलोक्य दिगीशसैन्यं शम्भोः सुतं कलहकेलिकुतूहलोत्कम्।
उद्दामदोःकलितकार्मुकदण्डचण्डः प्रोवाच वाचमुपगम्य स कार्तिकेयम्॥ १२ ॥
रे शम्भुतापसशिशो! बत मुञ्च मुञ्च दोर्दर्पमत्र विरम त्रिदिवेन्द्रकार्यात्।
शस्त्रैः किमत्र भवतोऽनुचितैरतीव बालत्वकोमलभुजातुलभारभूतैः॥ १३ ॥
एवं त्वमेव तनयोऽसि गिरीशगौर्योः किं यासि कालविषयं विषमैः शरैर्मे।
सङ्ग्रामतोऽपसर जीव पितुर्जनन्यास्तूर्णं प्रविश्य वरमङ्कतलं विधेहि॥ १४॥
सम्यक्स्वयं किल विमृश्य गिरीशपुत्र! जम्भद्विषोऽस्य जहिहि प्रतिपक्षमाशु।
एष स्वयं पयसि मज्जति दुर्विगाह्ये पाषाणनौरिव निमज्जयते पुरा त्वाम्॥ १५ ॥
इत्थं निशम्य वचनं युधि तारकस्य कम्पाधरो विकचकोकनदारुणाक्षः।
क्षोभात्त्रिलोचनसुतो धनुरीक्षमाणः प्रोवाच वाचमुचितां परिमृश्य शक्तिम्॥ १६ ॥

जिन इन्द्र आदि बड़े-बड़े देवताओं को फंदे में फाँस लिया था, वे सब कार्त्तिकेय के देखनेमात्र से छुटकारा पा गये हैं। अतएव इन सबको छोड़कर मैं पहले कार्तिकेय को गिद्ध-सियार आदि की भेंट करता हूँ। सो तुम तुरन्त रथ बढ़ाकर उस शिवपुत्र के पास मुझे पहुँचाओ। जिससे मैं भी तो देखूँ कि मुझसे लड़ने के लिए वह अपनी किन भुजाओं के बल पर इतना अकड रहा है॥ ८-९॥ तभी सारथी ने ऐसे वेग से रथ को हाँका कि वह प्रलय के उमडे हुए वादलों सदृश घडघडाता हुआ भयंकर रूप से चला। रण में इतने शत्रु-सैनिक कटकर गिरे हुए थे कि उनके मांस, हड्डी और लहू के कीचड में उस रथ के पहिये तक धँस गये॥ १०॥ इस तरह चलता हुआ वह रथ ऐसा लगता था कि मानो प्रलय की आँधी में हिमालय उडता चला जा रहा हो। देवताओं की सेना के जो सैनिक उसके नीचे पिसे जा रहे थे, उनके चीत्कार से वह और भी भयंकर हो गया था। जब वह रथ देवताओं के एकदम पास आ गया, तब तो उसे देखकर देवताओं की सेना भय से काँप उठी॥ ११॥ घबड़ाई हुई देवताओं की सेना को देखता और अपनी भारी-भारी भुजाओं में प्रचण्ड धनुष पकड़े हुए तारक उन कार्त्तिकेय के पास जा पहुँचा, जो मानो उससे लड़ने के लिए अधीर हो रहे थे। वहाँ पहुँचकर तारक ने कार्त्तिकेय से कहा—॥ १२॥ हे तपस्वी शंकर के पुत्र! तुम अपनी भुजाओं के वल पर घमंड मत करो और इन देवताओं का साथ छोड़ दो। कहाँ तुम्हारी ये छोटी-छोटी कोमल भुजाएँ और कहाँ ये भारी-भारी अस्त्र। ये तुम्हारे हाथ में नहीं जँचते॥ १३॥ पार्वती और शंकर के इकलौते पुत्र होकर तुम मेरे तीक्ष्ण बाणों से विंधकर काल के गाल में क्यों जाना चाहते हो? रण से भागकर अपने प्राण बचाओ और तुरन्त जाकर अपने माता-पिता की गोद में छिपे रहो॥ १४॥ हे कार्त्तिकेय! अपना भला-बुरा स्वयं सोचते हुए तुम इन्द्र का साथ छोडकर अलग हो जाओ। क्योंकि मैं जब इस पर बाणवर्षा करने लगूँगा, तब पत्थर की नाव के समान यह स्वयं तो गहरे जल में डूबेगा ही, साथ ही तुम्हें भी ले बीतेगा॥ १५॥ तारक की बातें सुनकर क्रोध से कार्त्तिकेय के ओठ काँपने लगे और खिले हुए लाल कमल के समान उनकी भयानक लाल-लाल आँखें नाचने लगीं। बड़े क्रोध से अपने धनुष की ओर देखते हुए अपना पराक्रम समझकर उन्होंने तारकासुर

दैत्याधिराज! भवता यदवादि गर्वात्तत्सर्वमप्युचितमेव तवैव किं तु।
द्रष्टाऽस्मि ते प्रवरबाहुबलं वरिष्ठं शस्त्रं गृहाण कुरु कार्मुकमाततज्यम्॥ १७॥
इत्युक्तवन्तमवदत्त्रिपुरारिपुत्रं दैत्यः क्रुधौष्ठमधरं किल निर्विभिद्य।
युद्धार्थमुद्भटभुजाबलदर्पितोऽसि बाणान् सहस्व मम सादितशत्रुपृष्ठान्॥ १८॥
दुःप्रेक्षणीयमरिभिर्धनुराततज्यं सद्यो विधाय विषमान्विशिखान् न्यधत्त।
स क्रोधभीमभुजगेन्द्रनिभं स्वचापं चण्डं प्रपञ्चयति जैत्रशरैः कुमारे॥ १९॥
कर्णान्तिमेत्य दितिजेन विकृष्यमाणं कोदण्डमेतदभितः सुषुवे शरौघान्।
व्योमाङ्गणे लिपिकरान् किरणप्ररोहैः सान्द्रैरशेषककुभां पलितङ्करिष्णून्॥ २०॥
बाणैः सुरारिधनुषः प्रसृतैरनन्तैर्निर्घोषभीषितभटो लसदंशुजालैः।
अन्धीकृताखिलसुरेश्वरसैन्य ईशसूनुः कुतोऽपि विषयं न जगाम दृष्टेः॥ २१॥
देवेन मन्मथरिपोस्तनयेन गाढमाकर्णकृष्टमभितो धनुराततज्यम्।
बाणानसूत निशितान्युधि यान्सुजैत्रास्तैः सायका बिभिदरे सहसा सुरारेः॥ २२॥
रेजे सुरारिशरदुर्दिनके निरस्ते सद्यस्तरां निखिलखेचरखेदहेतौ।
देवः प्रभाप्रभुरिव स्मरशत्रुसूनुः प्रद्योतनः सुघनदुर्धरधामधामा॥ २३॥
तत्राथ दुःसहतरं समरे तरस्वी धामाधिकं दधति धीरतरं कुमारे।
मायामयं समरमाशु महासुरेन्द्रो मायाप्रचारचतुरो रचयाञ्चकार॥ २४॥
अह्नाय कोपकलुषो विकटं विहस्य व्यर्था समर्थ्य वरशस्त्रयुधं कुमारे।
जिष्णुर्जगद्विजयदुर्ललितः सहेलं वायव्यमस्त्रमसुरो धनुषि न्यधत्त॥ २५॥

से कहा—॥ १६॥ हे दैत्यराज! घमण्ड में चूर होकर तूमने जो कुछ कहा है, वह तुम्हें कहना ही चाहिए था। किन्तु आज मुझे भी तुम्हारी इन बड़ी-बड़ी भुजाओं के बल की थाह लेने की इच्छा हो आयी है। अतएव अपने शस्त्र उठा लो और धनुष पर डोरी चढाओ॥ १७॥ यह सुना तो तारक ने क्रुद्ध होकर कार्तिकेय पर क्रोध के कारण दाँतों से ओठ चबाते हुए कहा—यदि तुम्हें युद्ध के लिए अपनी प्रचण्ड भुजाओं का इतना घमण्ड है तो आओ और शत्रुओं की पीठ चलनी बना देनेवाले मेरे बाणों की चोट सहो॥ १८॥ जैसे साँप क्रोध से पागल हो जाता है, वैसे ही क्रुद्ध कार्तिकेय अपने धनुष पर विजयी और भयङ्कर बाण चढा ही रहे थे कि इतने में तारक ने ऐसी फुर्ती के साथ धनुष चढाकर वह बाण रखा, जिसकी ओर देखने में भी शत्रु घबराते थे॥ १९॥ अपनी चमक से आकाश को जगमगाकर सब दिशाओं को चमका देनेवाले बाण अपने धनुष पर चढा-चढ़ा और धनुष को कान तक तान-तानकर वह तारकासुर बाण छोड़ने लगा॥ २०॥ उसके धनुष से छूटकर चमचमाते हुए अनगिनत बाणों की भयंकरता देखकर सब देवसैनिक काँप उठे, सब देवताओं के आगे अँधेरा छा गया और स्वयं कार्तिकेय को भी थोड़ी देर तक कुछ नहीं दिखलायी पड़ा॥ २१॥ बाद में कार्तिकेय ने भी पूरे बल के साथ धनुष की डोरी कान तक खींचकर अपने तीखे और जीतनेवाले बाण बरसाकर तारक के बाणों को काट डाला॥ २२॥ सब देवताओं को दुःखदायिनी तारक के बाणों की घटा फट जाने पर शंकरजी के पुत्र कार्तिकेय अपने घने और अपार तेज के कारण सूर्य के समान चमकते हुए शोभित होने लगे॥ २३॥ युद्ध में कार्तिकेय का ऐसा प्रबल प्रताप देखकर कपटविद्या से युद्ध करने में चतुर और बलवान् तारक ने तुरन्त मायामय युद्ध आरम्भ कर दिया॥ २४॥ जिस विजयी तारकासुर ने सारे संसार को वश में कर लिया था, उसने जब यह समझा कि और अस्त्रों से कुमार के साथ लड़ने में मैं न जीतूँगा, तब उसने क्षुब्ध होकर अन्धड़ चलानेवाले वायव्य नाम का बाण धनुष पर चढाया॥ २५॥ उस बाण को धनुष पर चढ़ाते ही बड़े

सन्धानमात्रमपि यस्य युगान्तकालभूतभ्रमं परुषभीषणघोरघोषः।
उद्धूतधूलिपटलैः पिहिताम्बराशः प्रच्छन्नचण्डकिरणो व्यसरत् समीरः॥ २६॥
कुन्दोज्ज्वलानि सकलातपवारणानि धूतानि तेन मरुता सुरसैनिकानाम्।
उड्डीयमानकलहंसकुलोपमानि मेघाभधूलिमलिने नभसि प्रसस्रुः॥ २७॥
विध्वस्य तेन सुरसैन्यमहापताका नीता नभस्तलमलं नवमल्लिकाभाः।
स्वर्गापगाजलमहौघसहस्रलीलां व्यातेनिरे दिवि सिताम्बरकैतवेन॥ २८॥
धूतानि तेन सुरसैन्यमहागजानां सद्यः शतानि विधुराणि दलत्कुथानि।
पेतुः क्षितौ कुपितवासववज्रलूनपक्षस्य भूधरकुलस्य तुलां वहन्ति॥ २९॥
तास्ताः खरेण मरुता रथराजयोऽपि दोधूयमाननिपतिष्णुतुरङ्गमाश्च।
विस्रस्तसारथिकुलप्रवराः समन्ताद् व्यावृत्य पेतुरवनौ सुरवाहिनीनाम्॥ ३०॥
हित्वाऽऽयुधानि सुरसैन्यतुरङ्गवाहा वातेन तेन विधुराः सुरसैन्यमध्ये।
शस्त्राभिघातमनवाप्य निपेतुरुर्व्यां स्वीयेषु वाहनवरेषु पतत्सु सत्सु॥ ३१॥
तेनाहतास्त्रिदशसैन्यपदातयोऽपि स्रस्तायुधाः सुविधुराः परुषं रसन्तः।
वात्याविवर्तदलवद्भ्रममेत्य दूरं निष्पेतुरम्बरतलाद्वसुधातलेऽस्मिन्॥ ३२॥
इत्थं विलोक्य सुरसैन्यमथो अशेषं दैत्येश्वरेण विधुरीकृतमस्त्रयोगात्।
स्वर्लोकनाथकमलाकुशलैकहेतुर्दिव्यं प्रभावमतनोदतनुः स देवः॥ ३३॥
तेनोज्झितं सकलमेव सुरेन्द्रसैन्यं स्वास्थ्यं प्रपद्य पुनरेव युधि प्रवृत्तम्।
दृष्ट्वाऽसृजद्दहनदैवतमस्त्रमिद्धमुद्दीप्तकोपदहनः सहसा सुरारिः॥ ३४॥

वेग से घड़घड़ाती हुई आँधी चलने लगी, जिससे लोग यह समझने लगे कि अब प्रलय आ गया। उसकी धूल से आकाश और सब दिशाएँ भर गयीं और प्रचण्ड किरणोंवाले सूर्य भी छिप गये॥ २६॥ देवसैनिकों के जो कुन्द के फूल सदृश श्वेत छत्र थे, उन्हें उस भयंकर अन्धड ने इस तरह झकझोर कर उड़ा दिया कि वे मेघ के समान धूल से भरे आकाश में उड़ते हुए राजहंस जैसे दीखने लगे॥ २७॥ उस अन्धड़ ने देवसेना की सब ध्वजाओं और पताकाओं को नवविकसित चमेली के फूल की तरह तोड-ताड़कर आकाश में उड़ा दिया। आकाश में उडती हुई उजले वस्त्र की वे पताकाएँ ऐसी दीख रही थीं, मानों उस अन्धड़ ने आकाश-गंगा की उछलती हुई सहस्रों लहरियाँ बिखेर दी हों॥ २८॥ उस भयंकर अंधड़ के झोंके में पड़ी देवसेना के जो अनेक बड़े-बड़े हाथी अपनी झूलें मसलते हुए देखते-देखते लड़खड़ाकर गिरते जा रहे थे। वे ऐसे दीखते थे, मानो इन्द्र के वज्र से पंख कट जाने पर बहुत-से पहाड पृथ्वी पर लुढ़क रहे हों॥ २९॥ उस प्रचण्ड आँधी के लपेट में पड़कर देवसेना के असंख्य घोडे लड़खड़ाकर गिरने लगे। सारथी भी इधर-उधर जा गिरे और और उनके रथ भी इधर-उधर चक्कर लगा-लगाकर उलट-पुलट गये॥ ३०॥ उस भीषण आँधी की झकोरें खाकर देवमेना के घुडसवार इतने घबड़ा गये कि अपने अस्त्र-शस्त्र देवसेना पर ही फेंकने लगें और बिना किसी शस्त्र की चोट खाये ही अपने उन घोड़ों की पीठ से गिरने लगे, जो अन्धड़ के झोंके में लुढ़कते जा रहे थे॥ ३१॥ तारक के उस वायव्य अस्त्र से देवसेना के पैदल सैनिक भी इतने घबरा गये कि वे अपने-अपने शस्त्र डाल तथा व्याकुल होकर रोने-चिल्लाने लगे और ववण्डर की भाँति चक्कर खाते हुए दूर तक आकाश में उड़-उड़कर फिर धरती पर आकर गिरने लगे॥ ३२॥ दैत्यराज तारक ने जो वायव्य-अस्त्र चलाया था, उससे देवसेना को इस प्रकार नष्ट होते देखकर स्वर्ग की राजलक्ष्मी के रक्षक कार्तिकेय ने अपना अनोखा और बड़ा भारी प्रभाव दिखलाना आरम्भ कर दिया॥ ३३॥ उन्होंने ऐसा कुछ किया कि जिससे देवसेना पर छाया हुआ अन्धड़ दूर हो

वर्षातिकालजलदद्युतयो नभोऽन्ते गाढान्धकारितदिशो घनधूमसङ्घाः।
सद्यः प्रसप्नुरसितोत्पलदामभासो दृग्गोचरत्वमखिलं न हि सन्नयन्तः॥ ३५॥
दिक्चक्रवालगिलनैर्मलिनैस्तमोभिर्लिप्तं नभःस्थलमलं घनवृन्दसान्द्रैः।
धूमैर्विलोक्य मुदिताः खलु राजहंसा गन्तुं सरः सपदि मानसमीषुरुच्चैः॥ ३६॥
जज्वाल वह्निरतुलः सुरसैनिकेषु कल्पान्तकालदहनप्रतिमः समन्तात्।
आशामुखानि विमलान्यखिलानि लीलाजालैरलं कपिलयन्सकलं नभोऽपि॥ ३७॥
उज्जागरस्य दहनस्य निरर्गलस्य ज्वालावलीभिरतुलाभिरनारताभिः।
कीर्णं पयोदनिवहैरिव धूमसङ्घैर्व्योमाभ्यलक्ष्यत कुलैस्तडितामिवोच्चैः॥ ३८॥
गाढाद्भयाद्वियति विद्रुतखेचरेण दीप्तेन तेन दहनेन सुदुःसहेन।
दन्दह्यमानमखिलं सुरराजसैन्यमत्याकुलं शिवसुतस्य समीपमाप॥ ३९॥
इत्यग्निना घनतरेण ततोऽभिभूतं तद्देवसैन्यमखिलं विकलं विलोक्य।
सस्मेरवक्त्रकमलोऽन्धकशत्रुसूनुर्बाणासनेन समधत्त स वारुणास्त्रम्॥ ४०॥
घोरान्धकारनिकरप्रतिमो युगान्तकालानलप्रबलधूमनिभो नभोऽन्ते।
गर्जारवैर्विघटयन्नवनीधराणां शृङ्गाणि मेघनिवहो घनमुज्जगाम॥ ४१॥
विद्युल्लता वियति वारिदवृन्दमध्ये गम्भीरभीषणरवैः कपिशीकृताशा।
घोरा युगान्तचलितस्य भयङ्कराऽथ कालस्य लोलरसनेव चमच्चकार॥ ४२॥
कादम्बिनी विरुरुचे विषकण्ठिकाभिरुत्तालकालरजनीजलदावलीभिः।
व्योम्न्युच्चकैरचिररुक्परिदीपितांशा दृष्टिच्छदा विषमघोषविभीषणा च॥ ४३॥

गया और सारी सेना हरी-भरी और नयी-सी होकर फिर लड़ने लगी। यह देखा तो तारक क्षुब्ध हो उठा और उसने आग बरसानेवाला अग्निबाण चलाया॥ ३४॥ तब बरसात के काले-काले बादलों की तरह और नीलकमल के झुण्ड के समान काला-काला घना धुआँ चारों ओर ऐसा फैल गया कि कहीं कुछ दीखता ही नहीं था॥ ३५॥ घने बादलों के समान काले-काले धुएँ से जब सारा आकाश भर गया तो राजहंसों को यह भ्रम हो गया कि बरसात आ गयी और वे प्रसन्न मन से मानसरोवर जाने को तैयार हो गये॥ ३६॥ इतने में देवसेना के भीतर प्रलयाग्नि के समान ऐसी भयानक आग भभक उठी कि उसकी लपटों से सारा आकाश और दिशाएँ पीली पड़ गयीं॥ ३७॥ अनवरत धधक-धधककर जलती हुई आग की बड़ी-बड़ी लपटों और ऊपर फैले हुए काले-काले धुएँ से भरा हुआ आकाश ऐसा दीखने लगा कि जैसे वह ऊँचे-ऊँचे बादलों और बिजलियों से भर गया हो॥ ३८॥ आकाश में फैली हुई उस धधकती आग की लपटों में झुलसकर लोग इधर-उधर भागने लगे और बुरी तरह झुलसी हुई देवसेना बहुत घबराकर फिर शिवतनय कार्त्तिकेय के पास जा पहुँची॥ ३९॥ भयङ्कर आग से झुलसती हुई देवसेना को देखकर कार्तिकेय ने हँसकर धनुष पर वह वारुणास्त्र चढ़ाया, जो पानी बरसाता था॥ ४०॥ उस अस्त्र के चलाते ही भयंकर अँधेरा छा गया और प्रलय की आग से उठे हुए धुएँ के समान काली-काली घटाएँ आकाश में घिर आयीं, जिनकी गरज से पहाड़ों की चोटियों तक में दरारें पड़ गयीं॥ ४१॥ उन बादलों से बड़ी भयानक घड़घड़ाहट के साथ ऐसी भयङ्कर बिजली तड़पी कि उसकी चमक से सब दिशाएँ पीली पड़ गयीं। उस समय वह बिजली ऐसी लगती थी कि जैसे प्रलयकाल में काल की लपलपाती हुई भयंकर जीभ हो॥ ४२॥ बिजली की चमक से सब दिशाओं में चकाचौंध उत्पन्न कर देनेवाली, भीषण गर्जन से भरी, भयंकर प्रलयकालीन बादलों के समान काली और जल से भरी घटाएँ आकाश

व्योम्नस्तलं पिदधतां ककुभां मुखानि गर्जारवैरविरतैस्तुदतां मनांसि।
अम्भोभृतामतितरामनणीयसीभिर्धारावलीभिरभितो ववृषे समूहैः॥४४॥
घोरान्धकारपटलैः पिहिताम्बराणां गम्भीरगर्जनरवैर्व्यथितासुराणाम्।
वृष्ट्या तया जलमुचां वरुणास्त्रजानां विश्वोदरम्भरिरपि प्रशशाम वह्निः॥४५॥
दैत्योऽपि रोषकलुषो निशितैः क्षुरप्रैराकर्णकृष्टधनुरुत्पतितैः स भीमैः।
तद्भीतिविद्रुतसमस्तसुरेन्द्रसैन्यो गाढं जघान मकरध्वजशत्रुसूनुम्॥४६॥
देवोऽपि दैत्यविशिखप्रकरं सचापं बाणैश्चकर्त कणशो रणकेलिकारी।
योगीव योगविधिशुष्कमना यमाद्यैः सांसारिकं विषयसङ्गममोघवीर्यम्॥४७॥
भ्रूभङ्गभीषणमुखोऽसुरचक्रवर्ती सन्दीप्तकोपदहनोऽथ रथं विहाय।
क्रीडत्करालकरवालकरोऽसुरेन्द्रस्तं प्रत्यधावदभितस्त्रिपुरारिसूनुम्॥४८॥
अभ्यापतन्तमसुराधिपमीशपुत्रो दुर्वारबाहुविभवं सुरसैनिकैस्तम्।
दृष्ट्वा युगान्तदहनप्रतिमां मुमोच शक्तिं प्रमोदविकसद्वदनारविन्दः॥४९॥
उद्द्योतिताम्बरदिगन्तरमंशुजालैः शक्तिः पपात हृदि तस्य महासुरस्य।
हर्षाश्रुभिः सह समस्तदिगीश्वराणां शोकोष्णबाष्पसलिलैः सह दानवानाम्॥५०॥
शक्त्या हृतासुमसुरेश्वरमापतन्तं कल्पान्तवातहतभिन्नमिवाद्रिशृङ्गम्।
दृष्ट्वा प्ररूढपुलकाञ्चितचारुदेहा देवाः प्रमोदमगमंस्त्रिदशेन्द्रमुख्याः॥५१॥
यत्रापतत् स दनुजाधिपतिः परासुः संवर्तकालनिपतच्छिखरीन्द्रतुल्यः।
तत्रादधात् फणिपतिर्धरणीं फणाभिस्तद्भूरिभारविधुराभिरधोव्रजन्तीम्॥५२॥

में इस प्रकार अन्धेरा करके छा गयीं कि आँखों से कुछ सूझता ही नहीं था॥४३॥ आकाश में छायी हुई और लगातार गरज-गरजकर लोगों का दिल दहलाती हुई वे घटाएँ मूसलाधार जल बरसाने लगीं॥४४॥ कार्तिकेय द्वारा चलाये हुए वारुणास्त्र से अँधेरा करके आकाश को छिपा देने और अपनी कड़क से दैत्यों को कँपा देनेवाले बादल छा गये। उनकी वर्षा से संसारभर में फैल जानेवाली आग बुझ गयी॥४५॥ तब क्रोध से लाल तारक ने कान तक खींचकर-खींचकर पैने और चमचमाते छुरोंवाले भयंकर बाण बरसाते हुए देवसेना को डरा तथा तितर-बितर करके कार्तिकेय पर भी करारा प्रहार किया॥४६॥ कार्तिकेय ने भी खेल-खेल में ही तारक के धनुष और बाण कण-कण करके इस प्रकार काटकर गिरा दिये, जैसे योगी लोग यम-नियम आदि योगविधियों से अपने मन की वासनाएँ मिटा डालते हैं॥४७॥ यह देखकर दैत्यराज तारक अपनी तनी हुई भौंहों के कारण और भी भयंकर दिखलायी देने लगा। अब वह दैत्य रथ छोड़ तथा हाथ में लपलपाती हुई भयंकर तलवार लेकर कार्तिकेय पर झपटा॥४८॥ कार्तिकेय ने जब देखा कि भयंकर तारक मुझ पर झपट रहा है और देवताओं के सैनिकों द्वारा हराये नहीं हारता, तब उन्होंने हँसकर प्रलय की अग्नि के समान भयंकर अपना शक्ति-अस्त्र उस पर फेंका॥४९॥ अपनी चमक से सब दिशाओं को चमकानेवाला वह शक्ति-अस्त्र तारक के हृदय पर जाकर लगा। उसके लगते ही देवताओं की आँखों से हर्ष के और दैत्यों की आँखों से दुःख के आँसू एक साथ बह निकले॥५०॥ शक्ति के प्रहार से मरकर गिरा हुआ तारक ऐसा दीखता था, जैसे प्रलय की आँधी से टूटकर गिरा हुआ पहाड़ का कोई शिखर हो। इन्द्र आदि देवताओं ने जब उस तारक दैत्य को गिरा हुआ देखा तो वे सब हर्ष से उछल पड़े और उनके रोम-रोम फडक उठे॥५१॥ दैत्यराज तारकासुर प्रलयकाल की आँधी से टूटकर गिरे हुए पहाड़ के समान मरकर गिर गया और उसके भारी बोझ से दबकर पृथ्वी

स्वर्गापगासलिलसीकरिणी समन्तात् सौरभ्यलुब्धमधुपावलिसेव्यमाना।
कल्पद्रुमप्रसववृष्टिरभून्नभस्तः शम्भोः सुतस्य शिरसि त्रिदशारिशत्रोः ॥५३॥
पुलकभरविभिन्नवारबाणा भुजविभवं वहु तारकस्य शत्रोः।
सकलसुरगणा महेन्द्रमुख्याः प्रमदमुखच्छविसम्पदोऽभ्यनन्दन् ॥५४॥
इति विषमशरारेः सूनुना जिष्णुनाजौ त्रिभुवनवरशल्ये प्रोद्धृते दानवेन्द्रे।
बलरिपुरथ नाकस्याधिपत्यं प्रपद्य व्यजयत सुरचूडारत्नघृष्टाग्रपादः ॥५५॥

इति महाकविकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये
तारकासुरवधो नाम सप्तदशः सर्गः ॥ १७॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

जव नीचे को धँसी तो शेष ने उसे अपने फणों पर किसी-किमी प्रकार सँभाला॥५२॥ उस समय आकाशगङ्गा के जल की फुहारों से भरे और सुगन्ध के लोभी भौंरों से घिरे कल्पवृक्ष के फूल आकाश से कार्तिकेय के सिर पर बरसने लगे॥५३॥ आनन्दातिरेक मे देवताओं के मुँह खिल गये और वे हर्ष से इतने फूल उठे कि उनकी छातियों पर कसे कवच तड़ातड़ टूटने लगे। इस प्रकार आनन्द से मस्त इन्द्र आदि देवता आकर तारक को मारनेवाले कुमार के भुजवल की सराहना करने लगे॥४५॥ इस तरह विजयी कार्तिकेय ने जव समस्त त्रिलोकी के हृदय में काँटे की भाँति खटकनेवाले उस तारकासुर को मार डाला, तव इन्द्र फिर स्वर्ग के स्वामी वन गये। उन्हें सवसे श्रेष्ठ समझकर सव देवता अपने-अपने मुकुट की मणियों सहित अपना मस्तक उनके चरणों पर रखकर वन्दना करने लगे॥ ४५॥

इस प्रकार महाकविकालिदासरचित कुमारसम्भवमहाकाव्य में तारक राक्षस का वध नामक सतरहवाँ सर्ग समाप्त॥ १७॥

'स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु'

मेघदूतम्

॥ श्रीः ॥

मेघदूतम्

पूर्वमेघः

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः शापेनाऽस्तङ्गमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु॥१॥
तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी नीत्वा मासान्कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः।
आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श॥२॥
तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतोरन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ।
मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे॥३॥
प्रत्यासन्ने नभसि दयिताजीवितालम्बनार्थी जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन्प्रवृत्तिम्।
सः प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार॥४॥
धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु॥५॥

एक यक्ष कुबेर के यहाँ अलकापुरी में सेवा करता था, परन्तु उसका मन दिन-रात अपनी स्त्री में ही आसक्त रहता था। इसी बेसुधी में एक बार उसने कुबेर को पूजा के लिए बासी फूल लाकर दे दिये। जिससे कुबेर ने कुपित हो उसे यह कहकर देश निकाला दे दिया कि 'अब से एक वर्ष तक तू अपनी पत्नी से नहीं मिलने पायेगा।' इस शाप से उसका सारा राग-रंग जाता रहा और शाप के दिन काटने के लिए उसने रामगिरि (चित्रकूट) के उन आश्रमों में जाकर डेरा डाला, जहाँ के बावड़ियों का जल श्रीजानकी के स्नान करने से पवित्र हो गया था और जहाँ घनी छाया वाले बहुत-से वृक्ष जहाँ-तहाँ लहलहाते दीख रहे थे॥१॥ जो अपनी पत्नी के बिना एक क्षण भी नहीं रह पाता था, वह यक्ष पत्नी से बिछुडने पर सूखकर काँटा हो गया। उसके हाथ के सोने के कंकण ढीले होकर निकल गये और किसी प्रकार रोते-कलपते उसने आठ महीने तो उस पहाडी पर जैसे-तैसे काट दिये, परन्तु आषाढ के पहले ही दिन वह देखता क्या है कि सामने पहाडी की चोटी से लिपटा हुआ बादल ऐसा लग रहा है कि मानो कोई हाथी अपने माथे की टक्कर से मिट्टी के टीले को ढहाने का खेल कर रहा है॥२॥ उस बादल को देखकर महाराज कुबेर का वह सेवक आँसू रोके ज्यों-त्यों खड़ा-खड़ा बहुत देर तक कुछ सोचता रह गया। क्योंकि बादलों को देखकर जब सुखी लोगों का मन भी डाँवाडोल हो जाता है, तब उस वियोगी का तो कहना ही क्या, जो दूर देश में पड़ा अपनी प्यारी के गले लगने के लिए व्याकुल हो॥३॥ उस बादल को देखकर उसे ध्यान आया कि आषाढ़ बीतते ही सावन भी आ जायेगा और उस समय मेरी सुकुमारी प्रिया अप. को सँभाल न सकेगी। इसलिए उसने सोचा कि अपनी प्रियतमा को ढाढस बँधाने और उसके प्राण बचाने के लिए क्यों न इस बादल के द्वारा ही अपना कुशल-समाचार भेज दूँ। यह ध्यान आते ही वह मगन हो उठा। उसने झटपट कुटज के कुछ ताजे फूलों को लेकर पहले मेघ की पूजा की और फिर कुशल-मंगल पूछकर उसका स्वागत किया॥४॥ कहाँ तो धुएँ, अग्नि, जल और वायु के मेल से बना हुआ बादल और

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्त्तकानां जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूरबन्धुर्गतोऽहं याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा॥ ६ ॥
सन्तप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद! प्रियायाः सन्देशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य।
गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या॥ ७ ॥
त्वामारूढं पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्ताः प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिताः प्रत्ययादाश्वसन्त्यः।
कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः॥ ८ ॥
तां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नीमव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्।
आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि॥ ९ ॥
मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः।
गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः॥१०॥
कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवन्ध्यां तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्काः।
आ कैलासाद्बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः सम्पत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः॥११॥

कहाँ सन्देश की वे बातें, जिन्हें बड़े चतुर लोग ही ला-पहुँचा सकते हैं। परन्तु यक्ष को अपने तन-मन की तो सुधि थी ही नहीं, फिर भला उसका ध्यान यहाँ तक कैसे पहुँच पाता। इसीलिए वह यक्ष अपना सन्देश भेजने के लिए बादल के आगे गिड़गिड़ाने लगा। सच है, प्रेमियों को यह जानने की चेतना ही कहाँ रहती है कि कौन जड़ है और कौन चेतन॥५॥ बादल की बड़ाई करता हुआ यक्ष कहने लगा—हे मेघ! संसार में पुष्कर और आवर्तक नाम के जो बादलों के दो प्रसिद्ध और ऊँचे कुल हैं, उन्हीं में तुमने जन्म लिया है। मैं यह भी जानता हूँ कि तुम इन्द्र के दूत हो और जैसा चाहो वैसा अपना रूप बना सकते हो। इसीलिए अपनी प्यारी से इतनी दूर लाकर पटका हुआ मैं अभागा तुम्हारे आगे हाथ पसार रहा हूँ। क्योंकि गुणी के आगे हाथ फैलाकर खाली हाथ लौट आना अच्छा है, परन्तु नीच से मनचाहा फल पा जाना भी अच्छा नहीं होता॥६॥ तुम्ही तो संसार के तपे हुए प्रणियों को ठंडक देते हो, इसलिए हे मेघ! कुबेर के क्रोध से निकाले और अपनी प्यारी से दूर बिछुड़े हुए मुझ वियोगी का संदेश भी तुम्हीं मेरी प्यारी के पास पहुँचा आओ। देखो! यह सन्देश लेकर तुम्हे बड़े ठाट-बाट से रहने वाले यक्षों की अलका नाम की उस नगरी की ओर जाना होगा, जहाँ के भवनों में बस्ती के बाहर वाले उद्यान में बनी शिवजी की मूर्ति के सिर की चन्द्रिका से सदा उजाला रहा करता है॥७॥ तुम वायु के सहारे जब ऊपर चढ़ोगे, तब परदेशियों की स्त्रियाँ अपने केश ऊपर उठाकर बडे भरोसे के साथ ढाढ़स पाकर तुम्हारी ओर एकटक होकर देखेंगी। क्योंकि मुझ जैसे पराधीन को छोड़कर और कौन ऐसा निर्दयी होगा, जो तुम्हें उमड़ा हुआ देखकर भी बिछोह में तड़पने वाली अपनी पत्नी से मिलने को उतावला न हो उठे॥८॥ हे मेघ! ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ तुम्हारी पहुँच न हो। इसलिए तुम अपनी उस पतिव्रता भांभी को अवश्य पा जाओगे, जो बैठी-बैठी मेरे लौटने के दिन गिन रही होगी। क्योंकि देखो, प्रेमियों का फूल जैसा कोमल हृदय मिलन की आशा पर ही अटका रहता है। इसलिए स्त्रियों के जो हृदय अपने प्रेमियों से बिछुड़ने पर एक क्षण भी नहीं टिके रह सकते, वे इसी आशा के भरोसे उन स्त्रियों को जिलाये रखते हैं॥९॥ देखो! सगुन भी अच्छे हो रहे हैं। तुम्हारा साथी वायु धीरे-धीरे तुम्हें आगे बढा रहा है। इधर मतवाला यह चातक भी बाँयीं ओर मीठी बोली बोल रहा है। अभी थोड़ी ही देर में तुम्हारा यह आँखों को सुहानेवाला रूप देखकर बलाकाएँ भी समझ लेंगी कि हमारे गर्भ धारण करने का समय आ गया है और वे पाँत बाँध-बाँधकर अपने पंखों से तुम्हें पंखा झलने के लिए अवश्य ही आकाश में उड़कर आती होंगी॥१०॥ तुम्हारे जिस गर्जन से कुकुरमुत्ते निकल आते हैं और धरती उपजाऊ हो जाती है, वही कानों को भला लगनेवाले तुम्हारा

आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलं वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु।
काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम्॥ १२॥
मार्गं तावच्छृणु कथयतस्त्वत्प्रयाणानुरूपं सन्देशं मे तदनु जलद! श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम्।
खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पदं न्यस्य गन्तासि यत्र क्षीणः क्षीणः परिलघु पयः स्रोतसां चोपभुज्य॥ १३॥
अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभिर्दृष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः।
स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं दिङ्नागानां पथि परिहरन्स्थूलहस्तावलेपान्॥ १४॥
रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ताद्वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः॥ १५॥
त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः।
सद्यःसीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं किञ्चित्पश्चाद् व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण॥ १६॥
त्वामासारप्रशमितवनोपप्लवं साधु मूर्ध्ना वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः।
न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः॥ १७॥

गर्जन सुनकर मानसरोवर जाने को उतावले राजहंस अपनी चोचों में कमल की डंठल लिये हुए कैलास पर्वत तक तुम्हारे साथ-साथ आकाश में उडते हुए जायेंगे॥ ११॥ हे मेघ! जिस पहाड से तुम लिपटे हुए हो, इसकी ढालों पर भगवान् रामचन्द्रजी के उन पैरों की छाप जहाँ-तहाँ पड़ी हुई है, जिन्हें सारा संसार पूजता है। प्रतिवर्ष जब तुम इससे मिलने आते हो, तब यह भी बहुत दिनों पर मिलने के कारण अपने गरम-गरम आँसू बहाकर तुम्हारे साथ अपना प्रेम प्रकट करता है। इसलिए अपने इस प्यारे मित्र पहाड की चोटी से जी भर गले मिलकर विदा ले लो॥ १२॥ अच्छा, पहले मैं तुम्हें वह मार्ग समझा दूँ, जिधर से जाने में तुम्हे कोई कष्ट नहीं होगा। मार्ग समझा देने पर मैं अपना मधुर संदेश भी बता दूँगा। देखो! मार्ग में चलते हुए जब कभी थकने लगो तो रास्ते में पड़ती हुई पर्वत की चोटियों पर ठहरते जाना और जब-जब तुम पानी की कमी से दुबले पडने लगो, तब-तब झरनों का हल्का-हल्का जल पीते हुए आगे बढ़ना॥ १३॥ बेंतों से लदी हुई इस पहाडी से जब तुम ऊपर उडोगे, तब तुम्हारी उडान देखकर सिद्धों की भोली-भाली स्त्रियाँ आँखें फाड़-फाड़कर तुम्हारी ओर देखती हुई सोचेंगी कि कहीं पहाड़ की चोटी को पवन तो नहीं उडाये लिए चला जा रहा है? इस प्रकार ठाट से उड़ते हुए तुम दिग्गजों की मोटी सूँड़ों की फटकारों को ढकेलते हुए उत्तर की ओर घूम जाना॥ १४॥ देखो! सामने वल्मीकाग्र से (सूर्य की कान्ति से प्रभावित मेघ) उठा हुआ इन्द्रधनुष का वह टुकड़ा ऐसा सुन्दर दिखलाई पड रहा है, मानो बहुत-से रत्नों की चमक एक साथ यहाँ लाकर इकट्ठी कर दी गयी हो। इस इन्द्रधनुष से सजा हुआ तुम्हारा साँवला शरीर ऐसा सुन्दर लगने लगा है, जैसे मोरमुकुट पहने और ग्वाले का वेश बनाये हुए स्वयं श्रीकृष्णजी आ खड़े हुए हों॥ १५॥ हाँ, खेती का होना न होना भी एकमात्र तुम्हारे ही हाथ में है। इसलिए किसानों की वे भोली-भाली स्त्रियाँ तुम्हें बड़े प्रेम और आदर के साथ देखेंगी, जिन्हें कि भौं चलाकर रिझाना नहीं आता। वहाँ तुम माल (ऊँचे) प्रदेश के उन खेतों पर अवश्य बरस जाना, जहाँ अभी जोते जाने के कारण सोंधी-सोंधी सुगन्धि निकल रही होगी। वहाँ से थोड़ा पश्चिम की ओर घूमकर फिर झटपट उत्तर की ओर बढ़ जाना॥ १६॥ हे मेघ! जब तुम थककर आम्रकूट पर्वत पर पहुँचोगे, तब वह प्रशंसनीय पर्वत तुम्हें अपनी ऊँची चोटी पर सादर ठहरायेगा। तब तुम भी जल बरसाकर उसके जंगलों में लगी हुई आग (दावानल) बुझा देना। क्योंकि यदि सच्चे मन से क्षुद्रजनों का भी उपकार किया जाय तो वे अपनी भलाई करने वाले का आदर करने में देर नहीं लगाते। फिर जो इतना उच्च है, उसके विषय में क्या कहना॥ १७॥ हे मित्र! जंगलों के पके हुए आमों से जिसका तल-प्रदेश ढँका हुआ होगा, उस आम्रकूट के शिखर पर चिकनी वेणी के

छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रैस्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे।
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः॥ १८॥
अध्वक्लान्तं प्रतिमुखगतं सानुमानाम्रकूटस्तुङ्गेन त्वां जलद! शिरसा वक्ष्यति श्लाघ्यमानः।
आसारेण त्वमपि शमयेस्तस्य नैदाघमग्निः सद्भावार्द्रः फलति न चिरेणोपकारो महत्सु॥ १९॥
स्थित्वा तस्मिन्वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहूर्तं तोयोत्सर्गद्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्म तीर्णः।
रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य॥ २०॥
तस्यास्तिक्तैर्वनगजमदैर्वासितं वान्तवृष्टिर्जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः।
अन्तःसारं घन! तुलयितुं नानिलः शक्ष्यति त्वां रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय॥ २१॥
नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केसरैरर्द्धरूढैराविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्चानुकच्छम्।
जग्ध्वाऽरण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्राय चोर्व्याः सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम्॥
अम्भोविन्दुग्रहणचतुरांश्चातकान्वीक्षमाणाः श्रेणीभूताः परिगणनया निर्दिशन्तो बलाकाः।
त्वामासाद्य स्तनितसमये मानयिष्यन्ति सिद्धाः सोत्कम्पानि प्रियसहचरीसम्भ्रमालिङ्गितानि॥२३॥
उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे! मत्प्रियार्थं यियासोः कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते।
शुक्लापाङ्गैः सजलनयनैः स्वागतीकृत्य केकाः प्रत्युद्यातः कथमपि भवान्गन्तुमाशु व्यवस्येत्॥ २४॥

समान काले-काले वर्णवाले तुम जब चढोगे तब वह पर्वत ऐसा दिखलायी देगा, मानो मध्य में श्यामवर्ण शेष भाग पीले वर्ण वाला पृथ्वी का पीला स्तन हो। उसकी उस छटा को देवियों के साथ देवता भी बडे चाव से देखेंगे॥ १८॥ हे मेघ! जब तुम थककर आम्रकूट पर्वत पर पहुँचोगे, तब तुम्हें वह प्रशंसनीय पर्वत अपनी ऊँची चोटी पर भलीभाँति ठहरायेगा। उस समय तुम भी जल बरसाकर उसके जंगलों में गर्मी में लगी हुई आग को बुझा देना, क्योंकि यदि श्रद्धा-भक्ति से बडों पर उपकार किया जाय तो वे अपने ऊपर उपकार करने वाले का आदर करने में देर नहीं लगाते॥ १९॥ उस आम्रकूट के जिन कुञ्जों में जंगली स्त्रियाँ घूमा करती हैं, वहाँ थोड़ी देर ठहरना और फिर आगे की ओर चल देना। क्योंकि जल बरसा देने से तुम्हारी देह का भारीपन दूर हो जायेगा, जिससे तुम्हारी चाल बढ जायगी। वहाँ से आगे बढ़ने पर तुम्हें विन्ध्याचल के ऊबड-खावड़ पहाड़ पर बहुत-सी धाराओं में फैली हुई नर्मदा नदी मिलेगी, जो तुम्हें ऊपर से ऐसी दिखलाई देगी मानो किसी ने बड़े हाथी का शरीर भस्म मे रंग दिया हो॥ २०॥ जब वहाँ जल बरसा चुको तो जंगली हाथियों के सुगन्धित मद से सुवासित और जामुन की कुञ्जों में बहता हुआ रेवा (नर्मदा) का जल पीकर आगे बढना। जल पीकर जब तुम भारी हो जाओगे तो वायु भी तुम्हें इधर-उधर नहीं उड़ा सकेगा। क्योंकि जिसके हाथ खाली होते हैं उसी को सब दुरदुराते हैं, जो भरा-पूरा होता है उसका सब आदर करते हैं॥ २१॥ और फिर जिस समय तुम जल बरसाते हुए चले जा रहे होंगे, उस समय अधपके और हरे-पीले कदम्ब के फूलों पर मँडराते हुए भौंरें, दलदलों में नयी फूली हुई कन्दली की पत्तियों को चरते हुए हरिण और जंगली धरती की सोंधी गन्ध सूँघते हुए हाथी तुम्हें मार्ग बतलायेंगे॥ २२॥ और देखो, बरसात की बूँदों को ऊपर ही ऊपर से चोंच में ले लेने वाले चतुर चातकों तथा झुण्ड बाँधकर उड़ती हुई चातकियों को गिनाते हुए सिद्धजन, जब तुम वहाँ पहुँचकर गरजने लगोगे तो सिद्धाङ्गनाएँ घबड़ाकर अपने-अपने प्रियतम के गले से लिपट जायेंगी। इस घबराहट-भरे आलिंगन को पाकर वे तुम्हारा उपकार मानेंगे॥ २३॥ हे मित्र! मैं जानता हूँ कि तुम मेरे काम के लिए बिना रुके शीघ्र जाना चाहोगे। फिर भी मैं समझता हूँ कि कुटज के फूलों से लदे हुए उन सुगन्धित पहाड़ों पर तुम्हें ठहरते हुए ही जाना होगा। क्योंकि वहाँ के मोर नेत्रों में आनन्द के आँसू भरकर अपनी कूक से तुम्हारा स्वागत कर रहे होंगे। फिर भी मुझे आशा है कि तुम किसी तरह वहाँ से जल्दी चल दोगे॥ २४॥ हे मित्र! जब तुम दशार्ण

पाण्डुच्छायोपवनवृतयः केतकैः सूचिभिन्नैर्नीडारम्भैर्गृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः।
त्वय्यासन्ने परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः सम्पत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः॥ २५॥
तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं गत्वा सद्यः फलमविकलं कामुकत्वस्य लब्धा।
तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु यस्मात्सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि॥ २६॥
नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्रामहेतोस्त्वत्सम्पर्कात्पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः।
यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणामुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि॥ २७॥
विश्रान्तः सन् व्रज वननदीतीरजातानि सिञ्चन्नुद्यानानां नवजलकणैर्यूथिकाजालकानि।
गण्डस्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानां छायादानात्क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम्॥ २८॥
वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः।
विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि॥ २९॥
वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु॥ ३०॥
वेणीभूतप्रतनुसलिलाऽसावतीतस्य सिन्धुः पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णैः।
सौभाग्यं ते सुभग! विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः॥ ३१॥

देश के पास पहुँचोगे, तब वहाँ की फूली हुई फुलवारियाँ फूले हुए केवड़ों के कारण उजली दिखलायी देंगी। गाँव के मन्दिर कौआ आदि पक्षियों के घोंसलों से भरे मिलेंगे। वहाँ के जंगल पकी हुई काली जामुनों से लदे मिलेंगे और हंस भी वहाँ पर कुछ दिनों के लिए आकर बसे होंगे॥ २५॥ हे सखे! जब तुम दशार्ण देश की विदिशा नाम की प्रसिद्ध राजधानी में पहुँचोगे तो तुम्हें विलास की सामग्री मिल जायेगी। क्योंकि जब तुम वहाँ की सुहावनी, मनभावनी और नाचती हुई लहरों वाली वेत्रवती नदी के तीर पर गर्जन करके उसका मीठा जल पियोगे, तब तुम्हें ऐसा लगेगा कि मानो तुम किसी कटीली भौंहोंवाली कामिनी के ओठों का रस पी रहे हो॥ २६॥ हे मित्र! वहाँ पहुँचकर तुम थकावट मिटाने के लिए 'नीच' नाम की पहाड़ी पर उतर जाना। वहाँ पर फूले हुए कदम्ब के वृक्षों को देखकर ऐसा जान पड़ेगा कि मानो तुमसे भेंट करने के कारण उनके रोम-रोम फरफरा उठे हैं। उस पहाडी की गुफाओं में से उन सुगन्धित पदार्थों की गन्ध निकल रही होगी, जिन्हें वहाँ के रसिक वेश्याओं के साथ रति करने के समय काम में लाते हैं। इससे तुम्हें यह भी पता चल जायगा कि वहाँ के नागरिक कितनी स्वतन्त्रता से जवानी का आनन्द लेते हैं॥ २७॥ हे सखे! वहाँ थकावट मिटाकर तुम जंगली नदियों के तीरों पर उपवनों में खिली हुई जूही की कलियों को अपने जल की फुहारों से सींचते हुए और वहाँ की फूल चुननेवाली उन मालिनों के मुँह पर छाया करके थोड़ी-सी जान-पहचान बढ़ाते हुए आगे बढ जाना, जिनके कानों में लटकते हुए कमल की पंखुड़ियों के कनफूल उनके गालों पर बहते हुए पसीने से लग-लगकर गंदे हो गये रहेंगे॥ २८॥ और देखो, उत्तर की ओर जाने में यद्यपि उज्जयिनीवाला मार्ग कुछ टेढ़ा पडेगा, फिर भी तुम उस नगर के राजभवनों को देखना न भूलना। तुम्हारी बिजली की चमक से डरकर वहाँ की स्त्रियाँ जो चंचल कटाक्ष चलायेंगी, उन पर यदि तुम न रीझे तो समझ लो कि तुम्हारा जन्म व्यर्थ गया॥ २९॥ हे मित्र! उज्जयिनी की ओर जाते हुए तुम उतरकर उस निर्विन्ध्या नदी का भी रस ले लेना, जिसकी उछलती हुई लहरों पर पक्षियों की चहकती हुई पंक्तियाँ करधनी-सी दिखलाई देंगी। जो बहुत सुन्दर ढंग से रुक-रुककर बह रही होगी और उसमें पड़ी हुई भँवर तुम्हें उसकी नाभि जैसी दिखलाई देगी। क्योंकि स्त्रियाँ हाव-भाव के द्वारा ही अपने प्रेमियों को प्रेम की बात बतलाती हैं॥ ३०॥ हे मित्र! निर्विन्ध्या नदी की धारा तुम्हारे बिछोह में चोटी की भाँति पतली हो गयी होगी और तीर के वृक्षों से पीले पत्ते गिरने के कारण उसका रंग भी पीला हो गया होगा। हे भाग्यशाली मेघ! इस प्रकार अपने वियोग की दशा दिखलाकर वह यही बता रही

प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान् पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम्।
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम्॥ ३२॥
दीर्घीकुर्वन्पटु मदकलं कूजितं सारसानां प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः॥ ३३॥
हारांस्तारांस्तरलगुटिकान्कोटिशः शङ्खशुक्तीः शष्पश्यामान्मरकतमणीनुन्मयूखप्ररोहान्।
दृष्ट्वा यस्यां विपणिरचितान्विद्रुमाणां च भङ्गान्संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः॥ ३४॥
प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे हैमं तालद्रुमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः।
अत्रोद्भ्रान्तः किल नलगिरिः स्तम्भमुत्पाट्य दर्पादित्यागन्तून्रमयति जनो यत्र बन्धूनभिज्ञः॥ ३५॥
जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपैर्बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः।
हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखेदं नयेथा लक्ष्मीं पश्यँल्ललितवनितापादरागाङ्कितेषु॥ ३६॥
भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य।
धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्यास्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः॥ ३७॥

होगी कि मैं तुम्हारे वियोग में सूखी जा रही हूँ। देखो! तुम ऐसा कोई उपाय करना कि जिससे उस वेचारी का दुवलापन दूर हो जाय॥ ३१॥ अवन्ति देश में पहुँचकर तुम धन-धान्य से भरी हुई उस विशाला नगरी की ओर चले जाना, जिसकी चर्चा मैं पहले ही कर चुका हूँ। वहाँ गाँव के वडे-वूढे लोग महाराज उदयन की कथा भली प्रकार जानते हैं। वह नगरी ऐसी लगती है कि मानो स्वर्ग में अपने पुण्यों का फल भोगनेवाले पुण्यात्मा लोग पुण्य समाप्त होने से पहले ही अपने वचे हुए पुण्य के वदले स्वर्ग का एक चमकीला भाग लेकर उसे अपने साथ धरती पर उतार लाये हों॥ ३२॥ हे मेघ! उस नगरी में सारसों की मीठी वोली को दूर-दूर तक फैलाती तथा प्रायः खिले हुए कमलों की गन्ध में वसी हुई और शरीर को सुहानेवाली शिप्रा की वायु स्त्रियों की संभोगजनित थकावट को उसी प्रकार दूर करती है, जैसे चतुर प्रेमी मीठी-मीठी वातें वना तथा इत्र सुँघा और पंखा झलकर संभोग से थकी हुई अपनी प्यारी की थकावट दूर करता है॥ ३३॥ हे सखे! उज्जयिनी के वाजारों में तुम्हें कहीं करोडों मोतियों की ऐसी मालाएँ सजी हुई दिखलाई देंगी, जिनके वीच-वीच में वडे-वड़े रत्न गुँथे हुए होंगे। कहीं करोड़ों शंख और सीपियाँ रखी हुई होंगी और कहीं पर नयी घास के समान नीले और चमकीले नीलम विछे दिखलाई देंगे। उन्हें देखकर यही जान पड़ेगा कि सव रत्न तो यहाँ रखे हैं और समुद्रों में केवल पानी ही पानी रह गया है॥ ३४॥ हे मित्र! वहाँ के जानकार लोग यह कथा सुना-सुनाकर वाहर से आये हुए अपने सम्वन्धियों का मन वहला रहे होंगे कि वहाँ पर वत्सदेश के राजा उदयन ने उज्जयिनी के महाराज प्रद्योत की प्यारी कन्या वासवदत्ता को हरा था, यहीं उनका वनाया हुआ सुनहले ताड़ के पेड़ों का उपवन था और यहीं पर मद में भरा हुआ नलगिरि नाम का हाथी खूँटा उखाड तथा पागल होकर इधर-उधर घूमता था॥ ३५॥ हे मेघ! वहाँ की स्त्रियों के वालों को सुगन्धित करके अगर की धूप का जो धुआँ झरोखों से निकलता होगा, उससे तुम्हारा शरीर वढेगा और तुम्हें अपना सगा समझकर वहाँ के पालतू मोर नाच-नाचकर तुम्हारा सत्कार करेंगे। तव तुम फूलों की गन्ध से महकते हुए वहाँ के उन भवनों की सजावट देखकर अपनी थकावट दूर कर लेना, जिनमें सुन्दरियों के चरणों में लगी हुई महावर से पैरों की लाल-लाल छाप वनी हुई होगी॥ ३६॥ हे मित्र! वहाँ से तुम तीनों लोक के स्वामी और चण्डी के पति महाकाल के पवित्र मन्दिर की ओर चले जाना। वहाँ शिवजी के गण तुम्हें अपने स्वामी शिवजी के कण्ठ के समान नीला देखकर वड़े आदर से निहारेंगे। वहाँ पर जल-विहार करने वाली युवतियों के स्नान करने से महकती और कमल की गन्ध में वसी हुई गन्धवती नदी की ओर से आने वाला पवन उस मन्दिर के उपवन को वार-वार झकझोर रहा होगा॥ ३७॥ हे मेघ!

अप्यन्यस्मिञ्जलधर! महाकालमासाद्य काले स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः।
कुर्वन्सन्ध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीयामामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम् ॥३८॥
पादन्यासैः क्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतै रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्य वर्षाग्रबिन्दूनामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान् ॥ ३९ ॥
पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः।
नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्याः ॥ ४० ॥
गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः।
सौदामिन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वीं तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूर्विक्लवास्ताः ॥ ४१ ॥
तां कस्याञ्चिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः।
दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान्वाहयेदध्वशेषं मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ॥ ४२ ॥
तस्मिन् काले नयनसलिलं योषितां खण्डितानां शान्तिं नेयं प्रणयिभिरतो वर्त्म भानोस्त्यजाशु।
प्रालेयास्रं कमलवदनात्सोऽपि हर्तुं नलिन्याः प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः ॥ ४३ ॥
गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने छायात्माऽपि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम्।
तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्यान्मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि ॥ ४४ ॥

यदि तुम महाकाल के मन्दिर में साँझ होने से पहले पहुँच जाओ तो भी वहाँ तब तक ठहर जाना, जब तक सूर्य भली प्रकार आँखों से ओझल न हो जायँ। जब महादेवजी की साँझ की सुहावनी आरती होने लगे, तब तुम भी अपने गर्जन रूपी नगाड़ा बजाने लगना। इससे तुम्हें अपने मन्द एवं गम्भीर गर्जन का पूरा फल मिल जायगा ॥ ३८ ॥ हे मित्र! सन्ध्या के समय नाच में पैर चलाती हुई जिन वेश्याओं की करधनी के घुँघरू बड़े मीठे-मीठे बज रहे होंगे और उनके हाथ कंगन के नगों की चमक से दमकते हुए डंडोंवाले चँवर डुलाते-डुलाते थक गये होंगे, उन वेश्याओं के नखक्षतों पर जब तुम्हारी ठंडी-ठंडी बूँदें पड़ेंगी, तब वे बड़े प्रेम से भौंरों की पाँतों के समान अपनी बडी-बडी चितवन तुम पर चलायेंगी ॥ ३९ ॥ हे मेघ! साँझ की पूजा हो चुकने पर जब महाकाल शिव ताण्डव नृत्य करने लगें, तब तुम अपनी सायंकालीन लालिमा लेकर उन वृक्षों पर छा जाना, जो उनके ऊँचे उठे हुए भुजदण्ड जैसे खड़े होंगे। ऐसा करने से शिवजी के मन में जो हाथी की गीली खाल ओढने की इच्छा होगी, वह भी पूर्ण हो जायगी। यह देखकर पहले तो पार्वतीजी डर जायेंगी कि यह हाथी की खाल कहाँ से आ गयी, परन्तु फिर तुम्हें पहचानकर उनका डर दूर हो जायगा और वे एकटक होकर शिवजी में तुम्हारी दृढ भक्ति देखती रह जायेंगी ॥ ४० ॥ हे मित्र! वहाँ पर जो स्त्रियाँ अपने यारों से मिलने के लिए ऐसी घनी अँधेरी रात में निकली होंगी, उन्हें जब सड़कों पर अँधेरे के मारे कुछ भी न सूझता होगा तब तुम कसौटी पर सोने के समान दमकने वाली अपनी बिजली चमकाकर उन्हें ठीक-ठीक मार्ग दिखा देना। परन्तु देखो! तुम गरजना-बरसना मत। नहीं तो वे घबड़ा उठेंगी ॥ ४१ ॥ हे मित्र! बहुत देर तक चमकते-चमकते थकी हुई अपनी प्यारी बिजली को लेकर तुम किसी ऐसे मकान के छज्जे पर रात बिता देना, जिसमें कबूतर सोये हुए हों और फिर दिन निकलते ही वहाँ से चल देना। क्योंकि जो अपने मित्रों के काम करने का बीड़ा उठाता है, वह आलस्य नहीं करता ॥ ४२ ॥ हाँ! उस समय बहुत से प्रेमी अपनी-अपनी उन प्यारिओं के आँसू पोंछ रहे होंगे, जिन्हें रात को अकेली छोड़कर वे कहीं दूसरे स्थान पर रमे होंगे। इसलिए उस समय तुम सूर्य को मत ढँकना। क्योंकि वे भी उस समय अपनी प्यारी कमलनी के मुख-कमल पर पड़ी हुई ओस की बूँदें पोंछने के लिए आ जायेंगे। तब तुम उनके किरण रूपी हाथों को न रोक लेना, नहीं तो वे बहुत रुष्ट हो जायेंगे ॥ ४३ ॥ हे मेघ! तुम्हारे सहज-सलोने शरीर की परछाईं गम्भीरा नदी के उस जल में अवश्य दिखलाई देगी, जो चित्त जैसा निर्मल

तस्याः किञ्चित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं नीत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम्।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे! लम्बमानस्य भावि ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः॥४५॥
त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसम्पर्करम्यः स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगं दन्तिभिः पीयमानः।
नीचैर्वास्यत्युपजिगमिषोर्देवपूर्वं गिरिं ते शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम्॥४६॥
तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगङ्गाजलार्द्रैः।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूनामत्यादित्यं हुतवहमुखे सम्भृतं तद्धि तेजः॥४७॥
ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति।
धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरं पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः॥४८॥
आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लङ्घिताध्वा सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्गः।
व्यालम्बेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन् स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम्॥४९॥
त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात्प्रवाहम्।
प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टीरेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम्॥५०॥

है। उसमें किलोलें करती हुई कुमुद के समान उजली और चपल मछलियों को देखकर तुम यही समझना कि वह नदी तुम्हारी ओर अपनी प्रेम-भरी चंचल चितवन चला रही है। कहीं तुम अपनी रुखाई से उसके प्रेम का निरादर न कर बैठना॥४४॥ हे मित्र! जब तुम गम्भीरा नदी का जल पी लोगे तो उसका जल कम हो जायगा और उसके दोनों तट नीचे तक दिखलाई देने लगेंगे। उस समय जल में झुकी हुई बेंत की लताओं को देखने से ऐसा जान पडेगा कि मानो गम्भीरा नदी अपने तट के नितम्बों पर से जल रूपी वस्त्र के खिसक जाने पर लज्जावश अपनी बेंत की लताओं के हाथों से जल का वस्त्र थामे हुए है। यह सब देखकर भैया मेघ! उस पर झुके हुए तुम वहाँ से जा न सकोगे। क्योंकि जवानी का रस ले चुकने वाला ऐसा कौन रँगीला होगा, जो कामिनी की खुली हुई जाँघों को देखकर उसका रस लिये बिना ही वहाँ से चल दे॥४५॥ हे मित्र! वहाँ से चलकर जब तुम देवगिरि पहाड की ओर जाओगे, तब वहाँ धीरे-धीरे बहता हुआ वह शीतल पवन तुम्हारे नीचे की ओर बहेगा, जिसमें तुम्हारे बरसाये हुए जल से आनन्द की साँस लेती हुई धरती की गन्ध भरी रहेगी, जिसे चिंग्घाड़ते हुए हाथी अपनी सूँड़ों से पी रहे होंगे और जिस वायु के चलने से वन के गूलर पकने लग जायेंगे॥४६॥ हे मेघ! उसी देवगिरि पर्वत पर षडाननजी सदा निवास करते हैं। इसलिए वहाँ पहुँचकर तुम फूल बरसाने वाले बादल बनकर उन पर आकाशगंगा के जल से भींगे हुए पुष्प बरसाकर उन्हें स्नान करा देना। स्कन्दभगवान् को तुम ऐसा-वैसा देवता मत समझना। इन्द्र की सेनाओं को बचाने के लिए शिवजी ने सूर्य से भी बढ़कर अपना जो तेज अग्नि में इकट्ठा किया था, उसी तेज से स्कन्द का जन्म हुआ है॥४७॥ हे मित्र! वहाँ पहुँचने पर तुम अपनी गर्जन से पर्वत की गुफाओं को गुँजा देना। उसे सुनकर स्वामी कार्तिकेय का वह मोर नाच उठेगा, जिसके नेत्रों के कोने शिवजी के सिर पर विराजमान चन्द्रमा की चमक से चमकते रहते हैं। उस मोर के झड़े हुए उन पंखों से चमकीली किरणें निकल रही होंगी, जिन्हें पार्वतीजी पुत्र पर प्रेम दिखलाने के लिए अपने उन कानों पर सजा लेती हैं, जिन पर वे कमल की पंखड़ी सजाया करती थीं॥४८॥ हे मेघ! स्कन्द भगवान् की पूजा करके जब तुम आगे बढ़ोगे तो हाथों में वीणा लिये अपनी स्त्रियों के साथ वे सिद्ध लोग तुम्हें मिलेंगे, जो अपनी वीणा भींगकर बिगड़ जाने के भयवश तुमसे दूर ही दूर रहेंगे। तब तुम कुछ दूर जाकर उस चर्मण्वती नदी का आदर करने के लिए नीचे उतर जाना, जो राजा रन्तिदेव के गवालम्भ यज्ञ की कीर्ति के समान धरती पर बहती है॥४९॥ हे सखे! जब तुम विष्णु भगवान का साँवला रूप चुराकर चर्मण्वती का जल पीने के लिए झुकोगे, उस समय आकाश में विचरने वाले सिद्ध-गन्धर्व आदि को दूर

तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां पक्ष्मोत्क्षेपादुपरिविलसत्कृष्णशारप्रभाणाम्।
कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषामात्मबिम्बं पात्रीकुर्वन् दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम्॥ ५१॥
ब्रह्मावर्तं जनपदमथ च्छायया गाहमानः क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद्भजेथाः।
राजन्यानां शितशरशतैर्यत्र गाण्डीवधन्वा धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि॥ ५२॥
हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली याः सिषेवे।
कृत्वा तासामभिगममपां सौम्य सारस्वतीनामन्तःशुद्धस्त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः॥ ५३॥
तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम्।
गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः शम्भोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता॥ ५४॥
तस्याः पातुं सुरगज इव व्योम्नि पश्चार्द्धलम्बी त्वं चेदच्छस्फटिकविशदं तर्कयेस्तिर्यगम्भः।
संसर्पन्त्या सपदि भवतः स्रोतसि च्छाययाऽसौ स्यादस्थानोपगतयमुनासङ्गमेवाभिरामा॥ ५५॥
आसीनानां सुरभितशिलं नाभिगन्धैर्मृगाणां तस्या एव प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुषारैः।
वक्ष्यस्यध्वश्रमविनयने तस्य शृङ्गे निषण्णः शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम्॥ ५६॥
तं चेद्वायौ सरति सरलस्कन्धसङ्घट्टजन्मा बाधेतोल्काक्षपितचमरीवालभारो दवाग्निः।
अर्हस्येनं शमयितुमलं वारिधारासहस्रैरापन्नार्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम्॥ ५७॥

से पतली दिखलायी देनेवाली उस नदी की चौड़ी धारा के बीच तुम ऐसे दिखलायी दोगे, जैसे पृथ्वी के गले में पड़े एकहरे हार के बीच में एक मोटी-सी इन्द्रनीलमणि पिरो दी गयी हो॥ ५०॥ हे मेघ! चर्मण्वती नदी पार करके तुम दशपुर की ओर बढ़ जाना और अपना रूप दिखाकर वहाँ की उन रमणियों को रिझाना, जो कटीली भौंहें चलाने में बड़ी चतुर हैं। जब तुम्हें देखने के लिए वे अपनी पलकें ऊपर उठायेंगी, तब उनकी चमकीली और काली-काली भौंहें ऐसी जान पड़ेंगी, मानो उन्होंने कुन्द के फूलों पर मँडराने वाले भौंरों की चमक चुरा ली हो॥ ५१॥ हे मेघ! वहाँ से चलकर ब्रह्मावर्त्त देश पर छाया करते हुए तुम उस कुरुक्षेत्र को चले जाना, जो कौरवों और पाण्डवों की घरेलू लड़ाई के कारण आज तक बदनाम है और जहाँ गाण्डीवधारी अर्जुन ने अपने शत्रु-राजाओं के मुखों पर उसी प्रकार अगणित बाण बरसाये थे, जैसे कमलों पर तुम अपना जल बरसाते हो॥ ५२॥ हे सखे! कौरव और पाण्डव दोनों पर एक-सा प्रेम रखने वाले बलरामजी महाभारत के युद्ध में किसी की ओर से भी नहीं लड़े। वे अपनी प्रियतमा रेवती के नेत्रों की छाया पड़ी हुई प्यारी मदिरा को छोड़कर जिस सरस्वती नदी का जल पीते थे, वही जल यदि तुम पी लोगे तो बाहर से काले, होने पर भी तुम्हारा मन स्वच्छ हो जायगा॥ ५३॥ हे मित्र! कुरुक्षेत्र से चलकर तुम कनखल पहुँच जाना। वहाँ तुम्हें हिमालय की घाटियों से उतरी हुई गंगाजी मिलेंगी, जिन्होंने सीढ़ी बनकर सगर के पुत्रों को स्वर्ग पहुँचा दिया था। जिनकी उजली फेनराशि ऐसी लगती है, मानो वे इस फेन की हँसी से खिल्ली उड़ाती हुई उन पार्वतीजी का निरादर कर रही हैं, जो सौतियाडाह से गंगाजी पर भौंहें तरेरती हैं। इतना ही नहीं, बल्कि वे अपनी लहरों रूपी हाथों से चन्द्रमा के सहारे शिवजी के केश पकड़कर पार्वतीजी को यह बता रही हैं कि तुमसे बढ़कर शिवजी मेरे वश में हैं॥ ५४॥ हे मेघ! वहाँ पहुँचकर तुम दिग्गजों के समान अपना पिछला भाग ऊपर उठा और आगे का भाग झुकाकर गंगाजी का स्फटिक के समान स्वच्छ जल तिरछे होकर पीना चाहोगे, तब तुम्हारी चलती हुई छाया गंगाजी की धारा में पड़कर ऐसी सुन्दर लगेगी कि मानो प्रयाग पहुँचने के पहले ही गंगाजी यमुनाजी से मिल गयी हैं॥ ५५॥ हे सखे! वहाँ से चलकर जब तुम हिमालय के हिम से ढँकी उस चोटी पर बैठकर थकावट मिटाओगे, जहाँ से गंगाजी निकली हैं और जिसकी शिलाएँ कस्तूरी मृगों के सदा बैठने से सुगन्धित रहती हैं; उस समय उस चोटी पर बैठे हुए तुम वैसे ही दिखलायी दोगे, जैसे महादेवजी के उजले साँड़ की सींगों पर कीचड़ लग गया हो॥ ५६॥ हे मित्र! अन्धड़ चलने पर देवदार वृक्षों के आपस में

ये संरम्भोत्पतनरभसाः स्वाङ्गभङ्गाय तस्मिन् मुक्ताध्वानं सपदि शरभा लङ्घयेयुर्भवन्तम्।
तान्कुर्वीथास्तुमुलकरकावृष्टिपातावकीर्णान्के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः॥५८॥
तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौलेः शश्वत्सिद्धैरुपचितबलिं भक्तिनम्रः परीयाः।
यस्मिन्दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्धूतपापाः सङ्कल्पन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः॥५९॥
शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः।
निर्ह्रादस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिः स्यात् सङ्गीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः॥६०॥
प्रालेयाद्रेरुपतटमतिक्रम्य तांस्तान्विशेषान्हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम्।
तेनोदीचीं दिशमनुसरेस्तिर्यगायामशोभी श्यामः पादो बलिनियमनाभ्युद्यतस्येव विष्णोः॥६१॥
गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः।
शृङ्गोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः॥६२॥
उत्पश्यामि त्वयि तटगते स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे सद्यःकृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य तस्य।
शोभामद्रेः स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां भवित्रीमंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव॥६३॥
हित्वा तस्मिन्भुजगवलयं शम्भुना दत्तहस्ता क्रीडाशैले यदि च विचरेत्पादचारेण गौरी।
भङ्गीभक्त्या विरचितवपुः स्तम्भितान्तर्जलौघः सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाग्रयायी॥६४॥

रगड़ लगने से जब वन में आग लग जाय और उसकी उड़ती हुई चिनगारियाँ चमरीगाय के लम्बे-लम्बे रोएँ जलाने लगें, तब तुम धुआँधार पानी बरसाकर उसे बुझा देना। क्योंकि लोगों के पास जो कुछ भी रहता है, वह दीन-दु:खियों का दु:ख मिटाने के लिए ही होता है॥५७॥ हे मेघ! हिमालय पर जब शरभ (हरिण) तुम्हें दूर से ही देख तथा बिगड़कर उछलने के लिए मचलें और अपने हाथ-पैर तुड़वाने के लिए तुम पर सींग चलाने को झपटें, तब तुम उनके ऊपर धुआँधार ओले बरसाकर उन्हें तितर-बितर कर देना। क्योंकि जो लोग व्यर्थ का काम करने लगते हैं, उनको ऐसा ही नीचा देखना पड़ता है॥५८॥ हे मेघ! वहाँ हिमालय पर्वत की एक शिला पर तुम्हें शिवजी के पैर की छाप बनी मिलेगी, जिसकी सिद्ध लोग बराबर पूजा किया करते हैं। तुम भी भक्तिभाव से झुककर उसकी प्रदक्षिणा कर लेना। क्योंकि श्रद्धालु लोगों का पाप उसके दर्शन से ही धुल जाता है और वे शरीर त्याग करने पर सदा के लिए शिवजी के गण बन जाते हैं॥५९॥ हे मित्र! वहाँ के पोले बाँसों में जब वायु भरता है, तब उनमें से मीठे-मीठे स्वर निकलने लगते हैं और किन्नरों की स्त्रियाँ भी उनसे स्वर मिलाकर त्रिपुर-विजय के गीत गाने लगती हैं। उस समय यदि तुम भी गरजकर पहाड़ की खोहों को गुँजाते हुए मृदंग के समान शब्द करने लगोगे तो शिवजी के संगीत-सम्बन्धी सब अंग पूरे हो जायेंगे॥६०॥ हे मेघ! हिमालय पर्वत के आस-पास जितने भी सुहावने स्थान हैं, उन्हें देखकर तुम उस क्रौञ्चरन्ध्र में से होते हुए उत्तर की ओर जाना, जिसमें से होकर हंस मानसरोवर को जाते हैं और जिसे परशुरामजी अपने बाण से छेदकर अपना नाम अमर कर गये हैं। उस सँकरे मार्ग में श्याम वर्ण के तुम वैसे ही लम्बे और तिरछे होकर जाना, जैसे बलि को छलने के समय भगवान् विष्णु का चरण श्याम वर्ण हो गया था॥६१॥ हे सखे! वहाँ से ऊपर उठकर तुम उस कैलास पर्वत पर पहुँच जाओगे, जिसकी चोटियों के जोड़-जोड़ रावण के बाहुओं ने हिला डाले थे। जिसमें देवताओं की स्त्रियाँ अपना मुँह देखा करती हैं और जिसकी कुमुद जैसी उजली चोटियाँ आकाश में इस प्रकार फैली हुई हैं, मानो वह प्रतिदिन का इकट्ठा किया हुआ शिवजी का अट्टहास विराजमान हो॥६२॥ हे मित्र! तुम तो चिकने तथा घुटे हुए आँजन के समान काले हो और कैलास तुरन्त काटे हुए हाथी-दाँत के समान गोरा है। इसलिए जब तुम कैलास के ऊपर पहुँचोगे, उस समय बलराम के कन्धों पर पड़े हुए चटकीले काले वस्त्र के समान ऐसे मनोहर लगोगे कि लोगों की आँखें एकटक तुम्हें देखती ही रह जायेंगी॥६३॥ हे मेघ! कैलास पर जब पार्वतीजी उन महादेवजी के हाथ में हाथ डाले टहल रही हों, जिन्होंने पार्वतीजी

तत्रावश्यं वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयं नेष्यन्ति त्वां सुरयुवतयो यन्त्रधारागृहत्वम्।
ताभ्यो मोक्षस्तव यदि सखे घर्मलब्धस्य न स्यात्क्रीडालोलाः श्रवणपरुषैर्गर्जितैर्भीषयेस्ताः॥ ६५॥
हेमाम्भोजप्रसवि सलिलं मानसस्याददानः कुर्वन्कामं क्षणमुखपटप्रीतिमैरावतस्य।
धुन्वन्कल्पद्रुमकिसलयान्यंशुकानीव वातैर्नानाचेष्टैर्जलद! ललितैर्निर्विशेस्तं नगेन्द्रम्॥ ६६॥
तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगङ्गादुकूलां न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन्।
या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम्॥ ६७॥

इति महाकविकालिदासविरचिते मेघदूते काव्ये पूर्वमेघः समाप्तः॥

के डर से अपने साँपों के कड़े हाथ से उतार दिये होंगे। वे पार्वतीजी जब मणिशिखरों पर चढ़ रही हों, उस समय तुम मत बरसना बल्कि आगे बढ़कर सीढ़ी के समान बन जाना, जिससे कि उन्हें ऊपर चढ़ने में सुविधा हो॥ ६४॥ हे सखे! उस पर्वत पर बहुत-सी अप्सराएँ अपने नगजटित कंगनों की नोक चुभाकर तुम्हारे शरीर से जलधाराएँ निकाल लेंगी और तुम्हें फुहारे का घर बना डालेंगी। उस समय यदि वे अपने गर्म शरीरों को ठंडक मिलने के कारण तुम्हें न छोड़ें तो तुम उन खिलवाड़ी देवांगनाओं से छुटकारा पाने के लिए कान फाड़ने वाला भीषण गर्जन करके उन्हें डरा देना॥ ६५॥ हे जलद! वहाँ पहुँचकर पहले तो तुम उस मानसरोवर का जल पीना, जिसमें सुनहले कमल खिला करते हैं। फिर ऐरावत के मुँह पर थोड़ी देर कपड़े जैसे छाकर उसका मन बहला देना। आगे जाकर कल्पद्रुम के कोमल पत्तों को महीन कपड़े की भाँति हिला देना। इस प्रकार बहुत से खेल करते हुए तुम कैलास पर्वत पर जी भरकर भ्रमण करना॥ ६६॥ हे कामचारिन्! उस कैलास पर्वत की गोद में अलकापुरी वैसे ही बसी हुई है; जैसे अपने प्यारे की गोद में कोई कामिनी बैठी हो। वहीं से निकली गंगाजी की धारा ऐसी लगती है, मानो उस कामिनी के शरीर पर से सरकी हुई उसकी साड़ी हो। यह नहीं हो सकता कि ऐसी अलका को देखकर तुम पहचान न पाओ। ऊँचे-ऊँचे भवनोंवाली अलकापुरी पर वर्षा के दिनों में बरसते हुए बादल कामिनियों के सिर पर मोती गुँथे हुए जूडे जैसे छाये रहते हैं॥ ६७॥

॥ इस प्रकार मेघदूत काव्य में पूर्वमेघ समाप्त॥

उत्तरमेघः

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः सङ्गीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः॥१॥
हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः।
चूडापाशे नवकुरबकं चारु कर्णे शिरीषं सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम्॥२॥
यत्रोन्मत्तभ्रमरमुखराः पादपा नित्यपुष्पा हंसश्रेणीरचितरशना नित्यपद्मा नलिन्यः।
केकोत्कण्ठा भवनशिखिनो नित्यभास्वत्कलापा नित्यज्योत्स्नाः प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः प्रदोषाः॥
आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तैर्नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात्।
नाप्यन्यस्मात् प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्तिर्वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति॥४॥
यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि ज्योतिश्छायाकुसुमरचितान्युत्तमस्त्रीसहायाः।
आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु॥५॥
मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः सेव्यमाना मरुद्भिर्मन्दाराणामनुतटरुहां छायया वारितोष्णाः।
अन्वेष्टव्यैः कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः सङ्क्रीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः॥६॥
नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणां क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु।
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान् ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः॥७॥

हे सखे! अलकापुरी के ऊँचे-ऊँचे भवन सब बातों में तुम्हारे ही सदृश हैं। यदि तुम्हारे पास बिजली है तो उन भवनों में चटकीली नारियाँ हैं। यदि तुम्हारे पास इन्द्रधनुष है तो उन भवनों में रंग-बिरंगे चित्र लटके हुए हैं। यदि तुम मृदु और गम्भीर गर्जन कर सकते हो तो वहाँ संगीत के साथ मृदंग बजते हैं। यदि तुम्हारे भीतर नीला जल है तो उनकी धरती भी नीलम से जड़ी हुई है और यदि तुम ऊँचे हो तो उनकी अटारियाँ भी आकाश चूमती हैं॥ १ ॥ हे मेघ! वहाँ की कुलवधुएँ हाथों में कमल के आभूषण पहनती हैं। अपनी चोटियों में नये खिले हुए कुन्द के फूल गूँथती हैं। मुँह में लोध्र के फूलों का पराग मलकर उसे गोरा करती हैं। जूड़े में नये कुरबक के फूल खोंसती हैं। कानों पर सिरस के फूल रखती हैं और वर्षा में फूलने वाले कदम्ब के फूलों से अपनी माँग सजाया करती हैं॥ २॥ हे सखे! वहाँ पर सदा फूलनेवाले बहुत-से ऐसे वृक्ष तुम्हें मिलेंगे, जिन पर मतवाले भौंरे गुनगुनाते होंगे। बारहमासी कमल और कमलिनियों को हंसों की पाँतें घेरे रहती होंगी। सदा चमकीले पंखोंवाले पालतू मोर ऊँचा सिर किये हुए रात-दिन बोलते रहते होंगे और वहाँ की रातें सदा चाँदनी रहने से बड़ी उजली और मनभावनी होंगी॥ ३ ॥ हे मित्र! वहाँ रहनेवाले यक्षों की आँखों में केवल आनन्द के ही आँसू आते हैं। अपने प्यारे मिलन से दूर हो जाने वाले विरह के ताप को छोड़कर और किसी प्रकार का ताप वहाँ नहीं होता। प्रेम में रूठने को छोड़कर और कभी किसी का किसी से बिछोह नहीं होता और जवानी की अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था वहाँ नहीं देखी जाती॥ ४॥ हे मेघ! वहाँ के यक्ष अपनी अलबेली स्त्रियों को लेकर स्फटिक मणि के बने अपने उन भवनों पर बैठते हैं, जिनकी छत पर पड़ी हुई तारों की छाया ऐसी जान पड़ती है, मानो फूल जड़े हुए हों। वहाँ बैठकर वे कामदेव को उभारनेवाला वह मधु पी रहे होंगे, जो उन बाजों के मन्द-मन्द बजने पर कल्पवृक्ष से निकलता है और जो तुम्हारे गम्भीर गर्जन के समान ही नित्य गूँजा करते हैं॥५॥ हे मित्र! वहाँ की कन्याएँ इतनी सुन्दर होती हैं कि देवता भी उन्हें पाने को तरसते हैं। वे कन्याएँ मन्दाकिनी के जल की फुहारों से शीतल पवन में तथा तट पर खड़े कल्पवृक्षों की छाया में तपन मिटाती हुई अपनी मुट्ठियों में रत्न ले तथा उनको सुनहरे बालू में डालकर छिपाने और ढूँढने का खेल खेलती रहती हैं॥६॥

नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमिरालेख्यानां नवजलकणैर्दोषमुत्पाद्य सद्यः।
शङ्कास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशो जालमार्गैर्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति॥ ८ ॥
यत्र स्त्रीणां प्रियतमभुजालिङ्गनोच्छ्वासितानामङ्गग्लानिं सुरतजनितां तन्तुजालावलम्बाः।
त्वत्संरोधापगमविशदैश्चन्द्रपादैर्निशीथे व्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यन्दिनश्चन्द्रकान्ताः॥ ९ ॥
अक्षय्यान्तर्भवननिधयः प्रत्यहं रक्तकण्ठैरुद्गायद्भिर्धनपतियशः किन्नरैर्यत्र सार्द्धम्।
वैभ्राजाख्यं विबुधवनितावारमुख्यासहाया बद्धालापा बहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति॥ १० ॥
गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पैः पत्रच्छेदैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिभिश्च।
मुक्ताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारैर्नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम्॥ ११ ॥
वासश्चित्रं मधु नयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं पुष्पोद्भेदं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पान्।
लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्यामेकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः॥ १२ ॥
पत्रश्यामा दिनकरहयस्पर्द्धिनो यत्र वाहाः शैलोदग्रास्त्वमिव करिणो वृष्टिमन्तःप्रभेदात्।
योधाग्रण्यः प्रतिदशमुखं संयुगे तस्थिवांसः प्रत्यादिष्टाभरणरुचयश्चन्द्रहासव्रणाङ्कैः॥ १३ ॥
मत्वा देवं धनपतिसखं यत्र साक्षाद्वसन्तं प्रायश्चापं न वहति भयान्मन्मथः षट्पदज्यम्।
सभ्रूभङ्गप्रहितनयनैः कामिलक्ष्येष्वमोघैस्तस्यारम्भश्चतुरवनिताविभ्रमैरेव सिद्धः॥ १४ ॥

हे मेघ! वहाँ के प्रेमी लोग संभोग के लिए जब अपने चञ्चल हाथों से अपनी प्यारियों की कमर की गाँठें खोलकर उनकी ढीली साड़ियों को हटाने लगते हैं, तब वे लाज मे इतनी सकुचा जाती हैं कि और कुछ न पाकर मुट्ठी में गुलाल भरकर जगमगाते हुए रत्नदीपों पर फेंकने लगती हैं, परन्तु उनका वह गुलाल फेंकना भी अकारथ हो जाता है॥ ७॥ हे मेघ! तुम्हारे जैसे बहुत-से बादल वायु के झोंकों के साथ वहाँ के सतमहले भवनों के ऊपरी खंडों में घुसकर दीवार पर टँगे चित्रों को अपने जलकणों से भिंगोकर मिटा देते हैं और फिर वे धुएँ का रूप बनाने में चतुर बादल डर के मारे झट से झरोखों की जालियों में से छितरा-छितराकर बाहर निकल जाते हैं॥ ८॥ हे मित्र! वहाँ आधी रात को खुली चाँदनी में झालरों में लटकी चन्द्रकान्त मणियों से टपकता हुआ जल उन स्त्रियों की संभोगजनित थकावट को दूर करता है, जिनके शरीर प्रियतम की भुजाओं में कसे रहने से ढीले पड़ जाते हैं॥ ९॥ हे मेघ! वहाँ अचल सम्पत्तिवाले कामी लोग अप्सराओं के साथ बातें करते और ऊँचे स्वर में मधुर कंठों मे कुवेर का यश गानेवाले किन्नरों के साथ बैठे हुए वैभ्राज नाम के बाहरी उपवन में रात-दिन विहार करते हैं॥ १०॥ हे मित्र! वहाँ रात को जब कामिनी स्त्रियाँ अपने प्रेमियों के पास जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाकर जाने लगती हैं, तो उस समय उनकी चोटियों में गुँथे हुए कल्पवृक्ष के फूल और पत्ते खिसक-खिसककर निकल जाते हैं, उनके कानों पर रखे सोने के कमल गिर जाते हैं और हारों से टूटे हुए मोती भी इधर-उधर बिखर जाते हैं। जब दिन निकलता है तो इन वस्तुओं को मार्ग में बिखरा हुआ देखकर लोग समझ लेते हैं कि कामिनी स्त्रियाँ किधर से होकर अपने प्रेमियों के पास गयी थीं॥ ११॥ हे सखे! वहाँ रंग-बिरंगे वस्त्र, नयनों में बाँकापन पैदा करनेवाली मदिरा, कोमल पत्ते तथा फूल, पैरों में लगने वाला महावर आदि स्त्रियों की शृङ्गार-सम्बन्धी सभी वस्तुएँ कल्पवृक्ष से ही प्राप्त हो जाती हैं॥ १२॥ हे मेघ! वहाँ सूर्य के घोड़ों से होड़ करने वाले और पल्लव सदृश काले-काले घोड़ों, पर्वत के समान ऊँचे और तुम्हारी तरह मद की धारा बहाने वाले हाथियों एवं रावण से भी लोहा लेने वाले ऐसे वीर योद्धा तुम्हें दिखलाई देंगे, जिनके शरीर में पड़े घावों के निशान अलंकारों की शोभा को भी मात कर रहे होंगे॥ १३॥ हे मेघ! वहीं पर कुवेर के मित्र शिवजी भी रहा करते हैं, इसीलिए डरके मारे कामदेव अपना भौंरों की डोरी वाला धनुष वहाँ अपने साथ नहीं रखता, क्योंकि वहाँ की छबीली और चतुर स्त्रियाँ, जो अपने प्रेमियों की ओर बाँकी चितवन रूपी बाण चलाती हैं, उसी से कामदेव का काम चल जाता है॥ १४॥ हे मेघ! वहीं कुबेर के भवन से उत्तर की ओर इन्द्रधनुष सदृश

तत्रागारं धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयं दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन।
यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्द्धितो मे हस्तप्राप्यस्तबकनमितो बालमन्दारवृक्षः॥ १५॥
वापी चास्मिन्मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा हैमैश्छन्ना विकचकमलैः स्निग्धवैदूर्यनालैः।
यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं सन्निकृष्टं नाध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसाः॥ १६॥
तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः।
मद्गेहिन्याः प्रिय इति सखे! चेतसा कातरेण प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि॥ १७॥
रक्ताशोकश्चलकिसलयः केसरश्चात्र कान्तः प्रत्यासन्नौ कुरबकवृतेर्माधवीमण्डपस्य।
एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी काङ्क्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनाऽस्याः॥ १८॥
तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टिर्मूले बद्धा मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः।
तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः॥ १९॥
एभिः साधो! हृदयनिहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथा द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ च दृष्ट्वा।
क्षामच्छायं भवनमधुना मद्वियोगेन नूनं सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम्॥ २०॥
गत्वा सद्यः कलभतनुतां शीघ्रसम्पातहेतोः क्रीडाशैले प्रथमकथिते रम्यसानौ निषण्णः।
अर्हस्यन्तर्भवनपतितां कर्तुमल्पाल्पभासं खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम्॥ २१॥
तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी मध्येक्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥ २२॥

सुन्दर तथा गोल-गोल फाटक वाला हमारा घर तुम्हें दूर से ही दिखलाई देगा। उसी के पास एक छोटा-सा कल्पवृक्ष है, जिसे मेरी स्त्री ने पुत्रवत् पाल रखा है। वह फूलों के गुच्छों से इतना झुका दीखेगा कि नीचे खड़े-खड़े ही उन गुच्छों को हाथ मे तोड़ा जा सकता है॥ १५॥ हे सखे! भीतर जाने पर तुम्हें एक बावली मिलेगी, जिसकी सीढियों पर नीलम जड़ा होगा और जिसमें चिकने वैदूर्य मणि की डंठल वाले बहुत-से सुनहले कमल खिले हुए होंगे। वहाँ के जल में रहने वाले हंस इतने सुखी मिलेंगे कि मानसरोवर के अति समीप होते हुए भी वे तुम्हें देखकर वहाँ भी नहीं जाना चाहेंगे॥ १६॥ हे सखे! उसी बावली के पास एक बनावटी पहाड़ है, जिसकी चोटी नीलम की बनी हुई है। वह चारों ओर सोने के केलों से घिरा होने के कारण देखते ही बनता है। हे मित्र! वह पर्वत मेरी गृहिणी को बड़ा प्यारा है। इसलिए जब मैं तुम्हें बिजली के साथ देखता हूँ, तब मेरा मन अकेला होने से उदास हो जाता है और वह पहाड़ मेरी आँखों के आगे नाचने लगता है॥ १७॥ हे मेघ! उस बनावटी पर्वत पर कुरबक के वृक्षों से घिरे माधवीमण्डप के पास ही एक चञ्चल पत्तों वाला लाल अशोक का वृक्ष है और दूसरा मौलसिरी का पेड़ है। जैसे मैं तुम्हारी सखी के पैर की ठोकर खाने के लिए तरस रहा हूँ, वैसे ही वह अशोक भी फूलने का बहाना लेकर मेरी पत्नी के बाँयें पैर की ठोकर खाने के लिए बेचैन होगा। मौलसिरी का पेड़ भी उसके मुँह से निकले मदिरा के छींटे पीना चाहता होगा॥ १८॥ हे साथी! उन दोनों वृक्षों के बीच हरे बाँस के समान चमकीले मणियों से बनी हुई एक चौकी है, जिसके ऊपर स्फटिक की एक चौकोर पटिया रखी हुई है। उस पटिया पर जड़ी हुई एक सोने की छड़ पर तुम्हारा मित्र मोर नित्य साँझ को आकर बैठता है और मेरी स्त्री उसे अपने घुँघुरूदार कडेवाले हाथों से तालियाँ बजा-बजाकर नचाती है॥ १९॥ हे साधु! यदि तुम मेरे बतलाये हुए चिह्न भलीभाँति स्मरण रखोगे और मेरे द्वार पर शंख और पद्म के चित्र बने देख लोगे तो तुम मेरा घर अवश्य पहचान जाओगे। मेरे बिना वह भवन बड़ा सूना-सूना और उदास-सा दिखलाई देता होगा। क्योंकि सूर्य के छिप जाने पर कमल उदास हो ही जाता है॥ २०॥ देखो! यदि तुम्हें मेरे घर में जलदी घुसना हो तो तुरन्त हाथी के बच्चे जैसे छोटे बनकर उस क्रीड़ा-पर्वत की रमणीय चोटी पर जा बैठना। वहाँ से अपनी बिजली की आँखें जुगनुओं के समान थोड़ी-थोड़ी-सी चमकाकर मेरे घर के भीतर झाँकना॥ २१॥ हे मेघ! वहाँ जो दुबली-पतली, नन्हें-नन्हें दाँतों, पके हुए बिम्बफल के समान

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम्॥ २३॥
नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियाया निःश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम्।
हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वादिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति॥ २४॥
आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति॥ २५॥
उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य! निक्षिप्य वीणां मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथञ्चिद्भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती॥ २६॥
शेषान्मासान् विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पैः।
मत्सङ्गं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः॥ २७॥
सव्यापारामहनि न तथा पीडयेन्मद्वियोगः शङ्के रात्रौ गुरुतरशुचं निर्विनोदां सखीं ते।
मत्सन्देशैः सुखयितुमलं पश्य साध्वीं निशीथे तामुन्निद्रामवनिशयनां सौधवातायनस्थः॥ २८॥
स्निग्धाः सख्यः कथमपि दिवा तां न मोक्ष्यन्ति तन्वीमेकप्रख्या भवति हि जगत्यङ्गनानां प्रवृत्तिः।
स त्वं रात्रौ जलद! शयनासन्नवातायनस्थः कान्तां सुप्ते सति परिजने वीतनिद्रामुपेयाः॥ २९॥

लाल ओठों, पतली कमर, डरी हुई हरिणी के समान आँखें, गहरी नाभि, नितम्बों के बोझ से धीरे-धीरे चलनेवाली और स्तनों के भार से कुछ आगे को झुकी हुई जो युवती तुम्हें दिखलाई दे, वही मेरी पत्नी होगी। उसकी सुन्दरता देखकर यही जान पडेगा कि मानो ब्रह्मा की सबसे बढ़िया कारीगरी वही है॥ २२॥ हे सखे! अपने साथी से बिछुड़ी चकवी के समान अकेली और कम बोलने वाली उस सुन्दरी को देखकर तुम समझ लोगे कि वही मेरा दूसरा प्राण है। विरह के कठोर दिन बड़ी उतावली से बिताते-बिताते उसका रूप भी बदल गया होगा और उसे देखकर तुम्हें यह भ्रम हो सकता है कि यह कोई बाला है या पाले की मारी हुई कमलिनी?॥ २३॥ हे मेघ! मेरे बिछोह में रोते-रोते मेरी प्यारी की आँखें सूज गयी होंगी, गर्म साँसों से उसके ओठों का रंग फीका पड गया होगा, चिन्ता के कारण गालों पर हाथ धरने और बालों के मुँह पर आ जाने से उसका अधूरा दिखलाई देनेवाला मुँह मेघाच्छादित चन्द्रमा के समान धुँधला और उदास दिखलाई देगा॥ २४॥ हे सखे! वह वहाँ तुम्हें या तो देवताओं की पूजा करती दीखेगी या अपनी कल्पना द्वारा विरह से मेरे इस दुबले शरीर का चित्र बनाती मिलेगी या पिंजड़े में बैठी हुई मधुरभाषिणी मैना से यह पूछती मिलेगी कि हे मैना! तुम अपने जिस पति की प्यारी हो, उसका भी कभी स्मरण करती हो?॥ २५॥ हे मेघ! वह मैले कपड़े पहने और गोद में वीणा लिये ऊँचे स्वर से मेरे नाम के गीत गाती मिलेगी। उस समय वह अपनी आँखों के आँसुओं से भींगी हुई वीणा को तो जैसे-तैसे पोंछ लेगी, परन्तु मेरा स्मरण आ जाने से वह इतनी बेसुध हो जायेगी कि अपने सधे हुए स्वरों के उतार-चढ़ाव को भी बार-बार भूल जाती होगी॥ २६॥ अथवा मेरे विरह के दिन से ही वह देहली पर जो फूल नित्य रखती जाती थी, उन्हें ही धरती पर फैलाकर गिन रही होगी कि अब विरह के कितने दिन बाकी हैं। अथवा वह मेरे साथ किये हुए सम्भोग का आनन्द का मन ही मन रस लेती हुई बैठी होगी। क्योंकि अपने प्रियतम के बिछोह में स्त्रियाँ प्रायः ऐसे ही कामों में अपने दिन बिताती हैं॥ २७॥ हे सखे! तुम्हारी सखी के इन कामों में लगे रहने से दिन में तो उसे मेरा बिछोह विशेष नहीं सताता होगा, परन्तु मुझे डर है कि रात के लिए कुछ काम न होने से उसकी रात बड़े कष्ट से बीतती होगी। इसलिए मेरा सन्देश सुनाकर उसे सुख देने के लिए तुम आधी रात को मेरे भवन के झरोखों पर बैठकर उसे देखना। क्योंकि उस समय वह तुम्हें धरती पर उनींदी-सी पड़ी दीखेगी॥ २८॥ उसकी प्यारी सखियाँ उस कृशोदरी को दिन में कभी अकेली नहीं छोड़ेंगी, क्योंकि संसार में सभी स्त्रियों का ऐसा ही स्वभाव होता है। इसलिए तुम उसके पलंग

अन्वेष्टव्यामवनिशयने सन्निकीर्णैकपार्श्वां तत्पर्यङ्कप्रगलितनवैश्छिन्नहारैरिवास्रैः।
भूयो भूयः कठिनविषमां सादयन्तीं कपोलादामोक्तव्यामयमितनखेनैकवेणीं करेण॥ ३०॥
आधिक्षामां विरहशयने सन्निषण्णैकपार्श्वां प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः।
नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम्॥ ३१॥
पादानिन्दोरमृतशिशिराञ्जालमार्गप्रविष्टान् पूर्वप्रीत्या गतमभिमुखं सन्निवृत्तं तथैव।
चक्षुःखेदात्सलिलगुरुभिः पक्ष्मभिश्छादयन्तीं साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनीं न प्रबुद्धां न सुप्ताम्॥ ३२॥
निःश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्तीं शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागण्डलम्बम्।
मत्सम्भोगः कथमुपनयेत्स्वप्नजोऽपीति निद्रामाकाङ्क्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम्॥
आद्ये बद्धा विरहदिवसे या शिखा दाम हित्वा शापस्यान्ते विगलितशुचा तां मयोद्वेष्टनीयाम्।
स्पर्शक्लिष्टामयमितनखेनासकृत् सारयन्तीं गण्डाभोगात् कठिनविषमामेकवेणीं करेण॥ ३४॥
सा संन्यस्ताभरणमबला पेशलं धारयन्ती शय्योत्सङ्गे निहितमसकृद्दुःखदुःखेन गात्रम्।
त्वामप्यस्रं नवजलमयं मोचयिष्यत्यवश्यं प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा॥ ३५॥
जाने सख्यास्तव मयि मनः सम्भृतस्नेहमस्मादित्थम्भूतां प्रथमविरहे तामहं तर्कयामि।
वाचालं मां न खलु सुभगम्मन्यभावः करोति प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद्भ्रातरुक्तं मया यत्॥ ३६॥

के पास वाली खिड़की पर बैठकर थोड़ी देर प्रतीक्षा करना, जब वे सखियाँ सो जायें तब तुम जागती हुई मेरी प्यारी के पास पहुँच जाना॥ २९॥ वहाँ तुम मेरी उस विरहिणी प्यारी को ढूँढ़ लेना, जो वहीं कहीं धरती पर एक करवट पड़ी होगी। उसके आस-पास टूटे हुए मोतियों के हार के समान उसके आँसू बिखरे होंगे और वह अपने बढे हुए नखों वाले हाथ से अपनी इकहरी चोटी के रूखे तथा उलझे हुए बालों को अपने गालों पर से बार-बार हटा रही होगी॥ ३०॥ हे मित्र! जो प्यारी मेरे साथ जी भरकर संभोग करके सारी रात क्षणभर के समान बिता देती थी, वह आज मेरे बिछोह की चिन्ता में सूखी हुई और सूने पलङ्ग पर करवट लेती हुई पूरब के क्षितिज पर पहुँचे और एक कलाभर बचे हुए चन्द्रमा के समान दुबली होकर अपनी रात गर्म आँसू बहा-बहाकर बिताती होगी॥ ३१॥ सुनो भैया! जालियों में से चन्द्रमा की जो किरणें आ रही होंगी, उन्हें देखकर वह समझती होगी कि पहले सुख के दिनों में वे जैसी अमृत के समान ठण्डी थीं, वैसे ही अब भी होंगी और यही समझकर वह उन किरणों की ओर मुँह करेगी, किन्तु विरह के कारण जब वे किरणें उसे जलाने लगेंगी, तब वह अपनी आँसूभरी आँखों को पलकों से ढाँक लेगी। उस समय मेरी प्यारी ऐसी दिखलाई देगी; जैसे बदली के दिन धरती पर खिलनेवाली कोई अधखिली कमलिनी पडी हुई हो॥ ३२॥ हाँ! मेरे विरह में वह कोरे जल में नहाती होगी, इसलिए उसके रूखे और बिना सँवारे हुए बाल गालों पर लटक कर उसके पतले ओठों को तपाने वाली साँसों से हिल रहे होंगे। वह बार-बार यह सोचकर अपनी आँखों में नींद बुला रही होगी कि किसी प्रकार स्वप्न में ही प्यारे से संयोग हो जाय, परन्तु आँखों से लगातार बहते हुए आँसू उसकी आँखें ही नहीं लगने देते होंगे॥ ३३॥ हे मेघ! बिछुड़ने के दिन ही उसने जूड़े की माला खोलकर जो इकहरी चोटी बाँध ली थी, जिसे छूने में भी उसे पीड़ा होती होगी और जिसे शाप के दिन बीतने पर मैं ही सानन्द खोलकर बाँधूँगा, उसी उलझी और बिखरी हुई रूखी चोटी को वह अपने बढे हुए नखोंवाले हाथों से फैले हुए अपने गालों पर से बार-बार हटा रही होगी॥ ३४॥ तुम जब देखोगे कि वह बेचारी बार-बार दुःख से पछाड़ें खा-खाकर रोने के बाद पलंग के पास पड़ी हुई किसी प्रकार अपने बिना आभूषणोंवाले कोमल शरीर को सँभाले हुए है, तब तुम भी उसकी दशा पर अपने नेत्रों से आँसू बहाये बिना न रह सकोगे। क्योंकि दूसरों का दुःख देखकर ऐसा कौन कोमल हृदय वाला प्राणी होगा, जो न पसीज जाय॥ ३५॥ हे मित्र! मैं जानता हूँ कि तुम्हारी सखी मुझे जी भरकर प्यार करती है। इसीलिए मेरा ख्याल है कि वह इस पहले-पहले के बिछोह से दुबली हो गयी

रुद्धापाङ्गप्रसरमलकैरञ्जनस्नेहशून्यं प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम्।
त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शङ्के मृगाक्ष्या मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति ॥ ३७ ॥
वामश्चास्याः कररुहपदैर्मुच्यमानो मदीयैर्मुक्ताजालं चिरपरिचितं त्याजितो दैवगत्या।
सम्भोगान्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनानां यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम् ॥ ३८ ॥
तस्मिन् काले जलद यदि सा लब्धनिद्रासुखा स्यादन्वास्यैनां स्तनितविमुखो याममात्रं सहस्व।
माभूदस्याः प्रणयिनि मयि स्वप्नलब्धे कथञ्चित् सद्यः कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थिगाढोपगूढम् ॥ ३९ ॥
तामुत्थाप्य स्वजलकणिकाशीतलेनानिलेन प्रत्याश्वस्तां सममभिनवैर्जालकैर्मालतीनाम्।
विद्युद्गर्भः स्तिमितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे वक्तुं धीरः स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः ॥ ४० ॥
भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे विद्धि मामम्बुवाहं तत्सन्देशैर्हृदयनिहितैरागतं त्वत्समीपम्।
यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ॥ ४१ ॥
इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा त्वामुत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया वीक्ष्य सम्भाव्य चैवम्।
श्रोष्यत्यस्मात्परमवहिता सौम्य सीमन्तिनीनां कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः सङ्गमात्किञ्चिदूनः ॥ ४२ ॥
तामायुष्मन्मम च वचनादात्मनश्चोपकर्तुं ब्रूया एवं तव सहचरो रामगिर्याश्रमस्थः।
अव्यापन्नः कुशलमबले! पृच्छति त्वां वियुक्तः पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव ॥ ४३ ॥

होगी। यह न समझो कि ऐसी पतिव्रता स्त्री का सुन्दर पति होने के नाते मैं इतना बढ़-बढ़कर बोल रहा हूँ, बल्कि भैया मेघ! मैंने जो कुछ कहा है, वह सब शीघ्र तुम्हारी आँखों के सामने ही आ जायेगा ॥ ३६ ॥ हे सखे! जब तुम उसके पास पहुँचोगे, तब उस मृगनयनी की वह बाँयीं आँख फड़क उठेगी, जिस पर बाल बिखरे हुए होंगे। जो आँजन न लगने से रूखी हो गयी होगी और जो बहुत दिनों से मदिरा न पीने के कारण भौंहें चलाना भी भूल गयी होगी। उस समय फड़कती हुई वह बाँई आँख उस नीले कमल जैसी सुन्दर दिखलाई देगी, जो मछलियों के इधर-उधर आने-जाने से काँप उठता है ॥ ३७ ॥ हे मित्र! तुम्हारे पहुँचते ही केले के खम्भे के समान उसकी वह गोरी-गोरी बाँई जाँघ भी फड़क उठेगी, जिसे कि मैं सम्भोग कर चुकने के बाद अपने हाथ से दबाया करता था। उस जाँघ पर तुम्हें मेरे हाथ के नख-चिह्न बने नहीं मिलेंगे और दुर्भाग्यवश उस पर वह मोतियों की करधनी भी नहीं मिलेगी, जिसे वह बहुत दिनों से पहनती आ रही थी ॥ ३८ ॥ हे मेघ! तुम्हारे पहुँचने पर यदि उसे कुछ नींद आयी रहे तो उसके पीछे चुपचाप एक पहर रुके रहना, जिससे यदि मेरी प्यारी कहीं स्वप्न में मुझसे कसकर लिपटी हुई हो तो मेरे गले में लिपटी उसकी भुजाएँ अचानक नींद टूटने से छूट न जायँ ॥ ३९ ॥ हे सखे! पहरभर के बाद भी वह आँखें न खोले तो तुम मालती के नये फूलों के समान कोमल मेरी प्यारी को अपने जल की फुहारों से ठण्डा किया हुआ वायु चलाकर जगा देना। आँखें खोलने पर जब वह झरोखे से तुम्हारी ओर टकटकी लगाकर देखे तो तुम अपनी बिजली को छिपा लेना और अपने धीमे गर्जन के शब्दों में उस मानिनी से बातें करने लग जाना ॥ ४० ॥ उससे कहना—हे सौभाग्यवती! मैं तुम्हारे पति का प्रिय मित्र मेघ तुम्हारे पास उनका सन्देश लाया हूँ। मैं तो अपनी मीठी और धीमी गर्जना से उन थके पथिकों के मन में भी घर लौटने की उतावली मचा देता हूँ, जो अपनी स्त्रियों की इकहरी चोटियाँ खोलने के लिए व्यग्र रहते हैं ॥ ४१ ॥ हे मित्र! यह सुनते ही मेरी प्यारी तुम्हारी ओर मुँह करके बड़े चाव से खिले हुए मन से और बड़े आदर के साथ कान लगाकर तुम्हारा सब सन्देश उसी प्रकार सुनेगी, जैसे सीताजी ने हनुमान्जी की बातें सुनी थीं। हे भाई! मित्र के मुँह से पति का संदेश पाकर स्त्रियों को अपने प्रिय के मिलन से कुछ ही कम सुख मिलता है ॥ ४२ ॥ हे आयुष्मन्! तुम मेरे कहने से और परोपकार करने का पुण्य लेने के लिए उससे कहना—हे अबले! तुम्हारा बिछुड़ा हुआ साथी रामगिरि अर्थात् चित्रकूट आश्रम में कुशल से है और तुम्हारा

अङ्गेनाङ्गं प्रतनु तनुना गाढतप्तेन तप्तं सास्रेणाश्रुद्रुतमविरतोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन।
उष्णोच्छ्वासं समधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्ती सङ्कल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः॥४४॥
शब्दाख्येयं यदपि किल ते यः सखीनां पुरस्तात्कर्णे लोलः कथयितुमभूदाननस्पर्शलोभात्।
सोऽतिक्रान्तः श्रवणविषयं लोचनाभ्यामदृष्टस्त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह॥४५॥
श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति॥४६॥
त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायामात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्त्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः॥४७॥
धारासिक्तस्थलसुरभिणस्त्वन्मुखस्यास्य बाले दूरीभूतं प्रतनुमपि मां पञ्चबाणः क्षिणोति।
घर्मान्तेऽस्मिन् विगणय कथं वासराणि व्रजेयुर्दिक्संसक्तप्रविततघनव्यस्तसूर्यातपानि॥४८॥
मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतोर्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसन्दर्शनेषु।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति॥४९॥
भित्त्वा सद्यः किसलयपुटान्देवदारुद्रुमाणां ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः।
आलिङ्ग्यन्ते गुणवति मया ते तुषाराद्रिवाताः पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति॥५०॥

कुशल जानना चाहता है। क्योंकि जिन लोगों पर अचानक विपत्ति आ गयी हो, उनसे पहले यही कहना उचित होता है॥४३॥ हे सती! दूर बैठे हुए तुम्हारे प्यारे साथी का मार्ग तो वैरी विधाता रोके बैठा है। इसलिए वह तुमसे मिल भले ही न सके, फिर भी वह अपने दुबलेपन, तपन, लगातार बहते हुए आँसू, मिलने की चाह और गर्म उसाँसों को देख-देखकर ही मन में यह समझ लेता है कि तुम भी मेरे विछोह में दुबली हो गयी होओगी, विरह से तप रही होगी, आँखों से झर-झर आँसू बहा रही होओगी, मिलने को उतावली होगी और दिन-रात लम्बी-लम्बी गर्म उसाँसे ले रही होओगी। ॥४४॥ हे अबले! तुम्हारे प्यारे को जब तुमसे कोई ऐसी बात कहनी होती थी, जो तुम्हारी सखियों के आगे ऊँचे स्वर से कही जा सकती थी। तब भी वह तुम्हारा मुँह चूमने के लोभ से तुम्हारे कान में ही कहने को उद्यत रहता था। अब तुम अपने उस प्यारे की न तो बात सुन सकती हो और न ही उसे आँखभर देख ही सकती हो। इसीलिए उसने बड़े चाव से मेरे मुँह से यह कहला भेजा है॥४५॥ और कहना—हे प्यारी! मैं यहाँ प्रियंगु की लता में तुम्हारा शरीर, डरी हुई हरिणी की आँखों में तुम्हारी चितवन, चन्द्रमा में तुम्हारा मुख, मोरों के पंखों में तुम्हारे बाल और नदी की छोटी-छोटी लहरियों में तुम्हारी कटीली भौंहें देखता रहता हूँ। फिर भी हे चण्डी! मुझे दुःख है कि इनमें से किसी एक में पूरे तौर से तुम्हारी समता नहीं दिखलायी देती॥४६॥ हे सुन्दरी! जब मैं पत्थर की सिल्ली पर गेरू से तुम्हारी रूठी हुई मूर्ति का चित्र खींचकर यह बनाना चाहता हूँ कि तुम्हें मनाने के लिए मैं तुम्हारे पैरों पड़ा हुआ हूँ, उस समय आँसू ऐसे उमड़ पड़ते हैं कि आँखभर देखने भी नहीं देते। निर्दयी दैव को हमारा मिलना चित्र में भी नहीं सुहाता॥४७॥ हे बाला! एक तो मैं यों ही तुम्हारे उस मुख से बिछुडने के कारण कृश होता जा रहा हूँ, जिसमें से ऐसी सोंधी गन्ध आती है जैसे नया पानी पड़ने पर धरती में से आती है। उस पर यह कामदेव मुझे और भी सता रहा है। अब तुम्हीं विचार करो कि गर्मी के बीतने पर जब चारों ओर से उमड़ने वाली घनघटा को देखकर मैं किसके सहारे अपने दिन बिता सकूँगा॥४८॥ हे कामिनि! जब कभी मैं स्वप्न में तुम्हें देखता हूँ और कसकर छाती से लगा लेने के लिए अपने हाथ ऊपर फैलाता हूँ, उस समय वन के देवता भी मेरी दशा पर तरस खाकर मोती के समान बड़े-बड़े अश्रुकण वृक्षों के कोमल पत्तों पर बहुधा ढुलकाया करते हैं॥४९॥ और कहना—हे गुणवती! देवदारु के पत्तों को अपने झोंकों से तत्काल तोडकर और उसके रस की गन्ध लेकर हिमालय के जो पवन दक्षिण की ओर आ रहे हैं, उन्हें यही समझकर

सङ्क्षिप्येत क्षण इव कथं दीर्घयामा त्रियामा सर्वावस्थास्वहरपि कथं मन्दमन्दातपं स्यात्।
इत्थं चेतश्चटुलनयने! दुर्लभप्रार्थनं मे गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोगव्यथाभिः ॥५१॥
नन्वात्मानं बहु विगणयन्नात्मनैवावलम्बे तत्कल्याणि! त्वमपि नितरां मा गमः कातरत्वम्।
कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण॥५२॥
शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ शेषान्मासान्गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा।
पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु॥५३॥
भूयश्चाह त्वमपि शयने कण्ठलग्ना पुरा मे निद्रां गत्वा किमपि रुदती सस्वनं विप्रबुद्धा।
सान्तर्हासं कथितमसकृत्पृच्छतश्च त्वया मे दृष्टः स्वप्ने कितव! रमयन्कामपि त्वं मयेति॥५४॥
एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद्विदित्वा मा कौलीनाच्चकितनयने मय्यविश्वासिनी भूः।
स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगादिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति॥५५॥
आश्वास्यैवं प्रथमविरहोदग्रशोकां सखीं ते शैलादाशु त्रिनयनवृषोत्खातकूटान्निवृत्तः।
साभिज्ञानप्रहितकुशलैस्तद्वचोभिर्ममापि प्रातः कुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः॥५६॥
कच्चित्सौम्य! व्यवसितमिदं बन्धुकृत्यं त्वया मे प्रत्यादेशान्न खलु भवतो धीरतां कल्पयामि।
निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव॥५७॥

मैं अपने हृदय से लगाता हूँ कि ये उधर से तुम्हारा शरीर छूकर आ रहे होंगे॥५०॥ हे चञ्चलाक्षि! मैं मन ही मन यही मनाया करता हूँ कि किसी प्रकार रात के लम्बे-लम्बे तीन पहर क्षणभर के समान छोटे हो जायँ और दिन की तपन किसी प्रकार सदा के लिए जाती रहे। परन्तु मेरी यह दुर्लभ प्रार्थना भी बेकार ही जाती है। उस पर इस तिल-तिल करके जलाने वाली बिछोह की जलन से मेरा जी ही बैठा जा रहा है॥५१॥ किन्तु हे कल्याणी! बहुत कुछ सोच-विचारकर मैं अपने मन को अपने से ही ढाढ़स बँधा लेता हूँ। इसलिए तुम भी विशेष दु:खी न होना। देखो! दु:ख या सुख किसी पर सदा नहीं रहा करते। ये तो पहिए के चक्के के समान कभी नीचे और कभी ऊपर आया-जाया करते हैं॥५२॥ हे प्रिये! अगली हरिबोधिनी एकादशी को जब विष्णु भगवान् शेषनाग की शय्या से उठेंगे, उसी दिन मेरा शाप भी समाप्त हो जायगा। इसलिए बाकी चार महीनों को भी किसी प्रकार आँख मूँद कर बिता लो। फिर तो हम दोनों बिछोह के दिनों में सोची हुई अपने मन की सब साधें शरद्‌ऋतु की सुहावनी चाँदनी रात में पूरी कर ही लेंगे॥५३॥ हे अबले! तुम्हारे प्यारे ने यह भी कहलाया है कि एक बार जब तुम मेरे गले से लगी हुई मेरे साथ पलँग पर सो रही थी, उस समय तुम अचानक चिल्लाकर रोती हुई जाग पड़ीं और जब मैंने बार-बार तुमसे रोने का कारण पूछा, तब तुमने मीठी मुस्कान के साथ उत्तर दिया कि हे छलिया! मैंने स्वप्न में देखा कि तुम किसी दूसरी स्त्री के साथ रमण कर रहे हो, इसीलिए मैं एकाएक रो पड़ी॥५४॥ हे काली आँखोंवाली! इस पहचान से ही समझ लेना कि मैं सकुशल हूँ। लोगों के कहने से तुम मेरे प्रेम में सन्देह न करने लगना। न जाने लोग यह कहा करते हैं कि विरह में प्रेम कम हो जाता है। सच्ची बात तो यह है कि जब चाही हुई वस्तु नहीं मिलती, तभी उसे पाने के लिए व्यग्रता बढ़ती है और ढेर का ढेर प्रेम आकर एकत्र हो जाता है॥५५॥ हे मेघ! इस पहली बार के बिछोह से दु:खिनी अपनी भाभी को इस प्रकार ढाढस बँधाने के बाद उससे कुशल समाचार और पहचान लेकर तुम मेरे पास उस कैलास पर्वत से जल्दी ही लौट आना, जिसकी चोटियाँ महादेवजी के साँड ने उखाड़ दी हैं। और फिर यहाँ आकर प्रात:काल खिले हुए कुन्द के फूल के समान चू पड़ने वाले मेरे प्राणों की रक्षा करना॥५६॥ क्यों भैया मेघ! तुमने यह मेरा प्यारा काम करने की ठान ली है या नहीं? पूछने से यह न समझ बैठना कि मैं तुमसे हुँकारी भरवाने पर ही तुम्हें इस काम के योग्य समझूँगा। मैं जानता हूँ कि जब पपीहे तुमसे जल माँगते हैं, तब तुम बिना उत्तर दिये ही उन्हें जल दे देते हो। सज्जनों की

एतत्कृत्वा प्रियमनुचितप्रार्थनावर्तिनो मे सौहार्दाद्वा विधुर इति वा मय्यनुक्रोशबुद्ध्या।
इष्टान्देशाञ्जलद विचर प्रावृषा सम्भृतश्रीर्मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः॥५८॥
तस्मादद्रेर्निगदितमथो शीघ्रमेत्यालकायां यक्षागारं विगलितनिभं दृष्टिचिह्नैर्विदित्वा।
यत्सन्दिष्टं प्रणयमधुरं गुह्यकेन प्रयत्नात् तद्गेहिन्याः सकलमवदत् कामरूपी पयोदः॥५९॥
इत्याख्याते सुरपतिसखः शैलकुल्यापुरीषु स्थित्वा स्थित्वा धनपतिपुरीं वासरैः कैश्चिदाप।
मत्वागारं कनकरुचिरं लक्षणैः पूर्वमुक्तैः तस्योत्सङ्गे क्षितितलगतां तां च दीनां ददर्श॥६०॥
तं सन्देशं जलधरवरो दिव्यवाचाऽऽचचक्षे प्राणाँस्तस्या जनहितरतो रक्षितुं यक्षवध्वाः।
प्राप्योदन्तं प्रमुदितमना सापि तस्थौ स्वभर्तुः केषां न स्यादभिमतफला प्रार्थना ह्युत्तमेषु॥६१॥
श्रुत्वा वार्तां जलदकथितां तां धनेशोऽपि सद्यः शापस्यान्तं सदयहृदयः संविधायास्तकोपः।
संयोज्यैतो विगलितशुचौ दम्पती हृष्टचित्तौ भोगानिष्टानविरतसुखं भोजयामास शश्वत्॥६२॥
इत्थम्भूतं सुरचितपदं मेघदूताभिधानं कामक्रीडाविरहितजने विप्रयुक्ते विनोदम्।
मेघस्यास्मिन्नतिनिपुणतां बुद्धिभावं कवीनां नत्वार्यायाश्चरणकमलं कालिदासश्चकार॥६३॥

इति महाकविकालिदासविरचिते मेघदूते काव्ये उत्तरमेघः समाप्तः।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः।

रीति ही यह है कि जब कोई उनसे कुछ माँगता है तो वे मुँह से कुछ न कहकर काम पूरा करके ही उसका उत्तर देते हैं॥५७॥ हे मित्र! मैंने तुमको जो काम बतलाया है, वह तुमसे कराना बड़ी ढिठाई होगी। परन्तु चाहे मित्रता के नाते, चाहे मुझ बिछोही पर तरस खाकर, तुम पहले मेरा यह काम कर देना और फिर अपना बरसाती रूप लेकर जहाँ मन चाहे वहाँ घूमना। मैं यही मानता हूँ कि प्यारी बिजली से एक क्षण के लिए भी तुम्हारा वैसा वियोग न हो, जैसा कि मैं भोग रहा हूँ॥५८॥ उस यक्ष के इन वचनों को सुनकर इच्छानुसार रूप धारण करने वाला मेघ रामगिरि से चलकर यक्ष के निवासस्थान अलका में जा पहुँचा और उपर्युक्त चिह्नों को देखकर उसने यक्ष का घर पहचान लिया। उस समय उसकी शोभा फीकी पड़ गयी थी। वहाँ उसने यक्ष की पत्नी को उसके पति का वह प्यारा-प्यारा सन्देश सुना दिया, जिसे यक्ष ने बड़े यत्न से भेजा था॥५९॥ यक्ष का सन्देश सुनकर मेघ वहाँ से चल पड़ा और मार्ग के विभिन्न पर्वतों, नदियों और नगरों में ठहरता हुआ यक्षपति कुबेर की राजधानी अलका में पहुँच गया। वहाँ पूर्वोक्त चिह्नों के अनुसार उसने यक्ष का घर पहचान लिया और उसमें बेचारी यक्ष की पत्नी को धरती में पड़ी देखा॥६०॥ अलकापुरी में पहुँचकर सबके शुभचिन्तक उस भले मेघ ने यक्षपत्नी के प्राण बचाने के लिए दैवी वाणी में सारा सन्देश कह सुनाया। वह अपने प्रियतम का कुशल-समाचार सुनकर मारे हर्ष के गद्गद हो गयी। क्योंकि भले-मानुस से कोई काम करने को कहा जाय तो वह पूर्ण होता ही है॥६१॥ जब मेघ के सन्देश की चर्चा कुबेर के पास पहुँची, तब उनको बड़ी दया आयी और उन्होंने अपना शाप लौटाकर उस यक्ष और उसकी पत्नी दोनों को पुनः मिला दिया। इस मधुर मिलन से उनका दुःख दूर हो गया और कुबेर ने ऐसा प्रबन्ध कर दिया कि जिससे फिर उन्हें कोई कष्ट नहीं हुआ॥६२॥ महाकवि कालिदास ने आर्या अर्थात् महाकाली के चरणों को प्रणाम करके सुन्दर पदों से सँवारकर 'मेघदूत' काव्य को रचा है। यह काव्य उन वियोगियों का मन बहलायेगा कि जिन्हें कामक्रीड़ा (भोग-विलास) का अवसर ही नहीं मिला। इसमें मेघ का उत्तम कौशल और कवियों की अनोखी कल्पनाओं का भी नमूना देखने को मिलेगा॥६३॥

॥इस प्रकार मेघदूत काव्य में उत्तरमेघ समाप्त॥

'सर्वं प्रियं चारुतरं वसन्ते'

ऋतुसंहारम्

॥ श्रीः ॥

ऋतुसंहारम्

प्रथमः सर्गः

(ग्रीष्मवर्णनम्)

प्रचण्डसूर्यः स्पृहणीयचन्द्रमाः सदावगाहक्षतवारिसञ्चयः।
दिनान्तरम्योऽभ्युपशान्तमन्मथो निदाघकालोऽयमुपागतः प्रिये! ॥ १ ॥
निशाः शशाङ्कक्षतनीलराजयः क्वचिद्विचित्रं जलयन्त्रमन्दिरम्।
मणिप्रकाराः सरसं च चन्दनं शुचौ प्रिये यान्ति जनस्य सेव्यताम् ॥ २ ॥
सुवासितं हर्म्यतलं मनोहरं प्रियामुखोच्छ्वासविकम्पितं मधु।
सुतन्त्रिगीतं मदनस्य दीपनं शुचौ निशीथेऽनुभवन्ति कामिनः ॥ ३ ॥
नितम्बबिम्बैः सदुकूलमेखलैः स्तनैः सहाराभरणैः सचन्दनैः।
शिरोरुहैः स्नानकषायवासितैः स्त्रियो निदाघं शमयन्ति कामिनाम् ॥ ४ ॥
नितान्तलाक्षारसरागरञ्जितैर्नितम्बिनीनां चरणैः सनूपुरैः।
पदे पदे हंसरुतानुकारिभिर्जनस्य चित्तं क्रियते समन्मथम् ॥ ५ ॥
पयोधराश्चन्दनपङ्कचर्चितास्तुषारगौरार्पितहारशेखराः।
नितम्बदेशाश्च सहेममेखलाः प्रकुर्वते कस्य मनो न सोत्सुकम् ॥ ६ ॥
समुद्गतस्वेदचिताङ्गसन्धयो विमुच्य वासांसि गुरूणि साम्प्रतम्।
स्तनेषु तन्वंशुकमुन्नतस्तना निवेशयन्ति प्रमदाः सयौवनाः ॥ ७ ॥

हे प्रिये! यह ग्रीष्मऋतु आ गयी। इसमें सूर्य अति तपता है, सभी जन चन्द्रप्रकाश की प्राप्ति की अभिलाषा करते हैं, निरन्तर स्नान से नदियों के तथा जलाशयों के जल कम हो जाते हैं, इसमें सायंकाल की छवि मनोरम होती है और स्त्री-सहवास की अभिलाषा कम होती है॥ १॥ हे प्रिये! चन्द्र-किरणयुक्त रात, कहीं-कहीं चित्र-विचित्र फव्वारेदार मकान, अनेक भाँति के रत्न आदि मणि और रसयुक्त चन्दन, इस ऋतु में जन-समूह के ये ही पदार्थ सेवनीय हैं॥ २॥ हे प्रिये! इस ऋतु में सुगन्धि से परिपूर्ण अट्टालिकाएँ प्रेमिकाओं के मुखों के श्वासों से युक्त मधु और कामोद्दीपक मधुर गीत आदि का रात्रि में कामीजन अनुभव किया करते हैं॥ ३॥ हे प्रिये! इस ऋतु में प्रेयसियाँ सुन्दर रेशमी कपड़े पहनकर, नितम्बों के ऊपर करधनी धारण कर, स्तनों पर माला तथा फूलों के गहने और चन्दन लगाकर स्नानीय चूर्ण से सुवासित केशकलापों से अपने प्रेमीजनों की तपन दूर करती हैं॥ ४॥ हे प्राणेश्वरि! इस ऋतु में स्थूल नितम्बवाली रमणियाँ चरणों में महावर लगाकर तथा प्रति चरण-विन्यास में हंसों के समान शब्द करने वाले नूपुरों को पहनकर जब चलती हैं तब अपने प्रेमियों के अन्तःकरण को कामोद्वेजित कर देती है॥ ५॥ चन्दनचर्चित शीतल दोनों स्तन, बरफ के सदृश सफेद माला को धारण किये हुए तथा स्वर्ण की करधनियों से विभूषित नितम्बभाग भला किसके चित्त को उत्कण्ठित नहीं करता॥ ६॥ इस ऋतु में सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गों से पसीना प्रवलता से निकलता है, अतः युवतियों ने मोटे कपड़ों को

सचन्दनाम्बुव्यजनोद्भवानिलैः सहारयष्टिस्तनमण्डलार्पणैः।
सवल्लकीकाकलिगीतनिःस्वनैर्विबोध्यते सुप्त इवाद्य मन्मथः॥ ८॥
सितेषु हर्म्येषु निशासु योषितां सुखप्रसुप्तानि मुखानि चन्द्रमाः।
विलोक्य नूनं भृशमुत्सुकश्चिरं निशाक्षये याति ह्रियेव पाण्डुताम्॥ ९॥
असह्यवातोद्धतरेणुमण्डला प्रचण्डसूर्यातपतापिता मही।
न शक्यते द्रष्टुमपि प्रवासिभिः प्रियावियोगानलदग्धमानसैः॥ १०॥
मृगाः प्रचण्डातपतापिता भृशं तृषा महत्या परिशुष्कतालवः।
वनान्तरे तोयमिति प्रधाविता निरीक्ष्य भिन्नाञ्जनसन्निभं नभः॥ ११॥
सविभ्रमैः सस्मितजिह्मवीक्षितैर्विलासवत्यो मनसि प्रवासिनाम्।
अनङ्गसन्दीपनमाशु कुर्वते यथा प्रदोषाः शशिचारुभूषणाः॥ १२॥
रवेर्मयूखैरभितापितो भृशं विदह्यमानः पथि तप्तपांसुभिः।
अवाङ्मुखो जिह्मगतिः श्वसन्मुहुः फणी मयूरस्य तले निषीदति॥ १३॥
तृषा महत्या हतविक्रमोद्यमः श्वसन् मुहुर्दूरविदारिताननः।
न हन्त्यदूरेऽपि गजान् मृगेश्वरो विलोलजिह्वश्चलिताग्रकेसरः॥ १४॥
विशुष्ककण्ठोद्गतसीकराम्भसो गभस्तिभिर्भानुमतोऽनुतापिताः।
प्रवृद्धतृष्णोपहता जलार्थिनो न दन्तिनः केसरिणोऽपि बिभ्यति॥ १५॥
हुताग्निकल्पैः सवितुर्गभस्तिभिः कलापिनः क्लान्तशरीरचेतसः।
न भोगिनं घ्नन्ति समीपवर्तिनं कलापचक्रेषु निवेशिताननम्॥ १६॥

छोडकर ऊँचे-ऊँचे स्तनों पर महीन कपड़े पहन लिये हैं॥ ७॥ इस ऋतु में चन्दनयुक्त जल से छिड़के हुए पंखों की हवा से, मालाओं से सुसज्जित स्त्रियों के स्तन-मण्डल के स्पर्श से, वीणा की मधुर तान-गान से मानो सोये हुए कामदेव को जगाया जा रहा है॥ ८॥ इस ऋतु में रात में छतों पर सुख से सोयी हुई स्त्रियों के मुखों को देखकर ऐसा ज्ञात होता है कि चन्द्रमा लजाकर प्रातः पाण्डुता को प्राप्त होता है अर्थात् फीका पड़ जाता है॥ ९॥ इस ऋतु मे तीक्ष्ण पवन की गर्द उड़ रही है। प्रचण्ड सूर्य के ताप से पृथ्वी अत्यन्त तप्त हो रही है। अतः प्रियाओं के वियोग की आग में जिन वियोगियों का चित्त झुलस गया है, वे इसे देख भी नहीं सकते हैं॥ १०॥ इस ऋतु में प्यास के कारण जिनके तालु सूख गये हैं ऐसे हिरण, जो अति संतप्त हैं, नीले आकाश को देखकर 'वन में जल है' ऐसा सोचकर दौड़ रहे हैं॥ ११॥ विलासी तरुणियाँ हाव-भाव युक्त मुसकान के साथ कटाक्षादि द्वारा चन्द्रकिरणयुक्त सन्ध्या के सदृश प्रवासियों के अन्तःकरण में शीघ्र कामोत्तेजन कर रही हैं॥ १२॥ सूर्य की किरणों से अति पीडित तथा मार्ग की तप्त धूलि से दग्ध सर्प नीचे की तरफ शिर करके कुटिल गति से बार-बार श्वास छोडते हुए मोर के नीचे बैठ रहा है॥ १३॥ प्यास के कारण सिंह बलहीन हो गया है, बार-बार श्वासें छोड़ रहा है, मुँह को फैलाकर के पड़ा हुआ है। उसकी जीभ चञ्चल हो रही है, शिर के बाल काँप रहे हैं। देखो, हाथियों को समीप पाकर भी वह उन्हें नहीं मार रहा है॥ १४॥ सूखे हुए कण्ठ से निकली हुई झाग से सूर्य की गर्मी से सन्तप्त तथा प्यास से दुःखी हाथी पानी न पाकर घूम रहे हैं। वे शेर को देखकर भी नहीं डर रहे हैं॥ १५॥ होम की अग्नि के सदृश तीक्ष्ण धूप से मोरगणों के अन्तः-करण तथा चित्त इतने खिन्न हो गये हैं कि उनके पिच्छों की छाया में मुखों को रखकर बैठे

सभद्रमुस्तं परिशुष्ककर्दमं सरः खनन्नायतपोतृमण्डलैः।
रवेर्मयूखैरभितापितो भृशं वराहयूथो विशतीव भूतलम्॥ १७॥
विवस्वता तीक्ष्णतरांशुमालिना सपङ्कतोयात्सरसोऽभितापितः।
उत्प्लुत्य भेकस्तृषितस्य भोगिनः फणातपत्रस्य तले निषीदति॥ १८॥
समुद्धृताशेषमृणालजालकं विपन्नमीनं द्रुतभीतसारसम्।
परस्परोत्पीडनसंहतैर्गजैः कृतं सरः सान्द्रविमर्दकर्दमम्॥ १९॥
रविप्रभोद्भिन्नशिरोमणिप्रभो विलोलजिह्वाद्वयलीढमारुतः।
विषाग्निसूर्यातपतापितः फणी न हन्ति मण्डूककुलं तृषाकुलः॥ २०॥
सफेनलालावृतवक्त्रसम्पुटं विनिःसृतालोहितजिह्वमुन्मुखम्।
तृषाकुलं निःसृतमद्रिगह्वरादवेक्षमाणं महिषीकुलं जलम्॥ २१॥
पटुतरदवदाहोच्छुष्कसस्यप्ररोहाः परुषपवनवेगोत्क्षिप्तसंशुष्कपर्णाः।
दिनकरपरितापक्षीणतोयाः समन्ताद्विदधति भयमुच्चैर्वीक्ष्यमाणा वनान्ताः॥ २२॥
श्वसिति विहगवर्गः शीर्णपर्णद्रुमस्थः कपिकुलमुपयाति क्लान्तमद्रेर्निकुञ्जम्।
भ्रमति गवययूथः सर्वतस्तोयमिच्छञ्छरभकुलमजिह्मं प्राद्धरत्यम्बुकूपात्॥ २३॥
विकचनवकुसुम्भस्वच्छसिन्दूरभासा प्रबलपवनवेगोद्भूतवेगेन तूर्णम्।
तटविटपलताग्रालिङ्गनव्याकुलेन दिशि दिशि परिदग्धा भूमयः पावकेन॥ २४॥
ज्वलति पवनवृद्धः पर्वतानां दरीषु स्फुटति पटुनिनादैः शुष्कवंशस्थलीषु।
प्रसरति तृणमध्ये लब्धवृद्धिः क्षणेन ग्लपयति मृगवर्गं प्रान्तलग्नो दवाग्निः॥ २५॥

हुए सर्पों को देखकर भी वे नहीं मारते॥ १६॥ प्रचण्ड धूप से व्याकुल होकर शूकर-समूह अपने थूथनों से मोथे से पूर्ण सूखे हुए कीचडवाले तालाबों को खोद रहे हैं। ऐसा ज्ञात हो रहा है मानो वे गरमी से शान्ति पाने के लिए पाताल में जाना चाहते हैं॥ १७॥ मेढकों का झुण्ड प्रचण्ड सूर्य से संतापित होकर गरम तथा कीचडयुक्त पानी में कूदकर ठंडे होने की इच्छा से प्यास से खिन्न सर्पों के फणरूपी छत्रों के नीचे आश्रय ले रहे हैं॥ १८॥ आपस में झगडते हुए हाथी एक-दूसरे को तालाब से निकालने के लिए परस्पर पीड़ा दे रहे हैं तथा तालाबों के कमलनालों को नष्ट-भ्रष्ट कर रहे हैं। मछलियों तथा भयभीत सारसों का विनाश कर रहे हैं। तालाबों के कीचड को और भी पंकिल कर रहे हैं॥ १९॥ साँपों के शिरों की मणियाँ सूर्य की किरणों से चमक रही हैं, साँप भी दोनों जीभों से वायु को चाट रहे हैं। अपने जहर के प्रभाव से सूर्य के तेज से व्याकुल होकर मेढकों का नाश नहीं कर रहे हैं॥ २०॥ फेन तथा लारयुक्त मुखवाली कुछ भैंसें, जिनकी लाल रंग वाली जीभें वाहर आ गयी हैं, वे प्यास से व्यग्र होकर ऊपर को मुँह उठाकर जल को देखती हुई पहाडों के गह्वरों से बाहर आ रही हैं॥ २१॥ हे चारुचन्द्रमुखी! दावानल से अरण्यों के घास-फूस भस्म हो रहे हैं। तीक्ष्ण हवा से सूखे पत्ते उडे जा रहे हैं। सभी ओर सूर्य की प्रचण्डता से जलाशय सूखे जा रहे हैं। सभी ओर वनान्त को देखने से डर लग रहा है॥ २२॥ हे कमलनेत्री! सूखे हुए पत्तोंवाले पेडों पर पक्षीवर्ग येन-केन प्रकारेण जीवन यापन कर रहा है। बन्दरों का झुण्ड पहाड़ों के कुञ्जों में जा रहा है। चमरीमृग जल की इच्छा से इधर-उधर भ्रमण कर रहे हैं। शरभगण कुटिलतारहित कुँए से पानी ले रहे हैं॥ २३॥ नये कुसुम के फूल के सदृश तथा स्वच्छ सिन्दूर के समान आभावाली अग्नि तेज हवा के वेग मे अति प्रचण्ड होकर पेड, लता आदि का अग्रभाग चूमने के लिए प्रतिदिशाओं में पृथ्वी को जला रही है॥ २४॥ दावानल पहाडों की गुफाओं में हवा से वृद्धि प्राप्त करता है और जलता है। सूखे हुए वाँसों की स्थलियों में बडे शब्द से प्रवेश करता

वहुतर इव जातः शाल्मलीनां वनेषु स्फुरति कनकगौरः कोटरेषु द्रुमाणाम्।
परिणतदलशाखानुत्पतन्प्रांशुवृक्षान्भ्रमति पवनधूतः सर्वतोऽग्निर्वनान्ते॥ २६॥
गजगवयमृगेन्द्रा वह्निसन्तप्तदेहाः सुहृद इव समेता द्वन्द्वभावं विहाय।
हुतवहपरिखेदादाशु निर्गत्य कक्षाद्विपुलपुलिनदेशान्निम्नगां संविशन्ति॥ २७॥
कमलवनचिताम्बुः पाटलामोदरम्यः सुखसलिलनिषेकः सेव्यचन्द्रांशुहारः।
व्रजतु तव निदाघः कामिनीभिः समेतो निशि सुललितगीते हर्म्यपृष्ठे सुखेन॥ २८॥

॥ इति महाकविकालिदासकृतौ ऋतुसंहारे ग्रीष्मवर्णनं नाम प्रथमः सर्गः॥

है। क्षण में ही घास-फूस आदि तृणों में जल उठता है। हिरणों के देहभाग में लगकर उनका नाश करता है॥ २५॥ अग्नि सेमर के वनों में ढेर की ढेर हो जाती है। पेडों के खोखलों में स्वर्ण के सदृश जलने लगती है। सूखे पेड़ों की चोटियों पर विस्तीर्ण हो जाती है। हवा के झकोरों से वनों में सभी तरफ भ्रमण करती है॥ २६॥ हाथी, चमरीमृग और शेर दावानल से क्लेशित होकर आपस में मित्र के सदृश एक साथ ही शत्रुता को छोड़कर आग से तप्त हुए प्रदेश से निकलकर नदी में घुस जाते हैं॥ २७॥ अतिमधुर गीत गानेवाली तालाव में कमल फूल-फूलकर भर गये हैं। गुलाब के पुष्पों से चारों ओर मीठी महक उड रही है। इस समय स्नान करना और चन्द्र की किरण ही सेवनीय है। अतः हे प्यारी! तुम्हारा यह ग्रीष्म कामिनियों के साथ अटारियों पर सुख से बीते॥ २८॥

इस प्रकार ऋतुसंहार के प्रथम सर्ग में ग्रीष्मऋतु-वर्णन समाप्त हुआ।

द्वितीयः सर्गः

(प्रावृड्वर्णनम्)

ससीकराम्भोधरमत्तकुञ्जरस्तडित्पताकोऽशनिशब्दमर्दलः ।
समागतो राजवदुद्धतद्युतिर्घनागमः कामिजनप्रियः प्रिये! ॥ १ ॥
नितान्तनीलोत्पलपत्रकान्तिभिः क्वचित्प्रभिन्नाञ्जनराशिसन्निभैः ।
क्वचित्सगर्भप्रमदास्तनप्रभैः समाचितं व्योम घनैः समन्ततः ॥ २ ॥
तृषाकुलैश्चातकपक्षिणां कुलैः प्रयाचितास्तोयभरावलम्बिनः ।
प्रयान्ति मन्दं बहुधारवर्षिणो बलाहकाः श्रोत्रमनोहरस्वनाः ॥ ३ ॥
बलाहकाश्चाशनिशब्दमर्दलाः सुरेन्द्रचापं दधतस्तडिद्गुणम् ।
सुतीक्ष्णधारापतनोग्रसायकैस्तुदन्ति चेतः प्रसभं प्रवासिनाम् ॥ ४ ॥
प्रभिन्नवैदूर्यनिभैस्तृणाङ्कुरैः समाचिता प्रोत्थितकन्दलीदलैः ।
विभाति शुक्लेतररत्नभूषिता वाराङ्गनेव क्षितिरिन्द्रगोपकैः ॥ ५ ॥
सदा मनोज्ञं स्वनदुत्सवोत्सुकं विकीर्णविस्तीर्णकलापिशोभितम् ।
ससम्भ्रमालिङ्गनचुम्बनाकुलं प्रवृत्तनृत्यं कुलमद्य बर्हिणाम् ॥ ६ ॥
निपातयन्त्यः परितस्तटद्रुमान् प्रवृद्धवेगैः सलिलैरनिर्मलैः ।
स्त्रियः सुदुष्टा इव जातविभ्रमाः प्रयान्ति नद्यस्त्वरितं पयोनिधिम् ॥ ७ ॥
तृणोत्करैरुद्गतकोमलाङ्कुरैर्विचित्रनीलैर्हरिणीमुखक्षतैः ।
वनानि वैन्ध्यानि हरन्ति मानसं विभूषितान्युद्गतपल्लवैर्द्रुमैः ॥ ८ ॥

हे प्रिये! जलविन्दुओं से पूर्ण जलधररूप मत्त हाथियोंवाला, विजली के झण्डेवाला, वज्र के शब्द को नाश करने वाला, कामिजनों को प्यारा राजा के समान विशेष तेजस्वी यह वर्षा-समय प्राप्त हुआ ॥ १ ॥ अति नीले रंग के कमल के पत्रों की तरह आभावाले, कहीं-कहीं सान्द्र कज्जल के ढेर के सदृश कान्तिवाले किसी-किसी जगह गर्भिणी ललनाओं के कुचों की-सी छटावाले मेघों ने सभी ओर से आकाश को घेर लिया है ॥ २ ॥ प्यास से पीड़ित चातक पक्षियों से प्रार्थित, जलों के भार को धारण करने वाले,-अति वर्षा करने वाले, कर्णमधुर शब्द करनेवाले मेघ धीरे-धीरे आकाश में मँडरा रहे हैं ॥ ३ ॥ वज्र का शब्द ही जिनका रणवाद्य है तथा जिनके धनुष की डोरी ही विजली है, ऐसे मेघ इन्द्र के धनुष को धारण किये हुए तेज जलधारा मानो तीक्ष्ण बाणों को वर्षाते हुए प्रवासियों के अन्तःकरणों को क्लेशित कर रहे हैं ॥ ४ ॥ विखरी हुई वैदूर्य मणियों की कान्ति के समान, तृणांकुरों से युक्त, प्रादुर्भूत केले के दलों से परिपूर्ण हरित रंगवाले, वीरवहूटियों से युक्त पृथ्वी की शोभा हरे रंगवाली मणियों से सजी-धजी वेश्या के समान हो रही है ॥ ५ ॥ सदा सुन्दर मनोरम मेघों के गर्जना की अभिलाषा करनेवाले, खुले हुए केशकलापों की तरह शोभायुक्त, संभ्रम के कारण आलिंगन तथा चुम्बन से व्याकुल, नृत्य में प्रवृत्त मयूर-कुल इस समय शोभा दे रहा है ॥ ६ ॥ सब ओर से तटों पर उगे हुए पेडों को प्रवल बहाव वाले मलिन जल से उखाड़ती हुई ये नदियाँ समुद्र में ऐसे जा रही हैं, जैसे कामवेग से प्रेरित जघनचपला रमणियाँ अपने कामुकों के पास जाती हैं ॥ ७ ॥ जिन विन्ध्य के वनों में कोमल-कोमल अंकुर उत्पन्न हुए हैं, विचित्र नीले रंगवाले तथा मृगों के मुखों से चबाये हुए तृण बिखरे हैं तथा नवीन-नवीन पल्लवों

विलोलनेत्रोत्पलशोभिताननैर्मृगैः समन्तादुपजातसाध्वसैः।
समाचिता सैकतिनी वनस्थली समुत्सुकत्वं प्रकरोति चेतसः॥ ९ ॥
अभीक्ष्णमुच्चैर्ध्वनता पयोमुचा घनान्धकारीकृतशर्वरीष्वपि।
तडित्प्रभादर्शितमार्गभूमयः प्रयान्ति रागादभिसारिकाः स्त्रियः॥ १०॥
पयोधरैर्भीमगभीरनिःस्वनैस्तडिद्भिरुद्वेजितचेतसो भृशम्।
कृतापराधानपि योषितः प्रियान्परिष्वजन्ते शयने निरन्तरम्॥ ११ ॥
विलोचनेन्दीवरवारिविन्दुभिर्निषिक्तबिम्बाधरचारुपल्लवाः।
निरस्तमाल्याभरणानुलेपनाः स्थिता निराशाः प्रमदाः प्रवासिनाम्॥ १२॥
विपाण्डुरं कीटरजस्तृणान्वितं भुजङ्गवद्वक्रगतिप्रसर्पितम्।
ससाध्वसैर्भेककुलैर्निरीक्षितं प्रयाति निम्नाभिमुखं नवोदकम्॥ १३॥
विपत्रपुष्पां नलिनीं समुत्सुका विहाय भृङ्गाः श्रुतिहारिनिःस्वनाः।
पतन्ति मूढाः शिखिनां प्रनृत्यतां कलापचक्रेषु नवोत्पलाशया॥ १४॥
वनद्विपानां नववारिदस्वनैर्मदान्वितानां ध्वनतां मुहुर्मुहुः।
कपोलदेशा विमलोत्पलप्रभाः सभृङ्गयूथैर्मदवारिभिश्चिताः॥ १५॥
सितोत्पलाभाम्बुदचुम्बितोपलाः समाचिताः प्रस्रवणैः समन्ततः।
प्रवृत्तनृत्यैः शिखिभिः समाकुलाः समुत्सुकत्वं जनयन्ति भूधराः॥ १६॥
कदम्बसर्जार्जुनकेतकीवनं विकम्पयँस्तत्कुसुमाधिवासितः।
ससीकराम्भोधरसङ्गशीतलः समीरणः कं न करोति सोत्सुकम्॥ १७॥

से भूषित वृक्ष हैं, ऐसे वे वन मनुष्यों के चित्तों को पुलकित कर रहे हैं॥८॥ चकित तथा चपल नेत्ररूपी कमलों के सदृश शोभावाले मुखोंवाले मृगों से घिरी हुई किनारों पर की वनभूमि इस समय मन में उमंग पैदा करती है॥९॥ बार-बार गम्भीर शब्द करनेवाले मेघों के घने अन्धकार से आच्छादित रात में भी बिजली की प्रभा से मार्ग की पृथ्वी को देखती हुई अभिसारिकाएँ अनुराग से प्रियतमों का अनुगमन करती हैं॥ १० ॥ भयानक शब्द करनेवाले मेघों से तथा बिजली की तड़क से अधिक घबड़ाई हुई रमणियाँ अपराधी पतियों के साथ भी शयनावस्था में प्रगाढ़ आलिंगन करती हैं॥ ११॥ नेत्रकमलों से गिरे हुए अश्रुकणों से जिनके अधरपल्लव धुल गये हैं और जिन्होंने माला आदि आभूषण तथा सौन्दर्यवर्धक अनुलेपन आदि को छोड़ दिया है, ऐसी प्रवासीजनों की स्त्रियाँ अपने पतियों के प्रति निराश होकर बैठी हैं॥ १२॥ मलिन, कीड़े-मकोड़ों, धूलि तथा घास-फूस से भरा साँप की भाँति टढी-मेढ़ी गति से बहनेवाला और घबड़ाहट से युक्त मेंढकों के झुण्डों से देखा गया नूतन जल नीचे की ओर जा रहा है॥ १३॥ उत्कण्ठित तथा मधुर शब्द-श्रवण करनेवाले भ्रमरगण (भौंरे) विगतपत्रोंवाली कमलिनी को छोड़कर नूतन कमलों की प्रत्याशा से नृत्य करनेवाले मोरगणों के पिच्छों के ऊपर गिरते हैं॥ १४॥ हे प्रिये! बार-बार ध्वनि करनेवाले, मदोन्मत्त हाथियों के गण्डस्थलों पर जो विमल कमल के समान कान्तिवाले हैं, भौंरों के झुण्डों ने आकर मदजलों पर स्थान लिया अर्थात् अति सुगन्धि के कारण वहाँ पर आ बैठे॥ १५॥ सफेद कमल की छटा के सदृश शोभावाले मेघों द्वारा जिनकी चोटियाँ चुम्बित हैं तथा जिनके चारों ओर झरने झर रहे हैं एवं जिनके ऊपर मोरगण नाच रह हैं, ऐसे पर्वत उत्सुकता उत्पन्न कर रहे हैं॥ १६॥ कदम्ब, साल, अर्जुन तथा केतकी के वनों को कँपाती हुई तथा उक्त वृक्षों के फूलों से सुवासित करती हुई, जलकणों से मिश्रित मेघों के सम्पर्क से शीतल पवन भला किसे समुत्सुक नहीं करता अर्थात् सब

शिरोरुहैः श्रोणितटावलम्बिभिः कृतावतंसैः कुसुमैः सुगन्धिभिः।
स्तनैः सहारैर्वदनैः ससीधुभिः स्त्रियो रतिं सञ्जनयन्ति कामिनाम्॥ १८॥
वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति रुदन्ति नृत्यन्ति समाश्रयन्ति।
नद्यो घना मत्तगजा वनान्ताः प्रियाविहीनाः शिखिनः प्लवङ्गाः॥ १९॥
तडिल्लताशक्रधनुर्विभूषिताः पयोधरास्तोयभरावलम्बिनः।
स्त्रियश्च काञ्चीमणिकुण्डलोज्ज्वला हरन्ति चेतो युगपत्प्रवासिनाम्॥ २०॥
मालाः कदम्बनवकेसरकेतकीभिरायोजिताः शिरसि बिभ्रति योषितोऽद्य।
कर्णान्तरेषु ककुभद्रुममञ्जरीभिरिच्छानुकूलरचितानवतंसकांश्च॥ २१॥
कालागुरुप्रचुरचन्दनचर्चिताङ्ग्यः पुष्पावतंससुरभीकृतकेशपाशाः।
श्रुत्वा ध्वनिं-जलमुचां त्वरितं प्रदोषे शय्यागृहं गुरुगृहात्प्रविशन्ति नार्यः॥ २२॥
कुवलयदलनीलैरुन्नतैस्तोयनम्रैर्मृदुपवनविधूतैर्मन्दमन्दं चलद्भिः।
अपहृतमिव चेतस्तोयदैः सेन्द्रचापैः पथिकजनवधूनां तद्वियोगाकुलानाम्॥ २३॥
मुदित इव कदम्बैर्जातपुष्पैः समन्तात् पवनचलितशाखैः शाखिभिर्नृत्यतीव।
हसितमिव विधत्ते सूचिभिः केतकीनां नवसलिलनिषेकच्छिन्नतापो वनान्तः॥ २४॥
शिरसि बकुलमालां मालतीभिः समेतां विकसितनवपुष्पैर्यूथिकाकुड्मलैश्च।
विकचनवकदम्बैः कर्णपूरं वधूनां रचयति जलदौघः कान्तवत्काल एषः॥ २५॥
दधति वरकुचाग्रैरुन्नतैर्हारयष्टिं प्रतनुसितदुकूलान्यायतैः श्रोणिबिम्बैः।
नवजलकणसेकादुद्गतां रोमराजीं ललितवलिविभङ्गैर्मध्यदेशैश्च नार्यः॥ २६॥

को उत्कण्ठित करता है॥ १७॥ कमर तक लटकनेवाले बालों मे, सुगन्धित पुष्पों के गहनों से, माला धारण किये हुए स्तनों से, मधुगन्धयुक्त मुखों से स्त्रियाँ विलासियों को रतिकर्म के लिए प्रेरित कर रही हैं॥ १८॥ वर्षाऋतु में नदियाँ बहती हैं, बादल बरसते हैं, मदमत्त हाथी चिंघाड़ते हैं, वनपंक्तियाँ हरी-भरी हो जाती हैं, अपने प्रियजनों से बिछुड़ी हुई स्त्रियाँ विलखा करती हैं, मयूर नाचते हैं और बन्दर चुपचाप गुफाओं का सहारा ले लेते हैं॥ १९॥ बिजली रूपी लता से तथा इन्द्रधनुष से सुशोभित, जलभार से नम्र मेघ और करधनी आदि की मणियों से सुन्दर रमणियाँ दोनों मिलकर एक साथ प्रवासियों के मन को आकर्षित करते हैं॥ २०॥ आजकल ललनाएँ शिरों में कदम्ब के नवीन परागों से युक्त तथा केतकी के फूलों की मालाएँ रचकर धारण करती हैं। कानों के ऊपर के अलंकारों की जगह अर्जुन की मञ्जरियों के गहने बनाकर धारण करती हैं॥ २१॥ कालागुरु-मिश्रित चन्दनचर्चित शरीरवाली तथा फूलों के आभूषणों से सुवासित केशपाशों को धारण करने वाली अंगनाएँ संध्या समय मेघों की गर्जन सुनकर शीघ्र श्वसुर के घरों से शयनागारों में गमन करती हैं॥ २२॥ नीले कमल के सदृश रङ्गवाले, उन्नत तथा जलभार से लघु एवं मृदु पवन से कम्पित, धीरे-धीरे चलने वाले इन्द्रधनुषधारी मेघों से पथिकों की स्त्रियों का चित्त हरण कर लिया गया हो, ऐसा ज्ञात होता है॥ २३॥ नवीन जल के सेवन से जिसका ताप नष्ट हो गया है, ऐसा यह वनप्रदेश उत्पन्न हुए कदम्बपुष्पों से प्रसन्न हुआ-सा ज्ञात होता है। चारों ओर पवन से प्रचलित पेड की डालियों से नाचता हुआ-मा लगता है तथा केतकी की कलियों से हँसता हुआ-सा दीखता है॥ २४॥ यह वर्षा-समय पति के सदृश ललनाओं के शिरों में मालती के फूलों से युक्त अशोक के पुष्पों की माला धारण कराता है तथा खिली हुई नवीन फूलोंवाली जूही की कलियों से तथा कचनार आदि से रमणियों के कर्णाभरण रचता है॥ २५॥ रमणियाँ ऊँचे तथा उत्तम स्तनों के अग्रभागों से मोती की मालाओं को, बडे नितम्बों से सफेद सूक्ष्म वस्त्र को, शरीर के मध्य

नवजलकणसङ्गाच्छीततामादधानः कुसुमभरनतानां लासकः पादपानाम्।
जनितरुचिरगन्धः केतकीनां रजोभिः परिहरति नभस्वान्प्रोषितानां मनांसि ॥२७॥
जलभरविनतानामाश्रयोऽस्माकमुच्चैरयमिति जलसेकैस्तोयदास्तोयनम्राः।
अतिशयपरुषाभिर्ग्रीष्मवह्नेः शिखाभिः समुपजनिततापं ह्लादयन्तीव विन्ध्यम्॥२८॥
बहुगुणरमणीयः कामिनीचित्तहारी तरुविटपलतानां बान्धवो निर्विकारः।
जलदसमय एष प्राणिनां प्राणभूतो दिशतु तव हितानि प्रायशो वाञ्छितानि॥२९॥

॥ इति महाकविकालिदासकृतौ ऋतुसंहारे प्रावृड्वर्णनं नाम द्वितीयः सर्गः॥

देश की सुन्दर त्रिवली से नवीन जलबिन्दुओं के स्नान से उत्पन्न रोमाञ्च-पंक्ति को धारण करती हैं॥२६॥ नवीन जलकण के छिड़काव से शीतलता पाता हुआ, फूलों के बोझ से मृदु होते हुए पेड़ों का संपर्कवाला, केतकी के रज से उत्पन्न रुचिर गन्धधारी पवन प्रवासियों के चित्तों को चुरा रहा है॥२७॥ यह विन्ध्य पर्वत मानो ऊँचे जलभार से नम्र हुए हम (मेघों) का आश्रय है। इसी कारण से अति प्रचंड ग्रीष्म की आग की लपटों से सन्तापित विन्ध्याचल को मानो जल के बोझ से नम्रीभूत मेघगण जल के बिन्दुओं से हर्षित करते हैं (अर्थात् उपकारी प्रत्युपकार करता ही है)॥२८॥ अनेक सद्गुणों से मनोहर, कामिनियों के चित्तों का हरणकर्ता, वृक्ष-पल्लवादिकों का अकारण बन्धु, प्राणियों का प्राण स्वरूप यह प्रावृट् (वर्षाकाल) आप लोगों को प्रायः अभिलषित फल दे॥२९॥

इस प्रकार ऋतुसंहार के द्वितीय सर्ग में वर्षाऋतु-वर्णन समाप्त हुआ।

तृतीयः सर्गः

(शरद्वर्णनम्)

काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या।
आपक्वशालिरुचिरा नतगात्रयष्टिः प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या॥१॥
काशैर्मही शिशिरदीधितिना रजन्यो हंसैर्जलानि सरितां कुमुदैः सरांसि।
सप्तच्छदैः कुसुमभारनतैर्वनान्ताः शुक्लीकृतान्युपवनानि च मालतीभिः॥२॥
चञ्चन्मनोज्ञशफरीरसनाकलापाः पर्यन्तसंस्थितसिताण्डजपङ्क्तिहाराः।
नद्यो विशालपुलिनान्तनितम्बबिम्बा मन्दं प्रयान्ति समदाः प्रमदा इवाद्य॥३॥
व्योम क्वचिद्रजतशङ्खमृणालगौरैस्त्यक्ताम्बुभिर्लघुतया शतशः प्रयातैः।
संलक्ष्यते पवनवेगचलैः पयोदै राजेव चामरवरैरुपवीज्यमानः॥४॥
भिन्नाञ्जनप्रचयकान्ति नभो मनोज्ञं बन्धूकपुष्परचिताऽरुणिता च भूमिः।
वप्राश्च पक्वकलमावृतभूमिभागाः प्रोत्कण्ठयन्ति न मनो भुवि कस्य यूनः॥५॥
मन्दानिलाकुलितचारुतराग्रशाखः पुष्पोद्गमप्रचयकोमलपल्लवाग्रः।
मत्तद्विरेफपरिपीतमधुप्रसेकश्चित्तं विदारयति कस्य न कोविदारः॥६॥
तारागणप्रवरभूषणमुद्वहन्ती मेघावरोधपरिमुक्तशशाङ्कवक्त्रा।
ज्योत्स्नादुकूलममलं रजनी दधाना वृद्धिं प्रयात्यनुदिनं प्रमदेव बाला॥७॥
कारण्डवाननविघट्टितवीचिमालाः कादम्बसारसकुलाकुलतीरदेशाः।
कुर्वन्ति हंसविरुतैः परितो जनस्य प्रीतिं सरोरुहरजोरुणितास्तटिन्यः॥८॥

काश के कपड़े वाली, प्रफुल्लित कमल के समान मनोरम मुखवाली, मद से प्रादुर्भूत हंसों के ध्वनिरूप नूपुर की ध्वनियों से रमणीय, पके धानों से सुन्दर, कृश-समान यष्टि के शरीर वाली रमणीय नववधू के सदृश शरद्-ऋतु आ गयी।॥१॥ काश से पृथिवी, शीत किरणों वाले चन्द्र से रात्रियाँ, हंसों से नदियों के जल, कुमुदों से तालाब, सप्तच्छदों के फूलों से नम्र पेडों से वनों के प्रान्तभाग तथा मालती के फूलों से उपवन सफेद-सफेद दिखलायी पड रहे हैं॥२॥ मुखरित मनोज्ञ छोटी-छोटी मछलियों की करधनीवाली, चारों ओर स्थित सफेद अण्डों से उत्पन्न मालाओंवाली, विस्तीर्ण तटरूपी नितम्बोंवाली नदियाँ उन्मत्त अंगनाओं की तरह मंद-मंद चल रही है॥३॥ यत्र-तत्र चाँदी, शंख तथा कमल के समान गौरवर्ण वाले जल छोड देने से हलकेपन से जाते हुए यह आकाश हवा के झोकों से सैकडों मेघों को झकोरते हुए सैकडों चामरों से सेवित राजा के समान दिखलायी पड रहा है।॥४॥ इधर-उधर लगे हुए काजल की राशि के तुल्य शोभा वाला मनोरम आकाश तथा बन्धूक के फूलों से पृथिवी लाल-लाल हो रही है। पृथिवी का प्राकार पके धानों से आच्छादित है। भला कौन-सा ऐसा युवक होगा जिसका चित्त इसे देखकर उत्कण्ठित न हो॥५॥ मन्द पवन से प्रचालित सुन्दर अग्रशाखाओं वाला, फूलों के प्रादुर्भाव से, कलियों की अधिकता से कोमल पल्लव युक्त अग्रभाग वाला, मन्दोन्मत्त भौंरों के द्वारा पान किया हुआ मधुर रसवाला चमरिक का पेड़ किसके मन को विदीर्ण नहीं करता है॥६॥ तारागणरूपी अनेक अलङ्कारों से अलंकृत होती हुई, मेघों से मुक्त चन्द्ररूपी मुखवाली, चाँदनी रूपी उज्ज्वल वस्त्रधारिणी मदोन्मत्ता बाला की तरह इस ऋतु की रातें प्रतिदिन बढती जा रही हैं॥७॥ जिनकी तरंगरूपी मालाएँ

नेत्रोत्सवो हृदयहारिमरीचिमालः प्रह्लादकः शिशिरसीकरवारिवर्षी।
पत्युर्वियोगविषदिग्धशरक्षतानां चन्द्रो दहत्यतितरां तनुमङ्गनानाम्॥ ९ ॥
आकम्पयन्फलभरानतशालिजालान्यानर्तयँस्तरुवरान् कुसुमावनम्रान् ।
उत्फुल्लपङ्कजवनां नलिनीं विधुन्वन्यूनां मनश्चलयति प्रसभं नभस्वान्॥ १० ॥
सोन्मादहंसमिथुनैरुपशोभितानि स्वच्छप्रफुल्लकमलोत्पलभूषितानि।
मन्दप्रभातपवनोद्गतवीचिमालान्युत्कण्ठयन्ति सहसा हृदयं सरांसि॥ ११ ॥
नष्टं धनुर्बलभिदो जलदोदरेषु सौदामिनी स्फुरति नाद्य वियत्पताका।
धुन्वन्ति पक्षपवनैर्न नभो बलाकाः पश्यन्ति नोन्नतमुखा गगनं मयूराः॥ १२ ॥
नृत्यप्रयोगरहिताञ्छिखिनो विहाय हंसानुपैति मदनो मधुरप्रगीतान्।
मुक्त्वा कदम्बकुटजार्जुनसर्जनीपान्सप्तच्छदानुपगता कुसुमोद्गमश्रीः॥ १३ ॥
शेफालिकाकुसुमगन्धमनोहराणि स्वस्थस्थिताण्डजकुलप्रतिनादितानि ।
पर्यन्तसंस्थितमृगीनयनोत्पलानि प्रोत्कण्ठयन्त्युपवनानि मनांसि पुंसाम्॥ १४ ॥
कह्लारपद्मकुमुदानि मुहुर्विधुन्वंस्तत्सङ्गमादधिकशीतलतामुपेतः।
उत्कण्ठयत्यतितरां पवनः प्रभाते पत्रान्तलग्नतुहिनाम्बुविधूयमानः॥ १५ ॥
सम्पन्नशालिनिचयावृतभूतलानि स्वस्थस्थितप्रचुरगोकुलशोभितानि।
हंसैः ससारसकुलैः प्रतिनादितानि सीमान्तराणि जनयन्ति नृणां प्रमोदम्॥ १६ ॥
हंसैर्जिता सुललिता गतिरङ्गनानामम्भोरुहैर्विकसितैर्मुखचन्द्रकान्तिः।
नीलोत्पलैर्मदकलानि विलोकितानि भ्रूविभ्रमाश्च रुचिरास्तनुभिस्तरङ्गैः॥ १७ ॥

बत्तखों की चोंचों से दो भागों में बँट गयी हैं, जिनके तटों पर हंस तथा सारस पक्षियों का समूह स्थित है तथा जो कमलों के पराग से रागयुक्त हो गयी हैं, हंसों के कलरव से मुखरित ऐसी नदियाँ किनके मनों को प्रसन्न नहीं कर देतीं? ॥ ८ ॥ नेत्रानंदकर, हृदयहारिणी मणिमाला वाले, हर्षप्रद शीतल जलकणों को बरसानेवाला चन्द्र पतिवियोगरूपी बाणों से विद्ध अबलाओं के शरीरों को प्रतिदिन जला रहा है॥ ९ ॥ फलों के बोझ से नम्र हुए, धानों की राशियों को कँपाता हुआ, फूलों से झुके हुए कुरवकों के पेड़ों को झकोरता हुआ, खिले हुए कमलवनों को तथा नलिनियों को हिलाता हुआ शरत्कालीन पवन युवकों के हृदयों को खूब मदमत्त बनाता है॥ १० ॥ मदविह्वल हंसयुग्मों से सुशोभित, स्वच्छ विकसित कमल से विभूषित, मन्दगतियुक्त प्रभात के पवन से उत्पन्न तरंगरूपी माला वाले तालाब हृदयों को सहसा उत्कण्ठित कर रहे हैं॥ ११ ॥ मेघों के पेट में इन्द्रधनुष लीन हो गया, आजकल आकाश की ध्वजारूपी बिजली भी नहीं चमकती है, बगुले भी आकाश में नहीं उड़ रहे हैं तथा मोरगण भी आकाश की ओर मुख करके नहीं देखते हैं॥ १२ ॥ कामदेव नाचने में अयोग्य मोरों को जानकर उन्हें छोड़कर मधुरगानवेत्ता हंसों के पास जा रहा है। पुष्पों की उत्पत्तिश्री कदम्ब, कुटज, अर्जुन, सर्ज तथा नीप आदि वृक्षों को त्यागकर छतिवन के पेड़ में जा रही है॥ १३ ॥ मनोहर गंधवाले पुष्पों की सुगन्ध से मनोरम, निर्मल पक्षिगणों के कलरवों से निनादित तथा जिनके प्रान्तभाग में हिरणियों के नेत्ररूपी कमल हैं, ऐसे उपवन मनुष्यों के मनों को मोहते हैं॥ १४ ॥ सौगन्धिक कमल और कुमुद के फूलों को पुनः-पुनः कँपाता हुआ तथा उनके सम्पर्क से अत्यन्त शीतलता प्राप्त करके एवं पत्रों के प्रान्तभागों में स्थित बरफ के जलों को हरता हुआ पवन प्रभात समय में प्राणियों को अत्यन्त उत्कण्ठित करता है॥ १५ ॥ तैयार हुए धानों के ढेरों से घिरे हुए भूतल, घबड़ाहट रहित (निश्चिन्त) बैठी हुई गायें तथा हंस एवं सारसों के कलरवों से प्रतिध्वनित सीमा के अन्तभाग जनों को हर्षान्वित कर रहे हैं॥ १६ ॥ रमणियों की सुललित गति

श्यामा लताः कुसुमभारनतप्रवालाः स्त्रीणां हरन्ति धृतभूषणबाहुकान्तिम्।
दन्तावभासविशदस्मितचन्द्रकान्तिं कङ्केलिपुष्परुचिरा नवमालती च॥ १८॥
केशान्नितान्तघननीलविकुञ्चिताग्रानापूरयन्ति वनिता नवमालतीभिः।
कर्णेषु च प्रवरकाञ्चनकुण्डलेषु नीलोत्पलानि विविधानि निवेशयन्ति॥ १९॥
हारैः सचन्दनरसैः स्तनमण्डलानि श्रोणीतटं सुविपुलं रसनाकलापैः।
पादाम्बुजानि कलनूपुरशेखरैश्च नार्यः प्रहृष्टमनसोऽद्य विभूषयन्ति॥ २०॥
स्फुटकुमुदचितानां राजहंसाश्रितानां मरकतमणिभासा वारिणा भूषितानाम्।
श्रियमतिशयरूपां व्योम तोयाशयानां वहति विगतमेघं चन्द्रतारावकीर्णम्॥ २१॥
शरदि कुमुदसङ्गाद्वायवो वान्ति शीता विगतजलदवृन्दा दिग्विभागा मनोज्ञाः।
विगतकलुषमम्भः श्यानपङ्का धरित्री विमलकिरणचन्द्रं व्योम ताराविचित्रम्॥ २२॥
करकमलमनोज्ञाः कान्तसंसक्तहस्ता वदनविजितचन्द्राः काश्चिदन्यास्तरुण्यः।
रचितकुसुमगन्धि प्रायशो यान्ति वेश्म प्रबलमदनहेतोस्त्यक्तसङ्गीतरागाः॥ २३॥
सुरतरसविलासाः सत्सखीभिः समेता असमशरविनोदं सूचयन्ति प्रकामम्।
अनुपममुखरागा रात्रिमध्ये विनोदं शरदि तरुणकान्ताः सूचयन्ति प्रमोदान्॥ २४॥
दिवसकरमयूखैर्बोध्यमानं प्रभाते वरयुवतिमुखाभं पङ्कजं जृम्भतेऽद्य।
कुमुदमपि गतेऽस्तं लीयते चन्द्रबिम्बे हसितमिव वधूनां प्रोषितेषु प्रियेषु॥ २५॥

हंसों द्वारा जीत ली गयी। ललनाओं के चन्द्रमुखों की शोभा विकसित कमलों द्वारा ले ली गयी। मद से चपल नेत्रशोभा नीले कमलों द्वारा हरण कर ली गयी तथा नदियों की सूक्ष्म लहरों द्वारा भ्रूविलास छीन लिये गये॥ १७॥ फूलों के बोझ से लदी हुई श्यामा लता द्वारा स्त्रियों की आभूषणों सहित भुजाओं की शोभा हरण कर ली गयी। कंकेलि फूल मे रुचिर तथा नूतन मालती द्वारा दाँतों की प्रभा से निर्मल मुखचन्द्रकांति हरण कर ली गयी॥ १८॥ वनिताएँ सान्द्र तथा सघन एवं काले और घुँघराले बालों के अग्रभाग में मालती पुष्पों को लगाती हैं। उत्तम स्वर्ण के कुण्डलों से युक्त कानों में अनेक प्रकार के विचित्र नीले कमलों को धारण कर रही हैं॥ १९॥ प्रसन्न चित्तवाली रमणियों द्वारा स्तनमण्डल पर चन्दनरस से युक्त मालाएँ धारण की जा रही हैं तथा करधनियों से विपुल नितम्ब सजाये जा रहे हैं एवं श्रेष्ठ नूपुरों से चरणकमल शोभित किये जा रहे हैं॥ २०॥ स्वच्छ कमलों से व्याप्त तथा राजहंसों से सेवित पन्ने (मरकतमणि) के समान शोभा वाले जल से अलंकृत विपुल जलाशयों की छटा को मेघहीन तथा चन्द्र एवं तारागणों से परिपूर्ण आकाश धारण कर रहा है॥ २१॥ शरद्-ऋतु में फूलों के संस्पर्श से पवन शीतल होकर बहता है। मेघों के न रहने से दिशाएँ स्वच्छ हो गयी हैं। जल विमल तथा कीचड़ रहित पृथ्वी, निर्मल रश्मियों वाला चन्द्र एवं ताराओं से चित्रित आकाश रंग-बिरंगा लग रहा है॥ २२॥ चन्द्रमा से सुन्दर मुखों वाली कुछ दूसरी युवतियाँ कामातुर होने के कारण नाच-गाना छोड़कर अपने कमल के समान सुकुमार हाथों को अपने प्रिय के हाथों में डालकर उस घर में जा रही हैं जहाँ सुगन्धित सेज बिछी हुई है॥ २३॥ शरद्-ऋतु में सहवास-रस लेने वाली, अनुपम मुखराग करने वाली युवतियाँ जब अपनी सखियों के साथ बैठती हैं, तो परस्पर रात्रि में लिये गये सुखों का विशद वर्णन किया करती हैं॥ २४॥ प्रभात में सूर्यकिरणों मे प्रफुल्लित उत्तम अंगना के मुख के तुल्य कान्तिवाला यह पद्म प्रफुल्लित हो रहा है। रमणों के विदेश जाने पर रमणियों के हास्य के तुल्य क्षीण कैरव का पुष्प भी चन्द्रबिम्ब के अस्त हो जाने पर क्षीण हो रहा है॥ २५॥ पद्मों में अपनी प्रिया के नीले नयनों की शोभा जानकर, प्रमत्त हंसों के कलरवों में अपनी भार्या के सुवर्ण की करधनी की ध्वनि समझकर, दुपहरिया के फूलों

अस्तिनयनलक्ष्मीं लक्षयित्वोत्पलेषु क्वणितकनककाञ्चीं मत्तहंसस्वनेषु।
अधररुचिरशोभां वन्धुजीवे प्रियाणां पथिकजन इदानीं रोदिति भ्रान्तचित्तः॥ २६॥
स्त्रीणां विहाय वदनेषु शशाङ्कलक्ष्मीं काम्यं च हंसवचनं मणिनूपुरेषु।
वन्धूककान्तिमधरेषु मनोहरेषु क्वापि प्रयाति सुभगा शरदागमश्रीः॥ २७॥
विकचकमलवक्त्रा फुल्लनीलोत्पलाक्षी विकसितनवकाशश्वेतवासो वसाना।
कुमुदरुचिरकान्तिः कामिनीवोन्मदेयं प्रतिदिशतु शरद्वश्चेतसः प्रीतिमग्र्याम्॥ २८॥

॥ इति महाकविकालिदासकृतौ ऋतुसंहारे शरद्वर्णनं नाम तृतीयः सर्गः॥

में कान्ता के अधरों की समानता समझकर पथिक-गण विमूढ़ होकर रो रहे हैं॥ २६॥ सुन्दर शरद् की शोभा चन्द्र की शोभा को स्त्रियों के मुखों में, रमणीय हंस के कलरवों को मणिनूपुरों के शब्दों में और दुपहरिया के फूलों की शोभा को मनोहर अधरों में छोड़कर कहाँ जा रही है॥ २७॥ प्रफुल्लित कमल के समान मुखवाली, विकसित नीलकमल के तुल्य नयनों वाली, खिले हुए नवीन काश के फूलों के समान सफेद कपड़े वाली, कुमुद के समान सुन्दर रूपवाली मदोन्मत्त नायिका की तरह यह शरदृतु आपकी प्रीति को बढ़ायें॥ २८॥

इस प्रकार ऋतुसंहार के तृतीय सर्ग में शरद्-ऋतु-वर्णन समाप्त हुआ।

चतुर्थः सर्गः

(हेमन्तवर्णनम्)

नवप्रवालोद्गमसस्यरम्यः प्रफुल्ललोध्रः परिपक्वशालिः।
विलीनपद्मः प्रपततुषारो हेमन्तकालः समुपागतोऽयम्॥ १॥
मनोहरैश्चन्दनरागगौरैस्तुषारकुन्देन्दुनिभैश्च हारैः।
विलासिनीनां स्तनशालिनीनां नामलङ्क्रियन्ते स्तनमण्डलानि॥ २॥
न बाहुयुग्मेषु विलासिनीनां प्रयान्ति सङ्गं वलयाङ्गदानि।
नितम्बविम्बेषु नवं दुकूलं तन्वंशुकं पीनपयोधरेषु॥ ३॥
काञ्चीगुणैः काञ्चनरत्नचित्रैर्नो भूषयन्ति प्रमदा नितम्बान्।
न नूपुरैर्हंसरुतं भजद्भिः पादाम्बुजान्यम्बुजकान्तिभाञ्जि॥ ४॥
गात्राणि कालीयकचर्चितानि सपत्रलेखानि मुखाम्बुजानि।
शिरांसि कालागुरुधूपितानि कुर्वन्ति नार्यः सुरतोत्सवाय॥ ५॥
रतिश्रमक्षामविपाण्डुवक्त्राः सम्प्राप्तहर्षाभ्युदयास्तरुण्यः।
हसन्ति नोच्चैर्दशनाग्रभिन्नान्प्रपीड्यमानानधरानवेक्ष्य॥ ६॥
पीनस्तनोरःस्थलभागशोभामासाद्य तत्पीडनजातखेदः।
तृणाग्रलग्नैस्तुहिनैः पतद्भिराक्रन्दतीवोषसि शीतकालः॥ ७॥
प्रभूतशालिप्रसवैश्चितानि मृगाङ्गनायूथविभूषितानि।
मनोहरक्रौञ्चनिनादितानि सीमान्तराण्युत्सुकयन्ति चेतः॥ ८॥
प्रफुल्लनीलोत्पलशोभितानि सोन्मादकादम्बविभूषितानि।
प्रसन्नतोयानि सुशीतलानि सरांसि चेतांसि हरन्ति पुंसाम्॥ ९॥

नूतन पल्लवों के उद्गम तथा फूलों से मनोहर, फूल गये हैं लोध्रकुसुम जिसमें तथा परिपक्व हो गये हैं धान जिसमें और लुप्त हो गये हैं कमल जिसमें, ऐसा तुषार गिराने वाला यह हेमन्तऋतु का समय आ गया है॥ १॥ आजकल प्रशस्त स्तनोंवाली विलासिनियों के मनोहर चन्दन के राग से, वरफ एवं कुन्द और चन्द्र की प्रभा के समान मालाओं से रमणियाँ अपने कुचमण्डलों को सुशोभित करती हैं॥ २॥ इस समय विलासवती नारियों के बाहुओं में कंकण, बाजूबन्द आदि नहीं हैं। जघनस्थलों पर नूतन वस्त्र हैं, किन्तु पीन स्तनों पर बारीक वस्त्र ही हैं॥ ३॥ प्रमदाएँ अपने नितम्बों को सुवर्ण तथा मणियों से जड़ित करधनियों से नहीं सजातीं तथा हंसों के शब्दों के अनुकरणकारी नूपुरों से पद्म की छवि को धारण करने वाले अपने चरणकमलों को भी नहीं सजाती हैं॥ ४॥ नारियाँ रतिक्रीडा के लिए शरीर को कालीयक चूर्ण से तथा पत्र-रचनाओं से मुखपद्मों को और काले अगर से अपने शिरों के केशों को सुगन्धित कर रही हैं॥ ५॥ कामक्रीडा से खिन्न मुखवाली तरुणियाँ हर्ष का काल पाकर भी रागरञ्जित अपने अधरोष्ठों को दन्तक्षत युक्त देखकर जोर से नहीं हँसती हैं॥ ६॥ पीन कुचों वाली छाती की शोभा प्राप्त कर तथा कुचपीडन से क्लेश प्राप्त कर यह शीतकाल गिरते हुए तृणों के अग्रभागों में संलग्न वरफ से प्रभातकाल में मानो रो रहा है॥ ७॥ धानों की बहुत बालों से पूर्ण, मृगी-गणों के समुदाय से विभूषित, मनोहर क्रौञ्चपक्षियों के कलरवों से ध्वन्यमान सीमा-प्रदेश मन को पुलकित कर रहे हैं॥ ८॥ फूले हुए

मार्गं समीक्ष्यातिनिरस्तनीरं प्रवासखिन्नं पतिमुद्वहन्त्यः।
अवेक्ष्यमाणा हरिणेक्षणाक्ष्यः प्रबोधयन्तीव मनोरथानि॥ १०॥
पाकं व्रजन्ती हिमजातशीतैराधूयमाना सततं मरुद्भिः।
प्रिये प्रियङ्गुः प्रियविप्रयुक्ता विपाण्डुतां याति विलासिनीव॥ ११॥
पुष्पासवामोदसुगन्धिवक्त्रो निःश्वासवातैः सुरभीकृताङ्गः।
परस्पराङ्गव्यतिषङ्गशायी शेते जनः कामरसानुविद्धः॥ १२॥
दन्तच्छदैः सव्रणदन्तचिह्नैः स्तनैश्च पाण्यग्रकृताभिलेखैः।
संसूच्यते निर्दयमङ्गनानां रतोपभोगो नवयौवनानाम्॥ १३॥
काचिद्विभूषयति दर्पणसक्तहस्ता बालातपेषु वनिता वदनारविन्दम्।
दन्तच्छदं प्रियतमेन निपीतसारं दन्ताग्रभिन्नमवकृष्य निरीक्षते च॥ १४॥
अन्या प्रकामसुरतश्रमखिन्नदेहा रात्रिप्रजागरविपाटलनेत्रपद्मा।
स्रस्तांसदेशलुलिताकुलकेशपाशा निद्रां प्रयाति मृदुसूर्यकराभितप्ता॥ १५॥
निर्माल्यदाम परिमुक्तमनोज्ञगन्धं मूर्ध्नोऽपनीय घननीलशिरोरुहान्ताः।
पीनोन्नतस्तनभरानतगात्रयष्ट्यः कुर्वन्ति केशरचनामपरास्तरुण्यः॥ १६॥
अन्या प्रियेण परिभुक्तमवेक्ष्य गात्रं हर्षान्विता विरचिताधरचारुशोभा।
कूर्पासकं परिदधाति नखक्षताङ्गी व्यालम्बिनीलललितालककुञ्चिताक्षी॥ १७॥
अन्याश्चिरं सुरतकेलिपरिश्रमेण खेदं गताः प्रशिथिलीकृतगात्रयष्ट्यः।
संहृष्यमाणपुलकोरुपयोधरान्ता अभ्यञ्जनं विदधति प्रमदाः सुशोभाः॥ १८॥

नीलकमलों से सुशोभित, कलरव करते हुए कलहंसों से युक्त, निर्मल तथा शीतल जलवाले सरोवर युवकों के चित्तों को प्रफुल्लित कर रहे हैं॥ ९॥ जिनके पति परदेश गये हैं वे मृगनयनी स्त्रियाँ जब मार्गों को कीचड़ रहित देखती हैं, तो वे अपने परदेशी पतियों के आने की बाट जोहती हुई अपने चिर-संचित मनोरथों की अब पूर्ति होगी, मानो ऐसी आशा करने लगती हैं॥ १०॥ हे प्रिये! तुषार के शीत से पाक को प्राप्त तथा निरन्तर पवन-वेग से कम्पित यह प्रियङ्गुलता पतिवियुक्ता विलासिनी के समान पाण्डुरंग की हो रही है॥ ११॥ फूलों के रसों की सुगन्ध से सुवासित मुखवाला, श्वासों के पवन से सुवासित शरीरवाला, कामबाणों से बिंधा हुआ कामीजन परस्पर देह के स्पर्श-लोभ से सो रहा है॥ १२॥ दन्तक्षतों से तथा हाथों के नाखूनों से स्तनों पर के चिह्नों से नवीन युवतियों के साथ निर्दय रति-विलास हुआ है, ऐसा जाना जाता है॥ १३॥ कोई बाला प्रभात में अपने हाथों में दर्पण (शीशे) को लेकर अपने मुखकमल को सजाती हैं तथा अपने प्रियतम द्वारा दाँतों के अग्रभागों से पीये गये रसवाले अधरोष्ठों के क्षतों को इधर-उधर कर देख रही हैं॥ १४॥ कोई रमणी अत्यन्त रति के श्रम से शिथिल शरीरवाली रात में जागने से जिसके नेत्रकमल लाल हो गये हैं तथा जिनके कन्धों पर केश-पाश बिखर रहे हैं, वे रमणियाँ प्रभात में सूर्य की हलकी गरम किरणों से सन्तुष्ट होकर निद्रा ले रही हैं॥ १५॥ घने तथा काले बालोंवाली, परिपुष्ट तथा उन्नत स्तनों से जिनकी छाती झुक हो गयी है वे तरुणियाँ जिन फूलों से गन्ध निकल चुकी है ऐसे फूलों की मालाओं को शिर से उतार कर अपने बालों को फिर से सँवार रही हैं॥ १६॥ कोई-कोई बाला अपनी देह को अपने पति से उपभुक्त देखकर आनन्दित होकर, अधरों तथा कपोलों की रचना करती हुई वह नखक्षतांगी सुन्दर अलकावाली तथा तिरछी नजरोंवाली चोली पहन रही है॥ १७॥ रतिक्रीड़ा के परिश्रम से चिरकाल तक शिथिल शरीरवाली तथा खिन्न देहवाली, रोमाञ्चयुक्त परिपुष्ट जाँघों तथा पीन स्तनों को धारण करने वाली, सुन्दर शोभावाली कोई-कोई रमणियाँ

बहुगुणरमणीयो योषितां चित्तहारी परिणतबहुशालिव्याकुलग्रामसीमा।
विनिपतिततुषारः क्रौञ्चनादोपगीतः प्रदिशतु हिमयुक्तः काल एषः सुखं वः ॥ १९ ॥

॥ इति महाकविकालिदासकृतौ ऋतुसंहारे हेमन्तवर्णनं नाम चतुर्थः सर्गः ॥

सुगन्धित तैल आदि मर्दन कर रही हैं ॥ १८ ॥ अनेक गुणों से रमणीय, अङ्गनाओं के चित्तों को हरनेवाला, परिपक्व धानों से ग्रामों के सीमाओं की शोभा बढानेवाला, चारों ओर पाला पडा, क्रौञ्चपक्षियों के गीतों से व्याप्त, बरफयुक्त यह हेमन्तऋतु आप सबको सुख प्रदान करे ॥ १९ ॥

इस प्रकार ऋतुसंहार के चतुर्थ सर्ग में हेमन्तऋतु-वर्णन समाप्त हुआ।

पञ्चमः सर्गः

(शिशिरवर्णनम्)

प्ररूढशालीक्षुचयावृतक्षितिं क्वचित्स्थितक्रौञ्चनिनादराजितम्।
प्रकामकामं प्रमदाजनप्रियं वरोरु! कालं शिशिराह्वयं शृणु॥ १॥
निरुद्धवातायनमन्दिरोदरं हुताशनो भानुमतो गभस्तयः।
गुरूणि वासांस्यबलाः सयौवनाः प्रयान्ति कालेऽत्र जनस्य सेव्यताम्॥ २॥
न चन्दनं चन्द्रमरीचिशीतलं न हर्म्यपृष्ठं शरदिन्दुनिर्मलम्।
न वायवः सान्द्रतुषारशीतला जनस्य चित्तं रमयन्ति साम्प्रतम्॥ ३॥
तुषारसङ्घातनिपातशीतलाः शशाङ्कभाभिः शिशिरीकृताः पुनः।
विपाण्डुतारागणचारुभूषणा जनस्य सेव्या न भवन्ति रात्रयः॥ ४॥
गृहीतताम्बूलविलेपनस्रजः पुष्पासवामोदितवक्त्रपङ्कजाः।
प्रकामकालागुरुधूपवासितं विशन्ति शय्यागृहमुत्सुकाः स्त्रियः॥ ५॥
कृतापराधान् बहुशोऽभि तर्जितान् सवेपथून् साध्वसलुप्तचेतसः।
निरीक्ष्य भर्तृन्सुरताभिलाषिणः स्त्रियोऽपराधान्समदा विसस्मरुः॥ ६॥
प्रकामकामैर्युवभिः सनिर्दयं निशासु दीर्घास्वभिरामिताश्चिरम्।
भ्रमन्ति मन्दं श्रमखेदितोरवः क्षपावसाने नवयौवनाः स्त्रियः॥ ७॥
मनोज्ञकूर्पासकपीडितस्तनाः सरागकौशेयकभूषितोरवः।
निवेशितान्तःकुसुमैः शिरोरुहैर्विभूषयन्तीव हिमागमं स्त्रियः॥ ८॥

हे सुन्दर जाँघोंवाली प्रिये! पके हुए धान तथा इक्षुओं के खेतों से मनोहर कहीं-कहीं वृक्षों की छाया में बैठे हुए क्रौञ्चपक्षियों के कलरवों से शोभायमान, प्रमदाजनों को प्रिय और अत्यन्त कामवर्धक इस शिशिरऋतु को सुनो॥ १॥ आजकल बन्द खिड़कियों के भवन, अग्नि एवं सूर्य की किरणें और मोटे कपड़े तथा युवती स्त्रियाँ जनों के लिए सेवनीय होती हैं॥ २॥ आजकल चन्द्रकिरणों के समान शीतल चन्दन तथा शरत्-चन्द्र से धवलित छतें एवं खूब बरफ से शीतल पवन मनुष्यों के चित्तों को आनन्दित नहीं करते॥ ३॥ बरफ समूह से तथा पुनः चन्द्ररश्मियों से शीतल की हुई रातें, जो सफेद तारागणों तथा आभूषणों से अलंकृत हैं, वे किन मनुष्यों को हर्षदायिनी नहीं होती हैं॥ ४॥ पान तथा इत्रों से परिपूरित मालाओं को लिये हुए तथा सुखदायी पुष्पासव से सुवासित मुख-कमलवाली रमणियाँ काला अगर से खूब सुगन्धित किये हुए शयनागारों में उत्कण्ठा से घुस रही हैं॥ ५॥ मदोन्मत्त, सुरतक्रीडा को चाहनेवाली रमणियाँ परस्त्रीगमनकारी अपराधी अनेक बार ताडित, कम्पित, भय से मन्दचेतनवाले अपने पतियों को देखकर उनके अपराधों को भूल गयी हैं॥ ६॥ अति कामपीडित युवकों से शीतकाल की बड़ी-बड़ी रात्रियाँ निर्दयतापूर्वक चिरकाल तक भोगी हुई तथा रतिकेलि के परिश्रम से खिन्न जाँघोंवाली नवीन युवतियाँ रात के बीतने पर धीरे-धीरे विचरण कर रही हैं॥ ७॥ मनोहारिणी चोलियों से कसे हुए कुचोंवाली, रंगे हुए रेशमी कपड़ों से युक्त जाँघोंवाली नायिकाएँ, अपने बालों के बीच में फूलों को धारण किये हुए स्त्रियाँ मानो शिशिर को शोभायमान कर रही हैं॥ ८॥ विलासिनी स्त्रियों द्वारा कुंकुमराग

पयोधरैः कुङ्कुमरागपिञ्जरैः सुखोपसेव्यैर्नवयौवनोष्मभिः।
विलासिनीभिः परिपीडितोरसः स्वपन्ति शीतं परिभूय कामिनः॥ ९॥
सुगन्धिनिःश्वासविकम्पितोत्पलं मनोहरं कामरतिप्रबोधकम्।
निशासु हृष्टाः सह कामिभिः स्त्रियः पिबन्ति मद्यं मदनीयमुत्तमम्॥ १०॥
अपगतमदरागा योषिदेका प्रभाते कृतनिविडकुचाग्रा पत्युरालिङ्गनेन।
प्रियतमपरिभुक्तं वीक्षमाणा स्वदेहं व्रजति शयनवासाद्वासमन्यं हसन्ती॥ ११॥
अगुरुसुरभिधूपामोदितं केशपाशं गलितकुसुममालं वहन्ती कुञ्चिताग्रम्।
त्यजति गुरुनितम्बा निम्ननाभिःसुमध्या उषसि शयनमन्या कामिनी चारुशोभाम्॥ १२॥
कनककमलकान्तैश्चारुताम्राधरोष्ठैः श्रवणतटनिषक्तैः पाटलोपान्तनेत्रैः।
उषसि वदनबिम्बैरंससंसक्तकेशैः श्रिय इव गृहमध्ये संस्थिता योषितोऽद्य॥ १३॥
पृथुजघनभरार्ताः किञ्चिदानम्रमध्याः स्तनभरपरिखेदान्मन्दमन्दं व्रजन्त्यः।
सुरतसमयवेशं नैशमाशु प्रहाय दधति दिवसयोग्यं वेषमन्यास्तरुण्यः॥ १४॥
नखपदचितभागान्वीक्षमाणाः स्तनान्तानधरकिसलयाग्रं दन्तभिन्नं स्पृशन्त्यः।
अभिमतरतवेशं नन्दयन्त्यस्तरुण्यः सवितुरुदयकाले भूषयन्त्याननानि॥ १५॥
प्रचुरगुडविकारः स्वदुशालीक्षुरम्यः प्रबलसुरतकेलिर्जातकन्दर्पदर्पः।
प्रियजनरहितानां चित्तसन्तापहेतुः शिशिरसमय एष श्रेयसे वोऽस्तु नित्यम्॥ १६॥

॥ इति महाकविकालिदासकृतौ ऋतुसंहारे शिशिरवर्णनं नाम पञ्चमः सर्गः॥

से पीले किये हुए, सुख से भोगने योग्य नवीन तरुणतारूप कुचों से पीड़ित अन्तःकरणवाले विलासीजन शीत का तिरस्कार कर शयन कर रहे हैं॥ ९॥ सुवासित श्वास से कम्पित कमलवाले, मनोहर कामक्रीड़ा के प्रवोधक, उत्तम कामवासना को उद्दीप्त करने वाले मद्य को वल्लभाएँ वल्लभों के साथ रात में हर्षित होकर पीती हैं॥ १०॥ प्रभात में मदराग रहित कोई स्त्री पति के आलिंगन से जिसके कुचाग्र मीसे गये हैं, वह अपनी देह को पति से उपभुक्त देखकर हँसती हुई केलिगृह मे अन्य गृह में चली जा रही है॥ ११॥ अगर की सुगन्धवाली धूप से सुवासित जूड़ों से मोहित तथा जिसकी माला विखर गयी है एवं केश टेढे-मेढ़े हो गये हैं और जिसकी पतली कमर है तथा वडे-वडे नितम्वोंवाली एवं गहरी नाभिवाली कोई कामिनी प्रभात में शयन को छोड रही है॥ १२॥ सुन्दर लाल ओठोंवाली, सोने के कमलों के समान सुन्दर, कानों के समीप तक गये हुए लाल नेत्रप्रान्तों से तथा कन्धों पर चिपके हुए बालों से विभूषित स्त्रियाँ सुवह गृहलक्ष्मी के समान प्रतीत होती हैं॥ १३॥ विशाल जाँघों के भार से पीड़ित, जरा पतली मध्यभागवाली, कुचों के भार से क्लेशित होकर धीरे-धीरे चलनेवाली कोई बाला रात्रि के रतिकालीन वेश को जल्दी छोड़कर दिन के लायक वेश धारण करती है॥ १४॥ स्तनों पर के नखक्षतों को देखती हुई, व्रणों का संस्पर्श करती हुई, अभिलषित रस की प्राप्ति से आनन्दित होती हुई कोई-कोई युवतियाँ प्रातःकाल अपने मुखों को सजाती हैं॥ १५॥ गुड़ से बने हुए विविध भोज्य पदार्थ, स्वादु चावल, ईख इस समय पर्याप्त मिलते हैं। प्रवल रतिक्रीड़ा से काम के अभिमान का उत्पादक, प्रियजनों के विरहियों के चित्तों को सन्ताप देने वाला यह शिशिर का काल आप लोगों का सर्वदा कल्याण करें॥ १६॥

इस प्रकार ऋतुसंहार के पञ्चम सर्ग में शिशिर-वर्णन समाप्त हुआ।

षष्ठः सर्गः

(वसन्तवर्णनम्)

प्रफुल्लचूताङ्कुरतीक्ष्णसायको द्विरेफमालाविलसद्धनुर्गुणः।
मनांसि भेत्तुं सुरतप्रसङ्गिनां वसन्तयोद्धा समुपागतः प्रिये!॥१॥
द्रुमाः सपुष्पाः सलिलं सपद्मं स्त्रियः सकामाः पवनः सुगन्धिः।
सुखाः प्रदोषा दिवसाश्च रम्याः सर्वं प्रिये! चारुतरं वसन्ते॥२॥
ईषत्तुषारैः कृतशीतहर्म्यः सुवासितं चारु शिरश्च चम्पकैः।
कुर्वन्ति नार्योऽपि वसन्तकाले स्तनं सहारं कुसुमैर्मनोहरैः॥३॥
वापीजलानां मणिमेखलानां शशाङ्कभासां प्रमदाजनानाम्।
चूतद्रुमाणां कुसुमान्वितानां ददाति सौभाग्यमयं वसन्तः॥४॥
कुसुम्भरागारुणितैर्दुकूलैर्नितम्वबिम्बानि विलासिनीनाम्।
तन्वंशुकैः कुङ्कुमरागगौरैरलङ्क्रियन्ते स्तनमण्डलानि॥५॥
कर्णे सु योग्यं नवकर्णिकारं चलेषु नीलेष्वलकेष्वशोकम्।
पुष्पं च फुल्लं नवमल्लिकायाः प्रयान्ति कान्तिं प्रमदाजनानाम्॥६॥
स्तनेषु हाराः सितचन्दनार्द्रा भुजेषु सङ्गं वलयाङ्गदानि।
प्रयान्त्यनङ्गातुरमानसानां नितम्बिनीनां जघनेषु काञ्च्यः॥७॥
सपत्रलेखेषु विलासिनीनां वक्त्रेषु हेमाम्बुरुहोपमेषु।
रत्नान्तरे मौक्तिकसङ्गरम्यः स्वेदागमो विस्तरतामुपैति॥८॥
उच्छ्वासयन्त्यः श्लथबन्धनानि गात्राणि कन्दर्पसमाकुलानि।
समीपवर्तिष्वधुना प्रियेषु समुत्सुका एव भवन्ति नार्यः॥९॥

हे प्रिये! प्रफुल्लित आम के वृक्षों के अंकुररूपी तेज बाणवाला, भौंरों की माला रूपी धनुष की डोरीवाला यह वसन्त समयरूपी वीर विलासियों के चित्तों को विदीर्ण करने के लिए आ गया॥१॥ हे प्रिये! फूलों से युक्त पेड़, कमलों से युक्त जल, कामयुक्ता नारियाँ, सुगन्धि से युक्त पवन, सुखद सायंकाल, रमणीय दिवस, वसन्त ऋतु में उक्त सभी मनोहर मालूम होते हैं॥२॥ वसन्त ऋतु में घर के छतों पर ठंडी ओस छा गयी है, जूड़ा में लगे हुए चम्पा के फूलों से सिर महकने लगा है तथा स्त्रियाँ अपने स्तनों पर मनोहर फूलों की मालाएँ धारण करने लगी हैं॥३॥ यह वसन्त बावलियों के जलों को, मणियों की करधनियों को, चन्द्रप्रभावाली अङ्गनाओं को तथा फूलों से झुके हुए आम के वृक्षों को सुभगता प्रदान करता है॥४॥ विलासवर्ती रमणियों के नितम्बों को कुसुम रंग से रंगे हुए कपड़ों से तथा कुचमण्डलों को कुङ्कुम के रंग से, रेशमी वस्त्रों से आजकल सजाया जाता है॥५॥ इस ऋतु में युवतियों के कानों में नूतन कनैल के फूल के गहने, चंचल काली अलकों में लगे हुए अशोक के फूल प्रफुल्लित चमेली के फूलों की प्रभा के समान मालूम होते हैं॥६॥ मदनातुर नितम्बिनियों के कुचों में सफेद चन्दन से सिक्त मालाएँ तथा बाँहों में बाजूबन्द और कंगन एवं जघनस्थलों पर करधनी आजकल सुशोभित हो रही है॥७॥ हे प्रिये! कामवती सुन्दरियों के पत्रादि रचनावाले स्वर्ण-कमल के समान मुखों पर मणियों के मध्य में मोतियों के सम्पर्क से मनोहर पसीना फैल रहा है॥८॥ आजकल

तनूनि पाण्डूनि मदालसानि मुहुर्मुहुर्जृम्भणतत्पराणि।
अङ्गान्यनङ्गः प्रमदाजनस्य करोति लावण्यससम्भ्रमाणि॥ १०॥

छायां जनः समभिवाञ्छति पादपानां नक्तं तथेच्छति पुनः किरणं सुधांशोः।
हर्म्यं प्रयाति शयितुं सुखशीतलञ्च कान्तां च गाढमुपगूहति शीतलत्वात्॥ ११॥

नेत्रेषु लोलो मदिरालसेषु गण्डेषु पाण्डुः कठिनः स्तनेषु।
मध्येषु निम्नो जघनेषु पीनः स्त्रीणामनङ्गो बहुधा स्थितोऽद्य॥ १२॥

अङ्गानि निद्रालसविभ्रमाणि वाक्यानि किञ्चिन्मदिरालसानि।
भ्रूक्षेपजिह्मानि च वीक्षितानि चकार कामः प्रमदाजनानाम्॥ १३॥

प्रियङ्गुकालीयककुङ्कुमाक्तं स्तनेषु गौरेषु विलासिनीभिः।
आलिप्यते चन्दनमङ्गनाभिर्मदालसाभिर्मृगनाभियुक्तम्॥ १४॥

गुरूणि वासांसि विहाय तूर्णं तनूनि लाक्षारसरञ्जितानि।
सुगन्धिकालागुरुधूपितानि धत्ते जनः काममदालसाङ्गः॥ १५॥

पुंस्कोकिलश्चूतरसासवेन मत्तः प्रियां चुम्बति रागहृष्टः।
कूजन्द्विरेफोऽप्ययमम्बुजस्थः प्रियं प्रियायाः प्रकरोति चाटु॥ १६॥

ताम्रप्रवालस्तबकावनम्राश्चूतद्रुमाः पुष्पितचारुशाखाः।
कुर्वन्ति कामं पवनावधूताः पर्युत्सुकं मानसमङ्गनानाम्॥ १७॥

आमूलतो विद्रुमरागताम्रं सपल्लवाः पुष्पचयं दधानाः।
कुर्वन्त्यशोका हृदयं सशोकं निरीक्ष्यमाणा नवयौवनानाम्॥ १८॥

स्त्रियाँ, जिनके बन्धन शिथिल हो गये हैं तथा कामदेव से क्लेशित अपने अङ्गों को फड़फड़ाती हुई पतियों के पास होने पर भी उनसे मिलने के लिए उत्सुक हो उठती हैं॥ ९॥ आजकल कामदेव प्रमदाओं की देहों को कृश, श्वेत रङ्गवाला, जड़तुल्य बार-बार आलस्य से जंभाई लेने में तत्पर तथा सौन्दर्य से वेगवान् बना रहा है॥ १०॥ इन दिनों लोग दिन में पेड़ों की छाया का आश्रय लिया करते हैं तथा रात में चन्द्रमा की किरणों का आनन्द लेना चाहते हैं, अतएव सोने के लिए चन्द्रकिरणों से सुखद एवं शीतल प्रासाद-शिखर पर चले जाते हैं, ठंडा लगने पर कान्ता का गाढ़ आलिंगन करते हैं॥ ११॥ आजकल स्त्रियों में कामदेव निम्नोक्त अनेक भाँति से विद्यमान है— मदिरा से अलसाये नयनों में चञ्चलता, गालों पर पाण्डुरता, स्तनों पर कठिनता, कमर में नम्रता आदि-आदि रीति से॥ १२॥ आजकल कामदेव स्त्रियों के शरीरों को निद्रा के आलस से विभ्रमयुक्त, बोलियों को कुछ मद से चादुतायुक्त तथा नेत्रों को भौंहों के विक्षेप से कुटिलतायुक्त बनाये है॥ १३॥ आजकल मदों से अलसाती हुई स्त्रियों द्वारा गौरवर्ण के कुचों पर अगर, केशर तथा कुङ्कुम से परिपूर्ण कस्तूरीयुक्त चन्दन का लेप किया जा रहा है॥ १४॥ काममद से अलसाये हुए जन भारी कपड़ों को छोड़कर शरीरों पर लाख के रङ्ग से हल्के रङ्गे हुए सुगन्धित काले अगर से सुवासित कपड़ों को पहनते हैं॥ १५॥ यह कोकिलपक्षी आम के रसासव से उन्मत्त होकर राग से हर्षित होकर अपनी प्रिया के मुखों को चूमता है तथा कमलों पर बैठे हुए ये भ्रमरगण भी गुञ्जार करते हुए अपनी प्रियाओं को (भ्रमरियों को) प्यार कर रहे हैं॥ १६॥ लाल-लाल पल्लवों के गुच्छों से नम्र, फूलों से युक्त सुन्दर डालियोंवाले पवन के झकोरों से कम्पित ये आम के पेड़ नारियों के चित्तों को अत्यन्त उत्कण्ठित करते हैं॥ १७॥ जड़ों तक मूंगे के समान रक्तवर्ण पत्तों के सहित फूलों के ढेर को धारणकर्ता स्त्रियों द्वारा देखे गये अशोक के वृक्ष नवयुवतियों के हृदयों को शोकान्वित करते

मत्तद्विरेफपरिचुम्बितचारुपुष्पा मन्दानिलाकुलितनम्रमृदुप्रवालाः।
कुर्वन्ति काममनसां सहसोत्सुकत्वं चूताभिरामकलिकाः समवेक्ष्यमाणाः॥१९॥
कान्तामुखद्युतिजुषामचिरोद्गतानां शोभां परां कुरबकद्रुममञ्जरीणाम्।
दृष्ट्वा प्रिये! सहृदयस्य भवेन्न कस्य कन्दर्पबाणपतनव्यथितं हि चेतः॥२०॥
आदीप्तवह्निसदृशैर्मरुताऽवधूतैः सर्वत्र किंशुकवनैः कुसुमावनम्रैः।
सद्यो वसन्तसमयेन समाचितेयं रक्तांशुका नववधूरिव भाति भूमिः॥२१॥
किं किंशुकैः शुकमुखच्छविभिर्न भिन्नं किं कर्णिकारकुसुमैर्न कृतं नु दग्धम्।
यत्कोकिलः पुनरयं मधुरैर्वचोभिर्यूनां मनः सुवदनानिहितं निहन्ति॥२२॥
पुंस्कोकिलैः कलवचोभिरुपात्तहर्षैः कूजद्भिरुन्मदकलानि वचांसि भृङ्गैः।
लज्जान्वितं सविनयं हृदयं क्षणेन पर्याकुलं कुलगृहेऽपि कृतं वधूनाम्॥२३॥
आकम्पयन्कुसुमिताः सहकारशाखा विस्तारयन्परभृतस्य वचांसि दिक्षु।
वायुर्विवाति हृदयानि हरन्नराणां नीहारपातविगमात्सुभगो वसन्ते॥२४॥
कुन्दैः सविभ्रमवधूहसितावदातैरुद्द्योतितान्युपवनानि मनोहराणि।
चित्तं मुनेरपि हरन्ति निवृत्तरागं प्रागेव रागमलिनानि मनांसि यूनाम्॥२५॥
आलम्बिहेमरसनाः स्तनसक्तहाराः कन्दर्पदर्पशिथिलीकृतगात्रयष्ट्यः।
मासे मधौ मधुरकोकिलभृङ्गनादैर्नार्यो हरन्ति हृदयं प्रसभं नराणाम्॥२६॥
नानामनोज्ञकुसुमद्रुमभूषितान्तान्हृष्टान्यपुष्टनिनदाकुलसानुदेशान् ।
शैलेयजालपरिणद्धशिलातलौघान्दृष्ट्वा जनः क्षितिभृतो मुदमेति सर्वः॥२७॥

हैं॥१८॥ हे प्रिये! मदवाले भौंरों द्वारा चूमी हुई, कोमल आकृतिवाली, मन्द-मन्द पवन से आन्दोलित कोमल-कोमल आम की मञ्जरीवाली नयी लताओं को देखने से अकस्मात् कामीपुरुषों के मन अपनी प्रियतमाओं से मिलने के लिए उत्कंठित हो जाते हैं॥१९॥ हे प्रिये! रमणियों के मुखों की कान्तियों को चुरानेवाली, कुछ-कुछ खिली हुई कुरबक की मञ्जरियों की शोभा को देखकर किस सहृदय का मन कामबाण से घायल के समान व्यथित नहीं होता है?॥२०॥ आग के तुल्य चमकीले होनेवाले, हवा से झकोरे हुए, फूलों से नम्र हुए पलाश के पेड़ों से वसन्त आने पर भी यह पृथिवी सभी स्थानों पर लाल कपड़ेवाली नयी बहू के समान दीखती है॥२१॥ सुग्गों की चोंचों के तुल्य लाल छटावाले पलाशों ने क्या नहीं विदीर्ण किया? मनोहर कनैल के कुसुमों ने क्या नहीं भस्म किया? यह कोयल मधुर गीत से सुन्दर मुख में स्थापित जनों के चित्तों को हरण करती है॥२२॥ हर्ष करनेवाले, अव्यक्त और मधुर वाणीवाले पुरुष कोकिल से तथा मद से अव्यक्त और मधुर शब्द करनेवाले भौंरों के गुञ्जारों से क्षणमात्र में कुलाङ्गनाओं के हृदय व्याकुल कर दिये हैं॥२३॥ फूलों के साथ आमों की शाखाओं को हिलाता हुआ, दिशाओं में कोयलों की वाणियों को फैलाता हुआ, मनुष्यों के चित्तों को मुग्ध करता हुआ, तुषार के पड़ने से सुन्दर यह पवन वसन्त में विशेषता से बह रहा है॥२४॥ विभ्रमयुक्त सुन्दरियों के हास्य के समान धवल, कुन्दकुसुमों से दीप्त, मनोहर उपवनों से युक्त, निवृत्त मोहवाले ऋषियों के भी चित्तों को हरण करनेवाला, पूर्व से ही मोहयुक्त पुरुषों के मन को हरण करनेवाला पवन बह रहा है॥२५॥ लम्बी लटकनेवाली सुवर्ण की करधनीवाली, कुचों के बीच में धारित हारवाली, काम की अधिकता से खिन्न शरीररूपी यष्टिवाली स्त्रियाँ चैत्रमास में कोयलों और भौंरों के मीठे गुञ्जार के साथ जनों के चित्तों को मोहती हैं॥२६॥ अनेक रमणीक शोभित अग्रभागवाले पुष्पवृक्षों से, आनन्दित कोयलों से व्याप्त प्रदेशवाले, पहाड़ी वनस्पतियों से परिणद्ध शिलातलोंवाले पर्वतों को देखकर सम्पूर्ण प्राणी आनन्दित होते

नेत्रे निमीलयति रोदिति याति शोकं घ्राणं करेण विरुणद्धि विरौति चोच्चैः।
कान्तावियोगपरिखेदितचित्तवृत्तिर्दृष्ट्वाध्वगः कुसुमितान् सहकारवृक्षान्॥ २८॥
समदमधुकराणां कोकिलानां च नादैः कुसुमितसहकारैः कर्णिकारैश्च रम्यः।
इषुभिरिव सुतीक्ष्णैर्मानसं मानिनीनां तुदति कुसुममासो मन्मथोद्दीपनाय॥ २९॥
रुचिरकनककान्तीन् मुञ्चतः पुष्पराशीन् मृदुपवनविधूतान् पुष्पिताँश्चूतवृक्षान्।
अभिमुखमभिवीक्ष्य क्षामदेहोऽपि मार्गे मदनशरनिघातैर्मोहमेति प्रवासी॥ ३०॥
परभृतकलगीतैर्ह्लादिभिः सद्वचांसि स्मितदशनमयूखान् कुन्दपुष्पप्रभाभिः।
करकिसलयकान्तिं पल्लवैर्विद्रुमाभैरुपहसति वसन्तः कामिनीनामिदानीम्॥ ३१॥
कनककमलकान्तैराननैः पाण्डुगण्डैरुपरिनिहितहारैश्चन्दनार्द्रैः स्तनान्तैः।
मदजनितविलासैर्दृष्टिपातैर्मुनीन्द्रान् स्तनभरनतनार्यः कामयन्ति प्रशान्तान्॥ ३२॥
मधुसुरभिमुखाब्जं लोचने लोध्रताम्रे नवकुरबकपूर्णः केशपाशो मनोज्ञः।
गुरुतरकुचयुग्मं श्रोणिबिम्बं तथैव न भवति किमिदानीं योषितां मन्मथाय॥ ३३॥
आकम्पितानि हृदयानि मनस्विनीनां वातैः प्रफुल्लसहकारकृताधिवासैः।
उत्कूजितैः परभृतस्य मदाकुलस्य श्रोत्रप्रियैर्मधुकरस्य च गीतनादैः॥ ३४॥
रम्यः प्रदोषसमयः स्फुटचन्द्रभासः पुंस्कोकिलस्य विरुतं पवनः सुगन्धिः।
मत्तालियूथविरुतं निशि शीधुपानं सर्वं रसायनमिदं कुसुमायुधस्य॥ ३५॥

हैं॥ २७॥ भार्या के विरह से पीडित चित्त-वृत्तिवाले, राह में चलनेवाले पथिक प्रफुल्लित आम के पेड़ों को देखकर नयनों को मींचते है, रुदन करते हैं, मोहित होते हैं, नाक को हाथ से वन्द करते हैं और ऊँचे शब्दों से चिल्लाते हैं॥ २८॥ हे प्रिये! मद से व्याप्त भौंरों मे, कोयलों के गीतों से प्रफुल्लित आम के पेडों मे तथा मनोहर कनैल के पुष्पों से यह वसन्त-समय तेज वाणों के समान कामिनियों को कामदेव से पीडित कर रहा है॥ २९॥ परदेशी पुरुष पहले तो वह विरहव्यथा मे स्वयं पीडित रहता है, उस पर भी जव वह मन्द-मन्द वहनेवाले पवन के झोंके से हिलते हुए मनोहर एवं सुनहले वौरों को आम की डालियों से गिरते हुए मार्ग में देखता है, तो वह कामदेव के बाणप्रहार से आहत होकर मूर्च्छित हो जाता है॥ ३०॥ इस समय मन को प्रसन्न करने वाले कोयल की कूकें सुनाकर यह वसन्त सुन्दरियों की रसभरी वातों का उपहास कर रहा है। कुन्दपुष्पों की प्रभा से यह वसन्त स्त्रियों की मुस्कान पर चमक उठने वाली उनकी दशन-कान्ति भी हँसी कर रहा है और मूँगे जैसी लाल-लाल किसलयों की लालिमा को दिखलाकर कामिनियों की सुकोमल हथेलियों की खिल्ली उडा रहा है॥ ३१॥ स्तनों के वोझ से झुकी हुई रमणियाँ अपने कनककमल के समान सुन्दर गालों वाले मुख से, गीले चन्दन से लिप्त तथा मोतियों के हारों से युक्त स्तनों से और मतवाली चंचल चितवन से शान्तचित्तवाले तपस्वियों के मन को भी डिगा देती हैं॥ ३२॥ आसव से महकता हुआ युवतियों का कमल के सदृश मुख, लोध के वर्ण की उनकी लाल-लाल आँखें, नये कुरवक-पुष्पों से सजे हुए उनके जूडे, वड़े-वडे सुपुष्ट उनके दोनों स्तन, वैसे ही गोल-गोल नितम्व, क्या ये सव लोगों के मन में कामदेव को नहीं जगा रहे हैं?॥ ३३॥ वौर आये हुए आम के पेड़ों से टकराकर चलनेवाली सुगन्धित वायु मे, मदमाती कोयल की कूक से और भौंरों की मदमस्त गुँजारों से मनस्विनी स्त्रियों के मन भी अपने प्रण से विचलित हो जाते हैं॥ ३४॥ सुन्दर सायंकाल का समय, चारों ओर छिटकी हुई चाँदनी, मदमत्त कोयल की कूक, सुगन्धित पवन, मतवाले भौंरों की गुँजार तथा रात में मदिरापान—ये सब कामदेव के जगाये रखने वाले रसायन

रक्ताशोकविकल्पिताधरमधुर्मत्तद्विरेफस्वनः
कुन्दापीडविशुद्धदन्तनिकरः प्रोत्फुल्लपद्माननः।
चूतामोदसुगन्धिमन्दपवनः शृङ्गारदीक्षागुरुः
कल्पान्तं मदनप्रियो दिशतु वः पुष्पागमो मङ्गलम्॥ ३६॥
मलयपवनविद्धः कोकिलालापरम्यः
सुरभिमधुनिषेकाल्लब्धगन्धप्रबन्धः।
विविधमधुपयूथैर्वेष्ट्यमानः समन्ताद्
भवतु तव वसन्तः श्रेष्ठकालः सुखाय॥ ३७॥
आम्रीमञ्जुलमञ्जरीवरशरः सत्किंशुकं यद्धनु-
र्ज्या यस्यालिकुलं कलङ्करहितं छत्रं सितांशुः सितम्।
मत्तेभो मलयानिलः परभृता यद्वन्दिनो लोकजित्
सोऽयं वो वितरीतरीतु वितनुर्भद्रं वसन्तान्वितः॥ ३८॥

॥ इति महाकविकालिदासकृतौ ऋतुसंहारे वसन्तवर्णनं नाम षष्ठः सर्गः॥

(सिद्ध औषधद्रव्य) हैं॥ ३५॥ अमृतपूर्ण अधरों के सदृश लाल अशोक जैसे, मदमत्त भौंरों की गुँजार जैसे, चमकती हुई दन्तपंक्ति के आकार वाले शुभ्र कुन्द की माला की भाँति, विकसित कमल के समान मुखों से, आनन्दप्रद आम के बौरों की सुगन्धि से युक्त मन्द-मन्द पवन से यह शृंगार की शिक्षा देने वाला कामदेव का परम मित्र वसन्त आप सब का कल्याण करे॥ ३६॥ मलयपवन से युक्त, कोकिलों के कूक से आनन्दित करने वाला, सदा सुगन्धित मधु बरसाने से सुगन्धित वातावरण को बनाये रखने वाला तथा अनेक प्रकार के भौंरों के झुंडों से चारों ओर से घिरा हुआ यह उत्तम वसन्त-समय आप सब को सुख प्रदान करें॥ ३७॥ आम की कोमल मंजरियाँ जिसके उत्तम बाण हैं, पलाश के सुन्दर फूल जिसका धनुष है, भौंरें जिसकी डोरी हैं, कलंकहीन चन्द्र जिसका सफेद छत्र है, मदोन्मत्त हाथी जिसके मलयपवन हैं तथा कोयलें जिसकी चारण हैं, वे शरीररहित कामदेव वसन्तऋतु सहित आपका श्रेय करें॥ ३८॥

इस प्रकार ऋतुसंहार के षष्ठ सर्ग में वसन्तऋतु-वर्णन समाप्त हुआ।

'यस्यायमङ्गात् कृतिनः प्ररूढः'

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

पात्र-परिचय

पुरुष-पात्र

सूत्रधार	: नाटक का संचालक
दुष्यन्त	: हस्तिनापुर का सम्राट्
भद्रसेन	: सेनापति
महर्षि कण्व	: कुलपति
सोमरात	: राजा के धर्मगुरु
दुर्वासा	: क्रोधी ऋषि
मारीच	: प्रजापति
सर्वदमन	: दुष्यन्तपुत्र भरत
माढव्य	: विदूषक
रैवतक	: दौवारिक
करभक	: राजसेवक
पार्वतायन	: कञ्चुकी
वैतालिक	: चारण
श्यामल	: दुष्यन्त का साला
वैखानस, शांर्गरव, शारद्वत, हारीत, गौतम	: कण्वशिष्य
धीवर	: मछुआ
सूचक, जानुक	: राजपुरुष
मातलि	: इन्द्रसारथी

स्त्री-पात्र

नटी	: सूत्रधार की स्त्री
शकुन्तला	: कण्व द्वारा पालित पुत्री
अनसूया, प्रियंवदा	: शकुन्तला की सखियाँ
गौतमी	: तपस्विनी
चतुरिका, परभृतिका, मधुरिका	: राजा की दासियाँ
प्रतिहारी, यवनी	: परिचारिका
सानुमती	: अप्सरा
अदिति	: कश्यप की स्त्री

॥ श्रीः ॥

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

प्रथमोऽङ्कः

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥ १ ॥

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधारः—अलमतिविस्तरेण। (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) आर्ये! यदि नेपथ्यविधानमवसितम्, इतस्तावदागम्यताम्।

(प्रविश्य)

नटी—अज्जउत्त! इयं म्हि। आणवेदु अज्जो को णिओओ अणुचिट्ठिअदुत्ति। **[आर्यपुत्र! इयमस्मि। आपयतु आर्यः को नियोगोऽनुष्ठीयतामिति।]**

भगवान् शिव उस जल के रूप में हमें प्रत्यक्ष दिखलाई देते हैं, जिसे ब्रह्मा ने सबसे पहले बनाया था। वे उस अग्नि के रूप में दिखलाई देते हैं, जो विधि के साथ दी हुई हवन-सामग्री को ग्रहण करती है। वे उस होता के रूप में दिखलाई देते हैं, जिसे यज्ञ करने का काम मिला हुआ है। वे उन चन्द्र और सूर्य के रूप में दिखलाई देते हैं, जो दिन और रात का समय निश्चित करते हैं। वे उस आकाश के रूप में दिखलाई देते हैं, जिसका गुण शब्द है और जो संसारभर में रमा हुआ है। वे शिव उस पृथ्वी के रूप में दिखलाई देते हैं, जो सब बीजों को उत्पन्न करने वाली बतलाई जाती है और वे उस वायु के रूप में दिखलाई पडते हैं, जिसके कारण सब जीव जीते हैं। इन जल, अग्नि, होता, सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी और वायु के आठ रूपों में जो भगवान् शिव सबको प्रत्यक्ष दीखते हैं, वे आप सबका कल्याण करें॥ १ ॥

(**नान्दीपाठ के अनन्तर**)

सूत्रधार—बस, इतना ही बहुत है। (**नेपथ्य की ओर देखकर**) आर्ये! यदि शृङ्गार का काम पूर्ण हो चुका हो तो यहाँ आओ।

(**प्रवेश कर**)

नटी—आर्यपुत्र! मैं आ गई। कहिए आपकी क्या आज्ञा है?

सूत्रधारः—आर्ये! इयं हि रसभावविशेषदीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्याभिरूपभूयिष्ठा परिषत्। अस्याञ्च कालिदासग्रथितवस्तुनाऽभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः। तत्प्रतिपात्रमाधीयतां यत्नः।

नटी—सुविहिदप्पओअदाए अज्जस्स ण किं वि परिहाविस्सदि। [सुविहितप्रयोगतयाऽऽर्यस्य न किमपि परिहापयिष्यते।]

सूत्रधारः—(सस्मितम्) आर्ये! कथयामि ते भूतार्थम्—

आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥ २ ॥

नटी—(सविनयम्) अज्ज! एवं एदं। अणंतरकरणिज्जं दाव अज्जो आणवेदु। [आर्य! एवमेतत्। अनन्तरकरणीयं तावदार्य आज्ञापयतु।]

सूत्रधारः—आर्ये! किमन्यदस्याः परिषदः श्रुतिप्रमोदहेतोर्गीतात्करणीयमस्ति।

नटी—अध कदमं उण उदुं अधिकरिअ गाइस्सं ? [अथ कतमं पुनर्ऋतुमधिकृत्य गास्यामि ?]

सूत्रधारः—आर्ये! नन्विममेव तावदचिरप्रवृत्तमुपभोगक्षमं ग्रीष्मसमयमधिकृत्य गीयताम्। सम्प्रति हि—

सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गिसुरभिवनवाताः।
प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः ॥ ३ ॥

नटी—तह। [तथा।] (इति गायति)

सूत्रधार—आर्ये! रस और भाव का चमत्कार दिखलानेवाले कलाकारों के आश्रयदाता महाराज विक्रमादित्य की इस सभा को आज विशेषरूप से बड़े-बड़े विद्वान् सुशोभित कर रहे हैं। इसलिए इन्हें कालिदास का रचा हुआ नया नाटक 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' दिखलाना चाहिए। जाकर सब पात्रों को ठीक करने का प्रयत्न करो।

नटी—आपने तो पहले से ही ऐसा अच्छा प्रबन्ध कर रखा है कि कोई कमी नहीं रह जायगी।

सूत्रधार—(मुस्कराकर) आर्ये! मैं सच्ची बात कहता हूँ।

जब तक कि विद्वान् लोग अच्छा न कहें, तब तक मैं किसी नाटक को सफल नहीं मानता। क्योंकि पात्रों को चाहे कितने ही अच्छे ढंग से सिखाया जाय, फिर भी उन्हें अपने पर भरोसा नहीं होता ॥ २ ॥

नटी—(विनयपूर्वक) यह बात तो ठीक ही है आर्य! अब आप जो आज्ञा दें, वैसा किया जाय।

सूत्रधार—आर्ये! इस सभा के सदस्यों के कानों को आनन्द देने वाले मीठे गीत से बढ़कर और कौन-सी अच्छी बात हो सकती है।

नटी—तो किस ऋतु का आश्रय लेकर गाना गाऊँ ?

सूत्रधार—ग्रीष्म ऋतु अभी ही आई है और सुहावनी भी लगती है। अतएव इस समय ग्रीष्म ऋतु का ही कोई गीत गाओ। देखो—

इन दिनों जल में नहाने से बड़ा आनन्द आता है, पाटल के सौरभ में बसा हुआ वन का पवन बड़ा अच्छा लगता है, वृक्षों की घनी छाया में नींद अच्छी आती है और आजकल की सन्ध्या भी बड़ी सुहावनी लगती है ॥ ३ ॥

नटी—अच्छा। (गाती है)

ईसीसिचुंबिआइँ भमरेहिँ सुउमारदरकेसरसिहाइँ।
ओदंसअंति दअमाणा पमदाओ सिरीसकुसुमाइँ॥ ४॥
[ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारतरकेसरशिखानि।
अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि॥]

सूत्रधारः—आर्ये! साधु गीतम्। अहो, रागनिविष्टचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रङ्गः। तदिदानीं कतमं प्रयोगमाश्रित्यैनमाराधयामः ?

नटी—णं अज्जमिस्सेहिँ पढमं एव्व आणत्तं अहिण्णाणसाउंदलं णाम अपुव्वं णाडअं पओए अधिकरीअदु त्ति। [**नन्वार्यमिश्रैः प्रथममेवाज्ञप्तमभिज्ञानशाकुन्तलं नामापूर्वं नाटकं प्रयोगेऽधिक्रियतामिति।**]

सूत्रधारः—आर्ये! सम्यगनुबोधितोऽस्मि। ननु अस्मिन्क्षणे विस्मृतं खलु मया। कुतः—

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
(कर्णं दत्वा)
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा॥ ५॥

(इति निष्क्रान्तौ)

॥ प्रस्तावना ॥

(ततः प्रविशति मृगानुसारी सशरचापहस्तो राजा रथेन सूतश्च)

सूतः—(राजानं मृगं चावलोक्य) आयुष्मन्!

कृष्णसारे ददच्चक्षुस्त्वयि चाधिज्यकार्मुके।
मृगानुसारिणं साक्षात्पश्यामीव पिनाकिनम्॥ ६॥

सिरस के जिन कोमल केसरदल के शिखरों को भौंरें बार-बार चूमकर बैठते तथा उड़ जाते हैं, वड़े ही दयाभाव से कामिनियाँ उन फूलों को अपने कानों का कर्णफूल बनाती हैं॥ ४॥

सूत्रधार—आर्ये! तुमने तो वहुत ही अच्छा गाना गाया। देखो, तुम्हारे राग से लोग ऐसे बेसुध हो गये कि सारी रङ्गशाला चित्रलिखी-सी दीख रही है। तो अब कौन-सा नाटक दिखाकर इनका मनोरंजन किया जाय?

नटी—आपने तो अभी-अभी कहा था न कि अभिज्ञानशाकुन्तल नाम का नया नाटक खेला जाय।

सूत्रधार—तुमने ठीक स्मरण दिलाया आर्ये! मैं तो इस समय उसे भूल ही गया था।

तुम्हारे गीत के मधुर राग ने मेरे मन को बलपूर्वक वैसे ही खींच लिया था—

(कान लगाकर सुनने का अभिनय करते हुए)

जैसे वेग से दौडता हुआ यह हरिण राजा दुष्यन्त को यहाँ खींच लाया है॥ ५॥

(सूत्रधार और नटी का प्रस्थान)

॥ प्रस्तावना ॥

(एक मृग का पीछा करते हुए सारथी के साथ रथ पर बैठे धनुष-बाणधारी राजा दुष्यन्त का प्रवेश)

सारथी—(राजा और मृग को देखकर) आयुष्मन्!

इस काले मृग पर आँख लगाये और धनुष की डोरी चढाये हुए आप ऐसे दीख रहे हैं, मानो मृग का पीछा करते हुए साक्षात् शिव हों॥ ६॥

राजा—सूत ! दूरममुना सारङ्गेण वयमाकृष्टाः । अयं पुनरिदानीमपि—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥ ७ ॥

(सविस्मयम्) तदेष कथमनुपतत एव मे प्रयत्नप्रेक्षणीयः संवृत्तः ?

सूतः—आयुष्मन् ! उद्घातिनी भूमिरिति मया रश्मिसंयमनाद्रथस्य मन्दीकृतो वेगः । तेन मृग एष विप्रकृष्टान्तरः संवृत्तः । सम्प्रति समदेशवर्तिनस्ते न दुरासदो भविष्यति।

राजा—तेन हि मुच्यन्तामभीषवः ।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान् । (रथवेगं निरूप्य) आयुष्मन् ! पश्य पश्य—

मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकाया निष्कम्पचामरशिखा निभृतोर्ध्वकर्णाः।
आत्मोद्धतैरपि रजोभिरलङ्घनीया धावन्त्यमी मृगजवाक्षमयेव रथ्याः ॥ ८ ॥

राजा—(सहर्षम्) नूनमतीत्य हरितो हरींश्च वर्तन्ते वाजिनः । तथा हि—

यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद्विपुलतां
यदर्धे विच्छिन्नं भवति कृतसन्धानमिव तत्।
प्रकृत्या यद्वक्रं तदपि समरेखं नयनयो-
र्न मे दूरे किञ्चित्क्षणमपि न पार्श्वे रथजवात् ॥ ९ ॥

राजा—सूत ! यह हरिण हमें बहुत दूर तक दौड़ा ले आया है। अब भी यह—

बार-बार पीछे मुड़कर मेरे रथ को एकटक देखता हुआ यह सुन्दर हरिण बाण लगने के डर से अपने पिछले आधे शरीर को सिकोड़कर अगले भाग से मिलाता हुआ कैसा दौड़ रहा है। थकावट के कारण इसके खुले हुए मुँह से आधी चबाई हुई कुशा मार्ग में गिरती जा रही है। और देखो, यह इतनी लम्बी छलाँगें मार रहा है कि जैसे इसके पाँव पृथ्वी पर पडते ही नहीं। यह तो ऐसा दीखता है कि मानो आकाश में उड़ा जा रहा हो ॥ ७ ॥

(**आश्चर्य के साथ**) अरे ! हम इसके पीछे-पीछे चले आ रहे हैं, फिर भी हरिण सहसा मेरी आँख से ओझल क्यों हो गया ?

सारथी—आयुष्मन् ! उबड-खाबड़ भूमि होने के कारण मैंने रास खींचकर रथ का वेग कम कर दिया था। इसी से मृग बहुत दूर निकल गया है, परन्तु आगे की भूमि समतल है। अब वह आपके लिए अप्राप्य नहीं रहेगा।

राजा—तो अब रास ढीली कर दो।

सारथी—जैसी आयुष्मान् की आज्ञा। (**रथ का वेग दिखाकर**) देखिए, देखिए आयुष्मन् !

रास छोड़ते ही अपने शरीर का अगला हिस्सा फैला तथा माथे की चौंरी सीधी खड़ी करके ये घोड़े इतने वेग से दौड़ रहे हैं कि इनकी टापों से उठी हुई धूल भी इन्हें नहीं छू पाती। ऐसा जान पड़ता है कि मानो ये हरिण की दौड़ से होड लगा रहे हैं ॥ ८ ॥

राजा—(**प्रसन्न होकर**) वास्तव में इन घोड़ों ने तो सूर्य और इन्द्र के घोड़ों को भी दौड़ में पछाड़ दिया है। क्योंकि—

जो वस्तु दूर से पतली दीखती थी, वह तुरन्त मोटी हो जा रही है। जो बीच से कटी जान

सूत ! पश्यैनं व्यापाद्यमानम्। (इति शरसन्धानं नाटयति)

(नेपथ्ये)

भो भो राजन्! आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः।

सूतः—(आकर्ण्यावलोक्य च) आयुष्मन्! अस्य खलु ते बाणपातवर्तिनः कृष्णसारस्यान्तरे तपस्विन उपस्थिताः।

राजा—(ससम्भ्रमम्) तेन हि प्रगृह्यन्तां वाजिनः।

सूतः—तथा। (इति रथं स्थापयति)

(ततः प्रविशत्यात्मना तृतीयो वैखानसः)

वैखानसः—(हस्तमुद्यम्य) राजन्! आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः।

न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्
मृदुनि मृगशरीरे तूलराशाविवाग्निः।
क्व बत हरिणकानां जीवितश्चातिलोलं
क्व च निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते॥ १०॥

तत्साधुकृतसन्धानं प्रतिसंहर सायकम्।
आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि॥ ११॥

राजा—एष प्रतिसंहृतः। (इति यथोक्तं करोति)

वैखानसः—सदृशमेतत्पुरुवंशप्रदीपस्य भवतः।

पड़ती थी, वह ऐसी लगती है कि मानो उसे किसी ने जोड दिया है। जो स्वभावतः टेढ़ी वस्तुएँ हैं, वे आँखों को सीधी-सी दिखलाई देती हैं। मेरा रथ इतने वेग से दौड़ रहा है कि कोई वस्तु न मुझसे दूर रह पाती है, न समीप ही॥ ९॥

सारथी! देखो, अब मैं हरिण को मार रहा हूँ। (**बाण चढाने का अभिनय करता है**)

(**नेपथ्य में**)

हे राजन्! यह आश्रम का मृग है। इसे न मारिए, न मारिए।

सारथी—(**सुन और देखकर**) आयुष्मन्! जिस काले हरिण पर आप बाण चलाना चाह रहे हैं, उसके बीच में ये तपस्वी लोग आ खडे हुए हैं।

राजा—(**घबराकर**) तो रोक दो घोड़ों को।

सारथी—अच्छा। (**रथ खड़ा कर लेता है**)

(**दो शिष्यों के साथ वैखानस नामक तपस्वी का प्रवेश**)

वैखानस—(**हाथ उठाकर**) राजन्! यह आश्रम का मृग है। इसे मत मारिए, मत मारिए।

इस पर कदापि बाण न चलाइएगा। आपका बाण इसके कोमल शरीर के लिए वैसा ही भयंकर है, जैसे रुई की राशि के लिए अग्नि। बतलाइए, कहाँ तो बेचारे हिरण के अतिशय चपल प्राण और कहाँ वज्र के समान कठोर आपके नुकीले बाण॥ १०॥

अतएव यह जो आपने बाण चढाकर धनुष ताना है, इसे उतार लीजिए। क्योंकि आप लोगों के शस्त्र तो पीडितों की रक्षा के लिए हैं, न कि निरपराधों को मारने के लिए॥ ११॥

राजा—लीजिए, उतार लिया। (**बाण उतारता है**)

वैखानस—आप जैसे पुरुवंश के दीपक राजा को यही शोभा देता है।

जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपमिदं तव।
पुत्रमेवंगुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि॥ १२॥

इतरौ—(हस्तमुद्यम्य) सर्वथा चक्रवर्तिनं पुत्रमाप्नुहि।

राजा—(सप्रणामम्) प्रतिगृहीतम्।

वैखानसः—राजन्! समिदाहरणाय प्रस्थिता वयम्। एष खलु कण्वस्य कुलपतेरनुमालिनीतीर-माश्रमो दृश्यते। न चेदन्यकार्यातिपातः तत्प्रविश्य प्रतिगृह्यतामातिथेयः सत्कारः। अपि च—

रम्यास्तपोधनानां प्रतिहतविघ्नाः क्रियाः समवलोक्य।
ज्ञास्यसि कियद्भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणाङ्क इति॥ १३॥

राजा—अपि सन्निहितोऽत्र कुलपतिः?

वैखानसः—इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः।

राजा—भवतु तामेव द्रक्ष्यामि। सा खलु विदितभक्तिं मां महर्षेः करिष्यति।

वैखानसः—साधयामस्तावत्। (इति सशिष्यो निष्क्रान्तः)

राजा—सूत! तूर्णं चोदयाश्वान्। पुण्याश्रमदर्शनेन तावदात्मानं पुनीमहे।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान्। (इति भूयो रथवेगं निरूपयति)

राजा—(समन्तादवलोक्य) सूत! अकथितोऽपि ज्ञायत एव यथाऽयमाश्रमाभोगस्तपो-वनस्येति।

आपने पुरुवंश में जन्म लिया है, इसलिए यह ठीक ही है। आपको ऐसे ही गुणोंवाला चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त होगा॥ १२॥

दोनों शिष्य—(**बाँह उठाकर**) निश्चय ही चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त होगा।

राजा—(**प्रणाम करके**) आपका आशीर्वाद शिरोधार्य है।

वैखानस—राजन्! हम लोग समिधा लेने जाते हैं। यह सामने मालिनी नदी पर कुलपति कण्व का आश्रम है। यदि कोई अड़चन न हो तो वहाँ चलकर अतिथि-सत्कार ग्रहण कीजिए। और भी—

वहाँ के ऋषियों को निर्विघ्न भाव से सब क्रियाएँ करते देखकर आप यह भी जान जायें कि धनुष की डोरी की रगड़ से बने घट्टोंवाली आपकी भुजा कहाँ-कहाँ तक पहुँचकर लोगों की रक्षा कर रही हैं॥ १३॥

राजा—क्या कुलपति आश्रम में हैं?

वैखानस—अभी थोड़ी देर पहले अपनी पुत्री शकुन्तला को अतिथि-सत्कार का काम सौंपकर उसके खोटे ग्रहों की शान्ति के निमित्त सोमतीर्थ चले गये हैं।

राजा—अच्छी बात है। मैं शकुन्तला से अवश्य मिलूँगा। वही महर्षि को बतला देगी कि मेरी उनमें कितनी अगाध भक्ति है।

वैखानस—तो हम लोग जाते हैं। (**शिष्यों के साथ वैखानस का प्रस्थान**)

राजा—सारथी! घोड़ों को बढाओ। आगे चलकर इस पुनीत आश्रम के दर्शन से अपनी आत्मा को पवित्र करूँ।

सारथी—जैसी आयुष्मान् की आज्ञा। (**फिर रथ को बडे वेग से दौड़ाता है**)

राजा—(**चारों ओर देखकर**) देखो सारथी! बिना बताये ही ज्ञात हो रहा है कि हम आश्रम के तपोवन में आ पहुँचे हैं।

सूतः—कथमिव ?

राजा—किं न पश्यति भवान् ? इह हि—

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः ॥ १४ ॥

अपि च—

कुल्याम्भोभिः प्रकृतिचपलैः शाखिनो धौतमूलाः
भिन्नो रागः किसलयरुचामाज्यधूमोद्गमेन।
एते चार्वागुपवनभुवि च्छिन्नदर्भाङ्कुरायां
नष्टाशङ्का हरिणशिशवो मन्दमन्दं चरन्ति ॥ १५ ॥

सूतः—सर्वमुपपन्नम्।

राजा—(स्तोकमन्तरं गत्वा) तपोवननिवासिनामुपरोधो मा भूत्। एतावत्येव रथं स्थापय यावदवतरामि।

सूतः—धृताः प्रग्रहाः। अवतरत्वायुष्मान्।

राजा—(अवतीर्य) सूत ! विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम। इदं तावद् गृह्यताम्। (इति सूतस्याभरणानि धनुश्चोपनीयार्पयति) सूत ! यावदाश्रमवासिनः प्रत्यवेक्ष्याहमुपावर्ते तावदार्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः।

सूतः—तथा। (इति निष्क्रान्तः)

सारथी—कैसे ?

राजा—आप देख नहीं रहें हैं ? यहाँ पर—

कहीं वृक्षों के नीचे सुग्गों के घोमलों मे गिरे हुए तिन्नी के दाने बिखरे पडे हैं, कहीं इधर-उधर पडे हुए चिकने पत्थर यह बतला रहे हैं कि इन पर हिंगोट के फल कूटे गये हैं, कहीं निडर खड़े मृग इस विश्वास से रथ का शब्द सुन रहे हैं कि आश्रम में हमें कोई नहीं छेडेगा और कहीं नदी-नालों पर आने-जाने की राहों पर मुनियों के वल्कलों से टपटी हुई जल की रेखाएँ बनी हुई हैं॥ १४॥

और देखो—

वायु के कारण लहरें लेने वाले पानी की गूलों से यहाँ के वृक्षों की जडें धुल गयी हैं, घी के धुएँ से नई चमकीली कोपलों का रङ्ग धुँधला पड़ गया है और जहाँ-जहाँ उपवन से कुशा उखाड़ ली गयी है, वहाँ मृग-छौने निडर होकर धीरे-धीरे घूम रहे हैं॥ १५॥

सारथी—हाँ, यह सब तो प्रत्यक्ष दीख रहा है।

राजा—(**कुछ आगे बढ़कर**) हम लोगों के आने से तपोवन-निवासियों को कष्ट न हो, इसलिए तुम रथ यहीं रोक लो, मैं उतर जाता हूँ।

सारथी—लीजिए, मैंने रास खींच ली। आयुष्मान् उतर जायें।

राजा—(**उतरकर**) सारथी ! आश्रम में सीधे-सादे वेश में ही जाना चाहिए। इसलिए तब तक यह सब सामान यहीं रक्खो। (**अपने आभूषण और धनुष उतारकर सारथी को देते हुए**) और देखो सारथी ! जब तक हम आश्रम-निवासियों से मिलकर लौटें, तब तक तुम घोड़ों को ठंडा कर लो।

सारथी—अच्छा। (**प्रस्थान करता है**)

राजा—(परिक्रम्यावलोक्य च) इदमाश्रमद्वारम्। यावत्प्रविशामि।

(प्रविश्य, निमित्तं सूचयन्)

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र॥ १६॥

(नेपथ्ये)

इदो इदो सहीओ। [इत इतः सख्यौ।]

राजा—(कर्णं दत्त्वा) अये! दक्षिणेन वृक्षवाटिकामालाप इव श्रूयते। यावदत्र गच्छामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) अये! एतास्तपस्विकन्यकाः स्वप्रमाणानुरूपैः सेचनघटैर्बालपादपेभ्यः पयो दातुमित एवाभिवर्तन्ते। (निपुणं निरूप्य) अहो मधुरमासां दर्शनम्—

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः॥ १७॥

यावदिमां छायामाश्रित्य प्रतिपालयामि। (इति विलोकयन्स्थितः)

(ततः प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्यां शकुन्तला)

शकुन्तला—इदो इदो सहीओ। [इत इतः सख्यौ।]

अनसूया—हला सउंदले! तुवत्तो वि तादकण्णस्स अस्समरुक्खआ पिअदरेत्ति तक्केमि। जेण णोमालिआकुसुमपेलवा तुमं वि एदाणं आलवालपूरणे णिउत्ता। [**हला शकुन्तले! त्वत्तोऽपि तातकण्वस्याश्रमवृक्षकाः प्रियतरा इति तर्कयामि। येन नवमालिकाकुसुमपेलवा त्वमप्येतेषामालवालपूरणे नियुक्ता।**]

राजा—(**घूमकर और देखकर**) यही तो आश्रम का द्वार है। इसी से भीतर चलूँ।

(**प्रवेश करके शुभ शकुन होने की सूचना पाते हुए**)

इस शान्त तपोवन की भूमि में मेरी दाहिनी भुजा क्यों फड़क रही है। यहाँ भला क्या मिलने वाला है? परन्तु हाँ, जो मिलना होता है वह तो सर्वत्र मिल सकता है॥ १६॥

(**नेपथ्य में**)

इधर आओ सखियों, इधर आओ।

राजा—(**सुनकर**) अरे! फुलवारी की दाहिनी ओर किसी की बातचीत सुनाई दे रही है। तो उधर ही चलूँ। (**घूमकर और देखकर**) अहो! ये तपस्वियों की कन्याएँ अपने-अपने मेल के घड़े ले-लेकर छोटे-छोटे पौधों को सींचने के लिए इधर ही आ रही हैं। (**ध्यान से देखकर**) ओहो! ये तो बड़ी ही सुन्दर हैं।

रनिवास की रानियों में भी जो सुन्दरता कठिनाई से देखने को मिलती है, वह यदि इन आश्रमवासिनी कन्याओं को मिली है तो यही समझना चाहिए कि जंगल की लताओं ने अपने गुणों से उद्यान की लताओं को लजा दिया है॥ १७॥

अच्छा इनके आने तक मैं यहीं छाया में खड़ा होकर राह देखता हूँ। (**उन्हें देखता हुआ राजा खड़ा हो जाता है**)

(**पौधों को सींचती हुई शकुन्तला का सखियों के साथ प्रवेश**)

शकुन्तला—इधर आओ सखियो, इधर आओ

अनसूया—सखी शकुन्तले! मैं तो समझती हूँ कि पिता कण्व आश्रम के इन पौधों को तुमसे

शकुन्तला—ण केअलं तादणिओओ एव्व; अत्थि मे सोदरसिणेहो वि एदेसु। [**न केवलं तातनियोग एव; अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु।**] (इति वृक्षसेचनं रूपयति)

राजा—(आत्मगतम्) कथमियं सा कण्वदुहिता? असाधुदर्शी खलु तत्रभवान् कण्वः, य इमामाश्रमधर्मे नियुङ्क्ते।

इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति॥ १८॥

भवतु; पादपान्तर्हित एव विश्रब्धं तावदेनां पश्यामि। (इति तथा करोति)

शकुन्तला—सहि अणसूए! अदिपिणद्धेण वक्कलेण पिअंवदाए णिअंतिद ह्मि। सिढिलेहि दाव णं। [**सखि अनसूये! अतिपिनद्धेन वल्कलेन प्रियंवदया नियन्त्रिताऽस्मि। शिथिलय तावदेतत्।**]

अनसूया—तह। [**तथा।**] (इति शिथिलयति)

प्रियंवदा—(सहासम्) एत्थ पओहरवित्थारइत्तअं अत्तणो जोव्वणं उवालह। मं किं उवालंभेसि? [**अत्र पयोधरविस्तारयितृ आत्मनो यौवनमुपालभस्व। मां किमुपालभसे?**]

राजा—काममनुरूपमस्या वपुषो वल्कलं न पुनरलङ्कारश्रियं न पुष्यति। कुतः?

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥ १९॥

अधिक प्यार करते हैं। नहीं तो भला चमेली की कली जैसी कोमल अंगवाली तुमको वे इन पौधों के थाल्हे भरने का काम क्यों सौंप जाते।

शकुन्तला—केवल पिताजी की आज्ञा से ही मैं इन्हें नहीं सींचती, बल्कि मैं स्वयं भी इनको सगे भाई के समान प्यार करती हूँ। (**पौधों में पानी देने का अभिनय करती है**)

राजा—(**मन ही मन**) क्या यही कण्व ऋषि की कन्या है? पूज्य कण्व की यह बात ठीक नहीं है कि जो उन्होंने इसे भी आश्रम के काम में जोत दिया है।

जो ऋषि इसके सहज सुन्दर शरीर को तपस्या के लिए तैयार करना चाह रहे हैं, वे मानो नीलेकमल की पंखुड़ी की धार से शमी का पेड़ काटने पर उतारू हैं॥ १८॥

अच्छा, तब तक निश्चिन्त होकर वृक्षों की ओट से इसे आँखभर देख तो लूँ। (**ऐसा ही करता है**)

शकुन्तला—सखी अनसूये! प्रियंवदा ने ऐसा कसकर वल्कल बाँध दिया है कि मैं हिल-डुल भी नहीं पाती। आकर इसे तनिक ढीला तो कर दे।

अनसूया—अच्छा। (**ढीला करती है**)

प्रियंवदा—(हँसते हुए) अपने उस यौवन को क्यों नहीं दोष देती, जो तुम्हारे स्तनों को इतना बढाता चला जा रहा है। मुझे क्यों उलाहना देती हो?

राजा—यद्यपि इसका कोमल शरीर वल्कल के योग्य नहीं है, फिर भी ये इसके शरीर को अलंकारों के समान ही सुशोभित कर रहे हैं। क्योंकि—

सेवार से घिरा होने पर भी कमल सुन्दर लगता है और चन्द्रमा में पडा हुआ कलंक भी उसकी शोभा ही बढ़ाता है, वैसे ही यह सुन्दरी भी वल्कल के कपडे पहने हुए बड़ी भली दीख रही है। सच्ची बात तो यह है कि सुन्दर शरीर पर सब कुछ सुन्दर लगने लगता है॥ १९॥

शकुन्तला—(अग्रतोऽवलोक्य) एसो वादेरिदपल्लवांगुलीहिं तुवरेदि विअ मं केसररुक्खओ। जाव णं संभावेमि। [एष वातेरितपल्लवाङ्गुलीभिस्त्वरयतीव मां केसरवृक्षकः। यावदेनं सम्भावयामि।] (इति परिक्रामति)

प्रियंवदा—हला सउंदले! एत्थ एव्व दाव मुहुत्तअं चिट्ठ जाव तुए उवगदाए लदासणाहो विअ अंअ केसररुक्खओ पडिभादि। [हला शकुन्तले! अत्रैव तावन्मुहूर्तं तिष्ठ यावत्त्वयोपगतया लतासनाथ इवायं केसरवृक्षकः प्रतिभाति।]

शकुन्तला—अदो क्खु पिअंवदा सि तुमं। [अतः खलु प्रियंवदाऽसि त्वम्।]

राजा—प्रियमपि तथ्यमाह शकुन्तलां प्रियंवदा। अस्याः खलु—

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्॥ २०॥

अनसूया—हला सउंदले! इअं सअंवरवहू बालसहआरस्स तुए किदणामहेआ वणजोसिणि त्ति णोमालिआ। णं विसुमरिदा सि। [हला शकुन्तले! इयं स्वयंवरवधूः बालसहकारस्य त्वया कृतनामधेया वनज्योत्स्नेति नवमालिका। एनां विस्मृतासि।]

शकुन्तला—तदा अत्ताणं वि विसुमरिस्सं। (लतामुपेत्यावलोक्य च) हला! रमणीए क्खु काले इमस्स लदापाअवमिहुणस्स वइअरो संवुत्तो। णवकुसुमजोव्वणा वणजोसिणी, बद्धफलदाए उवभोअक्खमो सहआरो। [तदाऽऽत्मानमपि विस्मरिष्यामि। हला! रमणीये खलु काल एतस्य लतापादपमिथुनस्य व्यतिकरः संवृत्तः। नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्ना, बद्धफलतयोपभोगक्षमः सहकारः।] (इति पश्यन्ती तिष्ठति)

प्रियंवदा—(सस्मितम्) अणसूए! जाणासि किं णिमित्तं सउंदला वणजोसिणीं अदिमेत्तं पेक्खदि त्ति? [अनसूये! जानासि किं निमित्तं शकुन्तला वनज्योत्स्नामतिमात्रं प्रेक्षत इति?]

शकुन्तला—(सामने देखकर) यह केसर का वृक्ष पवन के झोंकों से हिलती हुई पत्तियों की अंगुलियों के संकेत से मुझे बुला रहा है। जाऊँ, इसका भी मन रख लूँ (उधर घूमती है)

प्रियंवदा—अरी शकुन्तला! क्षणभर वहाँ खड़ी तो रह। तेरे खड़ी होने पर यह केसर का वृक्ष ऐसा दीखने लगता है कि जैसे उससे कोई लता लिपटी हुई हो।

शकुन्तला—इन्हीं बातों से तो तेरा नाम प्रियंवदा पड़ गया है।

राजा—प्रियंवदा ने शकुन्तला से बड़ी प्यारी और सच्ची ही बात तो कही है। सचमुच—

इसके लाल-लाल होठ लता की कोपलों जैसे लगते हैं, दोनो भुजाएँ कोमल शाखाओं जैसी जान पड़ती हैं और इसके अङ्गों में खिला हुआ नया यौवन लुभावने फूल के समान दीख रहा है॥ २०॥

अनसूया—शकुन्तला! यही वह नई चमेली है न कि जिसने आम के वृक्ष से स्वयंवर कर लिया है और जिसका नाम तूने वनज्योत्स्ना या वन की चाँदनी रखा है। इसे तो तू भूली ही जा रही थी।

शकुन्तला—वाह! यदि इसे भूलूँगी, तब तो मैं अपने को भी भूल जाऊँगी। (लता के पास जा और देखकर) सखी! सचमुच इस लता और वृक्ष का मेल बड़े अच्छे दिनों में हुआ है। इधर यह वनज्योत्स्ना खिले हुए फूल को लेकर नवयौवना हुई है, उधर फल से लदी हुई शाखाओं वाला आम का वृक्ष भी निखार पर आया हुआ है। (उसे देखती हुई खड़ी रह जाती है)

प्रियंवदा—(मुस्कराकर) अनसूया! जानती हो कि शकुन्तला इतनी मगन होकर वनज्योत्स्ना को क्यों देख रही है?

अनसूया—ण क्खु विभावेमि। कहेहि। [न खलु विभावयामि। कथय।]

प्रियंवदा—जह वणजोसिणी अणुरूवेण पाअवेण संगदा अवि णाम एव्वं अहं वि अत्तणो अणुरूवं वरं लहेअत्ति। [यथा वनज्योत्स्नानुरूपेण पादपेन सङ्गता अपि नामैवमहमप्यात्मनोऽनुरूपं वरं लभेयेति।]

शकुन्तला—एसो णूणं तुह अत्तगदो मणोरहो। [एष नूनं तवात्मगतो मनोरथः।]

(इति कलशमावर्जयति)

राजा—अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसम्भवा स्यात्? अथवा कृतं सन्देहेन—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥ २१॥

तथापि तत्त्वत एवैनामुपलप्स्ये।

शकुन्तला—(ससम्भ्रमम्) अम्मो! सलिलसेअसंभमुग्गदो णोमालिअं उज्झिअ वअणं मे महुअरो अहिवट्टइ। [अम्मो! सलिलसेकसम्भ्रमोद्गतो नवमालिकामुज्झित्वा वदनं मे मधुकरोऽभिवर्तते।] (इति भ्रमरबाधां रूपयति)

राजा—(सस्पृहम्)

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर! हतास्त्वं खलु कृती॥ २२॥

अनसूया—नहीं, मैं तो नहीं जानती सखी! तू ही बता दे।

प्रियंवदा—देख, यह सोच रही है कि जैसे इस वनज्योत्स्ना को अपने योग्य वृक्ष मिल गया है, वैसे ही मुझे भी मेरे योग्य वर प्राप्त हो जाय।

शकुन्तला—यह तू अपने मन की बात कह रही है।

(घड़े का जल थाले में छोड़ती है)

राजा—यह ऋषि की कन्या कहीं दूसरे वर्ण की स्त्री मे तो नहीं उत्पन्न हुई है? परन्तु यह सन्देह व्यर्थ है। क्योंकि—

जब मेरा शुद्ध मन भी इस पर रीझ उठा है, तब यह निश्चित है कि इसका विवाह क्षत्रिय से हो सकता है। क्योंकि सज्जनों के मन में जिस बात पर शंका हो, वहाँ जो उनका मन गवाही दे, वही ठीक मान लेना उचित होता है॥ २१॥

फिर भी मैं इसका ठीक-ठीक पता लगाता हूँ।

शकुन्तला—(घबराकर) अरे रे रे! जल पड़ने मे घबराकर उडा हुआ यह भौंरा नई चमेली को छोडकर बार-बार मेरे ही मुँह पर मँडराने लगा है। (भौंरें से पीडित होने का अभिनय करती है)

राजा—(ललचता हुआ)—अरे भौंरे! तुम सचमुच बड़े भाग्यवान् हो। हम तो सच्ची बात का पता लगाने में ही लुट गये और तुम इस चञ्चल चितवनवाली काँपती हुई सुन्दरी को बार-बार छू रहे हो। उसके कानो के पास जाकर ऐसा धीरे-धीरे गुनगुना रहे हो कि जैसे कोई बडे भेद की बात उसे सुनाना चाहते हो। बार-बार उसके हाथों मे झटके जाने पर भी तुम उसके रसीले अधरों को पी रहे हो॥ २२॥

शकुन्तला—ण एसो दुट्ठो विरमदि। अण्णदो गमिस्सं। (पदान्तरे स्थित्वा सदृष्टिक्षेपम्) कहं इदो वि आअच्छदि? हला! परित्ताअह मं इमिणा दुव्विणीदेण महुअरेण अहिहूअमाणं। [न एष दुष्टो विरमति। अन्यतो गमिष्यामि। कथमितोऽप्यागच्छति? हला! परित्रायेथां मामनेन दुर्विनीतेन मधुकरेण अभिभूयमानाम्।]

उभे—(सस्मितम्) का अम्हे परित्तादुं? दुस्संदं एव्व अक्कंद। राअरक्खिदव्वाइं तवोवणाइं णाम। [के आवां परित्रातुम्? दुष्यन्तमेवाक्रन्द। राजरक्षितव्यानि तपोवनानि नाम।]

राजा—अवसरोऽयमात्मानं प्रकाशयितुम्। न भेतव्यं न भेतव्यम्—(इत्यर्धोक्ते स्वगतम्) राजभावस्त्वभिज्ञातो भवेत्। भवतु, एवं तावदभिधास्ये।

शकुन्तला—(पदान्तरे स्थित्वा, सदृष्टिक्षेपम्) कहं इदो वि मं अणुसरदि? [कथमितोऽपि मामनुसरति।]

राजा—(सत्वरमुपसृत्य) आः!

कः पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम्।
अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्विकन्यकासु॥ २३॥

(सर्वा राजानं दृष्ट्वा किञ्चिदिव सम्भ्रान्ताः)

अनसूया—अज्ज! च ण क्खु किंवि अच्चाहिदं। इअं णो पिअसही दुट्ठमहुअरेण अहिहूअमाणा कादरीभूदा। [आर्य! न खलु किमप्यत्याहितम्। इयं नौ प्रियसखी दुष्टमधुकरेणाभिभूयमाना कातरीभूता।] (इति शकुन्तलां दर्शयति)

राजा—(शकुन्तलाभिमुखो भूत्वा) अपि तपो वर्द्धते?

शकुन्तला—अरे! यह दुष्ट तो मानता ही नहीं। चलूँ, कहीं अन्यत्र चली जाऊँ। (**दूसरे स्थान पर जाकर और दृष्टि फेरकर**) अरे, क्या यह यहाँ भी आ पहुँचा? अब क्या करूँ? अरी सखियो! इस दुष्ट भौंरे से बचाओ, बचाओ। यह तो मुझे बहुत तंग कर रहा है।

दोनों—(**मुस्कराकर**) हम कौन होती हैं बचाने वाली? दुष्यन्त को पुकारो। क्योंकि तपोवन की रक्षा करना तो राजा का ही काम है।

राजा—अपना परिचय देने का यह अच्छा अवसर है। डरो मत! डरो मत!(**आधी बात कहकर फिर मन ही मन**) किन्तु इससे तो ये सब यह समझ जायेंगी कि मैं राजा हूँ। अच्छा, तो मैं फिर इस प्रकार कहता हूँ।

शकुन्तला—(**थोड़ी दूर जा और खड़ी होकर फिर देखती है**) क्या करूँ? यह तो यहाँ भी मेरा पीछा कर रहा है।

राजा—(तुरन्त प्रकट होकर) ओह!

दुष्टों को दण्ड देनेवाले पुरुवंशी दुष्यन्त के पृथ्वी पर राज्य करते समय कौन ऐसा है, जो भोली-भाली ऋषि-कन्याओं को छेड़ रहा है॥ २३॥

(**राजा को देखकर वे सब कुछ सकपका जाती है**)

अनसूया—आर्य! ऐसी कोई बड़ी भारी विपत्ति नहीं आयी हुई है। हमारी इस प्यारी सखी को एक भौंरें ने तंग कर रक्खा है, इसी से यह कुछ डर-सी गयी है। (**शकुन्तला की ओर संकेत करती है**)

राजा—(**शकुन्तला के सामने जाकर**) आपका तप तो सफल हो गया है न?

(शकुन्तला साध्वसावनतमुखी तिष्ठति)

अनसूया—दाणिं अदिहिविसेसलाहेण। हला सउंदले! गच्छ उडअं फलमिस्सं अग्घं उवहर। इदं पादोदअं भविस्सदि। [**इदानीमतिथिविशेषलाभेन। हला शकुन्तले! गच्छोटजं फलमिश्रमर्घमुपहर। इदं पादोदकं भविष्यति।**]

राजा—भवतीनां सूनृतयैव गिरा कृतमातिथ्यम्।

प्रियंवदा—तेण हि इमस्सिं दाव पच्छाअसीअलाए सत्तवण्णवेदिआए मुहुत्तअं उवविसिअ परिस्समविणोदं करेदु अज्जो। [**तेन ह्यस्यां तावत् प्रच्छायशीतलायां सप्तपर्णवेदिकायां मुहूर्तमुपविश्य परिश्रमविनोदं करोत्वार्यः।**]

राजा—नूनं यूयमप्यनेन कर्मणा परिश्रान्ताः।

अनसूया—हला सउंदले! उइदं णो पज्जुवासणं अदिहीणं। ता एहि एत्थ उवविसम्ह। [**हला शकुन्तले! उचितं नः पर्युपासनमतिथीनाम्। तदेहि अत्रोपविशामः।**]

(इति सर्वे उपविशन्ति)

शकुन्तला—(आत्मगतम्) किं णु क्खु इमं जणं पेक्खिअ तवोवणविरोहिणो विआरस्स गमणीअ म्हि संवुत्ता? [**किं नु खल्विमं जनं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयाऽस्मि संवृत्ता?**]

राजा—(सर्वा विलोक्य) अहो! समवयोरूपरमणीयं भवतीनां सौहार्दम्।

प्रियंवदा—(जनान्तिकम्) अणसूए! को णु क्खु एसो चउरगंभीराकिदी महुरं पिअं आलवंतो पहाववंदो विअ लक्खीअदि। [**अनसूये! को नु खल्वेष चतुरगम्भीराकृतिर्मधुरं प्रियमालपन्प्रभाववानिव लक्ष्यते।**]

अनसूया—(प्रियम्वदाम्प्रति) सहि! मम वि अत्थि कोदूहलं। पुच्छिस्सं दाव णं। (प्रकाशम्) अज्जस्स महुरालावजणिदो वीसंभो मं मंतावेदि—कदमो अज्जेण राएसिणो वंसो अलंकरीअदि

(शकुन्तला भय तथा लज्जा से नीचा मुँह करके चुप रह जाती है)

अनसूया—हाँ, आप जैसे अतिथि के आ जाने से इसका तप सफल ही समझिए। अच्छा शकुन्तला! जाकर कुटी से कुछ फल-फूल के साथ अर्घ्य तो ले आ। चरण धोने का जल यहाँ है ही।

राजा—आपने अपनी मीठी-मीठी बातों से ही मेरा अतिथि-सत्कार कर दिया।

प्रियंवदा—तो आर्य! चलिए, घनी छाया वाले इस छतिवन वृक्ष के तले जो शीतल चबूतरा है, वहीं क्षणभर बैठकर थकान मिटाइये।

राजा—आप सब भी तो यह काम करते-करते थक गई होंगी।

अनसूया—शकुन्तला! अतिथि की बात तो माननी ही होगी। आओ, यहाँ बैठ जायें।

(सभी बैठ जाती हैं)

शकुन्तला—**(मन ही मन)** इनको देखकर मेरे मन में न जाने क्यों ऐसी विचित्र उथल-पुथल मच रही है, जो तपोवन-निवासियों के मन में नहीं मचनी चाहिए।

राजा—**(सबको देखकर)** आप लोग एक जैसी रूपवती और एक-सी अवस्थावाली हैं। आप लोगों का पारस्परिक प्रेम मुझे बड़ा प्यारा लगता है।

प्रियंवदा—**(धीरे से)** अनसूया! ये चतुर, गम्भीर, प्रिय और मधुर बोलनेवाले कोई बड़े प्रभावशाली व्यक्ति हैं।

अनसूया—**(प्रियंवदा से धीरे से)** सखी! मुझे भी जानने की बड़ी उत्कण्ठा है। चलो, इन्हीं

राजा—परस्ताज्ज्ञायत एव। सर्वथा अप्सरःसम्भवैषा।

अनसूया—अह इं। [अथ किम्।]

राजा—उपपद्यते—

मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य सम्भवः।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्॥ २४॥

(शकुन्तलाऽधोमुखी तिष्ठति)

राजा—(आत्मगतम्) हन्त! लब्धावकाशो मे मनोरथः। किन्तु सख्याः परिहासोदाहृतां वरप्रार्थनां श्रुत्वा धृतद्वैधीभावकातरं मे मनः।

प्रियंवदा—(सस्मितं शकुन्तलां विलोक्य नायकाभिमुखी भूत्वा) पुणो वि वत्तुकामो विअ अज्जो। **[पुनरपि वक्तुकाम इवार्यः।]**

(शकुन्तला सखीमङ्गुल्या तर्जयति)

राजा—सम्यगुपलक्षितं भवत्या। अस्ति नः सच्चरितश्रवणलोभादन्यदपि प्रष्टव्यम्।

प्रियंवदा—अलं विआरिअ। अणिअंतणाणुओओ तवस्सिअणो णाम। **[अलं विचार्य। अनियन्त्रणानुयोगस्तपस्विजनो नाम।]**

राजा—इति सखीं ते ज्ञातुमिच्छामि—

वैखानसं किमनया व्रतमा प्रदानाद्व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्।
अत्यन्तमेव मदिरेक्षणवल्लभाभिराहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः॥ २५॥

राजा—बस-बस, आगे की बात मैं समझ गया कि ये अप्सरा की कन्या हैं।

अनसूया—जी हाँ।

राजा—ठीक ही है। अन्यथा—

मनुष्यों में ऐसा रूप भला कहाँ मिलता है। चञ्चल चमकवाली बिजली पृथ्वीतल से नहीं निकला करती॥ २४॥

(शकुन्तला सिर झुका लेती है)

राजा—**(मन ही मन)** चलो, मेरे मनोरथ को कुछ सहारा तो मिला। परन्तु इसकी सखी प्रियंवदा ने हँसी-हँसी में इसके वर मिलने की भी बात कही थी। इसी से अब भी मेरा मन दुविधा में पड़ा हुआ है।

प्रियंवदा—**(मुस्कराती हुई पहले शकुन्तला और फिर राजा की ओर देखकर)** आर्य! जैसे कुछ और भी पूछना चाहते हैं?

(शकुन्तला सखी को अंगुली दिखलाकर धमकाती है)

राजा—आपने हमारे मन की बात भलीभाँति जान ली है। इनकी सुन्दर कथा सुनने के लोभवश हम कुछ और पूछना चाहते हैं।

प्रियंवदा—तो संकोच मत कीजिये। तपस्वियों से तो आप बेखटके कुछ भी पूछ सकते हैं।

राजा—अपकी सखी के सम्बन्ध में हम यह जानना चाहते हैं कि—

इन्होंने कामदेव की गति-विधि को रोकने वाला यह जो तपस्वियों जैसा बाना बनाया है, यह विवाह होने तक ही रहेगा या ये अपना सारा जीवन मदभरी आँखों के कारण प्यारी लगनेवाली हरिणियों के बीच में रहकर यों ही बितायेंगी॥ २५॥

प्रियंवदा—अज्ज ! धम्माचरणे वि परवसो अअं जणो। गुरुणो उण से अणुरूववरप्पदाणे संकप्पो। [आर्य! धर्माचरणेऽपि परवशोऽयं जनः। गुरोः पुनरस्या अनुरूपवरप्रदाने सङ्कल्पः।]

राजा—(आत्मगतम्) न दुरवापेयं खलु प्रार्थना।

भव हृदय! साभिलाषं सम्प्रति सन्देहनिर्णयो जातः।
आशङ्कसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्॥ २६॥

शकुन्तला—(सरोषमिव) अणसूए! गमिस्सं अहं। [अनसूये! गमिष्याम्यहम्।]

अनसूया—किं णिमित्तं ? [किन्निमित्तम्?]

शकुन्तला—इमं असंबद्धप्पलाविणिं पिअंवदं अज्जाए गोदमीए णिवेदइस्सं। [इमामसम्बद्धप्रलापिनीं प्रियंवदामार्यायै गौतम्यै निवेदयिष्यामि।]

अनसूया—सहि! ण जुत्तं अस्समवासिणो अकिदसक्कारं अदिहिविसेसं विसज्जिअ सच्छंददो गमणं। [सखि! न युक्तमाश्रमवासिनोऽकृतसत्कारमतिथिविशेषं विसृज्य स्वच्छन्दतो गमनम्।]

(शकुन्तला न किञ्चिदुक्त्वा प्रस्थितैव)

राजा—(स्वगतम्) आः! कथं गच्छति? (ग्रहीतुमिच्छन्निगृह्यात्मानम्)

अनुयास्यन्मुनितनयां सहसा विनयेन वारितप्रसरः।
स्थानादनुच्चलन्नपि गत्वेव पुनः प्रतिनिवृत्तः॥ २७॥

प्रियंवदा—(शकुन्तलां निरुध्य) हला! ण दे जुत्तं गंतु। [हला! न ते युक्तं गन्तुम्।]

शकुन्तला—(सभ्रूभङ्गम्) किं णिमित्तं? [किन्निमित्तम्?]

प्रियंवदा—आर्य! धर्म के काम भी ये अपने मन से नहीं कर सकतीं। फिर भी पिताजी का सङ्कल्प है कि यदि इसके योग्य वर मिल जायेगा तो विवाह कर देंगे।

राजा—(मन ही मन) इस सङ्कल्प का पूरा होना कठिन नहीं है।

हृदय! तू आशा मत छोड। जो दुविधा थी, वह तो जाती रही। क्योंकि जिसे तू अग्नि समझकर छूने से डरता था, वह तो छूने के योग्य रत्न निकला॥ २६॥

शकुन्तला—(कुपित जैसी होकर) अनसूये! मैं तो जा रही हूँ।

अनसूया—किस लिए?

शकुन्तला—इस ऊटपटांग बकवास करनेवाली प्रियंवदा की सब बातें जाकर आर्या गौतमी से कह आती हूँ।

अनसूया—सखी! ऐसे बडे अतिथि का सत्कार किये बिना उन्हें छोड़कर स्वेच्छा से चले जाना हम आश्रमवासियों के लिए अच्छा नहीं है।

(शकुन्तला बिना कुछ कहे चलने को उद्यत होती है)

राजा—(मन ही मन) अरे, जाती क्यों हो? (उसे रोकने की इच्छा होती है, किन्तु फिर अपने को रोककर)

इस मुनि-कन्या के पीछे जाते-जाते लाज के कारण मैं सहसा रुक गया और अपने स्थान से हिला तक नहीं। फिर भी मुझे ऐसा लग रहा है कि मानो मैं कुछ दूर जाकर लौट आया हूँ॥ २७॥

प्रियंवदा—(शकुन्तला को रोककर) सखी! तुम्हारा इस प्रकार जाना ठीक नहीं है।

शकुन्तला—(भौंहें चढाकर) क्यों?

प्रियंवदा—रुक्खसेअणे दुवे धारेसि मे। एहि जाव; अत्ताणं मोचिअ तदो गमिस्ससि। [वृक्षसेचने द्वे धारयसि मे। एहि तावत्; आत्मानं मोचयित्वा ततो गमिष्यसि।] (इति वलादेनां निवर्तयति)

राजा—भद्रे! वृक्षसेचनादेव परिश्रान्तामत्रभवतीं लक्षये। तथा ह्यस्याः—

स्रस्तांसावतिमात्रलोहिततलौ बाहू घटोत्क्षेपणा-
दद्यापि स्तनवेपथुं जनयति श्वासः प्रमाणाधिकः।
बद्धं कर्णशिरीषरोधि वदने घर्माम्भसां जालकं
बन्धे स्रंसिनि चैकहस्तयमिताः पर्याकुला मूर्धजाः॥ २८॥

तदहमेनामनृणां करोमि। (इत्यङ्गुलीयं दातुमिच्छति)

(उभे नाममुद्राक्षराण्यनुवाच्य परस्परमवलोकयतः)

राजा—अलमस्मानन्यथा सम्भाव्य। राज्ञः परिग्रहोऽयमिति राजपुरुषं मामवगच्छथ।

प्रियंवदा—तेण हि णारिहदि एदं अंगुलीअअं अंगुलिविओअं। अज्जस्स वअणेण अणिरिणा दाणिं एसा। (किञ्चिद्विहस्य) हला सउंदले! मोइदासि अणुअंपिणा अज्जेण अहवा महाराएण। गच्छ दाणिं। [तेन हि नार्हत्येतदङ्गुलीयकमङ्गुलिवियोगम्। आर्यस्य वचनेनानृणेदानीमेषा। हला शकुन्तले! मोचितास्यनुकम्पिना आर्येण अथवा महाराजेन। गच्छेदानीम्।]

शकुन्तला—(आत्मगतम्) जइ अत्तणो पहविस्सं। (प्रकाशम्) का तुमं विसज्जिदव्वस्स रुंधिदव्वस्स वा? [यद्यात्मनः प्रभविष्यामि। का त्वं विसर्जितव्यस्य रोद्धव्यस्य वा?]

राजा—(शकुन्तलां विलोक्य, आत्मगतम्) किं नु खलु यथा वयमस्यामेवमियमप्यस्मान्प्रति स्यात्। अथवा लब्धावकाशा मे प्रार्थना। कुतः—

प्रियंवदा—क्योंकि तुम पर अभी दो पौधे और सींचने का कर्ज है। अपना कर्ज चुका करके ही तुम जा सकोगी। (उसे बलपूर्वक रोकती है)

राजा—भद्रे! पौधों को सींचने से ही आपकी सखी थकी हुई-सी दीख रही हैं। क्योंकि—

घड़े उठाते-उठाते इनके दोनों हाथों की हथेलियाँ लाल हो गयी हैं, इनके बार-बार काँपते हुए स्तन यह बता रहे हैं कि थकान से इनकी साँस फूल रही है। कानों में पहने हुए सिरस के फूल नहीं हिल रहे हैं। क्योंकि पसीने की बूँदों से उनकी पंखुड़ियाँ गालों पर चिपक गयी हैं और जूड़ा खुल जाने से ये अपनी बिखरी हुई लटें एक हाथ से किसी प्रकार सँभाले हुए हैं॥ २८॥

सो इनका ऋण मैं चुकाये देता हूँ। (यह कहकर राजा अंगूठी देना चाहता है)

(उस पर दुष्यन्त का नाम पढ़कर अनसूया और प्रियंवदा दोनों एक-दूसरी को देखती हैं)

राजा—मुझे आप कुछ और न समझ बैठियेगा। यह अंगूठा मुझे राजा से पुरस्कार में मिला है। मुझे आप राजपुरुष ही समझिए।

प्रियंवदा—तब तो इस अंगूठी को आपकी अँगुली से अलग करना अनुचित है। आपके कहने भर से ही ये ऋण से मुक्त हो गयीं। (कुछ मुस्कराकर) सखी शकुन्तला! इनकी या यों कहो कि महाराज की कृपा से तुम ऋणभार से मुक्त हो गयी। अब जा सकती हो।

शकुन्तला—(मन ही मन) अपना मन काबू में हो, तब तो जाऊँ। (प्रकट में) मुझे जाने देने या रोकनेवाली तुम कौन हो?

राजा—(शकुन्तला को देखकर, मन ही मन) कहीं यह भी तो हम पर वैसे ही नहीं रीझ

वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः कर्णं ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे।
कामं न तिष्ठति मदाननसम्मुखीना भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः ॥ २९ ॥

(नेपथ्ये)

भो भोस्तपस्विनः! सन्निहितास्तपोवनसत्त्वरक्षायै भवत। प्रत्यासन्नः किल मृगयाविहारी पार्थिवो दुष्यन्तः।

तुरगखुरहतस्तथा हि रेणुर्विटपविषक्तजलार्द्रवल्कलेषु।
पतति परिणतारुणप्रकाशः शलभसमूह इवाश्रमद्रुमेषु ॥ ३० ॥

अपि च—

तीव्राघातप्रतिहततरुः स्कन्धलग्नैकदन्तः
पादाकृष्टव्रततिवलयासङ्गसञ्जातपाशः।
मूर्तो विघ्नस्तपस इव नो भिन्नसारङ्गयूथो
धर्मारण्यं प्रविशति गजः स्यन्दनालोकभीतः ॥ ३१ ॥

(सर्वाः कर्णं दत्त्वा किञ्चिदिव सम्भ्रान्ताः)

राजा—(आत्मगतम्) अहो धिक्! सैनिका अस्मदन्वेषिणस्तपोवनमुपरुन्धन्ति। भवतु; प्रतिगमिष्यामस्तावत्।

गई है, जैसे हम इस पर रीझे हुए हैं? मुझे तो जान पडता है कि हमारे मनोरथ पूर्ण होने के दिन आ गये। क्योंकि—

यद्यपि यह स्वयं मुझसे बात नहीं करती, फिर भी जब मैं बोलता हूँ, तब कान लगाकर गौर से मेरी बातें सुनने लगती है। यद्यपि मेरे सामने मुँह करके नहीं बैठती, फिर भी इसकी आँखें मेरी ही ओर लगी रहती हैं॥ २९ ॥

(नेपथ्य में)

हे तपस्वियो! तपोवन के प्राणियों को बचाने के लिए सन्नद्ध हो जाओ। क्योंकि आखेट का प्रेमी राजा दुष्यन्त आ पहुँचा है।

क्योंकि उसके घोडों की टापों से उठी हुई साँझ की लाली जैसी लाल-लाल धूल-टिड्डी-दल के समान उडकर आश्रम के उन वृक्षों पर पड रही है, जिनकी शाखाओं पर गीले वल्कल के वस्त्र फैलाये हुए हैं॥ ३० ॥

और देखो—

राजा के रथ से डरा हुआ यह जंगली हाथी हमारी तपस्या के लिए साक्षात् विघ्न बनकर हरिणों के झुण्ड को तितर-बितर करता हुआ तपोवन में घुसा आ रहा है। इसने अपने मस्तक की करारी टक्कर से एक वृक्ष उखाड़ दिया है, जिसमें उसका एक दाँत फँसा हुआ है और टूटी हुई लताएँ फन्दे के समान उसके पैरों में लिपटी हुई हैं॥ ३१ ॥

(यह सुनकर सब कुमारियाँ कुछ घबरा जाती हैं)

राजा—(मन ही मन) अरे, धिक्कार है इन सैनिकों को। जान पडता है कि हमें ढूँढने के लिए ये सारे तपोवन को रौंदे डाल रहे हैं। अब हमें उधर ही चलना चाहिए।

सख्यौ—अज्ज ! इमिणा अरण्णअवुत्तंतेण पज्जाउला म्ह। अणुजाणीहि णो उडअगमणस्स।
[आर्य ! अनेनारण्यकवृत्तान्तेन पर्याकुलाः स्मः। अनुजानीहि न उटजगमनाय।]

राजा—(ससम्भ्रमम्) गच्छन्तु भवत्यः। वयमप्याश्रमपीडा यथा न भवति तथा प्रयतिष्यामहे।

(सर्वे उत्तिष्ठन्ति)

सख्यौ—अज्ज ! असंभवाविदअदिहिसक्कारं भूओ वि पेक्खणणिमित्तं लज्जेमो अज्जं विण्णविदुं।
[आर्य ! असम्भावितातिथिसत्कारं भूयोऽपि प्रेक्षणनिमत्तं लज्जावहे आर्य विज्ञापयितुम्।]

राजा—मा मैवम्। दर्शनेनैवात्र भवतीनां पुरस्कृतोऽस्मि।

(शकुन्तला राजानमवलोकयन्ती सव्याजं विलम्ब्य सह सखीभ्यां निष्क्रान्ता)

राजा—मन्दौत्सुक्योऽस्मि नगरगमनं प्रति। यावदनुयात्रिकान्समेत्य नातिदूरे तपोवनस्य निवेशयेयम्। न खलु शक्नोमि शकुन्तलाव्यापारादात्मानं निवर्तयितुम्। मम हि—

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य॥ ३२॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

॥ इति प्रथमोऽङ्कः ॥

दोनों—आर्य ! इस जंगली हाथी के आगमन की बात सुनकर हम लोग डर गयी हैं। अब हमें कुटी में जाने की आज्ञा दीजिए।

राजा—(कुछ घबराहट के साथ) आप लोग चलें। मैं भी ऐसा प्रयत्न करता हूँ कि जिससे तपोवन के निवासियों को कष्ट न हो।

(सभी उठती हैं)

दोनों—आर्य ! हमने आपका कुछ भी सत्कार नहीं किया। इसलिए आपसे यह प्रार्थना करने में बड़ा संकोच हो रहा है कि हमें दर्शन दीजिएगा।

राजा—नहीं-नहीं, ऐसा न कहिए। आप लोगों के दर्शन से ही हमें फिर बहुत बड़ा पुरस्कार मिल गया।

(राजा को देखती हुई शकुन्तला कुशा चुभने और शाखा में धोती फँसने का बहाना करके थोड़ा रुककर सखियों के साथ चली जाती है)

राजा—नगर में लौटने की सारी उत्सुकता जाती रही। इसलिए आश्रम के पास ही सैनिकों के साथ डेरा डालता हूँ। ऐसा लगता है कि शकुन्तला के इस प्रेम-व्यवहार से मैं छुटकारा न पा सकूँगा। क्योंकि—

जैसे पवन के सामने वाली रेशमी झण्डी पीछे को फरफराती है, वैसे ही मेरा शरीर ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों चञ्चल मन पीछे की ओर दौड़ रहा है॥ ३२॥

(सभी का प्रस्थान)

॥ पहला अङ्क समाप्त ॥

द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति विषण्णो विदूषकः)

विदूषकः—(निःश्वस्य) भो ! दिट्ठं। एदस्स मअआसीलस्स रण्णो वअस्सभावेण णिव्विण्णो म्हि। अअं मओ अअं वराहो अअं सद्दूलो त्ति मज्झण्णे वि गिम्हविरअपाअवच्छाआसु वणराईसु आहिण्डीअदि अडवीदो अडवी। पत्तसंकरकसाआइं कडुआइं गिरिणईजलाइं पीअंति। अणिअदवेलं सुल्लमंसभूइट्ठो आहारो अण्हीअदि। तुरगाणुधावणकंडिदसंधिणो रत्तिम्मि वि णिकामं सइदव्वं णत्थि। तदो महंते एव्व पच्चूसे दासीए-पुत्तेहिं सउणिलुद्धएहिं वणग्गहणकोलाहलेण पडिबोधिदो म्हि। एत्तएण दाणिं वि पीडा ण णिक्कमदि। तदो गंडस्स उवरि पिंडओ संवुत्तो। हिओ किल अम्हेसु ओहीणेसु तत्तहोदो मआणुसारेण अस्समपदं पविट्ठस्स तावसकण्णआ सउंदला मम अधण्णदाए दंसिदा। संपदं णअरगमणस्स मणं कहं वि ण करेदि। अज्ज वि से तं एव्व चिंतअंतस्स अक्खीसु पभादं आसि। का गदी ? जाव णं किदाचारपरिक्कमं पेक्खामि। (इति परिक्रम्यावलोक्य च) एसो बाणासणहत्थाहिं जवणीहिं वणपुप्फमालाधारिणीहिं पडिवुदो इदो एव्व आअच्छदि पिअवअस्सो। होदु; अंगभंगविअलो विअ भविअ चिट्ठिस्सं। जइ एव्वं वि णाम विस्समं लहेअं। [**भो! दृष्टम्। एतस्य मृगयाशीलस्य राज्ञो वयस्यभावेन निर्विण्णोऽस्मि। अयं मृगोऽयं वराहोऽयं शार्दूल इति मध्याह्नेऽपि ग्रीष्मविरलपादपच्छायासु वनराजीष्वाहिण्ड्यतेऽटवीतोऽटवी। पत्रसङ्करकषायाणि कटूनि गिरिनदीजलानि पीयन्ते। अनियतवेलं शूल्यमांसभूयिष्ठ आहारो भुज्यते। तुरगानुधावनकण्डितसन्धे रात्रावपि निकामं शयितव्यं नास्ति। ततो महत्येव प्रत्यूषे दास्याः-पुत्रैः शकुनिलुब्धकैर्वनग्रहणकोलाहलेन प्रतिबोधितोऽस्मि। इयतेदानीमपि पीडा न निष्क्रामति। ततो गण्डस्योपरि पिण्डकः संवृत्तः। ह्यः किलास्मास्ववहीनेषु तत्रभवतो मृगानुसारेणाश्रमपदं प्रविष्टस्य तापसकन्यका शकुन्तला ममाधन्यतया दर्शिता। साम्प्रतं नगरगमनस्य मनः कथमपि न करोति। अद्यापि तस्य तामेव चिन्तयतोऽक्ष्णोः**

(उदास मन से विदूषक का प्रवेश)

विदूषक—(लम्बी साँस लेता हुआ) बस देख चुके। इस शिकारी राजा की मित्रता से तो जी ऊब गया है। भरी दुपहरी में भी एक वन से दूसरे वन में भटकते हुए उन जंगली प्रदेशों में होकर चलना पडता है, जहाँ गर्मी के कारण पेडों में कहीं-कहीं छाँह रह गई है और दिन-रात यही शोर कान फाडे डालता है—यह मृग आया, वह सूअर निकला, यह सिंह रहा। फिर सड़े हुए पत्तों से मिश्रित जलवाली नदियों का कसैला और कड़ुआ पानी पीना पड़ता है और देर-सबेर लोहे की सीखों पर भुना हुआ मांस खाने को मिलता है। घोडे के पीछे दौडते-दौड़ते शरीर के जोड-जोड ऐसे ढीले पड़ गये हैं कि रात में ठीक से नींद भी नहीं आती। उसपर ये दासीपुत्र चिडीमार भोर में ही—'चलो वन को, चलो वन को'—यों चिल्ला-चिल्लाकर ऐसा शोर मचाते हैं कि नींद उचट जाती है। अभी यह विपत्ति टली ही नहीं थी कि उधर फोड़े के ऊपर फुन्सी के समान दूसरी विपत्ति आ टपकी। सुनते हैं कि कल हम लोगों का साथ छूट जाने पर मृग का पीछा करते-करते महाराज दुष्यन्त तपस्वियों के आश्रम में जा पहुँचे। मेरे दुर्भाग्य से वहाँ उन्हें मुनिकन्या शकुन्तला दीख गई। अब किसी भी प्रकार उनका मन नगर लौटने को कहता ही नहीं। आज भी रात भर उसी की चिन्ता में जागते हुए उनकी आँखों

प्रभातमासीत्। का गतिः? यावत्तं कृताचारपरिक्रमं पश्यामि। एष बाणासनहस्ताभिर्यवनीभिर्वनपुष्पमालाधारिणीभिः परिवृत इत एवागच्छति प्रियवयस्यः। भवतु; अङ्गभङ्गविकल इव भूत्वा स्थास्यामि। यद्येवमपि नाम विश्रामं लभेय।] (इति दण्डकाष्ठमवलम्ब्य स्थितः)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टपरिवारो राजा)

राजा—(आत्मगतम्)

कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनाश्वासि।
अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते॥ १॥

(स्मितं कृत्वा) एवमात्माभिप्रायसम्भावितेष्टजनचित्तवृत्तिः प्रार्थयिता विडम्ब्यते। तथा हि—

स्निग्धं वीक्षितमन्यतोऽपि नयने यत्प्रेरयन्त्या तया
यातं यच्च नितम्बयोर्गुरुतया मन्दं विलासादिव।
मा गा इत्युपरुद्धया यदपि सा सासूयमुक्ता सखी
सर्वं तत्किल मत्परायणमहो कामी स्वतां पश्यति॥ २॥

विदूषकः—(तथास्थित एव) भो वअस्स! ण मे हत्थपाआ पसरंति। ता वाआमेत्तएण जईकरीयसि। जेदु जेदु भवं [**भो वयस्य! न मे हस्तपादाः प्रसरन्ति। तद् वाचा मात्रेण जयीक्रियते। जयतु जयतु भवान्।**]

राजा—(सस्मितम्) कुतोऽयं गात्रोपघातः?

ने सबेरा कर दिया। क्या करूँ? चलूँ, वे नित्यकर्म कर चुके हों तो उनसे बातें करूँ। **(घूम और देखकर)** अरे, मेरे मित्र तो इधर ही चले आ रहे हैं, जिनके साथ हाथ में धनुष लिये और गले में जंगली फूलों की माला पहने हुए बहुत-सी यवनी सेविकाएँ भी चली आ रही हैं। अच्छी बात है, मै भी लुंज-पुंज-सा बनकर खड़ा हो जाता हूँ। सम्भव है कि इसी बहाने थोडा विश्राम ही मिल जाय। **(लाठी टेककर खड़ा हो जाता है)**

(पूर्वोक्त निर्देनानुसार यवनी सेविकाओं के साथ राजा दुष्यन्त का प्रवेश)

राजा—(मन ही मन) यद्यपि प्यारी का मिलना कठिन है, किन्तु उसकी चाल-ढाल देखने से मन को बड़ा सन्तोष मिल रहा है। हम दोनों का मिलन भले ही न हो, किन्तु इतना तो सन्तोष है कि मिलने की उतावली दोनो ओर एक-सी है॥ १॥

(मुस्कराकर) जो प्रेमी अपनी प्रियतमा के मन को अपने मन से परखता है, वह इसी प्रकार धोखा खाता है और देखो—

जब वह आँखें घुमाती थी, तब मै समझता था कि वह मुझे ही प्यार-भरी आँखों से देख रही है। नितम्बों के भारी होने के कारण जब वह धीरे-धीरे चलती थी, तब मै समझता था कि वह मुझे अपनी चटक-मटक दिखा रही है। उसकी सखियों ने जब उसे जाने से रोका, उस समय अपनी सखियों पर जो वह लाल-पीली हुई, तभी मैंने समझा कि यह सब मेरे ही प्रेम के कारण हो रहा है। आह, कामी को सर्वत्र अपने ही स्वार्थ की बात दिखलायी देती है॥ २॥

विदूषक—(उसी मुद्रा में खडा हुआ) मित्र! मेरे हाथ-पैर तो फैल ही नहीं रहे हैं, इसलिए मुँह से ही मैं आपकी जय-जयकार करता हूँ। आपकी जय हो, जय हो।

राजा—तुम्हारा अंग-भंग कैसे हो गया?

विदूषकः—कुदो किल सअं अच्छी आउलीकरिअ अस्सुकारणं पुच्छेसि? [कुतः किल स्वयमक्ष्याकुलीकृत्याश्रुकारणं पृच्छसि?]

राजा—न खल्ववगच्छामि?

विदूषकः—भो वअस्स! जं वेदसो कुज्जलीलं विडंबेदि तं किं अत्तणो पहावेण उद णईवेअस्स? [भो वयस्य! यद्वेतसः कुब्जलीलां विडम्बयति तत्किमात्मनः प्रभावेण उत नदीवेगस्य।]

राजा—नदीवेगस्तत्र कारणम्।

विदूषकः—मम वि भवं। [ममापि भवान्।]

राजा—कथमिव?

विदूषकः—एव्वं राअकज्जाणि उज्झिअ तारिसे आउलप्पदेसे वणचरवुत्तिणा तुए होदव्वं। जं सच्चं पच्चहं सावदसमुच्छारणेहिं संखोहिअसंधिवंधाणं मम गत्ताणं अणीसो म्हि संवुत्तो। ता पसादइस्सं विसज्जिदुं मं एक्काहं वि दाव विस्समिदुं। [एवं राजकार्याण्युज्झित्वा तादृश आकुलप्रदेशे वनचरवृत्तिना त्वया भवितव्यम्। यत्सत्यं प्रत्यहं श्वापदसमुत्सारणैः सङ्क्षोभितसन्धिबन्धानां मम गात्राणामनीशोऽस्मि संवृत्तः। तत्प्रसादयिष्यामि विसर्जितुं मामेकाहमपि तावद्विश्रमितुम्।]

राजा—(स्वगतम्) अयं चैवमाह, ममापि कण्वसुतामनुस्मृत्य मृगयाविक्लवं चेतः। कुतः?

> न नमयितुमधिज्यमस्मि शक्तो धनुरिदमाहितसायकं मृगेषु।
> सहवसतिमुपेत्य यैः प्रियायाः कृत इव मुग्धविलोकितोपदेशः ॥ ३ ॥

विदूषकः—(रण्णो मुखं विलोक्य) अत्तभवं किं वि हिअए करिअ मंतेदि। अरण्णे मए रुदिअं आसि। [अत्रभवान्किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयते। अरण्ये मया रुदितमासीत्।]

राजा—(सस्मितम्) किमन्यत्? अनतिक्रमणीयं मे सुहृद्वाक्यमिति स्थितोऽस्मि।

विदूषक—कैसे क्या? स्वयं आँखों मे अँगुली कोंचकर आप पूछ रहे हैं कि आँसू कैसे आए?

राजा—मैं तो कुछ भी नहीं समझ सका।

विदूषक—अच्छा मित्र! यह तो बताइए कि नदी में जो बेंत की लता कुबडी बनी खडी रहती है, वह अपने मन से वैसी रहती है या नदी के वेग के कारण टेढी हो जाती है?

राजा—नदी का वेग ही उसका कारण है।

विदूषक—तो मेरे भी अङ्ग-भङ्ग के कारण आप ही हैं।

राजा—वह कैसे?

विदूषक—आप तो राज्य-कार्य छोडकर इस बीहड़ वन में जंगलियों के समान घूम रहे हैं। यहाँ जंगली जन्तुओं का पीछा करते-करते मेरे अङ्गों के जोड-जोड टूट गये हैं, जिससे हिला भी नहीं जाता। अब आप कृपा करके मुझे तो कम से कम एक दिन विश्राम करने की आज्ञा दे ही दीजिए।

राजा—(**मन ही मन**) इधर यह ऐसा कह रहा है, उधर कण्व की कन्या का ध्यान करते-करते मेरा मन भी आखेट से ऊब गया है। क्योंकि—

जिन हरिणों ने शकुन्तला के साथ रहकर उसे भोली चितवन की शिक्षा दी है, उन्हें मारने के लिए यह बाण चढाया हुआ धनुष मुझसे खींचते ही नहीं बनता॥ ३ ॥

विदूषक—(**राजा का मुँह निहारकर**) आप तो मन ही मन न जाने क्या बडबड़ा रहे हैं। मैं यह सब कहकर क्या जंगल में रोता रहा।

राजा—(**मुस्कराकर**) नहीं-नहीं, मै भी यही सोच रहा था कि मित्र की बात नहीं टालनी चाहिए। इसीलिए मैं चुप हो गया था।

विदूषकः—चिरं जीअ। [**चिरं जीव।**] (इति गन्तुमिच्छति)

राजा—वयस्य! तिष्ठ। सावशेषं मे वचः।

विदूषकः—आणवेदु भवं। [**आज्ञापयतु भवान्।**]

राजा—विश्रान्तेन भवता ममाप्यनायासे कर्मणि सहायेन भवितव्यम्।

विदूषकः—किं मोदअखंडिआए? तेण हि अअं सुगहीदो खणो। [**किं मोदकखण्डिकायाम्? तेन ह्ययं सुगृहीतः क्षणः।**]

राजा—यत्र वक्ष्यामि। कः कोऽत्र भोः?

(प्रविश्य)

दौवारिकः—(प्रणम्य) आणवेदु भट्टा। [**आज्ञापयतु भर्ता।**]

राजा—रैवतक! सेनापतिस्तावदाहूयताम्।

दौवारिकः—तह। (इति निष्क्रम्य सेनापतिना सह पुनः प्रविश्य) एसो अण्णावअणुक्कंठो भट्टा इदो दिण्णदिट्ठी एव्व चिट्ठदि। उवसप्पदु अज्जो। [**तथा। एष आज्ञावचनोत्कण्ठो भर्ता इतो दत्तदृष्टिरेव तिष्ठति। उपसर्पत्वार्यः।**]

सेनापतिः—(राजानमवलोक्य) दृष्टदोषाऽपि स्वामिनि मृगया केवलं गुण एवं संवृत्ता। तथा हि देवः—

अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं रविकिरणसहिष्णु स्वेदलेशैरभिन्नम्।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति॥४॥

विदूषक—बहुत दिन जीते रहिए मित्र! **(जाना चाहता है)**

राजा—मित्र! ठहरो, मेरी बात अभी पूरी नहीं हुई है।

विदूषक—तो और भी कहिये महाराज।

राजा—देखो, विश्राम कर लो तो आकर मेरे भी एक सहज काम में सहायता कर देना।

विदूषक—क्या लड्डू खाने हैं? तब तो उसके लिए इससे बढकर और कौन-सा उपयुक्त अवसर हो सकता है?

राजा—ठहरो, बताता हूँ। अरे, यहाँ कौन है?

(प्रवेश कर)

दौवारिक—**(प्रणाम करके)** आज्ञा कीजिए स्वामी।

राजा—रैवतक! सेनापति को बुला लाओ।

दौवारिक—अच्छा। **(बाहर जाकर सेनापति को साथ लेकर लौटता है)** यह सामने इधर ही दृष्टि किये हुए स्वामी बैठे हैं और कुछ आज्ञा देने ही वाले हैं। आगे चलिए आर्य।

सेनापति—**(राजा को देखकर)** लोग आखेट को इतना बुरा बताते हैं, किन्तु स्वामी को तो इससे बड़ा लाभ हुआ है। क्योंकि—

पहाड़ों में घूमनेवाले हाथी के समान इनके बलवान् शरीर के आगे का भाग निरन्तर धनुष की डोरी खींचने से इतना कड़ा हो गया है कि उस पर न तो धूप का प्रभाव पड़ता है और न पसीना ही छूटता है। बहुत दौड़-धूप के कारण यद्यपि ये दुबले हो गये हैं, किन्तु पुट्ठों के पक्के होने के कारण इनका दुबलापन दिखाई नहीं देता॥४॥

(उपेत्य) जयतु जयतु स्वामी; गृहीतश्वापदमरण्यम्। किमद्याप्यवस्थीयते।

राजा—मन्दोत्साहः कृतोऽस्मि मृगयापवादिना माढव्येन।

सेनापतिः—(जनान्तिकम्) सखे! स्थिरप्रतिबन्धो भव। अहं तावत्स्वामिनश्चित्तवृत्तिमनुवर्तिष्ये। (प्रकाशम्) प्रलपत्वेष वैधेयः। ननु प्रभुरेव निदर्शनम्—

मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः ?॥५॥

विदूषकः—अवेहि रे उत्साहहेतुअ! अत्तभवं पकिदिं आपण्णो। तुमं दाव अडवीदो अडवीं आहिंडंतो णरणासिआलोलुवस्स जिण्णरिच्छस्स कस्स वि मुहे पडिस्ससि। [अपेहि रे उत्साहहेतुक! अत्रभवान्प्रकृतिमापन्नः। त्वं तावदटवीतोऽटवीमाहिण्डमानो नरनासिकालोलुपस्य जीर्णर्क्षस्य कस्यापि मुखे पतिष्यसि।]

राजा—भद्र सेनापते! आश्रमसन्निकृष्टे स्थिताः स्मः। अतस्ते वाचो नाभिनन्दामि। अद्य तावत्—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु।
विश्रब्धं क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः॥६॥

(पास जाकर) स्वामी की जय हो, जय हो। हमने वन में आखेट के लिए पशुओं को घेर लिया है। अब बिलम्ब किसलिए कर रहे हैं?

राजा—आखेट के निन्दक इस माधव्य ने मेरा मारा उत्साह ही ठण्डा कर दिया है।

सेनापति—(अलग विदूषक से) अच्छा मित्र! तुम डटकर विरोध करो। देखो, मै भी स्वामी के मन को कैसे पलट देता हूँ। **(प्रकट में)** इस मूर्ख को बकने दीजिए महाराज! स्वयं स्वामी ही उदाहरण हैं कि—

आखेट से चर्वी घट जाती है और तोंद छँट जाती है, शरीर हलका और फुर्तीला हो जाता है। पशुओं के मुँह पर भय और क्रोध देखकर उनके चित्त का ज्ञान हो जाता है और चलते हुए लक्ष्यों पर बाण चलाने में हाथ सध जाते हैं, जो धनुषधारियों के लिए बड़े गौरव की बात है। लोग झूठ-मूठ ही आखेट को व्यसन बतलाते हैं। वास्तव में ऐसा मन-बहलाव अन्यत्र मिलता कहाँ है?॥५॥

विदूषक—अरे चल-चल, ओ उत्साह दिलानेवाले! अब महाराज फिर मनुष्य बन गये हैं। तू तो एक दिन इसी प्रकार इस वन से उस वन में घूम-घूमकर आखेट करते हुए मनुष्य की नाक के लोभी किसी बूढ़े भालू के मुँह में पड़ेगा ही।

राजा—भद्र सेनापति! हम लोग इस समय तपोवन के पास विद्यमान हैं। इसलिए तुम्हारी बात मुझे जँच नहीं रही है। आज तो—

भैंसे अपनी सींगों से पानी हिलोरते हुए तालों में तैरें, हरिणों के झुण्ड पेड़ों की घनी छाया में बैठकर जुगाली करें, बड़े-बड़े सूअर निडर होकर छिछले तालों में मोथे की जड़ें खोदें और मेरे धनुष की ढीली डोरी भी कुछ देर विश्राम करे॥६॥

सेनापतिः—यत्प्रभविष्णवे रोचते।

राजा—तेन हि निवर्तय पूर्वगतान्वनग्राहिणः। यथा न मे सैनिकास्तपोवनमुपरुन्धन्ति तथा निषेद्धव्याः। पश्य—

शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्यतेजोऽभिभवाद्वमन्ति॥७॥

सेनापतिः—यथाज्ञापयति स्वामी।

विदूषकः—धंसदु दे उच्छाहवुत्तंतो। [ध्वंसतां ते उत्साहवृत्तान्तः।]

(निष्क्रान्तः सेनापतिः)

राजा—(परिजनं विलोक्य) अपनयन्तु भवन्तो मृगयावेषम्। रैवतक! त्वमपि स्वं नियोगमशून्यं कुरु।

परिजनः—जं देवो आणवेदि। [यद्देव आज्ञापयति।] (इति निष्क्रान्तः)

विदूषकः—किदं भवदा णिम्मच्छिअं। संपदं एदस्सिं पादवच्छाआए विरइदलदाविदाण-दंसणीआए आसणे णिसीददु भवं, जाव अहं वि सुहासीणो होमि। [कृतं भवता निर्मक्षिकम्। साम्प्रतमेतस्यां पादपच्छायायां विरचितलतावितानदर्शनीयायामासने निषीदतु भवान्, यावदहमपि सुखासीनो भवामि।]

राजा—गच्छाग्रतः।

विदूषकः—इदु भवं। [एतु भवान्।]

(इत्युभौ परिक्रम्योपविष्टौ)

सेनापति—जैसी महाराज की इच्छा।

राजा—तो जिन हँकवा करने वालों को आगे भेज दिया है, उन्हें लौटा लो और सैनिकों को समझा दो कि कोई ऐसा काम न करें कि जिससे तपोवन के काम में विघ्न पडे। देखो—

सूर्यकान्तमणि ऐसे तो छूने में ठण्डा होता है, किन्तु जब उस पर सूर्य अपना प्रकाश डालता है, तब वह भी आग उगलने लगता है। उसी प्रकार ऋषि लोग यद्यपि बडे शान्त स्वभाव के होते हैं, किन्तु उनमें इतना तेज होता है कि यदि कोई उन्हें कष्ट देता है तो वे उसे जलाकर भस्म कर देते हैं॥७॥

सेनापति—जैसी स्वामी की आज्ञा।

विदूषक—तुम्हारी उत्साह की बातें भाड में जायें।

(सेनापति चला जाता है)

राजा—(सेवकों को देखकर) तुम लोग भी अपने आखेट के वस्त्र उतार डालो। रेवतक! जाओ, तुम भी अपना काम करो।

सेवक—जैसी देव की आज्ञा। (सभी चले जाते हैं)

विदूषक—अच्छा किया आपने, जो ये मक्खियाँ भगा दीं। अब चलकर इन वृक्षों की घनी छायावाले लतामण्डप के नीचे सुन्दर आसन पर बैठिए और मैं भी बैठकर थोडा सुस्ता लूँ।

राजा—अच्छा, तो आगे-आगे चलो।

विदूषक—आप भी आइए।

(दोनों घूमकर बैठते हैं)

राजा—माढव्य! अनवाप्तचक्षुःफलोऽसि, येन त्वया दर्शनीयं न दृष्टम्।

विदूषकः—णं भवं अग्गदो मे वट्टदि। [ननु भवानग्रतो मे वर्तते।]

राजा—सर्वः खलु कान्तमात्मानं पश्यति। अहं तु तामाश्रमललामभूतां शकुन्तलामधिकृत्य ब्रवीमि।

विदूषकः—(स्वगतम्) होदु; से अवसरं ण दाइस्सं। (प्रकाशम्) भो वअस्स! ते तावसकण्णआ अब्भत्थणीआ दीसदि। [भवतु; अस्यावसरं न दास्ये। भो वयस्य! ते तापसकन्यकाऽभ्यर्थनीया दृश्यते।]

राजा—सखे! न परिहार्ये वस्तुनि पौरवाणां मनः प्रवर्तते—

सुरयुवतिसम्भवं किल मुनेरपत्यं तदुज्झिताधिगतम्।
अर्कस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालिकाकुसुमम्॥८॥

विदूषकः—(विहस्य) जह कस्स वि पिंडखज्जूरेहिं उव्वेजिदस्स तिंतिणीए अहिलासो भवे तह इत्थिआरअणपरिभाविणो भवदो इअं अब्भत्थणा। [यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो भवेत् तथा स्त्रीरत्नपरिभाविनो भवत इयमभ्यर्थना।]

राजा—न तावदेनां पश्यसि येनैवमवादीः।

विदूषकः—तं क्खु रमणिज्जं जं भवदो विम्हअं उप्पादेदि। [तत्खलु रमणीयं यद्भवतोऽपि विस्मयमुत्पादयति।]

राजा—वयस्य! किं बहुना—

चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः॥९॥

राजा—माधव्य! यदि तुमने देखने योग्य वस्तु नहीं देखी तो आँखें पाने से तुम्हें लाभ ही क्या हुआ?

विदूषक—आप तो मेरी आँखों के आगे हैं न।

राजा—वैसे तो सभी लोग अपने को सुन्दर समझते हैं, किन्तु इस समय तो मै शकुन्तला की बात कर रहा हूँ, जो इस आश्रम की शोभा है।

विदूषक—(मन ही मन) अच्छा, मैं इस बात को यहीं समाप्त कर देता हूँ। (प्रकट में) मित्र! ऐसा जान पड़ता है कि आप उस तपस्वी की कन्या पर मोहित हो गये हैं।

राजा—मित्र! पुरुवंशियों का मन कुपंथ की ओर नहीं बढता—

मैने सुना है कि उसकी माँ कोई अप्सरा थी। वह जब इसे वन में छोडकर चली गयी, तब कण्व मुनि उसे उठा लाये। यह तो ऐसा ही हुआ कि मानो नवमल्लिका का फूल अपनी डाली से टूटकर मदार पर आ गिरा हो॥८॥

विदूषक—(हँसकर) जैसे कोई व्यक्ति मीठा पिंड खजूर खाते-खाते ऊबकर इमली पर ललचाने लगे, वैसे ही आप भी रनिवास की एक-मे-एक बढ़कर सुन्दरियों को भुलाकर इस पर मुग्ध हो गये हैं।

राजा—अभी तुमने उसे देखा नहीं है, इसी से ऐसा कहते हो।

विदूषक—तो ठीक है। जब आप उसे देखकर चकित हो गये हैं, तब तो वह अवश्य रूपवती होगी।

राजा—मित्र! और क्या कहूँ, बस यही समझ लो कि—

ब्रह्मा ने जब उसे बनाया होगा, तब पहले उसका चित्र बनाकर या मन में संसार की सभी

विदूषकः—जइ एव्वं पच्चादेसो दाणिं रूववदीणां। [यद्येवं प्रत्यादेश इदानीं रूपवतीनाम्।]

राजा—इदं च मे मनसि वर्तते—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः॥ १०॥

विदूषकः—तेण हि लहु परित्ताअदु णं भवं। मा कस्स वि तवस्सिणो इंगुदीतेल्लमिस्स-चिक्कणसीसस्स आरण्णअस्स हत्थे पडिस्सदि। [तेन हि लघु परित्रायतामेनां भवान्। मा कस्यापि तपस्विन इङ्गुदीतैलमिश्रचिक्कणशीर्षस्य हस्ते पतिष्यति।]

राजा—परवती खलु तत्रभवती। न च सन्निहितोऽत्र गुरुजनः।

विदूषकः—अत्तभवंतं अंतरेण कीदिसो से दिट्ठिराओ? [अत्रभवन्तमन्तरेण कीदृशस्तस्या दृष्टिरागः?]

राजा—वयस्य! निसर्गादेवाप्रगल्भस्तपस्विकन्याजनः। तथापि तु—

अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितं हसितमन्यनिमित्तकृतोदयम्।
विनयवारितवृत्तिरतस्तया न विवृतो मदनो न च संवृतः॥ ११॥

विदूषकः—(विहस्य) णं क्खु दिट्ठमेत्तस्स तुह अंकं समारोहदि। [न खलु दृष्टमात्रस्य तवाङ्कं समारोहति।]

राजा—मिथः प्रस्थाने पुनः शालीनतयाऽपि काममाविष्कृतो भावस्तत्रभवत्या। तथा हि—

सुन्दरियों के रूपों को इकट्ठा करके उसमें प्राण डाले होंगे; क्योंकि ब्रह्मा का कौशल और शकुन्तला दोनों पर बारम्बार विचार करने से यही ज्ञात होता है कि उन्होंने यह कोई निराले ही ढंग की सुन्दरी बनायी है॥ ९॥

विदूषक—यदि ऐसी बात है, तब तो इसने सभी सुन्दरियों को परास्त कर दिया।

राजा—मेरी समझ में तो—

उसका रूप वैसा ही पवित्र है, जैसे बिना सूँघा हुआ फूल, नखों से अछूते पत्ते, बिना बिंधा हुआ रत्न, बिना चखा हुआ नया मधु और बिना भोगा हुआ पुण्यों का फल। परन्तु यह नहीं मालूम कि इस रूप को भोगने के लिए ब्रह्मा ने किसे चुना है॥ १०॥

विदूषक—तब तो आप इसे तुरन्त अपना लीजिए, अन्यथा वह हिंगोट के तेल चुपड़ने से चिकने सिरवाले किसी तपस्वी के हाथ में चली जायेगी।

राजा—अरे, वह स्वाधीन थोड़े ही है; और फिर इस समय उसके पिता भी यहाँ नहीं है।

विदूषक—अच्छा, यह तो बतलाइये कि वह आपको किस भाव से देख रही थी?

राजा—मित्र! ऋषियों की कन्याएँ बहुत भोली होती हैं। फिर भी—

जब मैं उसकी ओर ताकता था, तब वह आँखें चुरा लेती थी और किसी न किसी बहाने हँस पड़ती थी। वह शील से इतनी दबी हुई थी कि न तो वह अपने प्रेम को छिपा पाती थी और न ही खुलकर स्वयं को प्रकट ही कर पा रही थी॥ ११॥

विदूषक—(हँसकर) तो क्या वह देखते ही आपकी गोद में आ बैठती।

राजा—अरे सुनो तो। जब वह सखियों के साथ जाने लगी, उस समय शिष्टता की रक्षा करते हुए भी उसने अपना प्रेम प्रकट कर ही दिया। क्योंकि—

दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्॥ १२॥

विदूषकः—तेण हि गहीदपाहेओ होहि। किदं तुए उववणं तवोवणं त्ति पेक्खामि। [तेन हि गृहीतपाथेयो भव। कृतं त्वयोपवनं तपोवनमिति पश्यामि।]

राजा—सखे! तपस्विभिः कैश्चित्परिज्ञातोऽस्मि। चिन्तय तावत्केनापदेशेन सकृदप्याश्रमे वसामः।

विदूषकः—को अवरो अवदेसो तुह रण्णो। णीवारच्छट्ठभाअं अम्हाणं उवहरंतु त्ति। [कोऽपरोऽपदेशस्तव राज्ञः ? नीवारषष्ठभागमस्माकमुपहरन्त्विति।]

राजा—मूर्ख! अन्यद्भागधेयमेतेषां रक्षणे निपतति यद्रत्नराशीनपि विहायाभिनन्द्यम्। पश्य—

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम्।
तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः॥ १३॥

(नेपथ्ये)

हन्त सिद्धार्थौ स्वः।

राजा—(कर्णं दत्त्वा) अये धीरप्रशान्तस्वरैस्तपस्विभिर्भवितव्यम्।

(प्रविश्य)

दौवारिकः—जेदु जेदु भट्टा। एदे दुवे इसिकुमारआ पडिहारभूमिं उवट्ठिदा। [जयतु जयतु भर्ता। एतौ द्वौ ऋषिकुमारौ प्रतीहारभूमिमुपस्थितौ।]

राजा—तेन ह्यविलम्बितं प्रवेशय तौ।

कुछ दूर चलने पर वह सुन्दरी सहसा यह कहकर रुक गयी—अरे, मेरे पाँव में कुश का काँटा चुभ गया है। यद्यपि उसका वल्कल कहीं उलझा नहीं था, फिर भी धीरे-धीरे वल्कल छुडाने का बहाना करके वह मेरी ओर देखती हुई कुछ देर खडी रही॥ १२॥

विदूषक—तब तो आप अपना सारा साज-सरञ्जाम यहीं मँगा लीजिए। क्योंकि आपने इस तपोवन को सर्वथा प्रमोदवन बना डाला है।

राजा—मित्र! कुछ ऋषियों ने मुझे पहचान लिया है। अब सोच-विचारकर कोई ऐसा उपाय बतलाओ कि जिससे एक बार तो किसी बहाने आश्रम तक हो आऊँ।

विदूषक—आप जैसे राजाओं के लिए कोई बहाना बनाने की क्या आवश्यकता ? जाकर यही कहिए कि आप लोग राजकर के रूप में हमें तिन्नी का छठा भाग दीजिए।

राजा—अरे मूर्ख! इन ऋषियों की रक्षा के बदले तो हमें ऐसा अनूठा कर मिलता है कि उसके आगे रत्नों का ढेर भी तुच्छ है। देखो—

चारों वर्णों से हम राजाओं को जो कर मिलता है, उसका फल तो नष्ट हो जाता है। किन्तु ये वनवासी ऋषि अपने तप का छठा भाग हमें देते हैं, जो कभी नष्ट नहीं होता॥ १३॥

(नेपथ्य में)

अहा, हमारे सब काम बन गये।

राजा—(कान लगाकर) अरे, यह गम्भीर और शान्त स्वर तो ऋषियों जैसा लगता है।

(प्रवेश करके)

द्वारपाल—महाराज की जय हो, जय हो। दो ऋषिकुमार आकर द्वार पर उपस्थित हैं।

राजा—तो उन्हें तुरन्त यहाँ ले आओ।

दौवारिकः—एसो पवेसेमि। (इति निष्क्रम्य, ऋषिकुमाराभ्यां सह प्रविश्य) इदो इदो भवंतौ। [एष प्रवेशयामि। इत इतो भवन्तौ।]

(उभौ राजानं विलोकयतः)

प्रथमः—अहो दीप्तिमतोऽपि विश्वसनीयताऽस्य वपुषः। अथवोपपन्नमेतदृषिभ्यो नातिभिन्ने राजनि। कुतः—

अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाऽप्याश्रमे सर्वभोग्ये
रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं सञ्चिनोति।
अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीतः
पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः॥ १४॥

द्वितीयः—गौतम ! अयं स बलभित्सखो दुष्यन्तः।

प्रथमः—अथ किम् ?

द्वितीयः—तेन हि—

नैतच्चित्रं यदयमुदधिश्यामसीमां धरित्री-
मेकः कृत्स्नां नगरपरिघप्रांशुबाहुर्भुनक्ति।
आशंसन्ते सुरयुवतयो बद्धवैरा हि दैत्यै-
रस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरुहूते च वज्रे॥ १५॥

उभौ—(उपगम्य) विजयस्व राजन् !

राजा—(आसनादुत्थाय) अभिवादये भवन्तौ।

उभौ—स्वस्ति भवते। (इति फलान्युपहरतः)

राजा—(सप्रणामं परिगृह्य) आज्ञापयितुमिच्छामि।

द्वारपाल—अभी लाया। (**प्रस्थान कर और ऋषिकुमारों को साथ लेकर पुनः प्रवेश कर**) इधर से आइए भगवन्, इधर से।

(**दोनों राजा को देखते हैं**)

पहला—अहा ! ये इतने तेजस्वी हैं कि इन्हें देखकर हमारे मन को बड़ा भरोसा मिल रहा है। क्यों न हो, ये भी तो ऋषियों जैसे ही रहते हैं। क्योंकि—

जैसे ऋषि लोग आश्रम में रहते हैं, वैसे ही ये भी अपना नगर छोड़कर सबको सुख देने वाले इस आश्रम में आ टिके हैं। प्रजा की रक्षा करके ये भी नित्य तपस्या ही करते हैं। चारण-चारणियाँ जो इन जितेन्द्रिय राजर्षि के गुण गाती हैं, वे गीत स्वर्ग तक सुनाई देते हैं॥ १४॥

दूसरा—गौतम ! इन्द्र के मित्र राजा दुष्यन्त ये ही हैं ?

पहला—हाँ, ये ही हैं।

दूसरा—इसीलिए—

हमें यह देखकर तनिक भी आश्चर्य नहीं है कि नीले समुद्र से घिरी हुई सारी पृथ्वी पर ये नगर के फाटक की अर्गला के समान अपनी लम्बी भुजाओं से अकेले शासन करते हैं और दैत्यों से वैर बाँधनेवाली देवताओं की स्त्रियाँ इन्हीं के चढ़े हुए धनुष और इन्द्र के वज्र पर अपनी विजय की आशा रखती हैं॥ १५॥

दोनों—(**पास जाकर**) राजन् ! आपकी जय हो।

राजा—(**आसन से उठकर**) मै आप लोगों का अभिवादन करता हूँ।

दोनों—आपका कल्याण हो। (**फल भेंट करते हैं**)

उभौ—विदिता भवानाश्रमसदामिहस्थः। तेन भवन्तं प्रार्थयन्ते।

राजा—किमाज्ञापयन्ति ?

उभौ—तत्रभवतः कण्वस्य महर्षेरसान्निध्याद्रक्षांसि न इष्टिविघ्नमुत्पादयन्ति। तत्कतिपयरात्रं सारथिद्वितीयेन भवता सनाथीक्रियतामाश्रम इति।

राजा—अनुगृहीतोऽस्मि।

विदूषकः—(अपवार्य) एसा दाणिं अणुऊला ते अब्भत्थणा। [एषेदानीमनुकूला तेऽभ्यर्थना।]

राजा—(स्मितं कृत्वा) रैवतक! मद्वचनादुच्यतां सारथिः सबाणासनं रथमुपस्थापयेति।

दौवारिकः—जं देवो आणवेदि। [यद्देव आज्ञापयति] (इति निष्क्रान्तः)

उभौ—(सहर्षम्)

> **अनुकारिणि पूर्वेषां युक्तरूपमिदं त्वयि।**
> **आपन्नाभयसत्रेषु दीक्षिताः खलु पौरवाः ॥ १६ ॥**

राजा—(सप्रणामम्) गच्छतां पुरो भवन्तौ। अहमप्यनुपदमागत एव।

उभौ—विजयस्व। (इति निष्क्रान्तौ)

राजा—माढव्य! अप्यस्ति शकुन्तलादर्शने कुतूहलम् ?

विदूषकः—पढमं सपरीवाहं आसि। दाणिं रक्खसवुत्तंतेण बिंदु वि णावसेसिदो। [**प्रथमं सपरीवाहमासीत्। इदानीं राक्षसवृत्तान्तेन बिन्दुरपि नावशेषितः।**]

राजा—मा भैषीः। ननु मत्समीपे वर्तिष्यसे।

राजा—(**प्रणामपूर्वक फल लेकर**) आज्ञा कीजिए।

दोनों—सभी आश्रमवासी जान गये हैं कि आप यहाँ ठहरे हुए हैं। इसलिए उनकी प्रार्थना है।

राजा—उनकी क्या आज्ञा है ?

दोनों—उन्होंने कहलाया है कि आदरणीय महर्षि कण्व के न रहने से राक्षस लोग हमारे यज्ञ में विघ्न न डालें। इसलिए आप अपने सारथी के साथ यहाँ कुछ रातें रहकर इस आश्रम को सनाथ कीजिए।

राजा—यह उनकी बड़ी कृपा है।

विदूषक—(**अलग से**) आप तो यही चाहते भी थे।

राजा—(**मुस्कराकर**) रेवतक! सारथी से कहो कि रथ और धनुष-बाण लेता आये।

द्वारपाल—महाराज की जो आज्ञा। (**प्रस्थान करता है**)

दोनों—(**प्रसन्न होकर**)

राजन्! आप वही कर रहे हैं, जो आपके पूर्वज करते आये हैं। आश्रम की रक्षा करना तो आपका धर्म ही है। क्योंकि यह बात जगजाहिर है कि शरणागतों को अभयदान देने में पुरुवंशी कभी किसी से पीछे नहीं रहते॥ १६ ॥

राजा—(**प्रणाम कर**) आप लोग चलें। मैं भी अभी आ रहा हूँ।

दोनों—आपकी विजय हो। (**प्रस्थान करते हैं**)

राजा—माधव्य! क्या शकुन्तला को देखने की इच्छा है ?

विदूषक—पहले तो इच्छा बाढ पर थी, पर जब से राक्षसों का नाम सुना है, तब से बूँद भर भी इच्छा नहीं रह गयी है।

राजा—डरो मत। हम तुम्हें अपने साथ रखेंगे।

विदूषकः— एसो रक्खसादो रक्खिदो म्हिं। [एष राक्षसाद्रक्षितोऽस्मि।]

(प्रविश्य)

दौवारिकः—सज्जो रधो भट्टिणो विजअप्पत्थाणं अवेक्खदि। एस उण णअरादो देवीणं आणत्तिहरओ करभओ आअदो। [सज्जो रथो भर्तुर्विजयप्रस्थानमपेक्षते। एष पुनर्नगराद्देवीनामाज्ञाहरः करभक आगतः।]

राजा—(सादरम्) किमम्बाभिः प्रेषितः ?

दौवारिकः— अह इं। [अथ किम्।]

राजा—ननु प्रवेश्यताम्।

दौवारिकः—तह। (इति निष्क्रम्य करभकेण सह प्रविश्य) एसो भट्टा। उवसप्प [तथा। एष भर्ता। उपसर्प।]

करभकः—जेदु भट्टा। देवी आणवेदि—आआमिणि चउत्थदिअहे पऊत्तपारणो मे उववासो भविस्सदि। तहिं दीहाउणा अवस्सं संभाविदव्वा त्ति। [जयतु भर्ता। देव्याज्ञापयति–आगामिनि चतुर्थदिवसे प्रवृत्तपारणो मे उपवासो भविष्यति। तत्र दीर्घायुषाऽवश्यं सम्भावितव्येति।]

राजा—इतस्तपस्विकार्यम्; इतो गुरुजनाज्ञा। द्वयमप्यनतिक्रमणीयम्। किमत्र प्रतिविधेयम्?

विदूषकः—तिसंकू विअ अंतराले चिट्ठ। [त्रिशङ्कुरिवान्तराले तिष्ठ।]

राजा—सत्यमाकुलीभूतोऽस्मि—

कृत्ययोर्भिन्नदेशत्वाद् द्वैधीभवति मे मनः।
पुरः प्रतिहतं शैले स्रोतः स्रोतोवहो यथा॥ १७॥

(विचिन्त्य) सखे! त्वमम्बया पुत्र इति प्रतिगृहीतः। अतो भवानितः प्रतिनिवृत्य तपस्विकार्यव्यग्रमानसं मामावेद्य तत्रभवतीनां पुत्रकृत्यमनुष्ठातुमर्हति।

विदूषक—तब तो राक्षसों से मेरे प्राण बच जायेंगे।

(प्रवेश करके)

द्वारपाल—महाराज! रथ तैयार है और आपकी विजय-यात्रा के लिए चलने की प्रतीक्षा कर रहा है। और हाँ, राजमाता की आज्ञा लेकर नगर से करभक आया हुआ है।

राजा—(आदर के साथ) क्या माताजी ने उसे भेजा है ?

द्वारपाल—जी हाँ।

राजा—तो उसे यहाँ ले आओ।

द्वारपाल—जो आज्ञा। (प्रस्थान कर करभक को साथ लेकर पुनः प्रवेश कर) महाराज ये बैठे हैं। आगे बढ़ जाओ।

करभक—महाराज की जय हो। माताजी ने कहलाया है कि आज से चौथे दिन मेरे व्रत का पारण होगा। उस अवसर पर चिरञ्जीव (आप) भी अवश्य उपस्थित रहें।

राजा—इधर ऋषियों का काम और उधर बड़ों की आज्ञा है। दोनों ही नहीं टाले जा सकते। क्या करूँ ?

विदूषक—त्रिशंकु के समान बीच में लटक जाइए।

राजा—सचमुच मैं बड़ी उलझन में पड़ गया हूँ। क्या बतलाऊँ ?

दोनों कार्य दो अलग-अलग स्थानों में पड़ रहे हैं। अतएव इस समय दुविधा में पड़े हुए मेरे मन की वही दशा हो रही है, जो पहाड से रुकी हुई नदी की धारा की होती है॥ १७॥

विदूषकः—ण क्खु मं रक्खोभीरुअं गणेसि। [न खलु मां रक्षोभीरुकं गणयसि।]

राजा—(सस्मितम्) कथमेतद्भवति सम्भाव्यते ?

विदूषकः—जह राआणुएण गंतव्वं तह गच्छामि। [यथा राजानुजेन गन्तव्यं तथा गच्छामि।]

राजा—ननु तपोवनोपरोधः परिहरणीय इति सर्वानानुयात्रिकाँस्त्वयैव सह प्रस्थापयामि।

विदूषकः—(सगर्वम्) तेण हि जुवराओ म्हि दाणिं संवुत्तो। [तेन हि युवराजोऽस्मीदानीं संवृत्तः।]

राजा—(स्वगतम्) चपलोऽयं वटुः। कदाचिदस्मत्प्रार्थनामन्तःपुरेभ्यः कथयेत्। भवतु; एनमेवं वक्ष्ये। (विदूषकं हस्ते गृहीत्वा प्रकाशम्) वयस्य! ऋषिगौरवादाश्रमं गच्छामि। न खलु सत्यमेव तापसकन्यकायां ममाभिलाषः। पश्य—

> क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो मृगशावैः सममेधितो जनः।
> परिहासविजल्पितं सखे! परमार्थेन न गृह्यतां वचः॥ १८॥

विदूषकः—अहं इं। [अथ किम्।]

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

॥ इति द्वितीयोऽङ्कः ॥
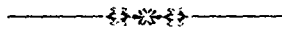
(सोचकर) मित्र! देखो, माताजी तुम्हें भी पुत्र के समान मानती हैं। इसलिए तुम जाओ और माताजी से कह दो कि मै ऋषियों की रक्षा में लगा हुआ हूँ। वहाँ जो कुछ मेरे करने का काम हो, वह सब तुम्हीं कर डालना।

विदूषक—पर इससे यह न समझियेगा कि मैं राक्षसों से डरता हूँ।

राजा—(मुस्कराकर) भला तुम्हारे विषय में क्या कभी ऐसा भी सोचा जा सकता है ?

विदूषक—तो मैं वैसे ही ठाट-बाट से वहाँ जाऊँगा, जैसे राजा का छोटा भाई जाता है।

राजा—ठीक है, जहाँ तक हो तपोवन से सब बखेड़ा दूर ही रखना चाहिए। अतएव सेना को भी तुम्हारे ही साथ भेजे देता हूँ।

विदूषक—(गर्व के साथ) तब तो मैं इस समय साक्षात् युवराज बन गया हूँ।

राजा—(मन ही मन) यह ब्राह्मण बड़ा चंचल है। कहीं यह रनिवास में जाकर मेरी सब बातें न कह डाले। अच्छा इसे इस प्रकार समझाऊँ। (विदूषक का हाथ पकड़कर, प्रकट में) मित्र! मैं ऋषियों का बड़ा आदर करता हूँ। इसीलिए उनके आश्रम मे जाता हूँ। उस ऋषि-कन्या के लिए मेरे मन में तनिक भी प्रेम नहीं है। देखो—

कहाँ हम और कहाँ प्रेम की बातों से बिल्कुल अनजान और मृगछौनों के साथ पली हुई वह कन्या। मित्र हँसी में जो बातें तुमसे कही हैं, उन्हें तुम सत्य न समझ लेना॥ १८॥

विदूषक—बहुत अच्छा।

(सभी चले जाते हैं)

दूसरा अङ्क समाप्त।
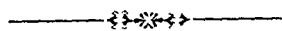
तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति कुशानादाय यजमानशिष्यः)

शिष्यः—अहो! महानुभावः पार्थिवो दुष्यन्तः, प्रविष्टमात्र एवाश्रमं तत्रभवति राज्ञि निरुपद्रवाणि नः कर्माणि प्रवृत्तानि भवन्ति।

का कथा बाणसन्धाने ज्याशब्देनैव दूरतः।
हुङ्कारेणेव धनुषः स हि विघ्नानपोहति॥ १॥

यावदिमान्वेदिसंस्तरणार्थं दर्भानृत्विग्भ्य उपनयामि। (परिक्रम्यावलोक्य च आकाशे) प्रियंवदे! कस्येदमुशीरानुलेपनं मृणालवन्ति च नलिनीपत्राणि नीयन्ते? (आकर्ण्य) किं ब्रवीषि? आतपलङ्घनाद्बलवदस्वस्था शकुन्तला; तस्याः शरीरनिर्वापणायेति? तर्हि त्वरितं गम्यताम्। सा खलु भगवतः कण्वस्य कुलपतेरुच्छ्वसितम्। अहमपि तावद्वैतानिकं शान्त्युदकमस्यै गौतमीहस्ते विसर्जयिष्यामि। (इति निष्क्रान्तः)

॥ विष्कम्भकः ॥

(ततः प्रविशति कामयमानावस्थो राजा)

राजा—(सचिन्तं निःश्वस्य)

जाने तपसो वीर्यं सा बाला परवतीति मे विदितम्।
अलमस्मि ततो हृदयं तथापि नेदं निवर्तयितुम्॥ २॥

(हाथ में कुशा लिये हुए कण्व के एक शिष्य का प्रवेश)

शिष्य—अहा! महाराज दुष्यन्त का कितना प्रताप है कि जब से वे आश्रम में पधारे हैं, तभी से हमारे सब काम बेरोक-टोक चल रहे हैं—

बाण चढ़ाने की तो बात ही क्या, केवल अपने धनुष की टंकार से ही वे विघ्नों को दूर भगा देते हैं॥ १॥

तो चलूँ, ऋत्विजों के लिए वेदी पर बिछाने की कुशा ले जाकर पहुँचा आऊँ। (घूमकर आकाश की ओर देखते हुए) अरी प्रियंवदे! ये डंठलवाले कमल के पत्ते और खस मिला हुआ लेप किसके लिए ले जा रही हो? (सुनने का अभिनय करते हुए) क्या कहा—शकुन्तला लू लग जाने से बड़ी बेचैन हो गई है, उसके शरीर को ठंडक पहुँचाने के लिए ही यह सब ले जा रही हूँ। तो तुरन्त जाओ। क्योंकि वह भगवान् कुलपति कण्व के प्राण के समान प्रिय है। मैं भी तब तक उसके लिए गौतमी के हाथ यज्ञ का शान्ति-जल भेजता हूँ। (प्रस्थान करता है)

॥ विष्कम्भक ॥

(काम से पीड़ित दशा में राजा दुष्यन्त का प्रवेश)

राजा—(ठंडी साँसें लेकर) मैं तपस्वियों की शक्ति भलीभाँति जानता हूँ। इसलिए मैं उसे हरकर नहीं ले जा सकता, और यह भी मालूम है कि विवाह करना या न करना उस कुमारी के हाथ में नहीं है। अतएव वह स्वयं भी मेरे साथ नहीं जा सकती। फिर भी न जाने क्यों मैं अपना मन उस पर से हटा ही नहीं पाता॥ २॥

(मदनबाधां निरूप्य) भगवन्कुसुमायुध ! त्वया चन्द्रमसा च विश्वसनीयाभ्यामतिसन्धीयते कामिजनसार्थः । कुतः ?—

तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दोर्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखैस्त्वमपि कुसुमबाणान्वज्रसारीकरोषि ॥ ३ ॥

अथवा—

अनिशमपि मकरकेतुर्मनसो रुजमावहन्नभिमतो मे ।
यदि मदिरायतनयनां तामधिकृत्य प्रहरतीति ॥ ४ ॥

(सखेदं परिक्रम्य) क्व नु खलु संस्थिते कर्मणि सदस्यैरनुज्ञातः श्रमक्लान्तमात्मानं विनोदयामि ? (निःश्वस्य) किं नु खलु मे प्रियादर्शनादृते शरणमन्यत् ? यावदेनामन्विष्यामि। (सूर्यमवलोक्य) इमामुग्रातपवेलां प्रायेण लतावलयवत्सु मालिनीतीरेषु ससखीजना शकुन्तला गमयति। तत्रैव तावद् गच्छामि । (परिक्रम्य संस्पर्शं रूपयित्वा) अहो, प्रवातसुभगोऽयमुद्देशः ।

शक्यमरविन्दसुरभिः कणवाही मालिनीतरङ्गाणाम्।
अङ्गैरनङ्गतप्तैरविरलमालिङ्गितुं पवनः ॥ ५ ॥

(परिक्रम्यावलोक्य च) अस्मिन्वेतसपरिक्षिप्ते लतामण्डपे सन्निहितया शकुन्तलया भवितव्यम्। तथा हि (अधो विलोक्य)—

अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात्पश्चात्।
द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपङ्क्तिर्दृश्यतेऽभिनवा ॥ ६ ॥

(काम पीड़ा का प्रदर्शन करते हुए) हे फूलों के धनुष-बाण धारण करनेवाले कामदेव ! तुमने और चन्द्रमा ने उन सब कामियों को बडा धोखा दिया है, जो तुम पर विश्वास करते थे। क्योंकि—

तुम्हारा फूलों के बाणवाला और चन्द्रमा का ठण्ढी किरणों वाला कहा जाना, ये दोनों ही बातें मुझ जैसे विरहियों को झूठी ही जान पड़ती हैं। क्योंकि चन्द्रमा अपनी ठण्ढी किरणों से आग बरसाता है और तुमने भी अपने फूल के बाणों में वज्र की कठोरता भर रखी है ॥ ३ ॥

अथवा—

यदि तुम मदभरी बड़ी-बडी आँखोंवाली उस शकुन्तला के कारण बार-बार मेरा जी दुखाते हो, तो ठीक ही करते हो ॥ ४ ॥

(दुःखी मन से घूमकर) यज्ञ हो जाने पर जब ये ऋषि मुझे विदा कर देंगे, तब मै अपने दुःखी प्राण लेकर अपना मन कहाँ बहलाऊँगा। **(ठण्डी साँस लेकर)** प्रिया का दर्शन छोडकर अब मेरा और क्या सहारा है। चलूँ, उसी को ढूँढूँ। **(सूर्य को देखकर)** ऐसी भरी दुपहरी में शकुन्तला प्रायः अपनी सखियों के साथ मालिनी के तटपर बने लतामण्डपों में ही जाकर बैठा करती हैं। तो वहीं चलूँ। **(घूमकर और वायु के स्पर्श होने का अनुभव करता हुआ)** वाह, यहाँ कैसी अच्छी हवा बह रही है—

कमल में बसा और मालिनी की लहरों की फुहारों से लदा हुआ यह पवन काम से सन्तप्त तेरे अंगों को बडा सुहावना लग रहा है ॥ ५ ॥

(घूम और देखकर) बेतों से घिरे हुए इस लतामण्डप में ही कहीं शकुन्तला बैठी होगी। क्योंकि **(नीचे देखकर)**—

इस कुञ्ज के द्वार पर पीली रेती में भारी नितम्बवाली सखियों के पैरों के नये चिह्न उभड़े हुए दिखलाई दे रहे हैं, जो एडी की ओर गहरे और आगे की ओर उठे हुए हैं ॥ ६ ॥

यावद्विटपान्तरेणावलोकयामि। (परिक्रम्य तथा कृत्वा, सहर्षम्) अये, लब्धं नेत्रनिर्वाणम्। एषा मे मनोरथप्रियतमा सुकुसुमास्तरणं शिलापट्टमधिशयाना सखीभ्यामन्वास्यते। भवतु; श्रोष्याम्यासां विस्रम्भकथितानि। (इति विलोकयन् स्थितः)

(ततः प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्यां शकुन्तला)

सख्यौ—(उपवीज्य सस्नेहम्) हला सउंदले! अवि सुहेदि दे णलिणीपत्तवादो? [**हला शकुन्तले! अपि सुखयति ते नलिनीपत्रवातः?**]

शकुन्तला—किं वीअअंति मं सहीओ? [**किं वीजयतो मां सख्यौ?**]

(सख्यौ विषादं नाटयित्वा परस्परमवलोकयतः)

राजा—बलवदस्वस्थशरीरा शकुन्तला दृश्यते। (सवितर्कम्) तत्किमयमातपदोषः स्यात् उत यथा मे मनसि वर्तते? (साभिलाषं निर्वर्ण्य) अथवा कृतं सन्देहेन—

स्तनन्यस्तोशीरं शिथिलितमृणालैकवलयं
प्रियायाः साबाधं किमपि कमनीयं वपुरिदम्।
समस्तापः कामं मनसिजनिदाघप्रसरयो-
र्न तु ग्रीष्मस्यैव सुभगमपराद्धं युवतिषु॥ ७॥

प्रियंवदा—(जनान्तिकम्) अणसूए! तस्स राएसिणो पढमदंसणादो आरहिअ पज्जुस्सुआ विअ सउंदला। किं णु क्खु से तण्णिमित्तो अअं आतंको भवे? [**अनसूये! तस्य राजर्षेः प्रथमदर्शनादारभ्य पर्युत्सुकेव शकुन्तला। किं न खलु तस्यास्तन्निमित्तोऽयमातङ्को भवेत्?**]

अनसूया—सहि! मम वि ईदिसी आसंका हिअअस्स। होदु; पुच्छिस्सं दाव णं। (प्रकाशम्)

अच्छा, इन वृक्षों की ओट से देखता हूँ। (**घूमकर वैसा करते हुए, प्रसन्न मन से**) वाह! मेरी आँखें ठण्डी हो गयीं। यहाँ मेरी प्यारी शकुन्तला सुन्दर फूलों के बिछौनेवाली पत्थर की पटियापर लेटी हुई है और 'दोनो सखियाँ इसकी सेवा कर रही हैं। अच्छा! अब सुनूँ कि ये आपस में क्या बातें कर रही हैं। (**खड़ा होकर सुनता है**)

(**तत्पश्चात् पूर्वोक्त दशा में दोनों सखियों के साथ शकुन्तला का प्रवेश**)

सखियाँ—(**बड़े प्यार से पंखा झलती हुई**) सखी शकुन्तला! कमल के पत्तों की हवा से कुछ सुख मिल रहा है?

शकुन्तला—क्या तुम दोनों मुझे पंखा झल रही थीं?

(**दोनों सखियाँ दुःखी होने का अभिनय करती हुई एक दूसरे को देखती हैं**)

राजा—शकुन्तला तो बड़ी बेचैन दीख रही है। (**विचार कर**) क्या इसे लू लग गयी है? अथवा जो दशा मेरे मन की है, वही इसके मन की भी तो नहीं है? (**ललचाई आँखों से देखता हुआ**) किन्तु यह सन्देह व्यर्थ है। क्योंकि—

इसके स्तनों पर खस का लेप लगा है और एक हाथ में कमल की नाल का ढीला कंगन बँधा हुआ है। किन्तु इतनी बेचैन होने पर भी इसका शरीर अत्यन्त सुन्दर लग रहा है। यद्यपि लू लगने और प्रेम में पड़ने पर बेचैनी एक-सी होती है, किन्तु लू लग जाने पर युवतियों में इतनी सुन्दरता नहीं रह जाती॥ ७॥

प्रियंवदा—(**अलग से**) अनसूया! जब से शकुन्तला ने उस राजर्षि को देखा है, तभी से यह उन पर आसक्त हो गयी है। सम्भव है कि यह बेचैनी उन्हीं के कारण हो?

सहि! पुच्छिदव्वासि किं पि। बलवं क्खु दे संदावो। [सखि! ममापीदृश्याशङ्का हृदयस्य। भवतु; प्रक्ष्यामि तावदेनाम्। सखि! प्रष्टव्याऽसि किमपि। बलवान्खलु ते सन्तापः।]

शकुन्तला—(पूर्वार्धेन शयनादुत्थाय) हला! किं वत्तुकामासि? [हला! किं वक्तुकामासि?]

अनसूया—हला सउंदले! अणब्भंतरा क्खु अम्हे मदणगदस्स वुत्तंतस्स। किंदु जादिसी इदिहासणिबंधेसु कामअमाणाणं अवत्था सुणीअदि तादिसीं दे पेक्खामि। कहेहि किं णिमित्तं संदावो। विआरं क्खु परमत्थदो अजाणिअ अणारंभो पडिआरस्स। [हला शकुन्तले! अनभ्यन्तरे खल्वावां मदनगतस्य वृत्तान्तस्य। किन्तु यादृशीतिहासनिबन्धेषु कामयमानानामवस्था श्रूयते तादृशीं ते पश्यामि। कथय किन्निमित्तं ते सन्तापः। विकारं खलु परमार्थतोऽज्ञात्वाऽनारम्भः प्रतीकारस्य।]

राजा—अनसूयामप्यनुगतो मदीयस्तर्कः। न हि स्वाभिप्रायेण मे दर्शनम्।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) बलवं क्खु मे अहिणिवेसो। दाणिं वि सहसा एदाणं ण सक्कणोमि णिवेदिदुं। [बलवान्खलु मेऽभिनिवेशः। इदानीमपि सहसैतयोर्न शक्नोमि निवेदयितुम्।]

प्रियंवदा—सहि सउंदले! सुट्ठु एसा भणादि। किं अत्तणो आतंकं उवेक्खसि? अणुदिअहं क्खु परिहीअसि अंगेहिं। केवलं लावण्णमई छाआ तुमं ण मुंचदि। [सखि शकुन्तले! सुष्ठ्वेषा भणति। किमात्मन आतङ्कमुपेक्षसे? अनुदिवसं खलु परिहीयसेऽङ्गैः। केवलं लावण्यमयी छाया त्वां न मुञ्चति।]

राजा—अवितथमाह प्रियंवदा। तथा हि—

> क्षामक्षामकपोलमाननमुरः काठिन्यमुक्तस्तनं
> मध्यः क्लान्ततरः प्रकामविनतावंसौ छविः पाण्डुरा।
> शोच्या च प्रियदर्शना च मदनक्लिष्टेयमालक्ष्यते
> पत्राणामिव शोषणेन मरुता स्पृष्टा लता माधवी॥८॥

अनसूया—सखी! मैं भी कुछ ऐसी ही बात सोचती हूँ। अच्छा! इसी से पूछकर देखती हूँ। (प्रकट में) सखी! मैं तुमसे कुछ पूछना चाहती हूँ। क्योंकि तुम्हारी बेचैनी बहुत बढ़ी जा रही है।

शकुन्तला—(बिछौने पर आधी उठकर) सखी! क्या पूछना चाहती हो?

अनसूया—सखी शकुन्तला! हम लोग तो कामदेव सम्बन्धी बातें तो कुछ जानती नहीं हैं। फिर भी कथा-कहानियों में हमने प्रेमियों की जो दशा सुनी है, इस समय ठीक वैसी ही दशा तुम्हारी भी दीख रही है। तो बतलाओ, तुम किसके लिए इतनी बेचैन हो? क्योंकि जब तक रोग का ठीक-ठीक पता न लगे तब तक उसका प्रतीकार कैसे किया जा सकता है?

राजा—मैं जो सोच रहा था, वही बात अनसूया भी सोच रही है। तो जो मैने सोचा था, वह केवल मेरे ही मन की बात नहीं थी।

शकुन्तला—(मन ही मन) सचमुच मेरा प्रेम बहुत आगे बढ़ गया है और मुझसे एकाएक कुछ कहते नहीं बनता।

प्रियंवदा—सखी शकुन्तला! अनसूया ठीक कह रही है। तुम क्यों अपने रोग की उपेक्षा कर रही हो? दिन-पर-दिन तुम इतनी सूखती चली जा रही हो कि तुम्हारे शरीर पर केवल सुन्दरता की झलक भर बची रह गयी है।

राजा—प्रियंवदा सच कहती है। क्योंकि—

इसके गाल मुरझा गये हैं, मुँह सूख गया है, स्तनो की कठोरता जाती रही, कमर और भी पतली हो गई है, कन्धे झुक गये हैं और देह पीली पड़ गई है। अतएव वायु के स्पर्श से मुरझाई पत्तियोंवाली माधवीलता सरीखी यह सुन्दर भी लगती है और दयनीय भी॥८॥

शकुन्तला—सहि! कस्स वा अण्णस्य कहइस्सं? आआसइत्तिआ दाणिं वो भविस्सं। [सखि! कस्य वाऽन्यस्य कथयिष्यामि? आयासयित्रीदानीं वां भविष्यामि।]

उभे—अदो एव्व क्खु णिब्बंधो। सिणिद्धजणसंविभत्तं हि दुक्खं सज्झवेदणं होदि। [अत एव खलु निर्बन्धः। स्निग्धजनसंविभक्तं हि दुःखं सह्यवेदनं भवति।]

राजा—

पृष्टा जनेन समदुःखसुखेन बाला नेयं न वक्ष्यति मनोगतमाधिहेतुम्।
दृष्टो विवृत्य बहुशोऽप्यनया सतृष्णमत्रान्तरे श्रवणकातरतां गतोऽस्मि॥ ९॥

शकुन्तला—सहि! जदो पहुदि मम दंसणपहं आअदो सो तवोवणरक्खिदा राएसी तदो आरहिअ तग्गदेण अहिलासेण एतदवत्थम्हि संवुत्ता [सखि! यतः प्रभृति मम दर्शनपथमागतः स तपोवनरक्षिता राजर्षिः तत आरभ्य तद्गतेनाभिलाषेणैतदवस्थास्मि संवृत्ता।]

राजा—(सहर्षम्) श्रुतं श्रोतव्यम्—

स्मर एव तापहेतुर्निर्वापयिता स एव मे जातः।
दिवस इवार्धश्यामस्तपात्यये जीवलोकस्य॥ १०॥

शकुन्तला—तं जइ वो अणुमदं ता तह वट्टह जह तस्स राएसिणो अणुकंपणिज्जा होमि। अण्णहा अवस्सं सिंचध मे तिलोदअं। [तद्यदि वामनुमतं तदा तथा वर्तेथां यथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामि। अन्यथाऽवश्यं सिञ्चतं मे तिलोदकम्।]

राजा—संशयच्छेदि वचनम्।

प्रियंवदा—(जनान्तिकम्) अणसूए! दूरगअमन्महा अक्खमा इअं कालहरणस्स। जस्सिं बद्धभावा एसा सो ललामभूदो पोरवाणं। ता जुत्तं से अहिलासो अहिणंदिदुं। [अनसूये!

शकुन्तला—सखी! तुमसे न कहूँगी तो किससे कहूँगी? अब तुम दोनों को मेरे लिए कुछ कष्ट सहना पडेगा।

दोनों—इसीलिए तो हम तुमसे आग्रह कर रही हैं। देखो, अपने स्नेहियों में दुःख बाँट देने पर वह कम हो जाता है।

राजा—दुःख-सुख में साथ देनेवाली अपनी इन सखियों के पूछने पर यह बाला अवश्य ही अपने मन की बात बता देगी। यद्यपि शकुन्तला ने उस समय बड़े प्यार और बार-बार ललचाई आँखों से मुझे देखा था। फिर भी मेरे जी में बडी बेचैनी हो रही है कि देखें, यह अपनी बेचैनी का क्या कारण बतलाती है॥ ९॥

शकुन्तला—सखी! आश्रम की रक्षा करने वाले वे राजर्षि जब से मेरी आँखों में समाये हैं तभी से उन्हीं के प्रेम में मेरी यह दशा हो गई है।

राजा—(हर्ष से) मैं यही सुनना चाहता था—

जिस कामदेव ने मुझे इतना सन्ताप पहुँचाया उसी ने मुझे इस प्रकार जिला दिया जैसे गर्मी का दिन पहले तो जीवों को व्याकुल करता है, पर गर्मी बीत जाने पर बरसात में वही सबका जी हरा कर देता है॥ १०॥

शकुन्तला—यदि तुम दोनों उचित समझो तो कोई ऐसा उपाय करो कि उन राजर्षि की मुझ पर कृपा हो जाय। नहीं तो तुम्हें मुझको तिलाञ्जलि ही देनी पडेगी।

राजा—यह बात सुनकर सन्देह जाता रहा।

प्रियंवदा—(अनसूया से अलग से) सखी! इसकी प्रेम व्यथा इतनी बढ़ गई है कि कोई उपाय

दूरगतमन्मथाऽक्षमेयं कालहरणस्य। यस्मिन् बद्धभावैषा स ललामभूतः पौरवाणाम्। तद्युक्तमस्या अभिलाषोऽभिनन्दितुम्।]

अनसूया—तह जह भणसि। [तथा यथा भणसि।]

प्रियंवदा—(प्रकाशम्) सहि! दिट्ठिआ अणुरूवो दे अहिणिवेसो। साअरं उज्झिअ कहिं वा महाणई ओदरइ? को दाणिं सहआरं अंतरेण अदिमुत्तलदं पल्लविदं सहेदि? [सखि! दिष्ट्याऽनुरूपस्तेऽभिनिवेशः। सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति? क इदानीं सहकारमन्तरेणातिमुक्तलतां पल्लवितां सहते?]

राजा—किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशाङ्कलेखमानुवर्तेते?

अनसूया—को उण उवाओ भवे जेण अविलंबिअं णिहुअं अ सहीए मनोरहं संपादेम्ह? [कः पुनरुपायो भवेद्येनाविलम्बितं निभृतं च सख्या मनोरथं सम्पादयावः?]

प्रियंवदा—णिहुअं त्ति चिंतणिज्जं भवे। सिग्घं त्ति सुअरं। [निभृतमिति चिन्तनीयं भवेत्। शीघ्रमिति सुकरम्।]

अनसूया— कहं विअ? [कथमिव?]

प्रियंवदा—णं सो राएसी इमस्सिं सिणिद्धदिट्ठीए सूइदाहिलासो इमाइँ दिअहाइँ पजाअरकिसो लक्खीअदि। [ननु स राजर्षिरेतस्यां स्निग्धदृष्ट्या सूचिताभिलाष एतान्दिवसान् प्रजागरकृशो लक्ष्यते।]

राजा—सत्यमित्थम्भूत एवास्मि। तथा हि—

इदमशिशिरैरन्तस्तापाद्विवर्णमणीकृतं
निशि निशि भुजन्यस्तापाङ्गप्रसारिभिरश्रुभिः।
अनभिलुलितज्याघाताङ्कं मुहुर्मणिबन्धनात्
कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसार्यते॥ ११॥

शीघ्र ही करना चाहिए। इस बात की तो सराहना करनी ही पडेगी कि शकुन्तला ने प्रेम भी किया तो पुरुवंश-भूषण दुष्यन्त से।

अनसूया—हाँ, यह तो सत्य है।

प्रियंवदा—(प्रकट में) सखी! तू बड़ी भाग्यवान् है कि ऐसे योग्य व्यक्ति से तूने प्रेम किया। सागर को छोड़कर महानदी भला और कहाँ जायेगी? आम के वृक्ष को छोड़कर नये पत्तोंवाली माधवी लता और किसके सहारे चढेगी?

राजा—यदि विशाखा के दोनों नक्षत्र चन्द्रकला के पीछे-पीछे चलें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

अनसूया—तो कोई ऐसा उपाय बताओ कि जिससे इसकी इच्छा तुरन्त पूरी हो जाय और कोई जान भी न सके।

प्रियंवदा—उपाय तो तुरन्त हो सकता है, किन्तु बात छिपी रहे, इसी के लिए थोड़ा सोचना पड़ेगा।

अनसूया—क्यों?

प्रियंवदा—सच तो यह है कि राजर्षि दुष्यन्त शकुन्तला मे प्रेम करते हैं। तभी तो सदा जागते रहने के कारण इन दिनों वे कुछ दुबले दीखने लगे हैं।

राजा—वास्तव में मेरी ऐसी ही दशा हो गयी है। क्योंकि—

इन दिनों मैं इतना दुबला हो गया हूँ कि सिर के तले लगी हुई भुजा पर बँधा हुआ और रात-रात भर मेरी आँखों की कोरों से गिरे हुए गर्म आँसुओं से मैले रत्नोंवाला यह सोने का भुजबन्ध इतना ढीला

प्रियंवदा—(विचिन्त्य) हला ! मअणलेहो से करीअदु। इमं देवप्पसादस्सावदेसेण सुमणोगोविदं करिअ से हत्थअं पावइस्सं। [**हला ! मदनलेखोऽस्य क्रियताम्। इमं देवप्रसादस्यापदेशेन सुमनोगोपितं कृत्वा तस्य हस्तं प्रापयिष्यामि।**]

अनसूया—रोअइ मे सुउमारो पओओ। किं वा सउंदला भणादि ? [**रोचते मे सुकुमारः प्रयोगः। किं वा शकुन्तला भणति ?**]

शकुन्तला—को णिओओ विकप्पीअदि ? [**को नियोगो विकल्प्यते ?**]

प्रियंवदा—तेण हि अत्तणो उवण्णासपुव्वं चिंतेहि दाव ललिअपदबंधणं। [**तेन ह्यात्मन उपन्यासपूर्वं चिन्तय तावल्ललितपदबन्धनम्।**]

शकुन्तला—हला ! चिंतेमि अहं। अवहीरणभीरुअं पुणो वेवइ मे हिअअं। [**हला ! चिन्तयाम्यहम्। अवधीरणभीरुकं पुनर्वेपते मे हृदयम्।**]

राजा—(सहर्षम्)

अयं स ते तिष्ठति सङ्गमोत्सुको विशङ्कसे भीरु ! यतोऽवधीरणाम्।
लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत्॥ १२॥

सख्यौ—अत्तगुणावमाणिणि ! को दाणिं सरीरणिव्वावत्तिअं सारदिअं जोसिणिं पडंतेण वारेदि ? [**आत्मगुणावमानिनि ! क इदानीं शरीरनिर्वापयित्रीं शारदीं ज्योत्स्नां पटान्तेन वारयति ?**]

शकुन्तला—(सस्मितम्) णिओइआ दाणि म्हि। [**नियोजितेदानीमस्मि।**] (इत्युपविष्टा चिन्तयति)

राजा—स्थाने खलु विस्मृतनिमेषेण चक्षुषा प्रियामवलोकयामि। यतः—

पड़ गया है कि बार-बार ऊपर सरकाने पर भी यह गट्टे पर खिसक आता है, किन्तु धनुष की डोरी की फटकार से पड़े हुए घट्ठों पर भी नहीं ठहरता॥ ११॥

प्रियंवदा—(**सोचकर**) सखी ! इससे एक प्रेम-पत्र लिखवाया जाय और उसे फूलों में छिपाकर देवता का प्रसाद कहकर राजा को दे दिया जाय।

अनसूया—यह उपाय तो मुझे भी बडा सुन्दर लगा। किन्तु शकुन्तला से भी तो पूछ लो कि वह क्या कहती है।

शकुन्तला—तुम्हारी बात में मैं भला क्या दोष निकाल सकती हूँ।

प्रियंवदा—तब अपनी दशा का चित्रण करते हुए एक अच्छी-सी कविता तो बनाओ।

शकुन्तला—सखी ! कविता तो मै बना लूँगी। पर यह सोचकर हृदय काँप उठता है कि कहीं वे मेरा निरादर न कर दें।

राजा—(**हर्ष से**) तुम जिससे निरादर की आशंका कर रही हो, वह तुमसे मिलने को उतावला खडा है। जो लक्ष्मी पाने का इच्छुक हो, उसे लक्ष्मी भले ही न मिले। किन्तु जिसे स्वयं लक्ष्मी चाहे वह लक्ष्मी को न मिले, यह कैसे हो सकता है ?॥ १२॥

दोनों—तू अपने को इतना तुच्छ क्यों समझती है ? बता तो सही ऐसा कौन मूर्ख होगा, जो शरीर को शान्ति देनेवाली शरद की चाँदनी को रोकने के लिए अपने सिर पर कपड़ा ओढ ले ?

शकुन्तला—(**मुस्कराकर**) अच्छा, तुम जो कहती हो वही करती हूँ। (**यह कहकर बैठी-बैठी सोचती है**)

राजा—अपनी प्यारी को अपलक नयनों से देखने का यह अच्छा अवसर मिला है। क्योंकि—

उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्याः पदानि रचयन्त्याः।
कण्टकितेन प्रथयति मय्यनुरागं कपोलेन॥ १३॥

शकुन्तला—हला ! चिंतिदं मए गीदवत्थु । ण क्खु सण्णिहिदाणि उण लेहणसाहणाणि । [हला ! चिन्तितं मया गीतवस्तु । न खलु सन्निहितानि पुनर्लेखनसाधनानि ।]

प्रियंवदा—इमस्सिं सुओदरसुउमारे णलिणीपत्ते णहेहिं णिक्खित्तवण्णं करेहि । [एतस्मिञ्छुकोदरसुकुमारे नलिनीपत्रे नखैर्निक्षिप्तवर्ण कुरु ।]

शकुन्तला—(यथोक्तं रूपयित्वा) हला ! सुणुद दाणिं संगदत्थं ण वेति । [हला ! शृणुतमिदानीं सङ्गतार्थं न वेति ।]

उभे—अवहिद म्ह । [अवहिते स्वः ।]

शकुन्तला—(वाचयति)

तुज्झ ण आणे हिअअं मम उण कामो दिवावि रत्तिम्मि ।
णिग्घिण ! तवइ बलीअं तुइ वुत्तमणोरहाइँ अंगाइँ ॥ १४॥
[तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवाऽपि रात्रिमपि ।
निर्घृण ! तपसि बलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथान्यङ्गानि ॥]

राजा—(सहसोपसृत्य)

तपति तनुगात्रि ! मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव ।
ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा हि कुमुद्वतीं दिवसः ॥ १५॥

सख्यौ—(सहर्षम्) साअदं अविलंबिणो मणोरहस्स । [स्वागतमविलम्बिनो मनोरथस्य ।]

(शकुन्तलाऽभ्युत्थातुमिच्छति)

राजा—अलमलमायासेन—

इस गीत बनाने वाली सुन्दरी का लता के सदृश, चढी हुई एक भौंहयुक्त और हर्ष से पुलकित गालोंवाला मुख ही बतला रहा है कि यह मुझसे कितना प्रेम करती है ॥ १३ ॥

शकुन्तला—सखी ! कविता तो मैंने सोच ली है। किन्तु लिखने की सामग्रियाँ तो यहाँ कुछ भी नहीं हैं।

प्रियंवदा—सुग्गे की छाती जैसे कोमल इस कमलिनी के पत्ते पर नखों से ही लिख डालो न।

शकुन्तला—(ऐसा ही करती हुई) सखी ! अब सुनो, यह गीत ठीक बना है या नहीं।

दोनों—हाँ, हम सुन रही हैं।

शकुन्तला—(बाँचती है)

हे निर्दयी ! मैं तुम्हारे मन की बात तो नहीं जानती, किन्तु तुम्हारे प्रेमपाश में आबद्ध मेरे समस्त अंगों को बलवान् कामदेव दिन-रात सन्तप्त करता है ॥ १४॥

राजा—(शीघ्र आगे बढकर) सुन्दरी ! तुम्हें तो कामदेव केवल सन्तप्त करता है, पर मुझे तो वह एकदम जलाये ही जा रहा है। क्योंकि दिन में कुमुदिनी उतनी नहीं कुम्हलाती, जितना चन्द्रमा कुम्हलाता है ॥ १५ ॥

सखियाँ—(सहर्ष) स्वागत है श्रीमान् ! हम सब अभी आपके दर्शन की ही बात सोच रही थी कि आप स्वयं आ गये।

(शकुन्तला उठना चाहती है)

राजा—बस-बस, कष्ट करने की आवश्यकता नहीं है।

सन्दष्टकुसुमशयनान्याशुक्लान्तबिसभङ्गसुरभीणि ।
गुरुपरितापानि न ते गात्राण्युपचारमर्हन्ति ॥ १६ ॥

अनसूया—इदो सिलातलेक्कदेसं अलंकरेदु वअस्सो । [इतः शिलातलैकदेशमलङ्करोतु वयस्यः ।]

(राजोपविशति । शकुन्तला सलज्जा तिष्ठति)

प्रियंवदा—दुवेणं णु वो अणोण्णाणुराओ पच्चक्खो । सहीसिणेहो मं पुणरुत्तवादिणिं करेदि। [द्वयोर्नन्नु युवयोरन्योन्यानुरागः प्रत्यक्षः । सखीस्नेहो मां पुनरुक्तवादिनीं करोति ।]

राजा—भद्रे ! नैतत्परिहार्यम् । विवक्षितं ह्यनुक्तमनुतापं जनयति ।

प्रियंवदा—आवण्णस्स विसअणिवासिणो जणस्स अत्तिहरेण रण्णा होदव्वं त्ति एसो वो धम्मो। [आपन्नस्य विषयनिवासिनो जनस्यार्तिहरेण राज्ञा भवितव्यमित्येष युष्माकं धर्मः ।]

राजा—नास्मात्परम् ।

प्रियंवदा—तेण हि इअं णो पिअसही तुमं उद्दिसिअ इमं अवत्थंतरं भअवता मअणेण आरोविदा। ता अरुहसि अब्भुववत्तीए जीविदं से अवलंबिदुं। [तेन हीयं नौ प्रियसखी त्वामुद्दिश्येदमवस्थान्तरं भगवता मदनेनारोपिता । तदर्हस्यभ्युपपत्त्या जीवितं तस्या अवलम्बितुम् ।]

राजा—भद्रे ! साधारणोऽयं प्रणयः सर्वथाऽनुगृहीतोऽस्मि ।

शकुन्तला—(प्रियंवदामवलोक्य) हला ! किं अंतेउरविरहपज्जुस्सुअस्स राएसिणो उवरोहेण? [हला ! किमन्तःपुरविरहपर्युत्सुकस्य राजर्षेरुपरोधेन ?]

राजा—सुन्दरि !

इदमनन्यपरायणमन्यथा हृदयसन्निहिते ! हृदयं मम ।
यदि समर्थयसे मदिरेक्षणे ! मदनबाणहतोऽस्मि हतः पुनः ॥ १७ ॥

विरह के अत्यन्त ताप से तुमने फूल के बिछौने पर जो इधर-उधर करवटें बदलीं थीं, इससे फूलों की पंखुड़ियाँ तुम्हारे शरीर में पसीने से चिपक गई हैं। तुमने सुगन्धित कमलनाल के जो आभूषण पहन रखे हैं, वे भी मुरझा गये हैं। इससे स्पष्ट है कि तुम्हारा शरीर बहुत विकल है और तुम इस समय उठकर किसी का आदर-सत्कार करने योग्य नहीं हो ॥ १६ ॥

अनसूया—मित्र ! आप भी इसी पत्थर की पटिया के एक कोने को सुशोभित कीजिए।

(राजा बैठते हैं और शकुन्तला सकुचाजाती है)

प्रियंवदा—यह बात तो प्रत्यक्ष है कि आप दोनों एक-दूसरे से प्रेम करते हैं, फिर भी मुझे अपनी सखी का प्रेम आपसे पुनः कुछ कहने को विवश कर रहा है।

राजा—भद्रे ! अपने मन की बात कह डालिए। क्योंकि मन में आई हुई बात यदि नहीं कही जाती है तो पीछे बहुत पछतावा होता है।

प्रियंवदा—राजा होने के नाते आपका यह धर्म है कि अपने राज्य में रहने वाले दुःखी लोगों का दुख दूर करें।

राजा—बस, इतनी सी बात है।

प्रियंवदा—हाँ, भगवान् कामदेव ने आपके ही कारण हमारी सखी की ऐसी दशा कर दी है। अब आप ही कृपा करें तो उसके प्राण बच सकते हैं।

राजा—भद्रे ! यह तो बड़ी साधारण माँग है। इसे उपस्थित करके आपने बड़ी कृपा की है।

शकुन्तला—(प्रियंवदा को देखकर) सखी ! रनिवास की रानियों के विरह में व्याकुल महाराज से तुम ऐसा दुराग्रह क्यों करती हो ?

अनसूया—वअस्स! बहुवल्लहा राआणो सुणीअंति। जह णो पिअसही बंधुअणसोअणिज्जा ण होइ तह णिव्वत्तेहि। [वयस्य! बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते। यथा नौ प्रियसखी बन्धुजनशोचनीया न भवति तथा निर्वर्तय।]

राजा—भद्रे! किं बहुना—

परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे।
समुद्रवसना चोर्वी सखी च युवयोरियम्॥ १८॥

उभे—णिव्वुदे म्ह। [निर्वृते स्वः।]

प्रियंवदा—(सदृष्टिक्षेपम्) अणसूए! जह एसो इदो दिण्णदिट्ठी उस्सुओ मिअपोदओ मादरं अण्णेसदि। एहि; संजोएम णं। [अनसूये! यथैष इतो दत्तदृष्टिरुत्सुको मृगपोतको मातरमन्विष्यति। एहि; संयोजयाव एनम्।] (इत्युभे प्रस्थिते)

शकुन्तला—हला! असरण म्हि। अण्णदरा वो आअच्छदु। [हला! अशरणास्मि। अन्यतरा युवयोरागच्छतु।]

उभे—पुहवीए जो सहणं सो तुह समीवे वट्टइ। [पृथिव्या यः शरणं स तव समीपे वर्तते।]

(इति निष्क्रान्ते)

शकुन्तला—कहं गदाओ एव्व? [कथं गते एव?]

राजा—अलमावेगेन। नन्वयमाराधयिता जनस्तव समीपे वर्तते।

किं शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवातान्सञ्चारयामि नलिनीदलतालवृन्तैः।
अङ्के निधाय करभोरु! यथासुखं ते संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ॥ १९॥

राजा—सुन्दरी! मेरा हृदय तुम्हें छोडकर और किसी से प्रेम नहीं करता। फिर भी हे मदभरी नयनोंवाली हृदयेश्वरी! यदि तुम इसका विश्वास नहीं करती तो मैं यही समझूँगा कि कामदेव के बाणों से एक वार घायल इस व्यक्ति को तुम दुबारा घायल कर रही हो॥ १७॥

अनसूया—वयस्य! ऐसा सुना जाता है कि राजाओं के पास बहुत-सी रानियाँ होती हैं। तो हमारी प्यारी सखी के लिए कुछ ऐसा प्रबन्ध अवश्य कर दीजिए कि जिससे हम सगे-साथियों को पछताना न पड़े।

राजा—भद्रे! मैं और क्या कहूँ (इतना ही कह सकता हूँ कि—)

रनिवास में बहुतेरी रानियों के होते हुए भी मेरे कुल में दो ही बड़ी समझी जायेंगी। एक तो सागर से घिरी हुई पृथ्वी और दूसरी तुम्हारी सखी शकुन्तला॥ १८॥

दोनों—तब तो हमें सन्तोष है।

प्रियंवदा—(बाहर देखकर) अनसूया! देख, वह मृगशावक इधर ही देखता हुआ अपनी माँ को ढूढ रहा है। चल, इसे इसकी माँ से मिला दें। (दोनों चलने को उद्यत होती हैं)

शकुन्तला—सखियो! मुझे किसके सहारे छोड़े जा रही हो? दोनों में से कोई एक तो यहाँ रहो।

दोनों—सारी पृथ्वी को शरण देनेवाला तो तुम्हारे पास बैठा ही है। (प्रस्थान करती हैं)

शकुन्तला—अरे, क्या वे चली ही गई?

राजा—घबराती क्यों हो। तुम्हारी सेवा करने के लिए यह सेवक तो यहाँ बैठा ही है।

हे सुन्दरी! हे करभ के समान जाँघों वाली! इस समय जो तुम्हें सुहाता हो, मैं वही करने को तत्पर हूँ। कहो तो थकावट दूर करनेवाले ठंडे कमलिनी के इन पत्तों से पंखा झलूँ या कहो तो तुम्हारे लाल कमलों जैसे दोनों चरणों को अपनी गोद में रखकर धीरे-धीरे दवाऊँ॥ १९॥

शकुन्तला—ण माणणीएसु अत्ताणं अवराहइस्सं। [न माननीयेष्वात्मानमपराधयिष्ये।]

(इत्युत्थाय गन्तुमिच्छति)

राजा—सुन्दरि! अनिर्वाणो दिवसः। इयं च ते शरीरावस्था।

उत्सृज्य कुसुमशयनं नलिनीदलकल्पितस्तनावरणम्।
कथमातपे गमिष्यसि परिबाधापेलवैरङ्गैः॥ २०॥

(इति बलादेनां निवर्तयति)

शकुन्तला—पोरव! रक्ख अविणअं। मअणसंतत्ता वि ण हु अत्तणो पहवामि। [पौरव! रक्षाविनयम्। मदनसन्तप्ताऽपि न खल्वात्मनः प्रभवामि।]

राजा—भीरु! अलं गुरुजनभयेन। दृष्ट्वा ते विदितधर्मा तत्रभवान्नात्र दोषं ग्रहीष्यति कुलपतिः। पश्य—

गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो राजर्षिकन्यकाः।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः॥ २१॥

शकुन्तला—मुंच दाव मं। भूओ वि सहीजणं अणुमाणइस्सं। [मुञ्च तावन्माम्। भूयोऽपि सखीजनमनुमानयिष्ये।]

राजा—भवतु; मोक्ष्यामि।

शकुन्तला—कदा? [कदा?]

राजा—

अपरिक्षतकोमलस्य यावत्कुसुमस्येव नवस्य षट्पदेन।
अधरस्य पिपासता मया ते सदयं सुन्दरि! गृह्यते रसोऽस्य॥ २२॥

शकुन्तला—पूज्य लोगों से सेवा कराकर मैं अपने सिर पाप नहीं लेना चाहती।

(उठकर जाना चाहती है)

राजा—सुन्दरी! अभी दिन नहीं ढला है और तुम्हारे शरीर की यह दशा है।

इस दुपहरी में फूलों का बिस्तर छोड़ और कमल के पत्तों मे स्तन ढँककर विरह से सन्तप्त अपने दुर्बल अंगों को लेकर तुम धूप में कहाँ जाओगी?॥ २०॥

(शकुन्तला को बरबस रोक लेता है)

शकुन्तला—पौरव! शील का भी कुछ ध्यान रखो। प्रेम से व्याकुल होने पर भी मैं अपने मन से कुछ नहीं कर सकेती।

राजा—अरी भीरु! गुरुजनों से तो डरने की तो कोई बात ही नहीं है। पूज्य कुलपति धर्म को भलीभाँति जानते हैं। यदि वे सब बातें ज्ञान लेंगे, तब भी इसे बुरा नहीं कहेंगे। देखो—

बहुत से राजर्षियों की कन्याओं नें गान्धर्व विवाह किया है और यह भी सुना जाता है कि उनके पिताओं ने उनका समर्थन ही किया है॥ २१॥

शकुन्तला—अच्छा, अभी मुझे छोड़ दीजिए। मै एक बार अपनी सखियों से तो पूछ लूँ।

राजा—अच्छा, छोड़ दूँगा।

शकुन्तला—कब?

राजा—जैसे भौंरा नवीन और कोमल फूल का रस बड़े चाव से पीता है, वैसे ही जब मुझ प्यासे को तुम्हारे कोमल अधरों का रसपान करने पीने को मिल जायेगा, तब मैं छोड़ दूँगा॥ २२॥

(इति मुखमस्याः समुन्नमयितुमिच्छति। शकुन्तला परिहरति नाट्येन)

(नेपथ्ये) चक्कवाकवहुए! आमंतेहि सहअरं। उवट्ठिआ रअणी। [चक्रवाकवधुके! आमन्त्रयस्व हचरम्। उपस्थिता रजनी।]

शकुन्तला—(ससम्भ्रमम्) पोरव! असंसअं मम सरीरवुत्तंतोवलंभस्स अज्जा गोदमी इदो एव्व आअच्छदि, ता विडवंतरिदो होहि। [पौरव! असंशयं मम शरीरवृत्तान्तोपलम्भायार्या गौतमीत वागच्छति, तद्विटपान्तरितो भव।]

राजा—तथा (इत्यात्मानमावृत्य तिष्ठति)

(ततः प्रविशति पात्रहस्ता गौतमी सख्यौ च)

सख्यौ—इदो इदो अज्जा गोदमी। [इत इत आर्या गौतमी।]

गौतमी—(शकुन्तलामुपेत्य) जादे! अवि लहुसंदावाइँ दे अंगाइँ? [जाते! अपि लघुसन्तापानि ऽङ्गानि?]

शकुन्तला—अज्जे! अत्थि मे विसेसो। [आर्ये! अस्ति मे विशेषः।]

गौतमी—इमिणा दब्भोदएण णिराबाधं एव्व दे शरीरं भविस्सदि। (शिरसि शकुन्तलामभ्युक्ष्य) वच्छे! परिणदो दिअहो। एहि, उडजं एव्व गच्छम्ह। [अनेन दर्भोदकेन निराबाधमेव ते शरीरं भविष्यति। वत्से! परिणतो दिवसः। एहि, उटजमेव गच्छामः।] (इति प्रस्थिताः)

शकुन्तला—(आत्मगतम्) हिअअ! पढमं एव्व सुहोवणदे मणोरहे कादरभावं ण मुंचसि। साणुसअविहडिअस्स कहं दे संपदं संदावो? (पदान्तरे स्थित्वा प्रकाशम्) लदावलअ! संदावहारअ! आमंतेमि तुमं भूओ वि परिभोअस्स। [हृदय! प्रथममेव सुखोपनते मनोरथे कातरभावं न मुञ्चसि। सानुशयविघटितस्य कथं ते साम्प्रतं सन्तापः? लतावलय! सन्तापहारक! आमन्त्रये त्वां भूयोऽपि परिभोगाय।] (इति दुःखेन निष्क्रान्ता शकुन्तला सहेतराभिः)

(ऐसा कहकर राजा उसका मुँह ऊपर उठाना चाहता है और शकुन्तला उन्हें रोकने का अभिनय करती है)

(नेपथ्य में) अरी चकवी! अपने प्यारे से विदा ले। क्योंकि रात आ गयी है।

शकुन्तला—(घबराकर) पौरव! ऐसा लगता है कि मेरे शरीर की दशा जानने के लिए आर्या गौतमी यहाँ आ रही हैं। अतएव आप इस वृक्ष की ओट में छिप जाइये।

राजा—अच्छा। (एकान्त में जाकर छिप जाता है)

(हाथ में पात्र लिये दोनों सखियों के साथ गौतमी का प्रवेश)

सखियाँ—आर्या गौतमी! इधर आइये, इधर।

गौतमी—(शकुन्तला के पास जाकर) वत्से! तुम्हारे शरीर का ताप तो कुछ कम हुआ न?

शकुन्तला—आर्ये! अब मैं कुछ ठीक हूँ।

गौतमी—इस कुशा के जल से तुम बिल्कुल अच्छी हो जाओगी। (शकुन्तला के सिर पर जल छिड़कती है) वत्से! दिन ढल गया है। आओ चलो, कुटी में चलें। (सभी चली जाती हैं)

शकुन्तला—(मन ही मन) हृदय! जब तुम्हारा प्यारा स्वयं आ पहुँचा था, तब तो तुम डरपोक बने रहे। अब बिछुड़ जाने पर क्यों इतने विकल हो रहे हो? (कुछ पग चलकर, प्रकट में) हे सन्ताप हरनेवाले लतापुंज! विहार के लिए मैं तुम्हें फिर आने का निमन्त्रण देती हूँ। (दुःख के साथ शकुन्तला अन्य स्त्रियों के साथ चली जाती है)

राजा—(पूर्वस्थानमुपेत्य सनिःश्वासम्) अहो, विघ्नवत्यः प्रार्थितार्थसिद्धयः। मया हि—

मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम्।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु॥ २३॥

क्व न खलु सम्प्रति गच्छामि ? अथवा—इहैव प्रियापरिभुक्तमुक्ते लतावलये मुहूर्तं स्थास्यामि। (सर्वतोऽवलोक्य)

तस्याः पुष्पमयी शरीरलुलिता शय्या शिलायामियं
क्लान्तो मन्मथलेख एष नलिनीपत्रे नखैरर्पितः।
हस्ताद् भ्रष्टमिदं बिसाभरणमित्यासज्यमानेक्षणो
निर्गन्तुं सहसा न वेतसगृहाच्छक्नोमि शून्यादपि॥ २४॥

(आकाशे)

राजन् !

सायन्तने सवनकर्मणि सम्प्रवृत्ते वेदीं हुताशनवतीं परितः प्रयस्ताः।
छायाश्चरन्ति बहुधा भयमादधानाः सन्ध्यापयोदकपिशाः पिशिताशनानाम्॥२५॥

राजा—अयमयमागच्छामि। (इति निष्क्रान्तः)

॥ इति तृतीयोऽङ्कः॥

राजा—(पहले स्थान पर पहुँचकर ठंडी साँसें लेते हुए) आह! मन की साध पूरी होने में कितनी बाधाएँ आती हैं। क्योंकि—

सुन्दर पलकोंवाली शकुन्तला के उस मुख को उठाकर मैं चूम भी नहीं पाया, जो अपने होंठ को बार-बार अपनी अंगुलियों से ढँकती रहती थी, जो बार-बार नहीं-नहीं कहते हुए बड़ा सुन्दर लग रहा था और जिसे वह बार-बार अपने कन्धे की ओर मोड लेती थी॥ २३॥

अब मैं कहाँ जाऊँ? अच्छा इसी लताकुंज में थोडी देर ठहर जाता हूँ, जहाँ मेरी प्यारी इतनी देर रहकर चली गई है। (चारों ओर देखकर)

इस पटिया पर उसके शरीर से मसला हुआ फूलों का बिछावन पड़ा है। कमलिनी के पत्ते पर नखों से लिखा और मुरझाया हुआ प्रेम-पत्र भी रखा है। उसके हाथों से सूखकर गिरे हुए ये कमलनाल के आभूषण भी बिखरे पड़े हैं। अतएव अपने नेत्रों को उलझानेवाली इतनी वस्तुओं के होते हुए बेंतों से घिरे इस सूने लतामण्डप को इतनी जल्दी छोड़कर मैं कहीं भी जाने में असमर्थ हूँ॥ २४॥

(आकाश में)

राजन्! सायंकालीन यज्ञकर्म के आरम्भ होते ही जलती हुई अग्निवाली वेदियों के चारों ओर साँझ के बादलों जैसे काले-काले और लाल-लाल डरावने राक्षस इधर-उधर घूमने लगे हैं॥ २५॥

राजा—मैं अभी आता हूँ। (प्रस्थान करता है)

तीसरा अङ्क समाप्त।

चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशतः कुसुमावचयं नाटयन्त्यौ सख्यौ)

अनसूया—पिअंवदे! जइ वि गंधव्वेण विहिणा णिव्वुत्तकल्लाणा सउंदला अणुरूवभत्तुगामिणी संवुत्तेति णिव्वुदं में हिअअं, तह वि एत्तिअं चिंतणिज्जं। [**प्रियंवदे! यद्यपि गान्धर्वेण विधिना निर्वृत्तकल्याणा शकुन्तलाऽनुरूपभर्तृगामिनी संवृत्तेति मे हृदयम्, तथाप्येतावच्चिन्तनीयम्।**]

प्रियंवदा—कहं विअ? [**कथमिव?**]

अनसूया—अज्ज सो राएसी इट्ठि परिसमाविअ इसीहिं विसज्जिओ अत्तणो णअरं पविसिअ अंतेउरसमागदो इदोगदं वुत्तंतं सुमरदि वा ण वे त्ति। [**अद्य स राजर्षिरिष्टिं परिसमाप्य ऋषिभिर्विसर्जित आत्मनो नगरं प्रविश्यान्तःपुरसमागत इतोगतं वृत्तान्तं स्मरति वा न वे ति।**]

प्रियंवदा—वीसद्धा होहि। ण तादिसा आकिदिविसेसा गुणविरोहिणो होंति। तादो दाणिं इमं वुत्तंतं सुणिअ ण जाणे किं पडिवज्जिसदि त्ति। [**विस्रब्धा भव। न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति। तात इदानीमिमं वृत्तान्तं श्रुत्वा न जाने किं प्रतिपत्स्यत इति।**]

अनूसया—जह अहं देक्खामि तह तस्स अणुमदं भवे। [**यथाऽहं पश्यामि तथा तस्यानुमतं भवेत्।**]

प्रियंवदा—कहं विअ? [**कथमिव?**]

अनूसया—गुणवदे कण्णआ पड़िवादणिज्जे त्ति अअं दाव पढमो संकप्पो। तं जइ देव्वं एव्व संपादेदि णं अप्पआसेण किदत्थो गुरुअणो। [**गुणवते कन्यका प्रतिपादनीयेत्ययं तावत्प्रथमः सङ्कल्पः। तं यदि दैवमेव सम्पादयति नन्वप्रयासेन कृतार्थो गुरुजनः।**]

प्रियंवदा—(पुष्पभाजनं विलोक्य) सहि! अवइदाइं बलिकम्मपज्जत्ताइं कुसुमाइं। [**सखि! अवचितानि बलिकर्मपर्याप्तानि कुसुमानि।**]

(फूल चुनने का अभिनय करती हुई दोनों सखियों का प्रवेश)

अनसूया—प्रियंवदा! यद्यपि शकुन्तला का गान्धर्व विवाह हो गया और उसे योग्य पति भी मिला, किन्तु एक बात की बड़ी चिन्ता है।

प्रियंवदा—कैसी चिन्ता?

अनसूया—वह यह कि आज यज्ञ पूर्ण हो चुकने पर जब राजा दुष्यन्त ऋषियों से विदा लेकर अपने नगर के रनिवास में पहुँच जायँगे, तब उनको यहाँ की सुधि रहेगी भी या नहीं।

प्रियंवदा—तू इसकी चिन्ता मत कर। क्योंकि ऐसी आकृति के लोग कपटी नहीं होते। किन्तु ये सभी बातें सुनकर पिताजी न जाने क्या करेंगे?

अनसूया—जहाँ तक मै समझती हूँ, वे भी इसका समर्थन ही करेंगे।

प्रियंवदा—वह कैसे?

अनसूया—क्योंकि उनका तो यह संकल्प ही था कि कोई योग्य वर मिल जायेगा तो इसका विवाह कर देंगे। अब जब दैव ने ही वह काम पूरा कर दिया, तब तो बिना परिश्रम के ही उनका मनोरथ सफल हो गया।

अनसूया—णं सहीए सउंदलाए सोहग्गदेवआ अच्चणीआ। [ननु सख्याः शकुन्तलायाः सौभाग्यदेवताऽर्चनीया।]

प्रियंवदा—जुज्जदि। [युज्यते।] (इति तदेव कर्मारभेते)

(नेपथ्ये) अयमहं भोः !

अनसूया—(कर्णं दत्त्वा) सहि! अदिधीणं विअ णिवेदिदं। [सखि! अतिथीनामिव निवेदितम्।]

प्रियंवदा—णं उडजसंणिहिदा सउंदला। (आत्मगतम्) अज्ज उण हिअएण असंणिहिदा। [नन्टजसन्निहिता शकुन्तला। अद्य पुनर्हृदयेनासन्निहिता।]

अनसूया—होदु; अलं एत्तिएहिं कुसुमेहिं। [भवतु; अलमेतावद्भिः कुसुमैः।]

(इति प्रस्थिते)

(नेपथ्ये) आः अतिथिपरिभाविनि !

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन् कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव॥ १॥

प्रियंवदा—हद्धी हद्धी। अप्पिअं एव्व संवुत्तं। कस्सिं पि पूआरुहे अवरद्धा सुण्णहिअआ सउंदला। (पुरोऽवलोक्य) ण हु जस्सिं कस्सिं पि। एसो दुव्वासो सुलहकोवो महेसी तह सविअ वेअवलुप्फुल्लाए दुव्वाराए गईए पडिणिवुत्तो। को अण्णो हुदवहादो दहिदुं पहवदि ? [हा धिक् हा धिक्। अप्रियमेव संवृत्तम्। कस्मिन्नपि पूजार्हेऽपराद्धा शून्यहृदया शकुन्तला। न खलु यस्मिन्कस्मिन्नपि। एष दुर्वासाः सुलभकोपो महर्षिः तथा शप्त्वा वेगबलोत्फुल्लया दुर्वारया गत्या प्रतिनिवृत्तः। कोऽन्यो हुतवहाद्दग्धुं प्रभवति ?]

प्रियंवदा—(फूलों की डोलची दिखलाकर) सखी! बलि-कर्म के लिए इतने फूल पर्याप्त होंगे न ?

अनसूया—क्यों, अभी शकुन्तला के सौभाग्य-देवता का भी तो पूजन करना है।

प्रियंवदा—ठीक कहती हो। (पुनः फूल चुनने लगती है)

(नेपथ्य में) अरे मैं यहाँ आया हुआ हूँ।

अनसूया—(कान लगाकर) यह तो किसी अतिथि की आवाज जान पडती है।

प्रियंवदा—शकुन्तला तो कुटी में है ही। (मन ही मन) किन्तु वह आज कुछ अनमनी-सी है।

अनसूया—चलो, इतने फूलों से काम चल जायेगा।

(दोनों प्रस्थान करती हैं)

(नेपथ्य में) अरी वो अतिथि का अपमान करनेवाली !

जिसके ध्यान में इतनी मग्न होकर तू मुझ जैसे तपस्वी के आने की भी परवाह नहीं कर रही है, वह स्मरण दिलाने पर भी तुझे उसी प्रकार भूल जायेगा, जैसे पागल मनुष्य अपनी पिछली बातें भूल जाया करता है॥ १॥

प्रियंवदा—हाय हाय! यह तो बडा अनर्थ हो गया। ऐसा लगता है कि अपने अनमनेपन से शकुन्तला ने किसी पूजनीय पुरुष का अपमान कर दिया है। (सामने देखकर) और वह भी किसी ऐसे-वैसे का नहीं, ये जरा सी बात पर बिगड जानेवाले महर्षि दुर्वासा हैं, जो शाप देकर क्रोध के मारे लडखडाते पैरों से लौटे चले जा रहे हैं। भला आग के अतिरिक्त जलाने का कार्य और कौन कर सकेगा ?

अनसूया—गच्छ, पादेसु पणमिअ णिवत्तेहि णं जाव अहं अग्घोदअं उवकप्पेमि। [गच्छ, पादयोः प्रणम्य निवर्तयैनं यावदहमर्घोदकमुपकल्पयामि।]

प्रियंवदा—तह। [तथा।] (इति निष्क्रान्ता)

अनसूया—(पदान्तरे स्खलितं निरूप्य) अव्वो! आवेअक्खलिदाए गईए पब्भट्टं मे अग्गहत्थादो पुप्फभाअणं। [अहो! आवेगस्खलितया गत्या प्रभ्रष्टं ममाग्रहस्तात्पुष्पभाजनम्।] (इति पुष्पोच्चयं रूपयति)

(प्रविश्य)

प्रियंवदा—सहि! पकिदिवक्को सो कस्स अणुणअं पडिगेण्हदि? किं वि उण साणुक्कोसो किदो। [सखि! प्रकृतिवक्रः स कस्यानुनयं प्रतिगृह्णाति? किमपि पुनः सानुक्रोशः कृतः।]

अनसूया—(सस्मितम्) तस्सिं वहु एदं पि कहेहि। [तस्मिन्बह्वेतदपि कथय।]

प्रियंवदा—जदा णिवत्तिदुं ण इच्छदि तदा विण्णविदो मए—भअवं! पढम त्ति पेक्खिअ अविण्णादतवप्पहावस्स दुहिदुजणस्स भअवदा एक्को अवराहो मरिसिदव्वो त्ति। [यदा निवर्तितुं नेच्छति तदा विज्ञापितो मया— भगवन्! प्रथम इति प्रेक्ष्याऽविज्ञाततपःप्रभावस्य दुहितृजनस्य भगवतैकोऽपराधो मर्षयितव्य इति।]

अनसूया—तदो तदो? [ततस्ततः?]

प्रियंवदा—ततो ण मे वअणं अण्णहाभविदुं अरिहदि, किंदु अहिण्णाणाभरणदंसणेण सावो णिवत्तिस्सदि त्ति मंतअंतो सअं अंतरिहिदो। [ततो न मे वचनमन्यथाभवितुमर्हति, किन्त्वभिज्ञानाभरणदर्शनेन शापो निवर्तिष्यते इति मन्त्रयन् स्वयमन्तर्हितः।]

अनसूया—सक्कं दाणिं अस्ससिदुं। अत्थि तेण राएसिणा संपत्थिदेण सणामहेअंकिअं अंगुलीअअं

अनसूया—जा, उनके पैरों पड़कर उन्हें लौटा ला। तव तक मैं अर्घ्य का जल जुटाती हूँ।

प्रियंवदा—अच्छी वात है। (जाती है)

अनसूया—(दो-एक पग चलकर ठोकर खाने का अभिनय करती हुई) हाय हाय! वेग से चलने के कारण ऐसी ठोकर लगी कि हाथ से फूल की डोलची ही छूट पडी। (फूल बटोरने का अभिनय करती है)

(प्रवेश करके)

प्रियंवदा—सखी! वे तो वड़े क्रोधी स्वभाव के व्यक्ति हैं। वे क्या किसी की विनती सुनते हैं? फिर भी मैंने उन्हें वडी कठिनाई से थोड़ा-वहुत अपने अनुकूल कर लिया है।

अनसूया—(मुस्कराकर) उनके विषय में इतना भी क्या कम है। कहो, क्या किया तुमने?

प्रियंवदा—जव वे किसी तरह लौटने को राजी नहीं हुए, तव मैंने प्रार्थना की—भगवन्! एक तो शकुन्तला का यह पहला हीं अपराध है, फिर वह आपके तेज का प्रभाव भी नहीं जानती। इसलिए इस वार उसे क्षमा कर दीजिए।

अनसूया—तव क्या हुआ?

प्रियंवदा—तव वे यही कहकर अन्तर्धान हो गये कि 'मेरा वचन तो झूठा नहीं जा सकता। हाँ, यह सम्भव है कि यदि वह कन्या अपने प्रेमी को कोई पहचान का आभूषण दिखला देगी तो मेरा शाप छूट जायेगा'।

सुमरणीअं त्ति सअं पिणद्धं। तस्सिं साहीणोवाआ सउंदला भविस्सदि। [शक्यमिदानीमाश्वसितुम्। अस्ति तेन राजर्षिणा सम्प्रस्थितेन स्वनामधेयाङ्कितमङ्गुलीयकं स्मरणीयमिति स्वयं पिनद्धम्। तस्मिन् स्वाधीनोपाया शकुन्तला भविष्यति।]

प्रियंवदा—सहि! एहि; देवकज्जं दाव से णिव्वत्तेम्ह। [सखि! एहि; देवकार्यं तावदस्या निर्वर्तयावः।] (इति परिक्रामतः)

प्रियंवदा—(विलोक्य) अणसूए! पेक्ख दाव। वामहत्थोवहिदवअणा आलिहिदा विअ पिअसही। भत्तुगदाए चिंताए अत्ताणं पि ण एसा विभावेदि। किं उण आअंतुअं? [अनसूये! पश्य तावत्; वामहस्तोपहितवदनाऽऽलिखितेव प्रियसखी। भर्तृगतया चिन्तयाऽऽत्मानमपि नैषा विभावयति। किं पुनरागन्तुकम्?]

अनसूया—पिअंवदे! दुवेणं एव्व णं णो मुहे एसो वुत्तंतो चिट्ठदु। रक्खिदव्वा क्खु पकिदिपेलवा पिअसही। [प्रियंवदे! द्वयोरेव ननु नौ मुख एष वृत्तान्तस्तिष्ठतु। रक्षितव्या खलु प्रकृतिपेलवा प्रियसखी।]

प्रियंवदा—को णाम उण्होदएण णोमालिअं सिंचेदि? [को नामोष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति?]

(इत्युभे निष्क्रान्ते)

॥ विष्कम्भकः ॥

(ततः प्रविशति सुप्तोत्थितः शिष्यः)

शिष्यः—वेलोपलक्षणार्थमादिष्टोऽस्मि तत्रभवता प्रवासादुपावृत्तेन कण्वेन। प्रकाशं निर्गतस्तावदवलोकयामि कियदवशिष्टं रजन्या इति। (परिक्रम्यावलोक्य च) हन्त प्रभातम्। तथा हि—

अनसूया—चलो कुछ तो आश्वासन मिला। क्योंकि राजर्षि दुष्यन्त ने जाते समय अपने नाम से अंकित अँगूठी स्मृति के लिए शकुन्तला की अँगुली में स्वयं पहना दी थी। बस, वह अँगूठी ही शकुन्तला को शाप से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय है।

प्रियंवदा—सखी! चलो, तब तक देवपूजन का काम कर लें। **(दोनों घूमती हैं)**

प्रियंवदा—**(देखकर)** अनसूया! देखो तो, बायें हाथ पर गाल रखकर, बैठी हुई प्यारी सखी कैसी चित्रलिखित-सी दीख रही है। पति की चिन्ता में जब यह अपनी ही सुध-बुध में खोये बैठी है; तब फिर अतिथि का कौन सोचे?

अनसूया—प्रियंवदा! देखो, यह बात हमारे-तुम्हारे तक ही सीमित रहे। क्योंकि शकुन्तला बड़े कोमल स्वभाव की है और उसकी रक्षा तो हमें ही करनी है।

प्रियंवदा—यह तो ठीक ही है। नवमल्लिका की लहलहाती लता को गरम पानी से भला कौन सींचेगा?

(दोनों का प्रस्थान)

॥ विष्कम्भक ॥

(सोकर उठे हुए एक शिष्य का प्रवेश)

शिष्य—प्रवास से अभी लौटे हुए पूज्य कण्व ने मुझे समय जानने के लिए आज्ञा दी है। अतः बाहर चलकर देखूँ कि रात कितनी बाकी है। **(इधर-उधर घूमकर तथा आकाश की ओर देखकर)** अरे, यह तो सवेरा हो गया। क्योंकि—

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनामाविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु॥ २॥

अपि च—

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि॥ ३॥

(प्रविश्यापटीक्षेपेण)

अनसूया—जइ वि णाम विसअपरम्मुहस्स वि जणस्स एदं ण विदिअं तह वि तेण रण्णा सउंदलाए अणज्जं आअरिदं। [यद्यपि नाम विषयपराङ्मुखस्यापि जनस्यैतन्न विदितं तथापि तेन राज्ञा शकुन्तलायामनार्यमाचरितम्।]

शिष्यः—यावदुपस्थितां होमवेलां गुरवे निवेदयामि। (इति निष्क्रान्तः)

अनसूया—पडिबुद्धा वि किं करिस्सं? ण मे उइदेसु वि णिअकरणिज्जेसु हत्थपाआ पसरंति। कामो दाणिं सकामो होदु। जेण असच्चसंधे जणे अणण्णहिअआ सही पदं कारिदा। अहवा दुव्वाससो कोवो एसो विआरेदि। अण्णहा कहं सो राएसी तारिसाणि मंतिअ एत्तिअस्स कालस्स लेहमेत्तं पि ण विसज्जेदि? ता इदो अहिण्णाणं अंगुलीअअं से विसज्जेम। दुक्खसीले तवस्सिजणे को अब्भत्थीअदु? णं सहीगामी दोसो त्ति व्ववसिदा वि ण पारेमि, पवासपडिणिउत्तस्स तादकण्णस्स दुस्संतपरिणीदं आवण्णसत्तं सउंदलं णिवेदिदुं। इत्थंगए अम्हेहिं किं करणिज्जं? [प्रतिबुद्धाऽपि किं करिष्ये? न म उचितेष्वपि निजकार्येषु हस्तपादं प्रसरति। काम इदानीं सकामो भवतु। येनासत्यसन्धे जने अनन्यहृदया सखी पदं कारिता। अथवा दुर्वाससः कोप एष विकारयति। अन्यथा कथं स राजर्षिस्तादृशानि मन्त्रयित्वैतावत्कालस्य लेखमात्रमपि न विसृजति?, तदितोऽभिज्ञानमङ्गुलीयकं तस्य विसृजावः। दुःखशीले तपस्विजने कोऽभ्यर्थ्यताम्? ननु सखीगामी दोष इति व्यवसिताऽपि न पारयामि,

---

एक ओर ओषधियों के पति चन्द्रमा अस्ताचल को चल पड़े हैं और दूसरी ओर अपने सारथी अरुण को आगे किये हुए सूर्य निकल रहे हैं। इन दो तेजस्वियों का एक साथ उदय और अस्त देखकर संसार को यही शिक्षा मिलती है कि दुःख के पीछे सुख और सुख के पीछे दुःख होता ही रहता है॥ २॥

और भी देखो—

चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर वह कुमुदिनी आँखों को नहीं भाती, जिसकी शोभा कल्पनामात्र में ही शेष रह गई है। क्योंकि जिन स्त्रियों के पति परदेश चले जाते हैं, उनके पतिवियोग का दुःसह दुःख झेलना पड़ता है॥ ३॥

(झटके से परदे को उठाकर अनसूया का प्रवेश)

अनसूया—यद्यपि विषयों से विमुख रहने के कारण मैं प्रेम की बातें कुछ भी नहीं जानती। फिर भी यह अवश्य कह सकती हूँ कि उस राजा ने शकुन्तला के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया।

शिष्य—जरा चलकर गुरुजी को बता दूँ कि होम का समय हो गया। (जाता है)

अनसूया—जागकर भी क्या करूँगी? यहाँ अपने नित्य के काम के लिए भी हाथ-पैर नहीं उठ रहे हैं। अब तो कामदेव का भी जी भर गया होगा। क्योंकि मेरी सच्ची सखी ने उस झूठे राजा पर इतना विश्वास कर लिया। अथवा सम्भव है कि यह दुर्वासा के शाप का ही फल हो। अन्यथा ऐसी मीठी-मीठी बातें करनेवाला वह राजर्षि इतने दिन बीत जाने पर भी क्या एक पत्र भी न लिखता? अब उसे स्मरण दिलाने के लिए उसके पास अँगूठी भेजनी ही पडेगी। पर कठोर जीवन बितानेवाले

प्रवासप्रतिनिवृत्तस्य तातकण्वस्य दुष्यन्तपरिणीतामापन्नसत्त्वां शकुन्तलां निवेदयितुम्। इत्यङ्गतेऽस्माभिः किं करणीयम्?]

(प्रविश्य)

प्रियंवदा—(सहर्षम्) सहि! तुवर तुवर सउंदलाए पत्थाणकोदुअं णिव्वत्तिदुं। [सखि! त्वरस्व त्वरस्व शकुन्तलायाः प्रस्थानकौतुकं निर्वर्तयितुम्।]

अनसूया—सहि। कहं एदं? [सखि! कथमेतत्?]

प्रियंवदा—सुणाहि। दाणिं सुहसइनपुच्छिआ सउंदलासआसं गदम्हि। [शृणु। इदानीं सुखशयनपृच्छिका शकुन्तलासकाशं गताऽस्मि।]

अनसूया—तदो तदो? [ततस्ततः?]

प्रियंवदा—तदो जाव एणं लज्जावणदमुहिं परिस्सजिअ तादकण्णेण एव्वं अहिणंदिदं—दिट्ठिआ धूमाउलिददिट्ठिणो वि जअमाणस्स पाअए एव्व आहुदी पडिदा। वच्छे! सुसिस्सपरिदिण्णा विज्जा विअ असोअणिज्जा संवुत्ता। अज्ज एव्व इसिरक्खिदं तुमं भत्तुणो सआसं विसज्जेमि त्ति। [ततो यावदेनां लज्जावनतमुखीं परिष्वज्य तातकण्वेनैवमभिनन्दितम्—दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता। वत्से! सुशिष्यपरिदत्ता विद्येवाशोचनीया संवृत्ता। अद्यैव ऋषिरक्षितां त्वां भर्तुः सकाशं विसर्जयामीति।]

अनसूया—अह केण सूइदो तादकण्णस्स वुत्तंतो? [अथ केन सूचितस्तातकण्वस्य वृत्तान्तः?]

प्रियंवदा—अग्गिसरणं पविट्ठस्स सरीरं विणा छंदोमईए वाणिआए। [अग्निसरणं प्रविष्टस्य शरीरं विना छन्दोमय्या वाण्या।]

अनसूया—(सविस्मयम्) कहं विअ? [कथमिव?]

इन तपस्वियों में से किसको अँगूठी पहुँचाने के लिए कहा जाय? बाहर से लौटे हुए पिता कण्व से मैं न तो सखी के अपराध की बात कह सकती हूँ और न उनसे यही कह पाऊँगी कि शकुन्तला का राजा दुष्यन्त से विवाह हो गया है और उसे गर्भ भी है। ऐसी गम्भीर स्थिति में मैं क्या करूँ?

(प्रवेश कर)

प्रियंवदा—(सहर्ष) सखी! चलो-चलो। शकुन्तला की विदाई का प्रबन्ध करना होगा।

अनसूया—सखी! यह सब कैसे हो गया?

प्रियंवदा—सुन, मैं अभी शकुन्तला के पास पूछने गई थी कि तू रात में सुख से सोई या नहीं?

अनसूया—तब-तब?

प्रियंवदा—तब तब पिता कण्व आ पहुँचे और लाज में गडी हुई शकुन्तला को गले से लगाकर उसका अभिनन्दन करते हुए बोले—आँखों में धुआँ भर जाने पर भी सौभाग्य से यजमान की आहुति ठीक अग्नि के बीच में पड़ी। वत्से! जैसे योग्य शिष्य को विद्या देने से मन में दुःख नहीं होता, वैसे ही तुझे भी योग्य पति के हाथ में देते हुए मुझे दुःख नहीं है। मैं आज ही तुझे ऋषियों के साथ तेरे पति के घर भेज दूँगा।

अनसूया—किन्तु पिता कण्व को इस बात का पता कैसे लगा?

प्रियंवदा—जैसे ही पिता कण्व यज्ञशाला में पहुँचे, वैसे ही यह छन्दोबद्ध आकाशवाणी सुनाई दी—

अनसूया—(आश्चर्य से) क्या?

प्रियंवदा—(संस्कृतमाश्रित्य)

दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः।
अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भा शमीमिव॥४॥

अनसूया—(प्रियंवदामाश्लिष्य) सहि! पिअं मे। किंदु अज्ज एव्व सउंदला णीअदि त्ति उक्कंठासाहारणं परितोसं अणुहोमि। [सखि! प्रियं मे। किन्त्वद्यैव शकुन्तला नीयत इत्युत्कण्ठासाधारणं परितोषमनुभवामि।]

प्रियंवदा—सहि! वअं दाव उक्कंठं विणोदइस्सामो। सा तवस्सिणी णिव्वुदा होदु। [सखि! आवां तावदुत्कण्ठां विनोदयिष्यावः। सा तपस्विनी निर्वृत्ता भवतु।]

अनसूया—तेण हि एदस्सिं चूदसाहावलंबिदे णारिएरसमुग्गए एतण्णिमित्तं एव्वं कालंतरक्खमा णिक्खित्ता मए केसरमालिआ। ता इमं हत्थसंणिहिदं करेहि जाव अहं पि से मिअलोअणं तित्थमित्तिअं दुव्वाकिसलआणि त्ति मंगलसमालंभणामि विरएमि। [तेन ह्येतस्मिंश्चूतशाखावलम्बिते नारिकेल-समुद्गके एतन्निमित्तमेव कालान्तरक्षमा निक्षिप्ता मया केसरमालिका। तदिमां हस्तसन्निहितां कुरु। यावदहमपि तस्यै मृगरोचनां तीर्थमृत्तिकां दूर्वाकिसलयानीति मङ्गलसमालम्भनानि विरचयामि।]

प्रियंवदा— तह करीअदु। [तथा क्रियताम्।]

(अनसूया निष्क्रान्ता। प्रियंवदा नाट्येन सुमनसो गृह्णाति)

(नेपथ्ये)

गौतमि! आदिश्यन्तां शार्ङ्गरवमिश्राः शकुन्तलानयनाय।

प्रियंवदा—(कर्ण दत्त्वा) अणसूए! तुवर तुवर। एदे क्खु हत्थिणाउरगामिणो इसीओ सद्दावीअंति। [अनसूये! त्वरस्व त्वरस्व। एते खलु हस्तिनापुरगामिन ऋषयः शब्दापयन्ते।]

प्रियंवदा—(संस्कृत में बोलती है)

हे महर्षे! जैसे शमीवृक्ष में आग होती है, वैसे ही आपकी पुत्री शकुन्तला के गर्भ में राजा दुष्यन्त के द्वारा स्थापित विश्व का कल्याणकारी तेज विद्यमान है॥४॥

अनसूया—(प्रियंवदा से गले लगकर) सखी! यह सुनकर मैं तो बहुत प्रसन्न हूँ। दुःख की बात इतनी ही है कि शकुन्तला आज ही चली जायेगी।

प्रियंवदा—सखी! हमलोग किसी तरह अपने मन को समझा लेंगी, किन्तु वह बेचारी तो किसी प्रकार से सुखी रहे।

अनसूया—वह जो आम की डाली पर नारियल का सम्पुट लटक रहा है, उसमें मैंने बहुत दिनों तक सुगन्धित रहनेवाली बकुल की माला आज के लिए ही रख छोड़ी थी। तू उसे उतार तो ले आ। तब तक मैं गोरोचन, तीर्थ की मिट्टी और कोमल दूब के अंकुर आदि मङ्गलमयी सामग्रियाँ जुटा लाती हूँ।

प्रियंवदा—अच्छा ऐसा ही करो।

(अनसूया चली जाती है और प्रियंवदा माला उतारने का अभिनय करती है)

(नेपथ्य में)

गौतमी! शार्ङ्गरव आदि से कहो कि शकुन्तला को पहुँचा आने के लिए तैयार हो जायें।

प्रियंवदा—(कान लगाकर) अनसूया! चलो-चलो, हस्तिनापुर जानेवाले ऋषिगण बुलाये जा रहे हैं।

(प्रविश्य समालम्भनहस्ता)

अनसूया—सहि ! एहि; गच्छम्ह। [सखि ! एहि; गच्छावः।] (इति परिक्रामतः)

प्रियंवदा—(विलोक्य) एसा सुज्जोदए एव्व सिहामज्जिदा पडिच्छिदणीवारहत्थाहिं सोत्थिवाअणकाहिं तावसीहिं अहिणंदीअमाणा सउंदला चिट्ठइ। उवसप्पम्ह णं। [एषा सूर्योदय एव शिखामज्जिता प्रतिष्ठितनीवारहस्ताभिः स्वस्तिवाचनिकाभिस्तापसीभिरभिनन्द्यमाना शकुन्तला तिष्ठति। उपसर्पाव एनाम्।] (इत्युपसर्पतः)

(ततः प्रविशति यथोद्दिष्टव्यापाराऽऽसनस्था शकुन्तला)

तापसीनामन्यतमा—(शकुन्तलां प्रति) जादे! भत्तुणो बहुमाणसूअअं महादेईसद्दं लहेहि। [जाते! भर्तुर्बहुमानसूचकं महादेवीशब्दं लभस्व।]

द्वितीया—वच्छे ! वीरप्पसविणी होहि, [वत्से! वीरप्रसविनी भव।]

तृतीया—वच्छे ! भत्तुणो वहुमदा होहि। [वत्से ! भर्तुर्बहुमता भव।]

(इत्याशिषो दत्त्वा गौतमीवर्जं निष्क्रान्ताः)

सख्यौ—(उपसृत्य) सहि ! सुहमज्जणं दे होदु। [सखि ! सुखमज्जनं ते भवतु।]

शकुन्तला—साअदं मे सहीणं। इदो णिसीदह। [स्वागतं मे सख्योः। इतो निषीदतम्।]

उभे—(मङ्गलपात्राण्यादाय उपविश्य) हला ! सज्जा होहि, जाव दे मंगलसमालंभणं विरएम। [हला ! सज्जा भव, यावत्ते मङ्गलसमालम्भनं विरचयावः।]

शकुन्तला—इदं पि बहु मंतव्वं, दुल्लहं दाणिं मे समीमंडणं भविस्सदि त्ति। [इदमपि बहु मन्तव्यम्, दुर्लभमिदानीं मे सखीमण्डनं भविष्यतीति।] (इति वाष्पं विसृजति)

उभे—सहि ! उइअं ण दे मंगलकाले रोइदुं। [सखि ! उचितं न ते मङ्गलकाले रोदितुम्।]

(हाथ में मांगलिक सामग्री लिये हुए प्रवेश कर)

अनसूया—सखी, आओ चलें। (दोनों चलती हैं)

प्रियंवदा—(देखकर) यह लो, शकुन्तला तो सूर्योदय होते ही नहा-धोकर बैठी है और ये सभी तपस्विनियाँ हाथ में तिन्नी के दानें लेकर उसे आशीर्वाद दे रही हैं! चलो, हम भी चलें (आगे बढती हैं)

(उपरोक्त निर्दिष्ट अवस्था में आसनस्थ शकुन्तला का प्रवेश)

पहली तपस्विनी—(शकुन्तला से) वत्से ! तुम पति से प्रचुर आदर पानेवाली पटरानी बनो।

दूसरी तपस्विनी—वत्से ! तुम वीर पुत्र की माता बनो।

तीसरी तपस्विनी—वत्से ! तू पति की प्यारी हो।

(यह आशीर्वाद देकर गौतमी के अतिरिक्त अन्य सभी चली जाती हैं)

दोनों सखियाँ—(शकुन्तला के पास जाकर) सखी ! तुम्हारा नहाना-धोना सफल हो।

शकुन्तला—सखियों मैं तुम्हारा स्वागत करती हूँ। आओ, यहाँ बैठो।

दोनों—(मङ्गल-पात्र लिये हुए बैठती हैं) अच्छा सखी ! तैयार हो जाओ। हम तुम्हारा मङ्गल-शृङ्गार करेंगी।

शकुन्तला—यह तो बड़े सौभाग्य की बात है। क्योंकि सखियों के हाथ का शृङ्गार अब मुझे कहाँ मिल पायेगा। (रोने लगती है)

दोनों—सखी ! ऐसे शुभ अवसर पर रोना उचित नहीं है।

(इत्यश्रूणि प्रमृज्य नाटयेन प्रसाधयतः)

प्रियंवदा—आहरणोइदं रूवं अस्समसुलहेहिं पसाहणेहिं विप्पआरीअदि। **[आभरणोचितं रूपमाश्रमसुलभैः प्रसाधनैर्विप्रकार्यते।]**

(प्रविश्योपायनहस्तावृषिकुमारकौ)

उभौ—इदमलङ्करणम्। अलङ्क्रियतामत्रभवती।

(सर्वा विलोक्य विस्मिताः)

गौतमी—वच्छ णारअ! कुदो एदं? **[वत्स नारद! कुत एतत्?]**

प्रथमः—तातकण्वप्रभावात्।

गौतमी—किं माणसी सिद्धी? **[किं मानसी सिद्धिः?]**

द्वितीयः—न खलु; श्रूयताम्। तत्रभवता वयमाज्ञप्ताः शकुन्तलाहेतोर्वनस्पतिभ्यः कुसुमान्याहरतेति। तत इदानीं—

> **क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं**
> **निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित्।**
> **अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-**
> **र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः॥५॥**

प्रियंवदा—(शकुन्तलां विलोक्य) हला! इमाए अब्भुववत्तीए सूइया दे भत्तुणो गेहे अणुहोदव्वा राअलच्छित्ति। **[हला! अनयाऽभ्युपपत्त्या सूचिता ते भर्तुर्गेहेऽनुभवितव्या राजलक्ष्मीरिति।]**

(शकुन्तला व्रीडां रूपयति)

प्रथमः—गौतम! एह्येहि; अभिषेकोत्तीर्णाय कण्वाय वनस्पतिसेवां निवेदयावः।

(दोनों अपने आँसू पोंछकर उसे सजाने का अभिनय करती हैं)

प्रियंवदा—सखी! तुम्हारे रूप के लिए तो बहुत अच्छे-अच्छे आभूषणों की आवश्यकता थी। आश्रम से जुटाई हुई इन सिंगार की सामग्रियों से तो तुम्हारे रूप का अपमान हो रहा है।

(हाथों में उपहार लिये हुए दो ऋषिकुमारों का प्रवेश)

दोनों ऋषिकुमार—यह लीजिए आभूषण, देवी को इनसे सजाइए।

(देखकर सभी चकित हो जाती हैं)

गौतमी—वत्स नारद! यह सब तुमने कहाँ पाया?

पहला—पिता कण्व के प्रभाव से।

गौतमी—क्या उनकी मानसी सिद्धि से?

दूसरा—नहीं, सुनिए। पूज्य कण्व ने हमें शकुन्तला के लिए लता-वृक्षों से फूल-पत्ते ले आने की आज्ञा दी थी। इस पर—

किसी वृक्ष ने शुभ्र मांगलिक वस्त्र दिया, किसी ने पैरों में लगाने कि महावर दी और वनदेवियों ने तो कोपलों से होड करके वृक्षों में से कलाई तक अपने हाथ बाहर निकालकर बहुत से आभूषण दे दिये॥५॥

प्रियंवदा—(शकुन्तला को देखकर) सखी! इन लक्षणों से तो ऐसा लगता है कि पति के घर में तुम राजलक्ष्मी बनकर सुख पाओगी।

(शकुन्तला लज्जा का अभिनय करती है)

द्वितीयः—तथा।

(इति निष्क्रान्तौ)

सख्यौ—अए! अणुवजुत्तभूसणो अअं जणो। चित्तकम्मपरिअएण अंगेसु दे आहरणविणिओअं करेम्ह। [अये! अनुपयुक्तभूषणोऽयं जनः। चित्रकर्मपरिचयेनाङ्गेषु ते आभरणविनियोगं कुर्वः।]

शकुन्तला—जाणे वो णेउणं। [जाने वां नैपुणम्।]

(उभे नाट्येनालङ्कुरुतः)

(ततः प्रविशति स्नानोत्तीर्णः कण्वः)

(प्रथमः श्लोकः)

कण्वः—यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः॥ ६॥

(इति परिक्रामति)

सख्यौ—हला सउंदले! अवसिदमंडणासि। परिधेहि संपदं खोमजुअलं। [हला शकुन्तले! अवसितमण्डनासि। परिधत्स्व साम्प्रतं क्षौमयुगलम्।]

(शकुन्तलोत्थाय परिधत्ते)

गौतमी—जादे! एसो दे आणंदपरिवाहिणा चक्खुणा परिस्सजंतो विअ गुरू उवट्ठिदो। आआरं दाव पडिवज्जस्स। [जाते! एष ते आनन्दपरिवाहिणा चक्षुषा परिष्वजमान इव गुरुरुपस्थितः। आचारं तावत्प्रतिपद्यस्व।]

पहला—चलो, गौतम! स्नान करके गुरुजी आ गये होंगे। इन पेड़-पौधों ने जो वस्तुएँ दी हैं, यह समाचार उन्हें भी सुना दिया जाय।

दूसरा—चलो।

(दोनों का प्रस्थान)

दोनों सखियाँ—सखी! हमने तो कभी आभूषण पहने नहीं हैं। किन्तु चित्रों में जैसा देखा है, उसी के अनुसार तुम्हारे शरीर पर ये आभूषण पहनाये देती हैं।

शकुन्तला—मैं तुम दोनों की चतुराई भलीभाँति जानती हूँ।

(दोनों आभूषण पहनाने का अभिनय करती हैं)

(स्नान करके लौटे हुए कण्व का प्रवेश)

कण्व—आज शकुन्तला चली जायेगी, यह सोचकर जी बैठा जा रहा है। आँसुओं को रोकने से गला रुँध गया है जिससे मुँह से शब्द नहीं निकल पा रहे हैं और इसी चिन्ता में आँखें धुँधली पड़ गई हैं। जब मुझ जैसे वनवासी को इतना कष्ट हो रहा है, तब उन बेचारे गृहस्थों को कितना क्लेश होता होगा, जो पहले-पहल अपनी कन्या को विदा करते होंगे॥ ६॥

(घूमते हैं)

सखियाँ—शकुन्तला! तुम्हारा शृंगार तो पूरा हो गया। लो, अब यह रेशमी वस्त्रों का जोडा भी पहन लो।

(शकुन्तला उठकर उसे पहनती है)

शकुन्तला—(सव्रीडम्) ताद! वंदामि। [तात! वन्दे।]

कण्वः—वत्से!

यथातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव।
सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि॥७॥

गौतमी—भअवं! वरो क्खु एसो, ण आसिसा। [भगवन्! वरः खल्वेषः, नाशिषः।]

कण्वः—वत्से! इतः सद्योहुताग्नीन् प्रदक्षिणीकुरुष्व।

(सर्वे परिक्रामन्ति)

कण्वः—(ऋक्छन्दसाऽऽशास्ते)

अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धैर्वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु॥८॥

प्रतिष्ठस्वेदानीम्। (सदृष्टिक्षेपम्) क्व ते शार्ङ्गरवमिश्राः।

(प्रविश्य)

शिष्यः—भगवन्! इमे स्मः।

कण्वः—भगिन्यास्ते मार्गमादेशय।

शार्ङ्गरवः—इत इतो भवती।

(सर्वे परिक्रामन्ति)

कण्वः—भो भोः सन्निहितदेवतास्तपोवनतरवः!

गौतमी—पुत्री! आनन्द से उत्पन्न आँसुओं को बहाने वाले नेत्रों से मानो तुमको गले लगाते हुए से तेरे पिता यहाँ उपस्थित हैं, उचित शिष्टाचार का पालन करो।

शकुन्तला—(लजाती हुई) पिताजी! प्रणाम करती हूँ।

कण्व—वत्से! जैसे राजा ययाति अपनी पत्नी शर्मिष्ठा का आदर करते थे, वैसे ही तेरे पति भी तेरा आदर करें और शर्मिष्ठा के पुत्र पुरु के समान ही तुझे चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त हो॥७॥

गौतमी—भगवन्! यह तो आपने वरदान दिया है, आशीर्वाद तो दिया ही नहीं।

कण्व—वत्से! चलो, अग्नि में अभी ही आहुति पड़ी है, चलकर उसकी प्रदक्षिणा तो कर लो।

(सभी लोग अग्नि की प्रदक्षिणा करते हैं)

कण्व—(ऋग्वेद के छन्द में आशीर्वाद देते हैं)

वेदीपर यथास्थान स्थापित, कुशा से घिरे, समिधा के ईंधन से प्रज्वलित एवं हवि की सुगन्ध से सुगन्धित अग्निदेव तुम्हें पवित्र करें॥८॥

अब चलो। (इधर-उधर देखकर) अरे, वे शार्ङ्गरव आदि कहाँ हैं?

(प्रवेश करके)

शिष्य—भगवन् हमलोग उपस्थित हैं।

कण्व—चलो! अपनी बहन को मार्ग दिखलाओ।

शार्ङ्गरव—इधर से आओ देवी, इधर से।

(सभी चलते हैं)

कण्व—वन-देवताओं से भरे हुए हे तपोवन के वृक्षो!

(द्वितीयः श्लोकः)

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥ ९॥

(कोकिलरवं सूचयित्वा)

अनुमतगमना शकुन्तला तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः।
परभृतविरुतं कलं यथा प्रतिवचनीकृतमेभिरीदृशम्॥ १०॥

(आकाशे)

रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभिश्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापः।
भूयात्कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्याः शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः॥ ११॥

(सर्वे सविस्मयमाकर्णयन्ति)

गौतमी—जादे! ण्णादिजणसिणिद्धाहिं अणुण्णादगमणासि तवोवणदेवदाहिं। पणम भअवदीणं। [जाते! ज्ञातिजनस्निग्धाभिरनुज्ञातगमनासि तपोवनदेवताभिः। प्रणत भगवतीः।]

शकुन्तला—(सप्रणामं परिक्रम्य जनान्तिकम्) हला पिअंवदे! णं अज्जउत्तदंसणुस्सुआए वि अस्समपदं परिच्चअंतीए दुक्खेण मे चलणा पुरदो पवट्टंति। [हला प्रियंवदे! नन्वार्यपुत्रदर्शनोत्सुकाया अप्याश्रमपदं परित्यजन्त्या दुःखेन मे चरणौ पुरतः प्रवर्तेते।]

प्रियंवदा—ण केवलं तवोवणविरहकादरा सही एव्व। तुए उवट्ठिदविओअस्स तवोवणस्स वि दाव समवत्था दीसइ। पेक्ख— [न केवलं तपोवनविरहकातरा सख्येव। त्वयोपस्थितवियोगस्य तपोवनस्यापि तावत्समवस्था दृश्यते। पश्य—]

जो तुम्हें पिलाये बिना स्वयं जल नहीं पीती थी, आभूषण पहनने का प्रेम होने पर भी जो स्नेह वश तुम्हारे कोमल पत्तों को नहीं तोड़ती थी; तुम्हारी नयी कली देखकर जो आनन्दविभोर हो जाती थी, वही शकुन्तला आज अपने पति के घर जा रही है। तुम सभी इसे विदा दो॥ ९॥

(कोयल की कूक की ओर संकेत करके)

इस शकुन्तला को तपोवन निवास के बन्धुसदृश वृक्षों ने प्रस्थान की अनुमति दे दी है, क्योंकि अस्पष्ट तथा मधुर कोयल की ध्वनि को इन वृक्षों ने इस प्रकार अपना प्रत्युत्तर बनाया है॥ १०॥

(आकाश में)

शकुन्तला की यात्रा मङ्गलमयी हो। इसके मार्ग में बीच-बीच में नीली कमलिनियों से भरे हुए ताल हों, एक पंक्तिमें थोड़ी-थोड़ी दूर पर लगे और धूप से बचनेवाली घनी छाँहवाले वृक्ष हों, धूल में कमल के पराग की कोमलता हो तथा मार्ग भर सुख देनेवाला पवन बहता रहे॥ ११॥

(सभी आश्चर्य से सुनते हैं)

गौतमी—वत्से! सगे-सम्बन्धियों के समान प्रिय वनदेवियाँ तुझे आशीर्वाद दे रही हैं। इन्हें प्रणाम करो।

शकुन्तला—(प्रणाम करती हुई घूमकर प्रियंवदा से) सखी प्रियंवदा। यद्यपि मुझे आर्यपुत्र के दर्शन की बड़ी उतावली हो रही है, तथापि आश्रम को छोड़ते हुए मेरे पैर आगे नहीं बढ़ पा रहे।

प्रियंवदा—केवल तुम्हीं तपोवन के विरह से दुःखी नहीं हो। जैसे-जैसे तुम्हारी विदाई की घड़ी पास आती जा रही है, वैसे-वैसे तपोवन भी उदास होता जा रहा है। देखो—

उग्गलिअदब्भकवला मिआ परिच्चत्तणच्चणा मोरा।
ओसरिअपंडुपत्ता मुअंति अस्सू विअ लदाओ॥ १२॥
[उद्गलितदर्भकवला मृगाः परित्यक्तनर्तना मयूराः।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः॥]

शकुन्तला—(स्मृत्वा) ताद! लदाबहिणिअं वणजोसिणिं दाव आमंतइस्सं। [तात! लताभगिनीं वनज्योत्स्नां तावदामन्त्रयिष्ये।]

कण्वः—अवैमि ते तस्यां सोदर्यस्नेहम्। इयं तावद्दक्षिणेन।

शकुन्तला—(उपेत्य, लतामालिङ्ग्य) वणजोसिणि! चूदसंगता वि मं पच्चालिंग इदोगदाहिं साहावाहाहिं। अज्जप्पहुदि दूरपरिवत्तिणी दे क्खु भविस्सं। [वनज्योत्स्ने! चूतसङ्गताऽपि मां प्रत्यालिङ्गेतोगताभिः शाखाबाहुभिः। अद्यप्रभृति दूरपरिवर्तिनी ते खलु भविष्यामि।]

कण्वः—

सङ्कल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे भर्तारमात्मसदृशं सुकृतैर्गता त्वम्।
चूतेन संश्रितवती नवमालिकेयमस्यामहं त्वयि च सम्प्रति वीतचिन्तः॥ १३॥

इतः पन्थानं प्रतिपद्यस्व।

शकुन्तला—(सख्यौ प्रति) हला! एसा दुवेणं वो हत्थे णिक्खेओ। [हला! एषा द्वयोर्युवयोर्हस्ते निक्षेपः।]

सख्यौ—अअं जणो कस्स हत्थे समप्पिदो? [अयं जनः कस्य हस्ते समर्पितः?] (इति वाष्पं विसृजतः)

कण्वः—अनसूये! अलं रुदित्वा। ननु भवतीभ्यामेव स्थिरीकर्तव्या शकुन्तला।

(सर्वे परिक्रामन्ति)

हरिणियाँ कुशा के कौर उगल रही हैं, मोरों ने नाचना छोड़ दिया है और लताओं से पीले-पीले पत्ते इस प्रकार झड़ रहे हैं लगता है जैसे उनके आँसू गिर रहे हों॥ १२॥

शकुन्तला—(स्मरण करके) पिताजी! मैं अपनी बहन वनज्योत्स्ना लता से भी विदा ले लेना चाहती हूँ।

कण्व—मैं जानता हूँ कि तू उसे सगी बहन जैसा प्यार करती है। देखा वह दाहिनी ओर है।

शकुन्तला—(लता के पास जाकर और उससे लिपटकर) प्यारी वनज्योत्स्ना! तू आम के वृक्ष से लिपटी होने पर भी अपनी फैली हुई शाखारूपिणी बाहों में मुझे समेट ले। क्योंकि आज के बाद तो मैं तुझसे बहुत दूर चली जाऊँगी।

कण्व—तेरे लिए मैंने जैसे पति का संकल्प किया था, तूने अपने पुण्य-प्रभाव से वैसा ही पति पा लिया है और इस नवमालिका वनज्योत्स्ना को भी आम का ठीक सहारा मिल गया है। अब मैं दोंनो की चिन्ता से मुक्त हो गया हूँ॥ १३॥

इधर आओ।

शकुन्तला—(सखियों से) सखियो! इस वनज्योत्स्ना को मैं तुम दोनों के हाथों सौंप रही हूँ।

दोनों—और हम लोगों को किसके हाथों सौंपे जा रही हो? (दोनों रोने लगती हैं)

कण्व—रोओ मत अनसूया! तुम दोनों को चाहिए कि शकुन्तला को धीरज बँधाओ।

(सभी घूमते हैं)

शकुन्तला—ताद! एसा उडजपज्जंतचारिणी गब्भमंथरा मिअवहू जदा अणघप्पसवा होइ तदा मे कंपि पिअणिवेदइत्तअं विसज्जइस्सह। [तात! एषोटजपर्यन्तचारिणी गर्भमन्थरा मृगवधूर्यदाऽनघप्रसवा भवति तदा मह्यं कमपि प्रियनिवेदयितृकं विसर्जयिष्यथ।]

कण्वः—नेदं विस्मरिष्यामः।

शकुन्तला—(गतिभङ्गं रूपयित्वा) को णु क्खु एसो णिवसणे मे सज्जइ? [को नु खल्वेष निवसने मे सज्जते?] (इति परावर्तते)

कण्वः—वत्से!

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते॥ १४॥

शकुन्तला—वच्छ! किं सहवासपरिच्चाइणिं मं अणुसरसि? अचिरप्पसूदाए जणणीए विणा वड्ढिदो एव्व। दाणिं पि मए विरहिदं तुमं तादो चिंतइस्सदि। णिवत्तेहि दाव। [वत्स! किं सहवासपरित्यागिनीं मामनुसरसि? अचिरप्रसूतया जनन्या विना वर्धित एव। इदानीमपि मया विरहितं त्वां तातश्चिन्तयिष्यति। निवर्तस्व तावत्।] (इति रुदती प्रस्थिता)

कण्वः—

उत्पक्ष्मणोर्नयनयोरुपरुद्धवृत्तिं बाष्पं कुरु स्थिरतया विहतानुबन्धम्।
अस्मिन्नलक्षितनतोन्नतभूमिभागे मार्गे पदानि खलु ते विषमीभवन्ति॥ १५॥

शार्ङ्गरवः—भगवन्! ओदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्य इति श्रूयते। तदिदं सरस्तीरम्। अत्र सन्दिश्य प्रतिगन्तुमर्हसि।

शकुन्तला—तात! गर्भ के भार से अलसाती हुई आश्रम में चारों ओर घूमनेवाली इस हरिणी को जब सुन्दर शिशु हो जाय, तब किसी के द्वारा यह प्रिय समाचार मेरे पास अवश्य भिजवाइयेगा।

कण्व—यह हम नहीं भूलेंगे।

शकुन्तला—(चलने में रुकावट-सा अनुभव करती हुई) अरे! यह मेरा पल्ला पकड़ कर कौन खींच रहा है? (पीछे घूमकर देखती है)

कण्व—वत्से! कुशा के काँटे से भिदे हुए जिसके मुँह को ठीक करने के लिए तू उस पर हिंगोट का तेल लगाया करती थी, वही तेरे हाथ के दिये हुए मुट्ठी-मुट्ठी भर साँवा के दानों पर पला हुआ तेरा पुत्र जैसा प्यारा हिरण मार्ग रोके हुए खड़ा है॥ १४॥

शकुन्तला—वत्स! मुझ साथ छोड़कर जानेवाली के पीछे-पीछे तू क्यों चला आ रहा है? तुझे जन्म देकर तेरी माँ जब मर गई थी, उस समय मैंने तुझे पाल-पोसकर बड़ा किया था। अब मेरे बाद पिताजी तेरी देखभाल करेंगे। जा, लौट जा। (रोती हुई आगे बढ़ती है)

कण्व—वत्से! धीरज धर और अपने आँसू पोंछ डाल। इन आँसुओं के कारण तेरी उभड़ी हुई बरौनियोंवाली आँखें ठीक से नहीं देख पातीं। अतएव यहाँ की ऊबड़-खाबड़ धरती पर तेरे पैर सीधे नहीं पड़ रहे हैं॥ १५॥

शार्ङ्गरव—भगवन्! मैंने सुना है कि प्रियजनों को विदा देते समय जलाशय तक पहुँचाकर लौट जाना चाहिए। अब सरोवर का तट आ गया है। अतः जो कुछ सन्देश कहलाना हो, वह यहीं कहकर आप लोग आश्रम को लौट जायें।

कण्वः— तेन हीमां क्षीरवृक्षच्छायामाश्रयामः।

(सर्वे परिक्रम्य स्थिताः)

कण्वः—(आत्मगतम्) किं नु खलु तत्रभवतो दुष्यन्तस्य युक्तरूपमस्माभिः सन्देष्टव्यम्। (इति चिन्तयति)

शकुन्तला—(जनान्तिकम्) हला! पेक्ख; णलिणीपत्तंतरिदं वि सहअरं अदेक्खंती आदुरा चक्कवाई आरडदि दुक्करं अहं करेमि त्ति तक्केमि। [हला! पश्य; नलिनीपत्रान्तरितमपि सहचरमपश्यन्त्यातुरा चक्रवाक्यारटति दुष्करमहं करोमीति तर्कयामि।]

अनसूया—सहि! मा एव्वं मंतेहि। [सखि! मैवं मन्त्रय।]

एसा वि पिएण विणा गमेइ रअणिं विसाअदीहअरं।
गरुअं पि विरहदुक्खं आसाबंधो सहावेदि॥ १६।

[एषाऽपि प्रियेण विना गमयति रजनीं विषाददीर्घतराम्।
गुर्वपि विरहदुःखमाशाबन्धः साहयति॥]

कण्वः—शार्ङ्गरव! इति त्वया मद्वचनात्स राजा शकुन्तलां पुरस्कृत्य वक्तव्यः।

शार्ङ्गरवः— आज्ञापयतु भवान्।

(तृतीयः श्लोकः)

कण्वः—अस्मान्साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मन-
स्त्वय्यस्याः कथमप्यबान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम्।
सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया
भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद्वाच्यं वधूबन्धुभिः॥ १७॥

कण्व—तो चलो, इस बरगद की छाया में थोड़ा बैठ लिया जाय।

(सभी जाकर बैठ जाते हैं)

कण्व—(मन ही मन) माननीय राजा दुष्यन्त के लिए कौन-सा सन्देश भेजना ठीक होगा। (सोचते हैं)

शकुन्तला—(सखी से अलग में) सखी! देख, कमलिनी के पत्ते की ओट में छिपे अपने चकवे को न देख पाने के कारण यह चकवी विकल होकर किस तरह चिल्ला रही है। अत: मैं जिस दुष्कर कार्य के लिए जा रही हूँ, वह पूरा नहीं होगा।

अनसूया—सखी! ऐसा नहीं सोचना चाहिए।

जानती हो, यह चकवी विरह की लम्बी रातें पति से बिछुडकर अकेली काट देती है। क्योंकि विरह के समय भी इसे यही आशा रहती है कि प्रात:काल तो मिलन होगा ही॥ १६॥

कण्व—शार्ङ्गरव! शकुन्तला को दुष्यन्त के हाथों सौंपते हुए मेरी ओर से कहना।

शार्ङ्गरव—हाँ, आज्ञा कीजिए।

कण्व—राजन्! कहाँ हमलोग सीधे-साधे संयमी तपस्वी और कहाँ आप उच्चकुल के राजा। तथापि आपने स्वतः इस कन्या से विवाह कर लिया है। इन सभी बातों को ध्यान में रखकर आप कम से कम दूसरी रानियों के समान तो शकुन्तला का आदर अवश्य कीजियेगा। इससे भी बढकर इसे जो सौभाग्य मिले, वह इसके भाग्य की बात है। उसके लिए हम कन्या के बान्धव लोग और कह ही क्या सकते हैं॥ १७॥

शार्ङ्गरवः—गृहीतः सन्देशः।

कण्वः—वत्से! त्वमिदानीमनुशासनीयाऽसि। वनौकसोऽपि सन्तो लौकिकज्ञा वयम्।

शार्ङ्गरवः—न खलु धीमतां कश्चिदविषयो नाम।

कण्वः—सा त्वमितः पतिकुलं प्राप्य—

(चतुर्थः श्लोकः)

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
पत्युर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥ १८॥

कथं वा गौतमी मन्यते?

गौतमी— एत्तिओ बहूजणस्स उवदेसो। जादे! एदं क्खु सव्वं ओधारेहि। [**एतावान्वधूजनस्योपदेशः। जाते! एतत्खलु सर्वमवधारय।**]

कण्वः—वत्से! परिष्वजस्व मां सखीजनञ्च।

शकुन्तला—ताद! इदो एव्व किं पिअंवदाअणसूआओ सहीओ णिवत्तिस्संति। [**तात! इत एव किं प्रियंवदाऽनसूये सख्यौ निवर्तिष्यन्ते?**]

कण्वः—वत्से! इमे अपि प्रदेये। न युक्तमनयोस्तत्र गन्तुम्। त्वया सह गौतमी यास्यति।

शकुन्तला—(पितरमाश्लिष्य) कहं दाणिं तादस्स अंकादो परिब्भट्टा मलअतरुम्मूलिआ चंदणलदा विअ देसंतरे जीविअं धारइस्सं? [**कथमिदानीं तातस्याङ्कात्परिभ्रष्टा मलयतरून्मूलिता चन्दनलतेव देशान्तरे जीवितं धारयिष्यामि।**]

शार्ङ्गरव—इस सन्देश को मैंने हृदयङ्गम कर लिया।

कण्व—वत्से! आओ, तुम्हें कुछ सीख देनी है। देखो, वन में रहते हुए भी सांसारिक व्यवहार से हमलोग भलीभाँति परिचित हैं।

शार्ङ्गरव—ऐसी कौन-सी बात है, जिसे बुद्धिमान् लोग न जानते हों।

कण्व—देखो! तुम यहाँ से अपने ससुराल पहुँचकर—

पति के घर के सभी बडे-बूढ़ों की सेवा करना। अपनी सौतों के साथ सखियों जैसा प्रेम करना। पति कदाचित निरादर भी करे तो क्रोध करके झगड़ा मत करना। अपने दास-दासियों को प्यार से रखना और अपने सौभाग्य पर इतराना नहीं। जो स्त्रियाँ घर में इस प्रकार व्यवहार करती हैं, वे ही सच्ची गृहणी होती हैं और जो इससे विपरीत काम करती हैं, वे खोटी स्त्रियाँ तो अपने कुल की व्याधि होती हैं॥ १८॥

क्यों गौतमी! तुम्हारा क्या विचार है?

गौतमी—कुल-वधुओं के लिए इससे बढकर और कौन-सा उपदेश होगा? वत्से! ये सभी बातें हृदयङ्गम कर लो।

कण्व—वत्से! आओ, मुझसे और अपनी सखियों से गले तो मिल लो।

शकुन्तला—तात! क्या प्रियंवदा-अनसूया ये दोनों सखियाँ यहीं से लौट जायेंगी?

कण्व—वत्से! अभी इनका भी तो विवाह करना है। इसलिए इनका वहाँ जाना उचित नहीं है। तेरे साथ तो गौतमी जा रही है।

कण्वः—वत्से! किमेवं कातरासि?

अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे
विभवगुरुभिः कृत्यैस्तस्य प्रतिक्षणमाकुला।
तनयमचिरात् प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं
मम विरहजां न त्वं वत्से! शुचं गणयिष्यसि॥ १९॥

(शकुन्तला पितुः पादयोः पतति)

कण्वः—यदिच्छामि ते तदस्तु।

शकुन्तला—(सख्यावुपेत्य) हला! दुवे वि मं समं एव्व परिस्सजह। [हला! द्वे अपि मां सममेव परिष्वजेथाम्।]

सख्यौ—(तथा कृत्वा) सहि! जइ णाम सो राआ पच्चहिण्णाणमंथरो भवे तदो से इमं अत्तणामहेअअंकिअं अंगुलीअअं दंसेहि। [सखि! यदि नाम स राजा प्रत्यभिज्ञानमन्थरो भवेत्ततस्तस्येद-मात्मनामधेयाङ्कितमङ्गुलीयकं दर्शय।]

शकुन्तला—इमिणा संदेहेण वो आकंपिद म्हि। [अनेन सन्देहेन वामाकम्पितास्मि।]

सख्यौ—मा भाआहि। सिणेहो पावसंकी। [मा भैषीः। स्नेहः पापशङ्की।]

शार्ङ्गरवः—युगान्तरमारूढः सविता। त्वरतामत्रभवती।

शकुन्तला—(आश्रमाभिमुखी स्थित्वा) ताद! कदा णु भूओ तवोवणं पेक्खिस्सं? [तात! कदा नु भूयस्तपोवनं प्रेक्षिष्ये?]

कण्वः—श्रूयताम्

शकुन्तला—(पिता के गले लगकर) पिता की गोद से अलग होकर मलयपर्वत से उखाडे हुए चन्दन के पौधों के समान मैं परदेश में कैसे जी सकूँगी?

कण्व—वत्से! तुम इतनी अधीर क्यों हो रही हो?

जब तुम ऊँचे कुलवाले पति की पटरानी बनकर उनके घर के कामकाज में दिन-रात लगी रहोगी; और जैसे पूर्व दिशा सूर्य को उत्पन्न करती है, वैसे ही जब पवित्र पुत्र उत्पन्न करोगी, उस समय तुम मेरे विछोह का सारा दुःख भूल जाओगी॥ १९॥

(शकुन्तला पिता के पैरों पर पड़ती है)

कण्व—तुम्हारे लिए मैं जो-जो चाहता हूँ, वह सब तुम्हें मिले।

शकुन्तला—(दोनों सखियों के पास जाकर) सखियो! आओ, तुम दोनों मेरे साथ गले लग जाओ।

सखियाँ—(गले लगकर) सखी! देखो, यदि राजा तुम्हें पहचानने में भूल करें तो यह उनके नाम की अँगूठी तुम उन्हें दिखला देना।

शकुन्तला—तुम्हारी इस सन्देह भरी बात ने तो मेरे मन में खटका उत्पन्न कर दिया है।

सखियाँ—नहीं-नहीं डरो मत। प्रेम में तो खटका होता ही है।

शार्ङ्गरव—दिन बहुत चढ आया है। अब शीघ्रता कीजिए।

शकुन्तला—(आश्रम की ओर मुँह करके) तात! अब मैं आश्रम को फिर कब देखूँगी?

कण्व—सुनो—

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्॥ २०॥

गौतमी—जादे! परिहीअदि गमणवेला। णिवत्तेहि पिदरं। अहवा चिरेण वि पुणो पुणो एसा एव्वं मंतइस्सदि। णिवृत्तदु भवं। [जाते! परिहीयते गमनवेला। निवर्तय पितरम्। अथवा चिरेणापि पुनः पुनरेषैवं मन्त्रयिष्यते। निवर्ततां भवान्।]

कण्वः—वत्से! उपरुध्यते तपोऽनुष्ठानम्।

शकुन्तला—(भूयः पितरमाश्लिष्य) तवच्चरणपीडिदं तादसरीरं, ता मा अदिमेत्तं मम किदे उक्कंठिदुं। [तपश्चरणपीडितं तातशरीरम्, तन्मातिमात्रं मम कृत उत्कण्ठितुम्।]

कण्वः—(सनिःश्वासम्)

शममेष्यति मम शोकः कथं नु वत्से! त्वया रचितपूर्वम्।
उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः॥ २१॥

गच्छ; शिवास्ते पन्थानः सन्तु।

(निष्क्रान्ता शकुन्तला सहयायिनश्च)

सख्यौ—(शकुन्तलां विलोक्य) हद्धी हद्धी। अंतलिहिदा सउंदला वणराईए। [हा धिक् हा धिक्। अन्तर्हिता शकुन्तला वनराज्या।]

कण्वः—(सनिःश्वासम्) अनसूये! गतवती वां सहधर्मचारिणी। निगृह्य शोकमनुगच्छतं मां प्रस्थितम्।

वहुत दिनों तक इस पृथिवी की सौत वनकर अपने अद्वितीय वीर पुत्र को राज्य तथा कुटुम्ब का भार सौंपने के वाद जव तुम अपने पति के साथ यहाँ आओगी, तव इस शान्त आश्रम में फिर सुख से रहना॥ २०॥

गौतमी—वत्से! विदाई की घड़ी बीती जा रही है। पिता जी को जाने दो। अथवा (कण्व से) आप अव लौट जायें, नहीं तो यह वहुत देर तक यों ही कुछ-न-कुछ कहती ही रहेगी।

कण्व—वत्से! अव जाओ। हमारे तपस्या के कर्मो में विलम्ब हो रहा है।

शकुन्तला—(फिर पिता के गले लगकर) आप तो तप के कारण ऐसे ही वहुत दुवले हो गये हैं। अतः आप मेरी वहुत अधिक चिन्ता न कीजियेगा।

कण्व—(लम्बी साँस लेकर)

वत्से! तुमने वलि के लिए जो तिन्नी के धान छींटे थे, उनके अंकुर जव तक कुटी के द्वार पर दिखलाई देते रहेंगे, तव तक मेरा शोक कैसे शान्त होगा?॥ २१॥

जाओ; तुम्हारा मार्ग मंगलमय हो।

(साथियों के साथ शकुन्तला चली जाती है)

दोनों सखियाँ—(शकुन्तला को देखकर) हाय, हाय! शकुन्तला तो वृक्षों की ओट में ओझल हो गई।

कण्व—(लम्बी साँस लेकर) अनसूया! तुम दोनों की सखी तो चली गयी। अव रोना-धोना छोड़ो और मेरे साथ लौट चलो।

उभे—ताद! सउंदलाविरहिदं सुण्णं विअ तवोवणं कहं पविसावो? [तात! शकुन्तलाविरहितं शून्यमिव तपोवनं कथं प्रविशावः?]

कण्वः—स्नेहप्रवृत्तिरेवंदर्शिनी। (सविमर्श परिक्रम्य) हन्त भोः! शकुन्तलां पतिकुलं विसृज्य लब्धमिदानीं स्वास्थ्यम्। कुतः—

अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा॥ २२॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

॥ इति चतुर्थोऽङ्कः ॥

दोनों—तात! शकुन्तला के बिना सूने आश्रम में हम कैसे चलेंगी?

कण्व—प्रेम में ऐसा ही होता है। (कुछ विचारते हुए घूमकर) ओह! शकुन्तला को पति के घर भेजकर मुझे राहत मिली। क्योंकि—

कन्या सचमुच पराया धन ही होती है। आज उसे पति के घर भेजकर मेरा मन वैसे ही निश्चिन्त हो गया है, जैसे किसी की धरोहर लौटा दी गयी हो॥ २२॥

(इस प्रकार सभी चले जाते हैं)

चौथा अङ्क समाप्त।

पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्यासनस्थो राजा विदूषकश्च)

विदूषकः—(कर्णं दत्त्वा) भो वअस्स! संगीतसालंतरे अवधाणं देहि। कलविसुद्धाए गोदीए सरसंजोओ सुणीअदि। जाणे तत्तहोदी हंसवदिआ वण्णपरिअअं करोदि त्ति। **[भो वयस्य! सङ्गीतशालान्तरेऽवधानं देहि। कलविशुद्धाया गीतेः स्वरसंयोगः श्रूयते। जाने तत्रभवती हंसपदिका वर्णपरिचयं करोतीति।]**

राजा— तूष्णीं भव। यावदाकर्णयामि।

(आकाशे गीयते)

अहिणवमहुलोलुवो भवं तह परिचुंबिअ चूअमंजरिं।
कमलवसइमेत्तणिव्वुदो महुअर! विम्हरिओ सि णं कहं॥ १ ॥

[अभिनवमधुलोलुपो भवाँस्तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम्।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर! विस्मृतोऽस्येनां कथम्॥]

राजा—अहो रागपरिवाहिनी गीतिः।

विदूषकः—किं दाव गीदीए अवगओ अक्खरत्थो। **[किं तावद् गीत्या अवगतोऽक्षरार्थः।]**

राजा—(स्मितं कृत्वा) सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः। तदस्या देवीवसुमतीमन्तरेण मदुपालम्भमवगतोऽस्मि। सखे माढव्य! मद्वचनादुच्यतां हंसपदिका—निपुणमुपालब्धोऽस्मीति।

विदूषकः—जं भवं आणवेदि। (उत्थाय) भो वअस्स! गहीदस्स ताए परकीएहिं हत्थेहिं सिहंडए ताडीअमाणस्स अच्छराए वीदराअस्स विअ णत्थि दाणिं मे मोक्खो। **[यद्भवानाज्ञापयति। भो वयस्य! गृहीतस्य तया परकीयैर्हस्तैः शिखण्डके ताड्यमानस्याप्सरसा वीतरागस्येव नास्तीदानीं मे मोक्षः।]**

(सिंहासन पर विराजमान राजा दुष्यन्त के साथ विदूषक का प्रवेश)

विदूषक—**(कान लगाकर)** सुनो, वयस्य! संगीतशाला की ओर कान लगाकर सुनो। कोई बड़े लय-ताल से अत्यन्त मीठे स्वरों में गीत गा रहा है। जान पड़ता है कि महारानी हंसपदिका स्वरसाधना कर रही हैं।

राजा—अच्छा तुम चुप हो जाओ तो सुनूँ।

(नेपथ्य में गायन हो रहा है)

हे नये-नये मधु के लोभी भ्रमर! तुम आम्रमंजरी का चुम्बन करके कमलवन में जा रमे और मुझ बेचारी को क्यों एकदम भूल गये ?॥ १ ॥

राजा—वाह, इस गीत में प्रेम की कैसी धारा बह रही है ?

विदूषक—किन्तु इस गीत का मतलब भी समझते हो ?

राजा—**(मुस्कराते हुए)** हाँ-हाँ समझ लिया। इस रानी से मैंने केवल एक ही बार प्रेम किया है। इसलिए आजकल मैं जो देवी वसुमती से प्रेम करने लगा हूँ, उसी पर ये छींटे कसे गये हैं। मित्र माधव्य! तुम जाकर मेरी ओर से हंसपदिका से कहो कि तुमने बडी मीठी चुटकी ली है।

राजा—गच्छ। नागरिकवृत्त्या संज्ञापयैनाम्।

विदूषकः—का गई ? [का गतिः ?] (इति निष्क्रान्तः)

राजा—(आत्मगतम्) किं नु खलु गीतार्थमाकर्ण्येष्टजनविरहादृतेऽपि बलवदुत्कण्ठितोऽस्मि। अथवा—

रम्याणि वीक्ष्य मधुराँश्च निशम्य शब्दान्पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥ २॥

(इति पर्याकुलस्तिष्ठति)

(ततः प्रविशति कञ्चुकी)

कञ्चुकी—अहो नु खल्वीदृशीमवस्थां प्रतिपन्नोऽस्मि।

आचार इत्यवहितेन मया गृहीता या वेत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञः।
काले गते बहुतिथे मम सैव जाता प्रस्थानविक्लवगतेरवलम्बनार्था॥ ३॥

भोः! कामं धर्मकार्यमनतिपात्यं देवस्य। तथापीदानीमेव धर्मासनादुत्थिताय पुनरुपरोधकारि कण्वशिष्यागमनमस्मै नोत्सहे निवेदितुम्। अथवाऽविश्रमोऽयं लोकतन्त्राधिकारः। कुतः—

भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः॥ ४॥

विदूषक—जैसी आपकी आज्ञा। (**उठकर**) किन्तु वयस्य! जैसे अप्सराओं के हाथों में पड़कर बड़े-बड़े वैरागी ऋषि नहीं छूट पाते, वैसे ही जब अपनी दासियों द्वारा मेरी चोटी पकड़वाकर वे मुझे पीटने लगेंगी, उस समय उनसे छुटकारा पाना मेरे लिए असम्भव हो जायेगा।

राजा—जाओ, चतुराई के साथ उन्हें यह सन्देश सुना देना।

विदूषक—तो क्या उपाय है, जाना ही पडेगा। (**चला जाता है**)

राजा—(**मन ही मन**) मेरे सभी सगे-सम्बन्धी पास ही हैं, फिर भी न जाने क्यों इस गीत को सुनकर मैं बहुत अनमना-सा हो रहा हूँ। अथवा—

सुन्दर वस्तुएँ देख और मीठे शब्द सुनकर जब सुखी लोग भी उदास हो जायें, तब यही समझना चाहिए कि उनके मन में पिछले जन्म के प्रेमियों के जो संस्कार बैठे हुए थे, वे ही जाग उठे हैं॥ २॥

(यह कहकर व्याकुल हो बैठ जाते हैं)

(तभी कंचुकी प्रवेश करता है)

कञ्चुकी—आह, मेरी भी क्या दशा हो चली है।

जिस बेंत की छडी को कभी मैं रनिवास के द्वारपालक का नियम समझकर हाथ में लिये रहता था, वही अब इस बुढापे में लड़खड़ाते पैरवाले बूढे का सहारा बन गयी है॥ ३॥

यह तो ठीक है कि महाराज को धर्मकार्य करना चाहिए। फिर भी वे अभी-अभी न्यायासन से उठकर गये हैं। अब उन्हें फिर से कष्ट देने के लिए जो ये कण्व के शिष्य आ धमके हैं। इनकी सूचना पहुँचाने की इच्छा नहीं होती, किन्तु प्रजा के शासनकार्य में विश्राम कहाँ ? क्योंकि—

सूर्य एक ही बार अपने घोड़े जोतकर निरंतर चल रहा है, पवन रात-दिन बहता रहता है और शेषनाग पृथ्वी के भार को अपने ऊपर सदा धारण किये रहते हैं। ठीक यही दशा उपज का छठा अंश लेनेवाले राजा की भी है॥ ४॥

यावन्नियोगमनुतिष्ठामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) एष देवः—

प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा निषेवते शान्तमना विविक्तम्।
यूथानि सञ्चार्य रविप्रतप्तः शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्रः॥५॥

(उपगम्य) जयतु जयतु देवः। एते खलु हिमगिरेरुपत्यकारण्यवासिनः कण्वसन्देशमादाय सस्त्रीकास्तपस्विनः सम्प्राप्ताः। श्रुत्वा देवः प्रमाणम्।

राजा—(सादरम्) किं कण्वसन्देशहारिणः ?

कञ्चुकी—अथ किम्।

राजा—तेन हि मद्वचनाद्विज्ञाप्यतामुपाध्यायः सोमरातः। अमूनाश्रमवासिनः श्रौतेन विधिना सत्कृत्य स्वयमेव प्रवेशयितुमर्हतीति। अहमप्येतांस्तपस्विदर्शनोचिते प्रदेशे स्थितः प्रतिपालयामि।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रान्तः)

राजा—(उत्थाय) वेत्रवति! अग्निशरणमार्गमादेशय।

प्रतीहारी—इदो इदो देवो। [इत इतो देवः।]

राजा—(परिक्रामति, अधिकारखेदं निरूप्य) सर्वः प्रार्थितमर्थमधिगम्य सुखी सम्पद्यते जन्तुः। राज्ञां तु चरितार्थता दुःखान्तरैव।

औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव।
नातिश्रमापनयनाय न च श्रमाय राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम्॥६॥

इसलिए चलकर मैं अपना कर्तव्य पालन करूँ। **(इधर-उधर देखकर)** ये महाराज—

अपनी सन्तान जैसी प्रजा का काम करके थक जाने पर यहाँ एकान्त में उसी प्रकार विश्राम कर रहे हैं, जैसे दिन की धूप से तपा हुआ गजराज हाथियों के झुण्ड को चरने के लिए छोड़कर स्वयं ठंढे स्थान में विश्राम करता है॥५॥

(पास जाकर) महाराज की जय हो, जय हो। हिमालय की तराई में रहनेवाले कुछ तपस्वी महर्षि कण्व का सन्देश लेकर स्त्रियों के साथ यहाँ आये हुए हैं। अब आप जैसा ठीक समझें वैसा करें।

राजा—**(आदर से)** क्या वे महर्षि कण्व का सन्देश लेकर आये हुए हैं ?

कञ्चुकी—जी हाँ !

राजा—तब कुलपुरोहित सोमरातजी को मेरी जबानी कहला दो कि वे इन आश्रमवासियों का वैदिक रीति से सत्कार करके इन्हें अपने ही साथ ले आयें। मैं भी तब तक उधर चलकर बैठता हूँ, जहाँ ऋषियों से भेंट की जाती है।

कञ्चुकी—जैसी महाराज की आज्ञा। **(चला जाता है)**

राजा—**(उठकर)** वेत्रवती! चलो, हमें यज्ञशाला का मार्ग दिखलाओ।

प्रतीहारी—इधर आइये महाराज, इधर।

राजा—**(घूमकर, राजकाज का दुःख दर्शाते हुए)** मन की साध पूरी हो जाने पर अन्य सभी जीवों को तो सुख मिलता है। किन्तु जब हम लोगों की राजा बनने की इच्छा पूरी हो जाती है, तब केवल कष्ट ही हाथ लगता है।

राजा बनकर प्रतिष्ठा पा लेने से मन की उमंग तो पूरी हो जाती है, किन्तु जब राज्य का पालन करना पड़ता है तब कष्ट का अन्त नहीं रहता। इसलिए राज्य उस छतरी के समान है, जिसकी मूठ अपने हाथ में ले लेने पर थकावट ही अधिक होती है और आराम कम मिलता है॥६॥

(नेपथ्ये)

वैतालिकौ—विजयतां देवः।

प्रथमः—

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्॥७॥

द्वितीयः—

नियमयसि विमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय।
अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम्॥८॥

राजा— एते क्लान्तमनसः पुनर्नवीकृताः स्मः। (इति परिक्रामति)

प्रतीहारी— एसो अहिणवसम्मज्जणसस्सिरीओ सण्णिहिदहोमधेणू अग्गिसरणालिंदो। आरोहदु देवो। [एषोऽभिनवसम्मार्जनसश्रीकः सन्निहितहोमधेनुरग्निशरणालिन्दः। आरोहतु देवः।]

राजा—(आरुह्य परिजनांसावलम्बी तिष्ठति) वेत्रवति! किमुद्दिश्य भगवता कण्वेन मत्सकाशमृषयः प्रेषिताः स्युः?

किं तावद् व्रतिनामुपोढतपसां विघ्नैस्तपो दूषितं
धर्मारण्यचरेषु केनचिदुत प्राणिष्वसच्चेष्टितम्।
आहोस्वित्प्रसवो ममापचरितैर्विष्टम्भितो वीरुधा-
मित्यारूढबहुप्रतर्कमपरिच्छेदाकुलं मे मनः॥९॥

(नेपथ्य में)

दो वैतालिक—महाराज की जय हो।

पहला—अपने सुख की इच्छा छोड़कर आप नित्य प्रजा की भलाई में लगे रहते हैं। और ऐसा करके आप अपना धर्म ही पाल रहे हैं। क्योंकि वृक्ष अपने सिर पर कड़ी धूप सहता हुआ भी अपने नीचे बैठे हुए जीवों को छाया ही देता है॥७॥

दूसरा—आप अपने राजदण्ड से दुष्टों को ठीक रखते हैं और सबके आपसी झगडे मिटाकर प्रजा की रक्षा करते हैं। प्रजा में धनी लोगों के बहुत से सगे-सम्बन्धी होते हैं, किन्तु साधारण प्रजाजनों के तो बन्धु-बान्धव सभी कुछ एकमात्र आप ही हैं॥८॥

राजा—मेरा उदास मन इनकी बातें सुनकर फिर से हरा हो गया। (**चारों ओर घूमते हैं**)

प्रतीहारी—यह झाड़-बुहारकर स्वच्छ की हुई यज्ञशाला की बैठक है, जहाँ पास ही हवन के लिए घी-दूध देनेवाली गायें बँधी हुई हैं। महाराज इसी पर विराजमान हों।

राजा—(**चढ़कर परिचारकों के कन्धों के सहारे खडा होता है**) वेत्रवती! भगवान् कण्व ने इन ऋषियों को मेरे पास किसलिए भेजा होगा?

कहीं उपद्रवी राक्षसों ने बहुत प्रकार की तपस्या करनेवाले इन ऋषियों के तप में तो बाधा नहीं डाल दी है? या कहीं कोई तपोवन के प्राणियों को तो नहीं सता रहा है? या कहीं मेरे पापों के कारण तपोवन की लताओं और वृक्षों का फलना-फूलना तो नहीं बन्द हो गया है? मेरे मन में अनेक प्रकार की ऐसी-ऐसी आशंकाएँ उठ रही हैं कि कुछ ठीक-ठीक समझ न पाने के कारण हृदय में बड़ी खलबली मची हुई है॥९॥

प्रतीहारी— सुचरिदणंदिणो इसीओ देवं सभाजइदुं आअदेत्ति तक्केमि। [सुचरितनन्दिन ऋषयो देवं सभाजयितुमागता इति तर्कयामि।]

(ततः प्रविशन्ति गौतमीसहिताः शकुन्तलां पुरस्कृत्य मुनयः, पुरश्चैषां कञ्चुकी पुरोहितश्च)

कञ्चुकी—इत इतो भवन्तः।

शार्ङ्गरवः—शारद्वत!

महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरसौ
न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते।
तथापीदं शश्वत्परिचितविविक्तेन मनसा
जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव॥ १०॥

शारद्वतः—स्थाने भवान्पुरप्रवेशादित्थम्भूतः संवृतः। अहमपि—

अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम्।
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवैमि॥ ११॥

शकुन्तला—(निमित्तं सूचयित्वा) अम्महे! किं मे वामेदरं णअणं विप्फुरदि? [अहो! किं मे वामेतरं नयनं विस्फुरति?]

गौतमी—जादे! पडिहदं अमंगलं! सुहाइं दे भत्तुकुलदेवदाओ वितरंदु। [जाते! प्रतिहतममङ्गलम्। सुखानि ते भर्तृकुलदेवताः वितरन्तु।] (इति परिक्रामति)

पुरोहितः—(राजानं निर्दिश्य) भो भोस्तपस्विनः! असावत्रभवान् वर्णाश्रमाणां रक्षिता प्रागेव मुक्तासनो वः प्रतिपालयति। पश्यतैनम्।

प्रतीहारी—ऐसा मालूम होता है कि ये ऋषि लोग महाराज के अच्छे कामों से प्रसन्न होकर बधाई देने के लिए आये होंगे।

(तदनन्तर शकुन्तला को आगे किये हुए गौतमी के साथ ऋषियों का प्रवेश। उनके आगे कञ्चुकी और पुरोहित हैं)

कञ्चुकी—आप लोग, इधर से आइए इधर से।

शार्ङ्गरव—शारद्वत!

मै मानता हूँ कि ये राजा इतने धर्मात्मा हैं कि कभी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते और इनके राज्य में जो नीच-से-नीच वर्ण के लोग हैं, वे भी कभी कोई अधर्म का काम नहीं करते, किन्तु इतने लोगों से भरे हुए इस आँगन को देखकर ऐसा ज्ञात होता है कि मानों यहाँ आग की लपटें उठी हुई हैं। अकेले में रमनेवाला मेरा मन तो ऐसा करता है कि अभी यहाँ मे भाग जाऊँ॥ १०॥

शारद्वत—नगर में आने पर ऐसा ही लगता होगा, और मैं भी—

सांसारिक भोगों में लिप्त यहाँ वालों को वैसा ही हीन समझता हूँ जैसे कि नहाया हुआ व्यक्ति तेल लगाये हुए मनुष्य को, पवित्र अपवित्र को, जागता हुआ सोते हुए को तथा स्वतन्त्र व्यक्ति बँधे हुए को हीन समझता है॥ ११॥

शकुन्तला—(**अपशकुन का प्रदर्शन कर**) हैं! मेरी दाहिनी आँख क्यों फड़कने लग गयी?

गौतमी—पुत्री! तेरे असगुन दूर हों, तेरे पतिकुल के देवता तुझे सुख दें। (**घूमती है**)

पुरोहित—(**राजा को दिखलाकर**) तपस्वियो! देखिए, वर्णाश्रमधर्म का पालन करने वाले महाराज पहले से ही आसन छोड़कर खड़े-खड़े आप लोगों के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इन्हें देखिए।

शार्ङ्गरवः—भो महाब्राह्मण! काममेतदभिनन्दनीयं तथापि वमयत्र मध्यस्थाः। कुतः—

भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमैर्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणम्॥ १२॥

प्रतिहारी—देव! पसण्णमुहवण्णा दीसंति। जाणामि विसद्धकज्जा इसीओ। [देव! प्रसन्नमुखवर्णा दृश्यन्ते। जानामि विश्रब्धकार्या ऋषयः।]

राजा—(शकुन्तलां दृष्ट्वा) अथात्रभवती—

का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्॥ १३॥

प्रतिहारी—देव! कुतूहलगब्भोपहिदो ण मे तक्को पसरदि। णं दंसणीआ उण से आकिदी लक्खीअदि। [देव! कूतूहलगर्भोपहितो न मे तर्कः प्रसरति। ननु दर्शनीया पुनरस्या आकृतिर्लक्ष्यते।]

राजा— भवतु; अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्।

शकुन्तला—(हस्तमुरसि कृत्वा, आत्मगतम्) हिअअ! किं एव्वं वेवसि? अज्जउत्तस्स भावं ओहारिअ धीरं दाव होहि। [हृदय! किमेवं वेपसे? आर्यपुत्रस्य भावमवधार्य धीरं तावद्भव।]

पुरोहितः—(पुरो गत्वा) एते विधिवदर्चितास्तपस्विनः। कश्चिदेषामुपाध्यायसन्देशः। तं देवः श्रोतुमर्हति।

राजा—अवहितोऽस्मि।

ऋषयः—(हस्तानुद्यम्य) विजयस्व राजन्।

शार्ङ्गरव—राजपुरोहित! माना कि महाराज प्रशंसा के योग्य हैं, किन्तु हम इसे कोई नयी बात नहीं समझते। क्योंकि—

फल लगने पर पेड़ झुक जाते हैं, नये जल से भरे हुए बादल नीचे आ जाते हैं और सज्जन लोग धन पाकर नम्र हो जाते हैं। यह तो परोपकारियों का स्वभाव ही होता है॥ १२॥

प्रतीहारी—महाराज! ये ऋषि लोग बडे प्रसन्न दीख रहे हैं। इसलिए ऐसा लगता है कि ये लोग किसी अच्छे काम से ही यहाँ आए हैं।

राजा—(शकुन्तला को देखकर) ये देवी कौन हैं?—

इन तपस्वियों के बीच पीले पत्तों में नई कोपल के समान दीखनेवाली यह कौन हो सकती है, जिसकी सुन्दरता घूँघट के कारण भली प्रकार नहीं दीखती॥ १३॥

प्रतीहारी—महाराज मैं भी यही जानने को उतावली हूँ, किन्तु ठीक-ठीक कुछ समझ में नहीं आ रहा है। किन्तु इसकी सुन्दर आकृति दर्शनीय है।

राजा—हुआ करे, पराई स्त्री पर आँख नहीं उठानी चाहिए।

शकुन्तला—(हृदय पर हाथ धरकर, मन ही मन) मेरे हृदय! इस प्रकार काँप क्यों रहे हो? आर्यपुत्र के प्रेम का ध्यान करके धीरज धरो।

पुरोहित—(आगे बढ़कर) महाराज! इन तपस्वियों का विधिवत् सत्कार हो चुका है। ये अपने गुरुजी का कोई सन्देश लाये हैं, उसे आप सुन लें।

राजा—आप लोग वह सन्देश कहें, मैं सुन रहा हूँ।

ऋषिगण—(हाथ उठाकर) महाराज की विजय हो।

राजा—सर्वानभिवादये।

ऋषयः—इष्टेन युज्यस्व।

राजा—अपि निर्विघ्नतपसो मुनयः।

ऋषयः—

कुतो धर्मक्रियाविघ्नः सतां रक्षितरि त्वयि।
तमस्तपति घर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति॥ १४॥

राजा—अर्थवान्खलु मे राजशब्दः। अथ भगवाँल्लोकानुग्रहाय कुशली कण्वः।

ऋषयः—स्वाधीनकुशलाः सिद्धिमन्तः। स भवन्तमनामयप्रश्नपूर्वकमिदमाह।

राजा— किमाज्ञापयति भगवान्?

शार्ङ्गरवः—यन्मिथः समयादिमां मदीयां दुहितरं भवानुपायँस्त तन्मया प्रीतिमता युवयोरनुज्ञातम्। कुतः—

त्वमर्हतां प्राग्रसरः स्मृतोऽसि नः शकुन्तला मूर्तिमती च सत्क्रिया।
समानयँस्तुल्यगुणं वधूवरं चिरस्य वाच्यं न गतः प्रजापतिः॥ १५॥

तदिदानीमापन्नसत्त्वेयं प्रतिगृह्यतां सहधर्मचरणायेति।

गौतमी— अज्ज! किंपि वत्तुकाम म्हि। ण मे वअणावसरो अत्थि। कहं त्ति। [**आर्य! किमपि वक्तुकामास्मि। न मे वचनावसरोऽस्ति। कथमिति।**]

णावेक्खिओ गुरुअणो इमाइ तुए पुच्छिदो ण बंधुअणो।
एक्कक्कमेव्व चरिए भणामि किं एक्कमेक्कस्स॥ १६॥

राजा—मैं आप सबको प्रणाम करता हूँ।

ऋषिगण—आपका मनोरथ पूर्ण हो।

राजा—कहिए, ऋषियों की तपस्या में कोई विघ्न-बाधा तो नहीं आती?

ऋषिगण—जहाँ आप जैसे राजा पृथ्वी की रक्षा करते हों, वहाँ सज्जनों के धर्म-कार्य में विघ्न कौन डालेगा? सूर्य के चमकते रहने पर भला कहीं अँधेरा भी रह सकता है?॥ १४॥

राजा—आज मेरा राजा कहलाना सार्थक हुआ। अच्छा यह तो बताइये कि संसार का कल्याण करने के लिए तत्पर भगवान् कण्व तो सकुशल हैं?

ऋषिगण—कुशलता तो ऐसे सिद्ध पुरुषों के अधीन रहती है। उन्होंने आपका कुशल पूछते हुए कहा है।

राजा—हाँ, भगवान् कण्व की क्या आज्ञा है?

शार्ङ्गरव—उन्होंने कहलाया है कि आपने जो मेरी कन्या से गुपचुप विवाह कर लिया है, उसे मैं प्रसन्न होकर स्वीकार करता हूँ। क्योंकि—

आप आदरणीय व्यक्तियों में सबसे श्रेष्ठ हैं और शकुन्तला पुण्यकर्म की मूर्ति है। आज बहुत दिनों बाद ब्रह्मा ने एक जैसे गुणवाले वर-वधू की जोड़ी मिलाकर अपने को दोषी कहलाने से बचा लिया है॥ १५॥

अब आप इस गर्भवती को अपनी धर्मपत्नी बनाकर घर में शरण दीजिये।

गौतमी—आर्य! मैं भी कुछ कहना चाहती हूँ। यद्यपि मुझे आप लोगों के बीच में कुछ भी बोलना नहीं चाहिए। क्योंकि—

[नापेक्षितो गुरुजनोऽनया त्वया पृष्टो न बन्धुजनः।
एकैकमेव चरिते भणामि किमेकमेकस्य॥]

शकुन्तला—(आत्मगतम्) किं णु क्खु अज्जउत्तो भणादि ? [किं नु खल्वार्यपुत्रो भणति ?]

राजा—किमिदमुपन्यस्तम् ?

शकुन्तला—(आत्मगतम्) पावओ क्खु वअणोवण्णासो। [पावकः खलु वचनोपन्यासः।]

शार्ङ्गरवः— कथमिदं नाम ? भवन्त एव सुतरां लोकवृत्तान्तनिष्णाताः।

सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते।
अतः समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः॥ १७॥

राजा—किं चात्रभवती मया परिणीतपूर्वा ?

शकुन्तला—(सविषादम्, आत्मगतम्) हिअअ ! संपदं दे आसंका। [हृदय ! साम्प्रतं ते आशङ्का।]

शार्ङ्गरवः—

किं कृतकार्यद्वेषी धर्मं प्रति विमुखता कृतावज्ञा।

राजा—कुतोऽयमसत्कल्पनाप्रश्नः ?

शार्ङ्गरवः—

मूर्च्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तेषु॥ १८॥

राजा—विशेषेणाक्षिप्तोऽस्मि।

न तो इसी ने अपने वड़ों से कुछ कहा-सुना, न आपने ही इसके सगे-सम्वन्धियों से कुछ पूँछा-जाँचा। अतएव जब आप लोगों ने आपस में ही सब कुछ कर डाला, तव मैं आप दोनों को क्या कहूँ॥ १६॥

शकुन्तला—(**मन ही मन**) देखें, इस वात पर आर्यपुत्र क्या कहते हैं ?

राजा—आप लोग यह क्या कह रहे हैं ?

शकुन्तला—(**मन ही मन**) इनकी वात का आरम्भ तो आग उगल रहा है।

शार्ङ्गरव—ऐसा क्यों कह कर रहे हैं ? आप तो लोकाचार की सभी बातें जानते हैं।

जो सुहागिन स्त्री अपने पिता के घर में रहती है, वह चाहे जितनी पतिव्रता हो, फिर भी उसके सम्वन्ध में लोग बड़ी उल्टी-सीधी वातें उड़ा दिया करते हैं। इसलिए वह युवती चाहे सबकी दुलारी ही क्यों न हो, पर उसके भाई-बन्धु सदा यही चाहते हैं कि वह अपने पति के साथ रहे॥ १७॥

राजा—क्या इन देवी के साथ कभी मेरा विवाह हो चुका है ?

शकुन्तला—(**दुःखी होकर, मन ही मन**) हृदय ! तुम्हें जो खटका था, अब वह आगे आ रहा है।

शार्ङ्गरव—क्या अव आपको अपनी करतूत पर पछतावा होता है या आप कर्त्तव्य से भाग रहे हैं अथवा जान-बूझकर अपने किये हुए कर्म को भुला देना चाहते हैं ?

राजा—आपने यह कैसी वेसिर-पैर की बातें छेड दी हैं ?

शार्ङ्गरव—जो ऐश्वर्य से मतवाले हो जाते हैं, वे प्रायः ऐसे ही खोटे काम करते हैं॥ १८॥

राजा—आप लोग मुझपर बहुत बड़ा लांछन लगा रहे हैं।

गौतमी—जादे ! मुहुत्तअं मा लज्ज। अवणइस्सं दाव दे ओउंठणं। तदो तुमं भट्टा अहिजाणिस्सदि। [जाते मुहूर्तं मा लज्जस्व। अपनेष्यामि तावत्तेऽवगुण्ठनम्। ततस्त्वां भर्ताऽभिज्ञास्यति।] (इति यथोक्तं करोति)

राजा—(शकुन्तलां निर्वर्ण्य आत्मगतम्)

इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेत्यध्यवस्यन्।
भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारं न च खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोमि हातुम्॥ १९॥

(इति विचारयन्स्थितः)

प्रतीहारी—(स्वगतम्) अहो धम्मावेक्खिआ भट्टिणो। ईदिसं णाम सुहोवणदं रूवं देक्खिअ को अण्णो विआरेदि ? [अहो धर्मावेक्षिता भर्तुः। ईदृशं नाम सुखोपनतं रूपं दृष्ट्वा कोऽन्यो विचारयति ?]

शार्ङ्गरवः—भो राजन् ! किमिति जोषमास्यते ?

राजा—भोस्तपोधनाः ! चिन्तयन्नपि न खलु स्वीकरणमत्रभवत्याः स्मरामि। तत्कथमिमामभिव्यक्तसत्त्वलक्षणां प्रत्यात्मानं क्षेत्रिणमाशङ्कमानः प्रतिपत्स्ये ?

शकुन्तला—(अपवार्य) अज्जस्स परिणए एव्व संदेहो। कुदो दाणिं मे दूरादिरोहिणी आसा ? [आर्यस्य परिणय एव सन्देहः। कुत इदानीं मे दूराधिरोहिण्याशा ?]

शार्ङ्गरवः—मा तावत्—

कृताभिमर्शामनुमन्यमानः सुतां त्वया नाम मुनिर्विमान्यः।
मुष्टं प्रतिग्राहयता स्वमर्थं पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन॥ २०॥

गौतमी—वत्से ! थोड़ी देर के लिए लाज छोड़ दो। आओ, मै तुम्हारा घूँघट उठा दूँ। जिससे तुम्हारे पति तुम्हें पहचान लें। (**घूँघट हटा देती है**)

राजा—(**शकुन्तला को देखकर, मन ही मन**)

मैं निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ कि यह जो अत्यन्त रूपवती सुन्दरी यहाँ अपने आप आ पहुँची है, इसके साथ मैंने पहले कभी विवाह किया भी है या नहीं। इसीलिए जैसे प्रातःकाल की ओस पड़े हुए कुन्द के फूल पर भौंरा न तो बैठता ही है न उसे छोड़ता ही है। वैसे ही मैं भी न तो इसे ग्रहण ही कर सकता हूँ और न छोड़ ही पा रहा हूँ॥ १९॥

(**यह विचार करते हुए बैठ जाता है**)

प्रतीहारी—(**स्वगत**) हमारे महाराज धर्म का कितना ध्यान रखते हैं। नहीं तो, अपने आप प्राप्त ऐसे रूप को पाकर भला कौन इतना सोचेगा ?

शार्ङ्गरव—महाराज ! आप चुप क्यों हो गये ?

राजा—तपस्वियो ! बार-बार स्मरण करने पर भी मुझे इस देवी के साथ विवाह करने की बात स्मरण ही नहीं आती। तब बताइये कि गर्भवती के स्पष्ट लक्षणोंवाली इस देवी को स्वीकार करके दूसरे का गर्भधारण करनेवाली स्त्री का पति कहलाने का अपजस मैं कैसे ले सकता हूँ ?

शकुन्तला—(**अलग से**) जब इन्हें विवाह में ही सन्देह हो रहा है, तब मैंने जो बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँध रखी थीं, उनका फिर ठिकाना ही कहाँ है ?

शार्ङ्गरव—हाँ-हाँ, मत स्वीकार करो।

तुम्हें ऋषि का अपमान करना ही चाहिए। क्योंकि उन्होंने तुम्हारे साथ यह भलमनसाहत की

शारद्वतः—शार्ङ्गरव! विरम त्वमिदानीम्। शकुन्तले! वक्तव्यमुक्तमस्माभिः। सोऽयमत्र-भवानेवमाह। दीयतामस्मै प्रत्ययप्रतिवचनम्।

शकुन्तला—(स्वगतम्) इमं अवत्थंतरं गदे तारिसे अणुराए किं वा सुमराविदेण। अत्ता दाणिं मे सोअणीओ त्ति ववसिदं एदं। (प्रकाशम्) अज्जउत्त! (इत्यर्धोक्ते-) संसइदे दाणिं ण एसो समुदाआरो। पोरव! ण जुत्तं णाम दे तह पुरा अस्समपदे सहावुत्ताणहिअअं इमं जणं समअपुव्वं पतारिअ ईदिसेहिं अक्खरेहिं पच्चाचक्खिदुं। [**इदमवस्थान्तरं गते तादृशेऽनुरागे किं वा स्मारितेन? आत्मेदानीं मे शोचनीय 'इति व्यवसितमेतत्। आर्यपुत्र! संशयित इदानीं नैष समुदाचारः। पौरव! न युक्तं नाम ते तथा पुराऽऽश्रमपदे स्वभावोत्तानहृदयमिमं जनं समयपूर्वं प्रतार्येदृशैरक्षरैः प्रत्याख्यातुम्।**]

राजा—(कर्णौ पिधाय)शान्तं पापम्।

व्यपदेशमाविलयितुं किमीहसे जनमिमं च पातयितुम्।
कूलङ्कषेव सिन्धुः प्रसन्नमम्भस्तटतरुं च॥ २१॥

शकुन्तला—होदु; जइ परमत्थतो परपरिग्गहसंकिणा तुए एव्वं वत्तुं पउत्तं ता अहिण्णाणेण इमिणा तुह आसंकं अवणइस्सं। [**भवतु; यदि परमार्थतः परपरिग्रहशङ्किना त्वयैवं वक्तुं प्रवृत्तं तदभिज्ञानेनानेन तवाशङ्कामपनेष्यामि।**]

राजा—उदारः कल्पः।

शकुन्तला—(मुद्रास्थानं परामृश्य) हद्धी हद्धी, अंगुलीअअसुण्णा मे अंगुली। [**हा धिक् हा धिक्, अङ्गुलीयकशून्या मेऽङ्गुलिः।**] (इति सविषादं गौतमीमवेक्षते)

गौतमी—णूणं दे सक्कावदारब्भंतरे सचीतित्थसलिलं वंदमाणाए पब्भट्टं अंगुलीअअं। [**नूनं ते शक्रावताराभ्यन्तरे शचीतीर्थसलिलं वन्दमानायाः प्रभ्रष्टमङ्गुलीयकम्।**]

है कि उनकी जिस कन्या को तुमने छल से दूषित कर दिया है, उसे वे तुम्हें योग्य पात्र समझकर इसी प्रकार सौंप रहे हैं, जैसे कोई अपनी चोरी गई हुई वस्तु मिल जाने पर फिर चोर को ही लौटा दे॥ २०॥

शारद्वत—अच्छा शार्ङ्गरव! अब तुम चुप हो जाओ। शकुन्तला! हमें जो कहना था, सो कह चुके। राजा जो कह रहे हैं, वह सुन ही लिया। अब तुम्हीं इनको विश्वास दिलाओ।

शकुन्तला—(मन ही मन) जब बात यहाँ तक बढ गयी है, तब मैं इन्हें उस प्रेम की याद दिलाकर ही क्या करूँगी। अब तो मुझे अपने आपको ही कोसना है। **(प्रकट)** आर्यपुत्र! **(आधा कहकर रुक जाती है)** पर जब इन्हें विवाह में ही सन्देह है, तब ऐसा सम्बोधन करना अनुपयुक्त है। हे पौरव! आश्रम में मुझ भोली-भाली को अपनी मीठी-मीठी बातों के जाल में फँसाकर अब इस तरह मेरा अपमान करना आपको शोभा नहीं देता।

राजा—(कान बन्दकर) शिव! शिव! तुम यह क्या कह रही हो?

अपने स्वच्छ जल को गन्दा करने के लिए तटवर्ती वृक्षों को ढाहने और तट को बहा ले जानेवाली नदी की भाँति तुम अपना कुल कलंकित करके मुझे भी क्यों विनाश की ओर ले जाना चाहती हो?॥ २१॥

शकुन्तला—अच्छा, यदि आप सचमुच मुझे पराई स्त्री समझते हैं तो मैं यह पहचान दिखलाकर आपका सन्देह दूर करती हूँ।

राजा—हाँ, दिखलाइए।

शकुन्तला—(अँगुली टटोलकर) हाय-हाय, मेरी अँगुली से अँगूठी कहाँ गायब हो गई?

(रुआँसी जैसी होकर गौतमी की ओर निहारती है)

राजा—(सस्मितम्) इदं तत्प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणमिति यदुच्यते।

शकुन्तला—एत्थ दाव विहिणा दंसिदं पहुत्तणं। अवरं दे कहिस्सं। [**अत्र तावद्विधिना दर्शितं प्रभुत्वम्। अपरं ते कथयिष्यामि।**]

राजा—श्रोतव्यमिदानीं संवृत्तम्।

शकुन्तला—णं एक्कस्सिं दिअहे णोमालिआमंडवे णलिणीपत्तभाअणगअं उअअं तुह हत्थे संणिहिदं आसि। [**नन्वेकस्मिन्दिवसे नवमालिकामण्डपे नलिनीपत्रभाजनगतमुदकं तव हस्ते सन्निहितमासीत्।**]

राजा—शृणुमस्तावत्।

शकुन्तला—तक्खणं सो मे पुत्तकिदओ दीहापंगो णाम मिअपोदओ उवट्ठिदो। तुए अअं दाव पढमं पिअउ त्ति अणुअंपिणा उवच्छंदिदो उअएण। ण उण दे अपरिचआदो हत्थब्भासं उवगदो। पच्छा तस्सिं एव्व मए गहिदे सलिले णेण किदो पणओ। तदा तुमं इत्थं पहसिदो सि—सव्वो सगंधेसु विस्ससिदि। दुवेवि एत्थ आरण्णआत्ति। [**तत्क्षणं स मे पुत्रकृतको दीर्घापाङ्गो नाम मृगपोतक उपस्थितः। त्वयायं तावत्प्रथमं पिबत्वित्यनुकम्पिनोपच्छन्दित उदकेन। न पुनस्तेऽपरिचयाद्धस्ताभ्यासमुपगतः। पश्चात्तस्मिन्नेव मया गृहीते सलिलेऽनेन कृतः प्रणयः। तदा त्वमित्थं प्रहसितोऽसि—सर्वः सगन्धेषु विश्वसिति। द्वावप्यत्रारण्यकाविति।**]

राजा—एवमादिभिरात्मकार्यनिर्वर्तिनीनामनृतमयवाङ्मधुभिराकृष्यन्ते विषयिणः।

गौतमी—महाभाअ ! ण अरुहसि एव्वं मंतिदुं। तवोवणसंवड्ढिदो अणभिण्णो अअं जणो कइदवस्स। [**महाभाग! नार्हस्येवं मन्त्रयितुम्। तपोवनसंवर्धितोऽनभिज्ञोऽयं जनः कैतवस्य।**]

गौतमी—ऐसा लगता है कि शक्रावतार में शचीतीर्थ के जल को प्रणाम करते समय तुम्हारी अँगूठी निकल गई।

राजा—(**मुस्कराकर**) इसी को स्त्रियों की प्रतिभा कहते हैं।

शकुन्तला—यहाँ भी मेरे दुर्भाग्य ने मेरा पीछा नहीं छोड़ा। अच्छा, मैं अब दूसरी बात बताती हूँ।

राजा—अच्छा कहो, उसे भी सुनना पडेगा।

शकुन्तला—स्मरण कीजिये, एक दिन आप नवमालिका के कुञ्ज में अपने हाथों में पानी से भरा कमल के पत्ते का दोना लिए खड़े थे।

राजा—और कहें, मैं सुन रहा हूँ।

शकुन्तला—इतने में ही वहाँ मेरा पुत्र सदृश पालित दीर्घापांग नाम का मृग-छौना आ पहुँचा। तब आपने उस पर दया करके कहा—'पहले इसे जल पी लेने दो'। यह कहकर आप उसे जल पिलाने लगे। पर अपरिचित होने के कारण वह आपके पास नहीं गया। तब आपके हाथ से दोना मैंने ले लिया और वह मेरे हाथ से जल पीने लगा। तब आपने हँसकर कहा कि अपने सगे-सम्बन्धियों को सब पहचानते हैं। तुम दोनों ही वनवासी हो न !

राजा—अपना काम साधनेवाली स्त्रियों की ऐसी झूठी और मीठी-मीठी बातों में केवल कामी लोग ही फँसते हैं।

गौतमी—महाभाग ! आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए। तपोवन में पली हुई और विषय-वासना से अनभिज्ञ कन्या भला छल-कपट की बात क्या जाने।

राजा—तापसवृद्धे !

स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु सन्दृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः ।
प्रागन्तरिक्षगमनात् स्वमपत्यजातमन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति ॥ २२ ॥

शकुन्तला—(सरोषम्) अणज्ज ! अत्तणो हिअआणुमाणेण पेक्खसि। को दाणिं अण्णो धम्मकंचुअप्पवेसिणो तिणच्छण्णकूवोवमस्स तव अणुकिदिं पडिवदिस्सदि ? [**अनार्य ! आत्मनो हृदयानुमानेन प्रेक्षसे। क इदानीमन्यो धर्मकञ्चुकप्रवेशिनस्तृणच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रपिपत्स्यते ?**]

राजा—(आत्मगतम्) सन्दिग्धबुद्धिं मां कुर्वन्नकैतव इवास्याः कोपो लक्ष्यते। तथा ह्यनया—

मय्येव विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ वृत्तं रहः प्रणयमप्रतिपद्यमाने।
भेदाद् भ्रुवोः कुटिलयोरतिलोहिताक्ष्या भग्नं शरासनमिवातिरुषा स्मरस्य ॥ २३ ॥

(प्रकाशम्) भद्रे ! प्रथितं दुष्यन्तस्य चरितम्। तथापीदं न लक्षये।

शकुन्तला—सुट्ठु दाव अत्त सच्छंदचारिणी किदम्हि, जा अहं इमस्स पुरवंसप्पच्चएण मुहमहुणो हिअअट्ठिअविसस्स हत्थब्भासं उवगदा। [**सुष्ठु तावदत्र स्वच्छन्दचारिणी कृताऽस्मि, याऽहमस्य पुरुवंशप्रत्ययेन मुखमधोर्हृदयस्थितविषस्य हस्ताभ्याशमुपगता।**] (इति पटान्तेन मुखमावृत्य रोदिति)

शार्ङ्गरवः—इत्थमात्मकृतं प्रतिहतं चापलं दहति।

अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्सङ्गतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम् ॥ २४ ॥

राजा—वृद्ध तपस्विनी !

अमानवी स्त्रियाँ भी बिना सिखाए-पढाए बड़ी चतुर होती हैं, फिर ऐसी समझदार स्त्रियों का क्या कहना। जब तक कोयल के बच्चे उडना नहीं सीख जाते, तब तक वह उनका पालन दूसरे पक्षियों (कौओं) से ही कराती हैं ॥ २२ ॥

शकुन्तला—**(क्रोध से)** अनार्य ! तुम अपने ही हृदय के समान सबके हृदय को खोटा समझते हो ? तुम्हारे सिवाय और कौन ऐसा होगा, जो घास-फूस से ढके हुए कुएँ जैसे धर्म का ढोंग रचकर ऐसा नीच काम करेगा ?

राजा—**(मन ही मन)** इसके क्रोध में सच्चाई दीख रही है। इसी से मेरे मन का सन्देह बढता जा रहा है।

ठीक से स्मरण न आने के कारण अकेले में किये हुए प्रेम को जो मैंने इतनी कठोरता से ठुकरा दिया है, अतएव लाल-लाल आँखें करके अत्यन्त क्रोध से इसने जो भौंहें चढ़ा ली है, उन्होंने इस समय कामदेव के धनुष को भी टूक-टूक कर डाला है ॥ २३ ॥

(प्रकट में) भद्रे ! दुष्यन्त के चरित्र को सारा संसार जानता है। किन्तु ऐसी बात तो आजतक कभी नहीं सुनी गई।

शकुन्तला—तुमने ठीक ही किया, जो मुझे कुलटा बना डाला। क्योंकि पुरु कुल के धोखे में आकर मैं ऐसे नीच के हाथ में जा पड़ी, जिसके मुँह में मधु और हृदय में विष भरा हुआ था। **(आँचल से मुँह ढँककर रोने लगती है)**

शार्ङ्गरव—बिना विचारे जो काम किया जाता है, उस चपलता से ऐसा ही दुःख मिलता है।

इसलिए गुप्त प्रेम बहुत सोच-समझकर करना चाहिए। क्योंकि बिना जाने-बूझे स्वभाववाले व्यक्ति के साथ जो मित्रता की जाती है, वह एक न एक दिन शत्रुता के रूप में परिणत होती ही है ॥ २४ ॥

राजा—अयि भोः ! किमत्रभवतीप्रत्ययादेवास्मान्संवृतदोषाक्षरेण क्षिणुथ ?

शार्ङ्गरवः—(सासूयम्) श्रुतं भवद्भिरधरोत्तरम् ।

आजन्मनः शाठ्यमशिक्षितो यस्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य ।
परातिसन्धानमधीयते यैर्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः ॥ २५ ॥

राजा—भोः सत्यवादिन् ! अभ्युपगतं तावदस्माभिरेवम् । किं पुनरिमामतिसन्धाय लभ्यते ?

शार्ङ्गरवः—विनिपातः ।

राजा—विनिपातः पौरवैः प्रार्थयत इति न श्रद्धेयम् ।

शारद्वतः—शार्ङ्गरव ! किमुत्तरेण ? अनुष्ठितो गुरोः सन्देश । प्रतिनिवर्तामहे वयम् । (राजानं प्रति)—

तदेषा भवतः कान्ता त्यज वैनां गृहाण वा ।
उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ॥ २६ ॥

गौतमि ! गच्छाग्रतः ।

(इति प्रस्थिताः)

शकुन्तला—कहं इमिणा किदवेण विप्पलद्ध म्हि ? तुम्हे वि मं परिच्चअह । [**कथमनेन कितवेन विप्रलब्धाऽस्मि ? यूयमपि मां परित्यजथ ?**] (इत्यनुप्रतिष्ठते)

गौतमी—(स्थित्वा) वच्छ संगरव ! अणुगच्छदि इअं क्खु णो करुणपरिदेविणी सउंदला। पच्चादेसपरुसे भत्तुणि किं वा मे पुत्तिआ करेदु ? [**वत्स शार्ङ्गरव ! अनुगच्छतीयं खलु नः करुणपरिदेविनी शकुन्तला । प्रत्यादेशपरुषे भर्तरि किं वा मे पुत्रिका करोतु ?**]

राजा—सुनिए तो सही, इस देवी की बात का विश्वास करके आप मुझे उल्टी-सीधी बातें कहकर क्यों दोषी बना रहे हैं ?

शार्ङ्गरव—(**अपने साथियों से क्रोधपूर्वक**) आपने सुनी इनकी उल्टी बातें।

जिसने जन्म से लेकर अब तक छल का नाम भी नहीं जाना, उसकी बात झूठ समझी जाय और जिन्होंने दूसरों को धोखा देने की चालें विद्या समझकर सीखी हों, वे सत्यवादी समझे जायें ॥ २५ ॥

राजा—अच्छा सत्यवादी महोदय ! मान लीजिए कि हम झूठे हैं। पर इसे छलकर हमें क्या लाभ होगा ?

शार्ङ्गरव—पतन।

राजा—मैं इस बात को सही नहीं मानता कि कोई पुरुवंशी पतन की ओर जाना चाहेगा।

शारद्वत—शार्ङ्गरव ! इस कहा-सुनी से क्या लाभ ? गुरुजी का सन्देश हम इन्हें दे ही चुके। चलो, अब लौटा जाय। (**राजा के प्रति**)—

यह आपकी पत्नी है। इसे रखिए या निकालिये। क्योंकि पति का अपनी स्त्री पर पूर्ण अधिकार होता है ॥ २६ ॥

गौतमी ! आगे-आगे चलो।

(**सभी चलते हैं**)

शकुन्तला—इस धूर्त ने तो छला ही, अब क्या आपलोग भी मुझे त्याग रहे हैं ? (**उनके पीछे-पीछे चलती है**)

गौतमी—(**खड़ी होकर**) वत्स शार्ङ्गरव ! शकुन्तला रोती हुई हमलोगों के पीछे-पीछे चली आ रही है। बतलाओ, अब ऐसे निर्दयी के द्वारा ठुकराई हुई मेरी बच्ची कहाँ जाय ?

शार्ङ्गरवः—(सरोषं निवृत्य) किं पुरोभागे! स्वातन्त्र्यमवलम्बसे?

(शकुन्तला भीता वेपते)

शार्ङ्गरवः—शकुन्तले!

यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा त्वमसि किं पितुरुत्कुलया त्वया।
अथ तु वेत्सि शुचि व्रतमात्मनः पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम्॥ २७॥

तिष्ठ; साधयामो वयम्।

राजा—भोस्तपस्विन्! किमत्रभवतीं विप्रलभसे?

कुमुदान्येव शशाङ्कः सविता बोधयति पङ्कजान्येव।
वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः॥ २८॥

शार्ङ्गरवः—यदा तु पूर्ववृत्तमन्यसङ्गाद्विस्मृतो भवाँस्तदा कथमधर्मभीरुः?

राजा—(पुरोहितं प्रति) भवन्तमेवात्र गुरुलाघवं पृच्छामि।

मूढः स्यामहमेषा वा वदेन्मिथ्येति संशये।
दारत्यागी भवाम्याहो परस्त्रीस्पर्शपांसुलः॥ २९॥

पुरोहितः—(विचार्य) यदि तावदेवं क्रियताम्।

राजा—अनुशास्तु मां भवान्।

पुरोहितः—अत्रभवती तावदा प्रसवादस्मद्गृहे तिष्ठतु। कुत इदमुच्यत इति चेत्? त्वं

शार्ङ्गरव—(क्रोध से लौटकर) *क्यों दुष्टे! क्या तू मनमानी करना चाहती है?*

(शकुन्तला भय से काँप उठती है)

शार्ङ्गरव—शकुन्तला!

यदि राजा की बात सत्य है तो तुझ जैसी कुल-कलंकिनी का पिता के घर जाने का कोई काम नहीं है और यदि तू अपने को पवित्र समझती है तो तुझे दासी बनकर भी अपने पति के घर में ही रहना चाहिए॥ २७॥

बस अब तू यहीं रह, हम लोग जाते हैं।

राजा—तपस्वी! आप इसे क्यों धोखे में डाल रहे हैं?

क्योंकि जैसे चन्द्रमा केवल कुमुदों को और सूर्य केवल कमलों को ही खिलाता है, वैसे ही जितेन्द्रिय लोग अपनी स्त्री को ही अपनाते हैं। पराई स्त्री को वे छूना भी नहीं चाहते॥ २८॥

शार्ङ्गरव—जब आप अपनी रानियों के पास आकर अन्य पिछली बातें भूल सकते हैं, तब आपको अधर्म से क्या डर है?

राजा—(पुरोहित से) अब मैं आपसे ही पूछता हूँ कि ऐसी दुविधा में मुझे क्या करना चाहिए।

या तो मैं भूल गया हूँ या ये झूठ कह रही हैं। अब मैं अपनी पत्नी को छोड़ने का पाप करूँ अथवा पराई स्त्री को छूने का पाप सिर पर लूँ॥ २९॥

पुरोहित—(सोचकर) जब ऐसी दुविधा है तो आप ऐसा कीजिये।

राजा—बतलाइये।

पुरोहित—सन्तति होने के समय तक ये मेरे घर रहे। यदि आप पूछें क्यों? तो इसलिए कि आपको ऋषियों ने पहले ही आशीर्वाद दे दिया है कि आपको चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न होगा। यदि कण्वमुनि

साधुभिरुद्दिष्टः प्रथममेव चक्रवर्तिनं पुत्रं जनयिष्यसीति। स चेन्मुनिदौहित्रस्तल्लक्षणोपपन्नो भविष्यति, अभिनन्द्य शुद्धान्तमेनां प्रवेशयिष्यसि। विपर्यये तु पितुरस्याः समीपनयनमवस्थितमेव।

राजा—यथा गुरुभ्यो रोचते।

पुरोहितः—वत्से! अनुगच्छ माम्।

शकुन्तला—भअवदि वसुहे! देहि मे विवरं। [भगवति वसुधे! देहि मे विवरम्।] (इति रुदती प्रस्थिता, निष्क्रान्ता सह पुरोधसा तपस्विभिश्च)

(राजा शापव्यवहितस्मृतिः शकुन्तलागतमेव चिन्तयति)

(नेपथ्ये)

आश्चर्यम् आश्चर्यम्।

राजा—(आकर्ण्य) किं नु खलु स्यात्?

(प्रविश्य)

पुरोहितः—(सविस्मयम्) देव! अद्भुतं खलु संवृत्तम्।

राजा— किमिव?

पुरोहितः—देव! परावृत्तेषु कण्वशिष्येषु—

सा निन्दन्ती स्वानि भाग्यानि बाला बाहूत्क्षेपं क्रन्दितुं च प्रवृत्ता।

राजा—किं च?

पुरोहितः—

स्त्रीसंस्थानं चाप्सरस्तीर्थमारादुत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम॥ ३०॥

के नाती में चक्रवर्ती के लक्षण मिल जायें, तब तो इन्हें आदर के साथ रनिवास में रख लीजियेगा और यदि लक्षण न मिलें तो बाद में इन्हें इनके पिता के घर भेज दिया जायेगा।

राजा—जैसा गुरुजी ठीक समझें।

पुरोहित—वत्से! आओ, मेरे साथ चलो।

शकुन्तला—भगवती वसुन्धरे! तू फट जा और मुझे अपनी गोद में ले ले।

(रोती हुई शकुन्तला पुरोहित और ऋषियों के पीछे-पीछे चलती है)

(शाप के कारण भूला हुआ राजा शकुन्तला के ही बारे में सोचता है)

(नेपथ्य में)

आश्चर्य है! आश्चर्य है!

राजा—(सुनते हुए) अरे, क्या हुआ?

(प्रवेश कर)

पुरोहित—(आश्चर्य से) महाराज! बड़ी ही अद्भुत घटना हुई।

राजा—वह क्या?

पुरोहित—महाराज! कण्व के शिष्यों के चले जाने पर

वह ऋषिकन्या जैसे ही अपने भाग्य को कोसती हुई बाँहें फैलाकर रोने लगी—

राजा—तब क्या हुआ?

पुरोहित—वैसे ही स्त्री सरीखी एक ज्योति आकाश से उतरी और उसे अपनी गोद में लेकर अप्सरा तीर्थ की ओर चली गई॥ ३०॥

(सर्वे विस्मयं रूपयन्ति)

राजा—भगवन्! प्रागपि सोऽस्माभिरर्थः प्रत्यादिष्ट एव। किं वृथा तर्केणान्विष्यते। विश्राम्यतु भवान्।

पुरोहितः—(विलोक्य) विजयस्व। (इति निष्क्रान्तः)

राजा— वेत्रवति! पर्याकुलोऽस्मि। शयनभूमिमार्गमादेशय।

प्रतीहारी—इदो इदो देवो। [इत इतो देवः।] (इति प्रस्थिता)

राजा— **कामं प्रत्यादिष्टां स्मरामि न परिग्रहं मुनेस्तनयाम्।**
बलवत्तु दूयमानं प्रत्याययतीव मे हृदयम्॥ ३१॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति पञ्चमोऽङ्कः।
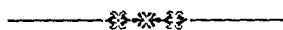
(सभी आश्चर्य प्रकट करते हैं)

राजा—भगवन्! हमने तो उसे पहले ही छोड दिया है। इसलिए उसके विषय में कुछ सोचना व्यर्थ है। अब आप जाकर विश्राम करें।

पुरोहित—(देखकर) महाराज की विजय हो। (चला जाता है)

राजा—वेत्रवती! मै व्याकुल-सा हो गया हूँ। मुझे शयनकक्ष तक पहुँचा दो।

प्रतीहारी—इधर से आइए महाराज, इधर से। (राजा चलता है)

राजा—यद्यपि विवाह की सुधि न होने से मैंने उस मुनिकन्या का अत्यन्त तिरस्कार कर दिया है। तथापि मेरा कचोटता हुआ हृदय न जानें क्यों रह-रहकर उसकी बातों पर विश्वास करने को विवश कर रहा है॥ ३१॥

(सभी चले जाते हैं)

पाँचवाँ अंक समाप्त।

षष्ठोऽङ्कः

(ततः प्रविशति नागरिकः श्यालः पश्चाद्बद्धं पुरुषमादाय रक्षिणौ च)

रक्षिणौ—(ताडयित्वा) अले कुंभीलआ! कहेहि कहिं तुए एशे मणिबंधणुक्किण्णणामहेए लाअकीए अंगुलीअए शमाशादिए? [**अरे-कुम्भीरक! कथय कुत्र त्वयैतन्मणिबन्धनोत्कीर्णनामधेयं राजकीयमङ्गुलीयकं समासादितम्?**]

पुरुषः—(भीतिनाटितकेन) पशीदंतु भावमिश्शे। हगे ण ईदिशकम्मकाली। [**प्रसीदन्तु भावमिश्राः। अहं नेदृशकर्मचारी।**]

प्रथमः—किं शोहणे बम्हणो त्ति कलिअ रज्जा पडिग्गहे दिण्णे? [**किं शोभनो ब्राह्मण इति कलयित्वा राज्ञा प्रतिग्रहो दत्तः?**]

पुरुषः—सुणुध दाणिं। हगे शक्कावदालब्भंतरालवाशी धीवले। [**शृणुतेदानीम्। अहं शक्रावताराभ्यन्तरालवासी धीवरः।**]

द्वितीयः—पाडच्चल! किं अम्हेहिं जादी पुच्छिदा? [**पाटच्चर! किमस्माभिर्जातिः पृष्टाः?**]

श्यालः—सूअअ! कहेदु शव्वं अणुक्कमेण। मा णं अंतरा पडिबंधह। [**सूचक! कथयतु सर्वमनुक्रमेण। मैनमन्तरा प्रतिबन्धय।**]

उभौ—जं आवुत्तो आणवेदि। कहेहि। [**यदावुत्त आज्ञापयति। कथय।**]

पुरुषः—अहके जालुग्गालादिहिं मच्छबंधणोवाएहिं कुडुंबभलणं कलेमि। [**अहं जालोद्गालादिभिर्मत्स्यबन्धनोपायैः कुटुम्बभरणं करोमि।**]

श्यालः—(विहस्य) विशुद्धो दाणिं आजीवो। [**विशुद्ध इदानीमाजीवः।**]

पुरुषः—भट्टा! मा एव्वं भण। [**भर्तः! मैवम् भण।**]

(राजा का साला नगर-रक्षक (कोतवाल) और उसके पीछे-पीछे दो सिपाही एक पुरुष को बाँधे हुए प्रवेश करते हैं)

दोनों सिपाही—(**बन्दी को पीटते हुए**) अरे चोर! यह राजा के नाम से अंकित रत्न-जडी अँगूठी तुझे कहाँ मिली?

पुरुष—(**डरने का अभिनय करता हुआ**) हे मालिक, मुझ पर दया कीजिए। मैं ऐसा चोरी का काम कभी नहीं करता।

पहला सिपाही—तो क्या तुझे कोई सुपात्र ब्राह्मण समझकर राजा ने यह अँगूठी दान में दी है?

पुरुष—सुनिए तो सही। मैं शक्रावतार गाँव के पास का निवासी एक धीवर (मछुआ) हूँ।

दूसरा सिपाही—अरे चोर! क्या हम तेरी जाति पूछते हैं?

श्याल—सूचक! इसे सब बातें ठीक से कहने दो, बीच में मत टोको।

दोनों—जैसी आपकी आज्ञा। हाँ बतला।

पुरुष—मैं जाल-कँटिया आदि से मछली फँसाता हूँ और उसी से अपने बाल-बच्चों का भरण-पोषण करता हूँ।

श्याल—(**हँसकर**) बड़ी अच्छी जीविका है तुम्हारी।

पुरुष—मालिक! ऐसा न कहिए।

शहजे किल जे विणिंदए ण हु दे कम्म विवज्जणीअए।
पशुमालणकम्मदालुणे अणुकंपामिदु एव्व शोत्तिए॥ १॥
[सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्।
पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः॥]

श्यालः—तदो तदो ? [ततस्ततः ?]

पुरुषः—एक्कशिशं दिअशे खंडशो लोहिअमच्छे मए कप्पिदे। जाव तश्श उदलब्भंतले एदं लदणभाशुलं अंगुलीअअं देक्खिअ पच्छा अहके शे विक्कआअ दंशअंते गहीदे भावमिश्शेहिं। मालेह वा मुंचेह वा। अअं शे आअमवुत्तंते। [एकस्मिन्दिवसे खण्डशो रोहितमत्स्यो मया कल्पितः। यावत् तस्योदराभ्यन्तर इदं रत्नभासुरमङ्गुलीयकं दृष्ट्वा पश्चादहं तस्य विक्रयाय दर्शयन्गृहीतो भावमिश्रैः॥ मारयत वा मुञ्चत वा। अयमस्यागमवृत्तान्तः।]

श्यालः—जाणुअ! विस्सगंधी गोहादी मच्छबंधो एव्व णिस्संसअं। अंगुलीअअदंसणं शे विमरिसिदव्वं। राअउलं एव्व गच्छामो। [जानुक! विस्रगन्धी गोधादी मत्स्यबन्ध एव निःसंशयम्। अङ्गुलीयकदर्शनमस्य विमर्शयितव्यम्। राजकुलमेव गच्छामः।]

रक्षिणौ—तह। गच्छ अले गंडभेदअ! [तथा। गच्छ अरे गण्डभेदक!]

(सर्वे परिक्रामन्ति)

श्यालः—सूअअ! इमं गोपुरदुआरे अप्पमत्ता पडिवालह जाव इमं अंगुलीअअं जहागमणं भट्टिणो णिवेदिअ तदो सासणं पडिच्छिअ णिक्कमामि। [सूचक! इमं गोपुरद्वारेऽप्रमत्तौ प्रतिपालयतं यावदिदमङ्गुलीयकं यथाऽऽगमनं भर्तुर्निवेद्य ततः शासनं प्रतीक्ष्य निष्क्रमामि।]

उभौ—पविशदु आवुत्ते शामिपशादश्श। [प्रविशत्वावुत्तः स्वामिप्रसादाय।]

(इति निष्क्रान्तः श्यालः)

जिस जाति को भगवान् ने जो बुरा या भला काम दे दिया है, वह छोड़ा नहीं जाता। देखिए, पशुओं को मारना बडा बुरा काम है, किन्तु बड़े-बड़े दयालु और वेद जाननेवाले ब्राह्मण भी यज्ञ के लिए पशुओं का वध करते हैं॥ १॥

श्याल—अच्छा, आगे बतला।

पुरुष—एक दिन मैंने एक रोहू मछली काटी। उसके पेट में यह रत्न-जडी चमकीली अँगूठी दीख गई। इसे बेचने के लिए लाकर मैं दिखला ही रहा था कि आपने मुझे बाँध लिया। यही इस अँगूठी के मिलने की कहानी है। अब आप चाहे मुझे मारिए, चाहे छोडिए।

श्याल—जानुक! निःसन्देह यह गोह खानेवाला मछुआ ही है। क्योंकि इसके शरीर से कच्चे मांस की दुर्गन्ध आ रही है। यह जो अँगूठी मिलने की बात बतला रहा है, उसकी चलकर ठीक-ठीक जाँच कर लेनी चाहिए। अतएव चलो, इसे राजा के ही पास ले चलें।

दोनों—बहुत अच्छा। चल रे गिरहकट! चल।

(सभी घूमते हैं)

श्याल—सूचक! जब तक मैं महाराज को अँगूठी मिलने का समाचार सुना कर और उनकी आज्ञा लेकर न लौटूँ, तब तक तुम दोनों नगर के फाटक पर भलीभाँति इसकी चौकसी करना।

दोनों—स्वामी की कृपा पाने के लिए आप जाइए।

(श्याल जाता है)

प्रथमः—जाणुअ ! चिलाअदि क्खु आवुत्ते। [जानुक! चिरायते खल्वावुत्तः।]

द्वितीयः—णं अवशलोवशप्पणीआ लाआणो। [नन्ववसरोपसर्पणीया राजानः।]

प्रथमः—जाणुअ ! फुल्लंति मे हत्था इमश्श वहस्स शुमणा पिणद्धुं। [जानुक! प्रस्फुरतो मम हस्तावस्य वधस्य सुमनसः पिनद्धुम्।] (इति पुरुषं निर्दिशति)

पुरुषः—ण अलुहदि भावे अकालणमालणं भविदुं। [नार्हति भावोऽकारणमारणं भवितुम्।]

द्वितीयः—(विलोक्य) एशे अम्हाणं शामी पत्तहत्थे लाअशाशणं पडिच्छिअ इदोमुहे देक्खीअदि। गिद्धवली भविश्शशि, शुणो मुहं वा देक्खिश्शशि। [एष नः स्वामी पत्रहस्तो राजशासनं प्रतीक्ष्येतोमुखो दृश्यते। गृध्रबलिर्भविष्यसि, शुनो मुखं वा द्रक्ष्यसि।]

(प्रविश्य)

श्यालः—सूअअ ! मुंजेदु ऐसो जालोअजीवी। उववण्णो क्खु अंगुलीअअस्स आअमो। [सूचक! मुच्यतामेष जालोपजीवी। उपपन्नः खल्वङ्गुलीयकस्यागमः।]

सूचकः—जह आवुत्ते भणादि। [यथाऽऽवुत्तो भणति।]

द्वितीयः—एशे जमशदणं पविशिअ पडिणिवुत्ते। [एष यमसदनं प्रविश्य प्रतिनिवृत्तः।] (इति पुरुषं परिमुक्तबन्धनं करोति)

पुरुषः—(श्यालं प्रणम्य) भट्टा ! अह कीलिशे मे आजीवे ? [भर्तः ! अथ कीदृशो मे आजीवः ?]

श्यालः—एसो भट्टिणा अंगुलीअअमुल्लसम्मिदो पसादो वि दाविदो। [एष भर्त्राङ्गुलीयकमूल्यसम्मितः प्रसादोऽपि दापितः।] (इति पुरुषाय स्वं प्रयच्छति)

पुरुषः—(सप्रणामं प्रतिगृह्य) भट्टा ! अणुग्गहीद म्हि। [भर्तः ! अनुगृहीतोऽस्मि।]

सूचकः—एशे णाम अणुग्गहे जे शूलादो अवदालिअ हत्थिक्कंधे पडिट्ठाविदे। [एष नामानुग्रहो यच्छूलादवतार्य हस्तिस्कन्धे प्रतिष्ठापितः।]

पहला—जानुक ! उन्होंने तो बड़ी देर लगा दी।

दूसरा—अरे भाई ! राजा के पास अवसर देखकर ही तो जाया जाता है।

पहला—जानुक ! इसे लाल फूलों की माला पहनाकर फाँसी के तख्ते पर चढाने के लिए मेरे हाथ फडक रहे हैं। (मछुए की ओर संकेत करता है)

पुरुष—भाई, अकारण तुम मुझे क्यों मारने को उद्यत हो ?

दूसरा—(देखकर) वह देखो ! हमारे स्वामी हाथ में राजा का आज्ञापत्र लिये चले आ रहे हैं। अब या तो तू गिद्धों का भोजन बनेगा या कुत्तों से नोचवाया जायेगा।

(प्रवेश कर)

श्याल—सूचक ! छोड़ दो, इस मछुए को। अँगूठी मिलने का ठीक-ठीक पता चल गया।

सूचक—जैसी स्वामी की आज्ञा।

दूसरा—अरे, यह तो यमराज के घर जाकर लौट आया। (उसका बन्धन खोलता है)

पुरुष—(श्याल को प्रणाम कर) कहिए स्वामी ! मेरी जीविका कैसी निकली ?

श्याल—महाराज ने इस अँगूठी के दाम के बराबर धन भी तुझे प्रसादरूप में दिया है। (मछुए को धन देता है)

पुरुष—(हाथ जोड़कर धन लेता है) मालिक ! आपकी बड़ी दया है।

सूचक—वास्तव में दया तो इसी का नाम है कि तुझे शूली से उतारकर हाथी की पीठ पर बैठा दिया गया है।

जानुकः—आवुत्त! पलिदोशं कहेहि। तेण अंगुलीअएण भट्टिणो शम्मदेण होदव्वं। [आवुत्त! परितोषं कथय। तेनाङ्गुलीयकेन भर्तुः सम्मतेन भवितव्यम्।]

श्यालः—ण तस्सिं महारुहं रदणं भट्टिणो बहुमदं त्ति तक्केमि। तस्स दंसणेण भट्टिणो अभिमदो जणो सुमराविदो। मुहुत्तअं पकिदिगंभीरो वि पज्जुस्सुअणअणो आसि। [न तस्मिन्महार्हं रत्नं भर्तुर्बहुमतमिति तर्कयामि। तस्य दर्शनेन भर्तुरभिमतो जनः स्मारितः। मुहूर्तं प्रकृतिगम्भीरोऽपि पर्युत्सुकनयन आसीत्।]

सूचकः—शेविदं णाम आवुत्तेण। [सेवितं नामावुत्तेन।]

जानुकः—णं भणाहि। इमश्श कए मच्छिआभत्तुणो त्ति। [ननु भण। अस्य कृते मात्स्यिकभर्तुरिति।] (इति पुरुषमसूयया पश्यति)

पुरुषः—भट्टालक! इदो अद्धं तुम्हाणं शुमणोमुल्लें होदु। [भट्टारक! इतोऽर्धं युष्माकं सुमनोमूल्यं भवतु।]

जानुकः—एत्तके जुज्जइ। [एतावद्युज्यते।]

श्यालः—धीवर! महत्तरो तुमं पिअवअस्सओ दाणिं मे संवुत्तो। कादंबरीसक्खिअं अम्हाणं पढमसोहिदं इच्छीअदि। ता सोंडिआपणं एव्व गच्छामो। [धीवर! महत्तरस्त्वं प्रियवयस्यक इदानीं मे संवृत्तः। कादम्बरीसाक्षिकमस्माकं प्रथमसौहृदमिष्यते। तच्छौण्डिकापणमेव गच्छामः।]

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

॥ प्रवेशकः ॥

(ततः प्रविशत्याकाशयानेन सानुमती नामाप्सराः)

सानुमती—णिव्वट्टिदं मए पज्जाअणिव्वत्तणिज्जं अच्छरातित्थसण्णिज्झं जाव साहुजणस्स अभिसेअकालो त्ति। संपदं इमस्स राएसिणो उदंतं पच्चक्खीकरिस्सं। मेणआसंबंधेण सरीरभूदा मे

जानुक—इसे प्रसाद नहीं, पारितोषिक कहिए स्वामी! जान पडता है कि वह अँगूठी महाराज को बडी अच्छी लगी है।

श्याल—उस अँगूठी के बहुमूल्य रत्न के कारण महाराज ने उसका आदर नहीं किया। बल्कि उसे देखते ही उन्हें अपने किसी प्रियजन का स्मरण हो आया है। यद्यपि महाराज स्वभावतः बड़े गम्भीर हैं। फिर भी वह अँगूठी देखकर वे थोडी देर के लिए अनमने-से हो गये।

सूचक—तब तो आपने राजा का बहुत बड़ा काम किया है।

जानुक—ऐसा कहो कि इस मछुए ने राजा का वह काम किया है। (मछुए को ईर्ष्याभरी दृष्टि से देखता है)

पुरुष—मालिक! इस धन में से आधा आप भी अपने पान-फूल के लिए ले लीजिए।

जानुक—यह तो उचित ही है।

श्याल—मछुए! आज से तुम हमारे बड़े प्यारे मित्र हो गये। चलो, हम तुम चलें और मदिरा के आगे अपनी मित्रता पक्की कर लें। तो चलो, मदिरालय में ही चला जाय।

(सभी चले जाते हैं)

॥ प्रवेशक ॥

(आकाश में विमान पर आरूढ सानुमती नाम की अप्सरा का प्रवेश)

सानुमती—साधुजनों के स्नान के समय इस अप्सरा-तीर्थ की देखभाल करने की आज मेरी बारी

सउंदला। ताए अ दुहिदुणिमित्तं आदिट्ठपुव्व म्हि। (समन्तादवलोक्य) किं णु क्खु उदुच्छवे वि णिरुच्छवारंभं विअ राअउलं दीसइ। अत्थि मे विहवो पणिधाणेण सव्वं परिण्णादुं। किं दु सहीए आदरो मए माणइदव्व होदु। इमाणं एव्व उज्जाणपालिआणं तिरक्खरिणीपडिच्छण्णा पस्सवत्तिणी भविअ उवलहिस्सं। [निर्वर्तितं मया पर्यायनिर्वर्तनीयमप्सरस्तीर्थसान्निध्यं यावत्साधुजनस्याभिषेककाल इति। साम्प्रतमस्य राजर्षेरुदन्तं प्रत्यक्षीकरिष्यामि। मेनकासम्बन्धेन शरीरभूता मे शकुन्तला। तया च दुहितृनिमित्तमादिष्टपूर्वाऽस्मि। किं नु खलु ऋतूत्सवेऽपि निरुत्सवारम्भमिव राजकुलं दृश्यते। अस्ति मे विभवः प्रणिधानेन सर्वं परिज्ञातुम्। किं तु सख्या आदरो मया मानयितव्यः। भवतु; अनयोरेवोद्यानपालिकयोस्तिरस्करिणीप्रतिच्छन्ना पार्श्ववर्तिनी भूत्वोपलप्स्ये।] (इति नाट्येनावतीर्य स्थिता)

(ततः प्रविशति चूताङ्कुरमलोकयन्ती चेटी; अपरा च पृष्ठतस्तस्याः)

प्रथमा—आतम्महरिअपंडुर जीविदसव्वं वसंतमासस्स।
दिट्ठो सि चूदकोरअ! उदुमंगल! तुमं पसाएमि॥ २॥
[आताम्रहरितपाण्डुर जीवितसर्व वसन्तमासस्य।
दृष्टोऽसि चूतकोरक! ऋतुमङ्गल! त्वां प्रसादयामि॥]

द्वितीया—परहुदिए! किं एआइणी मंतेसि? [परभृतिके! किमेकाकिनी मन्त्रयसे?]

प्रथमा—महुअरिए! चूदकलिअं देक्खिअ उम्मत्तिआ परहुदिआ होदि। [मधुकरिके! चूतकलिकां दृष्ट्वोन्मत्ता परभृतिका भवति।]

द्वितीया—(सहर्षं त्वरयोपगम्य) कहं उवट्ठिदो महुमासो? [कथमुपस्थितो मधुमासः?]

प्रथमा—महुअरिए! तव दाणिं कालो एसो मदविब्भमगीदाणं। [मधुकरिके! तवेदानीं काल एष मदविभ्रमगीतानाम्।]

द्वितीया—सहि! अवलंब मं जाव अग्गपादट्ठिआ भविअ चूदकलिअं गेण्हिअ कामदेवच्चणं करेमि। [सखि! अवलम्बस्व मां यावदग्रपादस्थिता भूत्वा चूतकलिकां गृहीत्वा कामदेवार्चनं करोमि।]

थी। वह काम तो कर चुकी। अब चलकर अपनी आँखों से उस राजर्षि की दशा तो देख लूँ। क्योंकि मेनका की कन्या होने के नाते शकुन्तला मेरी भी कन्या ही हुई। उसी मेनका ने अपनी कन्या के लिए कुछ उपाय करने को मुझे पहले से ही कह रक्खा है। (चारों ओर देखकर) अरे वसन्तोत्सव का दिन आ पहुँचा और यहाँ राजभवन में एकदम सन्नाटा छाया हुआ है। यद्यपि दिव्यदृष्टि से मैं सब कुछ देख सकती हूँ, तथापि अपनी सखी की बात तो रखनी ही होगी। अच्छा, तिरस्करिणी विद्या के द्वारा अपने को छिपाकर इन मालिनों के साथ-साथ चलकर समीप से यहाँ का सब समाचार लेती हूँ। (विमान से उतरने का अभिनय करके खड़ी हो जाती है)

(इसके बाद आम की बौर देखती हुई एक दासी आती है। उसके पीछे दूसरी दासी है)

पहली—हे वसन्त ऋतु के जीवनसर्वस्व! हे वसन्त के मंगल स्वरूप! हे लाल, हरे और पीले रंगवाले बौर! आज पहले-पहल तुम्हारा दर्शन हो रहा है। तुम हम पर प्रसन्न होओ॥ २॥

दूसरी—अरी परभृतिके (कोयल)! तू अकेले-अकेले क्यों कूकती है?

पहली—मधुकरिके (भौंरी)! आम की बौर देखकर परभृतिका मतवाली हो ही जाती है।

दूसरी—(उल्लास से भरी हुई शीघ्रता से पास आती है) क्या वसन्त आ गया?

पहली—मधुरिके (भौंरी)! तेरे भी तो मस्तीभरे गीत गाने के ये ही दिन हैं।

दूसरी—सखी! तू यदि मुझे सहारा दे तो अपने पञ्जों के बल खड़ी होकर कामदेव की पूजा के लिए कुछ आम की बौर तोड़ लूँ।

प्रथमा—जइ मम वि क्खु अद्धं अच्चणफलस्स। [यदि ममापि खल्वर्धमर्चनफलस्य।]

द्वितीया—अकहिदे वि एदं संपज्जइ, जदो एक्कं एव्व णो जीविदं दुधा ट्ठिदं सरीरं। (सखीमवलम्ब्य स्थिता चूताङ्कुरं गृह्णाति) अए अप्पडिबुद्धो वि चूदप्पसवो एत्थ बंधणभंगसुरभी होदि। (इति कपोतहस्तकं कृत्वा) [अकथितेऽप्येतत्सम्पद्यते, यत एकमेव नौ जीवितं द्विधा स्थितं शरीरम्। अये! अप्रतिबुद्धोऽपि चूतप्रसवोऽत्र बन्धनभङ्गसुरभिर्भवति।]

तुमं सि मए चूदंकुर दिण्णो कामस्य गहीदधणुअस्स।
पहिअजणजुवइलक्खो पंचब्भहिओ सरो होहि॥ ३॥
[त्वमसि मया चूताङ्कुर दत्तः कामाय गृहीतधनुषे।
पथिकजनयुवतिलक्ष्यः पञ्चाभ्यधिकः शरो भव॥]

(इति चूताङ्कुरं क्षिपति)

(प्रविश्यापटीक्षेपेण कुपितः)

कञ्चुकी—मा तावत्। अनात्मज्ञे! देवेन प्रतिषिद्धे वसन्तोत्सवे त्वमाम्रकलिकाभङ्गं किमारभसे?

उभे—(भीते) पसीददु अज्जो। अग्गहीदत्थाओ वअं। [प्रसीदत्वार्यः। अगृहीतार्थे आवाम्।]

कञ्चुकी—न किल श्रुतं युवाभ्यां यद्वासन्तिकैस्तरुभिरपि देवस्य शासनं प्रमाणीकृतं तदाश्रयिभिः पत्रिभिश्च। तथा हि—

चूतानां चिरनिर्गताऽपि कलिका बध्नाति न स्वं रजः
सन्नद्धं यदपि स्थितं कुरबकं तत्कोरकावस्थया।
कण्ठेषु स्खलितं गतेऽपि शिशिरे पुँस्कोकिलानां रुतं
शङ्के संहरति स्मरोऽपि चकितस्तूणार्धकृष्टं शरम्॥ ४॥

पहली—यदि पूजन का आधा फल मुझे भी मिले तो सहारा दूँ।

दूसरी—वह तो बिना कहे ही मिल जायेगा। क्योंकि हम-तुम तो दो शरीर और एक प्राण हैं। **(सखी के सहारे से आम के बौर तोड़ती है)** वाह! यद्यपि अभी बौर अच्छी तरह खिल नहीं पाया है, तथापि डाल से तोडते ही कैसी सुगन्ध फूट रही है। **(अञ्जलि बाँधकर)**

अरी आम की मञ्जरी! मैं तुझे धनुषधारी कामदेव को भेंट करती हूँ। परदेश में गये हुए लोगों की युवती स्त्रियों को काम-पीडा देने के लिए तुम कामदेव के पाँचों बाणों में सबसे अधिक पैने बाण बन जाओ॥ ३॥

(आम की मञ्जरी डाल देती है)

(सहसा परदा उठाकर क्रोध में कञ्चुकी का प्रवेश)

कञ्चुकी—हैं, हैं। यह क्या कर रही हो नासमझ बालिकाओ! जब महाराज ने इस वर्ष वसन्तोत्सव स्थगित कर दिया है, तब तुम लोग आम की मञ्जरी क्यों तोड़ रही हो?

दोनों—**(डरकर)** क्षमा कीजिए आर्य! हमें इसका ज्ञान नहीं था।

कञ्चुकी—क्या तुम लोगों ने यह नहीं सुना कि वसन्त में फूलने-फलनेवाले वृक्षों ने भी महाराज की आज्ञा मान ली है। देखो—

आम की बौर बहुत पहले ही फूट आयी थीं, परन्तु उनमें पराग अब तक नहीं आ पाया है। कुरबक का फूल खिलना ही चाहता था, पर अभी ज्यों-का-त्यों बँधा पडा है। जाडा बीत जाने पर

सानुमती—णत्थि संदेहो। महाप्पहाओ राएसी। [**नास्ति सन्देहः। महाप्रभावो राजर्षिः।**]

प्रथमा—अज्ज ! कति दिअहाइं अम्हाणं मित्तावसुणा रट्ठिएण भट्टिणीपाअमूलं पेसिदाणं ? एत्थ अ णो पमदवणस्स पालणकम्म समप्पिदं। ता आअंतुअदाए अस्सुदपुव्वो अम्हेहिं एसो वुत्तंतो। [**आर्य! कति दिवसान्यावयोर्मित्रावसुना राष्ट्रियेण भट्टिनीपादमूलं प्रेषितयोः ? अत्र च नौ प्रमदवनस्य पालनकर्म समर्पितम्। तदागन्तुकतयाऽश्रुतपूर्व आवाभ्यामेष वृत्तान्तः।**]

कञ्चुकी—भवतु। न पुनरेवं प्रवर्तितव्यम्।

उभे—अज्ज! कोदूहलं णो। जइ इमिणा जणेण सोदव्वं कहेदु अज्जो किं णिमित्तं भट्टिणा वसंतुस्सवो पडिसिद्धो। [**आर्य! कौतूहलं नौ। यद्यनेन जनेन श्रोतव्यं कथयत्वार्यः किन्निमित्तं भर्त्रा वसन्तोत्सवः प्रतिषिद्धः।**]

सानुमती—उस्सवप्पिआ क्खु मणुस्सा। गुरुणा कारणेण होदव्वं। [**उत्सवप्रियाः खलु मनुष्याः। गुरुणा कारणेन भवितव्यम्।**]

कञ्चुकी—बहुलीभूतमेतत्किं न कथ्यते। किमत्रभवत्योः कर्णपथं नायातं शकुन्तलाप्रत्यादेश-कौलीनम् ?

उभे—सुदं रट्ठिअमुहादो जाव अंगुलीअदंसणं। [**श्रुतं राष्ट्रियमुखाद्यावदङ्गुलीयकदर्शनम्।**]

कञ्चुकी—(आत्मगतम्) तेन ह्यल्पं कथयितव्यम्। (प्रकाशम्) यदैव खलु स्वाङ्गुलीयक-दर्शनादनुस्मृतं देवेन सत्यमूढपूर्वा मे तत्रभवती रहसि शकुन्तला मोहात्प्रत्यादिष्टेति। तदाप्रभृत्येव पश्चात्तापमुपगतो देवः। तथा हि—

> **रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिर्न प्रत्यहं सेव्यते**
> **शय्याप्रान्तविवर्तनैर्विगमयत्युन्निद्र एव क्षपाः।**

भी कोयल की कूक उनके गले तक आकर रुक गई है। मुझे तो ऐसा लग रहा है कि कामदेव भी अपने तूणीर से आधा बाण निकालता है और फिर डरकर उसी में रख लेता है॥४॥

सानुमती—इसमें कोई सन्देह नहीं है। राजर्षि का बड़ा भारी प्रताप है।

पहली—आर्य! नगर-रक्षक मित्रावसु ने हमलोगों को अभी कुछ ही दिन पहले महारानी की सेवा में प्रमदवन की रखवाली करने के लिए भेजा है। अतएव अजनबी होने के कारण हम लोगों को इस बात का ज्ञान ही नहीं था।

कञ्चुकी—अच्छा, फिर कभी ऐसा न करना।

दोनों—आर्य! हमें भी यह बात सुनने की बड़ी इच्छा है। यदि सुनाने में आपत्ति न हो तो कृपा करके बतला दीजिए कि इस वर्ष महाराज ने वसन्तोत्सव किस कारण से रोक दिया है।

सानुमती—मनुष्यों को तो उत्सव प्रिय होते हैं। उत्सव रोक देने का कोई बहुत बड़ा कारण होगा।

कञ्चुकी—अच्छा, यह बात जब चारों ओर फैल ही गयी है, तब मैं भी क्यों न कह डालूँ? क्या शकुन्तला के छोड़े जाने की बात तुम लोगों ने नहीं सुनी है ?

दोनों—हाँ, राजा को अँगूठी मिलने तक की बात तो नगर-रक्षक के मुँह से हमने सुनी है।

कञ्चुकी—(मन ही मन) तब तो बहुत थोड़ा-सा हाल सुनाना बाकी है। (प्रकट में) उस अँगूठी को देखते ही महाराज को स्मरण हो आया कि मैंने एकान्त में शकुन्तला से विवाह किया था और भूल से अब उसे त्याग दिया है। तभी से राजा को बड़ा पछतावा हो रहा है। क्योंकि—

दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचितामन्तःपुरेभ्यो यदा
गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडाविलक्षश्चिरम्॥५॥

सानुमती—पिअं मे। [प्रियं मे।]

कञ्चुकी—अस्मात्प्रभवतो वैमनस्यादुत्सवः प्रत्याख्यातः।

उभे—जुज्जइ। [युज्यते।]

(नेपथ्ये)

एदु एदु भवं। [एतु एतु भवान्।]

कञ्चुकी—(कर्णं दत्त्वा) अये! इत एवाभिवर्तते देवः। स्वकर्मानुष्ठीयताम्।

उभे—तह। [तथा।] (इति निष्क्रान्ते)

(ततः प्रविशति पश्चात्तापसदृशवेषो राजा विदूषकः प्रतीहारी च)

कञ्चुकी—(राजानमवलोक्य) अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्। एवमुत्सुकोऽपि प्रियदर्शनो देवः। तथा हि—

प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिर्वामप्रकोष्ठार्पितं
बिभ्रत्काञ्चनमेकमेव वलयं श्वासोपरक्ताधरः।
चिन्ताजागरणप्रतान्तनयनस्तेजोगुणादात्मनः
संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते॥६॥

अब उनके मन को न तो कोई सुन्दर वस्तु भाती है और न वे पहले के समान मन्त्रियों के साथ रोज बैठते हैं। पलङ्ग पर करवट बदलते हुए वे जाग-जागकर रात बिता देते हैं। रनिवास की रानियाँ जब उनसे हठ करके इस उदासी का कारण पूछती हैं, तब भूल से उनके मुँह से शकुन्तला नाम निकल जाता है और वे बड़ी देर तक लाज के मारे चुप रह जाते हैं॥५॥

सानुमती—यही तो सुनने की मेरी इच्छा थी।

कञ्चुकी—बस, इसी दुःख से वसन्तोत्सव रोक दिया गया है।

दोनों—ऐसा होना ही चाहिए।

(नेपथ्य में)

आइए महाराज, आइए।

कञ्चुकी—**(कान लगाकर)** अरे! महाराज तो इधर आ ही रहे हैं। अब जाओ, तुम लोग अपना-अपना काम करो।

दोनों—बहुत अच्छा। **(दोनों चली जाती हैं)**

(विदूषक और प्रतिहारी के साथ पश्चात्ताप से व्यथित राजा का प्रवेश)

कञ्चुकी—**(राजा को देखकर)** अहा! जो सुन्दर होते हैं, उनकी शोभा सभी दशाओं में अच्छी ही लगती है। देखो, इतने उदास होते हुए भी महाराज कैसे अच्छे लग रहे हैं। क्योंकि—

केवल बायें हाथ के सोने के एक भुजबन्द के सिवाय उन्होंने शोभा बढानेवाले सभी गहने उतार डाले हैं। उनकी उसाँसों से नीचे का ओठ लाल हो गया है और चिन्ता के कारण रात भर जागने से उनकी आँखें भी अलसायी हुई हैं। किन्तु इतना दुःखी होने पर भी वे उसी प्रकार दुबले नहीं लगते, जैसे खराद पर चढ़ाकर काटा हुआ महामणि छोटा हो जाने पर भी अपनी चमक के कारण छोटा नहीं लगता॥६॥

सानुमती—(राजानं दृष्ट्वा) ठाणे क्खु पच्चादेसविमाणिदा वि इमस्स किदे सउंदला किलम्मदि त्ति। [**स्थाने खलु प्रत्यादेशविमानिताऽप्यस्य कृते शकुन्तला क्लाम्यतीति।**]

राजा—(ध्यानमन्दं परिक्रम्य)

> **प्रथमं सारङ्गाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम्।**
> **अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं सम्प्रति विबुद्धम्॥ ७॥**

सानुमती—णं ईदिसाणि तवस्सिणीए भाअहेआणि। [**नन्वीदृशानि तपस्विन्या भागधेयानि।**]

विदूषकः—(अपवार्य) लंघिदो एसो भूओ वि सउंदलावाहिणा। ण आणे कहं चिकिच्छिदव्वो भविस्सदि त्ति। [**लङ्घित एष भूयोऽपि शकुन्तलाव्याधिना। न जाने कथं चिकित्सितव्यो भविष्यतीति।**]

कञ्चुकी—(उपगम्य) जयतु जयतु देवः। महाराज! प्रत्यवेक्षिताः प्रमदवनभूमयः। यथाकाममध्यास्तां विनोदस्थानानि महाराजः।

राजा—वेत्रवति! मद्वचनादमात्यमार्यपिशुनं ब्रूहि। चिरप्रबोधनान्न सम्भावितमस्माभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम्। यत्प्रत्यवेक्षितं पौरकार्यमार्येण तत्पत्रमारोप्य दीयतामिति।

प्रतीहारी—जं देवो आणवेदि। [**यद्देव आज्ञापयति।**] (इति निष्क्रान्ता)

राजा—वातायन! त्वमपि स्वं नियोगमशून्यं कुरु।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रान्तः)

विदूषक—किदं भवदा णिम्मच्छिअं। संपदं सिसिरातवच्छेअरमणीए इमस्सिं पमदवणुद्देसे अत्ताणं रमइस्ससि। [**कृतं भवता निर्मक्षिकम्। साम्प्रतं शिशिरातपच्छेदरमणीयेऽस्मिन्प्रमदवनोद्देशे आत्मानं रमयिष्यसि।**]

सानुमती—**(राजा को देखकर)** यद्यपि शकुन्तला को छोडकर इन्होंने उसका बड़ा भारी निरादर किया है, उस पर भी ये इस योग्य हैं कि इनके लिए शकुन्तला का तडपना उचित ही है।

राजा—**(चिन्तित दशा में घूमता हुआ)**

उस समय जब वह मृग-सदृश नयनोंवाली प्यारी शकुन्तला बार-बार मुझे समझा रही थी, तब तो मेरी आँखें नहीं खुलीं। अब तो केवल पश्चात्ताप का क्लेश महने के लिए मेरा यह अभागा हृदय जागा है॥ ७॥

सानुमती—क्या करें, वेचारी शकुन्तला के भाग्य ही ऐसे हैं।

विदूषक—**(अलग)** ओह! एक बार गये हुए शकुन्तला के रोग ने इन्हें फिर आ घेरा, न जाने कैसे यह रोग जायेगा।

कञ्चुकी—**(पास जाकर)** महाराज की जय हो, जय हो। महाराज! प्रमदवन की भूमि झाड़-बुहार दी गई है। अब आप चलकर जब तक जी चाहे, तब तक उस मनवहलाव की भूमि में विश्राम करें।

राजा—प्रतीहारी! जाकर मेरी जबानी अमात्य आर्य पिशुन से कहना कि आज मैं देर से उठा हूँ। अतः न्याय करने के लिए सभाभवन में मेरा आना असम्भव है। इसलिए प्रजा का जो कुछ भी काम हो, वह आप लिखकर मेरे पास भेज दीजिएगा।

प्रतीहारी— जैसी महाराज की आज्ञा। **(चली जाती है)**

राजा—जाओ वातायन! तुम भी अपना काम करो।

कञ्चुकी—जैसी देव की आज्ञा। **(जाता है)**

विदूषक—अच्छा किया जो आपने यहाँ से सबको हटा दिया। अब आप चलकर उस प्रमदवन में मन बहलाइए, जहाँ न जाड़े की ठंढक है और न गर्मी की तपन।

राजा—वयस्य ! यदुच्यते रन्ध्रोपनिपातिनोऽनर्था इति तदव्यभिचारि वचः। कुतः—

मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना मम च मुक्तमिदं तमसा मनः।
मनसिजेन सखे! प्रहरिष्यता धनुषि चूतशरश्च निवेशितः ॥८॥

विदूषकः—चिट्ठ दाव। इमिणा दंडकट्ठेण कंदप्पवाणं णासइस्सं। [तिष्ठ तावत्। अनेन दण्डकाष्ठेन कन्दर्पबाणं नाशयिष्यामि।] (इति दण्डकाष्ठमुद्यम्य चूताङ्कुरं पातयितुमिच्छति)

राजा—(सस्मितम्) भवतु; दृष्टं ब्रह्मवर्चसम्। सखे! क्वोपविष्टः प्रियायाः किञ्चिदनुकारिणीषु लतासु दृष्टिं विलोभयामि।

विदूषकः—णं आसण्णपरिआरिआ चदुरिआ भवदा संदिट्ठा—माहवीमंडवे इमं वेलं अदिवाहिस्सं। तहिं मे चित्तफलअगदं सहत्थलिहिदं तत्तहोदीए सउंदलाए पडिकिदिं आणेहि त्ति। [नन्वासन्नपरिचारिका चतुरिका भवता सन्दिष्टा—माधवीमण्डप इमां वेलामतिवाहयिष्ये। तत्र मे चित्रफलकगतां स्वहस्तलिखितां तत्रभवत्याः शकुन्तलायाः प्रतिकृतिमानयेति।]

राजा—ईदृशं हृदयविनोदनस्थानम्। तत्तमेव मार्गमादेशय।

विदूषकः—इदो इदो भव। [इत इतो भवान्।]

(उभौ परिक्रामतः, सानुमत्यनुगच्छति)

विदूषकः—एसो मणिसिलापट्टअसणाहो माहवीमंडवो उवआररमणिज्जदाए णिस्संसअं साअदेण विअ णो पडिच्छदि। ता पविसिअ णिसीददु भवं। [एष मणिशिलापट्टकसनाथो माधवीमण्डप उपचाररमणीयतया निःसंशयं स्वागतेनेव नौ प्रतीच्छति। तत्प्रविश्य निषीदतु भवान्।]

(उभौ प्रवेशं कृत्वोपविष्टौ)

राजा—वयस्य! बहुत ठीक कहा गया है कि विपत्ति सदा अवसर की प्रतीक्षा में रहती है। क्योंकि—

अभी मेरे मन से शकुन्तला को भुला देनेवाला मोह उतरा ही नहीं था, तभी मुझपर प्रहार करने के लिए अपने धनुष पर आम की बौर का नया बाण चढाकर कामदेव भी आ धमका ॥८॥

विदूषक—अच्छा ठहरिए। मैं अभी अपनी लाठी से काम के बाण को नष्ट कर देता हूँ। (अपना डंडा उठाकर आम की बौर तोड़ना चाहता है)

राजा—(हँसते हुए) अच्छा-अच्छा, रहने दो। देख लिया, तुम्हारा ब्रह्मतेज। अब चलो मित्र, मुझे कोई ऐसी जगह बतलाओ जहाँ बैठकर मैं अपनी प्रिया से कुछ मिलती-जुलती लताओं को देखकर आँखें ठण्डी कर सकूँ।

विदूषक—किन्तु आपने तो अभी दासी चतुरिका को आदेश दिया है कि हम माधवीमण्डप में जाकर जी बहलाते हैं। तुम हमारे हाथ का बनाया हुआ शकुन्तला का चित्र वहाँ लेती आना।

राजा—यदि वह ऐसा मनबहलाव का स्थान है तो मुझे उधर ही ले चलो।

विदूषक—इधर से आइए महाराज, इधर से।

(दोनों घूमते हैं, सानुमती पीछे-पीछे चलती है)

विदूषक—देखिए, फूलों से सजी हुई मणिशिला की सुन्दर चौकी बिछाकर यह माधवीकुंज जैसे आपका स्वागत करने की प्रतीक्षा कर रहा है। तो चलिए वहीं बैठिए।

(दोनों प्रविष्ट होकर बैठते हैं)

सानुमती—लदासंस्सिदा देक्खिस्सं दाव सहीए पडिकिदिं। तदो से भत्तुणो वहुमुहं अणुराअं णिवेदइस्सं। [लतासंश्रिता द्रक्ष्यामि तावत्सख्याः प्रतिकृतिम्। ततोऽस्या भर्तुर्बहुमुखमनुरागं निवेदयिष्यामि।] (इति तथा कृत्वा स्थिता)

राजा—सखे! सर्वमिदानीं स्मरामि शकुन्तलायाः प्रथमवृत्तान्तम्। कथितवानस्मि भवते च। स भवान्प्रत्यादेशवेलायां मत्समीपगतो नासीत्। पूर्वमपि न त्वया कदाचित्सङ्कीर्तितं तत्रभवत्या नाम। कच्चिदहमिव विस्मृतवानसि त्वम्।

विदूषकः—ण विसुमरामि। किंतु सव्वं कहिअ अवसाणे उण तुए परिहासविअप्पओ एसो ण भूदत्थो त्ति आचक्खिदं। मए वि मिप्पिंडवुद्धिणा तह एव्व गहीदं। अहवा भविदव्वदा क्खु वलवदी। [न विस्मरामि। किन्तु सर्व कथयित्वाऽवसाने पुनस्त्वया परिहासविजल्प एष न भूतार्थ इत्याख्यातम्। मयापि मृत्पिण्डवुद्धिना तथैव गृहीतम्। अथवा भवितव्यता खलु बलवती।]

सानुमती—एव्वं णेदं। [एवं नु एतत्]

राजा—(ध्यात्वा) सखे! त्रायस्व माम्।

विदूषकः—भो! किं एदं? अणुववण्णं क्खु ईदिसं तुइ। कदा वि सप्पुरिसा सोअवत्तव्वा ण होंति। णं पवादे वि णिक्कंपा गिरिओ। [भोः! किमेतत्? अनुपपन्नं खल्वीदृशं त्वयि। कदाऽपि सत्पुरुषाः शोकवक्तव्या न भवन्ति। ननु प्रवातेऽपि निष्कम्पा गिरयः।]

राजा—वयस्य! निराकरणविक्लवायाः प्रियायाः समवस्थामनुस्मृत्य बलवदशरणोऽस्मि। सा हि—

इतः प्रत्यादेशात् स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता
स्थिता तिष्ठेत्युच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे।

सानुमती—मैं लता की ओट मे देखती हूँ कि मेरी सखी का चित्र कैसा है। तभी तो मैं जाकर उसे वता सकूँगी कि तुम्हारे पति तुमको कितना प्यार करते हैं। (वैसा ही करती है)

राजा—मित्र! अव शकुन्तला की सभी बातें याद आ रही हैं और तुम्हें तो मैं सव कुछ वता ही चुका हूँ। जव मैंने शकुन्तला को लौटाया था, उस समय न तुम थे और न तुमने वे सब बातें ही स्मरण दिलाई। ऐसा जान पड़ता है कि मेरे ही समान तुम भी भूल गये थे।

विदूषक—मैं भूला नहीं था। किन्तु सव कुछ कहने के वाद आपने अन्त में जव यह कह दिया कि 'ये सब बातें तो हमने हँसी मे कही थीं' तव मेरी मिट्टी की बुद्धि भी वही सच समझ बैठी। या यों कहिए कि होनी वड़ी प्रवल होती है। जो होने वाला होता है, वह होकर ही रहता है।

सानुमती—यही वात है।

राजा—(सोचकर) मित्र! मुझे वचाओ।

विदूषक—अरे, आप यह क्या कह रहे हैं? ऐसा कहना आपको शोभा नहीं देता। सज्जन लोग कभी ऐसे दीन वचन नहीं वोलते। देखिए, आँधी से भी पहाड़ नहीं हिला करते हैं।

राजा—सखे! यहाँ से लौटायी जानेपर मेरी प्रेयसी की जो दशा थी, उसे स्मरण करके मैं आपे में नहीं रह पाता। क्योंकि उस समय—

जव वह यहाँ से लौटा दी गयी, तव अपने साथियों के पीछे-पीछे चलने लगी। उस समय गुरु के समान पूज्य कण्व के शिष्यों ने डाँटकर कहा—तुम यहीं रहो तो वह खड़ी हो गई। उस समय

पुनर्दृष्टिं बाष्पप्रसरकलुषामर्पितवती
मयि क्रूरे यत्तत्सविषमिव शल्यं दहति माम्॥ ९॥

सानुमती—अम्महे, ईदिसी स्वकज्जपरदा। इमस्स संदावेण अहं रमामि। [अहो, ईदृशी स्वकार्यपरता। अस्य सन्तापेनाहं रमे।]

विदूषकः—भो! अत्थि मे तक्को—केण वि तत्तहोदी आआसचारिणा णीदे त्ति। [भोः! अस्ति मे तर्कः—केनापि तत्रभवत्याकाशचारिणा नीतेति।]

राजा—कः पतिदेवतामन्यः परामर्ष्टुमुत्सहेत? मेनका किल सख्यास्ते जन्मप्रतिष्ठेति श्रुतवानस्मि। तत्सहचारिणीभिः सखी ते हृतेति मे हृदयमाशङ्कते।

सानुमती—संमोहो क्खु विम्हअणिज्जो ण पडिबोहो। [सम्मोहः खलु विस्मयनीयो न प्रतिबोधः।]

विदूषकः—जइ एव्वं अत्थि क्खु समाअमो कालेण तत्तहोदीए। [यद्येवमस्ति खलु समागमः कालेन तत्रभवत्या।]

राजा—कथमिव?

विदूषकः—ण क्खु मादापिदरा भत्तुविओअदुक्खिअं दुहिदरं चिरं पेक्खिदुं पारेंति। [न खलु मातापितरौ भर्तृवियोगदुःखितां दुहितरं चिरं द्रष्टुं पारयतः।]

राजा—वयस्य!

स्वप्नो नु माया मतिभ्रमो नु क्लिष्टं नु तावत्फलमेव पुण्यम्।
असंनिवृत्त्यै तदतीतमेते मनोरथा नाम तटप्रपाताः॥ १०॥

आँसूभरी आँखों से मुझ निष्ठुर की ओर उसने जो देखा था, वह मुझे ऐसा सन्तप्त कर रहा है कि जैसे किसी ने विष से बुझे हुए शस्त्र को मेरे शरीर में चुभो दिया हो॥ ९॥

सानुमती—अरे! अपनी करनी पर इतना पछतावा! इनके सन्ताप को देखकर मुझे बड़ा सन्तोष मिल रहा है।

विदूषक—महाराज! मेरी तो ऐसी धारणा है कि देवी शकुन्तला को कोई स्वर्गीय दूत उठा ले गया है।

राजा—अरे, उस पतिव्रता को दूसरा कौन छू सकेगा? पर सुना है कि उसकी माँ मेनका है। मुझे डर है कि कहीं उसकी सखियाँ ही उसको न उठा ले गयी हों।

सानुमती—अव राजा को जो वातें स्मरण हो रही हैं, उन्हें सुनकर मुझे इतना विस्मय नहीं होता, जितना इस वात पर कि उस समय वे भूल कैसे गये।

विदूषक—यदि वास्तव में उसकी सखियाँ ही उसे उठा ले गई होंगी, तव तो थोडे दिनों में मिल ही जायेगी।

राजा—वह कैसे?

विदूषक—माता-पिता पति से विछुडी हुई अपनी कन्या का दुःख अधिक दिनों तक नहीं देख सकेंगे।

राजा—मित्र! मैं ठीक-ठीक समझ ही नहीं पाता कि शकुन्तला का वह मिलाप सपना था, जादू था, भ्रम था या किसी ऐसे पुण्य का फल था जिसका भोग पूरा हो चुका था। इन वातों ने मेरी सभी आशाओं को पहाड़ से गिराकर चूर-चूर कर दिया है॥ १०॥

विदूषकः—मा एव्वं। णं अंगुलीअअं एव्व णिदंसणं अवस्संभावी अचिंतणिज्जो समाअमो होदि त्ति। [**मैवम्। नन्वङ्गुलीयकमेव निदर्शनमवश्यम्भाव्यचिन्तनीयः समागमो भवतीति।**]

राजा—(अङ्गुलीयकं विलोक्य) अये! इदं तावदसुलभस्थानभ्रंशि शोचनीयम्।

तव सुचरितमङ्गुलीय! नूनं प्रतनु ममेव विभाव्यते फलेन।
अरुणनखमनोहरासु तस्याश्च्युतमसि लब्धपदं यदङ्गुलीषु॥ ११॥

सानुमती—जइ अण्णहत्थगदं भवे सच्चं एव्व सोअणिज्जं भवे। [**यद्यन्यहस्तगतं भवेत् सत्यमेव शोचनीयं भवेत्।**]

विदूषकः—भो! इअं णाममुद्दा केण उग्घादेण तत्तहोदीए हत्थाब्भासं पाविदा? [**भोः! इयं नाममुद्रा केनोद्घातेन तत्रभवत्या हस्ताभ्याशं प्रापिता?**]

सानुमती—मम वि कोदूहलेण अआरिदो एसो। [**ममापि कौतूहलेनाकारित एषः।**]

राजा—श्रूयताम्। स्वनगराय प्रस्थितं मां प्रिया सबाष्पमाह—कियच्चिरेणार्यपुत्रः प्रतिपत्तिं दास्यतीति।

विदूषकः—तदो तदो? [ततस्ततः?]

राजा—पश्चादिमां मुद्रां तदङ्गुलौ निवेशयता मया प्रत्यभिहिता—

एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं नामाक्षरं गणय गच्छति यावदन्तम्।
तावत्प्रिये! मदवरोधगृहप्रवेशं नेता जनस्तव समीपमुपैष्यतीति॥ १२॥

तच्च दारुणात्मना मया मोहान्नानुष्ठितम्।

सानुमती—रमणीओ क्खु अवही विहिणा विसंवादिदो। [**रमणीयः खल्ववधिर्विधिना विसंवादितः।**]

विदूषक—ऐसा न कहिए। यह अँगूठी ही कह रही है कि उससे मिलन अवश्य होगा।

राजा—(**अँगूठी को देखकर**) हाय! इस पर भी मुझे बड़ा तरस आता है कि ऐसे सुन्दर स्थान पर पहुँचकर भी यह अँगूठी निकलकर कैसे गिर पड़ी।

अरी मुद्रिके! तेरी इस दशा से ही पता चलता है कि मेरे ही समान तेरे पुण्यों का भी भोग पूरा हो गया था। नहीं तो शकुन्तला के लाल नखोंवाली अँगुलियों से तू क्यों निकलकर गिर जाती॥ ११॥

सानुमती—हाँ, यदि यह किसी दूसरे के हाथ पड़ गई होती, तब तो सचमुच इसकी दशा सोचनीय हो जाती।

विदूषक—हे मित्र! आपकी अँगूठी किस उद्देश्य से देवी शकुन्तला के पास जा पहुँची?

सानुमती—मेरे मन के समान ही इसके मन में भी यह बात जानने की उत्कण्ठा है।

राजा—अच्छा सुनो, जब मैं आश्रम से अपनी राजधानी लौट रहा था, तब प्यारी शकुन्तला ने आँखों में आँसू भरकर पूछा अब कितने दिनों बाद मेरी सुधि लीजियेगा?

विदूषक—तब उसके बाद क्या हुआ?

राजा—तब उसकी अँगुली में यह अँगूठी पहनाते हुए मैंने कहा था—

प्यारी! इस अँगूठी पर लिखे हुए मेरे नाम के अक्षरों को रोज गिनती रहना। जब सभी अक्षर गिन लोगी, तब रनिवास का कोई सेवक तुम्हें बुलाने के लिए यहाँ आ जायेगा॥ १२॥

पर मुझ कठोर हृदय से ऐसा करते नहीं बना।

सानुमती—अवधि तो बड़ी अच्छी थी, पर भाग्य ने सब नष्ट कर डाला।

विदूषकः—अध कहं धीवलकप्पिअस्स लोहिअमच्छस्स उदलब्भंतले आसि ? [अथ कथं धीवरकल्पितस्य रोहितमत्स्यस्योदराभ्यन्तर आसीत् ?]

राजा—शचीतीर्थं वन्दमानायाः सख्यास्ते हस्ताद् गङ्गास्रोतसि परिभ्रष्टम्।

विदूषकः—जुज्जइ। [युज्यते।]

सानुमती—अदो एव्व तवस्सिणीए सउंदलाए अधम्मभीरुणो इमस्स राएसिणो परिणए संदेहो आसि। अहवा, ईदिसो अणुराओ अहिण्णाणं अवेक्खदि। कहं विअ एदं ? [अत एव तपस्विन्याः शकुन्तलाया अधर्मभीरोरस्य राजर्षेः परिणये सन्देह आसीत्। अथवेदृशोऽनुरागोऽभिज्ञानमपेक्षते। कथमिवैतत् ?]

राजा— उपालप्स्ये तावदिदमङ्गुलीयकम्।

विदूषकः—(आत्मगतम्) गहीदो णेण पंथा उम्मत्तआणं। [गृहीतोऽनेन पन्था उन्मत्तानाम्।]

राजा—(अनाकर्णितनाटितकेन अङ्गुलीयकं विलोक्य) मुद्रिके !

कथं नु तं बन्धुरकोमलाङ्गुलिं करं विहायासि निमग्नमम्भसि।

अथवा—

अचेतनं नाम गुणं न लक्षयेन्मयैव कस्मादवधीरिता प्रिया॥ १३॥

विदूषकः—(आत्मगतम्) अहं क्खु बुभुक्खाए खादिदव्व त्ति। [अहं खलु बुभुक्षया खादितव्य इति।]

राजा—अकारणपरित्यागानुशयतप्तहृदयस्तावदनुकम्प्यतामयं जनः पुनर्दर्शनेन।

(प्रविश्यापटीक्षेपेण चित्रफलकहस्ता)

चतुरिका—इअं चित्तगदा भट्टिणी। [इयं चित्रगता भट्टिनी।] (इति चित्रफलकं दर्शयति)

विदूषक—अच्छा, यह तो बताइए कि उस मछुए ने जिस रोहू मछली को काटा था, उसके पेट में यह कैसे जा पहुँची ?

राजा—शकुन्तला जब शचीतीर्थ को प्रणाम कर रही थी, तभी अँगूठी अँगुली से निकलकर गङ्गाजी की धारा में गिर गई।

विदूषक—ठीक ही है।

सानुमती—तो इसीलिए इन राजर्षि ने अधर्म के भय से बेचारी शकुन्तला के साथ विवाह होने में सन्देह किया था। नहीं तो ऐसे प्रेम में क्या किसी पहचान की जरूरत पड़ती है ?

राजा—मैं अभी इस अँगूठी को कोसता हूँ न।

विदूषक—(आप ही आप) अरे, ये तो पागल हो चले।

राजा—(न सुना हो, ऐसा अभिनय करते हुए अँगूठी को देखकर) अरी ओ अँगूठी !

उन सुन्दर और कोमल अँगुलियों को छोड़कर तू क्यों जल में कूद गई ? किन्तु अँगूठी में तो जीव नहीं था, इसलिए उसने गुण की परख न की हो तो ठीक ही है, किन्तु मैंने मनुष्य होकर भी उसका निरादर क्यों किया ? ॥ १३॥

विदूषक—(स्वगत) तुम मुझको भूख से सममुच ही मार डालोगे।

राजा—प्यारी ! तुम्हें बिना कारण छोड़ देने की जलन से मेरा हृदय जला जा रहा है। मुझे फिर अपना दर्शन देने की दया करो।

(सहसा परदा उठाकर चित्रफलक लिये हुए प्रवेश कर)

चतुरिका—यह रहा देवी का चित्र। (चित्रफलक दिखलाती है)

विदूषकः—साहु वअस्स! महुरावत्थाणदंसणिज्जो भावाणुप्पवेसो। क्खलदि विअ मे दिट्ठी णिण्णुण्णअप्पदेसेसु। [साधु वयस्य! मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेशः। स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोन्नतप्रदेशेषु।]

सानुमती—अंमो, एसा राएसिणो णिउणदा। जाणे सही अग्गदो मे वट्टदि त्ति। [अहो, एषा राजर्षेर्निपुणता। जाने सख्यग्रतो मे वर्तत इति।]

राजा— यद्यत्साधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम्॥ १४॥

सानुमती—सरिसं एदं पच्छाद्दावगुरुणो सिणेहस्स अणवलेवस्स अ। [सदृशमेतत्पश्चात्तापगुरोः स्नेहस्यानवलेपस्य च।]

विदूषकः—भो! दाणिं तिण्हिओ तत्तहोदीओ दीसंति। सव्वाओ अ दंसणीआओ। कदमा एत्थ तत्तहोदी सउंदला। [भोः! इदानीं तिस्रस्तत्रभवत्यो दृश्यन्ते। सर्वाश्च दर्शनीयाः। कतमात्र तत्रभवती शकुन्तला।]

सानुमती—अणभिण्णो क्खु ईदिसस्स रूवस्स मोहदिट्ठी अअं जणो। [अनभिज्ञः खल्वीदृशस्य रूपस्य मोघदृष्टिरयं जनः।]

राजा—त्वं तावत्कतमां तर्कयसि?

विदूषकः—तक्केमि जा एसा सिढिलकेसबंधणुव्वंतकुसुमेण केसंतेण उब्भिण्णस्सेअबिंदुणावअणेण विसेसदो ओसरिआहिं बाहाहिं अवसेअसिणिद्धतरुणपल्लवस्स चूअपाअवस्स पासे इसिपरिस्संता विअ आलिहिदा सा सउंदला। इदराओ सहीओ त्ति। [तर्कयामि यैषा शिथिलकेशबन्धनोद्वान्तकुसुमेन केशान्तेनोद्भिन्नस्वेदबिन्दुना वदनेन विशेषतोऽपसृताभ्यां बाहुभ्यामवसेकस्निग्धतरुणपल्लवस्य चूतपादस्य पार्श्व ईषत्परिश्रान्तेवालिखिता सा शकुन्तला। इतरे सख्याविति।]

विदूषक—वाह मित्र! वाह! इसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग आपने ऐसे सुन्दर बनाये हैं कि मनोभाव तक उतर आये हैं। मेरी आँखें तो इस चित्र में बने ऊँचे-नीचे स्थलों में जैसे ठोकरें खाकर लड़खड़ाने लगी हैं।

सानुमती—अरे! ये राजर्षि तो बड़े ही चतुर चित्रकार हैं। इस चित्र को देखकर ऐसा लगता है कि मानो सखी शकुन्तला सामने खडी हैं।

राजा—मैंने यद्यपि इस चित्र के सब दोष ठीक कर दिये हैं। तथापि इन रेखाओं में देवी की सुन्दरता का बहुत थोड़ा अंश आ पाया है॥ १४॥

सानुमती—ऐसे पछतावे और नम्रता से परिपूर्ण प्रेमी को ऐसा ही कहना चाहिए।

विदूषक—अरे! इस चित्र में तो तीन-तीन देवियाँ दीख रही हैं और तीनों दर्शनीय हैं। हाँ इनमें देवी शकुन्तला कौन हैं?

सानुमती—इस नासमझ को रूप और सुन्दरता की कुछ भी परख नहीं है।

राजा—अच्छा, तुम इन तीनों में से किसे शकुन्तला समझते हो?

विदूषक—पानी के छिड़काव से जो यह आम का पेड़ चमक रहा है, उसी से सटकर कुछ थकी हुई-सी जो देवी खड़ी दिखलायी देती हैं, वे ही शकुन्तला हैं। जिनके ढीले जूड़ों से फूल गिर रहे हैं, मुँह पर पसीने की बूँदें झलक रही हैं और दोनों कन्धे झुके हुए हैं। इनके साथवाली ये दोनों इसकी सखियाँ हैं।

राजा—निपुणो भवान्। अस्त्यत्र मे भावचिह्नम्।

स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिनः।
अश्रु च कपोलपतितं दृश्यमिदं वर्तिकोच्छ्वासात्॥ १५॥

चतुरिके! अर्धलिखितमेतद्विनोदस्थानम्। गच्छ, वर्तिकां तावदानय।

चतुरिका—अज्ज माढव्व! अवलंब चित्तफलअं जाव आअच्छामि। [आर्य माढव्य! अवलम्बस्व चित्रफलकं यावदागच्छामि।]

राजा—अहमेवैतदवलम्बे। (इति यथोक्तं करोति)

(निष्क्रान्ता चेटी)

राजा—(निःश्वस्य) अहं हि—

साक्षात्प्रियामुपगतामपहाय पूर्वं चित्रार्पितां पुनरिमां बहुमन्यमानः।
स्रोतोवहां पथि निकामजलामतीत्य जातः सखे! प्रणयवान्मृगतृष्णिकायाम्॥ १६॥

विदूषकः—(आत्मगतम्) एसो अत्तभवं णदिं अदिक्कमिअ मिअतिण्हिआं संकंतो। (प्रकाशम्) भो! अवरं किं एत्थ लिहिदव्वं? [एषोऽत्रभवान्नदीमतिक्रम्य मृगतृष्णिकां सङ्क्रान्तः। भोः! अपरं किमत्र लिखितव्यम्।]

सानुमती—जो जो पदेशो सहीए मे अहिरूवो तं तं आलिहिदुकामो भवे। [यो यः प्रदेशः सख्या मेऽभिरूपस्तं तमालिखितुकामो भवेत्।]

राजा—श्रूयताम्—

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।

राजा—तुम वडे चतुर हो। यहाँ मेरे प्रेम के चिह्न भी बने हुए हैं। क्योंकि—

चित्र की कोरों पर मेरी पसीजी हुई अँगुलियों के काले धब्बे पड़े हुए हैं और मेरी आँखों से जो आँसू टपका था, उसकी कूँची द्वारा शकुन्तला के गाल पर का रङ्ग उभर आया है॥ १५॥

अरी चतुरिके! अभी इस विनोद-स्थल का चित्र पूरा नहीं हो पाया है। जा, चित्र वनाने की कूँची तो ले आ।

चतुरिका—आर्य माधव्य! जरा इस चित्रपट को तो सम्हालिए, मैं अभी आ रही हूँ।

राजा—तव तक मैं ही इसे लिये रहता हूँ। (चित्रफलक ले लेता है)

(दासी चतुरिका चली जाती है)

राजा—(ठण्डी साँस लेकर) मित्र! जब वह स्वयं मेरे पास आई, तव तो मैंने निरादर करके उसे लौटा दिया और अव उसके चित्र पर इतना प्रेम दिखा रहा हूँ, जैसे कोई भलीभाँति जल से भरी नदी को छोड़कर मृगतृष्णा की ओर दौडे॥ १६॥

विदूषक—(आप ही आप) महाराज तो नदी को छोड़कर मृगतृष्णा के पीछे दौड़ने लगे हैं। (प्रकट में) मित्र! अब इस चित्र में और क्या बनाना बाकी है?

सानुमती—सम्भवतः अब राजा चित्र में उन स्थानों को वनायेंगे, जो मेरी सखी को विशेष प्रिय थे।

राजा—सुनो, अभी वह मालिनी नदी वनानी है, जिसकी रेती में हंस के जोडे बैठे हों। उसके दोनों ओर हिमालय की वह तलहटी दिखानी है, जहाँ हरिणों के झुण्ड बैठे हुए हों। मैं एक ऐसा पेड

शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्॥ १७॥

विदूषकः—(आत्मगतम्) जह अहं देक्खामि पूरिदव्वं णेण चित्तफलअं लंबकुच्चाणं तावसाणं कदंबेहिं। [**यथाऽहं पश्यामि पूरितव्यमनेन चित्रफलकं लम्बकूर्चानां तापसानां कदम्बैः।**]

राजा—वयस्य ! अन्यच्च शकुन्तलायाः प्रसाधनमभिप्रेतमत्र विस्मृतमस्माभिः।

विदूषकः—किं विअ ? [**किमिव ?**]

सानुमती—वणवासस्स सोउमारस्स अ जं सरिसं भविस्सदि। [**वनवासस्य सौकुमार्यस्य च यत्सदृशं भविष्यति।**]

राजा—

कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे! शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम्।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे॥ १८॥

विदूषकः—भो ! किं णु तत्तहोदी रत्तकुवलअपल्लवसोहिणा अग्गहत्थेण मुहं ओवारिअ चइदचइदा विअ ट्ठिआ। (सावधानं निरूप्य दृष्ट्वा) आ, एसो दासीएपुत्तो कुसुमरसपाडच्चरो तत्तहोदीए वअणं अहिलंघेदि महुअरो। [**भोः! किं नु तत्रभवती रक्तकुवलयपल्लवशोभिनाऽग्रहस्तेन मुखमपवार्य चकितचकितेव स्थिता। आः, एष दास्याः पुत्रः कुसुमरसपाटच्चरस्तत्रभवत्या वदनमभिलङ्घति मधुकरः।**]

राजा—ननु वार्यतामेष धृष्टः।

विदूषकः—भवं एव्व अविणीदाणं सासिदा इमस्स वारणे पहिविस्सदि। [**भवानेवाविनीतानां शासिताऽस्य वारणे प्रभविष्यति।**]

राजाः—युज्यते। अयि भोः कुसुमलताप्रियातिथे! किमत्र परिपतनखेदमनुभवसि ?

भी बनाना चाहता हूँ कि जिस पर वल्कल के वस्त्र टँगे हों और जिसमें नीचे एक हरिणी अपनी बाईं आँख किसी काले मृग की सींग पर रगड़कर खुजला रही हो॥ १७॥

विदूषक—(**स्वगत**) मैं सोचता हूँ कि आप इस चित्र को लम्बी-लम्बी दाढ़ीवाले तपस्वियों से भर दीजियेगा।

राजा—मित्र ! अभी तो शकुन्तला को जो आभूषण पहनाने हैं, उन्हें बनाना भूल ही गया हूँ।

विदूषक—वे कौन-कौन से आभूषण ?

सानुमती—जो उसके समान सुकुमार और वनवासिनी कुमारियाँ पहनती होंगी।

राजा—वयस्य ! अभी तो मैं सिरस का वह फूल भी नहीं बना सका, जिसकी डंठल उसने कानों में खोंस रखी थी और जिसके पराग उसके गालों पर चिपके थे। अभी उसके स्तनों के बीच में चन्द्रमा की किरण सरीखे पतले कमलतन्तुओं की माला भी मैंने नहीं बनायी है॥ १८॥

विदूषक—वयस्य ! ये देवी अपनी कमल की पंखुड़ी जैसी कोमल और लाल हथेलियों से अपना मुँह ढँके बहुत भयभीत-सी खड़ी क्यों दीख रही हैं ? (**भलीभाँति देखकर**) अरे ! देखिए तो फूलों के रस का चोर यह नीच भौंरा देवी के मुँह पर मँडरा रहा है।

राजा—मित्र ! इस दुष्ट को भगाओ।

विदूषक—ऐसे दुष्टों को दंड देना आपका काम है। सो आप ही भगाइये।

राजा—अच्छी बात है। अरे ओ फूलों और लताओं के प्रिय अतिथि ! तू इसके मुँह पर मँडराने का कष्ट क्यों कर रहा है ?

एषा कुसुमनिषण्णा तृषितापि सती भवन्तमनुरक्ता।
प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधु विना त्वया पिबति॥ १९॥

सानुमती—अज्ज वि अभिजादं क्खु एसो वारिदो। [अद्याप्यभिजातं खल्वेष वारितः।]

विदूषकः—पडिसिद्धा वि वामा एसा जादी। [प्रतिषिद्धाऽपि वामैषा जातिः।]

राजा—एवं भोः, न मे शासने तिष्ठसि ? श्रूयतां तर्हि सम्प्रति—

अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं पीतं मया सदयमेव रतोत्सवेषु।
बिम्बाधरं स्पृशसि चेद् भ्रमर ! प्रियायास्त्वां कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम्॥ २०॥

विदूषकः—एव्वं तिक्खणदंडस्स किं ण भाइस्सदि ? (प्रहस्य आत्मगतम्) एसो दाव उम्मत्तो। अहं पि एदस्स संगेण ईदिसवण्णो विअ संवुत्तो। (प्रकाशम्) भो ! चित्तं क्खु एदं। [एवं तीक्ष्णदण्डस्य किं न भेष्यति ? एष तावदुन्मत्तः। अहमप्येतस्य सङ्गेनेदृशवर्ण इव संवृत्तः। भोः ! चित्रं खल्वेतत्।]

राजा—कथं चित्रम् ?

सानुमती—अहं पि दाणिं अवगदत्था। कि उण जहालिहिदाणुभावी एसो। [अहमपीदानीमवगतार्था। किं पुनर्यथालिखितानुभाव्येषः।]

राजा—वयस्य ! किमिदमनुष्ठितं पौरोभाग्यम् ?

दर्शनसुखमनुभवतः साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन।
स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता॥ २१॥

(इति बाष्पं विहरति)

सानुमती—पुव्वावरविरोही अपुव्वो एसो विरहमग्गो। [पूर्वापरविरोध्यपूर्व एष विरहमार्गः।]

तुझ पर आसक्त भौंरी तेरी ओर आँख लगाये फूल पर बैठी हुई है, किन्तु तेरे बिना पुष्परस नहीं पी रही है॥ १९॥

सानुमती—अब भी ये कितनी कोमलतापूर्वक भौंरे को वहाँ से हट जाने के लिए कह रहे हैं।

विदूषक—ऐसे दुष्ट लोग इस प्रकार कहने से नहीं मानते।

राजा—क्यों रे भ्रमर ! तू मेरा कहना नहीं मानता ? तो सुन—

मैने प्यारी का जो ओठ अछूते नन्हें पौधे की कोमल कपोल जैसे लाल हैं और जिन्हें मैंने रति के समय भी बहुत बचाकर पिया था, उसे यदि तूने छुआ तो तुझे कमल के कोश में बन्द करा दूँगा॥ २०॥

विदूषक—क्या तू ऐसे कठोर दण्ड देनेवाले से भी नहीं डरता ? **(मन ही मन हँसकर)** ये तो एकदम पागल ही हो गये हैं। इनके साथ रहने से मैं भी कुछ-कुछ इन्हीं जैसा हो चला हूँ। **(प्रकट में)** हे महाराज ! यह तो चित्र है।

राजा—सचमुच चित्र है ?

सानुमती—स्वयं मैं भी अब समझ सकी कि यह चित्र है। फिर उसका क्या कहना, जिसने तन्मय होकर शकुन्तला का चित्र बनाया है।

राजा—मित्र ! यह तुमने क्या दुष्कर्म कर डाला ?

मैं तो बडा मगन होकर सामने खडी शकुन्तला के दर्शन का आनन्द ले रहा था। पर तुमने मुझे स्मरण दिलाकर मेरी प्यारी का चित्र बना दिया॥ २१॥

(ऐसा कहकर राजा आँसू बहाने लगता है)

सानुमती—यह तो विरह का निराला ही ढङ्ग है, जिसमें पहले कुछ था, अब कुछ और ही दीख रहा है।

राजा—वयस्य! कथमेवमविश्रान्तदुःखमनुभवामि ?

प्रजागरात्खिलीभूतस्तस्याः स्वप्ने समागमः।
बाष्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि॥ २२॥

सानुमती—सव्वहा पमज्जिदं तुए पच्चादेसदुक्खं सउंदलाए। [**सर्वथा प्रमार्जितं त्वया प्रत्यादेशदुःखं शकुन्तलायाः।**]

(प्रविश्य)

चतुरिका—जेदु जेदु भट्टा। वट्टिआकरंडअं गेण्हिअ इदोमुहं पत्थिद म्हि। [**जयतु जयतु भर्ता। वर्तिकाकरण्डकं गृहीत्वेतोमुखं प्रस्थितास्मि।**]

राजा—किं च ?

चतुरिका—सो मे हत्थादो अंतरा तरलिआदुदीआए देवीए वसुमदीए अहं एव्व अज्जउत्तस्स उवणइस्सं त्ति सबलक्कारं गहीदो। [**स मे हस्तादन्तरा तरलिकाद्वितीयया देव्या वसुमत्याऽहमेवार्यपुत्रस्योपनेष्यामीति सबलात्कारं गृहीतः।**]

विदूषकः—दिट्ठिआ तुमं मुक्का। [**दिष्ट्या त्वं मुक्ता।**]

चतुरिका—जाव देवीए विडवलग्गं उत्तरीअं तरलिआ मोचेदि ताव मए णिव्वाहिदो अत्ता। [**यावद् देव्या विटपलग्नमुत्तरीयं तरलिका मोचयति तावन्मया निर्वाहित आत्मा।**]

राजा—वयस्य! उपस्थिता देवी बहुमानगर्विता च। भवानिमां प्रतिकृतिं रक्षतु।

विदूषकः—अत्ताणं त्ति भणाहि। (चित्रफलकमादायोत्थाय च) जइ भवं अंतेउरकालकूडादो मुंचीअदि तदो मं मेहप्पडिच्छंदे प्पासादे सद्दावेहि। (इति द्रुतपदं निष्क्रान्तः) [**आत्मानमिति भण। यदि भवानन्तःपुरकालकूटान्मोक्ष्यते तदा मां मेघप्रतिच्छन्दे प्रासादे शब्दापय।**]

राजा—मित्र! तुम जानते हो कि इस समय मुझपर क्या बीत रही है ?

नींद न लगने से मैं स्वप्न में नहीं मिल पाता और सदा बहते रहनेवाले मेरे आँसू उसे चित्र में भी नहीं देखने देते॥ २२॥

सानुमती—शकुन्तला को छोड़कर तुमने हमलोगों के मन में जो असन्तोष भर दिया था, वह सब आज तुमने धो डाला।

(प्रवेश करके)

चतुरिका—महाराज की जय हो, जय हो। चित्र-सामग्री की पिटारी लेकर मैं इधर आ रही थी—

राजा—तब क्या हुआ ?

चतुरिका—तभी तरलिका के साथ आती हुई महारानी वसुमती ने यह कहकर मुझसे बलपूर्वक वह पेटी छीन ली और कहा कि मैं स्वयं इसे आर्यपुत्र के पास पहुँचा दूँगी।

विदूषक—तेरा बड़ा भाग्य है कि तू उनके हाथ से बिना पिटे बचकर चली आई।

चतुरिका—तरलिका वृक्ष की डालों में महारानी की फँसी हुई ओढनी छुड़ाने लगी, तब तक मैं चुपचाप चली आयी।

राजा—मित्र! महारानी मुँह फुलाए इधर ही आ रही हैं। सो तुम इस चित्र को ले जाकर कहीं छिपा दो।

विदूषक—यह क्यों नहीं कहते कि हमें कहीं छिपा लो? (**चित्रपट लेकर और उठकर**)

सानुमती—अण्णसंकंतहिअओ वि पढमसंभावणं अवेक्खदि। अदिसिढिलसोहदो दाणिं एसो। [अन्यसङ्क्रान्तहृदयोऽपि प्रथमसम्भावनामपेक्षते। अतिशिथिलसौहार्द इदानीमेषः।]

(प्रविश्य पत्रहस्ता)

प्रतीहारी—जेदु जेदु देवो। [जयतु जयतु देवः।]

राजा—वेत्रवति! न खल्वन्तरा दृष्टा त्वया देवी।

प्रतीहारी—अह इं। पत्तहत्थं मं देक्खिअ पडिणिउत्ता। [अथ किम्। पत्रहस्तां मां प्रेक्ष्य प्रतिनिवृत्ता।]

राजा—कार्यज्ञा कार्योपरोधं मे परिहरति।

प्रतीहारी—देव! अमच्चो विण्णवेदि—अत्थजादस्स गणणाबहुलदाए एक्कं एव्व पोरकज्जं अवेक्खिदं तं देवो पत्तारूढं पच्चक्खीकरेदु त्ति। [देव! अमात्यो विज्ञापयति—अर्थजातस्य गणनाबहुलतयैकमेव पौरकार्यमवेक्षितं तद्देवः पत्रारूढं प्रत्यक्षीकरोत्विति।]

राजा—इतः पत्रिकां दर्शय।

(प्रतीहार्युपनयति)

राजा—(अनुवाच्य) कथं समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः? अनपत्यश्च किल तपस्वी। 'राजगामी तस्यार्थसञ्चयः' इत्येतदमात्येन लिखितम्। (सविषादं) कष्टं खल्वनपत्यता। वेत्रवति! बहुधनत्वाद् बहुपत्नीकेन तत्रभवता भवितव्यम्। विचीयतां यदि काचिदापन्नसत्त्वा तस्य भार्यासु स्यात्।

अच्छा अब आपको रनिवास के कालकूट से छुटकारा मिले तो मुझे मेघप्रतिच्छन्द भवन में पुकार लीजिएगा। (यह कहकर शीघ्र चला जाता है)

सानुमती—यद्यपि इन्होंने दूसरों को अपना हृदय दे डाला है, किन्तु ये अपनी पहली रानी के प्रेम को भी नहीं ठुकराना चाहते। पर राजा के मन में रानी के लिए कुछ भी प्रेम नहीं बचा रह गया है।

(हाथ में पत्र लिये हुए प्रवेश कर)

प्रतीहारी—महाराज की जय हो, जय हो।

राजा—वेत्रवती! तुम्हें बीच में महारानी तो नहीं मिलीं।

प्रतीहारी—मिली थीं। पर मेरे हाथ में पत्र देखकर वापस लौट गयीं।

राजा—वे समय को पहचानती हैं, इसीलिए मेरे काम में बाधा नहीं डालतीं।

प्रतीहारी—महाराज! अमात्य ने कहलाया है कि आज सारा दिन कई विभागों के कररूप में प्राप्त द्रव्यसमूह का हिसाब लगाने में ही बीत गया। अतएव प्रजा का केवल एक ही काम मैं देख सका। उसे पत्र में पढकर समझ लें।

राजा—लाओ, पत्र मुझे दो।

(प्रतीहारी पत्र देती है)

राजा—(बाँचकर) अरे! क्या समुद्र का व्यापारी धनमित्र नाव-दुर्घटना में मर गया। बेचारे को कोई सन्तान भी नहीं थी। तिसपर प्रधानमन्त्रीजी लिखते हैं कि 'उसका सारा धन राजकोष में आ जाना चाहिए।' (दुःखी होकर) निःसन्तान होना भी बड़े दुःख की बात है। वेत्रवती! उस सेठ के पास बहुत धन था। इसलिए उसकी बहुत-सी स्त्रियाँ तो होंगी हीं। पता लगाओ, उनमें से कोई गर्भवती भी है।

प्रतिहारी—देव ! दाणिं एव्व साकेदअस्स सेट्ठिणो दुहिआ णिव्वुत्तपुंसवणा जाआ से सुणीअदि। [देव ! इदानीमेव साकेतस्य श्रेष्ठिनो दुहिता निर्वृत्तपुंसवना जायाऽस्य श्रूयते।]

राजा—ननु गर्भः पित्र्यं रिक्थमर्हति। गच्छ, एवममात्यं ब्रूहि।

प्रतीहारी—जं देवो आणवेदि। [यद्देव आज्ञापयति।] (इति प्रस्थिता)

राजा—एहि तावत्।

प्रतीहारी—इअ म्हि। [इयमस्मि।]

राजा—किमनेन सन्ततिरस्ति नास्तीति।

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्॥ २३॥

प्रतीहारी—एव्वं णाम घोसइदव्वं। (निष्क्रम्य, पुनः प्रविश्य) काले पवुट्ठं विअ अहिणंदिदं देवस्स सासणं। [एवं नाम घोषयितव्यम्। काले प्रवृष्टमिवाभिनन्दितं देवस्य शासनम्।]

राजा—(दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य) एवं भोः, सन्ततिच्छेदनिरवलम्बानां कुलानां मूलपुरुषावसाने सम्पदः परमुपतिष्ठन्ति। ममाप्यन्ते पुरुवंशश्रिय एष एव वृत्तान्तः।

प्रतीहारी—पडिहदं अमंगलं। [प्रतिहतममङ्गलम्।]

राजा—धिङ्मामुपस्थितश्रेयोऽवमानिनम्।

सानुमती—असंसअं सहिं एव्व हिअए करिअ णिंदिदो णेण अप्पा। [असंशयं सखीमेव हृदये कृत्वा निन्दितोऽनेनात्मा।]

राजा—संरोपितेऽप्यात्मनि धर्मपत्नी त्यक्ता मया नाम कुलप्रतिष्ठा।
कल्पिष्यमाणा महते फलाय वसुन्धरा काल इवोप्तबीजा॥ २४॥

प्रतीहारी—देव ! ऐसा सुना जाता है कि अयोध्यावाले सेठ की जो कन्या उसे व्याही थी, उसका अभी थोड़े दिन पहले पुंसवनसंस्कार हुआ है।

राजा—तब जाकर अमात्य से कह दो कि वह गर्भ का बालक ही सेठ के धन का स्वामी होगा।

प्रतीहारी—जैसी महाराज की आज्ञा। (यह कहकर चली जाती है)

राजा—हाँ, जरा सुनो तो।

प्रतीहारी—आ गई।

राजा—किसी को सन्तान हो या न हो इससे कोई मतलब नहीं।

जाकर राज्य भर में ढिंढोरा पिटवा दो कि पापियों के सिवाय बाकी हमारी प्रजा के और जितने लोग हैं, उनके जो-जो कुटुम्बी न रहें, उनका वह कुटुम्बी दुष्यन्त होगा॥ २३॥

प्रतीहारी—ऐसी ही घोषणा करा दी जायगी। (जाने के बाद पुनः लौटकर) महाराज की यह घोषणा सुनकर प्रजा वैसे ही मगन हो उठी है, जैसे समय पर पानी बरसने से खेती लहलहा उठती है।

राजा—(लम्बी और गरम साँस लेकर) इसी तरह निपूतों का सारा धन उनके मर जाने पर दूसरों के हाथ चला जाता है। मेरे बाद पुरुवंश की राज्यलक्ष्मी का भी यही हाल होनेवाला है।

प्रतीहारी—भगवान् आपको ऐसे बुरे दिन न दिखायें।

राजा—अपने घर आयी हुई लक्ष्मी का निरादर करनेवाले मुझ अभागे को धिक्कार है।

सानुमती—निःसन्देह राजा ने शकुन्तला के सन्दर्भ में ही अपने आपको धिक्कारा है।

राजा—जैसे समय पर बोई हुई पृथ्वी फलवती होती है, वैसे ही मुझसे गर्भ-धारण करके कुल को चलानेवाली अपनी धर्मपत्नी को ही मैंने अपमानपूर्वक त्याग दिया॥ २४॥

सानुमती—अपरिच्छिण्णा दाणिं दे संददी भविस्सदि। [अपरिच्छिन्नेदानीं ते सन्ततिर्भविष्यति।]

चतुरिका—(जनान्तिकम्) अए! इमिणा सत्थवाहवुत्तंतेण दिउणुव्वेओ भट्टा। णं अस्सासिदुं मेहप्पडिच्छंदादो अज्जं माढव्वं गेण्हिअ 'आअच्छेहि। [अयि! अनेन सार्थवाहवृत्तान्तेन द्विगुणोद्वेगो भर्ता। एनमाश्वासयितुं मेघप्रतिच्छन्दादार्य माढव्यं गृहीत्वागच्छ।]

प्रतीहारी—सुट्ठु भणासि। [सुष्ठु भणसि।] (इति निष्क्रान्ता)

राजा—अहो दुष्यन्तस्य संशयमारूढाः पिण्डभाजः। कुतः—

अस्मात्परं बत यथाश्रुति सम्भृतानि को नः कुले निवपनानि करिष्यतीति।
नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं धौताश्रुशेषमुदकं पितरः पिबन्ति॥ २५॥

(इति मोहमुपगतः)

चतुरिका—(ससम्भ्रममवलोक्य) समस्ससदु समस्ससदु भट्टा। [समाश्वसितु समाश्वसितु भर्ता।]

सानुमती—हद्धी हद्धी। सदि क्खु दीवे ववधाणदोसेण एसो अंधआरदोसं अणुहोदि। अहं दाणिं एव्व णिव्वुदं करेमि। अहवा सुदं मए सउंदलं समस्सासअंतीए महेंदजणणीए मुहादो—जण्णभाओस्सुआ देवा एव्व तह अणुचिट्ठिस्संति जह अइरेण धम्मपदिणिं भट्टा अहिणंदिस्सदि त्ति। ता ण जुत्तं कालं पडिपालिदुं। जाव इमिणा वुत्तंतेण पिअसहिं समस्सासेमि। [हा धिक् हा धिक्। सति खलु दीपे व्यवधानदोषेणैषोऽन्धकारदोषमनुभवति। अहमिदानीमेव निर्वृतं करोमि। अथवा श्रुतं मया शकुन्तलां समाश्वासयन्त्या महेन्द्रजनन्या मुखाद्—यज्ञभागोत्सुका देवा एव तथानुष्ठास्यन्ति यथाऽचिरेण धर्मपत्नीं भर्ताऽभिनन्दिष्यतीति। तन्न युक्तं कालं प्रतिपालयितुम्। यावदनेन वृत्तान्तेन प्रियसखीं समाश्वासयामि।] (इत्युद्भ्रान्तकेन निष्क्रान्ता)

सानुमती—तुम्हारी सन्तान तुम्हारा वंश चलायेगी।

चतुरिका—(अलग) प्रतीहारी! यह सेठवाली बात सुनकर तो राजा का दुःख दूना हो गया है। अतएव इनका मन बहलाने के लिए आर्य माधव्य को मेघप्रतिच्छन्न-भवन से जाकर बुला ला।

प्रतीहारी—यह तो तुम ठीक कह रही हो। (जाती है)

राजा—दुष्यन्त के पितर भी सन्देह में पड़ गये होंगें। क्योंकि—

वे विकल होकर सोचते होंगें कि दुष्यन्त के वाद कौन हमारा वैदिक विधि से तर्पण करेगा। इसी सोच में वे मेरे हाथ से तर्पण किये हुए जल के कुछ भाग से अपने आँसू धोने के वाद वाकी जल पीते होंगे॥ २५॥

(ऐसा कहकर महाराज मूर्च्छित हो जाते हैं)

चतुरिका—(घबराहट के साथ देखकर) धीरज धरिए महाराज! धीरज धरिए।

सानुमती—हाय-हाय दीपक के रहते हुए भी जैसे बीच में किसी चीज की ओट पड जाने से अँधेरा छा जाता है, वैसे ही इस राजा को भी मोह हो गया है। मैं तो इसको निश्चिन्त कर देती, पर देवमाता अदिति ने शकुन्तला को समझाते हुए कहा था कि 'यज्ञ में भाग पाने के लिए उत्सुक देवता लोग ही ऐसा कुछ करेंगे कि जिससे राजा दुष्यन्त शीघ्र तुम्हें अपनी धर्मपत्नी वनाकर तुम्हारा अभिनन्दन करेंगे'। तो अव देर नहीं करनी चाहिए। चलकर शकुन्तला को ये सभी वातें सुना दूँ, जिससे उसे भी धीरज हो जाय। (**झटके से चली जाती है**)

(नेपथ्ये) अव्वम्हण्णं। [अब्रह्मण्यम्।]

राजा—(प्रत्यागतः कर्ण दत्त्वा) अये, माधव्यस्येवार्तस्वरः। कः कोऽत्र भोः ?

(प्रविश्य)

प्रतीहारी—(ससम्भ्रमम्) परित्ताअदु देवो संसअगदं वअस्सं। [परित्रायतां देवः संशयगतं वयस्यम्।]

राजा—केनात्तगन्धो माणवकः ?

प्रतीहारी—अदिट्ठरूवेण केण वि सत्तेण अदिक्कमिअ मेहप्पडिच्छंदस्स प्पासादस्स अग्गभूमिं आरोविदो। [अदृष्टरूपेण केनापि सत्त्वेनातिक्रम्य मेघप्रतिच्छन्दस्य प्रसादस्याग्रभूमिमारोपितः।]

राजा—(उत्थाय) मा तावत्। ममापि सत्त्वैरभिभूयन्ते गृहाः। अथवा—

अहन्यहन्यात्मन एव तावज्ज्ञातुं प्रमादस्खलितं न शक्यम्।
प्रजासु कः केन पथा प्रयातीत्यशेषतो वेदितुमस्ति शक्तिः॥ २६॥

(नेपथ्ये) भो वअस्स! अविहा अविहा। [भो वयस्य! अविहा अविहा।]

राजा—(गतिभेदेन परिक्रामन्) सखे! न भेतव्यं न भेतव्यम्।

(नेपथ्ये)

(पुनस्तदेव पठित्वा) कहं ण भाइस्सं ? एस मं को वि पच्चवणदसिरोहरं इक्खुं विअ तिण्णभंगं करेदि। [कथं न भेष्यामि ? एष मां कोऽपि प्रत्यवनतशिरोधरमिक्षुमिव त्रिभङ्गं करोति।]

राजा—(सदृष्टिक्षेपम्) धनुस्तावत्।

(नेपथ्य में) अरे! मार डाला, मुझ ब्राह्मण को किसी ने मार डाला।

राजा—(सजग भाव से कान लगाकर) अरे! यह तो माधव्य के जैसा करुण रुदन सुनाई दे रहा है। अरे कोई है ?

(प्रवेश करके)

प्रतीहारी—(घबराहट के साथ) आपके मित्र बड़े संकट में पड़ गये हैं। चलकर उन्हें बचाइए।

राजा—माधव्य को किसने सताया है ?

प्रतीहारी—प्रच्छन्नरूप से किसी भूत-प्रेत ने उन्हें पकड़कर मेघप्रतिच्छन्न भवन की मुँडेर पर टाँग दिया है।

राजा—(उठकर) यह कैसे हो सकता है ? क्या मेरे घर में भी भूत-प्रेत आने लगे हैं ? पर यह तो सम्भव है। अथवा—

जब मनुष्य यही नहीं जान सकता कि वह स्वयं अपनी भूल से नित्य कितने पाप करता है, तो यह भलीभाँति कैसे ज्ञात हो कि प्रजा में कौन किस राह पर चल रहा है॥ २६॥

(नेपथ्य में) मित्र! दुहाई है, दुहाई।

राजा—(वेग से घूमकर) मित्र! डरो मत, डरो मत।

(नेपथ्य में)

(पुनः उसी बात को कहकर) हाय, हाय! डरूँ क्यों नहीं ? यहाँ तो कोई मेरे गले को ईख के समान मरोड़कर उसके तीन टुकड़े किये दे रहा है।

राजा—(चारों ओर देखकर) अरे, मेरा धनुष तो ले आओ।

(प्रविश्य शार्ङ्गहस्ता)

यवनी—भट्टा! एदं हत्थावावसहिदं सरासणं। [भर्तः! एतद्धस्तावापसहितं शरासनम्।]

(राजा सशरं धनुरादत्ते)

(नेपथ्ये)

एष त्वामभिनवकण्ठशोणितार्थी शार्दूलः पशुमिव हन्मि चेष्टमानम्।
आर्तानां भयमपनेतुमात्तधन्वा दुष्यन्तस्तव शरणं भवत्विदानीम्॥ २७॥

राजा—(सरोषम्) कथं मामेवोद्दिशति? तिष्ठ कुणपाशन! त्वमिदानीं न भविष्यसि। (शार्ङ्गमारोप्य) वेत्रवति! सोपानमार्गमादेशय।

प्रतीहारी—इदो इदो देवो! [इत इतो देवः।]

(सर्वे सत्वरमुपसर्पन्ति)

राजा—(समन्ताद्विलोक्य) शून्यं खल्विदम्।

(नेपथ्ये)

अविहा अविहा। अहं अत्तभवंतं पेक्खामि? तुमं मं ण पेक्खसि। विडालग्गहीदो मूसओ विअ णिराओ म्हि जीविदे संवुत्तो। [**अविहा अविहा। अहमत्रभवन्तं पश्यामि। त्वं मां न पश्यसि? विडालगृहीतो मूषक इव निराशोऽस्मि जीविते संवृत्तः।**]

राजा—भोस्तिरस्करिणीगर्वित! मदीयमस्त्रं त्वां द्रक्ष्यति। एष तमिषुं सन्दधे।

यो हनिष्यति वध्यं त्वां रक्ष्यं रक्षिष्यति द्विजम्।
हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः॥ २८॥

(इत्यस्त्रं सन्धत्ते)

(हाथ में धनुष लिये हुए प्रवेश कर)

यवनी—महाराज! यह लीजिए धनुष और हस्तरक्षक।

(राजा धनुष-बाण लेते हैं)

(नेपथ्य में)

तेरे गले के गरम रुधिर का प्यासा मैं अभी तुझे उसी प्रकार मार डालूँगा, जैसे तड़पते हुए पशु को सिंह मार डालता है। अब पीड़ितों के रक्षक धनुषधारी दुष्यन्त आकर तुझे बचायें॥ २७॥

राजा—(**क्रोधपूर्वक**) तो क्या तू मुझे भी चुनौती दे रहा है? तो ठहर सड़ा मांस खानेवाले पिशाच! मैं अभी तुझे मारता हूँ। (**धनुष चढाकर**) वेत्रवती! आगे-आगे सीढ़ी पर चल।

प्रतीहारी—इधर से आइए देव, इधर से।

(सभी वेग से आगे बढते हैं)

राजा—(**चारों ओर देखकर**) यहाँ तो कोई नहीं दिखाई देता?

(नेपथ्य में)

हाय! हाय! मैं तो आपको देख रहा हूँ, पर आप मुझे नहीं देखते। मै तो बिल्ली के पंजों में पड़े हुए चूहे के समान अपने प्राणों से हाथ धो बैठा हूँ।

राजा—अरे कपट विद्या के घमंडी! अब मेरा बाण ही तुझे देखेगा। लो, मैं बाण चढाता हूँ।

जैसे हंस पानी मिले दूध में से दूध पी जाता है और पानी छोड देता है, वैसे ही यह बाण भी तुझ मारे जाने योग्य पापी को मार डालेगा और इस बचाये जाने योग्य ब्राह्मण को बचा लेगा॥ २८॥

(बाण चढाता है)

(ततः प्रविशति विदूषकमुत्सृज्य मातलिः)

मातलिः—राजन्!

कृताः शरव्यं हरिणा तवासुराः शरासनं तेषु विकृष्यतामिदम्।
प्रसादसौम्यानि सतां सुहृज्जने पतन्ति चक्षूंषि न दारुणाः शराः ॥ २९ ॥

राजा—(ससम्भ्रममस्त्रमुपसंहरन्) अये, मातलिः। स्वागतं महेन्द्रसारथे!

(प्रविश्य)

विदूषकः—अहं जेण इट्टिपसुमारं मारिदो सो इमिणा साअदेण अहिणंदीअदि। [अहं येनेष्टिपशुमारं मारितः सोऽनेन स्वागतेनाभिनन्द्यते।]

मातलिः—(सस्मितम्) आयुष्मन्! श्रूयतां यदर्थमस्मि हरिणा भवत्सकाशं प्रेषितः।

राजा—अवहितोऽस्मि।

मातलिः—अस्ति कालनेमिप्रसूतिर्दुर्जयो नाम दानवगणः।

राजा—अस्ति। श्रुतपूर्वं मया नारदात्।

मातलिः—

सख्युस्ते स किल शतक्रतोरजय्यस्तस्य त्वं रणशिरसि स्मृतो निहन्ता।
उच्छेत्तुं प्रभवति यन्न सप्तसप्तिस्तन्नैशं तिमिरमपाकरोति चन्द्रः ॥ ३० ॥

स भवानात्तशस्त्र एव इदानीं तमैन्द्ररथमारुह्य विजयाय प्रतिष्ठताम्।

राजा—अनुगृहीतोऽहमनया मघवतः सम्भावनया। अथ माधव्यं प्रति भवता किमेवं प्रयुक्तम्?

(विदूषक को छोड़कर मातलि का प्रवेश)

मातलि—राजन्! देवराज इन्द्र ने राक्षसों को मारने का काम आपको ही सौंपा है। अब आप उन राक्षसों पर ही बाण चलाइए। क्योंकि सज्जन लोग अपने मित्रों पर बाण नहीं, कृपा बरसाते है ॥ २९ ॥

राजा—(शीघ्रता से बाण उतारता हुआ) इन्द्र के सारथी मातलि! आइए, आपका स्वागत है।

(प्रवेश करके)

विदूषक—अरे! जो मुझको बलिपशु के समान मारे डाल रहा था, उसका महाराज स्वागत कर रहे हैं?

मातलि—(मुस्कुराकर) आयुष्मन्! मुझे जिस काम से इन्द्र ने आपके पास भेजा है, सो सुनिए।

राजा—कहिए, मैं सुन रहा हूँ।

मातलि—कालनेमि का वंशज दुर्जय नामक दानवों का एक समूह है।

राजा—हाँ, नारद मुनि के मुख से बहुत पहले मैंने यह वृत्तान्त सुना था।

मातलि—आपके मित्र इन्द्र उन्हें नहीं जीत पा रहे हैं। अब यह समझा जा रहा है कि आप ही उन्हें रणक्षेत्र में पछाड़ सकते हैं। क्योंकि रात के जिस अँधेरे को सूर्य नहीं दूर कर सकता, उसे चन्द्रमा ही दूर करता है ॥ ३० ॥

अब यह धनुष-बाण लिये ही आप इन्द्र के इसी रथ पर चढ़कर विजय के लिए चल पड़िए।

राजा—भगवान् इन्द्र के इस सम्मान से मै बड़ा अनुगृहीत हुआ हूँ। पर आपने माधव्य के साथ ऐसा दुर्व्यवहार क्यों किया?

मातलिः—तदपि कथ्यते। किञ्चिन्निमित्तादपि मनःसन्तापादायुष्मान्मया विक्लवो दृष्टः। पश्चात्कोपयितुमायुष्मन्तं तथा कृतवानस्मि। कुतः—

ज्वलति चलितेन्धनोऽग्निर्विप्रकृतः पन्नगः फणां कुरुते।
प्रायः स्वं महिमानं क्षोभात् प्रतिपद्यते हि जनः॥ ३१॥

राजा—(जनान्तिकम्) वयस्य! अनतिक्रमणीया दिवस्पतेराज्ञा। तदत्र परिगतार्थं कृत्वा मद्वचनादमात्यपिशुनं ब्रूहि—

त्वन्मतिः केवला तावत्परिपालयतु प्रजाः।
अधिज्यमिदमन्यस्मिन्कर्मणि व्यापृतं धनुः॥ ३२॥

इति।

विदूषक—जं भवं आणवेदि। [यद्भवानाज्ञापयति।] (इति निष्क्रान्तः)

मातलिः—आयुष्मान्! रथमारोहतु।

(राजा रथाधिरोहणं नाटयति)

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

॥ इति षष्ठोऽङ्कः ॥

मातलि—वह भी बतलाता हूँ। मैने यहाँ आकर देखा कि आपका मन न जाने क्यों बड़ा दुःखी है। सो आपका क्रोध जगाने के लिए मैंने ऐसा करना ही ठीक समझा। क्योंकि—

आग तभी जगती है, जब ईधन को हिला-डुला दिया जाय; और साँप भी अपना फन उठाकर तभी फुफकारता है, जब कोई उसे छेडे। इसी प्रकार मनुष्य को भी जब तक कोई उकसाकर न भडकाये, तब तक वह अपना तेज नहीं प्रकट करता॥ ३१॥

राजा—**(हाथ से ओट लेकर विदूषक से)** मित्र! भगवान् इन्द्र की आज्ञा नहीं टाली जा सकती। इसलिए अमात्य पिशुन को यह सब समाचार सुनाकर मेरी जबानी उनसे कह देना कि—

जब तक मेरा धनुष उधर दूसरे काम में फँसा हुआ है, तब तक तुम अपनी बुद्धि से ही प्रजा का पालन करो॥ ३२॥

विदूषक—जैसी आपकी आज्ञा। (चला जाता है)

मातलि—आयुष्मान्! रथ पर आरूढ हों।

(राजा रथ पर चढ़ने का अभिनय करते हैं)

(सभी का प्रस्थान)

छठा अङ्क समाप्त।

सप्तमोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्याकाशयानेन रथाधिरूढो राजा मातलिश्च)

राजा—मातले! अनुष्ठितनिदेशोऽपि मघवतः सत्क्रियाविशेषादनुपयुक्तमिवात्मानं समर्थये।

मातलिः—(सस्मितम्) आयुष्मन्! उभयमप्यपरितोषं समर्थये।

प्रथमोपकृतं मरुत्वतः प्रतिपत्त्या लघु मन्यते भवान्।
गणयत्यवदानविस्मितो भवतः सोऽपि न सत्क्रियागुणान्॥ १॥

राजा—मातले! मा मैवम्। स खलु मनोरथानामप्यभूमिर्विसर्जनावसरसत्कारः। मम हि दिवौकसां समक्षमर्धासनोपवेशितस्य—

अन्तर्गतप्रार्थनमन्तिकस्थं जयन्तमुद्वीक्ष्य कृतस्मितेन।
आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा॥ २॥

मातलिः—किमिव नामायुष्मानमरेश्वरान्नार्हति। पश्य—

सुखपरस्य हरेरुभयैः कृतं त्रिदिवमुद्धृतदानवकण्टकम्।
तव शरैरधुना नतपर्वभिः पुरुषकेसरिणश्च पुरा नखैः॥ ३॥

राजा—अत्र खलु शतक्रतोरेव महिमा स्तुत्यः।

(विमान पर आरूढ़ राजा दुष्यन्त और मातलि का प्रवेश)

राजा—मातलि! मैंने तो भगवान् इन्द्र की आज्ञा का पालनमात्र किया था, किन्तु उन्होंने जैसा मेरा स्वागत-सत्कार किया, उसके योग्य मैं अपने को नहीं समझता।

मातलि—(मुस्कराकर) आयुष्मन्! मैं तो समझता हूँ कि आप दोनों का मन एक-दूसरे का आदर करके भरा नहीं है।

राजन्! इन्द्र का इतना बड़ा उपकार करके भी आप जो अपनी सेवा को तुच्छ समझते हैं, वह इसलिए कि आप भगवान् इन्द्र को महत्त्व देना चाहते हैं। वे भी आपकी वीरता से इतने आश्चर्य में पड़ गये हैं कि आपका ऐसे धूमधाम से सम्मान करके भी वे समझते हैं कि आपका समुचित आदर हो नहीं सका॥ १॥

राजा—मातलि! नहीं यह बात नहीं है। वहाँ से चलते समय मेरा जो सम्मान हुआ है, उसकी तो कोई कल्पना ही नहीं कर सकता। देवताओं के सामने ही उन्होंने मुझे अपने आधे आसन पर बिठा लिया और—

अपनी छाती पर शोभा देती हुई हरिचन्दन लगी यह मन्दार-माला अपने गले से उतारकर मुस्कराते हुए मेरे गले में डाल दी, जिसे पाने के लिए उनका पुत्र जयन्त ललचाया हुआ था॥ २॥

मातलि—ऐसा कौन-सा सम्मान है, जो देवराज इन्द्र के हाथों आप नहीं पा सकते। देखिए—

सदा सुखमय जीवन बितानेवाले इन्द्र के लिए दो ही तो ऐसे महापुरुष हैं, जिन्होंने स्वर्ग से राक्षसरूपी काँटे उखाड़ फेंके हैं। एक तो थे नृसिंह भगवान्, जिन्होंने अपने नखों से देवताओं के शत्रु हिरण्यकशिपु का पेट फाड़ डाला था और दूसरे आप हैं, जिन्होंने इस बार अपने अवनत जोड़वाले बाणों से शत्रुओं को परास्त किया है॥ ३॥

राजा—यह सब तो भगवान् इन्द्र की स्तुत्य महिमा का फल है। क्योंकि—

सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः सम्भावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम्।
किं वाऽभविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता तं चेत्सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत्॥४॥

मातलिः—सदृशमेवैतत्। (स्तोकमन्तरमतीत्य) आयुष्मन्! इतः पश्य नाकपृष्ठप्रतिष्ठितस्य सौभाग्यमात्मयशसः।

विच्छित्तिशेषैः सुरसुन्दरीणां वर्णैरमी कल्पलतांऽशुकेषु।
विचिन्त्य गीतक्षममर्थजातं दिवौकसस्त्वच्चरितं लिखन्ति॥५॥

राजा—मातले! असुरसम्प्रहारोत्सुकेन पूर्वेद्युर्दिवमधिरोहता मया न लक्षितः स्वर्गमार्गः। कतमस्मिन्मरुतां पथि वर्तामहे?

मातलिः—

त्रिस्रोतसं वहति यो गगनप्रतिष्ठां ज्योतींषि वर्तयति च प्रविभक्तरश्मिः।
तस्य द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कं वायोरिमं परिवहस्य वदन्ति मार्गम्॥६॥

राजा—मातले! अतः खलु सबाह्यान्तःकरणो ममान्तरात्मा प्रसीदति। (रथाङ्गमवलोक्य) मेघपदवीमवतीर्णौ स्वः।

मातलिः—कथमवगम्यते।

राजा—

अयमरविवरेभ्यश्चातकैर्निष्पतद्भिर्हरिभिरचिरभासां तेजसा चानुलिप्तैः।
गतमुपरि घनानां वारिगर्भोदराणां पिशुनयति रथस्ते सीकरक्लिन्ननेमिः॥७॥

यदि कोई सेवक बड़ा काम करके आये तो वह यही समझेगा कि स्वामी ने यह काम सौंपकर उसे जो बड़ा भारी सम्मान दिया था, तो उसी का फल है। यदि सूर्य अपने आगे अरुण को न बिठाये तो भला अरुण में इतनी शक्ति कहाँ कि वे अँधेरे को दूर कर सके॥४॥

मातलि—ऐसी बातें कहना आपका बड़प्पन है **(थोड़ी दूर आगे चलकर)** आयुष्मन्! इधर स्वर्ग में फैला हुआ अपने यश का प्रताप तो देखिए।

देवता लोग आपके पराक्रम के गीत बना-बनाकर कल्पवृक्ष से बने कपड़ों पर उन रंगों से लिख रहे हैं, जो अप्सराओं के सिंगार से बचे रह गये थे॥५॥

राजा—मातलि! आते समय मैं राक्षसों से युद्ध करने के ध्यान में इतना तन्मय था कि स्वर्ग का मार्ग भलीभाँति देखा ही नहीं। यह तो बताइए कि इस समय हम लोग पवन के किस मार्ग में चल रहे हैं?

मातलि—यह वही मार्ग है जिसे लोग कहते हैं कि वामन भगवान् ने अपने दूसरे पग से नापकर पवित्रकर दिया है। यहाँ परिवह नाम का वह पवन चलता है, जिममें आकाशगंगा बहती हैं और जो अपनी वायु-धाराओं से नक्षत्रों को सन्तुलित रखता है॥६॥

राजा—मातलि! इसी से भीतरी और बाहरी सब इन्द्रियों के साथ-साथ मेरी अन्तरात्मा भी प्रसन्न हो उठी है। **(रथ के पहिए को देखते हुए)** अब हम आकाश के उस भाग पर आ गये हैं, जहाँ बादल चला करते हैं।

मातलि—यह आपने कैसे जाना?

राजा—जलकणों से भीगा हुआ आपके रथ का धुरा ही यह बतला रहा है कि हम जलभरे मेघों के ऊपर चल रहे हैं। बिजली की चमक से घोड़े भी चमक उठे हैं और रथ के पहियों के अरों के बीच से निकल-निकलकर चातक इधर-उधर उड़ रहे हैं॥७॥

मातलिः—क्षणादायुष्मान् स्वाधिकारभूमौ वर्तिष्यते।

राजा—(अधोऽवलोक्य) मातले! वेगावतरणादाश्चर्यदर्शनः संलक्ष्यते मनुष्यलोकः। तथा हि—

शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी
पर्णस्वान्तरलीनतां विजहति स्कन्धोदयात्पादपाः।
सन्तानैस्तनुभावनष्टसलिला व्यक्तिं भजन्त्यापगाः
केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते॥ ८॥

मातलिः—साधु दृष्टम्। (सबहुमानमवलोक्य) अहो! उदाररमणीया पृथिवी।

राजा—मातले! कतमोऽयं पूर्वापरसमुद्रावगाढः कनकरसनिष्यन्दी सान्ध्य इव मेघपरिघः सानुमानालोक्यते?

मातलिः—आयुष्मन्! एष खलु हेमकूटो नाम किम्पुरुषपर्वतस्तपःसंसिद्धिक्षेत्रम्। पश्य—

स्वायम्भुवान् मरीचेर्यः प्रबभूव प्रजापतिः।
सुरासुरगुरुः सोऽत्र सपत्नीकस्तपस्यति॥ ९॥

राजा—तेन ह्यनतिक्रमणीयानि। श्रेयांसि प्रदक्षिणीकृत्य भगवन्तं गन्तुमिच्छामि।

मातलिः—प्रथमः कल्पः।

(नाट्येनावतीर्णौ)

राजा—(सविस्मयम्)

उपोढशब्दा न रथाङ्गनेमयः प्रवर्तमानं न च दृश्यते रजः।
अभूतलस्पर्शतयानिरुद्धतस्तवावतीर्णोऽपि रथो न लक्ष्यते॥ १०॥

मातलि—क्षण भर में ही आयुष्मन् अपने राज्य की भूमि पर पहुँच जायेंगे।

राजा—(नीचे देखकर) मातलि! वेग से उतरने के कारण नीचे का मनुष्यलोक कितना विचित्र दीख रहा है। क्योंकि—

ऐसा लगता है कि मानों धरती पहाड़ों की ऊँची चोटियों से नीचे उतर रही है, पत्तों में छिपी हुई वृक्ष की शाखाएँ अब दीखती जा रही हैं, दूर से पतली दीखने वाली नदियाँ चौड़ी होती जा रही हैं और पृथ्वी इस प्रकार ऊपर उठी चली आ रही है, जैसे कोई इसे ऊपर उछाल रहा है॥ ८॥

मातलि—ठीक देखा आपने। (आदर से देखकर) वाह! पृथिवी कैसी सुहावनी दीख रही है।

राजा—मातलि! बताओ, यह पूर्व और पश्चिम के समुद्रों तक फैला हुआ, सुनहरी धारा बहानेवाला और सन्ध्या के मेघों की परिधि के समान लम्बा-चौड़ा कौन-सा पहाड़ है?

मातलि—आयुष्मन्! यह तो हेमकूट पर्वत है, जिसमें किन्नर लोग रहते हैं और जहाँ तपस्या करनेवालों को शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त हो जाया करती है। देखिए—

यहाँ देवताओं और दानवों के पिता स्वयम्भू मरीचि के पुत्र प्रजापति कश्यप अपनी पत्नी के साथ रहते हुए तप कर रहे हैं॥ ९॥

राजा—तब तो हाथ में आया हुआ ऐसा सौभाग्य नहीं छोड़ना चाहिए। मै चाहता हूँ कि भगवान् कश्यप की प्रदक्षिणा करता चलूँ।

मातलि—यह तो आपने ठीक सोचा है।

(दोनों उतरने का अभिनय करते हैं)

राजा—(आश्चर्य से)

मातलिः—एतावानेव शतक्रतोरायुष्मतश्च विशेषः।

राजा—मातले! कतरस्मिन्प्रदेशे मारीचाश्रमः।

मातलिः—(हस्तेन दर्शयन्)

वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिरुरसा सन्दष्टसर्पत्वचा
कण्ठे जीर्णलताप्रतानवलयेनात्यर्थसम्पीडितः।
अंसव्यापि शकुन्तनीडनिचितं बिभ्रज्जटामण्डलं
यत्र स्थाणुरिवाचलो मुनिरसावभ्यर्कबिम्बं स्थितः॥ ११॥

राजा—नमोऽस्मै कष्टतपसे।

मातलिः—(संयतप्रग्रहं रथं कृत्वा) महाराज! एतावदितिपरवर्धितमन्दारवृक्षं प्रजापतेराश्रमं प्रविष्टौ स्वः।

राजा—स्वर्गादधिकतरं निर्वृतिस्थानम्। अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि।

मातलिः—(रथं स्थापयित्वा) अवतरत्वायुष्मान्।

राजा—(अवतीर्य) मातले! भवान्कथमिदानीम्?

मातलिः—संयन्त्रितो मया रथः। वयमप्यवतरामः। (तथा कृत्वा) इत आयुष्मन्। (परिक्रम्य) दृश्यन्तामत्रभवतामृषीणां तपोवनभूमयः।

राजा—ननु विस्मयादवलोकयामि।

प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे धर्माभिषेकक्रिया।

अरे! तुम्हारा रथ कब नीचे उतर आया, यह तो पता ही नहीं चला। क्योंकि पृथ्वी के संस्पर्श से न तो इसके पहियों की घरघराहट सुनाई दी, न धूल उडी और न ही तुमने रास ही खींची॥ १०॥

मातलि—यही तो आयुष्मान् के और इन्द्र के रथ में अन्तर है।

राजा—मातलि! मरीचि के तनय कश्यप का आश्रम किधर है?

मातलि—(हाथ से दिखलाते हुए) वह है कश्यप ऋषि का आश्रम, जहाँ वे ऐसी तपस्या कर रहे हैं कि उनके आधे शरीर पर दीमकों ने बाँबी लगा ली है, छाती पर साँप की केंचुलियाँ छितरायी हुई हैं, गले में सूखी बेलें उलझी हैं, कन्धों तक लटकी हुई जटाओं में चिड़ियों ने घोंसले बना रखे हैं और सूखे पेड की ठूँठ सदृश अचल होकर वे सूर्य पर आँखें जमाये हुए बैठे हैं॥ ११॥

राजा—ऐसी कठोर तपस्या करनेवाले महात्मा को प्रणाम है।

मातलि—(रास खींच तथा रथ रोककर) महाराज! अतिति द्वारा अपने हाथों से लगाये गये सुन्दर मन्दार वृक्षोंवाले प्रजापति काश्यप के आश्रम में हम लोग पहुँच गये हैं।

राजा—यहाँ पर तो स्वर्ग से भी बढकर शान्ति है। ऐसा लगता है कि मानो मैं अमृतकुण्ड में कूद पड़ा हूँ।

मातलि—(रथ रोककर) उतरें आयुष्मन्!

राजा—(उतरकर) मातलि! अब आप क्या करेंगे?

मातलि—मैंने भलीभाँति रथ रोक लिया है। मैं भी आपके साथ ही उतर रहा हूँ। (उतरकर) इधर से आइए आयुष्मन्! (घूमकर) आइए, यहाँ ऋषि की तपोभूमि देखिए।

राजा—मुझे तो यह देखकर बड़ा विस्मय हो रहा है कि—

ध्यानं रत्नशिलातलेषु विबुधस्त्रीसन्निधौ संयमौ
यत्काङ्क्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी॥ १२॥

मातलिः—उत्सर्पिणी खलु महतां प्रार्थना। (परिक्रम्य आकाशे) अये वृद्धशाकल्य! किमनुतिष्ठति भगवान्मारीचः? किं ब्रवीषि? दाक्षायण्या पतिव्रताधर्ममधिकृत्य पृष्टस्तस्यै महर्षिपत्नीसहितायै कथयतीति।

राजा—(कर्णं दत्त्वा) अये! प्रतिपाल्यावसरः खलु प्रस्तावः।

मातलिः—(राजानमवलोक्य) अस्मिन्नशोकवृक्षमूले तावदास्तामायुष्मान्, यावत्त्वामिन्द्रगुरवे निवेदयितुमन्तरान्वेषी भवामि।

राजा—यथा भवान्मन्यते। (इति स्थितः)

मातलिः—आयुष्मन्! साधयाम्यहम्। (इति निष्क्रान्तः)

राजा—(निमित्तं सूचयित्वा)

मनोरथाय नाशंसे किं बाहो! स्पन्दसे वृथा।
पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्धते॥ १३॥

(नेपथ्ये) मा क्खु चावलं करेहि। कहं गदो जेव अत्तणो पकिदिं? [**मा खलु चापलं कुरु। कथं गत एवात्मनः प्रकृतिम्?**]

राजा—(कर्णं दत्त्वा) अभूमिरियमविनयस्य। को नु खल्वेष निषिध्यते। (शब्दानुसारेणावलोक्य सविस्मयम्) अये! को नु खल्वयमनुबध्यमानस्तपस्विनीभ्यामबालसत्त्वो बालः?

यहाँ ये तपस्वी उन वस्तुओं के बीच में बैठकर तप कर रहे हैं, जिन्हें पाने के लिए अन्य ऋषि तपस्या किया करते हैं। यहाँ पर ये लोग कल्पवृक्षों के वन की वायु पी-पीकर जीते हैं, सुनहरे कमल के पराग से सुवासित जल में स्नान करके पूजा-पाठ करते हैं, रत्न-शिलाओं पर बैठकर समाधि लगाते हैं और अप्सराओं के बीच में बैठकर संयम साधते हैं॥ १२॥

मातलि—ऐसे महापुरुषों की आकांक्षाएँ भी तो उतनी ही बड़ी होती हैं। **(घूमकर आकाश में)** वृद्ध शाकल्य! इस समय भगवान् कश्यप क्या कर रहे हैं? क्या कहा—दाक्षायणी ने पातिव्रत धर्म के सम्बन्ध में जो प्रश्न किया था, उसका उत्तर वे उन्हें और ऋषि-पत्नियों को दे रहे हैं?

राजा—**(कान लगाकर)** अरे, यह तो ऐसा कथा-प्रसङ्ग छिड़ गया है कि अब इसके समाप्त होने तक रुकना पड़ेगा।

मातलि—**(राजा को देखकर)** जब तक मैं इन्द्र के पिता महर्षि कश्यप को आपके आगमन की सूचना देने का कोई अवसर ढूँढ निकालूँ, तब तक आप इसी अशोक वृक्ष के नीचे बैठिए।

राजा—जैसा आप उचित समझें। **(बैठता है)**

मातलि—आयुष्मान्! अच्छा तो मै जा रहा हूँ **(चला जाता है)**

राजा—**(शुभ शकुन देखकर)**

शकुन्तलाप्राप्ति रूप अपनी अभिलाषा के लिए तो मैं आशा ही नहीं करता, हे बाँह! तब तू व्यर्थ क्यों फड़क रही है? क्योंकि जिस कल्याणकारक वस्तु का पहले तिरस्कार कर दिया जाता है, वह फिर दुःख के रूप में ही बदल जाती है, अर्थात् उसकी पुनः प्राप्ति बड़ी कठिनाई से होती है॥ १३॥

(नेपथ्य में) बस, चंचलता न कर। क्यों तू फिर अपने स्वभाव पर उतर आया?

राजा—**(कान लगाकर)** अरे यहाँ तो नटखटपन होना ही नहीं चाहिए, फिर यहाँ कौन किसे डाँट रहा है? **(जिधर से आवाज सुनाई देती है, उधर देखकर आश्चर्य से)** अरे, यह कौन पराक्रमी बालक है जिसके पीछे-पीछे दो तपस्विनियाँ चली आ रही हैं और जो—

अर्धपीतस्तनं मातुरामर्दक्लिष्टकेसरम्।
प्रक्रीडितुं सिंहशिशुं बलात्कारेण कर्षति॥ १४॥

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टकर्मा तपस्विनीभ्यां सह बालः)

बालः—जिंभ सिंघ! दंताइं दे गणइस्सं। [जृम्भस्व सिंह! दन्ताँस्ते गणयिष्ये।]

प्रथमा—अविणीद! किं णो अपच्चणिव्विसेसाणि सत्ताणि विप्पअरेसि? हंत, वड्ढइ दे संरंभो। ठाणे क्खु इसिजणेण सव्वदमणो त्ति किदणामहेओ सि। [अविनीत! किं नोऽपत्यनिर्विशेषाणि सत्त्वानि विप्रकरोषि? हन्त, वर्धते तव संरम्भः। स्थाने खलु ऋषिजनेन सर्वदमन इति कृतनामधेयोऽसि।]

राजा—किं न खलु बालेऽस्मिन्नौरस इव पुत्रे स्निह्यति मे मनः? नूनमनपत्यता मां वत्सलयति।

द्वितीया—एषा क्खु केसरिणी तुमं लंघेदि जइ से पुत्तअं ण मुंचेसि। [एषा खलु केसरिणी त्वां लङ्घयिष्यति यदि तस्याः पुत्रकं न मुञ्चसि।]

बालः—(सस्मितम्) अम्हहे, बलिअं क्खु भीदो म्हि। [अहो, बलीयः खलु भीतोऽस्मि।] (इत्यधरं दर्शयति)

राजा— महतस्तेजसो बीजं बालोऽयं प्रतिभाति मे।
स्फुलिङ्गावस्थया वह्निरेधापेक्ष इव स्थितः॥ १५॥

प्रथमा—वच्छ! एदं बालमिइंदअं मुंच। अवरं दे कीलणअं दाइस्सं। [वत्स! एनं बालमृगेन्द्रं मुञ्च। अपरं ते क्रीडनकं दास्यामि।]

बालः—कहिं? देहि णं। [कुत्र? देहि तत्] (इति हस्तं प्रसारयति)

राजा—(बालस्य हस्तमवलोक्य) कथं चक्रवर्तिलक्षणमप्यनेन धार्यते? तथा ह्यस्य—

अपने साथ खेलने के लिए सिंहनी के स्तनों से आधा दूध पिये हुए उस सिंह शावक को बलपूर्वक घसीटे ला रहा है, जिसके केसर इस खींचा-तानी में छितरा गये हैं॥ १४॥

(तदनन्तर ऊपर कही हुई दशा में तपस्विनियों के साथ बालक का प्रवेश)

बालक—खोल रे सिंह! अपना मुँह। मैं तेरे दाँत गिनूँगा।

पहली—अरे ढीठ! जिन पशुओं को हमने अपनी सन्तान के समान पाला है, उन्हें तू क्यों इस तरह सताया करता है? क्या कहें, तेरा नटखटपन दिन-प्रतिदिन बढता ही जा रहा है। ऋषियों ने तेरा नाम सर्वदमन ठीक ही रखा है।

राजा—इस बालक पर मेरे मन में वैसा ही प्रेम उमड़ रहा है, जैसे यह मेरा अपना ही पुत्र हो। किन्तु निपूत होने के कारण ही मेरे मन में ऐसा वात्सल्य भाव उमडा है।

दूसरी—यदि इसके बच्चे को तू नहीं छोड़ेगा तो यह सिंहनी तेरे ऊपर झपट पडेगी।

बालक—(मुस्कराते हुए) अरे! मैं तो बहुत डर गया हूँ। (ओठ निकालकर मुँह बनाता है)

राजा—यह बालक तो मुझे किसी बडे तेजस्वी पुरुष का पुत्र जान पड़ता है। यह उस चिनगारी के रूप में रहनेवाली अग्नि के समान दीख रहा है, जो भडक उठने के लिए ईंधन की राह देखती है॥ १५॥

पहली—वत्स! इस सिंह के बच्चे को छोड दे। मै तुझे दूसरा खिलौना ला देती हूँ।

बालक—कहाँ है? लाओ दो। (यह कहकर हाथ फैलाता है)

राजा—(बालक का हाथ देखकर) अरे, इसके हाथ में तो चक्रवर्तियों के लक्षण विद्यमान हैं। क्योंकि—

प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितो विभाति जालग्रथिताङ्गुलिः करः।
अलक्ष्यपत्रान्तरमिद्धरागया नवोषसा भिन्नमिवैकपङ्कजम्॥ १६॥

द्वितीया—सुव्वदे। ण सक्को एसो वाआमत्तेण विरमयिदुं। गच्छ तुमं। ममकेरए उडए मक्कंडेअस्स इसिकुमारअस्स वण्णचित्तिदो मित्तिआमोरओ चिट्ठदि। तं से उवहर। [सुव्रते! न शक्य एषो वाचामात्रेण विरमयितुम्। गच्छ त्वम्। मदीये उटजे मार्कण्डेयस्यर्षिकुमारस्य वर्णचित्रितो मृत्तिकामयूरस्तिष्ठति। तमस्योपहर।]

प्रथमा—तह। [तथा।] (इति निष्क्रान्ता)

बालः—इमिणा एव्व दाव कीलिस्सं। [अनेनैव तावत्क्रीडिष्यामि।] (इति तापसीं विलोक्य हसति)

राजा—स्पृहयामि खलु दुर्ललितायास्मै।

आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासैरव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन्।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति॥ १७॥

तापसी—होदु; ण मं अअं गणेदि। (पार्श्वमवलोकयति) को एत्थ इसिकुमाराणं? (राजानमवलोक्य) भद्दमुह! एहि दाव। मोएहि इमिणा दुम्मोअहत्थग्गहेण डिंभलीलाए बाहीअमाणं बालमिइंदअं। [भवतु; न मामयं गणयति। कोऽत्र ऋषिकुमाराणाम्? भद्रमुख! एहि तावत्। मोचयानेन दुर्मोकहस्तग्रहेण डिम्भलीलया बाध्यमानं बालमृगेन्द्रम्।]

राजा—(उपगम्य सस्मितम्) अयि भो महर्षिपुत्र!

एवमाश्रमविरुद्धवृत्तिना संयमः किमिति जन्मतस्त्वया।
सत्त्वसंश्रयसुखोऽपि दूष्यते कृष्णसर्पशिशुनेव चन्दनः॥ १८॥

खिलौने के लोभ से फैलाया हुआ यह जाल जैसी मिली हुई अँगुलियोंवाला इसका हाथ उस अकेले कमल के जैसा दीख रहा है, जो प्रातःकाल की लाली से चमकता हो और जिसकी पंखुडियाँ अभी पूरी तरह से खुल भी न सकी हों॥ १६॥

दूसरी—सुव्रते! यह मात्र बातों से नहीं फुसलाया जा सकता। तू जा, मेरी कुटी में जो ऋषिकुमार मार्कण्डेय का मिट्टी का रंगीन मोर रक्खा है, उसे उठा ला और इसे दे दे।

पहली—अच्छा। (जाती है)

बालक—तब तक मैं इसी से खेलता हूँ। (यह कह और तपस्विनी को देखकर हँसता है)

राजा—मुझे तो यह नटखट बालक न जाने क्यों बड़ा प्यारा लगता है।

वह भाग्यवान् धन्य है, जिसकी गोद में बैठकर स्वभाव से हँसमुख, कली के समान कुछ-कुछ झलकते हुए दाँतों और तुतला-तुतलाकर बातें करनवाले बालक अपने अंग की धूल उसके अंग में लगाकर गन्दा करते हैं॥ १७॥

तपस्विनी—अरे! यह तो मुझे कुछ समझता ही नहीं। (इधर-उधर देखकर) अरे कोई ऋषिकुमार यहाँ है? (राजा को देखकर) भद्र! जरा आप ही आकर इस बालक के मजबूत हाँथ से इस सिंह के बच्चे को छुड़ा दीजिए।

राजा—(पास जाकर मुस्कराहट के साथ) अरे, हे महर्षितनय!

तुम यहाँ आश्रम के नियमों से विपरीत काम क्यों कर रहे हो? ये बेचारे जीव जो जन्म से ही सीधे-साधे रहकर सुखी जीवन बिता रहे हैं। उन्हें तुम इस तरह क्यों सताते हो, जैसे काले सर्प का बच्चा चन्दन के वृक्ष को सताता है॥ १८॥

तापसी—भद्दमुह ! ण क्खु अअं इसिकुमारओ। [भद्रमुख ! न खल्वयमृषिकुमारः।]

राजा—आकारसदृशं चेष्टितमेवास्य कथयति। स्थानप्रत्ययात्तु वयमेवं तर्किणः। (यथाऽभ्यर्थित-मनुतिष्ठन्बालस्पर्शमुपलभ्य, आत्मगतम्)

अनेन कस्यापि कुलाङ्कुरेण स्पृष्टस्य गात्रेषु सुखं ममैवम्।
कां निर्वृतिं चेतसि तस्य कुर्याद्यस्यायमङ्गात्कृतिनः प्ररूढः ॥ १९ ॥

तापसी—(उभौ निर्वर्ण्य) अच्छरिअं। अच्छरिअं। [आश्चर्यमाश्चर्यम्।]

राजा—आर्ये किमिव ?

तापसी—इमस्स बालअस्स दे वि संवादिणी आकिदी त्ति विम्हाविद म्हि। अपरिइदस्स वि दे अप्पडिलोमो संवुत्तो त्ति। [अस्य बालकस्य तेऽपि संवादिन्याकृतिरिति विस्मापितास्मि। अपरिचितस्यापि तेऽप्रतिलोमः संवृत्त इति।]

राजा—(बालकमुपलालयन्) न चेन्मुनिकुमारोऽयम्, अथ कोऽस्य व्यपदेशः ?

तापसी—पुरुवंसो। [पुरुवंशः।]

राजा—(आत्मगतम्) कथमेकान्वयो मम ? अतः खलु मदनुकारिणमेनमत्रभवती मन्यते। अस्त्येतत्पौरवाणामन्त्यं कुलव्रतम्।

भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं क्षितिरक्षार्थमुशन्ति ये निवासम्।
नियतैकपतिव्रतानि पश्चात्तरुमूलानि गृहीभवन्ति तेषाम् ॥ २० ॥

(प्रकाशम्) न पुनरात्मगत्या मानुषाणामेष विषयः।

तपस्विनी—भद्र ! यह ऋषिपुत्र नहीं है।

राजा—इसके आकार और चेष्टा से ही ज्ञात होता है कि यह ऋषिपुत्र नहीं है। यहाँ तपोवन में देखकर मैंने इसे ऋषिकुमार समझ लिया था। **(जी भर बालक के शरीर पर हाथ फेरकर मन ही मन)**

पता नहीं यह बालक किस वंश का है। इसे छू लेने से ही जब मेरे शरीर को इतना सुख मिल रहा है, तब उस भाग्यवान् को कितना आनन्द मिलता होगा, जिसका यह अपना पुत्र होगा ॥ १९ ॥

तपस्विनी—**(दोनों को देखकर)** आश्चर्य है ! आश्चर्य है !!

राजा—आर्य ! आश्चर्य की क्या बात है ?

तपस्विनी—आपकी और इस बालक की बिल्कुल मिलती-जुलती आकृति देखकर मैं तो आश्चर्य में पड़ गयी हूँ। और फिर देखिए कि अनजान होते हुए भी इसने आपकी बात नहीं टाली।

राजा—**(बच्चे को दुलारते हुए तपस्विनी से)** अच्छा यह तो बताइये कि यह ऋषिकुमार नहीं है तो फिर किस वंश का है ?

तपस्विनी—पुरुवंश का।

राजा—**(मन ही मन)** क्या यह मेरे ही वंश का है ? तभी ये तपस्विनी मेरी आकृति से मिलती-जुलती इसकी आकृति बतला रही है। किन्तु पुरुवंशियों की तो यह बँधी रीति है कि वे—

युवावस्था में पृथ्वी की रक्षा के लिए विलास की सामग्रियों से भरे भवनों में रहना चाहते हैं और बुढापे में अपनी पतिव्रता स्त्री को साथ लेकर वृक्ष के नीचे आसन लगाते हैं ॥ २० ॥

(प्रकट में) किन्तु यहाँ तो अपनी शक्ति से कोई भी मनुष्य नहीं पहुँच सकता।

तापसी—जह भद्दमुहो भणादि। अच्छरासंबंधेण इमस्स जणणी एत्थ देवगुरुणो तवोवणे प्पसूदा। **[यथा भद्रमुखो भणति। अप्सरःसम्बन्धेनास्य जनन्यत्र देवगुरोस्तपोवने प्रसूता।]**

राजा—(अपवार्य) हन्त, द्वितीयमिदमाशाजननम्। (प्रकाशम्) अथ सा तत्रभवती किमाख्यस्य राजर्षेः पत्नी ?

तापसी—को तस्स धम्मदारपरिच्चाइणो णाम संकीतिदुं चिंतिस्सदि ? **[कस्तस्य धर्मदारपरित्यागिनो नाम सङ्कीर्तयितुं चिन्तयिष्यति ?]**

राजा—(स्वगतम्) इयं खलु कथा मामेव लक्ष्यीकरोति। यदि तावदस्य शिशोर्मातरं नामतः पृच्छामि अथवाऽनार्यः परदारव्यवहारः।

(प्रविश्य मृण्मयूरहस्ता)

तापसी—सव्वदमण ! सउंदलावण्णं पेक्ख। **[सर्वदमन ! शकुन्तलावण्यं प्रेक्षस्व।]**

बालः—(सदृष्टिक्षेपम्) कहिं वा मे अज्जू ? **[कुत्र वा मम माता ?]**

उभे—णामसारिस्सेण वंचिदो माउवच्छलो। **[नामसादृश्येन वञ्चितो मातृवत्सलः।]**

द्वितीया—वच्छ ! इमस्स मित्तिआमोरअस्स रम्मत्तणं देक्ख त्ति भणिदो सि। **[वत्स ! अस्य मृत्तिकामयूरस्य रम्यत्वं पश्येति भणितोऽसि।]**

राजा—(आत्मगतम्) किं वा शकुन्तलेत्यस्य मातुराख्या। सन्ति पुनर्नामधेयसादृश्यानि। अपि नाम मृगतृष्णिकेव नाममात्रप्रस्तावो मे विषादाय कल्पते।

बालः—अज्जुए ! रोअदि मे एसो भद्दमोरओ। **[मातः ! रोचते म एष भद्रमयूरः।]** (इति क्रीडनकमादत्ते)

तपस्विनी—आप जो कह रहे हैं, वह सच है। इसकी माँ एक अप्सरा की कन्या है और उसने यहाँ मरीचि के आश्रम में ही इसे जन्म दिया है।

राजा—**(अपने आप)** अरे ! यह तो मेरी आशा की दूसरी मंजिल भी मिल गयी। **(प्रकट में)** अच्छा तो वे देवी किस राजर्षि की पत्नी हैं ?

तपस्विनी—जिसने अपनी धर्म-पत्नी को छोड दिया भला ऐसे पापी का नाम भी कोई अपने मुँह से लेने की बात सोचेगा ?

राजा—**(स्वगत)** यह बात तो मुझ पर ही लागू होती है। अच्छा, उसके माता-पिता का नाम पूछूँ। किन्तु पराई स्त्री के विषय में कुछ पूछना ठीक नहीं है।

(हाथ में मिट्टी का मोर लिये हुए प्रवेश कर)

तपस्विनी—सर्वदमन ! शकुन्त-लावण्य (इस पक्षी की सुन्दरता) तो देख।

बालक—**(चारों ओर देखकर)** कहाँ है मेरी माँ ?

दोनों—अपनी माँ पर इसे ऐसा स्नेह है कि उसके नाम के सदृश अक्षर सुनते ही इसे धोखा हो गया।

दूसरी—वत्स ! मैंने कहा था कि तुम इस मिट्टी के मोर की सुन्दरता देखो।

राजा—**(मन ही मन)** तो क्या इसकी माता का नाम शकुन्तला है। किन्तु संसार में एक जैसे अनेकों के नाम होते हैं। सम्भव है कि यह नाम भी मेरे दुःख को और बढाने के लिए मृग-तृष्णा के समान ही आ गया हो।

बालक—माँ ! यह मोर तो मुझे बड़ा अच्छा लगता है। (खिलौना ले लेता है)

प्रथमा—(विलोक्य सोद्वेगम्) अम्हहे, रक्खाकरंडअं से मणिबंधे ण दीसदि। [**अहो, रक्षाकरण्डकमस्य मणिबन्धे न दृश्यते।**]

राजा—अलमलमावेगेन। नन्विदमस्य सिंहशावविमर्दात्परिभ्रष्टम्। (इत्यादातुमिच्छति)

उभे—मा क्खु एदं अवलंबिअ। कहं गहीदं णेण ? [**मा खल्विदमवलम्बय। कथं गृहीतमनेन ?**]

(इति विस्मयादुरोनिहितहस्ते परस्परमवलोकयतः)

राजा—किमर्थं प्रतिषिद्धाः स्मः ?

प्रथमा—सुणादु महाराओ। एसा अवराजिदा णाम ओसही इमस्स जातकम्मसमए भअवदा मारीएण दिण्णा। एदं किल मादापिदरो अप्पाणं च वज्जिअ अवरो भूमिपडिदं ण गेण्हादि। [**शृणोतु महाराजः। एषाऽपराजिता नामौषधिरस्य जातकर्मसमये भगवता मारीचेन दत्ता। एतां किल मातापितरावात्मानं च वर्जयित्वाऽपरो भूमिपतितां न गृह्णाति।**]

राजा—अथ गृह्णाति।

प्रथमा—तदो तं सप्पो भविअ दंसइ। [**ततस्तं सर्पो भूत्वा दशति।**]

राजा—भवतीभ्यां कदाचिदस्याः प्रत्यक्षीकृता विक्रिया ?

उभे—अणेअसो। [**अनेकशः।**]

राजा—(सहर्षम्, आत्मगतम्) कथमिव सम्पूर्णमपि मे मनोरथं नाभिनन्दामि ? (इति वालं परिष्वजते)

द्वितीया—सुव्वदे ! एहि। इमं वुत्तंतं णिअमव्वावुडाए सउंदलाए णिवेदेम्ह। [**सुव्रते ! एहि। इमं वृत्तान्तं नियमव्यापृतायै शकुन्तलायै निवेदयावः।**] (इति निष्क्रान्ते)

बालः—मुंच मं। जाव अज्जुए सआसं गमिस्सं। [**मुञ्च माम्। यावन्मातुः सकाशं गमिष्यामि।**]

पहली—(**देखकर घबराहट के साथ**) अरे, इसके हाथ में बँधी हुई रक्षा की जड़ी नहीं दीख रही है।

राजा—घबराइये नहीं। सिंह के बच्चे से खींचा-तानी करते समय वह यहीं गिर पडी थी।

(**उठाना चाहता है**)

दोनों—हाँ-हाँ उसे छुइए मत। अरे, इन्होंने तो उसे उठा लिया।

(**आश्चर्य से छाती पर हाथ रखकर एक-दूसरी को निहारती हैं**)

राजा—आप लोगों ने मुझे इसे उठाने से क्यों रोका ?

पहली—सुनिये महाराज ! जब इसका जातकर्म-संस्कार हो रहा था, उस समय भगवान् मरीचि ने अपराजिता नाम की यह जडी इसके हाथ में बाँधकर कहा था कि यदि यह पृथ्वी पर गिर पडे तो इसके माता-पिता के सिवाय दूसरा कोई इसे न उठाये।

राजा—यदि उठा ले तो क्या होगा ?

पहली—तो यह जडी साँप बनकर तत्काल उसे डँस लेगी।

राजा—आप लोगों ने इसे कभी ऐसा करते देखा है ?

दोनों—बहुत बार।

राजा—(**सहर्ष, मन ही मन**) तब मैं अपना मनोरथ पूर्ण होने पर क्यों न आनन्दित होऊँ।

(**यह सोचकर बालक को छाती से लगाता है**)

दूसरी—सुव्रते ! आओ, यह समाचार उस तपस्विनी शकुन्तला को सुना दें। (**चली जाती है**)

बालक—छोडो, हम अपनी माँ के पास जायेंगे।

राजा—पुत्रक! मया सहैव मातरमभिनन्दिष्यसि।

बालः—मम क्खु तादो दुस्संदो। ण तुमं। [**मम खलु तातो दुष्यन्तः। न त्वम्।**]

राजा—(सस्मितम्) एष विवाद एव प्रत्याययति।

(ततः प्रविशत्येकवेणीधरा शकुन्तला)

शकुन्तला—विआरआले वि पकिदित्थं सव्वदमणस्स ओसहिं सुणिअ ण मे आसा आसि अत्तणो भाअहेएसु। अहवा जह साणुमदीए आचक्खिदं तह संभावीअदि एदं। [**विकारकालेऽपि प्रकृतिस्थां सर्वदमनस्यौषधिं श्रुत्वा न म आशाऽऽसीदात्मनो भागधेयेषु। अथवा यथा सानुमत्याऽऽख्यातं तथा सम्भाव्यत एतत्।**]

राजा—(शकुन्तलां विलोक्य) अये! सेयमत्रभवती शकुन्तला। यैषा—

वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति॥ २१॥

शकुन्तला—(पश्चात्तापविवर्णं राजानं दृष्ट्वा) ण क्खु अज्जउत्तो विअ। तदो को एसो दाणिं किदरक्खामंगलं दारअं मे गत्तसंसग्गेण दूसेदि। [**न खल्वार्यपुत्र इव। ततः क एष इदानीं कृतरक्षा-मङ्गलं दारकं मे गात्रसंसर्गेण दूषयति।**]

बालः—(मातरमुपेत्य) अज्जुए! एसो को वि पुरिसो मं पुत्त त्ति आलिंगदि। [**मातः! एष कोऽपि पुरुषो मां पुत्र इत्यालिङ्गति।**]

राजा—प्रिये! क्रौर्यमपि मे त्वयि प्रयुक्तमनुकूलपरिणामं संवृत्तम्, यदहमिदानीं त्वया प्रत्यभिज्ञातमात्मानं पश्यामि।

राजा—वत्स! मेरे ही साथ चलकर अपनी माता को आनन्दित करना।

बालक—तुम नहीं, मेरे पिता तो दुष्यन्त हैं।

राजा—(**मुस्कराकर**) यह विवाद ही मेरे विश्वास को पक्का कर रहा है।

(तदनन्तर बालों को एक लट में बाँधे हुए शकुन्तला का प्रवेश)

शकुन्तला—सर्वदमन के हाथ से गिरी हुई रक्षा की जड़ी उनके छूने पर साँप नहीं बनी, यह सुनकर भी मुझे अपने भाग्य पर भरोसा नहीं हुआ अथवा सानुमती ने जो कहा है, सम्भवतः वह ठीक ही हो।

राजा—(**शकुन्तला को देखकर**) अरे! ये ही तो देवी शकुन्तला हैं—

जिनके शरीर पर मैले कपड़ों का जोड़ा पड़ा हुआ है, तप करते-करते जिनका मुँह सूख गया है, जिनके बाल एक लट में उलझे हुए हैं और जो शुद्ध मन से मुझ जैसे निर्दयी के वियोग में इतने दिनों से विरह व्रत का पालन कर रही हैं॥ २१॥

शकुन्तला—(**पछतावे से उदास मुख राजा को देखकर**) ये तो आर्यपुत्र जैसे नहीं दीखते। तब ये कौन हैं, जो रक्षा जडी बाँधे हुए मेरे पुत्र को अपने शरीर से चिपकाकर अपनी देह मलिन कर रहे हैं।

बालक—(**माता के पास आकर**) देखो माँ, ये कोई पुरुष मुझे बेटा कहकर मुझे गले लगा रहे हैं।

राजा—प्रिये! मैंने जो तुम्हारे साथ क्रूरता की थी, उसका यही उचित दंड है कि जो तुम अब तक मुझे नहीं पहचान रही हो।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) हिअअ! समस्सस समस्सस। परिच्चत्तमच्छरेण अणुअम्पिअ म्हि देव्वेण। अज्जउत्तो क्खु एसो। [हृदय! समाश्वसिहि समाश्वसिहि। परित्यक्तमत्सरेणानुकम्पितास्मि दैवेन। आर्यपुत्रः खल्वेषः।]

राजा—प्रिये!

स्मृतिभिन्नमोहतमसो दिष्ट्या प्रमुखे स्थिताऽसि मे सुमुखि!
उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणीयोगम्॥ २२॥

शकुन्तला—जेदु जेदु अज्जउत्तो···। [जयतु जयत्वार्यपुत्र···] (इत्यर्धोक्ते वाष्पकण्ठी विरमति)

राजा—सुन्दरि!

वाष्पेण प्रतिषिद्धेऽपि जयशब्दे जितं मया।
यत्ते दृष्टमसंस्कारपाटलोष्ठपुटं मुखम्॥ २३॥

बालः— आज्जुए! को एसो? [मातः! क एषः?]

शकुन्तला—वच्छ! दे भाअहेआइं पुच्छेहि। [वत्स! ते भागधेयानि पृच्छ।]

राजा—(शकुन्तलायाः पादयोः प्रणिपत्य)

सुतनु! हृदयात्प्रत्यादेशव्यलीकमपैतु ते
किमपि मनसः सम्मोहो मे तदा बलवानभूत्।
प्रबलतमसामेवम्प्रायाः शुभेषु हि प्रवृत्तयः
स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया॥ २४॥

शकुन्तला—उट्ठेदु अज्जउत्तो। णूणं मे सुअरिअप्पडिबंधअं पुराकिदं तेसु दिअहेसु परिणाममुहं आसि जेण साणुक्कोसो वि अज्जउत्तो मइ विरसो संवुत्तो। [उत्तिष्ठत्वार्यपुत्रः। नूनं मे सुचरितप्रतिबन्धकं पुराकृतं तेषु दिवसेषु परिणाममुखमासीद्येन सानुक्रोशोऽप्यार्यपुत्रो मयि विरसः संवृत्तः।]

शकुन्तला—(मन ही मन) मेरे हृदय! धीरज धरो, धीरज धरो। आज देव ने पिछला सब वैर भुलाकर मुझपर कृपा की है। वस्तुतः ये ही तो हैं मेरे आर्यपुत्र।

राजा—प्रिये! मेरा बड़ा सौभाग्य है कि मेरी स्मृति पर पड़ा हुआ मोह का परदा हट गया और तुम आज मुझे वैसे ही मिल गई, जैसे चन्द्रग्रहण बीत जाने पर रोहिणी चन्द्रमा से जा मिलती है॥ २२॥

शकुन्तला—जय हो आर्यपुत्र, जय···· (आधा वाक्य कहने पर ही गला भर आने के कारण रुक जाती है)

राजा—सुन्दरी! तुमने अपने अश्रुरुद्ध कण्ठ से जो जय शब्द कहा है, उसी से मेरी जीत हो गयी। क्योंकि आज मेरी आँखों ने तुम्हारे उस मुंह को फिर से देखा है, जिसके ओठ रंगे न जाने के कारण पीले पड़ गये हैं॥ २३॥

बालक—माँ! ये कौन हैं?

शकुन्तला—पुत्र! यह अपने भाग्य से पूछो।

राजा—(शकुन्तला के पैरों पड़कर)

सुन्दरी! मैंने तुम्हारा जो निरादर किया था, उस पीड़ा को तुम अपने मन से निकाल दो। क्योंकि उस समय न जाने कैसे मेरे मन पर अज्ञान का अन्धकार छा गया था। जो तमोगुणी होते हैं, वे अच्छे कामों में भी ऐसी भूल कर गुजरते हैं। क्योंकि यदि अन्धे के गले में कोई माला भी पहनाये तो वह उसे साँप समझकर झटके से उतार फेंकता है॥ २४॥

(राजोत्तिष्ठति)

शकुन्तला—अह कहं अज्जउत्तेण सुमरिदो दुक्खभाई अअं जणो ? [अथ कथमार्यपुत्रेण स्मृतो दुःखभाग्ययं जनः ?]

राजा—उद्धृतविषादशल्यः कथयिष्यामि।

मोहान्मया सुतनु ! पूर्वमुपेक्षितस्ते यो बाष्पबिन्दुरधरं परिबाधमानः।
तं तावदाकुटिलपक्ष्मविलग्नमद्य बाष्पं प्रमृज्य विगतानुशयो भवेयम्॥ २५॥

(इति यथोक्तमनुतिष्ठति)

शकुन्तला—(नाममुद्रां दृष्ट्वा) अज्जउत्त! एदं दे अंगुलीअअं। [आर्यपुत्र! इदं तेऽङ्गुलीयकम्।]

राजा—अस्मादङ्गुलीयोपलम्भात्खलु स्मृतिरुपलब्धा।

शकुन्तला—विसमं किदं णेण जं तदा अज्जउत्तस्स पच्चअकाले दुल्लहं आसि। [विषमं कृतमनेन यत्तदाऽऽर्यपुत्रस्य प्रत्ययकाले दुर्लभमासीत्।]

राजा—तेन ह्यृतुसमवायचिह्नं प्रतिपद्यतां लताकुसुमम्।

शकुन्तला—ण से विस्ससामि। अज्जउत्तो एव्व णं धारेदु। [नास्य विश्वसिमि। आर्यपुत्र एवैतद्धारयतु।]

(ततः प्रविशति मातलिः)

मातलिः—दिष्ट्या धर्मपत्नीसमागमेन पुत्रमुखदर्शनेन चायुष्मान्वर्धते।

शकुन्तला—उठिए आर्यपुत्र। उन दिनों पिछले जन्म का कोई पाप उदित हो गया होगा कि जिसने इतने दयालु आर्यपुत्र भी मुझपर इतने कठोर बन गये थे।

(राजा उठते हैं)

शकुन्तला—किन्तु यह तो बतलाइए कि आर्यपुत्र को इस दुखिया का स्मरण कैसे हो आया?

राजा—पहले मैं अपने जी से विषाद का काँटा निकालूँ, तब कुछ कहूँ।

सुन्दरी! तुम्हारी आँखों के आँसुओं की जो बूँदें उस दिन गालों पर से ढुलक-ढुलककर तुम्हारे अधरों को चोट पहुँचा रही थीं और जिनका मैंने उस दिन अनजाने निरादर कर दिया था, वे आज भी तुम्हारी टेढ़ी बरौनियों में उलझी हुई दीख रही हैं। उन्हें जब मैं अपने हाथ से पोंछ लूँगा, तभी मेरे मन को शान्ति मिलेगी॥ २५॥

(महाराज अपने हाथ से शकुन्तला के आँसू पोंछते हैं)

शकुन्तला—(दुष्यन्त के हाथ में उनकी नामांकित अंगूठी देखकर) आर्यपुत्र! यही तो वह अँगूठी है।

राजा—इसी के मिलने पर तो मुझे सारी बातें स्मरण हो आई।

शकुन्तला—सचमुच उस समय इसने बहुत अनुचित काम किया था, जब आर्यपुत्र को इसे दिखलाकर विश्वास दिलाने के समय न जाने कहाँ दुर्लभ हो गयी।

राजा—हे कृशोदरी! तुम्हारे अधरपल्लव को पीड़ित करता हुआ जिस आँसू की बूँद की मैंने पहले अज्ञानवश उपेक्षा कर दी थी, तुम्हारी तिरछी पलकों में लगे हुए उस आँसू को पोंछ कर पहले मैं पश्चात्ताप रहित हो जाना चाहता हूँ॥ २५॥

शकुन्तला—नहीं, अब मै इसका विश्वास नहीं करती। आर्यपुत्र ही इसे पहने रहें।

राजा—अभूतसम्पादितस्वादुफलो मे मनोरथः। मातले! न खलु विदितोऽयमाखण्डलेन वृत्तान्तः स्यात्।

मातलिः—(सस्मितम्) किमीश्वराणां परोक्षम्। एत्वायुष्मान्; भगवान्मारीचस्ते दर्शनं वितरति।

राजा—शकुन्तले! अवलम्ब्यतां पुत्रः। त्वां पुरस्कृत्य भगवन्तं द्रष्टुमिच्छामि।

शकुन्तला—हिरिआमि अज्जउत्तेण सह गुरुसमीवं गंतुं। [जिह्रेम्यार्यपुत्रेण सह गुरुसमीपं गन्तुम्।]

राजा—अप्याचरितव्यमभ्युदयकालेषु। एह्येहि।

(सर्वे परिक्रामन्ति)

(ततः प्रविशत्यदित्या सार्धमासनस्थो मारीचः)

मारीचः—(राजानमवलोक्य) दाक्षायणि!

पुत्रस्य ते रणशिरस्ययमग्रयायी दुष्यन्त इत्यभिहितो भुवनस्य भर्ता।
चापेन यस्य विनिवर्तितकर्म जातं तत्कोटिमत्कुलिशमाभरणं मघोनः॥ २६॥

अदितिः—संभावणीआणुभावा से आकिदी। [सम्भावनीयानुभावाऽस्याकृतिः।]

मातलिः—आयुष्मन्! एतौ पुत्रप्रीतिपिशुनेन चक्षुषा दिवौकसां पितरावायुष्मन्तमवलोकयतः। तावुपसर्प।

(तदनन्तर मातलि का प्रवेश)

मातलि—अपनी धर्मपत्नी से मिलने और पुत्र का मुँह देखने की आयुष्मान् को वधाई है।

राजा—मेरे मनोरथ को तो सचमुच वडा मीठा फल प्राप्त हुआ है। मातलि! किन्तु इन्द्र भगवान् को तो इस बात का पता न होगा।

मातलि—(हँसकर) देवताओं से भी भला कोई बात छिपी रहती है। आइये आयुष्मन्! भगवान् मारीच आपको दर्शन देना चाहते हैं।

राजा—शकुन्तला! बालक की अँगुली पकड लो। मैं तुम्हें अपने साथ लेकर ही भगवान् के दर्शनार्थ चलना चाहता हूँ।

शकुन्तला—आर्यपुत्र के साथ वड़ों के पास जाने में मुझे तो लाज लग रही है।

राजा—हर्ष के समय तो साथ ही चला जाता है। आओ, आओ।

(सभी घूमते हैं)

(अदिति के साथ आसन पर बैठे हुए कश्यप दिखायी देते हैं)

मारीच—(राजा को देखकर) दाक्षायणी!

ये ही समस्त संसार के पालक राजा दुष्यन्त हैं, जो तुम्हारे पुत्र इन्द्र की लड़ाई में सबसे आगे रहते हैं और इनके धनुष ने ही इतना काम कर डाला है कि इन्द्र का तीखी धारवाला वज्र उनका आभूषणमात्र रह गया है॥ २६॥

अदिति—इनके आकार से ही इनके पराक्रम का पता चल रहा है।

मातलि—आयुष्मन्! देखो, ये ही हैं देवताओं के माता-पिता, जो आपकी ओर ऐसे प्रेम से देख रहे हैं, जैसे सगे माता-पिता अपने बच्चों को देखते हैं। जाओ, उनके पास चले जाओ।

राजा—मातले! एतौ—

प्राहुर्द्वादशधा स्थितस्य मुनयो यत्तेजसः कारणं
भर्तारं भुवनत्रयस्य सुषुवे यद्यज्ञभागेश्वरम्।
यस्मिन्नात्मभुवः परोऽपि पुरुषश्चक्रे भवायास्पदं
द्वन्द्वं दक्षमरीचिसम्भवमिदं तत्स्रष्टुरेकान्तरम्॥ २७॥

मातलिः—अथ किम्?

राजा—(उपगम्य) उभाभ्यामपि वासवनियोज्यो दुष्यन्तः प्रणमति।

मारीचः—वत्स! चिरं जीव। पृथिवीं पालय।

अदितिः—वच्छ! अप्पडिरहो होहि। [वत्स! अप्रतिरथो भव।]

शकुन्तला—दारअसहिदा वो पादवंदणं करेमि। [दारकसहिता वां पादवन्दनं करोमि।]

मारीचः—वत्से!

आखण्डलसमो भर्ता जयन्तप्रतिमः सुतः।
आशीरन्या न ते योग्या पौलोमीसदृशी भव॥ २८॥

अदितिः—जादे! भत्तुणो अभिमदा होहि। अवस्सं दीहाऊ वच्छहो उहअकुलणंदणो होदु। उवविसह। [जाते! भर्तुरभिमता भव। अवश्यं दीर्घायुर्वत्सक उभयकुलनन्दनो भवतु। उपविशत।]

(सर्वे प्रजापतिमभित उपविशन्ति)

मारीचः—(एकैकं निर्दिशन्)

दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान्।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत्समागतम्॥ २९॥

राजा—मातलि! क्या, ये वे ही स्त्री-पुरुष हैं।

जो ब्रह्मा से एक पीढ़ी बाद दक्ष और मरीचि से उत्पन्न हुए हैं, जिन्हें ऋषिगण बारहों सूर्यों के जनक मानते हैं, यज्ञ में भाग लेनेवाले इन्द्र ने जिनसे जन्म पाया है और स्वयंभू ब्रह्मा संसार के कल्याणार्थ जिनसे जन्म लेते हैं? ॥ २७॥

मातलि—और क्या! ये वे ही हैं।

राजा—(पास जाकर) सदा इन्द्र की आज्ञा का पालन करनेवाला यह दुष्यन्त आप दोनों को प्रणाम कर रहा है।

मारीच—वत्स! जीते रहो और बहुत दिनों तक पृथ्वी का पालन करो।

अदिति—वत्स! तुम इतने बलवान् होओ कि कोई शत्रु तुम्हारे रथ को न रोक सके।

शकुन्तला—अपने पुत्र के साथ मैं भी आपके चरणों में प्रणाम करती हूँ।

मारीच—वत्से! तुम्हारा पति स्वतः इन्द्र जैसा है और पुत्र जयन्त के समान है। इसलिए तुम्हें और आशीर्वाद क्या दूँ। तथापि मेरा यही आशीष है कि तुम इन्द्राणी के समान होओ॥ २८॥

अदिति—बेटी! तुम सदा अपने पति का आदर पाओ और तुम्हारा पुत्र चिरंजीवी होकर दोनों कुलों को सुख दे। बैठ जाओ।

(सभी प्रजापति के चारों ओर बैठ जाते हैं)

मारीच—(एक-एक करके सबको संकेत करते हुए)

राजा—भगवन्! प्रागभिप्रेतसिद्धिः पश्चाद्दर्शनम्। अतोऽपूर्वः खलु वोऽनुग्रहः। कुतः—

उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं घनोदयः प्राक् तदनन्तरं पयः।
निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रमस्तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः॥ ३०॥

मातलिः—एवं विधातारः प्रसीदन्ति।

राजा—भगवन्! इमामाज्ञाकरीं वो गान्धर्वेण विवाहविधिनोपयम्य कस्यचित्कालस्य बन्धुभिरानीतां स्मृतिशैथिल्यात्प्रत्यादिशन्नपराद्धोऽस्मि तत्रभवतो युष्मत्सगोत्रस्य कण्वस्य। पश्चादङ्गुलीयकदर्शनादूढपूर्वां तद्दुहितरमवगतोऽहम्। तच्चित्रमिव मे प्रतिभाति।

यथा गजो नेति समक्षरूपे तस्मिन्नपक्रामति संशयः स्यात्।
पदानि दृष्ट्वा तु भवेत्प्रतीतिस्तथाविधो मे मनसो विकारः॥ ३१॥

मारीचः—वत्स! अलमात्मापराधशङ्कया। सम्मोहोऽपि त्वय्यनुपपन्नः। श्रूयताम्।

राजा—अवहितोऽस्मि।

मारीचः—यदैवाप्सरस्तीर्थावतरणात्प्रत्यक्षवैक्लव्यां शकुन्तलामादाय मेनका दाक्षायणीमुपगता तदैव ध्यानादवगतोऽस्मि दुर्वाससः शापादियं तपस्विनी सहधर्मचारिणी त्वया प्रत्यादिष्टा नान्यथेति। स चायमङ्गुलीयकदर्शनावसानः।

सौभाग्यवश आज पतिव्रता शकुन्तला, यह श्रेष्ठ बालक और तुम तीनों ऐसे मिल गये हो जैसे श्रद्धा, धन और कर्म तीनों एक साथ मिल गये हों॥ २९॥

राजा—भगवन्! आपकी अनोखी कृपा से दर्शन के पहले ही मनचाहा फल मिल गया। क्योंकि—

कार्य और कारण का तो यही क्रम है कि पहले फूल लगता है, तब फल आता है। पहले बादल उठते हैं, तब वर्षा होती है। किन्तु आपके यहाँ तो सभी सुख आपकी कृपा से आगे-आगे चला करते हैं॥ ३०॥

मातलि—भाग्यविधाताओं की कृपा ऐसी ही होती है।

राजा—भगवन्! आपकी आज्ञाकारिणी कन्या शकुन्तला के साथ मैंने गान्धर्व विवाह कर लिया था। कुछ दिनों बाद जब इनके सगे-सम्बन्धी इन्हें मेरे पास लाये, तब मेरी स्मृति लुप्त हो गयी और मैं इन्हें बिल्कुल भूल गया। जिससे मैंने इनको लौटा दिया। ऐसा करके मैं आपके सगोत्र भगवान् कण्व का बडा भारी अपराध कर बैठा। फिर जब मैंने यह अँगूठी देखी, तब मुझे स्मरण हुआ कि मैंने तो महर्षि कण्व की कन्या से विवाह किया था। ये सब बातें बडी विचित्र लग रही हैं।

मेरी यह भूल ठीक वैसी ही है, जैसे आँख के सामने विद्यमान हाथी को देखकर मन में यह सन्देह हो कि यह हाथी है या नहीं और उसके चले जाने पर पैरों की छाप देखकर यह विश्वास हो जाय कि 'वह सचमुच हाथी ही था'॥ ३१॥

मारीच—वत्स! तुम अपने अपराध की बात एकदम मन मे निकाल दो। क्योंकि ऐसी भूल तुमसे हो ही नहीं सकती। सुनो, मैं बतलाता हूँ।

राजा—सुन रहा हूँ भगवन्।

मारीच—विलखती हुई मेनका शकुन्तला को लेकर जब अप्सरातीर्थ से यहाँ दाक्षायणी अदिति के पास आयी, तभी मैंने ध्यान से जान लिया था कि दुर्वासा के शाप से ही तुमने अपनी इस तपस्विनी धर्मपत्नी को त्यागा है और वह शाप तब तक के लिए है, जब तक कि तुम वह अँगूठी न देख लो।

राजा—(सोच्छ्वासम्) एष वचनीयान्मुक्तोऽस्मि।

शकुन्तला—(स्वगतम्) दिट्ठिआ अकारणपच्चादेसी ण अज्जउत्तो। ण हु सत्तं अत्ताणं सुमिरेमि। अहवा पत्तो मए स हि सावो विरहसुण्णहिअआए ण विदिदो। अदो सहीहिं संदिट्ठम्हि भत्तुणो अंगुलीअअं दंसइदव्वं त्ति। [दिष्ट्याऽकारणप्रत्यादेशी नार्यपुत्रः। न खलु शप्तमात्मानं स्मरामि। अथवा प्राप्तो मया स हि शापो विरहशून्यहृदयया न विदितः। अतः सखीभ्यां सन्दिष्टाऽस्मि भर्तुरङ्गुलीयकं दर्शयितव्यमिति।]

मारीचः—वत्से ! विदितार्थाऽसि। तदिदानीं सहधर्मचारिणं प्रति न त्वया मन्युः कार्यः। पश्य—

शापादसि प्रतिहता स्मृतिरोधरूक्षे भर्तर्यपेततमसि प्रभुता तवैव।
छाया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा॥ ३२॥

राजा—यथाऽऽह भगवान्।

मारीचः—वत्स ! कच्चिदभिनन्दितस्त्वया विधिवदस्माभिरनुष्ठितजातकर्मा पुत्र एष शाकुन्तलेयः।

राजा—भगवन् ! अत्र खलु मे वंशप्रतिष्ठा। (इति बालं हस्तेन गृह्णाति)

मारीचः—तथा भाविनमेनं चक्रवर्तिनमवगच्छतु भवान्। पश्य—

रथेनानुद्घातस्तिमितगतिना तीर्णजलधिः
पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः।
इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात् सर्वदमनः
पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात्॥ ३३॥

राजा—(ठण्डी साँस लेकर) चलो, अपयश से छुटकारा तो मिला।

शकुन्तला—(मन ही मन) बड़े भाग्य की बात है कि आर्यपुत्र ने मुझे अकारण नहीं त्यागा था। किन्तु यह नहीं मालूम कि मुझे शाप कब मिला था। यह भी संभव है कि मुझे शाप मिला हो और विरह की धुन में पड़े रहने के कारण मुझे उसका पता ही न चला हो। यह बात अब मेरी समझ में आ रही है कि चलते समय सखियों ने यह क्यों कहा था कि पति को अँगूठी दिखला देना।

मारीच—वत्से ! तुमने ठीक समझा। अब कभी तुम अपने पति पर क्रोध न करना। देखो—

जैसे धूल पड़ी रहने से दर्पण पर ठीक से छाया नहीं दिखलाई देती और वही जब पोंछ दिया जाता है, तब छाया आसानी से दीखने लगती है। वैसे ही शाप के कारण स्मृति धुँधली पड़ जाने पर इन्होंने तुम्हें छोड़ दिया था, किन्तु अब शाप छूट जाने से इन्होंने तुम्हें महारानी बना लिया है॥ ३२॥

राजा—आप ठीक कहते हैं भगवन्।

मारीच—वत्स ! शकुन्तला के जिस पुत्र का जातकर्म-संस्कार हमने विधिवत् किया है, उसका तुमने अभिनन्दन किया या नहीं ?

राजा—भगवन् ! यही बालक तो हमारा वंश चलायेगा। (यह कहकर बालक को गोद में ले लेते हैं)

मारीच—यह तुम्हारा वंश तो चलायेगा ही, साथ ही चक्रवर्ती राजा भी होगा। देखो—

यह बालक अपने सीधे चलनेवाले रथ से समुद्र पार करके सातों द्वीपोंवाली पृथ्वी को अकेला ही जीत लेगा। संसार का कोई वीर इसके सामने न टिक पायेगा। यहाँ इसने सब जीवों को दबोच

राजा—भगवता कृतसंस्कारे सर्वमस्मिन्वयमाशास्महे।

अदितिः—भअवं! इमाए दुहिदुमणोरहसंपत्तीए कण्णो वि दाव सुदवित्थारो करीअदु। दुहिदुवच्छला मेणआ इह एव्व उपचरंती चिट्ठदि। [**भगवन्! अनया दुहितृमनोरथसम्पत्त्या कण्वोऽपि तावच्छ्रुतविस्तारः क्रियताम्। दुहितृवत्सला मेनकेहैवोपचरन्ती तिष्ठति।**]

शकुन्तला—(आत्मगतम्) मणोरहो क्खु मे भणिदो भअवदीए। [**मनोरथः खलु मे भणितो भगवत्या।**]

मारीचः—तपःप्रभावात्प्रत्यक्षं सर्वमेव तत्रभवतः।

राजा—अतः खलु मम नातिक्रुद्धो मुनिः।

मारीचः—तथाप्यसौ प्रियमस्माभिः श्रावयितव्यः। कः कोऽत्र भोः ?

(प्रविश्य)

शिष्यः—भगवन्! अयमस्मि।

मारीचः—गालव! इदानीमेव विहायसा गत्वा मम वचनात्तत्रभवते कण्वाय प्रियमावेदय यथा पुत्रवती शकुन्तला तच्छापनिवृत्तौ स्मृतिमता दुष्यन्तेन प्रतिगृहीतेति।

शिष्यः—यदाज्ञापयति भगवान्। (इति निष्क्रान्तः)

मारीचः—वत्स! त्वमपि स्वापत्यदारसहितः सख्युराखण्डलस्य रथमारुह्य ते राजधानीं प्रतिष्ठस्व।

राजा—यदाज्ञापयति भगवान्।

रक्खा था, इसीलिए इसका नाम 'सर्वदमन' पड गया था। आगे चलकर यह समस्त संसार का भरण-पोषण करेगा। इसीलिए इसका नाम भरत होगा॥ ३३॥

राजा—जिसका संस्कार स्वयं आपने किया हो, उससे हमें इन्हीं सब बातों की आशा है।

अदिति—भगवन्! इस कन्या की कामना पूर्ण होने की बात महर्षि कण्व को भी कहला भेजिये। क्योंकि इसे प्यार करनेवाली इसकी माँ मेनका हम लोगों की सेवा करती हुई यहाँ ही रहती है।

शकुन्तला—**(मन ही मन)** देवी ने मेरे मन की बात कही है।

मारीच—अपने तप के प्रभाव से महामुनि कण्व सब कुछ प्रत्यक्ष देखते हैं।

राजा—इसलिए उन्होंने मुझ पर क्रोध नहीं किया।

मारीच—फिर भी यह प्रिय समाचार उनके पास कहला ही भेजना चाहिए। अरे कोई है ?

(प्रवेश कर)

शिष्य—भगवन्! उपस्थित हूँ।

मारीच—गालव! तुम अभी आकाशमार्ग से जाकर मेरी ओर से कण्व को यह प्रिय समाचार सुना दो कि शाप छूट जाने पर दुष्यन्त ने स्मरण करके शकुन्तला और उसके पुत्र को स्वीकार कर लिया है।

शिष्य—भगवन् की जैसी आज्ञा। **(चला जाता है)**

मारीच—वत्स! अब तुम भी पुत्र और स्त्री के साथ अपने मित्र इन्द्र के रथ पर चढकर अपनी राजधानी को चले जाओ।

राजा—भगवन् की जैसी आज्ञा।

मारीचः—अपि च

भवतु तव बिडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु
त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं भावयेथाः।
गणशतपरिवर्तैरेवमन्योन्यकृत्यै-
र्नियतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः ॥ ३४ ॥

राजा—भगवन्! यथाशक्ति श्रेयसे यतिष्ये।

मारीचः—वत्स! किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ?

राजा—अतः परमपि प्रियमस्ति। यदिह भगवान्प्रियं कर्तुमिच्छति तर्हीदमस्तु।

(भरतवाक्यम्)

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ॥ ३५ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

॥ इति सप्तमोऽङ्कः ॥

॥ समाप्तमिदमभिज्ञानशाकुन्तलं नाम नाटकम् ॥

मारीच—और सुनो—

तुम्हारी प्रजा के लिए इन्द्र भरपूर वर्षा करें और तुम भी सैकड़ों गणतन्त्रों पर राज्य करते हुए बहुतेरे यज्ञ करके सदा इन्द्र को प्रसन्न रखो। इस प्रकार तुम दोनो एक-दूसरे के लिए ऐसे अच्छे-अच्छे काम करो कि दोनों लोक सुखी रह सकें॥ ३४॥

राजा—भगवन्! मैं यथाशक्ति अच्छे काम करने का प्रयत्न करूँगा।

मारीच—वत्स! यदि तुम्हारी और कुछ इच्छा हो तो वह भी कह डालो।

राजा—इससे बढ़कर भी क्या कोई बात हो सकती है? तथापि यदि आप मुझपर कुछ और कृपा करना चाहते हों तो ऐसा कीजिए कि—

(भरतवाक्य)

राजा सदा अपनी प्रजा की भलाई में लगे रहें, बड़े-बडे विद्वान् कवियों की वाणी का सर्वत्र आदर हो और अपने से ही उत्पन्न होकर चारों ओर अपनी शक्ति फैलानेवाले महादेवजी ऐसी कृपा करें कि मुझे फिर जन्म न लेना पड़े॥ ३५॥

(सभी चले जाते हैं)

सातवाँ अङ्क समाप्त।

'अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः'

विक्रमोर्वशीयम्

डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी

पात्र-परिचय

पुरुष-पात्र

सूत्रधार	: अभिनय का प्रारम्भकर्त्ता, नट।
पारिपार्श्वक	: सूत्रधार का सहायक।
पुरूरवा	: नाटक का नायक, चन्द्रवंशी, प्रतिष्ठानपुर का राजा।
माणवक	: राजा का मित्र विदूषक।
आयुष्कुमार	: राजा का उर्वशी से उत्पन्न हुआ पुत्र।
चित्ररथ	: गन्धर्वराज।
नारद	: देवर्षि।
गालव, पेलव	: भरत मुनि के शिष्य।
सूत	: राजा का सारथि।
लातव्य	: राजा का कञ्चुकी।

स्त्री-पात्र

उर्वशी	: नाटक की नायिका, अप्सरा।
चित्रलेखा	: उर्वशी की प्रिय सखी
औशीनरी	: काशिराजदुहिता, पटरानी।
रम्भा, मेनका, सहजन्या	: अप्सराएँ।
निपुणिका	: महारानी की दासी।
तापसी	: सत्यवती, आयुष्कुमार की धात्री।
यवनी	: राजा की परिचारिका।
चेटी	: राजसेविका।

॥ श्रीः ॥

विक्रमोर्वशीयम्

प्रथमोऽङ्कः

वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायाऽस्तु वः॥ १॥

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधारः—अलमतिविस्तरेण। (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) मारिष! इतस्तावत्।

(प्रविश्य)

पारिपार्श्वकः—भाव! अयमस्मि।

सूत्रधारः—मारिष! परिषदेषा पूर्वेषां कवीनां दृष्टरसप्रबन्धा। अहमस्यां कालिदासग्रथितवस्तुना नवेन विक्रमोर्वशीयनामधेयेन त्रोटकेनोपस्थास्ये। तदुच्यतां पात्रवर्गः स्वेषु स्वेषुपाठेष्ववहितै-र्भवितव्यमिति।

वेदान्तों (द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि) में जिसे एक ऐसा पुरुष कहा गया है, जो आकाश तथा पृथ्वी में व्याप्त है, जिसका ईश्वर यह नाम सार्थक है और इस ईश्वर नाम से अन्य कोई नहीं पुकारा जा सकता, मोक्षप्राप्ति के इच्छुक पुरुष जिसे प्राणायाम द्वारा अपने हृदय के भीतर ढूँढा करते हैं, वह स्थिर भक्तियोग (सच्ची भक्ति) द्वारा प्राप्त होने वाला परमदेव शिव आप सबका कल्याण करें॥ १॥

(नान्दीपाठ के अन्त में)

सूत्रधार—अब अधिक विस्तार मत करो। (नेपथ्य की ओर देखकर) मारिष! इधर आओ।

(प्रवेश करके)

पारिपार्श्वक—आर्य! मैं आ गया।

सूत्रधार—मारिष! यह सभा प्राचीन कवियों के अनेक नाटकों के रसों का आस्वादन कर चुकी है। आज मैं इसे कालिदास द्वारा विरचित 'विक्रमोर्वशीय' नामक नये त्रोटक का अभिनय दिखलाना चाहता हूँ, अतः सभी पात्रों को सावधान कर दो कि वे अपनी-अपनी भूमिका का समुचित अभिनय करें।

पारिपार्श्वकः—यथाज्ञापयति भावः। (इति निष्क्रान्तः)

सूत्रधारः—यावदिदानीमार्यविदग्धमिश्रान् विज्ञापयामि। (प्रणिपत्य)

प्रणयिषु वा दाक्षिण्यादथवा सद्वस्तुपुरुषबहुमानात्।
शृणुत जना अवधानात् क्रियामिमां कालिदासस्य ॥ २ ॥

(नेपथ्ये)

अज्जा! परित्ताअध परित्ताअध। जो सुरपक्खवादी, जस्स वा अंवरअले गई अत्थि। [आर्याः! परित्रायध्वं परित्रायध्वम्। यः सुरपक्षपाती यस्य वाऽम्बरतले गतिरस्ति।]

सूत्रधारः—(कर्णं दत्त्वा) अये, किं नु खलु मद्विज्ञापनानन्तरमार्तानां कुररीणामिवाकाशे शब्दः श्रूयते?

मत्तानां कुसुमरसेन षट्पदानां शब्दोऽयं परभृतनाद एष धीरः।
आकाशे सुरगणसेविते समन्तात् किं नार्यः कलमधुराक्षरं प्रगीताः ॥ ३ ॥

(विचिन्त्य) भवतु, ज्ञातम्।

ऊरूद्भवा नरसखस्य मुनेः सुरस्त्री कैलासनाथमनुसृत्य निवर्तमाना।
वन्दीकृता विबुधशत्रुभिरर्धमार्गे क्रन्दत्यतः करुणमप्सरसां गणोऽयम् ॥ ४ ॥

(इति निष्क्रान्तः)

॥ प्रस्तावना ॥

पारिपार्श्वक—जैसी आपकी आज्ञा। (ऐसा कहकर चला जाता है)

सूत्रधार—इस समय तव तक मैं रसास्वादन में चतुर विद्वान् दर्शकों से कुछ निवेदन करता हूँ। (सिर झुकाकर)

सज्जनो! आप सवसे प्रार्थना है कि हम विनम्र सेवकों पर अपनी चतुरता से अथवा इस नाटक के नायक के प्रति विशेष आदर से आप सव कालिदास की इस कृति को सावधान होकर (देखें) तथा सुनें ॥ २ ॥

(नेपथ्य में)

आर्यो! वचाओ, वचाओ, जो देवताओं का पक्षपाती हो अथवा जिसकी शक्ति आकाश में जाने की हो, वह हमारी रक्षा करे।

सूत्रधार—(कान लगाकर) अरे! यह क्या हुआ, मेरी प्रार्थना के समाप्त होते ही यह आकाश में कुररियों के रोने जैसा शब्द सुनायी दे रहा है?

क्या यह फूलों के रसपान से मदमत्त भौंरों की गुंजार है? अथवा कहीं यह कोयल की नशीली कूक तो नहीं है? अथवा देवताओं द्वारा सेवित आकाश में चारों ओर आयी हुई सुरसुन्दरियाँ मीठी तान तो नहीं छेड़ी हुई हैं? ॥ ३ ॥

(सोचकर) अच्छा मैंने जान लिया।

नर के मित्र (नारायण) की जाँघ से जो उर्वशी नामक अप्सरा उत्पन्न हुई थी, वह कुबेर की सेवा करके लौट रही थी, उसे आधे मार्ग में ही राक्षस वन्दी वनाकर ले गये, अतएव यह अप्सराओं का समूह रो रहा है और चिल्ला रहा है ॥ ४ ॥

(ऐसा कहकर चला जाता है।)

॥ प्रस्तावना ॥

(ततः प्रविशन्त्यप्सरसः)

अप्सरसः—अज्जा ! परित्ताअध परित्ताअध। जो सुरपक्खवादी जस्स वा अंबरअले गई अत्थि। [आर्याः ! परित्रायध्वं परित्रायध्वम्। यः सुरपक्षपाती यस्य वाऽम्बरतले गतिरस्ति।]

(ततः प्रविशत्यपटीक्षेपेण राजा पुरूरवा रथेन सूतश्च)

राजा—अलमाक्रन्दितेन। सूर्योपस्थाननिवृत्तं पुरूरवसं मामेत्य कथ्यतां कुतो भवत्यः परित्रातव्या इति।

रम्भा—असुरावलेवादो। [असुरावलेपात्।]

राजा—किं पुनरसुरावलेपेन भवतीनामपराद्धम् ?

रम्भा—सुणादु महाराओ। जा तवोविसेससंकिदस्स सुउमारं पहरणं महेंदस्स, पच्चादेसो रूवगव्विदाए सिरिगोरिए, अलंकारो सग्गस, सा णो पिअसही उव्वसी कुबेरभवणादो णिवत्तमाणा केणावि दाणवेण चित्तलेहादुदीआ अद्धपथं ज्जेव्व बंदिग्गाहं गिहीदा। [शृणोतु महाराजः। याः तपोविशेषशङ्कितस्य सुकुमारं प्रहरणं महेन्द्रस्य, प्रत्यादेशो रूपगर्वितायाः श्रीगौर्याः, अलङ्कारः स्वर्गस्य, सा नः प्रियसख्युर्वशी कुबेरभवनान्निवर्तमाना केनापि दानवेन चित्रलेखाद्वितीया अर्धपथ एव बन्दिग्राहं गृहीता।]

राजा—अपि ज्ञायते कतमेन दिग्विभागेन गतः स जाल्मः ?

अप्सरसः—ईसाणीए दिसाए। [ऐशान्या दिशा।]

राजा—तेन हि मुच्यतां विषादः। यतिष्ये वः सखीप्रत्यानयनाय।

अप्सरसः—सरिसं एदं सोमवंससंभवस्स। [सदृशमेतत्सोमवंशसम्भवस्य।]

(उसके बाद ही अप्सराएँ प्रवेश करती हैं।)

अप्सराएँ—आर्यो ! बचाओ, बचाओ, जो देवताओं का पक्षपाती हो अथवा जिसकी शक्ति आकाश में जाने की हो, वह हमारी रक्षा करे।

(तब पर्दा गिराये बिना रथ पर सवार राजा पुरूरवा और सारथी का प्रवेश)

राजा—बस, अब मत रोओ। सूर्योपस्थान करके लौटकर आये हुए मेरे पास आ जाने पर कहिये, किससे आप लोगों को बचाना है ?

रम्भा—राक्षसों के अत्याचार से।

राजा—राक्षसों ने आप लोगों पर क्या अपराध किया है?

रम्भा—सुनिये महाराज ! किसी की विशेष तपस्या मे घबडाकर उसे तप से विचलित करने के लिए देवराज इन्द्र जिसे अपना सुकुमार शस्त्र बनाकर भेजते हैं, जिसकी कमनीय कान्ति के आगे लक्ष्मी का सौन्दर्य भी तुच्छ है और जो स्वर्ग की शोभा है, वही हमारी प्यारी सखी उर्वशी जब कुबेर के भवन से लौट रही थी उस समय किसी राक्षस ने उसके साथ आती हुई चित्रलेखा को बन्दी की भाँति पकड़ लिया।

राजा—क्या आप लागों को यह मालूम है कि वह दुष्ट किस दिशा की ओर गया ?

अप्सराएँ—पूर्व-उत्तर के कोण में स्थित ईशान की ओर।

राजा—तब आप लोग चिन्ता न करें। मैं प्रयत्न करता हूँ आपकी सखी को लौटाकर ले आने का।

अप्सराएँ—चन्द्रवंश में उत्पन्न हुए आपके अनुरूप यह कार्य है।

राजा—क्व पुनर्मां भवत्यः प्रतिपालयिष्यन्ति ?

अप्सरसः—एदस्सिं हेमकूडसिहरे। [एतस्मिन् हेमकूटशिखरे।]

राजा—सूत ! ऐशानीं दिशं प्रति चोदयाश्वानाशुगमनाय।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान्। (इति यथोक्तं करोति)

राजा—(रथवेगं रूपयित्वा) साधु, साधु ! अनेन रथवेगेन पूर्वप्रस्थितं वैनतेयमप्यासादयेयम्, किं पुनस्तमपकारिणं मघोनः ? मम—

अग्रे यान्ति रथस्य रेणुपदवीं चूर्णीभवन्तो घना-
श्चक्रभ्रान्तिररान्तरेषु वितनोत्यन्यामिवारावलीम्।
चित्रारम्भविनिश्चलं हरिशिरस्यायामवच्चामरं
यन्मध्ये समवस्थितो ध्वजपटः प्रान्ते च वेगानिलात्॥५॥

(निष्क्रान्तो रथेन राजा सूतश्च)

सहजन्या—हला ! गदो राएसी। ता अम्हे वि जधासंदिट्ठं पदेसं गच्छम्ह। [हला ! गतो राजर्षिः। तद्वयमपि यथासन्दिष्टं प्रदेशं गच्छामः।]

मेनका—सहि ! एव्वं करेम्ह। [सखि ! एवं कुर्मः।]

(इति हेमकूटशिखरे नाट्येनाधिरोहन्ति)

रम्भा—अवि णाम सो राएसी उद्धरदि णो हिअअसल्लं। [अपि नाम स राजर्षिरुद्धरति नो हृदयशल्यम्।]

मेनका—सहि ! मा दे संसओ भोदु। [सखि ! मा ते संशयो भवतु।]

राजा—आप लोग मेरी कहाँ प्रतीक्षा करेंगी ?

अप्सराएँ—इस हेमकूट पर्वत की चोटी पर।

राजा—सारथी! ईशान कोण की ओर शीघ्र चलने के लिए घोड़ों को हाँको।

सूत—जैसी आपकी आज्ञा। (वैसा ही करता है।)

राजा—(रथ के वेग को देखकर) वाह ! वाह ! इस प्रकार के रथ के वेग से तो हम पहले उड़े हुए गरुड़ को भी पकड़ लेंगे, इन्द्र के शत्रु उस राक्षस को पकड़ने की तो बात ही क्या है ?

मेरा रथ इतने वेग से दौड़ रहा है कि उसकी रगड़ से बादल भी पिसकर धूल जैसे हो गये हैं। इसके पहिये इतने वेग से घूम रहे हैं कि मानो पहियों के अरों (तीलियों) के बीच में और बहुत से अरों की पंक्तियाँ बनती चली जा रही हों। घोड़ों के सिरों के ऊपर लगी हुई चौरियाँ निश्चल खड़ी हैं, मानो ये चित्र में लिखी गयी हों और रथ के वेग से जो हवा चल रही है, उससे रथ का ध्वजपट सीधा फैला हुआ दिखलायी दे रहा है॥५॥

(राजा तथा सारथी रथ द्वारा आगे निकल जाते हैं।)

सहजन्या—सखियो ! राजर्षि चले गये। तो हम भी वहाँ पहुँचें, जहाँ हमने मिलने के लिए कहा था।

मेनका—सखी ! ऐसा ही करते हैं।

(इस प्रकार नाटकीय ढंग से हेमकूट शिखर पर चढ़ती है।)

रम्भा—क्या वे राजर्षि सचमुच हमारे हृदय के काँटे को निकाल पायेंगे ?

मेनका—सखी ! इस विषय में आप सन्देह न करें।

रम्भा—णं दुज्जआ दाणवा। [ननु दुर्जया दानवाः।]

मेनका—उवट्ठिदसंपराओ महिंदो वि मज्झमलोआदो सबहुमाणं आणाविअ तं एव्व विबुधविजआअ सेणामुहे णिओजेदि। [उपस्थितसम्परायो महेन्द्रोऽपि मध्यमलोकात् सबहुमानमानाय्य तमेव विबुधविजयाय सेनामुखे नियुङ्क्ते।]

रम्भा—सव्वहा विअई भोदु। [सर्वथा विजयी भवतु।]

मेनका—(क्षणमात्रं स्थित्वा) हला! समस्ससध समस्ससध। एस उल्लसिदहरिणकेदणो तस्स राएसिणो सोमदत्तो रहो दीसदि। ण एसो अकिदत्थो पडिणिउत्तिस्सदि त्ति तक्केमि। [सख्यः! समाश्वसित समाश्वसित। एष उल्लसितहरिणकेतनस्तस्य राजर्षेः सोमदत्तो रथो दृश्यते। नैषोऽकृतार्थः प्रतिनिवर्तिष्यति इति तर्कयामि।]

(निमित्तं सूचयित्वावलोकयन्त्यः स्थिताः)

(ततः प्रविशति रथारूढो राजा सूतश्च। भयनिमीलिताक्षी
चित्रलेखा, दक्षिणहस्तावलम्बिका उर्वशी च)

चित्रलेखा—सहि! समस्सस, समस्सस। [सखि! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि।]

राजा—सुन्दरि! समाश्वसिहि—

गतं भयं भीरु! सुरारिसम्भवं त्रिलोकरक्षी महिमा हि वज्रिणः।
तदेतदुन्मीलय चक्षुरायतं निशावसाने नलिनीव पङ्कजम्॥ ६॥

चित्रलेखा—अम्महे, कहं उस्ससिदमेत्तसंभाविदजीविदा अज्ज वि एसा सण्णां ण पडिवज्जदि। [अहो, कथमुच्छ्वसितमात्रसम्भावितजीविता अद्याप्येषा संज्ञां न प्रतिपद्यते।]

रम्भा—यह सच है कि राक्षस आसानी से जीते नहीं जा सकते।

मेनका—तुमको मालूम है, जब युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तब देवराज इन्द्र भी बड़े आदर के साथ भूलोक से इसी राजा को बुलाकर देवताओं को विजय दिलाने के लिए इन्हें ही अपना सेनापति बनाते हैं।

रम्भा—मैं मनाती हूँ कि उनकी सब प्रकार से जीत हो।

मेनका—(थोड़ी देर रुककर) सखियो! धैर्य रखो, धैर्य रखो। प्रसन्न हरिण जिसकी ध्वजा पर चित्रित है, ऐसे राजर्षि का सोमदत्त नामक रथ दिखलायी दे रहा है। यह सफल हुए बिना नहीं लौटेगा, ऐसा मैं सोच रही हूँ।

(शुभ शकुन को सूचित कर उधर देख रही है।)

(रथ पर बैठे राजा तथा सारथी का प्रवेश)

(डर से आँखें मूँदी हुई चित्रलेखा और उसके दाहिने हाथ का सहारा
ली हुई उर्वशी का भी प्रवेश)

चित्रलेखा—सखी! धीरज धरो, धीरज धरो।

राजा—सुन्दरी! धीरज धरो।

अब देवेन्द्र के शत्रुओं (राक्षसों) का कोई डर नहीं है, क्योंकि इन्द्र की महिमा तीनों लोकों की रक्षा करने की है। अतः अब तुम अपनी बड़ी-बड़ी आँखों को उस प्रकार खोलो, जैसे रात्रि के बीत जाने पर कमल खिल जाता है॥ ६॥

चित्रलेखा—आश्चर्य है, उसाँसें लेने मात्र से जिसके जीवित होने की आशा है ऐसी वह अभी तक होश में नहीं आ रही है।

राजा—बलवदत्रभवती परित्रस्ता। तथाहि—

मन्दारकुसुमदाम्ना गुरुरस्याः सूच्यते हृदयकम्पः।
मुहुरुच्छ्वसता मध्ये परिणाहवतोः पयोधरयोः॥ ७॥

चित्रलेखा—(सकरुणम्) हला उव्वसि! पज्जवत्थावेहि अत्ताणं। अणच्छरा विअ पडिभासि। [सखि उर्वशि! पर्यवस्थापयात्मानम्। अनप्सरेव प्रतिभासि।]

राजा— मुञ्चति न तावदस्या भयकम्पः कुसुमकोमलं हृदयम्।
सिचयान्तेन कथञ्चित्स्तनमध्योच्छ्वासिना कथितः॥ ८॥

(उर्वशी प्रत्यागच्छति)

राजा—(सहर्षम्) चित्रलेखे! दिष्ट्या वर्धसे। प्रकृतिमापन्ना ते प्रियसखी। पश्य—

आविर्भूते शशिनि तमसा मुच्यमानेव रात्रि-
र्नैशस्यार्चिर्हुतभुज इव च्छिन्नभूयिष्ठधूमा।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुक्तकल्पा
गङ्गारोधःपतनकलुषा गच्छतीव प्रसादम्॥ ९॥

चित्रलेखा—सहि उव्वसि! वीसद्धा भव। आवण्णाणुकंपिणा महाराएण पडिहदा क्खु दे तिदसपरिपंथिणो हदासा दाणवा। [सखि उर्वशि! विस्रब्धा भव। आपन्नानुकम्पिना महाराजेन प्रतिहताः खलु ते त्रिदशपरिपन्थिनो हताशा दानवाः।]

उर्वशी—(चक्षुषी उन्मील्य) किं पहावदंसिणा महिंदेण अब्भुववण्णम्हि। [किं प्रभावदर्शिना महेन्द्रेणाभ्युपपन्नास्मि।]

राजा—यह बहुत अधिक डर गयी है। फिर भी—

इसके बड़े-बड़े स्तनों के बीच में पड़ी हुई मन्दारमाला के बार-बार हिलने से मालूम हो रहा है कि इसका हृदय अभी तक काँप रहा है॥ ७॥

चित्रलेखा—(दुःखी होकर) सखी उर्वशी! अपने मन को स्थिर करो। इस अधीरता से तो तुम अप्सरा जैसी नहीं लग रही हो।

राजा—इसके स्तनों के ऊपर हिलने वाले वस्त्र से मालूम पड़ रहा है कि इसके कुसुमकोमल हृदय से भय की विभीषिका अभी तक दूर नहीं हुई॥ ८॥

(उर्वशी होश में आती है)

राजा—(प्रसन्न होकर) चित्रलेखा! तुम भाग्यवती हो। तुम्हारी प्रिय सखी होश में आ गयी है। देखो—

बेहोशी के दूर हो जाने पर तुम्हारी सखी ऐसी लग रही है, जैसे चन्द्रमा के उदय हो जाने पर अन्धकार से रहित रात हो, अथवा रात के समय धुआँ से रहित आग की लपट हो अथवा गंगा की उस धारा की भाँति जो कगार के गिर जाने से कुछ क्षणों के लिए गँदली होकर फिर निर्मल (पूर्ववत्) हो गयी हो॥ ९॥

चित्रलेखा—सखी उर्वशी! आश्वस्त हो जाओ। दीनों पर दया करने वाले महाराज ने देवताओं के शत्रु उन हताश दानवों को मार डाला है।

उर्वशी—(आँखें खोलकर) क्या अपने प्रभाव को दिखलाने वाले इन्द्र ने मेरी रक्षा की है?

चित्रलेखा—ण महिंदेण। महिंदसरिसाणुभावेण राएसिणा पुरूरवसेण। [न महेन्द्रेण। महेन्द्रसदृशानुभावेन राजर्षिणा पुरूरवसा।]

उर्वशी—(राजानमवलोक्य आत्मगतम्) उवकिदं क्खु दाणवेंदसंरंभेण। [उपकृतं खलु दानवेन्द्रसंरम्भेण।]

राजा—(उर्वशीं विलोक्य आत्मगतम्) स्थाने खलु नारायणमृषिं विलोभयन्त्यस्तदूरुसम्भवामिमां विलोक्य व्रीडिताः सर्वा अप्सरस इति। अथवा नेयं तपस्विनः सृष्टिरित्यवैमि। कुतः—

> अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
> शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
> वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
> निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥ १०॥

उर्वशी—हला चित्तलेहे! सहीअणो कहिं क्खु भवे? [सखि! चित्रलेखे! सखीजनः कुत्र खलु भवेत्?]

चित्रलेखा—सहि! अभअप्पदाई महाराओ जाणादि। [सखि! अभयप्रदायी महाराजो जानाति।]

राजा—(उर्वशीं विलोक्य) महति विषादे वर्तते सखीजनः। पश्यतु भवती—

> यदृच्छया त्वं सकृदप्यवन्ध्ययोः पथि स्थिता सुन्दरि! यस्य नेत्रयोः।
> त्वया विना सोऽपि समुत्सुको भवेत् सखीजनस्ते किमुदार्द्रसौहृदः॥ ११॥

उर्वशी—(आत्मगतम्) अमिअं क्खु दे वअणं। अहवा चंदादो अमिअं त्ति किं अच्चरिअं? (प्रकाशम्) अदो एव्व मे पेक्खिदुं तुवरदि हिअअं। [अमृतं खलु ते वचनम्। अथवा चन्द्रादमृतमिति किमाश्चर्यम्? अत एव मे प्रेक्षितुं त्वरते हृदयम्।]

चित्रलेखा—महेन्द्र ने नहीं, अपितु महेन्द्र के समान प्रभावशाली राजर्षि पुरूरवा ने।

उर्वशी—(राजा को देखकर, मन ही मन) तब तो राक्षसों के उपद्रव ने उपकार ही किया है।

राजा—(उर्वशी को देखकर, मन ही मन) यह उचित ही है—नारायण ऋषि को लुभाती हुई अप्सराओं ने जब उनकी जाँघ से पैदा हुई इस उर्वशी को देखा तो वे सब लज्जित हो गयीं। मैं समझता हूँ कि ऐसे सुन्दर रूपवाली सुन्दरी को कोई तपस्वी पैदा ही नहीं कर सकता। क्योंकि—

इसकी रचना करने के लिए या तो कान्ति को देने वाला चन्द्रमा प्रजापति बना होगा, अथवा शृंगार रस के देवता कामदेव ने इसे स्वयं रचा हो, अथवा वसन्त ऋतु ने इसकी रचना की हो; नहीं तो भला बतलाइये वेद का स्वाध्याय करने के कारण जड तथा सांसारिक विषयवासना से दूर रहने वाला प्राचीन मुनि (ब्रह्मा) ऐसी सुन्दर आकृति का निर्माण कैसे कर पाता॥ १०॥

उर्वशी—सखी चित्रलेखा! हमारी सखियाँ इस समय कहाँ होंगी?

चित्रलेखा—सखी! अभयदान देने वाले महाराज ही जानते होंगे।

राजा—(उर्वशी को देखकर) आपकी सखियाँ अत्यन्त दुःखी है। आप देखिये—

यदि आपको कोई दैवयोग से एक बार भी देख ले तो वह भी आपको देखे बिना व्याकुल हो जायेगा, फिर आपके प्रेमरस में सनी हुई आपकी सखियों के बारे में तो कहा ही क्या जा सकता है?॥ ११॥

उर्वशी—(मन ही मन) आपके वचन अमृत (के समान) हैं। अथवा यदि चन्द्रमा से अमृत

राजा—(हस्तेन दर्शयन्)

एताः सुतनु मुखं ते सख्यः पश्यन्ति हेमकूटगताः।
उत्सुकनयना लोकाश्चन्द्रमिवोपप्लवान्मुक्तम्॥ १२॥

(उर्वशी साभिलाषं पश्यति)

चित्रलेखा—हला! किं पेक्खसि? [सखि! किं प्रेक्षसे?]

उर्वशी—णं समदुक्खगदो पिवीअदि लोअणेहिं। [ननु समदुःखगतः पीयते लोचनाभ्याम्।]

चित्रलेखा—(सस्मितम्) अइ को? [अयि कः?]

उर्वशी—णं पणइअणो। [ननु प्रणयिजनः।]

रम्भा—(सहर्षमवलोक्य) हला! चित्तलेहादुदीअं पिअसहीं उव्वसीं गेण्हिअ विसाहासहिदो विअ भअवं सोमो समुवट्ठिदो राएसी। [सखि! चित्रलेखाद्वितीयां प्रियसखीमुर्वशीं गृहीत्वा विशाखासहित इव भगवान् सोमः समुपस्थितो राजर्षिः।]

मेनका—(निर्वर्ण्य) हला! दुवे वि णो एत्थ प्पिआ उवणदा। इअं पच्चाणीदा पिअसही, अअं च अपरिक्खिदसरीरो राएसी दीसदि। [सखि! द्वे अपि नोऽत्र प्रिये उपनते। इयं प्रत्यानीता प्रियसखी, अयं चापरिक्षतशरीरो राजर्षिर्दृश्यते।]

सहजन्या—सहि! जुत्तं भणासि दुज्जओ दाणओ त्ति। [सखि! युक्तं भणसि दुर्जयो दानव इति।]

राजा—सूत! इदं तच्छैलशिखरम्। अवतारय रथम्।

की बूँदें बरसें तो क्या आश्चर्य है? (प्रकट में) इसीलिए अपनी सखियों के लिए मेरा हृदय उतावला हो रहा है।

राजा—(हाथ के संकेत से दिखलाता हुआ)

हे कृशोदरी! हेमकूट पर्वत पर स्थित ये आपकी सखियाँ उत्सुकतापूर्ण नेत्रों से आपको उस प्रकार देख रही हैं, जैसे लोग ग्रहण से छूटे हुए (अतएव अपनी चन्द्रिका से युक्त) चन्द्रमा को देखते हैं॥ १२॥

(उर्वशी राजा को प्रेमभरी दृष्टि से देखती है)

चित्रलेखा—सखी! क्या देख रही हो?

उर्वशी—अपने दुःख में साथ देने वाले महाराज के सौन्दर्य का दोनों आँखों से पान कर रही हूँ।

चित्रलेखा—(मुस्कराती हुई) अरी! किनको?

उर्वशी—अपने प्रिय जन को।

रम्भा—(प्रसन्नता के साथ देखकर) सखी! चित्रलेखा के साथ प्रिय सखी उर्वशी को लेकर राजर्षि उस प्रकार इधर ही आ रहे हैं, जैसे मानो विशाखा के दो तारों के साथ साक्षात् चन्द्रमा आ रहे हों।

मेनका—(विचार कर) सखी! इस अवसर पर ये दोनों बातें अच्छी हो गयीं। एक तो हमारी सखी सकुशल लौटकर आ गयी और राजर्षि को भी किसी प्रकार की चोट नहीं लगी।

सहजन्या—सखी! यह तुम ठीक कह रही हो, क्योंकि राक्षस को जीतना कठिन होता है।

राजा—सारथी! यह वह पहाड़ की चोटी है, यहाँ रथ को उतारो।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान्। (इति तथा करोति)

(उर्वशी रथावतारक्षोभं नाटयन्ती सत्रासं राजानमवलम्बते)

राजा—(स्वगतम्) हन्त! सफलो मे विषमावतारः।

यदिदं रथसङ्क्षोभादङ्गेनाङ्गं ममायतेक्षणया।
स्पृष्टं सरोमकण्टकमङ्कुरितं मनसिजेनेव॥ १३॥

उर्वशी—हला! किं वि परदो ओसर। [सखि! किमपि परतोऽपसर।]

चित्रलेखा— णाहं सक्केमि। [नाहं शक्नोमि।]

रम्भा— एत्थ पिअआरिणं संभावेम्ह राएसिं। [अत्र प्रियकारिणं सम्भावयामो राजर्षिम्।]

(सर्वा उपसर्पन्ति)

राजा—सूत! उपश्लेषय रथम्—

यावत्पुनरियं सुभ्रूरुत्सुकाभिः समुत्सुका।
सखीभिर्याति सम्पर्क लताभिः श्रीरिवार्तवी॥ १४॥

(सूतो रथं स्थापयति)

अप्सरसः—दिट्ठिआ महाराओ विजएण वड्ढदि। [दिष्ट्या महाराजो विजयेन वर्धते।]

राजा—भवत्यश्च सखीसमागमेन।

उर्वशी—(चित्रलेखादत्तहस्तावलम्बा रथादवतीर्य) हला! अधिअं परिस्सजह। ण क्खु मे आसी आसासो जहा पुणो वि सहीअणं पेक्खिस्सं त्ति। [सख्यः! अधिकं परिष्वजथ। न खलु मे आसीदाश्वासो यथा पुनरपि सखीजनं प्रेक्षिष्य इति।]

सूत—जैसी आयुष्मान् की आज्ञा। (ऐसा कहकर रथ को उतारता है।)

(उर्वशी रथ के उतरने से उत्पन्न झटके का अभिनय करती हुई
डरकर राजा का सहारा लेती है।)

राजा—(मन ही मन) आश्चर्य! इस ऊबड-खाबड भूमि पर रथ का उतरना मेरे लिए सफल ही हुआ। क्योंकि—

रथ के हिलने से इस बडी आँखों वाली सुन्दरी के शरीर से मेरे शरीर के बार-बार स्पर्श होने पर जो रोमांच हुआ है उससे ऐसा लग रहा है, मानो मेरे शरीर में प्रेम के अंकुर फूट आये हों॥ १३॥

उर्वशी—सखी! थोडा-सा उधर को हट जाओ।

चित्रलेखा—मैं तो नहीं हट सक रही हूँ।

रम्भा—इस अवसर पर अपने ऊपर दया करने वाले राजर्षि का हम लोग स्वागत करें।

(सभी राजा की ओर जाती हैं)

राजा—सारथी! रथ को इनके पास तक ले चलो—

जिससे ये एक-दूसरे से मिलने के लिए उत्सुक सखियाँ परस्पर उस प्रकार मिल सकें, जैसे लताओं से वसन्त काल की शोभा जा मिलती है॥ १४॥

(सारथी उनके पास ले जाकर रथ खड़ा कर देता है)

अप्सराएँ—महाराज को इस विजय के उपलक्ष्य में बधाई है।

राजा—सखियों का परस्पर मिलन होने से आप सब भी बधाई के पात्र हैं।

उर्वशी—(चित्रलेखा के हाथ का सहारा लेकर उतर कर) सखियो! मुझसे भरपूर गले मिल लो। मुझे तो तुम सब से पुनः भेंट होगी, इस बात की आशा ही नहीं थी।

(सख्यः परिष्वजन्ते)

मेनका—(साशंसम्) सव्वहा कप्पसदं महाराओ पुहविं पालअंतो होदु। [सर्वथा कल्पशतं महाराजः पृथिवीं पालयन् भवतु।]

सूतः—आयुष्मन्! पूर्वस्यां दिशि महता रथवेगेनोपदर्शितः शब्दः।

अयञ्च गगनात् कोऽपि तप्तचामीकराङ्गदः।
अधिरोहति शैलाग्रं तडित्वानिव तोयदः॥ १५॥

अप्सरसः—(पश्यन्त्यः) अम्मो, चित्तरहो। [अहो, चित्ररथः।]

(ततः प्रविशति चित्ररथः)

चित्ररथः—(राजानं दृष्ट्वा सबहुमानम्) दिष्टया महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान्।

राजा—अये गन्धर्वराजः। (रथादवतीर्य) स्वागतं प्रियसुहृदे।

(परस्परं हस्तौ स्पृशतः)

चित्ररथः—वयस्य! केशिना हृतामुर्वशीं नारदादुपश्रुत्य प्रत्याहरणार्थमस्याः शतक्रतुना गन्धर्वसेना समादिष्टा। ततो वयमन्तरा चारणेभ्यस्त्वदीयं जयोदाहरणं श्रुत्वा त्वामिहस्थमुपागताः। स भवानिमां पुरस्कृत्य सहास्माभिर्मघवन्तं द्रष्टुमर्हति। महत्खलु तत्रभवतो मघोनः प्रियमनुष्ठितं भवता। पश्य—

पुरा नारायणेनेयमतिसृष्टा मरुत्वते।
दैत्यहस्तादपाच्छिद्य सुहृदा सम्प्रति त्वया॥ १६॥

(सखियाँ परस्पर एक-दूसरे के गले मिलती हैं।)

मेनका—**(शुभाशंसा करते हुए)** महाराज! पृथिवी का आप सौ कल्प तक पालन करते रहें।

सूत—आयुष्मन्! पूर्व दिशा की ओर से वेग से आते हुए किसी रथ का शब्द सुनाई पड रहा है।

यह कोई तपाये हुए सोने से निर्मित बाजूबन्द को धारण किया हुआ इस पर्वत की चोटी पर आकाश से उस प्रकार उतर रहा है, जैसे कोई बिजली वाला बादल हो॥ १५॥

अप्सराएँ—**(देखती हुई)** अरे! ये तो महाराज चित्ररथ है।

(तदनन्तर चित्ररथ का प्रवेश)

चित्ररथ—**(राजा को आदर के साथ देखकर)** इन्द्र का उपकार करने में अपने पराक्रम द्वारा समर्थ आपको बधाई है महाराज!

राजा—अरे! आप गन्धर्वराज हैं। **(रथ से उतर कर)** प्रिय मित्र! आपका स्वागत करता हूँ।

(आपस में दोनों हाथ मिलाते हैं)

चित्ररथ—मित्र! नारद से इन्द्र ने यह सुना कि केशी नामक राक्षस उर्वशी को हरकर ले गया है, तब उन्होंने गन्धर्वो की सेना को यह आज्ञा दी कि तुम उसे छुड़ा लाओ। इसी बीच हमने देखा कि चारण लोगों से आपकी विजय के गीतों को सुनकर हम लोग यहाँ आपके पास चले आये हैं। अब आप इस (उर्वशी) को लेकर हमारे साथ देवराज इन्द्र से मिल लीजिये। इस कार्य द्वारा आपने इन्द्र का बहुत बडा उपकार किया है। देखिये—

पहले नारायण ने इसे उत्पन्न करके इन्द्र को उपहार के रूप में सौंप दिया था, उसी प्रकार आज आपने दैत्य के हाथ से छुड़ाकर मित्र के नाते आप इसे इन्द्र को भेंट कर दीजिये॥ १६॥

राजा—सखे ! मैवम्—

> ननु वज्रिण एव वीर्यमेतद् विजयन्ते द्विषतो यदस्य पक्ष्याः ।
> वसुधाधरकन्दराविसर्पी प्रतिशब्दो हि हरेर्हिनस्ति नागान् ॥ १७ ॥

चित्ररथः—युक्तमेतत् । अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः ।

राजा—सखे ! नायमवसरो मम शतक्रतुं द्रष्टुम् । अतस्त्वमेवात्रभवतीं प्रभोरन्तिकं प्रापय ।

चित्ररथः—यथा भवान् मन्यते । इत इतो भवत्यः ।

(सर्वाः प्रस्थिताः)

उर्वशी—(जनान्तिकम्) हला चित्तलेहे ! उवआरिणं राएसिं ण सक्कणोमि आमंतेदुं । ता तुमं एव्व मे मुहं होहि । [**सखि चित्रलेखे ! उपकारिणं राजर्षिं न शक्नोम्यामन्त्रयितुम् । तत् त्वमेव मे मुखं भव ।**]

चित्रलेखा—(राजानमुपेत्य) महाराअ ! उव्वसी विण्णवेदि—महाराएण अब्भणुण्णादा इच्छामि पिअसहिं विअ महाराअस्स कित्तिं सुरलोअं णेदुं । [**महाराज ! उर्वशी विज्ञापयति—महाराजेनाभ्यनुज्ञातेच्छामि प्रियसखीमिव महाराजस्य कीर्तिं सुरलोकं नेतुम् ।**]

राजा—गम्यतां पुनर्दर्शनाय ।

(सर्वाः सगन्धर्वा आकाशोत्पतनं रूपयन्ति)

उर्वशी—(उत्पतनभङ्गं रूपयित्वा) अम्मो ! लदाविडवे एसा एआवली वैआअंतिआ मे लग्गा । (सव्याजमुपसृत्य राजानं पश्यन्ती) सहि चित्तलेहे ! मोआवेहि दाव णं । [**अहो ! लताविटप एषैकावली वैजयन्तिका मे लग्ना । सखि चित्रलेखे ! मोचय तावदेनाम् ।**]

राजा—मित्र ! ऐसा मत कहो ।

यह सब देवराज इन्द्र के ही पराक्रम का फल है कि उनके मित्र वैसे ही अपने शत्रुओं पर विजय पाते हैं, जैसे पहाड की गुफा मे टकरा कर गूँजती हुई सिंह की दहाड हाथियों को घबड़ा कर भगा देती है ॥ १७ ॥

चित्ररथ—आपका यह कहना उचित ही है । पराक्रमी का अलंकार ही विनय होता है ।

राजा—मित्र ! मेरे लिए इन्द्र को देखने का यह अवसर नहीं है । इसलिए आप ही इन्हें (उर्वशी को) महाराज इन्द्र के पास पहुँचा दीजिये ।

चित्ररथ—जैसा आप उचित समझते हों । आप लोग इधर से आइये, इधर से ।

(सभी चली जाती हैं)

उर्वशी—**(अलग से)** सखी चित्रलेखा ! मेरे ऊपर उपकार करने वाले राजर्षि से विदाई लेने में मुझे लज्जा आ रही है, अतः तुम्हीं मेरी ओर से विदाई ले लो ।

चित्रलेखा—**(राजा के समीप जाकर)** महाराज ! उर्वशी निवेदन कर रही है कि यदि महाराज की आज्ञा हो तो उनकी कीर्ति को अपनी सखी बनाकर सुरलोक में लेती जाऊँ ।

राजा—फिर दर्शन देने के लिए, इस समय जाइये ।

(सभी अप्सराएँ गन्धर्वो के साथ आकाश की ओर उडने का अभिनय करती हैं ।)

उर्वशी—**(उडने में बाधा पड़ जाने का अभिनय करके)** अरे ! लता की शाखा में मेरी एक लड़ वाली वैजयन्ती माला ही फँस गयी है । **(घूमकर राजा को देखती है)** सखी चित्रलेखा ! जरा इसे छुड़ा दो ।

चित्रलेखा—(विलोक्य विहस्य च) आं, दिढं क्खु लग्गा सा। असक्का मोआविदुं। [आम्, दृढं खलु लग्ना सा। अशक्या मोचयितुम्।]

उर्वशी—अलं पडिहासेन। मोआवेहि दाव णं। [अलं परिहासेन। मोचय तावदेनाम्।]

चित्रलेखा—आं, दुम्मोआ विअ मे पडिहादि। तहा वि मोआविस्सं दाव। [आम्, दुर्मोचेव मे प्रतिभाति। तथापि मोचयिष्ये तावत्।]

उर्वशी—(स्मितं कृत्वा) पिअसहि! सुमरेहि क्खु एदं अत्तणो वअणं। [प्रियसखि! स्मर खल्वेतदात्मनो वचनम्।]

राजा—(स्वगतम्)

प्रियमाचरितं लते त्वया मे गमनेऽस्याः क्षणविघ्नमाचरन्त्या।
यदियं पुनरप्यपाङ्गनेत्रा परिवृत्तार्धमुखी मया हि दृष्टा॥ १८॥

(चित्रलेखा मोचयति। उर्वशी राजानमालोकयन्ती
सनिःश्वासं सखीजनमुत्पतन्तं पश्यति)

सूतः—आयुष्मन्!

अदः सुरेन्द्रस्य कृतापराधान् प्रक्षिप्य दैत्याँल्लवणाम्बुराशौ।
वायव्यमस्त्रं शरधिं पुनस्ते महोरगः श्वभ्रमिव प्रविष्टम्॥ १९॥

राजा—तेन ह्युपश्लेषय रथम्। यावदारोहामि।

(सूतस्तथा करोति। राजा नाट्येन रथमारोहति)

उर्वशी—(सस्पृहं राजानमवलोकयन्ती) अवि णाम पुणो वि उअआरिणं एदं पेक्खिस्सं? [अपि नाम पुनरप्युपकारिणमेनं प्रेक्षिष्ये?]

चित्रलेखा—(देखकर हँसते हुए) हाँ, यह तो बहुत उलझ गयी है। इसे तो छुड़ाना बड़ा कठिन है।

उर्वशी—अधिक परिहास मत करो। पहले इसे छुड़ा दो।

चित्रलेखा—हाँ, मुझे लगता है यह तो नहीं छुड़ायी जा सकेगी। तो भी मैं छुड़ाने का प्रयत्न करती हूँ।

उर्वशी—(मुस्कुराकर) प्रियसखी! इस अपने वचन को अवश्य याद रखना।

राजा—(मन ही मन में) अरी लता! इसे रोक कर तुमने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की, जो मेरी ओर आधा मुख फेर कर देख रही थी। इस बड़े-बड़े नयनों वाली को इसी बहाने मैंने इसे भलीभाँति देख तो लिया॥ १८॥

(चित्रलेखा माला को छुड़ा देती है, उर्वशी राजा को देखती हुई लम्बी साँसें लेकर
ऊपर की ओर जाती हुई सखियों को देखती है।)

सूत—आयुष्मन्! देवराज इन्द्र के साथ वैर करने वाले राक्षसों को आपका यह वायव्यास्त्र (बाण) आपके तरकस में उस प्रकार लौट आया है, जैसे कोई साँप पुनः अपने बिल में आकर घुस जाता है॥ १९॥

राजा—अच्छा, रथ को समीप ले आओ, जिससे मैं चढ सकूँ।

(सारथी रथ को समीप ले आता है, राजा चढ़ने का अभिनय करता है।)

उर्वशी—(बड़ी चाह के साथ राजा को देखती हुई) अपने ऊपर उपकार करने वाले महाराज को क्या फिर कभी देख सकूँगी?

(इति सगन्धर्वा सह सखीभिर्निष्क्रान्ता)

राजा—(उर्वशीवर्त्मोन्मुखः) अहो ! दुर्लभाभिलाषी मदनः—

एषा मनो मे प्रसभं शरीरात् पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती।
सुराङ्गना कर्षति खण्डिताग्रात् सूत्रं मृणालादिव राजहंसी॥ २०॥

(इति निष्क्रान्तौ)

इति प्रथमोऽङ्कः।

(इस प्रकार गन्धर्व तथा सखियों के साथ उर्वशी चली जाती है।)

राजा—(उर्वशी के मार्ग की ओर देखता हुआ) आश्चर्य है, कामदेव भी जिसका मिल सकना कठिन होता है, उसी की ओर मन को खींच ले जाता है।

यह देवांगना (उर्वशी) आकाश में उड़कर जाती हुई मेरे शरीर से मेरे मन को उसी प्रकार वलपूर्वक खींचे चली जा रही है, जैसी राजहंसी टूटे हुए कमलनाल से उसका तंतु खींचे चली जा रही हो॥ २०॥

(सभी चले जाते हैं।)

पहला अङ्क समाप्त।

द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति विदूषकः)

विदूषकः—ही ही भो! णिमंतणिओ परमण्णेण विअ राअरहस्सेण फुट्टमाणो ण सक्कणोमि जनाइण्णे अइण्णणेण अत्तणो जीहं धारिदुं। ता जाव सो राआ धम्मासणगदो इदो आअच्छइ दाव इमस्सिं विरलजणसंवादे देवच्छंदअप्पासादे आरुहिअ चिट्ठिस्सं। (परिक्रम्योपविश्य पाणिभ्यां मुखं पिधाय स्थितः।) [ही ही भोः! निमन्त्रणिकः परमान्नेनेव राजरहस्येन स्फुटन्न शक्नोमि जनाकीर्णेऽकीर्तनानेनात्मनो जिह्वां धारयितुम्। तद्यावत् स राजा धर्मासनगत इत आयाति तावदेतस्मिन् विरलजनसम्पाते देवच्छन्दकप्रासाद आरुह्य स्थास्ये।]

(ततः प्रविशति चेटी)

चेटी—आणत्तम्हि देवीए कासिराअदुहिदाए जधा—हंजे णिउणिए! जदो पहुदि भअवदो सुज्जस्स उअत्थाणं कदुअ पडिणिउत्तो महाराओ तदो पहुदि सुण्णहिअओ विअ लक्खीअदि। ता तुमं वि दाव अज्जमाणवआदो जाणाहि से उक्कंठाकालणं त्ति। ता कहं सो बम्हबंधु अदिसंधादव्वो। अहवा तणग्गलग्गं विअ अवस्साअसलिलं ण तस्सिं राअरहस्सं चिरं चिट्ठदि त्ति तक्केमि। ता जाव णं अण्णेसामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) अम्मो! आलेक्खवाणरो विअ किं पि मंतअंतो णिहुदो अज्जमाणअवो चिट्ठदि। ता जाव णं उवसप्पामि। (उपसृत्य) अज्ज! वंदामि। [आज्ञप्ताऽस्मि देव्या काशिराजदुहित्रा यथा—हञ्जे निपुणिके! यतः प्रभृति भगवतः सूर्यस्योपस्थानं कृत्वा प्रतिनिवृत्तो महाराजस्ततः प्रभृति शून्यहृदय इव लक्ष्यते। तत् त्वमपि तावदार्यमाणवकाज्जानीह्यस्योत्कण्ठाकारणमिति। तत् कथं स ब्रह्मबन्धुरतिसन्धातव्यः। अथवा तृणाग्रलग्नमिवावश्यायसलिलं न तस्मिन् राजरहस्यं चिरं तिष्ठतीति तर्कयामि। तद्यावदेनमन्वेषयामि। अहो! आलेख्यवानर इव किमपि मन्त्रयन्निभृत आर्यमाणवकस्तिष्ठति। तद्यावदेनमुपसर्पामि। आर्य! वन्दे।]

(तदनन्तर विदूषक का प्रवेश)

विदूषक—**(घूमकर बैठकर दोनों हाथों से मुख को बन्द कर बैठ जाता है।)** ही हां अरे! निमन्त्रण खाने वाले भोजनभट्ट ब्राह्मण का पेट जैसे अधिक खा लेने से फटने लगता है, वैसे ही राजा के प्रेम की गुप्त बात को छिपाये रखने से मेरा भी पेट फटा जा रहा है। अब मैं इतने लोगों की भीड़ में उस गुप्त बात को बिना कहे अपनी जीभ को रोक नहीं पा रहा हूँ। इसलिए जब तक वह राजा धर्मासन (राजसभा) से इधर आये तब तक मैं जहाँ किसी का प्रवेश नहीं हो पाता उस देवच्छन्दक नामक राजमहल में चढकर बैठता हूँ।

(तदनन्तर चेटी का प्रवेश)

चेटी—मुझे काशीनरेश की पुत्री ने आज्ञा दी है, सखी निपुणिका! जब से भगवान् सूर्य की उपासना करके महाराज लौटे हैं तब से वे खोये-खोये-से लग रहे हैं। इसलिये तुम भी इसका कारण आर्य माणवक से जानने का प्रयत्न करो। तो मैं कैसे उस ब्रह्मबन्धु को ठगकर इस बात का पता लगाऊँ? किन्तु मैं सोच रही हूँ, जैसे घास के ऊपर पड़ी हुई ओस की बूँद बहुत देर तक टिक नहीं पाती, वैसे ही उस (विदूषक) के पेट में राजा की गुप्त बातें देर तक नहीं रह पायेंगी। तो जब तक मैं इसे ढूँढती

विदूषकः—सत्थि भोदीए। (आत्मगतम्) एदं दुट्ठचेडिअं पेक्खिअ तं राअरहस्सं हिअअं भिंदिअ णिक्कमदि विअ। (किञ्चिन्मुखं संवृत्य प्रकाशम्) भोदि णिउणिए! संगीदवावारं उज्झिअ कहिं पत्थिदासि ? [**स्वस्ति भवत्यै। एतां दुष्टचेटिकां प्रेक्ष्य तद्राजरहस्यं हृदयं भित्त्वा निष्क्रामतीव। भवति निपुणिके! सङ्गीतव्यापारमुज्झित्वा कुत्र प्रस्थिताऽसि ?**]

चेटी—देवीए वअणेण अज्जं एव्व पेक्खिदुं। [**देव्या वचनेनार्यमेव प्रेक्षितुम्।**]

विदूषकः—किं तत्तभोदी आणवेदि ? [**किं तत्रभवत्याज्ञापयति ?**]

चेटी—देवी भणादि जधा—अज्जस्स मम उअरिं अदक्खिण्णं। ण मं अणुइदवेअणं दुक्खिदं अवलोअदि त्ति। [**देवी भणति यथा—आर्यस्य ममोपरि अदाक्षिण्यम्। न मामनुचितवेदनां दुःखितामवलोकयतीति** ।]

विदूषकः—णिउणिए! किं वा पिअवअस्सेण तत्तभोदीए पडिऊलं किं वि समाचरिदं? [**निपुणिके! किं वा प्रियवयस्येन तत्रभवत्याः प्रतिकूलं किमपि समाचरितम् ?**]

चेटी—जं णिमित्तं उण भट्टा उक्कंठिदो ताए इत्थिआए णामेण भट्टिणा देवी आलविदा। [**यन्निमित्तं पुनर्भर्ता उत्कण्ठितस्तस्याः स्त्रिया नाम्ना भर्त्रा देवी आलपिता।**]

विदूषकः—(स्वगतम्) कहं सअं एव्व तत्तभोदा वअस्सेण रहस्सभेदो किदो ? किं दाणिं अहं बम्हणो जीहं रक्खिदुं समत्थोम्हि ? (प्रकाशम्) किं तत्तभोदा उव्वसीणामधेएण आमंतिदा ? [**कथं स्वयमेव तत्रभवता वयस्येन रहस्यभेदः कृतः ? किमिदानीमहं ब्राह्मणो जिह्वां रक्षितुं समर्थोऽस्मि। किं तत्रभवता उर्वशीनामधेयेनामन्त्रिता ?**]

चेटी—अज्ज! का सा उव्वसी ? [**आर्य! का सा उर्वशी ?**]

हूँ। (**घूमकर देखती हुई**) अरे! आर्य माणवक तो यहाँ चित्रलिखित वानर की भाँति कुछ सोच-विचार करते हुए जैसे यहाँ छिपे हैं। तो चलूँ इनके पास। (**पास जाकर**) आर्य! प्रणाम करती हूँ।

विदूषक—आपका कल्याण हो। (**मन ही मन**) इस दुष्ट दासी को देखकर वे राजा की गुप्त बातें मानो हृदय को फाडकर बाहर निकलना चाह रही है। (**मुख को कुछ बन्द करके, प्रकट में**) अरे निपुणिका! अपना गाना-बजाना छोड़कर किधर जा रही हो ?

चेटी—देवी (काशीनरेश की पुत्री) की आज्ञा से आपको ही देखने आ रही थी।

विदूषक—महारानी ने क्या आज्ञा दी है ?

चेटी—देवी ने इस प्रकार कहलाया है—आर्य आजकल मेरे ऊपर कृपा नहीं कर रहे हैं और अकारण इतनी मानसिक पीडा से पीड़ित मुझे देखने के लिए भी नहीं आ रहे हैं।

विदूषक—निपुणिका! क्या महाराज ने महारानी की इच्छा के विपरीत कोई कार्य कर दिया है ?

चेटी—हाँ, आजकल महाराज जिस (उर्वशी) को प्यार करने के लिए उत्कण्ठित रहते हैं उसी का नाम लेकर महाराज ने देवी को पुकारा।

विदूषक—(**मन ही मन**) क्या स्वंय मेरे मित्र महाराज ने गुप्त बात का भेद खोल दिया है? तब इस समय मैं ब्राह्मण होकर भी अपनी जीभ को कैसे वश में रख सकता हूँ? (**प्रकट में**) क्या महाराज ने उर्वशी कहकर महारानी को सम्बोधित किया था ?

चेटी—आर्य! वह उर्वशी कौन है ?

विदूषकः—अत्थि उव्वसि त्ति अच्छरा। ताए दंसणेण उम्मादिदो ण केवलं तं आआसेदि, मं वि बम्हणं असिदव्वविमुहं दिढं पीडेदि। [अस्त्युर्वशीत्यप्सराः। तस्या दर्शनेनोन्मादितो न केवलं तामायासयति मामपि ब्राह्मणमशितव्यविमुखं दृढं पीडयति।]

चेटी—(स्वगतम्) उव्वादिदो मए भेओ भट्टिणो रहस्सदुग्गस्स। ता गदुअ देवीए एदं णिवेदेमि। (इति प्रस्थिता) [उत्पादितो मया भेदो भर्तू रहस्यदुर्गस्य। तद्गत्वा देव्यै एतन्निवेदयामि।]

विदूषकः—णिउणिए! विण्णावेहि मम वअणेण कासिराअदुहिदरं—परिस्संतम्हि इमाए मिअतिण्हिआए वअस्सं णिअत्तावेदुं। जइ भोदीए मुहकमलं पेक्खिस्सदि तदो णिअत्तिस्सदि त्ति। [निपुणिके! विज्ञापय मम वचनेन काशिराजदुहितरम्—परिश्रान्तोऽस्म्येतस्या मृगतृष्णिकाया वयस्यं निवर्तयितुम्। यदि भवत्या मुखकमलं प्रेक्षिष्यते ततो निवर्तिष्यत इति।]

चेटी—जं अज्जो आणवेदि। [यदार्य आज्ञापयति।] (इति निष्क्रान्ता)

(नेपथ्ये वैतालिकः) जयतु जयतु देवः।

आ लोकान्तात् प्रतिहततमोवृत्तिरासां प्रजानां
तुल्योद्योगस्तव च सवितुश्चाधिकारो मतो नः।
तिष्ठत्येकः क्षणमधिपतिर्ज्योतिषां व्योममध्ये
षष्ठे काले त्वमपि लभसे देव विश्रान्तिमह्नः॥ १॥

विदूषकः—(कर्णं दत्त्वा) एसो उण पिअवअस्सो धम्मासणसमुत्थिदो इदो एव आअच्छदि। ता जाव पासपडिवत्ती होमि। (इति निष्क्रान्तः) [एष पुनः प्रियवयस्यो धर्मासनसमुत्थित इत एवागच्छति। तद्यावत् पार्श्वपरिवर्ती भवामि।]

॥ प्रवेशकः॥

विदूषक—उर्वशी नाम की एक अप्सरा है। उसके दर्शन के समय से वे अपनी सुध-बुध खो बैठे हैं, अतः वे केवल महारानी को ही कष्ट नहीं पहुँचा रहे हैं अपितु मुझ ब्राह्मण का भी भोजन-पानी छुड़ाकर मुझे भी वे दुःख दे रहे हैं।

चेटी—(मन ही मन) महाराज के अनमना होने का जो रहस्य रूपी किला था, उसका मैंने भेदन कर दिया। तो जाकर महारानी से मैं ये ही सब बातें कह देती हूँ। (ऐसा कहकर चली जाती है)

विदूषक—निपुणिका! मेरी ओर से काशिराज की पुत्री से कह देना कि मैं तो अपने मित्र महाराज को इस मृगतृष्णा से बचाने की बात कहते-कहते थक गया। यदि वे आपके मुखकमल का दर्शन कर लेंगे तो उनका मन उर्वशी से स्वयं फिर जायगा।

चेटी—जैसी आर्य की आज्ञा। (ऐसा कहकर वह चली जाती है)

(नेपथ्य में वैतालिक) महाराज की जय हो, जय हो।

हमारे विचार से आप और सूर्य ये दोनों प्रतिदिन का अपना-अपना कार्य यथोचित विधि से समान रूप से करते हैं, क्योंकि सूर्यदेव संसार का अन्धकार दूर करते हैं और आप प्रजा का कष्ट दूर करते हैं। नक्षत्रों के राजा सूर्य अपने कार्य से अवकाश पाकर आकाश में क्षणभर विश्राम करते हैं और आप भी अपने राजकाज से अवकाश पाकर तीसरे पहर विश्राम लेते हैं॥ १॥

विदूषक—(कान लगाकर) ये मेरे प्रियमित्र (महाराज) धर्मासन से उठकर इधर ही आ रहे हैं। तो तब तक मैं भी उनके समीप पहुँच जाऊँ। (ऐसा कहकर चला जाता है)

॥ प्रवेशक॥

(ततः प्रविशत्युत्कण्ठितो राजा विदूषकश्च)

राजा— आ दर्शनात् प्रविष्टा सा मे सुरलोकसुन्दरी हृदयम्।
बाणेन मकरकेतोः कृतमार्गमवन्ध्यपातेन ॥ २ ॥

विदूषकः—सपीडा क्खु जादा तत्तभोदी कासिराअदुहिदा। [**सपीडा खलु जाता तत्रभवती काशिराजदुहिता।**]

राजा—(निरीक्ष्य) अपि रक्ष्यते भवता रहस्यनिक्षेपः ?

विदूषकः—(आत्मगतम्) हद्धी हद्धी। वंचिदोम्हि दुट्ठदासीए णिउणिआए। अण्णधा कधं एव्वं पुच्छदि वअस्सो ? [**हा धिग् हा धिक्। वञ्चितोऽस्मि दुष्टदास्या निपुणिकया। अन्यथा कथमेवं पृच्छति वयस्यः ?**]

राजा— किं भवाँस्तूष्णीमास्ते ?

विदूषकः—भो ! एव्वं मए जीहा संजंतिदा जेण भवदो वि णत्थि पडिवअणं। [**भोः ! एवं** *मया जिह्वा संयन्त्रिता येन भवतोऽपि नास्ति प्रतिवचनम्।*]

राजा—युक्तम्। अथ केनेदानीमात्मानं विनोदयामि ?

विदूषकः—भो ! महाणसं गच्छम्ह ! [**भो ! महानसं गच्छावः।**]

राजा—किं तत्र ?

विदूषकः—तहिं पंजविहस्स अब्भवहारस्स उवणदसंभारस्स जोअणां पेक्खमाणेहिं सक्कं उक्कंठां विणोदेदुं। [**तत्र पञ्चविधस्याभ्यवहारस्योपनतसम्भारस्य योजनां प्रेक्षमाणाभ्यां शक्यमुत्कण्ठां विनोदयितुम्।**]

राजा—(सस्मितम्) तत्रेप्सितसन्निधानाद् भवान् रंस्यते। मया खलु दुर्लभप्रार्थनः कथमात्मा विनोदयितव्यः ?

(उत्कण्ठित हृदय से राजा का विदूषक के साथ प्रवेश)

राजा—कामदेव ने मेरे हृदय में बाण मारकर उस सुरसुन्दरी के प्रवेश करने के लिए मार्ग बनाया था, उसमें वह देखने मात्र से प्रविष्ट हो गयी ॥ २ ॥

विदूषक—देवी काशिराजपुत्री के सचमुच भाग फूट गये।

राजा—(**देखकर**) मेरी रहस्य रूपी धरोहर को तुमने सुरक्षित रखा है ?

विदूषक—(**मन ही मन**) हाय ! हाय ! उस दुष्ट दासी निपुणिका ने मुझे ठग लिया है। नहीं तो मेरे मित्र मुझसे ऐसा क्यों पूछते ?

राजा—आप चुप क्यों हो गये हैं ?

विदूषक—महाराज ! मैंने अपनी जीभ को ऐसा बाँध दिया है, अतएव आपकी बात का भी उत्तर नहीं दे पा रहा हूँ।

राजा—ठीक है। अब मैं अपने मन को किससे बहलाऊँ ?

विदूषक—अरे ! हम दोनों रसोईघर में चलें।

राजा—वहाँ क्या है ?

विदूषक—वहाँ पाँच प्रकार के पकवानों की सामग्री को देखने मात्र से हम लोगों की सम्पूर्ण उत्कण्ठा दूर हो जायेगी।

राजा—(**मुस्कराकर**) वहाँ आपको तो मन बहलाने की अर्थात् पेट भरने की पूरी सामग्री

विदूषकः—णं भवं वि तत्तभोदीए उव्वसीए दंसणपहं गदो ? [ननु भवानपि तत्रभवत्या उर्वश्या दर्शनपथं गतः ?]

राजा—ततः किम् ?

विदूषकः—ण क्खु दे दुल्लह त्ति तक्केमि। [न खलु ते दुर्लभेति तर्कयामि।]

राजा—पक्षपातोऽपि तस्यां सद्रूपस्यालौकिक एव।

विदूषकः—एव्वं मंतअंतेण मे वड्ढिदं कोदूहलं। किं तत्तभोदी उव्वसी अद्दुदीआ रूवेण, अहं विअ विरूवदाए ? [एवं मन्त्रयता मम वर्धितं कौतूहलम्। किं तत्रभवत्युर्वश्यद्वितीया रूपेण, अहमिव विरूपतया ?]

राजा—माणवक ! प्रत्यवयवमशक्यवर्णनां तामवेहि। तेन हि समासतः श्रूयताम्।

विदूषकः—भोः ! अवहिदोम्हि। [भोः ! अवहितोऽस्मि।]

राजा— आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः।
उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः ॥ ३ ॥

विदूषकः—अदो दाव तुए दिव्वरसाहिलासिणा चादअव्वदं गहीदं। ता दाव तुमं कहिं पत्थिदो ? [अतस्तावत् त्वया दिव्यरसाभिलाषिणा चातकव्रतं गृहीतम्। तत्तावत् त्वं कुत्र प्रस्थितः ?]

राजा—विविक्तादृते नान्यदुत्सुकस्य शरणमस्ति। तद् भवान् प्रमदवनमार्गमादेशयतु।

विदूषकः—(आत्मगतम्) का गदी ? (प्रकाशम्) इदो इदो भवं। [का गतिः ? इत इतो भवान्।]

मिल जायेगी, परन्तु बड़ी कठिनाई से मिलने वाली वस्तु के लिए तड़पने वाला मैं किससे अपना मन बहलाऊँगा ?

विदूषक—आप को भी तो उर्वशी ने देखा होगा ?

राजा—उससे क्या होता है ?

विदूषक—मैं सोचता हूँ कि वह तो आपके लिए दुर्लभ नहीं हो सकती।

राजा—यदि उसे हम अलौकिक सुन्दरी कहें तो यह भी उसके लिए पक्षपात ही है।

विदूषक—इस प्रकार आपसे बात करने से मेरा कुतूहल और भी बढ़ता जा रहा है। क्या सुन्दरता में उर्वशी इतनी अनुपम है जितना मैं कुरूपता में हूँ ?

राजा—माणवक ! ऐसा समझो कि उसके एक-एक अंग का वर्णन करना किसी के लिए भी असम्भव है। फिर भी थोड़े में हम से सुनो।

विदूषक—राजन् ! मैं सावधान होकर सुन रहा हूँ।

राजा—उस (उर्वशी) का शरीर अलंकारों का भी अलंकार है, शृंगार की सामग्री का भी वह शृंगार है और उपमा देने योग्य वस्तुओं की भी उसे उपमा दी जा सकती है ॥ ३ ॥

विदूषक—इसीलिए आपने दिव्य रस को प्राप्त करने की इच्छा से चातकव्रत धारण कर लिया है। अच्छा, अब आप बतलाइये कि इस समय कहाँ जा रहे हैं ?

राजा—उत्सुक पुरुष एकान्त स्थान को छोड़कर और जा ही कहाँ सकते हैं। इसलिए आप मुझे प्रमदवन का मार्ग बतलाइये।

विदूषक—(मन ही मन) और उपाय ही क्या है ? (प्रकट रूप में) महाराज ! इधर से चलिए, इधर से।

(इति परिक्रामतः)

विदूषकः—एसो पमदवणपरिसरो। आणमिअ पच्चुवगदो भवं आअंतुओ दक्खिणमारुदेण। [एष प्रमदवनपरिसरः। आनम्य प्रत्युपगतो भवानागन्तुको दक्षिणमारुतेन।]

राजा—(विलोक्य) उपपन्नं विशेषणमस्य वायोः। अयं हि—

निषिञ्चन् माधवीं लक्ष्मीं लतां कौन्दीं च लासयन्।
स्नेहदाक्षिण्ययोर्योगात् कामीव प्रतिभाति मे॥४॥

विदूषकः—सरिसो एव्व से अहिणिवेसो। (इति परिक्रामन्) एदं पमदवणं। पविसदु भवं। [सदृशं एवास्याभिनिवेशः। एतत्प्रमदवनम्। प्रविशतु भवान्।]

राजा—वयस्य! प्रविशाग्रतः।

(उभौ प्रवेशं नाटयतः)

राजा—(त्रासं रूपयित्वा) वयस्य! साधुमनसा समर्थित आपत्प्रतीकारः किल ममोद्यानप्रवेशः तच्चान्यथैवोपपन्नम्।

विविक्षोर्यदिदं नूनमुद्यानं तापशान्तये।
स्रोतसेवोह्यमानस्य प्रतीपतरणं महत्॥५॥

विदूषकः—कहं विअ? [कथमिव?]

राजा—

इदमसुलभवस्तुप्रार्थनादुर्निवारं प्रथममपि मनो मे पञ्चबाणः क्षिणोति।
किमुत मलयवातोन्मूलिता पाण्डुपत्रैरुपवनसहकारैर्दर्शितेष्वङ्कुरेषु॥६॥

(दोनों घूमते हैं)

विदूषक—यह प्रमदवन का परिसर आ गया है। आपको आगन्तुक समझकर मलयमारुत सादर अगवानी करने आया है।

राजा—(देखकर) मलयपवन का यह दक्षिण विशेषण समुचित ही है। क्योंकि—

माधवीलता को सींचता हुआ तथा कुन्दलता को नचाता हुआ यह पवन मुझे ऐसा लग रहा है कि मानो यह कोई कामी पुरुष प्रेम तथा कुशलता के संयोग से सबको एक साथ प्रसन्न कर रहा हो॥४॥

विदूषक—इसके स्नेह करने का प्रकार भी आपके जैसा ही है। (ऐसा कहकर घूमता हुआ) यह प्रमदवन आ गया, आप इसके भीतर प्रवेश कीजिए।

राजा—मित्र! आगे-आगे तुम चलो।

(दोनों प्रवेश करने का अभिनय करते हैं।)

राजा—(भयभीत होने का अभिनय करता हुआ) मित्र! तुमने मेरी आपत्ति को दूर करने के लिए उपवन में प्रवेश करने रूप यह अच्छा उपाय सोचा। यह तो एकदम विपरीत-सा हो गया।

मन की उलझन की शान्ति के लिए मेरा इस बगीचे में प्रवेश करना वैसा हीं हो गया, जैसा बहाव की ओर तैरकर आगे बढने वाले को एकाएक उसके विपरीत तैरना पडे॥५॥

विदूषक—क्यों यह कैसे?

राजा—अत्यन्त कठिनता से प्राप्त होने वाली जिस वस्तु (उर्वशी) के लिए जो मेरा मन उतावला हो रहा था, उसे कामदेव ने पहले ही बींध डाला था। उस पर भी हम यहाँ देख रहे हैं कि उपवन

विदूषकः—अलं परिदेबिदेण। अइरेण दे इट्ठसंपादणेण अणंगो एव्व दे सहाओ भविस्सदि। [**अलं परिदेवितेन। अचिरेण तवेष्टसम्पादनेनानङ्ग एव ते सहायो भविष्यति।**]

राजा—प्रतिगृहीतं ब्राह्मणवचनम्।

(इति परिक्रामतः)

विदूषकः—पेक्खदु भवं वसंतावदारसूअअं अहिरामत्तणं पमदवणस्स। [**प्रेक्षतां भवान् वसन्तावतारसूचकमभिरामत्वं प्रमदवनस्य।**]

राजा—ननु प्रतिपादपमेवावलोकयामि। अत्र हि—

> **अग्रे स्त्रीनखपाटलं कुरबकं श्यामं द्वयोर्भागयोः**
> **रक्ताशोकमुपोढरागसुभगं भेदोन्मुखं तिष्ठति।**
> **ईषद्बद्धरजःकणाग्रकपिशा चूते नवा मञ्जरी**
> **मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सखे मध्ये मधुश्रीः स्थिता ॥७॥**

विदूषकः—भो, एसो क्खु मणिसिलापट्टअसणाहो अदिमुत्तलदामंडवो भमरसंघट्टपडिदेहिं कुसुमेहिं सअं विअ किदोवआरो भवंतं पडिच्छदि। ताअणुकेण्हिअदु दाव एसो। [**भोः, एष मणिशिलापट्टकसनाथोऽतिमुक्तलतामण्डपो भ्रमरसङ्घट्टपतितैः कुसुमैः स्वयमिव कृतोपचारो भवन्तं प्रतीच्छति। तदनुगृह्यतां तावदेषः।**]

राजा—यथा भवते रोचते।

(परिक्रम्योपविशतः)

के उन आम के पेड़ों में कोपलें भी फूटने लगी है, जिनकी पीली पँखुडियों को मलयमारुत ने गिरा दिया है। इस विषम स्थिति में भला मेरे मन को कैसे शान्ति मिल सकती है? ॥ ६ ॥

विदूषक—आप पछताइये नहीं। यही कामदेव आपको आपकी प्रियतमा से मिलाने में शीघ्र ही सहायक होगा।

राजा—ब्राह्मण का आशीर्वादस्वरूप यह वचन मैंने शिरोधार्य किया।

(ऐसा कहकर दोनों घूमते हैं)

विदूषक—आप देखिये, इस प्रमदवन की शोभा स्वयं बतला रही है कि चारों ओर वसन्त छा गया।

राजा—सचमुच मैं प्रत्येक पेड़ में वसन्तावतार की शोभा देख रहा हूँ। यहाँ तो—

सामने यह कुरबक का फूल है, जिसके सामने का भाग स्त्री के नख के जैसा लाल है तथा जिसके दोनों छोर साँवले दिख रहे हैं। अपनी लालिमा से मनोहर लगने वाली यह लाल अशोक की कली ऐसी लग रही है मानो क्षणभर में खिलने वाली हो। आम के पेड़ो में पराग के कारण कुछ-कुछ पीली बौर दिखलायी दे रही है। हे मित्र! इस प्रकार यह वसन्त की शोभा ऐसी लग रही है, मानो वह अपने बचपन और जवानी के बीच में आ खडी हुई हो ॥ ७ ॥

विदूषक—अरे! यह अतिमुक्तलतामंडप है, जिसके नीचे रत्नजटित पत्थर की चौकी है, जिस पर भ्रमर-समूह के एक साथ बैठने से फूल गिरकर बिखरे हैं; मानो ये आपका स्वागत कर रहे हों। चलिये, इन पर भी आप कृपा कीजिये।

राजा—जैसा तुम्हें अच्छा लगे।

(दोनों घूमकर बैठते हैं)

विदूषकः—दाणिं इह सुहासीणोभवं ललिदलदाविलोहीअमाणणअणो उव्वसीगदं उक्कंठं विणोदेदु। [इदानीमिह सुखासीनो भवॉल्ललितलताविलोभ्यमाननयन उर्वशीगतामुत्कण्ठां विनोदयतु।]

राजा—(निःश्वस्य)

मम कुसुमितास्वपि सखे नोपवनलतासु नम्रविटपासु ।
चक्षुर्बध्नाति धृतिं तद्रूपालोकदुर्ललितम् ॥८॥

तदुपायश्चिन्त्यतां यथा सफलप्रार्थनो भवेयम्।

विदूषकः—(विहस्य) भो! अहल्लाकामुअस्स महिंदस्स वेज्जो सचिवो उव्वसीपज्जुच्छअस्स अ भवदो अहं दुवे वि एत्थ उम्मत्तआ। [भोः! अहल्याकामुकस्य महेन्द्रस्य वैद्यः सचिवः उर्वशीपर्युत्सुकस्य च भवतोऽहं द्वावप्यत्रोन्मत्तौ।]

राजा—मा मैवम्। अतिस्नेहः खलु कार्यदर्शी। तदुपायश्चिन्त्यताम्।

विदूषकः—एसो चिंतेमि। मा उण परिदेविदेण मम समाधिं भिंधि। [एष चिन्तयामि। मा पुनः परिदेवितेन मम समाधिं भिन्धि।] (इति चिन्तां नाटयति)

राजा—(निमित्तं सूचयित्वा स्वगतम्)

न सुलभा सकलेन्दुमुखी च सा किमपि चेदमनङ्गविचेष्टितम् ।
अभिमुखीष्विव काङ्क्षितसिद्धिषु व्रजति निर्वृतिमेकपदे मनः ॥९॥

(इति जाताशस्तिष्ठति)

(ततः प्रविशत्याकाशयानेनोर्वशी चित्रलेखा च)

चित्रलेखा—हला! कहिं दाणिं अणिदिट्ठकालणं गच्छीअदि? [हला! क्वेदानीमनिर्दिष्टकारणं गम्यते?]

विदूषक—इस समय यहाँ सुखपूर्वक बैठे तथा ललित लताओं से लुभाये गये नयनों वाले आप उर्वशी के कारण उत्पन्न उत्कण्ठा को भुला दीजिये।

राजा—(उसाँसे लेकर) उस (उर्वशी) की नयनाभिराम रमणीयता को देखने के बाद से अब मेरी दुलारी आँखों को इस उपवन की फूलों के भार से झुकी हुई लताएँ अच्छी ही नहीं लगतीं ॥८॥

इसलिए कोई ऐसा उपाय सोचो जिससे मेरे मन की लगन पूरी हो सके।

विदूषक—(हँसकर) अरे! अहल्या को प्राप्त करने के इच्छुक देवराज इन्द्र का सहायक चन्द्रमा और उर्वशी को पाने की कामना करने वाले आपका सहायक मैं, हम दोनों की बुद्धि मारी गयी है।

राजा—ऐसा मत कहो। अधिक स्नेह करने वाला ही समुचित पथप्रदर्शक होता है। इसलिए कोई कार्यसाधक उपाय सोचो।

विदूषक—अच्छा अब मैं सोचता हूँ, किन्तु अपने विलाप मे ध्यान में लगे मेरे मन में विघ्न मत डालना। **(ऐसा कहकर सोचने का अभिनय करता है।)**

राजा—(शुभ शकुन की सूचना देकर मन ही मन)

यद्यपि पूर्णचन्द्र के समान मुखमण्डल वाली उस सुनयना के मिलने की कोई सम्भावना तो नहीं है, फिर भी न मालूम क्यों कामदेव मुझे शुभ शकुन दिखला रहा है? इस लक्षण से मेरा मन सहसा ऐसा खिल गया है, जैसे मेरी मनोरथ की सिद्धि होने ही वाली हो॥९॥

(इस प्रकार वह आशा लगाकर बैठ जाता है)

(इतने ही में विमान से उर्वशी तथा चित्रलेखा का प्रवेश)

चित्रलेखा—सखी! बिना किसी उद्देश्य के इस समय कहाँ जा रही हो?

उर्वशी—(मदनवेदनामभिनीय सलज्जम्) सहि! तदा हेमऊडसिहरे लदाविडवेन खणविग्घिदआआसगमणं मं ओहसिअ किं दाणिं पुच्छसि कहिं गच्छीअदि त्ति। [सखि! तदा हेमकूटशिखरे लताविटपेन क्षणविघ्नताकाशगमनां मामुपहस्य किमिदानीं पृच्छसि क्व गम्यत इति।]

चित्रलेखा—किं णु क्खु तस्स राएसिणो पुरूरवस्स सआसं पत्थिदासि? [किं नु खलु तस्य राजर्षेः पुरूरवसः सकाशं प्रस्थितासि?]

उर्वशी—अह इं? अअं मे अवहत्थिदलज्जो ववसाओ। [अथ किम्? अयं मेऽपहस्तितलज्जो व्यवसायः।]

चित्रलेखा—को उण सहीए तहिं पुढमं पेसिदो? [कः पुनः सख्या तत्र पुरतः प्रेषितः?]

उर्वशी—णं हिअअं। [ननु हृदयम्।]

चित्रलेखा—तधा वि सअं एव्व साहु संपधारीअदु दाव। [तथापि स्वयमेव साधु सम्प्रधार्यतां तावत्।]

उर्वशी—सहि! मअणो क्खु मं णिओएदि। किं एत्थ संपधारीअदि। [सखि! मदनः खलु नियोजयति। किमत्र सम्प्रधार्यते।]

चित्रलेखा—अदो वरं णत्थि मे वअणं। [अतः परं नास्ति मे वचनम्।]

उर्वशी—तेण हि आदिसीअदु मग्गो जेण तहिं गच्छंताणं अंतराओ ण भवे। [तेन ह्यादिश्यतां मार्गो येन तत्र गच्छन्त्योरन्तरायो न भवेत्।]

चित्रलेखा—सहि! विस्सद्धा होहि। णं भअवदा देवगुरुणा अवराइदं णाम सिहाबंधणविज्जं उवदिसंतेण तिदसपडिवक्खस्स अलंघणिज्जा कदम्ह। [सखि! विश्रब्धा भव। ननु भगवता देवगुरुणा अपराजिता नाम शिखाबन्धनविद्यामुपदिशता त्रिदशप्रतिपक्षस्यालङ्घनीये कृते स्वः।]

उर्वशी—(सलज्जम्) अहो, विसुमरिदं मे हिअअं। [अहो! विस्मृतं मे हृदयम्।]

उर्वशी—(मदनवेदना का अभिनय करती हुई लज्जा के साथ) सखी! उस समय जब हेमकूट पर्वत की चोटी पर लता की शाखा से मेरी माला उलझने के कारण आकाश की ओर जाने में क्षणभर का विघ्न उपस्थित हो गया था तब तुमने मेरा उपहास किया था। अब इस समय कहाँ जा रही हो, ऐसा मुझसे क्या पूछ रही हो?

चित्रलेखा—तो क्या तुम उस राजर्षि पुरूरवा के पास जा रही हो?

उर्वशी—और क्या? आज मैंने लोकलाज छोड़कर यही निश्चय किया है।

चित्रलेखा—तब सखी ने वहाँ पहले किसी के हाथ सन्देश भेजा है?

उर्वशी—निश्चय ही मैंने अपने हृदय द्वारा।

चित्रलेखा—तो भी इस कार्य के सम्बन्ध में तुम स्वयं भलीभाँति पहले सोच लो।

उर्वशी—सखी! कामदेव मुझे स्वयं प्रेरित कर रहा है, अब मैं इसमें क्या विचार करूँ?

चित्रलेखा—अब इसके आगे मुझे कुछ भी कहना नहीं है।

उर्वशी—तो मुझे तुम मार्गनिर्देश करो, जिससे हम दोनों के जाने में कोई बाधा न हो।

चित्रलेखा—सखी! चिन्ता मत करो। क्योंकि देवगुरु बृहस्पति ने अपराजिता नाम की चोटी बाँधने की विद्या का उपदेश देते समय हमें ऐसी शक्ति दी है कि देवताओं के शत्रु भी हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकते।

उर्वशी—(लजाती हुई) अरे! इस बात को तो मैं सर्वथा भूल ही गयी थी।

(उभे भ्रमणं रूपयतः)

चित्रलेखा—सहि! पेक्ख पेक्ख। एदं भअवदीए भाईरहीए जमुणासंगमविसेसपावणेसु सलिलेसु अत्ताणअं ओलोअंतस्स विअ पइट्ठाणस्स सिहाभरणभूदं तस्स राएसिणो भवणं उवट्ठिदम्ह। [**सखि! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व। एतद्भगवत्या भागीरथ्या यमुनासङ्गमविशेषपावनेषु सलिलेष्वात्मानमवलोकयत इव प्रतिष्ठानस्य शिखाभरणभूतं तस्य राजर्षेर्भवनमुपस्थिते स्वः।**]

उर्वशी—(सस्पृहमवलोक्य) णं वत्तव्वं ठाणंतरगदो सग्गो त्ति। (विमृश्य) सहि! कहिं णु क्खु सो आवण्णाणुकंपी भवे? [**ननु वक्तव्यं स्थानान्तरगतः स्वर्ग इति। सखि! क्व नु खलु स आपन्नानुकम्पी भवेत्?**]

चित्रलेखा—हला! एदस्सिं णंदणवणेक्कदेसे विअ पमदवणे ओदरिअ जाणिस्सामो। [**हला! एतस्मिन्नन्दनवनैकदेश इव प्रमदवने अवतीर्य ज्ञास्यावः।**]

(उभे अवतरतः)

चित्रलेखा—(राजानं दृष्ट्वा सहर्षम्) सहि! एसो क्खु पदमोदिदो विअ चंदो कोमुदिं विअ तुमं पडिच्छदि। [**सखि! एष खलु प्रथमोदित इव चन्द्रः कौमुदीमिव त्वां प्रतीच्छति।**]

उर्वशी—(विलोक्य) हला! दाणिं पढमदंसणादो सविसेसं पिअदंसणो महाराओ पडिहादि। [**हला! इदानीं प्रथमदर्शनात्सविशेष प्रियदर्शनो महाराजः प्रतिभाति।**]

चित्रलेखा—जुज्जदि। ता एहि उवसप्पम्ह। [**युज्यते। तदेहि उपसर्पावः।**]

उर्वशी—ण दाव उवसप्पिस्सं। तिरक्खरिणीपडिच्छण्णा पासगदा से भविअ सुणिस्सं दाव पासवत्तिण वअस्सेण सह विअणे किं मंतअंतो चिट्ठदि त्ति। [**न तावदुपसर्पिष्ये। तिरस्करिणीप्रतिच्छन्ना पार्श्वगतास्य भूत्वा श्रोष्यामि तावत् पार्श्ववर्तिना वयस्येन सह विजने किं मन्त्रयमाणस्तिष्ठतीति।**]

(दोनों घूमती हैं)

चित्रलेखा—अरी सखी! देखो देखो, हम दोनों राजर्षि के उस भवन पर पहुँच चुकी है जो प्रतिष्ठानपुरी का सर्वश्रेष्ठ अलंकारस्वरूप है और जो यमुना के संगम के कारण अधिक पवित्र बने हुए गंगा के जल में मानो अपना प्रतिविम्ब देख रहा हों।

उर्वशी—(**अत्यन्त प्रेम से देखकर**) निश्चय ही तुम्हें तो ऐसा कहना चाहिए कि यह भूलोक में स्थित स्वर्ग ही है। (**विचार कर**) सखी! दुःखियों पर दया करने के स्वभाव वाले वे राजा इस समय कहाँ होंगे?

चित्रलेखा—सखी! नन्दनवन के समान सुन्दरता से समृद्ध इस प्रमदवन के किसी स्थान-विशेष में उतरकर उनका पता लगाया जाय।

(दोनों उतरती हैं)

चित्रलेखा—(**राजा को देखकर प्रसन्नता से**) सखी! जैसे तत्काल उदय हुआ चन्द्रमा चाँदनी की प्रतीक्षा करता है, ठीक उसी प्रकार यह राजा तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है।

उर्वशी—(**देखकर**) सखी! आज तो महाराज पहले दिन से भी अधिक मनोहर लग रहे हैं।

चित्रलेखा—तुम ठीक कह रहा हो। तो आओ, उनके पास चलें।

उर्वशी—नहीं, नहीं, मैं उनके पास नहीं जाऊँगी। मैं तो पर्दा की ओट में छिपकर उनके पास में खड़ी होकर सुनूँगी कि ये अपने पास में बैठे हुए मित्र से एकान्त में क्या बातें करते हैं।

चित्रलेखा—जं दे रोअहि। [यत्ते रोचते।]

(उभे यथोक्तमनुतिष्ठतः)

विदूषकः—भो, चिंतिदो मए दुल्लहप्पणइणीसमाअमोवाओ। [भोः! चिन्तितो मया दुर्लभप्रणयिनीसमागमोपायः।]

(राजा तूष्णीमास्ते)

उर्वशी—(सेर्ष्यम्) का णु क्खु धण्णा इत्थिआ जा इमिणा पत्थिअमाणा अत्ताणअं किदत्थेइ? [का नु खलु धन्या स्त्री या अनेन प्रार्थ्यमानात्मानं कृतार्थयति?]

चित्रलेखा—किं उण माणुस्सअं विडंवीअदि। [किं पुनर्मानुष्यं विडम्ब्यते।]

उर्वशी—सहि! भीआमि सहसा प्पभावादो विण्णादुं। [सखि! बिभेमि सहसा प्रभावाद्विज्ञातुम्।]

विदूषकः—भो, णं भणामि चिंतिदो मए उवाओ त्ति। [भोः! ननु भणामि चिन्तितो मया उपाय इति।]

राजा—तेन हि कथ्यताम्।

विदूषकः—सिविणसमाअमआरिणिं णिद्दं सेवदु भवं। अहवा तत्तभोदीए उव्वसीए पडिकिदिं चित्तफलए आलिहिअ ओलोअंतो चिट्ठदु। [स्वप्नसमागमकारिणीं निद्रां सेवतां भवान्। अथवा तत्रभवत्या उर्वश्याः प्रतिकृतिं चित्रफलक आलिख्यावलोकयंस्तिष्ठतु।]

उर्वशी—(सहर्षमात्मगतम्) हीणसत्त हिअअ। समस्सस समस्सस। [हीनसत्त्व हृदय! समाश्वसिहि समाश्वसिहि।]

राजा—उभयमप्यनुपपन्नम्। पश्य—

हृदयमिषुभिः कामस्यान्तः सशल्यमिदं सदा
कथमुपलभे निद्रां स्वप्ने समागमकारिणीम्।

चित्रलेखा—जो तुम्हें अच्छा लगे (वैसा करो)।

(दोनों वैसा ही करती हैं)

विदूषक—अरे! मैंने आपकी उस प्यारी से मिलने का सरल उपाय सोच लिया है, जिसे आप दुर्लभ-दर्शना कह रहे थे।

(राजा चुप हो जाते हैं)

उर्वशी—(डाह के साथ) वह कौन-सी भाग्यवती स्त्री होगी जिसे राजा चाहते हों और वह अपने भाग्य को सराहती होगी?

चित्रलेखा—क्या फिर तुम भूतल की स्त्रियों की-सी बातें करने लगी हो?

उर्वशी—सखी! मैं अपने प्रभाव (दैवीशक्ति) से जान लेने में थोड़ा डरती हूँ।

विदूषक—अरे! मैं कह रहा हूँ कि मैंने उससे मिलने का उपाय सोच लिया है।

राजा—ऐसा है तो बतलाओ।

विदूषक—या तो आप गहरी नींद में सो जाइये, जिससे आपकी उससे स्वप्न में भेंट हो जाय अथवा चित्रफलक पर आदरणीय उर्वशी का चित्र बनाकर उसे देखते रहें।

उर्वशी—(प्रसन्न होकर मन ही मन) अरे पापी मन! धीरज धर, धीरज धर।

राजा—तुम्हारी कही हुई दोनों ही बातें उचित नहीं हैं। देखो—

कामदेव दिन-रात अपने बाणों से मेरे हृदय को बेंधता रहता है, ऐसी स्थिति में भला उसमे

न च सुवदनामालेख्येऽपि प्रियामसमाप्य तां
मम नयनयोरुद्बाष्पत्वं सखे न भविष्यति ॥ १० ॥

चित्रलेखा—सुदं तुए वअणं। [श्रुतं त्वया वचनम्।]

उर्वशी—सहि! सुदं। ण उण पज्जत्तं हिअअस्स। [सखि! श्रुतम्। न पुनः पर्याप्तं हृदयस्य।]

विदूषकः—एत्तिओ एव्व मे मदिविहओ [एतावानेव मे मतिविभवः।]

राजा—(निःश्वस्य)

नितान्तकठिनां रुजं मम न वेद सा मानसीं
प्रभावविदितानुरागमवमन्यते वापि माम्।
अलब्धफलनीरसं मम विधाय तस्मिञ्जने
समागममनोरथं भवतु पञ्चबाणः कृती ॥ ११ ॥

चित्रलेखा—सहि! सुदं तुए। [सखि! श्रुतं त्वया।]

उर्वशी—हद्धी हद्धी। मं एव्वं अवगच्छदि। (सखीमवलोक्य) सहि! असमत्थम्हि अग्गदो भविअ से पडिवअणस्स। ता पहावणिम्मिदेण भुज्जवत्तेण संपादिदउत्तरा होदु इच्छामि। [हा धिक् हा धिक्। मामेवमवगच्छति। सखि! असमर्थास्म्यग्रतो भूत्वास्य प्रतिवचनस्य। तत्प्रभावनिर्मितेन भूर्जपत्रेण सम्पादितोत्तरां भवितुमिच्छामि।]

चित्रलेखा—हला! अणुमदं मे। [हला! अनुमतं मे।]

(उर्वशी नाटयेन ससम्भ्रममभिलिख्यान्तरा क्षिपति।)

विदूषकः—(दृष्ट्वा ससम्भ्रमम्) अविहा अविहा। भो! किं णु क्खु एदं भुअंगणिम्मोअं मं खादिदुं णिवडिदो? [अविधा अविधा। भोः किन्नु खलु एतत् भुजङ्गनिर्मोकः किं मां खादितुं निपतितः?]

भेंट होने योग्य गहरी नींद मुझे कैसे आ सकती है, जिससे उससे भेंट हो सके? और मैं प्रिया का पूरा चित्र भी नहीं बना पाऊँगा, क्योंकि बीच में ही मेरी आँखें डबडबाने लग जायेंगी॥ १० ॥

चित्रलेखा—अब तो तुमने राजा की बातें सुन लीं।

उर्वशी—सखी! सुन तो लिया है, किन्तु मेरे मन की शान्ति के लिए ये वचन पर्याप्त नहीं है।

विदूषक—मेरी बुद्धि की शक्ति यहीं तक है।

राजा—(उसाँसें लेकर) या तो वह मेरे मन की व्याकुलता को नहीं जानती होगी अथवा उसे अपने अप्सरा होने का घमंड है, जिससे वह मेरे सहज प्रेम को ठुकरा रही है। ऐसा लगता है कि मेरे मन में उस सुन्दरी से मिलने की जो इच्छा है, उसे विफल करके ही कामदेव सफलमनोरथ होगा॥ ११ ॥

चित्रलेखा—सखी! राजा का विलाप तुमने सुना?

उर्वशी—हाय मुझे धिक्कार है, हाय मुझे धिक्कार है। ये (राजा) मुझे ऐसी (नीच) समझ रहे हैं। (सखी को देखकर) सखी! इनके सामने पहुँचकर इनकी बातों का मैं उत्तर नहीं दे सकूँगी, अतः मैं अपने प्रभाव से भोजपत्र को उत्पन्न कर उसी पर इन आरोपों का उत्तर लिख देना चाहती हूँ।

चित्रलेखा—सखी! मैं भी इसी को उचित समझ रही हूँ।

(उर्वशी नाटकीय ढंग से शीघ्र पत्र लिखकर राजा के सामने उसे डालती है।)

विदूषक—(देखकर घबराता हुआ) हाय, हाय, क्या साँप की केंचुली मुझे खा डालने के लिए यहाँ कहाँ से आ टपकी?

राजा—(विभाव्य विहस्य च) वयस्य ! नायं भुजङ्गनिर्मोकः, भूर्जपत्रगतोऽयमक्षरविन्यासः।

विदूषकः—णं अदिट्ठाए उव्वसीए भवदो परिदेविदं सुणिअ समाणानुराअसूअआइं अक्खराइं विसज्जिआइं होंति। [ननु अदृष्टयोर्वश्या भवतः परिदेवितं श्रुत्वा समानानुरागसूचकान्यक्षराणि विसृष्टानि स्युः।]

राजा—नास्त्यगतिर्मनोरथानाम्। (गृहीत्वानुवाच्य च सहर्षम्) सखे ! प्रसन्नस्ते तर्कः।

विदूषकः—ही ही भो ! किं बम्हणवअणाणि अण्णधा होंति ? दाणिं प्पसीददु भवं। जं एत्थ लिहिदं तं सुणिदुं इच्छामि। [ही ही भोः ! किं ब्राह्मणवचनान्यन्यथा भवन्ति ? तदिदानीं प्रसीदतु भवान्। यदत्र लिखितं तच्छ्रोतुमिच्छामि।]

उर्वशी—साहु। अज्जणाअरिओसि। [साधु। आर्यनागरिकोऽसि।]

राजा—वयस्य ! श्रूयताम्।

विदूषकः—अवहिदो म्हि। [अवहितोऽस्मि।]

राजा—श्रूयताम्। (वाचयति)

सामिअ संभाविआ जह अहं तुए अणुमिआ
तह अणुरत्तस्स जइ णाम तुह उवरि।
किं मे ललिअपारिजाअसणिज्जयम्मि होंतिं
णंदणवणवादा वि अच्चुण्हआ सरीरए ॥१२॥

[स्वामिन्सम्भाविता यथाहं त्वयाऽज्ञाता तथानुरक्तस्य यदि नाम तवोपरि।
किं मे ललितपारिजातशयनीये भवन्ति नन्दनवनवाता अप्यत्युष्णकाः शरीरके॥]

उर्वशी—किं णु क्खु संपदं भणिस्सदि। [किं नु खलु साम्प्रतं भणिष्यति।]

राजा—(देखकर तथा हँसकर) मित्र ! यह साँप की केंचुल नहीं है, यह तो लिखा हुआ भोजपत्र है।

विदूषक—निश्चय ही जिसे आप नहीं देख पा रहे हैं, ऐसी उर्वशी ने आपका विलाप सुनकर आपके प्रति अपने प्रेम को भी सूचित करने वाला यह पत्र भेजा हो।

राजा—मनोरथों की गति की कोई सीमा नहीं होती। (उठाकर पढकर तथा प्रसन्न होकर) मित्र ! तुम्हारा विचार ठीक ही था।

विदूषक—हा हा ! क्या ब्राह्मण की बातें भी कभी झूठी होती हैं ? अब आप प्रसन्न होइए। इस पत्र में जो लिखा है, उसे मैं भी सुनना चाहता हूँ।

उर्वशी—ठीक है; तुम सचमुच कुलीन नागरिक हो।

राजा—मित्र ! सुनो।

विदूषक—मैं सावधानी से सुन रहा हूँ।

राजा—सुनो। (बाँचता है)

स्वामी ! आपने जिस प्रकार मुझे आदर दिया है और मैं भी तदनुरूप आपके प्रति अनुरागवती हूँ। फिर भी यदि आप मुझे वैसी समझते हैं जैसा कि आप अभी कह रहे थे तो भला आप ही बतलाइये कि जब मैं सुकोमल पारिजात के फूलों की सेज पर लेटती हूँ तो उस समय नन्दनवन का शीतल पवन मेरे शरीर को क्यों जलाने लगता है ? ॥१२॥

उर्वशी—देखती हूँ, इसका ये क्या उत्तर देते हैं ?

चित्रलेखा—णं भणिदं एव्व मिलाणकमलणालाअमाणेहिं अंगेहिं। [ननु भणितमेव म्लानकमलनालायमानैरङ्गैः।]

विदूषकः—दिट्ठि आ मए बुभुक्खिदेण सोत्थिवाअणं विअ उवलद्धं भवदा उक्कंठिदेण समासासणं। [दिष्टया मया बुभुक्षितेन स्वस्तिवायनमिवोपलब्धं भवतोत्कण्ठितेन समाश्वासनम्।]

राजा—समाश्वासनमिति किमुच्यते ?

तुल्यानुरागपिशुनं ललितार्थबन्धं पत्रे निवेशितमुदाहरणं प्रियायाः।
उत्पक्ष्मणा मम सखे मदिरेक्षणायास्तस्याः समागतमिवाननमाननेन ॥१३॥

उर्वशी—एत्थ णो समविभाआ पीदी। [अत्रावयोः समविभागा प्रीतिः।]

राजा—वयस्य ! अङ्गुलिस्वेदेन दूष्येरन्नक्षराणि धार्यतामयं मम प्रियायाः स्वहस्तः।

विदूषकः—(गृहीत्वा) किं दाणिं तत्तभोदी उव्वसी भवदो मणोरहाणं कुसुमं दंसिअ फले विसंवददि। [किमिदानीं तत्रभवत्युर्वशी भवतो मनोरथानां कुसुमं दर्शयित्वा फले विसंवदति।]

उर्वशी—सहि ! जाव उवगमणकादरं हिअअं पज्जवत्थावेमि दाव तुमं से अत्ताणं दंसिअ जं मे खमं तं भणाहि। [सखि ! यावदुपगमनकातरं हृदयं पर्यवस्थापयामि तावत्त्वमस्यात्मानं दर्शयित्वा यन्मम क्षमं तद्भण।]

चित्रलेखा—तह। [तथा।] (तिरस्करिणीमपनीय राजानमुपेत्य) जेदु जेदु महाराओ। [जयतु जयतु महाराजः।]

राजा—(दृष्ट्वा सहर्ष) स्वागतं भवत्यै। (पार्श्वमवलोक्य) भद्रे !

न तथा नन्दयसि मां सख्या विरहिता तया।
सङ्गमे दृष्टपूर्वेव यमुना गङ्गया विना ॥१४॥

चित्रलेखा—मुरझाये हुए कमलनाल के समान उनके अंगों ने ही सब कुछ कह डाला।

विदूषक—यह सौभाग्य की बात है कि आपकी बेचैनी को दूर करने के लिए यह वैसा समाश्वासन (सहारा) मिल गया जैसा भूख लगने पर मुझे कहीं से चबैना मिल गया हो।

राजा—इसे तुम केवल समाश्वासन कह रहे हो ?

मैं तो जब उस मदभरे नयनों वाली (उर्वशी) के उदार मानसिक भावों से परिपूर्ण इन शब्दों को तथा उसके मन में भी मेरे ही मन के जैसे प्रेमभाव को प्रकट करने वाले प्रेमपत्र को पढता हूँ, तब मुझे ऐसा लगता है कि मानो हम दोनों आमने-सामने खडे हों॥ १३ ॥

उर्वशी—अब जाकर हम दोनों का प्रेम समान हो पाया है।

राजा—मित्र ! मेरी प्रिया के इस प्रेमपत्र को तुम पकड़े रहो, कहीं मेरी अंगुलियों के पसीने से इसके अक्षर मलिन न हो जायें।

विदूषक—(हाथ में लेकर) जिस आदरणीया उर्वशी ने पत्र भेजकर आपके मनोरथों को पुष्पित किया है, क्या वह फल देने में विवाद करेगी ?

उर्वशी—सखी ! अभी तो मेरा हृदय उनके समीप जाने में हिचक रहा है, जब तक मैं अपने मन को सुस्थिर करती हूँ तब तक तुम इनके सामने जाकर मेरी ओर से जो कहना चाहो कह सकती हो।

चित्रलेखा—अच्छा। (पर्दा हटाकर राजा के पास पहुँचकर) महाराज की जय हो, जय हो।

राजा—(देखकर प्रसन्नता से) आप का स्वागत है। (अगल-बगल देखकर) सुन्दरी !

जैसे प्रयाग का संगम देखने की इच्छा वाले पुरुष को गंगा के बिना केवल अकेली यमुना अच्छी नहीं लगती, वैसे ही अपनी सखी (उर्वशी) के बिना तुम भी मुझे अच्छी नहीं लग रही हो॥ १४॥

चित्रलेखा—णं पढमं मेहराई दीसदि पच्छा विज्जुलदा। [ननु प्रथमं मेघराजिर्दृश्यते पश्चाद्विद्युल्लता।]

विदूषकः—(अपवार्य) कहं ण एसा उव्वसी। ताए तत्तहोदीए अहिमदा सहअरी। [कथं नैषोर्वशी। तस्यास्तत्रभवत्या अभिमता सहचरी।]

राजा—एतदासनमास्यताम्।

चित्रलेखा—उव्वसी महाराअं सिरसा पणमिअ विण्णवेदि। [उर्वशी महाराजं शिरसा प्रणम्य विज्ञापयति।]

राजा—किमाज्ञापयति ?

चित्रलेखा—तस्सिं सुरारिसंभवे दुज्जादे महाराओ एव्व सरणं आसि। सा अहं संपदं तुह दंसणसमुत्थेण मअणेण बलिअं बाहीअमाणा भूओ वि महाराएण अणुकंपणीअत्ति। [तस्मिन्सुरारिसम्भवे दुर्जाते महाराज एव मम शरणमासीत्। साहं साम्प्रतं तव दर्शनसमुत्थेन मदनेन बलवद्बाध्यमाना भूयोऽपि महाराजस्यानुकम्पनीया भवामि इति।]

राजा—अयि भद्रमुखि !

पर्युत्सुकां कथयसि प्रियदर्शनां तामार्तें न पश्यसि पुरूरवसं तदर्थे।
साधारणोऽयमुभयोः प्रणयः स्मरस्य तप्तेन तप्तमयसा घटनाय योग्यम् ॥ १५॥

चित्रलेखा—(उर्वशीमुपेत्य) सहि ! एहि। तुवत्तो वि णिद्दअदरं मअणं पेक्खिअ पिअअमस्स दे दूदिम्हि संवुत्ता। [सखि ! एहि। त्वत्तोऽपि निर्दयतरं मदनं प्रेक्ष्य प्रियतमस्य ते दूत्यस्मि संवृत्ता।]

उर्वशी—(तिरस्करिणीमपनीय) अम्महे ! लहुअं तुए अणवेक्खिदं उज्झिदम्हि। [अहो ! लघु त्वयानवेक्षितमुज्झितास्मि।]

चित्रलेखा—(सस्मितम्) सहि ! इदो मुहुत्तादो जाणिस्सं का कं उज्झिस्सदि। आआरं दाव पडिवज्ज। [सखि ! इतो मुहूर्तादेव ज्ञास्यामि का कामुज्झिष्यतीति। आचारं तावत्प्रतिपद्यस्व।]

चित्रलेखा—किन्तु महाराज ! पहले बदली दिखलायी देती है, उसके बाद बिजली चमकती है।

विदूषक—(अलग से) तो क्या ये उनकी प्रिय सखी है, उर्वशी नहीं है।

राजा—आइये, इस आसन पर बैठिए।

चित्रलेखा—उर्वशी ने महाराज को सिर नवाकर प्रणाम करते हुए कहलवाया है।

राजा—उन्होंने क्या आज्ञा दी है ?

चित्रलेखा—उस बार जब मुझे दैत्य पकड़ ले गये थे, तब उस समय महाराज ने ही मेरी रक्षा की थी। वही मैं इस समय आपको देखकर मदनपीडा से व्याकुल हूं, अतः फिर भी आपकी कृपा को चाह रही हूं।

राजा—अरी सुन्दरी ! उस सुमुखी अपनी सखी को तुम प्रेम में व्याकुल बतला रही हो, पर तुम यह नहीं देख रही हो कि यह पुरूरवा उसके विरह में पीडा का अनुभव कर रहा है। हम दोनों का कामजनित प्रेम समान रूप से ही बढ़ा है। इसलिए तपे हुए लोहे को तपे हुए लोहे से जोड़ देना चाहिए ॥ १५ ॥

चित्रलेखा—(उर्वशी के पास जाकर) आओ सखी ! कामदेव ने तुमसे भी अधिक क्रूरता के साथ उन्हें सता रखा है, अतः मैं तुम्हारे प्रियतम की दूती बनकर तुम्हारे पास आयी हूं।

उर्वशी—(पर्दा को हटाकर) अरे ! तू शीघ्र ही मुझे छोडकर उधर चली गयी।

उर्वशी—(ससाध्वसं राजानमुपेत्य प्रणम्य च सव्रीडम्) जेदु जेदु महाराओ। [जयतु जयतु महाराजः।]

राजा—(सहर्षम्) सुन्दरि!

मया नाम जितं यस्य त्वयायं समुदीर्यते ।
जयशब्दः सहस्राक्षादगतः पुरुषान्तरम् ॥ १६ ॥

(हस्ते गृहीत्वैनामुपवेशयति)

विदूषकः—भोदि! रण्णो पिअवअस्सो बम्हणो किं ण वंदीअदि। [भवति! राज्ञः प्रियवयस्यो ब्राह्मणः किं न वन्द्यते।]

(उर्वशी सस्मितं प्रणमति)

विदूषकः—सत्थि भोदीए। [स्वस्ति भवत्यै।]

(नेपथ्ये देवदूतः) चित्रलेखे! त्वरय त्वरयोर्वशीम्।

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः ।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः ॥ १७ ॥

(सर्वे कर्णं ददति। उर्वशी विषादं रूपयति)

चित्रलेखा—सुदं पिअसहीए देवदूदस्स वअणं। ता अणुमाणीअदु महाराओ। [श्रुतं प्रियसख्या देवदूतस्य वचनम्। तदनुमान्यतां महाराजः।]

उर्वशी—णत्थि मे वाआ। [नास्ति मे वाचा।]

चित्रलेखा—महाराअ! उव्वसी विण्णवेदि—परवसो अअं जणो। ता महाराएण अब्भणुण्णादा इच्छामि देवेसु अणवरुद्धं अत्ताणअं कादुं त्ति। [महाराज! उर्वशी विज्ञापयति—परवशोऽयं जनः। तन्महाराजेनाभ्यनुज्ञाता इच्छामि देवेष्वनपराद्धमात्मानं कर्तुमिति।]

चित्रलेखा—(मुस्कराकर) सखी! अभी थोड़ी देर में देखती हूँ, कौन किसको छोड़कर जाती है। अच्छा, पहले महाराज को प्रणाम तो कर लो।

उर्वशी—(घबराहट के साथ राजा के समीप जाकर लजाती हुई प्रणाम करके) महाराज की जय हो, महाराज की जय हो।

राजा—(प्रसन्न होकर) सुन्दरी! जिस 'जय' शब्द का प्रयोग तुमने हजार आँखों वाले देवराज इन्द्र के लिए किया था, उसी 'जय' शब्द का प्रयोग आज तुमने मेरे लिए किया है, अतः सचमुच मैं विजयी हो गया हूँ॥ १६ ॥

(हाथ से पकड़कर उसे बैठाता है)

विदूषक—देवीजी! महाराज के प्रिय मित्र ब्राह्मण को क्या आप प्रणाम नहीं करेंगी?

(उर्वशी मुस्कराती हुई प्रणाम करती है)

विदूषक—आपका कल्याण हो।

(नेपथ्य में देवदूत कहता है) चित्रलेखा! उर्वशी को यहाँ आने के लिए शीघ्र तय्यार करो। भरत मुनि ने तुम लोगों को आठ रसों से युक्त जो नाटक सिखलाया है, उसी का ललित अभिनय देवताओं के स्वामी इन्द्र लोकपालों के साथ देखना चाहते हैं॥ १७ ॥

(सब कान लगाकर सुनते हैं। उर्वशी दुःखी होने का अभिनय करती है।)

चित्रलेखा—प्रियसखी! आपने देवदूत का सन्देश सुना? तो अब महाराज से अनुमति ले लो।

उर्वशी—मुझसे तो कुछ कहा नहीं जा रहा है।

राजा—(कथं कथमपि वाचं व्यवस्थाप्य) नास्मि भवत्योरीश्वरनियोगप्रत्यर्थी। स्मर्तव्यस्त्वयं जनः।

(उर्वशी वियोगदुःखं रूपयित्वा राजानं पश्यन्ती सह सख्या निष्क्रान्ता।)

राजा—(निःश्वस्य) सखे ! वैयर्थ्यमिव मे चक्षुषोः सम्प्रति।

विदूषकः—(पत्रं दर्शयितुकामः) णं एदं······। (इति अर्धोक्ति सविषादमात्मगतम्) हद्धी हद्धी ! उव्वसीदंसणविम्हिदेण मए तं भुज्जवत्तअं पब्भट्टं वि हत्थादो पमादेण ण विण्णादं। [ननु एतत्······हा धिक् हा धिक् ! उर्वशीदर्शनविस्मितेन मया तद्भूर्जपत्रकं प्रभ्रष्टमपि हस्तात्प्रमादेन न विज्ञातम्।]

राजा—भद्र ! किमसि वक्तुकाम इव ?

विदूषकः—एव्वं वत्तुकामोम्हि—मा भवं अंगाइं मुंचदु। दिढं क्खु तुइ बद्धभावा उव्वसी ण सा इदोगदं अणुराअं सिढिलेदि त्ति। [एवं वक्तुकामोऽस्मि—मा भवानङ्गानि मुञ्चतु दृढं खलु त्वयि बद्धभावा उर्वशी न सा इतोगतमनुरागं शिथिलयति इति।]

राजा—ममाप्येतदाशंसि मनः। तया खलु प्रस्थाने—

अनीशया शरीरस्य स्ववशं हृदयं मयि।
स्तनकम्पक्रियालक्ष्यैर्न्यस्तं निःश्वसितैरिव ॥ १८॥

विदूषकः—(स्वगतम्) वेवदि मे हिअअं इमं वेलं अत्तभवदा तस्स भुज्जवत्तस्स णाम गेण्हिदव्वं त्ति। [वेपते मे हृदयमिमां वेलामत्रभवता तस्य भूर्जपत्रस्य नाम ग्रहीतव्यमिति।]

राजा—वयस्य ! केनेदानीं दृष्टिं विलोभयामि। (स्मृत्वा) आः ! उपनयतु भवान्भूर्जपत्रम्।

चित्रलेखा—महाराज ! उर्वशी निवेदन कर रही है—मैं तो पराधीन हूँ। यदि महाराज की आज्ञा मिल जाय तो मैं चली जाऊँ, क्योंकि ऐसा करने से मैं देवताओं के अपराध से बच जाऊँगी।

राजा—(किसी-किसी प्रकार लडखड़ाती हुई वाणी को स्थिर करके) मैं आप दोनों के स्वामी की आज्ञा का भला कैसे विरोध कर सकता हूँ ?

(उर्वशी विरहवेदना का प्रदर्शन करके राजा को देखती हुई अपनी सखी के साथ चली जाती है।)

राजा—(उसाँसें भरकर) मित्र ! अब तो मेरी आँखें व्यर्थ जैसी लग रही हैं।

विदूषक—(उस पत्र को दिखलाने की इच्छा वाला) किन्तु यह·····(इस प्रकार आधी बात कहकर दुःख के साथ मन ही मन) हाय मुझे धिक्कार है। हाय मुझे धिक्कार है। उस उर्वशी के दर्शन से चकित हुए मैंने वह भोजपत्र मेरे हाथ से कहाँ छूट गया मुझे मालूम ही नहीं है।

राजा—मित्र ! तुम कुछ कहना चाह रहे हो, ऐसा लग रहा है।

विदूषक—मैं ऐसा कहना चाह रहा था कि आप अपने शरीरावयवों को दुःखी न करें। आपके प्रति स्नेह करने वाली उर्वशी यहाँ से चली जाने पर भी अपने प्रेम को शिथिल नहीं करेगी।

राजा—मेरा मन भी यही कह रहा है। उसने अपने प्रस्थान काल में—

अपने शरीर पर अधिकार न होने पर भी अपने वश वाले हृदय को अपने उसाँसों के साथ मुझे सौंप गयी, जो उसके स्तनों के कम्पन से स्पष्ट प्रतीत हो रहा था॥ १८॥

विदूषक—(मन ही मन) आप द्वारा भोजपत्र का नाम लिया जायगा, यह सोचकर इस समय मेरा हृदय काँप रहा है।

राजा—मित्र ! बतलाओ, अब मैं इस समय किससे अपनी दृष्टि को शीतल करूँ। (सोचकर) अरे ! वह भोजपत्र तो ले आओ।

विदूषकः—(सर्वतो दृष्ट्वा विषादं नाटयति) हंत, ण दिस्सदि। भो दिव्वं क्खु तं भुज्जवत्तं गदं उव्वसीए मग्गेण। [हन्त, न दृश्यते। भोः! दिव्यं खलु तद्भूर्जपत्रं गतमुर्वश्या मार्गेण।]

राजा—(सासूयम्) अहो, सर्वत्र प्रमादी वैधेयः। ननु विचिनोतु भवान्।

विदूषकः—(उत्थाय) ण इदो भवे। इह वा भवे। इह वा भवे। [ननु इतो भवेत्। इह वा भवेत्। इह वा भवेत्।] (इति विचेतव्यं नाटयति)

(ततः प्रविशति सपरिवारा काशिराजपुत्री देवी चेटी च)

देवी—हंजे णिउणिए! सच्चं तुए भणिदं इमं लदागेहं पविसंतो अज्जमाणवअसहाओ अज्जउत्तो दिट्ठो त्ति। [हञ्जे निपुणिके! सत्यं त्वया भणितमिदं लतागेहं प्रविशन्नार्यमाणवकसहाय आर्यपुत्रो दृष्ट इति।]

निपुणिका—किं अण्णहा भट्टिणी मए कदा वि विण्णविदपुव्वा ? [किमन्यथा भट्टिनी मया कदापि विज्ञापितपूर्वा ?]

देवी—तेण हि लदाविडवंतरिदा सुणिस्सं दाव से विस्सद्धा मंतिदाणि जं तुए कहिदं तं सच्चं ण वत्ति। [तेन हि लताविटपान्तरिता श्रोष्यामि तावदस्य विश्रब्धा मन्त्रितानि यत्त्वया कथितं तत्सत्यं न वेति।]

निपुणिका—जं भट्टिणीए रुच्चदि। [यद्भट्टिन्यै रोचते।]

देवी—(परिक्रम्य पुरस्तादवलोक्य च) हंजे णिउणिए! किं णु क्खु एदं जिण्णचीअरं विअ इदोमुहं दक्खिणमारुदेण आणीअदि। [हञ्जे निपुणिके! किं नु खल्वेतज्जीर्णचीवरमिवेतोमुखं दक्षिणमारुतेनानीयते।]

निपुणिका—(विभाव्य) भट्टिणी! पडिवत्तणविभाविदक्खरं भुज्जवत्तं क्खु एदं। हंत भट्टिणीए एव्व णेउरकोडीए लग्गं। (गृहीत्वा) णं वाईअंदु एदं। [भट्टिनि! परिवर्त्तनविभाविताक्षरं भूर्जपत्रं खल्वेतत्। हन्त, भट्टिन्या एव नूपुरकोट्या लग्नम्। ननु वाच्यतामेतत्।]

विदूषक—(चारों ओर देखकर दुःखी होने का अभिनय करता है) हाय ! वह तो कहीं नहीं दिख रहा है। अरे ! वह भोजपत्र तो स्वर्गीय था, अतएव वह भी उर्वशी के साथ चला गया होगा।

राजा—(क्रोध से) अरे ! यह मूर्ख सब जगह असावधान रहता है। जाओ उसे ढूँढो।

विदूषक—(उठकर) निश्चय ही वह इधर होगा या यहाँ होगा अथवा यहाँ होगा। (इस प्रकार इधर-उधर ढूँढने का नाटक करता है।)

(उसके बाद काशीनरेश की पुत्री महारानी अपनी दासियों के साथ आती हैं।)

देवी—सखी निपुणिका ! तुमने ठीक ही कहा था कि आर्य माणवक के साथ आर्यपुत्र लतामंडप में गये हैं।

निपुणिका—क्या मैंने आज तक कभी आप से मिथ्या भाषण किया है ?

देवी—अच्छा, तो मैं लतावृक्षों की ओट में खड़ी होकर इनकी बातों को विश्वासपूर्वक सुनती हूँ कि जो तुमने कहा था, वह सत्य है या नहीं।

निपुणिका—जैसा स्वामिनी को अच्छा लगे।

देवी—(घूमकर सामने की ओर देखकर) सखी निपुणिका! देखो, यह मलयपवन के साथ पुराने वस्त्र जैसा इधर की ओर को मुख किया हुआ उड़कर आ रहा है।

निपुणिका—(विचारकर) स्वामिनी! यह तो भोजपत्र है, जो उलटा-पलटा होकर इधर आ

देवी—अणुवाएहि दाव एदं। जदि अविरुद्धं तदो सुणिस्सं। [**अनुवाचय तावदेतत्। यद्यविरुद्धं ततः श्रोष्यामि।**]

निपुणिका—(तथा कृत्वा) भट्टिणी ! तं एव्व कोलीणं विअ पडिहादि। भट्टारअं उद्दिसिअ उव्वसीए कव्वबंधो त्ति तक्केमि। अज्जमाणवअप्पमादेण अ अम्हाणं हत्थं आगदो त्ति। [**भट्टिनि ! तदेव कौलीनमिव प्रतिभाति। भट्टारकमुद्दिश्योर्वश्याः काव्यबन्ध इति तर्कयामि। आर्यमाणवकप्रमादेन चावयोर्हस्तमागत इति।**]

देवी—तेण हि से गहीदत्था होमि। [**तेन ह्यस्य गृहीतार्था भवामि।**]

(निपुणिका वाचयति)

देवी—(श्रुत्वा) एत्थ इमिणा एव्व उवाअणेण दं अच्छराकामुअं पेक्खामि। [**अत्रानेनैवोपायनेन तमप्सरःकामुकं प्रेक्षे।**]

निपुणिका—तह। [**तथा।**]

(इति परिजनसहिते लतागृहं परिक्रामतः)

विदूषकः—(विलोक्य) भो वअस्स ! किं एदं पवणवसगामि पमदवणसमीवगदकीलापव्वदपज्जं ते दीसदि। [**भो वयस्य ! किमेतत्पवनवशगामि प्रमदवनसमीपगतक्रीडापर्वतपर्यन्ते दृश्यते।**]

राजा—(उत्थाय) भगवन्वसन्तप्रिय दक्षिणवायो !

वासार्थं हर सम्भृतं सुरभिणा पौष्पं रजो वीरुधां
किं कार्यं भवतो हृतेन दयितास्नेहस्वहस्तेन मे ।
जानीते हि मनोविनोदनशतैरेवंविधैर्धारितं
कामार्तं जनमञ्जनां प्रति भवानालक्षितप्रार्थनः ॥ १९ ॥

रहा है, जिसमें लिखे गये अक्षर पढे नहीं जा रहे हैं। अरे ! यह तो स्वामिनी के नूपुर (पायल) के कोने में आकर सट गया है। (**पकड़कर**) जरा इसे पढ लीजिए।

देवी—तुम्हीं इसे पढ़ डालो। यदि मेरे मन के अनुकूल विषय होगा तो मैं भी सुन लूँगी।

निपुणिका—(**वैसा ही करके**) स्वामिनी ! वही कोई प्रेम की-सी बात लग रही है। महाराज को लक्ष्य करके उर्वशी द्वारा लिखा गया यह पद्य है, ऐसा मैं सोचती हूँ। आर्य माणवक की असावधानी से यह उर्वशी का हस्तलेख हमारे हाथ में आ गया है, ऐसा लगता है।

देवी—अच्छा इसे पढो, इसका अर्थ तो मैं समझूँ।

(**निपुणिका उसे पढ़ती है**)

देवी—(**सुनकर**) तो चलो, हम इसी उपहार से उस अप्सरा के प्रेमी को देखें।

निपुणिका—अच्छा चलिए।

(**दासियों के साथ लतामंडप की ओर घूम जाती है**)

विदूषक—(**देखकर**) अरे मित्र ! यह प्रमदवन के समीप क्रीड़ापर्वत के कोने पर हवा के झोंके से हिलता हुआ जैसा क्या दिखलायी दे रहा है ?

राजा—(**उठकर**) वसन्त के प्रियमित्र ! मलयानिल !

तुम्हें यदि अपना शरीर सुवासित करना हो तो तुम लताओं में खिले हुए तथा वसन्त के द्वारा एकत्रित किये हुए फूलों के पराग को उठाकर क्यों नहीं ले जाते ? मेरी प्रियतमा के प्रेम युक्त हाथ से लिखे हुए पत्र से तुम्हें क्या काम है ? तुम तो स्वयं अञ्जना से प्रेम कर चुके हो, अतएव तुम जानते

निपुणिका—भट्टिणि ! पेक्ख पेक्ख। एदस्स एव्व अण्णेसणा वट्टदि। [**भट्टिनी ! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व। एतस्यैवान्वेषणा वर्तते।**]

देवी—णं पेक्खामि दाव। तुण्हिं चिट्ठ। [**ननु पश्यामि तावत्। तूष्णीं तिष्ठ।**]

विदूषकः—(सविषादम्) हद्धी हद्धी भो, मिलाअमाणकेसरच्छविणा मोरपिच्छेण विप्पलद्धो म्हि। [**हा धिक् हा धिक् भोः, म्लायमानकेशरच्छविना मयूरपिच्छेन विप्रलब्धोऽस्मि।**]

राजा—सर्वथा हतोऽस्मि।

देवी—(सहसोपसृत्य) अज्जउत्त अलं आवेएण। एदं तं भुज्जवत्तं। [**आर्यपुत्र ! अलमावेगेन। एतत्तद्भूर्जपत्रम्।**]

राजा—(ससम्भ्रमम्) अये देवी ! स्वागतं देव्यै।

विदूषकः—(अपवार्य) दुरागदं दाणिं संवुत्तं। [**दुरागतमिदानीं संवृत्तम्।**]

राजा—(जनान्तिकम्) वयस्य ! किमत्र प्रतिविधेयम् ?

विदूषकः—(अपवार्य) लोत्थेण गहीदस्स कुंभीलअस्स अत्थि वा पडिवअणं। [**लोत्रेण गृहीतस्य कुम्भीरकस्यास्ति वा प्रतिवचनम्।**]

राजा—(जनान्तिकम्) मूढ ! नायं परिहासकालः। (प्रकाशम्) देवि ! नेदं मया मृग्यते। अयं खलु परान्वेषणार्थमारम्भः।

देवी—जुज्जदि अत्तणो सोहग्गं पच्छदेदुं। [**युज्यते आत्मनः सौभाग्यं प्रच्छादयितुम्।**]

विदूषकः—भोदि ! तुवरेहिं से भोअणं जं पित्तोवसमणसमत्थं होदि। [**भवति ! त्वरयास्य भोजनं यत्पित्तोपशमनसमर्थं भवति।**]

ही होगे कि ऐसी ही मन को बहलाने वाली अनेक वस्तुओं को देखकर ही तो प्रणयी पुरुष जीवन बिताया करते हैं॥ १९॥

निपुणिका—स्वामिनी ! देखिए, देखिए। ये लोग इसी को ढूँढ रहे हैं।

देवी—तुम चुपचाप रहो, मैं देखती हूँ (ये क्या करते हैं)।

विदूषक—(दुःखी होकर) हाय हाय मुझे धिक्कार है, क्योंकि मैं इस मुरझाये हुए केसर जैसा दिखलायी देने वाले मोरपंख से ठगा गया हूँ।

राजा—मैं तो सब प्रकार से लुट गया।

देवी—(एकाएक पास जाकर) आर्यपुत्र ! घबराइये मत, यह वही भोजपत्र है।

राजा—(घबराकर) अये ! महारानी ! आपका स्वागत है।

विदूषक—(हटाकर) इस समय इनका यहाँ पधारना अच्छा नहीं हुआ।

राजा—(एकान्त में) मित्र ! अब क्या उपाय करना चाहिए ?

विदूषक—(हटाकर) चोरी के सामान के साथ पकडा गया चोर उत्तर ही क्या दे सकता है ?

राजा—(एकान्त में) मूर्ख ! यह परिहास करने का समय नहीं है। **(प्रकट में)** देवी ! मैं इसे नहीं खोज रहा था। मैं तो कुछ और ही खोजने में लगा था।

देवी—आपके लिए यह उचित ही है कि आप अपना सौभाग्य मुझसे छिपायें।

विदूषक—देवी ! महाराज के भोजन के प्रवन्ध में शीघ्रता कीजिए, जिससे इनके पित्त की शान्ति हो सके।

देवी—णिउणिए! सोहणं क्खु बम्हणेण आसासिदो वअस्सो। [**निपुणिके! शोभनं खलु ब्राह्मणेनाश्वासितो वयस्यः।**]

विदूषकः—भोदि ! णं पेक्ख आसासिदो पिसाचो वि भोअणेण। [**भवति ! ननु पश्य आश्वासितः पिशाचोऽपि भोजनेन ?**]

राजा—मूर्ख ! बलादपराधिनं मां प्रतिपादयसि।

देवी—णत्थि क्खु भवदो अवराहो। अहं एव्व एत्थ अवरद्धा जा पडिऊलदंसणा भविअ अग्गदो दे चिट्ठामि। इदो अहं गमिस्सं। णिउणिए! एहि गच्छम्ह। [**नास्ति खलु भवतोऽपराधः। अहमेवात्रापराद्धा या प्रतिकूलदर्शना भूत्वाग्रतस्ते तिष्ठामि। इतोऽहं गमिष्यामि। निपुणिके! एहि गच्छामः।**] (इति कोपं नाटयित्वा प्रस्थिता)

राजा—(अपसृत्य)

अपराधी नामाहं प्रसीद रम्भोरु विरम संरम्भात् ।
सेव्यो जनश्च कुपितः कथं नु दासो निरपराधः ॥ २० ॥

(इति पादयोः पतति)

देवी—(स्वगतम्) मा क्खु लहुहिअआ अहं अणुणअं बहु मण्णे। किं दु अदक्खिण्णकिदस्स पच्छादावस्स भाएमि। [**मा खलु लघुहृदयाहमनुनयं बहु मन्ये। किन्त्वदाक्षिण्यकृतात्पश्चात्तापाद्-विभेमि।**]

(इति राजानमपहाय सपरिवारा निष्क्रान्ता)

विदूषकः—पाउसणदी विअ अप्पसण्णा गदा देवी। ता उट्ठेहि उट्ठेहि। [**प्रावृण्नदीवाप्रसन्ना गता देवी। तदुत्तिष्ठ उत्तिष्ठ।**]

राजा—(उत्थाय) वयस्य ! नेदमुपपन्नम्। पश्य—

देवी—निपुणिका ! इस ब्राह्मण (विदूषक) ने अपने मित्र (राजा) को अच्छा बचाया।

विदूषक—देवी ! देखिए, भोजन देकर तो भूत-पिशाच भी आश्वस्त हो जाते हैं।

राजा—अरे मूर्ख ! तू मुझे बिना बात के अपराधी बना रहा है ?

देवी—यह आपका अपराध नहीं है, यह मेरा ही अपराध है, जो मैं इस अनुचित समय में आपके काम में विपरीत दृष्टि वाली बनकर यहाँ आ गयी। अब मैं यहाँ से चली जाऊँगी। निपुणिका ! आओ चलें। **(इस प्रकार क्रोध का अभिनय करके चली जाती है।)**

राजा—**(पीछे-पीछे जाकर)** सुनिए देवी ! अपराधी मैं ही हूँ। सुन्दरी ! मान जाओ, इतनी नाराज मत हो। जब स्वामिनी ने क्रोध किया है तो दास (सेवक) निरपराधी कैसे हो सकता है ? ॥ २० ॥

(ऐसा कहकर राजा पैरों पर गिरता है।)

देवी—**(मन ही मन)** मुझे ऐसी सरल हृदय वाली मत समझिए जो आपके इस अनुनय वाली बातों से मैं सरलता से प्रसन्न हो जाऊँगी। मैं तो केवल अकुशलतापूर्ण व्यवहार से डरती हूँ, क्योंकि उसका बाद में पश्चात्ताप करना पड़ता है।

(ऐसा कहकर रानी राजा को छोड़कर दासियों के साथ चली जाती है।)

विदूषक—वर्षाकालीन नदी की भाँति अप्रसन्न मन वाली देवी चली गयी। अब आप उठिए, उठिए।

राजा—**(उठकर)** मित्र ! यह अच्छा नहीं हुआ। देखो—

प्रियवचनकृतोऽपि योषितां दयितजनानुनयो रसादृते ।
प्रविशति हृदयं न तद्विदां मणिरिव कृत्रिमरागयोजितः ॥ २१ ॥

विदूषकः—अणुऊलं एव्व अत्तभवदो एदं ण। क्खु अक्खिदुक्खिदो अहिमुहे दीवसिहं सहेदि। [अनुकूलमेवात्रभवत एतत्। न खल्वक्षिदुःखितोऽभिमुखे दीपशिखां सहते।]

राजा—मा मैवम्! उर्वशीगतमनसोऽपि मे स एव देव्यां बहुमानः। किन्तु प्रणिपातलङ्घनादहमस्यां धैर्यमवलम्बयिष्ये।

विदूषकः—भो! चिट्ठदु दाव भवदो धीरदा। बुभुक्खिदस्स बम्हणस्स जीविदं अवलंबदु भवं। समओ क्खु ण्हाणभोअणं सेविदुं। [भो! तिष्ठतु तावद्भवतो धीरता। बुभुक्षितस्य ब्राह्मणस्य जीवितमवलम्बतां भवान्। समयः खलु स्नानभोजनं सेवितुम्।]

राजा—(ऊर्ध्वमवलोक्य) गतमर्धं दिवसस्य। अतः खलु—

उष्णालुः शिशिरे निषीदति तरोर्मूलालवाले शिखी
निर्भिद्योपरि कर्णिकारमुकुलान्यालीयते षट्पदः ।
तप्तं वारि विहाय तीरनलिनीं कारण्डवः सेवते
क्रीडावेश्मनि चैष पञ्जरशुकः क्लान्तो जलं याचते ॥ २२ ॥

(इति निष्क्रान्तौ)

॥ इति द्वितीयोऽङ्कः ॥

यदि पति वास्तविक प्रेम के विना ऊपरी मन से चिकनी-चुपड़ी बातें करके अपनी प्रियतमा को मनाने लगता है, तो उसकी वे बातें स्त्रियों के मन में उसी प्रकार प्रवेश नहीं करतीं जैसे बनावटी रंग से रँगा हुआ मणि जौहरी को नहीं जँचता ॥ २१ ॥

विदूषक—आपके लिए तो यह अच्छा ही हुआ। जिसकी आँखें आ गयी हों, उसे सामने रखी हुई दीपक की लौ अच्छी थोड़ी लगती है।

राजा—ऐसा मत कहो। उर्वशी से प्रेम होने पर भी मेरे मन में महारानी के प्रति पूर्ववत् वही सम्मान है, किन्तु मेरे इतने अनुनय-विनय करके प्रणाम करने के बाद भी जब वह उसका अनादर कर दी तो अब मैं भी धैर्य का सहारा लिया करूँगा।

विदूषक—अरे ! आपकी धीरता अपनी जगह रहे। इस समय पहले आप भूखे ब्राह्मण के प्राणों को बचाइये। चलिए स्नान तथा भोजन करने का समय हो गया है।

राजा—(**ऊपर की ओर देखकर**) आधा दिन बीत गया। इसीलिए—

यह मोर गर्मी से घबराकर पेड़ के नीचे बने हुए शीतल थाले में बैठ गया है, भौंरा कनेर की कली को खोलकर उसके भीतर छिप रहा है, यह जलकुक्कुट तालाब के गरम पानी को छोड़कर कमलिनी की छाया में बैठा है और क्रीडागृह में पाला गया यह शुक (तोता) पिंजड़े में उदास होकर जल माँग रहा है ॥ २२ ॥

(दोनों चले जाते हैं।)

दूसरा अंक समाप्त।

तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशतो भरतशिष्यौ)

गालवः—सखे पेलव! महेन्द्रभवनं गच्छता भगवतोपाध्यायेन त्वमासनं प्रतिग्राहितः। अग्निशरणसंरक्षणाय स्थापितोऽहम्। अतः खलु पृच्छामि—अपि गुरोः प्रयोगेण दिव्या परिषदाराधिता।

पेलवः—गालव! ण जाणे आराहिदा ण वत्ति। तस्सिं उण सरस्सईकिदकव्वबंधे लच्छीसअंवरे तेसु तेसु रसंतरेसु तम्मई आसि। किंतु—। [**गालव! न जाने आराधिता न वा इति। तस्मिन्पुनः सरस्वतीकृतकाव्यबन्धे लक्ष्मीस्वयंवरे तेषु तेषु रसान्तरेषु तन्मयी आसीत्। किन्तु—**]

गालवः—सदोषावकाश इव ते वाक्यशेषः]

पेलवः—आं, तस्सिं उव्वसीए वअणं पमादक्खलिदं आसि। [**आम्, तस्मिन्नुर्वश्या वचनं प्रमादस्खलितमासीत्।**]

गालवः—कथमिव ?

पेलवः—लच्छीभूमिआए वट्टमाणा उव्वसी वारुणीभूमिआए वट्टमाणाए मेणआए पुच्छिदा—सहि! समागदा एदे तेलोक्कसुपुरिसा सकेसवा अ लोअवाला। कदमस्सिं दे भावाहिणिवेसो त्ति। [**लक्ष्मीभूमिकायां वर्त्तमानोर्वशी वारुणीभूमिकायां वर्त्तमानया मेनकया पृष्टा—सखि! समागता एते त्रैलोक्यसुपुरुषाः सकेशवाश्च लोकपालाः कतमस्मिंस्ते भावाभिनिवेश इति।**]

गालवः—ततस्ततः।

पेलवः—तदो ताए पुरुसोत्तमे त्ति भणिदव्वे पुरूरवसि त्ति ताए निग्गदा वाणी। [**ततस्तया पुरुषोत्तमे इति भणितव्ये पुरूरवसीति तस्या निर्गता वाणी।**]

(भरत मुनि के दो शिष्यों का प्रवेश)

गालव—मित्र पेलव! देवराज इन्द्र के भवन को जाते समय गुरुजी ने अपना आसन ले चलने के लिए तुम्हें पकडाया था तथा मुझे अग्निहोत्र के लिए यहीं रोक लिया था। इसीलिए मैं पूछता हूँ कि गुरुजी द्वारा अभिनीत नाटक से देवताओं की सभा आनन्दित हुई ?

पेलव—गालव! मैं नहीं जानता कि देवसभा प्रसन्न हुई या नहीं, किन्तु वहाँ जो 'लक्ष्मीस्वयंवर' नामक नाटक हुआ था और जिसके गीत स्वयं सरस्वती ने बनाये थे, उन-उन में जो-जो रस जब-जब दिखलाये जाते थे, तब-तब उन रसों के प्रसंग में वह सभा मगन हो जाती थी। परन्तु····

गालव—तुम्हारी बातों से ऐसा लगता है कि उसमें कुछ दोष भी आ गये थे।

पेलव—हाँ, उस नाटक में उर्वशी ने बोलने में कुछ भूलें कर दीं।

गालव—किस प्रकार की भूलें कर दीं ?

पेलव—उस नाटक में वारुणी का अभिनय करती हुई मेनका ने लक्ष्मी का अभिनय करती हुई उर्वशी से पूछा—सखी! यहाँ तीनों लोकों से सुरूप पुरुष लोकपाल तथा स्वयं विष्णु भगवान् भी पधारे हैं, इनमें तुम्हें सबसे अच्छा कौन लग रहा है ?

गालव—तब उसके बाद ?

पेलव—तब उसे 'पुरुषोत्तम विष्णु' ऐसा कहना चाहिए था, किन्तु उस समय उसके मुख से यह वाणी निकली कि मुझे तो पुरूरवा अच्छे लग रहे हैं।

गालवः—भवितव्यतानुविधायीनि इन्द्रियाणि। न खलु तामभिक्रुद्धो गुरुः ?

पेलवः—सा क्खु सत्ता उवज्झाएण। महिंदेण उण अणुगहीदा। [सा खलु शप्तोपाध्यायेन। महेन्द्रेण पुनरनुगृहीता।]

गालवः—कथमिव ?

पेलवः—जेण मम उवदेसो तुए लंघिदो तेण ण दे दिव्वं ठाणं हविस्सदि त्ति उवज्झाअस्स सावो। महिंदेण उण पेक्खणावसाणे लज्जावणदमुही सा एव्वं भणिदा—जस्सिं तुमं बद्धभावासि तस्स मे रणसहाअस्स राएसिणो पिअं एत्थ करणिज्जं। ता दाव तुमं जहाकामं पुरूरवसं उवचिट्ठ जाव सो तुइ दिट्ठसंताणो भोदि त्ति। [येन ममोपदेशस्त्वया लङ्घितस्तेन न ते दिव्यं स्थानं भविष्यति इति उपाध्यायस्य शापः। महेन्द्रेण पुनः प्रेक्षणावसाने लज्जावनतमुखी सा एवं भणिता—यस्मिंस्त्वं बद्धभावासि तस्य मे रणसहायस्य राजर्षेः प्रियमत्र करणीयम्। तत्तावत्त्वं यथाकामं पुरूरवसमुपतिष्ठस्व यावत्स त्वयि दृष्टसन्तानो भवेदिति।]

गालवः—सदृशमेतत्पुरुषान्तरविदो महेन्द्रस्य।

पेलवः—(सूर्यमवलोक्य) कधापसंगेण अम्हेहिं अवरुद्धा अहिसेअवेला क्खु उवज्झाअस्स। ता एहि; से पासवत्तिणो होम। [कथाप्रसङ्गेनास्माभिरपराद्धाभिषेकवेला खलु उपाध्यायस्य। तदेहि, अस्य पार्श्ववर्तिनौ भवावः।]

गालवः—तथा।

(इति निष्क्रान्तौ)

॥ मिश्रविष्कम्भकः ॥

गालव—होनहार के अनुसार मनुष्य की इन्द्रियाँ काम करती है। तब क्या उस पर गुरुजी कुपित नहीं हुए ?

पेलव—गुरुजी ने तो उसे शाप दे ही दिया था, किन्तु देवराज इन्द्र ने उसे किसी प्रकार बचा लिया।

गालव—वह कैसे ?

पेलव—गुरुजी ने उसे यह शाप दे दिया था कि तूने मेरे उपदेश के अनुसार अभिनय नहीं किया, अतः तुझे स्वर्ग में निवास का सुख नहीं मिल सकेगा। नाटक की समाप्ति होने पर लज्जा से सिर झुकायी हुई उर्वशी से इन्द्र ने इस प्रकार कहा—जिस राजर्षि के प्रति तुम्हारे मन में अनुराग है और जो युद्धकाल में मेरी सहायता किया करते हैं, इस अवसर पर उनको तुम सन्तुष्ट कर लेना। इसलिए जब तक वे तुम्हारी सन्तान का मुख न देख लें तब तक तुम अपनी इच्छा के अनुसार राजा पुरूरवा के साथ जाकर रहो।

गालव—दूसरे के मन की बात जानने वाले इन्द्र को यही शोभा देता है।

पेलव—(सूर्य की ओर देखकर) बातचीत के सिलसिले में गुरुजी के स्नान का समय भी बीत गया। तो आओ, उनके पास चलें।

गालव—अच्छा चलते हैं।

(यह कहकर दोनों चले जाते हैं।)

॥ मिश्रविष्कम्भक ॥

(ततः प्रविशति कञ्चुकी)

कञ्चुकी—(विनिःश्वस्य)

सर्वः कल्ये वयसि यतते लब्धुमर्थान्कुटुम्बी
पश्चात्पुत्रैरपहृतभरः कल्पते विश्रमाय ।
अस्माकं तु प्रतिदिनमियं साधयन्ती प्रतिष्ठां
सेवाकारापरिणतिमभूत्स्त्रीषु कष्टोऽधिकारः ॥ १ ॥

(परिक्रम्य) आदिष्टोऽस्मि सनियमया काशिराजपुत्र्या—व्रतसम्पादनार्थं मया मानमुत्सृज्य निपुणिकामुखेन पूर्वं याचितो महाराजः। तदेव त्वं मद्वचनाद्विज्ञापय इति। यावदहमिदानीमवसितसन्ध्याजाप्यं महाराजं पश्यामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) रमणीयः खलु दिवसावसानवृत्तान्तो राजवेश्मनः। इह हि—

उत्कीर्णा इव वासयष्टिषु निशानिद्रालसा बर्हिणो
धूपैर्जालविनिःसृतैर्वलभयः सन्दिग्धपारावताः ।
आचारप्रयतः सपुष्पबलिषु स्थानेषु चार्चिष्मतीः
सन्ध्यामङ्गलदीपिका विभजते शुद्धान्तवृद्धो जनः ॥ २ ॥

(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) अये! इत एव प्रस्थितो देवः।

परिजनवनिताकरार्पिताभिः परिवृत एष विभाति दीपिकाभिः ।
गिरिरिव गतिमानपक्षलोपात् अनुतटपुष्पितकर्णिकारयष्टिः ॥ ३ ॥

यावदेनमवलोकनमार्गे स्थितः प्रतिपालयामि। (परिक्रम्य स्थितः)

(तदनन्तर कञ्चुकी का प्रवेश)

कञ्चुकी—(लम्बी साँस लेकर) जो लोग परिवार वाले होते हैं, वे जवानी में तो धन कमाने में लगे रहते हैं, बाद में वे ही जब पुत्र घर का भार सँभाल लेते हैं तो वे विश्राम करने लग जाते हैं। किन्तु यहाँ तो हमारी ऐसी दशा हो गयी है कि प्रतिदिन नौकरी करते-करते बूढ़े हो गये हैं। वास्तव में स्त्रियों की सेवा करना बड़ा ही टेढा काम होता है ॥ १ ॥

(घूमकर) आजकल काशीराज की पुत्री (महारानी) व्रत कर रही हैं। उन्होंने मुझे आज्ञा दी है कि मैंने मान छोड़कर निपुणिका द्वारा महाराज को कहला भेजा है कि वे यहाँ आकर मेरे व्रत को पूर्ण करें। अतः मेरी ओर से जाकर तुम उनसे कह दो। इस समय महाराज सायंकालीन सन्ध्या तथा जप को समाप्त करके बैठे होंगे, अतः जाकर उन्हें देखता हूँ। **(घूमकर और देखकर)** सायंकाल के समय राजद्वार कैसा सुहावना लगता है ? यहाँ तो—

सांयकाल के समय नींद से अलसाये हुए तथा अपने निवासस्थलों पर बैठे हुए मोर ऐसे लग रहे हैं, मानो पत्थरों के ऊपर खुदे हुए हों। छतों से बाहर निकले हुए झरोखों में बैठे हुए कबूतर और उनके छेदों से निकलने वाला धुआँ इस सन्देह को पैदा कर रहे हैं—इनमें कौन धुँआ है और कौन कबूतर। रनिवास के बूढ़े नौकर सन्ध्या के पूजन के लिए स्थान-स्थान पर दीपक सजा रहे हैं ॥ २ ॥

(नैपथ्य की ओर देखकर) अरे! महाराज तो इधर ही आ रहे हैं।

महाराज के चारों ओर हाथों में जले हुए दीपकों को ली हुई बहुत-सी दासियाँ इधर की ओर चली आ रही हैं। इनके कारण महाराज उस पर्वत के सदृश लग रहे हैं जो पंख न कटने के कारण उड़ता चला आ रहा हो और जिसके दोनों तटों पर खिले हुए कनेर के पेड़ खड़े हुए हों ॥ ३ ॥

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो राजा विदूषकश्च)

राजा—(स्वगतम्) आः !

क्रार्यान्तरितोत्कण्ठं दिनं मया नीतमनतिकृच्छ्रेण ।
अविनोददीर्घयामा कथं नु रात्रिर्गमयितव्या ॥४॥

कञ्चुकी—(उपसृत्य) जयतु जयतु देवः । देव ! देवी विज्ञापयति—मणिहर्म्यपृष्ठे सुदर्शनश्चन्द्रः । तत्र सन्निहितेन देवेन प्रतिपालयितुमिच्छामि यावद्रोहिणीसंयोग इति ।

राजा—आर्य लातव्य ! विज्ञाप्यतां देवी यस्ते छन्द इति ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः)

राजा—वयस्य ! किं परमार्थत एव देव्या व्रतनिमित्तोऽयमारम्भः स्यात् ?

विदूषकः—भो ! तक्केमि संजादयच्छादावा तत्तभोदी वदावदेसेण भवदो पणिपादलंघणं पमज्जिदुकाम त्ति । **[भोः ! तर्कयामि सञ्जातपश्चात्तापा तत्रभवती व्रतापदेशेन भवतः प्रणिपातलङ्घनं प्रमार्ष्टुकामेति ।]**

राजा—उपपन्नं भवानाह—

अवधूतप्रणिपाताः पश्चात्सन्तप्यमानमनसो हि ।
विविधैरनुतप्यन्ते दयितानुनयैर्मनस्विन्यः ॥५॥

तदादेशय मणिहर्म्यपृष्ठमार्गम् ।

विदूषकः—इदो इदो भवं । इमिणा गंगातरंगसस्सिरीएण फडिअमणिसोवाणेण अरोहदु भवं पदोसावसररमणिज्जं मणिहम्मिअपिट्ठं । **[इत इतो भवान् । एतेन गङ्गातरङ्गसश्रीकेण स्फटिकमणि-सोपानेनारोहतु भवान् प्रदोषावसररमणीयं मणिहर्म्यपृष्ठम् ।]**

तब तक मैं जहाँ उनकी नजर पडे ऐसे स्थान पर खडा होकर उनके आने की राह देखता हूँ। **(घूमकर खड़ा हो जाता है)**

(उसके बाद राजा तथा विदूषक का प्रवेश)

राजा—(मन ही मन) अरे ! दिनभर काम में लगे रहने मे मैंने बडी कठिनता से किसी प्रकार दिन तो बिता दिया है, किन्तु मनोविनोद की सामग्री के बिना लम्बी रात कैसे कटेगी ? ॥ ३ ॥

कञ्चुकी—(पास जाकर) महाराज की जय हो, जय हो। महाराज ! महारानी निवेदन कर रही हैं कि मणिहर्म्य की छत पर से चन्द्रमा के सुखद दर्शन होंगे। अतः मैं चाहती हूँ कि मैं वहीं पर महाराज के साथ बैठकर चन्द्रमा तथा रोहिणी का संयोग देखूँ।

राजा—आर्य लातव्य ! महारानी से कह दो, जैसा वे कहेंगी मैं वैसा ही स्वीकार करूँगा।

कञ्चुकी—जैसी महाराज की आज्ञा। **(ऐसा कहकर चला जाता है।)**

राजा—मित्र ! क्या सचमुच यह उत्सव देवी ने व्रत के लिए ही किया है ?

विदूषक—अरे ! मैं अनुमान लगा रहा हूँ कि उस दिन जब आप उनके पैरों पर पड़े थे और वे नाराज होकर चली गयी थीं, उससे उन्हें पछतावा हुआ, अतएव वे व्रत के बहाने से उस आपके अपमान के दोष को दूर करना चाहती हैं।

राजा—ठीक कहा तुमने। क्योंकि—

मनस्विनी स्त्रियाँ जब रूठी रहती हैं, तब वे पैरों पर पडने पर भी अपने पति की बातों को नहीं मानतीं, फिर बाद में वे ही अपने व्यवहार से अनेक प्रकार से बहुत पछताने लगती हैं॥ ५॥

तो चलो मणिहर्म्य की छत पर जाने का मार्ग मुझे बतलाओ।

राजा—आरोहाग्रतः।

(सर्वे सोपानारोहणं नाटयन्ति)

विदूषकः—(निरूप्य) भो! पच्चासण्णेण चंदोदएण होदव्वं जह तिमिररेईअमाणं पुव्वदिसामुहं आलोअसुहअं दीसदि। [भोः! प्रत्यासन्नेन चन्द्रोदयेन भवितव्यं यथा तिमिररिच्यमानं पूर्वदिशामुखमालोकसुभगं दृश्यते।]

राजा—सम्यग्भवान्मन्यते।

उदयगूढशशाङ्कमरीचिभिस्तमसि दूरतरं प्रतिसारिते।
अलकसंयमनादिव लोचने हरति मे हरिवाहनदिङ्मुखम् ॥६॥

विदूषकः—(विलोक्य) हीं हीं भो! एसो क्खु खंडमोदअसस्सिरीओ उदिदो राआ दुआदीणं। [ही ही भोः! एष खलु खण्डमोदकसश्रीक उदितो राजा द्विजातीनाम्।]

राजा—(सस्मितम्) सर्वत्रौदरिकस्याभ्यवहार्यमेव विषयः। (प्राञ्जलिः) भगवन् क्षपानाथ!

रविमावसते सतां क्रियायै सुधया तर्पयते सुरान्पितॄंश्च।
तमसां निशि मूर्च्छतां निहन्त्रे हरचूडानिहितात्मने नमस्ते ॥७॥

(इत्युपतिष्ठते)

विदूषकः—भो! वम्हणसंकामिदक्खरेण दे पिदामहेण अब्भणुण्णादोसि। ता आसणट्ठिदो होहि जाव अहं वि सुहासीणो होमि। [भोः! ब्राह्मणसङ्क्रामिताक्षरेण ते पितामहेनाभ्यनुज्ञातोऽसि। तदासनस्थितो भव यावदहमपि सुखासीनो भवामि।]

विदूषक—आप इधर से आइये, इधर से। गंगा की लहरों के समान सफेद स्फटिकमणि की सीढ़ियों से आप सायंकाल के समय सुहावने लगने वाले इस मणिहर्म्य की छत पर चढ़ें।

राजा—आगे-आगे तुम चढो।

(सभी सीढ़ियों पर चढ़ने का अभिनय करते हैं।)

विदूषक—(देखकर) ऐसा लगता है कि चन्द्रोदय होने ही वाला है। जैसे अँधेरे के हट जाने से पूर्व दिशा का मुख कैसा सुहावना लग रहा है।

राजा—तुम ठीक ही सोच रहे हो।

उदयाचल के पीछे छिपे हुए चन्द्रमा की किरणों से अँधेरा मिटता जा रहा है, वह मेरे मन को ऐसा लुभा रहा है, मानो जैसे जूड़ा बँधा हुआ प्राची दिशा का मुखमंडल हो॥६॥

विदूषक—(देखकर) हें हें अरे! यह उदय होता हुआ द्विजराज (चन्द्रमा) ऐसा सुन्दर लग रहा है, जैसे खाँड़ का लड्डू हो।

राजा—(मुस्कराकर) भोजनभट्ट को सब जगह भोजन की सामग्री ही दिखलायी देती है। (हाथ जोड़कर) भगवन् चन्द्रमा!

सज्जनों की धार्मिक क्रियाओं में सूर्यदेव के साथ स्मरण किये जाने वाले, अमृत द्वारा देवता तथा पितरों को तृप्त कराने वाले, चारों ओर फैले हुए रात के अन्धकार को मिटाने वाले एवं शिवजी के जटाजूट पर निवास करने वाले आपको प्रणाम है॥७॥

(ऐसा कहकर पूजा करता है)

विदूषक—महाराज! आपके दादा चन्द्रमा ने मुझ ब्राह्मण द्वारा आपको यह आज्ञा दी है कि आप आसन में बैठ जाइये, जिससे मैं भी सुख से बैठ सकूँ।

राजा—(विदूषकवचनं परिगृह्योपविष्टः परिजनं विलोक्य) अभिव्यक्तायां चन्द्रिकायां किं दीपिकापौनरुक्त्येन ? तद्विश्राम्यन्तु भवत्यः।

परिजनः—जं देवो आणवेदि। [यद्देव आज्ञापयति।] (इति निष्क्रान्तः)

राजा—(चन्द्रमसमवलोक्य विदूषकं प्रति) वयस्य! परं मुहूर्तादागमनं देव्याः। तद्विविक्ते कथयिष्यामि स्वामवस्थाम्।

विदूषकः—णं दीसदि एव्व सा। किंदु तारिसं अणुराअं पेक्खिअ सक्कं क्खु आसाबंधेण अत्ताणं धारेदुं। [ननु दृश्यत एव सा। किन्तु तादृशमनुरागं प्रेक्ष्य शक्यं खल्वाशाबन्धेनात्मानं धारयितुम्।]

राजा—एवमेतत्। बलवान्पुनर्मे मनसोऽभितापः।

> **नद्या इव प्रवाहो विषमशिलासङ्कटस्खलितवेगः।**
> **विघ्नितसमागमसुखो मनसिशयः शतगुणी भवति ॥८॥**

विदूषकः—भो! जहा परिहीअमाणेहिं अंगेहिं अहिअं सोहसि तहा अदूरे पिआसमागमं दे पेक्खामि। [भोः! यथा परिहीयमाणैरङ्गैरधिकं शोभसे तथाऽदूरे प्रियासमागमं ते प्रेक्षे।]

राजा—(निमित्तं सूचयन्) वयस्य!

> **वचोभिराशाजननैर्भवानिव गुरुव्यथम्।**
> **अयं मां स्पन्दितैर्बाहुराश्वासयति दक्षिणः ॥९॥**

विदूषकः—ण क्खु अण्णहा बम्हणस्स वअणं। [न खल्वन्यथा ब्राह्मणस्य वचनम्।]

(राजा सप्रत्याशस्तिष्ठति)

राजा—(**विदूषक के कहने पर बैठकर अपनी दासियों को देखकर**) चारों ओर चाँदनी के छिटक जाने के बाद भी इन दीपकों को जलाना पुनरुक्ति के समान ही है। अब आप लोग भी विश्राम करें।

परिजन—जैसी महाराज की आज्ञा। (**ऐसा कहकर दासियाँ चली जाती हैं।**)

राजा—(**चन्द्रमा की ओर देखकर विदूषक से**) मित्र! अभी महारानी के आने में थोड़ी देर है, इसलिए अकेले में बैठकर अपने मन का दुःख तुमसे कहूँगा।

विदूषक—वह तो दिखलायी ही दे रही है। किन्तु उर्वशी के आप पर वैसे अनुराग को देखकर उसके भरोसे तो आपको अपना मन सँभाले रखना चाहिए।

राजा—यह तो ठीक ही है। किन्तु मेरे मन में ऐसा सन्ताप हो रहा है जो मुझे अत्यन्त कष्ट दे रहा है।

जैसे ऊबड़-खाबड चट्टानों के बीच में आयी हुई नदी अधिक वेग से बहने लगती है, वैसे ही जब समागम-सुख में बाधा पड जाती है तो कामजनित पीड़ा सौगुनी बढ जाती है ॥८॥

विदूषक—अरे! यह जो आप प्रतिदिन दुबले होने वाले अंगों से निखरते जा रहे हैं, इससे मुझे ऐसा लगता है कि निकट भविष्य में आपका प्रिया (उर्वशी) के साथ समागम होगा।

राजा—(**शुभ शकुन की सूचना देता हुआ**) मित्र! आशाभरी बातें कहकर विरहव्यथा से व्यथित मुझे जैसे तुम ढाढस दिला रहे हो, वैसे ही मेरी यह दाहिनी भुजा भी फडककर मुझे आश्वस्त करती जा रही है ॥९॥

विदूषक—ब्राह्मण का वचन कभी भी झूठा नहीं होता।

(**राजा बड़ी आशा लगाकर बैठता है**)

(ततः प्रविशति आकाशयानेनाभिसारिकावेषा उर्वशी चित्रलेखा च)

उर्वशी—(आत्मानमवलोक्य) हला चित्तलेहे! अवि रोअदि दे अअं मम अप्पाभरणभूसिदो णीलंसुअपरिग्गहो अहिसारिआवेसो। [**हला चित्रलेखे! अपि रोचते तेऽयं ममाल्पाभरणभूषितो नीलांशुकपरिग्रहोऽभिसारिकावेषः।**]

चित्रलेखा—सहि! णत्थि मे वाआविहवो पसंसिदुं। इदं तु चिंतेमि अवि णाम अहं पुरूरवा भवेअं त्ति। [**सखि! नास्ति मे वाग्विभवः प्रशंसितुम्। इदं तु चिन्तयामि अपि नामाहं पुरूरवा भवेयमिति।**]

उर्वशी—सहि! मदणो क्खु तुमं आणवेदि। ता सिग्घं णेवि मं तस्स सुहअस्स वसदिं। [**सखि! मदनः खलु त्वामाज्ञापयति। तच्छीघ्रं नय मां तस्य सुभगस्य वसतिम्।**]

चित्रलेखा—(विलोक्य) णं एदं परिवत्तिदं विअ केलाससिहरं पिअदमस्स दे भवणं उवगद म्ह। [**नन्वेतत्परिवर्तितमिव कैलासशिखरं प्रियतमस्य ते भवनमुपगते स्वः।**]

उर्वशी—तेण हि पहावदो जाणीहि दाव कहिं सो मम हिअअचोरो किं वा अणुचिट्ठदि त्ति। [**तेन हि प्रभावाज्जानीहि तावत्क्व स मम हृदयचौरः किं वानुतिष्ठतीति।**]

चित्रलेखा—(ध्यात्वा विहस्यात्मगतम्) भोदु, कीलिस्सं दाव एदाए। (प्रकाशम्) हला दिट्ठो मए एसो मणोरहलद्धपिआसमाअमसुहं अणुहवंतो उवहोअक्खमे ओआसे चिट्ठदि त्ति। [**भवतु, क्रीडिष्यामि तावदेतया। हला! दृष्टो मया एष मनोरथलब्धप्रियासमागमसुखमनुभवन्नुपभोगक्षमेऽवकाशे तिष्ठतीति।**]

उर्वशी—(विषादं नाटयति। निःश्वस्य) धण्णो सो जणो जो एव्वं भवे। [**धन्यः स जनो य एवं भवेत्।**]

(इसी के बाद विमान द्वारा अभिसारिका वेश धारण की हुई उर्वशी तथा चित्रलेखा का प्रवेश होता है।)

उर्वशी—(**अपनी ओर देखकर**) सखी चित्रलेखा! थोड़े से अलंकार धारण कर और नीली रेशमी साड़ी पहना हुआ मेरा यह अभिसारिका का वेश तुझे अच्छा लग रहा है?

चित्रलेखा—मेरे पास इतनी शब्दशक्ति कहाँ कि मैं इस वेश की प्रशंसा कर सकूँ। मैं तो यही सोच रही हूँ कि कहीं मैं ही पुरूरवा बन सकती?

उर्वशी—सखी! मदन तुम्हें आज्ञा दे रहा है कि तुम मुझे शीघ्र उस भाग्यशाली के घर में ले चलो।

चित्रलेखा—(**देखकर**) हम तो तुम्हारे प्राणप्यारे के उस भवन में पहुँच चुके हैं, जो सचमुच आज बदले हुए कैलासशिखर जैसा दिखलायी दे रहा है।

उर्वशी—तुम दैवीशक्ति से मालूम करो कि वह मेरा चित्तचोर कहाँ है और क्या कर रहा है?

चित्रलेखा—(**ध्यान करके हँसकर, मन ही मन**) अच्छा, थोड़ी देर इससे ठिठोली कर ली जाय। (**प्रकट में**) सखी! मैंने इन्हें देख लिया। वे अपनी मनचाही प्राणप्रिया से समागम-सुख का लाभ लेते हुए आनन्दप्रद स्थान में सुख से बैठे हैं।

उर्वशी—(**दुःखी होने का अभिनय करती है। लम्बी साँस लेकर**) वह स्त्री धन्य है, जिसे महाराज के समागम का सुख प्राप्त है।

चित्रलेखा—मुद्धे! का उण चिंता तुए विणा अण्णपिआसमाअमस्स। [मुग्धे! का पुनश्चिन्ता त्वया विनान्यप्रियासमागमस्य।]

उर्वशी—(सोच्छ्वासम्) सहि! अदक्खिणं संदेहदि मे हिअअं। [सखि! अदक्षिणं सन्दिग्धं मे हृदयम्।]

चित्रलेखा—(विलोक्य) एसो मणिहम्मिअप्पासादपिट्ठगदो वअस्समेत्तसहाओ राएसी। ता एहि उवसप्पाम णं। [एष मणिहर्म्यप्रसादपृष्ठगतो वयस्यमात्रसहायो राजर्षिः। तदेहि उपसर्पाव एनम्।]

(उभे अवतरतः)

राजा—वयस्य! रजन्या सह विजृम्भते मदनबाधा।

उर्वशी—अणिब्भिण्णत्थेण इमिणा वअणेण आकंपिदं मे हिअअं। ता अंतरिदा एव्व सुणाम से सेरालावं जाव णो संसअच्छेदो होदि। [अनिर्भिन्नार्थेनानेन वचनेनाकम्पितं मे हृदयम्। तदन्तर्हिते भृणुवोऽस्य स्वैरालापं यावदावयोः संशयच्छेदो भवति।]

चित्रलेखा—जं दे रोअदि। [यत्ते रोचते।]

विदूषकः—णं इमे अभिअगब्भा सेवीअंदु चंदवादा। [नन्वेतेऽमृतगर्भाः सेव्यन्तां चन्द्रपादाः।]

राजा—वयस्य ! एवमादिभिरनुपक्रम्योऽयमातङ्कः। पश्य—

कुसुमशयनं न प्रत्यग्रं न चन्द्रमरीचयो,
न च मलयजं सर्वाङ्गीणं न वा मणियष्टयः ।
मनसिजरुजं सा वा दिव्या ममालमपोहितुं,

उर्वशी—(उरसि हस्तं दत्वा) का वा अवरा ? [का वा अपरा ?]

राजा— **रहसि लघयेदारब्धा वा तदाश्रयिणी कथा ॥ १० ॥**

चित्रलेखा—अरी पगली! तुम क्या चिन्ता कर रही हो, तुझे छोडकर वे कौन-सी दूसरी प्रेमिका से मिलेंगे ?

उर्वशी—(लम्बी साँस लेकर) सखी! मेरा सरल हृदय कुछ ऐसा ही सोचने लगा था।

चित्रलेखा—(देखकर) ये राजर्षि मणिहर्म्य की छत पर अपने मित्र के साथ बैठे हैं। इसलिए चलो इनके पास चला जाय।

(दोनों उतरती हैं)

राजा—मित्र! जैसे-जैसे रात बढ़ती जा रही है, वैसे-वैसे मेरी कामपीडा भी बढती जा रही है।

उर्वशी—इनकी इन अस्पष्ट बातों को सुनकर मेरा हृदय काँप उठा है। तो छिपकर इनकी गुप्त बातों को सुना जाय, जिनसे सन्देह दूर हो सके।

चित्रलेखा—जैसी प्रियसखी की इच्छा हो।

विदूषक—सचमुच ये अमृत से भरी हुई चन्द्रमा की किरणें हैं, इनका आनन्द लीजिए।

राजा—मित्र! यह कामपीड़ा इन सब उपायों से शान्त होने वाली नहीं है। देखो—

मेरे इस कामरोग को न तो ताजे फूलों की सेज ही दूर कर सकती है, न चन्द्रमा की किरणें ही हटा सकती हैं, न सम्पूर्ण शरीर में किया हुआ चन्दन का लेप ही मिटा सकता है और न मोतियों की माला ही दूर कर सकती है। यदि इस रोग को कोई दूर कर सकता है तो बस एक वही स्वर्गवासी–।

उर्वशी—(छाती पर हाथ रखकर) वह मुझसे दूसरी कौन हो सकती है ?

राजा—अथवा फिर एकान्त में कही गयी उससे सम्बन्धित प्रेम की बातें॥ १० ॥

उर्वशी—हिअअ! मं उज्झिअ इदो संकंतेण तुए दाणिं फलं उवलद्धं। [हृदय! मामुज्झित्वा इतः सङ्क्रान्तेन त्वयेदानीं फलमुपलब्धम्।]

विदूषकः—आं। हं वि पत्थयंतो जदा मिट्ठहरिणीमंसभोअणं ण लहे तदा णं संकित्तअंतो आसासेमि अत्ताणं। [आम्। अहमपि प्रार्थयमानो यदा मिष्टहरिणीमांसभोजनं न लभे तदैतत्सङ्कीर्तयन्नाश्वासयाम्यात्मानम्।]

राजा—सम्पद्यते पुनरिदं भवतः।

विदूषकः—भवं वि तं अइरेण पाविस्सदि। [भवानपि तामचिरेण प्राप्स्यसि।]

राजा—सखे! एवं मन्ये.............

चित्रलेखा—सुणु असंतुट्ठे! सुणु। [शृणु असन्तुष्टे! शृणु।]

विदूषकः—कहं विअ? [कथमिव?]

राजा— अयं तस्या रथक्षोभादंसेनांसो निपीडितः।
एकः कृती शरीरेऽस्मिन् शेषमङ्गं भुवो भरः ॥ ११ ॥

चित्रलेखा—सहि! किं दाणिं विलंबीअदि। [सखि! किमिदानीं विलम्ब्यते।]

उर्वशी—(सहसोपसृत्य) हला! अग्गदो वि मम ठ्ठिदाए उदासीणो विअ महाराओ। [हला! अग्रतोऽपि मम स्थिताया उदासीन इव महाराजः।]

चित्रलेखा—(सस्मितम्) अइ अदितुवरिदे! अणक्खित्ततिरक्खरिणी आसि। [अयि अतित्वरिते! अनाक्षिप्ततिरस्करिणिकासि।]

(नेपथ्ये) इदो इदो भट्टिणी [इत इतो भट्टिनी।]

(सर्वे कर्णं ददति। उर्वशी सह सख्या विषण्णा)

उर्वशी—अरे हृदय! तुम मुझे छोड़कर यहाँ से राजा के पास जाकर सौभाग्यफल पा चुके हो।

विदूषक—हाँ, मुझे जब कभी माँगने पर भी हरिणी के मधुर मांस खाने को नहीं मिलता तब मैं उसी का नाम लेकर अपने को आश्वस्त कर लेता हूँ।

राजा—पर तुम्हें यह सब खाने को तो मिल ही जाता है।

विदूषक—आप भी उस (उर्वशी) को शीघ्र ही पा जायेंगे।

राजा—मित्र! मैं मन ही मन में सोचता हूँ....।

चित्रलेखा—सुन, असन्तोष करने वाली सखी! सुन।

विदूषक—किस प्रकार?

राजा—मेरे शरीर के सभी अंगों में यह कन्धा ही भाग्यवान् है, जो रथ के बार-बार हिलने-डुलने के समय मेरे साथ बैठी हुई उर्वशी के कन्धे से दबता रहता था। इसके अतिरिक्त मेरे शरीर के शेष अवयव तो इस धरती के भारस्वरूप हैं॥ ११ ॥

चित्रलेखा—सखी! अब किसलिए देर कर रही हो?

उर्वशी—(एकाएक आगे बढ़कर) सखी! मैं आकर उनके सामने खड़ी भी हो गयी हूँ, फिर भी महाराज मेरे प्रति उदासीन जैसे लग रहे हैं।

चित्रलेखा—(मुस्कराकर) अरी बहुत जल्दीबाजी करने वाली! अभी तूने पर्दा तो हटाया ही नहीं।

(नेपथ्य में) स्वामिनी! इधर से, इधर से।

(सब कान लगाकर सुनते हैं। उर्वशी सखी के साथ चिन्तित होती है।)

विदूषकः—(सविस्मयम्) अइ भो ! उवट्ठिदा देवी। ता वाचंजमो होहि। [अयि भोः ! उपस्थिता देवी। तद्वाचंयमो भव।]

राजा—भवानपि संवृताकारमास्ताम्।

उर्वशी—सहि ! किं एत्थ करणिज्जं ? [सखि ! किमत्र करणीयम् ?]

चित्रलेखा—अलं आवेएण। अंतरिदा दाणिं वयं। विहिदणिअमवेसा राएसिमहिसी दीसदि। ता ण एसा इह चिरं चिट्ठिस्सदि। [अलमावेगेन। अन्तर्हिते इदानीमावाम्। विहितनियमवेषा राजर्षिमहिषी दृश्यते। तन्नैषेह चिरं स्थास्यति।]

(ततः प्रविशति औपहारिकहस्तपरिजना देवी चेटी च)

देवी—(परिक्रम्य चन्द्रमसमवलोक्य च) हंजे णिउणिए ! एसो रोहिणीसंजोएण अहिअं सोहदि भअवं मिअलंछणो। [हञ्जे निपुणिके ! एष रोहिणीसंयोगेनाधिकं भगवान् शोभते मृगलाञ्छनः।]

चेटी—णं भट्टिणीसहिदो भट्टा विसेसरमणिज्जो। [ननु भट्टिनीसहितो भर्त्ता विशेषरमणीयः।]

(इति परिक्रामतः)

विदूषकः—(दृष्ट्वा) भो ! ण जाणामि सोत्थिवाअणं मे देइ त्ति आदु वदव्ववदेसेण मुक्करोसा भवदो पणिपादलंघणं पमज्जिदुकाम त्ति। अज्ज मे अक्खीणं सुहदंसणा देवी। [भोः ! न जानामि स्वस्तिवायनं मे ददातीति अथवा व्रतव्यपदेशेन मुक्तरोषा भवतः प्रणिपातलङ्घनं प्रमार्ष्टुकामेति। अद्य मेऽक्ष्णोः शुभदर्शना देवी।]

राजा—(सस्मितम्) उभयमपि घटते ! तथापि भवता यत्पश्चादभिहितं तन्मां प्रतिभाति यदत्रभवती।

सितांशुका मङ्गलमात्रभूषणा पवित्रदूर्वाङ्कुरलाञ्छितालका।
व्रतापदेशोज्झितगर्ववृत्तिना मयि प्रसन्ना वपुषैव लक्ष्यते ॥ १२ ॥

विदूषक—(आश्चर्य से) अरे ! महादेवी आ गयीं, अतः चुप रहो।

राजा—तुम भी सँभलकर बैठ जाओ।

उर्वशी—सखी ! तुम बतलाओ, इस अवसर पर अब क्या करना चाहिए ?

चित्रलेखा—(घबराओ मत) इस समय हम दोनों छिपे ही हैं। इस समय राजर्षि की पटरानी व्रत-विशेष का परिधान पहनी हुई दिखलायी दे रही है। अतः ये देर तक यहाँ नहीं रुकेंगी।

(तदनन्तर हाथ में पूजन-सामग्री ली हुई दासियाँ, महारानी तथा चेटी का प्रवेश)

देवी—(घूमकर तथा चन्द्रमा की ओर देखकर) सखी निपुणिका ! यह भगवान् चन्द्रमा रोहिणी के साथ संयोग हो जाने के कारण और भी अच्छे लग रहे हैं।

चेटी—सचमुच जैसे स्वामिनी के साथ महाराज विशेष अच्छे लग रहे हैं। (ऐसा कहकर उधर से घूम जाती हैं।)

विदूषक—(देखकर) अरे ! यह मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि ये (देवी) मुझे पूजा का प्रसाद रूपी आशीर्वाद देने आ रही हैं अथवा व्रत के बहाने ये उस दिन आप द्वारा किये गये प्रणाम के अनादर के साथ आपके प्रति किये हुए अपने मान (रोष) रूपी दोष को दूर करने की इच्छा से चली आ रही हैं। अतएव आज मेरी आँखों को महारानी और दिनों से अधिक सुरूप लग रही हैं।

राजा—(मुस्कराकर) दोनों ही बातें हो सकती हैं। तो भी तुमने जो बाद में बात कही वही मुझे अधिक उचित लग रही है। क्योंकि—

देवी—(उपसृत्य) जेदु जेदु अज्जउत्तो। [जयतु जयतु आर्यपुत्रः।]

परिजनः—जेदु जेदु भट्टारओ। [जयतु जयतु भट्टारकः।]

विदूषकः—सत्थि भोदीए। [स्वस्ति भवत्यै।]

राजा—स्वागतं देव्यै। (तां हस्तेन गृहीत्वोपवेशयति)

उर्वशी—हला! ठाणे क्खु इअं देवीसद्देण उवअरीअदि। ण किं वि परिहीअदि सचीए ओजस्सिदाए। [हला! स्थाने खलु इयं देवीशब्देनोपचर्यते। न किमपि परिहीयते शच्या ओजस्वितया।]

चित्रलेखा—साहु असूआपरम्मुहं मंतिदं तुए। [साधु असूयापराङ्मुखं मन्त्रितं त्वया।]

देवी—अज्जउत्तं पुरोकरिअ को वि वदविसेसो मए संपादणीओ। ता मुहुत्तं उवरोधो सहीअदु। [आर्यपुत्रं पुरस्कृत्य कोऽपि व्रतविशेषो मया सम्पादनीयः। तन्मुहूर्तमुपरोधः सह्यताम्।]

राजा—मा मैवम्। अनुग्रहः खलु अयं नोपरोधः।

विदूषकः—ईरिसो सोत्थिवाअणवंतो उवरोहो बहुसो होदु। [ईदृशः स्वस्तिवायनवानुपरोधो बहुशो भवतु।]

राजा—किं नामधेयमेतद्देव्या व्रतम्।

(देवी निपुणिकामुखमवेक्षते)

निपुणिका—भट्टा! पिआणुप्पसादणं णाम। [भर्तः! प्रियानुप्रसादनं नाम।]

राजा—(देवीं विलोक्य) यद्येवम्—

अनेन कल्याणि मृणालकोमलं व्रतेन गात्रं ग्लपयस्यकारणम्।
प्रसादमाकाङ्क्षति यस्तवोत्सुकः स किं त्वया दासजनः प्रसाद्यते ॥ १३ ॥

आज महारानी सफेद रेशमी साड़ी पहने, शरीर पर सुहाग के कुछेक गहने धारण की हुई, पवित्र दूब के अंकुरों को अपने केशपास में सँजोयी हुई देवी को देखकर ऐसा लगता है कि ये व्रत के बहाने मान छोडकर तन-मन से मुझ पर प्रसन्न हो गयी है ॥ १२ ॥

देवी—(पास जाकर) आर्यपुत्र की जय हो, जय हो।

परिजन—महाराज की जय हो, जय हो।

विदूषक—महारानी का कल्याण हो।

राजा—देवी का स्वागत है। (महारानी का हाथ पकड़कर आसन पर बैठाते हैं।)

उर्वशी—सखी! इस समय तो इनका स्वागत देवी शब्द से उचित ही हो रहा है, क्योंकि अपने तेज के कारण ये शची (इन्द्राणी) से किसी प्रकार कम नहीं लग रही हैं।

चित्रलेखा—तुमने इस समय डाह छोड़कर यह उचित ही कहा है।

देवी—आर्यपुत्र को साथ लेकर मैं एक विशेष व्रत करना चाहती हूँ। इसलिये मेरे कारण कुछ देर का कष्ट सहन करने की आप कृपा कीजिए।

राजा—नहीं नहीं, ऐसा मत कहो। यह कष्ट नहीं, अपितु यह तो आपकी कृपा है।

विदूषक—इस प्रकार का कष्ट जिसमें प्रसाद मिलता हो, बार-बार होता रहे।

राजा—देवी द्वारा किये गये इस व्रत का क्या नाम है?

(देवी निपुणिका के मुख की ओर देखती हैं)

निपुणिका—महाराज! इसे प्रिय को पुनः प्रसन्न करने वाला व्रत कहते हैं।

राजा—(देवी को देखकर) यदि ऐसा ही है तो तुम अपने कमल-कोमल कलेवर को अकारण

उर्वशी—महंतो क्खु से इमस्सिं बहुमाणो। [महान् खलु अस्य एतस्यां बहुमानः।]

चित्रलेखा—अइ मुद्धे! अण्णसंकंतप्पेमाणो णाअरिआ भारिआए अहिअं दक्खिणा होंति [अयि मुग्धे! अन्यसङ्क्रान्तप्रेमाणो नागरिका भार्यायामधिकं दक्षिणा भवन्ति।]

देवी—(सस्मितम्) णं इमस्स वदपरिग्गहस्स अअं पहावो जं एत्तिअं मंताविदो अज्जउत्तो। [नन्वेतस्य व्रतपरिग्रहस्यायं प्रभावो यदेतावन्मन्त्रित आर्यपुत्रः।]

विदूषकः—विरमदु भवं न जुत्तं सुहासिदं पच्चाचरिदुं। [विरमतु भवान्। न युक्तं सुभाषितं प्रत्याचरितुम्।]

देवी—दारिआओ! आणेध ओवहारिअं जाव मणिहम्मिअपिट्ठगदे चंदपादे अच्चेमि। [दारिकाः! आनयतौपहारिकं यावन्मणिहर्म्यपृष्ठगतांश्चन्द्रपादानर्चामि।]

परिजनः—जं भट्टिणी आणवेदी। एसो गंधकुसुमादि उवहारो। [यद्भट्टिनी आज्ञापयति। एष गन्धकुसुमाद्युपहारः।]

देवी—उवणेध। (नाट्येन गन्धपुष्पादिभिश्चन्द्रपादानभ्यर्च्य) हंजे णिउणिए! इमे ओहारिअमोदए अज्जमाणवअं लंभावेहि। [उपनयत। हञ्जे निपुणिके! एतानौपहारिकमोदकानार्यमाणवकं लम्भय।]

निपुणिका—जं भट्टिणी आणवेदी। अज्ज माणवअ! एवं दाव दे। [यद्भट्टिन्याज्ञापयति। माणवक! इदं तावत्ते।]

विदूषकः—(मोदकशरावं गृहीत्वा) सोत्थि भोदीए। बहुफलो दे एसो वदो भोदु। [स्वस्ति भवत्यै। बहुफलं तवैतद्व्रतं भवतु।]

देवी—अज्जउत्त! इदो दाव। [आर्यपुत्र! इतस्तावत्।]

ही व्रत करके सुखा रही हो; क्योंकि जो आपका दास स्वयं आपकी प्रसन्नता की कामना करने के लिए उत्सुक रहता है, उसे भी प्रसन्न करने की आवश्यकता रहती है? ॥ १३ ॥

उर्वशी—ऐसा लगता है कि महाराज अपनी महारानी को बहुत मानते हैं।

चित्रलेखा—अरी पगली! जो दूसरी स्त्री से प्रेम करने लगते हैं, वे चतुर नागरिक अपनी स्त्री का पहले से भी अधिक आदर किया करते हैं।

देवी—(मुस्कराकर) सचमुच यह व्रत धारण करने का ही प्रभाव है, जो आर्यपुत्र ने मेरे अनुकूल इतना तो कहा।

विदूषक—अच्छा, आप अपनी बातें रहने दीजिए। सुभाषित के प्रतिकूल आचरण करना उचित नहीं होता।

देवी—दासियो! पूजा की सामग्री ले आओ, जब तक मैं मणिहर्म्य के ऊपर बिखरी हुई चन्द्रकिरणों की पूजा करती हूँ।

परिजन—जैसी स्वामिनी की आज्ञा। लीजिए, यह चन्दन, फूल आदि पूजा की सामग्री है।

देवी—लाओ। (गन्ध, फूल आदि पूजा की सामग्री लेकर चन्द्रकिरणों की पूजा का अभिनय करती है) सखी निपुणिका! इन पूजा के लड्डुओं को आर्य माणवक को दे दो।

निपुणिका—जैसी स्वामिनी की आज्ञा। माणवक! ये लड्डू आपके लिए हैं।

विदूषक—(लड्डू के पात्र को लेकर) आपका कल्याण हो। यह आपका व्रत बहुत फलदायक हो।

देवी—आर्यपुत्र! इधर तो आइए।

राजा—अयमस्ति।

देवी—(राज्ञः पूजामभिनीय प्राञ्जलिः प्रणम्य) एसा अहं देवदामिहुणं रोहिणीमिअलंछणं सक्खीकरिअ अज्जउत्तं अणुप्पसादेमि—अज्जप्पहुदि जं इत्थिअं अज्जउत्तो पत्थेदि जा अ अज्जउत्तस्स समाअमप्पणयिणी ताए सह मए पीदिबंधेण वत्तिदव्वं त्ति। [एषाहं देवतामिथुनं रोहिणीमृगलाञ्छनं साक्षीकृत्यार्यपुत्रमनुप्रसादयामि—अद्यप्रभृति यां स्त्रियमार्यपुत्रः प्रार्थयते या चार्यपुत्रस्य समागमप्रणयिनी तया सह मया प्रीतिबन्धेन वर्तितव्यम् इति।]

उर्वशी—अम्महे! ण आणे किं परं से वअणं त्ति। मम उण विस्सासविसदं हिअअं संवुत्तं। [अहो! न जाने किमपरमस्या वचनमिति। मम पुनर्विश्वासविशदं हृदयं संवृत्तम्।]

चित्रलेखा—सहि! महाणुहावाए पदिव्वदाए अब्भणुण्णादो अणंतराओ दे पिअसमाअमो हविस्सदि। [सखि! महानुभावया पतिव्रतयाभ्यनुज्ञातः अनन्तरायस्ते प्रियसमागमो भविष्यति।]

विदूषकः—(अपवार्य) भिण्णहत्थे मच्छे पलायिदे णिव्विण्णो धीवरो भणादि—गच्छ, धम्मो मे हविस्सदि त्ति। (प्रकाशम्) भोदि! किं तारिसो दे पिओ तत्तभवं। [भिन्नहस्ते मत्स्ये पलायिते निर्विण्णो धीवरो भणति—गच्छ, धर्मो मे भविष्यतीति। भवति! किं तादृशस्ते प्रियस्तत्रभवान्।]

देवी—मूढ! अहं क्खु अत्तणो सुहावसाणेण अज्जउत्तं णिव्वुदसरीरं कादुं इच्छामि। एत्तिएण चिंतेहि दाव पिओ ण वत्ति। [मूढ! अहं खलु आत्मनः सुखावसानेनार्यपुत्रं निर्वृतशरीरं कर्तुमिच्छामि। एतावता चिन्तय तावत्प्रियो न वेति।]

राजा— दातुं वा प्रभवसि मामन्यस्मै कर्तुमेव वा दासम्।
नाहं पुनस्तथा त्वयि यथा हि मां शङ्कसे भीरु ॥ १४॥

देवी—होहि वा मा वा। जधाणिद्दिट्ठं संपादिदं मए पिआणुप्पसादणं णाम वदं। दारिआओ

राजा—लीजिए, यह आ गया।

देवी—(राजा की पूजा का अभिनय कर हाथ जोड़कर प्रणाम करके) यह मैं रोहिणी तथा चन्द्रमा रूपी देवता के जोड़े को साक्षी बनाकर आर्यपुत्र को पुनः प्रसन्न कर रही हूँ। आज से लेकर आर्यपुत्र जिस स्त्री की कामना करेंगे अथवा जो आपके समागम की इच्छुक होगी, उसके साथ मैं सदा प्रेम के साथ व्यवहार किया करूँगी।

उर्वशी—अरे! न मालूम यह किस दूसरी स्त्री के लिए कह रही है? परन्तु इसके इस वचन से मेरे हृदय को विश्वास हो गया।

चित्रलेखा—सखी! इस उदार हृदय वाली पतिव्रता देवी की बातों से यह सुनिश्चित हो गया है कि अब तुम्हारे प्रियमिलन के मार्ग में कोई बाधा नहीं पड़ेगी।

विदूषक—(अलग, राजा से) मछली के हाथ से फिसलकर पानी में भाग जाने पर उदास हुआ मछुआ भी ऐसा ही कहता है—जा, मुझे पुण्य ही होगा। (प्रकट में) देवी! महाराज आपको इतने प्यारे हैं?

देवी—अरे मूर्ख! मैं अपने सुख का बलिदान देकर भी आर्यपुत्र (महाराज) को सुखी देखना चाहती हूँ। मेरे इस व्यवहार से ही समझ लो कि वे मेरे प्रिय हैं या नहीं?

राजा—देवी! तुम भले ही मुझे किसी को दे डालो, अथवा मुझे अपना दास बनाकर रखे रहो, परन्तु मैं तुम्हारे प्रति वैसा नहीं हूँ, हे भीरु! जैसी तुम मेरे बारे में शंका किया करती हो॥ १४॥

एध गच्छम्ह। [भव वा मा वा। यथानिर्दिष्टं सम्पादितं मया प्रियानुप्रसादनं नाम व्रतम्। दारिका एत गच्छामः।] (इति प्रस्थिता)

राजा—प्रिये ! न खलु प्रसादितोऽस्मि यदि सम्प्रति विहाय गम्यते।

देवी—अज्जउत्त ! अलंघिदपुव्वो मए णिअमो। [आर्यपुत्र ! अलङ्घितपूर्वो मया नियमः।]

(इति सपरिवारा निष्क्रान्ता)

उर्वशी—सहि ! पिअकलत्तो राएसी। ण उण हिअअं णिवत्तेदुं सक्केमि। [सखि ! प्रियकलत्रो राजर्षिः। न पुनर्हृदयं निवर्तयितुं शक्नोमि।]

चित्रलेखा—किं उण तुए णिरासाए णिवत्तीअदि। [किं पुनस्त्वया निराशया निवर्त्यते।]

राजा—(आसनमुपेत्य) वयस्य ! न खलु दूरं गता देवी।

विदूषकः—भण विस्सद्धं जं सि वत्तुकामो। असज्झो त्ति वेज्जेण आदुरो विअ सेरं मुत्तो भवं तत्तहोदीए। [भण विश्रब्धं यदसि वक्तुकामः। असाध्य इति वैद्येनातुर इव स्वैरं मुक्तो भवाँस्तत्रभवत्या।]

राजा—अपि नामोर्वशी·····।

उर्वशी—·····अज्ज किदत्था भवे। [अद्य कृतार्था भवेत्।]

राजा—

गूढं नूपुरशब्दमात्रमपि मे कान्तं श्रुतौ पातयेत्
पश्चादेत्य शनैः कराम्बुजवृते कुर्वीत वा लोचने।
हर्म्येऽस्मिन्नवतीर्य साध्वसवशान्मन्दायमाना बलात्
आनीयेत पदात्पदं चतुरया सख्या ममोपान्तिकम् ॥ १५॥

देवी—आप दूर हों या न हों, किन्तु मैंने तो अपने प्रिय को प्रसन्न करने वाला जो व्रत प्रारम्भ किया था, उसे पूरा कर लिया। आओ दासियो ! चला जाय।

(यह कहकर चली जाती है)

राजा—प्यारी ! यदि तुम इस समय मुझे छोडकर चली जाओगी तो समझ लेना कि मैं प्रसन्न नहीं हुआ हूँ।

देवी—आर्यपुत्र ! मैंने आज तक कभी अपने व्रत का नियम नहीं तोड़ा।

(ऐसा कहकर वह दासियों के साथ चली जाती है।)

उर्वशी—सखी ! राजर्षि अपनी पत्नी को इतना प्यार करते हैं, फिर भी मैं उनकी ओर से अपना मन नहीं हटा पा रही हूँ।

चित्रलेखा—तो फिर तुम निराश होकर लौट जाना चाह रही हो ?

राजा—(अपने सिंहासन पर बैठकर) मित्र ! अभी देवी दूर तो नहीं पहुँची होंगी।

विदूषक—जो कहना हो निश्चिन्त होकर कहिए। जैसे असाध्य रोगी को चिकित्सक स्वयं छोड़ देता है, वैसे ही महारानी ने आपको छोडकर स्वच्छन्द कर दिया है।

राजा—क्या अच्छा हो इस समय उर्वशी·····।

उर्वशी—·····आज सफलमनोरथ हो जायेगी।

राजा—क्या अच्छा होता यदि उर्वशी इस समय छिपकर आकर अपने नूपुरों का मधुर शब्द सुना जाय या पीछे से आकर अपने कमलकोमल करपल्लवों से मेरी आँखें मूँद दें या इस प्रासाद पर उतर कर वह भयभीत की भाँति धीरे-धीरे आगे बढ़े और उसकी चतुर सखी उसे मेरे पास पहुँचा दें ॥ १५ ॥

चित्रलेखा—सहि उव्वसि ! इमं दाव से मणोरहं संपादेहि। [सखि उर्वशी ! इमं तावदस्य मनोरथं सम्पादय।]

उर्वशी—(ससाध्वसम्) भोदु। कीलिस्सं दाव। [भवतु, क्रीडिष्यामि तावत्।] (इति तिरस्करिणीमपनीय पृष्ठतो गत्वा राज्ञो नयने संवृणोति।)

(चित्रलेखा तिरस्करिणीमपनीय विदूषकं संज्ञापयति।)

विदूषकः—भो वअस्स ! का उण एसा ? [भो वयस्य ! का पुनः एषा ?]

राजा—(स्पर्शं रूपयित्वा) सखे ! नारायणोरुसम्भवा सेयं वरोरुः।

विदूषकः—कहं भवं अवगच्छदि ? [कथं भवानवगच्छति ?]

राजा—किमत्र ज्ञेयम् ?

अङ्गमनङ्गक्लिष्टं सुखयेदन्या न मे करस्पर्शात्।
नोच्छ्वसिति तपनकिरणैश्चन्द्रस्यैवांशुभिः कुमुदम् ॥ १६ ॥

उर्वशी—(हस्तौ अपनीय उत्तिष्ठति। किञ्चिदपसृत्य) जेदु जेदु महाराओ। [जयतु जयतु महाराजः।]

राजा—सुन्दरि ! स्वागतम्। (इत्येकासन उपवेशयति।)

चित्रलेखा—अवि सुहं वअस्सस्स। [अपि सुखं वयस्यस्य।]

राजा—नन्वेतदुपपन्नम्।

उर्वशी—हला ! देवीए दिण्णो महाराओ। अदो से पणअवदी विअ सरीरसंपक्कं गदम्हि। मा क्खु मं पुरोभाइणिं समत्थेहि। [हला ! देव्या दत्तो महाराजः। अतोऽस्य प्रणयवतीव शरीरसम्पर्कं गतास्मि। मा खलु मां पुरोभागिनीं समर्थयस्व।]

चित्रलेखा—सखी उर्वशी ! इनके इस मनोरथ को पूरा करो।

उर्वशी—(घबराकर) अच्छा पहले इनसे कुछ मनोविनोद कर लें। (इस प्रकार पर्दा हटाकर पीछे से जाकर राजा की आँखें ढंक लेती है।)

(चित्रलेखा पर्दा हटाकर विदूषक को संकेत करती है।)

विदूषक—अरे मित्र ! ये कौन हैं ?

राजा—(स्पर्श से पहचानता हुआ) मित्र ! नारायण की जाँघ से उत्पन्न हुई वह सुन्दर जाँघों वाली उर्वशी है।

विदूषक—आपने कैसे पहचान लिया ?

राजा—इसमें पहचानने की क्या बात है ?

ऐसी कोई दूसरी स्त्री है ही नहीं जो मेरे कामपीड़ा से दुःखित शरीर को अपने हाथ के स्पर्श से सुखी कर सके। चन्द्रमा की किरणों से विकसित होने वाला कुमुद कभी सूर्य की किरणों से नहीं खिलता ॥ १६ ॥

उर्वशी—(हाथों को हटाकर खड़ी हो जाती है। कुछ हटकर) महाराज की जय हो, जय हो।

राजा—सुन्दरी ! आपका स्वागत है। (ऐसा कहकर अपने ही आसन पर बैठाता है।)

चित्रलेखा—क्या अब आप सुखी हैं ?

राजा—निश्चित रूप से सुख अब मिल पाया।

उर्वशी—सखी ! महारानीजी ने मुझे महाराज को दे दिया है। इसीलिए मैं इनकी प्रेमिका की भाँति इनके शरीर से सटकर बैठी हूँ। तुम मुझे महादेवी के आगे का रोड़ा मत समझना।

विदूषकः—कहं इह ज्जेव दुम्हाणं अत्थमिदो सुज्जो ? [कथमिहैव युवयोरस्तमितः सूर्यः ?]

राजा—(उर्वशीमवलोकयन्)

देव्या दत्त इति यदि व्यापारं व्रजसि मे शरीरेऽस्मिन् ।
प्रथमं कस्यानुमते चोरितमयि मे त्वया हृदयम् ॥ १७ ॥

चित्रलेखा—वअस्स ! णिरुत्तरा एसा । संपदं मह विण्णवणा सुणीअदु । [वयस्य ! निरुत्तरा एषा । साम्प्रतं मम विज्ञापना श्रूयताम् ।]

राजा—अवहितोऽस्मि ।

चित्रलेखा—वसंताणंतरं उण्हसमए भअवं सुज्जो मए उवचरिदव्वो । ता जहा इअं मे पिअसही सग्गस्स ण उक्कंठेदि तहा वअस्सेण कादव्वं । [वसन्तानन्तरमुष्णसमसे भगवान्सूर्यो मयोपचरितव्यः । तद्यथेयं मे प्रियसखी स्वर्गाय नोत्कण्ठते तथा वयस्येन कर्तव्यम् ।]

विदूषकः—किं वा सग्गे सुमरिदव्वं । ण वा तत्थ अण्हीअदि ण वा पीअदि । केवलं अणिमिसेहिं णअणेहिं मीणा विडंवीअंति । [किं वा स्वर्गे स्मर्तव्यम् । न वा तत्राश्यते न वा पीयते । केवलमनिमिषैर्नयनैर्मीना विडम्ब्यन्ते ।]

राजा—भद्रे !

अनिर्देश्यसुखः स्वर्गः कस्तं विस्मारयिष्यति ।
अनन्यनारीसामान्यो दासस्त्वस्याः पुरूरवाः ॥ १८ ॥

चित्रलेखा—अणुगहीदम्हि । हला उव्वसि ! अकादरा भविअ विसज्जेहि मं । [अनुगृहीतास्मि । हला उर्वशी ! अकातरा भूत्वा विसर्जय माम् ।]

उर्वशी—(चित्रलेखां परिष्वज्य सकरुणम्) सहि ! मा क्खु मं विसुमरेहि । [सखि ! मा खलु मां विस्मर ।]

विदूषक—कैसे यहीं आप दोनों की साँझ हो गई ?

राजा—(उर्वशी को देखता हुआ) आज तो आप 'देवी ने आपको मेरे हाथों में सौंप दिया है' ऐसा कहकर मुझसे सम्बन्ध जोड़ रही हैं, परन्तु यह तो बतलाइए, जब आपने पहले मेरा हृदय चुरा लिया था, वह किससे पूछकर चुराया था ? ॥ १७ ॥

चित्रलेखा—मित्र ! इनके पास इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है । अब आप मेरा निवेदन सुनिए ।

राजा—कहिए, मैं सावधान होकर सुन रहा हूँ ।

चित्रलेखा—वसन्त ऋतु के बीत जाने पर जब ग्रीष्म काल आयेगा उस समय मुझे सूर्यदेव की आराधना करनी है । उस समय ये मेरी प्रियसखी कहीं स्वर्ग जाने के लिए उत्कण्ठित न हो जाँय, ऐसी व्यवस्था आपको करनी चाहिए ।

विदूषक—स्वर्ग की याद ही क्यों आती है ? न वहाँ कुछ खाया जाता है और न कुछ वहाँ पिया ही जाता है । वहाँ के निवासी तो केवल दिन-रात मछली की भाँति आँखें फाडे रहते हैं ।

राजा—सुन्दरी ! स्वर्ग में अनेक प्रकार के सुख हैं, उन्हें कौन भुला सकता है । किन्तु मैं इतना ही कह सकता हूँ कि अन्य सभी स्त्रियों से मन हटाकर यह पुरूरवा केवल इसी का दास है ॥ १८ ॥

चित्रलेखा—यह तो आपकी मुझ पर बडी कृपा है । सखी उर्वशी ! प्रसन्न होकर अब मुझे तुम विदा कर दो ।

उर्वशी—(करुणा के साथ चित्रलेखा को आलिंगन कर) सखी ! मुझे कहीं तुम भूल न जाना ।

चित्रलेखा—(सस्मितम्) वअस्सेण संगदा तुमं एव्व एदं मए जाचिदव्वा। [**वयस्येन सङ्गता त्वमेवैतन्मया याचितव्या।**] (इति राजानं प्रणम्य निष्क्रान्ता।)

विदूषकः—दिट्ठिआ मणोरहसंपदीए वड्ढदि भवं। [**दिष्ट्या मनोरथसम्पत्त्या वर्धते भवान्।**]

राजा—इयं तावद्वृद्धिर्मम। पश्य—

सामन्तमौलिमणिरञ्जितपादपीठमेकातपत्रमवनेर्न तथा प्रभुत्वम्।
अस्याः सखे! चरणयोरहमद्य कान्तमाज्ञाकरत्वमधिगम्य यथा कृतार्थः॥ १९॥

उर्वशी—णत्थि मे वाआविहवो अदो पिअदरं मंतिदुं। [**नास्ति मे वाग्विभवोऽतः प्रियतरं मन्त्रयितुम्।**]

राजा—(उर्वशीं हस्तेनावलम्ब्य) अहो, विरुद्धसंवर्धन ईप्सितलाभो नाम। यतः—

पादास्त एव शशिनः सुखयन्ति गात्रं बाणास्त एव मदनस्य मनोनुकूलाः।
संरम्भरूक्षमिव सुन्दरि! यद्यदासीत् त्वत्सङ्गमेन मम तत्तदिवानुनीतम्॥ २०॥

उर्वशी—अवरद्धम्हि चिरकारिआ अज्जउत्तस्स। [**अपराद्धास्मि चिरकारिकार्यपुत्रस्य।**]

राजा—सुन्दरि! मा मैवम्—

यदेवोपनतं दुःखात् सुखं तद्रसवत्तरम्।
निर्वाणाय तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषतः॥ २१॥

विदूषकः—भो! सेविदा पदोसरमणीआ चंदवादा। समओ क्खु दे वासघरपवेसस्स। [**भोः! सेविताः प्रदोषरमणीयाश्चन्द्रपादाः। समयः खलु ते वासगृहप्रवेशस्य।**]

चित्रलेखा—(**मुस्कराकर**) अब तुम अपने मित्र से जुट गयी हो, ऐसा तो मुझे तुमसे कहना चाहिए था। (**ऐसा कहकर राजा को प्रणाम कर चली जाती है।**)

विदूषक—भाग्य से आपके मनोरथ पूर्ण हो गये।

राजा—यह मेरी सबसे बड़ी विजय है। देखो—

मित्र! जितना मैं आज इनके चरणों की आज्ञा पालन करने का अधिकार पाकर सफलमनोरथ हुआ हूँ, उतना मैं सम्पूर्ण भूतल का स्वामी तथा अपने पादपीठ को सामन्त राजाओं के मुकुटमणियों से रंगाने को भी अच्छा नहीं समझता॥ १९॥

उर्वशी—इससे बढ़कर अच्छी बात तो मैं सोच भी नहीं पा रही हूँ।

राजा—(**उर्वशी को हाथ से पकड़कर**) अरे! मनचाही वस्तु के मिल जाने पर विरोधी वस्तुएँ भी अच्छी लगने लगती हैं। क्योंकि—

आज चन्द्रमा की वे ही किरणें शरीर को सुखी कर रहीं हैं, आज वे ही कामदेव के बाण मन को अनुकूल लग रहे हैं; हे सुन्दरी! जो-जो वस्तुएँ पहले क्रोध के कारण रूखी जैसी लगती थीं, वे सभी वस्तुएँ तुम्हारे मिल जाने से मुझे अनुकूल प्रतीत हो रही हैं॥ २०॥

उर्वशी—मैंने आपके समीप आने में जो विलम्ब किया उसके लिए मैं आर्यपुत्र की अपराधिनी हूँ।

राजा—सुन्दरी! ऐसा मत कहो।

दुःख के बाद जो सुख मिलता है, वह बड़ा ही रसीला होता है। पेड़ की छाया उस मनुष्य को विशेष अच्छी लगती है, जो धूप से तपा हो॥ २१॥

विदूषक—अरे! सायंकालीन चन्द्रमा की किरणों का सेवन कर लिया है। अब आपके शयनगृह में प्रवेश करने का समय हो गया है।

राजा—तेन हि सख्यास्ते मार्गमादेशय।

विदूषकः—इदो इदो भवदी। [इत इतो भवती।]

(इति सर्वे परिक्रामन्ति)

राजा—सुन्दरि! इयमिदानीं मेऽभ्यर्थना।

उर्वशी—कीरिसी सा? [कीदृशी सा?]

राजा—

अनुपनतमनोरथस्य पूर्वं शतगुणितेव गता मम त्रियामा।
यदि तु तव समागमे तथैव प्रसरति सुभ्रु ततः कृती भवेयम् ॥ २२ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

॥ इति तृतीयोऽङ्कः ॥

राजा—तब तो तुम सखी (उर्वशी) को भी मार्ग का निर्देश करो।

विदूषक—आप इधर से चलिये, इधर से।

(सभी घूमते हैं)

राजा—सुन्दरी! इस समय मेरी यह एक प्रार्थना है।

उर्वशी—वह (प्रार्थना) कैसी है?

राजा—यही कि मेरा मनोरथ सफल होने से पहले जैसी सौगुनी लम्बी रातें मुझे लगा करती थीं, यदि वे रातें तुम्हारे मिल जाने के बाद भी वैसी ही लम्बी हो जायें तो हे सुभ्रू! मैं सफलमनोरथ हो जाऊँगा॥ २२॥

(सब चले जाते हैं।)

तीसरा अंक समाप्त।

चतुर्थोऽङ्कः

(नेपथ्ये सहजन्याचित्रलेखे प्रावेशिक्याक्षिप्तिका)

पिअसहिविओअविमणा सहिसहिआ व्वाउला समुल्लवइ ।
सूरकरफंसविअसिअतामरसे सरवरुच्छंगे ॥ १ ॥

[प्रियसखीवियोगविमनाः सखीसहिता व्याकुला समुल्लपति ।
सूर्यकरस्पर्शविकसिततामरसे सरोवरोत्सङ्गे ॥]

(ततः प्रविशति विमनस्का चित्रलेखा सहजन्या च)

चित्रलेखा—(प्रवेशानन्तरं द्विपदिकया दिशोऽवलोक्य)

सहअरिदुक्खालिद्धअं सरवरअम्मि सिणिद्धअं ।
वाहोवग्गिअणअणअं तम्मइ हंसीजुअलअं ॥ २ ॥

[सहचरीदुःखालीढं सरोवरे स्निग्धम् ।
बाष्पापवल्गितनयनं ताम्यति हंसीयुगलम् ॥]

सहजन्या—(चित्रलेखां विलोक्य सखेदम्) सहि चित्तलेहे ! मिलाअमाणसदवत्तस्स विअ दे मुहस्स छाआ हिअअस्स अस्सत्थदं सूएदि। ता कहेहि मे णिव्वेदकारणं। दे समदुक्खा भविदुं इच्छामि। **[सखि चित्रलेखे! म्लायमानशतपत्रस्येव ते मुखस्य छाया हृदयस्यास्वस्थतां सूचयति। तत्कथय मे निर्वेदकारणम्। ते समदुःखा भवितुमिच्छामि।]**

चित्रलेखा—(सकरुणम्) सहि ! अच्छरोवारपज्जाएण इह भअवदो सुज्जस्स पादमूलोवट्ठाणे वट्टदि त्ति बलिअं क्खु उव्वसीए उक्कंठिदम्हि। **[सखि! अप्सरोवारपर्यायेणेह भगवतः सूर्यस्य पादमूलोपस्थाने वर्तत इति बलवत्खलु उर्वश्या उत्कण्ठितास्मि।]**

सहजन्या—सहि ! जाणे वो अण्णोण्णसिणेहं। तदो तदो। **[सखि! जाने युवयोरन्योन्यस्नेहम्। ततस्ततः।]**

(नेपथ्य में सहजन्या तथा चित्रलेखा के प्रवेश की सूचना देने वाली आक्षिप्तिका गीत गा रही है।)

अपनी प्रिया सखी के विरह से पीड़ित तथा व्याकुल हुई हंसी उसी सरोवर के जल में, जिसमें सूर्य की किरणों के स्पर्श से कमल खिल गये हैं, अपनी सखी के लिए बैठकर रो रही है॥ १ ॥

(उसके बाद सहजन्या के साथ अनमनी चित्रलेखा का प्रवेश)

चित्रलेखा—(प्रवेश के बाद द्विपदिका नामक गीति के साथ दिशाओं की ओर देखकर)

अपनी सखी के विरह में व्याकुल तथा एक-दूसरी को प्यार करने वाली दो हंसिनियाँ आँखों से आँसू बहाते हुए सरोवर के तट पर बैठकर सिसक रही है॥ २ ॥

सहजन्या—(चित्रलेखा को देखकर दुःख के साथ) सखी चित्रलेखा! मुरझाये हुए कमल के समान तुम्हारा मुखमंडल तुम्हारे हृदय की अस्वस्थता की सूचना दे रहा है। अतः तू मुझे अपनी उदासीनता का कारण बता। मैं भी तुम्हारे दुःख में सहभागिनी होना चाहती हूँ।

चित्रलेखा—(दुःखी होकर) सखी ! भगवान् सूर्य की सेवा करने के लिए यहाँ सभी अप्सराओं की पारी बँधी हुई है। अतः आज अपनी पारी पर मैं भी आयी थी, अतः मैं उर्वशी के लिए व्याकुल हूँ।

चित्रलेखा—तदो इमाइं दिवसाइं को णु क्खु वुत्तांतो त्ति प्पणिधाणट्ठिदाए मए अच्चाहिदं उवलद्धं। [ततः एतेषु दिवसेषु को नु खलु वृत्तान्त इति प्रणिधानस्थितया मयात्याहितमुपलब्धम्।]

सहजन्या—(सावेगम्) सहि! कीरिसं तं? [सखि! कीदृशं तत्?]

चित्रलेखा—(सकरुणम्) उव्वसी किल तं रदिसहाअं राएसिं अमच्चेसु णिवेसिदरज्जधुरं गेण्हिअ गंधमादणवणं विहरिदुं गदा। [उर्वशी किल तं रतिसहायं राजर्षिममात्येषु निवेशितराज्यधुरं गृहीत्वा गन्धमादनवनं विहर्तुं गता।]

सहजन्या—(सश्लाघम्) सो णाम संभोओ जो तारिसेसु पदेसेसु। तदो तदो। [स नाम सम्भोगो यस्तादृशेषु प्रदेशेषु। ततस्ततः।]

चित्रलेखा—तहिं क्खु मंदाइणीए पुलिणेसु गदा सिअदापव्वदकेलीहिं कीलमाणा विज्जाधरदारिआ उदयवदी णाम देण राएसिणा णिंज्झाइद त्ति कुविदा उव्वसी। [तत्र खलु मन्दाकिन्याः पुलिनेषु गता सिकतापर्वतकेलिभिः क्रीडन्ती विद्याधरदारिकोदयवती नाम तेन राजर्षिणा निध्यातेति कुपिता उर्वशी।]

सहजन्या—होदव्वं। दूरारूढो क्खु पणओ असहणो। तदो तदो। [भवितव्यम्। दूरारूढः खलु प्रणयाऽसहनः। ततस्ततः।]

चित्रलेखा—तदो सा भट्टिणो अणुणअं अप्पडिवज्जमाणा गुरुसावसंमूढहिअआ विसुमरिद-देवदाणिअमा इत्थिआजणपरिहरणिज्जं कुमारवणं प्पविट्ठा। प्पवेसाणंतरं अ काणणोवंतवत्तिलदाभावेण परिणदं से रूवम्। [ततः सा भर्तुरनुनयमप्रतिपद्यमाना गुरुशापसम्मूढहृदया विस्मृतदेवतानियमा स्त्रीजनपरिहरणीयं कुमारवनं प्रविष्टा। प्रवेशानन्तरं च काननोपान्तवर्तिलताभावेन परिणतमस्या रूपम्।]

सहजन्या—(सशोकम्) सव्वधा णत्थि विहिणो अलंघणिज्जं णाम जेण तारिसस्स अणुराअस्स अअं एव्व एक्कवदे अण्णारिसो पलिणामो संवुत्तो। अह किमवंत्थो सो राएसी? [सर्वथा नास्ति विधेरलङ्घनीयं नाम येन तादृशस्यानुरागस्यायमेवैकपदेऽन्यादृशः परिणामः संवृत्तः। अथ किमवस्थः स राजर्षिः?]

सहजन्या—सखी! मैं जानती हूँ, तुम दोनों में परस्पर कितना स्नेह है। हाँ तब?

चित्रलेखा—तब मैंने इन दिनों उसका क्या समाचार है, जब यह जानना चाहा तब मैंने ध्यान लगाकर देखा तो मुझे मालूम हुआ कि वह संकट में पड़ी है।

सहजन्या—(घबराकर) सखी! कैसा संकट?

चित्रलेखा—(रुआँसी-सी होकर) सुना है कि उर्वशी मन्त्रियों के ऊपर राज्यभार को सौंपने के बाद राजर्षि को लेकर गन्धमादन पर्वत पर विहार करने के लिए गयी थी।

सहजन्या—(प्रशंसा करती हुई) वही सुखभोग कहा जाता है, जो ऐसे सुन्दर प्रदेशों में किया जाता है। हाँ, तो फिर उसके बाद क्या हुआ?

चित्रलेखा—वहाँ जब वह मन्दाकिनी के तट पर जाकर बालू के टीले बना-बना कर खेल रही थी, उस समय वह देखती है कि उदयवती नाम की एक विद्याधर की कन्या को राजा देख रहे थे, अतएव इनसे उर्वशी नाराज हो गयी।

सहजन्या—यह हो सकता है। जब प्रेम बहुत बढ जाता है, तब ऐसी बातें सहन नहीं हो पाती।

चित्रलेखा—उसके बाद भरत मुनि के शाप से उसकी बुद्धि ऐसी मारी गयी कि राजा के अनुनय को भी उसने ठुकरा दिया। देवता के ध्यान को भुलाकर वह उस कुमार-वन में चली गयी, जहाँ स्त्रियों को जाने की रोक है। वहाँ जाते ही वह लता के रूप में बदल गयी।

चित्रलेखा—सो वि तस्सिं एव्व काणणे पिअदमं विचिण्णतो अहोरत्ते अदिवाहेदि। (नभोऽवलोक्य) इमिणा उण णिव्वुदाणं वि उक्कंठाकारिणा मेहोदएण अणत्थाहीणो हविस्सदि। [सोऽपि तस्मिन्नेव कानने प्रियतमां विचिन्वन्नहोरात्रानतिवाहयति। एतेन पुनर्निर्वृतानामप्युत्कण्ठाकारिणा मेघोदयेनानर्थाधीनो भविष्यति।]

(नेपथ्ये जम्भलिका)

सहअरिदुक्खालिद्धअं सरवरअंमिसिणिद्धअं ।
अविरलवाहजलोल्लअं तम्मइ हंसी-जुअलअं ॥ ३ ॥
[सहचरीदुःखालीढं सरोवरे स्निग्धम् ।
अविरलबाष्पजलार्द्रं ताम्यति हंसीयुगलम् ॥]

सहजन्या—सहि! ण क्खु तारिसा आकिदिविसेसा चिरं दुक्खभाइणो होंति। तां अवस्सं किंपि अणुग्गहणिमित्तं भूवो वि समाअमकारणं हविस्सदि। (प्राचीं दिशं विलोक्य) ता एहि। उदअंमुहस्स भअवदो सुज्जस्स उवट्ठाणं करेम्ह। [सखि! न खलु तादृशा आकृतिविशेषाश्चिरं दुःखभागिनो भवन्ति। तदवश्यं किमप्यनुग्रहनिमित्तं भूयोऽपि समागमकारणं भविष्यति। तदेहि। उदयोन्मुखस्य भगवतः सूर्यस्योपस्थानं कुर्वः।]

(नेपथ्ये खण्डधारा)

चिंतादुम्मिअमाणसिआ सहअरिदंसणलालसिआ ।
विअसिअ कमलमणोहरए विहरइ हंसी सरवरए ॥ ४ ॥
[चिन्तादूनमानसिका सहचरिदर्शनलालसिका ।
विकसितकमलमनोहरे विहरति हंसी सरोवरे ॥]

(इति निष्क्रान्ते)

॥ प्रवेशकः ॥

सहजन्या—(शोक के साथ) सचमुच विधि का विधान अटल होता है। भला बतलाइए, कहाँ तो ऐसा प्रेम और कहाँ उसका ऐसा विपरीत परिणाम? अच्छा, अब उन राजर्षि की क्या स्थिति है?

चित्रलेखा—वे भी उसी वन में अपनी प्यारी को दिन-रात खोजते हुए अपना समय विता रहे हैं। (आकाश की ओर देखकर) इससे सुखी लोगों के मन में भी उत्कण्ठा उत्पन्न करने वाले इन बादलों को देखकर तो उनका मन ही टूट गया होगा।

(नेपथ्य में जम्भलिका नामक गीति के साथ)

अपनी सहचरी के दुःख में चिन्तित परस्पर एक-दूसरी के साथ प्रेम करने वाली दो हंसिनियाँ निरन्तर आँसू बहाते हुए सरोवर के तट पर बैठी हुई सिसक रही हैं॥ ३ ॥

सहजन्या—देखो सखी! विशेष आकृति वाले ऐसे पुरुष बहुत दिनों तक दुःखी नहीं होते। इसलिए कोई न कोई कृपा का कारण अवश्य ही उपस्थित हो जायगा, जिससे कि उन दोनों का फिर से मिलन हो जायेगा। **(पूर्व दिशा की ओर देखकर)** तो चलो। उदय होते हुए सूर्य की पूजा कर लें।

(नेपथ्य में खण्डधारा गीति के साथ)

चिन्ता से अनमनी तथा अपनी सहचरी (सखी) से मिलने के लिए उत्सुक हंसी विकसित कमलों के कारण नयनाभिराम सरोवर में विहार कर रही है॥४॥

(दोनों जाती हैं)

॥ प्रवेशक ॥

(नेपथ्ये पुरूरवसः प्रावेशिक्याक्षिप्तिका)

गहणं गइंदणाहो पिअविरहुम्माअपअलिअविआरो ।
विसइ तरुकुसुमकिसलअभूसिअणिअदेहपब्भारो ॥ ५ ॥

[गहनं गजेन्द्रनाथः प्रियाविरहोन्मदप्रकटितविकारः ।
विशति तरुकुसुमकिसलयभूषितनिजदेहप्राग्भारः ॥]

(ततः प्रविशति आकाशबद्धलक्ष्य उन्मत्तवेषो राजा)

राजा—(सक्रोधम्) आः दुरात्मन् रक्षः ! तिष्ठ तिष्ठ। मे प्रियतमामादाय गच्छसि ? (विलोक्य) हन्त ! शैलशिखराद्गगनमुत्पत्य बाणैर्मामभिवर्षति।

(नेपथ्ये)

हिअआहिअपिअदुक्खओ सरवरए धुदपक्खओ ।
वाहोवग्गिअणअणओ तम्मइ हंसजुआणओ ॥ ६ ॥

[हृदयाहितप्रियादुःखः सरोवरे धुतपक्षः ।
बाष्पापवल्गितनयनस्ताम्यति हंसयुवा ॥]

(लोष्ठं गृहीत्वा हन्तुं धावन् विभाव्य सकरुणम्)

कथम्—

नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न नाम शरासनम् ।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी ॥ ७ ॥

(नेपथ्ये)

मइं जाणिइं मिअलोअणी, णिसअरु कोइ हरेइ ।
जाव णु णवतडसामलि, धाराहरु वरिसेइ ॥ ८ ॥

(नेपथ्य में पुरूरवा के प्रवेश के लिए आक्षिप्तिका गीति का गान)

अपनी प्यारी के विरह में विधुर होने के कारण यह गजराज अपनी मानसिक पीडा को प्रकट करता हुआ पेडों के फूलों तथा किसलयों से अपने शरीर को सजाकर इस वन में प्रवेश कर रहा है॥ ५ ॥

(तदनन्तर आकाश की ओर मुख उठाये तथा पागल जैसा वेश बनाये राजा का प्रवेश)

राजा—**(क्रोध से)** अरे दुष्ट राक्षस ! खडा रह। तू मेरी प्रियतमा को ले जा रहा है ? **(देखकर)** अरे ! यह तो पहाड़ की चोटी से आकाश में जाकर मेरे ऊपर बाण बरसाने लगा है।

(नेपथ्य में)

यह हंसयुवक अपनी प्रिया के दुःख में दुःखी पंख फडफड़ाता हुआ आँखों से आँसू बरसाता हुआ तालाब में बैठा सिसकियाँ भर रहा है॥ ६ ॥

(पत्थर लेकर मारने के लिए दौड़ता हुआ समझकर दया के साथ)

कैसे—यह तो अभी बरसने वाला बादल है, राक्षस नहीं। इसमें खिंचा हुआ यह इन्द्रधनुष है, राक्षस का धनुष नहीं। ये जो निरन्तर बरस रहे हैं, ये बाण नहीं हैं, अपितु पानी की बूँदें हैं और जो यह कसौटी पर बनी हुई सोने की रेखा जैसी चमक रही है, यह मेरी प्रिया उर्वशी नहीं है, यह तो बिजली है॥ ७ ॥

[मया ज्ञातं मृगलोचनां निशाचरः कोऽपि हरति ।
यावन्नु नवतडिच्छ्यामलो धाराधरो वर्षति ॥]

(विचिन्त्य सकरुणम्) क्व नु खलु सा रम्भोरुर्गता स्यात् ?

तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः ।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं
सा चात्यन्तमदर्शनं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥९॥

(इति दिशोऽवलोक्य सनिःश्वासम्) अये! परावृत्तभागधेयानां दुःखं दुःखानुबन्धि। कुतः—

अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे ।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः ॥१०॥

जलहर संहर एहु कोपइं आढत्तओ
अविरलधारासारदिसामुहकंतओ ।
ए मइं पुहविं भमंतो जइ पिअं पेक्खिमि
तव्वे जं जु करीहिसि तं तु सहीहिमि ॥११॥

[जलधर संहरैतं कोपमाज्ञप्तः अविरलधारासारदिशामुखकान्तः ।
ए अहं पृथ्वीं भ्रमन्यदि प्रियां प्रेक्षे तदा यद्यत्करिष्यसि तत्तत्सहिष्ये ॥]

(विहस्य) मुधैव खलु मया मनसः परितापवृद्धिरुपेक्ष्यते। यथा मुनयोऽपि व्याहरन्ति—राजा कालस्य कारणमिति। तत्किमहं जलदसमयं न प्रत्यादिशामि ?

(नेपथ्य में)

मैंने समझा था कि मृग के समान नेत्रों वाली मेरी प्रिया को कोई राक्षस चुराकर ले जा रहा है, परन्तु यहाँ तो बिजली को चमकाता हुआ नया काला बादल केवल पानी बरसा रहा है॥८॥

(सोचकर दुःख से) वह केले के समान जाँघों वाली (उर्वशी) कहाँ गयी होगी ?

वह कहीं मुझसे कुपित होकर अपने दैवी प्रभाव में छिप न गयी हो ? वह कभी देर तक कुपित या कहीं वह स्वर्ग ही न चली गयी हो ? किन्तु ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि उसका मन तो मेरे प्रति अत्यन्त अनुराग युक्त था। मेरे सामने से उसे देवताओं तथा शत्रु राक्षस भी हरण नहीं कर सकते, फिर भी वह मुझे क्यों नहीं दिखलायी दे रही है ? यह मेरा कैसा दुर्भाग्य है ?॥९॥

(चारों ओर देखकर लम्बी साँस लेकर) अरे! फूटे भाग्यवालों के लिए तो विपत्ति पर विपत्ति आया ही करती है। क्योंकि—

कहाँ एक ओर एकाएक प्रिया का इस प्रकार बिछोह, जो मुझसे सहा नहीं जा रहा है और उसी समय दूसरी ओर ऐसा सुहावना अवसर, जो बादलों के छा जाने तथा धूप के छिप जाने से और भी मनमोहक हो गया है ॥१०॥

निरन्तर बरसने के कारण चारों ओर फैले हुए अरे मेघ! मेरी आज्ञा को पाकर इस समय तुम अपना क्रोध शान्त करो। मैं सम्पूर्ण भूतल पर घूमकर जब अपनी प्रिया को पा जाऊँगा, तब तुम जो जो भी करोगे उस-उस को सहन कर लूँगा॥११॥

(हँसकर) व्यर्थ ही मैं अपने मन की पीड़ा को बढ़ाये जा रहा हूँ। जैसा कि मुनिजन भी कहा

गंधुम्माइअमहुअरगीएहिं वज्जंतेहिं परहुअ तूरेहिं ।
पसरिअपवणुव्वेलिअपल्लवणिअरु सुललिअविविहपआरेहिं णच्चइ कप्पअरु ।। १२ ।।

[गन्धोन्मादितमधुकरगीतैर्वाद्यमानैः परभृततूर्यैः ।
प्रसूतपवनोद्वेल्लितपल्लवनिकरः सुललितविविधप्रकारं नृत्यति कल्पतरुः ।।]

अथवा न प्रत्यादिशामि जलदसमयं यत्प्रावृषेण्यैरेव लिङ्गैर्मम राजोपचारः सम्प्रति । कथमिव—

विद्युल्लेखाकनकरुचिरं श्रीवितानं ममाभ्रं
व्याधूयन्ते निचुलतरुभिर्मञ्जरीचामराणि ।
घर्मच्छेदात्पटुतरगिरो वन्दिनो नीलकण्ठाः
धाराहारोपनयनपरा नैगमाः सानुमन्तः ।। १३ ।।

भवतु, किमेवं परिच्छदश्लाघया ? यावदस्मिन्कानने तां प्रियामन्वेषयामि ।

(नेपथ्ये)

दइआरहिओ अहिअं दुहिओ बिरहाणुगओ परिमंथरओ ।
गिरिकाणणए कुसुमुज्जलए गजजूहवई बहुझीणगई ।। १४ ।।

[दयितारहितोऽधिकं दुःखितो विरहानुगतः परिमन्थरः ।
गिरिकानने कुसुमोज्ज्वले गजयूथपतिर्बहुक्षीणगतिः ।।]

(परिक्रम्यावलोक्य च) हन्त हन्त ! व्यवसितस्य मे सन्दीपनमिव संवृत्तम् । कुतः—

आरक्तराजिभिरियं कुसुमैर्नवकन्दलीसलिलगर्भैः ।
कोपादन्तर्बाष्पे स्मरयति मां लोचने तस्याः ।। १५ ।।

करते हैं—'राजा जैसा समय चाहे वैसा समय ला सकता है।' तो मैं इस वर्षाकाल को ही क्यों न आज्ञा दे दूँ?

सुगन्ध से झूमने वाले भौंरों के गीतों के साथ-साथ तथा कोयल की बोली में बजने वाली बंसियों की धुन से गूँजते हुए वायु से जिस कल्पतरु के किसलय हिल रहे हैं, देखो—वह कल्पतरु विविध प्रकार के ललित भावों को अपने मन में सजोये हुए नाच रहा है ।। १२ ।।

अथवा इस वर्षाकाल को कुछ कहना ही व्यर्थ है। क्योंकि—

इस समय वर्षाकाल के जो लक्षण दिखलायी दे रहे हैं, उन्हीं लक्षणों के कारण मैं आज भी राजा के समान शोभा पा रहा हूँ। वह कैसे ? विजली रूपी सोने से बना हुआ यह बादल ही मेरा छत्र है, निचुल के पेड ही मेरे ऊपर अपनी मंजरियों के चँवर डुला रहे हैं। गर्मी के समाप्त हो जाने के कारण तीव्र शब्द करने वाले ये मोर ही स्तुतिपाठकों के पद का निर्वाह कर रहे हैं और झरनों की मोतियों को भेंट करती हुई ये पहाडियाँ ही मेरी जनता है ।। १३ ।।

अच्छा, अपने राजकीय तत्त्वों की प्रशंसा करने से क्या लाभ ? जब तक इस वन में अपनी प्रिया को खोजता हूँ।

(नेपथ्य में)

अपनी प्रिया के विरह के कारण अधिक दुःखित विरही यह गजयूथपति फूलों से सुशोभित इस पहाडी में धीरे-धीरे घूम रहा है ।। १४ ।।

(घूमकर और देखकर) हाय ! हाय ! उर्वशी को ढूँढते-ढूँढते मेरी मानसिक पीडा को और भी अधिक बढा देने वाला यह दूसरा कारण सामने आ गया। क्योंकि—

इतो गतेति कथं नु तत्रभवति मया सूचयितव्या ? यतः—

पद्भ्यां स्पृशेद्वसुमतीं यदि सा सुगात्री मेघाभिवृष्टसिकतासु वनस्थलीषु ।
पश्चान्नता गुरुनितम्बतया ततोऽस्या दृश्येत चारुपदपङ्क्तिरलक्तकाङ्का ॥ १६॥

(परिक्रम्यावलोक्य च सहर्षम्) उपलब्धमुपलक्षणं येन तस्याः कोपनाया मार्गोऽनुमीयते।

हृतोष्ठरागैर्नयनोदबिन्दुभिः निमग्ननाभेर्निपतद्भिरङ्कितम् ।
च्युतं रुषाभिन्नगतेरसंशयं शुकोदरश्याममिदं स्तनांशुकम् ॥ १७॥

भवतु, आदास्ये तावत्। (परिक्रम्य विभाव्य च सास्रम्) कथं सेन्द्रगोपं नवशाद्वलमिदम्। कुतो नु खलु निर्जने वने प्रियाप्रवृत्तिरवगमयितव्या ? (शिखिनं दृष्ट्वा) अये ! अयमासारोच्छ्वसितशैलेय-स्थलीपाषाणमारूढः—

आलोकयति पयोदान्प्रबलपुरोवातताडितशिखण्डः ।
केका गर्भेण शिखी दूरोन्नमितेन कण्ठेन ॥ १८॥

(उपेत्य) भवतु, यावदेनं पृच्छामि।

(नेपथ्ये)

संपत्तविसूरणओ तुरिअं परवारणओ ।
पिअअमदंसणलालसओ गअवरु विम्हिअमाणसओ ॥ १९॥

[सम्प्राप्तविसूरणः त्वरितं परवारणः ।
प्रियतमदर्शनलालसो गजवरो विस्मितमानसः ॥]

नये कन्दली के पेड़ के जलभरे लाल फूलों को देखकर मुझे क्रोध से लाल हुई उर्वशी की आँखों का स्मरण हो आया, जिनमें आँसू भर आये थे॥ १५॥

वह यहाँ से गयी है, यह मैं कैसे बता सकूँगा ? क्योंकि—

यदि वह सुन्दरी वर्षा से भीगी हुई बालू वाली इस वनभूमि पर चलती होती तो महावर से रंगे हुए उसके सुन्दर चरणों की टापें दूर तक अवश्य दिखलायी देतीं, जो उसके नितम्बों के भारी होने से एड़ी की ओर अधिक गहरी होती॥ १६॥

(घूमकर देखकर और प्रसन्नता के साथ) उसके कुछ लक्षण तो मिल गये, जिनसे उस क्रोधी स्वभाव वाली उर्वशी के जाने के मार्ग का अनुमान लगाया जा सकता है। क्योंकि—

शुक (तोता) के पेट जैसे हरे रंग वाली उसकी चोली यही है, जिस पर उसके आँसुओं से धुलकर होठों से गिरी लाल रंग की बूँदें दिखलायी दे रही हैं और कुछ बूँदें क्रोध की हड़बड़ी से नाभि से खिसककर नीचे भी गिर गयी होगी॥ १७॥

अच्छा, मैं इस वस्त्र को उठा लेता हूँ। **(घूमकर पहचान कर रोता हुआ)** अरे ! यह तो हरी घास पर वीरवहूटियाँ फैली हुई हैं। इस निर्जन वन में प्रिया का पता कहाँ से लग पायेगा ? **(मोर को देखकर)** अरे, वर्षा से भींगने के कारण जिसमें से भाप निकल रही है, ऐसी चट्टान पर यह मोर बैठा है।

और सामने की तेज हवा से छितराती हुई कलँगी वाला यह मोर दूर से गर्दन उठाकर केकारव करता हुआ बादलों को देख रहा है॥ १८॥

(पास जाकर) अच्छा, जब तक इससे पूछता हूँ।

(नेपथ्य में)

(अञ्जलिं बद्ध्वा)

बंहिण पइं इअ अब्भत्थिअम्मि ओअक्खहि मं ता
एत्थ वणे भम्मंते जइ पइं दिट्ठी सा महु कंता ।
णिसम्महि मिअंकसरिसवअणा हंसगई
ए चिण्हे जाणीहिसि आअक्खिउ तुज्झ मइं ॥ २० ॥

[बर्हिण परमित्यभ्यर्थये आचक्ष्व मे तत्
अत्र वने भ्रमता यदि त्वया दृष्टा सा मम कान्ता ।
निशामय मृगाङ्कसदृशवदना हंसगति-
रनेन चिह्नेन ज्ञास्यस्याख्यातं तव मया ॥]

नीलकण्ठ ममोत्कण्ठा वनेऽस्मिन्वनिता त्वया ।
दीर्घापाङ्ग सितापाङ्ग दृष्टा दृष्टिक्षमा भवेत् ॥ २१ ॥

(विलोक्य) कथमदत्त्वैव प्रतिवचनं नर्तितुं प्रवृत्तः ? किं नु खलु हर्षकारणमस्य ? (विचिन्त्य) आं ज्ञातम्—

मृदुपवनविभिन्नो मत्प्रियाया विनाशात्
घनरुचिरकलापो निःसपत्नोऽस्य जातः ।
रतिविगलितबन्धे केशपाशे सुकेश्याः
सति कुसुमसनाथे कं हरेदेष बर्ही ॥ २२ ॥

भवतु, परव्यसननिर्वृतं न खलु एनं पृच्छामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) अये, इयमातपान्तसन्धुक्षितमदा जम्बूविटपमध्यास्ते परभृता विहङ्गमेषु पण्डिता जातिरेषा। यावदेनामभ्यर्थये।

दुःखित, अपनी प्रियतमा को देखने के लिए उत्कंठित, अपने शत्रुओं को पराजित करने वाला गजराज बडे वेग से चला आ रहा है॥ १९ ॥

(हाथ जोड़कर)

अरे मोर! मैं तुझसे प्रार्थना करता हूँ कि तूने यदि मेरी खोई हुई प्रिया को घूमते-फिरते कहीं देखा हो तो मुझे बतला दो। उसका मुख चन्द्रमा के समान है और उसकी चाल हंस के सदृश है। बस, इन लक्षणों से तुम उसे पहचान लोगे॥ २० ॥

उजले नेत्रकोणों वाले मोर! तूने इस वन में मेरी प्रियतमा को देखा? उसकी बडी-बडी आँखें हैं तथा जो देखने योग्य है, उसे देखने के लिए मैं व्याकुल हूँ॥ २१ ॥

(देखकर) अरे! यह उत्तर दिये विना ही नाचने लग गया? इसकी प्रसन्नता का क्या कारण होगा? (सोचकर) हाँ, समझ गया—

मेरी प्रिया के खो जाने से मन्द-मन्द पवन से छितराये वादलों के समान इसके सुन्दर पंखों को लज्जित कराने वाला आज कोई विपक्षी नहीं रह गया। कामक्रीडा के अवसर पर खुले हुए तथा फूलों से गूँथे हुए केशों की तुलना में इस मोर की शोभा को पूछता ही कौन? ॥ २२ ॥

अच्छा, दूसरों के कष्ट पर ध्यान न देने वाले इस मोर से अव मैं कुछ नहीं पूछता। (घूमकर और देखकर) अरे! गर्मी के वीत जाने से मतवाली कोयल जामुन की शाखा पर वैठी हुई है। पक्षियों में कोयल सबसे चतुर होती है। जब तक मैं इसी से पूछ लूँ।

(नेपथ्ये)

विज्झज्झरकाणणलीणओ दुक्खविणिग्गअबाहुप्पीडओ ।
दूरो सारिअ हिअ आणंदओ अंबरमाणेण भमइ गइंदओ ॥ २३ ॥

[विद्याधरकाननलीनो दुःखविनिर्गतबाष्पोत्पीडः ।
दूरोत्सारितहृदयानन्दोऽम्बरमानेन भ्रमति गजेन्द्रः ॥]

(इति नर्तित्वा वलन्तिकयोपसृत्य जानुभ्यां च स्थित्वा) हेले हेले !

परहुअ महुरपलाविणि कंती णंदणबण सच्छंद भमंती ।
जइ पइं पिअअम सा महु दिट्ठी ता आअक्खहि महु परपुट्ठी ॥ २४ ॥

[परभृते! मधुरप्रलापिनि कान्ते नन्दनवने स्वच्छन्दं भ्रमन्ती ।
यदि त्वया प्रियतमा सा मम दृष्टा तदाचक्ष्व मे परपुष्टे! ॥]

भवति !

त्वां कामिनो मदनदूतिमुदाहरन्ति मानावभङ्गनिपुणं त्वममोघमस्त्रम् ।
तामानय प्रियतमां मम वा समीपं मां वा नयाशु कलभाषिणि यत्र कान्ता ॥ २५ ॥

किमाह भवती ? कथं त्वामेवमनुरक्तं विहाय गता इति। (अग्रतोऽवलोक्य) शृणोतु भवती।

कुपिता न तु कोपकारणं सकृदप्यात्मगतं स्मराम्यहम् ।
प्रभुता रमणेषु योषितां नहि भावस्खलितान्यपेक्षते ॥ २६ ॥

(ससम्भ्रममुपविश्य अनन्तरं जानुभ्यां स्थित्वा कुपिता इति पुनः पठित्वा उत्थाय विलोक्य च) कथं कथाविच्छेदकारिणी स्वकार्य एव व्यासक्ता ?

(नेपथ्य में)

विद्याधरों के वन में छिपा हुआ, दुःख से आँसू बहाता हुआ और हृदय के सम्पूर्ण आनन्द को खोकर यह बादल के समान गजराज इधर-उधर घूम रहा है ॥ २३ ॥

(वलन्तिका राग के साथ नाचता हुआ आगे बढकर घुटने टेककर) अरे ! अरे !

मधुर कुहकने वाली सुन्दर कोयल! यदि इस नन्दनवन में स्वतन्त्रतारूप से घूमती हुई तुमने कहीं मेरी प्रिया देखी हो तो मुझे बता दे ॥ २४ ॥

अरी कोयल! कामी पुरुष तुम्हें कामदेव की दूती कहते हैं, मानिनियों के मान भंग करने के लिए तुम अमोघ अस्त्रसमझी जाती हो। हे मधुर भाषण करने वाली! या तो उसे मेरे पास ले आओ अथवा मुझे शीघ्र उसके पास ले चलो ॥ २५ ॥

क्या कहा आपने? इतना प्यार करने पर भी आपको छोड़कर वह कैसे चली गई? **(आगे की ओर देखकर)** आप सुनिए—

वह कुपित तो हो गयी किन्तु मुझे उसके कुपित होने का थोडा-सा भी कारण याद नहीं आ रहा है। स्त्रियाँ तो वैसे ही अपने पतियों पर धाक़ जमाए रखती हैं। वे पति के अपराधों को नहीं देखा करतीं ॥ २६ ॥

(एकाएक बैठकर फिर घुटने टेककर 'कुपिता' इत्यादि पद्य को फिर पढकर, फिर उठकर तथा देखकर) कैसे यह मेरी बात पूरी होने से पहले ही अपने कार्य में लग गयी ?

अथवा—

महदपि परदुःखं शीतलं सम्यगाहुः प्रणयमगणयित्वा यन्ममापद्गतस्य ।
अधरमिव मदान्धा पातुमेषा प्रवृत्ता फलमभिमुखपाकं राजजम्बूद्रुमस्य ॥ २७ ॥

एवंगतेऽपि प्रियेव मे मञ्जुस्वनेति न मे कोपोऽस्याम्। सुखमास्तां भवती। इतो वयं साधयामस्तावत्। (परिक्रम्य कर्णे दत्वा) अये! दक्षिणेन वनधारां प्रियाचरणनिक्षेपशंसी नूपुररवः श्रूयते, यावदेनमनुगच्छामि। (परिक्रम्य)

(नेपथ्ये)

प्पिअअमविरहकिलामिअवअणओ अविरलवाहजलाउलणअणओ ।
दूसहदुक्खविसंठुलगमणओ पसरिअउरुतावदिविअअंगओ ।
अहिअं दुम्मिअमाणसओ काणणं भमइ गइंदओ ॥ २८ ॥

[प्रियतमाविरहक्लान्तवदनोऽविरलबाष्पजलाकुलनयनः ।
दुःसहं दुःखविसंष्ठुलगमनः प्रसृतगुरुतापदीप्ताङ्गः ।
अधिकं दूनमानसः कानने भ्रमति गजेन्द्रः ॥]

(अनन्तरे द्विपदिकया दिशोऽवलोक्य)

(नेपथ्ये)

प्पिअकरिणीविच्छोइअओ गुरुसोआणलदीविअओ ।
वाहजलाउललोअणओ करिवरु भमइ समाउलओ ॥ २९ ॥

[प्रियकरिणीवियुक्तो गुरुशोकानलदीप्तः ।
बाष्पजलाकुललोचनः करिवरो भ्रमति समाकुलः ॥]

अथवा—दूसरे का दुःख भले ही कितना भी अधिक क्यों न हो, उसे लोग कम ही समझते हैं। इसलिए विपत्ति के मारे मेरी बात को यह कोयल भी अनसुनी करके उस प्रकार आँखें मूँदकर फरैना (जामुन) के रस को पीने लगी है, जैसे मदान्ध पुरुष अपनी प्यारी के अधरामृत का पान कर रहा हो॥ २७॥

इतना सब कुछ होने पर भी मेरी प्रिया के समान मधुर स्वर में गाती है, मैं इस पर कुपित नहीं हूँ। तुम सुख से बैठी रहो; हम यहाँ से चले जाते हैं। (घूमकर कान लगाकर) अरे! इस वन के दक्षिण की ओर से प्रिया के पैरों को रखने की सूचना देता हुआ पायल की-सी धुन सुनायी दे रही है। इस धुन की ओर चलकर देखूँ। (घूमता है)

(नेपथ्य में)

प्रिया के विरह से मलिन मुखवाला, नयनों से आँसूओं की धारा बहाता हुआ, असह्य दुःख के कारण लडखडाती गति वाला, शोक रूपी अग्नि से जिसके शरीरावयव सन्तप्त हुए हैं और जिसका मन अधिक दुःखित है, ऐसा गजराज वन में घूम रहा है॥ २८॥

(इसके बाद द्विपदिका गीति को गाने के साथ चारों ओर देखकर)

(नेपथ्य में)

अपनी प्यारी हथिनी के विरहाग्नि में जलता हुआ और रोता हुआ यह गजराज व्याकुल होकर घूम रहा है॥ २९॥

(सकरुणम्) हा-धिक् कष्टम्।

मेघश्यामा दिशो दृष्ट्वा मानसोत्सुकचेतसाम्।
कूजितं राजहंसानां नेदं नूपुरशिञ्जितम् ॥ ३० ॥

भवतु, यावदेते मानसोत्सुकाः पतत्रिणः सरसोऽस्मान्नोत्पतन्ति तावदेतेभ्यः प्रियाप्रवृत्तिरवगमयितव्या। (उपसृत्य) भो! भो! जलविहङ्गमराज!

पश्चात्सरः प्रतिगमिष्यसि मानसं तत् पाथेयमुत्सृज बिसं ग्रहणाय भूयः।
मां तावदुद्धर शुचो दयिताप्रवृत्त्या स्वार्थात्सतां गुरुतरा प्रणयिक्रियैव ॥ ३१ ॥

अये! तथोन्मुखो विलोकयति यथा मानसोत्सुकेन मया न लक्षितेत्येवं वचनमाह।

रे रे हंस किं गोइज्जइ गइअणुसारें मइं लक्खिज्जइ।
कइं पइं सिक्खिउ ए गइ लालस सा पइं दिट्ठी जहणभरालस ॥ ३२ ॥

[रे! रे! हंस! किं गोप्यते गत्यनुसारेण मया लक्ष्यते।
केन तव शिक्षिता एषा गतिर्लालसा सा त्वया दृष्टा जघनभरालसा ॥]

यदि हंस गता न ते नतभ्रूः सरसो रोधसि दर्शनं प्रिया मे।
मदखेलपदं कथं नु तस्याः सकलं चोरगतं त्वया गृहीतम् ॥ ३३ ॥

अतश्च (इति अञ्जलिं बद्ध्वा)—

हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिरस्यास्त्वया हृता।
विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते ॥ ३४ ॥

(दुःख के साथ) हाय, धिक्कार है, बडे दुःख की बात है।

काले बादलों की अँधियारी छटा को देखकर मानसरोवर जाने के लिए उत्सुक मन वाले राजहंसों की यह कूक है, जिसे मैं पायलों की झनकार समझ रहा था ॥ ३० ॥

अच्छा, जब तक ये मानसरोवर जाने के लिए उत्सुक हँस उडते नहीं तब तक मैं इनसे अपनी प्यारी का पता पूछ लेता हूँ। **(समीप जाकर)** अरे! अरे! जलपक्षिराज!

तुम मानसरोवर बाद में जाना और जो यह रास्ते के चबैना के लिए तुमने कमलनाल तोड़ ली है, इसे भी फिर ले लेना। उससे पहले तुम मुझे मेरी प्रिया का समाचार देकर मेरा उद्धार करो, क्योंकि सत्पुरुष अपने मित्रों को सहायता देना अपने स्वार्थ से बढकर समझते हैं ॥ ३१ ॥

अरे! यह हंस तो ऊपर की ओर मुख करके वैसे देख रहा है, जैसे कह रहा हो कि मैंने मानसरोवर जाने की उत्सुकता से कुछ भी नहीं देखा।

अरे हंस! तुम छिपा क्या रहे हो? तुम्हारी चाल से ही मैं सब कुछ समझ गया। तुम बतलाओ कि यह चाल तुमने किससे सीखी? नितम्बों के भार से धीरे-धीरे चलने वाली उस मेरी प्यारी को तुमने अवश्य देखा है ॥ ३२ ॥

यदि तूने उस बाँकी चितवन वाली मेरी प्रिया को इस सरोवर के तट पर नहीं देखा, तो बता रे चोर! उसकी मद से इठलाती हुई मनोहर चाल को तूने कहाँ से सीखा? ॥ ३३ ॥

इसलिए **(हाथ जोड़कर)**

अरे हंस! मेरी प्यारी की जिस चाल को तूने चुराया है, उसे मुझे लौटा दे, क्योंकि यदि चोर के पास से चोरी का कुछ भी माल मिल जाय तो उसे पूरा माल देना पड़ता है ॥ ३४ ॥

(विहस्य) एष चौरानुशासी राजेति भयादुत्पतितः। यावदन्यमवकाशमवगाहिष्ये। (परिक्रम्यावलोक्य च) अयमिदानीं प्रियासहायश्चक्रवाकः। तावदेनं पृच्छामि।

(नेपथ्ये)

मंमररणिअमणोहरए कुसुमिअतरुवरपल्लवए।
दइआविरहुम्माइअओ काणण भमइ गइंदओ ॥ ३५॥

[मर्मररणितमनोहरे कुसुमिततरुवरपल्लवे।
दयिताविरहोन्मादितः कानने भ्रमति गजेन्द्रः ॥]

गोरोअणाकुंकुमवण्णा चक्का भणइ मइं।
महुवासरकीलंती धणिआ ण दिट्ठी पइं ॥ ३६॥

[गोरोचनाकुङ्कुमवर्ण चक्र भण माम्।
मधुवासरे क्रीडन्ती धन्या न दृष्टा त्वया ॥]

रथाङ्गनामन् वियुतो रथाङ्गश्रोणिबिम्बया।
अयं त्वां पृच्छति रथी मनोरथशतैर्वृतः ॥ ३७॥

कथं कः क इत्याह माम्? मा तावत्। न खलु विदितोऽहमस्य?

सूर्याचन्द्रमसौ यस्य मातामहपितामहौ।
स्वयं वृतः पतिर्द्वाभ्यामुर्वश्या च भुवा च यः ॥ ३८॥

कथं तूष्णीं स्थितः? भवतु, उपालभे तावदेनम्।

सरसि नलिनीपत्रेणापि त्वमावृतविग्रहां
ननु सहचरीं दूरे मत्वा विरौषि समुत्सुकः।

(हँसकर) इसने समझ लिया है कि मैं चोरों को दण्डित करने वाला राजा हूँ। बस, इसी डर से यह उड गया। जब तक और किसी स्थान पर ढूँढता हूँ। (घूमकर और देखकर) यहाँ यह अपनी प्यारी के साथ चकवा बैठा है, जरा इससे भी पूछ लेता हूँ।

(नेपथ्य में)

सूखे पत्तों की मनोहर खडखडाहट से भरे, फूलों से लदे हुए वृक्षों के पल्लवों वाले इस वन में प्रिया के विरह से पागल हुआ यह गजराज इधर-उधर घूम रहा है॥ ३५॥

गोरोचन तथा कुंकम के वर्ण वाले अरे चकवे! मुझे बतला, कहीं तूने वसन्त के दिनों में खेलती हुई उस धन्य भाग्यवाली मेरी प्रिया को तो नहीं देखा॥ ३६॥

अरे चकवे! पहिए के सदृश बड़े-बडे नितम्बों वाली अपनी प्रिया से बिछुड़ा हुआ और मन में सैकडों मनोरथों को सँजोया हुआ मैं महारथी तुझसे पूछ रहा हूँ॥ ३७॥

कैसे यह मुझसे कौन है, कौन है, पूछ रहा है? बस रहने दो। क्या यह मुझे जानता नहीं है?

सूर्य और चन्द्रमा जिसके नाना और दादा हैं और जिन्हें उर्वशी और धरणी ने स्वयं अपना स्वामी बना लिया हैं, मैं वही पुरूरवा हूँ॥ ३८॥

कैसे चुप हो गया? अच्छा, मैं इसे उलाहना देता हूँ।

जब तालाब में तेरी प्यारी चकवी कमल के पत्ते के ओट में छिप जाती है, तब तू उसे दूर गई हुई समझकर घबराकर चिल्लाने लगता है। अपनी प्यारी से तो तू इतना प्रेम करता है कि थोड़ा

इति च भवतो जाया स्नेहात्पृथक्स्थितिभीरुता
मयि च विधुरे भावः कान्ताप्रवृत्तिपराङ्मुखः ॥ ३९ ॥

सर्वथा मदीयानां भागधेयानां विपर्ययेण प्रभावप्रकाशः। यावदन्यमवकाशमवगाहिष्ये। (पदान्तरे स्थित्वा) भवतु, न तावद्गच्छामि। (परिक्रम्यावलोक्य च)

इदं रुणद्धि मां पद्ममन्तःकूजितषट्पदम्।
मया दष्टाधरं तस्याः ससीत्कारमिवाननम् ॥ ४० ॥

भवतु, इतो गतस्य मेऽनुशयो मा भूदित्यस्मिन्नपि कमलसेविनि मधुकरे प्रणयित्वं करिष्ये।

(नेपथ्ये)

एक्कक्कमवड्ढिअगुरुअरपेम्मरसें ।
सरे हंसजुआणओ कीलइ कामरसें ॥ ४१ ॥

[एकक्रमवर्धितगुरुतरप्रेमरसेन ।
सरसि हंसयुवा क्रीडति कामरसेन ॥]

मधुकर! मदिराक्ष्याः शंस तस्याः प्रवृत्तिं

(विभाव्य)

वरतनुरथवासौ नैव दृष्टा त्वया मे।
यदि सुरभिमवाप्स्यस्तन्मुखोच्छ्वासगन्धं
तव रतिरभविष्यत्पुण्डरीके किमस्मिन् ॥ ४२ ॥

साधयामस्तावत्। (इति परिक्रम्यावलोक्य च) अये! एष नीपस्कन्धनिषण्णहस्तः करिणीसहायो नागराजस्तिष्ठति। अस्मात्प्रियोदन्तमुपलप्स्ये। यावदेनमुपसर्पामि।

बिछोह भी तुझसे सहा नहीं जाता और फिर भी देख अपनी प्रिया से बिछुड़े हुए मुझसे तू बातें तक नहीं करना चाह रहा है॥ ३९ ॥

मेरा भाग्य ही ऐसा है कि सब भाँति मुझे विपरीत ही फल मिलता जा रहा है। कहीं और स्थान पर जाकर उसे ढूँढता हूँ। (कुछ कदम चलकर रुककर) अच्छा, मैं अभी कहीं नहीं जाता। (घूमकर और देखकर)

यह भौंरें की गुंजार से भरा हुआ कमल मुझे बलपूर्वक रोक रहा है, क्योंकि यह उर्वशी के उस मुख के सदृश दिखलायी दे रहा है, जो होंठ पर मेरे द्वारा दन्तक्षत करने पर सी-सी कर रहा हो॥ ४० ॥

अच्छा, कमल के ऊपर मँडराते हुए भौंरें से ही पूछकर देखूँ, जिससे यहाँ से चले जाने पर मुझे यह तो पछतावा न रह जाय कि मैंने उससे कुछ नहीं पूछा।

(नेपथ्य में)

तालाब में एक ऐसा हंस प्रेम के मद में भरा हुआ खेल रहा है, जिसके मन में अचानक प्रेम का भाव उदित हुआ है॥ ४१ ॥

अरे भौंरें! उस मदभरे नेत्रों वाली मेरी प्रिया का समाचार सुनाओ। (सोचकर) हो सकता है उस सुन्दरी को तुमने देखा ही न हो। यदि तुम्हें मेरी प्रिया के मुख की सुवास भरी साँस मिल गयी होती तो तुम इस कमल के साथ थोड़ा भी प्यार न करते॥ ४२ ॥

अब हम चलें यहाँ से। (घूमकर तथा देखकर) अरे! इस धूलिकदम्ब की डाल पर अपनी सूँड को टिकाये हुए हथिनी के साथ यह गजराज खडा हुआ है, जरा इसके पास जाऊँ।

(नेपथ्ये)

करिणीविरहसंताविअओ । काणणे गंधुद्धुअं महुअरु ॥४३॥

[करिणीविरहसन्तापितः । कानने गन्धोद्धतमधुकरः ॥]

(विलोक्य) अथवा न त्वरा कार्या। न तावदयमुपसर्पणकालः।

अयमचिरोद्गतपल्लवमुपनीतं प्रियकरेणुहस्तन ।
अभिलषतु तावदासवसुरभिरसं शल्लकीभङ्गम् ॥४४॥

(क्षणमात्रं स्थित्वा अवलोक्य) हन्त, कृताह्निकः संवृत्तः। भवतु, समीपमस्य गत्वा पृच्छामि।

हउं पुच्छिमि आअक्खहि गअवरु ललिअपहारें णासिअतरुवरु ।
दूरविणिज्जिअ ससहरुकंती दिट्ठी पिअ पइं सम्मुह जंती ॥४५॥

[अहं पृच्छामि आचक्ष्व गजवर! ललितप्रहारेण नाशिततरुवर ।
दूरविनिर्जितशशधरकान्तिर्दृष्टा प्रिया त्वया सम्मुखं यान्ती ॥]

(पदद्वयं पुरतः उपसृत्य)

मदकलयुवतिशशिकला गजयूथप! यूथिकाशबलकेशी ।
स्थिरयौवना स्थिता ते दूरालोके सुखालोका ॥४६॥

(आकर्ण्य सहर्षम्) अहह!! अनेन भवतः स्निग्धमन्द्रेण गर्जितेन प्रियोपलम्भशंसिना समाश्वासितोऽस्मि। साधर्म्याच्च त्वयि मे भूयसी प्रीतिः।

(नेपथ्य में)

हथिनी के वियोग से सन्तप्त यह हाथी वन में घूम रहा है, जिस पर मदगन्ध से मतवाले भौंरें मँडरा रहे हैं॥४३॥

(देखकर) अथवा शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। अभी उसके पास जाना उचित नहीं लगता, क्योंकि—

अभी-अभी हथिनी ने अपनी सूँड से यह पत्तों वाली तथा आसव के समान मदगन्ध युक्त जो शल्लकी की डाल पकडकर तोडी है, उसे यह हाथी पसन्द कर ले, तब मैं इससे पूछूँगा॥४४॥

(थोड़ी देर रुककर देखकर) अब तो इसने दिन का कार्य (भोजन) कर लिया। अच्छा, अब इसके पास जाकर पूछता हूँ।

हलके प्रहार से बडे-बडे पेडों को उखाड़ फेंकने वाले गजराज! मैं तुम से पूछता हूँ, तुम बतलाओ, क्या तुमने मेरी उस प्रिया को सामने से जाते देखा, जो अपनी कान्ति से चन्द्रमा की चाँदनी को भी लजा देती है? ॥४५॥

(दो पग आगे जाकर)

अरे मतवाले गजराज! क्या तूने दूर तक देखने वाली अपनी आँखों से उस सदा युवती रहने वाली उर्वशी को कहीं देखा है, जो युवतियों में सदा चन्द्रमा की किरण के समान चमकती है और जिसके केशपाश में जूही के फूल गुँथे रहते हैं॥४६॥

(सुनकर प्रसन्नता के साथ) आहा! तुम्हारी इस कोमल, मन्द तथा मेरी प्रिया के स्थान को बतलाने वाली चिंग्घाड़ से मुझे आश्वासन मिला है। तुझमे और मुझमें अनेक गुणों की समानता है, इसलिए भी तुमसे मेरा अत्यधिक प्रेम है। देखो—

मामाहुः पृथिवीभृतामधिपतिं नागाधिराजो भवान्
अव्युच्छिन्नपृथुप्रवृत्ति भवतो दानं ममाप्यर्थिषु ।
स्त्रीरत्नेषु ममोर्वशी प्रियतमा यूथे तवेयं वशा
सर्वं मामनु ते प्रियाविरहजां त्वं तु व्यथां मानुभूः ॥४७॥

सुखमास्तां भवान्। साधयामस्तावत्। (परिक्रम्य पार्श्वतो दृष्टिं दत्त्वा) अये! अयमसौ सुरभिकन्दरो नाम विशेषरमणीयः सानुमानालोक्यते। प्रियश्चायमप्सरसाम्। अपि नाम सा सुतनुरस्योपत्यकाया-मुपलभ्येत। (परिक्रम्यावलोक्य च) कथमन्धकारः? भवतु, विद्युत्प्रकाशेनावलोकयामि। हन्त! मदीयैर्दुरितपरिणामैर्मेघोऽपि शतह्रदा शून्यः संवृत्तस्तथापि शिलोच्चयमेनमपृष्ट्वा न निवर्तिष्ये।

प्पसरिअखरखुरदारिअमेइणि वणगहणे अविचल्लु ।
परिसप्पइ पेच्चह अइ लीणो णिअकज्जुज्जुअ कोलु ॥४८॥
[प्रसृतखरदारितमेदिनिर्वनगहनेऽविचलः ।
परिसर्पति पश्यत लीनो निजकार्योद्युक्तः कोलः ॥]

अपि वनान्तरमल्पकुचान्तरा श्रयति पर्वतपर्वसु सन्नता ।
इदमनङ्गपरिग्रहमङ्गना पृथुनितम्बनितम्बवती तव ॥४९॥

कथं तूष्णीमेवास्ते? शङ्के विप्रकर्षान्न शृणोतीति। भवतु, समीपेऽस्य गत्वा पुनरेनं पृच्छामि।

फलिहसिलाअलणिम्मलणिज्झरु बहुविहकुसुमें विरइअसेहरु ।
किंणरमहुरुग्गीअमणोहरु देक्खावहि महु पिअअम महिहरु ॥५०॥
[स्फटिकशिलातलनिर्मलनिर्झर! बहुविधकुसुमैर्विरचितशेखर ।
किन्नरमधुरोद्गीतमनोहर दर्शय मम प्रियतमां महीधर ॥]

मुझे लोग राजाओं का स्वामी कहते हैं और तुम्हें हाथियों का स्वामी। तुम भी दिन-रात अपना दान (मद) बहाया करते हो और मेरे यहाँ भी दिन-रात याचकों को दान दिया जाता है। स्त्रियों में रत्न के समान जैसे उर्वशी मेरी प्रियतमा है, वैसे ही यह हथिनी तुम्हारी प्यारी है। इस प्रकार हम दोनों सभी प्रकार से समान है, किन्तु तुम को मेरे समान प्रियाविरह का दुःख कभी न हो॥४७॥

तुम सुखी रहो। हम जा रहे हैं। (घूमकर एक ओर देखकर) अरे! यह सुरभिकन्दर नाम का बड़ा रमणीय पर्वत दिखलायी दे रहा है तथा यह पर्वत अप्सराओं को अत्यन्त प्रिय लगता है। हो सकता है, वह कृशोदरी इस पर्वत की तलहटी में ही मिल जाय? (घूमकर और देखकर) यहाँ कितना अँधेरा है? अच्छा बिजली के प्रकाश से देखता हूँ। हाय! मेरे पापों के परिणाम से मेघ भी बिजली से रहित हो गया है, फिर भी इस पर्वत से पूछे बिना मैं यहाँ से हटूँगा नहीं।

अपने फैले पैने खुरों से भूतल को रौंदता हुआ और अपनी टेक पर अड़ा हुआ एक जंगली सूअर अपनी धुन में मस्त होकर देखो घूम रहा है॥४८॥

अरे पर्वत! अपने इस कामदेव के वन में तुमने सुन्दर नितम्बों वाली तथा पोर-पोर पर झुकी हुई उस सुन्दरी को क्या कभी देखा, जिसके दोनों स्तनों के बीच में थोडा-सा ही अन्तर है?॥४९॥

अरे! यह चुप क्यों हो गया है? हो सकता है, दूर होने से न सुनता हो। अच्छा, इसके पास जाकर इससे पूछता हूँ।

स्फटिक की चट्टानों पर बहते हुए उजले झरनों वाले! रंग-बिरंगे फूलों से अपना मुकुट बनाने वाले! किन्नरों के मधुर गीतों से सुन्दर लगने वाले हे पर्वतराज! मेरी प्रिया को मुझे दिखला दो॥५०॥

(इति परिक्रम्य अञ्जलिं वद्ध्वा)

सर्वक्षितिभृतां नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी ।
रामा रम्ये वनान्तेऽस्मिन्मया विरहिता त्वया ॥५१॥

(नेपथ्ये तदेवाकर्ण्य सहर्षम्) कथं यथाक्रमं दृष्टा इत्याह ? भवानपि अतःप्रियतरं शृणोतु। क्व तर्हि मे प्रियतमा ? (पुनरेव 'सर्वक्षितिभृतां नाथ' इति पठति। नेपथ्ये तदेव आकर्ण्य विभाव्य च) हा धिक्। ममैवायं कन्दरमुखविसर्पी प्रतिशब्दः। (इति मूर्च्छति। उत्थाय सविषादम्) अहह !! श्रान्तोऽस्मि। अस्यास्तावद्गिरिनद्यास्तीरे स्थितस्तरङ्गवातमासेविष्ये। (परिक्रम्यावलोक्य च) इमां नवाम्बुकलुषामपि स्रोतोवहां पश्यतो मे रमते मनः। कुतः—

तरङ्गभ्रूभङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरशना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम् ।
यथाविद्धं याति स्खलितमभिसन्धाय बहुशो
नदीभावेनेयं ध्रुवमसहना सा परिणता ॥५२॥

भवतु, प्रसादयामि तावदेनाम्। (अञ्जलिं वद्ध्वा)

प्पसीअ पिअअम सुंदरि एणए खुहिआकरुणविहंगमए णए ।
सुरसरितीरसमूसुअ एणए अलिउलझंकारिअए णए ॥५३॥

[प्रसीद प्रियतमे सुन्दरि नदि क्षुभिताकरुणविहङ्गमे नदि ।
सुरसरितीरसमुत्सुके नदि अलिकुलझङ्कारिते नदि ॥]

(नेपथ्ये)

(इस प्रकार घूमकर हाथ जोड़कर)

सभी पर्वतों के स्वामी! क्या तुमने इस वन के छोर में मुझ से विछुड़ी हुई उस अनुपम सुन्दरी उर्वशी को कहीं देखा ?॥५१॥

(नेपथ्य में उन्हीं शब्दों को सुनकर प्रसन्नता के साथ) कैसे क्रमशः 'देखा' ऐसा कहा। आप भी इससे प्रिय वात को सुनो। तव वह मेरी प्रियतमा कहाँ हैं? **(फिर 'सर्वक्षितिभृतां नाथ' इत्यादि पद्य को पढता है। नेपथ्य मे उसी को सुनकर और समझकर)** हाय धिक्कार है, यह तो गुफा के मुख द्वारा फैलने वाला मेरा ही शब्द था। **(इस प्रकार वह मूर्च्छित हो जाता है। उठकर दुःख के साथ)** अरे! अव तो मैं थक गया हूँ। अतः इस झरने के तट पर तरंगों की शीतल बयार का सेवन करता हूँ । **(घूमकर और देखकर)** अभी-अभी वरमने के कारण गँदली नदी को देखकर मेरा मन प्रसन्न हो रहा है। क्योंकि—

मार्ग में आने वाली चट्टानों से वचने के लिए यह टेढा होकर वह रहा है। इसकी लहरें कुपित हुई भौंहों के समान [illegible] रही हैं। व्याकुल हुई पक्षियों की पंक्तियाँ ही इसकी तगडी है, इसका झाग ही वस्त्र है, जो चल[illegible] ढीला पड़ गया है, जिसे वह खींचती हुई चली जा रही है। इन सभी भावों से मुझे ऐसा लग रहा [illegible] मेरी वातों को न सह सकने वाली प्रिया ही नदी बन गयी है॥५२॥

अच्छा, मैं चलकर इसे मनाता हूँ। **(हाथ जोड़कर)**

उड़ते हुए तथा कर्कशस्वरों में चहचहाते हुए पक्षियों वाली, गंगा से मिलने की उत्सुकता वाली और भौंरों की कतारों से गूँजने वाली अरी सुन्दर नदी! तुम मुझ पर प्रसन्न हो जाओ॥५३॥

(नेपथ्य में)

पुव्वदिसापवणाहअकल्लोलुग्गअबाहओ
मेहअंगे णच्चइ सललिअं जलणिहिणाहओ ।
हंसविहंगमकुंकुम संखकआभरणु
करिमअराउलकसणकमलकुआवरणु ।
वेलासलिलुव्वेल्लिअहत्थदिण्णतालु
ओत्थरइ दसदिस रुंधेविणु णवमेहआलु ॥५४॥

[पूर्वदिक्पवनाहतकल्लोलोद्गतबाहुर्मेघाङ्गैर्नृत्यति सललितं जलनिधिनाथः ।
हंसविहङ्गमकुङ्कुमशङ्खकृताभरणः करिमकराकुलकृष्णकमलकृतावरणः ।
वेलासलिलोद्वेल्लितदत्तहस्ततालोऽवस्तृणाति दशदिशो रुद्ध्वा नवमेघकालः ॥]

त्वयि निबद्धरतेः प्रियवादिनः प्रणयभङ्गपराङ्मुखचेतसः ।
कमपराधलवं मम पश्यसि त्यजसि मानिनि दासजनं यतः ॥५५॥

कथं तूष्णीमेवास्ते? (विचिन्त्य) अथवा परमार्थसरिदेवैषा। न खलूर्वशी पुरूरवसमपहाय समुद्राभिसारिणी भविष्यति। भवतु, अनिर्वेदप्राप्याणि श्रेयांसि। यावत्तमेव प्रदेशं गच्छामि यत्र मे नयनयोः सा सुनयना तिरोहिता। (परिक्रम्य विलोक्य च) इमं तावत्प्रियाप्रवृत्तये सारङ्गमासीनमभ्यर्थये।

अभिनवकुसुमस्तबकिततरुवरस्य परिसरे
मदकलकोकिलकूजितरवझङ्कारमनोहरे ।
नन्दनविपिने निजकरिणीविरहानलेन सन्तप्तो
विचरति गजाधिपतिरैरावतनामा ॥५६॥

कृष्णसारच्छवियोऽसौ दृश्यते काननश्रिया ।
नवशष्पावलोकाय कटाक्ष इव पातितः ॥५७॥

यह देखो! जलनिधिनाथ का कितना उत्तम नृत्य हो रहा है। जल में पड़ी हुई बादलों की छाया ही उसका शरीर है। पुरवैया हवा से उठी हुई लहरें ही नृत्य के लिए उठाये गये मानों उनके हाथ हैं। हंस आदि पक्षी, कुंकुम तथा शंख उसके आभूषण हैं। हाथियों तथा मगरों के झुंड ही उनके नीलवस्त्र हैं, नीलकमल ही उनकी माला है, तीर मे टकराती हुई लहरें ही मानों ताल दे रहीं हैं और इसी बीच वर्षाऋतु ने आकर सभी दिशाओं को ढ़ँक दिया है॥५४॥

अरी नदी! तुमसे इतना प्रेम करने वाले, सदा मधुर भाषण करने वाले, प्रेम के टूट जाने से ही जो तुमसे विपरीत मन वाला हो गया हो, उसके किस छोटे मे अपराध को देखकर तुम उसे छोड़ रही हो॥५५॥

अरे! यह चुप क्यों है? **(विचारकर)** अथवा यह वास्तव में नदी ही होगी, क्योंकि यदि यह उर्वशी होती तो पुरूरवा को छोड़कर इस समुद्र की ओर न जाती। अच्छा, बिना दुःख उठाये सुख नहीं मिलता। अब उसी स्थान पर जाता हूँ जहाँ मेरे नयनों के सामने से वह सुन्दर नयनों वाली ओझल हुई थी। **(घूमकर और देखकर)** चलूँ इस बैठे हुए हरिण से अपनी प्रिया का पता पूछता हूँ।

नन्दन वन के नये फूलों के गुच्छों से लदे हुए तथा मदमत्त कोयल की मधुर कूक से सुहावने लगने वाले वृक्षराज के पास यह ऐरावत नामक गजराज अपनी हथिनी की विरहाग्नि की आँच से झुलसा हुआ इधर-उधर घूम रहा है॥५६॥

(विलोक्य) किं नु खलु मामवधीरयन्निवान्यतो मुखः संवृत्तः ? (दृष्ट्वा)

अस्यान्तिकमायान्ती शिशुना स्तनपायिना मृगी रुद्धा ।
तामयमनन्यदृष्टिर्भुग्नग्रीवो विलोकयति ॥५८॥

सुरसुन्दरि जहणभरालस पीणुत्तुंगघणत्थणि
थिरजोव्वण तणुसरीरि हंसगई ।
गअणुज्जलकाणणे मिअलोअणि भमंती
दिट्ठी पइं तह विरहसमुद्दंतरे उत्तारहि मइं ॥५९॥

[सुरसुन्दरी जघनभरालसा पीनोत्तुङ्गघनस्तनी
स्थिरयौवना तनुशरीरा हंसगतिः ।
गगनोज्ज्वलकानने मृगलोचना भ्रमन्ती
दृष्टा त्वया तर्हि विरहसमुद्रान्तरादुत्तारय माम् ॥]

(उपसृत्य अञ्जलिं बद्ध्वा) हंहो हरिणीपते !

अपि दृष्टवानसि मम प्रियां वने कथयामि ते तदुपलक्षणं शृणु ।
पृथुलोचना सहचरी यथैव ते सुभगं तथैव खलु सापि वीक्षते ॥६०॥

कथमनादृत्य मद्वचनं कलत्राभिमुखं स्थितः ? उपपद्यते परिभवास्पदं दशाविपर्ययः। यावदितोऽहमन्यमवकाशमवगाहिष्ये। (परिक्रम्यावलोक्य च) हन्त ! दृष्टमुपलक्षणं तस्या मार्गस्य।

रक्तकदम्बः सोऽयं प्रियया घर्मान्तिशंसि यस्येदम् ।
कुसुममसमग्रकेसरविषममपि कृतं शिखाभरणम् ॥६१॥

कृष्णमार मृग के सदृश दिखलायी देने वाले इस मृग के ऊपर वनलक्ष्मी ने मानों वन की नयी हरियाली को निहारने के लिए इस पर अपनी चितवन डाली हो॥५७॥

(देखकर) इसने तो मेरी बात को अनसुनी करके अपना मुख दूसरी ओर फेर लिया। (देखकर)

इसकी ओर जो हरिणी आ रही थी और जिसे बीच ही में दूध पीने वाले मृग के छौने ने रोक लिया, उसकी ओर यह टेढी गरदन कर टुकुर-टुकुर देख रहा है॥५८॥

नितम्बों के भार के कारण धीरे-धीरे चलने वाली और ऊँचे उठे हुए मोटे-मोटे स्तनों वाली, सदा जवान रहने वाली, कृशोदरी, हंस के समान गतिवाली उस मृगनयनी को तुमने इस आकाश के समान स्वच्छ वन में कहीं देखा हो तो मुझे इस विरहसमुद्र से उबार लो॥५९॥

(पास जाकर हाथ जोड़कर) अरे हरिणी के स्वामी !

क्या तुमने इस वन में मेरी प्यारी को कहीं देखा है ? मैं उसके लक्षण तुमसे कहता हूँ, तुम सुनो। जैसे तुम्हारी हरिणी की बडी-बडी आँखों की चितवन है, ठीक वैसी ही उसकी भी है॥६०॥

यह मेरी बात का अनादर करके अपनी हरिणी की ओर मुख करके क्यों बैठ गया है ? जब खोटे दिन आते हैं तब व्यक्ति सभी ओर से अपमानित होता है, यह उचित ही है। अब मैं यहाँ कहीं दूसरे स्थान पर जाकर उसे ढूँढता हूँ। (घूमकर और देखकर) अरे ! मैं तो उसके मार्ग का लक्षण पा गया।

यह वही लाल कदम्ब का पेड है जिसके फूल बतला रहे हैं कि गर्मी बीत गयी। उसी के फूल को लेकर अपना जूडा बनाया, जिसमें अभी केसर न फूटने के कारण वह अभी तक मुरझाया

(परिक्रम्याशोकमवलोक्य च)

रक्ताशोक! कृशोदरी क्व नु गता त्यक्त्वानुरक्तं जनं

(पवनधूयमानमूर्धानमवलोक्य सक्रोधम्)

नो दृष्टेति मुधैव चालयसि किं वाताभिभूतं शिरः।

उत्कण्ठाघटमानषट्पदघटासङ्घट्टदष्टच्छद-

स्तत्पादाहतिमन्तरेण भवतः पुष्पोद्गमोऽयं कुतः॥६२॥

भवतु, सुखमास्तां भवान्। (परिक्रम्यावलोक्य च) किं नु खलु एतच्छिलाभेदान्तरगतं नितान्तरक्तमवलोक्यते?

प्रभालेपी नायं हरिहतगजस्यामिषलवः

स्फुलिङ्गो वा नाग्नेर्गहनमभिवृष्टं यत इदम्।

(विभाव्य)

अये! रक्ताशोकप्रसवसमरागो मणिरयं

यमुद्धर्तुं पूषा व्यवसित इवालम्बितकरः॥६३॥

अहो, अयं हरति मे मनः। भवतु, आदास्ये तावदेनम्।

(नेपथ्ये)

प्पणइणिबद्धासाइओ वाहाउलणिअणअणओ।

गअवइ गहणे दुहिअओ भमइ क्खामिअवअणओ॥६४॥

[प्रणयिनिबद्धाशाको बाष्पाकुलनिजनयनः।

गजपतिर्गहने दुःखितः भ्रमति क्षामितवदनः॥]

(ग्रहणं नाटयति। गृहीत्वा) अथवा—

(घूमकर और अशोक की ओर देखकर)

हे लाल अशोक! तू बता, इस प्रेमी को छोड़कर वह कहाँ चली गयी? (हवा के वेग से हिलती हुई अशोक की चोटी को देखकर क्रोध से) हवा से झूमता हुआ अपना सिर हिलाकर यह क्यों कह रहा है कि मैंने उसे नहीं देखा? यदि तूने उसे नहीं देखा तो बता, मधु के लालच में इकट्ठे हुए भौंरों द्वारा कुतरी जाने वाली पंखुड़ियों वाले तुम्हारे ये फूल उसकी लात खाये बिना कैसे उत्पन्न हुए? ॥६२॥

अच्छा, आप सुख से रहिए। (घूमकर और देखकर) यह फटी हुई पत्थर की दरार के भीतर अत्यन्त लालमणि दिखलायी दे रहा है।

यह इतना चमक रहा है कि सिंह से मारे हुए हाथी के मांस का टुकड़ा भी नहीं हो सकता। यह आग की चिनगारी भी नहीं हो सकती, क्योंकि अभी-अभी घनघोर वर्षा हुई है। (देखकर) अरे! यह तो अशोकपुष्प के समान वर्ण वाला मणि है, जिसे उठाने के लिए सूर्य ने भी अपने कर फैला रखे हैं॥६३॥

अरे! यह तो मेरे मन को लुभा रहा है। अच्छा, इसे निकाल लेता हूँ।

(नेपथ्य में)

अपनी प्रिया को पाने की आशा लगाये, आँखों में आँसू भरे तथा सूखे मुख वाला यह गजराज इस वन में दुःखी होकर घूम रहा है॥६४॥

(मणि को पकड़ने का अभिनय करता है, उसे लेकर) अथवा—

मन्दारपुष्पैरधिवासितायां यस्याः शिखायामयमर्पणीयः ।
सैव प्रिया सम्प्रति दुर्लभा मे किमेनमस्रोपहतं करोमि ॥ ६५ ॥

(इत्युत्सृजति)

(नेपथ्ये)

वत्स ! गृह्यतां गृह्यताम् ।

सङ्गमनीय इति मणिः शैलसुताचरणरागयोनिरयम् ।
आवहति धार्यमाणः सङ्गममचिरात्प्रियजनेन ॥ ६६ ॥

राजा—(कर्णं दत्त्वा) को नु खलु मामेवमनुशास्ति ? (अवलोक्य) अये ! अनुकम्पते मां कश्चिन्मृगचारी मुनिर्भगवान् । भगवन् ! अनुगृहीतोऽस्मि अहमुपदेशाद्भवतः । (मणिमादाय) हंहो सङ्गमनीय !

तया वियुक्तस्य विलग्नमध्यया भविष्यसि त्वं यदि सङ्गमाय मे ।
ततः करिष्यामि भवन्तमात्मनः शिखामणिं बालमिवेन्दुमीश्वरः ॥ ६७ ॥

(परिक्रम्यावलोक्य च) अये ! किं नु खलु कुसुमरहितामपि लतामिमां पश्यतो मे मनो रमते ? अथवा स्थाने मनोरमा ममेयम् । इयं हि—

तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः
शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद्विश्रान्तपुष्पोद्गमा ।
चिन्तामौनमिवास्थिता मधुलिहां शब्दैर्विना लक्ष्यते
चण्डीमामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा ॥ ६८ ॥

मन्दार के फूलों से सुगन्धित मेरी प्रिया की जिस चोटी में इसे बाँधना चाहिए था, जब वही नहीं मिल रही है तब मैं इसे लेकर अपने आँसुओं से मलिन करके ही क्या करूँ ॥ ६५ ॥

(ऐसा कहकर उसे वहीं छोड़ देता है ।)

(नेपथ्य में)

वत्स ! इसे ले लो, ले लो ।

यह प्रिय से मिलाने वाली संगमनीय मणि है। यह पार्वती के चरणों की ललाई से बनी है। जो इसे धारण करता है, उसका अपने प्रियजन से शीघ्र संगम हो जाता है ॥ ६६ ॥

राजा—(कान लगाकर) इस प्रकार यह कौन मुझे आज्ञा दे रहा है ? **(देखकर)** अरे ! कोई मृग की भाँति वन में घूमने वाले भगवान् मुनि मेरे ऊपर कृपा कर रहे हैं। भगवन् ! आपके उपदेश से मैं अनुगृहीत हूँ। **(मणि को लेकर)** अरे संगमनीय मणि !

यदि मुझे तुम उस कृशोदरी से मिला दोगे तो मै तुम्हें अपने मुकुटमणि में उस प्रकार धारण करूँगा, जैसे शिवजी ने बालचन्द्रमा को अपने शेखर में स्थान दिया है ॥ ६७ ॥

(घूमकर और देखकर) अरे ! इस फूल रहित लता को देखते हुए मेरा मन न मालूम क्यों उत्सुक हो रहा है। अथवा इसे देखकर तो मेरे मन को सुख मिलना ही चाहिए। यह तो—

बादलों के जल से गीले कोमल पत्तों के कारण यह उस सुन्दरी के समान दिखलायी दे रही है, जिसके ओठ आँसुओं से धुल गये हों। फूलने का समय न होने के कारण फूलों से रहित यह ऐसी लग रही है मानो इसने आभूषण उतार दिये हों। इस पर भौंरें नहीं गूँज रहे हैं, अतः यह ऐसी जान पडती

यावदस्यां प्रियानुकारिण्यां परिष्वङ्गप्रणयी भवामि।

लए पेक्ख विणु हिअएं भमामि । जइ विहिजोएं पुणि तहिं पाविमि ।
ता रण्णें विणु करेमि णिभंती । पुण णइ मेल्लुइं ताह कअंती ॥ ६९॥
[लते प्रेक्षस्व विना हृदयेन भ्रमामि । यदि विधियोगेन पुनस्तां प्राप्नोमि ।
तदारण्येन विना करोमि निर्भ्रान्तिम् । पुनर्न प्रवेशयामि तां कृतान्ताम् ॥]

(इति उपसृत्य लतामालिङ्गति। ततः प्रविशति तत्स्थान एव उर्वशी।)

राजा—(निमीलिताक्ष एव स्पर्श रूपयित्वा) अये! उर्वशीगात्रसंस्पर्शादिव निर्वृतं मे शरीरम्। तथापि नास्ति विश्वासः। कुतः—

समर्थये यत्प्रथमं प्रियां प्रति क्षणेन तन्मे परिवर्ततेऽन्यथा ।
अतो विनिद्रे सहसाविलोचने करोमि न स्पर्शविभावितप्रियः ॥ ७० ॥

(शनैश्चक्षूंष्युन्मील्य) कथं सत्यमेव प्रियतमा? (इति मूर्च्छितः पतति)

उर्वशी—(वाष्पं विसृज्य) समस्ससदु समस्ससदु महाराओ। [समाश्वसितु समाश्वसितु महाराजः।]

राजा—(संज्ञां लब्ध्वा) प्रिये! अद्य जीवितम्।

त्वद्वियोगोद्भवे तन्वि मया तमसि मज्जता ।
दिष्ट्या प्रत्युपलब्धासि चेतनेव गतासुना ॥ ७१ ॥

उर्वशी—अब्भंतरकरणाए मए प्पच्चक्खीकिदवुत्तंतो क्खु महाराओ। [अभ्यन्तरकरणया मया प्रत्यक्षीकृतवृत्तान्तः खलु महाराजः।]

है मानो इसने मौन व्रत लिया हो। इस प्रकार यह ऐसी लग रही है मानो यह क्रोध की हुई उर्वशी के समान पश्चात्ताप कर रही हो॥ ६८॥

प्रिया के लक्षणों का अनुकरण करने वाली इस लता को गले मे लगा लूँ।

अरी लता! मैं यहाँ विना हृदय के घूम रहा हूँ। यदि दैवयोग से कहीं उसे पा जाऊँगा तो फिर उसे इस वन से दूर ले जाऊँगा और फिर उसे कभी इस वन में आने नहीं दूँगा॥ ६९॥

(इस प्रकार पास जाकर लता को आलिंगन करता है। तदनन्तर उसके स्थान पर उर्वशी का प्रवेश)

राजा—**(आँख बन्द किये ही स्पर्श का अनुभव करके)** अरे! उर्वशी के शरीरस्पर्श के समान मेरा शरीर सुखी हो गया, तो भी मुझे विश्वास नहीं हो रहा है। क्योंकि—

जिस वस्तु को मैं पहले अपनी प्रिया समझ लेता हूँ, वहीं क्षणभर में बदल जाती है। इस लता को छूने से तो मुझे अपनी प्यारी से मिलने के समान सुख मिल रहा है, अतः अब मैं आँखें खोलूँगा ही नहीं॥ ७०॥

(धीरे से आँखें खोलकर) अरे! यह तो सचमुच मेरी प्रियतमा है। (मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है)

उर्वशी—(आँसू गिराकर) महाराज! धीरज धरिए, धीरज धरिए।

राजा—(होश में आकर) प्रिया! आज मैं फिर से जी गया।

तुम्हारे विरह रूपी अन्धकार में डूबते हुए मैंने सौभाग्य से तुम्हें उसी प्रकार पाया है, जैसे मरे हुए व्यक्ति को पुनः प्राण मिल गये हों॥ ७१॥

उर्वशी—मैंने अपनी भीतरी इन्द्रियों से महाराज की सभी बातें जान ली थीं।

राजा—अभ्यन्तरकरणयेति न खलु ते वचनार्थमवैमि।

उर्वशी—कहइस्सं। इदं दाव प्पसीददु महाराओ जं मए कोववसं गदाए एदं अवत्थंतरं पाविदो महाराओ। [कथयिष्यामि। एतत्तावत्प्रसीदतु महाराजो यन्मया कोपवशं गतया एतदवस्थान्तरं प्रापितो महाराजः।]

राजा—कल्याणि! न तावदहं प्रसादयितव्यः। त्वद्दर्शनादेव प्रसन्नबाह्यान्तःकरणोऽन्तरात्मा। तत्कथय कथमियन्तं कालमवस्थिता मया विना भवती।

मोरा परहुअ हंस रहंगो अलि गअ पव्वअ सरिअ कुरंगम ।
तुज्झह कारणे रण्णा भमंते को ण हु पुच्छिअ मइं रोअंते ।।७२।।

[मयूरः परभृता हंसो रथाङ्गः अलिर्गजः पर्वतः सरित्कुरङ्गमः ।
तव कारणेनारण्ये भ्रमता को न खलु पृष्टो मया रुदता ।।]

उर्वशी—एव्वं अंतक्करणपच्चक्खीकिदुवुत्तंतो महाराओ। [एवमन्तःकरणप्रत्यक्षीकृतवृत्तान्तो महाराजः।]

राजा—प्रिये! अन्तःकरणमिति न खल्ववगच्छामि।

उर्वशी—सुणादु महाराओ। पुरा भअवदा कुमारेण सासदे कुमारवदं गेण्हिअ अकलुसो णाम गंधमादणकच्छो अज्झासिदो। किदो अ एस विही। [श्रृणोतु महाराजः। पुरा भगवता कुमारेण शाश्वतं कुमारव्रतं गृहीत्वाकलुषो नाम गन्धमादनकच्छोऽध्यासितः। कृतश्चैष विधिः।]

राजा—क इव ?

उर्वशी—जा किल इत्थिआ इमं पदेसं प्पविसदि सा लदाभावेण परिणमिस्सदि त्ति। किदो अ अअं सावांतो गोरीचरणराअसंभवं मणिं विणा तदो ण मुच्चिस्सदि त्ति। तदो अहं गुरुसावसंमूढहिअआ देवदासमअं विसुमरिअ अगहिदाणुणआ इत्थिआजणपरिहरणीयं कुमारवणं प्पविट्ठा। प्पवेसानंतरं एव्व अ काणणोवंतवत्तिवासंतीलदाभाएण परिणदं मे रूवम्। [या किल स्त्री इमं प्रदेशं प्रविशति सा लताभावेन परिणंस्यतीति। कृतश्चायं शापान्तः गौरीचरणरागसम्भवमणिं विना ततो न मोक्ष्यत इति।

राजा—मैं तुम्हारे भीतरी इन्द्रिय शब्द का अर्थ नहीं समझ पाया।

उर्वशी—मैं उसका अर्थ बतलाती हूँ। महाराज! आप पहले मुझे क्षमा कर दीजिये, जो मैंने क्रोधित होकर आपकी यह दशा कर डाली।

राजा—कल्याणी! तुम मुझे प्रसन्न करने का प्रयत्न मत करो। तुम्हें देखने मात्र से ही मेरी अन्तरात्मा और बाहरी इन्द्रियाँ सब प्रसन्न हो गयी हैं। तो कहो, मेरे बिना आप इतने समय तक कहाँ रहीं।

मोर, कोयल, हंस, चकवा, भौंरा, हाथी, पहाड़, नदी तथा हिरन—तुम्हारे विरह के कारण रोते-रोते वन में घूमते हुए मैंने किससे तुम्हारे बारे में नहीं पूछ डाला।। ७२।।

उर्वशी—मैंने अपनी भीतरी इन्द्रियों से महाराज की सब बातें जान ली थीं।

राजा—प्रिये! इस तुम्हारे अन्तःकरण शब्द का अर्थ मैं नहीं समझ पाया।

उर्वशी—महाराज! सुनिए, बहुत समय पहले भगवान् कुमार ने सदा के लिए ब्रह्मचर्य व्रत लेकर इस पवित्र गन्धमादन पर्वत पर डेरा डाला और यह नियम बना दिया·····

राजा—किस प्रकार का ?

उर्वशी—जो कोई स्त्री इस प्रदेश में प्रवेश करेगी वह लता के रूप में बदल जायेगी। परन्तु इस शाप की शान्ति का उन्होंने उपाय भी बतला दिया था कि पार्वतीजी के चरणों की लालिमा से

ततोऽहं गुरुशापसम्मूढहृदया देवतानियमं विस्मृत्याकुमारव्रतानुष्ठानया स्त्रीजनपरिहरणीयं कुमारवनं प्रविष्टा। प्रवेशानन्तरमेव च काननोपान्तवर्तिलताभावेन परिणतं मे रूपम्।]

राजा—प्रिये! सर्वमुपपन्नम्—

> श्रमखेदसुप्तमपि मां शयने या मन्यसे प्रवासगतम्।
> सा त्वं प्रिये! सहेथाः कथं मदीयं चिरवियोगम् ॥७३॥

इदं तद्यथाकथितं त्वत्सङ्गमनिमित्तं मुनेरुपलभ्य मणिप्रभावादासादिता त्वमस्माभिः। (इति मणिं दर्शयति)

उर्वशी—अम्मो, संगमणीओ अअं मणी। अदो क्खु महाराएण आलिंगिदमेत्त ज्जेव पकिदित्थ म्हि संवुत्ता। [अहो, सङ्गमनीयोऽयं मणिः। अतः खलु महाराजेनालिङ्गितमात्रैव प्रकृतिस्थास्मि संवृत्ता।] (मणिमादाय मूर्धनि वहति)

राजा—एवमेव सुन्दरि! क्षणमात्रं स्थीयताम्—

> स्फुरता विच्छुरितमिदं रागेण मणेर्ललाटनिहितस्य।
> श्रियमुद्वहति मुखं ते बालातपरक्तकमलस्य ॥७४॥

उर्वशी—पिअंवद! महंतो क्खु कालो तुए पट्ठाणदो णिग्गदस्स। कदाइ असूअंति मे पकिदिओ। ता एहि णिवुत्तम्ह। [प्रियंवद! महान्खलु कालस्तव प्रतिष्ठानान्निर्गतस्य। कदाचिदसूयन्ति मां प्रकृतयः। तदेहि निवर्तावहे।]

राजा—यदाह भवती।

(इत्युत्तिष्ठतः)

उत्पन्न होने वाली मणि से इस शाप का अन्त हो जायगा। तो उस महान् शाप से मेरी बुद्धि ऐसी मारी गयी, जिससे मैं कार्तिकेय के नियम को भूल गयी और स्त्रीजनों के न जाने योग्य उस कुमारवन में चली गयी। प्रवेश करने के बाद ही वन के समीप रहने वाली वासन्तीलता के रूप में मैं बदल गयी।

राजा—प्रिये! अब मेरी समझ में सब बात आ गयी।

जब तुम सेज पर थककर सो जाने पर भी मुझे दूर गया हुआ-सा समझा करती थीं तब तुम मुझसे भला इतने दिनों तक अलग रहकर मेरे इस चिर-वियोग को कैसे सह सकती थीं? ॥७३॥

देखो, तुम अभी जिस मणि की बात कह रही थीं, वह तुमसे मिलाने वाली मणि यही है, जिसे मुनि से प्राप्त कर मैंने तुम्हें पा लिया। (ऐसा कहकर मणि को दिखलाता है)

उर्वशी—अरे! यही संगमनीय मणि है? इसीलिए महाराज के गले लगाते ही मैं अपने स्वाभाविक स्वरूप में आ गयी हूँ। (मणि को लेकर सिर पर रखती है।)

राजा—सुन्दरी! थोड़ी देर इसी प्रकार खड़ी रहो।

सिर पर रखी हुई इस मणि से चमकता हुआ तुम्हारा मुखमंडल प्रातःकाल के सूर्य की किरणों के समान चमकते हुए कमल के समान शोभा को धारण कर रहा है॥७४॥

उर्वशी—हे मधुरभाषी! आपको प्रतिष्ठान नगर से आये हुए बहुत समय बीत गया। कहीं प्रजा इसके लिए मुझे दोषी ठहराए। अतः चलिए लौट चलें।

राजा—जैसा आप कहती हैं।

(ऐसा कहकर दोनों उठते हैं)

उर्वशी—अध कधं महाराओ गंतुं इच्छदि ? [अथ कथं महाराजो गन्तुमिच्छति ?]

राजा—

अचिरप्रभाविलसितैः पताकिना सुरकार्मुकाभिनवचित्रशोभिना ।
गमितेन खेलगमने-विमानतां नय मां नवेन वसतिं पयोमुचा ॥ ७५ ॥

(नेपथ्ये)

पाविअसहअरिसंगमओ पुलअपसाहिअअंगअओ ।
सेच्छोपत्तविमाणओ विहरइ हंसजुआणओ ॥ ७६ ॥
[प्राप्तसहचरीसङ्गमः पुलकप्रसाधिताङ्गः ।
स्वेच्छाप्राप्तविमानो विहरति हंसयुवा ॥]

(इति निष्क्रान्तौ)

॥ इति चतुर्थोऽङ्कः ॥

उर्वशी—महाराज ! किस प्रकार जाना चाहते हैं ?

राजा—मैं चाहता हूँ कि बिजली की झंड़ियों वाले, इन्द्रधनुष के समान नये चित्रों से शोभित मेघ रूपी विमान पर सवार होकर ही मैं अपने नगर को पहुँचूँगा ॥ ७५ ॥

(नेपथ्य में)

अपनी प्रिया के मिल जाने से पुलकित शरीर वाला यह युवक हंस अपनी इच्छा से प्राप्त विमान पर प्रिया के साथ बैठकर विहार कर रहा है ॥ ७६ ॥

(दोनों चले जाते हैं।)

॥ चौथा अंक समाप्त ॥

पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति हृष्टो विदूषकः)

विदूषकः—ही ही भो, दिट्ठिआ चिरस्स कालस्स उव्वसीसहाओ णंदणवणप्पमुहेसु देवदारण्णेसु विहरिअ पडिणिवुत्तो पिअवअस्सो। पविसिअ णअरं दाणिं ससक्कारोवआरेहिं पकिदीहिं अणुरज्जंतो रज्जं करेदि। संताणत्तणं वज्जिअ ण किंवि से हीणं। अज्ज तिहि विसेसो त्ति भअवदीणं गंगाजउणाणं संगमे देवीहिं सह किदाहिसेओ संपदं उवआरिअं पविट्ठो। ता जाव तत्तभवदो अलंकरीअमाणस्स अणुलेवणमल्ले अग्गभागी होमि। [ही ही भोः, दिष्ट्या चिरस्य कालस्योर्वशीसहायो नन्दनवनप्रमुखेषु देवतारण्येषु विहृत्य प्रतिनिवृत्तः प्रियवयस्यः। प्रविश्य नगरमिदानीं ससत्कारोपचारैः प्रकृतिभिरनुरज्यमानो राज्यं करोति। सन्तानत्वं वर्जयित्वा न किमप्यस्य हीनम्। अद्य तिथिविशेष इति भगवत्योर्गङ्गायमुनयोः सङ्गमे देवीभिः सह कृताभिषेकः साम्प्रतमुपकार्यां प्रविष्टः। तद्यावत्तत्रभवतोऽलङ्क्रियमाणस्यानुलेपमाल्येऽग्रभागी भवामि।]

(इति परिक्रामति)

(नेपथ्ये)

हद्धी हद्धी। दुऊलुत्तरच्छदे तालवेंटाधारे णिक्खिविअ णीअमाणो मए भट्टिणो अब्भंतरविलासिणी मोलिरअणजोग्गो मणी आमिससंकिणा गिद्धेण अक्खित्तो। [हा धिक् हा धिक्। दुकूलोत्तरच्छदे तालवृन्ताधारे निक्षिप्य नीयमानो मया भर्तुरभ्यन्तरविलासिनीमौलिरत्नयोग्यो मणिरामिषशङ्किना गृध्रेणाक्षिप्तः।]

विदूषकः—(कर्णं दत्त्वा) अच्चाहिदं अच्चाहिदं। परमबहुमदो क्खु सो वअस्सस्स संगमणीओ णाम चूडामणी। अदो क्खु असमत्तणेवच्छो एव्व तत्तभवं आसणादो उट्ठिअ इदो आअच्छदि। जाव णं उवसप्पामि। [अत्याहितमत्याहितम्। परमबहुमतः खलु स वयस्यस्य सङ्गमनीयो नाम चूडामणिः। अतः खल्वसमाप्तनेपथ्य एव अत्रभवानासनादुत्थायेत आगच्छति। यावदेनमुपसर्पामि।]

(इति निष्क्रान्तः)

॥ प्रवेशकः ॥

(तदनन्तर प्रसन्न विदूषक का प्रवेश)

विदूषक—ही ही अरे! यह तो बड़े सौभाग्य की बात है कि नन्दनवन आदि प्रमुख देवताओं के उपवनों में उर्वशी के साथ विहार करके बहुत दिनों के बाद मेरे प्रियमित्र लौट आये हैं। इस समय नगर में प्रवेश करके प्रजावर्ग द्वारा किये गये सत्कार से प्रसन्न होकर राज्य करने लगे हैं। अब एक सन्तान को छोड़कर इन्हें किसी बात की कमी नहीं है। आज विशेष पर्व का दिन होने के कारण वे गंगा-यमुना के संगम में देवियों के साथ स्नान करके अभी रनिवास में गये हैं। वहाँ महाराज को अलंकृत किया जा रहा होगा। इसी बीच मैं भी वहाँ जाकर चन्दन, माला आदि में अपना हिस्सा बटा लूँ।

(यह कहकर घूमता है।)

(नेपथ्य में)

हाय, हाय धिक्कार है। ताड़ की पिटारी के भीतरी रेशमी (लाल) वस्त्र में मैंने महारानी के धारण करने योग्य माथे का मणि रखा था, उसे मांस का टुकड़ा समझकर गीध झपट कर ले गया।

(ततः प्रविशति सावेगपरिजनो राजा).

राजा—वेधक ! वेधक !

> आत्मनो वधमाहर्ता क्वासौ विहगतस्करः ।
> येन तत्प्रथमं स्तेयं गोप्तुरेव गृहे कृतम् ॥ १ ॥

किरातः—एसो एसो क्खु मुहकोडिलग्गहेमसुत्तेण मणिणा आलिहंतो विअ आआसं पडिब्भमदि। [एष एष खलु मुखकोटिलग्नहेमसूत्रेण मणिनालिखन्निवाकाशं परिभ्रमति।]

राजा—पश्याम्येनम् —

> असौ मुखालम्बितहेमसूत्रं बिभ्रन्मणिं मण्डलचारशीघ्रः ।
> अलातचक्रप्रतिमं विहङ्गस्तद्रागलेखावलयं तनोति ॥ २ ॥

किं नु खल्वत्र कर्तव्यम् ?

विदूषकः—(उपेत्य) भो ! अलं एत्थ घिणाए। अवराही सासणीओ। [भोः ! अलमत्र घृणया। अपराधी शासनीयः।]

राजा—सम्यगाह भवान्। धनुर्धनुस्तावत्।

यवनी—एसा अणियस्सं। [एषाऽनेष्यामि।] (इति निष्क्रान्ता)

राजा—वयस्य ! न दृश्यते स विहगाधमः। क्व नु खलु गतः ?

विदूषकः—भो ! इदो दक्खिणंतेण अवगदो सो सासणीओ कुणवभोअणो। [भोः ! इतो दक्षिणान्तेनापगतः स शासनीयः कुणपभोजनः।]

विदूषक—(कान लगाकर) यह तो बड़ा बुरा हुआ। उस मणि का तो हमारे मित्र बड़ा सम्मान करते थे। यह तो संगमनीय नामक चूड़ामणि था। इसलिए महाराज वेश-रचना को पूरा किये बिना ही आसन से उठकर इसी ओर आ रहे हैं। तब तक मैं भी उनके पास जाता हूँ।

(चला जाता है)

॥ प्रवेशक ॥

(उसके बाद घबराये हुए राजा का प्रवेश)

राजा—वेधक ! वेधक ! अपने से अपनी मौत को बुलाने वाला वह चोर-पक्षी कहाँ चला गया, जिसने सबकी रक्षा करने वाले के घर में ही यह पहली चोरी की॥ १ ॥

किरात—अरे ! वह यह है। अपनी चोंच से सोने की सिकडी को पकडे हुए यह पक्षी मणि से आकाश में मानों कुछ लिख रहा हो, इस प्रकार घूम रहा है।

राजा—इसे मैं देख रहा हूँ। मणियुक्त सोने के डोरे को पकडे हुए यह पक्षी बड़े वेग से गोल-गोल चक्कर काटता हुआ ऐसा लग रहा है मानो आग की लौ को घुमाकर उसका घेरा-सा बना रहा हो॥ २ ॥

अब इसके लिए क्या करना चाहिए ?

विदूषक—(पास जाकर) अरे ! इसके प्रति दया मत कीजिए। अपराधी को दण्ड देना ही चाहिए।

राजा—तुमने ठीक कहा। अरे ! धनुष, धनुष ले आओ।

यवनी—यह लाती हूँ। **(ऐसा कहकर चली जाती है।)**

राजा—मित्र ! वह नीच पक्षी नहीं दिखलायी दे रहा है। पता नहीं वह कहाँ चला गया ?

विदूषक—अरे ! वह यहाँ से दक्षिण की ओर गया है मांस खाने वाला। उसे दण्ड देना चाहिए।

राजा—(परिवृत्यावलोक्य च) दृष्ट इदानीम्—

प्रभापल्लवितेनासौ करोति मणिना खगः ।
अशोकस्तवकेनेव दिङ्मुखस्यावतंसकम् ॥ ३ ॥

यवनी—(चापहस्ता प्रविश्य) भट्टा ! एदं हत्थावावसहिदं सरासणं। [भर्तः ! एतद्धस्तावापसहितं शरासनम्।]

राजा—किमिदानीं शरासनेन। बाणपथमतीतः स क्रव्यभोजनः। तथाहि—

आभाति मणिविशेषो दूरमिदानीं पतत्त्रिणा नीतः ।
नक्तमिव लोहिताङ्गः परुषघनच्छेदसंयुक्तः ॥ ४ ॥

(कञ्चुकिनं विलोक्य) आर्य लातव्य !

कञ्चुकी—आज्ञापयतु देवः।

राजा—मद्वचनादुच्यन्तां नागरिकाः। सायं निवासवृक्षाश्रयी विचीयतां स विहगदस्युरिति।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रान्तः)

विदूषकः—भो ! उवविसदु भवं संपदं। कहिं गदो सो रअणकुंभीलओ भवदो सासणादो मुच्चिस्सदि। [भोः ! उपविशतु भवान् साम्प्रतम्। क्व गतः स रत्नकुम्भीरको भवतः शासनान्मोक्ष्यते।]

राजा—(विदूषकेण सहोपविश्य) वयस्य !

रत्नमिति न मे तस्मिन्मणौ प्रियत्वं विहङ्गमाक्षिप्ते ।
प्रियया तेनास्मि सखे सङ्गमनीयेन सङ्गमितः ॥ ५ ॥

विदूषकः—णं परिगदत्थो म्हि किदो भवदा। [ननु परिगतार्थोऽस्मि कृतो भवता।]

राजा—(घूमकर और देखकर) अब फिर दिखलायी दिया।

चमकते हुए मणि को चोंच में लेकर इधर-उधर उड़ता हुआ यह पक्षी ऐसा लग रहा है, मानो अशोक के फूलों के गुच्छे ने दिशा के माथे पर चूडामणि बाँध रहा हो॥ ३ ॥

यवनी—(हाथ में धनुष लिए प्रवेश कर) स्वामी ! यह हथरखा और धनुष।

राजा—अब धनुष से क्या होगा ? वह मांसभोजी बाण की गतिसीमा से दूर चला गया। तो भी—

उस पक्षी द्वारा वह मणि दूर ले जाये जाने पर भी ऐसा लग रहा है, मानो रूखे बादल के टुकड़े के साथ रात को मंगलतारा चमका रहा हो॥ ४॥

(कञ्चुकी को देखकर) आर्य लातव्य !

कञ्चुकी—महाराज ! क्या आज्ञा है ?

राजा—मेरी आज्ञा से सभी नगरवासियों से कह दो, सायंकाल जब वह चोरपक्षी अपने आवास वृक्ष के पास पहुँचे तब इसे खोज लें।

कञ्चुकी—महाराज की जैसी आज्ञा। (ऐसा कहकर चला जाता है।)

विदूषक—महाराज ! अब आप बैठ जाइए। वह रत्न का चोर आपके दंड से बचकर कहाँ जायेगा ?

राजा—(विदूषक के साथ बैठकर) मित्र !

उस पक्षी ने मेरा जो रत्न चुराया है, उसे मैं रत्न के कारण नहीं अपितु मैं उसका इसलिए आदर करता हूँ कि उस संगमनीय मणि ने ही मुझे मेरी प्रिया उर्वशी से मिलाया था॥ ५॥

विदूषक—आपने मुझे इस रत्न के बारे में ठीक समझा दिया।

(ततः प्रविशति सशरं मणिमादाय कञ्चुकी)

कञ्चुकी—जयतु जयतु देवः।

अनेन निर्भिन्नतनुः स वध्यो रोषेण ते मार्गणतां गतेन ।
प्राप्तापराधोचितमन्तरिक्षात्समौलिरत्नः पतितः पतत्री ॥ ६ ॥

(सर्वे विस्मयं रूपयन्ति)

कञ्चुकी—अद्भिः प्रक्षालितोऽयं मणिः कस्मै प्रदीयताम् ?

राजा—वेधक ! गच्छ। अग्निशुद्धमेनं कृत्वा पेटकं प्रवेशय।

किरातः—जं भट्टा आणवेदि। [यद्भर्ताज्ञापयति] (इति मणिं गृहीत्वा निष्क्रान्तः)

राजा—आर्य लातव्य ! जानीते भवान् कस्यायं बाण इति ?

कञ्चुकी—नामाङ्कितोऽयं दृश्यते। न तु मे वर्णविचारक्षमा दृष्टिः।

राजा—तेन हि उपनय शरं यावदहं निरूपयामि।

(कञ्चुकी तथा करोति। राजा नामाक्षराण्यनुवाच्य विचारयति।)

कञ्चुकी—यावदहं नियोगशून्यं करोमि। (इति निष्क्रान्तः)

विदूषकः—किंभवं विआरेदि ? [किं भवान्विचारयति ?]

राजा—शृणु तावत्प्रहर्तुर्नामाक्षराणि।

विदूषकः—अवहिदो म्हि। [अवहितोऽस्मि।]

राजा—श्रूयताम् (इति वाचयति)

(उसके बाद बाण के साथ मणि को लेकर कञ्चुकी का प्रवेश)

कञ्चुकी—महाराज की जय हो, जय हो।

इस मारने योग्य पक्षी को आपके क्रोध ने बाण का रूप धारण कर इसे मार डाला। तब यह अपने अपराध का उचित दण्ड पाकर इस रत्न के साथ आकाश से नीचे गिर पडा ॥ ६ ॥

(सभी आश्चर्यचकित हो जाते हैं।)

कञ्चुकी—पानी से धोये गये इस मणि को किसे दिया जाय ?

राजा—वेधक ! इसे आग में शुद्ध करके पेटी में रख दो।

किरात—जैसी स्वामी की आज्ञा। (मणि को लेकर चला जाता है)

राजा—आर्य लातव्य ! तुम जानते हो यह किसका बाण है ?

कञ्चुकी—इसमें नाम लिखा हुआ दिखता है, किन्तु इन अक्षरों को पढने की शक्ति मेरी दृष्टि में तो नहीं है।

राजा—यदि ऐसा है तो बाण इधर लाओ, मैं ही पढता हूँ।

(कञ्चुकी वैसा ही करता है, राजा बाण पर लिखे हुए नाम के अक्षरों को पढकर सोचते हैं।)

कञ्चुकी—तब तक मैं चलकर अपना कार्य देखता हूँ। (चला जाता है)

विदूषक—आप क्या सोच रहे हैं ?

राजा—उस पक्षी को मारने वाले का नाम सुनो।

विदूषक—मैं सुनने के लिए सावधान हूँ।

राजा—सुनो। (बाँचता है)

उर्वशीसम्भवस्यायमैलसूनोर्धनुष्मतः ।
कुमारस्यायुषो वाणः प्रहर्तुर्द्विषदायुषाम् ॥७॥

विदूषकः—(सपरितोषम्।) दिट्ठिआ संताणेण वड्ढदि भवं। [दिष्ट्या सन्तानेन वर्धते भवान्।]

राजा—सखे! कथमेतत्? अन्यत्र नैमिषेयसत्रादवियुक्तोऽहमुर्वश्या। न च मया कदाचिदपि गर्भव्यक्तिरालक्षिता कुत एव प्रसूतिः? किन्तु—

आविलपयोधराग्रं लवलीदलपाण्डुराननच्छायम्।
कानि दिनानि वपुरभूत्केवलमलसेक्षणं तस्याः ॥८॥

विदूषकः—मा भवं सव्वं माणुसीधम्मं दिव्वासु संभावेदु। प्पहावणिगूढाइं ताणं चरिदाइं। [मा भवान् सर्वे मानुषीधर्मे दिव्यासु सम्भावयतु। प्रभावनिगूढानि तासां चरितानि।]

राजा—अस्तु, तावदेवं यथा भवानाह। पुत्रसंवरणे तु किमिव कारणं तत्रभवत्याः?

विदूषकः—मा बुड्ढिं मं राआ परिहरिस्सदि त्ति। [मा वृद्धां मां राजा परिहरिष्यतीति।]

राजा—कृतं परिहासेन। चिन्त्यताम्।

विदूषकः—को देवदारहस्साइं तक्कइस्सदि? [को देवतारहस्यानि तर्कयिष्यति?]

(प्रविश्य कञ्चुकी)

कञ्चुकी—जयतु जयतु देवः। देव! च्यवनाश्रमात्कुमारं गृहीत्वा सम्प्राप्ता तापसी देवं द्रष्टुमिच्छति।

राजा—उभयमप्यविलम्बितं प्रवेशय।

यह वाण पुरूरवा और उर्वशी के धुनर्धारी पुत्र आयु नामक उस राजकुमार का है जो शत्रुओं की आयु का नाश कर देता है॥७॥

विदूपक—(सन्तोष के साथ) आपको पुत्रप्राप्ति की वधाई।

राजा—मित्र! पर ऐसा कैसे हुआ? नैमिपेय यज्ञ को छोडकर मैं कभी उर्वशी से अलग नहीं रहा और न मैंने कभी भी उर्वशी में गर्भ होने के लक्षण ही देखे, फिर यह वालक कैसे उत्पन्न हुआ? किन्तु—

अभी कुछ दिन पहले मैंने देखा था कि उसकी आँखें अलमायी रहती थीं, उसका मुख लवली के पत्तों के समान पीला पड़ गया था और उसके स्तनों की घुंडियाँ (चूचुक) साँवली पड गयीं थीं॥८॥

विदूपक—आप सामान्य स्त्रियों वाली वातों की तुलना अप्सराओं से न करें। उनके चरित्र दैवी प्रभाव से छिपे रहते हैं।

राजा—अच्छा जैसा आप कहते हैं यदि वैसा ही मान लिया जाय तो पुत्र को छिपाने में उर्वशी का क्या अभिप्राय होगा?

विदूपक—मुझे वृद्धा समझकर महाराज कहीं छोड़ न दे?

राजा—वहुत हो गया हास-परिहास से, ध्यान से सोचो।

विदूपक—भला देवताओं की वातों का रहस्य कौन जान सकता है?

(कञ्चुकी का प्रवेश)

कञ्चुकी—महाराज की जय हो, जय हो। महाराज! च्यवन ऋषि के आश्रम से एक कुमार को साथ लिये हुए एक तपस्विनी आयी हैं। वे आपका दर्शन करना चाहती हैं।

राजा—दोनों को ही शीघ्र भीतर ले आओ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः।

(इति निर्गम्य चापहस्तेन कुमारेण तापस्या च सह प्रविष्टः।)

कञ्चुकी—इत इतो भगवती। (सर्वे परिक्रामन्ति)

विदूषकः—(विलोक्य) किं णु क्खु सो एसो तत्तभवं खत्तिअकुमारओ जस्स णामंकिदो गिद्धलक्खवेधी अद्धणाराओ। तह हि बहुअरं भवदो अणुकरेदि। [**किं नु खलु स एष तत्रभवान्क्षत्रियकुमारको यस्य नामाङ्कितो गृध्रलक्ष्यवेधी नाराचः। तथा हि बहुतरं भवतोऽनुकरोति।**]

राजा—स्यादेवम्। अतः खलु—

बाष्पायते निपतिता मम दृष्टिरस्मिन् वात्सल्यबन्धि हृदयं मनसः प्रसादः।
सञ्जातवेपथुभिरुज्झितधैर्यवृत्तिरिच्छामि चैनमदयं परिरब्धुमङ्गैः ॥९॥

कञ्चुकी—भगवति! एवं स्थीयताम्।

(तापसीकुमारौ स्थितौ)

राजा—अम्ब! अभिवादये।

तापसी—*महाभाग! सोमवंसवित्थारइत्तओ होहि। (आत्मगतम्) अम्हो, अणाचक्खिदो* वि विण्णादो एव्व इमस्स राएसिणो आउसो अओरसो संबंधो। (प्रकाशम्) जाद प्पणम दे गुरुं। [**महाभाग! सोमवंशविस्तारयिता भव। अहो, अनाख्यातोऽपि विज्ञात एवास्य राजर्षेरायुषश्च औरसः सम्बन्धः। जात! प्रणम ते गुरुम्।**]

(कुमारश्चापगर्भमञ्जलिं बद्ध्वा प्रणमति)

राजा—वत्स! आयुष्मान् भव।

कुमारः—(स्वगतम्)

काञ्चुकी—जैसी महाराज की आज्ञा।

(बाहर जाकर धनुषधारी कुमार तथा तापसी को साथ लेकर प्रवेश)

कञ्चुकी—देवी इधर से आइए, इधर से। **(सभी घूमते हैं।)**

विदूषक—**(देखकर)** कहीं यह वही क्षत्रियकुमार न हो जिसके नाम से युक्त वह गिद्ध पर चलाया हुआ बाण मिला है। इसका स्वरूप भी महाराज से मिलता-जुलता है।

राजा—ऐसा हो सकता है। अतएव इसे देखते ही मेरी आँखें भर आई हैं, हृदय में वात्सल्य रस उमड़ पड़ा है, जिससे मन प्रसन्न हो गया, मेरा शरीर अधीर होकर काँपने लगा है और मेरा मन कर रहा है कि इसे अपने अंगों से सटा लूँ॥९॥

कञ्चुकी—भगवती! यहाँ बैठिए।

(तपस्विनी तथा कुमार बैठते हैं।)

राजा—माताजी! मैं प्रणाम करता हूँ।

तापसी—महाभाग! आप चन्द्रवंश को बढाने वाले हों। **(मन ही मन में)** अरे! बिना बतलाये ही मालूम हो रहा है कि इस राजा तथा कुमार का सगा सम्बन्ध है। **(प्रकट में)** पुत्र! अपने पिताजी को प्रणाम करो।

(हाथ में धनुष लिये हुए ही कुमार हाथ जोड़कर प्रणाम करता है।)

राजा—वत्स! तुम दीर्घायु होओ।

कुमार—**(मन ही मन)**

यदि हार्दमिदं श्रुत्वा पिता ममायं सुतोऽहमस्येति ।
उत्सङ्गवर्धितानां गुरुषु भवेत् कीदृशः स्नेहः ॥ १० ॥

राजा—भगवति ! किमागमनप्रयोजनम् ?

तापसी—सुणादु महाराओ। एसो दीहाऊ आउ जादमेत्तो एव्व उव्वसीए किंवि णिमित्तं अवेक्खिअ मम हत्थे णासीकिदो। जं खत्तिअकुमारअस्स जादकम्मादि विहाणं तं से भअवदा चवणेण असेसं अणुचिट्ठिदं। गहीदविज्जो धणुव्वेदे अहिविणीदो। [शृणोतु महाराजः। एष दीर्घायुरायुर्जातमात्र एव उर्वश्या किमपि निमित्तमवेक्ष्य मम हस्ते न्यासीकृतः। यत्क्षत्रियकुमारस्य जातकर्मादिविधानं तदस्य भगवता च्यवनेनाशेषमनुष्ठितम्। गृहीतविद्यो धनुर्वेदेऽभिविनीतः।]

राजा—सनाथः खलु संवृत्तः।

तापसी—अज्ज! पुप्फसमिधकुसणिमित्तं इसिकुमारएहिं सह गदेण इमिणा अस्समविरुद्धं आअरिदं। [अद्य पुष्पसमित्कुशानिमित्तमृषिकुमारकैः सह गतेनानेनाश्रमविरुद्धमाचरितम्।]

विदूषकः—(सावेगम्) किं विअ ? [किमिव ?]

तापसी—गहीदामिसो किल गिद्धो पादवसिहरे णिलीअमाणो अणेण लक्खीकिदो वाणस्स। [गृहीतामिषः किल गृध्रः पादपशिखरे निलीयमानोऽनेन लक्ष्यीकृतो वाणस्य।]

(विदूषको राजानमवलोकयति)

राजा—ततस्ततः ?

तापसी—तदो उवलद्धवुत्तंतेण भअवदा चवणेण अहं समादिट्ठा—णिज्जादेहि एदं उव्वसीहत्थे णासं त्ति। ता इच्छामि देविं उव्वसिं पेक्खिदुं। [तत उपलब्धवृत्तान्तेन भगवता च्यवनेनाहं समादिष्टा—निर्यातयैनमुर्वशीहस्ते न्यासमिति। तदिच्छामि देवीमुर्वशीं प्रेक्षितुम्।]

जब केवल यह सुनकर ही कि ये मेरे पिता है और मैं इनका पुत्र हूँ, इतना प्रेम उमड़ रहा है, तब उन बालको को अपने माता-पिता के प्रति कितना प्रेम होता होगा, जो उन्हीं की गोद में पलकर बडे होते होंगे॥ १० ॥

राजा—भगवती ! आपका कैसे यहाँ आगमन हुआ ?

तापसी—सुनिए महाराज! जब यह दीर्घायु 'आयु' उत्पन्न हुआ तभी उर्वशी ने कुछ कारण सोचकर मेरे पास इसे धरोहर के रूप में रख दिया था। इस क्षत्रिय राजकुमार के जातकर्म आदि समस्त संस्कार भगवान् च्यवन मुनि ने किये । पढ़-लिख चुकने के बाद यह धनुर्विद्या में निपुण है।

राजा—तब तो यह सनाथ हो चुका है।

तापसी—आज फूल, समिधा तथा कुश लाने के लिए जब यह ऋषिकुमारों के साथ जा रहा था तब इसने आश्रम के नियम से विपरीत काम कर डाला।

विदूषक—(घबराकर) कैसा ?

तापसी—मांस का टुकडा लिया हुआ एक गीध पेड की चोटी पर छिपा था, उसे इसने अपने वाण से मार डाला।

(विदूषक राजा की ओर देखता है।)

राजा—उसके बाद ?

तापसी—इस समाचार को सुनकर भगवान् च्यवन ने मुझे आदेश दिया कि इस उर्वशी की धरोहर को उसे लौटा दो। तो मैं देवी उर्वशी को देखना चाहती हूँ।

राजा—तेन ह्यासनमनुगृह्णातु भगवती।

(तापसी उपनीतं आसन उपविशति)

राजा—आर्य लातव्य! आहूयतामुर्वशीम्।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रान्तः)

राजा—(कुमारमवलोक्य) एहि एहि वत्स!

सर्वाङ्गीणः स्पर्शः सुतस्य किल तेन मामुपगतेन ।
आह्लादयस्व तावच्चन्द्रकरश्चन्द्रकान्तमिव ॥ ११ ॥

तापसी—जाद! णदेहि पिदरम्। [जात! नन्दय पितरम्।]

(कुमारो राजानमुपगम्य पादग्रहणं करोति)

राजा—(कुमारमालिङ्ग्य पादपीठे चोपवेश्य) वत्स! इतस्तव पितुः प्रियसखं ब्राह्मणमशङ्कितो वन्दस्व।

विदूषकः—किंति संकिस्सदि? णं अस्समवासपरिचिदो एव्व साहामिओ। [किमिति शङ्किष्यते? नन्वाश्रमवासपरिचित एव शाखामृगः।]

कुमारः—(सस्मितम्) तात वन्दे।

विदूषकः—सोत्थि भवदो। बड्ढदु भवं। [स्वस्ति भवतः। वर्धतां भवान्।]

(ततः प्रविशत्युर्वशी कञ्चुकी च)

कञ्चुकी—इत इतो देवी।

उर्वशी—(कुमारमवलोक्य) को णु क्खु एसो सचाणासणो पादपीठे सअं महाराएण संजमीअमाणसिहंडओ चिट्ठदि? (तापसीं दृष्ट्वा) अम्मो! सच्चवदी सूइदो अअं मे पुत्तओ आऊ।

राजा—तब तक आप आसन को सुशोभित कीजिए।

(तापसी दिये गये आसन पर बैठ जाती है)

राजा—आर्य लातव्य! उर्वशी को बुलाओ।

कञ्चुकी—महाराज की जैसी आज्ञा। (ऐसा कहकर चला जाता है)

राजा—(कुमार को देखकर) पुत्र! इधर आओ, इधर आओ।

कहा जाता है कि पुत्र का स्पर्श करते ही सम्पूर्ण शरीर सुखी हो जाता है। अतः तुम भी मेरे समीप आकर मुझे भी वैसा ही आनन्द दो जैसे चन्द्रमा की किरणें चन्द्रकान्त मणि को आनन्दित करती है॥ ११ ॥

तापसी—पुत्र! अपने पिताजी को सुखी करो।

(कुमार राजा के पास जाकर राजा के पैर छूता है।)

राजा—(कुमार का आलिंगन कर चरणों के पास स्थित आसन पर बैठाकर) बेटा! अपने पिता के प्रियमित्र इन ब्राह्मण को भी निःशंक होकर प्रणाम करो।

विदूषक—शंका किस बात की? आश्रम में रहते समय इनका परिचय वानरों से तो हुआ ही होगा।

कुमार—(मुस्कराकर) तात! प्रणाम।

विदूषक—तुम्हारा कल्याण हो, तुम फूलो-फलो।

(तदनन्तर उर्वशी और कञ्चुकी का प्रवेश)

कञ्चुकी—देवी! इधर से आइए, इधर से।

महंतो क्खु संवुत्तो। [को नु खल्वेष सबाणासनः पादपीठे स्वयं महाराजेन संयम्यमानशिखण्डकस्तिष्ठति? अहो! सत्यवतीसूचितोऽयं मे पुत्रक आयुः। महान् खलु संवृत्तः।]

(इति सहर्ष परिक्रामति)

राजा—(उर्वशीं दृष्ट्वा) वत्स!

इयं ते जननी प्राप्ता त्वदालोकनतत्परा।
स्नेहप्रस्रवनिर्भिन्नमुद्वहन्ती स्तनांशुकम्॥ १२॥

तापसी—जाद! एहि। पच्चुग्गच्छ मादरं। [जात! एहि। प्रत्युद्गच्छ मातरम्।] (इति कुमारेण सह उर्वशीमुपसर्पति।)

उर्वशी—अंब! पादवंदणं करेमि। [अम्ब! पादवन्दनं करोमि।]

तापसी—वच्छे! भत्तुणो बहुमदा होहि। [वत्से! भर्तुर्बहुमता भव।]

कुमार—अम्ब! अभिवादये।

उर्वशी—(कुमारमुन्नमितमुखं परिष्वज्य) वच्छ! पिदरं आराधइत्तओ होहि। (राजानमुपेत्य) जेदु जेदु महाराओ। [वत्स! पितरमाराधयिता भव। जयतु जयतु महाराजः।]

राजा—स्वागतं पुत्रवत्यै। इत आस्यताम्। (इत्यर्धासनं ददाति)

(उर्वशी उपविशति। सर्वे यथोचितमुपविशन्ति।)

तापसी—वच्छे! एसो गहीदविज्जो आऊ संपदं कवअहरो संवुत्तो। ता एदस्स दे भत्तुणो समक्खं णिज्जादिदो हत्थणिक्खेवो। ता विसज्जेदुं इच्छामि। उवरुज्झइ मह अस्समधम्मो। [वत्से! एष गृहीतविद्य आयुः साम्प्रतं कवचहरः संवृत्तः, तदेतस्य ते भर्तुः समक्षं निर्यातितो हस्तनिक्षेपः। तद्विसर्जयितुमिच्छामि। उपरुध्यते ममाश्रमधर्मः।]

उर्वशी—(कुमार को देखकर) यह हाथ में धनुष-बाण लिये कौन है, जिसे अपने पादपीठ पर बैठाकर महाराज स्वयं उसके केशों को सँवार रहे हैं। (तापसी को देखकर) अरे! सत्यवती को देखकर समझ में आया है कि यह मेरा पुत्र आयु है। यह तो बहुत बड़ा हो गया।

(अत्यन्त प्रसन्न होकर घूमती है।)

राजा—(उर्वशी को देखकर) पुत्र! ये तुम्हारी माताजी आ गयी, जो तुम्हारी ओर टकटकी लगाये देख रही है और जिनकी चोली तुम्हारे प्रेम के कारण टपकते हुए दूध से भीग रही है॥ १२॥

तापसी—पुत्र! यहाँ आओ, आगे बढ़कर माता का स्वागत करो। (कुमार को लेकर उर्वशी से मिलने के लिए आगे बढ़ती है।)

उर्वशी—माताजी! आपको मैं प्रणाम करती हूँ।

तापसी—अपने स्वामी की प्यारी बनी रहो।

कुमार—माताजी! प्रणाम करता हूँ।

उर्वशी—(कुमार के मुख को उठाकर आलिंगन कर) बेटा! पिता की सेवा करने वाले बनो। (राजा के पास जाकर) महाराज की जय हो, जय हो।

राजा—पुत्रवती का स्वागत है। यहाँ बैठिए। (अपने आसन का आधा भाग उसे देता है।)

(उर्वशी बैठती है। शेष सभी यथास्थान बैठते हैं।)

तापसी—पुत्री! यह आयु सभी विद्याओं को पढ चुका है। अब यह कवच धारण करने योग्य हो गया है। अतः मैं तुम्हारी इस धरोहर को तुम्हारे स्वामी को सौंप रही हूँ। अब मैं यहाँ से जाना भी चाहती हूँ, क्योंकि मेरे आश्रम के कार्यों में बाधा पड रही है।

उर्वशी—चिरस्स अज्जं देक्खिअ अहिअदरं अवितिण्हम्हि। ण सक्कणोमि विसज्जिदुं। अणण्यं उण उवरोहिदुं। ता गच्छदु अज्जा पुणो दंसणाअ। [चिरस्यार्यां दृष्ट्वाऽधिकतरमवितृष्णास्मि। न शक्नोमि विस्रष्टुम्। अन्याय्यं पुनरुपरोद्धुम्। तद्गच्छत्वार्या पुनर्दर्शनाय।]

राजा—अम्ब! भगवते च्यवनाय मां प्रणिपातय।

तापसी—एव्वं भोदु। [एवं भवतु।]

कुमारः—आर्ये! सत्यं यदि निवर्तसे मामप्याश्रमं नेतुमर्हसि।

राजा—अयि वत्स! उषितं त्वया पूर्वस्मिन्नाश्रमे। द्वितीयमध्यासितुं तव समयः।

तापसी—जाद! गुरुअणो वअणं अणुचिट्ठ। [जात! गुरोर्वचनमनुतिष्ठ।]

कुमारः—तेन हि—

यः सुप्तवान्मदङ्के शिखण्डकण्डूयनोपलब्धसुखः।
तं मे जातकलापं प्रेषय मणिकण्ठकं शिखिनम्॥ १३॥

तापसी—(विहस्य) एव्वं करेमि। [एवं करोमि।]

उर्वशी—भअवदि! पादवंदणं करेमि। [भगवति! पादवन्दनं करोमि।]

राजा—भगवति! प्रणमामि।

तापसी—सोत्थि भोदु तुम्हाणम्। [स्वस्ति भवतु युष्मभ्यम्।]

(इति निष्क्रान्ता)

राजा—(उर्वशीं प्रति) कल्याणि!

अद्याहं पुत्रिणामग्र्यः सत्पुत्रेणामुना तव।
पौलोमीसम्भवेनेव जयन्तेन पुरन्दरः॥ १४॥

उर्वशी—इतने समय के बाद आपके दर्शन हुए हैं, अभी आपको देखकर मन भी नहीं भरा, अतः आपको छोडने का मन नहीं कर रहा है। आपको रोकना भी उचित नहीं है, तो आप जायें, फिर दर्शन दीजियेगा।

राजा—भगवान् च्यवन मुनि से मेरा प्रणाम कहियेगा।

तापसी—ऐसा ही होगा।

कुमार—आर्ये! यदि सचमुच यहाँ से लौट रही हैं तो मुझे भी आश्रम में लेते जाइये।

राजा—अरे बेटे! तुम ब्रह्मचर्य आश्रम में तपोवन में रह चुके हो, अब तुम्हारा समय गृहस्थाश्रम में रहने का है।

तापसी—पुत्र! पिता की आज्ञा का पालन करो।

कुमार—यदि ऐसा ही है तो आप मेरे उस बडे पंखों वाले मणिकण्ठक नामक मोर को यहाँ भेज दीजियेगा, जिसे मेरी गोद में सोकर मेरे हाथों से खुजलाये जाने का सुख मिल चुका है॥ १३॥

तापसी—(हँसकर) अच्छा भेज दूँगी।

उर्वशी—भगवती! मैं आपके चरणों में प्रणाम करती हूँ।

राजा—भगवती! मैं प्रणाम करता हूँ।

तापसी—तुम सबका कल्याण हो।

(ऐसा कहकर चली जाती है।)

राजा—(उर्वशी के प्रति) कल्याणी! तुम्हारे इस पुत्र के कारण आज मैं सत्पुत्रवालों में उस प्रकार अग्रगण्य हो गया हूँ जैसे इन्द्राणी से उत्पन्न जयन्त के कारण देवराज इन्द्र॥ १४॥

(उर्वशी स्मृत्वा रोदिति)

विदूषकः—(विलोक्य सावेगम्) भो ! किं णु क्खु संपदं अत्तहोदी एक्कवदे अस्सुमुही संवुत्ता। [भोः ! किं नु खलु साम्प्रतमत्रभवती एकपदे अश्रुमुखी संवृत्ता।]

राजा—(सावेगम्)

किं सुन्दरि! प्ररुदितासि ममोपनीते वंशस्थितेरधिगमान्महति प्रमोदे।
पीनस्तनोपरिनिपातिभिरानयन्ती मुक्तावलीविरचनां पुनरुक्तिमस्त्रैः ॥ १५ ॥

(इति अस्या बाष्पं प्रमार्ष्टि)

उर्वशी—सुणादु महाराओ। प्पढमं उण पुत्तदंसणसमुत्थेण आणंदेण विसुमरिद म्हि। दाणिं महिंदसंकित्तणेण सुमरिओ समओ मह हिअअं आआसेदि। [शृणोतु महाराजः। प्रथमं पुनः पुत्रदर्शनसमुत्थेनानन्देन विस्मृतास्मि। इदानीं महेन्द्रसङ्कीर्तनेन स्मृतः समयो मम हृदयमायासयति।]

राजा—कथ्यतां समयः।

उर्वशी—अहं पुरा महाराअगहीदहिअआ गुरुसावसम्मूढा महिंदेण आणत्ता। [अहं पुरा महाराजगृहीतहृदया गुरुशापसम्मूढा महेन्द्रेण आज्ञापिता।]

राजा—किमिति ?

उर्वशी—जदा सो मे पिअसहो राएसी तुइ समुप्पण्णस्स वंसकरस्स मुहं पेक्खिस्सदि तदा तुए भूओ वि मम समीवं आअंतव्वं त्ति। तदो मए महाराअविओअभीरुदाए जादमेत्तो एव्व विज्जागमणिमित्तं भअवदो चवणस्स अस्समे एसो पुत्तओ अज्जाए सच्चवदीए हत्थे अप्पआसं णिक्खित्तो। अज्ज पिदुणो आराहणसमत्थे संवुत्तो त्ति कलअंतीए ताए णिज्जादिदो एसो मे दीहाऊ आऊ। ता एत्तिओ मे महाराएण सह संवासो। [यदा स मे प्रियसखो राजर्षिस्त्वयि समुत्पन्नस्य वंशकरस्य मुखं प्रेक्षिष्यते तदा त्वया भूयोऽपि मम समीपमागन्तव्यमिति। ततो मया महाराजवियोगभीरुतया जातमात्र एव विद्यागमनिमित्तं

(उर्वशी कुछ स्मरण कर रोने लगती है।)

विदूषक—(देखकर घबराकर) अरे! यह क्या हो गया, जो अचानक ही आपकी आँखों में आँसू आ गये हैं।

राजा—(घबराकर) सुन्दरी! तुम ऐसे आनन्द के अवसर पर रुदन कर रही हो जब मेरे वंश को बढ़ाने वाला मुझे सुयोग्य पुत्र मिला है। तुम अपने पीन स्तनों पर गिरने वाले आँसुओं से पुनरुक्त दोष की भाँति दूसरी हार ही लड़ी क्यों बना रही हो ? ॥ १५ ॥

(ऐसा कहकर उसके आँसुओं को पोंछता है।)

उर्वशी—महाराज! सुनिए। पहले तो मैं पुत्रदर्शन के आनन्द से सब कुछ भूल गयी थी। उसके बाद जो आपने पुरन्दर का नाम लिया तो मुझे एक पुरानी बात याद हो आयी, जो मेरे हृदय को पीड़ा पहुँचा रही है।

राजा—कहिए, वह बात क्या है ?

उर्वशी—बहुत दिन पहले आपसे प्रेम करने के कारण भरत मुनि ने मुझे शाप दे दिया था। उस शाप से मैं बहुत घबरा गयी, तब देवराज इन्द्र ने मुझे आज्ञा दी थी।

राजा—कैसी आज्ञा दी थी ?

उर्वशी—यही कि तुम्हारे प्रिय मित्र राजर्षि जब तुमसे उत्पन्न हुए अपने वंश चलानेवाले पुत्र का मुख देख लेंगे तब तुम्हें फिर मेरे पास आ जाना चाहिए। इसलिए जैसे ही मुझे यह बालक उत्पन्न

भगवतश्च्यवनस्याश्रमे एष पुत्रक आर्यायाः सत्यवत्या हस्तेऽप्रकाशं निक्षिप्तः। अद्य पितुराराधनसमर्थः संवृत्त इति कलयन्त्या तया निर्यातित एष मे दीर्घायुरायुः। तदेतावान्मे महाराजेन सह संवासः।]

(सर्वे विषादं नाटयन्ति। राजा मोहमुपगच्छति।)

विदूषकः—अब्वम्हण्णं अब्वम्हण्णं। [अब्रह्मण्यमब्रह्मण्यम्।]

कञ्चुकी—समाश्वसितु समाश्वसितु महाराजः।

राजा—(समाश्वस्य सनिःश्वासम्) अहो! सुखप्रत्यर्थिता दैवस्य।

आश्वासितस्य मम नाम सुतोपलब्ध्या सद्यस्त्वया सह कृशोदरि विप्रयोगः ।
व्यावर्तितातपरुजः प्रथमाभ्रवृष्ट्या वृक्षस्य वैद्युत इवाग्निरुपस्थितोऽयम् ॥ १६॥

विदूषकः—अअं सो अत्थो अणत्थाणुबंधो संवुत्तो। संपदं तक्केमि अत्तभवदा वक्कलं गेण्हिअ तवोवणं गंदव्वं त्ति। [अयं सोऽर्थोऽनर्थानुबन्धः संवृत्तः। साम्प्रतं तर्कयाम्यत्रभवता वल्कलं गृहीत्वा तपोवनं गन्तव्यमिति।]

उर्वशी—मं वि मंदभाइणिं किदविणअस्स पुत्तस्स लाभाणंतरं सग्गारोहणेण अवसिदकज्जं विप्पओअमुहिं महाराओ समत्थइस्सदि। [मामपि मन्दभागिनीं कृतविनयस्य पुत्रस्य लाभानन्तरं स्वर्गारोहणेनावसितकार्या विप्रयोगमुखीं महाराजः समर्थयिष्यति।]

राजा—सुन्दरि! मा मैवम्—

न हि सुलभवियोगा कर्तुमात्मप्रियाणि प्रभवति परवत्ता शासने तिष्ठ भर्तुः ।
अहमपि तव सूनावद्य विन्यस्य राज्यं विचरितमृगयूथान्याश्रयिष्ये वनानि ॥ १७॥

हुआ वैसे ही मैंने इस डर से इस नवजात शिशु को भगवान् च्यवन के आश्रम में विद्याप्राप्ति के निमित्त आर्या सत्यवती के पास धरोहर रख छोड़ा था। क्योंकि यदि आप इसे देख लेते तो मेरा आपका वियोग हो जाता। आज पिता की सेवा के योग्य हो गया है, ऐसा विचार कर इस दीर्घायु आयु को मेरे पास भेज दिया। इसलिए आज तक आप ही के साथ मेरा सहवास काल है।

(सब दुःखी हो जाते हैं। राजा मूर्च्छित हो जाते हैं।)

विदूषक—यह तो बड़ा बुरा हुआ, बड़ा बुरा हुआ।

कञ्चुकी—महाराज! धैर्य रखिए, धैर्य रखिए।

राजा—(आश्वस्त होकर लम्बी साँस लेते हुए) अरे! मेरा भाग्य मुझे सुखी नहीं होने देता।

आज ही पुत्र को पाकर मैं आश्वस्त हुआ था। हे कृशोदरी! शीघ्र ही तुमसे मेरा बिछोह होने जा रहा है। यह तो ठीक ऐसा ही हुआ जैसे पहली वर्षा से शीतल हुए पेड पर अचानक बिजली गिर पड़ी हो॥ १६॥

विदूषक—मुझे तो लगता है अब अनर्थों का क्रम चालू हो गया है। अब मैं सोचता हूँ कि कहीं आपको वल्कल धारण कर तपोवन न जाना पडे।

उर्वशी—मुझ अभागिन के लिए भी महाराज यही सोचते होंगे कि पढे-लिखे पुत्र को पा जाने से इसका काम हो गया, इसीलिए अब यह मुझे छोडकर स्वर्ग को चली जा रही है।

राजा—सुन्दरी! ऐसा मत कहो।

जिस पराधीनता के कारण तुम मुझे छोडकर जा रही हो, उससे मनचाही वस्तु तो मिल नहीं सकती। इसलिए तुम अपने स्वामी (इन्द्र) की आज्ञा का पालन करो। मैं भी तुम्हारे पुत्र को आज राज्यभार सौंपकर इधर-उधर घूमने वाले हरिणों के झुंड वाले वनों का आश्रय लूँगा॥ १७॥

कुमारः—नार्हति तातः पुङ्गवधारितायां धुरि दम्यं नियोजयितुम्।

राजा—अयि वत्स! मा मैवम्—

शमयति गजानन्यान्गन्धद्विपः कलभोऽपि सन्
भवति सुतरां वेगोदग्रं भुजङ्गशिशोर्विषम्।
भुवमधिपतिर्बालावस्थोऽप्यलं परिरक्षितुं
न खलु वयसा जात्यैवायं स्वकार्यसहो भरः ॥१८॥

आर्य लातव्य!

कञ्चुकी—आज्ञापयतु देवः।

राजा—मद्वचनादमात्यपरिषदं ब्रूहि सम्भ्रियतामायुषो राज्याभिषेक इति।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इति दुःखितो निष्क्रान्तः)

(सर्वे दृष्टिविघातं रूपयन्ति)

राजा—(आकाशमवलोक्य।) किं नु खलु निरभ्रे विद्युत्सम्पातः।

उर्वशी—(विलोक्य) अम्मो, भअवं णारदो। [अहो! भगवान् नारदः।]

राजा—(निपुणमवलोक्य।) अये भगवान् नारदः। य एषः—

गोरोचनानिकषपिङ्गजटाकलापः संलक्ष्यते शशिकलामलवीतसूत्रः।
मुक्तागुणातिशयसम्भृतमण्डनश्रीः हेमप्ररोह इव जङ्गमकल्पवृक्षः ॥१९॥

अर्घ्यं तावदस्मै।

कुमार—पिताजी! रथ के जिस जुए को बड़ा बैल खींचता हो, उसे छोटे बछड़े के कन्धे पर डाल देना उचित नहीं है।

राजा—बेटा! ऐसा मत कहो। जैसे ऊँची जाति का हाथी का बच्चा भी दूसरे (सामान्य) हाथियों को पछाड़ देता है और सँपोले का विष भी बड़े साँप के विष जैसा ही तीक्ष्ण वेग वाला होता है, वैसे ही बालक होने पर भी राजा का पुत्र समुचित विधि से पृथ्वी की रक्षा कर सकता है। क्योंकि अपने कर्तव्य का पालन करने की शक्ति अवस्था से नहीं अपितु जाति से ही हो जाती है॥१८॥

आर्य लातव्य!

कञ्चुकी—महाराज! आज्ञा कीजिए।

राजा—मेरी ओर से मन्त्रिपरिषद् को सूचना दे दो कि 'आयु' के राज्याभिषेक का समुचित प्रबन्ध किया जाय।

कञ्चुकी—महाराज की जैसी आज्ञा। (दुःखी होकर चला जाता है।)

(सभी की आँखें चकाचौंध हो जाती हैं।)

राजा—(आकाश की ओर देखकर) अरे! बादलों से रहित आकाश में यह बिजली कैसी?

उर्वशी—(देखकर) अरे! ये तो भगवान् नारद हैं।

राजा—(ध्यान से देखकर) अरे! भगवान् नारद, जो गोरोचन के सदृश पीली जटाओं वाले, कन्धे पर चन्द्रकला के समान जनेऊ पहने, गले में मोतियों की माला धारण किये ऐसे चले आ रहे हैं जैसे कोई चलता-फिरता कल्पवृक्ष ही हो॥१९॥

इनके लिए पूजा की सामग्री ले आओ।

उर्वशी—(यथोक्तमादाय) इअं भअवदे अरिहणा। [इयं भगवतेऽर्हणा।]

(ततः प्रविशति नारदः। सर्वे उत्तिष्ठन्ति)

नारदः—विजयतां विजयतां मध्यमलोकपालः।

राजा—(उर्वशीहस्तादर्घ्यमादायावर्ज्य च) भगवन्नभिवादये।

उर्वशी—भअवं! प्पणमामि। [भगवन्! प्रणमामि।]

नारदः—अविरहितौ दम्पती भूयास्ताम्।

राजा—(आत्मगतम्) अपि नामैवं स्यात्। (कुमारमाश्लिष्य प्रकाशम्) वत्स! भगवन्तमभिवादयस्व।

कुमारः—भगवन्! और्वशेय आयुः प्रणमति।

नारदः—आयुष्मानेधि।

राजा—अयं विष्टरोऽनुगृह्यताम्।

नारदः—तथा। (इत्युपविष्टः)

(सर्वे नारदमनूपविशन्ति

राजा—(सविनयम्) भगवन्! किमागमनप्रयोजनम् ?

नारदः—राजन्! श्रूयतां महेन्द्रसन्देशः।

राजा—अवहितोऽस्मि ?

नारदः—प्रभावदर्शी मघवा वनगमनाय कृतबुद्धिं भवन्तमनुशास्ति।

उर्वशी—(सब सामग्री लाकर) यह भगवान् की पूजा की सामग्री है।

(इसी बीच नारद का प्रवेश। सब खड़े हो जाते हैं।)

नारद—मध्यमलोक की रक्षा करने वाले महाराज की जय हो, जय हो।

राजा—(उर्वशी के हाथ से पूजा की सामग्री लेकर और पूजा करके) भगवन्! आप॰ प्रणाम करता हूँ।

उर्वशी—भगवन्! मैं आपको प्रणाम करती हूँ।

नारद—तुम दोनों पति-पत्नी का कभी विछोह न हो।

राजा—(मन ही मन) यदि नारद के आशीर्वाद के अनुरूप हो जाता ? (कुमार को गले लगाकर प्रकट में) बेटा! भगवान् नारद को प्रणाम करो।

कुमार—भगवन्! उर्वशी का पुत्र आयु आपको प्रणाम करता है।

नारद—तुम्हारी आयु बड़ी हो।

राजा—देवर्षि! इस आसन को पवित्र कीजिए।

नारद—अच्छी बात है। (बैठ जाते हैं)

(नारद के बैठने के बाद सब बैठ जाते हैं।)

राजा—(विनम्रता के साथ) भगवन्! कैसे आने का कष्ट किया ?

नारद—राजन्! महेन्द्र के सन्देश को सुनिए।

राजा—मैं सावधान होकर सुन रहा हूँ।

नारद—अपने प्रभाव से सब कुछ देखने वाले देवराज इन्द्र ने वन जाने के लिए दृढ़निश्चय वाले आपके लिए कहलवाया है।

राजा—किमाज्ञापयति ?

नारदः—त्रिकालदर्शिभिर्मुनिभिरादिष्टो महान्सुरासुरसङ्गरो भावी। भवाँश्च सांयुगीनः सहायो नः। तेन न त्वया शस्त्रं संन्यस्तव्यम्। इयं चोर्वशी यावदायुस्तव सहधर्मचारिणी भवत्विति।

उर्वशी—(अपवार्य) अम्महे, सल्लं विअ मे हिअआदो अवणीदं। [अहो! शल्यमिव मे हृदयादपनीतम्।]

राजा—परवानस्मि देवेश्वरेण।

नारदः—युक्तम्—

त्वत्कार्यं वासवः कुर्यात्त्वं च तस्येष्टमाचरेः।
सूर्यः समेधयत्यग्निमग्निः सूर्यं च तेजसा ॥२०॥

(आकाशमवलोक्य) रम्भे! उपनीयतां स्वयं महेन्द्रेण सम्भृतः कुमारस्यायुषा यौवराज्याभिषेकः।

(प्रविष्टा यथोक्तहस्ताऽप्सरसः)

अप्सरसः—भअवं! इमे अभिसेअसम्भारा। [भगवन्नेतेऽभिषेकसम्भाराः।]

नारदः—उपवेश्यतामयमायुष्मान्भद्रपीठे।

रम्भा—इदो वच्छ। [इतो वत्स।] (इति कुमारं भद्रपीठ उपवेशयति)

नारदः—(कुमारस्य शिरसि कलशमावर्ज्य) रम्भे! निर्वर्त्यतां शेषो विधिः।

रम्भा—(यथोक्तं निर्वर्त्य) वच्छ! पणम भअवंतं पिदरो अ। [वत्स! प्रणम भगवन्तं पितरौ च।]

(कुमारो यथाक्रमं प्रणमति)

राजा—उन्होंने क्या आज्ञा दी है?

नारद—त्रिकालदर्शी मुनियों ने कहा है कि महान् देवासुर-संग्राम होने वाला है। युद्ध में आप कुशल हैं और हम लोगों के आप सहायक हैं। इसलिए आप अभी शस्त्रों को न छोड़े। यह उर्वशी जीवन भर आपकी संगिनी रहेगी।

उर्वशी—(हटकर) अरे! मेरे हृदय से तो काँटा जैसे निकल गया।

राजा—मैं तो देवराज इन्द्र का सेवक ही हूँ।

नारद—ठीक ही है। जैसे सूर्य अपने तेज़ से अग्नि की शक्ति को बढ़ाता है और अग्नि सूर्य को, वैसे ही इन्द्र तुम्हारा कार्य करें और तुम इन्द्र का कार्य करो॥२०॥

(आकाश की ओर देखकर) रम्भा! स्वयं इन्द्र ने कुमार आयु के युवराज बनने के उत्सव के लिए जो-जो सामग्री भेजी है, वह सब ले आओ।

(ऊपर कही हुई सामग्री लेकर अप्सराएँ आती हैं।)

अप्सराएँ—महाराज! अभिषेक की सामग्री आ गई।

नारद—आयुष्मान् को भद्रासन पर बैठाओ।

रम्भा—पुत्र! इधर आओ। (कुमार को भद्रपीठ पर बैठाती है।)

नारद—(कुमार के सिर पर अभिषेक करके) रम्भा! शेष विधि भी कर दो।

रम्भा—(विधिपूर्वक अभिषेक करके) पुत्र! नारदजी को और अपने माता-पिता को प्रणाम करो।

(कुमार क्रम से प्रणाम करता है।)

नारदः—स्वस्ति भवते।

राजा—कुलधुरन्धरो भव।

उर्वशी—पिदुणो आराहओ होहि। [**पितुराराधको भव।**]

(नेपथ्ये वैतालिकद्वयम्)

वैतालिकौ—विजयतां युवराजः।

प्रथमः— **अमरमुनिरिवात्रिर्ब्रह्मणोऽत्रेरिवेन्दु-**
र्बुध इव शिशिरांशोर्बोधनस्येव देवः।
भव पितुरनुरूपस्त्वं गुणैर्लोककान्तै-
रतिशयिनि समस्ता वंश एवाशिषस्ते ॥ २१ ॥

द्वितीयः— **तव पितरि पुरस्तादुन्नतानां स्थितेऽस्मिन्**
स्थितिमति च विभक्ता त्वय्यनाकम्पधैर्ये।
अधिकतरमिदानीं राजते राजलक्ष्मी-
र्हिमवति जलधौ च व्यस्ततोयेव गङ्गा ॥ २२ ॥

अप्सरसः—(उर्वशीमुपेत्य) दिट्ठिआ प्पिअसही पुत्तस्स जुवराअसिरीए भत्तुणो अविरहेण अ बड्ढदि। [**दिष्ट्या प्रियसखी पुत्रस्य युवराजश्रिया भर्तुरविरहेण च वर्धते।**]

उर्वशी—णं साहारणो एसो अब्भुदयो। (कुमारं हस्ते गृहीत्वा) एहि वच्छ! जेट्ठमादरं अभिवंदेहि। [**ननु साधारण एषोऽभ्युदयः। एहि वत्स! ज्येष्ठमातरमभिवन्दस्व।**]

(कुमारः प्रतिष्ठते)

राजा—तिष्ठ! सममेव तत्रभवत्याः समीपं यास्यामस्तावत्।

नारद—आपका कल्याण हो।

राजा—कुल के भार को धारण करने वाले बनो।

उर्वशी—पिता के आज्ञाकारी बनो।

(नेपथ्य में दो वैतालिक)

दोनों वैतालिक—युवराज की विजय हो।

पहला वैतालिक—तुम अपने पिता के वैसे ही सुयोग्य पुत्र बनो जैसे ब्रह्माजी के अमर मुनि अत्रि हुए, अत्रि के चन्द्रमा हुए, चन्द्रमा के बुध, बुध के पुरूरवा हुए हैं और तुम पिता के अनुरूप कमनीय गुणों वाले बनो। तुम्हारे इस अनुपम वंश के लिए यही आशीर्वाद उचित है॥ २१ ॥

दूसरा वैतालिक—तुम्हारे पिता ऊँचे लोगों में श्रेष्ठ है, उन्हीं के तुम साहसी एवं मर्यादापालक पुत्र हो। तुम दोनों (पिता-पुत्रों) में समान भक्ति रखने वाली यह राज्यलक्ष्मी वैसे ही शोभित होती है, जैसे हिमालय और समुद्र में भक्ति रखने वाली गंगा शोभा देती है॥ २२॥

अप्सराएँ—**(उर्वशी के पास जाकर)** सखी उर्वशी! पुत्र के यौवराज्याभिषेक और सदा पति के साथ रहने की तुम्हें बधाई है।

उर्वशी—यह सौभाग्य तो हम-तुम दोनों का समान जैसा ही है। **(कुमार का हाथ पकड़कर)** आओ पुत्र! बड़ी माताजी को प्रणाम करो।

(कुमार जाने के लिए तैयार होता है।)

राजा—रुको, हम सब साथ ही देवी के समीप चलते हैं।

नारदः— आयुषो यौवराज्यश्रीः स्मारयत्यात्मजस्य ते ।
अभिषिक्तं महासेनं सैनापत्ये मरुत्वता ॥ २३ ॥

राजा—अनुगृहीतोऽस्मि मघवता ।

नारदः—भो राजन्! किं ते भूयः प्रियमुपकरोतु पाकशासनः ?

राजा—यदि मे मघवा प्रसन्नः किमतः परमिच्छामि। तथापि इदमस्तु—

(भरतवाक्यम्)

परस्परविरोधिन्योरेकसंश्रयदुर्लभम् ।
सङ्गतं श्रीसरस्वत्योर्भूतयेऽस्तु सदा सताम् ॥ २४ ॥

अपि च—

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु ।
सर्वः कामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु ॥ २५ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

॥ इति पञ्चमोऽङ्कः ॥

॥ सम्पूर्णमिदं श्रीकालिदासकृतं विक्रमोर्वशीयं नाम त्रोटकम् ॥

नारद—तुम्हारे पुत्र आयु का यह यौवराज्याभिषेक उस अभिषेकोत्सव का स्मरण दिला रहा है, जिसमें इन्द्र ने कार्तिकेय को सेनापति बनाया था ॥ २३ ॥

राजा—यह सब देवराज इन्द्र की ही मुझ पर कृपा है।

नारद—हे राजन्! इन्द्र आपकी और क्या भलाई करें।

राजा—यदि इन्द्र मेरे ऊपर प्रसन्न है तो इससे बढ़कर और मुझे क्या चाहिए? फिर भी मैं चाहता हूँ कि—

(भरतवाक्य)

जो लक्ष्मी और सरस्वती सदा परस्पर विरोधभाव से रहती हैं, जिनका एक स्थान पर रहना दुर्लभ है, सज्जनों के कल्याण के लिए ये दोनों एक साथ रहने लगें ॥ २४ ॥

और भी—सभी कष्टों से दूर हों, सबका भला हो, सबके मनोरथ पूरे हों और सभी चारों ओर आनन्दित रहें ॥ २५ ॥

(सब चले जाते हैं।)

॥ पाँचवाँ अंक समाप्त ॥

'नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्'

मालविकाग्निमित्रम्

डॉ० रमाशंकर पाण्डेय

पात्र-परिचय

पुरुष-पात्र

सूत्रधार : नाटक का प्रबन्धक।
पारिपार्श्वक : सूत्रधार का सहायक।
अग्निमित्र : विदिशा-नरेश (नायक)।
वाहतक : अग्निमित्र का मन्त्री।
गौतम : विदूषक (राजा का मित्र)।
मौद्गल्य : कञ्चुकी (वृद्ध ब्राह्मण)।
गणदास : नाट्याचार्य।
हरदत्त : नाट्याचार्य।
सारस : कुब्ज (धारिणी का भृत्य)।
वैतालिक : स्तुतिगायक।

स्त्री-पात्र

मालविका : माधवसेन की वहन (नायिका)।
धारिणी : अग्निमित्र की पटरानी।
इरावती : अग्निमित्र की दूसरी रानी।
कौशिकी : (परिव्राजिका) माधवसेन के सचिव सुमति की विधवा वहन।
वकुलावलिका : धारिणी की दासी (मालविका की सखी)।
मधुकरिका : मालिन।
कौमुदिका : दासी।
समाहितिका : परिव्राजिका की सेविका।
निपुणिका : इरावती की दासी।
जयसेना : प्रतिहारी।
मदनिका
ज्योत्स्निका : माधवसेन द्वारा भेजी गई शिल्पी दासियाँ।

अन्य पात्र

यज्ञसेन : विदर्भ का राजा।
माधवसेन : यज्ञसेन का चचेरा भाई (मालविका का भाई)।
सुमति : माधवसेन का सचिव।
वसुमित्र : अग्निमित्र का पुत्र।
पुष्यमित्र : अग्निमित्र का पिता।
वीरसेन : धारिणी का भाई (सेनापति)।
मौर्यसचिव : मौर्यवंशियों का मन्त्री (यज्ञसेन का साला)।
ध्रुवसिद्धि : विषवैद्य।
वसुलक्ष्मी : राजकुमारी (अग्निमित्र की पुत्री)।
माधविका : भू-गृह में नियुक्त सेविका।
चन्द्रिका : रानी इरावती की दासी।

॥ श्रीः ॥

मालविकाग्निमित्रम्

प्रथमोऽङ्कः

एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणतबहुफले यः स्वयं कृत्तिवासाः
कान्तासम्मिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः परस्ताद् यतीनाम्।
अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः ॥ १ ॥

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधारः—अलमतिविस्तरेण (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य)। मारिष ! इतस्तावत्।

(प्रविश्य)

पारिपार्श्विकः—भाव ! अयमस्मि।

सूत्रधारः—अभिहितोऽस्मि विद्वत्परिषदा—'कालिदासग्रथितवस्तु मालविकाग्निमित्रं नाम नाटकमस्मिन्वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमि'ति। तदारभ्यतां सङ्गीतकम्।

पारिपार्श्विकः—मा तावत्। प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः।

अपने भक्तों को मनोवांछित फल देने के लिए अपने पास अपार भाण्डार होते हुए भी जो केवल हाथी की खाल ओढ कर ही अपना काम चला लेते हैं, अपने आधे शरीर में अपनी पत्नी गौरी को बसाये रहने पर भी जो संसार के भोगों से अपना मन दूर हटाये रहते हैं और अपने आठों रूपो से सम्पूर्ण संसार का पालन करते हुए भी जो अभिमान को पास फटकने नहीं देते, ऐसे संसार के स्वामी शङ्कर भगवान्, पाप की ओर ले जाने वाली आप लोगों की बुद्धि को इस प्रकार नष्ट कर दें कि आप लोगों का मन अच्छे कार्यों के सम्पादन में उन्मुख हो जाय॥ १ ॥

(**नान्दीपाठ के अनन्तर**)

सूत्रधार—नान्दीपाठ के विस्तार की आवश्यकता नहीं। (**नेपथ्य की ओर देखकर**) अरे भाई मारिष ! इधर तो आओ।

पारिपार्श्विक—(**प्रवेश कर**) आर्य ! यह मै आ गया हूँ।

सूत्रधार—विद्वानों की सभा ने मुझसे कहलाया है कि वसन्तोत्सव के अवसर पर महाकवि कालिदास द्वारा विरचित 'मालविकाग्निमित्र' नाटक का ही अभिनय किया जाय। अतएव चलकर संगीत का कार्य प्रारम्भ करो।

पारिपार्श्विक—नहीं, यह उचित नहीं है। भास, सौमिल्लक और कविपुत्र जैसे महान् प्रसिद्ध

सूत्रधारः—अयि! विवेकविश्रान्तमभिहितम्। पश्य—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥ २ ॥

पारिपार्श्विकः—आर्यमिश्राः प्रमाणम्।

सूत्रधारः—तेन हि त्वरतां भवान्।

शिरसा प्रथमगृहीतामाज्ञामिच्छामि परिषदः कर्तुम्।
देव्या इव धारिण्याः सेवादक्षः परिजनोऽयम् ॥ ३ ॥

(निष्क्रान्तौ)

॥ प्रस्तावना ॥

(ततः प्रविशति बकुलावलिका)

बकुलावलिका—आणत्तम्हि देवीए धारिणीए। अइरप्पउत्तोवदेसं छलिअं णाम णट्टअं अंदरेण कीरिसी मालविअ त्ति णट्टाअरिअं अज्जगणदासं पुच्छिदुं। ता दाव संगीदसालं गच्छम्हि। (इति परिक्रामति) [**आज्ञप्तास्मि देव्या धारिण्या। अचिरप्रवृत्तोपदेशं छलिकं नाम नाट्यमन्तरेण कीदृशी मालविकेति नाट्याचार्यमार्यगणदासं प्रष्टुम्। तत्तावत्सङ्गीतशालां गच्छामि।**]

(ततः प्रविशत्याभरणहस्ता कौमुदिका)

बकुलावलिका—(कौमुदिकां दृष्ट्वा) हला कोमुदीए! कुदो दे दाणिं इअं धीरदा, जं समीवेण वि अदिक्कमंती इदो दिट्ठिं ण देसि। [**सखि कौमुदिके! कुतस्त इदानीमियं धीरता, यत्समीपेनाप्यतिक्रामन्तीतो दृष्टिं न ददासि।**]

कवियों के नाटकों को छोड़कर आप आजकल के इस वर्तमान कवि कालिदास के नाटक को इतना महत्त्व क्यों दे रहे हैं?

सूत्रधार—अरे, यह बात तो तुमने अपनी बुद्धि को विश्राम देकर कही है। देखो—

पुराने होने से ही न तो सब अच्छे हो जाते हैं, न नये होने से सब बुरे हो जाते हैं। समझदार लोग तो दोनों के गुण-दोषों की पूर्ण रूप से विवेचना करके उनमें से जो अच्छा होता है, उसे अपना लेते हैं और जिनके पास अपनी समझ नहीं होती है, उन्हें तो जैसा दूसरे समझा देते हैं, उसे ही वे ठीक मान लेते हैं॥ २ ॥

पारिपार्श्विक—आपका विचार प्रमाण-सम्पन्न है।

सूत्रधार—अतएव आप शीघ्रता करें।

सभा ने मुझे पहले से ही जो आज्ञा दे रखी है, उसका मैं वैसे ही आदर के साथ पालन करना चाहता हूँ जैसे आदर से यह स्वामिनी-भक्त दासी अपनी स्वामिनी महारानी धारिणी की आज्ञा का पालन करने के लिए इधर चली आ रही है॥ ३ ॥

(दोनों का प्रस्थान)

॥ प्रस्तावना ॥

(तदनन्तर बकुलावलिका का प्रवेश)

बकुलावलिका—देवी की आज्ञा है कि नाटकाचार्य गुरु गणदास के समीप जाकर पूछो कि छलिक नृत्य में मालविका ने कैसी प्रगति की है? इसलिए रंगशाला की ओर चलूँ। (**घूमती है**)

(हाथ में आभूषण लिये कौमुदिका का प्रवेश)

बकुलावलिका—(कौमुदिका को देखकर) अरी कौमुदिका! आज इतनी गम्भीर क्यों दिखलाई दे रही हो? जो पास से ही जाती हुई इधर देखती भी नहीं।

कौमुदिका—अम्हो बउलावलिआ। सहि! देवीए इदं सिप्पिसआसादो आणीदं णागमुद्दासणाहं अंगुलीअअं सिणिद्धं णिज्झाअंती तुह उवालंभे पडिदम्हि। [**अहो बकुलावलिका। सखि! देव्या इदं शिल्पिसकाशादानीतं नागमुद्रासनाथमङ्गुलीयकं स्निग्धं निध्यायन्ती तवोपालम्भे पतितास्मि।**]

बकुलावलिका—(विलोक्य) ठाणे सज्जदि दिट्ठी। इमिणा अंगुलीअएण उब्भिण्णकिरणकेसरेण कुसुमिदो विअ दे अग्गहत्थो पडिभादि। [**स्थाने सज्जति दृष्टिः। अनेनाङ्गुलीयकेनोद्भिन्नकिरणकेसरेण कुसुमित इव तेऽग्रहस्तः प्रतिभाति।**]

कौमुदिका—हला, कहिं पत्थिदासि? [**सखि! कुत्र प्रस्थितासि?**]

बकुलावलिका—देवीए एव्व वअणेण णट्टाआरिअं अज्जगणदासं पुच्छिदुं, उवदेसग्गहणे कीरिसी मालविए त्ति। [**देव्या एव वचनेन नाट्याचार्यमार्यगणदासं प्रष्टुमुपदेशग्रहणे कीदृशी मालविकेति।**]

कौमुदिका—सहि! ईरिसेण वावारेण असंणिहिदा वि सा कहं भट्टिणा दिट्ठा! [**सखि! ईदृशेन व्यापारेणासन्निहितापि सा कथं भर्त्रा दृष्टा।**]

बकुलावलिका—आं, सो जणो देवीए पास्सगदो चित्ते दिट्ठो। [**आम्, स जनो देव्याः पार्श्वगतश्चित्रे दृष्टः।**]

कौमुदिका—कहं विअ? [**कथमिव?**]

बकुलावलिका—सुणु। चित्तसालं गदा देवी जदा पच्चग्गवण्णराअं चित्तलेहं आआरिअस्स आलोअंती चिट्ठदि भट्टा अ उवट्ठिदो। [**शृणु। चित्रशालां गता देवी यदा प्रत्यग्रवर्णरागां चित्रलेखामाचार्यस्यालोकयन्ती तिष्ठति भर्ता चोपस्थितः।**]

कौमुदिका—तदो तदो। [**ततस्ततः।**]

बकुलावलिका—उवआराणंतरं एक्कासणोवविट्ठेण भट्टिणा चित्तगदाए देवीए परिअणमज्झगदं आसण्णदारिअं देक्खिअ देवी पुच्छिदा। [**उपचारानन्तरमेकासनोपविष्टेन भर्त्रा चित्रगताया देव्याः परिजनमध्यगतामासन्नदारिकां दृष्ट्वा देवी पृष्टा।**]

कौमुदिका—अरे! तुम हो बकुलावलिका। सखी! अभी स्वर्णकार के यहाँ से महारानी की यह नागमुद्राजटित अँगूठी लाई हूँ। उसी को मैं ध्यान से देख रही थी कि तुमने शीघ्र ही मुझे उलाहना दे दिया।

बकुलावलिका—(देखकर) वास्तव में बडी सुन्दर वस्तु पर तुम्हारी दृष्टि पडी है। इस अँगूठी से केसर के समान जो किरणें निकल रही हैं, उससे तुम्हारी हथेली मानो खिल उठी है।

कौमुदिका—क्यों सखी! तुम किधर जा रही थी?

बकुलावलिका—मैं भी महारानी धारिणी की आज्ञा से नाट्याचार्य गणदास से यह पूछने जा रही थी कि मालविका की नाटचशिक्षा कैसी चल रही है?

कौमुदिका—सखी! इस प्रकार शिक्षा-कार्य में तल्लीन रहने के कारण परोक्षावस्था में होते हुए भी उस मालविका को महाराज अग्निमित्र ने कैसे देख लिया?

बकुलावलिका—अरे! वह चित्र में महारानी के पास बैठी हुई थी, उसी को महाराज ने देख लिया।

कौमुदिका—कैसे?

बकुलावलिका—सुनो। जब महारानी चित्रशाला में पहुँचकर चित्रकला के आचार्य के हाथ के बनाये हुए गीले चित्रों को देख रही थीं, उसी समय स्वामी भी वहाँ पहुँच गये।

कौमुदिका—तब, तब।

कौमुदिका—कि ति ? [किमिति ?]

बकुलावलिका—अपुव्वा इअं दारिआ देवीए आसण्णा आलिहिदा किं णामहेए त्ति। [अपूर्वेयं दारिका देव्या आसन्ना आलिखिता किन्नामधेयेति।]

कौमुदिका—आकिदिविसेसेसु आअरो पदं करेति। तदो तदो। [आकृतिविशेषेष्वादरः पदं करोति। ततस्ततः।]

बकुलावलिका—तदो अवहीरिअवअणो भट्टा संकिदो देवीं पुणो वि अणुवंधिदुं। तदो कुमारीए वसुलच्छीए आअक्खिदं—'अज्ज, एसा मालविए' त्ति। [ततोऽवधीरितवचनो भर्ता शङ्कितो देवीं पुनरप्यनुवन्धुम्। ततः कुमार्या वसुलक्ष्म्या आख्यातम्— 'आर्य! एषा मालविके'ति।]

कौमुदिका—(सस्मितम्) सरिसं क्खु वालभाअस्स। अदो अवरं कहेहि। [सदृशं खलु वालभावस्य। अतोऽपरं कथय।]

बकुलावलिका—किं अण्णं। संपदं मालविआ सविसेसं भट्टिणो दंसणपहादो रक्खीअदि। [किमन्यत्। साम्प्रतं मालविका सविशेषं भर्तुर्दर्शनपथाद्रक्ष्यते।]

कौमुदिका—हला ! अणुचिट्ठ अत्तणो णिओअं। अहं वि एदं अंगुलीअअं देवीए उवणइस्सं। (इति निष्क्रान्ता) [सखि! अनुतिष्ठात्मनो नियोगम्। अहमप्येतदङ्गुलीयकं देव्यै उपनेष्यामि।]

बकुलावलिका—(परिक्रम्यावलोक्य) एसो णट्टाअरिओ संगीदसालादो णिग्गच्छदि। जाव से अत्ताणं दंसेमि। (इति परिक्रामति) [एष नाट्याचार्यः सङ्गीतशालातो निर्गच्छति। यावदस्मै आत्मानं दर्शयामि।]

(प्रविश्य)

गणदासः—कामं खलु सर्वस्यापि कुलविद्या वहुमता। न पुनरस्माकं नाट्यं प्रति मिथ्यागौरवम्। तथाहि—

बकुलावलिका—अभिवादन-व्यवहार हो चुकने पर महाराज भी महारानी के साथ एक ही आसन पर बैठ गए। तव चित्र में बनी हुई महारानी की दासियों में पास ही खड़ी हुई कन्या को देखकर महाराज ने देवी से पूछा।

कौमुदिका—क्या ?

बकुलावलिका—कि चित्र में देवी के पास बैठी हुई यह कौन सुन्दर दासी है ?

कौमुदिका—सुन्दरता की ओर सवका हृदय आकृष्ट हो ही जाता है। हाँ, तो फिर क्या हुआ ?

बकुलावलिका—देवी को चुप देखकर महाराज के मन में शङ्का उत्पन्न हो गई। उन्होंने फिर वही प्रश्न दुहराया। इसी बीच कुमारी वसुलक्ष्मी बोल उठी—आर्य ! यह मालविका है।

कौमुदिका—(मुस्कराती हुई) यह तो वाल्य-काल के अनुरूप ही है। हाँ, तो फिर क्या हुआ ?

बकुलावलिका—और कोई वात नहीं है। उसी दिन से मालविका को महाराज की दृष्टि से विशेष रूप से अलग रखा जाता है अर्थात् उस पर कड़ा पहरा लगा दिया गया है।

कौमुदिका—अच्छा सखी ! जाओ तुम भी अपना काम करो और मैं भी जाकर यह अँगूठी महारानी को दे आती हूँ। (चली जाती है)

बकुलावलिका—(घूमकर और देखकर) नाटचाचार्यजी तो संगीतशाला से निकले आ रहे हैं। मैं चलकर इनसे मिल लूँ। (घूमती है)

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम्॥ ४॥

बकुलावलिका—(उपेत्य) अज्ज! वंदामि। [आर्य! वन्दे।]

गणदासः—भद्रे! चिरं जीव।

बकुलावलिका—अज्ज! देवी पुच्छदि—अवि उवदेसग्गहणे णादिकीलिस्सदि वो सिस्सा मालविए त्ति। [आर्य! देवी पृच्छति—अप्युपदेशग्रहणे नातिक्लिश्नाति वः शिष्या मालविकेति।]

गणदासः—भद्रे! विज्ञाप्यतां देवी परमनिपुणा मेधाविनी चेति। किं बहुना—

यद्यत्प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै।
तत्तद्विशेषकरणात्प्रत्युपदिशतीव मे बाला॥ ५॥

बकुलावलिका—(आत्मगतम्) अदिक्कमती विअ इरावदिं पेक्खामि। (प्रकाशम्) किदत्था दाणिं वो सिस्सा जाए गुरुअणो एवं तुस्सदि। [अतिक्रामन्तीमिवेरावतीं पश्यामि। कृतार्थेदानीं वः शिष्या यस्या गुरुजन एवं तुष्यति।]

गणदासः—भद्रे! तद्विधानामसुलभत्वात्पृच्छामि। कुतो देव्या तत्पात्रमानीतम्।

बकुलावलिका—अत्थि देवीए वण्णावरो भादा वीरसेणो णाम। सो भट्टिणा णम्मदातीरे अंतवालदुग्गे ठाविदो। तेण सिप्पाहिआरे जोग्गा इअं दारिए त्ति भणिअ भइणीए देवीए उवाअणं

(प्रवेश करके)

गणदास—यों तो सभी अपनी वंशपरम्परागत विद्या को सबसे अच्छा समझते हैं, परन्तु हम लोग जो अपनी विद्या का इतना अभिमान करते हैं, वह झूठा नहीं। क्योंकि—

नाट्यशास्त्र के प्रवर्तक भरतादि मुनि लोगों का कहना है कि नाट्य देवताओं की आँखों को सुहाने वाला यज्ञ है। स्वयं महादेव शङ्कर ने पार्वती से विवाह करके अपने अर्द्धनारीश्वर अंग में इसके दो भाग कर लिये हैं। एक ताण्डव और दूसरा लास्य। इसमें सत्त्व, रज और तम तीनों गुण दिखलाई पड़ते हैं और अनेक रसों से सम्पन्न मानवों के चरित्र भी दिखलाई पडते हैं। अतएव भिन्न-भिन्न रुचि वाले लोगों के लिए प्राय: नाटक ही एक ऐसा उत्सव है, जिसमें सबको एक-सा आनन्द मिलता है॥ ४॥

बकुलावलिका—(समीप जाकर) आर्य! तुम्हें नमस्कार है।

गणदास—कल्याणमयि! आयुष्मती हो।

बकुलावलिका—महोदय! महारानी धारिणी आपसे पूछती हैं कि मेरी परिचारिका और आपकी शिष्या मालविका संगीत-शिक्षा के ग्रहण करने में आपको अधिक कष्ट तो नहीं देती है?

गणदास—भद्रे! महारानी से कह देना कि वह बड़ी चतुर और समझदार और शिक्षाग्राहिका बुद्धि से सम्पन्न है। अधिक क्या कहें—

मैं जो-जो भाव उसे सिखलाता हूँ उन्हें जब वह और भी सुन्दरता के साथ करके दिखलाने लगती है तब ऐसा जान पडता है मानों वह उल्टे मुझे ही सिखा रही है॥ ५॥

बकुलावलिका—(मन ही मन) जान पडता है कि यह इरावती को तो पछाड़ ही देगी। (प्रकट) धन्य है आपकी वह शिष्या जिसके गुरु उससे इतने प्रसन्न हैं।

गणदास—भद्रे! ऐसे शिष्य दुर्लभ होते हैं, आसानी से नहीं मिलते। इसलिए मैं तुमसे पूछता हूँ कि ऐसी योग्य बाला रानी को कहाँ से मिली?

पेसिदा। [अस्ति देव्या वर्णावरो भ्राता वीरसेनो नाम। स भर्त्रा नर्मदातीरेऽन्तपालदुर्गे स्थापितः। तेन शिल्पाधिकारे योग्येयं दारिकेति भणित्वा भगिन्या देव्या उपायनं प्रेषिता।]

गणदासः—(आत्मगतम्) आकृतिविशेषप्रत्ययादेनामनूनवस्तुकां सम्भावयामि। (प्रकाशम्) भद्रे! मयापि यशस्विना भवितव्यम्। यतः—

पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य॥ ६॥

बकुलावलिका—अज्ज! कहिं दाणिं वो सिस्सा। [आर्य! कुत्रेदानीं वः शिष्या।]

गणदासः—इदानीमेव पञ्चाङ्गाभिनयमुपदिश्य मया विश्रम्यतामित्यभिहिता दीर्घिकावलोकन-गवाक्षगता प्रवातमासेवमाना तिष्ठति।

बकुलावलिका—तेण हि पुणो अणुजाणादु मं अज्जो। जाव से अज्जस्स परितोसणिवेदणेण उस्साहं वड्ढेमि। [तेन हि पुनरनुजानातु मामार्यः। यावदस्या आर्यस्य परितोषनिवेदनेनोत्साहं वर्धयामि।]

गणदासः—दृश्यतां सखी। अहमपि लब्धक्षणः स्वगृहं गच्छामि।

(इति निष्क्रान्तौ)

॥ मिश्रविष्कम्भकः ॥

(ततः प्रविशत्येकान्तस्थितपरिजनो मन्त्रिणा लेखहस्तेनान्वास्यमानो राजा)

राजा—(अनुवाचितलेखममात्यं विलोक्य) वाहतक! किं प्रतिपद्यते वैदर्भः ?

अमात्यः—देव! आत्मविनाशम्।

बकुलावलिका—महारानी के वीरसेन नामक एक दूर के भाई हैं। उन्हें महाराज ने नर्मदातट वाले अन्तपाल दुर्ग की सुरक्षा का काम सौंप रखा है। उन्होंने ही अपनी बहिन धारिणी देवी के पास इस कन्या को यह कहलाकर भेज दिया है कि यह गाने-बजाने का काम भलीभाँति सीख सकेगी।

गणदास—(मन ही मन) पर रूप-रंग से तो यह किसी ऊँचे घराने की जान पड़ती है। (प्रकट में) भद्रे! मुझे भी यशस्वि होना चाहिए। क्योंकि—

सिखाने वाले की कला उत्तम शिष्य के पास पहुँचकर उसी प्रकार विकसित हो जाती है जैसे बादल का जल समुद्र की सीपों में पहुँच कर मोती बन उठता है॥ ६॥

बकुलावलिका—आर्य! आपकी शिष्या इस समय कहाँ है ?

गणदास—अभी उसे पाँचों अंगों का अभिनय सिखाकर मैंने उसे थोड़ा विश्राम करने को कहा है। अतएव वह उस खिड़की पर वायु सेवन करती हुई बैठी है, जहाँ से बावली दिखलाई पड़ती है।

बकुलावलिका—आर्य! आप मुझे आज्ञा दीजिए कि मैं उसे यह कहकर उत्साहित करूँ कि गुरुदेव उससे इतने प्रसन्न हैं।

गणदास—अपनी सखी को देखो, मैं भी अवकाश प्राप्त कर अपने घर जा रहा हूँ।

(दोनों चले जाते हैं)

॥ मिश्रविष्कम्भक ॥

(तब महाराज प्रवेश करते हैं, जिनके परिजन एक ओर बैठे हैं और मन्त्री समीप में हाथ में पत्र लिये बैठे हैं)

राजा—(मन्त्री द्वारा पढ़ लेने पर देखकर) वाहतक! विदर्भ के राजा क्या चाहते हैं ?

अमात्य—देव! अपना सत्यानाश।

राजा—सन्देशमिदानीं श्रोतुमिच्छामि।

अमात्यः—इदमिदानीमनेन प्रतिलिखितम्— पूज्येनाहमादिष्टः— 'भवतः पितृव्यपुत्रः कुमारो माधवसेनः प्रतिश्रुतसम्बन्धो ममोपान्तिकमुपसर्पन्नन्तरा त्वदीयेनान्तपालेनावस्कन्द्य गृहीतः। स त्वया मदपेक्षया सकलत्रसोदर्यो मोक्तव्य' इति। एतन्ननु वो विदितं यत्तुल्याभिजनेषु राज्ञां वृत्तिः। अतोऽत्र मध्यस्थः पूज्यो भवितुमर्हति। सोदरा पुनरस्य ग्रहणविप्लवे विनष्टा। तदन्वेषणाय प्रयतिष्ये। अथवा अवश्यमेव माधवसेनो मया पूज्येन मोचयितव्यः। श्रूयतामभिसन्धिः—

मौर्यसचिवं विमुञ्चति यदि पूज्यः संयतं मम श्यालम्।
मोक्ता माधवसेनस्ततो मया बन्धनात्सद्यः॥ ७॥

इति।

राजा—(सरोषम्) कथं कार्यविनिमयेन मयि व्यवहरत्यनात्मज्ञः। वाहतक! प्रकृत्यमित्रः प्रतिकूलकारी च मे वैदर्भः। तद्यातव्यपक्षे स्थितस्य पूर्वसङ्कल्पितसमुन्मूलनाय वीरसेनमुखं दण्डचक्रमाज्ञापय।

अमात्यः—यदाज्ञापयति देवः।

राजा—अथवा किं भवान्मन्यते?

अमात्यः—शास्त्रदृष्टमाह देवः।

अचिराधिष्ठितराज्यः शत्रुः प्रकृतिष्वरूढमूलत्वात्।
नवसंरोपणशिथिलस्तरुरिव सुकरः समुद्धर्तुम्॥ ८॥

राजा—अब उनका सन्देश सुनना चाहता हूँ।

अमात्य—उन्होंने उत्तर में लिखा है—'आपने जो मुझे यह आज्ञा दी थी कि आपके चचेरे भाई कुमार माधवसेन पहले से निश्चित किये सम्बन्ध के अनुसार मुझसे अपनी बहिन का ब्याह करने के लिए जब चले आ रहे थे तब बीच में ही आपके राज्य की सीमा के रक्षकों ने उन्हें पकड़ कर बाँध लिया है। उन्हें आप मेरे कहने से स्त्री और बहिन के साथ छोड दीजिए।' इस सम्बन्ध में मुझे यह कहना है कि आप महान् हैं और आप यह पूर्णरूप से जानते हैं कि समवंशीय राजाओं के झगड़े किस प्रकार निपटाने चाहिए। अतः आप इसमें बीच-बचाव कर सकते हैं। इसी झंझट में माधवसेन की बहिन कहीं खो गई है। मैं उसे खोजने का प्रयत्न करूँगा। यदि आप भी माधवसेन को मुक्त करना चाहते हैं तो यह शर्त मान लीजिए—

आदरणीय आप यदि मेरे साले मौर्यसचिव को, जो आपका वन्दी है, छोड़ दें तो मैं भी माधवसेन को शीघ्र बन्धन-मुक्त कर दूँगा॥ ७॥

राजा—(क्रोध के साथ) क्या यह धृष्ट मुझसे इस प्रकार वदला लेने का व्यवहार करना चाहता है? देखो वाहतक! यह विदर्भ का राजा स्वभाव से ही मेरा शत्रु है, जो मेरे विपरीत ही कार्य करता है। अतः वीरसेन के नायकत्व में जितनी सेना है, उसे आज्ञा दो कि जाकर उसे जड़ से उखाड फेंके, क्योंकि हम लोगों का संकल्प है कि ऐसे दुष्ट शत्रु को उखाड फेंकना ही उचित है।

अमात्य—जैसी महाराज की आज्ञा।

राजा—पर इसमें आपकी क्या सम्मति है?

अमात्य—महाराज ने तो पहिले ही शास्त्र की बात कह दी है कि—

जो शत्रु अभी नया-नया राज्यसिंहासन पर बैठा हो और जो पूर्णरूप से प्रजा में अपनी जड़ न जमा सका हो, वह नये रोपे हुए दुर्बल पौधे के समान बड़ी सरलता के साथ उखाड़ा जा सकता है॥ ८॥

राजा—तेन ह्यवितथं तन्त्रकारवचनम्। इदमेव वचनं निमित्तमुपादाय समुद्योज्यतां सेनाधिपतिः।

अमात्यः—तथा। (इति निष्क्रान्तः)

(परिजनो यथाव्यापारं राजानमभितः स्थितः)

(प्रविश्य)

विदूषकः—आणत्तो म्हि तत्तभवदा रण्णा— गोदम! चिंतेहि दाव उवाअं। जह मे जदिच्छादिट्ठप्पदिकिदी मालविआ पच्चक्खदंसणा होदि त्ति। मए अ तं तहा किदं दाव से णिवेदेमि। (इति परिक्रामति) [**आज्ञप्तोऽस्मि तत्रभवता राज्ञा— गौतम! चिन्तय तावदुपायम्। यथा मे यदृच्छादृष्टप्रतिकृतिर्मालविका प्रत्यक्षदर्शना भवतीति। मया च तत्तथा कृतं तावदस्मै निवेदयामि।**]

राजा—(विदूषकं दृष्ट्वा) अयमपरः कार्यान्तरसचिवोऽस्माकमुपस्थितः।

विदूषकः—(उपगम्य) वड्ढदु भवं। [**वर्धतां भवान्।**]

राजा—(सशिरःकम्पम्) इत आस्यताम्।

(विदूषक उपविष्टः)

राजा—अपि कच्चिदुपेयोपायदर्शने व्यापृतं ते प्रज्ञाचक्षुः।

विदूषकः—पओअसिद्धिं पुच्छ। [**प्रयोगसिद्धिं पृच्छ।**]

राजा—कथमिव।

विदूषकः—(कर्णे) एव्वमिव। [**एवमिव।**]

राजा—साधु वयस्य! निपुणमुपक्रान्तम्। इदानीं दुरधिगमसिद्धावप्यस्मिन्नारम्भे वयमाशंसामहे। कुतः—

राजा—तब तो शास्त्र की बात यहाँ पर सत्य ज्ञात हो रही हैं। अतः शास्त्र के इसी वचन के आधार पर सेनापति को तैयार करो।

अमात्य—अच्छी बात है। (**यह कहकर चला जाता है**)

(**सम्पूर्ण सेवक राजा के चारों ओर खड़े हुए अपना-अपना काम कर रहे हैं**)

(**प्रवेश कर**)

विदूषक—मुझे महाराज ने आज्ञा दी थी कि गौतम! कोई ऐसा उपाय सोच निकालो कि जिस मालविका को मैंने अचानक चित्र में देख लिया है उसे मैं अपनी आँखों से तो देख पाऊँ। मैंने उसके लिए जो उपाय निकाला है, चलकर उसे अभी महाराज को बतलाता हूँ। (**घूमता है**)

राजा—(**विदूषक को देखकर**) ये हमारे अन्य कार्य के सहायक सचिव आ गये।

विदूषक—(**पास पहुँच कर**) महाराज की जय हो।

राजा—(**सिर हिलाकर**) आओ यहाँ बैठो।

(**विदूषक बैठ जाता है**)

राजा—ज्ञान-नेत्रसम्पन्न आपने मालविका-मिलन के लिए कोई उपाय सोचा ?

विदूषक—कार्य-सिद्धि के विषय में पूछिये, उपाय क्या पूछ रहे हैं ?

राजा—कैसे ?

विदूषक—(**कान में**) इस प्रकार।

राजा—वाह मित्र! तुमने बड़ी चतुराई का काम किया है। यह कार्य तो अत्यन्त कठिन है, परन्तु तुमने जैसा आरम्भ किया है, उससे कुछ-कुछ आशा हो चली है। क्योंकि—

अर्थं सप्रतिबन्धं प्रभुरधिगन्तुं सहायवानेव।
दृश्यं तमसि न पश्यति दीपेन विना सचक्षुरपि॥ ९॥

(नेपथ्ये)

अलं बहु विकत्थ्य। राज्ञः समक्षमेवावयोरधरोत्तरयोर्व्यक्तिर्भविष्यति।

राजा—(आकर्ण्य) सखे! त्वत्सुनीतिपादपस्य पुष्पमुद्भिन्नम्।

विदूषकः—फलं वि अइरेण देक्खिस्ससि। [**फलमप्यचिरेण द्रक्ष्यसि।**]

(ततः प्रविशति कञ्चुकी)

कञ्चुकी—देव! अमात्यो विज्ञापयति। अनुष्ठिता प्रभोराज्ञा। एतौ पुनर्हरदत्तगणदासौ—

उभावभिनयाचार्यौ परस्परजयैषिणौ।
त्वां द्रष्टुमुद्यतौ साक्षाद् भावाविव शरीरिणौ॥ १०॥

राजा—प्रवेशय तौ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रम्य ताभ्यां सह प्रविश्य) इत इतो भवन्तौ।

गणदासः—(राजानं विलोक्य) अहो, दुरासदो राजमहिमा—

न च न परिचितो न चाप्यरम्यश्चकितमुपैमि तथापि पार्श्वमस्य।
सलिलनिधिरिव प्रतिक्षणं मे भवति स एव नवो नवोऽयमक्ष्णोः॥ ११॥

हरदत्तः—महत्खलु पुरुषाकारमिदं ज्योतिः। तथाहि—

कठिन कार्यों में जब कोई सहायक मिल जाय तो समझ लेना चाहिए कि अब कार्य हो जायगा। क्योंकि आँखों वाला मनुष्य भी अन्धकार में बिना दीपक के कुछ नहीं देख सकता॥ ९॥

(नेपथ्य में)

अधिक बकवाद न करो। अभी महाराज के सामने ठीक-ठीक पता चल जायेगा कि हम दोनों में कौन छोटा है और कौन बड़ा?

राजा—(सुनकर) मित्र! तुम्हारे नीति-वृक्ष में फूल निकल आये।

विदूषक—शीघ्र ही फल भी देखिएगा।

(तब कञ्चुकी प्रवेश करता है)

कञ्चुकी—देव! मन्त्रीजी का कथन है कि आपकी आज्ञा का पालन हो गया। अभिनय के आचार्य हरदत्त और गणदास—

आपस में एक-दूसरे पर विजय प्राप्त करने के इच्छुक होकर आपसे मिलने के लिए बाहर स्थित इस प्रकार ज्ञात हो रहे हैं मानों स्वयं नाटक के भाव ही शरीर धारण करके चले आये हों॥ १०॥

राजा—दोनों को भीतर प्रवेश कराओ।

कञ्चुकी—महाराज की जो आज्ञा। (**बाहर निकलकर दोनों के साथ प्रवेश करके**) इधर से आइए आपलोग, इधर से।

गणदास—(**राजा को देखकर**) वाह, महाराज का तेज भी अद्वितीय है। इनके पास तक पहुँचना कठिन बात हो रही है। क्योंकि—

ऐसी बात नहीं है कि इनसे पहिले से परिचय न हो या ये देखने में भयंकर लग रहे हों, फिर भी न जाने क्यों मुझे इनके पास जाते हुए भय लग रहा है। समुद्र के समान ज्यों के त्यों रहते हुए भी ये मेरी आँखों को पल-पल में नवीन से दिखलाई पड़ रहे हैं॥ ११॥

हरदत्त—पुरुष के रूप में राजा का तेज सचमुच महान् प्रभावशाली है। क्योंकि—

द्वारे नियुक्तपुरुषाभिमतप्रवेशः सिंहासनान्तिकचरेण सहोपसर्पन्।
तेजोभिरस्य विनिवर्तितदृष्टिपातैर्वाक्यादृते पुनरिव प्रतिवारितोऽस्मि॥ १२॥

कञ्चुकी—एष देवः। उपसर्पतां भवन्तौ।

उभौ—(उपेत्य) विजयतां देवः।

राजा—स्वागतं भवद्भ्याम्। (परिजनं विलोक्य) आसने तावदत्रभवतोः।

(उभौ परिजनोपनीतयोरासनयोरुपविष्टौ)

राजा—किमिदं शिष्योपदेशकाले युगपदाचार्याभ्यामत्रोपस्थानम्?

गणदासः—देव! श्रूयताम्। मया सुतीर्थादभिनयविद्या सुशिक्षिता। दत्तप्रयोगश्चास्मि। देवेन देव्या च परिगृहीतः।

राजा—बाढं जाने। ततः किम्?

गणदासः—सोऽहममुना हरदत्तेन प्रधानपुरुषसमक्षमयं मे न पादरजसापि तुल्य इत्यधिक्षिप्तः।

हरदत्तः—देव! अयमेव प्रथमं परिवादकरः— 'अत्रभवतः किल मम च समुद्रपल्वलयोरिवान्तरमि' ति। तदत्रभवानिमं मां च शास्त्रे प्रयोगे च विमृशतु। देव एव नौ विशेषज्ञः प्राश्निकः।

विदूषकः—समत्थं पइण्णादं। [समर्थं प्रतिज्ञातम्।]

गणदासः—प्रथमः कल्पः। अवहितो देवः श्रोतुमर्हति।

यद्यपि द्वारपाल ने मुझे यहाँ तक पहुँचा दिया है और मैं इनके सिंहासन के पास रहने वाले कञ्चुकी के साथ ही भीतर भी आया हूँ फिर भी इनके तेज से मेरी आँखें इतनी चकित हो गई हैं मानों विना रोके ही मैं बढने से रोक दिया गया हूँ॥ १२॥

कञ्चुकी—ये महाराज हैं, आप लोग आगे बढ़ें।

दोनों—(आगे आकर) देव की जय हो।

राजा—आप दोनों का स्वागत है। (**सेवक को देखकर**) आप लोगों के लिए आसन तो लाओ।

(सेवक के लाये हुए आसनों पर दोनों बैठते हैं)

राजा—कहिए, यह तो शिष्यों को पढाने का समय है। इस समय आप दोनों आचार्य एक साथ कैसे आ पहुँचे?

गणदास—सुनिए देव! मैंने बड़े योग्य गुरु से विद्या सीखी है और इतने दिनों से सिखा भी रहा हूँ। महाराज और महारानी के द्वारा मैं सम्मानित भी हुआ हूँ।

राजा—यह तो मैं जानता हूँ, तो फिर क्या हुआ?

गणदास—आज इन हरदत्तजी ने प्रधान राजपुरुष के समक्ष यह कहकर अपमानित किया है कि मैं इनकी पदधूलि के समान भी नहीं हूँ।

हरदत्त—इन्होंने ही सर्वप्रथम मेरी निन्दा करते हुए कहा कि इनमें और मुझमें समुद्र और गड्ढे का-सा अन्तर है। अव आप इन्हें और मुझे नाटचशास्त्र तथा अभिनय कर्म में जाँच कर लें। आप ही हम दोनों के प्रश्नों द्वारा गुण निश्चित करने वाले परीक्षक हैं।

विदूषक—उचित कहा।

गणदास—ठीक है। आप सावधान होकर सुनें।

राजा—तिष्ठ तावत्। पक्षपातमत्र देवी मन्यते। तदस्याः पण्डितकौशिकीसहितायाः समक्षमेव न्याय्यो व्यवहारः।

विदूषकः—सुट्ठु भवं भणादि। [**सुष्ठु भवान्भणति।**]

आचार्यौ—यद्देवाय रोचते।

राजा—मौद्गल्य! अमुं प्रस्तावं निवेद्य पण्डितकौशिक्या सार्धमाहूयतां देवी।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रम्य सपरिव्राजिकया देव्या सह प्रविष्टः) इत इतो भवती।

धारिणी—(परिव्राजिकां विलोक्य) भअवदि! हरदत्तस्स गणदासस्स अ संरंभे कहं पेक्खसि। [**भगवति! हरदत्तस्य गणदासस्य च संरम्भे कथं पश्यसि।**]

परिव्राजिका—अलं स्वपक्षावसादशङ्कया। न परिहीयते प्रतिवादिनो गणदासः।

धारिणी—जइ वि एवं तह वि राअपरिग्गहो पहाणत्तणं उवहरदि। [**यद्यप्येवं तथापि राजपरिग्रहः प्रधानत्वमुपहरति।**]

परिव्राजिका—अयि, राज्ञीशब्दभाजनमात्मानमपि चिन्तयतु भवती। पश्य—

> **अतिमात्रभासुरत्वं पुष्यति भानोः परिग्रहादनलः।**
> **अधिगच्छति महिमानं चन्द्रोऽपि निशापरिगृहीतः॥ १३॥**

विदूषकः—अइ, उणट्ठिदा देवी पीठमद्दिअं पंडिअकोसिइं पुरोकरिअ तत्तभोदी धारिणी। [**अयि! उपस्थिता देवी पीठमर्दिकां पण्डितकौशिकीं पुरस्कृत्य तत्रभवती धारिणी।**]

राजा—पश्याम्येनाम्। यैषा—

> **मङ्गलालङ्कृता भाति कौशिक्या यतिवेषया।**
> **त्रयी विग्रहवत्येव सममध्यात्मविद्यया॥ १४॥**

राजा—अभी ठहरो। यदि हम निर्णय करेंगे तो देवी समझेंगी कि मैंने पक्षपात किया है, अतएव उनके और विदुषी कौशिकी के सामने ही निर्णय किया जाना चाहिए।

विदूषक—आप ठीक कह रहे हैं।

दोनों—जैसा देव उचित समझें।

राजा—मौद्गल्य! यह प्रस्ताव कहकर पण्डिता कौशिकी के साथ रानी को बुला लाओ।

कञ्चुकी—महाराज की जो आज्ञा। (**निकलकर परिव्राजिका सहित देवी के साथ प्रवेश करता है**) इधर से आइए देवी इधर से।

धारिणी—(**परिव्राजिका को देखकर**) भगवती! हरदत्त और गणदास के विवाद में आप किसकी विजय सोचती हैं?

परिव्राजिका—आप अपने पक्ष के पराजय की बात न सोचिए। गणदास अपने प्रतिवादी से कुछ कम नहीं है।

धारिणी—यद्यपि यह ठीक है तथापि राजा की कृपा जिस पर होगी वह जीत जायेगा।

परिव्राजिका—आप भी स्मरण रखें कि आप भी महारानी हैं। देखिए—

जिस प्रकार सूर्य की कृपा से अग्नि में बहुत चमक आ जाती है, वैसे ही रात की कृपा पाकर चन्द्रमा में भी बहुत चमक आ जाती है॥ १३॥

विदूषक—अहा! महारानी धारिणीजी संगिनी पण्डिता कौशिकी को साथ लिये हुए इधर चली आ रही हैं।

राजा—इनको देखता हूँ। जो यह—

परिव्राजिका—(उपेत्य) विजयतां देवः।

राजा—भगवति! अभिवादये।

परिव्राजिका—

महासारप्रसवयोः सदृशक्षमयोर्द्वयोः।
धारिणीभूतधारिण्योर्भव भर्ता शरच्छतम्॥ १५॥

धारिणी—जेदु जेदु अज्जउत्तो। [जयतु जयत्वार्यपुत्रः।]

राजा—स्वागतं देव्यै। (परिव्राजिकां विलोक्य) भगवति! क्रियतामासनपरिग्रहः।

(सर्व उपविशन्ति)

राजा—भगवति! अत्रभवतोर्हरदत्तगणदासयोः परस्परं विज्ञानसङ्घर्षिणोर्भगवत्या प्राश्निकपदमध्यासितव्यम्।

परिव्राजिका—(सस्मितम्) अलमुपालम्भेन। पत्तने सति ग्रामे रत्नपरीक्षा?

राजा—नैतदेवम्। पण्डितकौशिकी खलु भगवती, पक्षपातिनावहं देवी च।

आचार्यौ—सम्यगाह देवः। मध्यस्था भगवती नौ गुणदोषतः परिच्छेत्तुमर्हति।

राजा—तेन हि प्रस्तूयतां विवादः।

परिव्राजिका—देव! प्रयोगप्रधानं हि नाटचशास्त्रम्। किमत्र वाग्व्यवहारेण। कथं वा देवी मन्यते।

देवी—जइ मं पुच्छसि तदा एदाणं विवादो एव्व ण मे रोअदि। [यदि मां पृच्छसि तदेतयोर्विवाद एव न मे रोचते।]

संन्यासिनी वेशवाली कौशिकी के साथ वस्त्रों और आभूषणों से सुसज्जित महारानी ऐसी ज्ञात होती है मानों अध्यात्मविद्या के साथ शरीरधारिणी वेदत्रयी चली आ रही हो॥ १४॥

परिव्राजिका—(समीप जाकर) महाराज की जय हो।

राजा—भगवती! मैं आपको प्रणाम करता हूँ।

परिव्राजिका—सैकड़ों वर्षों तक महातेजस्वियों को उत्पन्न करने वाली उन पृथ्वी और धारिणी देवी के आप स्वामी बने रहें जिनमें सहन करने की शक्ति एक समान है॥ १५॥

धारिणी—जय हो, आर्यपुत्र की जय हो।

राजा—देवी का स्वागत है। (परिव्राजिका की ओर देखकर) आइए बैठिए भगवती।

(सभी बैठते हैं)

राजा—भगवती आचार्य हरदत्त और गणदास अभिनय कला का विवाद लेकर आये हैं। इन दोनों में कौन योग्य हैं? इसके निर्णय के लिए आप मध्यस्थ बनें।

परिव्राजिका—(मुस्कराकर) आप मुझे अपमानित न करें। भला नगर के रहते हुए कहीं रत्न की परीक्षा गाँव में की जाती है।

राजा—नहीं ऐसी बात नहीं है। आप विदुषी हैं, मुझे और देवी को पक्षपाती भी कहा जा सकता है।

दोनों आचार्य—महाराज ने ठीक कहा। निष्पक्ष भगवती ही हम लोगों के गुण-दोष की परीक्षा कर सकेंगी।

राजा—आप लोग शास्त्रार्थ प्रारम्भ करें।

परिव्राजिका—महाराज! नाटचशास्त्र तो अभिनय है। केवल वाग्विवाद से क्या लाभ? देवी का क्या विचार है?

देवी—यदि मुझसे पूछा जाय तो मुझे इनका विवाद अच्छा नहीं लगता।

गणदासः—देवि ! न मां समानविद्यया परिभवनीयमवगन्तुर्महसि।

विदूषकः—भोदि ! पेक्खामो उअरंभरिसंवादं। किं मुहा वेअणदाणेण एदेणं। [भवति! पश्याम उदरम्भरिसंवादम्। किं मुधा वेतनदानेनैतेषाम्?]

देवी—णं कलहप्पिओसि। [ननु कलहप्रियोऽसि।]

विदूषकः—मा एव्वं। चण्डि ! अण्णोण्णकलहप्पिआणं मत्तहत्थीणं एक्कदरस्सिं अणिज्जिदे कुदो उवसमो ? [मैवम्। चण्डि! अन्योन्यकलहप्रिययोर्मत्तहस्तिनोरेकतरस्मिन्ननिर्जिते कुत उपशमः ?]

राजा—ननु स्वाङ्गसौष्ठवातिशयमुभयोर्दृष्टवती भगवती।

परिव्राजिका—अथ किम् ?

राजा—तदिदानीमतः परं किमाभ्यां प्रत्याययितव्यम्।

परिव्राजिका—तदेव वक्तुकामास्मि।

शिलष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था सङ्क्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव॥ १६॥

विदूषकः—सुदं अज्जेहिं भअवदीए वअणं। एसो पिंडितत्थो उवदेसदंसणादो णिण्णओ त्ति। [श्रुतमार्याभ्यां भगवत्या वचनम्। एष पिण्डितार्थ उपदेशदर्शनान्निर्णय इति।]

हरदत्तः—परमभिमतं नः।

गणदासः—देवि ! एवं स्थितम्।

देवी—जदा उण मंदमेधा सिस्सा उवदेसं मलिणेंति तदा आअरिअस्स ण दोसो। [यदा पुनर्मन्दमेधा शिष्या उपदेशं मलिनयन्ति तदाऽऽचार्यस्य न दोषः।]

गणदास—देवी ! आप यह न समझें कि मैं नाट्यविद्या में किसी से हार जाऊँगा।

विदूषक—तो देवी ! इन दोनों पेटुओं का कार्य देख ही क्यों न लिया जाय ? नहीं तो इन्हें वेतन देकर पालने से क्या लाभ ?

देवी—तुम्हें तो कलह ही अच्छा लगता है।

विदूषक—ऐसा न कहें। चण्डी ! इन दोनों झगडालू मदमत्त हाथियों में से जब तक एक की हार नहीं हो जायगी तब तक शान्ति कैसे होगी ?

राजा—भगवती ! आपने तो इन दोनों के अभिनय-चातुर्य को देखा ही होगा ?

परिव्राजिका—हाँ, देखा है मैंने।

राजा—तो इससे बढ़कर ये अपनी कुशलता का और क्या प्रमाण देंगे ?

परिव्राजिका—मैं बतलाना चाहती हूँ।

कोई गुणी ऐसे होते हैं जो अपने गुण को अपने आप भलीभाँति जानते हैं। कुछ ऐसे होते हैं जो अपने गुण दूसरों को सिखाने में चतुर होते हैं, परन्तु सच्चा गुणी वही है जिसमें ये दोनों बातें हों और ऐसा ही गुणी प्रतिष्ठा के योग्य होता है॥ १६॥

विदूषक—आप लोगों ने देवी का कथन सुन लिया न। उनके कथन का भाव यही है कि उपदेश-दर्शन से निर्णय हो जाय।

हरदत्त—यही मेरी इच्छा है।

गणदास—देवी ! हमको स्वीकार है। यही हो।

देवी—मन्दबुद्धि शिष्य यदि गुरु-ज्ञान को दूषित-कर दे तो उसमें गुरु का क्या दोष ?

राजा—देवि! एवमापठ्यते। 'विनेतुरद्रव्यपरिग्रहोऽपि बुद्धिलाघवं प्रकाशयती'ति।

देवी—(आत्मगतम्) कहं दाणिं। (गणदासं विलोक्य, जनान्तिकम्) अलं अज्जउत्तस्स उस्साहकारणं मणोरहं पूरिअ। विरम णिरत्थआदो आरंभादो। [कथमिदानीम्। अलमार्यपुत्रस्योत्साह-कारणं मनोरथं पूरयित्वा। विरम निरर्थकादारम्भात्।]

विदूषकः—सुट्ठु भोदी भणादि। भो गणदास! संगीदपदं लंभिअ सरस्सईए उवाअणमोदआणं खादमाणस्स किं दे मुहणिग्गहेण विवादेण। [सुष्ठु भवती भणति। भो गणदास! सङ्गीतपदं लब्ध्वा सरस्वत्या उपायनमोदकान् खादतः किं ते मुखनिग्रहेण विवादेन।]

गणदासः—सत्यम्, अयमेवार्थो देवीवाक्यस्य। श्रूयतामवसरप्राप्तमिदानीम्—

लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोस्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम्।
यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति॥ १७॥

देवी—अइरोवणीदा दे सिस्सा। अवरिणिट्ठिदस्स उवदेसस्स उण अण्णाय्यं पआसणं। [अचिरोपनीता ते शिष्या। अपरिनिष्ठितस्योपदेशस्य पुनरन्याय्यं प्रकाशनम्।]

गणदासः—अत एव मे निर्बन्धः।

देवी—तेण हि दुवे वि भअवदीए उवदेसं दंसेध। [तेन हि द्वावपि भगवत्यै उपेदशं दर्शयतम्।]

परिव्राजिका—देवि! नैतन्न्याय्यम्। सर्वज्ञस्याप्येकाकिनो निर्णयाभ्युपगमो दोषाय।

देवी—(जनान्तिकम्) मूढे परिव्वाजिए! मं जाग्गतिं वि सुत्तं विअ करेसि। (इति सासूयं परावर्तते) [मूढे परिव्राजिके! मां जाग्रतीमपि सुप्तामिव करोषि।]

राजा—पण्डितों का तो यह कथन है कि यदि अध्यापक अधम शिष्य का चुनाव करता है तो यह उसकी बुद्धिहीनता है।

देवी—(मन ही मन) अब क्या किया जाय? (गणदास की ओर देखकर, अलग से) अरे! आर्यपुत्र की इच्छा मत पूर्ण करो; यह तो उनके प्रोत्साहन का कारण है। इस व्यर्थ के कार्य से रुको।

विदूषक—आप ठीक कहती हैं। हे गणदास! जब तुम बैठे-बैठे संगीत के अध्यापक बने हुए सरस्वतीजी को चढाये हुए लड्डू खा ही रहे हो तब तुम्हें ऐसे विवाद से क्या प्रयोजन, जिससे सहज ही में पराजय हो जाय?

गणदास—क्या देवी के कथन का यही अभिप्राय है? इस प्रसंग में मुझे यही कहना है कि—

जो लोग अध्यापक का पद प्राप्त कर लेने पर शास्त्रार्थ करने से भागते हैं, दूसरों की की गई निन्दा को सहन कर लेते हैं और केवल पेट पालने के लिए विद्या पढाते हैं; ऐसे लोग पण्डित नहीं वरन् ज्ञान बेचने वाले बनिया है॥ १७॥

देवी—तुम्हारी शिष्या अभी थोड़े ही दिनों से तो शिक्षा ले रही है, अत: बिना परिपक्व हुए उसे नाट्य-प्रदर्शन के लिए लाना सचमुच बड़ा अन्याय होगा।

गणदास—इसी से मैं आग्रह कर रहा हूँ।

देवी—तब तुम दोनों शिक्षक कला-चातुर्य केवल भगवती को ही दिखलाओ।

परिव्राजिका—देवि! यह उचित नहीं होगा। सर्वज्ञ व्यक्ति भी यदि अकेले निर्णय करना चाहता है तो उससे भूल हो सकती है।

देवी—(अलग से) अरी मूर्ख परिव्राजिके! तू मुझ जागती हुई को भी सोती हुई बना देना चाहती हो? (ईर्ष्या से मुँह फेर लेती है)

(राजा देवीं परिव्राजिकायै दर्शयति)

परिव्राजिका—

अनिमित्तमिन्दुवदने किमत्रभवतः पराङ्मुखी भवसि।
प्रभवन्त्योऽपि हि भर्तृषु कारणकोपाः कुटुम्बिन्यः॥ १८॥

विदूषकः—णं सकारणं एव्व। अत्तणो पक्खो रक्खिदव्वो। (गणदासं विलोक्य)। दिट्ठिआ कोवव्वाजेण देवीए परित्तादो भवं। सुसिक्खिदो वि सव्वो उवदेसदंसणेण णिण्हादो होदि। [**ननु सकारणमेव। आत्मनः पक्षो रक्षितव्यः। दिष्ट्या कोपव्याजेन देव्या परित्रातो भवान्। सुशिक्षितोऽपि सर्व उपदेशदर्शनेन निष्णातो भवति।**]

गणदासः—देवि! श्रूयताम्। एवं जनो गृह्णाति। तदिदानीम्—

विवादे दर्शयिष्यामि क्रियासङ्क्रान्तिमात्मनः।
यदि मां नानुजानासि परित्यक्तोऽस्म्यहं त्वया॥ १९॥

(इत्यासनादुत्थातुमिच्छति)

देवी—(स्वगतम्) का गई? (प्रकाशम्) पहवदि आआरिओ सिस्सजणस्स। [**का गतिः? प्रभवत्याचार्यः शिष्यजनस्य।**]

गणदासः—चिरमपदेशशङ्कितोऽस्मि। (राजानमवलोक्य) अनुज्ञातं देव्या। तदाज्ञापयतु देवः कस्मिन्नभिनयवस्तुनि प्रयोगं दर्शयिष्यामि।

राजा—यदादिशति भगवती।

परिव्राजिका—किमपि देव्या मनसि वर्तते, ततः शङ्कितास्मि।

देवी—भण वीसद्धं। पहवदि प्पहू अत्तणो परिअणस्स। [**भण विस्रब्धम्। प्रभवति प्रभुरात्मनः परिजनस्य।**]

(राजा परिव्राजिका को संकेत से रानी का भाव दिखाता है)

परिव्राजिका—हे चन्द्रमुखी! तुम विना कारण ही महाराज से क्यों मुँह फेरे बैठी हो। जो कुलवन्ती नारियाँ होती हैं उन्हें यद्यपि अपने पतियों पर सभी अधिकार होते हैं, फिर भी जब उन्हें रूठना होता है तो वे कोई न कोई कारण निकाल कर ही पति से रूठती हैं॥ १८॥

विदूषक—कारण तो है ही। उन्हें अपने पक्ष की रक्षा करनी है। (**गणदास को देखकर**) आप भाग्यशाली हैं कि महारानी ने रूठने के बहाने आपको बचा लिया। सुशिक्षित व्यक्ति भी अपना कौशल दिखाकर ही पण्डित माने जाते हैं।

गणदास—देवी! सुनिए। इस प्रकार लोग दूसरा ही अर्थ लगायेंगे। तो अब—

मैंने अपने शिष्यों को अपनी विद्या कैसे सिखाई है? और आप यदि मुझे इस समय आज्ञा नहीं देंगी तो मैं यही समझूँगा कि आपने मुझे अपने यहाँ से निकाल दिया॥ १९॥

(अपने आसन से उठना चाहता है)

देवी—(**मन ही मन**) अब और उपाय ही क्या है? (**प्रकट में**) शिष्य पर तो आचार्य का ही अधिकार होता है।

गणदास—मैं बहुत देर से भयभीत था कि कहीं रानी रोक न दें। (**राजा को देखकर**) देवी ने आज्ञा दे दी है, अतः महाराज भी आज्ञा दें कि 'मैं कौन-सा' अभिनय दिखलाऊँ।

राजा—भगवती जो कहें।

परिव्राजिका—रानी के मन में कुछ कुण्ठा है, अतः मैं डर रही हूँ।

देवी—आप निडर होकर कहिए। राजा को अपने परिवार पर पूर्ण अधिकार है।

राजा—मम चेति ब्रूहि।

देवी—भअवदि! भणेदाणीम्। [भगवति! भणेदानीम्।]

परिव्राजिका—देव! शर्मिष्ठायाः कृतिं चतुष्पदोत्थं छलिकं दुष्प्रयोज्यमुदाहरन्ति। तत्रैकार्थसंश्रयमुभयोः प्रयोगं पश्यामः। तावता ज्ञायत एवात्रभवतोरुपदेशान्तरम्।

आचार्यौ—यदाज्ञापयति भगवती।

विदूषकः—तेण हि दुवे वि वग्गो पेक्खाघरे संगीदरअणं करिअ तत्तभवदो दूदं पेसअह। अहवा मुदंगसद्दो एव्व णो उत्थावइस्सदि। [तेन हि द्वावपि वर्गौ प्रेक्षागृहे सङ्गीतरचनां कृत्वा तत्रभवतो दूतं प्रेषयतम्। अथवा मृदङ्गशब्द एव न उत्थापयिष्यति।]

हरदत्तः—तथा। (इत्युत्तिष्ठति)

(गणदासो धारिणीमवलोकयति)

देवी—(गणदासं विलोक्य) विअई भोदु अज्जा। णं विजअब्भत्थिणी अहं अज्जस्स। [विजयी भवत्वार्यः। ननु विजयाभ्यर्थिन्यहमार्यस्य।]

(आचार्यौ प्रस्थितौ)

परिव्राजिका—इतस्तावदाचार्यौ।

आचार्यौ—(परिवृत्य) इमौ स्वः।

परिव्राजिका—निर्णयाधिकारे ब्रवीमि। सर्वाङ्गसौष्ठवाभिव्यक्तये विगतनेपथ्ययोः पात्रयोः प्रवेशोऽस्तु।

आचार्यौ—नेदमावयोरुपदेश्यम्। (इति निष्क्रान्तौ)

राजा—'मेरे ऊपर भी' यह भी कहें।

देवी—भगवती! अब आप कहें।

परिव्राजिका—महाराज! शर्मिष्ठा का बनाया हुआ चौपदों वाला छलिका नामक अभिनय अत्यन्त कठिन बतलाया जाता है। उसी के किसी एक भाव में दोनों का अभिनय देख लेंगे और उसी से यह पता चल जायगा कि आप लोगों ने अपने-अपने शिष्यों को कैसा सिखलाया है?

दोनों आचार्य—जैसी भगवती की आज्ञा।

विदूषक—तो आप दोनों नाट्यशाला में चलकर सब संगीत का साज जुटाइये और सब हो चुकने पर किसी दूत से यहाँ कहला दीजिएगा अथवा मृदंग की ध्वनि सुनकर ही हम लोग उठकर चले आयेंगे।

हरदत्त—अच्छी बात है। (उठता है)

(गणदास धारिणी की ओर देखता है)

देवी—(गणदास को देखकर) आपकी विजय हो। मैं सचमुच आपके विजय की अभिलाषिणी हूँ।

(दोनों आचार्य जाने को उद्यत)

परिव्राजिका—आचार्य इधर आइये।

दोनों शिक्षक—(लौटकर) हम दोनों आ गये।

परिव्राजिका—मुझे निर्णय का अधिकार मिला है, अत: मैं कहती हूँ कि पात्रों के सब अंगों के हावभाव स्पष्ट दिखलाई देने चाहिए, अतएव आप लोग अपने पात्रों को बहुत सजा-धजा कर न लाइयेगा।

दोनों आचार्य—यह बतलाने की आवश्यकता नहीं थी। (दोनों जाते हैं)

देवी—(राजानमवलोक्य) जइ राअकज्जेसु ईरिसी उवाअणिउणदा अज्जउत्तस्स तदो सोहणं भवे। [यदि राजकार्येष्वीदृश्युपायनिपुणता आर्यपुत्रस्य ततः शोभनं भवेत्।]

राजा—

अलमन्यथा गृहीत्वा न खलु मनस्विनि मया प्रयुक्तमिदम्।
प्रायः समानविद्याः परस्परयशःपुरोभागाः ॥ २० ॥

(नेपथ्ये मृदङ्गध्वनिः। सर्वे कर्ण ददति)

परिव्राजिका—हन्त। प्रवृत्तं सङ्गीतम्। तथा ह्येषा—

जीमूतस्तनितविशङ्किभिर्मयूरैरुद्ग्रीवैरनुरसितस्य पुष्करस्य।
निर्ह्रादिन्युपहितमध्यमस्वरोत्था मायूरी मदयति मार्जना मनांसि ॥ २१ ॥

राजा—देवि ! तस्याः सामाजिका भवामः।

देवी—(स्वगतम्) अहो अविणओ अज्जउत्तस्स। [अहो अविनय आर्यपुत्रस्य।]

(सर्व उत्तिष्ठन्ति)

विदूषकः—(अपवार्य) भो ! धीरं गच्छ। तत्तभोदी धारिणी विसंवादइस्सदि। [भोः ! धीरं गच्छ। तत्रभवती धारिणी विसंवादयिष्यति।]

राजा— धैर्यावलम्बिनमपि त्वरयति मां मुरजवाद्यरागोऽयम्।
अवतरतः सिद्धिपथं शब्दः स्वमनोरथस्येव ॥ २२ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति प्रथमोऽङ्कः।

देवी—(राजा को देखकर) यदि आर्यपुत्र अपने राज्य के प्रशासन में इतनी कुशलता व्यक्त करते तो अति सुन्दर होता।

राजा—देवी ! तुम कुछ और न समझ बैठना। इसमें मेरा कोई हाथ नहीं है। देखो, जो लोग समान विद्या वाले होते हैं, वे कभी एक-दूसरे की उन्नति नहीं सह सकते हैं ॥ २० ॥

(नेपथ्य में मृदंग का शब्द होता है। सभी सुनते हैं)

परिव्राजिका—अरे लो ! उन्होंने तो संगीत छेड़ भी दिया। देखो—

मृदंग के शब्द को मेघगर्जन समझकर ये मोर ऊपर मुँह करके देखने लगे और दूर तक गूँजने वाली यह मध्यम स्वर से उठी हुई मायूरी नाम की ध्वनि मन को मदयुक्त बना रही है ॥ २१ ॥

राजा—देवि ! चलिए हम लोग भी दर्शक बनें।

देवी—(मन ही मन) शोक है, आर्यपुत्र भी कितने धृष्ट है ?

(सभी उठ खड़े होते हैं)

विदूषक—(अलग से) मित्र ! धीरे-धीरे चलिए। कहीं धारिणीजी अब भी गड़बड न कर दें।

राजा—मैं बहुत धीरे ही चल रहा हूँ, फिर भी मुरज से निकला हुआ राग मुझे इस प्रकार शीघ्रता से चला रहा है मानों मेरे ही मनोरथ का शब्द हो और वही मुझमें उतावली पैदा कर रहा है ॥ २२ ॥

(सभी निकल जाते हैं)

पहला अंक समाप्त।

द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति सङ्गीतरचनायां कृतायामासनस्थो राजा सवयस्यो
धारिणी, परिव्राजिका विभवतश्च परिवारः)

राजा—भगवति ! अत्रभवतोराचार्ययोः प्रथमं कतरस्योपदेशं द्रक्ष्यामः।

परिव्राजिका—ननु समानेऽपि ज्ञानवृद्धभावे वयोवृद्धत्वाद् गणदासः पुरस्कारमर्हति।

राजा—तेन हि मौद्गल्य ! एवमत्रभवतोरावेद्य स्वनियोगमशून्यं कुरु।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रान्तः)

(प्रविश्य)

गणदासः—देव ! शर्मिष्ठायाः कृतिर्लयमध्या चतुष्पदास्ति। तस्यास्तु छलिकप्रयोगमेकमनाः श्रोतुमर्हति देवः।

राजा—आचार्य ! वहुमानादवहितोऽस्मि।

(निष्क्रान्तो गणदासः)

राजा—(जनान्तिकम्) वयस्य !

नेपथ्यपरिगतायाश्चक्षुर्दर्शनसमुत्सुकं तस्याः।
संहर्तुमधीरतया व्यवसितमिव मे तिरस्करिणीम्॥ १ ॥

विदूषकः—(अपवार्य) उवट्ठिदं णअणमहु संणिहिदमक्खिअं अ। ता अप्पमत्तो दाणिं पेक्ख।
[उपस्थितं नयनमधु सन्निहितमक्षिकं च। तदप्रमत्त इदानीं पश्य।]

(संगीतशाला में विदूषक के साथ राजा, परिव्राजिका, रानी धारिणी और सम्पूर्ण राजपरिवार उपस्थित है)

राजा—देवी ! इन दोनों आचार्यों में से पहले किसका सिखाया हुआ नाटक देखा जाय ?

परिव्राजिका—यद्यपि दोनों का नाट्यज्ञान समान है फिर आचार्य गणदास अवस्था में बडे हैं, अतएव पहले इन्हीं को अवसर मिलना चाहिए।

राजा—अतः मौद्गल्य ! जाओ आचार्यों को यह बात कहकर अपना काम करो।

कञ्चुकी—महाराज की जो आज्ञा। **(चला जाता है)**

(गणदास का प्रवेश)

गणदास—शर्मिष्ठा ने मध्यलय में एक चतुष्पद गान की रचना की है। उसके छलिक नाम वाले अभिनय को सावधान होकर सुनें।

राजा—आचार्य ! मैं बड़े आदर से उधर ध्यान लगाये हूँ।

(गणदास चला जाता है)

राजा—**(अलग से)** मित्र !

परदे के पीछे जो मेरी प्रियतमा उपस्थित है उसे देखने के लिए मेरी आँखें इतनी अधीर है मानों पर्दे को फाड़ डालना चाहती हैं॥ १ ॥

विदूषक—**(अलग से)** आपकी आँखों के लिए मधु तो उपस्थित है किन्तु मधुमक्खी भी समीप में ही है, अतएव सावधानी से उधर देखियेगा।

(ततः प्रविशत्याचार्यप्रत्यवेक्ष्यमाणाङ्गसौष्ठवा मालविका)

विदूषकः—(जनान्तिकम्) पेक्खदु भवं। ण क्खु से पडिच्छंदादो परिहीअदि महुरदा। [पश्यतु भवान्। न खल्वस्याः प्रतिच्छन्दात्परिहीयते मधुरता।]

राजा—(अपवार्य) वयस्य!

चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशङ्कि मे हृदयम्।
सम्प्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता॥ २॥

गणदासः—वत्से! मुक्तसाध्वसा सत्त्वस्था भव।

राजा—(आत्मगतम्) अहो सर्वस्थानानवद्यता रूपविशेषस्य। तथाहि—

दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्ति वदनं बाहू नतावंसयोः
सङ्क्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव।
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालाङ्गुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसि श्लिष्टं तथास्या वपुः॥ ३॥

मालविका—(उपगानं कृत्वा चतुष्पदवस्तु गायति)

दुल्लहो पिओ मे तस्सिं भव हिअअ णिरासं
अम्हो अपंगओ मे परिप्फुरइ किं वि वामओ।
एसो सो चिरदिट्ठो कहँ उण उवणइदव्वो
णाह मं पराहीणं तुइ परिगणअ सतिण्हम्॥ ४॥
[दुर्लभः प्रियो मे तस्मिन् भव हृदय निराश-
महो अपाङ्गो मे परिस्फुरति किमपि वामः।
एष स चिरदृष्टः कथं पुनरुपनेतव्यो
नाथ! मां पराधीनां त्वयि परिगणय सतृष्णाम्॥]

(आचार्य गणदास से निरीक्षित हावभाव वाली मालविका प्रवेश करती है)

विदूषक—(अलग) श्रीमान् देखिए। वह जिस प्रकार चित्र में सुन्दर थी उससे किसी प्रकार भी कम सुन्दर नहीं है।

राजा—(अलग) मित्र!

चित्र में इसकी सुन्दरता देखकर मेरा हृदय शंकित था कि वह वास्तव में इतनी सुन्दरी नहीं होगी। परन्तु साक्षात् रूप में इसे देखकर मैं समझता हूँ कि चित्रकार ने सावधानी से इसका चित्र नहीं बनाया॥ २॥

गणदास—पुत्रि! कम्पनविहीन होकर प्रकृतिस्थ हो जाओ।

राजा—(मन ही मन) इसके सम्पूर्ण अङ्गों की पवित्रता आश्चर्यजनक है। क्योंकि—

इसका बड़ी-बड़ी आँखों वाला, शरत्काल के चन्द्रमा की शोभा से सम्पन्न मुख, कन्धों पर कुछ झुकी हुई भुजाएँ, उन्नत एवं कठोर स्तनों से जकडी हुई छाती, पार्श्व परिमार्जित तुल्य, मुट्ठीभर की कटि, मोटी-मोटी जाँघें, झुकी हुई अंगुलियों वाले चरण हैं। ज्ञात होता है कि मानों इसका सम्पूर्ण शरीर इसके नाट्यगुरु गणदासजी के कहने पर ही गढा गया होगा॥ ३॥

मालविका—(पहले आलाप भर कर चार पदों वाला गाना गाती है)

दुर्लभ है वह मेरा प्रियतम हृदय छोड़ उसकी आशा।
वामापाङ्ग फड़कता मेरा अत: बँध रही कुछ आशा।

(ततो यथारसमभिनयति)

विदूषकः—(जनान्तिकम्) भो वअस्स! चउप्पदवत्थुअं दुवारीकरिअ तुइ उवट्ठाविदो अप्पा तत्तहोदीए। [भो वयस्य! चतुष्पदवस्तुकं द्वारीकृत्य त्वय्युपस्थापित आत्मा तत्रभवत्या।]

राजा—सखे! एवमेव ममापि हृदयम्। अनया खलु—

जनमिममनुरक्तं विद्धि नाथेति गेये वचनमभिनयन्त्या : स्वाङ्गनिर्देशपूर्वम्।
प्रणयगतिमदृष्ट्वा धारिणीसन्निकर्षादहमिव सुकुमारप्रार्थनाव्याजमुक्तः ॥ ५ ॥

(मालविका गीतान्ते निष्क्रमितुमारब्धा)

विदूषकः—भोदि! चिट्ठ। किं वि वो विसुमरिदो कम्मभेदो। तं दाव पुच्छिस्सं। [भवति! तिष्ठ। किमपि वो विस्मृतः कर्मभेदः। तं तावत्प्रक्ष्यामि।]

गणदासः—वत्से! क्षणमात्रं स्थित्वोपदेशविशुद्धा यास्यसि।

(मालविका निवृत्य स्थिता)

राजा—(आत्मगतम्) अहो! सर्वास्ववस्थासु चारुता शोभान्तरं पुष्यति। तथाहि—

वामं सन्धिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामाविटपसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम्।
पादाङ्गुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम् ॥ ६ ॥

बहुत काल का देखा प्रियतम कैसे उसको अपनाऊँ?
पराधीन अपने को प्रियतम! तुझमें तृषित गिना पाऊँ ॥ ४ ॥

(गीत के भाव के अनुसार अभिनय करती है)

विदूषक—(अलग) हे मित्र! इन्होंने तो इस चार चरण वाले गीत के बहाने आप पर अपने को न्यौछावर कर डाला।

राजा—मित्र! मेरा भी हृदय यही समझ रहा है कि इसने—

"हे नाथ! इस स्नेहासक्त व्यक्ति को अपनी ही समझो" गीत गाते हुए अपनी ओर संकेत करके जो अभिनय किया है; वह इसीलिए कि महारानी धारिणी को पास देखकर इसने समझ लिया कि प्रेम दिखलाने का कोई दूसरा उपाय तो है नहीं, अतएव एक सुकुमार युवक से प्रेमभिक्षा माँगने के भाव वाला यह गीत गाकर इसने सचमुच मुझसे ही सब कुछ कहा है ॥ ५ ॥

(गा चुकने पर मालविका चली जाना चाहती है)

विदूषक—ठहरिये देवी! आप बीच में कुछ भूल गई हैं, वही मैं पूछना चाहता हूँ।

गणदास—वत्से! थोड़ी देर रुक जाओ और जब यहाँ सब लोग पूर्ण रूप से जान लें कि तुमने ठीक से नाट्य सीख लिया है, तभी जाना।

(मालविका लौटकर खड़ी हो जाती है)

राजा—(मन ही मन) अहा! सम्पूर्ण दशाओं में रमणीयता दूसरी ही शोभा का पोषण करती है—

इसने अपना बाँयाँ हाथ अपने नितम्ब पर रख लिया है, अतएव हाथ का कड़ा पहुँचे पर रुक कर चुप हो गया है। दूसरा हाथ श्यामा की डाली के समान ढीला लटका हुआ है। आँखें नीची करके पैर के अँगूठे से धरती पर बिखरे हुए फूलों को सरका रही है। इस प्रकार खड़ी होने से ऊपर का शरीर

देवी—णं गोदमवअणं वि अज्जो हिअए करेदि। [ननु गौतमवचनमप्यार्यो हृदये करोति।]

गणदासः—देवि ! मा मैवम्। देवप्रत्ययात्सम्भाव्यते सूक्ष्मदर्शिता गौतमस्य। पश्य—

मन्दोऽप्यमन्दतामेति संसर्गेण विपश्चितः।
पङ्कच्छिदः फलस्येव निकषेणाविलं पयः॥ ७॥

(विदूषकं विलोक्य) तच्छृणुमो वयं विवक्षितमार्यस्य।

विदूषकः—(गणदासं विलोक्य) कोसिइँ दाव पुच्छ। पच्छा जो मए कम्मभेदो दिट्ठो तं भणिस्सं। [कौशिकीं तावत्पृच्छ। पश्चाद्यो मया कर्मभेदो दृष्टस्तं भणिष्यामि।]

गणदासः—भगवति ! यथादृष्टमभिधीयतां गुणो वा दोषो वेति।

परिव्राजिका—यथादृष्टं सर्वमनवद्यम्। कुतः—

अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव॥ ८॥

गणदासः—देवः कथं वा मन्यते।

राजा—वयं स्वपक्षशिथिलाभिमानाः संवृत्ताः।

गणदासः—अद्य नर्तयितास्मि। कुतः—

उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः।
श्यामायते न युष्मासु यः काञ्चनमिवाग्निषु॥ ९॥

लम्बा और सीधा हो गया है। नाचने के समय भी यह ऐसी सुन्दर नहीं लगती थी जैसी अब लग रही है॥ ६॥

देवी—क्या आर्य गणदास भी गौतम की बात सच मान रहे हैं।

गणदास—देवि ! ऐसा मत समझिए। राजा के साथ रहने से गौतम भी सूक्ष्मदर्शी हो गया है। देखिए—

चतुर मनुष्यों के सहवास से मूर्ख मनुष्य भी चतुर हो जाते हैं। जैसे निर्मली के संसर्ग से दूषित जल भी स्वच्छ हो जाता है॥ ७॥

(**विदूषक को देखकर**) हम भी तो सुनें कि आर्य क्या पूछना चाहते थे।

विदूषक—(**गणदास को देखकर**) आप पहिले कौशिकीजी से पूछ लीजिये, मैं पीछे बतलाऊँगा कि भूल कहाँ हुई है ?

गणदास—भगवती ! आपने जहाँ जैसा गुण या दोष देखा हो सब कुछ बतला दीजिये।

परिव्राजिका—मैंने तो जो कुछ देखा सभी निर्दोष एवं पवित्र पाया। क्योंकि—

गीत की सभी बातों का ठीक-ठीक अर्थ अंगों के अभिनय से पूर्णरूप से दिखा दिया गया। इनके पैर भी लय के साथ-साथ चल रहे थे। फिर गीत के रस में भी वे तन्मय हो गई थीं। हस्त-सञ्चालन द्वारा किया गया अभिनय सुकुमार था। उसके अनेक प्रकार एक-दूसरे की सहायता करते रहे, सर्वत्र समान राग का दृश्य बना रहा॥ ८॥

गणदास—देव ! आप इसे कैसा समझते हैं ?

राजा—मैंने अपने पक्ष का अभिमान छोड़ दिया।

गणदास—आज मैं वस्तुतः नृत्यकला का पण्डित हुआ हूँ। क्योंकि—

देवी—दिट्ठिआ अपरिक्खदाराहणेण अज्जो वड्ढइ। [दिष्ट्याऽपरीक्षकाराधनेनार्यो वर्धते।]

गणदासः—देवीपरिग्रह एव मे वृद्धिहेतुः। (विदूषकं विलोक्य) गौतम! वदेदानीं यत्ते मनसि वर्तते।

विदूषकः—पढमोवदेसदंसणे पढमं बम्हणस्स पूजा कादव्वा। सा णं वो विसुमरिदा। [प्रथमोपदेशदर्शने प्रथमं ब्राह्मणस्य पूजा कर्तव्या। सा ननु वो विस्मृता।]

परिव्राजिका—अहो! प्रयोगाभ्यन्तरः प्रश्नः।

(सर्वे प्रहसिताः। मालविका स्मितं करोति)

राजा—(आत्मगतम्) उपात्तसारश्चक्षुषा मे स्वविषयः। यदनेन—

स्मयमानमायताक्ष्याः किञ्चिदभिव्यक्तदशनशोभि मुखम्।
असमग्रलक्ष्यकेसरमुच्छ्वसदिव पङ्कजं दृष्टम्॥ १०॥

गणदासः—महाब्राह्मण! न खलु प्रथमं नेपथ्यदर्शनमिदम्। अन्यथा कथं त्वां दक्षिणीयं नार्चयिष्यामः।

विदूषकः—मए णाम सुक्खघणगज्जिदे अंतरिक्खे जलपाणं इच्छिदा चादआइदं। अहवा पंडितसंतोसपच्चआ णं मूढा जादी। जदि अत्तहोदीए सोहणं भणिदं तदो इमं से पारितोसिअं पअच्छामि। (इति राज्ञो हस्तात्कटकमाकर्षति) [मया नाम शुष्कघनगर्जितेऽन्तरिक्षे जलपानमिच्छता चातकायितम्। अथवा पण्डितसन्तोषप्रत्यया ननु मूढजातिः। यतोऽत्रभवत्या शोभनं भणितं तत इदं ते पारितोषिकं प्रयच्छामि।]

जिस प्रकार आग में डालने से सोना काला नहीं पड़ता, वैसे ही जिस शिक्षक के सिखाने में किसी प्रकार की त्रुटि न हो, उसे ही सच्ची शिक्षा कहते हैं॥ ९॥

देवी—सौभाग्य से परीक्षा द्वारा सभा को प्रसन्न करने के कारण आपको वधाई है।

गणदास—देवि! आपकी कृपा ही मेरे श्रेय का कारण है। (विदूषक को देखकर) गौतम! इस समय जो आपके मन में हो, उसे वतलाइए।

विदूषक—सर्वप्रथम परीक्षा देने के समय ब्राह्मण की पूजा की जाती है, वह आप लोगों के द्वारा भूल गई।

परिव्राजिका—आश्चर्य है, क्या नाट्यकला के भीतर की वात पूछी है?

(सब हँसते हैं। मालविका मुस्कराती है)

राजा—(मन ही मन) मेरे नेत्रों को इच्छित वस्तु देखने को प्राप्त हो गई? क्योंकि—

आज मेरी आँखों को विशाल नेत्रोंवाली के मुस्कराते हुए उस मुख का दर्शन मिल गया है जिसमें कुछ-कुछ दाँत दिखलाई पड़ रहे थे और जो उस खिलते हुए कमल के समान जान पड़ता है, जिसके केसर पूर्णरूप से न दिखलाई दे रहे हों॥ १०॥

गणदास—अरे ब्राह्मणाधम! हम लोग पहली वार तो नाटक दिखा नहीं रहे हैं। ऐसा होता तो तुम्हारे जैसे पेटपूजा पर जीने वाले की हम अच्छी पूजा करते।

विदूषक—तो क्या मैं कोरे गर्जनशील वादलों से प्यास मिटाने की आशा करने वाला पपीहा ही वना रह गया? परन्तु मेरे समान मूर्खों की तो ऐसी वात है कि यदि पण्डितों को सन्तोष हुआ तो मानों हमें भी सन्तोष हो गया। जब भगवती कौशिकी ने इसे सुन्दर वता दिया है तो मैं भी तुम्हें यह पारितोषिक दे डालता हूँ। (राजा के हाथ से कंगन खींचता है)

देवी—चिट्ठ दाव। गुणंतरं अजाणंती किं णिमित्तं तुम आहरणं देसि। [**तिष्ठ तावत्। गुणान्तरमजानन् किन्निमित्तं त्वमाभरणं ददासि।**]

विदूषकः—परकेरअंति करिअ। [**परकीयमिति कृत्वा।**]

देवी—(आचार्य विलोक्य) अज्ज गणदास! णं दंसिदोवदेसा दे सिस्सा। [**आर्य गणदास! ननु दर्शितोपदेशा ते शिष्या।**]

गणदासः—वत्से! एहि गच्छाव इदानीम्।

(सहाचार्येण निष्क्रान्ता मालविका)

विदूषकः—(जनान्तिकम्) एत्तिओ मे मदिविहवो भवंतं सेविदुं। [**एतावान्मे मतिविभवो भवन्तं सेवितुम्।**]

राजा—अलमलं परिच्छेदेन। अहं हि—

भाग्यास्तमयमिवाक्ष्णोर्हृदयस्य महोत्सवावसानमिव।
द्वारपिधानमिव धृतेर्मन्ये तस्यास्तिरस्करिणीम्॥ ११ ॥

विदूषकः—(जनान्तिकम्) दलिद्दो विअ आदुरो वेज्जेण ओसदं दीअमाणं इच्छसि। [**दरिद्र इवातुरो वैद्येनौषधं दीयमानमिच्छसि।**]

(प्रविश्य)

हरदत्तः—देव! मदीयमिदानीं प्रयोगमवलोकयितुं क्रियतां प्रसादः।

राजा—(आत्मगतम्) अवसितो दर्शनार्थः। (दाक्षिण्यमवलम्ब्य प्रकाशम्) ननु पर्युत्सुका एव वयम्।

हरदत्तः—अनुगृहीतोऽस्मि।

देवी—ठहरो। अन्य अभिनय देखे बिना अभी इसे आभूषण क्यों दे रहे हो?

विदूषक—दूसरे का है, यह समझ कर दे रहा हूँ।

देवी—(**आचार्य को देखकर**) आर्य गणदास! कहिये, आपकी शिष्या अपना अभिनय दिखा चुकी?

गणदास—आओ पुत्रि! हम लोग चलें।

(आचार्य के साथ मालविका चली जाती है)

विदूषक—(**राजा से अलग**) जहाँ तक मेरी बुद्धि की पहुँच थी वहाँ तक तो मैंने आपका काम कर दिया।

राजा—रहने दो, अपनी बुद्धि की सीमा बतलाने की आवश्यकता नहीं।

मैं मालविका के प्रस्थान को अपने नेत्रों के सौभाग्य-सूर्य का अस्तमय, हृदय के महोत्सव की समाप्ति और धैर्य के मार्ग का बन्द हो जाना समझता हूँ॥ ११ ॥

विदूषक—(**अलग**) वाह दरिद्र रोगी की भाँति वैद्य से बिना मूल्य दवा चाहते हो?

(प्रवेश कर)

हरदत्त—महाराज! अब मेरे द्वारा शिक्षित अभिनय भी देखने की कृपा करें।

राजा—(**मन ही मन**) जो देखना था वह तो देख ही चुके (**उदारता दिखाने के लिए प्रकट रूप से**) हम लोग तो देखने के लिए उत्सुक ही हैं।

हरदत्त—मुझ पर आपकी महती कृपा है।

(नेपथ्ये)

वैतालिकः—जयतु जयतु देवः। उपारूढो मध्याह्नः। तथाहि—

पत्रच्छायासु हंसा मुकुलितनयना दीर्घिका पद्मिनीनां
सौधान्यत्यर्थतापाद्वलभिपरिचयद्वेषिपारावतानि ।
बिन्दुक्षेपान्पिपासुः परिसरति शिखी भ्रान्तिमद्वारियन्त्रं
सर्वैरुस्रैः समग्रैस्त्वमिव नृपगुणैर्दीप्यते सप्तसप्तिः ॥ १२ ॥

विदूषकः—अविहा अविहा। अम्हाणं उण भोअणवेला उवट्ठिदा। अत्तभवदो उइदवेलादिक्कमे चिइच्छआ दोसं उदाहरंति। (हरदत्तं विलोक्य) हरदत्त! किं दाणिं भणसि। [अविधा अविधा। अस्माकं पुनर्भोजनवेलोपस्थिता। अत्रभवत उचितवेलातिक्रमे चिकित्सका दोषमुदाहरन्ति। हरदत्त! किमिदानीं भणसि।]

हरदत्तः—अस्ति वचनस्यान्यस्यावकाशोऽत्र ?

राजा—तेन हि त्वदीयमुपदेशं श्वो वयं द्रक्ष्यामः। विरमतु भवान्।

हरदत्तः—यदाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रान्तः)

देवी—णिव्वट्ठेदु अज्जउत्तो मज्जणविहिं। [निर्वर्तयत्वार्यपुत्रो मज्जनविधिम्।]

विदूषकः—भोदि! विसेसेण पाणभोअणं तुवरावेहि। [भवति! विशेषेण पानभोजनं त्वरय।]

परिव्राजिका—(उत्थाय) स्वस्ति भवते। (इति सपरिजनया देव्या सह निष्क्रान्ता)

विदूषकः—भो वअस्स! ण केवलं रूवे सिप्पे वि अदुदीआ मालविआ। [भो वयस्य! न केवलं रूपे शिल्पेऽप्यद्वितीया मालविका।]

राजा—वयस्य!

अव्याजसुन्दरीं तां विधानेन ललितेन योजयता।
परिकल्पितो विधात्रा बाणः कामस्य विषदिग्धः ॥ १३ ॥

किं बहुना। सखे! चिन्तयितव्योऽस्मि।

(नेपथ्य में)

वैतालिक—जय हो देव की जय हो। दोपहर हो गया है। क्योंकि—

बावलियों में कमल की पंखुड़ियों की छाया में हंस आँख मूँदकर विश्राम कर रहे हैं। धूप से भवन ऐसा तप गया है कि छज्जों पर कबूतर तक नहीं बैठ रहे हैं। चलते हुए रहट से उछलती हुई पानी की बूँदें पीने के लिए मोर उसके चारों ओर चक्कर काट रहे हैं और सूर्य अपनी सब किरणें लेकर उसी प्रकार चमक रहा है जैसे आप अपने सम्पूर्ण राजसी गुणों से चमक रहे हैं॥ १२॥

विदूषक—अरे रे! अब तो हम लोगों के भोजन का समय हो गया है। वैद्यों का कथन है कि समय पर भोजन न करने से बड़ी हानि होती है। (हरदत्त को देखकर) कहो हरदत्त! क्या कहते हो?

हरदत्त—अब कुछ कहने की बात ही कहाँ रह जाती है?

राजा—तो अब आपका प्रदर्शन हम लोग कल देखेंगे। आप जाकर विश्राम करें।

हरदत्त—श्रीमान् की जैसी आज्ञा। (निकल जाता है)

देवी—तो आर्यपुत्र! अब चलकर आप स्नान करें।

विदूषक—देवी! अब शीघ्र भोजन-पानी का कुछ उत्तम प्रबन्ध कराइये।

परिव्राजिका—(उठकर) आपका कल्याण हो। (सेविकाओं और रानी के साथ चली जाती हैं)

विदूषक—मित्र! सुन्दरता में ही नहीं कला में भी मालविका अद्वितीय है।

राजा—वयस्य!

विदूषकः—भवदा वि अहं। दिढं विपणिकंदू विअ मे उअरब्भंतरं दज्झइ। [**भवताप्यहम्। दृढं विपणिकन्दुरिव मे उदराभ्यन्तरं दह्यते।**]

राजा—एवमेव भवान् सुहृदर्थेऽपि त्वरताम्।

विदूषकः—गहीददक्खिणोम्हि। किं तु मेहावलीणिरुद्धा जोण्हा विअ पराहीणदंसणा तत्तहोदी मालविआ। भवं वि सूणापरिसरचरो विअ गिद्धो आमिसलोलुओ भीरुओ अ। अच्चंतादुरो विअ कज्जसिद्धिं पत्थंतो मे रोअसि। [**गृहीतदक्षिणोऽस्मि। किं तु मेघावलीनिरुद्धा ज्योत्स्नेव पराधीनदर्शना तत्रभवती मालविका। भवानपि सूनापरिसरचर इव गृध्र आमिषलोलुपो भीरुकश्च। अत्यन्तातुर इव कार्यसिद्धिं प्रार्थयमानो मे रोचसे।**]

राजा—कथमनातुरो भविष्यामि—

सर्वान्तःपुरवनिताव्यापारप्रतिनिवृत्तहृदयस्य।
सा वामलोचना मे स्नेहस्यैकायनीभूता॥ १४॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति द्वितीयोऽङ्कः।

अकृत्रिम सुन्दरी उस मालविका की विधाता ने ललितकलाएँ क्या दे दीं मानों काम के वाणों को विषाक्त वना दिया॥ १३॥

मित्र! अब अधिक क्या कहूँ, तुम जाकर मेरी कुछ चिन्ता करो।

विदूषक—आप भी मेरी चिन्ता कीजिये। मेरा पेट इस समय हलवाई के तावे की भाँति अत्यन्त सन्तप्त है।

राजा—तुम भी अपने मित्र के लिए अब कोई उपाय शीघ्र ही सोच निकालो।

विदूषक—उसके लिए तो मैं पहले ही आपसे दक्षिणा पा चुका हूँ, किन्तु मेघावृत चन्द्रिका के समान मालविका के दर्शन भी तो पराधीन ही है। आप भी मांस वेचने वाले व्याध के घर पर मँडराने वाले गिद्ध के समान उस पर ललचाये हुए भी हैं और साथ ही डरते हैं। इतनी व्यग्रता के साथ मुझे काम करने को कहते हुए आप वडे अच्छे लगते हैं।

राजा—मैं किस प्रकार शान्त हो सकूँगा।

अन्तःपुर की सभी रमणियों के हावभाव से मेरा हृदय फिर गया है। अब तो सुलोचना मालविका ही मेरे स्नेह की एकमात्र अधिकारिणी रह गई है॥ १४॥

(इस प्रकार सभी निकल जाते हैं)

दूसरा अङ्क समाप्त।

तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति परिव्राजिकायाः परिचारिका समाहितिका)

समाहितिका—आणत्तम्हि भअवदीए—'समाहिदिए! देवस्स उवावणत्थं बीअऊरअं गेण्हिअ आअच्छ' त्ति। ता जाव पमदवणपालिअं महुअरिअं अण्णेसामि। (परिक्रम्यावलोक्य) एसा तवणीआसोअं ओलोअंती महुअरिआ चिट्ठदि। ता जाव णं उवसप्पामि। [**आज्ञप्तास्मि भगवत्या—'समाहितिके! देवस्योपवनस्थं बीजपूरकं गृहीत्वागच्छे' ति। तद्यावत्प्रमदवनपालिकां मधुकरिकामन्विष्यामि। एषा तपनीयाशोकमवलोकयन्ती मधुकरिका तिष्ठति। तद्यावदेनामुपसर्पामि।**]

(ततः प्रविशति उद्यानपालिका)

समाहितिका—(उपसृत्य) महुअरिए! अवि सुहो दे उज्जाणव्वावारो। [**मधुकरिके! अपि सुखस्त उद्यानव्यापारः।**]

मधुकरिका—अम्हो समाहिदिआ। सहि! सागदं दे। [**अहो समाहितिका। सखि! स्वागतं ते।**]

समाहितिका—हला! भगवदी आणवेदि—'अरित्तपाणिणा अम्हारिसजणेण तत्तहोदी देवी देक्खिदव्वा। ता बीअपूरएण सुस्सूसिदुं इच्छामि' त्ति। [**सखि! भगवत्याज्ञापयति—'अरिक्तपाणिनास्मादृशजनेन तत्रभवती देवी द्रष्टव्या। तद्बीजपूरकेण शुश्रूषितुमिच्छामी' ति।**]

मधुकरिका—णं संणिहिदं वीजपूरअं। कहेहि दाव अण्णोण्णसंघरिसिदाणं णट्टाअरिआणं उवदेसं देक्खिअ कदरो भअवदीए पसंसिदो। [**ननु सन्निहितं बीजपूरकम्। कथय तावदन्योन्यसङ्घर्षितयोर्नाट्याचार्ययोरुपदेशं दृष्ट्वा कतरो भगवत्या प्रशंसितः।**]

समाहितिका—दुवे वि किल आगमिणा पओअणिउणा अ। किंतु सिस्साए मालविआए गुणबिसेसेण गणदासस्स उवदेसो पसंसिदो। [**द्वावपि किलागमिनौ प्रयोगनिपुणौ च। किन्तु शिष्याया मालविकाया गुणविशेषेण गणदासस्योपदेशः प्रशंसितः।**]

(तदनन्तर परिव्राजिका की दासी समाहितिका प्रवेश करती है)

समाहितिका—भगवती कौशिकी ने मुझे आज्ञा दी है कि समाहितिका जाओ, महाराज के उपवन से एक विजौरिआ नीबू तो लें आओ। तो चलूँ प्रमदवन की मालिन मधुरिका का पता लगाऊँ। (**घूमकर देखकर**) अरे! सुनहले अशोक की ओर टकटकी लगाये यह क्या खड़ी है। तो चलूँ इसके पास।

(उसके बाद मालिन मधुकरिका प्रवेश करती है)

समाहितिका—(**पास जाकर**) कहो मधुकरिका! तुम्हारे उपवन का काम तो ठीक-ठीक चल रहा है न?

मधुकरिका—अरे! तुम हो समाहितिका! आओ सखी आओ, तुम्हारा स्वागत है।

समाहितिका—सखी! भगवती कौशिकी ने कहा है कि हमें रिक्तहस्त महारानी से मिलने नहीं जाना चाहिए, अतः एक नीबू ही उपहार के रूप में लेकर उनसे मिल लूँगी।

मधुकरिका—लो, नीबू तो पास ही है। हाँ; यह तो बतलाओ कि वह जो दोनों नाट्याचार्यो का विवाद चल रहा था, उनमें से भगवती ने किस आचार्य की प्रशंसा की?

समाहितिका—यों तो दोनों ही नाट्यशास्त्र के पण्डित और अभिनय-कला में चतुर है, परन्तु गणदास ने अपनी शिष्या मालविका को इतनी उत्तम शिक्षा दी है कि उसे देख लेने पर गणदास ही दोनों में प्रशंसित हुए।

मधुकरिका—अह मालविआगदं कोलीणं कीरिसं सुणीअदि ? [अथ मालविकागतं कौलीनं कीदृशं श्रूयते ?]

समाहितिका—बाढं किल तस्सिं साहिलासो भट्टा। किंदु केवलं देवीए धारिणीए चित्तं रक्खंतो अत्तणो पहुत्तणं दंसेदि। मालविआ वि इमेसु दिअसेसु अणुहूदमुत्ता विअ मालदीमाला मिलाणा लक्खीअदि। अदो अवरं ण जाणे। विसज्जेहि मं। [बाढं किल तस्यां साभिलाषो भर्ता। किन्तु केवलं देव्या धारिण्याश्चित्तं रक्षन्नात्मनः प्रभुत्वं दर्शयति। मालविकाप्येषु दिवसेष्वनुभूतमुक्तेव मालतीमाला म्लाना लक्ष्यते। अतः परं न जाने। विसृज माम्।]

मधुकरिका—एदं साहावलंबिदं बीअपूरअं गेण्ह। [एतच्छाखावलम्बितं बीजपूरकं गृहाण।]

समाहितिका—तह। (इति नाट्येन बीजपूरकं गृहीत्वा) हला! तुमं वि अदो पेसलदरं साहुजणसुस्सूसाए फलं पावेहि। (इति प्रस्थिता) [तथा। सखि! त्वमप्यतः पेशलतरं साधुजनशुश्रूषायाः फलं प्राप्नुहि।]

मधुकरिका—हला! समं जेव्व गच्छम्ह। अहं वि इमस्स चिराअमाणकुसुमोग्गमस्स तवणीआसोअस्स दोहलणिमित्तं देवीए णिवेदेमि। [सखि! सममेव गच्छावः। अहमप्यस्य चिरायमाणकुसुमोद्गमस्य तपनीयाशोकस्य दोहदनिमित्तं देव्यै निवेदयामि।]

समाहितिका—जुज्जइ। अहिआरो क्खु तुह। [युज्यते। अधिकारः खलु तव।]

(निष्क्रान्ते)

॥ प्रवेशकः ॥

(ततः प्रविशति कामयमानावस्थो राजा विदूषकश्च)

राजा—(आत्मानं विलोक्य)

शरीरं क्षामं स्यादसति दयितालिङ्गनसुखे
भवेत्सास्रं चक्षुः क्षणमपि न सा दृश्यत इति।

मधुकरिका—मालविका के सम्बन्ध में ये कैसी-कैसी बातें सुनने में आ रही हैं ?

समाहितिका—हाँ, इधर महाराज मालविका के विषय में अत्यधिक अनुरक्त हो गये हैं, किन्तु केवल महारानी धारिणी का मन रखने के लिए स्पष्ट रूप से प्रेम दिखलाते हैं। इधर इन दिनों मालविका भी पहनकर उतारी गई मालतीमाला के समान म्लान होती जा रही है। इससे अधिक मैं कुछ नहीं जानती। अब मुझे छुट्टी दो।

मधुकरिका—इस डाल पर लटकते हुए बीजपूरक फल को ले लो।

समाहितिका—अच्छा। (**नीबू तोड़ने का अभिनय करके**) सखी! तुम्हें सज्जन लोगों की सेवा करने का फल इससे भी उत्तम मिले। (**यह कहकर चली जाती है**)

मधुकरिका—सखी! दोनों साथ ही चलें। मुझे भी चलकर महारानीजी से निवेदन करना है कि यह सुनहरा अशोक अभी तक फूल नहीं रहा है, इसके फूलने का उपाय किया जाना चाहिए।

समाहितिका—ठीक, यह तो तुम्हारा कर्तव्य ही है।

(दोनों चली जाती हैं)

॥ प्रवेशक ॥

(विदूषक के साथ कामपीड़ित अवस्था में राजा प्रवेश करते हैं)

राजा—(**अपनी ओर देखकर**)

प्रियतमा को हृदय से न लगा सकने के कारण मेरे शरीर का सूखते जाना सम्भव है। उसे क्षणभर

तया सारङ्गाक्ष्या त्वमसि न कदाचिद्विरहितं
प्रसक्ते निर्वाणे हृदय परितापं व्रजसि किम्?॥ १॥

विदूषकः—अलं भवदो धीरं उज्झिअ परिदेविदेण। दिट्ठा मए तत्तहोदीए मालविआए पिअसही बउलावलिआ। सुणाविदा अ अत्थं जो भवदा संदिट्ठो। **[अलं भवतो धीरतामुज्झित्वा परिदेवितेन। दृष्टा मया तत्रभवत्या मालविकायाः प्रियसखी बकुलावलिका। श्राविता चार्थ यो भवता सन्दिष्टः।]**

राजा—ततः किमुक्तवती।

विदूषकः—विण्णावेहि भट्टारअं— 'अणुगहीदम्हि इमिणा णिओएण। किंदु सा तवस्सिणी देवीए अहिअं रक्खंतीए णाअरक्खिदो विअ णिही ण सुहं समासादइदव्वा। तह वि जइस्सं'। **[विज्ञापय भट्टारकम्— 'अनुगृहीतास्म्यनेन नियोगेन। किन्तु सा तपस्विनी देव्याऽधिकं रक्षन्त्या नागरक्षित इव निधिर्न सुखं समासादयितव्या। तथापि यतिष्ये'।]**

राजा—भगवन् सङ्कल्पयोने! प्रतिबन्धवत्स्वपि विषयेष्वभिनिवेश्य किं तथा प्रहरसि यथा जनोऽयं न कालान्तरक्षमो भवति। (सविस्मयम्)—

क्व रुजा हृदयप्रमाथिनी क्व च ते विश्वसनीयमायुधम्।
मृदु तीक्ष्णतरं यदुच्यते तदिदं मन्मथ दृश्यते त्वयि॥ २॥

विदूषकः—णं भणामि तस्सिं साहणिज्जे कज्जे किदो मए उवाओवक्खेओ। ता पज्जवत्थावेदु भवं अप्पाणं। **[ननु भणामि तस्मिन्साधनीये कार्ये कृतो मयोपायोपक्षेपः। तत्पर्यवस्थापयतु भवानात्मानम्।]**

राजा—अथेमं दिवसशेषमुचितव्यापारविमुखेन चेतसा क्व नु खलु यापयामि।

के लिए भी देख न सकने के कारण आँखों का अश्रुपूर्ण भी होना सम्भव है। परन्तु मेरे हृदय! तुम तो कभी भी उस मृगाक्षी प्रियतमा से अलग नहीं हुए, हृदय को शीतल करनेवाली वह प्रियतमा तो साथ ही रही, फिर तुम क्यों सन्तप्त हो रहे हो?॥ १॥

विदूषक—आप धैर्य का परित्याग करके विलाप न करें। सौभाग्य से मुझे मालविका की प्रिय सखी बकुलावलिका मिल गई और मैंने उससे आपका सन्देश कह दिया।

राजा—इस पर उसने क्या कहा?

विदूषक—उसने कहा—स्वामी से निवेदन कर देना कि मुझ पर यह काम सौंपकर स्वामी ने मुझ पर बड़ी कृपा की है, परन्तु वह बेचारी महारानी की वैसे ही कड़ी देखरेख में है, जैसे साँप की देखरेख में कोई निधि हो। यद्यपि वह सहज ही प्राप्य नहीं है फिर भी मैं यत्न करूँगी।

राजा—हे भगवन् कामदेव! विघ्नपूर्ण विषय में अनुराग उत्पन्न करके तुमने इस प्रकार प्रहार करना आरम्भ कर दिया कि मैं अति व्यग्र हूँ। (**आश्चर्य के साथ**)

हे कामदेव! कहाँ तो हृदय को मसल देने वाला यह काम-सन्ताप और कहाँ तुम्हारे विश्वसनीय फूलों के बाण। यह कहावत तो तुम पर पूर्णरूप से घटित होती है किं जो जितने कोमल दिखलाई पड़ते हैं, वे उतने ही कठोर होते हैं॥ २॥

विदूषक—महाराज! मैंने आपका मनोरथ पूर्ण करने के लिए सभी उपाय कर दिये हैं, अतएव आप धैर्य रखें।

राजा—अब इस शेष दिन को करणीय कार्यकलाप से विमुख चित्त से मैं कहाँ बिताऊँ?

विदूषकः—अज्ज एव्व पढमावदारसुहआणि रत्तकुरवआणि उवाअणं पेसिअ णववसंतावदारव्व-वदेसेण इरावदीए णिउणिआमुहेण पत्थिदो भवं—'इच्छामि अज्जउत्तेण सह दोलाहिरोहणं अणुहविदुं' त्ति। भवदा वि से पडिण्णादं। ता पमदवणं एव्व गच्छम्ह। [**अद्यैव प्रथमावतारसुभगानि रक्तकुरबकाण्युपायनं प्रेष्य नववसन्तावतारव्यपदेशेनेरावत्या निपुणिकामुखेन प्रार्थितो भवान्—'इच्छाम्यार्यपुत्रेण सह दोलाधिरोहणमनुभवितुमि'ति। भवताप्यस्यै प्रतिज्ञातम्। तत्प्रमदवनमेव गच्छावः।**]

राजा—न क्षममिदम्।

विदूषकः—कहं विअ? [**कथमिव?**]

राजा—वयस्य! निसर्गनिपुणाः स्त्रियः। कथमन्यसङ्क्रान्तहृदयमुपलालयन्तमपि ते सखी न मां लक्षयिष्यति। अतः पश्यामि—

उचितः प्रणयो वरं विहन्तुं बहवः खण्डनहेतवो हि दृष्टाः।
उपचारविधिर्मनस्विनीनां न तु पूर्वाभ्यधिकोऽपि भावशून्यः॥ ३॥

विदूषकः—णारिहदि भवं अंतेउरट्ठिदं दक्खिण्णं एक्कपदे पिट्ठदो कादुं। [**नार्हति भवानन्तःपुरस्थितं दाक्षिण्यमेकपदे पृष्ठतः कर्तुम्।**]

राजा—(विचिन्त्य) तेन हि प्रमदवनमार्गमादेशय।

विदूषकः—इदो इदो भवं। [**इत इतो भवान्।**]

(उभौ परिक्रामतः)

विदूषकः—णं एदं पमदवणं पवणबलचलाहिं पल्लवंगुलीहिं तुवरेदि विअ भवंतं पवेसिदुं। [**नन्वेतत्प्रमदवनं पवनबलचलाभिः पल्लवाङ्गुलीभिस्त्वरयतीव भवन्तं प्रवेष्टुम्।**]

राजा—(स्पर्शं रूपयित्वा) अभिजातः खलु वसन्तः। सखे! पश्य—

विदूषक—आज तो सर्वप्रथम कुसुमित अभिनव कुरवक कुसुम भेजकर नवीन वसन्तागमन की सूचना के व्याज से रानी इरावती ने निपुणिका द्वारा कहलवाया है कि मैं आर्यपुत्र के साथ झूला झूलने का आनन्द लेना चाहती हूँ। आपने भी स्वीकार किया है, अतः प्रमदवन ही चलना चाहिए।

राजा—नहीं, ऐसा करना उचित नहीं होगा।

विदूषक—क्यों?

राजा—मित्र! स्त्रियाँ स्वभाव से ही चतुर हुआ करती हैं। मेरा हृदय अन्य रमणी में अनुरक्त है। मेरे अनुराग प्रदर्शित करने पर भी वह क्या यह ताड़ न लेगी? देखो—

प्रणय का परित्याग उचित है, उसके अनेक कारण हो सकते हैं; किन्तु चतुर रमणियों के निकट पहले की अपेक्षा अधिक होने पर भी प्रेमविहीन व्यवहार भला नहीं लगता है॥ ३॥

विदूषक—पर इस प्रकार अन्तःपुर की रानियों के प्रेम का एकाएक अनादर कर देना भी उचित नहीं होगा।

राजा—(**चिन्ता करके**) तब प्रमदवन के मार्ग को बतलाओ।

विदूषक—आप इधर से आइए इधर से। (दोनों घूमते हैं)

विदूषक—महाराज! यह प्रमदवन वायुवेग से प्रकम्पित पल्लवस्वरूप अपनी अंगुलियों से शीघ्र प्रवेश करने के लिए मानों बुला रहा है।

राजा—(**वायुस्पर्श के सुख का अभिनय करते हुए**) सचमुच वसन्त आ पहुँचा है। देखो मित्र!

उन्मत्तानां श्रवणसुभगैः कूजितैः कोकिलानां
सानुक्रोशं मनसिजरुजः सह्यतां पृच्छतेव।
अङ्गे चूतप्रसवसुरभिर्दक्षिणो मारुतो मे
सान्द्रस्पर्शः करतल इव व्यापृतो माधवेन॥४॥

विदूषकः—पविस णिव्वुदिलाहाअ। [प्रविश निर्वृतिलाभाय।]

(उभौ प्रविशतः)

विदूषकः—अवहाणेण दिट्ठिं देहि। एदं क्खु भवंतं विअ विलोहइदुकामाए पमदवणलच्छीए जुवदीवेसलज्जावइत्तिअं वसंतकुसुमणेवत्थं गहीदं। [अवधानेन दृष्टिं देहि। एतत्खलु भवन्तमिव विलोभयितुकानया प्रमदवनलक्ष्म्या युवतिवेषलज्जापयितृकं वसन्तकुसुमनेपथ्यं गृहीतम्।]

राजा—ननु विस्मयादवलोकयामि—

रक्ताशोकरुचा विशेषितगुणो बिम्बाधरालक्तकः
प्रत्याख्यातविशेषकं कुरबकं श्यामावदातारुणम्।
आक्रान्ता तिलकक्रिया च तिलकैर्लग्नद्विरेफाञ्जनैः
सावज्ञेव मुखप्रसाधनविधौ श्रीर्माधवी योषिताम्॥५॥

(उभौ नाट्येनोद्यानशोभां निर्वर्णयतः)

(ततः प्रविशति पर्युत्सुका मालविका)

मालविका—अविण्णादहिअअं भट्टारअं अहिलसंदी अप्पणो वि दाव लज्जेमि। कुदो विहवो सिणिद्धस्स सहीजणस्स इमं वुत्तंतं आचक्खिदुं। ण जाणे अप्पडिआरगरुअं वेअणं केत्तिअं कालं मअणो मं णइस्सदि त्ति। (इति कतिचित्पदानि गत्वा) आ, कहिं क्खु पत्थिदम्हि? (इति स्मृतिमभिनीय)

मतवाले कोकिलों की कानों को सुहानेवाली कूकों में मानों वसन्तऋतु मुझ पर दया दिखलाते हुए पूछ रहा हो—क्यों प्रेम की पीडा सही जा रही है? इधर खिली हुई आम्रमंजरियों के गन्ध में बसा हुआ दक्षिण पवन मेरे शरीर को स्पर्श करता हुआ ऐसा ज्ञात होता है मानों वसन्त ने अपना सुखद हाथ मेरे ऊपर रख दिया हो॥४॥

विदूषक—शान्ति-लाभ के लिए प्रमदवन में चला जाय।

(दोनों का प्रवेश)

विदूषक—सावधान होकर देखें। यह प्रमदवन-शोभा आपको लुभाने के लिए ही युवतियों के शृङ्गार को लजाने वाले वासन्ती पुष्पों से सजकर उपस्थित है।

राजा—मैं आश्चर्यपूर्वक इस प्रमदवन को देख रहा हूँ।

रक्ताशोक पुष्प की लालिमा से रमणियों के बिम्बसदृश अधर पर लगा हुआ अलक्तक तिरस्कृत हो रहा है। श्यामश्वेत अरुण रंग से युक्त कुरबक पुष्प के द्वारा कपोलस्थ चित्र पराजित हो रहा है। कज्जल सदृश संलग्न भ्रमरवाले पुन्नाग के पुष्प ललाटस्थ तिलक को पराजित कर रहे हैं। ज्ञात होता है कि यह वसन्तशोभा स्त्रियों के प्रसाधन की अवज्ञा कर रही है॥५॥

(दोनों अभिनयपूर्वक उद्यान को देखने लगते हैं)

(तत्पश्चात् उत्कण्ठिता मालविका का प्रवेश)

मालविका—महाराज की मनोदशा का मुझे बिलकुल ज्ञान नहीं है। ऐसी दशा में उनके प्रति अभिलाषा करती हुई मुझे स्वयं लज्जा हो रही है। मुझ में इतनी शक्ति भी नहीं है कि मैं अपनी प्यारी

आदिट्ठम्ह देवीए—'मालविए! गोदमचापलादो दोलापरिब्भट्ठाए सरुजौ मह चलणौ। तुमं दाव गदुअ तवणीआसोअस्स दोहलं णिवट्टेहि त्ति। जइ सो पंचरत्तब्भंतरे कुसुमं दंसेदि तदो अहं अहिलासपूरइत्तअं पसादं दावइस्सं त्ति। ता जाव णिओअभूमिं पढमं गदा होमि दाव अणुपदं मह चलणालंकारहत्थाए वउलावलिआए आअंदव्वं। ता परिदेवइस्सं ताव वीसद्धं मुहुत्तअं। (इति परिक्रामति) [**अविज्ञातहृदयं भर्तारमभिलषन्त्यात्मनोऽपि तावल्लज्जे। कुतो विभवः स्निग्धस्य सखीजनस्येमं वृत्तान्तमाख्यातुम्। न जानेऽप्रतिकारगुरुकां वेदनां कियन्तं कालं मदनो मां नेष्यतीति। आः, कुत्र खलु प्रस्थितास्मि। आदिष्टास्मि देव्या—'मालविके! गौतमचापलाद्दोलापरिभ्रष्टायाः सरुजौ मम चरणौ। त्वं तावद्गत्वा तपनीयाशोकस्य दोहदं निर्वर्तये'ति। यद्यसौ पञ्चरात्राभ्यन्तरे कुसुमं दर्शयति, ततोऽहमभिलाषपूरयितृकं प्रसादं दापयिष्यामीति। तद्यावन्नियोगभूमिं प्रथमं गता भवामि तावदनुपदं मम चरणालङ्कारहस्तया बकुलावलिकयाऽऽगन्तव्यम्। तत्परिदेवयिष्ये तावद्विस्रब्धं मुहूर्तकम्।**]

विदूषकः—(दृष्ट्वा) ही ही। वअस्स! एदं क्खु सीहुपाणुव्वेजिदस्स मच्छंडिआ उवणदा। [**आश्चर्यमाश्चर्यम्। वयस्य! एतत्खलु सीधुपानोद्वेजितस्य मत्स्यण्डिकोपनता।**]

राजा—अये! किमेतत्?

विदूषकः—एसा णादिपरिक्खिदवेसा ऊसुअवअणा एआइणी मालविआ अदूरे वट्टदि। [**एषा नातिपरिष्कृतवेषोत्सुकवदनैकाकिनी मालविकाऽदूरे वर्तते।**]

राजा—(सहर्षम्) कथं मालविका?

विदूषकः—अह इं? [अथ किम्?]

राजा—शक्यमिदानीं जीवितमवलम्बयितुम्—

> **त्वदुपलभ्य समीपगतां प्रियां हृदयमुच्छ्वसितं मम विक्लवम्।**
> **तरुवृतां पथिकस्य जलार्थिनः सरितमारसितादिव सारसात्॥ ६॥**

सखियों से यह बात कह सकूँ। पता नहीं, कामदेव मुझे कब तक यह प्रेम की पीड़ा देता रहेगा? जिसकी कोई ओषधि भी नहीं है। (**दो-चार कदम चलकर**) अरे! मैं किधर चली जा रही हूँ? (**याद करने का अभिनय करके**) देवी ने मुझे आदेश दिया है कि मालविके! गौतम की चञ्चलता के कारण झूले पर से गिरने से मेरे पैर में चोट आ गई है। अतः मैं चलने में असमर्थ हूँ। तुम जाकर तपनीयाशोक की दोहदपूर्त्ति कर दो। यदि पाँच रात्रियों में उसमें फूल उग आया तो मैं तुम्हें यथेच्छ पुरस्कार दूँगी। जब तक मैं उस स्थान पर जाऊँगी तब तक बकुलावलिका भी चरणालङ्कार (नूपुरादि) लिये हुए वहाँ पहुँच जायेगी। जब तक वह नहीं आई रहेगी तब तक मैं दिल खोलकर रो लूँगी। (**ऐसा कहकर घूमने लगती है**)

विदूषक—(देखकर) आश्चर्य है, महान् आश्चर्य है। यह तो मदमत्त व्यक्ति के समक्ष मानों मिश्री रखी हुई है।

राजा—अरे! यह क्या?

विदूषक—साधारण वेश में तथा उत्कण्ठित मुख लिये हुए अकेली मालविका अत्यन्त निकट ही विद्यमान है।

राजा—(प्रसन्नतापूर्वक) अरे! क्या मालविका यहाँ है?

विदूषक—और क्या?

राजा—अब जीवन धारण करने में समर्थ हो सकता हूँ।

अथ क्व तत्रभवती ?

विदूषकः—एसा तरुराइमज्झादो णिक्कंता इदो ज्जेव्व परिवट्टंती दीसइ। [एषा तरुराजिमध्यान्निष्क्रान्तेत एव परिवर्तमाना दृश्यते।]

राजा—(विलोक्य, सहर्षम्) वयस्य ! पश्याम्येनाम्—

विपुलं नितम्बदेशे मध्ये क्षामं समुन्नतं कुचयोः।
अत्यायतं नयनयोर्मम जीवितमेतदायाति॥ ७॥

सखे ! पूर्वस्मादतिमनोहरावस्थान्तरमुपारूढा तत्रभवती। तथा हि—

शरकाण्डपाण्डुगण्डस्थलेयमाभाति परिमिताभरणा।
माधवपरिणतपत्रा कतिपयकुसुमेव कुन्दलता॥ ८॥

विदूषकः—एसा वि भवं विअ मअणव्वाहिणा परामिट्ठा भविस्सदि। [एषापि भवानिव मदनव्याधिना परामृष्टा भविष्यति।]

राजा—सौहार्दमेवं पश्यति।

मालविका—अअं सो ललिदसुउमालदोहलापेक्खी अगिहीदकुसुमणेवत्थो उक्कंठिदाए मह अणुकरेदि असोओ। जाव एदस्स पच्छाअसीदले सिलापट्टए णिसण्णा अप्पाणं विणोदेमि। [अयं स ललितसुकुमारदोहदापेक्षी अगृहीतकुसुमनेपथ्य उत्कण्ठिताया ममाऽनुकरोत्यशोकः। यावदस्य प्रच्छायशीतले शिलापट्टके निषण्णाऽऽत्मानं विनोदयामि।]

विदूषकः—सुदं भवदा उक्कंठिदम्हि त्ति तत्तहोदी मंतेदि। [श्रुतं भवता उत्कण्ठितास्मीति तत्रभवती मन्त्रयति।]

राजा—नैतावता भवन्तं प्रसन्नतर्कं मन्ये। कुतः—

सारस पक्षी के कलरव से वृक्ष की झरमुट में छिपी नदीधारा को प्यासे पथिक की भाँति तुम्हारे आश्वासन पर अपनी प्रियतमा को समीप में प्राप्त कर मेरा यह उत्कण्ठित हृदय प्रफुल्लित हो उठा है॥ ६॥

तो श्रीमती मालविका कहाँ है ?

विदूषक—वह वृक्षसमूहों के बीच से होती हुई इधर ही आती हुई दिखलाई दे रही है।

राजा—(देखकर, प्रसन्नतापूर्वक) मित्र ! मैं इसको देखता हूँ।

यह मालविका स्थूल नितम्बोंवाली, पतली कमरवाली, उन्नत कुचों वाली और बड़ी-बड़ी आँखों वाली ज्ञात होती है, मानों मेरी जान ही चली आ रही है॥ ७॥

मित्र ! इसने तो पहले की अपेक्षा अत्यन्त रमणीय एक दूसरी ही अवस्था प्राप्त कर ली है। क्योंकि—

इसका कपोल शरकण्डे के समान पीतवर्ण, शरीर स्वल्पालङ्कारों से विभूषित है, ऐसा ज्ञात होता है मानों वसन्तऋतु में पीले पत्तों वाली तथा कतिपय पुष्पों से युक्त कुन्दलता हो॥ ८॥

विदूषक—यह मालविका भी आप ही के समान मदनताप से सन्तप्त होगी।

राजा—प्रणय ऐसा ही सोचता है।

मालविका—मनोरम और कोमल दोहद की प्रतीक्षा करनेवाला यह पुष्पहीन अशोक मुझ उत्कण्ठिता की ही अनुकृति कर रहा है। तब तक इसी की शीतल छाया में प्रस्तरखण्ड पर बैठकर अपने मन को बहलाऊँ।

विदूषक—सुना आपने। श्रीमती मालविका कहती है कि मैं उत्कण्ठित हूँ।

राजा—इतने ही से आपको मैं प्रमाणित अनुमानवाला नहीं मानता। क्योंकि—

वोढा कुरबकरजसां किसलयपुटभेदशीकरानुगतः।
अनिमित्तोत्कण्ठामपि जनयति मनसो मलयवातः॥ ९॥

(मालविकोपविष्टा)

राजा—सखे! इतस्तावदावां लतान्तरितौ भवावः।

विदूषकः—इरावदिं विअ अदूरे पेक्खामि। [इरावतीमिवादूरे प्रेक्षे।]

राजा—नहि कमलिनीं दृष्ट्वा ग्राहमवेक्षते मतङ्गजः। (इति विलोकयन् स्थितः)

मालविका—हिअअ! णिरवलंबणादो अदिभूमिलंघिणो दे मणोरहादो विरम। किं मं आआसिअ।
[हृदय! निरवलम्बनादतिभूमिलङ्घिनो ते मनोरथाद्विरम। किं मामायास्य?]

(विदूषको राजानं वीक्षते)

राजा—प्रिये! पश्य वामत्वं स्नेहस्य—

औत्सुक्यहेतुं विवृणोषि न त्वं तत्त्वाववोधैकफलो न तर्कः।
तथापि रम्भोरु करोमि लक्ष्यमात्मानमेषां परिदेवितानाम्॥ १०॥

विदूषकः—संपदं भवदो णिस्संसअं भविस्सदि। एसा अप्पिदमअणसंदेसा विवित्ते णं बउलावलिआ उवट्ठिदा। [साम्प्रतं भवतो निःसंशयं भविष्यति। एषार्पितमदनसन्देशा विविक्ते ननु बकुलावलिकोपस्थिता।]

राजा—अपि स्मरेदसावस्मदभ्यर्थनाम्।

विदूषकः—किं दाणिं एसा दासीए दुहिदा तुह गुरुअं संदेसं विसुमरेदि। अहं दाव ण विसुमरेमि।
[किमिदानीमेषा दास्या दुहिता तव गुरुकं सन्देशं विस्मरति। अहं तावन्न विस्मरामि।]

कुरवक के पराग में बसा हुआ तथा विकसित कोपलों से जलबिन्दुओं को उड़ा ले जाने वाला मलयपवन अकारण ही मन में इच्छा उत्पन्न कर देता है॥ ९॥

(मालविका बैठ जाती है)

राजा—मित्र! हम दोनों इधर लताकुञ्ज में छिप जायँ।

विदूषक—समीप में ही रानी इरावती के तुल्य (किसी को आती हुई) देख रहा हूँ।

राजा—प्रफुल्ल पद्मिनी देखकर गजराज मगर से नहीं डरता। (देखता हुआ स्थित हो जाता है)

मालविका—हृदय! तुम्हारी अभिलाषा व्यर्थ ही बहुत बढ़ गई है। तुम इसे छोड़ दो। मुझे व्यर्थ क्यों सताता है?

(विदूषक राजा की ओर देखता है)

राजा—प्रिये! प्रेम की विपरीत चाल तो देखो—

हे कदलीस्तम्भोरु! तुम उत्कण्ठा का कारण प्रकाशित नहीं करती हो, अनुमान कभी ठीक-ठीक पता नहीं बता सकता है, तथापि मैं तुम्हारे इन विलापों का लक्ष्य अपने को ही मानता हूँ॥ १०॥

विदूषक—आपका सन्देह अभी दूर हुआ जाता है। जिसके हाथ आपने सन्देश भेजा था वह बकुलावलिका भी यहाँ अकेले में मालविका के पास पहुँच गई है।

राजा—परन्तु उसको क्या मेरी बात स्मरण होगी।

विदूषक—जब तक मैं नहीं भूल पाया हूँ तब तक भला यह दासीपुत्री कहीं ऐसी आवश्यक बात भूल सकती है?

(प्रविश्य चरणालङ्कारहस्ता बकुलावलिका)

बकुलावलिका—अवि सुहं सहीए। [अपि सुखं सख्याः।]

मालविका—अम्हो बउलावलिआ उवट्ठिदा। सहि! साअदं दे। उवविस। [अहो बकुलावलिकोपस्थिता। सखि! स्वागतं ते। उपविश।]

बकुलावलिका—(उपविश्य) हला! तुमं दाणिं जोग्गदाए णिउत्ता। ता एक्कं दे चलणं उवणेहि जाव सालत्तअं सणूउरं अ करेमि। [सखि! त्वमिदानीं योग्यतया नियुक्ता। तस्मादेकं ते चरणमुपनय यावत्सालक्तकं सनूपुरं च करोमि।]

मालविका—(आत्मगतम्) हिअअ! अलं सुहिदाए। उवट्ठिदो अअं विहवो। कहं दाणिं अत्ताणं मोचेअं। अहवा एदं एव्व मे मित्तुमंडणं भविस्सदि। [हृदय! अलं सुखितया। उपस्थितोऽयं विभवः। कथमिदानीमात्मानं मोचयेयम्। अथवा एतदेव मे मृत्युमण्डनं भविष्यति।]

बकुलावलिका—किं विआरेसि। ऊसुआ क्खु इमस्स तवणीआसोअस्स कुसुमोग्गमे देवी। [किं विचारयसि। उत्सुका खल्वस्य तपनीयाशोकस्य कुसुमोद्गमे देवी।]

राजा—कथमशोकदोहदनिमित्तोऽयमारम्भः?

विदूषकः—किं णु क्खु जाणासि तुमं, मह कालणादो देवी मं अंतेउरणेवच्छेण योजइस्सदि त्ति। [किं नु खलु जानासि त्वम्, मम कारणाद्देवी मामन्तःपुरनेपथ्येन योजयिष्यतीति।]

मालविका—हला! मरिसेहि दाव णं। (इति पादमुपहरति) [सखि! मर्षय तावदेनम्।]

बकुलावलिका—अइ, सरीरअं सि मे। (इति नाट्येन चरणसंस्कारमारभते) [अयि, शरीरमसि मे।]

राजा—

चरणान्तनिवेशितां प्रियायाः सरसां पश्य वयस्य रागलेखाम्।
प्रथमामिव पल्लवप्रसूतिं हरदग्धस्य मनोभवद्रुमस्य॥ ११॥

(चरण का आभूषण हाथ में लेकर बकुलावलिका प्रवेश करती है)

बकुलावलिका—कहो सखी! आनन्द से तो हो?

मालविका—अरे बकुलावलिका, तुम आ गई। सखी तुम्हारा स्वागत है। आओ, बैठो।

बकुलावलिका—(**बैठकर**) सखी! तुम्हें जो काम दिया गया है, उसके लिए तुम्हीं योग्य थी। अपना एक पैर इधर बढ़ाओ, मैं उसमें महावर लगाकर नूपुर पहना दूँ।

मालविका—(*मन ही मन*) मेरे हृदय! यह सम्मान देखकर तुम अधिक प्रसन्न मत होओ। यही तो वैभव प्राप्त हुआ। मैं अपने को कैसे छुड़ाऊँ? अथवा यही हमारे मरण का शृङ्गार होगा।

बकुलावलिका—तुम क्या सोच रही हो? इस सुनहले अशोक वृक्ष में फूलों के आने के लिए महारानी अत्यन्त उत्सुक हैं।

राजा—अच्छा, तो क्या यह सजावट अशोक के फूलने के लिए की जा रही है?

विदूषक—तो क्या आप समझ बैठे थे कि महारानी ने मेरे लिए इसे रनिवास के सिंगारों से सजाया होगा।

मालविका—सखी! मुझे इसके लिए क्षमा करना। (**पैर आगे बढ़ाती है**)

बकुलावलिका—अरे! तुम तो मेरा ही शरीर हो। (**पैर रँगने का अभिनय करती है**)

राजा—मित्र! प्यारी मालविका के चरणों में महावर की जो गीली लकीर बनी है, वह ऐसी

विदूषकः—चलणाणुरूवो तत्तहोदीए अहिआरो उवक्खित्तो। [चरणानुरूपस्तत्रभवत्या अधिकार उपक्षिप्तः।]

राजा—सम्यगाह भवान्।

नवकिसलयरागेणाग्रपादेन बाला स्फुरितनखरुचा द्वौ हन्तुमर्हत्यनेन।
अकुसुमितमशोकं दोहदापेक्षया वा प्रणमितशिरसं वा कान्तमार्द्रापराधम्॥ १२॥

विदूषकः—पहरिस्सदि तत्तहोदी तुमं अवरद्धं। [प्रहरिष्यति तत्रभवती त्वामपराद्धम्।]

राजा—मूर्ध्ना प्रतिगृहीतं वचः सिद्धिदर्शिनो ब्राह्मणस्य।

(ततः प्रविशति युक्तमदा इरावती चेटी च)

इरावती—हञ्जे णिउणिए! सुणामि बहुसो मदो किल इत्थिआजणस्स विसेसमंडणं त्ति। अवि सच्चो एसो लोअवाओ। [चेटि निपुणिके! शृणोमि बहुशो मदः किल स्त्रीजनस्य विशेषमण्डनमिति। अपि सत्य एष लोकवादः।]

निपुणिका—पढमं लोअवाओ एव्व अज्ज सच्चो संवुत्तो। [प्रथमं लोकवाद एवाद्य सत्यः संवृत्तः।]

इरावती—अलं मयि सिणेहेण। कहेहि कुदो दाणिं ओगमिदव्वं दोलाघरं पढमं गदो भट्टा ण वेत्ति। [अलं मयि स्नेहेन। कथय कुत इदानीमवगन्तव्यं दोलागृहं प्रथमं गतो भर्ता न वेति।]

निपुणिका—भट्टिणीए अखंडिदादो पणआदो। [भट्टिन्या अखण्डितात् प्रणयात्।]

इरावती—अलं सेवाए। मज्झत्थदं परिगाहिअ भणाहि। [अलं सेवया। मध्यस्थतां परिगृह्य भण।]

निपुणिका—वसंतोस्सवुवाअणलोलुवेण अज्जगोदमेण कहिअं तुवरदु भट्टिणी त्ति। [वसन्तोत्सवोपायनलोलुपेनार्यगौतमेन कथितं त्वरतां भट्टिनीति।]

दिखलाई पड़ रही है मानों महादेवजी के क्रोध से जले हुए कामदेव के वृक्ष में नई-नई कोपलें फूट आई हों॥ ११॥

विदूषक—जैसे इनके सुन्दर चरण हैं वैसा ही मधुर कार्य भी सौंपा गया है।

राजा—आपने यह बात अत्यन्त उचित कही।

चमकते हुए नखों वाले और नवीन कोपलों के समान पंजों वाले इस सुन्दरी मालविका के चरण या तो फूलने की इच्छावाले इस अनफूले अशोक वृक्ष पर पड़ने योग्य हैं या प्रेम में अपराध करने वाले नतमस्तक प्रियतम के सिर पर पड़ने योग्य है॥ १२॥

विदूषक—अपराध करने पर तुम प्रहार सहोगे।

राजा—सिद्ध ब्राह्मण का आदेश सिर आँखों पर है।

(तत्पश्चात् मदमत्त इरावती और चेटी का प्रवेश)

इरावती—निपुणिके! सुनती हूँ, मद नारियों का अलंकार है। क्या यह सत्य है?

निपुणिका—पहले यह कहावत थी, परन्तु आज तो यह बात सत्य हो गई है।

इरावती—मुझ पर स्नेह न दिखलाओ। कहो, यह कैसे ज्ञात होगा कि महाराज दोलागृह में पहले आ गये हैं या नहीं?

निपुणिका—आपको अपने अखण्डित प्रणय से।

इरावती—चाटुकारिता न कर। तटस्थ होकर बतलाओ।

इरावती—(अवस्थासदृशं परिक्रम्य) हंजे ! मदेण किलाअमाणं अत्ताणं अज्जउत्तस्स दंसणे हिअअं तुवरेदि। चलणा उण ण मह पसरंति। [चेटि! मदेन क्लाम्यमानमात्मानमार्यपुत्रस्य दर्शने हृदयं त्वरयति। चरणौ पुनर्न मम प्रसरतः।]

निपुणिका—णं संपत्ते म्ह दोलाघरं। [ननु सम्प्राप्ते स्वो दोलागृहम्।]

इरावती—णिउणिए! अज्जउत्तो एत्थ ण दीसदि। [निपुणिके! आर्यपुत्रोऽत्र न दृश्यते।]

निपुणिका—णं भट्टिणीए ओलोअदु। परिहासणिमित्तं कहिं वि अदिट्ठेण भत्तुणा होदव्वं। अम्हे वि पिअंगुलदापरिक्खित्तं असोअसिलापट्टअं पविसामो। [ननु भट्टिन्यवलोकयतु। परिहासनिमित्तं कुत्राप्यदृष्टेन भर्त्रा भवितव्यम्। आवामपि प्रियङ्गुलतापरिक्षिप्तमशोकशिलापट्टकं प्रविशावः।]

इरावती—तह। [तथा।]

निपुणिका—(विलोक्य) आलोअदु भट्टिणी चूदंकुरं विचिण्णंतीणं पिपीलिआहिं दंसिदं। [अवलोकयतु भट्टिनी चूताङ्कुरं विचिन्वत्योः पिपीलिकाभिर्दष्टम्।]

इरावती—कहं विअ एदं ? [कथमिवेदम् ?]

निपुणिका—एसा असोअपादवच्छाआए मालविआए वउलावलिआ चलणालंकारं णिव्वट्टेदि। [एषाशोकपादपच्छायायां मालविकाया बकुलावलिका चरणालङ्कारं निर्वर्तयति।]

इरावती—(शङ्कां रूपयित्वा) अभूमी इअं मालविआए। कहं एत्थ तक्केसि। [अभूमिरियं मालविकायाः। कथमत्र तर्कयसि।]

निपुणिका—तक्केमि दोलापरिब्भंसिदाए सरुअचलणाए देवीए असोअदोहलाहिआरे मालविआ णिउत्तेति। अण्णहा कहं देवी सअं धारिअं णूउरजुअलं परिअणस्स अब्भणुजाणिस्सदि। [तर्कयामि दोलापरिभ्रष्टया सरुजचरणया देव्याऽशोकदोहदाधिकारे मालविका नियुक्तेति। अन्यथा कथं देवी स्वयं धारितं नूपुरयुगलं परिजनस्याभ्यनुज्ञास्यति।]

निपुणिका—वसन्तोत्सव के अवसर पर उपायन के लोभी विदूषक गौतम ने कहा है कि आप शीघ्रता कीजिए।

इरावती—(अवस्थानुकूल शीघ्रता करके) नशा से सन्तप्त मुझको आर्यपुत्र के दर्शन के लिए हृदय प्रेरित कर रहा है। किन्तु मेरे पैर उठते ही नहीं।

निपुणिका—अरे ! हम लोग दोलाघर तो आ गये।

इरावती—निपुणिके ! यहाँ पर आर्यपुत्र तो दिखलाई नहीं दे रहे हैं।

निपुणिका—श्रीमतीजी आप देखें। सम्भव है परिहास करने के लिए राजा कहीं पर छिपकर बैठे हों। हम लोग भी श्यामलतावेष्टित अशोक के नीचे प्रस्तरखण्ड पर बैठें।

इरावती—वैसा ही किया जाय।

निपुणिका—(देखकर) महारानीजी देखिए। हम लोग तो आम्रकोरकों को चुनना चाहती थी और इधर चींटियाँ काटने लगीं।

इरावती—यह बात कैसे ?

निपुणिका—अशोकतरु की छाया से बकुलावलिका मालविका के चरणों को अलंकृत कर रही है।

इरावती—(शङ्का प्रकट कर) यह तो मालविका के आने की जगह नहीं है। यहाँ वह क्यों आई ? क्या समझती हो ?

निपुणिका—मैं समझती हूँ कि झूला पर से गिरने के कारण देवी के पैर में चोट है। अतः

इरावती—महदी क्खु से संभावणा। [महती खल्वस्याः सम्भावना।]

निपुणिका—किं ण अण्णेसीअदि भट्टा। [किं नान्विष्यते भर्ता।]

इरावती—हला ! ण मे चलणा अण्णदो पवट्टंति। मदो मं विआरेदि। आसंकिदस्स दाव अंतं गमिस्सं। (मालविकां निर्वर्ण्य, निरूप्यात्मगतम्) ठाणे क्खु कादरं मे हिअअं। [सखि! न मे चरणावन्यतः प्रवर्तेते। मदो मां विकारयति। आशङ्कितस्य तावदन्तं गमिष्यामि। स्थाने खलु कातरं मे हृदयम्।]

बकुलावलिका—(मालविकायै चरणं दर्शयन्ती) अवि रोअदि दे राअरेहाविण्णासो। [अपि रोचते ते रागरेखाविन्यासः।]

मालविका—हला ! अत्तणो चलणं त्ति लज्जेमि णं पसंसिदुं। केण पसाहणकलाए अहिणीदासि। [सखि! आत्मनश्चरण इति लज्जे एनं प्रशंसितुम्। केन प्रसाधनकलायामभिनीतासि।]

बकुलावलिका—एत्थ क्खु भत्तुणो सीसम्हि। [अत्र खलु भर्तुः शिष्यास्मि।]

विदूषकः—तुवरेहि दाव णं गुरुदक्खिणाए। [त्वरय तावदेनां गुरुदक्षिणायै।]

मालविका—दिट्ठिआ ण गव्विदासि। [दिष्ट्या न गर्वितासि।]

बकुलावलिका—उवदेसाणुरूवा चलणा लंभिअ अज्ज दाव गव्विदा भविस्सं। (रागं विलोक्यात्मगतम्) हन्त, सिद्धो मे दप्पो। (प्रकाशम्) सहि! एक्कस्स दे चलणस्स अवसिदो राअणिक्खेवो। केवलं मुहमारुदो लंभइदव्वो। अहवा पवादं एदं ठाणं। [उपदेशानुरूपौ चरणौ लब्ध्वाद्य तावद् गर्विता भविष्यामि। हन्त, सिद्धो मे दर्पः। सखि! एकस्य ते चरणस्यावसितो रागनिक्षेपः। केवलं मुखमारुतो लम्भयितव्यः। अथवा प्रवातमेतत्स्थानम्।]

राजा—सखे! पश्य—

आर्द्रालक्तकमस्याश्चरणं मुखमारुतेन शोषयितुम्।
प्रतिपन्नः प्रथमतरः सम्प्रति सेवावकाशो मे॥ १३॥

उन्होंने अशोक-दोहद के लिए मालविका से कहा है। अन्यथा वह देवी के चरणों के नूपुर कैसे धारण करती ?

इरावती—इस बात की विशेष सम्भावना है।

निपुणिका—महाराज ही को क्यों न ढूँढा जाय ?

इरावती—सखी! मेरे चरण आगे नहीं बढ रहे हैं। इधर नशा भी मुझे विकृत बना रहा है। पहले सन्देह दूर कर लूँगी। (मालविका को देखकर और समझकर मन ही मन) मेरा हृदय कातर हो रहा है।

बकुलावलिका—(मालविका को उसका पैर दिखाकर) रागलेखा अच्छी ज्ञात हो रही है ?

मालविका—सखी! अपने चरणों की प्रशंसा करने में लज्जा हो रही है। यह प्रसाधनकला तुम्हें किसने सिखाई है ?

बकुलावलिका—अरी! यह कला तो मैंने स्वयं महाराज से सीखी है।

विदूषक—गुरुदक्षिणा चुकाने में शीघ्रता करो।

मालविका—भाग्यवश तुम अभिमान नहीं करती हो।

बकुलावलिका—शिक्षा को सफल करने योग्य चरणों के प्राप्त हो जाने से अब गर्व कर सकूँगी। (राग को देखकर मन ही मन) हमारा अभिमान सिद्ध हो गया। (प्रकट) एक चरण का रँगना समाप्त हो गया, केवल फूँक लगानी है। अथवा इस स्थान पर हवा तो चल ही रही है अर्थात् बिना मुँह से फूँक मारे भी वह प्राकृतिक हवा से अपने आप सूख जायेगी।

राजा—मित्र! देखो—

विदूषकः—कुदो दे अणुसओ। एदं भवदा चिरक्कमेण अणुभविदव्वं। [कुतस्तेऽनुशयः। एतावद्भवता चिरक्रमेणानुभवितव्यम्।]

बकुलावलिका—सहि! अरुणसतपत्तं विअ सोहदि दे चलणं। सव्वहा भत्तुणो अंकपरिवट्टिणी होहि। [सखि! अरुणशतपत्रमिव शोभते ते चरणम्। सर्वथा भर्तुरङ्कपरिवर्तिनी भव।]

(इरावती निपुणिकामवेक्षते)

राजा—ममेयमाशीः।

मालविका—हला! मा अवअणीअं मंतेहि। [सखि! मा अवचनीयं मन्त्रयस्व।]

बकुलावलिका—मंतइदव्वं एव्व मंतिदं मए। [मन्त्रयितव्यमेव मन्त्रितं मया।]

मालविका—पिआ क्खु अहं तव। [प्रिया खल्वहं तव।]

बकुलावलिका—ण केवलं मह। [न केवलं मम।]

मालविका—कस्स वा अण्णस्स। [कस्य वान्यस्य।]

बकुलावलिका—गुणेसु अहिणिवेसिणो भत्तुणो वि। [गुणेष्वभिनिवेशिनो भर्तुरपि।]

मालविका—अलीअं मंतेसि। एदं एव्व मइ णत्थि। [अलीकं मन्त्रयसे। एतदेव मयि नास्ति।]

बकुलावलिका—सच्चं तुइ णत्थि। भत्तुणो किसेसु सुंदरपांडुरेसु दीसइ अंगेसु। [सत्यं त्वयि नास्ति। भर्तुः कृशेषु सुन्दरपाण्डुरेषु दृश्यतेऽङ्गेषु।]

निपुणिका—पढमं गणिदं विअ हदासए उत्तरं। [प्रथमं गणितमिव हताशाया उत्तरम्।]

बकुलावलिका—अणुराओ अणुराएण परिक्खिदव्वो त्ति सुअणवअणं पमाणीकरेहि। [अनुरागोऽनुरागेण परीक्षितव्य इति सुजनवचनं प्रमाणीकुरु।]

गीले अलक्तक से भींगे हुए इसके चरण को मुँह की फूँक से शुष्क बनाने का यह प्रथम सुअवसर उपस्थित हुआ है॥ १३॥

विदूषक—आपको इसका दुःख क्यों हो रहा है? यह तो आपको धीरे-धीरे बहुत दिनों तक भोगना होगा।

बकुलावलिका—सखी! रक्तकमल सदृश तुम्हारे चरण सुशोभित हैं। तुम महाराज की अंकशायिनी बनो।

(इरावती निपुणिका की ओर देखती है)

राजा—यही तो मेरा आशीर्वाद है।

मालविका—सखि! अनर्गल बातें न कहा करो।

बकुलावलिका—जो कहना चाहिए, वही तो मैं कह रही हूँ।

मालविका—मैं तुम्हारी प्रियतमा जो हूँ।

बकुलावलिका—तुम केवल मेरी ही प्रिया नहीं हो।

मालविका—और किस दूसरे की प्रिया हूँ।

बकुलावलिका—तेरे गुणों पर प्रसन्न हुए महाराज की भी।

मालविका—तू असत्य कहती है। मुझ पर उनका प्रेम नहीं है।

बकुलावलिका—वस्तुतः तुममें नहीं है। वह तो महाराज के दुर्बल तथा विरह से पाण्डुवर्ण अंगों में है।

निपुणिका—हताश बकुलावलिका का उत्तर गणित के समान (तर्कसम्मत) है।

बकुलावलिका—अपने अनुराग से दूसरे के अनुराग को जानना चाहिए। विद्वानों के इस कथन को प्रमाण मानों।

मालविका—किं अत्तणो छंदेण मंतेसि। [**किमात्मनश्छन्देन मन्त्रयसि।**]

बकुलावलिका—णहि णहि। भत्तुणो क्खु एदाइँ पणअमिदुलाइँ अक्खराइँ वत्तंतरिदाइँ। [**नहि नहि। भर्तुः खल्वेतानि प्रणयमृदुलान्यक्षराणि वक्त्रान्तरितानि।**]

मालविका—हला! देविं चिंतिअ ण मे हिअअं विस्ससदि। [**सखि! देवीं चिन्तयित्वा न मे हृदयं विश्वसिति।**]

बकुलावलिका—मुद्धे! भमरसंपादो भविस्सदि त्ति वसंतावदारसव्वस्सं किं ण चूदप्पसवो ओदंसिदव्वो। [**मुग्धे! भ्रमरसम्पातो भविष्यतीति वसन्तावतारसर्वस्वं किं न चूतप्रसवोऽवतंसितव्यः।**]

मालविका—तुमं दाव दुज्जादे गच्छतस्स सहायिणी होहि। [**त्वं तावद् दुर्जाते गच्छतः सहायिनी भव।**]

बकुलावलिका—विमद्दसुरही बउलावलिआ क्खु अहं। [**विमर्दसुरभिर्बकुलावलिका खल्वहम्।**]

राजा—साधु बकुलावलिके! साधु।

भावज्ञानानन्तरं प्रस्तुतेन प्रत्याख्याने दत्तयुक्तोत्तरेण।
वाक्येनेयं स्थापिता स्वे निदेशे स्थाने प्राणाः कामिनां दूत्यधीनाः ॥ १४॥

इरावती—हञ्जे! पेक्ख कारिदं एव्व बउलावलिआए एदस्सिं पदं मालविआए। [**सखि! पश्य कारितमेव बकुलावलिकयैतस्मिन्पदं मालविकायाः।**]

निपुणिका—भट्टिणि! अहिआरस्स उइदो उवदेसो। [**भट्टिनि! अधिकारस्योचित उपदेशः।**]

इरावती—ठाणे क्खु संकिदं मे हिअअं। गहीदत्था अणंतरं चिंतइस्सं। [**स्थाने खलु शङ्कितं मे हृदयम्। गृहीतार्थानन्तरं चिन्तयिष्यामि।**]

बकुलावलिका—एसो दुदीओ वि दे णिव्वुत्तपरिकम्मा चलणो। जाव णं सणूउरं करेमि। (इति नाटचेन नूपुरयुगलमामुच्य) हला! उट्ठेहि। असोअविआसइत्तअं देवीए णिओअं अणुचिट्ठ।

मालविका—यह सब अपने मन से गढकर कह रही हो।

बकुलावलिका—नहीं नहीं। महाराज की यह कोमल प्रणय कथा दूसरे के मुँह से सुनी गई है।

मालविका—महारानी धारिणी के सम्बन्ध में सोचकर मेरा हृदय विश्वास नहीं करता है।

बकुलावलिका—अरी पगली! आम्रमंजरी पर अनेक भ्रमर टूटने लगेंगे यही सोचकर क्या लोग भौंरों के भय से वसन्तावतार सर्वस्व आम्रमञ्जरी को धारण नहीं करते?

मालविका—इस विपत्ति के अवसर पर तुम्हारा ही सहारा है।

बकुलावलिका—घर्षण से अधिक सुगन्ध देने वाली मैं बकुलावलिका हूँ। स्वभाव से चतुर मैं विपत्ति आने पर—अपने धैर्यबल मे अधिक ज्ञानप्रकाशन कर सकती हूँ।

राजा—धन्य हो बकुलावलिका धन्य हो।

इस समय इसके हृदय की ठीक-ठीक स्थिति का अध्ययन करके, मेरे प्रेम का प्रस्ताव करके तथा इसके निषेध करने पर, उसे समुचित उत्तर देकर जो तुमने इस मालविका को अपने अधिकार में कर लिया है, इससे मुझे विश्वास हो गया है कि प्रेमियों के प्राण दूतियों की ही मुट्ठी में रहते हैं॥ १४॥

इरावती—सखी! देखो— बकुलावलिका ने मालविका को ठीक कर लिया।

निपुणिका—महारानी! जैसा आदेश मिला है उसका पालन कर रही है।

इरावती—मेरा सन्देह ठीक ही है। पहिले भलीभाँति जान लूँ तब बाद में प्रतिकार करूँगी।

[एष द्वितीयोऽपि ते निर्वृत्तपरिकर्मा चरणः। यावदेनं सनूपुरं करोमि। हला! उत्तिष्ठ। अशोकविकासयितृकं देव्या नियोगमनुतिष्ठ।]

(उभे उत्तिष्ठतः)

इरावती—सुदो देवीए णिओओ। होदु दाणिं। [श्रुतो देव्या नियोगः। भवत्विदानीम्।]

बकुलावलिका—एसो उवारूढराओ उअभोअक्खमो पुरदो दे वट्टइ। [एष उपारूढराग उपभोगक्षमः पुरतस्ते वर्तते।]

मालविका—(सहर्षम्) किं भट्टा। [किं भर्ता।]

बकुलावलिका—(सस्मितम्) ण दाव भट्टा। एसो असोअसाहावलंबी पल्लवगुच्छओ। ओदंसेहि णं। [न तावद्भर्ता। एषोऽशोकशाखावलम्बी पल्लवगुच्छः। अवतंसयैनम्।]

(मालविका विषादं नाटयति)

विदूषकः—सुदं भवदा। [श्रुतं भवता।]

राजा—सखे! पर्याप्तमेतावता कामिनाम्—

अनातुरोत्कण्ठितयोः प्रसिद्ध्यता समागमेनापि रतिर्न मां प्रति।
परस्परप्राप्तिनिराशयोर्वरं शरीरनाशोऽपि समानुरागयोः॥ १५॥

(मालविका रचितपल्लवावतंसा पादमशोकाय प्रहिणोति)

राजा—वयस्य!

आदाय कर्णकिसलयमस्मादियमत्र चरणमर्पयति।
उभयोः सदृशविनिमयादात्मानं वञ्चितं मन्ये॥ १६॥

बकुलावलिका—तुम्हारा यह दूसरा चरण भी रँग दिया गया। अब इसमें नूपुर भी पहना दूँ। (दोनों नूपुरों के पहनाने का अभिनय करके) सखी! उठो। अशोक को विकसित करनेवाले महारानी के आदेश का पालन करो।

(दोनों उठती हैं)

इरावती—देवी की आज्ञा तो सुन ली। अच्छा, अब यह हो जाये।

बकुलावलिका—सुराग तथा तुम्हारे उपभोग योग्य यह तेरे आगे है।

मालविका—(हर्ष से) क्या महाराज!

मालविका—(मुस्कराकर) महाराज नहीं, अशोकशाखावलम्बी पल्लवगुच्छ, इसे कान में पहन ले।

(मालविका विषाद का अभिनय करती है)

विदूषक—आपने सुना।

राजा—कामिजनों के लिए इतना ही पर्याप्त है।

जहाँ एक मिलने के लिए व्याकुल हो और दूसरा मिलना ही न चाहता हो, वहाँ उनका मिलना न मिलना बराबर है। परन्तु जहाँ दोनों मिलने के लिए अधीर हों और दोनों एक-दूसरे के मिलने से हाथ धो बैठ हों, वहाँ प्राण भी दे देना पड़े तो बुरा नहीं है॥ १५॥

(मालविका पत्तों का गुच्छा कान पर लटकाकर अशोक पर पाद-प्रहार करती है)

राजा—मित्र!

इस मालविका ने अशोक से पल्लव लेकर उस पर चरणन्यास किये। दोनों में समान विनिमय हुआ। कोई घाटे में नहीं रहा॥ १६॥

बकुलावलिका—हला ! णत्थि दे दोसो। णिग्गुणो अअं असोओ जइ कुसुमोब्भेदमंथरो भवे जो दे चलणसक्कारं लंभिअ। [सखि! नास्ति ते दोषः। निर्गुणोऽयमशोको यदि कुसुमोद्भेदमन्थरो भवेत् यस्ते चरणसत्कारं लम्भितः।]

राजा— अनेन तनुमध्यया मुखरनूपुराराविणा
नवाम्बुरुहकोमलेन चरणेन सम्भावितः।
अशोक यदि सद्य एव मुकुलैर्न सम्पत्स्यसे
वृथा वहसि दोहदं ललितकामिसाधारणम्॥ १७॥

सखे ! वचनानुसरणपूर्वकं प्रवेष्टुमिच्छामि।

विदूषकः—एहि, णं परिहासइस्सं। [एहि, एनां परिहासयिष्यामि।]

(उभौ प्रवेशं कुरुतः)

निपुणिका—भट्टिणि भट्टिणि ! भट्टा एत्थ पविसदि। [भट्टिनि भट्टिनि! भर्ताऽत्र प्रविशति।]

इरावती—एदं मम पढमं चिंतिदं हिअएण। [एतन्मम प्रथमं चिन्तितं हृदयेन।]

विदूषकः—(उपेत्य) भोदि ! जुत्तं णाम अत्तभवदो पिअवअस्सो अअं असोओ णं वामपादेण ताडिदुं ? [भवति! युक्तं नाम अत्रभवतः प्रियवयस्योऽयमशोको ननु वामपादेन ताडयितुम्।]

उभे—(ससम्भ्रमम्) अहो भट्टा। [अम्हो भर्ता।]

विदूषकः—वउलावलिए ! गहीदत्थाए तुए अत्तहोदी ईरिसं अविणअं करंती कीस णं णिवारिदा। [बकुलावलिके! गृहीतार्थया त्वयात्रभवतीदृशमविनयं कुर्वन्ती कस्मान्न निवारिता।]

(मालविका भयं रूपयति)

निपुणिका—भट्टिणि ! पेक्ख। किं पउत्तं अज्जगोदमेण। [भट्टिनि! पश्य। किं प्रवृत्तमार्यगौतमेन।]

बकुलावलिका—सखी ! यह अशोक तुम्हारे द्वारा पाद-प्रहार से सम्मानित किया गया, उस पर भी यदि पुष्पित नहीं होता तो वह उसकी ही अगुणज्ञता है; तुम्हारा इसमें कोई दोष नहीं।

राजा—इस कृशोदरी मालविका ने कमल-कोमल सनूपुर चरणों द्वारा तुम्हारा सम्मान किया, उस पर भी तुम तत्काल विकसित नहीं हुए। तब तो ललितकामियों के समान दोहद-धारण व्यर्थ ही करते हो॥ १७॥

मित्र ! कुछ कहने का अवसर पाकर प्रवेश करना चाहता हूँ।

विदूषक—आइये, इससे हँसी करता हूँ।

(दोनों प्रवेश करते हैं)

निपुणिका—स्वामिनी ! स्वामिनी ! महाराज आ रहे हैं।

इरावती—यह तो मैं पहले ही जान गई थी।

विदूषक—(पास जाकर) कहिये देवी ! क्या हमारे प्रिय मित्र महाराज के उपस्थित रहने पर अशोक वृक्ष पर वामचरण से प्रहार करना उचित होगा ?

दोनों—(घबराकर) अरे महाराज !

विदूषक—क्यों बकुलावलिके ! तुम तो सब कुछ जानती थी फिर भी ऐसे अनुचित आचरण से तुमने इसे रोका नहीं, क्यों ?

(मालविका भय का अभिनय करती है)

निपुणिका—महारानी ! देखिए गौतम का अनर्थ।

इरावती—कहं क्खु ब्रह्मबंधू अण्णहा जीविस्सदि। [कथं खलु ब्रह्मबन्धुरन्यथा जीविष्यति।]

बकुलावलिका—अज्ज ! एसा देवीए णिओअं अणुचिट्ठदि। एदस्सिं अदिक्कमे परवदी इअं। पसीददु भट्टा। (इत्यात्मना सहैनां प्रणिपातयति) [आर्य! एषा देव्या नियोगमनुतिष्ठति। एतस्मिन्नतिक्रमे परवतीयम्। प्रसीदतु भर्ता।]

राजा—यद्येवमनपराधासि। उत्तिष्ठ भद्रे ! (हस्तेन गृहीत्वैनामुत्थापयति)

विदूषकः—जुज्जइ देवी एत्थ माणइदव्वा। [युज्यते देव्यत्र मानयितव्या।]

राजा—(विहस्य)

किसलयमृदोर्विलासिनि कठिने निहतस्य पादपस्कन्धे।
चरणस्य न ते बाधा सम्प्रति वामोरु! वामस्य॥ १८॥

(मालविका लज्जां नाटयति)

इरावती—अहो, णवणीदकप्पहिअओ अज्जउत्तो। [अहो, नवनीतकल्पहृदय आर्यपुत्रः।]

मालविका—बउलावलिए ! एहि। अणुट्ठिदं अत्तणो णिओअं देवीए णिवेदेम्ह। [बकुलावलिके! एहि। अनुष्ठितमात्मनो नियोगं देव्यै निवेदयावः।]

बकुलावलिका—विण्णावेहि भट्टारं विसज्जेहि त्ति। [विज्ञापय भर्तारं विसर्जयेति।]

राजा—भद्रे ! यास्यसि। मम तावदुत्पन्नावसरमर्थित्वं श्रूयताम्।

बकुलावलिका—अवहिदा सुणाहि। आणवेदु भट्टा। [अवहिता शृणु। आज्ञापयतु भर्ता।]

राजा— धृतिपुष्पमयमपि जनो बध्नाति न तादृशं चिरात्प्रभृति।
स्पर्शामृतेन पूरय दोहदमस्याप्यनन्यरुचेः॥ १९॥

इरावती—(सहसोपसृत्य) पूरेहि पूरेहि। असोओ कुसुमं ण दंसेदि। अअं उण पुप्फदि एव्व। [पूरय पूरय। अशोकः कुसुमं न दर्शयति। अयं पुनः पुष्पत्येव।]

इरावती—यह नीच ब्राह्मण भला कैसे जीयेगा ?

बकुलावलिका—महाराज ! यह मालविका महारानी धारिणी की आज्ञा का पालन कर रही है। इस अपराध में यह पराधीन है। आप प्रसन्न हों। (अपने साथ उसे भी प्रणत करती है)

राजा—यदि ऐसी बात है तब तुम निर्दोष हो, उठो। (हाथ पकड़कर उसे उठाता है)

विदूषक—यहाँ यह ठीक है। देवी की गौरव-रक्षा करनी ही है।

राजा—(हँसकर) ओ विलासिनी ! ओ वामोरु ! तुमने अपने कोमल चरण से कठिन अशोक की जड़ में प्रहार किया है, उसमें कोई कष्ट नहीं हुआ ?॥ १८॥

(मालविका लज्जा का अभिनय करती है)

इरावती—अहा ! आर्यपुत्र का हृदय नवनीत के समान कोमल है।

मालविका—बकुलावलिके ! आओ। देवी से कह दें कि आदेश का पालन हो गया।

बकुलावलिका—महाराज से गमन करने की आज्ञा ले लें।

राजा—कल्याणि ! जाओ; केवल हमारी एक प्रार्थना सुन लो।

बकुलावलिका—सावधान होकर सुनें। महाराज ! कहिए।

राजा—यह व्यक्ति भी चिरकाल से धैर्य-सुमन को धारण नहीं कर सका है, अतः अनन्यासक्त इस जन का मनोरथ भी चरणस्पर्श रूप अमृत से पूर्ण कर दो॥ १९॥

इरावती—(शीघ्र समीप आकर) पूर्ण करो, पूर्ण करो। अशोक फूल नहीं देता है, किन्तु महाराज तो अभी से फूलते जा रहे हैं।

(सर्वे इरावतीं दृष्ट्वा सम्भ्रान्ताः)

राजा—(अपवार्य) वयस्य ! का प्रतिपत्तिरत्र।

विदूषकः—किं अण्णं ! जंघाबलं एव्व। [**किमन्यत्? जङ्घाबलमेव।**]

इरावती—बउलावलिए ! तुए साहु उवक्कंतं। दाणिं सफलब्भत्थणं करेहि अज्जउत्तं। [**बकुलावलिके ! त्वया साधूपक्रान्तम्। इदानीं सफलाभ्यर्थिनं कुर्वार्यपुत्रम्।**]

उभे—पसीददु भट्टिणी। काओ अम्हे भत्तुणो पणअपरिग्गहस्स। (इति निष्क्रान्ते।) [**प्रसीदतु भट्टिनी। के आवां भर्तुः प्रणयपरिग्रहस्य।**]

इरावती—अविस्ससणीआ पुरिसा। अत्तणो वंचणवअणं पमाणीकरिअ आक्खित्ताए वाहजणगीदगहीदचित्ताए विअ हरिणीए एदं ण विण्णादं मए। [**अविश्वसनीयाः पुरुषाः। आत्मनो वञ्चनावचनं प्रमाणीकृत्याक्षिप्तया व्याधजनगीतगृहीतचित्तयेव हरिण्यैतन्न विज्ञातं मया।**]

विदूषकः—(जनान्तिकम्) भो, पडिपज्जेहि किं पि उत्तरं। कम्मग्गहीदेण वि कुंभीलएण संधिच्छेदे सिक्खिओम्मि त्ति वत्तव्वं होदि। [**भो, प्रतिपद्यस्व किमप्युत्तरम्। कर्मगृहीतेनापि कुम्भीलकेन सन्धिच्छेदे शिक्षितोऽस्मीति वक्तव्यं भवति।**]

राजा—सुन्दरि ! न मे मालविकया कश्चिदर्थः। मया त्वं चिरयसीति यथाकथञ्चिदात्मा विनोदितः।

इरावती—विस्ससणीओसि। ण मए विण्णादं ईरिसं विणोदवुत्तंतं अज्जउत्तेण उवलद्धं त्ति। अण्णहा दुक्खभाइणीए एव्वं ण करीअदि। [**विश्वसनीयोऽसि। न मया विज्ञातमीदृशं विनोदवृत्तान्तमार्यपुत्रेणोपलब्धम् इति। अन्यथा दुःखभागिन्यैवं न क्रियते।**]

विदूषकः—मा दाव अत्तभोदो दक्खिण्णस्स उवरोहं करेहि। समावदिट्ठेण देवीए परिचारिआइत्थिआजणेन संकहावि जइ वारीअदि एत्थ तुमं एव्व पमाणं। [**मा तावदत्रभवतो दाक्षिण्यस्योपरोधं कुरु। समीपदृष्टेन देव्याः परिचारिकास्त्रीजनेन सङ्कथापि यदि वार्यते अत्र त्वमेव प्रमाणम्।**]

(इरावती को देखकर सभी सकपका जाते हैं)

राजा—(**अलग से**) मित्र ! क्या युक्ति है ?

विदूषक—और क्या युक्ति है ? केवल (जाँघों का बल) भागना ही एक उपाय है।

इरावती—बकुलावलिके ! तुमने तो अच्छा काम किया। अब महाराज को पूर्णमनोरथ कर दो।

दोनों (मालविका, बकुलावलिका)—महारानी प्रसन्न हों। भला हम कौन होती हैं महाराज की साध पूर्ण करनेवाली ? (**दोनों निकल जाती हैं**)।

इरावती—वस्तुतः पुरुष विश्वासपात्र नहीं होते। मैं क्या जानती थी कि जिस प्रकार व्याधों के मनोरम संगीत को सुनकर हरिणी सुध-बुध खोकर जाल में फँस जाती है उसी प्रकार मैं भी इनकी चिकनी-चुपड़ी बातों पर विश्वास करके इनके फन्दे में फँस जाऊँगी।

विदूषक—(**राजा से धीरे-धीरे**) कुछ तो उत्तर दीजिए। चोरी में पकड़ा गया चोर कह देता है कि मैं सेंध नहीं लगा रहा था बल्कि सेंध की विद्या सीख रहा था।

राजा—सुन्दरि ! मालविका से मुझे कोई प्रयोजन नहीं। तुम यहाँ आने में विलम्ब कर रही थी, अतएव मैं किसी प्रकार अपना मन बहला रहा था अर्थात् मनोरञ्जन कर रहा था।

इरावती—तुम पर विश्वास नहीं। मैं नहीं जानती थी कि आर्यपुत्र ने ऐसी विनोद की सामग्री पा ली है, अन्यथा मैं अभागिन ऐसा नहीं करती।

इरावती—णं संकहा णाम होदु। किं त्ति अत्ताणं आआसइस्सं ? (इति रुषा प्रस्थिता।) [ननु सङ्कथा नाम भवतु। किमित्यात्मानमायासयिष्यामि ?]

राजा—(अनुसरन्) प्रसीदतु भवती।

(इरावती रसनासन्धारितचरणा व्रजत्येव)

राजा—सुन्दरि ! न शोभते प्रणयिनि जने निरपेक्षता।

इरावती—सठ ! अविस्ससणीअहिअओसि। [शठ ! अविश्वसनीयहृदयोऽसि।]

राजा—

शठ इति मयि तावदस्तु ते परिचयवत्यवधीरणा प्रिये।
चरणपतितया न चण्डि तां विसृजसि मेखलयापि याचिता॥ २०॥

इरावती—इअं पि हदासा तुमं एव्व अणुसरदि। (इति रसनामादाय राजानं ताडयितुमिच्छति।) [इयमपि हताशा त्वामेवानुसरति।]

राजा—वयस्य ! इयमिरावती—

बाष्पासारा हेमकाञ्चीगुणेन श्रोणीबिम्बादप्युपेक्षाच्युतेन।
चण्डी चण्डं हन्तुमभ्युद्यता मां विद्युद्दाम्ना मेघराजीव विन्ध्यम्॥ २१॥

इरावती—किं मं एव्व भूओ वि अवरद्धं करेसि ? [किं मामेव भूयोऽप्यपराद्धां करोषि ?]

राजा—(सरसनं हस्तमवलम्बयति)

अपराधिनि मयि दण्डं संहरसि किमुद्यतं कुटिलकेशि।
वर्द्धयसि विलसितं त्वं दासजनायाद्य कुप्यसि च॥ २२॥

विदूषक—आप महाराज की समानानुरागता पर आक्षेप न करें। महारानी की परिचारिकाओं से, जो पास में उपस्थित हो, बातचीत भी यदि निषिद्ध है तो यह तो आप ही जानें।

इरावती—वार्तालाप होवे, मैं क्यों बीच में पड़ूँगी ? (क्रोध के साथ चली जाती है)

राजा—(पीछे-पीछे जाते हुए) देवी प्रसन्न हो जाइए।

(इरावती पैर में फँसी हुई तगड़ी को घसीटती हुई चली जाती है)

राजा—प्रेयसि ! अपने प्रियतम की उपेक्षा करना तुम्हें शोभा नहीं देता।

इरावती—अरे शठ ! मुझे तुम्हारा तनिक भी विश्वास नहीं है।

राजा—तुमने शठ कहकर जो मेरा अनादर किया है, वह तो कोई नयी बात नहीं है। परन्तु हे चण्डि ! जब तुम्हारी तगड़ी भी तुम्हारे चरणों पर गिरकर क्षमा माँग रही है तब भी तुम क्या अपना क्रोध न छोड़ोगी ?॥ २०॥

इरावती—यह अभागिनी भी तुम्हारे ही समान है। (यह कहकर राजा पर मेखला-प्रहार करना चाहती है)

राजा—मित्र ! यह इरावती—

मेघमाला जिस प्रकार विद्युन्माला से विन्ध्यपर्वत को प्रताडित करती है उसी प्रकार सक्रोध एवं साश्रुनयना यह इरावती उपेक्षापूर्वक पतित मेखला से मेरे ऊपर प्रहार करना चाह रह रही है॥ २१॥

इरावती—आप पुनः मुझको क्रुद्ध बनाकर अपराध करवाना चाह रहे हैं क्यों ?

राजा—(मेखला युक्त हाथ को पकड़ लेता है)

अरे कुञ्चित केशकलापवाली ! मुझ अपराधी के लिए प्रस्तुत दण्ड को क्यों रोक रही हो ? एक ओर तो तुम लीला-विशेष को बढ़ा रही हो और इधर मुझ सेवक पर क्रोध भी कर रही हो॥ २२॥

नूनमिदमनुज्ञातम्। (इति पादयोः पतति)

इरावती—ण क्खु इमे मालविआचलणा जा दे हरिसदोहलं पूरयिस्संति। (इति निष्क्रान्ता सह चेट्या।) [न खल्विमौ मालविकाचरणौ यौ ते हर्षदोहदं पूरयिष्यतः।]

विदूषकः—उट्ठेहि। अकिदप्पसादोऽसि। [उत्तिष्ठ। अकृतप्रसादोऽसि।]

राजा—(उत्थायेरावतीमपश्यन्) तत्कथं गतैव प्रिया ?

विदूषकः—वअस्स ! दिट्ठिआ इमस्स अविणअस्स अप्पसण्णा गदा एसा। ता वअं सिग्घं अवक्कमाम, जाव अंगारओ रासिं विअ अणुवंकं परिगमणं ण करेदि। [वयस्य! दिष्ट्याऽनेनाविनयेनाप्रसन्ना गतैषा। तद्वयं शीघ्रमपक्रमामः, यावदङ्गारको राशिमिवानुवक्रं प्रतिगमनं न करोति।]

राजा—अहो ! मदनस्य वैषम्यम्—

मन्ये प्रियाहृतमनास्तस्याः प्रणिपातलङ्घनं सेवाम्।
एवं हि प्रणयवती सा शक्यमुपेक्षितुं कुपिता॥ २३॥

(इति निष्क्रान्तः सह वयस्येन)

इति तृतीयोऽङ्कः।

तो आपने मेरी बात मान ली है। (ऐसा कहकर चरणों पर गिरता है)

इरावती—ये मालविका के चरण नहीं है, जो तुम्हारे मनोरथ को पूर्ण करेंगे। (ऐसा कहकर दासी के साथ निकल जाती है)

विदूषक—उठिए। रानी का अनुग्रह नहीं प्राप्त कर सके।

राजा—(उठकर और इरावती को नहीं देखते हुए) क्या प्रियतमा चली ही गई ?

विदूषक—मित्र ! भाग्यवश इस अपराध से अप्रसन्न होकर चली गई है। जब तक जिस प्रकार मंगलग्रह वक्र भाव मे दूसरी राशि में आता है, उसी प्रकार फिर वह रानी नहीं आ जाती तभी तक हम लोग निकल चलें।

राजा—आश्चर्य है ! कामदेव की विपरीत कृति बड़ी ही विलक्षण है।

प्रियतमा मालविका ने मेरे हृदय को आकृष्ट कर लिया है, अतएव इरावती की अप्रसन्नता को मैं उपकार ही मान रहा हूँ। क्योंकि वह इरावती क्रुद्ध है, उसकी उपेक्षा करके भी कुछ समय तक रहा जा सकता है॥ २३॥

(राजा मित्र विदूषक के साथ निकल जाता है)

तीसरा अङ्क समाप्त।

चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशति पर्युत्सुको राजा प्रतीहारी च)

राजा—(आत्मगतम्)

तामाश्रित्य श्रुतिपथगतामाशया वद्धमूलः
सम्प्राप्तायां नयनविषयं रूढरागप्रवालः।
हस्तस्पर्शैर्मुकुलित इव व्यक्तरोमोद्गमत्वात्
कुर्यात् कान्तं मनसिजतरुर्मां रसज्ञं फलस्य॥ १॥

(प्रकाशम्) सखे गौतम !

प्रतीहारी—जेदु जेदु भट्टा। असंणिहिदो गोदमो। [जयतु जयतु भर्ता। असन्निहितो गौतमः।]

राजा—(आत्मगतम्) आः मालविकावृत्तान्तज्ञानाय मया प्रेषितः।

(प्रविश्य)

विदूषकः—वड्ढदु भवं। [वर्धतां भवान्।]

राजा—जयसेने ! जानीहि तावत् क्व देवी धारिणी सरुजत्त्चरणत्वाद्विनोद्यत इति।

प्रतीहारी—जं देव आणवेदि। (इति निष्क्रान्ता) [यद्देव आज्ञापयति।]

राजा—गौतम ! को वृत्तान्तस्तत्रभवत्यास्ते सख्याः ?

विदूषकः—जो विडालगहीदाए परहुदिआए। [यो विडालगृहीतायाः परभृतिकायाः।]

(तदनन्तर उत्कण्ठित राजा और प्रतीहारी का प्रवेश)

राजा—(मन ही मन) अपनी प्रेयसी मालविका से सम्वद्ध बातों से बढी हुई आशा ही जिसकी जड़ है, प्रियतमा के दर्शन से उत्पन्न अनुराग ही जिसके पल्लव हैं तथा उसके करकिसलयों के स्पर्श से उत्थित रोमाञ्च ही जिसके पुष्प है, वह प्रेम का वृक्ष ही मुझे उसका स्वामी बनाकर अपने फल के रसास्वादन का अवसर दे॥ १॥

(प्रकट) मित्र गौतम !

प्रतीहारी—जय हो, महाराज की जय हो। गौतमजी यहाँ नहीं हैं।

राजा—(मन ही मन) अरे ! मैंने ही तो उनको मालविका के समाचार को जानने के लिए भेजा है।

विदूषक—(प्रवेश कर) आपको वधाई है।

राजा—जयसेना ! आओ देखो तो, देवी धारिणी अपना चोट लगा हुआ पैर लिये कहाँ जी वहला रही है ?

प्रतीहारी—जैसी महाराज की आज्ञा। (निकल जाती है)

राजा—गौतम ! तुम्हारी सखी मालविका के क्या समाचार हैं ?

विदूषक—वही जो विल्ली के पंजे में पड़ी हुई कोयल का होता है।

राजा—(सविषादम्) कथमिव ?

विदूषकः—सा क्खु तवस्सिणी तए पिंगलच्छीए सारभांडभूघरए गुहाए विअ णिक्खित्ता। [सा खलु तपस्विनी तया पिङ्गलाक्ष्या सारभाण्डभूगृहे गुहायामिव निक्षिप्ता।]

राजा—ननु मत्सम्पर्कमुपलभ्य ?

विदूषकः—अह इं ? [अथ किम् ?]

राजा—क एवं विमुखोऽस्माकम्, येन चण्डीकृता देवी ?

विदूषकः—सुणादु भवं। परिव्वाजिआए मे कहिदं। हिओ किल तत्तहोदी इरावदी रुअक्कंत-चलणं देविं सुहपुच्छिआ आअदा। [शृणोतु भवान्। परिव्राजिकया मे कथितम्। ह्यः किल तत्रभवती-रावती रुजाक्रान्तचरणां देवीं सुखपृच्छिकाऽऽगता।]

राजा—ततस्ततः।

विदूषकः—तदो सा देवीए पुच्छिदा— 'किं णु ओलोइदो वल्लहजणो' त्ति। ताए उत्तं—'मंदो वो उवआरो जं परिजणे संकंतं वल्लहत्तणं ण जाणीअदि'। [ततः सा देव्या पृष्टा—'किं न्ववलोकितो वल्लभजन' इति। तयोक्तम्— 'मन्दो व उपचारः यत्परिजने सङ्क्रान्तं वल्लभत्वं न ज्ञायते'।]

राजा—अहो ! निर्भेदादृतेऽपि मालविकायामयमुपन्यासः शङ्कयति।

विदूषकः—तदो ताए अणुबंधिज्जमाणा सा भवदो अविणअं अंतरेण परिगदत्था किदा देवी। [ततस्तयानुबन्ध्यमाना सा भवतोऽविनयमन्तरेण परिगतार्था कृता देवी।]

राजा—(साश्चर्यम्) अहो दीर्घरोषता तत्रभवत्याः। अतः परं कथय।

विदूषकः—किं अवरं। मालविआ बउलावलिआ अ पादालवासं णिगलपदीओ अदिट्ठसुज्जपादं णागकण्णआओ विअ अणुहोंति। [किमपरम्। मालविका बकुलावलिका च पातालवासं निगडपद्याव-दृष्टसूर्यपादं नागकन्यके इवानुभवतः।]

राजा—(दुःखी होकर) किम प्रकार ?

विदूषक—बेचारी तपस्विनी मालविका को क्रूरकर्मा पीली आँखों वाली दासी ने स्वर्णभूषण पात्र रखे जाने वाले भूमिगृह की गुफा में बन्द कर दिया है।

राजा—मेरे प्रेम की बात जानने के कारण ही बन्द किया होगा।

विदूषक—और क्या ?

राजा—ऐसा कौन हमारा शत्रु है, जिसने देवी को इतना क्रुद्ध बना दिया ?

विदूषक—आप सुनिए। मुझसे परिव्राजिकाजी कह रही थीं कि कल पैर में चोट खाई हुई देवी धारिणी से कुशल-मंगल पूछने इरावती वहाँ गई थीं।

राजा—तब क्या हुआ ?

विदूषक—तब उनसे महारानी ने पूछा—कहो, प्रियतम से इधर भेंट हुई थी ? इस पर उन्होंने कहा—अब उन्हें प्रियतम न कहिए। क्या आप नहीं जानतीं कि वे अब दासियों से प्रेम करने लगे हैं ?

राजा—यद्यपि बात स्पष्ट नहीं कही गई, फिर भी ज्ञात होता है कि मालविका को लक्ष्य करके कहा है।

विदूषक—इसके पश्चात् महारानी धारिणी के आग्रह करने पर इरावती ने आपको बचाते हुए सारी कथा उनसे कह दी।

राजा—(आश्चर्य के साथ) उसका क्रोध इतने दिनों तक रहा। आगे बतलाओ।

राजा—कष्टं कष्टम्।

मधुरस्वरा परभृता भ्रमरी च विबुद्धचूतसङ्गिन्यौ।
कोटरमकालवृष्ट्या प्रबलपुरोवातया गमिते॥ २॥

अप्यत्र कस्यचिदुपक्रमस्य गतिः स्यात्।

विदूषकः—कहं भविस्सदि ? जं सारभांडघरव्वावारिदा माहविआ देवीए संदिट्ठा— 'मह अंगुलीअअमुद्दिअं अदेक्खिअ ण मोत्तव्वा तुए हदासा मालविआ बउलावलिआ अ'त्ति [**कथं भविष्यति? यत्सारभाण्डगृहव्यापारिता माधविका देव्या सन्दिष्टा—'ममाङ्गुलीयकमुद्रिकामदृष्ट्वा न मोक्तव्या त्वया हताशा मालविका बकुलावलिका चे'ति।**]

राजा—(निःश्वस्य सपरामर्शम्) सखे! किमत्र कर्तव्यम् ?

विदूषकः—(विचिन्त्य) अत्थि एत्थ उवाओ। [**अस्त्यत्रोपायः।**]

राजा—क इव ?

विदूषकः—(सदृष्टिक्षेपम्) को वि अदिट्ठो सुणिस्सदि। कण्णे दे कहेमि (इत्युपश्लिष्य कर्णे) एव्वं विअ। (इत्यावेदयति) [**कोऽप्यदृष्टः श्रोष्यति। कर्णे ते कथयामि। एवमिव।**]

राजा—(सहर्षम्) सुट्ठु। प्रयुज्यतां सिद्धये।

(प्रविश्य)

प्रतीहारी—देव! पवादसअणे देवी णिसण्णा रत्तचंदणधारिणा परिअणहत्थगदेण चलणेण भअवदीए कहाहिं विणोदिज्जमाणा चिट्ठदि। [**देव! प्रवातशयने देवी निषण्णा रक्तचन्दनधारिणा परिजनहस्तगतेन चरणेन भगवत्या कथाभिर्विनोद्यमाना तिष्ठति।**]

राजा—तस्मादस्मत्प्रवेशयोग्योऽयमवसरः।

विदूषक—और क्या कहूँ ? मालविका और बकुलावलिका के चरणों में बेडियाँ डाल दी गई और सूर्यकिरण-दर्शन से वञ्चित वे दोनों नागकन्या के समान पातालवास का अनुभव कर रही है।

राजा—अत्यन्त कष्ट है।

बौरे हुए आम के साथ रहनेवाली मधुरभाषिणी कोयल और भ्रमरी दोनों को प्रचण्ड पुरवाई और असमय की वर्षा ने पेड़ के कोटर में बन्द कर दिया॥ २॥

अब उन्हें छुड़ाने का कोई उपाय हो सकता है या नहीं।

विदूषक—उपाय क्या होगा ? निचले भाण्डारगृह की रक्षिका माधविका को देवी ने यह कह दिया है कि मालविका और बकुलावलिका को बिना मेरी अँगूठी देखे कभी न छोड़ना।

राजा—(**लम्बी साँस लेकर और कुछ सोचकर**) मित्र! अब क्या किया जाय ?

विदूषक—(**सोचकर**) एक उपाय है।

राजा—क्या उपाय ?

विदूषक—(**इधर-उधर देखकर**) कोई छिपकर सुन न रहा हो ? आइए कान में कहूँ। (**कान के पास लगकर**) यह हो सकता है। (**कान में कह देता है**)

राजा—(**प्रसन्न होकर**) ठीक है। प्रयोजन सिद्धि के लिए काम में लग जाओ।

प्रतीहारी—(**प्रवेश कर**) महाराज! इस समय महारानी पवनपूर्ण भवन में पलंग पर बैठी हुई हैं, उनके पैर में लाल चन्दन लगा हुआ है, दासियाँ पैर सँभाले हैं और परिव्राजिकाजी कथा सुनाकर उनका मनोरंजन कर रही है।

राजा—तो मुझे वहाँ जाने का अच्छा अवसर है।

विदूषकः—भो गच्छदु भवं। अहं वि देविं पेक्खिदुं अरित्तपाणी भविस्सं। [भो गच्छतु भवान्। अहमपि देवीं द्रष्टुमरिक्तपाणिर्भविष्यामि।]

राजा—जयसेनायास्तावदस्मद्रहस्यं विदितं कुरु।

विदूषकः—तह। (इति कर्णे) एव्वं विअ होदि। (इत्यावेद्य निष्क्रान्तः) [तथा। एवमिव भवति।]

राजा—जयसेने! प्रवातशयनमार्गमादेशय।

प्रतीहारी—इदो इदो देवो। [इत इतो देवः।]

(ततः प्रविशति शयनस्था देवी परिव्राजिका विभवतश्च परिवारः)

देवी—भअवदि! रमणिज्जं कहावत्थु। तदो तदो। [भगवति! रमणीयं कथावस्तु। ततस्ततः।]

परिव्राजिका—(सदृष्टिक्षेपम्) देवि! अतः परं पुनः कथयिष्यामि। अत्रभवान्विदिशेश्वरः सम्प्राप्तः।

देवी—अम्हो भट्टा। (इत्युत्थातुमिच्छति) [अहो भर्ता।]

राजा—अलमलमुपचारयन्त्रणया—

अनुचितनूपुरविरहं नार्हसि तपनीयपीठिकालम्बि।
चरणं रुजा परीतं कलभाषिणि! मां च पीडयितुम्॥ ३॥

धारिणी—जेदु जेदु अज्जउत्तो। [जयतु जयत्वार्यपुत्रः।]

परिव्राजिका—विजयतां देवः।

राजा—(परिव्राजिकां प्रणम्योपविश्य) देवि! अपि सह्या वेदना।

विदूषक—आप चलिए। मैं भी हाथ में कुछ उपहार लेकर महारानी को देखने आ रहा हूँ।

राजा—जयसेना को भी अपनी सब बातें समझा दो।

विदूषक—अच्छा। (जयसेना के कान से लगकर) देखो, ऐसा करना होगा। (सब कुछ बताकर चला जाता है)

राजा—जयसेना! प्रवातशयनकक्ष का मार्ग दिखलाओ।

प्रतीहारी—इधर से आइए महाराज; इधर से।

(पलँग पर बैठी हुई देवी तथा पास में बैठी परिव्राजिका और अनेक दासियों का प्रवेश)

देवी—श्रीमतीजी! कथा अत्यन्त मनोरम है। इसके आगे?

परिव्राजिका—(चारों ओर देखकर) देवी! शेष दूसरे समय में कहूँगी। यह विदिशानाथ आ रहे हैं।

देवी—क्या महाराज! (इतना कहकर उठना चाहती है)

राजा—स्वागत करने के लिए उठकर कष्ट करने की क्या आवश्यकता है—

हे मधुरभाषिणि! देवि! यही तो अनुचित हो रहा है कि तुम्हारे ये चरण नूपुर से रहित होकर इस क्षुद्र स्वर्णपीठ पर पडे हैं। अब इस समय उठने की चेष्टा द्वारा इन चरणों के साथ मुझे भी मत सताओ॥ ३॥

धारिणी—जय हो, आर्यपुत्र की जय हो।

परिव्राजिका—आपकी विजय हो देव।

राजा—(परिव्राजिका को प्रणाम करके बैठते हुए) देवी! कुछ पीड़ा कम हुई?

धारिणी—अज्ज अत्थि मे विसेसो। [अद्यास्ति मे विशेषः।]

(ततः प्रविशति यज्ञोपवीतबद्धाङ्गुष्ठः सम्भ्रान्तो विदूषकः)

विदूषकः—परित्ताअदु परित्ताअदु भवं। सप्पेण म्हि दट्ठो। [परित्रायतां परित्रायतां भवान्। सर्पेणास्मि दष्टः।]

(सर्वे विषण्णाः)

राजा—कष्टं कष्टम्। क्व भवान्परिभ्रान्तः ?

विदूषकः—देविं देक्खिस्सं त्ति आआरपुप्फग्गहणकारणादो पमदवणं गदो म्हि। [देवीं द्रक्ष्यामीत्याचारपुष्पग्रहणकारणात्प्रमदवनं गतोऽस्मि।]

धारिणी—हद्धी हद्धी। अहं एव्व बम्हणस्स जीविदसंसअणिमित्तं जादम्हि। [हा धिक्! हा धिक्! अहमेव ब्राह्मणस्य जीवितसंशयनिमित्तं जातास्मि।]

विदूषकः—तहिं असोअत्थवअकालणादो पसारिदो दक्खिणहत्थो। तदो कोडरणिग्गदेण सप्परुवेण कालेण दट्ठो म्हि। णं एदाणि दुवे दंसणपदाणि। (इति दंशं दर्शयति) [तस्मिन्नशोकस्तवककारणात्प्रसारितो दक्षिणहस्तः। ततः कोटरनिर्गतेन सर्परूपेण कालेन दष्टोऽस्मि। नन्वेते द्वे दंशनपदे।]

परिव्राजिका—तेन हि दंशच्छेदः पूर्वकर्मेति श्रूयते। स तावदस्य क्रियताम्—

छेदो दंशस्य दाहो वा क्षतेर्वा रक्तमोक्षणम्।
एतानि दष्टमात्राणामायुष्याः प्रतिपत्तयः॥ ४॥

राजा—सम्प्रति विषवैद्यानां कर्म। जयसेने! ध्रुवसिद्धिः क्षिप्रमानीयताम्।

प्रतीहारी—जं देवो आणवेदि। (इति निष्क्रान्ता) [यद्देव आज्ञापयति।]

विदूषकः—अहो, पावेण मिच्चुणा गहीदो म्हि। [अहो, पापेन मृत्युना गृहीतोऽस्मि।]

धारिणी—हाँ, आज तो बहुत कम है।

(अपने हाथ के अँगूठे को जनेऊ से बाँधे हुए व्याकुल विदूषक का प्रवेश)

विदूषक—बचाइए महाराज! बचाइए! मुझे साँप ने काट लिया है।

(सभी लोग दुःखित हो जाते हैं)

राजा—कष्ट है। आप कहाँ घूम रहे थे ?

विदूषक—महारानी का दर्शन करूँगा, ऐसा सोचकर कुछ उपहारस्वरूप फूल लेने के लिए प्रमवदन चला गया था।

धारिणी—हाय मुझे धिक्कार है। मैं ही इस ब्राह्मण की मृत्यु का कारण हूँ।

विदूषक—वहाँ अशोक के गुच्छे को तोड़ने के लिए दाहिना हाथ फैलाया, तब बिल से निकलकर कालरूप साँप ने मुझे काट लिया। ये दोनों दंशन चिह्न हैं। (दंशन दिखाता है)

परिव्राजिका—दंश वाले स्थान का छेदन पहला काम कहा गया है। यही इसके लिए भी करना चाहिए।

दंश-स्थान का छेदन, दाह और रक्तमोक्षण, ये सभी उपचार सर्पदष्ट लोगों के जीवन के उपाय माने गये हैं॥ ४॥

राजा—इस समय विष-वैद्य की आवश्यकता है। जयसेने! शीघ्र ध्रुवसिद्धि को बुलाओ।

प्रतीहारी—जो आज्ञा। (ऐसा कहकर चली जाती है)

विदूषक—हाय पापी मृत्यु ने मुझे पकड़ लिया।

राजा—मा कातरो भूः। अविषोऽपि कदाचिद् दंशो भवेत्।

विदूषकः—कहं ण भाइस्सं ? सिमसिमाअंति मे अंगाइँ। (इति विषवेगं रूपयति।) [कथं न भेष्यामि ? सिमसिमायन्ति मेऽङ्गानि।]

धारिणी—हा, दंसिदं असुहं विआरेण। अवलम्बध बम्हणं। [हा, दर्शितमशुभं विकारेण। अवलम्बध्वं ब्राह्मणम्।]

(परिव्राजिका ससम्भ्रममवलम्बते)

विदूषकः—(राजानं विलोक्य) भो! भवदो बाल्लादो वि पिअवअस्सो म्हि। तं विआरिअ अपुत्ताए मे जणणीए जोगक्खेमं वहेहि। [भोः! भवतो बाल्यादपि प्रियवयस्योऽस्मि। तं विचार्यापुत्राया मे जनन्या योगक्षेमं वह।]

राजा—मा भैषीर्गौतम! स्थिरो भव। अचिरात्त्वां वैद्यश्चिकित्सिष्यति।

(प्रविश्य)

जयसेना—देव! आणाविदो धुवसिद्धी विण्णावेदि— इह एव्व आणीअदु सो गोदमो त्ति। [देव! आज्ञापितो ध्रुवसिद्धिर्विज्ञापयति— इहैवानीयतां स गौतम इति।]

राजा—तेन हि प्रतिगृहीतमेनं तत्रभवतः सकाशं प्रापय।

जयसेना—तहा। [तथा।]

विदूषकः—(देवीं विलोक्य) भोदि! जीवेअं वा ण वा। जं मए अत्तभवंतं सेवमाणेण दे अवरद्धं तं मरिसेहि। [भवति! जीवेयं वा न वा। यन्मयात्रभवन्तं सेवमानेन तेऽपराद्धं तन्मृष्यस्व।]

धारिणी—दीहाऊ होहि। [दीर्घायुर्भव।]

(निष्क्रान्तौ विदूषकः प्रतीहारी च)

राजा—घबराओ मत। कौन जाने साँप विषैला न भी हो।

विदूषक—क्यों न डरूँगा ? मेरे अंग-अंग जकडे जा रहे हैं। (विष चढने का अभिनय करता है)

धारिणी—हाय हाय! इसकी दशा तो बिगडती जा रही है। इस ब्राह्मण को कोई सँभालो।

(परिव्राजिका भ्रम के साथ पकड़ लेती है)

विदूषक—(राजा की ओर देखकर) महाराज! मैं बाल्यकाल से ही आपका प्रिय मित्र हूँ, इसका विचार कर मेरी पुत्रहीना माता की देखभाल कीजिएगा।

राजा—गौतम! भयभीत न होओ। शीघ्र ही वैद्य महाराज आकर तुम्हारी चिकित्सा प्रारम्भ कर देंगे।

(प्रवेश करके)

जयसेना—आपका आदेश प्राप्त करके ध्रुवसिद्धि वैद्यराज ने कहा कि गौतम को यहीं लाया जाय।

राजा—तब गौतम को अवलम्ब देकर ध्रुवसिद्धि के पास ले जाओ।

जयसेना—ठीक है।

विदूषक—(देवी की ओर देखकर) श्रीमति! मैं जीवित रहूँगा या नहीं, कोई निश्चय नहीं। यदि राजा की सेवा करने के कारण आपके प्रति मुझसे कुछ अपराध हो गया हो तो क्षमा कीजिएगा।

धारिणी—चिरञ्जीवी हो।

(विदूषक और प्रतीहारी निकल जाते हैं)

राजा—प्रकृतिभीरुस्तपस्वी ध्रुवसिद्धिमपि यथार्थनामानं सिद्धिमन्तं न मन्यते।

(प्रविश्य)

जयसेना—जेदु जेदु भट्टा। ध्रुवसिद्धी विण्णावेदि— उदकुंभविहाणेण सप्पमुद्दिअं किं पि कप्पिदव्वं। तं अण्णेसीअदु त्ति। [जयतु जयतु भर्ता। ध्रुवसिद्धिर्विज्ञापयति—उदकुम्भविधानेन सर्पमुद्रितं किमपि कल्पयितव्यम्। तदन्विष्यतामिति।]

धारिणी—इदं सप्पमुद्दिअं अंगुलीअअं। पच्छा मम हत्थे देहि णं। (इत्यङ्गुलीयकं ददाति) [इदं सर्पमुद्रितमङ्गुलीयकम्। पश्चान्मम हस्ते देह्येतत्।]

(प्रतिहारी गृहीत्वा प्रस्थिता)

राजा—जयसेने! कर्मसिद्धावाशु प्रतिपत्तिमानय।

प्रतीहारी—जं देवो आणवेदि। (इति निष्क्रान्ता) [यद्देव आज्ञापयति।]

परिव्राजिका—यथा मे हृदयमाचष्टे तथा निर्विषो गौतमः।

राजा—भूयादेवम्।

(प्रविश्य)

जयसेना—जेदु देवो भट्टा। णिवुत्तविसवेगो गोदमो मुहुत्तेण पकिदित्थो संवुत्तो। [जयतु देवो भर्ता। निवृत्तविषवेगो गौतमो मुहूर्तेन प्रकृतिस्थः संवृत्तः।]

धारिणी—दिट्ठिआ वअणीआदो मुत्तम्हि। [दिष्ट्या वचनीयान्मुक्तास्मि।]

प्रतीहारी—एसो उण वाहतओ अमच्चो विण्णवेदि— राअकज्जं बहु मंतिदव्वं दंसणेण अणुग्गहं इच्छामि त्ति। [एष पुनर्वाहतकोऽमात्यो विज्ञापयति— राजकार्यं बहु मन्त्रयितव्यं दर्शनेनानुग्रह-मिच्छामीति।]

राजा—भयशील, अकिञ्चन ब्राह्मण ध्रुवसिद्धि की चिकित्सा में भी अविश्वास करता है।

(प्रवेश कर)

जयसेना—महाराज की जय हो। ध्रुवसिद्धि ने कहा है कि उदकुम्भविधान के अनुसार नागमुद्रा की आवश्यकता होगी, अतः नागमुद्रा का अन्वेषण कराया जाय।

धारिणी—यह नागमुद्रायुक्त अँगूठी है। पश्चात् मुझे लौटा देना। (ऐसा कहकर अँगूठी दे देती है)

(प्रतीहारी अँगूठी लेकर जाती है)

राजा—जयसेना! कार्य सिद्ध हो जाने पर शीघ्र सूचना देना।

प्रतीहारी—महाराज की जो आज्ञा। (निकल जाती है)

परिव्राजिका—मेरा हृदय तो कह रहा है कि गौतम का विष उतर गया।

राजा—ऐसा ही होवे।

(प्रवेश करके)

जयसेना—महाराज की जय हो। गौतम का विष थोडी ही देर में उतर गया और वे शीघ्र ही स्वस्थ हो गये।

धारिणी—भाग्यवश मैं लोकापवाद से मुक्त हो गई।

प्रतीहारी—मन्त्री वाहतक ने कहलवाया है कि राजकार्य की बहुत-सी बातों पर विचार करना है। अतः आपके दर्शन की कृपा चाहता हूँ।

धारिणी—गच्छदु अज्जउत्तो कज्जसिद्धीए। [**गच्छत्वार्यपुत्रः कार्यसिद्धये।**]

राजा—देवि ! आतपाक्रान्तोऽयमुद्देशः। शीतक्रिया चास्या रुजः प्रशस्ता। तदन्यत्र नीयतां शयनम्।

देवी—बालिगाओ ! अज्जउत्तवअणं अणुचिट्ठह। [**बालिकाः ! आर्यपुत्रवचनमनुतिष्ठत।**]

परिजनः—तह। [**तथा।**]

(निष्क्रान्ता देवी परिव्राजिका परिजनश्च)

राजा—जयसेने ! मां गूढेन पथा प्रमदवनं प्रापय।

जयसेना—इदो इदो देवो। [**इत इतो देवः।**]

राजा—जयसेने ! ननु समाप्तकाम्यो गौतमः।

जयसेने—अह इं ? [**अथ किम् ?**]

राजा— **इष्टाधिगमनिमित्तं प्रयोगमेकान्तसाध्यमपि मत्वा।**
सन्दिग्धमेव सिद्धौ कातरमाशङ्कते हृदयम्॥५॥

(प्रविश्य)

विदूषकः—वड्ढदु भवं। सिद्धाणि दे मंगलकम्माणि। [**वर्धतां भवान्। सिद्धानि ते मङ्गलकर्माणि।**]

राजा—जयसेने ! त्वमपि स्वं नियोगमशून्यं कुरु।

जयसेना—जं देवो आणवेदि। (इति निष्क्रान्ता) [**यद्देव आज्ञापयति।**]

राजा—गौतम ! क्षुद्रा माधविका। न खलु किञ्चिद्विचारितमनया।

विदूषकः—देवीए अंगुलीअमुद्दिअं देक्खिअ कहं विआरेदि। [**देव्या अङ्गुलीयकमुद्रां दृष्ट्वा कथं विचारयति।**]

धारिणी—जाइए आर्यपुत्र ! राज्यकार्य सम्भालिए।

राजा—*देवी ! यह स्थान धूप से व्याप्त है। ऐसे रोग में शीतलता उचित होती है। अतः अपनी* शय्या अन्यत्र उठवा ले जाइये।

देवी—बालिकाओ ! आर्यपुत्र की आज्ञा का पालन करो।

परिजन—अच्छा।

(महारानी, परिव्राजिका और दासियाँ चली जाती हैं)

राजा—जयसेने ! मुझे गुप्तमार्ग से प्रमदवन ले चलो।

जयसेना—इधर से आइये देव ! इधर से।

राजा—जयसेने ! क्या गौतम ने अपना कार्य पूर्ण कर लिया।

जयसेना—और क्या !

राजा—इच्छित वस्तु पाने के लिए अत्यन्त उपाय करके भी कार्य-सिद्धि के विषय में लोगों का हृदय शङ्कापूर्ण ही बना रहता है॥५॥

(प्रवेश करके)

विदूषक—महाराज ! आपकी वृद्धि हो। आपके मंगलकार्य सिद्ध हो गये।

राजा—जयसेने ! तुम भी अपना कार्य पूर्ण करो।

जयसेना—जो आज्ञा। **(ऐसा कहकर निकल जाती है)**

राजा—गौतम ! मालविका मूर्ख है। उसने कुछ अनिष्ट के लिए तो नहीं सोचा।

राजा—न खलु मुद्रामधिकृत्य ब्रवीमि। एतयोर्द्वयोः किन्निमित्तो मोक्षः। किं वा देव्याः परिजनमतिक्रम्य भवान्सन्दिष्ट इत्येवमनया प्रष्टव्यम् ?

विदूषकः—णं पुच्छिदो म्हि। पुणो मंदस्स मे तस्सिं पच्चुप्पण्णा मदी। [ननु पृष्टोऽस्मि। पुनर्मन्दस्य मे तस्मिन्प्रत्युत्पन्ना मतिः।]

राजा—कथ्यताम्।

विदूषकः—भणिदं मए। देव्वचिंतएहिं विण्णाविदो राआ— 'सोवसग्गं वो णक्खत्तं'। ता अवस्सं सव्वबंधमोक्खो करीअदु त्ति। [भणितं मया। दैवचिन्तकैर्विज्ञापितो राजा— 'सोपसर्गं वो नक्षत्रम्'। तदवश्यं सर्वबन्धमोक्षः क्रियतामिति।]

राजा—(सहर्षम्) ततस्ततः।

विदूषकः—तं सुणिअ देवीए इरावदीए चित्तं रक्खंतीए राआ किल मोएदि त्ति अहं संदिट्ठो त्ति। तदो जुज्जदि त्ति ताए एव्वं संपादिदो अत्थो। [तच्छ्रुत्वा देव्या इरावत्याश्चित्तं रक्षन्त्या राजा किल मोचयतीत्यहं सन्दिष्ट इति। ततो युज्यत इति तयैवं सम्पादितोऽर्थः।]

राजा—(विदूषकं परिष्वज्य।) सखे! प्रियोऽहं खलु तव।

नहि बुद्धिगुणेनैव सुहृदामर्थदर्शनम्।
कार्यसिद्धिपथः सूक्ष्मः स्नेहेनाप्युपलभ्यते॥ ६॥

विदूषकः—तुवरदु भवं। समुद्दघरए सहीसहिदं मालविअं ठाविअ भवंतं पच्चुग्गदो म्हि। [त्वरतां भवान्। समुद्रगृहे सखीसहितां मालविकां स्थापयित्वा भवन्तं प्रत्युद्गतोऽस्मि।]

राजा—अहमेनां सम्भावयामि। गच्छाग्रतः।

विदूषकः—एदु भवं। (परिक्रम्य) एदं समुद्दघरं। [एतु भवान्। इदं समुद्रगृहम्।]

विदूषक—देवी की मुद्रिका देख लेने पर वह कर ही क्या सकती थी।

राजा—मैं अँगूठी की बात नहीं पूछता हूँ। क्या कहकर तुमने उन दोनों को मुक्त कराया। उसने पूछा होगा कि इतने सेवकों के रहते हुए देवी ने आप ही को क्यों भेजा ?

विदूषक—यह तो पूछा ही था। किन्तु मुझ मूर्ख की उस समय प्रत्युत्पन्न बुद्धि हो गई।

राजा—कहो।

विदूषक—मैंने कहा कि ज्योतिषियों ने महाराज से कहा है कि आपके ग्रह अनिष्टकारी हैं, अतएव इस समय सभी वन्दियों को मुक्त करा दीजिए।

राजा—(प्रसन्नतापूर्वक) तब क्या हुआ ?

विदूषक—ऐसा सुनकर देवी धारिणी ने इरावती का मन रखने के लिए अपने किसी परिजन को न भेजकर मुझे भेजा है, जिससे इरावती यह समझे कि राजा ही मुक्त कर रहे हैं।

राजा—(गौतम का आलिंगन करके) मित्र! मैं निश्चय ही तुम्हारा प्रिय हूँ।

केवल बुद्धि के बल से ही कोई अपने मित्रों का कार्य नहीं कर देता। अपने सिर कोई काम लेकर उसे अन्त तक निभा देना सचमुच ऐसा कठिन होता है कि वह तभी पूरा हो पाता है जब काम करने वाला अपने मित्र से पूर्ण स्नेह भी करता हो॥ ६॥

विदूषक—आप शीघ्रता करें। मैं समुद्रगृह में मालविका और बकुलावलिका को बैठाकर आपके समीप आया हूँ।

राजा—चलो, मैं उसे अपना दर्शन देकर सम्मान करूँगा। चलो आगे-आगे।

विदूषक—आप आइये। (घूमकर) यह है समुद्रगृह।

राजा—(साशङ्कम्) वयस्य! एषा कुसुमावचयव्यग्रहस्ता सख्यास्ते परिचारिका चन्द्रिका सन्निकृष्टमागच्छति। इतस्तावदावां भित्तिगूढौ भवावः।

विदूषकः—अहो, कुंभीलएहिं कामुएहिं च परिहरणीआ क्खु चंदिआ। [**अहो, कुम्भीलकैः कामुकैश्च परिहरणीया खलु चन्द्रिका।**]

(उभौ यथोक्तं कुरुतः)

राजा—गौतम! कथं नु ते सखी मां प्रतिपालयति। एहि। एनां गवाक्षमाश्रित्य विलोकयावः।

विदूषकः—तह। [**तथा।**]

(उभौ विलोकयन्तौ तिष्ठतः)

(ततः प्रविशति मालविका वकुलावलिका च।)

वकुलावलिका—सहि! पणम भट्टारं। [**सखि! प्रणम भर्तारम्।**]

मालविका—णमो दे। [**नमस्ते।**]

राजा—शङ्के मे प्रतिकृतिं निर्दिशति।

मालविका—(सहर्षं द्वारमवलोक्य सविषादम्) हला! मं विप्पलंभेसि। [***सखि! मां विप्रलम्भयसि।***]

राजा—हर्षविषादाभ्यामत्रभवत्याः प्रीतोऽस्मि—

सूर्योदये भवति या सूर्यास्तमये च पुण्डरीकस्य।
वदनेन सुवदनायास्ते समवस्थे क्षणादूढे॥ ७॥

बकुलावलिका—णं एसो चित्तगदो भट्टा। [**नन्वेष चित्रगतो भर्ता।**]

उभे—(प्रणिपत्य) जेदु भट्टा। [**जयतु भर्ता।**]

राजा—(**शङ्का सहित**) मित्र! तुम्हारी सखी इरावती की दासी चन्द्रिका फूल चुनती हुई इधर ही चली आ रही है। चलो, इस दीवार के पीछे छिप जायें।

विदूषक—हाँ, चोरों और जारों को चन्द्रिका से वचते ही रहना चाहिए।

(दोनों दीवार के पीछे छिप जाते हैं)

राजा—गौतम! तुम्हारी सखी मालविका हमारी प्रतीक्षा किस प्रकार करती है? आओ, वातायन से उसे देखें।

विदूषक—वहुत ठीक।

(दोनों देखते हुए बैठ जाते हैं)

(तत्पश्चात् मालविका और बकुलावलिका दोनों प्रवेश करती हैं)

बकुलावलिका—सखी! स्वामी को प्रणाम करो।

मालविका—आपको प्रणाम है।

राजा—जान पड़ता है यह मेरा चित्र दिखा रही है।

मालविका—(**प्रसन्नता से द्वार को देखकर दुःख के साथ**) सखि! तुमने मुझे धोखा दिया।

राजा—प्रियतमा मालविका के इस हर्ष और विषाद से वडी प्रसन्नता हुई। सूर्योदय और सूर्यास्त के समय में कमल की जो दो अवस्थाएँ होती है, इस सुमुखी मालविका के मुख ने एक ही क्षण में उन दोनों अवस्थाओं को धारण कर लिया॥ ७॥

बकुलावलिका—पर चित्र में भी तो स्वामी ही हैं।

दोनों—(**प्रणाम करती हुई**) स्वामी की जय हो।

राजा—अविश्वसनीयत्वात्सख्यास्तव।

विदूषकः—अत्तहोदीए अअं कहं तुह अविस्सासो। [अत्रभवत्यामयं कथं तवाविश्वासः।]

राजा—श्रूयताम्—

पथि नयनयोः स्थित्वा स्थित्वा तिरोभवति क्षणात्
सरति सहसा बाह्वोर्मध्यं गतापि सखी तव।
मनसिजरुजा क्लिष्टस्यैवं समागममायया
कथमिव सखे! विस्रब्धं स्यादिमां प्रति मे मनः॥ ११॥

बकुलावलिका—सहि! बहुसो क्खु भट्टा विप्पलद्धो। ता तुए अत्ता विस्ससणिज्जो करीअदु। [सखि! बहुशः किल भर्ता विप्रलब्धः। तत्त्वयात्मा विश्वसनीयः क्रियताम्।]

मालविका—सहि! मह उण मंदभग्गाए सिविणसमाअमो वि भट्टिणो दुल्लहो आसि। [सखि! मम पुनर्मन्दभाग्यायाः स्वप्नसमागमोऽपि भर्तुर्दुर्लभ आसीत्।]

बकुलावलिका—भट्टा, कहेदु से उत्तरं। [भर्ता, कथयत्वस्या उत्तरम्।]

राजा— उत्तरेण किमात्मैव पञ्चबाणाग्निसाक्षिकम्।
तव सख्यै मया दत्तो न सेव्यः सेविता रहः॥ १२॥

बकुलावलिका—अणुगहीदम्हि। [अनुगृहीतास्मि।]

विदूषकः—(परिक्रम्य ससम्भ्रमम्) बउलावलिए! एसो बालासोअरुक्खस्स पल्लवाइं लंघेदि हरिणो। एहि, णिवारेम णं। [बकुलावलिके! एष बालाशोकवृक्षस्य पल्लवानि लङ्घयति हरिणः। एहि, निवारयाम एनम्।]

बकुलावलिका—तह। [तथा।] (इति प्रस्थिता)

राजा—तुम्हारी सखी पर विश्वास नहीं हो रहा है, इसलिए।

विदूषक—इन पर आपको विश्वास क्यों नहीं हो रहा है?

राजा—सुनो।

तुम्हारी सखी मालविका अभी सामने आती है और अभी छिप जाती है, भुजपाश से सहसा खिसक पड़ती है। मुझ कामपीडित प्रेमी के प्रति इस प्रकार की प्रवंचना के करते रहने पर भी उस पर विश्वास कैसे किया जाय?॥ ११॥

बकुलावलिका—सखी! तुमने महाराज को अनेक बार धोखा दिया, अब भी अपने को महाराज का विश्वासपात्र बनाओ।

मालविका—सखी! मैं बहुत बड़ी भाग्यहीना हूँ। मेरे लिए स्वामी का स्वप्न-संगम भी दुर्लभ हो रहा है।

बकुलावलिका—महाराज, इसका उत्तर दीजिये।

राजा—उत्तर देने की कोई आवश्यकता नहीं। मैंने कामाग्नि को साक्षी रखकर तुम्हारी सखी के लिए अपना शरीर ही सौंप दिया। जो गुप्त रूप से सेवा करता है, उसे सेव्य बनाना उचित नहीं॥ १२॥

बकुलावलिका—मैं अनुगृहीत हूँ।

विदूषक—(घूमकर व्यग्रता से) बालाशोक के पल्लवों को मृगशावक चर रहा है। आओ, उसे बचावें।

बकुलावलिका—ठीक है। (चली जाती है)

राजा—वयस्य! एवमेवास्मिन् रक्षणक्षणेऽवहितेन त्वया भवितव्यम्।

विदूषकः—एव्वं वि गोदमो संदिसेअदि। [**एवमपि गौतमः सन्दिश्यते।**]

बकुलावलिका—(परिक्रम्य) अज्ज गोदम! अहं अप्पआसे चिट्ठामि। तुमं दुवाररक्खओ होहि। [**आर्य गौतम! अहमप्रकाशे तिष्ठामि। त्वं द्वाररक्षको भव।**]

विदूषकः—जुज्जदि। [**युज्यते।**]

(निष्क्रान्ता बकुलावलिका)

विदूषकः—इमं दाव फलिहक्खंभं अस्सिदो होमि। (इति तथा कृत्वा) अहो सुहप्फरिसदा सिलाविसेसस्स। (इति निद्रायते) [**इमं तावत्स्फटिकस्तम्भमाश्रितो भवामि। अहो सुखस्पर्शता शिलाविशेषस्य।**]

(मालविका ससाध्वसा तिष्ठति)

राजा— **विसृज सुन्दरि सङ्गमसाध्वसं तव चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे।**
परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि॥ १३॥

मालविका—देवीए भएण अत्तणो वि पिअं कादुं ण पारेमि। [**देव्या भयेनात्मनोऽपि प्रियं कर्त्तु न पारयामि।**]

राजा—अयि! न भेतव्यम्।

मालविका—(सोपालम्भम्) जो ण भाअदि सो मए भट्टिणीदंसणे दिट्ठसामत्थो भट्टा। [**यो न बिभेति स मया भट्टिनीदर्शने दृष्टसामर्थ्यो भर्ता।**]

राजा—**दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि! नायकानां कुलव्रतम्।**
तन्मे दीर्घाक्षि! ये प्राणास्ते त्वदाशानिबन्धनाः॥ १४॥

तदनुगृह्यतां चिरानुरक्तोऽयं जनः। (इति संश्लेषमुपजनयति)

राजा—इस रहस्य को छिपाने में सावधान रहना।

विदूषक—क्या इस प्रकार गौतम को भी बताना होगा।

बकुलावलिका—(घूमकर) आर्य गौतम! मैं छिपी हूँ, तुम द्वार पर प्रहरी बने रहो।

विदूषक—उचित है।

(**बकुलावलिका निकल जाती है**)

विदूषक—इस स्फटिक पत्थर के स्तम्भ का आश्रय लूँ। अहो! इस शिलाखण्ड का स्पर्श कितना सुखद है? (**ऐसा कहकर सो जाता है**)

(**मालविका डरकर खड़ी रहती है**)

राजा—सुन्दरि! तुम मिलन-भय को छोड़ दो। मैं बहुत दिनों से तुम्हारे लिए उत्कण्ठित हूँ। मुझ आम्रवृक्ष पर तुम माधवीलता बनकर लिपट जाओ॥ १३॥

मालविका—देवी के भय से अपने मन का मनोरथ भी नहीं पूर्ण कर सकती हूँ।

राजा—अरे! डरना नहीं चाहिए।

मालविका—(**उलाहना सहित**) आप नहीं डरते हैं, यह मैं इरावती के समक्ष देख चुकी हूँ।

राजा—हे बिम्बोष्ठि! दाक्षिण्य उत्तम नायकों का कुलव्रत है। किन्तु हे विशाललोचने! हमारे ये प्राण तुम्हारी आशा पर ही निर्भर हैं॥ १४॥

अतएव इस चिरप्रणयी पर दया करो। (**ऐसा कहकर राजा आलिंगन करता है**)

(मालविका नाट्येन परिहरति)

राजा—(आत्मगतम्) रमणीयः खलु नवाङ्गनानां मदनविषयावतारः। तथा हीयम्—

हस्तं कम्पयते रुणद्धि रसनाव्यापारलोलाङ्गुलीः
स्वौ हस्तौ नयति स्तनावरणतामालिङ्ग्यमाना बलात्।
पातुं पक्ष्मलनेत्रमुन्नमयतः साचीकरोत्याननं
व्याजेनाप्यभिलाषपूरणसुखं निर्वर्तयत्येव मे॥ १५॥

(ततः प्रविशतीरावती निपुणिका च)

इरावती—हंजे णिउणिए! सच्चं तुमं परिगदत्था चंदिआए। समुद्दघरअलिंदसइदो एआई अज्जगोदमो दिट्ठो त्ति। [**हञ्जे निपुणिके! सत्यं त्वं परिगतार्था चन्द्रिकया। समुद्रगृहालिन्दशयित एकाकी आर्यगौतमो दृष्ट इति।**]

निपुणिका—अण्णहा कहं भट्टिणीए विण्णावेमि। [**अन्यथा कथं भट्टिन्यै विज्ञापयामि।**]

इरावती—तेण हि तहिं एव्व गच्छम्ह, संसआदो मुत्तं पिअवअस्सं पुच्छिदुं अ। [**तेन हि तत्रैव गच्छामः, संशयान्मुक्तं प्रियवयस्यं प्रष्टुं च।**]

निपुणिका—सावसेसं विअ भट्टिणीए वअणं। [**सावशेषमिव भट्टिन्या वचनम्।**]

इरावती—अण्णं अ चित्तगदं अज्जउत्तं पसादेदुं। [**अन्यच्च चित्रगतमार्यपुत्रं प्रसादयितुम्।**]

निपुणिका—अह दाणिं कहं णु भट्टा एव्वं अणुणीअदि? [**अथेदानीं कथं नु भर्तैवमनुनीयते?**]

इरावती—मुद्धे! जारिसो चित्तगदो णं तारिसो एव्व अण्णसंकंतहिअओ अज्जउत्तो। केवलं उवआरादिक्कमं पमज्जिदुं अअं आरंभो। [**मुग्धे! यादृशश्चित्रगतो ननु तादृश एवान्यसङ्क्रान्तहृदय आर्यपुत्रः। केवलमुपचारातिक्रमं प्रमार्जितुमयमारम्भः।**]

(मालविका भंगी-विशेष से पृथक् हो जाती है)

राजा—(मन ही मन) नवाङ्गनाओं का कामविषयोद्रेक वास्तव में अत्यन्त मनोहर होता है। क्योंकि यह मालविका—

हाथ कँपाती है, करधनी खोलने के लिए तत्पर अँगुलियों को रोकती है। बलपूर्वक आलिंगन किये जाने पर अपने दोनों हाथों से स्तनमण्डल को ढँक लेती है। घनी बरौनी वाले नयनों से युक्त सुन्दर मुख को चूमने के लिए ऊपर उठाने पर मुँह घुमा लेती है। परिणामस्वरूप वह अपने निरोध के बहाने हमारी अभिलाषा को पूर्ण कर रही है॥ १५॥

(तब इरावती और निपुणिका प्रवेश करती हैं)

इरावती—अरी निपुणिके! चन्द्रिका ने तुमको सत्य ही सूचना दी। समुद्रगृह के द्वार पर बाह्यप्रदेश में सोये हुए आर्य गौतम दिखलाई दे रहे हैं।

निपुणिका—यदि ऐसी बात न होती तो आपसे मैं क्यों कहती?

इरावती—अतएव मैं वहीं पर जा रही हूँ। सर्पदष्ट गौतम मरा या जीवित है, इसका पता भी चल जायगा तथा उससे कुछ बातें भी करूँगी।

निपुणिका—आपका वचन अपूर्ण-सा है। ज्ञात होता है कि आप कुछ और कहना चाहती हैं।

इरावती—हाँ, और यही कि चित्रगत महाराज को प्रसन्न भी करना है।

निपुणिका—तो आप चलकर महाराज ही को क्यों नहीं मना लेतीं?

इरावती—अरी पगली! दूसरों से प्रेम करने वाले आर्यपुत्र हमारे लिए वैसे ही हैं जैसे उनका

निपुणिका—इदो इदो भट्टिणी। [इत इतो भट्टिनी।]

(उभे परिक्रामतः)

(प्रविश्य)

चेटी—जेदु जेदु भट्टिणी। भट्टिणि! देवी भणादि— ण मे मच्छरस्स एसो कालो। तेण क्खु बहुमाणं वड्ढेदुं वअस्साए सह णिअलबंधणे किदा मालविआ। जइ अणुमण्णसि अज्जउत्तस्स पिअं कादुं तहा करेमि। जं तुह इच्छिअं तं मे भणाहि त्ति। **[जयतु जयतु भट्टिनी। भट्टिनि! देवी भणति— न मे मत्सरस्यैष कालः। तेन खलु बहुमानं वर्धयितुं वयस्यया सह निगडबन्धने कृता मालविका। यद्यनुमन्यसे आर्यपुत्रस्य प्रियं कर्तुं तथा करोमि। यत्तवेष्टं तन्मे भणेति।]**

इरावती—णाअरिए! विण्णावेहि देवीं— 'का वअं भट्टिणीं णिओजेदुं। परिअणणिग्गहेण दंसिदो मइ अणुग्गहो। कस्स वा पसादेण अअं जणो वड्ढदि' त्ति। **[नागरिके! विज्ञापय देवीम्— 'का वयं भट्टिनीं नियोजयितुम्। परिजननिग्रहेण दर्शितो मय्यनुग्रहः। कस्य वा प्रसादेनायं जनो वर्धत' इति।]**

चेटी—तह। [तथा।] (इति निष्क्रान्ता)

निपुणिका—(परिक्रम्यावलोक्य च) भट्टिणि! एसो दुवारुद्देसे समुद्दघरअस्स विपणिगदो विअ बलीवद्दो अज्जगोदमो आसीणो एव्व णिद्दाअदि। **[भट्टिनि! एष द्वारोद्देशे समुद्रगृहस्य विपणिगत इव बलीवर्द आर्यगौतम आसीन एव निद्रायते।]**

इरावती—अच्चाहिदं। ण क्खु सावसेसो विसविआरो हवे। **[अत्याहितम्। न खलु सावशेषो विषविकारो भवेत्।]**

निपुणिका—पसण्णमुहवण्णो दीसइ। अवि अ धुवसिद्धिणा चिइच्छिदो। त से असंकणिज्जं पावं। **[प्रसन्नमुखवर्णो दृश्यते। अपि च ध्रुवसिद्धिना चिकित्सितः। तदस्याशङ्कनीयं पापम्।]**

चित्र। उस दिन मैंने उनके मनाने पर भी जो उनकी बात न मानने की धृष्टता की, उसी के परिमार्जन के लिए प्रयत्नशील हूँ।

निपुणिका—देवीजी इधर से इधर से।

(दोनों घूमती हैं)

(प्रवेश करके)

चेटी—महारानी की जय हो। देवी ने कहा है—मेरे लिए विरोध का समय नहीं है। तुम्हारी ही इच्छा को देखकर मैंने सखी सहित मालविका को बन्दीगृह में रखवा दिया है। यदि तुम कहो तो आर्यपुत्र का प्रिय कार्य करूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो मुझसे कहो।

इरावती—नागरिका! तुम देवी से कहना कि देवी को आदेश देनेवाली मैं कौन होती हूँ? अपने जन को बन्दी बनाकर मुझ पर कृपा की गई और किसके द्वारा मैं अनुगृहीत हूँगी?

चेटी—जो आज्ञा। **(चली जाती है)**

निपुणिका—(देखकर) यह समुद्रगृह के द्वार पर गौतम बाजारू बैल की तरह बैठे-बैठे सो गया है।

इरावती—यह तो बड़ा बुरा हुआ। कहीं सर्पदंशोत्पन्न विष का विकार शेष न रह गया हो।

निपुणिका—परन्तु इसका मुखवर्ण तो प्रसन्न है और जब ध्रुवसिद्धि ने इसके विष की दवा की है तो कोई घबड़ाने की बात नहीं है।

विदूषकः—(उत्स्वप्नायते) भोदि मालविए! [भवति मालविके!]

निपुणिका—सुदं भट्टिणीए। कस्स एसो अत्तणिओअसंपादणे विस्ससणिज्जो हदासो। सव्वकालं इदो एव्व सोत्थिवाअणमोदएहिं कुक्खिं पूरिअ संपदं मालविअं सिविणावेदि। [श्रुतं भट्टिन्या। कस्यैष आत्मनियोगसम्पादने विश्वसनीयो हताशः। सर्वकालमित एव स्वस्तिवाचनमोदकैः कुक्षिं पूरयित्वा साम्प्रतं मालविकां स्वप्नायते।]

विदूषकः—इरावदीं अदिक्कमंती होहि। [इरावतीमतिक्रामन्ती भव।]

निपुणिका—एदं अच्चाहिदं। इमं भुअंगभीरुअं बम्हबंधुं इमिणा भुअंगकुडिलेण दंडकट्ठेण खंभंतरिदा भाअइस्सं। [एतदत्याहितम्। इमं भुजङ्गभीरुं ब्रह्मबन्धुमनेन भुजङ्गकुटिलेन दण्डकाष्ठेन स्तम्भान्तरिता भीषयिष्यामि।]

इरावती—अरिहदि एव्व किदग्घो उवद्दवस्स। [अर्हत्येव कृतघ्नः उपद्रवस्य।]

(निपुणिका विदूषकस्योपरि दण्डकाष्ठं पातयति)

विदूषकः—(सहसा प्रबुध्य) अविहा अविहा। भो वअस्स! सप्पो मे उवरि पडिदो। [अविधा अविधा। भो वयस्य! सर्पो मे उपरि पतितः।]

राजा—(सहसोपसृत्य) सखे! न भेतव्यं न भेतव्यम्।

मालविका—(अनुसृत्य) भट्टा! मा दाव सहसा णिक्कम। सप्पो त्ति भणीअदि। [भर्तः! मा तावत्सहसा निष्क्राम। सर्प इति भण्यते।]

इरावती—हद्धि हद्धि। भट्टा इदो एव्व धावदि। [हा धिक् हा धिक्। भर्ता इत एव धावति।]

विदूषकः—(सप्रहासम्) कहं दंडकट्ठं एदं। अहं उण जाणे जं मए केदईकंटएहिं डंसं करिअ सप्पस्स उवरि अअसो किदं तं मे फलिदं त्ति। [कथं दण्डकाष्ठमेतत्। अहं पुनर्जाने यन्मया केतकीकण्टकैर्दंशं कृत्वा सर्पस्योपर्ययशः कृतं तन्मे फलितमिति।]

विदूषक—(स्वप्न में प्रलाप करता हुआ) हे देवि मालविके!

निपुणिका—देवी ने सुना? अपना कार्य सिद्ध कराने के लिए इस अभागे का कौन विश्वास करेगा? सदा तो यह आपके दिये हुए पूजा के मोदकों से उदरपूर्ति करता है और आज स्वप्न में इसे मालविका सूझ रही है।

विदूषक—इरावती को पराजित करनेवाली बनो।

निपुणिका—यह तो बड़ा बुरा हुआ। खम्भे के पीछे खड़ी होकर सर्प से भयभीत इस ब्राह्मणाधम को सर्पतुल्य वक्र लाठी से उठाती हूँ।

इरावती—ऐसे कृतघ्न के साथ ऐसी ही कुचाल करनी चाहिए।

(निपुणिका विदूषक के ऊपर लाठी गिरा देती है)

विदूषक—(शीघ्र जगकर) हाय! हाय मित्र! मेरे ऊपर साँप गिर पड़ा है।

राजा—(शीघ्र समीप आकर) डरो मत, डरो मत।

मालविका—(पीछा करती हुई) देव! आप बाहर न जायँ, साँप की बात कही जा रही है।

इरावती—हाय हाय! महाराज यहीं से दौड़े चले आ रहे हैं।

विदूषक—(अत्यधिक हँसी के साथ) यह तो लाठी है। मुझे ज्ञात हुआ कि मैंने केतकी कण्टक से चिह्न बनाकर जो सर्प को मिथ्या अपवाद लगाया था, उसी का फल मुझे यह मिल रहा है।

(प्रविश्य पटाक्षेपेण)

बकुलावलिका—मा दाव भट्टा पविसदु। इह कुडिलगई सप्पो विअ दीसदि। [**मा तावद्भर्ता प्रविशतु। इह कुटिलगतिः सर्प इव दृश्यते।**]

इरावती—(स्तम्भान्तरिता राजानं सहसोपेत्य) अवि णिव्विग्घमणोरहो दिवासंकेदो मिहुणस्स। [**अपि निर्विघ्नमनोरथो दिवासङ्केतो मिथुनस्य।**]

(सर्वे इरावतीं दृष्ट्वा सम्भ्रान्ताः)

राजा—प्रिये! अपूर्वोऽयमुपचारः।

इरावती—बउलावलिए! दिट्ठिआ दूच्चाहिआरविसआ संपुण्णा दे पइण्णा। [**बकुलावलिके! दिष्ट्या दूत्याभिसारविषया सम्पूर्णा ते प्रतिज्ञा।**]

बकुलावलिका—पसीददु भट्टिणी। किं मए किदं त्ति देवो पुच्छिदव्वो। दद्दुरा वाहरंति त्ति किं देवो पुहवीएँ वरिसिदुं विरमदि। [**प्रसीदतु भट्टिनी। किं मया कृतमिति देवः प्रष्टव्यः। दर्दुरा व्याहरन्तीति किं देवः पृथिव्यां वर्षितुं विरमति।**]

विदूषकः—मा दाव। भोदीए दंसणमत्तेण अत्तभवं पणिवादलंघणं विसुमरिदो। तुमं उण अज्ज वि पसादं ण गेण्हसि। [**मा तावत्। भवत्या दर्शनमात्रेणात्रभवान्प्रणिपातलङ्घनं विस्मृतः। त्वं पुनरद्यापि प्रसादं न गृह्णासि।**]

इरावती—कुविदा दाणिं अहं किं करिस्सं। [**कुपितेदानीमहं किं करिष्यामि।**]

राजा—एवमेतदस्थाने कोप इत्यनुपपन्नं त्वयि। तथा हि—

कदा मुखं वरतनु कारणादृते तवागतं क्षणमपि कोपपात्रताम्।
अपर्वणि ग्रहकलुषेन्दुमण्डला विभावरी कथय कथं भविष्यति॥ १६॥

(पर्दा हटाते हुए प्रवेश कर)

बकुलावलिका—महाराज! आप मत आवें, यहाँ पर टेढा साँप है।

इरावती—(**खम्भे की आड़ से शीघ्र जाकर**) युगल दम्पति का यह दिवाभिसार तो निर्विघ्न समाप्त हुआ?

(सभी इरावती को देखकर भय से चकित हो जाते हैं)

राजा—प्रिये! तुम्हारा यह प्रीति-व्यवहार तो बड़ा विचित्र है।

इरावती—वकुलावलिके! महाराज के अभिसार से सम्बद्ध तुम्हारी प्रतिज्ञा सौभाग्य से पूर्ण हो गई।

बकुलावलिका—महारानी आप प्रसन्न हो। मैंने क्या किया है? यह आप राजा से पूछ लीजिए। मेढक टर्र-टर्र बोलते है; क्या इसी के लिए मेघ पृथ्वी पर जलवृष्टि के लिए रुक जाते हैं।

विदूषक—ऐसा नहीं। तुम्हारे दर्शन से ही महाराज तुम्हारे द्वारा किये गये अपमान को भूल गये, किन्तु तुम अभी भी प्रसन्न नहीं हो रही हो।

इरावती—मैं महाराज पर क्रुद्ध होकर ही क्या कर सकती हूँ?

राजा—इस प्रकार विना अवसर के ही क्रोध कर बैठना आप को शोभा नहीं देता। देखिये—

अवसरशून्य अयोग्य स्थान में क्रोध करना तुम्हें शोभा नहीं देता। हे रमणीय गात्रि! बिना कारण के तुमने कब क्रोध का प्रकाशन किया? अर्थात् कदापि नहीं। पूर्णिमा के विना ही राहु-ग्रहण से चन्द्रमण्डल कलुषित हो जाय, ऐसी बात किस रात्रि में भला होती है?॥ १६॥

इरावती—अट्ठाणे त्ति सुट्ठु वाहरिदं अज्जउत्तेण। अण्णसंकंतेसु अम्हाणं भाअहेएसु जइ उण कुप्पेअं तदो णं अहं हस्सा भवेअं। [अस्थान इति सुष्ठु व्याहृतमार्यपुत्रेण। अन्यसङ्क्रान्तेष्वस्माकं भागधेयेषु यदि पुनः कुप्येयं ततो नन्वहं हास्या भवेयम्।]

राजा—त्वमन्यथा कल्पयसि। अहं पुनः सत्यमेव कोपस्थानं न पश्यामि। कुतः—

नार्हति कृतापराधोऽप्युत्सवदिवसेषु परिजनो बन्धम्।
इति मोचिते मयैते प्रणिपतितुं मामुपगते च॥ १७॥

इरावती—णिउणिए! गच्छ। देविं विण्णावेहि—दिट्ठो भवदीए पक्खवादो णं अज्ज त्ति। [निपुणिके! गच्छ। देवीं विज्ञापय— दृष्टो भवत्याः पक्षपातो नन्वद्येति।]

निपुणिका—तह। [तथा।] (इति निष्क्रान्ता)

विदूषकः—(आत्मगतम्) अहो! अणत्थो संपडिदो। बंधणब्भट्टो गिहकवोदो बिडालिआए आलोए पडिदो। [अहो! अनर्थः सम्पतितः। बन्धनभ्रष्टो गृहकपोतो बिडालिकाया आलोके पतितः।]

निपुणिका—(प्रविश्यापवार्य) भट्टिणि! जदिच्छादिट्ठाए माहविआए आचक्खिदं—एव्वं क्खु एदं णिव्वुत्तं त्ति (इति कर्णे कथयति।) [भट्टिनि! यदृच्छादृष्टया माधविकयाख्यातम्— एवं खल्वेतन्निर्वृत्तमिति।]

इरावती—(आत्मगतम्) उववण्णं। सच्चं अअं एत्थ बम्हबंधुणा किदो पओओ। (विदूषकं विलोक्य प्रकाशम्) इअं इमस्स कामतंतसचिवस्स णीदी। [उपपन्नम्। सत्यमयमत्र ब्रह्मबन्धुना कृतः प्रयोगः। इयमस्य कामतन्त्रसचिवस्य नीतिः।]

विदूषकः—भोदि! जदि णीदिगतं एक्कं वि अक्खरं पढेअं णं मए अत्तभवं पेसिदो हवे। [भवति! यदि नीतिगतमेकमप्यक्षरं पठेयं ननु मयात्रभवान् प्रेषितो भवेत्।]

इरावती—मैं विना अवसर क्रोध करती हूँ, यह आपका कहना ठीक है। हमारा सौभाग्य किसी अन्य को मिल रहा है, यदि इस पर क्रोध करूँगी तो हँसी होगी।

राजा—तुम तो अन्य ही कल्पना करती हो। मैं तो वास्तव में क्रोध का कारण नहीं देखता। क्योंकि—

उत्सव के दिनों में अपराधी परिजन को भी दण्ड देना उचित नहीं। अतएव इन दोनों (मालविका और वकुलावलिका) को छुड़वा दिया गया। वे दोनों कृतज्ञताज्ञापनार्थ प्रणाम करने आई हैं॥ १७॥

इरावती—निपुणिके! जाकर देवी से कहो कि आज आपका भी पक्षपात देख लिया मैंने।

निपुणिका—ठीक है। (निकल जाती है)

विदूषक— (मन ही मन) अरे! अनर्थ हो गया। वन्धन से मुक्त गृहपालित कपोत विडाल के समक्ष पड़ गया।

निपुणिका—(प्रवेश कर, अलग से) स्वामिनी! अभी माधविका मुझे मिली थी। उसने वतलाया कि यह सव ऐसे हुआ है। (कान में कहती है)

इरावती—(मन ही मन) मुझे ज्ञात हो गया। वस्तुतः इस विषय में इसी ब्राह्मणाधम द्वारा किया गया यह उपाय है। (विदूषक को देखकर, प्रकट में) यह इसी कामविषय में सहायक नर्मसचिव विदूषक की नीति है।

विदूषक—देवि! यदि मैं नीतिशास्त्र का एक अक्षर भी पढ़ा होता तो क्या महाराज को मैं इस प्रकार कभी फँसने देता।

राजा—(आत्मगतम्) कथं नु खल्वस्मात्सङ्कटादात्मानं मोचयिष्यामि।

(प्रविश्य)

जयसेना—देव! कुमारी वसुलच्छी कंदुअं अणुधावंदी पिंगलवाणरेण बलीअं त्तासिदा अंकणिसण्णा देवीए पवादकिसलअं विअ वेवमाणा ण किं वि पकिदिं पडिवज्जइ। [देव! कुमारी वसुलक्ष्मीः कन्दुकमनुधावन्ती पिङ्गलवानरेण बलवत्त्रासिताङ्कनिषण्णा देव्याः प्रवातकिसलयमिव वेपमाना न किञ्चित्प्रकृतिं प्रतिपद्यते।]

राजा—कष्टं कष्टम्। कातरो बालभावः।

इरावती—(सावेगम्) तुवरदु अज्जउत्तो णं समासासिदुं। मा से संतासजणिदो विआरो वड्ढदु। [त्वरतामार्यपुत्र एनां समाश्वासयितुम्। माऽस्याः सन्त्रासजनितो विकारो वर्धताम्।]

राजा—अयमेनामहं संज्ञापयामि। (इति सत्वरं परिक्रामति)

विदूषकः—साहु रे पिंगलवाणर! साहु। परित्तादो तुए सपक्खो। [साधु रे पिङ्गलवानर! साधु। परित्रातस्त्वया स्वपक्षः।]

(निष्क्रान्तो राजा विदूषकश्च, इरावती निपुणिका प्रतीहारी च)

मालविका—हला! देविं चिंतिअ वेवदि मे हिअअं। ण जाणे अदो वरं किं वा अणुहविदव्वं हविस्सदि त्ति। [सखि! देवीं चिन्तयित्वा वेपते मे हृदयम्। न जानेऽतः परं किं वाऽनुभवितव्यं भविष्यतीति।]

(नेपथ्ये)

अच्चरिअं अच्चरिअं। अपुण्णे एव्व पंचरत्ते दोहलस्स मुउलेहिं संणद्धो तवणीआसोओ, जाव देवीए णिवेदेमि। [आश्चर्यमाश्चर्यम्। अपूर्ण एव पञ्चरात्रे दोहदस्य मुकुलैः सन्नद्धस्तपनीयाशोकः, यावद्देव्यै निवेदयामि।]

राजा—(मन ही मन) अब इस अकस्मात् आये हुए संकट से अपने को किस प्रकार छुडवाऊँगा?

(प्रवेश करके)

जयसेना—महाराज! कुमारी वसुलक्ष्मी गेंद के पीछे दौड रही थी। उसी समय पीले बन्दर ने भयभीत कर दिया। वह देवी के अंक में हवा में पत्ते के समान काँपती है, चेतना शून्य है।

राजा—हाय! बालक बड़े भयशील होते हैं।

इरावती—(आवेगपूर्वक) आर्यपुत्र उसे आश्वस्त करने के लिए शीघ्रता करें, उसका भयकृत विकार न बढे।

राजा—मैं उसे अभी चेतना दे रहा हूँ। (शीघ्रता से घूम जाता है)

विदूषक—धन्य हो पिङ्गलवानर! धन्य हो। तुमने स्वपक्ष की रक्षा कर ली।

(राजा, विदूषक, इरावती, निपुणिका और प्रतीहारी निकल जाते हैं)

मालविका—सखी! देवी के भय से मेरा हृदय काँप रहा है। मुझे नहीं ज्ञात है कि इसके आगे क्या-क्या भोगना है?

(नेपथ्य में)

आश्चर्य, आश्चर्य। अशोक वृक्ष के पाँच दिन भी पूरे नहीं हुए, उसने अपने पुष्प विकसित कर दिये। चलो देवी को सूचना दे दें।

(उभे श्रुत्वा प्रहृष्टे)

बकुलावलिका—आस्ससिदु सही। सच्चप्पइण्णा देवी। [आश्वसितु सखी। सत्यप्रतिज्ञा देवी।]

मालविका—तेण हि पमदवणपालिआए पिट्ठदो होमि। [तेन हि प्रमदवनपालिकायाः पृष्ठतो भवामि।]

बकुलावलिका—तह। [तथा।]

(इति निष्क्रान्ते)

इति चतुर्थोऽङ्कः।

(दोनों सुनकर सन्तुष्ट होती हैं)

बकुलावलिका—सखी! धैर्य धारण करो। महारानी धारिणी सत्यवादिनी हैं।

मालविका—इसी कारण से मैं प्रमदवन की मालिन के पीछे हो लेती हूँ।

बकुलावलिका—उचित है।

(दोनों का प्रस्थान)

चौथा अंक समाप्त।

पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्युद्यानपालिका)

उद्यानपालिका—उवक्खित्तो मए किदसक्कारविहिणो तवणीआसोअस्स वेदिआवंधो। जाव अणुट्ठिदणिओअं अत्ताणं देवीए णिवेदेमि। (परिक्रम्य) अहो दैवस्स अणुकंपणीआ मालविआ। तस्सिं ह चंडिआ देवी इमिणा असोअकुसुमवुत्तंतेण पसादसुमुही हविस्सदि। कहिं णु क्खु देवी हवे। (विलोक्य) अम्हो एसो देवीए परिअणब्भंतरो किं वि जदुमुद्दालंछिदं मंजूसं गेण्हिअ चदुस्सालादो कुज्जो सारसिओ णिक्कामदि। पुच्छिस्सं दाव णं। (ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टहस्तः कुब्जः) सारसिअ! कहिं पत्थिदोसि? **[उपक्षिप्तो मया कृतसत्कारविधिस्तपनीयाशोकस्य वेदिकाबन्धः। यावदनुष्ठितनियोगमात्मानं देव्यै निवेदयामि। अहो दैवस्यानुकम्पनीया मालविका। तस्यां तथा चण्डी देव्यनेनाशोककुसुमवृत्तान्तेन प्रसादसुमुखी भविष्यति। कुत्र नु खलु देवी भवेत्? अहो एष देव्याः परिजनाभ्यन्तरः किमपि जतुमुद्रा-लाञ्छितां मञ्जूषां गृहीत्वा चतुःशालातः कुब्जः सारसिको निष्क्रामति। प्रक्ष्यामि तावदेनम्। सारसिक! कुत्र प्रस्थितोऽसि?]**

सारसिकः—महुअरिए! विज्जाभरिआणं वम्हणाणं णिच्चदक्खिणां मासिई पुरोहिदस्स हत्थं पावइस्सं। **[मधुकरिके! विद्याभरितानां ब्राह्मणानां नित्यदक्षिणां मासिकीं पुरोहितस्य हस्तं प्रापयिष्यामि।]**

मधुकरिका—अह किं णिमित्तं? **[अथ किन्निमित्तम्?]**

सारसिकः—जदप्पहुदि सेणावदी जण्णतुरंगरक्खणे णिउत्तो भट्टदारओ वसुमित्तो तदप्पहुदि तस्स आउसणिमित्तं णिक्कसदसुवण्णपरिमाणं दक्खिणं देवी दक्खिणीएहिं परिग्गाहेदि। **[यतःप्रभृति सेनापतिर्यज्ञतुरङ्गरक्षणे नियुक्तो भर्तृदारको वसुमित्रस्ततःप्रभृति तस्यायुर्निमित्तं निष्कशतसुवर्णपरिमाणां दक्षिणां देवी दक्षिणीयैः परिग्राहयति।]**

मधुकरिका—अह कहिं देवी? किं वा अणुचिट्ठदि? **[अथ कुत्र देवी? किं वानुतिष्ठति?]**

(उद्यानपालिका का प्रवेश)

उद्यानपालिका—मैंने सब घासपात निकालकर इस सुनहले अशोक की मेंड़ ठीक ढंग से बाँध दी है। अब यहाँ का काम सब सम्पन्न हो गया। चलूँ, देवी को बता दूँ। (घूमकर) भगवान् ने बेचारी मालविका की लाज रख ली। उस पर क्रुद्ध महारानी जब अशोक के फूलने का समाचार पायेंगी तो प्रसन्न हो उठेंगी। परन्तु इस समय महारानी होंगी कहाँ? (देखकर) अरे! यह महारानी के रनिवास का कुबडा सेवक सारसिक लाख की छाप लगी हुई पिटारी लिये हुए रनिवास से निकला चला आ रहा है। चलूँ इसी से पूछूँ। (**हाथ में पिटारी लिये कुबड़ा दिखलाई देता है**) कहो सारसिक! किधर चले?

सारसिक—मधुकरिके! विद्वानों को प्रतिदिन देने के लिए यह एक मास की दक्षिणा पुरोहित महाशय को देने जा रहा हूँ।

मधुकरिका—इसका प्रयोजन क्या है?

सारसिक—जिस दिन से राजकुमार वसुमित्र यज्ञाश्व की रक्षा में नियुक्त किये गये तभी से महारानी उनके कल्याणार्थ सौ निष्क सोना प्रतिदिन योग्य पात्रों को दे रही है।

मधुकरिका—महारानी कहाँ है और क्या कर रही है?

सारसिकः—मंगलघरे आसणत्था भविअ विदब्भविसआदो भादुणा वीरसेणेण पेसिदं लेहं लेहकरेहिं वाइअमाणं सुणादि। [**मङ्गलगृहे आसनस्था भूत्वा विदर्भविषयाद् भ्रात्रा वीरसेनेन प्रेषितं लेखं लेखकरैर्वाच्यमानं शृणोति।**]

मधुकरिका—को उण विदब्भराअवुत्तंतो सुणीअदि ? [**कः पुनर्विदर्भराजवृत्तान्तः श्रूयते ?**]

सारसिकः—वसीकिदो क्खु वीरसेणप्पमुहेहिं भत्तुओ विजअदंडेहिं विदब्भणाहो। मोइदो से दाआदो माहवसेणो। दूदो अ तेण महासाराणि रअणाणि वाहणाणि सिप्पआरिआभूइट्ठं परिअणं उवाअणीकरिअ भट्टिणो सआसं पेसिदो त्ति। [**वशीकृतः किल वीरसेनप्रमुखैर्भर्तुर्विजयदण्डैर्विदर्भनाथः। मोचितोऽस्य दायादो माधवसेनः। दूतश्च तेन महासाराणि रत्नानि वाहनानि शिल्पकारिकाभूयिष्ठं परिजनमुपायनीकृत्य भर्तुः सकाशं प्रेषित इति।**]

मधुकरिका—गच्छ, अणुचिट्ठ अत्तणो णिओअं। अहं वि देविं पेक्खिस्सं। [**गच्छानुतिष्ठात्मनो नियोगम्। अहमपि देवीं प्रेक्षिष्ये।**]

(इति निष्क्रान्तौ)

॥ इति प्रवेशकः ॥

(ततः प्रविशति प्रतीहारी)

प्रतीहारी—आणत्तम्हि असोअसक्कारवावुदाए देवीए— विण्णावेहि अज्जउत्तम्। इच्छम्मि अज्जउत्तेण सह असोअरुक्खस्स पसूणलच्छीं पच्चक्खीकादुं त्ति। ता जाव धम्मासणगदं देवं पडिवालेमि। (इति परिक्रामति) [**आज्ञप्तास्म्यशोकसत्कारव्यापृतया देव्या— विज्ञापयार्यपुत्रम्। इच्छाम्यार्यपुत्रेण सहाशोकवृक्षस्य प्रसूनलक्ष्मीं प्रत्यक्षीकर्तुमिति। तद्यावद्धर्मासनगतं देवं प्रतिपालयामि।**]

(नेपथ्ये वैतालिकौ)

प्रथमः—विजयतां विजयतां देवः। दिष्ट्या दण्डैरेव रिपुशिरःसु वर्तते देवः —

सारसिक—मंगलगृह में सुखासीन होकर विदर्भ से अपने भाई वीरसन द्वारा प्रेषित पत्र पढ़वाकर सुन रही है।

मधुकरिका—विदर्भराज के विषय में क्या सुना जाता है ?

सारसिक—महाराज के वीरसेन प्रभृति सैनिकों ने विदर्भराज को बन्दी बना लिया और उसके दामाद माधवसेन को मुक्त करवा दिया। माधवसेन ने अनेक बहुमूल्य रत्न, हाथी, घोड़े, शिल्पिकन्याएँ, दास इत्यादि उपहार लेकर अपना दूत महाराज के पास भेजा है। वह महाराज का दर्शन करेगा।

मधुकरिका—जाओ, तुम अपना कार्य करो। मैं देवी के पास जाती हूँ।

(दोनों चले जाते हैं)

॥ प्रवेशक ॥

(प्रतीहारी का प्रवेश)

प्रतीहारी—अशोक के सिञ्चनादि कार्य में तत्पर देवी ने मुझसे कहा है कि जाकर महाराज से कहो—मैं महाराज के साथ ही अशोक वृक्ष की पुष्पशोभा देखना चाहती हूँ। अतः जब तक महाराज धर्मासन पर है, तब तक मैं प्रतीक्षा करती हूँ। **(इधर-उधर घूमती है)**

(नेपथ्य में दो वैतालिक आते हैं)

प्रथम—जय हो देव की, जय हो। बधाई है महाराज को कि आपने अपनी शक्ति से अपने शत्रुओं को पैरों तले रौंद दिया। हे मनोवांछित वर देने वाले राजन् !

परभृतकलव्याहारेषु त्वमात्तरतिर्मधुं
नयसि विदिशातीरोद्यानेष्वनङ्ग इवाङ्गवान्।
विजयकरिणामालानत्वं गतैः प्रबलस्य ते
वरद वरदारोधोवृक्षैः सहावनतो रिपुः॥ १॥

द्वितीयः— विरचितपदं वीरप्रीत्या सुरोपमसूरिभि-
श्चरितमुभयोर्मध्येकृत्य स्थितं क्रथकैशिकान्।
तव हृतवतो दण्डानीकैर्विदर्भपतेः श्रियं
परिघगुरुभिर्दोर्भिर्विष्णोः प्रसह्य च रुक्मिणीम्॥ २॥

प्रतीहारी—एसो जअसद्दसूइदप्पत्थाणो भट्टा इदो एव्व आअच्छदि। अहं वि दाव इमस्स पमुहादो लोआदो ओसरिअ खंभंतरिदा होमि। (इत्येकान्ते स्थिता) [एष जयशब्दसूचितप्रस्थानो भर्तेत एवागच्छति। अहमपि तावदस्य प्रमुखाल्लोकादपसृत्य स्तम्भान्तरिता भवामि।]

(प्रविश्य सवयस्यो राजा)

राजा—

कान्तां विचिन्त्य सुलभेतरसम्प्रयोगां श्रुत्वा विदर्भपतिमानमितं बलैश्च।
धाराभिरातप इवाभिहतं सरोजं दुःखायते मम मनः सुखमश्नुते च॥ ३॥

विदूषकः—जह अहं पेक्खामि तह एक्कंतसुहिदो भवं हविस्सदि। [यथाहं प्रेक्ष्ये तथा एकान्तसुखितो भवान्भविष्यति।]

राजा—कथमिव ?

विदूषकः—अज्ज किल देवीए एव्वं पंडितकोसिई भणिदा— भअवदि! जं तुमं पसाहणगव्वं वहसि तं दंसेहि मालविआए सरीरे विवाहणेवत्थं त्ति। ताए सविसेसालंकिदा मालविआ। तत्तहोदी कदा वि पूरए भवदो वि मणोरहं। [अद्य किल देव्यैवं पण्डितकौशिकी भणिता— भगवति! यत्त्वं

आप तो इधर साक्षात् कामदेव के समान कोयल की सुन्दर कूक सुनते हुए विदिशा के तट पर विस्तृत उपवनों में अपना वसन्त बिता रहे हैं। उधर आपका बलवान् शत्रु वरदा के तीर पर स्थित उन वृक्षों के साथ-साथ झुका दिया गया है, जो अब आपकी सेना के विजयी हाथियों के बाँधने के खूँटे बने हुए हैं॥ १॥

द्वितीय—हे देवताओं के समान राजन्! विदर्भ में दो ही तो बड़ी-बड़ी घटनाएँ हुई हैं। एक तो आपका अपनी सेना भेजकर विदर्भ के राजा को हराना। दूसरी भगवान् श्रीकृष्णजी द्वारा उनकी अर्गला के समान बड़ी-बड़ी भुजाओं से रुक्मिणीजी का हरा जाना। वीरों से प्रेम रखने वाले कवि लोग अब इन दोनों घटनाओं के गीत बना-बना कर गा रहे हैं॥ २॥

प्रतीहारी—जय शब्द महाराज के प्रस्थान की सूचना देता है और वह इधर ही आ रहा है। मैं भी सामने से हटकर बाहर स्तम्भ की ओट में खडा होता हूँ। (ऐसा कहकर एक ओर खड़ा होता है)

(विदूषक के साथ राजा का प्रवेश)

राजा—जिस प्रकार कमल धूप में आनन्दित और वर्षा में दुःखी हो जाता है उसी प्रकार मेरा हृदय प्रिया के दुर्लभ समागम से दुःखी और विदर्भराज के पराजय को सुनकर आनन्दित हो जाता है॥ ३॥

विदूषक—मैं देख रहा हूँ आपको केवल सुख ही होगा।

राजा—कैसे ?

राजा—स्थाने खलु प्रसवमन्थरोऽयमभूत्। यदिदानीमनन्यसाधारणीं शोभामुद्वहति। पश्य—

सर्वाशोकतरूणां प्रथमं सूचितवसन्तविभवानाम्।
निर्वृत्तदोहदेऽस्मिन्सङ्क्रान्तानीव कुसुमानि॥ ५॥

विदूषकः—तह। भो! वीसद्धो होहि। अम्हेसु संणिहिदेसु वि धारिणी पासपरिवट्टिणीं मालविअं अणुमण्णेदि। [**तथा। भो! विस्रब्धो भव। अस्मासु सन्निहितेष्वपि धारिणी पार्श्वपरिवर्तिनीं मालविकामनुमन्यते।**]

राजा—(सहर्षम्) सखे! पश्य—

मामियमभ्युत्तिष्ठति देवी विनयादनूत्थिता प्रियया।
विस्तृतहस्तकमलया नरेन्द्रलक्ष्म्या वसुमतीव॥ ६॥

(ततः प्रविशति धारिणी मालविका परिव्राजिका विभवतश्च परिवारः)

मालविका—(आत्मगतम्) जाणामि णिमित्तं कोदुआलंकारस्स। तह वि मे हिअअं बिसिणीपत्तगदं विअ सलिलं वेवदि। अवि अ दक्खिणेदरं वि मे णअणं बहुसो फुरदि। [**जानामि निमित्तं कौतुकालङ्कारस्य। तथापि मे हृदयं बिसिनीपत्रगतमिव सलिलं वेपते। अपि च दक्षिणेतरमपि मे नयनं बहुशः स्फुरति।**]

विदूषकः—भो वअस्स! विवाहणेवत्थेण सविसेसं क्खु सोहदि मालविआ। [**भो वयस्य! विवाहनेपथ्येन सविशेषं खलु शोभते मालविका।**]

राजा—पश्याम्येनाम्! यैषा—

विदूषक—(घूमकर) अरे! फूलों के गुच्छों से लदा हुआ यह सुनहला अशोक ऐसा जान पड़ता है मानों इसका भी किसी ने शृङ्गार कर दिया हो। श्रीमान् देखिए तो—

राजा—इस तपनीयाशोक ने पुष्प विकसित करने में विलम्ब करके अच्छा ही किया। आज इसकी शोभा विलक्षण हो रही है। देखो—

ज्ञात होता है कि जिन अशोक के वृक्षों ने पहले फूल कर वसन्तागमन की सूचना दी थी, उन सबने अपने-अपने फूल इस अशोक वृक्ष को दे दिये हैं, जिसके फूलने का उपाय कुछ दिन पहले किया गया था॥ ५॥

विदूषक—श्रीमान् महाराज! अब आप विश्वस्त हो जाइए, क्योंकि हम लोगों के आ पहुँचने पर भी महारानी धारिणी मालविका को अपने पास ही बैठने के लिए कह रही है। अर्थात् उसको छिपाने का प्रयास नहीं कर रही है।

राजा—(प्रसन्न होकर) मित्र! देखो—

मेरा आदर करने के लिए उठी हुई महारानी के पीछे अपने कमल तुल्य दोनों हाथ खोले खड़ी हुई मेरी प्यारी मालविका ऐसी लग रही है मानों पृथ्वी के पीछे राजलक्ष्मी खडी हुई हो॥ ६॥

(धारिणी, मालविका, परिव्राजिका और परिजन प्रवेश करते हैं)

मालविका—(मन ही मन) मेरे इस अनुपम रूप में अलंकृत किये जाने का कारण हमें ज्ञात है, फिर भी कमलपत्र पर स्थित जलविन्दु के समान हमारा हृदय काँपता है। वाँई आँख भी निरन्तर फड़क रही है।

विदूषक—महाराज! यह मालविका इस वैवाहिक वेश में अत्यन्त शोभा दे रही है।

राजा—मैं इसको देख रहा हूँ। जो यह—

अनतिलम्बिदुकूलनिवासिनी बहुभिराभरणैः प्रतिभाति मे।
उडुगणैरुदयोन्मुखचन्द्रिका हतहिमैरिव चैत्रविभावरी॥७॥

धारिणी—(उपेत्य) जेदु जेदु अज्जउत्तो। [जयतु जयत्वार्यपुत्रः।]

विदूषकः—वड्ढदु भोदी। [वर्धतां भवती।]

परिव्राजिका—विजयतां देवः।

राजा—भगवति! अभिवादये।

परिव्राजिका—अभिप्रेतसिद्धिरस्तु।

धारिणी—(सस्मितम्) अज्जउत्त! एस ते अम्हेहिं तरुणीजणसहाअस्स असोओ संकेदघरो कप्पिदो। [आर्यपुत्र! एष तेऽस्माभिस्तरुणीजनसहायस्याशोकः सङ्केतगृहं कल्पितः।]

विदूषकः—भो! आराहिओसि। [भोः! आराधितोऽसि।]

राजा—(*सव्रीडमशोकमभितः परिक्रामन्*)

नायं देव्या भाजनत्वं न नेयः सत्काराणामीदृशानामशोकः।
यः सावज्ञो माधवश्रीनियोगे पुष्पैः शंसत्यादरं त्वत्प्रयत्ने॥८॥

विदूषकः—भो! वीसद्धो भविअ तुमं जोव्वणवदिं इमं पेक्ख। [भोः! विस्रब्धो भूत्वा त्वं यौवनवतीमिमां पश्य।]

धारिणी—कं? [काम्?]

विदूषकः—भोदि! तवणीआसोअस्स कुसुमसोहम्। [भवति! तपनीयाशोकस्य कुसुमशोभाम्।]

(सर्व उपविशन्ति)

चुस्त रेशमी कपड़े पहने और आभूषणों से आभूषित मालविका मुझे ऐसी ज्ञात हो रही है जैसे पाले के अवसान में उज्ज्वल नक्षत्रों से युक्त उदीयमान ज्योत्स्ना से अलंकृत चैत्र की रात्रि हो॥७॥

धारिणी—(**समीप जाकर**) आर्यपुत्र की जय हो।

विदूषक—महारानी को वधाई है।

परिव्राजिका—महाराज की जय हो।

राजा—भगवति! आपका अभिवादन करता हूँ।

परिव्राजिका—मनोरथ पूर्ण होवे।

धारिणी—(**हँसकर**) आर्यपुत्र! हम लोगों ने नई स्त्री से युक्त आपके संकेत-गृह के रूप में इसी अशोक वृक्ष को चुना है।

विदूषक—महाराज! आपकी बड़ी आराधना हो रही है।

राजा—(**लज्जासहित अशोक वृक्ष की परिक्रमा करता हुआ**)

देवि! तुम्हें इस अशोक के प्रति सत्कार प्रदर्शित करना ही चाहिए, क्योंकि यह अशोक वृक्ष वसन्त-लक्ष्मी की आज्ञा का अनादर करके तुम्हारे प्रयत्न के लिए पुष्पों के द्वारा आदर प्रकट कर रहा है॥८॥

विदूषक—विश्वासपूर्ण होकर इस रमणी को देखो।

धारिणी—किसको?

विदूषक—देवी! इस तपनीयाशोक की पुष्पसमृद्धि को।

(सभी लोग बैठते हैं)

राजा—(मालविकां विलोक्य आत्मगतम्) कष्टः खलु सन्निधिवियोगः—

अहं रथाङ्गनामेव प्रिया सहचरीव मे।
अननुज्ञातसम्पर्का धारिणी रजनीव नौ॥ ९॥

(प्रविश्य)

कञ्चुकी—विजयतां देवः। देव! अमात्यो विज्ञापयति— विदर्भविषयोपायने द्वे शिल्पकारिके मार्गपरिश्रमादलघुशरीरे इति पूर्वं न प्रवेशिते। सम्प्रति देवोपस्थानयोग्ये संवृत्ते। तदाज्ञां देवो दातुमर्हतीति।

राजा—प्रवेशय ते।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रम्य ताभ्यां सह प्रविश्य) इत इतो भवत्यौ।

प्रथमा—(जनान्तिकम्) हला मदणिए! अपुव्वं इमं राअउलं पविसंतीए पसीददि मे हिअअं। [सखि मदनिके! अपूर्वमिदं राजकुलं प्रविशन्त्याः प्रसीदति मे हृदयम्।]

द्वितीया—जोसिणीए! अत्थि क्खु लोअप्पवादो आआमि सुहं दुक्खं वा हिअअसमवत्था कहेदि त्ति। [ज्योत्स्निके! अस्ति खलु लोकप्रवादः आगामि सुखं दुःखं वा हृदयसमवस्था कथयतीति।]

प्रथमा—सो सच्चो दाणिं होदु। [स सत्य इदानीं भवतु।]

कञ्चुकी—एष देव्या सह देवस्तिष्ठति। उपसर्पतां भवत्यौ।

(उभे उपसर्पतः)

(मालविका परिव्राजिका च चेट्यौ विलोक्य परस्परमवलोकयतः)

राजा—(मालविका को देखकर मन ही मन) समीप में रह कर वियोग सहना बड़ा कष्टकर होता है।

मैं चक्रवाक के तुल्य हूँ, मेरी प्रिया चक्रवाकी के समान साथ ही है। हम दोनों को मिलन से रोकने वाली यह धारिणी रात्रि-सदृश है॥ ९॥

(प्रवेश करके)

कञ्चुकी—महाराज की जय हो। महाराज! मन्त्रीजी ने कहलवाया है कि विदर्भ से जो कलामर्मज्ञ दो रमणियाँ उपहारस्वरूप आई थीं वे उस समय थकी होने के कारण महाराज के पास नहीं लाई जा सकीं। अब वे आपके समक्ष लाई जा सकती है, अतः देव की आज्ञा चाहिए।

राजा—उन दोनों को प्रवेश कराओ।

कञ्चुकी—देव की जैसी आज्ञा। (बाहर जाकर उन दोनों के साथ प्रवेश करके) इधर से आइए आप लोग इधर से।

पहली—(अलग) सखि मदनिके! यह राजकुल अत्यन्त विलक्षण है। इसमें प्रवेश करते हुए मेरा हृदय आनन्दित हो रहा है।

दूसरी—अरी ज्योत्स्निके! यह विश्वश्रुति सत्य है कि हृदय की अवस्था आगामी सुख-दुःख की सूचना देती है।

प्रथमा—ईश्वर करे यह जनश्रुति आज सत्य हो जाय।

कञ्चुकी—ये महाराज महारानी के साथ बैठे हैं। आप दोनों आगे बढ जाइए।

(दोनों समीप जाती हैं)

(मालविका और परिव्राजिका इन दोनों दासियों को देखकर एक-दूसरे की ओर देखती हैं)

उभे—(प्रणिपत्य) जेदु जेदु भट्टा। जेदु जेदु भट्टिणी। [जयतु जयतु भर्ता। जयतु जयतु भट्टिनी।]

(उभे राजाज्ञया उपविष्टे)

राजा—कस्यां कलायामभिविनीते भवत्यौ।

उभे—भट्टा! संगीदए अब्भंतरे म्ह। [भर्तः! सङ्गीतकेऽभ्यन्तरे स्वः।]

राजा—देवि! गृह्यतामनयोरन्यतरा।

धारिणी—मालविए! इदो पेक्ख। कदरा दे संगीदसहआरिणी रुच्चदि। [मालविके! इतः पश्य। कतरा ते सङ्गीतसहकारिणी रोचते।]

उभे—(मालविकां दृष्ट्वा) अम्हो भट्टदारिआ। जेदु जेदु भट्टदारिआ (इति प्रणम्य तया सह वाष्पं विसृजतः) [अहो भर्तृदारिका। जयतु जयतु भर्तृदारिका।]

(सर्वे सविस्मयं विलोकयन्ति)

राजा—के भवत्यौ? का चेयम्?

उभे—भट्टा! एसा अम्हाणं भट्टदारिआ। [भर्तः! एषास्माकं भर्तृदारिका।]

राजा—कथमिव?

उभे—सुणादु भट्टा। जो सो भट्टिणा विजअदंडेहिं विदब्भणाहं वसीकरिअ वंधणादो मोइओ कुमारो माहवसेणो णाम, तस्स इअं कणीअसी भइणी मालविआ णाम। [शृणोतु भर्ता। यः स भर्त्रा विजयदण्डैर्विदर्भनाथं वशीकृत्य बन्धनान्मोचितः कुमारो माधवसेनो नाम, तस्येयं कनीयसी भगिनी मालविका नाम।]

धारिणी—कहं राअदारिआ इअं? चंदणं क्खु मए पादुओवओएण दूसिदं। [कथं राजदारिकेयम्? चन्दनं खलु मया पादुकोपयोगेन दूषितम्।]

दोनों—(प्रणाम करके) जय हो, स्वामी की जय हो। जय हो, स्वामिनी की जय हो।

(राजा की आज्ञा से दोनों बैठ जाती हैं)

राजा—आप लोग किस कला में निपुण है?

दोनों—स्वामिन्! हम लोगों ने संगीत सीखा है।

राजा—देवि! इनमें से जिसे चाहो, अपने लिए चुन लो।

धारिणी—मालविके! इधर देखो, इनमें कौन तुम्हारी संगीत-सहायिका होने के योग्य है?

दोनों—(मालविका को देखकर) अरे राजकुमारी! जय हो राजकुमारी की। (प्रणाम करके उस मालविका के साथ दोनों रोने लगती हैं)

(सभी आश्चर्य के साथ देखने लगते हैं)

राजा—आप दोनों कौन हैं और यह कौन है?

दोनों—महाराज! यह हम लोगों की राजकुमारी है।

राजा—कैसे?

दोनों—आप सुनिये। आपने अपने सैन्य विदर्भराज को पराजित कर जिन्हें बन्दीगृह से मुक्त करवाया है, उन्हीं माधवसेन की छोटी बहन यह मालविका है।

धारिणी—अरे! तो क्या ये राजकुमारी है? मैंने वस्तुतः पवित्र चन्दन से खड़ाऊँ का काम लेकर बड़ा पाप किया है।

राजा—अथात्रभवती कथमित्थम्भूता ?

मालविका—(निःश्वस्यात्मगतम्) विहिणिओएण। [विधिनियोगेन।]

द्वितीया—सुणादु भट्टा। दाआदवसंगदे भट्टदारए माहवसेणे तस्स अमच्चेण अज्जसुमदिणा अम्हारिसं परिअणं उज्झिअ गूढं आणीदा एसा। [शृणोतु भर्ता। दायादवशंगते भर्तृदारके माधवसेने तस्यामात्येनार्यसुमतिनास्मादृशं परिजनमुज्झित्वा गूढमानीतैषा।]

राजा—श्रुतपूर्व मयैतत्। ततस्ततः।

द्वितीया—भट्टा! अदो वरं ण आणामि। [भर्तः! अतः परं न जानामि।]

परिव्राजिका—ततः परं मन्दभागिनी कथयिष्यामि।

उभे—भट्टदारिए! अज्जकोसिईए विअ सरसंजोओ। णं सा एव्व। [भर्तृदारिके! आर्यकौशिक्या इव स्वरसंयोगः। ननु सैव।]

मालविका—अह इम् ? [अथ किम् ?]

उभे—जदिवेसधारिणी अज्जकोसिई दुक्खेण विभावीअदि। भअवदि! णमो दे। [यतिवेषधारिण्यार्यकौशिकी दुःखेन विभाव्यते। भगवति! नमस्ते।]

परिव्राजिका—स्वस्ति भवतीभ्याम्।

राजा—कथम् आप्तवर्गोऽयं भगवत्याः ?

परिव्राजिका—एवमेतत्।

विदूषकः—तेण हि कहेदु भअवदी अत्तहोदीए वुत्तन्तं दाव असेसं। [तेन हि कथयतु भगवत्यत्रभवत्या वृत्तान्तं तावदशेषम्।]

परिव्राजिका—(सवैक्लव्यम्) तावच्छ्रूयताम्। माधवसेनसचिवं ममाग्रजं सुमतिमवगच्छ।

राजा—तो ये इस रूप में यहाँ कैसे आ गई ?

मालविका—(लम्बी साँस लेकर मन ही मन) भाग्य की प्रेरणा से।

द्वितीया—सुनिए महाराज। जब राजकुमार माधवसेन को उनके चचेरे भाई ने पकड़ लिया था तब उनके मन्त्री आर्य सुमति इन्हें हम लोगों से हटाकर यहाँ गुप्त रूप से ले आये।

राजा—यह तो मैं पहले सुन चुका हूँ। तत्पश्चात् क्या हुआ ?

द्वितीया—इसके बाद की बात मैं कुछ नहीं जानती।

परिव्राजिका—इसके पश्चात् की कथा मैं अभागिनी बतलाऊँगी।

दोनों—राजकुमारी! यह बोली तो आर्य कौशिकी जैसी लग रही है, वे ही हैं क्या ?

मालविका—और क्या ?

दोनों—संन्यासिनी का वेश बना लेने के कारण कौशिकीजी बड़ी कठिनाई से पहचान में आती हैं। आपको प्रणाम है भगवती।

परिव्राजिका—तुम दोनों का कल्याण हो।

राजा—क्यों ? क्या ये भी आपकी ही शिष्या हैं ?

परिव्राजिका—जी हाँ, ये सभी परिचित हैं।

विदूषक—तब आप ही इनकी पूरी कथा सुना डालिए।

परिव्राजिका—(खेदपूर्वक) तो सुनिए। माधवसेन के मन्त्री सुमति मेरे बड़े भाई थे।

राजा—उपलक्षितः। ततस्ततः।

परिव्राजिका—स इमां तथागतभ्रातृकां मया सार्द्धमपवाह्य भवत्सम्बन्धापेक्षया पथिकसार्थं विदिशागामिनमनुप्रविष्टः।

राजा—ततस्ततः।

परिव्राजिका—स चाटव्यन्तरे निविष्टो गताध्वा वणिग्गणः।

राजा—ततस्ततः।

परिव्राजिका—ततः किं चान्यत्?

तूणीरपट्टपरिणद्धभुजान्तरालमापार्ष्णिलम्बिशिखिबर्हकलापधारि।
कोदण्डपाणि विनदत्प्रतिरोधकानामापातदुष्प्रसहमाविरभूदनीकम्॥ १०॥

(मालविका भयं रूपयति)

विदूषकः—भोदि! मा भआहि। अदिक्कंतं क्खु तत्तहोदी कहेदि। [भवति! मा बिभेहि। अतिक्रान्तं खलु तत्रभवती कथयति।]

राजा—ततस्ततः।

परिव्राजिका—ततो मुहूर्तं बद्धायुधास्ते पराङ्मुखीभूताः सार्थवाहयोद्धारस्तस्करैः।

राजा—हन्त! इतः परं कष्टतरं श्रोतव्यम्।

परिव्राजिका—ततः स मत्सोदर्यः—

इमां परीप्सुर्दुर्जाते पराभिभवकातराम्।
भर्तृप्रियः प्रियैर्भर्तुरानृण्यमसुभिर्गतः॥ ११॥

राजा—यह तो समझ गया था, आगे।

परिव्राजिका—वे इसके भाई के वन्दी हो जाने पर मुझे और इसको लेकर आपसे सम्बन्ध की इच्छा से विदिशा आने वाले यात्री-दल के साथ हो लिए।

राजा—उसके पश्चात्?

परिव्राजिका—वह वणिक्जनों का समुदाय मध्यवन में थककर ठहर गया।

राजा—और क्या हुआ?

परिव्राजिका—फिर क्या?

तत्पश्चात् तूणीरपट्ट द्वारा दोनों बाहुमध्यों को कसे, पैर तक लटकते हुए मयूरपुच्छों से अलंकृत धनुर्धर, सामने आने वालों के लिए कालस्वरूप और गरजता हुआ दस्यु-सैन्य प्रकट हुआ।

(मालविका भयभीत होने का अभिनय करती है)

विदूषक—भद्रे! डरें नहीं, यह तो बीती बात सुना रही है।

राजा—तब क्या हुआ?

परिव्राजिका—थोड़ी देर तक यात्री-दल लड़ता रहा, तब दस्युओं के दल ने उसे हरा दिया।

राजा—हाय! इसके पश्चात् अत्यन्त कष्टप्रद वृत्तान्त सुननां होगा।

परिव्राजिका—इसके पश्चात् वे मेरे सहोदर भाई—

तब शत्रुकृत आक्रमण से कातर इस मालविका को उस आपत्ति-काल में बचाते हुए स्वामिप्रिय मेरे सहोदर भाई सुमति ने अपने प्रिय प्राणों को देकर स्वामिऋण चुकाया॥ ११॥

प्रथमा—हा! हदो सुमदी। [अहो! हतः सुमतिः।]

द्वितीया—तदो क्खु इअं भट्टदारिआए समवत्था संवुत्ता। [ततः खल्वियं भर्तृदारिकायाः समवस्था संवृत्ता।]

(परिव्राजिका बाष्पं विसृजति)

राजा—भगवति! तनुत्यजामीदृशी लोकयात्रा। न शोच्यस्तत्रभवान्सफलीकृतभर्तृपिण्डः। ततस्ततः।

परिव्राजिका—ततोऽहं मोहमुपगता यावत्संज्ञां लभे तावदियं दुर्लभदर्शना संवृत्ता।

राजा—महत्खलु कृच्छ्रमनुभूतं भगवत्या।

परिव्राजिका—ततो भ्रातुः शरीरमग्निसात्कृत्वा पुनर्नवीकृतवैधव्यदुःखया मया त्वदीयं देशमवतीर्य इमे काषाये गृहीते।

राजा—युक्तः सज्जनस्यैष पन्थाः। ततस्ततः।

परिव्राजिका—सेयमाटविकेभ्यो वीरसेनं वीरसेनाच्च देवीं गता। देवीगृहे लब्धप्रवेशया मया चानन्तरं दृष्टेत्येतदवसानं कथायाः।

मालविका—(आत्मगतम्) किं णु क्खु संपदं भट्टा भणादि। [किं नु खलु साम्प्रतं भर्ता भणति।]

राजा—अहो! परिभवोपहारिणो विनिपाताः। कुतः?—

प्रेष्यभावेन नामेयं देवीशब्दक्षमा सती।
स्नानीयवस्त्रक्रियया पत्त्रोर्णं वोपयुज्यते॥ १२॥

धारिणी—भअवदि! तुए अभिजणवदिं मालविअं अणाचक्खंतीए असंपदं किदं। [भगवति! त्वयाभिजनवतीं मालविकामनाचक्षाणयाऽसाम्प्रतं कृतम्।]

प्रथमा—हाय! सुमति मारे गये।

द्वितीया—इसी से तो राजकुमारी की यह दशा हुई।

(परिव्राजिका रोती है)

राजा—भगवति! शरीरधारियों के लिए मृत्यु स्वाभाविक है। आपके भाई ने स्वामी का ऋण चुकाने में अपने प्राण दिये, अतएव वे शोचनीय नहीं हैं। तब उसके बाद—

परिव्राजिका—तब मैं मूर्च्छित हो गई। जब तक होश में आई तब तक यह खो गई थी।

राजा—तब तो आपको महान् कष्ट उठाने पड़े।

परिव्राजिका—तत्पश्चात् भाई की अन्त्येष्टि क्रिया करके मैंने अपने हृदय में वैधव्य-वेदना को अभिनव रूप में अनुभव किया और आपके राज्य में आकर काषाय वस्त्र धारण किये।

राजा—सज्जनों के लिए यही मार्ग उचित है। तब उसके बाद।

परिव्राजिका—यह मालविका दस्युओं के पास से वीरसेन के पास और वीरसेन के पास से देवी के पास आई। जब मैं देवी के पास आई तो उसे यहाँ देखा। यहीं कथा की इतिश्री है।

मालविका—(**स्वगत**) न जाने अब महाराज क्या कहते हैं?

राजा—अहो! विपत्तियाँ कितनी कष्टदायक होती हैं?

जो मालविका देवी पद के योग्य है, उसे दासी भाव में रहना पड़ रहा है; मानों बहुमूल्य रेशमी वस्त्र स्नानकालिक वस्त्र के कार्य में लाया जा रहा है॥ १२॥

धारिणी—महाकुलप्रसूत इस मालविका का परिचय नहीं दिया, यह आपने उचित नहीं किया।

परिव्राजिका—शान्तं पापम्। केनचित्कारणेन खलु मया नैर्घृण्यमवलम्बितम्।

देवी—किं विअ तं कारणम्? [**किमिव तत्कारणम्?**]

परिव्राजिका—इयं पितरि जीवति केनापि देवयात्रागतेन सिद्धादेशकेन साधुना मत्समक्षं समादिष्टा—आसंवत्सरमात्रमियं प्रेष्यभावमनुभूय ततः सदृशभर्तृगामिनी भविष्यतीति। तदेवम्भाविनमादेशमस्यास्त्वत्पादशुश्रूषया परिणमन्तमवेक्ष्य कालप्रतीक्षया मया साधु कृतमिति पश्यामि।

राजा—युक्ता प्रतीक्षा।

कञ्चुकी—देव! कथान्तरेणान्तरितम्। अमात्यो विज्ञापयति—विदर्भगतमनुष्ठेयमनुष्ठितमभूत्। देवस्य तावदभिप्रायं श्रोतुमिच्छामीति।

राजा—मौद्गल्य! तत्रभवतोर्यज्ञसेनमाधवसेनयोर्द्वैराज्यमिदानीमवस्थापयितुकामोऽस्मि।

तौ पृथग्वरदाकूले शिष्टामुत्तरदक्षिणे।
नक्तन्दिवं विभज्योभौ शीतोष्णकिरणाविव॥ १३॥

कञ्चुकी—देव! एवममात्यपरिषदे निवेदयामि।

(राजाङ्गुल्यानुमन्यते)

(निष्क्रान्तः कञ्चुकी)

प्रथमा—(जनान्तिकम्) भट्टदारिए! दिट्ठिआ भट्टिणा भट्टिदारओ अद्धरज्जे पडिट्ठं गमइस्सदि। [**भर्तृदारिके! दिष्ट्या भर्त्रा भर्तृदारकोऽर्धराज्ये प्रतिष्ठां गमयिष्यते।**]

मालविका—एदं दाव वहु मणिदव्वं, जं जीविदसंसआदो मुत्तो। [**एतत्तावद्बहु मन्तव्यम्, यज्जीवितसंशयान्मुक्तः।**]

परिव्राजिका—ऐसी बात नहीं। मैंने किसी कारणवश ही इतनी निर्दयता की।

देवी—यह कारण क्या था?

परिव्राजिका—जब इसके पिताजी जीवित थे, उन्हीं दिनों तीर्थयात्रा के प्रसंग में आये हुए किसी सिद्ध महात्मा ने कहा था कि यह एक वर्ष तक दासी-जीवन विताने के वाद योग्य पति प्राप्त कर सकेगी। अतः इसके आवश्यक योग्य आदेश को आपकी सेवा में चरितार्थ होते देखकर मैं समय की प्रतीक्षा कर रही थी। मैं समझती हूँ मैंने उचित ही किया।

राजा—प्रतीक्षा उचित थी।

कञ्चुकी—महाराज! मैं दूसरी बात में उलझ गया। मन्त्रीजी ने कहा है कि विदर्भदेश के विषय में जो कर्त्तव्य था, वह कर दिया गया। श्रीमान् की इच्छा क्या है? यह जानना चाहता हूँ।

राजा—मौद्गल्य! मेरी इच्छा है कि यज्ञसेन और माधवसेन के अलग-अलग दो राज्य स्थापित कर दिये जायँ।

जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र अहोरात्र का विभाजन करके शासन करते हैं उसी प्रकार वे दोनों वरदा नदी के दक्षिण तथा उत्तर तट का अलग-अलग शासन करें॥ १३॥

कञ्चुकी—महाराज! यही बात मन्त्रिमण्डल से निवेदन कर आता हूँ।

(राजा अँगुली के इशारे से आदेश प्रदान करता है)

(कञ्चुकी निकल जाता है)

प्रथमा—(अलग से) राजकुमारी! भाग्य से यह वड़ी अच्छी वात हुई कि राजकुमार को महाराज आधे राज्य पर बैठा रहे हैं।

मालविका—यह भी वहुत बड़ी बात हुई कि राजकुमार के प्राण संकटों से वच गये।

(प्रविश्य)

कञ्चुकी—विजयतां देवः। देव! अमात्यो विज्ञापयति—कल्याणी देवस्य बुद्धिः। मन्त्रिपरिषदोऽप्येतदेव दर्शनम्। कुतः—

द्विधा विभक्तां श्रियमुद्वहन्तौ धुरं रथाश्वाविव सङ्ग्रहीतुः।
तौ स्थास्यतस्ते नृपतेर्निदेशे परस्परोपग्रहनिर्विकारौ॥ १४॥

राजा—तेन हि मन्त्रिपरिषदं ब्रूहि— सेनान्ये वीरसेनाय लेख्यतामेवं क्रियतामिति।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रम्य, सप्राभृतकं लेखं गृहीत्वा पुनः प्रविष्टः) अनुष्ठिता प्रभोराज्ञा। अयं देवस्य सेनापतेः पुष्यमित्रस्य सकाशात्सोत्तरीयप्राभृतको लेखः प्राप्तः। प्रत्यक्षीकरोत्वेनं देवः।

(राजोत्थाय सप्राभृतकं लेखं सोपचारं गृहीत्वा परिजनायार्पयति)

(परिजनो लेखं नाटयेनोद्घाटयति)

धारिणी—(आत्मगतम्) अम्हो! तदोमुहं एव्व णो हिअअं। सुणिस्सं दाव गुरुअणस्स कुसलाणंतरं वसुमित्तस्स वुत्तंतं। अदिघोरे क्खु पुत्तओ सेनावदिणा णिउत्तो। [**अहो! ततोमुखमेव नो हृदयम्। श्रोष्यामि तावद् गुरुजनस्य कुशलानन्तरं वसुमित्रस्य वृत्तान्तम्। अतिघोरे खलु पुत्रकः सेनापतिना नियुक्तः।**]

राजा—(उपविश्य लेखं सोपचारं गृहीत्वा वाचयति) स्वस्ति। यज्ञशरणात्सेनापतिः पुष्यमित्रो वैदिशस्थं पुत्रमायुष्मन्तमग्निमित्रं स्नेहात्परिष्वज्येदमनुदर्शयति—विदितमस्तु, योऽसौ राजयज्ञ-

---

(प्रवेश करके)

कञ्चुकी— जय हो महाराज की। मन्त्रियों ने कहा है कि महाराज की बुद्धि विशेष कल्याणी है। मन्त्रिमण्डल का भी यही विचार था। क्योंकि—

दो भागों में विभक्त राजलक्ष्मी को प्राप्त करके वे दोनों परस्पर आक्रमण की प्रवृत्ति को भूलकर सदा आपकी आज्ञा में रहेंगे, जैसे दो भागों में विभक्त रथ के भार को रथाश्व ढोते हैं और एक-दूसरे से नहीं झगड़ते तथा नियन्ता की आज्ञा में रहते हैं॥ १४॥

राजा—मन्त्रिमण्डल से ऐसा कह दो कि सेनापति वीरसेन के पास इसकी लिखित आज्ञा भेज दें।

कञ्चुकी—महाराज की जैसी आज्ञा। (**बाहर जाता है और भेंट के साथ पत्र लिये हुए फिर आता है**) आपकी आज्ञा कह सुनाई। महाराज के सेनापति पुष्यमित्र के पास से उत्तरीय आदि भेंट की सामग्रियों के साथ-साथ पत्र भी आया है। इसे महाराज देखने की कृपा करें।

(राजा उठकर बड़े आदर के साथ भेंट की सामग्री और पत्र लेकर अपने सेवक को दे देते हैं। वह उस पत्र को अभिनय के साथ खोलता है)

धारिणी—(**मन ही मन**) अरे! मेरा जी भी इसे सुनने को छटपटा रहा है। बड़ों का कुशल समाचार सुनकर फिर वसुमित्र का समाचार सुनूँगी। सेनापति ने मेरे बच्चे को बडा संकट का काम सौंप दिया है।

राजा—(**बैठकर सम्मानपूर्वक पत्र लेकर पढते हैं**) आपका कल्याण हो। विदिशा में आये हुए चिरञ्जीवी पुत्र अग्निमित्र को स्नेहपूर्वक आलिंगन करके अश्वमेध यज्ञ की दीक्षा लिये हुए सेनापति पुष्यमित्र लिख रहे हैं—हम यह बताना चाहते हैं कि अश्वमेध की दीक्षा लेकर मैंने एक वर्ष की अवधि

दीक्षितेन मया राजपुत्रशतपरिवृतं वसुमित्रं गोप्तारमादिश्य वत्सरोपात्तनियमो निरर्गलस्तुरङ्गो विसृष्टः, स सिन्धोर्दक्षिणरोधसि चरन्नश्वानीकेन यवनेन प्रार्थितः। तत उभयोः सेनयोर्महानासीत्सम्मर्दः।

(देवी विषादं नाटयति)

राजा—कथमीदृशं संवृत्तम् ? (शेषं पुनर्वाचयति)

ततः परान्पराजित्य वसुमित्रेण धन्विना।
प्रसह्य ह्रियमाणो मे वाजिराजो निवर्तितः ॥ १५ ॥

धारिणी—इमिणा आससिदं मे हिअअं। [**अनेनाश्वस्तं मे हृदयम्।**]

राजा—(शेषं पुनर्वाचयति) सोऽहमिदानीमंशुमता सगरपुत्रेणेव प्रत्याहृताश्वो यक्ष्ये। तदिदानीमकालहीनं विगतरोषचेतसा भवता वधूजनेन सह यज्ञसेवनायागन्तव्यमिति।

राजा—अनुगृहीतोऽस्मि।

परिव्राजिका—दिष्टया पुत्रविजयेन दम्पती वर्धेते—

भर्त्रासि वीरपत्नीनां श्लाघ्यानां स्थापिता धुरि।
वीरसूरिति शब्दोऽयं तनयात्त्वामुपस्थितः ॥ १६ ॥

धारिणी—भअवदि ! परितुट्ठम्हि जं पितरं अणुजादो मे वच्छओ। [**भगवति! परितुष्टास्मि यत्पितरमनुजातो मे वत्सकः।**]

राजा—मौद्गल्य ! ननु कलभेन यूथपतेरनुकृतम्।

कञ्चुकी—देव ! अयं कुमारः—

के लिए जो रज्जुहीन घोड़ा छोड़ा था और जिसकी रक्षा के लिए सैकड़ों राजकुमारों के साथ वसुमित्र को भेजा था, वह घोड़ा जब सिन्धु नदी के दक्षिण तट पर चर रहा था तो घुड़सवार सेना के एक यवन ने उसे पकड़ लिया। इस पर दोनों सेनाओं में घोर युद्ध हुआ।

(देवी दुःखी होने का अभिनय करती हैं)

राजा—ऐसा कैसे हो गया ? (**फिर शेष पत्र पढ़ते हैं**)

तत्पश्चात् शत्रुओं को परास्त करके धनुर्धर वसुमित्र ने हमारे अपहृत अश्वराज को बलपूर्वक छीन लिया ॥ १५ ॥

धारिणी—इससे हमारे हृदय को आश्वासन मिला।

राजा—(**पत्र का शेष अंश पढ़ते हैं**) जिस प्रकार अंशुमान् ने घोड़ा लौटाकर ला दिया, तब सगर ने यज्ञ सम्पन्न किया, उसी प्रकार पौत्र की सहायता से मैं भी यज्ञ करूँगा। अतः यथासमय शान्त मन से सपरिवार यज्ञ में उपस्थित होना।

राजा—अनुगृहीत हुआ।

परिव्राजिका—भाग्य से पुत्रविजय के कारण महाराज दम्पति का उदय हो रहा है।

देवि ! स्वामी ने आपको वीरपत्नी-समुदाय में अग्रगण्य प्रमाणित किया है तो पुत्र ने भी आपको वीरजननी का गौरव प्रदान किया है ॥ १६ ॥

धारिणी—भगवति ! मेरा पुत्र पिता के अनुरूप हुआ है, अतएव मैं सन्तुष्ट हूँ।

राजा—मौद्गल्य ! करिशावक ने गजगणस्वामी का अनुकरण किया।

कञ्चुकी—महाराज ! यह राजकुमार—

नैतावता वीरविजृम्भितेन चित्तस्य नो विस्मयमादधाति।
यस्याप्रधृष्यः प्रभवस्त्वमुच्चैरग्नेरपां दग्धुरिवोरुजन्मा॥ १७॥

राजा—मौद्गल्य! यज्ञसेनश्यालमुररीकृत्य मोच्यन्तां सर्वे बन्धनस्थाः।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रान्तः)

धारिणी—जअसेणे! गच्छ। इरावदीप्पमुहाणं अंतेउराणं पुत्तस्स वुत्तंतं णिवेदेहि। [**जयसेने! गच्छ। इरावतीप्रमुखेभ्योऽन्तःपुरेभ्यः पुत्रस्य वृत्तान्तं निवेदय।**]

(प्रतीहारी प्रस्थिता)

धारिणी—एहि दाव। [एहि तावत्।]

प्रतीहारी—(प्रतिनिवृत्त्य) इअं म्हि। [**इयमस्मि।**]

धारिणी—(जनान्तिकम्) जं मए असोअदोहलणिओए मालविआए पइण्णादं तं से अभिजणं च णिवेदिअ मह वअणेण इरावदिं अणुणेहि—तुए अहं सच्चादो ण विब्भंसिदव्वे त्ति। [**यन्मयाशोक-दोहदनियोगे मालविकायै प्रतिज्ञातं, तदस्या अभिजनं च निवेद्य मम वचनेनेरावतीमनुनय—त्वयाहं सत्यान्न विभ्रंशयितव्येति।**]

प्रतीहारी—जं देवी आणवेदि। (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य) भट्टिणि! पुत्तविजअणिमित्तेण परितोसेण अंतेउराणं आहरणाणं मंजूसम्हि संवुत्ता। [**यद्देव्याज्ञापयति। भट्टिनि! पुत्रविजयनिमित्तेन परितोषेणान्तःपुराणामाभरणानां मञ्जूषास्मि संवृत्ता।**]

धारिणी—एदं किं अच्चरिअं। साहारणो क्खु ताणं मह अ अअं अब्भुदओ। [**एतत्किमाश्चर्यम्। साधारणः खलु तासां मम चायमभ्युदयः।**]

प्रतीहारी—(जनान्तिकम्) भट्टिणि! इरावदी उण विण्णवेदि— सरिसं देवीए पहवंतीए। तुह वअणं संकप्पिदं ण जुज्जदि अण्णहा कादुं त्ति। [**भट्टिनि! इरावती पुनर्विज्ञापयति— सदृशं देव्याः प्रभवन्त्याः। तव वचनं सङ्कल्पितं न युज्यतेऽन्यथाकर्तुमिति।**]

यह कुमार अपनी इतनी बड़ी वीरता से मेरे मन में कोई महान् आश्चर्य नहीं उत्पन्न कर रहा है, क्योंकि इसके जन्मदाता आप स्वयं इतने वड़े अजेय वीर हैं। जैसे कि वड़वानल के जन्मदाता और्व ऋषि थे॥ १७॥

राजा—मौद्गल्य! यज्ञसेन के साले के साथ-साथ वन्दी मुक्त कर दिये जायँ।

कञ्चुकी—जो आज्ञा। (**चला जाता है**)

धारिणी—जयसेने! जाओ, इरावती प्रभृति रानियों को पुत्र-विजय की सूचना दे दो।

(**प्रतीहारी जाती है**)

धारिणी—आओ तो।

प्रतीहारी—(**लौटकर**) यह मैं उपस्थित हूँ।

धारिणी—(**धीरे से**) अशोक दोहद के लिए भेजने के समय मालविका के साथ मैंने जो प्रतिज्ञा की थी, वह वात तथा उसके वंशादि को वताकर इरावती को प्रसन्न करो। देखो, तुम मुझे सत्य से विचलित न करो।

प्रतीहारी—जो आज्ञा। (**आकर पुनः प्रवेश करके**) महारानीजी! पुत्र-विजय की सूचना पाकर प्रदत्त आभूषणों से लदी हुई मैं अलंकार-पेटिका हो गई हूँ।

धारिणी—इसमें आश्चर्य की क्या वात है? यह अभ्युदय तो सबके लिए समान ही है।

धारिणी—भअवदि ! तुए अणुमदा इच्छामि अज्जसुमदिणा पढमसंकप्पिदं मालविअं अज्जउत्तस्स पडिवादेदुं। [भगवति! त्वयानुमतेच्छाम्यार्यसुमतिना प्रथमसङ्कल्पितां मालविकामार्यपुत्राय प्रतिपादयितुम्।]

परिव्राजिका—इदानीमपि त्वमेवास्याः प्रभवसि।

धारिणी—(मालविकां हस्ते गृहीत्वा) इदं अज्जउत्तो पिअणिवेदणाणुरूवं पारितोसिअं पडिच्छदु त्ति। [इदमार्यपुत्रः प्रियनिवेदनानुरूपं पारितोषिकं प्रतीच्छत्विति।]

(राजा व्रीडां नाटयति)

धारिणी—(सस्मितम्) किं अवधीरेदि अज्जउत्तो ? [किमवधीरयत्यार्यपुत्रः ?]

विदूषकः—भोदि ! एसो लोअव्ववहारो। सव्वो णववरो लज्जादुरो होदि त्ति। [भवति! एष लोकव्यवहारः। सर्वो नववरो लज्जातुरो भवतीति।]

(राजा विदूषकमवेक्षते)

विदूषकः—अह देवीए एव्व किदप्पणअविसेसं दिण्णदेवीसद्दं मालविअं अत्तभवं पडिग्गहीदुं इच्छदि। [अथ देव्यैव कृतप्रणयविशेषां दत्तदेवीशब्दां मालविकामत्रभवान्प्रतिग्रहीतुमिच्छति।]

धारिणी—एदाए राअदारिआए अहिजणेण एव्व दिण्णो देवीसद्दो किं पुणरुत्तेण। [एतस्या राजदारिकाया अभिजनेनैव दत्तो देवीशब्दः किं पुनरुक्तेन।]

परिव्राजिका—मा मैवम्—

अप्याकरसमुत्पन्नो रत्नजातिपुरस्कृतः।
जातरूपेण कल्याणि! मणिः संयोगमर्हति॥ १८॥

प्रतीहारी—(धीरे से) देवि! इरावती ने कहा है कि इस सम्पूर्ण पृथ्वी की समर्थस्वामिनी आपकी महत्ता है। प्रतिज्ञात कार्य में अन्यथा करना उचित नहीं।

धारिणी—भगवति! यदि आपकी अनुमति हो तो मैं आर्य सुमति के द्वारा संकल्पित मालविका का विवाह आर्यपुत्र के साथ सम्पन्न करा दूँ।

परिव्राजिका—इस समय भी आप ही इसकी स्वामिनी हैं।

धारिणी—(मालविका का हाथ पकड़ कर) आर्यपुत्र ने मुझे प्रिय संवाद सुनाया, उसके पुरस्कारस्वरूप इसे स्वीकार करें।

(राजा लज्जित होने का अभिनय करते हैं)

धारिणी—(मन्द मुसकान सहित) क्या आर्यपुत्र इसे अस्वीकार करते हैं।

विदूषक—देवि ! यह तो लोकाचार ही है। सभी नये वर लज्जा किया करते हैं।

(राजा विदूषक की ओर देखते हैं)

विदूषक—देवि ! राजा की इच्छा है कि आप मालविका को अपने समान बनाकर देवी पद से विभूषित कर दें, तब वह उसे स्वीकार करें।

धारिणी—इस राजकुमारी को इसके उच्च कुल ने ही देवी शब्द प्रदान कर दिया है; अतः उसे पुनः दुहराने से क्या लाभ ?

परिव्राजिका—ऐसी बात नहीं है। आकर से उत्पन्न तथा श्रेष्ठ रत्नजाति में परिगणित होने पर भी किसी भी रत्न को स्वर्णसंयोग की आवश्यकता पड़ती ही है॥ १८॥

धारिणी—(स्मृत्वा) मरिसेदु भअवदी। अब्भुदअकहाए उइदं ण लक्खिदं। जअसेणे! गच्छ दाव। कोसेअपत्तोण्णजुअलं उवणेहि। [**मर्षयतु भगवती। अभ्युदयकथयोचितं न लक्षितम्। जयसेने! गच्छ तावत्। कौशेयपत्रोर्णयुगलमुपनय।**]

प्रतीहारी—जं देवी आणवेदि। (इति निष्क्रम्य पत्रोर्णं गृहीत्वा पुनः प्रविश्य) देवि! एदम्। [**यद्देव्याज्ञापयति। देवि! एतत्।**]

धारिणी—(मालविकामवगुण्ठनवतीं कृत्वा) अज्जउत्तो! दाणिं इमं पडिच्छदु। [**आर्यपुत्र! इदानीमिमां प्रतीच्छतु।**]

राजा—त्वच्छासनात्प्रवृत्ता एव वयम्। (अपवार्य) हन्त, प्रतिगृहीता।

विदूषकः—अहो, देवीए अणुऊलदा। [**अहो, देव्या अनुकूलता।**]

(देवी परिजनमवलोकयति)

प्रतीहारी—(मालविकामुपेत्य) जेदु भट्टिणी। [**जयतु भट्टिनी।**]

(देवी परिव्राजिकां निरीक्षते)

परिव्राजिका—नैतच्चित्रं त्वयि—

प्रतिपक्षेणापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः।
अन्यसरितामपि जलं समुद्रगाः प्रापयन्त्युदधिम्॥ १९॥

(प्रविश्य)

निपुणिका—जेदु भट्टा। इरावदी विण्णावेदि— जं उवआरातिक्कमेण तदा भट्टिणो अवरद्धा, तं सअं एव्व भत्तुणो अणुऊलं णाम मए आअरिदं। संपदं पुण्णमणोरहेण भत्तुणा पसादमत्तेण संभावइदव्व त्ति। [**जयतु भर्ता। इरावती विज्ञापयति— यदुपचारातिक्रमेण तदा भर्त्रे अपराद्धा, तत्स्वयमेव भर्तुरनुकूलं नाम मयाऽऽचरितम्। साम्प्रतं पूर्णमनोरथेन भर्त्रा प्रसादमात्रेण सम्भावयितव्येति।**]

धारिणी—(**याद करके**) आप क्षमा करें। अभ्युदय-कथा में लगी रही अतएव वस्त्र की ओर ध्यान नहीं गया। जयसेने! शीघ्र जाओ और रेशमी जोडे लाओ।

प्रतीहारी—जो आज्ञा। (**जाती है, रेशमी जोड़े लेकर पुनः प्रवेश करके**) देवी ले आई।

धारिणी—(**मालविका को अवगुण्ठनवती बनाकर**) आर्यपुत्र! अब इसे स्वीकार करें।

राजा—तुम्हारे आदेश में हम सदा तत्पर हैं। (**धीरे से**) स्वीकार किया।

विदूषक—अहा! अनुकूल देवी धारिणी धन्य है।

(**देवी परिजनों की ओर दृष्टिपात करती हैं**)

प्रतीहारी—(**मालविका के समीप जाकर**) जय हो, महारानी की जय हो।

(**देवी परिव्राजिका की ओर देखती हैं**)

परिव्राजिका—देवि! आपके लिए यह कार्य आश्चर्यजनक नहीं है। साध्वी ललनाएँ अपनी सौत के द्वारा भी पति की प्रसन्नता सम्पादन करती ही हैं। महानदियाँ दूसरी नदियों का जल भी समुद्र के अङ्क तक पहुँचाती हैं॥ १९॥

(**प्रवेश कर**)

निपुणिका—इरावती ने कहा है कि मैंने शिष्टाचार का उल्लंघन करके आर्यपुत्र के साथ अपराध किया था, वह उनके अनुकूल ही हुआ। अतः हमारे ऊपर प्रसन्नता का ही व्यवहार करें।

धारिणी—णिउणिए! अवस्सं से सेविदं अज्जउत्तो जाणिस्सदि। [**निपुणिके! अवश्यमस्याः सेवितमार्यपुत्रो ज्ञास्यति।**]

निपुणिका—अणुग्गहीदम्हि। [**अनुगृहीतास्मि।**]

परिव्राजिका—देव! अमुना युक्तसम्बन्धेन चरितार्थं माधवसेनं सभाजयितुं गच्छामः।

धारिणी—भअवदीए ण जुत्तं अम्हे परिच्चिइदुं। [**भगवत्या न युक्तमस्मान् परित्यक्तुम्।**]

राजा—भगवति! मदीयेष्वेव लेखेषु तत्रभवतस्त्वामुद्दिश्य सभाजनाक्षराणि पातयिष्यामः।

परिव्राजिका—युवयोः स्नेहात्परवानयं जनः।

धारिणी—अज्जउत्त! किं ते भूओ वि पिअं उवहरामि। [**आर्यपुत्र! किं ते भूयोऽपि प्रियमुपहरामि।**]

राजा—त्वं मे प्रसादसुमुखी भव देवि! नित्यमेतावदेव हृदये प्रतिपालनीयम्।
तथापीदमस्तु (भरतवाक्यम्)—

आशास्यमीतिविगमप्रभृति प्रजानां सम्पत्स्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे॥ २०॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति पञ्चमोऽङ्कः।

समाप्तमिदं श्रीकालिदासकृतौ मालविकाग्निमित्रं नाम नाटकम्।

धारिणी—निपुणिके! आर्यपुत्र उसकी सेवा के लिए अवश्य कृतज्ञ रहेंगे।

निपुणिका—मैं अनुगृहीत हूँ।

परिव्राजिका—महाराज! इस समुचित सम्बन्ध से कृतकृत्य माधवसेन को वधाई देने जा रही हूँ।

धारिणी—आपके लिए यह उचित नहीं है कि आप हमारा परित्याग करें।

राजा—भगवति! मैं अपने पत्र में आपकी ओर से आनन्ददायक शब्दों को लिखवा दूँगा।

परिव्राजिका—आप दोनों के स्नेह के कारण मैं पराधीन हूँ।

धारिणी—आर्यपुत्र! आप का मैं और क्या प्रिय करूँ?

राजा—मेरे लिए यही प्रिय है कि आप प्रसन्न तथा अनुकूल रहें। इतनी कामना मेरे हृदय में है। फिर भी इतना और हो जाय कि—

(भरतवाक्य)

प्रजाओं की कोई इच्छा पूर्ण नहीं होगी, ऐसी बात तो अग्निमित्र के राजत्वकाल में होगी ही नहीं अर्थात् सम्पूर्ण इच्छाएँ पूर्ण होंगी॥ २०॥

(सभी चले जाते हैं)

पाँचवाँ अंक समाप्त।

समीक्षात्मक निबन्ध

समीक्षात्मक निबन्ध

महाकवि कालिदास : संक्षिप्त परिचय

प्रस्तावना—कविताकामिनीकान्त कविकुलकमलदिवाकर महाकवि कालिदास सरस्वती के वरदपुत्र के रूप में भारत में अवतरित हुए थे। इनकी रचनाएँ काव्य, खण्डकाव्य तथा नाटक के रूप में गंगा, यमुना, सरस्वती के पावन संगम की भाँति भारतीय साहित्य को आध्यात्मिक बल प्रदान करते रहते हैं। यही कारण है कि इनकी प्रसिद्धि विश्व के समस्त देशों में महाकवि के रूप में है और उन-उन देशों के विद्वानों ने इन रचनाओं का अपनी भाषाओं में रूपान्तर करके इनका सादर प्रचार एवं प्रसार किया है। ऐसा स्नेह अन्य किसी कवि की रचनाओं को प्राप्त नहीं हुआ। लाक्षणिक आचार्यों ने काव्य के जिन लक्षणों का उल्लेख अपने लक्षणग्रन्थों में किया है उन सबका समानरूपेण अस्तित्व कालिदास के काव्य-नाटकों में निहित है, केवल 'मेघदूत' को छोड़कर।

जन्मभूमि—यशस्वी व्यक्ति से अपना सम्बन्ध जोड़ने की लालसा सबके हृदय में रहती है, यही स्थिति कालिदास की जन्मभूमि-निर्णय के सम्बन्ध में भारतीय विद्वानों की रही है। रघुवंश इनका सुप्रसिद्ध महाकाव्य है। इसमें वर्णित रघु की दिग्विजय-यात्रा विद्वानों को इनके जन्मभूमि-विवेचन के लिए प्रेरित करती है। उक्त यात्राप्रसंग में इन्होंने जिन-जिन स्थलों का सूक्ष्म परिचय प्रस्तुत किया है, विद्वानों की दृष्टियाँ वहाँ-वहाँ टिक जाती हैं। परन्तु यह सम्भव नहीं है कि एक व्यक्ति इतने स्थानों का मूल निवासी हो। इस प्रसंग में प्रमुख रूप से बंगाल और कश्मीर के नाम लिये जाते हैं। इसके अनन्तर मेघदूत, जो 'खण्डकाव्य' के रूप में अथवा 'निरंकुश काव्य' के रूप में रचित इनकी कृति है, उसमें कवि ने मेघ को अपनी विरहिणी पत्नी के नाम सन्देश भेजने के प्रसंग में उज्जयिनी का जो वर्णन प्रस्तुत किया है, वह परम रमणीय है। इसको पढ़ने से कालिदास का परिपुष्ट भौगोलिक ज्ञान तथा उज्जयिनी नगरी के प्रति नैसर्गिक स्नेह सुतरां अभिव्यक्त होता है। इसमे इससे भी अधिक मननीय एव विवेचनीय वह स्थल है, जहाँ यक्ष मेघ से कहता है—''रास्ता टेढ़ा होने पर भी 'श्रीविशाला विशाला' (उज्जयिनी) को अवश्य देखना, यदि तुम उसको न देख पाये तो 'लोचनैर्वञ्चितोऽसि' अर्थात् तुमको आँखों का फल नहीं प्राप्त होगा''। अतः अधिकांशतः विद्वानों का मत है कि ये उज्जैन के निवासी थे। मेघदूत में आये हुए 'क्रौञ्चरन्ध्र' के वर्णन को देख गढ़वाल प्रदेश के निवासी विद्वान् कालिदास को 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि' ले जाते हैं, क्योकि वहाँ 'क्रौञ्चरन्ध्र' नाम से एक स्थान प्रसिद्ध है। यही महाकवि का सार्वभौम स्वरूप है।

कालिदास का धार्मिक स्वरूप—कालिदास परमशैव थे। रघुवंश का मंगलाचरण पद्य, कुमारसम्भव का शिवराजधानी-वर्णन, 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का अष्टप्रकृति शिवस्वरूप-चित्रण एवं अन्तिम भरतवाक्य 'ममापि च क्षपयतु नीललोहितः', 'विक्रमोर्वशीयम्' का मङ्गलाचरण पद्य और 'मालविकाग्निमित्र' का मङ्गलाचरण पद्य ये इनकी नैष्ठिक शिवभक्ति को प्रकट करते हैं। इसके अतिरिक्त 'रघुवशमहाकाव्य' में इन्होने उस राम की चर्चा की है जिन्होंने स्वयं विष्णु का अवतार होते हुए भी **श्रीरामेश्वरम्** की स्थापना के बहाने अपने को शिवभक्त प्रसिद्ध किया।

कालिदास का कालविवेचन—प्राचीन विद्वानों की परम्परा में अपने देश-काल आदि सम्बन्धी परिचय देने का अभाव-सा रहा है, वही क्रम हमको कालिदास की रचनाओं में भी दृष्टिगोचर होता है। यह प्रसिद्धि रही है कि महाकवि कालिदास विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों (विद्वानों) में अन्यतम थे[१]।

---

१. इनके काल का विशद विवेचन हमने **'कालिदास एवं अश्वघोष : एक ऐतिहासिक गवेषणा'** शीर्षक निबन्ध में किया है।

कुछ विद्वान् द्वितीय चन्द्रगुप्त को कालिदास का आश्रयदाता विक्रमादित्य मानते हैं, ध्यान रहे ये विक्रमादित्य उपाधि के योग्य नहीं थे।

जिनकी कथा 'द्वात्रिंशत्पुत्तलिका' तथा 'वेताल कथा' आदि में आती है, उनका मूल नाम 'वीर विक्रमादित्य' था। यदि द्वितीय चन्द्रगुप्त ने 'विक्रमादित्य' उपाधि ली होगी तो भी वे इतिहास में 'चन्द्रगुप्त द्वितीय' नाम से ही प्रसिद्ध थे, न कि वे 'विक्रमादित्य' कहे जाते थे। समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त और दूसरा पुत्र चन्द्रगुप्त था। समुद्रगुप्त की मृत्यु के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त राज्य का अधिकारी हो गया था, उसकी पत्नी **'ध्रुवस्वामिनी'** थी। रामगुप्त का शकराज से युद्ध हो गया और वह शकों से पराजित हुआ, तब रामगुप्त ने अपनी पत्नी शकराज को देने की शर्त रखकर उससे सन्धि कर ली, यह बात चन्द्रगुप्त को अच्छी नहीं लगी। वह ध्रुवस्वामिनी का वेश धारण कर शकराज के शिविर में गया और उसने शकराज को मारा। (देखें—विशाखदत्त कृत देवीचन्द्रगुप्त-नाटक, प्रकाशन संस्था—बड़ौदा गायकवाड़ सिरीज)। उसके बाद चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने बड़े भाई को मारकर उनका राज्य तथा उसकी पत्नी ध्रुवस्वामिनी को ले लिया, यह निन्दनीय चरित्र विक्रमादित्य के अनुरूप कथमपि नहीं कहा जा सकता। इसी सम्बन्ध का एक शिलालेख निराशी के एकावली ग्रन्थ में इस प्रकार मिलता है—

'हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद् देवीं च दीनस्तथा
लक्षं कोटिमलेखयत् किल कलौ दाता स गुप्तान्वयः।
येनात्याजि निजं शरीरमसकृद् बाह्यार्थकैः का कथा
ह्रीस्तस्योन्नतराष्ट्रकूटतिलको दातेति कीर्त्यामपि'॥

इसमें एक रहस्य का और उद्घाटन किया गया है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय अनेक बार अपमानित हुआ था तथा यह वास्तविक दाता भी नहीं था, अपितु केवल लिखवाया करता था कि मैंने लाख, करोड़ दान दिया। ऐसा निन्दापात्र चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' कभी नहीं हो सकता। दूसरा तथ्य यह भी है कि इन चन्द्रगुप्त आदि राजाओं का सम्बन्ध पाटलिपुत्र नगरी से है, न कि उज्जयनी से। वीरविक्रमादित्य का स्थिर सम्बन्ध उज्जयिनी से था और वहीं स्वीकार भी किया जाता रहा है। दिग्विजय-यात्रा समुद्रगुप्त से पहले भी अनेक राजाओं ने की, किन्तु कालिदासोक्त रघु की दिग्विजय-यात्रा शुद्ध रूप से कवि-कल्पित है, न कि यह किसी की वास्तविक यात्रा का चित्रण है। ध्यान दें—काव्यरचना-रसिक महाकवि ने रघुवंश महाकाव्य में इनकी वंशपरम्परा का वर्णन भी अपनी निरंकुशता के आधार पर ही किया है।

कालिदास की कमनीय कृतियाँ—महाकवि कालिदास ने सचमुच कितने ग्रन्थों की रचना की यह ठीक-ठीक रूप से कहना असम्भव है। इनके नाम से इतिहासकारों ने अनेक रचनाओं का निराधार उल्लेख किया है, न उनके सम्बन्ध में कहीं कोई प्रमाण ही मिलता है। हाँ, कुछ कृतियाँ ऐसी हैं जिनकी रचना उस महाकवि की ओजस्विनी लेखनी के अतिरिक्त दूसरे की लेखनी लिखने में सर्वथा असमर्थ समझी जाती है। वे रचनाएँ निम्नलिखित हैं—(१) ऋतुसंहार, (२) कुमारसम्भव, (३) मेघदूत, (४) रघुवंश (काव्य), (५) मालविकाग्निमित्र, (६) विक्रमोर्वशीय, (७) अभिज्ञानशाकुन्तलम् (नाटक)।

कालिदास की रचनाओं का क्रमिक संक्षिप्त परिचय

(१) ऋतुसंहार—यह कालिदास की प्रथम काव्यकृति मानी जाती है, किन्तु इस क्रम के सम्बन्ध में सबका एकमत नहीं है। इसमें कवि ने ग्रीष्म से आरम्भ कर छः ऋतुओं का मनोरम वर्णन किया है, अतः ऋतुसंहार कालिदास की ही कृति है। इसके समर्थन में विद्वान् जो प्रमाण उपस्थित करते हैं, वह है ग्रीष्मऋतु के सन्ध्याकाल का वर्णन; इसी को इन्होंने अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के प्रथम अंक में भी दुहराया है।

(२) कुमारसम्भव—यह कालिदास की रचना है, इसमें किसी का मतभेद नहीं है। इसमें कवि ने कुमार (कार्तिकेय) सम्भव (उत्पत्ति) का संकल्प लिया। यह १सर्ग से लेकर ८वें सर्ग तक ही कालिदास की कृति है, उसके आगे नहीं। जो कवि प्रथम सर्ग में हिमालय की गुणगाथा का वर्णन करते थकता नहीं, जो तृतीय सर्ग में शिवजी की समाधि (तपश्चर्या) का इतना ओजस्वी वर्णन कर सकता है, वह इसके

१७वें सर्ग तक अपनी विशिष्ट प्रतिभा का परिचय न दें, यह कालिदास जैसे विद्वान् के लिए अनहोनी-सी बात है। अतः इन शेष सर्गों को विद्वान् अन्य कवि की रचना के रूप में प्रक्षेप मात्र स्वीकार करते हैं।

(३) **मेघदूत**—यह कालिदास की मौलिक प्रतिभा का अनुपम निदर्शन है। इसमें विरहविधुरा नवपरिणीता अपनी प्रिया के पास अभिशप्त यक्ष मेघ द्वारा सन्देश भेज रहा है, यह महाकवि की अनूठी सूझ है। कालिदास की रचनाओं के सुप्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने लिखा है कि कालिदास की इस कल्पना का आधार रामायण का हनुमान्दूत अथवा महाभारत का हंसदूत रहा हो। इसमें पति-पत्नी का विप्रलम्भ-शृंगार पूर्णरूप से स्पष्ट एवं सफल हुआ है। कथानक के सौन्दर्य के साथ ही साथ उज्जयिनी जाने के मार्ग का सही भौगोलिक चित्रण, महाकाल का पूजन तथा विशाला (उज्जैन) की समृद्धि का वर्णन इसके मुख्य आकर्षण हैं। यह दूतकाव्य पूर्वमेघ और उत्तरमेघ दो भागों में विभक्त है।

(४) **रघुवंश**—उन्नीस सर्गों में विभक्त यह महाकाव्य कालिदास की उत्कृष्ट रचना है। परवर्ती कवियों के लिए यह मणिपूग है। इसमें रघुवंशियों की वंशावली वाल्मीकि रामायण के वास्तविक क्रम से विपरीत चित्रित है। वास्तव में यहाँ कवि का उद्देश्य काव्य-वर्णन रहा है, न कि वंशावली-वर्णन। इसमें रघुवंशियों के उदात्त चरित्रों (गोपालन, प्रजावत्सलता, दानशीलता, शूरता आदि) का लोकोत्तर वर्णन किया गया है। सबसे महान् सन्देश है—'राजा प्रकृतिरञ्जनात्'। राजा अथवा शासक वही होने के योग्य है, जो प्रजा के हृदय को जीत सके।

(५) **मालविकाग्निमित्र**—इस नाटक में राजा **अग्निमित्र** तथा **मालविका** के परस्पर प्रेम का उत्तम चित्रण किया गया है। कवि ने राजाओं के अन्तःपुर (रनिवास) में होने वाले प्रेम, ईर्ष्या, कामुकता, कामक्रीडा आदि विषयों का शिष्ट वर्णन किया है। यह पाँच अंकों का नाटक है।

(६) **विक्रमोर्वशीय**—यह पाँच अंकों का त्रोटक है। इसमें कालिदास ने एक वैदिक प्रेमाख्यान (जो ऋग्वेद १०।१५ तथा शतपथब्राह्मण ११।०१ में निर्दिष्ट है) को पुरूरवा तथा उर्वशी की प्रणयपूर्ण कथा के रूप में परिवर्तित कर डाला है। पुरूरवा परोपकारी राजा है, इसने राक्षस के भय से उर्वशी की रक्षा की। उर्वशी पुरूरवा की रानी बन जाती है। बाद में पुरूरवा उर्वशी के विरह में पागल हो जाता है। यही प्रणयोन्माद कवि का मूल वर्ण्य विषय रहा है।

(७) **अभिज्ञानशाकुन्तल**—यह ७ अंकों में विस्तृत कालिदास की यशस्वी कृति है, जिसकी रमणीयता से आकृष्ट हो विदेशीय विद्वान् भी इसकी प्रशंसा करते हुए तृप्त नहीं होते। इसके अनुवाद प्रायः संसार की सभी भाषाओं में हो चुके हैं। इससे अधिक इसकी लोकप्रियता का दूसरा उदाहरण नहीं दिया जा सकता। जर्मन-कवि 'गेटे' का कथन है कि 'यदि तीनों लोकों का ऐश्वर्य एक स्थान पर प्राप्त करने की इच्छा हो तो इस नाटक का अध्ययन एवं मनन करना चाहिए'। कामुक दुष्यन्त की लाज रखने तथा उनके चरित्र को उदात्त दिखलाने के अभिप्राय से ही महाकवि ने दुर्वासा के शाप की कृत्रिम कल्पना की है। अभिज्ञान=परिचय के लिए (अर्थात् यदि मैं तुम्हें भूल जाऊँ तो मुझे अपनी अँगूठी देखकर सारी बातें याद आ जायेंगी) दी गयी अँगूठी का सम्बन्ध शकुन्तला से होने के कारण इस नाटक का नाम 'अभिज्ञानशाकुन्तल' रखा गया।

इसके विपरीत कालिदासीय ग्रन्थों का एक रचनाक्रम यह भी देखा जाता है, जो इस प्रकार है—
१. ऋतुसंहार, २. रघुवंश, ३. कुमारसम्भव, ४. मेघदूत, ५. अभिज्ञानशाकुन्तल, ६. मालविकाग्निमित्र, ७. विक्रमोर्वशीय।

कालिदास का पात्रचयन-वैशिष्ट्य

दुष्यन्त—अभिज्ञानशाकुन्तल के पुरुष-पात्रों में दुष्यन्त का प्रमुख स्थान है, इसका दूसरा नाम 'दुष्मन्त' भी है। यह धीरोदात्त नायक है। यथा—

'महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।
स्थिरो निगूढाऽहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः'॥

अर्थात् वह धीरोदात्त, महावली, अतिगम्भीर, क्षमाशील, अविकत्थन (आत्मप्रशंसा-निरपेक्ष), स्थिरप्रकृति, अहंकाररहित और दृढनिश्चय वाला साथ ही उसको उच्चकुल का होना चाहिए। पुरुवंशीय राजा दुष्यन्त में ये सभी गुण विद्यमान हैं। जिनका उल्लेख आगे किया जा रहा है—

महासत्त्व—दुष्यन्त रूपवान्, क्षत्रियकुल की गौरव मर्यादा के अनुरूप, शारीरिक एवम् आध्यात्मिक वल से युक्त है। वह स्वयं इस प्रकार कहता है—'समुद्र-रसना चोर्वी' कि मेरी एक पत्नी समुद्र पर्यन्त पृथ्वी है। भूलोक से स्वर्ग तक उसका प्रताप है। इसके सत्त्वगुण के उत्कर्ष से राज्य में कोई भी व्यक्ति निरंकुश नहीं है। इसके महासत्त्वगुण को कवि ने इस प्रकार उद्धृत किया है—'मृगानुसारिणं साक्षात् पश्यामीव पिनाकिनम्' (१।६)। साधु पुरुषों की रक्षा तथा दुष्टों का विनाश करना इसका सहज स्वभाव है। वैखानस दुष्यन्त को आश्रम में चलने के लिए आग्रह कर रहा है कि आप अपने भुजवल के प्रताप को आश्रम में चलकर देखिये—

'रम्यास्तपोधनानां प्रतिहतविघ्नाः क्रियाः समवलोक्य।
ज्ञास्यसि कियद् भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणाङ्क इति'॥ (अ० शा० १।३)

कण्व के सोमतीर्थ चले जाने पर दुष्यन्त-राक्षसों से आश्रम की रक्षा के लिए तत्पर हो जाते हैं। राक्षसों को भगाने के लिए युद्ध नहीं करना पडता वल्कि अपने धनुष की टंकार को सुनाकर ही वे विघ्नरूपी राक्षसों को दूर कर देते हैं। यथा—

'हुङ्कारेणैव धनुषः स हि विघ्नानपोहति'। (अ० शा० ३।१)

अतिगम्भीर—समुद्र के समान जिसका थाह न लग सके उसे 'अतिगम्भीर' कहते हैं। दुष्यन्त में ये गुण विराजमान हैं। शकुन्तला के रूप-सौन्दर्य से आकृष्ट होने पर भी वह विवेक को नहीं छोडता। वह यह सोचता है कि ब्राह्मण-कन्या के प्रति मेरा आर्य (चरित्रवान्) मन क्यों आकृष्ट हो रहा है। इन भावों को कवि ने इस कुशलता से चित्रित किया है—

'असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः'॥ (अ० शा० १।२३)

केवल कामुक अथवा कामान्ध व्यक्ति इस प्रकार के विचार से सर्वदा वञ्चित रहते हैं। ठीक पता लगने पर प्रसन्न होकर वह कहता है—'आशङ्कसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्'। इतने समय तक धैर्य का निर्वाह करना अतिगम्भीर प्रकृति वाले व्यक्ति के लिए ही सम्भव है, यह वाक्यांश इनकी अतिगम्भीरता का परिचायक है। चपल व्यक्ति इस प्रकार रुक ही नहीं सकता। आश्रम की रक्षा के अवसर पर माता द्वारा प्रेषित दूत की वात सुनकर अपने प्रतिनिधि के रूप में वह विदूषक को राजधानी भेज देता है, स्वयं तत्परता के साथ आश्रम की रक्षा करता है। अतः वह गम्भीर, संयमी, विनयी आदि सद्गुणों से अलंकृत है।

'भव हृदय साभिलाषं सम्प्रति सन्देहनिर्णयो जातः।
आशङ्कसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्'॥ (अ० शा० १।३०)

चरित्रवान् नायक—प्रियंवदा अनुसूया के बीच में स्थित शकुन्तला के रूप-सौन्दर्य से प्रभावित दुष्यन्त अपने कुलानुरूप उस कन्या को अग्नि के समान स्पर्श के अयोग्य समझता है, निर्णय की प्रतीक्षा करता है कि वास्तव में यह किसकी कन्या है। वार्तालाप के प्रसंग में जब यह निर्णय हो जाता है कि यह कण्व ऋषि की औरस पुत्री नहीं है, तब वह कहता है। यह दुष्यन्त के उज्ज्वल चरित्र की कसौटी है। आगे चलकर वह शकुन्तला के उज्ज्वल भविष्य की सुदृढ़ व्यवस्था की सूचना देते हुए कहता है—

'परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य नः। समुद्ररसना चोर्वी सखी च युवयोरियम्'॥ (अ० शा० ३।२३)

इस प्रकार राजा की बातों को सुनकर शकुन्तला की सखियाँ उसको गान्धर्व विवाह का अवसर देती हैं, इस अपने वचन की पूर्ति राजा दुष्यन्त सप्तम अंक में कर पाता है।

दृढव्रत—राजा दुष्यन्त अपने वचनों का पालन करने के लिए किसी भी परिस्थिति में तत्पर है। दुर्वासा का शाप जो इसकी दृढ़व्रतता के मार्ग में अपवाद स्वरूप उपस्थित होता है, वह सर्वथा अलौकिक घटना है। शाप के कारण वह शकुन्तला-समागम की घटना को सर्वथा भूल चुका है। अतएव वह शारद्वत, गौतमी आदि के बहुत कुछ अप्रिय कहने पर भी अपनी बात पर दृढ़ है, किन्तु ज्यों ही उसको शकुन्तला को दी हुयी अँगूठी दिखलायी देती है, त्यों ही वह अपनी पूर्व प्रतिज्ञा का स्मरण कर शकुन्तला के दुःसह विरह से व्याकुल हो उठता है और स्वर्ग से लौटते समय मारीच के आश्रम में शकुन्तला तथा अपने पुत्र सर्वदमन को पाकर उनसे प्यार करता है, साथ ही शकुन्तला के प्रति अपने द्वारा क्रूर व्यवहार के लिए क्षमा-याचना करता है। अपने साथ रथ में बैठा कर राजधानी में लाकर उसको पट्टमहिषी के पद पर सुशोभित करता है। इस प्रकार दुष्यन्त को पूर्ण दृढ़व्रती के रूप में देखा जा सकता है।

वात्सल्य भाव—अभिज्ञानशाकुन्तल के ७वें अंक में दुष्यन्त वात्सल्यपूर्ण पिता के रूप में दृष्टिगोचर होता है। मारीच आश्रम के दर्शन की अभिलाषा से रास्ते में उतरे हुए दुष्यन्त को सहसा एक बालक के दर्शन होते हैं, जो सिंह-शावक को शेरनी (अपनी माता) का दूध नहीं पीने दे रहा है। वह चाहता है कि सिंह-शावक उसके साथ खेल करे। राजा ऐसे निर्भीक बालक के प्रति एकाएक आकृष्ट होता है और वह जानना चाहता है—'अनेन कस्यापि कुलाङ्कुरेण'। मालूम होने पर कि इसकी माता शकुन्तला है, वह आनंदित होता है। इसके पूर्व उसको अपनी अनपत्यता सदैव पीडित किया करती थी। भगवान् मारीच जब 'सर्वदमन' सहित शकुंतला को राजा को सौंपते हैं, तो आनंदित हो राजा कहता है—'भगवन्! अत्र खलु मे वंशप्रतिष्ठा' और उन माता-पिता को वह धन्य कहता है, जिनके अंग एवम् वस्त्र बच्चों के शरीर पर लगी धूलि के स्पर्श से मलिन होते हैं।

उत्तम शासक—दुष्यन्त प्रजावत्सल होता हुआ भी उत्तम कोटि का न्यायप्रिय एवम् उदार शासक है। वह दुष्टों को दण्डित एवं साधुजनों को पुरस्कृत करने में कुशल है—'प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा, निषेवते श्रान्तमना विविक्तम्'। (अ० शा० ५।३) पाँचवें अंक में वैतालिक न्यायप्रिय राजा की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि आप उस वृक्ष के समान है जो स्वयं धूप के कष्ट को सहन करके भी अपने आश्रितों को छाया (सुख) प्रदान करता है। यथा—

'स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः प्रतिदिनमथवा ते सृष्टिरेवंविधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्'॥ (अ० शा० ५।३)

दूसरा वैतालिक राजा का परिचय इस प्रकार दे रहा है—'आप कुपथगामियों को नियंत्रित करते हैं, विवादों को शांत करते हैं, प्रजा की रक्षा के लिए तत्पर रहते हैं, बन्धुजनों में समान रूप से सम्पत्ति का विभाजन करते हैं। ये सभी उत्तम शासक के कर्तव्य हैं'। यथा—

'नियमयसि विमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय।
अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः संविभक्तास्त्वयि तु परिसमाप्तं वन्धुकृत्यं जनानाम्' ॥ (अ० शा० ५।३)

इसके राज्य-प्रवन्ध में ग्राम एवं नगरवासी ही कर नहीं देते थे अपितु वनवासी भी अपनी तपस्या का षष्ठांश इस राजा को कर के रूप में दिया करते थे। यथा—'तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः'। (अ० शा० २।१४) इसके अतिरिक्त अनपत्य धनमित्र नामक सेठ की सम्पत्ति को जब वह राजकोष में रखने की व्यवस्था करता है, तदनन्तर वह राज्य में घोषणा करता है कि कोई भी सन्तान अथवा वन्धुहीन व्यक्ति मेरे रहते अपने को असहाय न समझे। यह राजा की उदारता एवम् न्यायप्रियता की ही घोषणा है। यथा—

'येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन वन्धुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्'॥ (अ० शा० ६।१६)

महाभारत के शृंगारी दुष्यन्त का परिष्कार—कालिदास ने महाभारत के शृंगारी दुष्यन्त को परिष्कृत करके धीरोदात्त नायक के रूप में प्रस्तुत किया है, जो वर्णाश्रम धर्म का व्यवस्थापक एक आदर्श राजा है। कालिदास की दृष्टि में उसका यह रूप अधिक महत्त्वपूर्ण है। कवि ने उसके चरित्र की उदारता दिखलाने के लिए उसको सहज शृंगारी धीरललित नायक न वनाकर धीरोदात्त नायक के रूप में यहाँ प्रस्तुत किया है। अदिति दुष्यन्त के सम्बन्ध में कहती है—'सम्भावनीयानुभावा अस्य आकृतिः'। यद्यपि यह इस समय शिकार में लगा हुआ है किन्तु इसका स्वभाव हिंसापूर्ण नहीं है। यह किसी भी समय कला एवं अन्य विनोद में मन लगा सकता है। संक्षेप में संयम, शौर्य-वीरता, प्रतिष्ठा आदि इसके गुण हैं। इसे अपनी पुरुवंश-परम्परा का गर्व अपने मन को निषिद्ध वस्तु में प्रवर्तित नहीं करता—

'वयस्य न परिहार्ये वस्तुनि पौरवाणां मनः प्रवर्तते'॥

राजा दुष्यन्त का व्यक्तित्व महान् एवं प्रभावशाली है—

'मधुरगम्भीराकृतिः प्रियदर्शनो देवः, अहो दीप्तिमतोऽपि विश्वसनीयतास्य वपुषः। प्रकृतिः गम्भीरा'।

थोडे से शव्दों में ही दुष्यन्त के व्यक्तित्व का यह चित्रांकन वड़ा मार्मिक है। वह अत्यन्त कर्मण्य है। यद्यपि वह दुवला-पतला तथा सुकुमार है फिर भी वह वहुत सुदृढ़ एवं वलिष्ठ है—

'रविकिरणसहिष्णुः क्लेशलेशैरभिन्नो गिरिचर इव नागः प्राणसारं विभर्ति'।

दुष्यन्त का सारथी राजा और मृग की दौड देखकर ठीक ही कहता है—

'मृगानुसारिणं साक्षात् पश्यामीव पिनाकिनम्'। (अ० शा० १।६)

वैखानस का यह आश्चर्यपूर्ण कथन भी द्रष्टव्य है—

'क्व च निशितनिपाताः वज्रसाराः शरास्ते'।
'तत्साधुकृतसन्धानं प्रतिसंहर सायकम्।
आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि'॥ (अ० शा० १।११)

प्रियंवदा महाराज दुष्यंत की प्रभावशालिनी आकृति का वर्णन इन शव्दों में करती है—

'चतुरगम्भीराकृतिः प्रभाववानिव दृश्यते'।

और एक शिष्य दुष्यन्त के सम्वन्ध में कहता है—

'का कथा वाणसन्धाने ज्याशव्देनैव दूरतः।
हुङ्कारेणैव धनुषः स हि विघ्नानपोहति'॥

दुष्यन्त की प्रमुख विशेषता 'विलास' है—

'मधुरमालपन्, मधुरालापजनितः'।

उसके माधुर्य का निरूपण मातलि के इन शब्दों में देखिये—

'किञ्चिन्निमित्तादपि मनःसन्तापादायुष्मान्मयि विक्लवो दृष्टः'।

आकर्षक व्यक्तित्व—राजा दुष्यन्त अत्यन्त सुन्दर हैं। उसका व्यक्तित्व मनोहर है। षष्ठ अंक में धीवर से अँगूठी मिलने पर जव वह उदास हो जाता है, तो कञ्चुकी उसकी रमणीयता को लक्ष्य करके कहता है—

'अहो! सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्। एवमुत्सुकोऽपि प्रियदर्शनो देवः'।

अर्थात् जो सुन्दर होते हैं उनकी शोभा तो सभी दिशाओं मे सवको अच्छी लगती हैं। देखो, उदास होते हुए भी महाराज कैसे अच्छे लग रहे हैं।

लोकोत्तर रमणीय चरित्र—दुष्यन्त का हृदय अत्यन्त निर्मल है। वह विनम्रता एवं कोमलता की मूर्ति है। षष्ठ अंक में वह अपनी प्रिया के वियोग से भीतर ही भीतर जल रहा है तथा उसके प्रति किया हुआ निष्ठुर व्यवहार उसके हृदय को पीडित कर रहा है, किन्तु सप्तम अंक में हम देखते हैं कि वह स्वर्ग में जाकर इन्द्र की सहायता करता है और राक्षसों पर विजय प्राप्त करता है। उसकी ऋषियों में परम आस्था है, यह मारीच के तपोवन के समीप पहुँचने पर व्यक्त की गयी भावनाओं से स्पष्ट है। उसके पश्चात्ताप से विदग्ध हृदय को शाप का रहस्य जान लेने पर ही शान्ति मिलती है। इस प्रकार उसका चरित्र परम रमणीय एवं उदार है।

आदर्श प्रेमी—दुष्यन्त एक सुसंस्कृत व्यक्ति एवं आदर्श प्रेमी है। वह अपनी रानियों के प्रति मृदु है और शकुन्तला के साथ तो उसका व्यवहार अलौकिक है। शकुन्तला के प्रति उसका आकर्षण केवल कामवासना के कारण नहीं है। उसका लक्ष्य शकुन्तला के साथ अपने व्यक्तिगत जीवन को पूर्णता प्रदान करना है, जिसे आदर्श दाम्पत्य जीवन की वास्तविक कल्पना कहते हैं। वह शकुन्तला के प्रति आकृष्ट हुआ, किन्तु वहुत सोच-विचार करने के वाद—क्योंकि वह कामुक नहीं है। उसका सिद्धांत है कि वह 'परस्त्री की ओर देखना भी पाप समझता है'। अतः वह कहता है—'अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्'। उसके विचारों की सदाशयता एवं संयम को देखकर प्रतिहारी कहता है—

'अहो धम्मा वेक्खिआ भट्टिणो। ईदि संगाम सुहो वणदं देक्खिअं को अण्णे, विआरेदि'।

दुष्यन्त के चरित्र पर आक्षेप का निराकरण—दुष्यन्त के चरित्र के ऊपर वहुत वड़ा आक्षेप उसके द्वारा परिणीता शकुन्तला को न पहचानना एवं त्याग कर देना है। कालिदास ने इस घटना को प्रस्तुत नाटक में सर्वाधिक महत्त्व दिया है। यही वह घटना है जिसके कारण अभिज्ञान की आवश्यकता पड़ी। नाटक के नामकरण की समर्थकता में भी अँगूठी की घटना छिपी है। वैसे दुष्यन्त एक सच्चा प्रेमी है। उसके प्रेम में कहीं कोई त्रुटि नहीं है। ज्यों ही उसे धीवर से अँगूठी प्राप्त होती है, त्यों ही उसे पिछली घटना सव स्मरण हो जाती है और वह विरह दशा को प्राप्त हो जाता है। इसी दुःख के कारण वसन्तोत्सव रोक दिया जाता है। कञ्चुकी राजा दुष्यन्त की दशा का करुण वर्णन इस प्रकार करता है—

'रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिर्न प्रत्यहं सेव्यते
शय्याप्रान्तविवर्तनैर्विगमयत्युन्निद्र एव क्षपाः।
दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचितामन्तःपुरेभ्यो यदा
गोत्रेषु स्खलितन्तदा भवति च व्रीडाविलक्षश्चिरम्' ॥ (अ० शा० ६।५)

अर्थात् तभी से उन्हें वड़ा पछतावा हो रहा है और उनके मन को न तो अव कोई सुन्दर वस्तु ही भाती है और न पहले के समान मन्त्रियों के ही साथ नित्य वैठते हैं। पलंग पर करवट वदलते हुए वे

पूरी रातें जाग-जाग कर बिता देते हैं। जब रनिवास की रानियाँ उनसे हठ करके इस उदासी का कारण पूछती हैं तब भूल से उनके मुँह से शकुन्तला का नाम निकल जाता है और बड़ी देर तक लजाए रह जाते हैं। इतना ही नहीं, सच्चे प्रेमी दुष्यन्त ने उदास हो अपने शरीर की शोभा बढ़ाने वाले सभी गहने उतार डाले हैं। उनकी उसाँसों से नीचे का ओठ लाल हो गया है और चिन्ता के कारण रातभर जागने से उनकी आँखें भी अलसा गई हैं—

'चिन्ताजागरणप्रतान्तनयनस्तेजोगुणादात्मनः'।

राजा दुःखी होकर पछता रहा है। चिन्ता में घूमता हुआ वह कहता है—

'प्रथमं सारङ्गाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि गुप्तम्।
अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं सम्प्रति विबुद्धम्'॥

अर्थात् उस समय जब वह मेरी प्रिया मृगाक्षी शकुन्तला मुझे बार-बार समझा रही थी तब तो मेरी आँखें खुली नहीं, अब केवल पछताने का दुःख सहने के लिए 'यह मेरा अभागा हृदय जागा है'। उसे प्रमद-वन जाना भी अच्छा नहीं लगता, वह न्याय करने के लिए सभाभवन भी नहीं जा पाता। वह बड़ा दुःखी होकर माधवी-कुंज में शकुन्तला का स्मरण करता है। उसे अपने किये पर महान् पछतावा है। इस प्रकार कालिदास ने दुष्यन्त के चरित्र पर लगने वाले कलंक का परिहार कर दिया है। राजा के आत्मालोचन का परिचय इस श्लोक में देखिये—

'इतः प्रत्यादेशात्स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता
स्थिता तिष्ठेत्युच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे।
पुनर्दृष्टिं वाष्पप्रवरकलुषामर्पितवती
मयि क्रूरे यत्तत्सविषमिव शल्यं दहति माम्'॥ (अ० शा० ६।९)

दुष्यन्त विदूषक से कह रहा है कि जिस समय मैंने शकुन्तला को लौटाया उस समय उसकी जो दशा थी, उसे स्मरण करके मैं अपने में नहीं रह पा रहा हूँ। क्योंकि उस समय वह "जब यहाँ से लौटा दी गयी और अपने साथियों के पीछे चलने लगी तब गुरु के समान पूज्य गुरुशिष्यों ने उसे डाँटकर कहा कि तुम यहीं रहो। वह खड़ी हो गई। उस समय आँखों में आँसू भरकर कुछ निष्ठुर की भाँति उसने जो देखा था वह मुझे ऐसी पीडा दे रहा है. जैसे किसी ने विष से बुझे हुए शस्त्र से मेरे शरीर में घाव कर दिया हो"। इसलिए जब सप्तम अंक में दुष्यन्त का शकुन्तला से मिलन होता है, तो वह उसके पैरों पर गिरकर कहता है—

'सुतनु हृदयात् प्रत्यादेषव्यलीकमपैतु ते
किमपि मनसः सम्मोहो मे तदा बलवानभूत्।
प्रबलतमसामेवम्प्रायाः शुभेषु हि वृत्तयः
स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया'॥ (अ० शा० ७।२४)

अर्थात् हे सुन्दरी! मैंने तुम्हारा जो निरादर किया था उसकी कसक तुम अपने मन से निकाल डालो, क्योंकि उस समय न जाने कहाँ से मेरे मन में अज्ञान का अन्धेरा आकर छा गया था। सचमुच जो तमोगुणी होते हैं, वे अच्छे कामों में भी ऐसी भूल कर बैठते हैं, क्योंकि अन्धे के गले में कोई माला भी पहनाये तो वह उसे साँप समझकर झटके से उतार फेंकता है। शकुन्तला जब दुष्यन्त से पूछती है कि इतने दिन बाद उसका स्मरण कैसे आया? वह उत्तर में भावुकतापूर्ण तथ्यों के साथ कहता है—

'मोहान्मया सुतनु पूर्वमुपेक्षितस्ते यो वाष्पबिन्दुरधरं परिबाधमानः।
तं तावदाकुटिलपक्ष्मविलग्नमद्य वाष्पं प्रमृज्य विगतानुशयो भवेयम्'॥ (अ० शा० ७।२५)

अर्थात् 'सुन्दरी! तुम्हारी आँखों के आँसुओं की जो बूँदें उस दिन गालों पर से लुढ़क कर अधरों को चोट पहुँचा रही थीं और जिनका मैंने उस दिन अनजाने में निरादर कर दिया था वे आज भी तुम्हारी टेढ़ी वरौनियों में उलझी हुयी दिखलायी दे रही हैं। उन्हें जव तक मैं अपने हाथ से पोंछ न लूँगा तव तक मन को शान्ति नहीं मिलेगी'।

चतुर चित्रकार—दुष्यन्त को चित्रकला का विशेष परिज्ञान है। वह शकुन्तला का इतना सुन्दर चित्र वनाता है कि सानुमती कहती है— 'अरे! राजर्षि तो वड़े चतुर चित्रकार हैं। चित्र ऐसा जान पड़ता है, मानो सखी शकुन्तला समक्ष ही खड़ी हो'। किन्तु राजा को इससे भी परितोष कहाँ, वह कहता है—

'यद्यत्साधु न चित्रे स्याक्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम्'॥ (अ० शा० ६।१४)

'यद्यपि मैंने इस चित्र के सव दोष ठीक कर दिये हैं फिर भी इन रेखाओं में देवी की सुन्दरता वहुत थोड़ी-सी ही खिंच पाई है'। कलाकार दुष्यन्त की दृष्टि में चित्र में अभी और भी त्रुटियाँ हैं, सुनिये—

'कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणां गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्'॥ (अ० शा० ६।१७)

राजा—'सुनो? अभी मालिनी नदी वनानी है जिसकी रेती में हंस के जोड़े वैठे हों। उनके दोनों ओर हिमालय के वह तलहटी दिखानी है जहाँ हरिण वैठे हुए हों। मैं एक ऐसा पेड भी वनाना चाहता हूँ, जिस पर वल्कल के वस्त्र टँगे हुए हों और जिसके नीचे एक हरिणी अपनी वाँयीं आँख को काले हरिण के सींग से रगडकर खजुला रही हो'। उपर्युक्त श्लोक में दुष्यन्त की सूक्ष्म कलाकार दृष्टि का, उच्चकोटि के चित्रकला परिज्ञान का स्पष्ट परिचय है।

सर्वश्रेष्ठ नायक—मिराशीजी के अनुसार—'कालिदास के सव नायकों में दुष्यन्त श्रेष्ठ है। वह आकृति से भव्य, मन से कोमल है। गम्भीर आकृति और मधुर भाषण से वह दूसरों के मन को एकदम आकृष्ट कर लेता है। पुरूरवा के समान वह भी पराक्रमी है। यज्ञ की रक्षा करने के लिए उसको धनुष पर वाण लगाने की भी जरूरत नहीं पडती, उसकी प्रत्यंचा की टंकार से ही सव विघ्न दूर हो जाते हैं। अतः विदूषक के साथ सव सैनिकों को भेजकर वह राक्षसों के निवारण के लिए अकेला आश्रम में रहता है। राक्षसों से युद्ध करने के लिए स्वयं इन्द्र भी उसे स्वर्ग में वुलाते हैं और विजय के अनन्तर पुत्र को स्पर्द्धा करने योग्य अर्धासन देकर और अपनी मंदारमाला उसके गले में डालकर उसका सम्मान करता है। राज्य में उसका विलक्षण प्रभाव है। उसकी प्रजा में अत्यंत निकृष्ट लोग भी कुमार्गगामी नहीं हैं, ऐसा शार्ङ्गरव कहता है'।

शकुन्तला की चारित्रिक विशेषता

शकुन्तला— प्रस्तुत नाटक की नायिका शकुन्तला है। वह मूलतः विश्वामित्र और मेनका अप्सरा की औरस पुत्री है। इसका लालन-पालन सव महर्षि कण्व के आश्रम में हुआ। इसके प्रति कण्व का औरस निर्विशेष स्नेह था। उसका उल्लेख प्रस्तुत नाटक के तृतीय अंक में इस प्रकार है—'सा खलु भगवतः कण्वस्य कुलपतेरुच्छ्वसितम्' अर्थात् यह शकुन्तला महर्षि कण्व की साँसों के समान है। अव इसके कतिपय नायिकोचित गुणों का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है—

अलौकिक सौन्दर्य—महर्षि विश्वामित्र का तेज और मेनका का निरतिशय लावण्य प्राप्त होने के कारण वह अत्यन्त सुन्दरी है। अभी-अभी यौवनोद्गम होने के कारण उसमें और भी ललित भावों का समागम हो चुका था, इसी अवसर पर राजा पेड़ों को सींचती हुयी सखियों के वीच इसको देखता है, सहसा उसके

मुख से निकलता है— 'अहो! मधुरमासां दर्शनम्', तथा 'शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुः'। जब राजा को यह ज्ञात होता है कि यह अप्सरा की कन्या है, तब वह पुनः कहता है—

'मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य सम्भवः। न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्' ॥(अ०शा०१।२८)

अतः दुष्यन्त के रनिवास में ऐसी युवती हो भी कहाँ सकती है, इस बात का समाधान मिल जाता है। आगे चलकर दुष्यन्त ऐसी रमणी की प्राप्ति को अखण्ड पुण्यों का फल मानता है, जो पुण्यवान् को ही सुलभ हो सकता है। (देखें—अभि० २।११) चीर-वल्कल को धारण की हुयी शकुन्तला के बारे में सोचता हुआ राजा कहता है कि इस वल्कल को धारण करने से भी इसकी शोभा घट नहीं रही है, अपितु बढ़ ही रही है। देखिए—

'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्' ॥ (अ० शा०१।२०)

इसके अतिरिक्त एक और पद्य इसकी अंगसुषमापरिचायक प्रस्तुत किया जा रहा है। इसमें प्रियंवदा ने शकुन्तला की एक विकसित लता से तुलना करते हुए कहा है—

'अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्'॥ (अ० शा० १।२२)

इस प्रकार के अन्य अनेक उद्धरण प्रस्तुत नाटक में विद्यमान हैं, जिनसे इसके लोकोत्तर सौन्दर्य की सूचना मिलती है।

लज्जाशीलता—लज्जा, शील, विनय ये नारियों के प्रमुख अलंकार माने गये हैं। इन सभी का सद्भाव शकुन्तला में है। दुष्यन्त को देखने के पूर्व शकुन्तला में किसी प्रकार की भी कामभावना जागृत नहीं थी, किन्तु राजा को देखकर उसमें काम-विकार उत्पन्न होते हैं। वह मन में सोचती है कि मेरे मन में यह तपोवन-विरोधी भाव कैसे उत्पन्न हो गया? प्रारम्भ में वह अपनी सखियों से भी इस विषय को छिपाती रही, किन्तु जब उसकी मानसिक स्थिति के साथ ही शारीरिक स्थिति भी गड़बड़ा जाती है, तब भी वह अपने पिता की अनुमति के बिना राजा के प्रणयानुरोध करने पर भी आत्मसमर्पण करना नहीं चाहती, यह उसकी लज्जाशीलता ही है। अतएव वह कहती है—"पौरव! रक्ष विनयम्, मदनसन्तप्तापि न खल्वात्मनः प्रभवामि"। आत्मसमर्पण के बाद भी वह लज्जावश इस समाचार को किसी आश्रमवासी को नहीं बतलाती। तीर्थयात्रा से लौटे हुए कण्व को यह समाचार आकाशवाणी द्वारा ज्ञात हुआ। जब राजा उसको स्वीकार नहीं करता उस समय भी वह राजा को परिमित शब्दों से स्मरण दिलाती है। सातवें अंक में दुष्यन्त से भेंट होने पर उसको अत्यन्त आनन्द की अनुभूति होती है, तथापि वह कहती है—'मैं दुष्यन्त के साथ गुरुजनों के समीप जाने में लजा रही हूँ'।

अनन्य पतिनिष्ठा—राजा के दर्शन से पूर्व शकुन्तला ब्रह्मचारिणी मुग्धानायिका के रूप में थी, उसके दर्शन मात्र से शकुन्तला के हृदय में काम-विकार उत्पन्न हुआ, उसने आत्मसमर्पण कर उससे गान्धर्व विवाह कर लिया। दुष्यन्त सहवास काल में उसको जो आश्वासन दे गया था, शाप के कारण उत्पन्न विस्मरण से वह कुछ भी नहीं कर पाया। इधर शकुंतला रात-दिन दुष्यन्त के विरह में कृश होती जा रही थी। इस अवसर पर उसकी सखी कहती है—'भर्तृगतया चिन्तयात्मानमपि नैषा विभावयति, किं पुनरागन्तुकम्'। इस प्रकार थी पति-चरणों में शकुन्तला की तत्परता। पाँचवें अंक में अपना प्रत्याख्यान सुनकर मृत्यु के सम्बन्ध में तो वह सोचती है, किन्तु दूसरे पति को वरण करने की बात नहीं सोचती। शकुन्तला की अनन्य पतिनिष्ठा का ही प्रभाव है कि सातवें अंक में शापमुक्त होने पर दुष्यन्त शकुन्तला की प्राप्ति के लिए आतुर हो उठता है। उसकी असहाय दशा देखकर कष्ट का अनुभव करता है। अन्ततोगत्वा अपने द्वारा

किये गये प्रत्याख्यान के लिए क्षमायाचना करता है। इस अवसर पर सरलहृदय शकुन्तला दुष्यन्त का दोष न मानकर अपने ही भाग्य को इस प्रकार दोषी वतला रही है—'नूनं मे सुचरितप्रतिवन्धकं पुराकृतं तेषु दिवसेषु परिणामाभिमुखमासीद् येन सानुक्रोशोऽप्यार्यपुत्रो मयि विरसः संवृत्तः'।

कलाचातुर्य—वनवासिनी शकुन्तला गृहकार्यों में कुशल है। वृक्षों को सींचना, पशु-पक्षियों से स्नेह करना एवम् अतिथि-सत्कार आदि कलाओं में वह निपुण है। उसी को आश्रम का भार देकर कण्व तीर्थयात्रा को गये थे। यह विदुषी तथा काव्य-रचनाचतुर है। वह अपनी विरहवेदना को आर्यावृत्त में लिखकर दुष्यन्त के पास भेजती है। वह पद्य इस प्रकार है—

'तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवापि रात्रावपि ।
निर्घृण! तपति वलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथान्यङ्गानि' ॥ (अ० शा०३।१९)

उक्त पद्य आर्यभेद (उद्गाथावृत्त) में लिखा गया है। इसमें वह अपने मनोगत विकारों को कितनी कुशलता के साथ प्रस्तुत करती है, जिससे उसकी कला-प्रवीणता स्पष्ट विदित होती है।

प्रकृतिप्रिया शकुन्तला—महर्षि कण्व की पुत्री को प्रकृति से अत्यन्त स्नेह है। यह सुकोमल होती हुयी भी पेडों को सींचना अपना धर्म समझती है। अलंकारप्रिया होने पर भी वृक्षों के किसलयों को नहीं तोड़ती, लता तथा वृक्षों में पहली वार फूल खिलने पर वह उत्सव मनाती है। ये सभी लक्षण उसके प्रकृति-स्नेह को प्रकट करते हैं। देखें—

'पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्' ॥ (अ० शा०४।११)

वास्तव मे शकुन्तला का पालन-पोषण जिस प्राकृतिक वातावरण में हुआ है, उससे उसका स्नेह होना अत्यन्त स्वाभाविक ही है। आश्रम के वृक्षो तथा पशु-पक्षियों आदि के प्रति इसका सहोदरों के समान स्नेह है। वनज्योत्स्ना को वह भगिनी कहती है और तदनुरूप स्नेह भी करती है। स्वयं पतिगृह जाते समय उससे आलिङ्गन करने को कहती है। कण्व भी कहते हैं—आम्रवृक्ष से सम्वन्ध स्थापित कर लेने वाली ज्योत्स्ना तथा दुष्यन्त के साथ विवाह कर लेने वाली तुम से मैं निश्चिन्त हो गया हूँ। जिस प्रकार शकुन्तला वृक्षों तथा अन्य पशु-पक्षियो से प्रेम करती है, उसी प्रकार वृक्ष, पक्षी भी उससे प्रेम करते थे। इस प्रकार कालिदास द्वारा चित्रित यह 'अभिज्ञानशाकुन्तल' विधाता की 'अद्वितीय रचना' है।

छल-कपट से रहित—जव शकुन्तला महर्षि कण्व के आश्रम से विदा होकर दुष्यन्त के दरवार में जाती है, किन्तु वह अँगूठी भी तो शक्रघाट पर शचीतीर्थ में गिर गई है। राजा उसे ताना देते हुए कहता है कि 'स्त्रियों में छल-कपट का सहज निवास होता है, वे अत्यन्त प्रत्युत्पन्न मतिवाली होती हैं। राजा दुष्यन्त शकुन्तला द्वारा स्मरण दिलाये जाने वाले प्रसंगों को स्त्री-चरित्र कहकर टालता है, तव गौतमी निसर्गकन्या शकुन्तला के लिए कहती है—'तपोवन में पाली गई इस शकुन्तला को छल क्या चीज है, यह विलकुल ही नहीं मालूम'।

प्रणय का स्वाभाविक विकास—'शकुन्तला निसर्गकन्या' है। उसमें प्राकृतिक प्रणय-शक्ति का स्वाभाविक विकास होता है। यौवनोद्गम से वह कामभावनाओं से परिचित हो जाती है। इस प्राकृतिक सत्य का उद्घाटन कवि ने वड़ी कुशलता से किया है। कवि प्रथम अंक में ही दुष्यन्त और शकुन्तला के परस्पर आकर्षण का वर्णन करता है। प्रथम अंक की समाप्ति के पूर्व ही शकुंतला भी अपनी कामभावना (पुरुष के प्रति आकर्षण) को व्यक्त कर देती है। द्वितीय अंक में तो 'काम' की पूर्णरूप से प्रतिष्ठा हुयी है। राजा शकुंतला के रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा कर उसके प्रति अपना आकर्षण व्यक्त करता है।

अन्तर्मन की सहजता—कालिदास ने शकुन्तला के अन्तर्मन का तथा आन्तरिक सौन्दर्य का अत्यन्त मनोहारी चित्रण किया है। दुष्यन्त के प्रथम दर्शन ने उसको मुग्ध कर लिया, किन्तु वह इस अनुभूति को व्यक्त नहीं करती। शकुन्तला के हृदय में उठने वाली प्रेम की शीलयुक्त अनुभूति का अत्यन्त मनोहारी वर्णन निम्नलिखित पद्य में कवि द्वारा इस प्रकार किया गया है—

'दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यंकाण्डे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा ।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्' ॥ (अ०शा०२।१२)

अर्थात् 'शकुन्तला शील से इतनी दवी हुयी थी कि न तो अपने को वह छिपा ही पा रही थी और न खुलकर प्रकट ही कर पा रही थी। राजा दुष्यन्त से मिलने के पश्चात् जव शकुन्तला जाने लगी, उस समय शिष्टता की रक्षा करते हुए भी उसने अपना प्रेम जता ही दिया, क्योंकि कुछ दूर चलने पर वह सुन्दरी सहसा यह कहकर रुक गयी 'अरे मेरे पाँव में डाभ (कुश) का काँटा चुभ गया है'। यद्यपि उसका चीर-वल्कल कहीं उलझा नहीं था, फिर भी धीरे-धीरे वल्कल सुलझाने का वहाना करके वह मेरी ओर देखती हुयी कुछ देर खड़ी रही''। शकुन्तला मुग्धा नायिका है। दुष्यन्त कहता है— 'मुग्धासु तपस्विकन्यासु'। वह प्रगल्भा नायिका नहीं है, क्योंकि—

'निसर्गादिवाप्रगल्भस्तपस्विकन्याजनः'।

तृतीय अंक में शकुन्तला के लज्जापूर्ण आचरण एवं संकोचशीलता से उसका मुग्धत्व मुखरित हो उठा है। वह स्वयं अपने लज्जालु स्वभाव के लिए दुःखी है। वह कहती है—

'हिअअ! पढमं येव सुहोभणदे मणारेहे कादरशावं णमुंचसि'।

उसकी मुग्धावृत्ति को राजा दुष्यन्त इन शब्दों में व्यक्त करता है—

'अपरक्षितकोमलस्य तावत्कुसुमस्येव नवस्य षट्पदेन ।
अधरस्य पिपासता मया ते सदयं सुन्दरि! गृह्यते रसोऽयम्' ॥

स्वाभिमानिनी प्रेमिका—शकुन्तला स्वाभिमानिनी प्रेमिका है। तृतीय अंक में जव प्रियंवदा और अनसूया उसकी कामपीडा की अभिवृद्धि लक्ष्य करके मनोरथ सम्पादन हेतु दुष्यन्त को पत्र लिखने की प्रेरणा देती हैं, उस समय वह इस शंका से पत्र नहीं लिखना चाहती कि कहीं दुष्यन्त उसके प्रेम का तिरस्कार न कर दे। तव सखियाँ ढाढस वँधाते हुए कहती हैं—

'अयि आत्मगुणावमानिनि! शरीरनिर्वापयित्रीं शारदीं ज्योत्स्नां पटान्तेन वारयति'।

अर्थात् 'अपने रूप-लावण्य आदि गुणों को तुच्छ समझने वाली शकुन्तला! कौन ऐसा होगा जो शरीर की तपन को वुझाने वाली शारदीय ज्योत्स्ना को आँचल के छोर से अपने पास आने से रोक दे'। यहाँ पर अप्रस्तुत अलंकार के चमत्कार से कवि ने स्वाभिमानिनी नायिका शकुन्तला को शारदीय ज्योत्स्ना कहकर उसके अन्तर्मन को शीतल करने वाले रूप-यौवन की प्रशंसा की है।

सती-साध्वी नारी—शकुन्तला सती-साध्वी नारी है। वह विवाह के पश्चात् सदैव पति के चिन्तन में मग्न रहती है। उसे दुर्वासा ऋषि के आगमन का भी ज्ञान नहीं है। राजा के द्वारा परित्यक्त होने पर भी वह स्वयं को दोष देती है, राजा को अपराधी नहीं ठहराती— 'नूनं मे सुखप्रतिवन्धकम्'। वह वियुक्ता विरहणी के वेश में पति के चिन्तन में लीन है, उसे अपने मण्डन का ध्यान नहीं। वह तपस्विनी की भाँति अपने चारित्र्य की रक्षा में संलग्न है—

'वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः ।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घविरहव्रतं विभर्ति' ॥ (अ० शा०७।२१)

कालिदास ने उसे एकवेणीधरा कहा है। यह पद वाल्मीकि रामायण से लिया गया है। रामायण में **'एकवेणीधरा'** शब्द एक पद्य में विरहविधुरा के लिए इस प्रकार प्रयुक्त हुआ है—

'एकवेणीधरा क्षीणा भर्तृचिन्तापरायणा ।
अधःशय्या विवर्णाङ्गी पद्मिनीव हिमात्यये' ॥

डॉ० कीथ ने कालिदास द्वारा शकुन्तला के प्रेम-व्यवहार के विकास की स्वाभाविकता का निरूपण करते हुए लिखा है—''शकुन्तला का उदीयमान अनुराग पूर्ण कौशल से चित्रित हुआ है। उसके विवाह और उसके परिणाम का निर्देश मानसिक स्पर्श के साथ किया गया है। उसमें राजा के न्यायविरुद्ध आचरण का स्पष्टीकरण मिलता है, उसका कारण शाप है। उस शाप के उत्तरदायित्व से शकुन्तला भी मुक्त नहीं है, क्योंकि वह अपने प्रेम के कारण अभ्यागत तथा ऋषि के अतिथि-सत्कार और सम्मान को भूल जाती है। राजा के समक्ष वह कोई धमकी नहीं देती और मर्यादित व्यवहार करती है। राजा के द्वारा प्रेम-सम्बन्ध के प्रत्याख्यान से वह स्तम्भित हो गयी है''। वह भारतीय शीलवती साध्वी नारी है। सप्तम अंक में जब दुष्यन्त से उसका मिलन होता है और राजा उसके चरणों पर गिरकर पश्चात्ताप के आँसू बहाते हुए अपने अपराध की क्षमा-याचना करता है, तो वह कहती है—'आर्यपुत्र! उन दिनों कोई पिछले जन्म के पाप का फल रहा होगा कि इतने दयालु आर्यपुत्र भी मुझ पर इतने कठोर हो गये'।

नायिका के रूप में—शकुन्तला के चरित्र में वे दसों गुण विद्यमान हैं, जो एक नायिका में होने चाहिए—

'भावो हावश्च हेला च त्रयस्तत्र शरीरजाः ।
शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यञ्च प्रगल्भता ॥
औदार्य धैर्यमित्येते सप्त भावा अयत्नजाः' ।

शकुन्तला के भाव रूप का वर्णन राजा दुष्यन्त विदूषक से इस प्रकार कहते हैं—

'मिथः प्रस्थाने पुनः शालीनतयापि नवाविष्कृतीभावस्तत्रभवत्या। तथाहि—
दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा ।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्' ॥

हाव के द्वारा नेत्र एव भृकुटियो मे विकार उत्पन्न होता है। शकुन्तला के हाव का वर्णन नाटक के *तृतीय अंक मे अनसूया इस प्रकार प्रकट करती है—*

'जादिसी इदिहासणिवधेषु कामअमाणाणं अवत्था सुणीअदि । तादिसिं पेक्खामि। कहेहि किंणिमित्तो दे संदावो । विआरक्खु परमत्थदो अजाणिअ अणारंभो पडिआरस्य' ।

शकुन्तला के प्रेम की हेला स्थिति का स्पष्ट संकेत तृतीय अंक के उत्तरार्ध में इस प्रकार किया है—दशरूपककार धनञ्जय ने नायिका के शोभा नामक गुण के उदाहरण स्वरूप शकुन्तला के निम्नलिखित *श्लोक को उद्धृत किया है—*

'अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहैरनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः' ॥ (अ०शा०१।१०)

नायिका के कान्ति गुण की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

'मन्मथावर्पितच्छाया सैव कान्तिरिति स्मृता' ॥

और शकुन्तला के कान्तिगुण का संकेत राजा दुष्यन्त के इस (स्वगत) कथन में स्पष्ट है। प्रियंवदा के इस कथन में भी शकुन्तला के कान्तिगुण का संकेत मिलता है—

'केवलं लावणवई छाआतुमंण मुंचदि' ।

उसका माधुर्य तो पहला ही गुण है, जो राजा दुष्यन्त की दृष्टि को आकर्षित करता है—

'अहो मधुरमासां दर्शनम्' ।

निष्कर्ष—श्रीद्विजेन्द्रलाल राय ने शकुन्तला के चरित्र में उतार-चढ़ाव को विशेष महत्त्व देते हुए लिखा है—'शकुन्तला तपस्विनी होकर भी गृहस्थ है, ऋषिकन्या होकर भी प्रेमिका है, शान्ति की गोद में लालन-पालन होने पर भी उसकी मति चपल है। उसको लज्जा नहीं है, संयम नहीं है, धैर्य नहीं है। उसका नाम सीता, सावित्री, दमयन्ती और शैव्या के साथ नहीं लिया जा सकता, तो फिर किस गुण के कारण वह इस जगत्प्रसिद्ध नाटक की नायिका हुई? जिस कारण से दुष्यन्त इस नाटक के नायक हुए हैं, उसी कारण उन्हीं के अनुरूप गुणों से शकुन्तला भी इस नाटक की नायिका हुयी है। शकुन्तला के चरित्र का माहात्म्य (दुष्यन्त की तरह) पतन और उत्थान में है'।

श्रीरवीन्द्रनाथ टैगोर ने शकुन्तला के चरित्र को उद्घाटित करते हुए कहा है कि—'शकुन्तला की *सरलता अपराध में, दुःख में, अभिज्ञता में, धैर्य और क्षमा में परिपक्व है, गम्भीर है और स्थायी है'*। गेटे की समालोचना का अनुकरण करके फिर भी हम कह सकते हैं कि 'शकुन्तला के आरम्भिक तरुण सौन्दर्य ने, मङ्गलमय परम परिणति में सफलता लाभ करके मर्त्यलोक को स्वर्ग के साथ सम्मिलित कर दिया है'।

महाकवि कालिदास की रस-योजना

कविताकामिनी-कान्त कालिदास के काव्य-नाटकों में आत्मा स्थानीय रस, अलंकार एवं ध्वनि के विशिष्ट प्रयोग देखे जाते हैं, जो अन्यत्र एक साथ सुलभ नहीं होते। **'वीरशृङ्गारयोरेकः'** प्रतिज्ञा के अनुसार *अभिज्ञानशाकुन्तल-नाटक का प्रधान रस 'सम्भोग-शृङ्गार' है। यद्यपि* तृतीय से षष्ठ अंक तक इस नाटक में विप्रलम्भ-शृङ्गार के भी दर्शन होते हैं, इसकी तुलना में प्रथम अंक से तृतीय अंक तथा अन्तिम सातवें अंक में पुनर्मिलन के रूप में सम्भोग-शृङ्गार ही छाया हुआ है। इसके अतिरिक्त वीर, भयानक, अद्‌भुत, शान्त रसों का भी सहायक रस के रूप में यथावसर चित्रण किया गया है।

सम्भोग-शृङ्गार—प्रथम अंक में दुष्यन्त जब सखियों के साथ आश्रम-वृक्षों को सींचती हुयी शकुन्तला को देखता है तो सहसा उसके मुख से निकलता है—'मधुरम् आसां दर्शनम्'। शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त का यह प्रथम चरण अनुभाव का प्रतीक है, इसके आगे वह शकुन्तला की तुलना अन्तःपुर की सर्वसाधन-सम्पन्न रानियों से करता हुआ कहता है—'शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुः'। इस प्रकार उसका मनोभाव अपनी रानियों से अधिक मात्रा में शकुन्तला के प्रति आकृष्ट दिखलायी देता है। पुनः शकुन्तला के अंग-अंग की मनोहरता को देखकर वह कहता है—'इदं किलाव्याजमनोहरं वपुः' और 'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनाऽपि रम्यम्'। अर्थात् इसको किसी प्रकार का भी सौन्दर्य-साधन उपलब्ध न होने पर भी यह रमणीय है। इतना सब होने पर भी दुष्यन्त शकुन्तला को ब्राह्मणकन्या समझकर आशंकित था, किन्तु जब उसकी अन्तःकरण-प्रवृत्तियों ने उसे आश्वस्त कर दिया तब वह शकुन्तला को 'तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्' कहता है। अर्थात् यह तो सदैव धारणीय 'रत्न' (स्पर्श से चित्त को आह्लादित करने वाला) है। इस प्रकार प्रथम अंक से लेकर तृतीय अंक तक की कथावस्तु सम्भोगशृङ्गार-प्रधान है, क्योंकि वह शकुन्तला की सखियों को इस प्रकार कहता है—'द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे' 'सखी च युवयोरियम्'। इसके आगे वह एकान्त में शकुन्तला को गान्धर्व विवाह के लिए प्रेरित करता है। सखियों के चले जाने से घबडाती हुयी शकुन्तला को आश्वस्त करने की दृष्टि से दुष्यन्त कहता है कि—'संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ'। इस प्रकार सम्भोग-शृङ्गार की उक्त स्थलों से पुष्टि हुयी है। *अन्तिम (सातवें) अंक में विगतशाप-प्रभाववाला दुष्यन्त अनाथ शकुन्तला की स्थिति पर* खेद व्यक्त करता है—'वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः'। तदनन्तर दुष्यन्त शकुन्तला के उपेक्षारूपी अपने अपराध की शकुन्तला से क्षमा-प्रार्थना करता है और कहता है कि—**'उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणीयोगम्'**। *अर्थात् चन्द्रमा और रोहिणी के बीच में जैसे राहु आक्रमण कर दोनों का विछोह* करा देता है और ग्रहण के हटते ही वे पुनः एक हो जाते हैं, वही स्थिति दुर्वासा के शाप की समाप्ति पर हम दोनों की हो गयी है।

विप्रलम्भ-शृङ्गार—शृङ्गार-रस के मूलतः दो भेद होते हैं—१. सम्भोग और २. विप्रलम्भ। कालिदास का 'मेघदूत' खण्डकाव्य सम्पूर्ण विप्रलम्भ-शृङ्गार का निदर्शन है, वास्तव में विप्रलम्भ (विछोह) के बिना सम्भोग-शृङ्गार की पुष्टि नहीं होती। यथा—'न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमर्हति'। वास्तव में तृतीय अंक में राजा जब शकुन्तला को शीघ्र ही अपनी राजधानी में बुलाने का वचन देकर गया, तभी से विप्रलम्भ का प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार चतुर्थ, पंचम और षष्ठ अंक सर्वथा विप्रलम्भ की परिपोषक सामग्री से भरपूर हैं। इस बीच में अन्य रसों का वर्णन इसके पोषक रसों के रूप में संयोजित हैं। सम्भोग (सहवास) के अतिरिक्त शकुन्तला के अन्य व्यवहार विप्रलम्भ-शृङ्गार को उद्दीप्त करने में सहायक हुए हैं। कतिपय स्थल यहाँ उद्‌धृत किये जा रहे हैं। यथा—'चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा' तथा 'न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः'। वह सोचता है 'न जाने' यह किसकी उपभोग्या होगी। 'न विवृतो मदनो

न च संवृतः' इन उद्धरणों के अतिरिक्त शकुन्तला की मानसिक स्थिति का वर्णन करने वाले इस पद्यांश को ध्यान से देखें, वह दुष्यन्त को छोड़कर जाना नहीं चाह रही है, अतएव—'तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा' का भाव सौकुमार्य देखते ही बनता है। 'तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दोः', 'अनुदिवसं परिहीयसेऽङ्गैः' 'स्तनन्यस्तोशीरं' और शकुन्तला के मदनलेख आदि शकुन्तलागत विप्रलम्भ के सूचक अंश हैं। वास्तव में विप्रलम्भ की चासनी में पगा हुआ शृङ्गार रस आस्वादनीय एवं चिर-स्थिर होता है।

विप्रलम्भ का अन्य स्वरूप— यद्यपि आचार्य भरत ने 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' सिद्धान्त की स्थापना करके शृङ्गार आदि रसों का ही सन्निवेश अभिनेय रसों में किया गया है, तथापि 'मम्मट' की दृष्टि से 'रतिर्देवादिविषया' इस सूत्र में आदि पद का सहारा लेकर परवर्ती आचार्यों ने भक्ति, वात्सल्य आदि रसों को भी मान्यता दी है। इनके प्रमुख आचार्य क्रमशः तुलसी और सूर को माना जाता है।

अभिज्ञानशाकुन्तल के चतुर्थ अंक में शकुन्तला के प्रस्थान-प्रसंग को लेकर कुछ विद्वानों ने करुण रस की सत्ता को स्वीकारा है, क्योंकि आचार्य भवभूति के मत से प्रधान अथवा मूलभूत रस 'करुण' ही है और उसी के भेदोपभेद अन्य रस हैं। इस धारणा के अनुसार जो भी विद्वानों को रुचिकर प्रतीत हो किन्तु इस अंक की समस्त कथावस्तु 'वात्सल्यविप्रलम्भ' का चित्रण कर रही है। इस भावना की पुष्टि के लिए कतिपय प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे हैं। करुण रस का स्थायी भाव 'शोक' है, उसके विपरीत यहाँ शकुन्तला की विदायी के लिए प्रस्थान कौतुक की तैयारियाँ की जा रही हैं, इसके लिए कालिदास ने 'मंगलसमालम्भन' शब्द का प्रयोग किया है। तदनन्तर शकुन्तला को दिये जाने वाले आशीर्वाद इस प्रकार हैं—वीरप्रसविनी भव, भर्तुर्बहुमता भव आदि। रोती हुयी शकुन्तला को इस प्रकार रोका जा रहा है—'न तु उचितं मङ्गलकाले रोदितुम्'। इस रोने मात्र से करुण रस की पुष्टि मानना उचित प्रतीत नहीं होता। देखिए—'अस्रैस्तावन्मुहुरुपचिते दृष्टिरालुप्यते मे'। (मेघदूत) विरही यक्ष अपनी प्रियतमा का चित्र बनाकर उससे आलिंगन करना चाहता था, किन्तु उसके आँसू चित्र को पहले ही धो दे रहे हैं। इस प्रकार रस-विवेचनपटु विद्वान् विचार करें कि वास्तव में यहाँ 'वत्सलता का विप्रलम्भ' है या करुण रस?

महर्षि कण्व इस तथ्य से परिचित हैं कि 'अर्थो हि कन्या परकीय एव' अर्थात् कन्या पिता का धन नहीं अपितु वह पति का धन है। मीमांसाशास्त्र के अनुसार भी कन्यादान के समय पढ़े जाने वाले संकल्प में 'ॐ तत्सत्' तो कहा जाता है, किन्तु 'न मम' नहीं कहा जाता, क्योंकि कन्या के साथ माता-पिता आदि का ममत्व सम्बन्ध तो रहता ही है, अतः ऐसे में 'शोक' नामक स्थायी भाव को अवसर नहीं मिलता, इसलिए सचमुच यह 'वत्सलता का विप्रलम्भ' ही है और यह भी कन्या के प्रथम वियोग के समय अधिक, शेष अवसरों पर क्रमशः कम होता ही जाता है। जब शकुन्तला महर्षि कंण्व से पूछती है कि मैं इस आश्रम में पुनः कब आऊँगी? उसके उत्तर में मुनि कहते हैं कि—'शान्त्यै करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्'। अर्थात् वृद्धावस्था में गृह-प्रपंचों को छोड़कर परमपद की प्राप्ति के लिए पुनः इस आश्रम में अपने पति के साथ आकर निवास करोगी।

हास्य रस—मर्मस्पर्शी हास्य की सभी क्षेत्रों में निन्दा होती है। क्योंकि वह आनन्ददायक न होकर कष्टकारक होता है। प्रसन्न एवं परिष्कृत हास्य ही आनन्ददायक होता है, महाकवि ने इस क्षेत्र में भी यश प्राप्त किया है। एक सबसे बड़ी बात कवि ने यह बतलायी है कि हास-परिहास के अवसरों पर कही गयी बातें प्रामाणिक नहीं होतीं। क्योंकि राजा विदूषक को जब अपना प्रतिनिधि बनाकर घर भेज रहा है, तब वह कहता है—'परिहासविजल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यतां वचः'। अस्तु। अब हम उक्त नाटक के उन स्थलों को प्रस्तुत कर रहे हैं, जो हास्य रस के उद्भावक एवम् परिपोषक हैं—

राजा दुष्यन्त की निरन्तर मृगया-व्यसनिता से विदूषक ऊब गया है, उसको वन में राजधानी का सुख नहीं मिल रहा है। वह सोच ही रहा था कि राजा कब लौट जायेगा, तब तक उसको समाचार मिलता

है कि दुष्यन्त की आसक्ति आश्रम में रहने वाली शकुन्तला नामक कन्या पर हो गयी है, तब वह कहता है— 'गण्डस्योपरि पिटिकः संवृत्तः'। अर्थात् घेघा (गलगण्ड) के ऊपर फोडा हो गया है। अपने दुर्भाग्य की सूचना वह मुहावरेदार भाषा में देता है। तब वह दूसरा उपाय लगाता है और कहता है कि 'भवतु अङ्गभङ्गविकल इव भूत्वा स्थास्यामि'। अच्छा, अब मैं अंग-भंग हुए पुरुष के जैसा बनकर रहूँगा। यह भी हास्य का अच्छा आलम्बन है। आगे चलकर जब राजा विदूषक की बातों पर ध्यान नहीं देता, तब वह कहता है—'अरण्ये मया रुदितमासीत्' अर्थात् मेरा कहा-सुना सब बेकार हो गया।

जब राजा उसकी स्थिति को देखकर घर को भेजता है, तब वह कहता है आप मेरे एक कार्य में सहायक हों, तब वह तत्काल पूछता है—'किं मोदकखादिकायाम्'। क्या लड्डू खाने में आपकी सहायता करनी है? आगे चलकर जब राजा शकुन्तला के सौन्दर्य की प्रशंसा विदूषक से करता है, तब वह कहता है—'यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो भवेत्'। अर्थात् खजूर खाकर ऊबे हुए व्यक्ति की इच्छा जैसे इमली चूसने के प्रति होती है. आपका विचार भी ठीक ऐसा ही है। इस नाटक में अन्य अनेक इस प्रकार के स्थल हैं, जो सुतरां हास्य रस के परिपोषक हैं।

वीर रस—यद्यपि नाटक की परिभाषा में 'शृङ्गार-वीरयोरेकः' अर्थात् शृङ्गार या वीर में से एक रस की प्रधानता होनी चाहिए। तदनुसार प्रस्तुत नाटक का प्रधान रस शृङ्गार है, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है, तथापि इसमें वीर रस का प्रयोग भी कवि ने अत्यन्त कुशलता के साथ किया है। द्वितीय अंक में दुष्यन्त का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है— आश्रमवासी केवल मुनि हैं किन्तु यह दुष्यन्त राजशब्दपूर्वक मुनि हैं। देखें—'अध्याक्रान्ता....................राजपूर्वः'। (१२।१५) कालिदास ने सजीव वीर रस के रूप में राजा दुष्यन्त का वर्णन इस प्रकार किया है—

'नैतच्चित्रं यदयमुदधिश्यामसीमां धरित्री-
मेकः कृत्स्नां नगरपरिघप्रांशुबाहुर्भुनक्ति।
आशंसन्ते समितिषु सुराः सक्तवैरा हि दैत्यै-
रस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरुहूते च वज्रे'॥ (अ० शा०२।१६)

उक्त पद में 'वीरभोग्या वसुन्धरा' के रूप में इसको वीर कहने के साथ ही साथ जो इन्द्र के वज्र का पराक्रम है, वही दुष्यन्त के धनुष का है। ऐसा कहकर उसको इन्द्रोपम वीर कहा गया है। इसके आगे तृतीय अंक में इसकी वीरता को और भी अधिक महत्त्व दिया गया है— 'का कथा बाणसन्धाने..... हुङ्कारेणैव धनुषः स हि विघ्नान् व्यपोहति'। (३।१)। अर्थात् राजा दुष्यन्त धनुष की टंकार मात्र से विघ्नों तथा विघ्नकारक दुष्टों का विनाश कर डालता है। इससे राजा की ओजस्विता स्पष्ट होती है।

रौद्र रस—चतुर्थ अंक मे पतिचिन्तापरायणा शकुन्तला को जब महर्षि दुर्वासा के आगमन का आभास नहीं मिलता और वे शकुन्तला द्वारा अपने को तिरस्कृत हुआ-सा प्रतीत करते हैं, तो कहते हैं— 'आः अतिथिपरिभाविनि'! यहाँ अकस्मात् कण्व के आश्रम में पहुँचे हुए दुर्वासा 'अतिथि' हैं। 'सर्वस्याभ्यागतो गुरुः'। इस शास्त्र-वचन के अनुसार उनका सत्कार न हो पाया। अपमान तो था ही, इसको न सहन कर सकने के कारण दुर्वासा का क्रुद्ध होना स्वाभाविक ही था, जिसको कवि ने 'सुलभ-कोपो महर्षिः' कहा है। तदनन्तर ही वे शकुन्तला को इस प्रकार शाप देते हैं—

'विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा, तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वा न स बोधितोऽपि सन् कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव'॥ ४१॥

इसके आगे जब शार्ङ्गरव, शारद्वत तथा गौतमी के सामने दुष्यन्त शाप के प्रभाव से प्रभावित हो शकुन्तला को ठुकरा देता है, तब वहाँ कण्व के शिष्यों, गौतमी तथा स्वयं शकुन्तला के आक्रोशपूर्ण वचन रौद्ररस के परिपोषक रहे हैं।

भयानक रस—जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि इस नाटक का प्रमुख रस शृङ्गार है, तथापि स्थल-विशेष में कथावस्तु को रोचक बनाने के लिए अन्य रसों का भी आंशिक समावेश करना, यह कवि की सर्वतोमुखी प्रतिभा का परिचायक है। सर्वप्रथम जब राजा दुष्यन्त कण्व के सामने देखे गये एक मृग का वध करने के लिए संसार के देवता पिनाकी (शिव) के समान धनुष को उठाकर पीछा करता है; उस समय मृग की स्थिति पर ध्यान दें—

> 'ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
> पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।
> दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
> पश्योदग्रप्लुतत्वाद् वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति' ॥ १७ ॥

इस पद्य में मृगस्थित भय स्थायी भाव है, धनुषधारी दुष्यन्त को देखना आलम्बन विभाव है, रथ का उसके पीछे-पीछे आना, शरपतनभय आदि उद्दीपन विभाव हैं, ग्रीवा को टेढ़ी करना, मुख से चबाये हुये कुशों का गिरना, शरीर-संकोच आदि अनुभाव हैं, त्रास, शंका, आवेग आदि संचारी भाव हैं, कम्प आदि सात्त्विक भाव हैं, इनसे परिपुष्ट भयानक रस व्यङ्ग्य है।

इसके आगे 'तीव्राघात·········स्यन्दनाऽऽलोकभीतः'। (१।२९) इस पद्य में राजा के रथ से भयभीत हाथी आत्मरक्षा की आशंका से धर्मारण्य में प्रवेश कर रहा है। इस पद्य में गजस्थित भय स्थायीभाव, दुष्यन्त का रथ आलम्बन विभाव है और आश्रमस्थ प्राणियों के मन में मूर्तिमान्, विघ्नरूप गज का आगमन भय का कारण है तथा गज को देखना आलम्बन विभाव है।

भयानक रस की एक हल्की-सी छटा अगले पद्य में भी दृष्टिगोचर होती है। तथा 'सायन्तने निशितागतानाम्'। (३।२४)। यह यज्ञविध्वंसक अतएव भयकारक राक्षसों की छाया के संचार की चर्चा राजा से इसलिये की जा रही है कि प्रजा की रक्षा का समस्त दायित्व राजा पर ही होता है। यह प्राचीन परम्परा रही है।

वात्सल्य रस—वत्स (पुत्रादि) विषयक रति स्थायीभाव वाले रस को 'वात्सल्य रस' की मान्यता दी गयी है। इस नाटक में उक्त रस का प्रसंग उस समय आता है, जब राजा दुष्यन्त देवराज इन्द्र की सहायता करके मारीच ऋषि के आश्रम का दर्शन करने के लिए रथ से उतरते हैं और एक बालक को सिंह-शिशु से छेड़खानी करते देखते हैं, उसकी मुखाकृति अपने समान देखते हैं, मालूम करने पर पता लगता है कि यह पति से परित्यक्ता शकुन्तला का पुत्र सर्वदमन है। उसको राजा दुर्ललित (दुलारा) कहता है और उसको देख उसके भाग्यों को सराहता है, जिनके अंग तथा वस्त्र अपने पुत्र को गोद में लेने से मलिन होते हैं। देखें—

> 'आलक्ष्य दन्तमुकुलाननिमित्तहासैरव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन्।
> अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहन्तो धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति' ॥ (अ० शा० ७।१७)

उक्त पद्य में 'दन्तमुकुल, अनिमित्तहास' और 'अङ्काश्रयप्रणयी' ये पदावलियाँ वात्सल्य रस की पूर्णतया परिपोषक हैं। इसी का समर्थक एक पद्य और देखें—

> 'अनेन कस्याऽपि कुलाङ्कुरेण, स्पृष्टस्य गात्रे सुखिता ममैवम्।
> कां निर्वृतिं चेतसि तस्य कुर्याद्यस्याङ्गमङ्गात् कृतिनः प्रसूतः' ॥ (अ० शा० ७।१८)

राजा बालक को गोद में उठाकर उसके स्पर्शसुख का अनुभव करता हुआ कहता है कि जब पराये बालक का स्पर्श मुझे इतना सुख दे रहा है तो जिसका यह अपना बालक होगा उसको कितनी शान्ति देगा, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। इस प्रकार इन अंशों से वात्सल्य की उत्पत्ति हुयी है, जो सचमुच कालिदास का प्रयोग विज्ञान है, जिससे विद्वानों का परितोष हुआ है।

शान्त रस—इन्द्र के सारथी मातलि के साथ अपनी राजधानी को लौटते हुए राजा हेमकूट पर्वत के समीप मारीचाश्रम के दर्शन करता है। वह कैसा है—

'वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिरुरगत्वग्ब्रह्मसूत्रान्तरः
कण्ठे जीर्णलताप्रतानवलयेनात्यर्थसम्पीडितः।
अंसव्यापि शकुन्तनीडनिचितं विभ्रज्जटामण्डलं
यत्र स्थाणुरिवाचलो मुनिरसावभ्यर्कविम्वं स्थितः'॥ (अ० शा०७।११)

इस प्रकार निश्चल समाधि का रूप 'शान्तरस' का परिपोषक है। चेतन व्यक्ति का इससे अधिक शान्तस्वरूप का वर्णन दुष्कर है। इस प्रकार की कठिन तपस्या में तत्पर मुनि को देखकर राजा प्रणाम कर कहता है—'अहो! स्वर्गादिदमधिकतरं निर्वृत्तिस्थानम्'। 'अमृतहृदमिवावगाढोऽस्मि'। अर्थात् यह स्वर्ग से भी अधिक शान्तिदायक स्थान है। मुझे ऐसा लग रहा है कि जैसे मैं अमृतकुण्ड में प्रविष्ट हुआ हूँ। फिर वह उनकी तपश्चर्या के स्वरूप की विलक्षणता को निम्नलिखित पद्य के रूप में चित्रित कर रहा है—

'प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे पुण्याभिषेकक्रिया।
ध्यानं रत्नशिलागृहेषु विबुधस्त्रीसन्निधौ संयमो
यद् वाञ्छन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी'॥ (अ० शा०७।१२)

निष्कर्ष—इस प्रकार सभी सुख-साधनों के रहने पर भी ये मुनिजन किसी अलौकिक तत्त्व की प्राप्ति के लिए तपस्या कर रहे हैं। ऐसा वर्णन स्वयं शान्तरस का प्रेरक, पोषक एवं संस्थापक है। रस-विवेचन की दृष्टि से अभिज्ञानशाकुन्तल का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है।

कालिदास की कृतियों की निर्दोषता

महाकाली के अनन्य उपासक माता सरस्वती के वरदपुत्र कालिदास सार्वभौम महाकवि थे। इनकी रचनाएँ भारतीय वाङ्मय की सर्वविध विधाओं से उस प्रकार सम्पन्न हैं, जिस प्रकार परब्रह्म का विराट् स्वरूप प्राकृतिक समस्त सम्पदाओं से सम्पन्न होता है। अतः हम यहाँ इनकी रचनाओं के उन तत्त्वों का विवेचन करेंगे, जिन पर विचारकों की दृष्टियाँ विशेष रूप से केन्द्रित हैं। महाकवि कालिदास की रचनाओं में विद्वानों को अतिशय आनन्द की अनुभूति होती है. साथ ही कुछ विद्वान् उनके काव्य-नाटकों में लक्षणग्रन्थों में कहे गये दोषो की भी चर्चा करते हैं। इस विषय में यहाँ कुछ शास्त्रीय विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

दोषदर्शन—परममाहेश्वर कालिदास ने शिवजी का सर्वात्मना अनुसरण करते हुए गुण तथा दोषों को अपनी रचनाओं में स्थान दिया है, क्योंकि संगीत, साहित्य, चित्रकर्म आदि चौंसठ ललितकलाओं में गुणों की भाँति ही दोषों की स्थिति भी महत्त्वपूर्ण है। ध्यान दें! समस्त विद्याविशारद भगवान् शिवजी ने गुणरूप सरस गंगाजी और निर्दोष चन्द्रमा को अपने शरीर में शीर्षस्थान प्रदान किया है तथा दोषरूप हालाहल विष को उससे नीचे कंठस्थान में स्थान दिया है। इसी प्रकार महाकवि ने अपने काव्य-नाटकों में गुणों को सर्वत्र महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है और प्रसंगवश दोषों को भी स्थान देकर उन्हें निराश्रित होने से बचा लिया है, क्योंकि विद्वान् का एक नाम 'दोषज्ञ' भी है। यह ईश्वरीय सृष्टि भी गुण-दोषमयी है, वास्तव में ये गुण-दोष एक-दूसरे के पूरक हैं। आप देखें, साहित्यिक तथा आयुर्वेदीय रसों में भी परस्पर विषम गुणों वाले रसों का अस्तित्व है। इन विचारों के समर्थन के लिए निम्नलिखित सूक्ति का अवलोकन करें—

'सौजन्यधन्यजनुषः पुरुषाः परेषां दोषान् विहाय गुणमेव गवेषयन्ति।
हित्वा भुजङ्गमविषाणि पटीरकोषात् सौरभ्यमेव सुजनाः परिशीलयन्ति' ॥ (सूक्ति)

इस दृष्टि से प्रायः सज्जनों का पक्षपात गुणदर्शन की ओर अधिकांश देखा जाता है, इस संकेत से यह नहीं सोचना चाहिए कि वे दोषज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं। गुणैकपक्षपाती होने के कारण ही ऐसे पुरुषों को सज्जन कहते हैं। वे कभी भी किसी सभा आदि स्थलों में किसी की निन्दा करना नहीं चाहते, अतएव उनका वे दोषोद्घाटन नहीं किया करते। वास्तव में दोषोद्घाटन नीच अथवा क्षुद्रबुद्धि पुरुषों का कर्तव्य होता है। चिउँटी सुरम्य प्रासाद में स्वभाव तथा स्वार्थवश छिद्रान्वेषण किया करती है। महान् पुरुष अपने चरित्र की रक्षा करते हुए 'दुर्जनतोषन्याय' से उसके दोषपूर्ण वचनों की प्रशंसा करने में पीछे नहीं हटते हैं, किन्तु वे महापुरुष अपने जिज्ञासु अन्तेवासी समाज को इस प्रकार संकेत अवश्य कर देते हैं, जैसे श्री अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन में व्यञ्जनारहस्य के व्याख्यान-प्रसंग में नीचों का संकेत करते हुए कहा है—'अलं गर्दभीदोहनेन' अर्थात् गधी को दुहना व्यर्थ है।

सम्यक् प्रकार से पहले गुण-दोष का ज्ञान होना आवश्यक है, इसका दायित्व भी विद्वानों पर ही होता है, इसके बाद ग्राह्य-अग्राह्य का ज्ञान गुरु-परम्परा से प्राप्त होता है। दोषनिरूपण की भी दो गतियाँ देखी जाती हैं। यथा—पहली गति वह है, जिससे वास्तविक दोषों का निरूपण किया जाता है। ये कवि के अव्युत्पत्तिजनित दोष होते हैं। दूसरी गति वह है, जो विद्वान् व्यक्ति की कल्पना से दोष उत्पन्न किये जाते हैं। ये दोनों ही प्रकार विद्यार्थियों के लुप्त एवं सुप्तज्ञान को जगाकर उन्हें सूक्ष्मदर्शी बनाने के लिए अपनाये जाते हैं।

काव्यप्रकाश आदि लक्षणग्रन्थों के दोष-निरूपणप्रसंग में महाकवि कालिदास की जो सूक्तियाँ उद्धृत की हैं, वे सचमुच सर्वथा दोषपूर्ण हैं, ऐसा विचारपूर्वक कहना असम्भव है। आप ध्यान दें—

'अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः ।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झगित्यवभासते' ॥

अर्थात् अव्युत्पत्ति के कारण उत्पन्न दोष कवि की कल्पना-शक्ति से ढँका जा सकता है, किन्तु कवि की अशक्ति के कारण जो दोष काव्य में दिखलायी देता है, वही वास्तविक एवं अक्षम्य दोष कहा जाता है। इस प्रकार के दोष के सम्बन्ध में कहा गया है—

'दोषः सर्वात्मना त्याज्यो रसहानिकरो हि सः ।
अन्यो गुणोऽस्तु वा मास्तु महान् निर्दोषिता गुणः' ॥

काव्य में दोष के होने से रसनिष्पत्ति बाधित हो जाती है, अतः दोष का प्रयोग सब प्रकार से वर्जित माना गया है। काव्य में किसी प्रकार का कोई गुण हो या न हो, उसका तो निर्दोष होना ही महान् गुण है। इसी का समर्थन आचार्य दण्डी ने इस प्रकार किया है—

'तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन ।
स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्' ॥

इसलिए काव्य में थोड़े भी दोष का सन्निवेश नहीं होना चाहिए, क्योंकि सर्वांगसुन्दर पुरुष भी श्वित्ररोग के एक धव्वा से असुन्दर प्रतीत होने लगता है। कुछ आचार्य यथासम्भव दोषों का न होना और गुणों की अधिकता का होना इस पक्ष का समर्थन करते हैं, जो व्यावहारिक दृष्टि से अधिक उचित है और यही स्थिति सभी उत्तम कोटि के काव्यों में देखी जाती है।

वास्तव में लोकव्यवहार में प्रचलित पद भले ही वे अश्लीलत्व अथवा अमंगलत्व आदि दोषों से युक्त हों तब भी वे काव्यांश को दूषित नहीं करते। यथा—भगवती, भगिनी, उपस्थान तथा अभिप्रेत आदि। यहाँ प्रथम दो शब्द आंशिक रूप से स्त्रीयोनिवाचक हैं, तीसरा पुरुषलिंग का वाचक है, जो सूर्योपस्थान अर्थ में परिणति को धारण कर लेता है और चौथा शब्द अमंगलवाचक होने पर भी 'अभीप्सित' अर्थ का बोधक है। ऐसे अवसरों पर दुष्टशब्द भी सर्वथा निर्दुष्ट की भूमिका का निर्वाह करते हैं। अब हम सकल-बुधजनप्रिय कवि के कतिपय उन आक्षिप्त स्थलो को प्रस्तुत कर रहे हैं, जिन्हें प्राचीन आलकारिकों ने दोषपूर्ण कहा है।

कविकर्म अत्यन्त कठिन होता है, इसका ठीक-ठीक अनुभव कवि ही कर सकता है। जो कवि न हो और महाकवियों की रचनाओं की आलोचना करे, यह स्वयं में एक उपहासास्पद विषय है। आचार्य मम्मट स्वयं कवि नहीं थे, उन्होंने यह तो स्वीकार किया ही है कि 'कालिदासादीनां यशः' कालिदास यशस्वी कवि थे। 'अविमृष्टविधेयांश' दोष का जो उदाहरण मम्मट ने काव्यप्रकाश में दिया है, उस पर आप अपनी ओर से विचार करें कि महाप्रतापी रावण द्वारा कहे गये **'न्यक्कारो ह्ययमेव'** आदि इस पद्य में उक्त दोष सिद्ध हो भी पाता है? यदि नहीं, तो इसी प्रकार कालिदास की कृतियों के वे दुष्टस्थल भी हैं, जिन्हें हम यहाँ निर्दोष सिद्ध करने का पूर्ण प्रयास कर रहे हैं।

(१) रघुवंश के ताटकावधवर्णन-प्रसंग में आये हुए जिस पद्य को श्रीमम्मट ने 'अमतपरार्थत्व' नामक दोष से दूषित है कहा है, वह इस प्रकार है—

'राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा' ॥

उक्त पद्य में प्रकरणवश वीभत्सरस की प्रतीति हो रही है, किन्तु श्लेष अलंकार के माध्यम से अभिसारिका-वृत्तान्त की अभिव्यक्ति हाने के कारण शृंगाररस की भी प्रतीति हो रही है। ये दोनों (वीभत्स तथा शृंगार) रस परस्पर विरोधी कहे गये हैं। अतएव प्रकृतरसविरुद्ध रस की स्थापना करने के कारण उक्त पद्यं में मम्मटाचार्य के अनुसार 'अमतपरार्थ' नामक दोष है।

निर्दोषत्व समर्थन—आलंकारिकों का मत है—'यावन्तोऽर्थास्तावन्तः शव्दाः' अर्थात् अर्थभेद से शव्दभेद स्वीकार किया जाता है। जैसे एक ही पुरुष सम्वन्ध-विशेष से पिता, चाचा, भाई, मामा, नाना आदि कहा जाता है, वही स्थिति शव्द की भी होती है। इसी दृष्टि से वीभत्सरसवाचक शव्द श्लेष के कारण प्राप्त शृंगाररस का वोध कराते समय अर्थभेद होने के कारण भिन्न रूप से स्वीकार किये जाते हैं। इस सिद्धान्त को श्लेषालंकार-प्रकरण में मम्मट ने स्वयं इस प्रकार स्वीकार किया है—

'वाच्यभेदेन भिन्ना यद्युगपद् भाषणस्पृशः ।
श्लिष्यन्ति शव्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा' ॥

अर्थात् वाच्यभेद से भिन्न होने पर भी जो शव्द एक साथ उच्चारण करने के कारण भिन्न-भिन्न अर्थवोधक स्वरूपों को छिपाकर परस्पर सट जाते हैं, उसे ही श्लेष कहते हैं। अतः श्लेषप्रतिभोत्थापित इन परस्पर विरुद्ध रसों का समान अधिकरण होने पर भी यहाँ विरोध नहीं है, अपितु एक शव्द को भिन्न रसों का आश्रय वनाकर चमत्कार दिखलाने के कारण उत्कर्ष ही सिद्ध होता है, जिससे महाकवि कालिदास की यह उक्ति कमनीय ही प्रतीत होती है।

(२) आचार्य मम्मट ने महाकवि कालिदास कृत 'कुमारसम्भव' काव्य के निम्नलिखित पद्य में 'अविमृष्टविधेयांश' दोष दिखलाया है, आप भी इस ओर ध्यान दें—

'वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्वरत्वेन निवेदितं वसु ।
वरेषु यद्वालमृगाक्षि! मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने' ॥

शिवजी को पतिरूप में प्राप्त करने की इच्छा से तप करने वाली पार्वती से वटुवेशधारी शिवजी स्वयं उसके हृदय की दृढ़ता की परीक्षा लेने के निमित्त कह रहे हैं। हे वालहरिणनयनी! शिवजी की तीन आँखें हैं, अतः वे सुरूप नहीं हैं, दिगम्वर रहने से उनका निर्धन होना प्रकट है, इतना होने पर भी उनके कुल-गोत्र का भी पता नहीं है, ऐसा एक भी लक्षण शिवजी में नहीं देखा जाता जो वरों में देखे जाते हैं। इस सम्वन्ध में एक सुभाषित प्रसिद्ध है—

'कन्या वरयते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम् ।
वान्धवाः कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जनाः' ॥

वर-वरणप्रसंग में कन्या रूप को देखती है, माता सम्पन्नता को, पिता शास्त्रज्ञान को, वन्धु-वान्धव उत्तम कुल को और वराती लोग मधुर भोजन की अपेक्षा करते हैं। किन्तु शिवजी में ये एक भी गुण नहीं दिखलायी देते। इस विवेचन में 'अलक्ष्यजन्मता' इस पद से विधेयरूप 'जन्म' पद अन्यपदार्थप्रधान वहुव्रीहि समास द्वारा आवद्ध होने से प्रधान स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः यहाँ 'अविमृष्टविधेयांश' दोष है। यदि यहाँ 'अलक्षिता जनिः' कर दिया होता तो उक्त दोष का निराकरण हो जाता, ऐसा टीकाकार का समाधान है।

निर्दोषत्व समर्थन—यदि हम 'अलक्ष्यजन्मतां' के स्थान पर 'अलक्षिता जनिः' पाठ वदलते हैं, तो पदगत दोष दूर हो जायेगा, किन्तु ऐसा करने पर वाक्यगत दोष आकर खड़ा हो जायेगा, जिसे दूर करना और भी कठिन हो जायेगा। 'अलक्ष्यजन्मता' इस पद से जन्म से ही कुल-गोत्र आदि का न मालूम होना अत्यन्त स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। यहाँ उक्त वाक्यार्थ को समझ लेने से जरा भी दोष प्रतीत नहीं हो रहा है, क्योंकि उक्त श्लोक के उत्तरार्ध में कहे गये वाक्यांश से विषय सर्वथा स्पष्ट हो जा रहा है। इस प्रकार

विधेयांश के तिरस्कार का थोड़ा भी अनुमान नहीं हो रहा है, क्योंकि क्रिया के अन्वय से स्पष्ट अर्थ की प्रतीति हो जाने से उसके भीतर आये हुए समास आदि किसी प्रकार वाधक सिद्ध नहीं होते। इसी आशय को लेकर श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने अपनी सारबोधिनी टीका में इस प्रकार लिखा है—

'वस्तुतस्तु त्रिलोचने जन्मनोऽप्यसिद्धतया विशिष्टस्यालक्षितजन्मनो विधेयतया अलक्षितेत्यस्य विशेषणस्य पूर्वोपादानमुचितमिति रचितः पाठः समीचीनः' इति।

एक उदाहरण अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक से प्रस्तुत किया जा रहा है—

'गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु।
विश्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रान्तिं लभतामिदञ्च शिथिलज्यावन्धमस्मद्धनुः' ॥

मम्मटाचार्य उक्त पद्य में 'कारकप्रक्रमभंग' दोष मानते हैं। उनका कथन है कि यहाँ 'गाहन्ताम्' के कर्तृकारकवाचक 'तिङ्' प्रक्रम का 'क्रियताम्' इस कर्मकारकवाचक पद के उपादान में क्रमभंग दोष दिखलायी दे रहा है, जो उक्त दोष का मूल कारण है।

निर्दोषत्व समर्थन—वास्तव में यदि आप ध्यान दें, तो उक्त पद्य में सद्यः अर्थ-प्रतीति में व्यवधान डालने वाले किसी भी अनुचित पद की यहाँ उपस्थिति नहीं है, जिससे दोष की स्थिति दिखलायी देती हो। इस पद्य में कल्पित उक्त दोष की निवृत्ति के लिए आचार्य मम्मट ने जिस पाठ की कल्पना की है, वह इस प्रकार है—

'विश्रब्धा रचयन्तु सूकरवरा मुस्ताक्षतिं पल्वले'। इस पद्यांश में भी 'सूकर' पद में ग्राम्यत्व दोष तथा वन्धशैथिल्य दोष है। इसे दूर करने के लिए उक्त पाठ को इस प्रकार पढ़ना उचित है—'विश्रब्धः कुरुतां वराहनिवहो मुस्ताक्षतिं पल्वले'। उक्त उदाहरण में पदप्रक्रमभंग दोष उद्योतकर को भी अभीष्ट नहीं है, क्योकि प्रकृत अर्थ की प्रतीति मे उक्त पाठ से लेश मात्र भी रुकावट नहीं आ रही है। अतः मम्मट का यह दुराग्रह केवल अहम्मन्यता का लक्षण मात्र है।

(३) काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में त्रिविध अश्लीलदोष-प्रकरण में अमंगलव्यंजकता का उदाहरण महाकवि कालिदास रचित विक्रमोर्वशीय नाटक से लिया गया है, जो निम्नलिखित है—

'मृदुपवनविभिन्नो मत्प्रियाया विनाशाद्
घनरुचिरकलापो निःसपत्नोऽद्य जातः।
रतिविगलितवन्धे केशपाशे सुकेश्याः
सति कुसुमसनाथे कं हरेदेष वर्हीं' ॥

उक्त पद्य मे 'विनाशात्' इस पद से मरणरूप अमंगल की अभिव्यंजना हो रही है, अतएव यहाँ 'अमंगलव्यञ्जकता' दोष है, यह मम्मट का आशय है।

निर्दोषत्व समर्थन—यहाँ 'विनाश' शव्द का वाच्यार्थ तो प्रिया का अदर्शन मात्र है। ध्यान दें! यह विनाश शव्द वि-उपसर्गपूर्वक 'णश् अदर्शने' धातु से घञ्-प्रत्यय जोड़ने पर निष्पन्न होता है। धार्मिक दृष्टि से पति-पत्नी का जन्म-जन्मान्तरीय सम्वन्ध चिर-स्थिर होता है। आप 'अदर्शनं लोपः' इस पाणिनीय सूत्र की वृत्ति में अदर्शन शव्द की व्याख्या को देखे, जिससे आपको उक्त वाच्यार्थ उचित प्रतीत होगा। यहाँ यही तात्पर्य वक्ता का भी है, क्योंकि नाचते हुए मयूर को देखकर उसकी प्रसन्नता के कारण का विचार करते हुए यह राजा का कथन है। उर्वशी के परलोक चले जाने पर मयूर का प्रतिद्वन्द्वी उसका केशसमूह भी वहाँ से हट गया। इसीलिये यह मयूर प्रसन्न होकर नाच रहा है, ऐसा राजा समझ रहा है

कालिदासीय 'मेघदूत' के उपजीव्य सन्दर्भ : योगवासिष्ठ एवं ब्रह्मवैवर्तपुराण

योगवासिष्ठ (महारामायण) निर्वाणप्रकरण के उत्तरार्ध के ११९वें सम्पूर्ण-सर्ग में कालिदासीय मेघदूत की कथा का आभास प्राप्त होता है। कुछ अंश तो ऐसे हैं, जो यह कहने के लिए वाध्य कर देते हैं कि कालिदासीय मेघदूत का उपजीव्य ग्रन्थ 'योगवासिष्ठ' ही रहा है। आप भी नीचे दिये गये उदाहरणों पर ध्यान दें—

'अस्याः प्रागभवत् पतिः स मुनिना शापेन वृक्षीकृतो
वर्षद्वादशकं तदेव गणयत्येषश्च साऽत्र स्थिता'। (योगवासिष्ठ ११६।३२)

इसकी तुलना मेघदूत के निम्नलिखित प्रथम श्लोक से करें—

'कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात् प्रमत्तः,
शापेनास्तङ्गमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः'।

दूसरा उदाहरण—

'भ्रातर्मेघ! महेन्द्रचापमुचितं व्यालम्ब्य कण्ठे गुणं,
नीचैर्गर्ज मुहूर्तकं कुरु दयां सा वाष्पपूर्णेक्षणा।
वाला वालमृणालकोमलतनुस्तन्वी न सोढुं क्षमा,
ता गत्वा सुगते! गलज्जललवैराश्वासयात्मानिलैः'॥ (योग० ११९।५)

तुलना कीजिये—

'तामुत्थाप्य स्वजलकणिकाशीतलेनानिलेन,
प्रत्याश्वस्तां सममभिनवैर्जालकैर्मालतीनाम्।
विद्युद्गर्भः स्तिमितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे,
वक्तुं धीरः स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः'॥ (मेघदूत २।४०)

और भी देखें—

'चित्ततूलिकया व्योम्नि लिखित्वाऽऽलिङ्गिता सती।
न जाने कोऽधुनैवेतः पयोद! दयिता गता'॥ (योग० ११९।५)

इससे मिलान करें—

'त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः'॥ (मेघ० २।४७)

न केवल 'योगवासिष्ठ' की छाया से ही महाकवि कालिदास का 'मेघदूत' प्रभावित है, अपितु 'कुमारसम्भव' आदि अन्य कृतियाँ भी इससे प्रभावित हैं, इस दृष्टि से आप भी अवलोकन करें।

कुछ ऐतिहासिक विद्वान् यह कहते हुए भी संकोच नहीं करते कि 'योगवासिष्ठ' कालिदास की परवर्ती कृति है, उस पर कालिदास की छाप पड़ी है। यह कथन उनका ऐसा ही है–**'मुखमस्तीति वक्तव्यं दश हस्ता हरीतकी'**। अर्थात् हमारे पास मुख है, अतः हमें यह कहना चाहिये कि 'हरीतकी' दस हाथ लम्बी होती है। इस सम्बन्ध में हम ऐसे विचारकों के योग्य एक सूक्ति और प्रस्तुत करते हैं—

'जिह्वायाश्छेदनं नास्ति न तालुपतनाद् भयम्।
निर्विशङ्केन वक्तव्यं निर्लज्जः को न पण्डितः'॥

अस्तु, अब हम इसके आगे **'ब्रह्मवैवर्तपुराण'** में चर्चित उस अंश को प्रस्तुत करते हैं, जिससे उक्त 'मेघदूत' का कथानक ओत-प्रोत है।

'मेघदूत' के प्रसिद्ध टीकाकार महामहोपाध्याय मल्लिनाथ ने इसकी कथावस्तु के सम्बन्ध में इस प्रकार संकेत किया है—**'सीताम्प्रति रामस्य हनुमत्सन्देशं मनसि निधाय मेघदूतसन्देशं कविः कृतवानिति'**। सम्भवतः 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' के निम्नलिखित कथांश पर उनका दृष्टिपात नहीं हो पाया था, नहीं तो वे इस ओर अवश्य सामाजिकों की दृष्टि को आकृष्ट करते। यद्यपि 'मेघदूत' महाकवि कालिदास के निरंकुशत्व की परिचायक अनुपम कृति है, जो कवि का प्रमुख अलंकरण है, उसे प्रतिष्ठापित करने के लिए ही महाकवि ने मेघदूत के नायक-नायिका का अस्पष्ट परिचय इस प्रकार 'इत्यादि' कहकर स्वयं दिया है—

'कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात् प्रमत्तः'।
'या तत्र स्याद् युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः'।
'तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयम्'।

जहाँ एक ओर कविवर कालिदास ने 'रघुवंश' एवं 'कुमारसम्भव' जैसे महाकाव्यों की रचना करके यह भलीभाँति दिखला दिया है कि कविप्रसिद्धि तथा उत्तम काव्य के लक्षणों का समन्वय किस कुशलता से काव्य में किया जाता है, वहाँ उनके लिए यह भी आवश्यक था कि वे अपनी निरंकुशता भी दिखलाते, क्योंकि—**'लीक छाँडि तीनों चलें, सायर सिंह सपूत'**। इस दृष्टि से भारतमाता के सपूत कविशार्दूल कालिदास की यह 'मेघदूत' कृति सकलसरसहृदयजनसंवेद्य है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण में कालिदास के मेघदूत से मिलता-जुलता कथानक इस प्रकार है—अलकाधिपति कुवेर का एक सेवक 'हेममाली' था, जिसे कालिदास ने **'कश्चित्'** कहा है। हेममाली की स्त्री का नाम **'विशालाक्षी'** था। अपनी स्त्री के सौन्दर्य के कारण उस पर आसक्त हो.कर एक दिन इस यक्ष ने अपने सेवाकार्य में विलम्ब कर दिया और उसके दंडस्वरूप कुवेर ने इसे कुष्ठी होने का शाप दे दिया था, क्या इसीलिये उक्त कथा का नायक होने पर भी महाकवि ने उसका नाम लेना पसन्द नहीं किया ? जिसके फलस्वरूप उसे 'कश्चित्' अर्थात् अपरिचित कह दिया। विद्वान् पाठक विचार करें।

दूसरी विशेष वात यह है कि दोनों रचनाओं में कथा का आरम्भ तथा शाप का अवसान-समय उक्त पुराण के मत से आषाढ कृष्ण एकादशी के दिन माना है और इसके विपरीत मेघदूत में कार्तिक शुक्ल एकादशी को माना गया है। धनाधिप कुवेर का स्वामित्व और 'कश्चित्' नामक 'हेममाली' का अनुचर होना, पत्नी के प्रेमपाश में वँधना आदि-आदि कथा के वाह्य आवरणों का मूलस्रोत ब्रह्मवैवर्तपुराणान्तर्गत इस कथा को मानना अधिक औचित्यपूर्ण समझा जाता है। जहाँ कहीं थोड़ा हेर-फेर हुआ है अथवा किया गया है, वह कवि की चतुरस्र प्रतिभा का परिचायक है, जिससे वह **'अन्यथा वा प्रकल्पयेत्'** कर सकता है।

उक्त कथानक के पृष्ठपोषक कतिपय पद्य यहाँ उद्‌धृत किये जा रहे हैं—

'अलकाधिपतिर्नामा कुबेरः शिवपूजकः। तस्याऽऽसीत् पुष्पवटुको **हेममालीति** नामतः॥
तस्य पत्नी सुरूपा च **विशालाक्षीति** नामतः। स तस्यां स्नेहसंयुक्तः कामपाशवशं गतः॥
मानसात् पुष्पनिचयमानीय स्वगृहे स्थितः। पत्नीप्रेमसमायुक्तो न कुवेरालयं गतः॥
कुवेरो देवसदने करोति शिवपूजनम्। मध्याह्नसमये राजन्! पुष्पाणि न समीक्षते॥
वनिताकामुको गेहे रमते स्वेच्छया नृप!। तेषां वाक्यं समाकर्ण्य कुवेरः कोपपूरितः॥
आह्वयामास तं तूर्णं वटुकं हेममालिनम्। ज्ञात्वा कालात्ययं सोऽपि भयव्याकुललोचनः॥
आजगाम नमस्कृत्य कुवेरस्याग्रतः स्थितः। प्रत्युवाच रुषाविष्टः कोपाद् विस्फुरिताधरः॥
रे पाप! दुष्ट! दुर्वृत्त! कृतवान् देवहेलनम्। अतो भव शिवत्रयुक्तो वियुक्तः कान्तया सदा॥
आषाढे कृष्णपक्षे त्वं योगिनी व्रतमाचर। अस्य व्रतस्य पुण्येन कुष्ठी त्वं मुच्यसे ध्रुवम्॥
मार्कण्डेयोपदेशेन कृतं तेन व्रतोत्तमम्। तद्व्रतस्य प्रभावेण देवरूपो वभूव सः॥
संयोगं कान्तया लेभे वुभुजे सौख्यमुत्तमम्। ईदृग्विधं नृपश्रेष्ठ! कथितं योगिनीव्रतम्'॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराणोक्त आषाढकृष्ण योगिनी एकादशीव्रतमाहात्म्य से उद्‌धृत)

चिद्गगनचन्द्रिका के रचयिता : कालिदास

कविकुलकमलदिवाकर महाकवि कालिदास अपने सुयश से देश-विदेश में समानरूप से समादृत हैं। अपनी अलौकिक प्रतिभा से ही उन्हें महाकवित्व रूपी शुभ्रमुकुट धारण करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। अतएव ऐसे विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न महाकवि के देश-काल आदि के सम्वन्ध में अनेक प्रकार के विवाद सुस्थिर हैं। उन्हें अपनाने के प्रलोभन से तद्-तद्देशीय विद्वानों ने कालिदास द्वारा अपनी रचनाओं में वहुचर्चित देश-विशेष के वर्णनों के आधार को लेकर विना किसी हिचक के महाकवि को उन-उन देशों का निवासी कह डाला। सवसे वड़ी वात यह है कि किसी प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव में हम उन विद्वानों के मतों का प्रतिवाद भी नहीं कर सकते।

भारतीयता के पक्षपाती विद्वान् महाकवि को ईसवीय सन् से पूर्ववर्ती मानने में अपना गौरव समझते हैं और पाश्चात्य ज्ञानप्रभा से प्रभावित कतिपय विद्वान् उन्हें क्रमशः आरम्भ से लेकर छठी शताव्दी तक का कहते नहीं हिचकते। इसका विचार हम अन्यत्र करेंगे। अव हम कालिदास की सुप्रसिद्ध रचनाओं की चर्चा करते हुए 'चिद्गगनचन्द्रिका' के प्रणेता के सम्वन्ध में अपने विचार पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहे हैं।

'शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु'। इस पद्यांश को उद्धृत करते हुए कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि पुराणों के कर्ता 'व्यास' की भाँति 'कालिदास' भी अनेक हुए हैं। उनका कथन है कि ग्यारह से भी अधिक कालिदासो की चर्चा भारतीय वाङ्मय के विभिन्न क्षेत्रों में इस प्रकार दृष्टिगोचर होती है। उनके नाम से सम्वन्धित विविध साहित्यों का दिग्दर्शन इस प्रकार किया जा रहा है—

स्तोत्रसाहित्य—अम्वास्तव, कालीस्तव, लघुस्तव, कल्याणस्तव, चर्चास्तव, लक्ष्मीस्तव, मकरन्दस्तव, मातृकापुष्पमालास्तव, देवीपञ्चस्तवी, अक्षरमालिकास्तोत्र, क्रमस्तोत्रपञ्चिका, कर्पूरस्तोत्र, ज्वालामुखीस्तोत्र, शारदास्तोत्र, सरस्वतीस्तोत्र, सरस्वतीसाधनम्, देव्यष्टकम्, मङ्गलाष्टकम्, मीननयनाष्टकम्, गङ्गाष्टकम्, नवरत्नमाला, चण्डिकादण्डक, श्यामलादण्डक तथा त्रिपुरसुन्दरीस्तुति।

विविध काव्य—दुर्घटकाव्य, नलोदयकाव्य, राक्षसकाव्य, रामसेतुकाव्य अथवा सेतुवन्धकाव्य, विद्वद्विनोदकाव्य, वृन्दावनकाव्य, रत्नकोषकाव्य, शुद्धिचन्द्रिका, शृङ्गारतिलकखण्डकाव्य, शृङ्गारसारकाव्य, महापद्यषट्क, मङ्गलाष्टक, शृङ्गाराष्टक।

नाट्यसाहित्य—पुष्पविलासभाण, शृङ्गारकोषभाण— इसके रचयिता काश्यपाभिनव कालिदास थे, ऐसा 'शृङ्गारकोषभाण' ग्रन्थ की पुष्पिका में उल्लिखित है।

चम्पूसाहित्य—अभिनवभारतचम्पू तथा भागवतचम्पू इन दोनों ग्रन्थों के रचयिता भी अभिनव कालिदास थे, ऐसा इनकी पुष्पिका में लिखा है।

व्याकरणशास्त्र—'धातुप्रवोध' इस ग्रन्थ के कर्ता कालिदासचक्रवर्ती थे।

अलङ्कारशास्त्र—कविरहस्य एवं काव्यप्रकाशार्थनिर्णय।

छन्दःशास्त्र—वृत्तरत्नावली तथा श्रुतवोध।

कोषसाहित्य—प्रयुक्तमञ्जरी, एकाक्षरमाला तथा नानार्थशव्दरत्न।

ज्यौतिषशास्त्र—उत्तरकालामृत, जातकचन्द्रिका, ज्योतिर्विदाभरण, स्वरशास्त्रसार, रहस्यवोध, नारदसिद्धान्तव्याख्या।

आयुर्वेदशास्त्र—रससारसञ्चय, वैद्यमनोरमा तथा धाराकल्प।

कर्मकाण्ड-ग्रन्थ—'कुण्डप्रवन्ध' इसके रचयिता वलभद्र-पुत्र कालिदास थे।

इसी सन्दर्भ में एक ग्रन्थ 'संक्षेपशङ्करजय' के भी दर्शन होते हैं, जिसके लेखक 'माधव' नामक अभिनव कालिदास थे। आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने सुवृत्ततिलक तथा औचित्यविचारचर्चा नामक ग्रन्थों में रघुवंश, कुमारसम्भव, मेघदूत, अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र के अतिरिक्त 'कुन्तलेश्वरदौत्य' की भी चर्चा की है, जिससे यह ज्ञात होता है कि 'कुन्तलेश्वरदौत्य' के भी रचयिता महाकवि कालिदास ही थे, जिसका प्रचार-प्रसार नहीं देखा जाता। कृष्णचरित ग्रन्थ के अनुसार महाकवि ने पाँच काव्य तथा चार नाटक लिखे थे, जो विचारणीय विषय है।

कविकुलगुरु कालिदास की रचनाओं में रघुवंश, कुमारसम्भव, मेघदूत—ये काव्य और अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र—ये तीन नाटक एक ही कवि के प्रतिभाप्रसून हैं। इसे स्वीकार करने में किसी का मतभेद नहीं है। अव तो 'ऋतुसंहार' तथा 'श्रुतवोध' को भी विद्वानों ने पूर्णरूप से कालिदास की रचना के रूप में स्वीकार कर लिया है, जो सर्वथा औचित्यपूर्ण है। ऊपर हम जिन अनेक विषय के ग्रन्थों को कालिदास की कृति के रूप में कह आये हैं, वे ग्रन्थ तो महाकवि के नाम-साहचर्य से गौरवान्वित हो सकते हैं, परन्तु जव हम उनकी महाकवि के प्रतिभानिकषोपल से वाह्य एवं आभ्यन्तर परीक्षा करने के लिए तत्पर होते हैं, तो हमें उन कृतियों से वैसा सन्तोष प्राप्त नहीं होता, जैसा कि उनकी पूर्वोक्त सुप्रथित कृतियों से होता है।

इस प्रसंग में अव हम विद्वानों का ध्यान उस आगमशास्त्रीय ग्रन्थ की ओर आकृष्ट कराना चाहते हैं, जो कालिदास से सम्वन्धित होता हुआ भी विद्वानों ने उसे उनसे आज तक अछूता ही रहने दिया है, वह ग्रन्थ है— 'चिद्गगनचन्द्रिका'। जिसे विद्वानों ने रघुवंश आदि ग्रन्थों की भाँति उस प्रसिद्ध महाकवि की रचना स्वीकार नहीं किया। यह पद्यमय ग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन है। इसके पद्यों में कालिदास की रचना के साथ समानता है और इसमें महाकवि का नाम भी आया है। समानता की चर्चा हम आगे इसी प्रसंग में करेंगे।

'चिद्गगनचन्द्रिका' का प्रकाशन आगम अनुसन्धान समिति कलकत्ता द्वारा 'तान्त्रिक टेक्स्ट' नामक ग्रन्थमाला से हुआ था। वाद में 'आरनाल्ड एलन' तथा 'स्वामी विक्रमतीर्थ महोदय' ने इसका परिष्कार करके सम्पादन किया। उसके वाद १९८० ई० में सरस्वतीभवन-ग्रन्थमाला से यह प्रकाशित हुआ, अतः यह संस्करण आज सर्वत्र सुलभ है। इसका एक और संस्करण आन्ध्रप्रदेशीय 'कर्रा शास्त्री' अग्निहोत्री ने अपनी टीका के साथ प्रकाशित किया है। उक्त ग्रन्थ का परिशीलन करने से यह विदित होता है कि महाकाली के प्रसाद से कालिदास मे निर्वाध कवित्वशक्ति तथा सर्वतोमुखी प्रतिभा का प्रादुर्भाव हुआ, जिसके कारण इस प्रकार के अनुपम आगमशास्त्र में मौलिक काव्यप्रतिभा के दर्शन सहृदय सुधी समाज को प्रतिक्षण होते रहते हैं। जव-जव महाकवि की महत्ता के वर्णन का प्रसंग आता है, तो महाकाली की चर्चा हठात् विद्वानों के सामने उपस्थित हो जाती है। महाकवि की भी प्रवृत्ति कुछ ऐसी ही है कि वह अपनी उपास्या देवी का यथावसर वर्णन करने में कहीं भी पीछे नहीं रहते। कुमारसम्भवमहाकाव्य में शिवविवाह के अवसर पर अन्य मातृकाओं का वर्णन कर लेने पर भी वे अपनी उपास्यदेवता काली का विशिष्टरूप से इस प्रकार वर्णन करते हैं—

'तासां च पश्चात् कनकप्रभाणां काली कपालाऽऽभरणा चकासे।
वलाकिनी नीलपयोदराजिर्दूरं पुरः क्षिप्तशतह्रदेव' ॥ (कु०७।३९)

अर्थात् सोने के सदृश कान्तिवाली उन मातृकाओं के पीछे-पीछे कपाल (खप्पर) का आभूषण धारण किये हुए भद्रकाली आ रही थी, जो ऐसी लग रही थीं कि मानो वगुलों से भरी हुई और दूर तक चमकती हुई विजलीवाली नीलवर्ण के वादलो की घटा ही उठी चली आ रही हो।

कुछ विचारशील विद्वान् कालिदास को काश्मीर का निवासी स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से मातृकाओं का वर्णन करने के वाद भी काली का वर्णन करना यहाँ समुचित प्रतीत होता है, जैसा कि 'चिद्गगनचन्द्रिका'

में वर्णित कालीतत्त्व की प्रवृत्ति काश्मीर में परम्परा से चली आ रही है। इसका अन्तर्भाव 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' की शैवशाखा में स्वीकार किया जाता है। इसी को दार्शनिक विद्वान् 'क्रमदर्शन' या 'महार्थदर्शन' कहा करते हैं। अब हम इस प्रसंग में 'चिद्गगनचन्द्रिका' के कुछ पद्यों को उद्धृत करते हैं, जिनमें कालिदास का नाम तथा उनके नाम की परिभाषा स्पष्टरूप से दी गयी है। वे पद्य निम्नलिखित हैं—

'इह कालिदासचन्द्रप्रसूतिरानन्दिनी स्तुतिर्व्याजात् ।
चिद्गगनचन्द्रिकाब्धेः शमयतु संसारदावदवथुं वः' ॥ (चि०ग०चं०३)
'सिद्धनाथकृतत्वत्क्रमस्तुतेः कालिदासरचितां च पञ्चिकाम्' । (वही ३०५)
'कालिदासपदवीं तवाश्रितः त्वत्प्रसादकृतवाग्विजृम्भणः' । (वही ३०६)
'प्राप्तदिव्यनयनैर्विलक्षणैर्वीक्ष्य कालि! महिमाऽनुवर्ण्यते ।
केवलं तदनुवर्णनेऽप्युमे! त्वन्मुदे तदपि दासजल्पितम्' ॥ (वही २७२)

उक्त पद्यों का अर्थ इस प्रकार है—चैतन्यस्वरूप हृदयाकाश को प्रकाशित करने वाले इस 'चिद्गगनचन्द्रिका' नामक ग्रन्थरूप समुद्र से उत्पन्न कालिदास रूपी चन्द्रमा से जिस कालिकास्तुति की उत्पत्ति हुई है, जो भक्तजनों को आनन्दित करती है, वह वक्ताओं तथा श्रोताओं के संसाररूपी वन की दावाग्नि के सन्ताप को दूर करे॥ ३॥ सिद्धनाथ द्वारा रचित आपकी क्रमस्तुति को देखकर ही मुझ कालिदास ने इस स्तुतिपुस्तिका की रचना की है॥ ३०५॥ आपकी कृपा से वाग्विलास को प्राप्त कर के मैं कालिदास आपकी शरण में आया हूँ॥ ३०६॥ 'हे उमे! कालि! दासजल्पितं त्वन्मुदे स्यादिति'। इस दृष्टि से इनका मूल नाम कुछ और रहा होगा और गुणकृत 'कालिदास' यह नाम सुप्रसिद्ध हो गया।

उपर्युक्त ३०५वें पद्य के उत्तरार्ध में दिया गया 'सिद्धनाथकृतत्वत्क्रमस्तुतेः' यह पद्यांश हमें इनका कालक्रम जानने के लिए बाध्य करता है, क्योंकि इनकी प्रेरणा से जिस कालिदास ने 'चिद्गगनचन्द्रिका' की रचना की, वे कौन थे तथा उनका काल आदि क्या था? श्लोक सं० ३०६ के चतुर्थ पाद में ये काली के भक्त थे, उन्हीं के वरदान से इन्हें कवित्वशक्ति प्राप्त हुई, यह वाक्य हमारे आराध्य कालिदास से सम्बन्धित सुप्रसिद्ध किंवदन्ती की पर्याप्त पुष्टि कर रहा है। इसके अतिरिक्त कालिदास की रचनाओं के अविकल अंश भी प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर देखे जाते हैं। उसके कतिपय उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं—

रघुवंश में : 'राजा प्रकृतिरञ्जनात्'। (४।१२)
चिद्गगनचन्द्रिका : 'राजनात् प्रकृतिरञ्जनाच्च माम्'। (६५)
रघुवंश : 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ'॥ (१।१)
चिद्गगनचन्द्रिका : 'याऽहमित्युदितवाक् परा च सा, यः प्रकाशलुलितात्मविग्रहः।
यौ मिथः समुदिताविहान्मुखौ, तौ षडध्वपितरौ श्रये शिवौ'॥ (६)
अभिज्ञानशा० : 'ममापि च क्षपयतु नीललोहितः, पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः'। (७।३५)
चिद्गगनचन्द्रिका : 'अञ्जनेन रुचिमिश्रणे समे, रक्तमुल्लसति तावकं वपुः।
श्यामनीलतनुताऽञ्जनेऽधिके, पीतशुक्लतनुता च ते रुचौ'॥ (२७८)
मालविकाग्नि० : 'सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु वस्तामसीं वृत्तिमीशः' ॥ (१।१)
चिद्गगनचन्द्रिका : 'सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु वस्तामसीं वृत्तिमीशः' ॥ (२)

ऊपर अभिज्ञानशाकुन्तल में प्रयुक्त 'नीललोहित' पद शैवसम्प्रदाय में प्रयुक्त होने वाला एक विशिष्ट तत्त्व है, क्योंकि इस सम्प्रदाय में नीलवर्ण अपराशक्ति का, रक्तवर्ण परा-अपराशक्ति का और श्वेतवर्ण पराशक्ति का परिचायक होता है। देखें—

'परा चन्द्रसमप्रख्या रक्ता देवी परापरा ।
अपरा सा परा काली भीषणा चण्डयोगिनी' ॥ (तन्त्रालोक)

प्रस्तुत चिद्गगनचन्द्रिका के उद्धरणों को 'योगिनीहृदय' ग्रन्थ की टीका में अमृतानन्द नाथ ने, 'महार्थमञ्जरी' में महेश्वरानन्द ने, 'आनन्दलहरी' ग्रन्थ की टीका में कैवल्याश्रम ने तथा 'सौभाग्यभास्कर' की टीका में आचार्य भास्करराय दीक्षित ने प्रमाण रूप से उद्धृत किया है। उक्त सभी आचार्यो की श्रेष्ठता तन्त्रसाहित्य में अक्षुण्ण रूप से विराजमान है। कालक्रम के अनुसार उक्त आचार्यो में अमृतानन्दनाथ इन सब के पूर्ववर्ती हैं। ये 'कामकलाविलास' ग्रन्थ के रचयिता पुण्यानन्दनाथ के शिष्य थे, ऐसा इन्होंने अपने ग्रन्थ में लिखा है। ऐतिहासिक विद्वानों की दृष्टि अभी तक इनके काल-निर्णय की ओर नहीं गयी है। उक्त पुस्तक का अनुवाद 'आर्थर एलेन' ने किया है, जो कलकत्ता से प्रकाशित 'तान्त्रिकटेक्स्ट ग्रन्थमाला' में देखा जा सकता है।

'चिद्गगनचन्द्रिका' नामक इस प्रवन्धरत्न का विषय आगमशास्त्रीय सिद्धान्तों से सम्वन्धित होने के कारण सरलता से सामान्यजनसंवेद्य नहीं है। यद्यपि छात्रों के समाधान के लिए 'क्रमप्रकाशिका' टीका इसके साथ दी गयी है, उसने 'चिद्गगन' के कतिपय भास्वररत्नों की ओर यथासम्भव संकेत किया है, किन्तु उसके सम्यक् परिज्ञान के लिए इसमें और भी वहुत-सा विषय विचारणीय है। इसमें जिस कालीतत्त्व की चर्चा की गयी है, उसकी परम्परा काश्मीर, चोल, केरल आदि देशों में आज भी सुरक्षित है। आप चोल देश के निवासी महेश्वरानन्द की कृति 'महार्थमञ्जरी' का अवलोकन करें, उसमें आपको काश्मीर तथा केरल देश के शैव तथा कौल परम्परा के तत्त्वों के दर्शन होगे तथा यह भी ज्ञात होगा कि महेश्वरानन्दजी स्वयं भी इसके अनुगामी थे।

महार्थमञ्जरी के १३वें पद्य में श्रीमहेश्वरानन्द ने शिवजी को 'परमस्वच्छन्द' कहा है। अठारहवें पद्य में उन्हें सर्वकर, सर्वज्ञ, पूर्ण, नित्य, असंकुचित कहकर आगे पुनः कर्ता, ज्ञाता, पूर्ण, नित्य, असंकुचित इन पाँच शक्तियों वाला स्वीकार किया है। आगे चलकर उन्होंने लिखा है—'अहो शिवयोगिनां यामलीसिद्धिः'। (महार्थ-६४) इसी सिद्धि को 'प्रकाशविमर्शरूपा' भी कहा है। अन्त में वे शाङ्कर मार्ग की इस प्रकार प्रशंसा करते हुए निम्न श्लोक को उद्धृत करते हैं—

'दुःखान्यपि सुखायन्ते विषमप्यमृतायते ।
मोक्षायते च संसारो यत्र मार्गः स शाङ्करः' ॥ (श्रीस्तोत्रावली)

जैसा कि 'चिद्गगनचन्द्रिका' के ३०५वे पद्य में 'सिद्धनाथ' कृत स्तुति का ही विवरण रूप यह कालिदास रचित ग्रन्थ है, तव तो ये शम्भुनाथ के पर्यायवाचक सिद्धनाथ अभिनवगुप्त के गुरु सिद्ध होते हैं, ऐसा स्वीकार करने पर श्रीवत्स नामक कालिदास की ईसवीय पूर्व प्रथम शताव्दी वाली प्राचीनता सन्देह में पड़ जायेगी। देखें—लघुसप्तशतीस्तोत्र।

'श्रीसिद्धिनाथापरनामधेयः श्रीशम्भुनाथो भुवनैकनाथः ।
तस्य प्रसादात् सकलागमाञ्च पृथ्वीधरः स्तोत्रमिदं चकार' ॥ (१७)

ये सिद्धनाथ भुवनेश्वरीमहास्तोत्र के रचयिता पृथ्वीधराचार्य के गुरु थे, जिन्होंने 'लघुसप्तशतीस्तोत्र की रचना की थी। इसी प्रकार का एक पद्य भुवनेश्वरीस्तोत्र में भी द्रष्टव्य है—

'श्रीशम्भुनाथ! करुणाकर! सिद्धिनाथ! श्रीसिद्धनाथ! करुणाकर! शम्भुनाथ! ।
सर्वापराधमलिनेऽपि मयि प्रसन्नं, चेतः कुरुष्व शरणं मम नान्यदस्ति' ॥ (४०)

यद्यपि चिद्गगनचन्द्रिका में महाकवि कालिदास के रचना-सादृश्य के हम और भी अनेक प्रमाण प्रस्तुत कर सकते हैं, जो विद्वानों द्वारा स्वीकार भी किये गये हैं, अतः हम श्रीवत्स को कालिदास का मूल नाम और तपःप्रभाव-प्राप्त नाम कालिदास मान लेते हैं, तो भी कालनिर्णय सम्वन्धी अड़चन ज्यों की त्यों खड़ी

ही रह जाती है। इसके वाद हमारे सामने एक विषमता और खडी होती है, वह है—चिद्गगनचन्द्रिका के प्रथम मंगलाचरण में श्रीगणेश की वन्दना। देखें—'दन्त्यास्योऽयं हठाद् यः शमयतु दुरितं शक्तिजन्मा गणेशः'। (चि० ग० चं० १) दूसरा मंगलाचरण शिवसम्वन्धी है और यह 'मालविकाग्निमित्र' नाटक के मंगलाचरण चतुर्थ पाद से पूर्णरूपेण साम्य रखता है, अतः इससे कोई विवाद नहीं है। इस गणेशवन्दना को देखकर विद्वान् सुप्रसिद्ध कालिदास तथा चिद्गगनचन्द्रिका के रचयिता कालिदास को एक मानने को तैयार नहीं होते, क्योंकि रघुवंश प्रथम सर्ग में पुत्रप्राप्ति की इच्छा से गुरु वसिष्ठ के आश्रम में जाते समय भी राजा दिलीप ने गणेश का पूजन न करके व्रह्माजी का पूजन कर अपनी यात्रा प्रारम्भ की। देखें—

'अथाभ्यर्च्य विधातारं प्रयतौ पुत्रकाम्यया ।
तौ दम्पती वसिष्ठस्य गुरोर्जग्मतुराश्रमम्' ।। (रघु० १।३५)

संयमी सुदक्षिणा-दिलीप पुत्रप्राप्ति की इच्छा से सृष्टिकर्ता व्रह्मा की उपासना करके गुरु वसिष्ठ के आश्रम की ओर गये। ऐसा लगता है कि उस समय विशेष करके स्कन्दपूजा की प्रधानता थी, किन्तु गणेशपूजा की क्या स्थिति थी इसे स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता।

कालसम्वन्धी दृष्टि आदि से सुप्रसिद्ध कालिदास को यदि हम ऐतिहासिकों के सामने यह सिद्ध करने में भले ही असमर्थ हों कि 'चिद्गगनचन्द्रिका' के रचयिता वे ही कालिदास थे, जिन्होंने रघुवंश आदि ग्रन्थों की रचना की, तो भी हम उसकी साहित्यशास्त्रीय प्रतिभा-समृद्धि के साथ उसे आगमशास्त्र का पारंगत, उपासक तथा साधक मानने में पूर्ण समर्थ हैं। कारण यह है कि उनकी प्रतिभा का आलोक हमें उनकी रचनाओं में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता रहता है।

'चिद्गगनचन्द्रिका' में वर्णित विषय का प्रतिपादन केवल साहित्यशास्त्र का ज्ञाता व्यक्ति नहीं कर सकता। उसका प्रतिपादन तो वही कर सकता है, जो साधक एवं परम उपासक होगा। अतएव इस आगमशास्त्रीय ग्रन्थ का सम्पूर्ण विषय सारगर्भ तथा महत्त्वपूर्ण है। यदि हम प्रस्तुत ग्रन्थ का रचयिता उसी सुप्रसिद्ध कालिदास को स्वीकार करते हैं, तो यह मानना ही पड़ेगा कि इनके जीवन का अधिकांश काल काश्मीर अथवा दक्षिणभारत में वीता होगा, भले ही कालसीमा विवादग्रस्त वनी रहे।

महाकवि कालिदास का 'स्थिरभक्तियोग'

समस्त भारतीय वाङ्मय के पारंगत, अप्रतिम प्रतिभासम्पन्न, सरस्वती के वरदपुत्र महाकवि कालिदास के काव्य-नाटकों में कोई भी विषय ऐसा शेष नहीं दिखलायी देता, जिसका समावेश इनकी कृतियों में प्रसंगवश न हुआ हो, भले ही उस विषय का उपयोग उस स्थल पर प्रधान अथवा गौण रूप से हुआ हो। इस दृष्टि से जब हम इनकी रचनाओं की ओर निहारते हैं, तो हमें भगवान् श्रीकृष्ण की उक्ति स्मरण हो आती है—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'। (गीता) अर्थात् जो मुझे जिस रूप से देखते हैं तथा भजते हैं, मैं उनके लिए वैसा ही रूप धारण कर लेता हूँ। ठीक यही दशा महाकवि की रचनाओं में उपन्यस्त समस्त शास्त्रीय विषयों की भी है। इनकी रचनाओं में जिस विषय का विद्वान् अपने विषय को देखना चाहता है, उसे उसकी विद्या के दर्शन संक्षेप अथवा विस्तार से अवश्य हो जाते हैं। यही महाकवि उपाधि की वास्तविकता है, यही उनका सार्वभौम स्वरूप है और इसीलिये सर्वत्र उनका सुयश फैला हुआ है। ऐसे महाकवि की अन्यतम कृति 'विक्रमोर्वशीय' नामक 'त्रोटक' के मंगलाचरण पद्य में दिये गये योग के विशिष्ट स्वरूप 'स्थिरभक्तियोग' का परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

महाकवि की कृतियों का परिशीलन करने से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि इन्होंने अपनी समस्त रचनाओं में कहीं भी किसी एक पद का भी निरर्थक अथवा अरुचिकर प्रयोग नहीं किया है। ध्वनितत्त्व के प्रतिष्ठापक श्रीआनन्दवर्धनाचार्य ने 'ध्वन्यालोक' में लिखा है—'सुप्रयुक्त व्यंग्य-व्यंजक शब्दों द्वारा ही महाकवियों को महाकवित्व की प्राप्ति होती है, न कि केवल वाच्य-वाचक शब्दों का सन्निवेश कर देने मात्र से'। अतः हम इसी दृष्टि से महाकवि द्वारा प्रयुक्त **'स्थिरभक्तियोग'** की परीक्षा प्रस्तुत कर रहे हैं।

यहाँ महाकवि ने न केवल योग की अपितु भक्तियुक्त अथवा भक्तिरूप योग की चर्चा की है, जो 'स्थिर' पद विशिष्ट है। इससे महाकवि की आत्माभिव्यक्ति का भी आभास लगता है, क्योंकि वे भी आरम्भ में महाकाली के परम उपासक थे, अतएव परंममाहेश्वर कालिदास की काव्य-नाटकादि समस्त कृतियों में भगवान् भूतभावन भवानीपति शिवजी की वन्दना प्रकार-भेद से देखी जाती है। सर्वप्रथम हम कालिदासीय रघुवश महाकाव्य के मंगलाचरण को ही यहाँ उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत कर रहे हैं—

> 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
> जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ' ॥ (रघु० १।१)

इस पद्य में शब्दार्थतत्त्व के साथ-साथ काव्यधारा में सफलतापूर्वक प्रवृत्त होने की कामना से महाकवि ने शब्द और अर्थ की भाँति परस्पर अद्वैतभाव से सम्पृक्त संसार के माता-पिता पार्वती-परमेश्वर की प्रार्थना की है। अभिनवगुप्त आचार्य ने तन्त्रालोक नामक ग्रन्थ मे उक्त श्लोक में वर्णित 'वाक्' के निम्नलिखित चार भेद स्वीकार किये हैं। यथा—१. परा, २. पश्यन्ती, ३. मध्यमा और ४. वैखरी। वास्तव में यह वाक्-तत्त्व विद्वानों के मत से छत्तीस तत्त्वों से समन्वित भगवती **'संवित्'** ही है। जिस प्रकार इस 'संवित्' से विश्वसृष्टि होती है, उसी प्रकार इससे काव्य की भी सृष्टि होगी। इस दृष्टि से महाकवि ने ग्रन्थारम्भ में उसकी वन्दना की। यद्यपि कवि ने सामान्य वन्दना की है, ऐसा कुछ लोग सोच सकते हैं; परन्तु वास्तविकता यह है कि वन्दना के माध्यम से कालिदास की शिवभक्ति के साथ एकीभाव की स्थापना हो गयी थी। प्राचीन आचार्यों की मान्यता है कि सर्वत्र व्यापक परमात्मा के चरणों में गिरना मात्र भक्ति नहीं कही जाती, अपितु जब परमात्मा से एकीभाव की स्थापना हो जाती है, वही वास्तविक प्रणाम तथा वही वन्दना है। 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' (कुमार०१।१) इस अंश द्वारा हिमालय में निवास करने वाले शिवजी का

ही स्मरण किया गया है। इसके अतिरिक्त अध्याय २ में श्लोक ५८ से ६१ तक शिवजी की महिमा का सुस्पष्ट वर्णन किया गया है। पूर्वमेघ में ३७वें पद्य से ४०वें पद्य तक 'महाकालेश्वर' के ऐश्वर्य का वर्णन किया गया है। अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के मंगलाचरण 'या सृष्टिः······ रीशः'। (अ०शा० १।१) में शिवजी की अष्टमूर्तियों का नमस्कारात्मक वर्णन और अन्त में भरतवाक्य के रूप में 'ममापि क्षपयतु नीललोहितः'। इस प्रकार शिव का वन्दन किया है। इसी दृष्टि से विक्रमोर्वशीय तथा मालविकाग्निमित्र नाटकों के मंगलाचरणों का भी अवलोकन करें।

इस प्रकार महाकवि की अपने उपास्य देवता के विषय में स्थिरभक्ति है, जो सर्वथा अद्वैतभावना से परिपूर्ण है, अतः इसे हम 'स्थिरभक्तियोग' की संज्ञा दे सकते हैं। परमशैव महाकवि कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीय' नामक रूपक के मंगलाचरण में लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर शिवजी के उस **'स्थाणु'** रूप की वन्दना की है, जो सदैव समाधि-अवस्था में एकासनासीन रहते हैं और जिनकी प्राप्ति 'स्थिरभक्तियोग' से ही सम्भव थी। वह पंक्ति इस प्रकार है—'स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभः निःश्रेयसायास्तु वः'। (१।१) अतएव पार्वती ने सामान्य तपोयोग से दुर्लभ परमेश्वर शिव को प्राप्त करने के लिए 'स्थिरभक्तियोग' का आश्रय लिया, जिसका वर्णन कुमारसम्भव महाकाव्य में देखें—

'स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे क्रमेण नाभिं प्रथमोदविन्दवः' ॥ (कु० ५।२४)

पद्मासनस्थित पार्वती की शारीरिक स्थिति तपस्या के समय सर्वथा स्थाणुरूप हो गयी थी, क्योंकि आगमतन्त्र में लिखा है—'देवो भूत्वा देवं यजेत्'। इस प्रकार की तपश्चर्या में तपस्वीजन देह की चिन्ता का पूर्णरूपेण त्याग कर देते हैं, परन्तु कष्ट की अनुभूति तो होती ही है, अतएव महाकवि ने लिखा है—'क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते'। (कु० ५।८६) इस प्रकार 'स्थिरभक्तियोग' द्वारा प्राप्त स्थाणु रूप शिव से पार्वती को निःश्रेयस् (परमार्थरूप शिव) की यथाभिलषित प्राप्ति हुई।

प्रकारान्तर से उक्त विषय को इस प्रकार देखा जा रहा है। कालिदास का योगपक्ष तपस्या से रहित नहीं था। उनका सन्देश यह रहा है कि सर्वविध समृद्धि की प्राप्ति के लिए 'स्थिरभक्तियोग' का मार्ग ही सर्वोत्तम है।

कतिपय उदाहरण—'रघुवंश' प्रथम सर्ग में महाराजा दिलीप को पुत्रप्राप्ति के लिए ब्रह्मर्षि गुरु वसिष्ठ के आश्रम में रहकर कामधेनु की पुत्री नन्दिनी की सेवा मुनिजनोचित स्थिति में २१ दिनों तक करनी पड़ी। दिलीप की गो-सेवा अपने में एक विशिष्ट आदर्श रखती है। इस सेवाकाल में अन्तिम दिन नन्दिनी द्वारा ली गयी परीक्षा में भी राजा दिलीप शत-प्रतिशत उत्तीर्ण हुए। फलतः उन्हें पुत्रप्राप्ति का वरदान मिला। सचमुच राजा दिलीप का यह 'स्थिरभक्तियोग' ही था।

'कुमारसम्भव' मे भगवती पार्वती भगवान् शिव को वररूप में प्राप्त करने के लिए तपस्या करने लगी, क्योंकि 'तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः' ये दोनों उपलब्धियाँ विशिष्ट तपोयोग के विना नहीं मिल सकती थीं। अतः पार्वती ने वैसी कठोर तपस्या की जैसी ऋषि-मुनियों के लिए भी सम्भव नहीं थी, फलतः उसे त्रैलोक्यसुन्दर शिव पतिरूप में प्राप्त हुए।

'मेघदूत' में विरही यक्ष को अपनी प्राणप्रिया पत्नी से और विरहिणी यक्षिणी को अपने प्राणप्रिय पति से एकवर्ष पर्यन्त अलग रहकर अनेक असह्य कष्ट उठाने पड़े, जिन्हें हम तप या स्थिरभक्तियोग कह सकते हैं।

'अभिज्ञानशाकुन्तल' में एक दिन के सम्बन्ध से दुष्यन्त-शकुन्तला को १२ वर्षों तक परस्पर विरहाग्नि में झुलसना पड़ा, किन्तु दोनों के मन में एक-दूसरे के प्रति 'स्थिरभक्तियोग' की सफल साधना का निर्वाह होने से वे दोनों अन्त में सफलमनोरथ हुए। अन्य नाटकों के कथानकों की स्थिति भी प्रायः इसी प्रकार दृष्टिगोचर होती है। वास्तव में कष्ट पाकर अन्त में जो सुख मिलता है, वही चिर-स्थिर होता है।

तन्त्रशास्त्र में सर्वांगपूर्ण सफलता प्राप्त करने के लिए सद्गुरु की परम आवश्यकता होती है। वह गुरु कैसा हो ? इस सम्बन्ध में 'तन्त्रराज' में स्पष्ट निर्देश इस प्रकार दिया है—

'सुन्दरः सुमुखः स्वस्थः सुलभो वहुतन्त्रवित् ।
असंशयः संशयच्छिन्निरपेक्षो गुरुर्मतः' ॥ (तन्त्रराज)

अर्थात् जो सुन्दर आकृतिवाला (काना, कुवड़ा आदि किसी प्रकार का विकृत आकृति का न) हो, सुमुख जो कटुभाषी न हो, स्वस्थ जो सर्वथा रोगरहित हो, सुलभ जो सरलता से प्राप्त हो सके, अनेक प्रकार के तन्त्रशास्त्रों के प्रयोग को जानने वाला हो, तन्त्रशास्त्र में जिसे किसी प्रकार का सन्देह (भ्रम) न हो, शिष्य के सभी प्रकार के सन्देहों को दूर करने में समर्थ तथा निरपेक्ष अर्थात् शिष्य आदि से किसी प्रकार धन-द्रव्य आदि लेने की जो इच्छा न करता हो, उसे गुरु कहा गया है। ऐसा गुरु शिष्य के चंचल मन को अपने उपदेशों द्वारा स्थिर करने में समर्थ होता है। भगवान् शिवजी को अनेक स्थानों पर त्रिभुवन-गुरु पद से महाकवि कालिदास ने स्मरण किया है। देखें—'पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य' ॥ (पू०मे० ३७) इस प्रकार के स्थिरभक्तियोग से ही सकलजन उपासनीय चराचरगुरु शिव की उपासना की जा सकती है। समाधि दशा में स्थाणु रूप में स्थित वे सदाशिव सदैव अपने 'आशुतोष' रूप से भक्तों को निःश्रेयस् की प्राप्ति कराया करते हैं।

कालिदास एवं अश्वघोष : एक ऐतिहासिक गवेषणा

किसी विवादग्रस्त विषय पर विचार करने के लिए प्रमाण-प्रमेय का आश्रय लेना परम आवश्यक होता है। जैसे 'सांख्यकारिका' में कहा गया है—'मानाधीना मेयसिद्धिः', अर्थात् प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के अधीन होती है, किन्तु दुर्दैव से आधुनिक भारतीय विद्वान् पाश्चात्य विद्वानों के प्रमादपूर्ण लेखों को प्रमाण मानकर और यथार्थ प्रमाण-प्रद्धति का अनादर करके उनका अन्धानुकरण करते हुए अनेक भ्रामक मतों का सिद्धान्त रूप से समाज के सामने रखने का असफल प्रयत्न करते हैं तथा उनके उन विचारों को प्रामाणिक मानकर उन पर विश्वास कर लेते हैं। संतोष है कि अनेक भारतीय विचारकों को अब प्रतीत हो रहा है कि पाश्चात्य विद्वानों का अनुसरण करने वाले भारतीयों ने भी भारतवर्ष के तथा साहित्यशास्त्र के इतिहास में भी अनेक विसंगतियाँ की हैं। इनका निवारण करने के लिए कुछ प्रतिभासम्पन्न श्रीभगवद्दत्त एवं युधिष्ठिर मीमांसक आदि विद्वानों ने पुष्ट एवं अकाट्य प्रमाणों का संनिवेश करते हुए उचित रीति से विवादग्रस्त स्थलों को स्पष्ट किया है, विद्वान् इनकी कृतियों का सादर अवलोकन करें।

कविकुलगुरु कालिदास और उनका काल—यह भी ऐतिहासिकों के सामने एक ऐसा ही उलझा हुआ अतएव विवादग्रस्त प्रश्न है, जिसे विदेशियों ने अपने भ्रामक मतों से उलझाया और पराधीनता के पाश से जकड़े हुए भारतीय विद्वानों ने उन मतो को स्वीकार कर लिया, फिर उन मतों की पुष्टि करने के लिए अनेक प्रमाणाभासों तथा हेत्वाभासों को निर्भय हो प्रस्तुत कर डाला। यदि नैयायिक विद्वान् को समस्त हेत्वाभासों को एक ही स्थान पर देखने की इच्छा हो तो वे आधुनिक विद्वानों के इतिहास-ग्रन्थों का अवलोकन करें।

यदि हम विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता को पुरालेख या मुद्रा परक सामग्री के अभाव में सन्दिग्ध मानें, तो प्राचीन भारत के कितने ही प्रसिद्ध व्यक्तियों ने, जिनका व्यक्तित्व शंका का विषय नहीं है, वे भी अभिलेख तथा मुद्रा आदि के अभाव में सन्दिग्ध मानें जायेंगे, जिसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। जैसे बिम्बिसार, अजातशत्रु महापद्म, चन्द्रगुप्त मौर्य आदि भारतीय इतिहास के महान् प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों ने भी अपने इतिहास के निर्माण के लिए तथाकथित प्रत्यक्ष सामग्री नहीं छोड़ी है, फिर भी उनका अस्तित्व असन्दिग्ध है।

उज्जयिनी के शासक का व्यक्तिगत नाम 'विक्रमादित्य' था। उनका विरुद 'विषमशील' 'साहसांक' तथा 'शकारि' था। उनके परवर्ती अन्य गुप्त राजाओं ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी, यह उनका व्यक्तिगत नाम नहीं था। हमें यूरोपीय इतिहास में भी समानान्तर दृष्टान्त प्राप्त होते हैं। देखें—प्रारम्भ के सीजर, एलेग्जेण्डर आदि नाम परवर्ती राजाओं द्वारा उपाधि के रूप में ग्रहण किये जाते रहे हैं। गुप्तों तथा अन्य परवर्ती भारतीय राजाओं के आदर्श मालवगणतन्त्र-नायक 'विक्रमादित्य' ही थें, जो प्रथम शती ई० पूर्व मे विद्यमान थे। कुछ अन्य तथ्य इस प्रकार है—

१. भारतीय परम्परा चन्द्रगुप्त-द्वितीय को कालिदास का आश्रयदाता मानने के पक्ष में नहीं हैं। २. 'गुणाढ्य' की 'बृहत्कथा' पर आधारित 'सोमदेव' कृत 'कथासरित्सागर' में उज्जयिनी के निवासी परमारवंशीय महाराजा विक्रमादित्य का वर्णन मिलता है। विदेशियो को हटाकर 'मालवगणस्थिति' नामक एक नवीन संवत् को प्रवर्तित करने वाले इसी परमशैव सम्राट् ने वैदिक धर्म का पुनः प्रचार-प्रसार तथा महाकालेश्वर मन्दिर का निर्माण करवाया। ३. कालिदास रचित 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक में विक्रमादित्य एवं उनके पिता महेन्द्रादित्य इन दोनों का नाम प्रकारान्तर से मिलता है। ४. हाल (ई० पूर्व प्रथम शताव्दी) द्वारा प्रणीत 'गाथासप्तशती'

ग्रन्थ में विक्रम का उल्लेख हुआ है। विक्रमादित्य परमारवंशीय होने के साथ ही साथ सूर्यवंशीय भी थे, कालिदास ने 'रघुवंश' में सूर्यवंश का वर्णन किया है। ५. सम्राट् विक्रमादित्य तथा उनके सभारत्न महाकवि कालिदास दोनों ही परमशैव थे। ६. महाकवि कालिदास कृत 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में आया हुआ 'पशुमारण' शव्द इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि कालिदास उस काल में विद्यमान थे, जव कि समाज में यज्ञकर्मों की प्रधानता थी। उक्त नाटक के अन्तिम भरतवाक्य में प्रयुक्त 'गणशतपरिवर्तैरेवमन्योन्यकृत्यैः' यह पद्यांश इस वात को प्रमाणित करता है कि महाकवि के समय में गणराज्यों की प्रधानता थी। गणराज्य ईसा पूर्व प्रथम शताव्दी में विद्यमान थे, वाद में नहीं। ७. ईसा की प्रथम शती में रचित अश्वघोष की कृति महाकवि कालिदास के काव्यों से प्रभावित है। ८. महाकवि कालिदास के काव्यों में कुछ ऐसे पदों के प्रयोग देखें जाते हैं, जो अतिप्राचीन हैं, ऐसे प्रयोग वेदों में भी पाये जाते हैं। देखें—

'तं पातयां प्रथममास पपात पश्चात्'। (रघुवंश ९।६१)
'प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार'। (वही १२।३६)
'त्रियम्वकं संयमिनं ददर्श'। (कुमार० ३।४४)

पाणिनीय व्याकरण के अनुसार उक्त प्रयोग क्रमशः इस प्रकार लिखे जाने पर शुद्ध माने जा सकते हैं— १. पातयामास, २. प्रभ्रंशयाञ्चकार तथा ३. त्र्यम्वकम्। कालिदास के ये प्रयोग ईसवीय पूर्व प्रथम शताव्दी में महाकवि की सत्ता को प्रमाणित करते हैं, क्योंकि उनके समय मे पाणिनीय व्याकरण के अतिरिक्त अन्य व्याकरणों का भी पर्याप्त प्रभाव था। इसके अतिरिक्त कालिदास ने अपने नाटकों में मागधी एवं प्राकृत का प्रयोग किया है, जिसका प्रयोग ईसा के पूर्व ही देखा जाता है। इन अन्तःसाक्ष्यों से सिद्ध होता है कि महाकवि की सत्ता ईसवीय पूर्व प्रथम शताव्दी में ही थी। विशेष विवेचन के लिए डॉ० राजवली पाण्डेय कृत **'विक्रमादित्य'** ग्रन्थ का पर्यालोचन करे, क्योंकि उक्त ग्रन्थ में कालिदास और विक्रमादित्य से सम्वन्धित सभी मत-मतान्तरों पर वुद्धिपूर्वक एवं युक्तिसंगत विचार किया गया है।

इन कतिपय सुदृढ़ तथ्यों के विपरीत एक इस प्रकार की भ्रमपूर्ण मान्यता भी विद्वानों में जड़ जमा चुकी है कि अश्वघोष की कृतियों का प्रभाव कालिदास की रचनाओं पर पड़ा है। यदि हम इसे स्वीकार कर लेते हैं, तो पहले तो काल सम्वन्धी आपत्ति खड़ी होती है अर्थात् हमें महाकवि को अश्वघोष का परवर्ती स्वीकार करना होगा, जव कि कालिदास ने अपने द्वारा रचित 'मालविकाग्निमित्र' नाटक की भूमिका में लिखा है कि 'प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रमिश्रादीनां प्रवन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य'। भास, सौमिल्ल, कविपुत्रमिश्र आदि की कृतियों के रहते हमारे नाटक का इतना आदर क्यों? यहाँ अपने पूर्ववर्ती अश्वघोष का उल्लेख महाकवि ने नहीं किया, इससे विश्वास होता है कि अश्वघोष कालिदास के परवर्ती थे अर्थात् कालिदास के समय अश्वघोष का अस्तित्व नहीं रहा होगा।

एक अन्य मत— कालिदास को द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय मानने वालों का यह कथन है कि कालिदास अश्वघोष के परवर्ती थे, क्योंकि उन्होंने अश्वघोष की रचनाओं का अनुकरण किया है। इस पर आप विचार करें— 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः'। अर्थात् वडों का अनुकरण छोटे करते हैं। काव्यरचना की दृष्टि से कालिदास सर्वश्रेष्ठ हैं, यह सर्वसम्मत मत है। ऐसे कालिदास जिन्हें प्राच्य-पाश्चात्य जगत् कविकुलगुरु स्वीकार करता है, भला वे दूसरे का अनुकरण कैसे कर सकते हैं? अश्वघोष की रचना सभी दृष्टियों से कालिदास की रचना से अवर है, जव कि श्रीहर्ष एवं विल्हण जैसे कवियों ने भी कालिदास का अनुकरण किया है, तव वे दूसरों का अनुकरण कैसे कर सकते हैं? देखें—

'कवयति पण्डितराजे कवयन्त्यन्येऽपि विद्वांसः।
नृत्यति पिनाकपाणौ नृत्यन्त्यन्येऽपि भूतवेतालाः'॥ (पण्डितराज)

इस उक्ति को देखकर यह कह पाना कठिन होगा कि भूतों को नाचते देखकर शिवजी भी नाचने लगे। तांडवनृत्य शिवजी का प्रसिद्ध है, न कि भूत-वेतालों का।

समुद्रगुप्त के दिग्विजय-वर्णन व्याज से कालिदास ने 'रघुदिग्विजय' का वर्णन किया है, का प्रतिवाद—यदि यह कथन सत्य था तो कालिदास समुद्रगुप्त की ही दिग्विजय-यात्रा का वर्णन करते, क्योंकि उन पर कोई प्रतिबन्ध तो नहीं था। 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में अग्निमित्र को नायक बना कर उसकी रचना की, वे इसे छोड़कर समुद्रगुप्त की किसी कथा को लेकर नाटक लिख सकते थे। उसके बहाने 'रघु' पर आश्रित काव्य लिखना कोई आवश्यक न था। दिग्विजय सबसे पहले समुद्रगुप्त ने ही किया हो, ऐसी बात भी नहीं है। महाभारत में पाण्डवों के दिग्विजय की चर्चा प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त और भी अनेक दिग्विजय बहु चर्चित हैं। चक्रवर्ती प्रत्येक राजा के लिए दिग्विजय करना परम आवश्यक होता भी है।

दूसरा अकाट्य तर्क—दिग्विजय सदैव चारों दिशाओं का होता रहा है और सभी का आरम्भ पूर्व दिशा से ही होता है। समुद्रगुप्त के बारें में जो शिलालेख उपलब्ध हैं, उनमें कहीं भी इन्होंने हूण, पारसी तथा पर्वतीय गणों को जीता, ऐसा उल्लेख नहीं है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय एवं वाचस्पति गैरोला ने भी अपने-अपने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' ग्रन्थों में अश्वघोष को कालिदास का परवर्ती स्वीकार किया है। क्षेमेशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने 'डेट ऑफ कालिदास' मे अश्वघोष-विषयक विवाद में अत्यन्त सूक्ष्मता से दोनों महाकवियों के काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् अश्वघोष को कालिदास का परवर्ती सिद्ध किया है।

एक तथ्य यह भी अवधेय है कि महाकवि कालिदास का मुख्य उद्देश्य अपने काव्यों के माध्यम से अपनी कवित्व शक्ति का प्रदर्शन था और इसके विपरीत अपने काव्यरचना का उद्देश्य बौद्धकवि अश्वघोष इस प्रकार बतलाते हैं—'इत्येषा व्युपशान्तये न रतये' (देखें—सौन्दरनन्द १८।६३)। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्होंने सामान्य जनता को बौद्ध धर्म के प्रति आकृष्ट करने के लिए यह रचना काव्य रूप में की है। क्योंकि शुष्क एवं नीरस दार्शनिक तत्त्वों का प्रचार सरलता से हो सके अतएव कवि अश्वघोष ने सरस काव्य-मार्ग का आश्रय लिया। वास्तव में ईसा की प्रथम शताब्दी में स्थित ये कुषाण राजा कनिष्क के समकालिक एक बौद्ध दार्शनिक विद्वान् एवं कवि थे।

और भी देखें—ए० ए० मेक्डोनल ने 'ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर' में महाकवि कालिदास की जो त्रिकालसत्य विरुदावली लिखी है, क्या वह पात्रता अश्वघोष की रचनाओं में किसी को आज तक कभी कहीं प्राप्त हुई है? जो मात्र यह कहने का दुःस्साहस करते हैं कि अश्वघोष कालिदास के पूर्ववर्ती थे और उन्होंने अश्वघोष की कृतियों का अपने काव्यों में अनुकरण किया है। वे मात्र दिवास्वप्न देखते हैं तथा उन विद्वानों की काव्यज्ञता की इयत्ता इतने से ही विदित हो जाती है कि वे सरस्वती के वरदपुत्र एवं विश्वकवि कालिदास को अश्वघोष का अनुकर्ता कहकर अपना ही उपहास करते हैं।

हाँ, एक बार यह तो किसी प्रकार स्वीकार किया जा सकता है कि परवर्ती व्यक्ति भी अपने पूर्ववर्ती से अधिक प्रतिभासम्पन्न हो सकता है, किन्तु यह कह दिया जाय कि गोस्वामी तुलसीदास की रामायण को सामने रखकर वाल्मीकि ने अपनी रामायण लिखी थी; ठीक ऐसा ही अपलाप यह भी है कि कालिदास ने अश्वघोष की कृतियों का अनुकरण किया, यह वाक्य काव्यरसमर्मज्ञों के लिए अत्यन्त अरुन्तुद है।

विक्रम और उनके नवरत्न

शकारि-सम्राट् विक्रमादित्य की कीर्तिगाथा भविष्यपुराण, कथासरित्सागर, वृहत्कथामंजरी, नवसाहसांकचरित, प्रवन्धचिन्तामणि, ज्योतिर्विदाभरण, विक्रमार्कचरितम् आदि ग्रन्थों में अनेक प्रकार से मिलती है, किन्तु लक्ष्य सभी का एक ही रहा है—विक्रमादित्य के स्वर्णिम शासन एवं उदात्त चरित्र का वर्णन। अपने सुयश से जो हिमालय से समुद्र पर्यन्त विख्यात था, आज उस वीर विक्रमादित्य के काल के अस्तित्व का अन्वेषण करना पड़ रहा है, यह उस महाकाल का ही सुविदित प्रभाव है। ये वे ही स्वनामधन्य वीर विक्रमादित्य हैं, जिनके नाम से विक्रमसंवत् चला आ रहा है, इनके नवरत्नों (सभारत्नों) के सम्वन्ध में यह पद्य सुप्रसिद्ध है—

'धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य'॥

वास्तव में यह नवरत्नमाला विक्रम को प्रतिभासित करती थी अथवा सम्पूर्ण वसुन्धरा को वसुमती वनाती थी? यह विचारणीय विषय है। काल सम्वन्धी विसंवादिता से दूर हटकर हम यहाँ इन विद्वानों की विद्वत्ता से चमत्कृत होकर इनकी चारु चर्चा को चर्चित कर रहे हैं।

१. धन्वन्तरि—पौराणिक परम्परा के अनुसार ये समुद्रमन्थन से निकले हुए चौदह रत्नों में अन्यतम हैं और ये आयुर्वेद की शल्य-शालाक्य आदि शाखाओं के प्रवर्तक के रूप में वहुचर्चित हैं। इनके नाम का उल्लेख सुश्रुतसंहिता मे आदिदेव के रूप में प्राप्त होता है। ग्रन्थ-रचना की दृष्टि से इनके नाम से जुटा हुआ और नौ भागों में वँटा हुआ **'धन्वन्तरिनिघण्टु'** मिलता है, इसके अतिरिक्त इनकी कृति के रूप में एक **'रत्नमालाकोश'** भी था, इस प्रकार की सूचना अमरकोश के टीकाकार क्षीरस्वामी ने अपनी टीका में दी है। ये धन्वन्तरि अमरसिंह से अति प्राचीन थे। इनको यदि विक्रम की सभा का नवरत्न स्वीकार किया जाय तो मात्र कपोलकल्पना कही जायेगी और ऐतिहासिक दृष्टि से वह अपलाप मात्र ही होगा। सुभाषित-साहित्य की ओर जव हम दृष्टिपात करते हैं, तो कहीं भी उक्त धन्वन्तरि के अतिरिक्त इस नाम के किसी अन्य सुविख्यात विद्वान् का पता नहीं लगता और समुद्रमन्थन से उत्पन्न धन्वन्तरि इनके नवरत्नों मे स्वीकार नहीं किये जा सकते। विद्वान् विचार करें, यह प्रथम रत्न कौन था और कहाँ गया?

२. क्षपणक—इस नाम से प्रतीत होता है कि ये वौद्ध या जैन भिक्षु रहे होंगे, जिनका दर्शन अमंगलमय माना जाता रहा है। देखें–**'कथं प्रथममेव क्षपणकः'**। (मुद्राराक्षस ४) क्षपणकों के वेश का उपहास करते हुए चाणक्य ने लिखा है–**'नग्नक्षपणके देशे रजकः किं करिष्यति'**। (चाणक्यनीति) पञ्चतन्त्र की एक कथा में क्षपणक शव्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। ये सभी आक्षेप नाम को दृष्टि में रखकर किये गये हैं, फिर भी ये वहुचर्चित प्रतीत नहीं होते, किन्तु आत्माराम विद्वानों को इसकी चिन्ता किसी काल में नहीं रही। अभी तक इनकी कोई काव्यकृति भी प्रकाश में नहीं आयी है। कुछ विद्वानों ने **'भिक्षाटनकाव्य'** को इनकी रचना स्वीकार कर एक मनोरम पद्य उद्धृत किया है, जव कि शैवकाव्यों की श्रेणी में **'गोकुलनाथ'** का भिक्षाटनकाव्य प्रसिद्ध है, जिसमें यह पद्य नहीं है; तथापि हम दूसरों द्वारा उद्धृत उस पद्य को यहाँ प्रस्तुत करते हैं—

'नीतिर्भूमिभुजां, नतिर्गुणवतां, ह्रीरङ्गनानां, रति-
र्दम्पत्योः, शिशवो गृहस्य, कविता वुद्धेः, प्रसादो गिराम्।
लावण्यं वपुषो मतिः सुमनसां, शान्तिर्द्विजस्य, क्षमा
शान्तस्य, द्रविणं गृहाश्रमवतां, शीलं सतां मण्डनम्'॥

प्रस्तुत पद्य की शब्दशय्या विशदार्थशालिनी होते हुए भी क्षपणक-परिचय में उपकारवती सिद्ध नहीं होती। **'नानार्थकोष'** के रचयिता भी क्षपणक नहीं थे।

३. अमरसिंह—ये शब्दशास्त्र के प्रामाणिक विद्वान् थे। जैन सम्प्रदाय के आचार्य होने के कारण किसी इतरजातीय असहिष्णु विद्वान् ने **'अमरसिंहो हि पापीयान् सर्व भाष्यमचूचुरत्'**। इस प्रकार का आक्षेप करने पर भी इनकी स्तुति ही की है। अमरसिंह की अमरकृति **'अमरकोश'** को संस्कृतशास्त्र का विद्वान् कभी भी भुला नहीं सकता। इसकी प्रशंसा में कहा गया है-**'अष्टाध्यायी जगन्माताऽमरकोशो जगत्पिता'**। अर्थात् पाणिनि की अष्टाध्यायी और अमरसिंहकृत अमरकोश संस्कृतज्ञों के लिए माता-पिता के समान हैं। अमरकोश की उपादेयता तथा लोकप्रियता का ही कारण है कि इसकी टीकाएँ तथा रूपान्तर प्रायः सभी भाषाओं में हो चुका है। सदुक्तिकर्णामृत से उद्धृत यह पद्य इनकी वास्तविक योग्यता का समुचित परिचायक है—

'प्रयोगव्युत्पत्तौ प्रतिपदविशेषार्थकथने
प्रसन्नो गाम्भीर्ये रसवति च काव्यार्थरचने।
अगम्यायामन्यैर्दिशि परिणतानर्थवचसो-
र्मतं चेदस्माकं कविरमरसिंहो विजयते'॥

४. शङ्कु—छन्दोबन्धन में सिकुड़कर 'शङ्कुक' केवल 'शङ्कु' मात्र रह गये। ये भी अमरसिंह की भाँति बहुचर्चित विद्वान् रहे हैं। आचार्य मम्मट ने रससिद्धान्तनिरूपण-प्रकरण में भट्टलोल्लट के पश्चात् शंकुक के मत का सादर उल्लेख किया है। काश्मीरकेसरी कल्हण कृत् **राजतरङ्गिणी** नामक ऐतिहासिक काव्य से यह पद्य इनके परिचय के लिए सादर उद्धृत किया जा रहा है—

'अथ मम्मोत्पलयोरुदभूद् दारुणो रणो
रुद्धप्रभावा यत्राऽऽसीद् वितस्ता सुभटैर्हतैः।
कविर्बुधमनःसिन्धुशशाङ्कः शङ्कुकाभिधो
यमुद्दिश्याऽकरोत् काव्यं भुवनाभ्युदयाभिधम्'॥

यदि हम कल्हण की राजतरंगिणी में कथित **'भुवनाभ्युदय काव्य'** के कर्ता शंकुक को अभिनव गुप्त द्वारा भट्टलोल्लट के मत के खंडनकर्ता जिस शंकुक का वर्णन किया है, उससे जोड़ते हैं तो कालसीमा इसमें आड़े आयेगी, यह ध्यान रहे। दूसरे लेखक इस सम्बन्ध में जो भी लिख गये हों।

५. वेतालभट्ट—विक्रम और वेताल इतने लोकप्रिय हो गये थे कि कथा-वार्ता के रूप में ये आबाल-वृद्ध से भुलाये नहीं जा सकते। पण्डितमंडली में **'वेतालस्तत्रैव रमते'**। यह मुहावरा आज तक घर कर गया है। इसी पर आधारित **'वेतालपञ्चविंशति'** कथासाहित्य है, जिसे हिन्दी में **'वेतालपचीसी'** कहा जाता है। यह छोटी-बड़ी कथाओं का एक अच्छा संग्रह है। इसके अतिरिक्त विक्रमसभारत्न वेतालभट्ट का परिचायक कोई साहित्य आज उपलब्ध नहीं है, अतः हम मौन एवं लज्जित हैं।

६. घटखर्पर—इनके नाम से मिलने वाले **यमककाव्य** में केवल बाईस श्लोक हैं। जिनका विषय है—विरहविधुरा किसी नायिका का अपने प्रियतम के पास वर्षा के आरम्भ में सन्देश भेजना। इन बाईस श्लोकों पर कवि की यह गर्वोक्ति—

'भावानुरक्तवनितासुरतैः शपेयमालभ्य चाम्बुतृषितः करकोशपेयम्।
जीयेयं येन कविना यमकैः परेण तस्मै वहेयमुदकं घट-खर्परेण'॥

अर्थ स्पष्ट है और यह पद्य विद्वज्जनों को आनन्दित करता आ रहा है। वास्तव में **'स्वचित्तकल्पितो गर्वः कस्य नात्रापि विद्यते'**। यद्यपि भाषा, भाव, गुण, रीति, रस, अलंकार आदि काव्योचित गुणों से ये पद्य

सहृदयहृदयानन्दकारक हैं, तथापि इस लघुतम रचना का काव्यक्षेत्र में क्या स्थान हो सकता है। हो सकता है, इनकी अन्य रचनाएँ भी रही हों, जो काल के कुप्रभाव से नष्ट-भ्रष्ट होकर लुप्त हो गयी हों। आज यह **'घटखर्पर'** काव्य उपलब्ध होता है। इसके अन्य पद्य भी श्रुतिमधुर तथा यमकालंकार से परिपूर्ण हैं। प्रस्तुत कविकृत इन पद्यों के सम्बन्ध से इतना तो कहा ही जा सकता है कि विप्रलम्भशृंगार रस की पताका को फहराने में यदि महाकविकृत मेघदूत समर्थ है तो संयोगशृंगार की पताका इन बाईस पद्यों ने भी खूब फहरायी है। हो सकता है, समकालीन घटखर्पर का यह प्रयास कालिदास को अपनी प्रतिभा दिखलाने के लिए ही किया गया हो।

७. कालिदास—शकारि वीर विक्रम की सभा के नवरत्नों में महाकवि कालिदास अन्यतम भास्वर रत्न थे, इस विषय की चर्चा अनेक स्थानों पर की जा चुकी है, किन्तु इनके द्वारा रचित रघुवंश महाकाव्य के छठें सर्ग के ३१ से ३६ तक के श्लोकों का आप परिशीलन करें, तब आपको स्वयं अनुभव होगा कि **'महाकालनिकेतन, सिप्रातरङ्गानिलकम्पित, प्रतापसंशोषितशत्रुपङ्क** तथा **सामन्तशिखामणि'** ये विशेषण किसकी याद दिला रहे हैं? इसके अतिरिक्त 'विक्रमोर्वशीयनाटक' का यह गद्यखंड **'अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः'** तो सीधे कालिदास का सम्बन्ध विक्रमादित्य से जोडने में पूर्ण रूप से सक्षम है। कालनिर्णय का विवाद कालिदास तथा विक्रमादित्य का परस्पर सापेक्ष्य है। इनके ग्रन्थों के वारे में जो निर्णय सुधी-समाज ने किया है, वही हमको भी मान्य है। इनसे सम्बन्धित किंवदन्तियाँ या तो निराधार हैं अथवा वे उनके आधारों को ढूँढकर जब सामने आयेंगी तभी विद्वत्-समाज तदनुसार कोई निर्णय ले सकेगा।

८. वराहमिहिर—आदिम सभारत्न (धन्वन्तरि) आयुर्वेद के स्रष्टा के रूप में प्रख्यात थे तो ये अष्टम सभारत्न खगोलविद्या के विद्वान् थे। ज्योतिषशास्त्र जिनके कारण चिरकाल तक गौरव का अनुभव करता रहेगा, वे थे फलित-ज्योतिष के आचार्यों में अग्रगण्य वराहमिहिर। इन्होंने सिद्धान्तज्यौतिष के विषय में **'पञ्चसिद्धान्तिका'** तथा **'जातकार्णव'** ग्रन्थों की रचना की; इनमें प्रथम ग्रन्थ प्रकाशित है, द्वितीय काठमाण्डू के **'वीरपुस्तकालय'** में हस्तलिखित प्रति के रूप मे सुरक्षित है। जातक के विषय में इनके **'बृहज्जातक'**, **'लघुजातक'** एवं **'बृहद्यात्रा'** ग्रन्थ प्रकाशित हैं। इनका एक ग्रन्थ और है, जो इन्हीं के नाम से प्रसिद्ध है, उसका नाम है—**'वाराहीसंहिता'** अथवा **'बृहत्संहिता'**। विषयान्तर होने से इन ग्रन्थरत्नों का परिचय यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

परिचय—इनका जन्म तन्त्र-मन्त्रवेत्ता तथा ज्योतिषज्ञ शाकद्वीपीय ब्राह्मणवंश में हुआ था। शाकद्वीपीय ब्राह्मणो के कुल में सूर्य की उपासना चिरकाल से चली आ रही है। इनके नाम के साथ जुड़ा हुआ **'मिहिर'** शब्द इस कथन को प्रमाणित करता है। इन्होंने सूर्य की उपासना कर उनके वरदानस्वरूप ज्यौतिषशास्त्र का अपरिमित ज्ञान प्राप्त किया था। इनके पिताजी का नाम **आदित्यदास** तथा पुत्र का नाम **पृथुयश** था। इनका बाल्यजीवन काम्पिल्य नगरी (कलापी) में बीता, यहीं रहकर इन्होंने अध्ययन किया, तदनन्तर कुलपरम्परा के अनुरूप सूर्यदेव की उपासना भी की।

९. वररुचि—ये सुप्रसिद्ध विद्वान् एवं कवि थे। इनके परिचायक अनेक पद्य 'शार्ङ्गधरसंहिता', 'सुभाषितभाण्डागार', 'सुभाषितावली' तथा 'सदुक्तिकर्णामृत' में देखे जा सकते हैं। इस नाम के तीन व्यक्तियों का उल्लेख इतिहास में मिलता है—

१. वार्तिककार, २. प्राकृतप्रकाश के रचियता तथा ३. सुभाषित-साहित्य में बहुचर्चित वररुचि। अब विद्वानों की धारणा इस प्रकार परिवर्तित हो चुकी है कि इनमें प्रथम तथा तृतीय वररुचि एक ही हैं। अस्तु, कवि के रूप में प्रसिद्ध वररुचि द्वारा लिखा गया लिङ्गानुशासन काव्य आर्याछन्द में निबद्ध है। आचार्य वामन ने लिङ्गानुशासन पर लिखी गयी सोपज्ञवृत्ति में वररुचि के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है— **'वररुचिप्रभृतिभिराचार्यैरार्याभिरभिहितमेव, तदतिबहुना ग्रन्थेन, इत्यहं समासेन वच्मि'**।

(पृ० २, गायकवाड़ ओ० सी० का संस्करण, वड़ौदा।) इस लिङ्गानुशासन के अन्त में दी गयी पुष्पिका से पता चलता है कि वररुचि विक्रमादित्य की सभा के सभासद थे। परन्तु यह विचारणीय विषय है कि यदि विक्रम संवत् के संस्थापक विक्रमादित्य की सभा में ये थे तव तो वररुचि का समय दो हजार वर्षों से इधर का सिद्ध नहीं होता। कतिपय पण्डित इन्हें दाक्षिणात्य कहते हैं, दूसरे इन्हें मैथिल स्वीकारते हैं। इस विषय के निर्णय के लिए **'कथासरित्सागर'** तथा **'लघुत्रिमुनिकल्पतरु'** ग्रन्थों का अवश्य अवलोकन कर लेना चाहिए।

ये (वररुचि) व्याकरणशास्त्र के विद्वान् 'वर्ष उपाध्याय' के योग्य शिष्य थे और महर्षि पतञ्जलि के सहाध्यायी भी थे। अतएव पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में **'वाररुचं काव्यम्'** नाम से इनकी कृति का उल्लेख किया है, इस विषय की चर्चा **राजशेखर** ने **काव्यमीमांसा** में इस प्रकार की है—

'अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिरिह व्याडिः।
वररुचिपतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः'॥

इस नवरत्नपरिचयात्मक संक्षिप्त निवन्ध में **'इदम् इत्थम्'** कह पाना किसी रत्नपरीक्षक के ही वश की वात हो सकती है, अन्यथा कालविसंगति पदे-पदे पैरों में फन्दा डालकर न आगे चलने दे रही है, न पीछे और रुकना तो विद्वान् का लक्षण ही नहीं है।

कालिदास की कृतियों में छन्दः-प्रयोग

प्राचीन लाक्षणिक ग्रन्थकारों ने काव्य, नाटक, चम्पू आदि के आकार-प्रकार को स्थिर करने के लिए जिन-जिन परिवेषों की परिकल्पनाएँ की हैं, तदनुसार रचित साहित्य को ही विद्वान् आदर की दृष्टि से देखते हैं। अतएव परवर्ती कवियों ने अपनी-अपनी कृतियों में उसी सरणि का अनुसरण कर सुयश पाया है। प्रायः कविवर निरंकुश होते हैं, फिर भी वे किसी सुनिर्धारित स्वस्थ परम्परा के अनुयायी तो होते ही हैं। आप ध्यान दें, जैसे कभी भी शृङ्गार रस के अभिव्यञ्जक वर्णो का प्रयोग दूसरे (वीर, करुण आदि) रसों की सिद्धि के लिए नहीं किया जा सकता, ठीक वही स्थिति छन्दों के प्रयोगों की भी है। किस छन्द का प्रयोग किस रस की पुष्टि में उपकारक या अपकारक होता है, इसका प्रशस्त विचार परवर्ती आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने 'सुवृत्ततिलक' में वड़ी सूझ-वूझ के साथ इस प्रकार किया है—

'काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित्' ॥

अर्थात् काव्यरचना में विभिन्न रसों के अनुरूप तथा वर्णनीय वस्तु के अनुसार ही छन्दों का विनियोग विषयविभाग के ज्ञाता कवि को करना चाहिए।

महाकवि क्षेमेन्द्र ने अपने 'सुवृत्ततिलक' में विभिन्न छन्दों के व्यवहार का जो विवेक उपस्थित किया है, वह भास, कालिदास, भारवि, माघ आदि महाकवियों के युक्तियुक्त प्रयोगों को ध्यान में रखकर ही किया है। क्योंकि आचार्य मम्मट ने काव्यनिर्माणशक्तिसम्पन्न सामान्य कवि को निर्देश दिया है कि उसके लिए 'काव्यज्ञशिक्षयाभ्यासः' का अनुसरण करना अति आवश्यक होता है। महर्षि वाल्मीकि, कालिदास आदि निसर्ग कवियों के लिए कोई शास्त्र-वन्धन अपेक्षित नहीं थे, अपितु ये तो काव्यसृष्टि के आदि प्रजापति थे। अन्य कवियों को मार्ग-निर्देश करने के लिए श्रीक्षेमेन्द्र ने छन्दःसरणि का इस प्रकार निर्देश किया है—

'प्रवन्धः सुतरां भाति यथास्थानं निवेशितैः।
निर्दोषैर्गुणसंयुक्तैः सुवृत्तैर्मौक्तिकैरिव' ॥

जिस प्रकार छिद्र युक्त तथा कीटजग्ध आदि दोषों से रहित सूत्र में पिरोये गये सुवृत्त (गोल अथवा अनुकूल छन्द) मोतियों की भाँति मुक्ताहार उचित स्थान पर शोभित होता है, उसी प्रकार दोष रहित गुणयुक्त एवं दोषरहित प्रसंगोचित छन्दों का यथास्थान प्रयोग भी मनोरम होता है।

महाकवि क्षेमेन्द्र के अनुसार कतिपय सुप्रसिद्ध छन्दों के प्रयोगस्थल तथा कवियों को निर्देश—

शास्त्रं कुर्यात् प्रयत्नेन **प्रसन्नार्थमनुष्टुभा**। येन सर्वोपकाराय याति सुस्पष्टसेतुताम्॥ १॥
पुराणप्रतिविम्वेषु प्रसन्नोपायवर्त्मसु। उपदेशप्रधानेषु कुर्यात् **सर्वेष्वनुष्टुभम्**॥ २॥
आरम्भे सर्गवन्धस्य कथाविस्तारसङ्ग्रहे। शमोपदेशवृत्तान्ते सन्तः **शंसन्त्यनुष्टुभम्**॥ ३॥
शृङ्गारालम्वनोदारनायिकारूपवर्णनम्। वसन्तादि तदङ्गञ्च **सच्छायमुपजातिभिः**॥ ४॥
रथोद्धता विभावेषु भव्या चन्द्रोदयादिषु। षाड्गुण्यप्रगुणा नीतिर्वंशस्थेन विराजते॥ ५॥
वसन्ततिलकं भाति सङ्करे वीररौद्रयोः। कुर्यात् सर्गस्य पर्यन्ते **मालिनीं** द्रुततालवत्॥ ६॥
उपपन्नपरिच्छेदकाले **शिखरिणी** मता। औदार्यरुचिरौचित्यविचारे **हरिणी** वरा॥ ७॥
साक्षेपक्रोधधिक्कारे परं **पृथ्वी** भरक्षमा। प्रावृट्प्रवासव्यसने **मन्दाक्रान्ता** विराजते॥ ८॥
शौर्यस्तवे नृपादीनां **शार्दूलक्रीडितं** मतम्। सावेगपवनादीनां वर्णने **स्रग्धरा** मता॥ ९॥

दोधक-तोटक-नर्कुटकयुक्तं मुक्तकमेव विराजति सूक्तम्।
निर्विषयस्तु रसादिषु तेषां निर्नियमश्च सदा विनियोगः॥ १०॥

शेषाणामप्यनुक्तानां वृत्तानां विषयं विना । वैचित्र्यमात्रपात्राणां विनियोगो न दर्शितः ॥ ११ ॥
इत्येष वश्यवचसां सर्ववृत्तप्रसङ्गिनाम् । उक्तो विभागः सद्वृत्तविनिवेशे विशेषवान् ॥ १२ ॥
एकस्मिन्नेव यैर्वृत्ते कृतो द्वित्रेषु वा श्रमः । न नाम विनियोगार्हास्ते दरिद्रा इवोत्सवे ॥ १३ ॥
वृत्ते यस्य भवेद् यस्मिन्नभ्यासेन प्रगल्भता । स तेनैव विशेषेण स्वसन्दर्भं प्रदर्शयेत् ॥ १४ ॥

अनुष्टुप् छन्द के प्रयोगस्थल—लक्षण-ग्रन्थ का निर्माण प्रयत्नपूर्वक सुस्पष्ट शब्दों द्वारा सबके कल्याण के लिए, पुराणों के आधार पर निर्मित उपदेश काव्यों का तथा महाकाव्य के आदि में, कथा का विस्तार करने में एवं वैराग्यजनक उपदेशों के लिए अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग करना चाहिए ॥ १-३ ॥ **उपजाति के प्रयोगस्थल**—शृङ्गार रस के आलम्बन उदात्तनायक-नायिकाओं के रूप-सौन्दर्य आदि का, उसके अंगरूप वसन्त आदि ऋतुओं का वर्णन इस छन्द द्वारा करना चाहिए ॥ ४ ॥ **रथोद्धता के प्रयोगस्थल**—चन्द्रमा, चन्दन, उद्यान आदि उद्दीपन विभावों के वर्णन में रथोद्धता का प्रयोग प्रशस्त कहा गया है। **वंशस्थ के प्रयोगस्थल**—सन्धि, विग्रह, यान, द्वैधीभाव आदि के तथा राजनीति के वर्णन-प्रसंग में वंशस्थ का प्रयोग रुचिकर होता है ॥ ५ ॥ **वसन्ततिलका के प्रयोगस्थल**—वीर और रौद्र रसों का मिश्रित वर्णन के प्रसंग में उक्त छन्द का प्रयोग प्रशंसनीय कहा गया है। **मालिनी के प्रयोगस्थल**—सर्ग या अध्याय की समाप्ति में इसका प्रयोग उस प्रकार सुखद प्रतीत होता है, जैसे भाषण के अन्त में की गयी करतलध्वनि होती है ॥ ६ ॥ **शिखरिणी के प्रयोगस्थल**—जब किसी विषय की सीमा का निर्धारण किया जा रहा हो, ऐसे अवसर पर शिखरिणी छन्द का प्रयोग मनोरम होता है। **हरिणी के प्रयोगस्थल**—उदारता की औचित्यपूर्ण विचार-चर्चा के अवसर पर हरिणी छन्द का उपयोग उत्तम प्रतीत होता है ॥ ७ ॥ **पृथ्वी छन्द के प्रयोगस्थल**—निन्दा, क्रोध, धिक्कार तथा तिरस्कार पूर्ण शब्दावली का जहाँ प्रयोग होता है, वहाँ पृथ्वी छन्द की शब्दशय्या नितान्त सुखद प्रतीत होती है। **मन्दाक्रान्ता के प्रयोगस्थल**—वर्षाऋतु, प्रवास तथा मानसिक व्यथा (विरह) आदि का वर्णन मन्दाक्रान्ता छन्द में रुचिकर प्रतीत होता है। देखें— महाकवि कालिदास का मेघदूत तथा महाकवि वसन्तत्र्यम्बक शेवड़े का अभिनव-मेघदूत ॥ ८ ॥ **शार्दूलविक्रीडित के प्रयोगस्थल**—राजाओं तथा श्रीमानों की शूरता एवं युद्ध आदि के वर्णन में शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग प्रशंसनीय कहा गया है। **स्रग्धरा के प्रयोगस्थल**—वायु आदि के वेग का या किसी प्रकार की तीव्रता का वर्णन स्रग्धरा छन्द द्वारा प्रशस्त होता है ॥ ९ ॥ **दोधक-तोटक-नर्कुटक छन्दों के प्रयोगस्थल**—प्रायः इन तीनों छन्दों का इच्छानुसार मुक्तक काव्य में ही प्रयोग किया जाता है, क्योंकि इनके प्रयोग से युक्त कोई महाकाव्य आदि देखा नहीं जाता ॥ १० ॥ शेष छन्द जिनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है, उसमें कारण यह है कि उनका अधिक प्रयोग काव्य-जगत् में नहीं देखा जाता ॥ ११ ॥ सभी छन्दों से परिचित तथा सभी छन्दों का प्रयोग करने में सक्षम कवियों के लिए यह वृत्त-प्रयोगात्मक विशेषमार्ग दिखलाया गया है ॥ १२ ॥ जिन कवियों ने एक अथवा दो-तीन छन्दों का अभ्यास किया है, उत्सव में दरिद्रों के समान वे वृत्तविनियोग के अधिकारी नहीं हो सकते ॥ १३ ॥ **सामान्य नियम**—अथवा जिस कवि ने जिस छन्द में रचना-कुशलता प्राप्त की हो, उसे चाहिए वह अपनी रचना उसी छन्द में करे ॥ १४ ॥ महाकवि क्षेमेन्द्र की दृष्टि में कतिपय छन्द-विशेष के प्रयोगकर्ता प्राचीन कविवर—

अनुष्टुप्सततासक्ता साभिनन्दस्य नन्दिनी । विद्याधरस्य वदने गुलिकेव प्रभावभूः ॥ १ ॥
स्पृहणीयत्वचरितं पाणिनेरुपजातिभिः । चमत्कारैकसाराभिरुद्यानस्यैव जातिभिः ॥ २ ॥
वृत्तच्छत्रस्य सा कापि **वंशस्थस्य** विचित्रता । प्रतिभा भारवेर्येन सच्छायेनाधिकीकृता ॥ ३ ॥
वसन्ततिलकाऽऽरूढा वाग्वल्ली गाढसङ्गिनी । रत्नाकरस्योत्कलिका चकास्त्याननकानने ॥ ४ ॥
भवभूतेः **शिखरिणी** निरर्गलतरङ्गिणी । रुचिरा घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति ॥ ५ ॥
सुवशा कालिदासस्य **मन्दाक्रान्ता** प्रवल्गति । सदश्वदमकस्येव काम्बोजतुरगाङ्गना ॥ ६ ॥
शार्दूलक्रीडितैरेव प्रख्यातो राजशेखरः । शिखरीव परं वक्रैः सोल्लेखैरुच्चशेखरः ॥ ७ ॥

इत्येवं पूर्वकवयः सर्ववृत्तकरा अपि। अस्मिन् हार इवैकस्मिन् प्रायेणाभ्यधिकादराः ॥८॥
सुवर्णार्हप्रबन्धेषु यथास्थाननिवेशिनाम्। रत्नानामिव वृत्तानां भवत्यभ्यधिका रुचिः ॥९॥

छन्द-विशेष के पक्षपाती प्रमुख कवियों का यहाँ परिचय उनकी रचना के आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है। इस क्रम में सर्वप्रथम आत्मप्रशंसाप्रिय विद्वान् **विद्याधर कवि** के मुख में गुड़मोदक की भाँति आनन्दप्रद अनुष्टुप् छन्द सदा निवास करता था॥१॥ 'पातालविजय या जाम्ववतीजय' महाकाव्य के रचयिता **महर्षि पाणिनि** चमत्काराधायक उपजाति छन्द के प्रयोग से उस प्रकार शोभित हुए, जैसे उद्यान-परिसर पुष्पित चमेली की लता से सुशोभित तथा सुवासित हो जाता है॥२॥ महाकवि भारवि का वशंवद छन्द वंशस्थ था, इसका परिचय प्रस्तुत है— वाँस के डंडे में लगी हुई छाता जिस प्रकार अपनी छाया से मनुष्यों की कार्यशक्ति को वढ़ा देती है, उसी प्रकार वंशस्थ छन्द का आश्रय लेकर कविता करने वाले 'भारवि' की प्रतिभा को उक्त छन्द ने 'आतपत्र' की उपाधि दिलाकर चमत्कृत कर दिया॥३॥ जैसे वसन्त ऋतु में तिलक वृक्ष पर फूल खिलते हैं, उसी प्रकार कवि की अंगसंगिनी वाणी वसन्ततिलका छन्द से आवद्ध होकर **कविरत्नाकर** के मुखरूपी उद्यान में सुशोभित हुई थी॥४॥ **महाकवि भवभूति** द्वारा प्रयुक्त शिखरिणी छन्द पहाड़ी नदी की भाँति है, जो मेघों के सम्पर्क में आकर सुरूप मयूरी की भाँति नाचने लगती हैं॥५॥ **महाकवि कालिदास** का वशंवद मन्दाक्रान्ता छन्द वैसा है, जैसे कम्वोज (अफगानिस्तान) देश की घोड़ी सक्षम घोड़े को पाकर हिनहिनाने लगती है॥६॥ जिस प्रकार सिंहों द्वारा खेल ही खेल में किये गये टेढ़े-मेढ़े नख के आघातों से पर्वत-शिखर प्रसिद्ध हो जाता है, उसी प्रकार उल्लेख और वक्रोक्ति अलंकारों से युक्त शार्दूलविक्रीडित छन्द से राजशेखर **कविशेखर** वन गये॥७॥ इस प्रकार अनेक छन्दों के प्रयोग में कुशल प्राचीन कवि उस प्रकार किसी एक ही छन्द के विशेष पक्षपाती होते देखें जाते हैं, जैसे अनेक प्रकार की मालाओं के निर्माण में चतुर मालाकार मोतियों की माला गूँथने मे अधिक आदर दिखलाता है॥८॥ जिस प्रकार उतार-चढ़ाव का ध्यान रखते हुए उचित स्थान पर गुँथे हुए सुवर्णहार में सभ्यसमाज का आकर्षण अधिक होता है, उसी प्रकार विषय के अनुरूप प्रयुक्त छन्दों से काव्य अधिक प्रभावकारी हो जाता है अर्थात् उसके प्रति अध्येताओं का आकर्षण अधिक हो जाता है॥९॥

महाकवि कालिदास ने न केवल प्रसंगानुसार छन्दःप्रयोग करने का उपदेश दिया है, अपितु किस रस के प्रयोग को सफल वनाने में किस छन्द का साहाय्य अपेक्षित होता है, इस विषय की भी समुचित व्यवस्था अपने काव्यों में की है। इसी प्रकार के कतिपय कवियों की कमनीय काव्य-कृतियों का परिशीलन कर महाकवि क्षेमेन्द्र ने प्रस्तुत सुवृत्ततिलक की मधुर एवं विद्वज्जनमनोमोहक कल्पना की है। इस दृष्टि से महाकवि के काव्यों में प्रयुक्त छन्दों का परिचय हम निम्ननिर्दिष्ट तालिका द्वारा करा रहे हैं। छन्दों के लक्षण 'श्रुतवोध' आदि छन्दःपरिचायक ग्रन्थो में यथास्थान देखें।

छन्द-तालिका

सर्ग	श्लोक	छन्द	सर्ग	श्लोक	छन्द
	रघुवंश महाकाव्य		पञ्चम	१ से ६२ तक	उपजाति
प्रथम	१ से ९४ तक	अनुष्टुप्		६३ से ७३ तक	वसन्ततिलका
	९५वें में	प्रहर्षिणी		७४ से ७५ में	मालिनी
द्वितीय	१ से ७४ तक	उपजाति		७६ वें में	पुष्पिताग्रा
	७५वे मे	मालिनी	षष्ठ	१ से ८४ तक	उपजाति
तृतीय	१ से ६९ तक	वंशस्थ		८५वे मे	मालिनी
	७०वें मे	हरिणी		८६वें में	पुष्पिताग्रा
चतुर्थ	१ से ८६ तक	अनुष्टुप्	सप्तम	१ से ६९तक	उपजाति
	८७ और ८८ में	प्रहर्षिणी		७० और ७१ में	मालिनी

सर्ग	श्लोक	छन्द
अष्टम	१ से ९० तक	वैतालीय
	९१वाँ	तोटक
	९२वाँ	प्रहर्षिणी
	९३ और ९४	वसन्ततिलका
	९५वाँ	मन्दाक्रान्ता
नवम	१ से ५४ तक	द्रुतविलम्बित
	५५ से ६३ तक	वसन्ततिलका
	६४ और ६५ में	शालिनी
	६६वाँ	औपच्छन्दसिक
	६७वाँ	मालिनी
	६८वाँ	रथोद्धता
	६९ और ७०	पुष्पिताग्रा
	७१ से ७३ तक	स्वागता
	७४वाँ	वैतालीय
	७५वाँ	मत्तमयूर
	७६ से ८२ तक	वसन्ततिलका
दशम	१ से ८५ तक	अनुष्टुप्
	८६वाँ	मालिनी
एकादश	१ से ९१ तक	रथोद्धता
	९२वाँ	वसन्ततिलका
	९३वाँ	मालिनी
द्वादश	१ से १०१ तक	अनुष्टुप्
	१०२वाँ	मालिनी
	१०३वाँ	वसन्ततिलका
	१०४वाँ	नाराच
त्रयोदश	१ से ६७ तक	उपजाति
	६८ से ७८ तक	वसन्ततिलका
	७९वाँ	प्रहर्षिणी
चतुर्दश	१ से ८६ तक	उपजाति
	८७वाँ	मन्दाक्रान्ता
पञ्चदश	१ से १०२ तक	अनुष्टुप्
	१०३वाँ	मन्दाक्रान्ता
षोडश	१ से ८५ तक	उपजाति
	८६वाँ	वसन्ततिलका
	८७ से ८९ तक	मन्दाक्रान्ता
सप्तदश	१ से ८० तक	अनुष्टुप्
	८१वाँ	मन्दाक्रान्ता
अष्टादश	१ से ५१ तक	उपजाति
	५२ और ५३ में	वसन्ततिलका
एकोनविंशति	१ से ५५ तक	रथोद्धता
	५६वाँ	वसन्ततिलका
	५७वाँ	मन्दाक्रान्ता

कुमारसम्भव महाकाव्य

सर्ग	श्लोक	छन्द
प्रथम	१ से ५९ तक	उपजाति
	६०वाँ	मालिनी
द्वितीय	१ से ६३ तक	अनुष्टुप्
	६४वाँ	मालिनी
तृतीय	१ से ७४ तक	उपजाति
	७५वाँ	वसन्ततिलका
	७६वाँ	मालिनी
चतुर्थ	१ से ४४ तक	वैतालीय
	४५वाँ	वसन्ततिलका
	४६वाँ	पुष्पिताग्रा
पञ्चम	१ से ८४ तक	वंशस्थ
	८५ और ८६	वसन्ततिलका
षष्ठ	१ से ९४ तक	अनुष्टुप्
	९५वाँ	पुष्पिताग्रा
सप्तम	१ से ९३ तक	उपजाति
	९४ और ९५ में	मालिनी
अष्टम	१ से ९० तक	रथोद्धता
	९१वाँ	मालिनी
नवम	१ से ५१ तक	उपजाति
	५२वाँ	पुष्पिताग्रा
दशम	१ से ५९ तक	अनुष्टुप्
	६०वाँ	मन्दाक्रान्ता
एकादश	१ से ४९ तक	उपजाति
	५०वाँ	हरिणी
द्वादश	१ से ५९ तक	उपजाति
	६०वाँ	हरिणी
त्रयोदश	१ से ५० तक	उपजाति
	५१वाँ	मालिनी
चतुर्दश	१ से ४९ तक	वंशस्थ
	५०वाँ	मालिनी
पञ्चदश	१ से ५२	वंशस्थ
	५३वाँ	शार्दूलविक्रीडित

सर्ग	श्लोक	छन्द
षोडश	१ से ४९ तक	अनुष्टुप्
	५०वाँ	हरिणी
सप्तदश	१ से ५३ तक	वसन्ततिलका
	५४वाँ	पुष्पिताग्रा
	५५वाँ	मालिनी

मेघदूत-खण्डकाव्य

सर्ग	श्लोक	छन्द
पूर्व तथा उत्तरमेघ		मन्दाक्रान्ता

ऋतुसंहार-खण्डकाव्य

सर्ग	श्लोक	छन्द
प्रथम	१ से २१ तक	उपजाति
	२२ से २८ तक	मालिनी
द्वितीय	१ से २० तक	वंशस्थ
	२१ और २२ में	वसन्ततिलका
	२३ से २९ तक	मालिनी
तृतीय	१ से २० तक	वसन्ततिलका
	२१ से २८ तक	मालिनी
चतुर्थ	१ से १३ तक	उपजाति
	१४ से १८ तक	वसन्ततिलका
	१९वाँ	मालिनी
पञ्चम	१ से १० तक	उपजाति
	११ से १६ तक	मालिनी
षष्ठ	१ से २	वंशस्थ
	३ से १०	उपजाति
	११वाँ	वसन्ततिलका
	१२वाँ	इन्द्रवज्रा
	१३ से १६	उपजाति
	१७वाँ	इन्द्रवज्रा
	१८वाँ	उपजाति
	१९ से २८	वसन्ततिलका
	२९ से ३३	मालिनी
	३४-३५	वसन्ततिलका
	३६वाँ	शार्दूलविक्रीडित
	३७वाँ	मालिनी
	३८वाँ	शार्दूलविक्रीडित

उपर्युक्त इस अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि महाकवि कालिदास ने अपने काव्यों में जिन छन्दों का प्रयोग किया, उनके नाम इस प्रकार हैं—अनुष्टुप्, उपजाति, वंशस्थ, वसन्ततिलका, द्रुतविलम्बित, मालिनी, हरिणी, तोटक, शालिनी, प्रहर्षिणी, मन्दाक्रान्ता, वैतालीय, स्वागता, मत्तमयूर, नाराच, रथोद्धता, शार्दूलविक्रीडित, औपच्छन्दसिक तथा पुष्पिताग्रा। इनके अतिरिक्त कालिदास के नाटकों में कुछ अन्य छन्दों के भी दर्शन होते हैं। यथा—अपरवक्त्र, पथ्यावक्त्र, पृथ्वी, शिखरिणी, रुचिरा, स्रग्धरा तथा आर्या उसके भेद-उपभेद। महाकवि कालिदास सभी क्षेत्रों में अप्रतिम प्रतिभासम्पन्न मनीषी थे। उन्होंने अभिज्ञानशाकुन्तल के चौथे अंक में ऋग्वेदीय छन्द का और विक्रमोर्वशीय के चौथे अंक में प्राकृत और अपभ्रंश के छन्दों का भी प्रयोग किया है।

महाकवि कालिदास की कृतियों पर आधारित सुभाषित

सुभाषित-माहात्म्य

सुकवेः कवितां श्रुत्वा नयने वदने च वाः।
युगपद् यस्य न चायाति स वृषो महिषोऽथ वा ॥
सुभाषितेन गीतेन युवतीनां च लीलया।
मनो न भिद्यते यस्य स योगी ह्यथवा पशुः ॥

आदित्य के समान प्रतिभाशाली चक्रवर्ती राजा विक्रमादित्य के सभारत्नों में विश्वविदित महाकवि कालिदास अन्यतम भास्वर जंगमरत्न थे। वैदर्भी रीति के आचार्य महाकवि की सरस, सरल पदावली सहृदय पाठकों के हृदयों को हठात् आवर्जित करने में अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है, यह सर्वसम्मत मत है। यही कारण है कि पूर्ववर्ती तथा परवर्ती किसी कवि को आज तक यह सम्मान प्राप्त नहीं हो सका जो सम्मान प्रस्तुत महाकवि को सुलभ है। इसी प्रभाव से प्रभावित हो उनकी रचनाओं से यत्र-तत्र वहुत्र विकीर्ण सूक्तिमुक्तामणियों को एकत्र कर प्रस्तुत ग्रन्थावली सम्पादन के माध्यम से यह अभिनव उपहार पाठकों को सादर एवं सस्नेह उपहृत किया जा रहा है। आशा है सरसहृदय सामाजिक, विद्वान् एवं पाठक इनका रसास्वादन करेंगे। इनके अर्थ मूलग्रन्थ में सन्दर्भसंकेतानुसार यथास्थान देखे जा सकते हैं।

रघुवंशमहाकाव्य

सन्ततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे ॥ (१।६९)
प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि ॥ (२।२२)
न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥ (२।३४)
शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति ॥ (२।४०)
अल्पस्य हेतोर्वहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥ (२।४७)
क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति ॥ (३।२९)
वपुःप्रकर्षादजयंद् गुरुं रघुस्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत ॥ (३।३४)
पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयतें ॥ (३।६२)
नवे तस्मिन् महीपाले सर्व नवमिवाभवत् ॥ (४।११)
राजा प्रकृतिरञ्जनात् ॥ (४।१२)
प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम् ॥ (४।६४)
आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव ॥ (४।८६)
सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा ॥ (५।१३)
शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि ॥ (५।१७)
उष्णत्वमग्न्यातपसम्प्रयोगाच्छैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य ॥ (५।५४)
नक्षत्रताराग्रहसङ्कुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः ॥ (६।२२)
भिन्नरुचिर्हि लोकः ॥ (६।३०)
नहि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदाली ॥ (६।६९)
रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन ॥ (६।७९)
मनो हि जन्मान्तरसङ्गतिज्ञम् ॥ (७।१५)

निमिमील नरोत्तमप्रिया हृतचन्द्रा तमसेव कौमुदी ॥ (८।३७)
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु ॥ (८।४३)
विषमप्यमृतं क्वचिद् भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥ (८।४६)
तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते ॥ (११।१)
किं महोरगविसर्पिविक्रमो राजिलेषु गरुडः प्रवर्तते ॥ (११।२७)
पावकस्य महिमा स गण्यते कक्षवज्ज्वलति सागरेऽपि यः ॥ (११।७५)
अत्यारूढो हि नारीणामकालज्ञो मनोभवः ॥ (१२।३३)
धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं सन्न्यवेशयत् ॥ (१२।५८)
काले खलु समारब्धाः फलं बध्नन्ति नीतयः ॥ (१२।६९)
आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया ॥ (१४।४६)
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्तिः ॥ (१६।८)

कुमारसम्भवमहाकाव्य

एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ॥ (१।३)
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैःशिरसां सतीव ॥ (१।१२)
अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा ॥ (१।२७)
ऋते कृशानोर्नहि मन्त्रपूतमर्हन्ति तेजांस्यपराणि हव्यम् ॥ (१।५१)
विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ॥ (१।५९)
शाम्येत् प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः ॥ (२।४०)
विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम् ॥ (२।५५)
कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये ॥ (३।१०)
प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणाना पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः ॥ (३।।२८)
प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ॥ (५।१)
पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्त्रिणः ॥ (५।४)
न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते ॥ (५।१६)
शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ॥ (५।३३)
यतः सतां सन्नतगात्रि सङ्गतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते ॥ (५।३९)
न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् ॥ (५।४५)
मनोरथानामगतिर्न विद्यते ॥ (५।६४)
द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम् ॥ (५।७५)
अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते ॥ (५।८२)
क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ॥ (५।८६)
प्रायेणैवंविधे कार्ये पुरन्ध्रीणां प्रगल्भता ॥ (६।३२)
स्तोत्रं कस्य न तुष्टये ॥ (१०।९)
विपदा परिभूताः किं व्यवस्यन्ति विलम्बितुम् ॥ (१०।३५)
रत्नाकरे युज्यत एव रत्नम् ॥ (११।११)
पुत्रोत्सवे माद्यति का न हर्षात् ॥ (११।१७)
मुदे न हृद्या किमु बालकेलिः ॥ (११।४०)
आसीत् क्षणं क्षोभपरो न कस्य मनो नहि क्षुभ्यति धामधाम्नि ॥ (१२।२२)

प्रभुप्रसादो हि मुदे न कस्य ॥ (१२।३२)
भवन्ति वाचोऽवसरे प्रयुक्ता ध्रुवं फलाविष्टमहोदयाय ॥ (१२।४३)
सर्वैव नितुभक्तिरतानानेष एव परमः खलु धर्मः ॥ (१२।५८)
वृथा भवेदसद्ग्रहान्धस्य हितोपदेशनम् ॥ (१५।२६)
पृथुस्तुभिः किं समरे विलम्ब्यते ॥ (१५।४७)
न कस्य वीर्याय वरस्य सङ्गतिः ॥ (१५।५१)

मेघदूत (पूर्वमेघ)

कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥ (५)
याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥ (६)
न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः॥ (१७)
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ॥ (२०)
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥ (३०)
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ॥ (४२)
के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलाऽऽरम्भयत्नाः ॥ (५४)
आपन्नार्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम् ॥ (५३)

(उत्तरमेघ)

प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ॥ (३५)
कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः सङ्गमात् किञ्चिदूनः ॥ (४२)
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥ (५२)
स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ॥ (५५)
निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ॥ (५७)
केषां न स्यादभिमतफला प्रार्थना ह्युत्तमेषु ॥ (६१)

ऋतुसंहार

सर्वं प्रियं चारुतरं वसन्ते ॥ (६।२)

अभिज्ञानशाकुन्तल

आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि ॥ (१।११)
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ॥ (१।१६)
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाऽऽकृतीनाम् ॥ (१।१९)
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥ (१।२१)
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ॥ (१।२४)
अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते ॥ (२।१)

कामी स्वतां पश्यति ॥ (२।२)
परिहासविजल्पितं सखे! परमार्थेन न गृह्यतां वचः ॥ (२।१८)
लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं, श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत् ॥ (३।१२)
ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा हि कुमुद्वतीं दिवसः ॥ (३।१५)
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि ॥ (४।३)
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥ (५।२)
षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः ॥ (५।४)
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं, शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ॥ (५।७)
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥ (५।१२)
उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ॥ (५।२६)
मनोरथानामतटप्रपाताः ॥ (६।१०)
हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः ॥ (६।२८)
पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्धते ॥ (७।१३)
स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया ॥ (७।२४)

मालविकाग्निमित्र

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ॥
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥ (१।२)
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम् ॥ (१।४)
अप्याकरसमुत्पन्नो रत्नजातिपुरस्कृतः ॥
जातरूपेण कल्याणि! मणिः संयोगमर्हति ॥ (५।१८)

विक्रमोर्वशीय (त्रोटक)

अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः ॥ (१।१७ श्लोक के नीचे)
अभिमुखीष्विव काङ्क्षितसिद्धिषु, व्रजति निर्वृतिमेकपदे मनः ॥ (२।९)
साधारणोऽयमुभयोः प्रणयः स्मरस्य तप्तेन तप्तमयसा घटनाय योगम् ॥ (२।१५)
प्रभुता रमणेषु योषितां नहि भावस्खलितान्यपेक्षते ॥ (४।२६)
उत्सङ्गवर्धितानां गुरुषु भवेत् कीदृशः स्नेहः ॥ (५।१०)
न खलु वयसा जात्यैवायं स्वकार्यसहो भरः ॥ (५।१८)

पारिभाषिक शब्दकोश

'अ'

अंशु—किरण। यथा—'सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्'। (कुमार० १।३२)

अंशुक—कपड़ा, सामान्यतः पोशाक। यथा—'सितांशुकाः'। (विक्रम० ३।१२) 'यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानाम्'। (कुमार० १।१४; शाकुन्तल० १।३२; मेघ० ६४)

अंशुमान्—सूर्यवंशीय राजा सगर का पौत्र, असमंजस का पुत्र अंशुमान्। अन्यत्र—प्रभायुक्त, चमकदार, नोकदार। देखें—'बालखिल्यैरिवांशुमान्'। (रघु० १५।१०)

अंसल—बलवान्, हृष्ट-पुष्ट तथा शक्तिशाली कन्धों वाला। 'युवा युगव्यायतबाहुरंसलः'। (रघु० ३।३४)

अंसविवर्ति—कन्धों की ओर मुड़ा हुआ। 'मुखमंसविवर्तिपक्ष्मलाक्ष्याः'। (शा० ३।२४)

अकाण्ड—अप्रत्याशितरूप से, एकाएक, सहसा। यथा—'दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे'। (शा० २।१२)

अकालज्ञ—समय को न समझनेवाला। यथा—'अत्यारूढो हि नारीणामकालज्ञो मनोभवः'। (रघु० १२।३३)

अकिञ्चन—जिसके पास कुछ भी न हो, गरीब, निर्धन। यथा—'अकिञ्चनः सन् प्रभवः स सम्पदाम्'। (कुमार० ५।७७)

अक्षत—चावल के समूचे दाने, जिसे चोट न लगी हो। 'त्वमनङ्गः क्षतलता रतिः'। (कुमार० ४।९)

अक्षय्य—जो क्षय न हो सके, अविनाशी। यथा—'तपः षड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः'। (शा० २।१३)

अगस्त्य—इन्हीं का नाम 'कुम्भज' भी है। 'अगस्त्यः कुम्भसम्भवः'। (अमरकोष) इन्होंने विन्ध्याचल की निरन्तर वृद्धि में रोक लगा दी थी। ये समुद्र के सम्पूर्ण जल को पी गये थे। इन्होंने आतापी तथा वातापी नामक असुरों का वध किया था। इनकी पत्नी का नाम 'लोपामुद्रा' था।

अगस्त्याश्रम—वर्तमान 'इगतपुरी'। यह स्थान बम्बई जाते समय नासिक से आगे है। आज 'इगतपुरी' जी० आई० पी० रेलवे स्टेशन के नाम से भी प्रसिद्ध है। यह आश्रम गोदावरी नदी के उत्तर तट पर दण्डकारण्य में विदर्भ की पूर्वोत्तर सीमा पर था।

अगुरु—अगर चन्दन। प्राचीन काल में सुवासिनियाँ इसकी धूप से अपने केशों को सुरभित किया करती थीं। इसके पेड़ सिलहट की पहाड़ियों में पाये जाते हैं। इसका वृक्ष पर्याप्त बड़ा होता है। यह देखने में कृष्णवर्ण का होता है, किन्तु घिसने पर इसका वर्ण पीला हो जाता है।

अग्नि—'अगति ऊर्ध्वं गच्छति इति अग्निः'। अग्निकोण (पूर्व तथा दक्षिण दिशा का मध्यकोण भाग), इस कोण का अधिष्ठातृ देव अग्नि है। इसके भेद—जठराग्नि, दावाग्नि, वड़वाग्नि, ज्ञानाग्नि, योगाग्नि, क्रोधाग्नि, कामाग्नि आदि।

अग्निहोत्र—अग्नि में आहुति देना। इस अग्नि की सुरक्षा परम्परागत की जाती है। होमाग्नि को सुरक्षित रखने की यह प्राचीन एवं पवित्र विधि है। अग्निहोत्री पुरुष प्रातः-सायं इस अग्नि में होम किया करता है।

अङ्क—चिह्न या चिह्नित करना। कहीं इसका अर्थ गोद भी होता है। यह शब्द साहित्यिक क्षेत्र तथा विशेषकर नाटकों के विषय-विभाग को सङ्केतित करता है। यथा—प्रथमाङ्क, द्वितीयाङ्क अथवा एकाङ्की आदि। उदाहरण—'नयनोदबिन्दुभिः अङ्कितं स्तनांशुकम्' (विक्रम० ४।७)

अङ्क्य—चिह्नित करने योग्य अथवा गोद में लेकर बजाने योग्य वाद्य-विशेष। यथा—ढोलक, मृदङ्ग, तबला, पखावज आदि।

अङ्गद—आभूषण—कंकण, जो कुहनी के ऊपर भुजा में पहना जाता है। बाजूबन्द। यथा—'तप्तचामीकराङ्गदः'। (विक्रम० १।१४) तथा—'सङ्घट्टयन्नङ्गदमङ्गदेन'। (रघु० ६।७३)

अङ्गराग—सुगन्धित लेप, सुगन्धित उबटन आदि। यथा—'क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन'। (रघु० ६।६०) 'चकाराङ्गरागेण'। (रघु० १२।२७। कुमार० ५।११)

अङ्गिन्–शारीरिक या देहधारी। 'धर्मार्थकाममोक्षाणामवतार इवाङ्गवान्'। (रघु०१०।८४)

अङ्गिरा–एक ऋषि, ब्रह्मा के द्वितीय पुत्र, ऋग्वेद के अनेक सूक्तों के द्रष्टा। इन्हीं के पुत्र का नाम बृहस्पति है।

अङ्गुलि–अंगुलियों से संकेत करना। यथा–'मुखार्पितैकाङ्गुलिसंज्ञयैव'। (कुमार०३।४१)

अङ्गुलीयक–अँगूठी। यथा–'तव सुचरितमङ्गुलीयं नूनं प्रतनु ममैव'। (शा०६।१०)

अजय्य–जो जीता न जा सके। (शा०६।२९, रघु०१८।८)

अञ्चित–मुड़ा हुआ, झुका हुआ, धनुषाकार, सुन्दर। (रघु०५।७६)

अञ्जना–सुमेरु पर्वत के निवासी वानरराज केसरी की पत्नी का नाम 'अञ्जना' था। इन्हीं के गर्भ से 'हनूमान्' जी का जन्म हुआ। अञ्जना नाम से एक हथिनी का भी परिचय मिलता है। हनूमान् की माता का वर्णन ब्रह्माण्डपुराण में भी उपलब्ध है। (ब्रह्मा०३।७।२२४-२२५)

अञ्जलि–दोनों खुले हाथों को मिलाया हुआ स्वरूप, जिसे करसंपुट भी कहते हैं। देखें–'वध्यतामभययाचनाञ्जलिः'। (रघु०११।७८)

अट्टहास–'त्र्यम्बकस्याट्टहासः'। (पूर्वमेघ ६२) ठहाका लगाकर जोर से हँसना।

अणिमा–आठ सिद्धियों में से प्रथम सिद्धि। एक दैवीशक्ति, जिसके बल से मनुष्य छोटे से छोटा रूप धारण कर सकता है। आठ सिद्धियाँ–१. अणिमा, २. महिमा, ३. गरिमा, ४. लघिमा, ५. प्राप्ति, ६. प्राकाम्य, ७. ईशित्व तथा ८. वशित्व। इसी आठवीं सिद्धि को वैराग्य या कामावशायिता भी कहते हैं। (देखें–अमरकोष, स्वर्गवर्ग)

अतिबला–एक शक्तिशाली मन्त्र या विद्या, जिसे विश्वामित्र ने श्रीराम को सिखलाया था। ये बला तथा अतिबला नाम की विद्याएँ अपने उपासक को अपूर्व शक्तियाँ प्रदान करती हैं। (रघु०११।९)

अतिमुक्त–एक प्रकार की लता, जो आम की पत्नी के रूप में मानी जाती है, जो अधिकांश आम के वृक्ष से लिपटी रहती है। इसे माधवीलता या मोगरा कहते हैं।

अत्यादित्य–सूर्य की ज्योति से अधिक चमकने वाला। यथा–'अत्यादित्यं हुतवहमुखे सम्भृतं तद्धि तेजः'। (पूर्वमेघ ४७)

अत्याहित–बड़ी विपत्ति, भय, दुर्भाग्य, अनर्थ, दुर्घटना आदि आश्चर्यजनक घटना के रूप में इसका प्रयोग होता है। यथा–'न किमप्यत्याहितम्'। (शाकुन्तल १)

अत्रि–सप्तर्षियों में अन्यतम ऋषि। इनकी उत्पत्ति ब्रह्माजी के नेत्र से हुई थी। इनकी स्त्री का नाम अनसूया है। सप्तर्षि–१. मरीचि, २. अत्रि, ३. अंगिरा, ४. पुलस्त्य, ५. पुलह, ६. क्रतु, ७. वशिष्ठ। यथा–'अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः'। (रघु०२।७५)

अदिति–ये दक्षप्रजापति की पुत्री और मरीचि के पुत्र कश्यप ऋषि की पत्नी हैं। इनके गर्भ से सूर्य आदि तैंतीस देवता उत्पन्न हुए, जिन्हें आदित्य कहा जाता है।

अद्धा–सचमुच, अवश्य, निःसन्देह। (रघु०१३।६५)

अधिगुण–'अधिकाः गुणाः यस्मिन्'। उत्तमगुण जिसमें हों, वह गुणवान् व्यक्ति। यथा–'याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा'। (पूर्वमेघ ६)

अनग्निचित्–जिसे अग्नि की आवश्यकता न हो। यथा–'विदधे विधिमस्य नैष्ठिकं यतिभिः सार्धमनग्निमग्निचित्'। (रघु०८।२५)

अनघ–निष्पाप, निरपराध, सकुशल, पवित्र, निष्कलंक। यथा–'अवैमि चैनामनघेति'। (रघु०१४।४०) 'कच्चिन्मृगीणामनघा प्रसूतिः'। (रघु०५।७) 'मृगवधूर्यदा अनघप्रसवा भवति'। (शा०४) 'रूपमनघम्'। (शा०२।१३)

अनङ्ग–देहरहित, आकृतिहीन। यथा–'अनङ्गलेखक्रिययोपयोगम्'। (कुमार०१।७) 'त्वमनङ्गः कथमक्षता रतिः'। (कुमार०४।९)

अनन्तर–'नास्ति अन्तरं यस्य'। अन्तररहित, सीमारहित। यथा–'पुराणपत्रापगमादनन्तरम्'। (रघु०३।७) 'अनुष्ठितानन्तरजा विवाहः'। (रघु०७।३२)

अनसूया–महर्षि कर्दम की पुत्री तथा अत्रिमुनि की पत्नी। स्त्रियोचित पतिभक्ति एवं सतीत्व की आदर्शमूर्ति।

अनिर्वाण–अनधुला, जिसने अभी स्नान नहीं किया। यथा–'अल्तुदमिवालानमनिर्वाणस्य दन्तिनः। (रघु०१।७१)

अनुदात्त–गुरुस्वर, जो उदात्तस्वर की भाँति उच्चस्वर से उच्चरित न किया जाता हो, उसे अनुदात्त कहते हैं।

अनुशय–पश्चात्ताप, मनस्ताप, खेद। यथा–'बाणं विसृज्य विगतानुशयो भवेयम्'। (शाकुन्तल०७।२५)

अनूपराज–जल-बहुल देशविशेष का राजा। यथा–'अनूपराजस्य गुणैरनूनाम्'। (रघु०६।३७)

अन्तः–निकट, अन्तिम, सुन्दर, मनोहर। यथा–'ओदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्यः'। (शा०४।१५) 'गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश'। (रघु०२।२६) 'सैकान्ते मुनिकन्याभिः'। (रघु०१।५१)

अन्तपाल–'अन्तं सीमानं पालयति (रक्षति) इति अन्तपालः'। राज्यसीमा पर बना हुआ किला, जो शत्रुओं के सहसा होने वाले आक्रमण को रोकने के लिए बनाया जाता है।

अन्तःपुर–रनिवास, राजमहल का भीतरी भाग, जो केवल महिलाओं के लिए सुरक्षित होता है।

अन्तर्गत–बीच में आया हुआ। यथा–'सौमित्रिरन्तर्गतबाष्पकण्ठः'। (रघु०१४।५३) 'अन्तर्गतमपास्तं मे रजसोऽपि परं तमः'। (कुमार०६।६०)

अन्तर्धान–अदृश्य होना, तिरोधान, दृष्टि से ओझल होना, छिप जाना।

अन्तर्हित–छिप जाना, ओट लगना। यथा–'अन्तर्हिता शकुन्तला वनराज्या'। (शा०४) 'अन्तर्हिते शशिनि'। (शा०४।२)

अन्धक–दिति और कश्यप के पुत्र का नाम। इसे अन्धकासुर भी कहते हैं। इसका वध अन्धकारि (शिवजी) ने किया।

अपराजिता–जिस मन्त्र की उपासना (जप) करने से मानव सर्वत्र विजयी होता है। इसी को शिखाबन्धन विद्या भी कहा जाता है। देखें—विक्रमोर्वशीय नाटक के दूसरे अंक के उर्वशी-चित्रलेखा संवाद में। भगवती अपराजिता का ध्यान–'ऊर्ध्वकेशि! विरूपाक्षि! मांसशोणितभोजने!। तिष्ठ देवि! शिखाबन्धे! चामुण्डे! ह्यपराजिते'॥ वास्तव में यह अपराजिता विद्या प्रत्यङ्गिरा का ही स्वरूप है।

अपरान्त–पश्चिम देशवासी। 'अपरान्तास्तु पाश्चात्याः'। इति यादवः। (रघु०४।५३,५८)

अप्सरस्तीर्थ–अप्सराओं की निवासभूमि। आकाश-गंगा के तट पर अप्सराओं के स्नान करने का स्थान। अप्सरा के अनुरूप।

अभिनय–नाटक खेलना, अंग-विक्षेप, किसी मानसिक भाव या आवेश को प्रकट करने की विधि। यथा–'तथा हि नृत्याभिनयक्रियाच्युतम्'। (कुमार०५।७९) 'अभिनयान् परिचेतुमिवोद्यता'। (रघु०९।३३) नाटकीय प्रदर्शिनी, मंच पर प्रदर्शन करना। यथा–'ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः'। (विक्रम०२।१८) लक्षण-ग्रन्थों में अभिनय के चार भेदों का वर्णन मिलता है। यथा–१. आंगिक, २. वाचिक, ३. आहार्य, ४. सात्त्विक। द्रष्टव्य साहित्यदर्पण–'भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः स चतुर्विधः। आङ्गिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्त्विकस्तथा'॥ १. आंगिक–शारीरिक चेष्टाओं द्वारा प्रकट होने वाला। २. वाचिक–विभिन्न प्रकार के शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया जाने वाला। ३. आहार्य–वेशभूषा, अलंकार, सजावट के भेदोपभेदों द्वारा प्रदर्शित किया जाने वाला। ४. सात्त्विक–स्वेद, रोमांच, अश्रु, कम्पन आदि आन्तरिक मृदु भावों द्वारा प्रकट होने वाला।

अभिनयभेद–संगीतरत्नाकर के अनुसार नृत्त, कैवार, मर्मर, जागर तथा गीत–ये पाँच प्रकार के अभिनय के भेद कहे गये हैं। जिनमें से प्रायः कैवार और जागर भेदों को हटाकर शेष दोनों का ही अधिक प्रयोग देखा जाता है।

अभिमुख–जो किसी की ओर मुख किये हुए हो। यथा–'अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितम्'। (शा०२।११) 'अभिमुखीष्विव काङ्क्षितसिद्धिषु'। (विक्रम०२।९) 'नेपथ्याभिमुखमवलोक्य'। (शा०१) 'कर्णं ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे'। (शा०१।३१)

अभिरूप–अनुरूप, उपयुक्त। यथा–'अभिरूपमस्या वयसो वल्कलम्'। (शा०१)। 'अभिरूपभूयिष्ठा परिषदियम्'। (शा०१)

अभिलाष–इच्छा, कामना, उत्कंठा, अनुराग। यथा–'अतोऽभिलाषे प्रथमं तथाविधे'। (रघु०३।४) 'न खलु सत्यमेव शकुन्तलायां ममाभिलाषः'। (शा०२)

अभिषेक–तीर्थोदक को छिड़कना या स्नान कराना। यथा–'अथाभिषेकं रघुवंशकेतोः'। (रघु०१४।७) 'अत्राभिषेकाय तपोधनानाम्'। (रघु०१३।५१)। धर्मस्नान के अर्थ में–'अभिषेकोत्तीर्णाय काश्यपाय'। (शा०४)

अभिसारिका–वह स्त्री जो अपने प्रिय से मिलने जाती है अथवा प्रिय द्वारा बतलाये हुए संकेतस्थान का अनुसरण करती है। यथा–'कान्तार्थिनी तु या याति सङ्केतं साभिसारिका'। (अमरकोष। प्रमुख स्थल–रघु०१६।१२, कुमार०६।४३) साहित्यदर्पण के अनुसार अभिसारिकाओं के नियत स्थल–१. फसल युक्त खेत, २. बगीचा, ३. खंडहर या देवालय, ४. दूतीगृह, ५. वन, ६. तीर्थस्थान, ७. श्मशानभूमि, ८. नदी आदि का तट। अभिसारिका भीरु तथा साहसी होती है, अतएव इस सम्बन्ध में यह सूक्ति प्रसिद्ध है–'दिवा काकरवाद् भीता रात्रौ तरति नर्मदाम्'।

अमरावती–इन्द्रपुरी। इसका निर्माण विश्वकर्मा ने सुमेरु पर्वत पर किया था। यह नन्दन वन से सुशोभित है। यह देवराज इन्द्र के आमोद-प्रमोद का उत्तम स्थान है।

अमात्य–मन्त्री, राजा का सहचर। यथा–'अमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः'। (रघु०३।२८)

अमृत–जो मरा न हो, पीयूष, सुधा, जो समुद्रमन्थन से निकला था, वह पेय जो मृतों को जीवित कर देता है। यथा–'कुमारजन्मामृतसम्मिताक्षरम्'। (रघु० ३।१६) 'विषमप्यमृत क्वचिद् भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया'। (रघु०८।४६)

अमृतकिरण–सुधांशु, चन्द्रमा। यह वियोगियों को मार डालता है, इसके विपरीत यह 'ओषधीनां पतिः' है, अतः समस्त ओषधियों में जीवनीय शक्ति का संचार यही करता है।

अम्बिका–माता, शिवजी की पत्नी पार्वती। यथा-'आशीर्भिरेधयामासुः पुरःपाकाभिरम्बिकाम्'। (कुमार०६।९०)

अयोध्या–सरयू के तट पर विराजमान सूर्यवंशी राजाओं की राजधानी। जिस पर आक्रमण न किया जा सके अथवा जिसकी तुलना अन्य नगरी से न की जा सके। मोक्ष प्रदान करने वाली सात नगरियों में अग्रणी या अन्यतम।

अरणि–यज्ञ में अग्नि उत्पन्न करने के लिए शमी अथवा अश्वत्थ (पीपल) के दो टुकड़ों को परस्पर मथानी की भाँति रगड़ा जाता है। ऊपर वाले टुकड़े को उत्तरारणि और नीचे वाले टुकड़े को अधरारणि कहते हैं। शुकदेवजी की माता का नाम 'अरणी' था, अतः इन्हें अरणीसुत भी कहा जाता है।

अरिष्ट–अक्षत, पूर्ण, अविनाशी, नीम तथा रीठे का वृक्ष, सूतिकागृह। यथा–'अरिष्टशय्यां परितो विसारिणा'। (रघु०३।१५)

अरुण–विनता तथा कश्यप का पुत्र, सूर्य का सारथी, जिसे 'अनूरु' कहते हैं। यह गरुड़ का बड़ा भाई था। (देखें–अमरकोष) 'आविष्कृतोऽरुणपुरस्सर एकतोऽर्कः'। (शा०४।१ तथा ७।४) 'संसृज्यते सरसिजैररुणांशुभिन्नैः'। (रघु०५।६९ तथा ५।७१) 'विभावरी यद्यरुणाय कल्पते'। (कुमार०५।४४) 'रागेण बालारुणकोमलेन'। (कुमार०३।३०)

अरुन्तुद–मर्मस्थानों को छेदने वाला, मर्मवेधी। यथा– 'अरुन्तुदमिवालानमनिर्वाणस्य दन्तिनः'। (रघु०१।७१)

अरुन्धती–महर्षि वशिष्ठ की पत्नी। यथा–'अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम्'। (रघु०१।५६) सप्तर्षिमंडल में वशिष्ठ के साथ दिखलायी देने वाला एक तारा। कर्दम प्रजापति की कन्या। अरुन्धती भी रघुकुल की नियामिका रहीं। श्रीराम द्वारा परित्यक्ता सीता का निर्देशन देवदूत के रूप मे इन्हीं ने किया था। आयुर्वेद के सिद्धान्त के अनुसार जिसका मरणकाल निकट आ जाता है वह अरुन्धती तारे को नहीं देख सकता। (चरक० इन्द्रियस्थान)

अर्गला–ब्योड़ा, सिटकिनी, आगल। यथा–'ईप्सितं तदवज्ञानाद् विद्धि सार्गलमात्मनः'। (रघु०१।७९) 'अथानपोढार्गलमप्यगारम्'। (रघु०१६।६) तथा 'पुरार्गलादीर्घभुजो बुभोज'। (रघु०१८।४)

अर्घ–पूजा की सामग्री, देवताओं अथवा पूज्य अतिथियों को सादर दिया हुआ उपहार। यथा–'कल्पितार्घाय तस्मै'। (पूर्वमेघ ४)

अर्घ्य–मूल्यवान्, सम्माननीय। यथा–'अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं नृपम्'। (रघु०११।६९, कुमार०१।५८, ६।५०) तथा 'अर्घ्यमस्मै'। (विक्रम०५)

अर्जुन–सफेद, चमकीला, उज्ज्वल। इसे 'ककुभ' भी कहते हैं। यह वृक्ष उत्तर प्रदेश के मैदानी क्षेत्रों में ४५० हजार फुट की ऊँचाई तक देखा जाता है। बंगाल, मध्य भारत तथा दक्षिण प्रदेश में भी यह पाया जाता है। आयुर्वेदीय दृष्टि से यह हृद्रोग की सुप्रसिद्ध ओषिधि है।

अर्थ–प्रार्थना या याचना करना। पुरुपार्थ–धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष– इन चारों को पुरुषार्थचतुष्टय कहते हैं। यथा–'अवकाशं किलोदन्वान् रामायाभ्यर्थितो ददौ'। (रघु०४।३८,७।५०) 'अर्थो हि कन्या परकीय एव'। (शा० ४।२१)

अर्ध–आधा, आधा भाग। यथा–'गतमर्ध दिवसस्य'। (विक्रम०२) 'यदर्धे विच्छिन्नम्'।(शा०१।९)'चरोर्धार्धभागाभ्यां तामयोजयतामुभे'। (रघु०१०।५६)

अर्धचन्द्र–बालचन्द्रमा के आकार के फल वाला वाण। यथा–'अर्धचन्द्रमुखैर्बाणैश्चिच्छेद कदलीमुखम्'। (रघु०१२।९६)

अर्धनारीश्वर–शक्ति की उपासना करने के कारण शिवजी के इस रूप की प्रसिद्धि हुई है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य के मंगलाचरण में इसी रूप की वन्दना की है।

अलकापुरी–यह कैलास पर्वत में स्थित यक्षों की नगरी और कुबेर की राजधानी है। यथा–'गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणाम्'। (पूर्वमेघ०७)

अलक्ष्यजन्मता–जिसके जन्म के सम्वन्ध में जानकारी न हो। यथा– 'वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता'। (कुमार०५।७२)

अवन्ती–एक नगर-विशेष का नाम, जिसे अवन्तिका, विशाला, उज्जयिनी या उज्जैन कहते हैं। यह हिन्दुओं के सात पवित्र तीर्थों में से एक है। सात मोक्षप्रद तीर्थ–१. अयोध्या, २. मथुरा, ३. माया (हरिद्वार), ४. काशी (वाराणसी), ५. काञ्ची, ६. अवन्तिका, ७. द्वारिकापुरी। यह अवन्ती नगरी सिप्रा नदी के पवित्र तट पर विराजमान है। यहीं पर महाकालेश्वर नामक महादेवजी के प्रसिद्ध ज्योतिर्लिंग की स्थापना की गयी है। ईसवीय संवत् से ५७ वर्ष पहले महाराज विक्रमादित्य यहाँ के राजा थे। 'सिप्रा' नदी का ही दूसरा नाम 'अवन्ती' है। इसी के कारण इस देश का नामकरण हुआ है।

अवस्थान्तर–आयु के अनुसार मानव-शरीर की अवस्थाओं के नाम और अवधि का श्रीधरस्वामी के अनुसार निर्देश–पाँच वर्ष की आयु तक 'कुमार', दस वर्ष की आयु तक 'पौगंड'। आप्टे के मत से १६ वर्ष तक 'पौगंड' अवस्था होती है। पन्द्रह वर्ष तक 'किशोर', इसके वाद 'यौवन' कहा गया है।

अशोक–एक वृक्ष-विशेष, जिसकी छाल का प्रयोग स्त्रीरोगों को दूर करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। इसके सम्वन्ध में प्रसिद्धि है कि स्त्रियों के पादाघात के सुख से इसमें फूल लगते हैं। इस प्रकार की प्रसिद्धियों को 'कविसमय' कहा गया है। यथा–'असूत सद्यः कुसुमान्यशोकः'। (कुमार०३।२६ तथा रघु०८।६२) अशोक वृक्ष का फूलना, कामदेव के पाँच वाणों में से एक। यथा–१. अरविन्द, २. अशोक, ३. आम्रमंजरी, ४. नवमल्लिका, ५. नीलकमल।

अश्वमुखी–जिसका मुख घोड़े जैसा होता है उस स्त्री का नाम, किन्नरी, देवदूती। यथा–'भिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्यः'। (कुमार०१।११)

अश्वमेध–एक यज्ञ, जिसमें घोडे की वलि दी जाती है। इस यज्ञ के लिए श्यामकर्ण घोड़ा उपयुक्त माना जाता है।

अश्विनी–सत्ताईस नक्षत्रों में सबसे पहला नक्षत्र। एक अप्सरा, जो बाद में अश्विनीकुमारों की माता मानी जाने लगी।

अश्विनीकुमार–सूर्य की पत्नी अश्विनी के यमल पुत्र। ये दोनों देवताओं के चिकित्सक थे। ये सदा यौवनसम्पन्न रहते थे।

अष्टमूर्ति–यह शब्द शिवजी का विशेषण है। अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के मंगलाचरण पद्य में शिव के आठ रूपों का इस प्रकार वर्णन किया है। यथा–१. जल, २. अग्नि, ३. यजमान, ४. सूर्य, ५. चन्द्र, ६. आकाश, ७. पृथ्वी, ८. वायु। (शा०१।१)

असन–पीतसाल या शाल नामक वृक्ष-विशेष। इसी को 'अशन' या 'आसन' भी कहते हैं।

असिधाराव्रत–तलवार की धार पर चलने के समान कठोर कार्य करना, युवा पति-पत्नी का साथ में रहकर भी सहवास न करना।

असिपत्र–तलवार की धार के सदृश तेज धार वाले पत्तों वाला वृक्ष। यथा–'जातं तमात्मन्यसिपत्रवृक्षम्'। (रघु०१४।४८)

अस्त्र–फेंककर चलाये जाने वाले हथियार। जैसे–वाण, वर्छी, चक्र आदि। यथा–'प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात्'। (रघु०२।३४,४१; ३।३१,५८)

अहल्या–महर्षि गौतम की पत्नी। इनके पिता का नाम वृहदश्व था। इन्द्र ने इनके सतीत्व का अपहरण किया, तव ये गौतम ऋषि के शाप से पत्थर हो गयी थीं। त्रेता युग में श्रीराम के चरणस्पर्श से इनका उद्धार हुआ। अहल्या आदि पाँच सती स्त्रियाँ थीं, इनके नामस्मरण मात्र से महापापों का विनाश हो जाता है। यथा–'अहल्या द्रौपदी सीता तारा मन्दोदरी तथा। पञ्चकं ना स्मरेन्नित्यं महापातकनाशनम्'॥ (सूक्ति)

अह्राय–शीघ्र, तत्काल, अविलम्ब। यथा–'अह्राय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज'। (कुमार०५।८६) 'अह्राय तावदरुणेन तमो निरस्तम्'। (रघु०५।७१)

'आ'

आकाशगङ्गा–दिव्य गंगा। यथा–'नदत्याकाशगङ्गायाः स्रोतस्युद्दामदिग्गजे'। (रघु०१।७८)

आतोद्य–एक प्रकार का वाद्ययन्त्र। यथा–'स्रजमातोद्यशिरोनिवेशिताम्'। (रघु०८।३४) 'आतोद्यं ग्राहयामास'। (रघु०१५।८८)

आदित्य–इनकी संख्या वारह मानी गयी है। इनका क्रम इस प्रकार है–१. विवस्वान्, २. अर्यमा, ३. पूषा, ४. त्वष्टा, ५. सविता, ६. भग, ७. धाता, ८. विधाता, ९. वरुण, १०. मित्र, ११. शक्र, १२. विष्णु। ये सभी अदिति के पुत्र हैं।

आन्वीक्षिकी–तर्क, तर्कशास्त्र। यथा–'आन्वीक्षिकी दण्डनीतिस्तर्कविद्यार्थशास्त्रयोः'। (अमरकोष) महर्षि गौतम के अनुसार इसका नाम 'आत्मविद्या' है। न्यायदर्शन के प्रवर्तक अक्षपाद (गौतम) ने इस आत्मविद्या को पाँच अध्यायो में पूरा किया।

आम्रकूट–'विल्सन' के अनुसार यह 'अमरकंटक' पर्वत है। उक्त पर्वत नर्मदा तथा शोण नदियों का उद्गमस्थल है। यथा–'सानुमानाम्रकूटः'। (पूर्वमेघ१७)।

आलान–वह स्थान जहाँ हाथी वाँधा जाता है। यथा–'अरुन्तुदमिवालानमनिर्वाणस्य दन्तिनः'। (रघु०१।७१,४।६९)

आलानिक–उस थूनी के काम आने वाली वस्तु जिसके सहारे हाथी वाँधा जाता है। यथा–'आलानिकं स्थाणुमिव द्विपेन्द्रः'। (रघु०१४।३८)

आलिङ्ग्य–आप्टे के अनुसार जौ के दाने के आकार का वना हुआ ढोल नामक वाद्य। यह गोद में रखकर आलिंगन करने की भाँति वजाया जाता है, यही इसके नाम की सार्थकता है। इसके भेद–मृदंग, ढोल, मशकवीन आदि हैं।

आली–सखी। यथा–'निवार्यतामालि! किमप्ययं वटुः' (कुमार०५।८३,७।६८)

आलीढ–निशाना लगाते समय दाहिने घुटने को आगे वढ़ाकर और वाँये पैर को मोड़कर वैठना। यथा–'अतिष्ठदालीढविशेषशोभिना'। (रघु०३।५२)

आश्रम–पर्णशाला, कुटिया, संन्यासियों का निवासस्थान। यथा–'स किलाश्रममन्त्यमाश्रितः'। (रघु०८।१४) तपोवन। यथा–'शान्तमिदमाश्रमपदम्'। (शा०१।१६)

आसव–मद्य, आयुर्वेदीय विधि से निर्मित आसव, अरिष्ट, जो नशीले या मादकता कारक होते हैं। जैसे–लोहासव, द्राक्षासव आदि। यथा–'अनासवाख्यं करणं मदस्य'। (कुमार०१।३१)

आस्फालन–दवाकर रगडना, पानी आदि का हिलना, फड़फडाना। (देखें–शाकु०२।४, कुमार० ३।२२) 'अनवरतधनुर्ज्याऽऽस्फालनक्रूरवर्ष्मा'। (रघु०१६।६२)

आहवनीय–आहुति देने योग्य अग्नि। गार्हपत्य अग्नि से लेकर इसको अन्य याग आदि के लिए तय्यार किया जाता है।

आहुति–पवित्र कृत्यो के उपलक्ष्य में किये जाने वाले यज्ञो में हवन-सामग्री को हवनकुण्ड मे स्थित अग्नि में डालना। यथा–'होतुराहुतिसाधनम्'। (रघु०१।८२)

'इ'

इक्ष्वाकु–वैवस्वत मनु के पुत्र। अयोध्या के सर्वप्रथम राजा। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम इन्हीं के कुलभूषण थे। यथा–'गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम्'। (रघु०३।७०)

इङ्गुदी–हिंगोट का वृक्ष। 'इङ्गुदीपादपः सोऽयम्'। (उत्तर०१।१४)

इन्दुमती–पूर्णिमा, महाराज अज की पत्नी। यथा–'क्षितिरिन्दुमती च भामिनी'। (रघु०८।२८)

इन्द्र—स्वर्ग के राजा देवराज इन्द्र, परम ऐश्वर्यशाली। यथा—'त्वमेव देवेन्द्र! सदा निगद्यसे'। (रघु०३।४४)

इन्द्रगोप—एक प्रकार का कीड़ा, जो लाल रंग का होता है। इसे 'बीरबहूटी' भी कहते हैं।

इन्द्रधनुष—इन्द्र का धनुष. इसे 'इन्द्रायुध' भी कहते हैं। (यथा—'इन्द्रायुधः शक्रधनुः'। अमरकोष) वर्षाकाल में इसके दर्शन कभी-कभी आकाश में होते हैं।

इन्द्रनीलमणि—इसी को 'नीलम' या 'नीलकान्तमणि' भी कहते हैं। शनि दशा के दोष को शान्त करने के लिए इसे धारण किया जाता है।

इन्द्रलोक—स्वर्ग, अमरावती, सुखसम्पदा से समृद्ध स्थान को भी इन्द्रलोक कह दिया जाता है।

इरावती—पंजाब में बहने वाली नदी, जिसका आधुनिक नाम 'रावी' है।

'ई'

ईति—ईतियाँ छः प्रकार की होती हैं—१. अतिवृष्टि, २. अनावृष्टि, ३. मूषक (चूहे), ४. शलभ (टिड्डीदल), ५. शुक (तोते) तथा ६. बाहरी राजाओं का आक्रमण होना। यथा— 'निरातङ्का निरीतयः'। (रघु० १।६३)

ईङ्खना—झूलना या डुलना। यथा—'दिग्गाविवा-स्यानवधारणीयं ईङ्खया कर्मियत्तया वा'। (रघु०१।३५)

ईप्सु—प्राप्त करने का इच्छुक। यथा—'सौरभ्यमीप्सुरिव ते मुखमारुतस्य'। (रघु०५।६३)

'उ'

उच्चैःश्रवा—समुद्रमन्थन में प्राप्त देवराज इन्द्र का घोड़ा। यथा—'हय उच्चैःश्रवा'। (अमरकोष) यह सफेद वर्ण वाला था। इसके कान सदा ऊपर को खड़े रहते थे।

उज्जयिनी—'उज्जैन', शेष अवन्ती के परिचय को देखें।

उञ्छ—अनाज के दानों को बीनकर आजीविका करना। यथा—'तान्युञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि'। (रघु०५।८)

उत्क—इच्छुक, लालायित, उत्कंठित। यथा—'अविभूतामसमागमोत्कः'। (कुमार०६।९५) 'मानसोत्काः'। (पूर्वमेघ०११)।

उत्कल—वर्तमान उड़ीसा देश। यथा—'जगन्नाथ-प्रान्तदेश उत्कलः परिकीर्तितः'। 'उत्कलादर्शितपथः'। (रघु०४।३८)

उत्खातिन्—विषम, ऊँची-नीची भूमि। यथा—'उत्खातिनी भूमिरिति मया रश्मिसंयमनाद् रथस्य मन्दीकृतो वेगः'। (शा०१)

उत्तरकोसलेश्वर—उत्तरी कोसल देश का राजा। यथा—'पितुरनन्तरमुत्तरकोसलान्'। (रघु०९।१)

उत्तरीय—ऊपर के अंगों को ढकने वाला वस्त्र-विशेष। यथा—दुपट्टा, चादर, चूनरी।

उत्सङ्ग—गोद, आलिंगन, सम्पर्क, संयोग। यथा—'दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः'। (कुमार० १।१०) 'उत्सङ्गे वा मलिनवसने'। (उत्तरमेघ०२६) 'तुङ्गं नगोत्सङ्गमिवारुरोह'। (रघु०६।३८)

उत्सर्ग—छोड़ देना, तिलाञ्जलि देना, निकालना। यथा—'अपवादैरिवोत्सर्गाः कृतव्यावृत्तयः परैः'। (कुमार०२।२७) 'श्रीलक्षणोत्सर्गविनीतवेशाः'। (कुमार०३।४९) 'अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः'। (रघु०१५।७)

उत्सर्पिणी—ऊपर को जानेवाली, महत्त्वपूर्ण, उठनेवाली। (रघु०१६।३२, शाकु०३।१२ के नीचे)

उत्सेक—घमंड, अहंकार, धृष्टता। यथा—'उपदा-विविशुः शश्वन्नोत्सेकाः कोसलेश्वरम्'। (रघु०४।७०)

उत्सेध—ऊँचाई, उन्नतता। यथा—'पयोधरोत्सेध-विशीर्णसंहतिः'। (कुमार०५।८)

उदग्र—उन्नत शिखर वाला, उभरा हुआ, ऊँचा, उन्नत। यथा—'उदग्रः क्षत्रस्य शब्दः'। (रघु०२।५३) 'उद-ग्रप्लुतत्वात्'। (शा०१।७) 'अवन्तिनाथोऽय-मुदग्रबाहुः'। (रघु०६।३२)

उदयन—वत्सराज के नाम से प्रसिद्ध उदयन चन्द्रवंशी राजा था। इनका राज्य ईसा से ६०० वर्ष पूर्व कौशाम्बी नगरी (प्रयाग के समीप) में था। उज्जयिनी की राजकुमारी वासवदत्ता ने स्वप्न में देखा और वह उसके रूपसौन्दर्य को देखकर मोहित हो गयी। तदनन्तर उसे प्राप्त करने के प्रयास होने लगे। वीणा बजाकर हाथी पकड़ने की कला में कुशल उदयन को चंडमहासेन धोखे से पकड़कर ले गये तथा उन्होंने इनको वासवदत्ता का वीणा-शिक्षक नियुक्त किया। बाद में इनका

वासवदत्ता के साथ विवाह हो गया। वत्सदेश के राजा होने के कारण इनका एक नाम 'वत्सराज' भी था। यथा-'लोके हारि च वत्सराजचरितम्'। (नागानन्द १।१)

उदश्रु-फूट-फूट कर रोने वाला। यथा-'तस्य पश्यन्स सौमित्रेरुदश्रुर्वसतिद्रुमान्'। (रघु०१२।१४)

उदात्त-उच्चस्वर, उन्नत, उच्चस्वराघात। यथा-'उच्चैरुदात्तः'। (पा०सू० १।२।२९) इस नाम का एक अलंकार।

उदायुध-जिसने शस्त्र उठा लिया है, ऊपर की ओर शस्त्र उठाये हुए। यथा-'उदायुधानापततस्तान् दृप्तान् प्रेक्ष्य राघवः'। (रघु०१२।४४)

उदाहरण-वर्णन करना। यथा-'अथाङ्गिरसमग्रण्य-मुदाहरणवस्तुषु'। (कुमार०६।५५) 'चरणेभ्य-स्त्वदीयं जयोदाहरणं श्रुत्वा'। (विक्रम०१) 'जयोदाहरणं बाह्वोर्गापयामास किन्नरान्'। (रघु०४।८७ एवं विक्रम०२।१४)

उद्गन्धि-सुगन्धयुक्त, तीव्रगन्धवाला। यथा-'विजृम्भ-णोद्गन्धिषु कुड्मलेषु'। (रघु०१६।४७)

उद्घात-आरम्भ, उपक्रम। यथा-'उद्घातः प्रणवो यासाम्'। (कुमार०२।१२) 'आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः'। (रघु०४।२०)

उद्धय-एक नदी-विशेष का नाम।

उद्वहन-विवाह करना, सहारा लेना, उठाये रखना। यथा-'भुवः प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः'। (रघु०१३।१, १४।२० एवं कुमार०३।१३)

उद्वेष्टन-ढीला किया हुआ। यथा-'कयाचिदुद्वेष्टन-वान्तमाल्यः'। (रघु०७।६ एवं कुमार०७।५७)

उपकण्ठ-समीप, पड़ोस। यथा-'प्राप तालीवनश्याम-मुपकण्ठं महोदधेः'। (रघु०४।३४, १३।४८ एवं कुमार०७।५१)

उपमा-एक-दूसरे से भिन्न दो पदार्थों की सदृशता के आधार पर तुलना। यथा-'उपमा कालिदासस्य'। (सूक्ति) 'सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन'। (कुमार० १।४९)

उपमान-तुलना, समरूपता। यथा-'जातास्तदूर्वोरु-पमानबाह्याः'। (कुमार०१।३६ एवं विक्रम०२।३)

उपराग-सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण। यथा-'उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणीयोगम्'। (शा०७।२२ एवं रघु०१६।७)

उपलम्भ-अभिग्रहण। यथा-'अस्मादङ्गुलीयो-पलम्भात् स्मृतिरुपलब्धा'। (शा०७, रघु०१४।२)

उपवीणन-वीणा या शारङ्गी बजाना। यथा-'उपवीणयितुं ययौ रवेरुदयावृत्तिपथेन नारदः। (रघु०८।३३)

उपसर्ग-चिकित्सा की दृष्टि से इसका अर्थ 'रोग' है। व्याकरण की दृष्टि से ये २२ होते हैं और इनका प्रयोग धातुओं के आदि में होता है। इनके प्रयोग से धातुओं के अर्थों में अपूर्व परिवर्तन आ जाता है। जैसे-सीदति=दुःखी होता है और 'प्र' उपसर्ग लगा देने पर 'प्रसीदति' का अर्थ होगा-प्रसन्न होता है।

उर्वशी-इन्द्रलोक की एक प्रसिद्ध अप्सरा, जो पुरूरवा की पत्नी थी। इसका उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है।

उशीर-वीरणमूल, खस। यथा-'स्तनन्यस्तोशीरम्'। (शा०३।९)

उषस्-पौ फटना, प्रातःकाल। यथा-'प्रदीपार्चिरि-वोषसि'। (रघु०१२।१)

'ऊ'

ऊधस्य-औडी से निकाला हुआ दूध। यथा-'ऊधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुम्'। (रघु०२।६६)

ऊन-अधूरा, कम, अभावग्रस्त। यथा-'किञ्चि-दूनमनूनर्धेः शरदामयुतं ययौ'। (रघु०१०।१) 'ऊनं न सत्त्वेष्वधिको ववाधे'। (रघु०२।१४)

ऊर्मि-लहर, धाराप्रवाह, गति। यथा-'वेत्र-वत्याश्चलोर्मि'। (पूर्वमेघ २४)

'ऋ'

ऋक्षवत्-नर्मदा नदी के निकट स्थित एक पर्वत। यथा-'वप्रक्रियामृक्षवतस्तटेषु'। (रघु०५।४४)

ऋते-अतिरिक्त, सिवाय, विना। यथा-'अवेहि मां प्रीतमृते तुरङ्गमात्'। (रघु०३।६३)

'ए'

एक-एक, अकेला, जिसके साथ कोई और न हो। यथा-'तद्गीतश्रवणैकाग्रा'। (रघु०१५।६६)

एतावत्-इतना अधिक, इतना बड़ा। यथा-'एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे'। (रघु०२।५१ एवं

कुमार०६।८१) 'एतावान् मे विभवो भवन्तं सेवितुम्'। (मालवि०२)

एधस्-इन्धन, लकड़ी, समिधा। यथा-'अनन्यया-गुरुचन्दनैधसे'। (रघु०८।७१)

एधित-बढ़ा हुआ, पालित-पोषित। यथा-'मृगशावैः सममेधितो जनः'। (शा०२।१८)

एला-इलायची। यथा-'एलानां फलरेणवः'। (रघु० ४।४७)

एषिन्-इच्छा या कामना करते हुए। यथा-'यौवने विषयैषिणाम्'। (रघु०१।८)

'ऐ'

ऐन्द्र-इन्द्र से सम्बन्ध रखने वाला। यथा-'राज्यं पदमैन्द्रमाहुः'। (रघु०२।५०)

ऐन्द्रास्त्र-इस अस्त्र का देवता इन्द्र है। शत्रुघ्न ने इसका प्रयोग लवणासुर को मारने के लिए किया था। यथा-'ऐन्द्रमस्त्रमुपादाय शत्रुघ्नेन स ताडितः'। (रघु०१५।२२)

ऐरावत-इरावान् समुद्र से उत्पन्न, इन्द्र का हाथी। इसी को 'ऐरावण' भी कहते हैं। इसका रंग सफेद है।

'ओ'

ओषधिप्रस्थ-हिमालय की राजधानी। यथा-'तत्प्रयातौषधिप्रस्थं स्थितये हिमवत्पुरम्'। (कुमार०६।३३)

'क'

ककुत्स्थ-'ककुदि तिष्ठतीति'। सूर्यवंशीय 'शशाद' के पुत्र 'पुरञ्जय' वृषभ रूप इन्द्र के कूबड़ पर चढ़कर स्वर्ग गये और इन्होंने वहाँ जाकर दैत्यों का विनाश किया, तब से ये ककुत्स्थ कहे जाते हैं। (ब्रह्मा०३।६८।१३ तथा वायु०९३।१४)

कञ्चुकी-अन्तःपुर का सेवक या द्वारपाल, अन्तःपुर में आने-जाने वाला वृद्ध ब्राह्मण, सब कार्यों को करने में कुशल।

कण्व-यजुर्वेदीय काण्व शाखा के प्रवर्तक। मेनका से उत्पन्न विश्वामित्र की पुत्री शकुन्तला के धर्मपिता। गोत्र के अनुसार ये 'काश्यप' भी कहे जाते थे।

कण्वाश्रम-गढ़वाल जिला के कोटद्वार नगर के समीप यह आश्रम था।

कदम्ब-एक वृक्ष-विशेष। 'बादल की गरज के साथ इसकी कलियाँ विकसित होती हैं', ऐसी प्रसिद्धि है। यथा-'त्वत्सम्पर्कात् पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः'। (पूर्वमेघ०२७) समुदाय-'छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु'। (शा०२।६)

कदली-केले का पेड़ तथा फल। यथा-'यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम्'। (उत्तरमेघ०३८)

कनखल-हरिद्वार के अन्तर्गत एक पुण्यक्षेत्र। दक्षप्रजापति का सुप्रसिद्ध यज्ञस्थल। यथा- 'तस्माद् गच्छेरनुकनखलम्'। (पूर्वमेघ०५०)

कनिष्ठिका-अंगूठा से पाँचवीं अंगुली। यथा-'कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासा'। (सुभाषित)

कन्दली-अजिनजातीय वृक्षों में एक। (देखें-अमरकोष) एक प्रकार का गुल्म या पौधा, कुकुरमुत्ते को 'कन्दली कुसुम' कहते हैं।

कन्था-(कम्+थन्+टाप) गुदड़ी, झोली।

कपाट-किवाड़, दरवाजा। यथा-'कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरः'। (रघु०३।३४)

कपिल-मुनि-विशेष। ये कर्दम प्रजापति तथा देवहूति के औरस पुत्र थे। ये भगवान् के पाँचवें अवतार कहे जाते हैं। ये सांख्यदर्शन के आदिम आचार्य थे। महाराजा सगर के साठ हजार पुत्रों ने अपने पिता के अश्वमेध वाले घोड़े को इनके आश्रम में बँधा देखकर इन्हें गालियाँ दीं। वास्तव में इन्द्र ने उक्त घोड़े को चुराकर इनके आश्रम में बाँधा था। समाधि भंग होने पर कपिल के शाप से सगर के पुत्र भस्म हो गये।

कपिश-भूरे रंग का, सुनहरा, आरक्त। यथा-'सन्ध्यापयोदकपिशाः पिशिताशनानाम्'। (शा०३।२७)

कपिशा-एक नदी का नाम, जिसे आजकल 'कसाई' कहते हैं। यह मेदिनीपुर के दक्षिण में है। कालिदास के अनुसार महाराजा रघु इसी नदी को पार करके 'उत्कल' गये थे। यह नदी 'मेदिनीपुर' के दक्षिण भाग से निकलकर बंगाल की खाड़ी में गिरती है।

कपोल-गाल। यथा-'क्षामक्षामकपोलमाननमुरः'। (शा०३।१०; ६।८) 'कपोलपाटलादेशि'। (रघु० ४।६८)

कबन्ध-सिर रहित धड़। यथा-'नृत्यत्कबन्धं समरे ददर्श'। (रघु०७।५१) कबन्ध नामक एक राक्षस, जो पूर्वजन्म में विश्वावसु नामक गन्धर्व था, यह ब्राह्मण के शाप से राक्षस हो गया। इन्द्र ने इसके दोनों हाथ एक योजन लम्बे कर दिये। इसका वध

श्रीराम ने किया, तब यह पुनः दिव्यरूप पाकर गन्धर्वलोक को चला गया।

कमल–यह एक प्रसिद्ध फूल है। यह अनेक वर्ण का होता है। हजार पंखुड़ियों वाले को 'कमल' कहते हैं और सौ पंखुड़ियों वाले को 'कुशेशय' कहते हैं (देखें–अमरकोष)। सफेद कमल को 'पुण्डरीक', लाल कमल को 'कोकनद' तथा 'रक्तोत्पल' और नीलकमल को 'नीलोत्पल' या 'नीलोफर' एवं 'इन्दीवर' कहते हैं। इसके वीजकोष को 'वराटक', केसर को 'किञ्जल्क', नाल को 'मृणाल' और कन्द को 'विस' कहते हैं।

कमलिनी–कमलभेद। कमल और कमलिनी में यही अन्तर होता है कि कमल में वीजकोष होता है, कमलिनी में नहीं होता और कमल की पंखुड़ियाँ गोलाई लेकर चौडी और कमलिनी की लम्बी होती हैं। यथा–'कमलिनीमलिनीरपतत्त्रिणः'। (रघु० ९।२७) 'रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभिः'। (शा०४।१० एवं उत्तरमेघ०३२)

कम्बोज–अफगानिस्तान का वह भाग जो कन्दहार के समीप स्थित है। यहाँ के अनार तथा घोडे प्रसिद्ध हैं। पंजाव से लेकर म्लेच्छ देश का दक्षिण-पूर्वी भाग कम्वोज कहा जाता है। म्लेच्छ देश के लिए मनुस्मृति अ०२ देखें। रघुवंश में प्राप्त कम्वोज कावुल का उत्तरीभाग है। यथा–'कम्वोजाः समरे सोढुं तस्य वीर्यमनीश्वराः'। (रघु०४।६९)

कर–हाथ, लगान, राजस्व, शुल्क। यथा–'करौ व्याधुन्वत्याः पिवमि रतिसर्वस्वमधरम्'। (शा०१।२४)

करक–जलपात्र, ओला। यथा–'तान्कुर्वीथास्तुमुलकरकावृष्टिपातावकीर्णान्'। (पूर्वमेघ०५८)

करञ्जक–इसी को 'करंज', 'करंजुआ' एवं 'करौंदा' भी कहते हैं। एक झाड़ जिसके फल औषधोपयोगी होते हैं। निघंटुओं में इसके अनेक भेद हैं।

करण–इन्द्रिय। यथा–'वपुषा करणोज्झितेन सा निपतन्ती पतिमप्यपातयत्'। (रघु०८।३८,१४।५० एवं पूर्वमेघ०५)

करेणु–हथिनी। यथा–'ददौ रसात् पङ्कजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः'। (कुमार०३।३७ एवं रघु०१६।१६)

कर्णिकार–कनेर, कनियार का वृक्ष। यथा–'निर्भिद्योपरि कर्णिकारमुकुलान्यालीयते षट्पदः'। (विक्रम०२।२२ एवं ऋतु०६।६)

कलि–लड़ाई, झगड़ा, असहमति, मतभेद। यथा–'सकलिका कलिकामजितामपि'। (रघु०९।३३) सृष्टि का चौथा युग=कलियुग। इस युग की आयु का प्रमाण ४३२००० मानव वर्ष है। इसका आरम्भ ईसापूर्व ३१०२ वर्ष फरवरी १३ ता० को हुआ था।

कलिङ्ग–एक पर्वत, जो मानसरोवर के दक्षिण में है। एक राजा, जो राजा वलि की रानी सुदेष्णा के गर्भ से दीर्घतमा ऋषि के नियोग द्वारा पैदा हुए पाँच पुत्रों में से एक। इनके राज्य को भी कलिंग कहा जाता था। वाल्मीकिरामायण के किष्किन्धा काण्ड के अनुसार यह देश दक्षिण में था। यह देश जगन्नाथपुरी के पूर्व भाग से कृष्णा नदी के तीर तक फैला हुआ है। इसके अन्तर्गत मेदिनीपुर, उड़ीसा, गंजाम प्रदेश आते हैं। हरिवंशपुराण के अनुसार यह देश वैतरणी नदी से गोदावरी नदी तक फैला हुआ था, इसी को पौण्ड्र भी कहते थे।

कल्क–एक प्रकार की लेई। यथा–'तां लोधकल्केन हृताङ्गतैलाम्'। (कुमार०७।९)

कल्पलता–कल्पवृक्ष या कल्पवल्ली इसी के पर्यायवाचक शब्द हैं। यह कवियों का सामर्थ्य है कि वे न मालूम कव वृक्ष को वल्ली और वल्ली को वृक्ष या लता वना दें। कल्पवृक्ष का उद्गम १४ रत्नों के साथ समुद्रमन्थन से हुआ था। इस वृक्ष की सत्ता कल्प के अन्त तक मानी जाती है।

कश्यप–एक प्रजापति का नाम, जो रामायण तथा महाभारत के अनुसार व्रह्मा के पौत्र और महर्षि मरीचि के मानस पुत्र थे। इन्होंने सृष्टिकार्य में अत्यन्त सहयोग दिया। महाभारत के अनुसार इनका विवाह अदिति तथा दक्षप्रजापति की १३ पुत्रियों से हुआ। अदिति ने वारह आदित्यों को जन्म दिया और अन्य पत्नियों ने विविध प्रकार के प्राणियों को जन्म दिया। इस प्रकार महर्षि कश्यप देव, असुर, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतिंगे आदि समस्त प्राणियों के पिता हुए।

कस्तूरी–इसको कस्तूरिका, मृगमद या मुश्क भी कहते हैं। यह पुरुष मृग की नाभि से प्राप्त होने वाला *अत्यन्त सुगन्धित एवं प्राणिज पदार्थ है। आयुर्वेद में*

इसके अनेक चिकित्सकीय योगों का वर्णन है। साहित्य में तिलक तथा अंगराग के निमित्त इसका प्रयोग देखा जाता है। यथा–'चन्दनेनाङ्गरागञ्च मृगनाभिसुगन्धिना'। (रघु०१७।२४) 'प्रस्थं हिमाद्रेर्मृगनाभिगन्धि'। (कुमार०१।५४) तथा 'आलिप्यते चन्दनमङ्गनाभिर्मदालसाभिर्मृगनाभि-युक्तम्'। (ऋतु०६।१४) यह देशभेद तथा वर्णभेद से तीन प्रकार की होती है। यथा–१. कामरूप या कामरु में होने वाली काले वर्ण की उत्तम, २. कपिल वर्णवाली नेपाल की मध्यम तथा ३. पिंगल वर्णवाली काश्मीर की साधारण होती है।

काकपक्ष–बालकों और तरुणों की कनपटियों तक के लम्बे बाल या अलकें। यथा–'काकपक्षधरमेत्य याचितः'। (रघु०११।१) 'तौ प्रणामचलकाकपक्षकौ' (वही, ११।३१) 'काकपक्षकधरेऽपि राघवे' (वही,११।४२)

काकुत्स्थ–ककुत्स्थवंशी, सूर्यवंशी राजाओं की एक ऐतिहासिक उपाधि। यथा–'काकुत्स्थमालोकयतां नृपाणाम्'। (रघु०६।२; १२।३०)

कादम्ब–कलहंस, कदम्बवृक्ष का फूल। (रघु० १३।२७, १३।५५ एवं ऋतुसंहार ३।८ तथा ४।१)

काम–कामना, इच्छा, कामदेव, रतिपति। इनका जन्म ब्रह्मा की सन्ध्या नामक कन्या से हुआ, इनकी पत्नी का नाम रति था। शिवजी ने कामदेव को भस्म कर दिया, अतः इसे 'अनंग' भी कहते हैं। काम का वास स्त्री के शरीर के किस अंग में किस तिथि को रहता है, इसका विस्तृत विवरण 'स्मरदीपिका' ग्रन्थ में द्रष्टव्य है। चार पुरुषार्थों में काम की गणना इस प्रकार की गयी है–१. धर्म, २. अर्थ, ३. काम तथा ४. मोक्ष। इन्हीं को 'कामदेव' भी कहा जाता है। कामदेव के निम्निलिखित पाँच बाण प्रसिद्ध हैं–१. अरविंद, २. अशोक, ३. आम, ४. नवमल्लिका, ५. नीलोत्पल (नीलकमल)।

कामधेनु–कल्पवृक्ष की भाँति यह गाय भी सबके मनोरथों को पूर्ण करने में समर्थ है। इसकी उत्पत्ति देव-दानवों द्वारा किये गये समुद्रमन्थन से हुई, ऐसी पौराणिक कथा है। कामधेनु का पुत्र नन्दी शिवजी का वाहन है और कामधेनु की कन्या नन्दिनी महर्षि वशिष्ठ के आश्रम में रहती थी, जिसकी सेवा करने पर दिलीप को रघु नामक पुत्र की प्राप्ति हुई।

कामरूप–इच्छानुसार रूप धारण कर लेने वाला। यथा–'जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः'। (पूर्वमेघ०६)। आसाम के अन्तर्गत एक स्थान, जहाँ कामाख्या देवी का मन्दिर है। इनका देवी के ५२ पीठों में प्रमुख स्थान है, जो जादू-टोना आदि के लिए प्रसिद्ध है। प्राचीनकाल में यह म्लेच्छों का देश समझा जाता था। आधुनिक गौहाटी (प्राग्ज्योतिषपुर) इसकी राजधानी थी। बाद में शाक्तों तथा तान्त्रिकों का इस देश पर सर्वाधिकार हो जाने से इस स्थान को पवित्र मान लिया गया है।

कारण्डव–एक प्रकार का बत्तख। यथा–'तप्तं वारि विहाय तीरनलिनीं कारण्डवः सेवते'। (विक्रम०२।२२ एवं ऋतुसंहार३।८)

कार्तवीर्य–हैहय देश के राजा कृतवीर्य का पुत्र। इनकी राजधानी माहिष्मती नगरी थी। यथा–'बभूव योगी किल कार्तवीर्यः'। (रघु०६।३८)। यह राजा रावण का समकालीन था। इसने रावण को अपनी नगरी के एक कोने में पशु की भाँति कारागृह में डाल दिया था। (देखें–रघु०६।४०) कार्तवीर्य का दूसरा नाम 'सहस्रार्जुन' था।

कार्तिकेय–छः कृत्तिकाओं का पुत्र, स्कन्द, षडानन, शिवजी का पुत्र, युद्ध का देवता, सेनानी, गुह। इनका वाहन मयूर है, इन्होंने तारकासुर का वध किया। इनके जन्म के सम्बन्ध में पुराणों में अनेक आख्यान उपलब्ध हैं। कालिदास का 'कुमारसम्भव महाकाव्य' इन्हीं के सम्बन्ध में लिखा गया है, क्योंकि इनका एक नाम 'कुमार' भी है। यथा–'कुमारकल्पं सुषुवे कुमारम्'। (रघु०५।३६) 'कुमारमुत्सङ्गतले दधाना'। (कुमार०११।२७)

कार्मुक–धनुष, भलीभाँति काम करने वाला। यथा–'त्वयि चाधिज्यकार्मुके'। (शा०१।६)

कालनेमि–समयचक्र की परिधि, एक राक्षस जो रावण का चाचा था। रावण ने हनुमान् को मारने का कार्यभार इसे सौंपा था, किन्तु हनुमान्जी ने इसे मार दिया।

कालागुरु–एक प्रकार का चन्दन का वृक्ष, काला अगर। यथा–'तद्गजालानतां प्राप्तैः सह कालागुरुद्रुमैः'। (रघु०४।८१)

कालिका–शुंभ-निशुंभ का वध करने के लिए अवतरित एक देवी। आठ योगिनियों में प्रमुख देवी।

कालिङ्ग–कालिंग देश में उत्पन्न या उस देश का राजा। यथा–'प्रतिजग्राह कालिङ्गस्तमस्त्रैर्गज-साधनः'॥ (रघु०४।४०)

कालियनाग–'के जले आलीयते इति कालियः'। यह भयंकर नाग गरुड़ से युद्ध में हारकर यमुना के जल में छिपकर रहता था। श्रीकृष्णजी ने इसे पराजित कर कालियदह से भगा दिया था।

कालीयक–पीत वर्ण वाला सुगन्धित काष्ठ, दारुहल्दी, कालानुसारी, कृष्णचन्दन, एक प्रकार की चन्दन की लकड़ी, देवदारु।

कावेरी–दक्षिणभारत की एक सुप्रसिद्ध महानदी। पुराणों में इसका एक नाम 'पुण्यतोया' भी है। स्नान के समय इन पुण्यनदियों का आवाहन करने का विधान है। यथा–'गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति। नर्मदे सिन्धो कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु'॥

कास–इसी को 'काश' भी कहते हैं। वर्षा ऋतु के अन्त में इस घास में सफेद फूल निकलते हैं। चमकना, सुन्दर दिखलायी देना। (देखें–रघु०१०।८६)

किन्नर–बुरा या विकृत पुरुष, पुराणों में वर्णित पुरुष, जिसका सिर घोडे के जैसा और शेष शरीर मनुष्य के जैसा हो। अमरसिंह ने इसे 'तुरंगवदन' कहा है। (देखें–अमरकोष) तथा–'जयोदाहरणं बाह्वो-र्गापयामास किन्नरान्'। (रघु०४।७८) 'उद्गास्यता-मिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम्'। (कुमार०१।८)

किरात–'किरं पर्यन्तभूमिम् अतति गच्छतीति किरातः'। 'शक्तिसंगमतन्त्र' के अनुसार विन्ध्यक्षेत्र में तप्तकुंड से लेकर रामक्षेत्र तक किरात देश है। ये पहाडी लोग मृगया करके अपनी आजीविका चलाते हैं। यथा–'विदन्ति मार्गं नखरन्ध्रमुक्तैर्मुक्ताफलैः केसरिणां किराताः'। (कुमार०१।६ तथा १५) इस शब्द के सम्बध में सुप्रसिद्ध एक सुभाषित–

'वैयाकरणकिरातादपशब्दमृगाः क्व यान्तु सन्त्रस्ताः। यदि नटगणकचिकित्सकवैतालिकवदनकन्दरा न स्युः'॥

किराती–किरात जाति की स्त्री, चँवर डुलाने वाली। यथा–'नौसंश्रयः पार्श्वगतां किरातीमुपात्तवाल-व्यजनां बभासे'। (रघु०१६।५७)

किरीट–मुकुट, ताज, चूड़ा, शिरोवेष्टन। यथा–'किरीटबद्धाञ्जलयः'। (कुमार०७।९२)

किष्किन्धा–यह स्थान मद्रास प्रान्त के बिलारी जिला के हम्पी हम्पी ग्राम के समीप तुंगभद्रा नदी के उत्तर तट पर है। श्रीराम की वानरराज सुग्रीव से प्रथम बार यहीं भेंट हुई थी।

कीचक–खोखला बाँस, जो हवा के कारण वंशीवाद्य का अनुकरण करता है। यथा–'स कीचकैर्मारुत-पूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यैः'॥ (रघु०२।२२) 'यः पूरयन् कीचकरन्ध्रभागान् दरीमुखोत्थेन समीरणेन'। (कुमार०१।८) 'शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः'। (पूर्वमेघ०६०) विराट राजा का सेनापति।

कुटज–एक वृक्ष-विशेष का नाम। इसके फलों को 'इन्द्रजौ' कहते हैं। यथा–'अंसलम्बिकुटजार्जुनस्रजः'। (रघु०१९।३७) 'स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः'। (पूर्वमेघ०४) 'मुक्त्वा कदम्बकुटजार्जुनसर्जनी-पान्'। (ऋतु०३।१३)

कुन्द–चमेली का एक भेद, मोतिया। यथा–'प्रातः कुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः'। (उत्तरमेघ०५६)

कुबेर–विश्रवा तथा इलविला का पुत्र, धन-सम्पत्ति का स्वामी, उत्तरदिशा का स्वामी। यक्ष-किन्नरों का राजा, शिवजी का मित्र। यथा–'कुबेरगुप्तां दिशमुष्ण-रश्मौ'। (कुमार०३।२५)

कुमुद–सफेद कुमुदिनी। यह चन्द्रोदय होने पर खिलती है। यथा–'कुमुदान्येव शशाङ्कः'। (शा०५।२८) 'नोच्छ्वसिति तपनकिरणैश्चन्द्रस्येवांशुभिः कुमुदम्'। (विक्रम०३।१६)

कुमुदिनी–यथा–स्त्री जाति का कुमुद।

कुम्भयोनि–कुम्भसम्भव, कुम्भज, महर्षि अगस्त्य। यथा–'प्रससादोदयादम्भः कुम्भयोनेर्महौजसः'। (रघु० ४।२२)

कुम्भीनस–एक प्रकार का विषैला साँप।

कुम्भोदर–शिवजी का सेवक, निकुम्भ का मित्र। यथा–'अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम्'। (रघु०२।३५)

कुररी–क्रौञ्च पक्षी की स्त्री। यथा–'चक्रन्द विग्ना कुररीव भूयः'। (रघु०१४।६८)

कोश–खजाना, कली। यथा–'निःशेषविश्राणितकोश-जातम्'। (रघु०५।१) 'सुजातयोः पङ्कजकोशयोः श्रियम्'। (रघु०३।८)

कोशल–या कोसल, अयोध्या सहित सरयू नदी का तीरवर्ती सम्पूर्ण भाग। यहाँ सूर्यवंशियों का राज्य था। इसकी राजधानी अयोध्या थी।

कौतुक–कतूहल, कामना, वैवाहिक रक्षासूत्र। यथा–'अथ तस्य विवाहकौतुकं ललितं बिभ्रत एव पार्थिवः'। (रघु०८।१)

कौत्स–महर्षि कुत्स के औरस पुत्र तथा महर्षि वरतन्तु के शिष्य। इन्होंने गुरु की आज्ञा के अनुसार १४ करोड स्वर्णमुद्राएँ राजा रघु से माँगकर अपने गुरु को दीं। यथा–'वित्तस्य विद्यापरिसङ्ख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति'। (रघु०५।२१)

कौपीन–कूपपतनयोग्य, अनुचित कार्य, गुप्तांगों को ढँकने का वस्त्र, मेखला से बाँधकर गुप्तांगों को ढंकने के लिए धारण किया जाने वाला वस्त्र।

कौबेर–कुबेर से सम्बन्ध रखने वाला। यथा– 'यान सस्मार कौबेरम्'। (रघु०१५।४५)

कौबेरी–कुबेर सम्बन्धी उत्तर दिशा। यथा–'ततः प्रतस्थे कौबेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम्'। (रघु०४।६६)

कौमुदी–चाँदनी। यथा–'शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघमुक्तम्'। (रघु०६।८५) 'शशिना सह याति कौमुदी'। (कुमार०४।३३) 'त्वमस्य नेत्रस्य च नेत्रकौमुदी'। (कुमार०५।७१)

कौलीन–कुलीन, लोकापवाद। यथा–'कौलीनमात्माश्रयमाचचक्षे'। (रघु०१४।३६) 'मालविकागतं किमपि कौलीनं श्रूयते'। (मालविका०३) 'तदेव कौलीनमिव प्रतिभाति'। (विक्रम०२)

कौशल्या–कोशलराज की कन्या, महाराजा दशरथ की पत्नी तथा श्रीराम की माता।

कौशाम्बी–कुश के पुत्र कुशाम्ब द्वारा गंगातट पर बसायी गयी नगरी। यही वत्सदेश की राजधानी थी।

कौशिक–विश्वामित्र, इन्द्र, उल्लू।

कौस्तुभ–एक प्रसिद्ध रत्न, जो अन्य १३ रत्नों के साथ समुद्रमन्थन के फलस्वरूप प्राप्त हुआ था। यथा–'सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम्'। (रघु०६।४९)

क्रथकैशिक–विदर्भराज की राजधानी, इसे विदर्भ के पुत्र क्रथ और कैशिक ने परस्पर बाँट लिया था, इसका आधुनिक नाम 'बरार' है। यथा–'अथेश्वरेण क्रथकैशिकानाम्'। (रघु०५।३९)

क्रीडाशैल–आमोद-प्रमोद करने के लिए बनाया गया एक बनावटी पहाड़। यथा–'क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः'। (उत्तरमेघ०१७ तथा२१)

क्रौञ्च–एक पक्षी-विशेष, जिसे सारस या कुरर कहते हैं। यथा–'मनोहरक्रौञ्चनिनादितानि'। (ऋतु०४।८)

क्रौञ्चपर्वत–इस नाम का एक पर्वत, जिसका विदारण कार्तिकेय ने किया था। (देखें-पूर्वमेघ०५७)

क्रौञ्चरन्ध्र–क्रौञ्च नामक पर्वत पर बना हुआ एक छिद्र। यह छिद्र कार्तिकेय तथा परशुराम ने किया था। कालिदास के अनुसार राजहंस इसी छिद्र से मानसरोवर को जाते हैं। यथा–'हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम्'। (पूर्वमेघ०५७) 'कुमारः क्रौञ्चदारणः'। (अमरकोष)

क्षत्र–अधिराज्य, शक्ति, प्रभुता, सामर्थ्य, क्षत्रिय जाति का पुरुष। यथा–'क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः'। (रघु०२।५३) 'असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा'। (शा०१।२१)

क्षीरसमुद्र–दुग्धसागर। पौराणिक कथाओं के आधार पर इसकी स्थिति श्वेतद्वीप में है। चातुर्मास्य में भगवान् विष्णु इसी में शेषशय्या पर शयन करते हैं। देव-दानवों ने इसका मन्थन कर निम्नलिखित चौदह रत्न प्राप्त किये थे–१. लक्ष्मी, २. कौस्तुभमणि, ३. पारिजात, ४. वारुणी, ५. धन्वन्तरि, ६. चन्द्रमा, ७. कामधेनु, ८. ऐरावत हाथी, ९. रम्भा, १०. सात मुखोंवाला उच्चैःश्रवा घोडा, ११. हालाहल विष, १२. शार्ङ्गधनुष, १३. शंख तथा १४. अमृत।

'ख'

खण्डिता–वह स्त्री जिसका पति अपनी स्त्री के प्रति अविश्वास का अपराधी रहा हो अतएव उसकी स्त्री उससे क्रुद्ध हो, अथवा नायक मे अन्य स्त्री के साथ संभोग के लक्षणों को देखकर कुपित नायिका। दस प्रकार की नायिकाओं में से एक। यथा–'पर्युत्सुकत्वमबला निशि खण्डितेव'। (रघु०५।६७) 'तस्मिन् काले नयनसलिलं योषितां खण्डितानाम्'। (पूर्वमेघ०३९)

खदिर—यह दो प्रकार का होता है—१. रक्तसार और २. श्वेतसार। आयुर्वेद में इसका प्रयोग कास तथा कुष्ठरोग की शान्ति के लिए किया जाता है। इसकी उत्पत्ति प्रजापति के शरीर से हुई थी, शतपथब्राह्मण में ऐसा विवरण प्राप्त होता है।

खर—कठोर, खुर्दरा, ठोस, तेज, रावण, दूषण तथा शूर्पणखा का भाई। इसके पिता का नाम 'विश्रवा' और माता का नाम 'राका' था। यथा—'न खरो न च भूयसा मृदुः'। (रघु०८।९)

खश—भारत के उत्तर में स्थित एक पहाड़ी प्रदेश तथा उस देश के निवासी।

'ग'

गंगा—भारत की सुप्रसिद्ध नदी। इसका उद्गम 'गंगोत्री' से हुआ है, इसीको 'भागीरथी' भी कहते हैं। महर्षि कपिल के शाप से भस्म हुए सगर के पुत्रों को तारने के लिए भगीरथ इस गंगा को भूमि पर लाये थे, अतएव इसे 'भागीरथी' भी कहा जाता है। धार्मिक ग्रन्थों में गंगा स्नान तथा गंगा के नामस्मरण का महान् महत्त्व है।

गंगासागर—वह तीर्थस्थल जहाँ गंगाजी समुद्र से मिलती हैं। यहाँ मकरसंक्रान्ति के दिन वहुत वड़ा मेला लगता है। भक्तसमाज इस संगमस्थल पर स्नान करके अपने को कृतार्थ मानता है।

गजमुक्ता—हाथी के सिर पर पाये जाने वाला मोती। यथा—'हतद्विपानाम्। विन्दन्ति मार्ग नखरन्ध्रमुक्तैर्मुक्ताफलैः केसरिणां किराताः'। (कुमार०१।६) वैज्ञानिकों का विश्वास इस द्रव्य के प्रति नहीं है।

गन्धमादन—एक पर्वत-विशेष, सुमेरु पर्वत के पूर्व में स्थित एक पहाड़, जिसमें चन्दन के अनेक वन हैं। यह रोम नगर के उत्तर में केतुमाल तथा इलावृत्त वर्ष के वीच में 'नील' तथा 'निषध' तक फैला हुआ है। यहाँ किन्नर, किन्नरियाँ, सिद्ध, चारण, विद्याधर, विद्याधरियाँ निवास करती हैं। सिद्धान्तशिरोमणि के अनुसार गन्धमादन की स्थिति मानसरोवर के समीप है।

गन्धर्व—स्वर्गीय गायक जाति-विशेष। ये देवताओं की सभा में गाया करते हैं। हरिवंश के आधार पर इनका जन्म 'अरिष्टा' के गर्भ से माना जाता है। अग्नि तथा वायु पुराण के आधार पर ये भद्रा के पुत्र हैं। ये अर्धदेव हैं। इनके ११ गण कहे गये हैं। ब्राह्मणग्रन्थों के आधार पर इनके दो भेद हैं—१. देवगन्धर्व तथा २. मनुष्यगंन्धर्व।

गन्धवती—एक नदी, जो 'पुरी' जिले मे भुवनेश्वर के पास वहती है। शिवपुराण के अनुसार इसका उद्गम विन्ध्याचल से हुआ है।

गजयूथ—हाथियों का झुंड। यथा—'उषसि स गजयूथकर्णतालैः'। (रघु०९।७१)

गम्भीरा—मालव देश में वहने वाली एक नदी। यथा—'गम्भीरायाः पयसि'। (पूर्वमेघ०४०)

गरुड—इनके माता-पिता का नाम 'विनता' तथा 'कश्यप' है। इनके भाई का नाम 'अरुण' है, जो सूर्य का सारथी है।

गवालम्भ—गोवध। (यज्ञीय विधि से 'साँड' का वध किया जाता रहा है, किन्तु कलियुग में उसका निषेध किया गया है।)

गवेषमाण—ढूँढना, प्रवल उद्योग करना। यथा—'गवेषमाणं महिषीकुलं जलम्'। (ऋतु०१।२१)

गाण्डीव—इन्द्र का धनुष। अग्नि ने प्रार्थना करके वरुण से यह धनुष अर्जुन को दिलाया था। यथा—'राजन्यानां शितशरशतैर्यत्र गाण्डीवधन्वा'। (पूर्वमेघ०४८)

गान्धर्वविवाह—वर-कन्या प्रेमवश जिस विवाह को वन्धु-वान्धवों की अनुमति के विना स्वयं कर लेते हैं, उसे गान्धर्व विवाह या स्वयंवर कहा जाता है। इसका प्रचार राजकुलों में देखा जाता था। दुष्यन्त-शकुन्तला का विवाह ऐसा ही था। आठ प्रकार के विवाह—१. ब्राह्म, २. दैव, ३. आर्ष, ४. प्राजापत्य, ५. आसुर, ६. गान्धर्व, ७. राक्षस तथा ८. पैशाच।

गायत्री—यह एक सुप्रसिद्ध मन्त्र है, इसे वेदमाता तथा सावित्री भी कहते हैं। यह द्विजाति मात्र का उपास्य मन्त्र है। इसके विश्वामित्र ऋषि तथा सूर्य देवता हैं, अतएव इसकी 'सावित्री' संज्ञा है। यह २४ मात्राओं का एक वैदिक छन्द है, जिसे त्रिपदागायत्री कहते हैं। मन्त्र— 'ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं, भर्गोदेवस्य धीमहि, धियोयोनः प्रचोदयात्'। (ऋक्०३।६२।१०) यह मन्त्र 'यजुर्वेद' में भी देखा जाता है। श्रीकृष्ण ने इसे सभी छन्दों में श्रेष्ठ कहा है। यथा—'गायत्री छन्दसामहम्'। (गीता०१०।३५)

गारुडास्त्र—गरुड की आकृति का वना हुआ, गरुड़ से प्राप्त या तत्सम्वन्धित अस्त्र, जिससे सर्प तथा उसका विष नष्ट हो जाता है, इसी को 'गारुत्मत-अस्त्र' भी कहते हैं। सरयू के जल के भीतर स्थित कुमुद नामक नाग ने जव राजा कुश के जैत्राभरण का अपहरण कर लिया, तव कुश ने उसे मारने के लिए 'गारुत्मत-अस्त्र' का प्रयोग किया। यथा—'गारुत्मतं तीरगतस्तरस्वी भुजङ्गनाशाय समाददेऽस्त्रम्'। (रघु०१६।७७)

गार्हपत्य—गृहपति द्वारा स्थायी रूप से सुरक्षित रक्खी जाने वाली तीन प्रकार की अग्नियों में से एक अग्नि, इस अग्नि को पिता उत्तराधिकार के रूप में पुत्र को सौंपता है।

गिरिश—शिवजी का एक नाम। यथा—'प्रत्याहतास्त्रो गिरिशप्रभावात्'। (रघु०२।४१) 'गिरिशमुपचचार प्रत्यहं सा सुकेशी'। (कुमार०१।६०)

गुण—दुर्गुण, सद्गुण, रस्सी, डोरी, तीन गुण—सत्त्व, रजस्, तमस्। इन्हीं के संयोग से सृष्टि, स्थिति तथा विनाश होता है। आचार्य मम्मट के अनुसार तीन गुण—माधुर्य, ओज, प्रसाद। दूसरे आचार्य १० गुण भी स्वीकार करते हैं।

गुरुदक्षिणा—विद्या प्राप्त कर गुरु को दी जाने वाली दक्षिणा, द्रव्य आदि। यथा—'उपात्तविद्यो गुरुदक्षिणार्थी कौत्सः प्रपेदे वरतन्तुशिष्यः'। (रघु०५।१)

गुल्फ—पैर के टखने। यथा—'आगुल्फकीर्णापणमार्गपुष्पम्'। (कुमार०७।५५)

गुह—कार्तिकेय का नाम। यथा—'गुहोऽपि येषां प्रथमाप्तजन्मनाम्'। (कुमार०५।१४) शृंगवेरपुर का राजा निषाद, जो श्रीराम का मित्र था।

गुह्यक—कुवेर के खजाने की रक्षा करने वाले यक्षों (अर्धदेवों) का एक वर्ग-विशेष। यथा—'गुह्यकस्तं ययाचे'। (पूर्वमेघ०५)

गृष्टिः—पहली वार व्याई हुई गाय। यथा—'आपीनभारोद्वहनप्रयत्नाद् गृष्टिः'। (रघु०२।१८)

गृहवलिभुज्—घर के ग्रासों को खाने वाले। 'नीडारम्भैर्गृहवलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः'॥ (मेघ०२३)

गृहिणी—पत्नी, गृहस्वामिनी। यथा—'यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामा कुलस्याधयः'। (शा०४।१७)

गोकर्ण—वम्वई प्रान्त के 'कनारा' जिले में स्थित 'कुन्ता' नगर से १० मील उत्तर हिन्दुओं का प्रसिद्ध तीर्थस्थान। यहीं पर 'महावलेश्वर' नामक शिवजी का मन्दिर है। यह स्थान शिवजी को अत्यन्त प्रिय होने से रावण तथा कुम्भकर्ण ने यहाँ तप किया था। यथा—'श्रितगोकर्णनिकेतमीश्वरम्'। (रघु०८।३३) श्रीमद्भागवत का वक्ता 'गोकर्ण' नामक एक पात्र।

गोत्र—गोशाला, पशुशाला, परिवार, वंश, कुल-परम्परा। प्रत्येक द्विजाति का सम्वन्ध किसी एक गोत्र-प्रवर्तक ऋषि से होता है। यथा—'मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा'। (उत्तरमेघ०२३)

गोदा—गोदावरी नदी का ही दूसरा नाम।

गोदान—गाय का दान, दानों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। वाल काटना, केशान्तसंस्कार। यथा—'तथास्य गोदानविधेरनन्तरम्'। (रघु०३।३३)

गोदावरी—नदी-विशेष का नाम, इसी को 'गौतमी नदी' भी कहते हैं। यह वम्वई प्रदेश स्थित नासिक जिले के त्र्यम्वक गाँव के समीप वाले पहाड़ से निकलकर दक्षिण पठार को पार करती हुई वंगाल की खाड़ी के पास समुद्र में गिरती है।

गोप्रतर—इसी को 'गोप्रतार' भी कहते हैं। श्रीराम ने अपने पाँचभौतिक शरीर का सरयू के तट पर जहाँ त्याग किया था, उस स्थान का नाम।

गोरोचन—गाय के मस्तक से या पित्ताशय से प्राप्त सूखा पित्त, जो पीले वर्ण का होता है।

गोवर्धन—वृन्दावन के समीप स्थित एक पर्वत, जिसे श्रीकृष्ण ने अपनी कानी उँगली पर उठाया था।

ग्रह—सूर्य, चन्द्र, मंगल, वुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु, केतु ये—नौ ग्रह होते हैं। वैज्ञानिकों ने इधर प्लूटो, हर्षल, यूरेनस तथा नेपचून—इन चार ग्रहों की खोज की है। यथा—'नक्षत्रताराग्रहसङ्कुलाऽपि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः'। (रघु०६।२२)

ग्रहण—पकड़ना, फाँसना। यथा—'आचारधूमग्रहणात्'। (रघु०७।१७) 'सोत्तरच्छदमध्यास्तनेपथ्यग्रहणाय सः'। (रघु०१७।२१)

ग्राह—पकड़ने वाला, नक्र, मकर (मगर), घड़ियाल, मगरमच्छ।

'घ'

घन—संहत, सघन, घनिष्ठ। यथा–'घनरुचिरकलापो निःसपत्नोऽद्य जातः'। (विक्रम०४।२२)

घुष्—घोषणा करना। यथा–'स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्'। (शा०६।२२)

घोष—अहीरों का मुहल्ला, कोलाहल। यथा–'स्निग्ध-गम्भीरघोषम्'। (पूर्वमेघ०६४) 'हैयङ्गवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान्'। (रघु०१।४५)

'च'

चक्र—गाड़ी का पहिया, कुम्हार का चाक, एक तेज गोल अस्त्र, जिसे विष्णुभगवान् धारण करते हैं। यथा–'नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण'। (उत्तरमेघ०४६)

चक्रवर्ती—हिमालय से समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का राजा, इसी को 'सम्राट्' भी कहते हैं। प्राचीन काल में ये सात राजा चक्रवर्ती कहे जाते थे। यथा–'भरत, अर्जुन, मान्धाता, भगीरथ, युधिष्ठिर, सगर और नहुष। यथा–'आसमुद्रक्षितीशानाम्'। (रघु०१।५)

चक्रवाक—सरोवर के समीप रहने वाला एक पक्षी, इसकी स्त्री को '**चक्रवाकी**' कहते हैं। यह हंस जैसा दिखलायी देता है। ये चकवा-चकवी दिन में साथ रहते हैं, रात में बिछुड़ जाते हैं, यह दैवी विधान है। ये शीतकाल में ही भारत में दिखलायी देते हैं। यथा–'दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैनम्'। (उत्तरमेघ०२०)

चण्डी—क्रोधी स्वभाव की स्त्री। यथा–'हन्तैकस्मिन् क्वचिदपि न ते चण्डि! सादृश्यमस्ति'। (उत्तरमेघ०४६; रघु०१२।५) 'चण्डी मामवधूय पादपतितम्'। (विक्रम०४।२८) 'चण्डी चण्डं हन्तुमभ्युद्यता माम्'। (मालविका०३।२१)

चन्द्रकान्तमणि—पूर्णचन्द्र की किरणों के स्पर्श से जो द्रवित होता है। 'मुक्तिकल्पतरु' के अनुसार यह मणि कलियुग में दुर्लभ होता है।

चन्द्रहार—स्त्रियों के गले में पहनने का एक आभूषण।

चन्द्रहास—रावण की तलवार, चन्द्रमा के समान चमकीली तलवार।

चर्मण्वती—चंवल, चर्मवाला तथा शिवनद-सभी इसी के पर्याय हैं।

चषक—सुरापात्र, प्याला, मदिरा पीने का गिलास। यथा–'च्युतैः शिरस्त्रैश्चषकोत्तरेव'। (रघु०७।४९)

चातक—पपीहा, कविप्रसिद्धि के अनुसार यह केवल वर्षा में ही बोलता है। इसके मुख में वर्षा की बूँदें नहीं पड़तीं, ऐसी प्रसिद्धि है।

चापल—द्रुतगति, चञ्चलता। यथा–'तद्गुणैः कर्ण-मागत्य चापलाय प्रचोदितः'। (रघु०१।९)

चामर—चौरी, चँवर या चमरी गाय की पूँछ। यथा–'अदेयमासीत् त्रयमेव भूपतेः शशिप्रभं छत्रमुभे च चामरे'। (रघु०३।१६)

चारण—भ्रमणशील, नट, नर्तक, वंशपरम्परा के ज्ञाता, भाट या गवैया।

चित्रकूट—एक पहाड़ का नाम, जो बाँदा जिले में पड़ता है। इलाहाबाद से २७ कोस दक्षिण की ओर मन्दाकिनी नदी के तट पर यह स्थान है। वनवास काल में श्रीराम ने यहाँ निवास किया था। यथा–'चित्रकूट-वनस्थं च कथितस्वर्गतिर्गुरोः'। (रघु०१२।१५)

चित्रा—चौदहवाँ नक्षत्र। यथा–'हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव'। (रघु०१।४६)

चीनांशुक—चीन देश का कपड़ा, रेशमी वस्त्र। (देखें–शाकुन्तल०१।३२; कुमार०७।३)

चूडा—केशसमूह, चूड़ापाश। यथा–'चूडापाशे नवकुर-वकम्'। (पूर्वमेघ०६५)

चूत—आम का फल, आम का वृक्ष। यथा–'चूताङ्कु-रास्वादकषायकण्ठः'। (कुमार०३।३२) 'ईषद्बद्ध-रजःकणाग्रकपिशा चूते नवा मञ्जरी'। (विक्रम०२।७)

चूडामणि—शीशफूल, माँगटीका, यह सिर पर पहनने का स्वर्णाभरण है।

च्यवन—एक महर्षि। इनके पिता महर्षि भृगु और माता पुलोमा थीं। इनको देवभिषजों ने एक औषध खिलाकर यौवन प्रदान किया, उसका नाम 'च्यवनप्राश' है।

'छ'

छलिक—एक प्रकार का नाटक या नृत्य। यथा–'छलिकं दुष्प्रयोज्यमुदाहरन्ति'। (मालवि०२)

छाया–छाँह, छाँव। यथा–'इक्षुच्छायानिषादिन्यः'। (रघु०४।२०) 'शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्'। (शा०५।७)

'ज'

जटायु–अर्धदिव्य पक्षी-विशेष। श्येनी और अरुण का पुत्र। दशरथ का घनिष्ठ मित्र। श्रीराम ने इसका अपने हाथों अन्तिम संस्कार किया।

जड–शीतल, जमा हुआ, ठंडा, ठिठुरा हुआ। यथा–'परामृशन् हर्षजडेन पाणिना'। (रघु०३।६८) 'चिन्ताजडं दर्शनम्'। (शा०४।५) 'वेदाभ्यासजडः'। (विक्रम०१।९)

जनक–जन्म देने वाला, विदेह (मिथिला) का सुप्रसिद्ध ज्ञानी राजा, सीता का धर्मपिता।

जनपद–जनसमुदाय, राष्ट्र, राजधानी, साम्राज्य। यथा–'जनपदे न गदः पदमादधौ'। (रघु०९।४) 'जनपदवधूलोचनैः पीयमानः'। (पूर्वमेघ०१६)

जनस्थान–दण्डकारण्य के समीप का एक स्थान। दक्षिण हैदरावाद के अन्तर्गत एक प्रसिद्धस्थान, आधुनिक 'औरंगावाद' यही है। इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न राजपुत्र 'दण्ड' की मृत्यु शुक्राचार्य के शाप से इसी वन में हुई थी, अतएव इस वन का नाम 'दण्डकारण्य' है। इसी का एक भाग 'जनस्थान' है। खर-दूषण का निवासस्थान यही था। यथा–'प्राप्य चाशु जनस्थानम्'। (रघु०१२।४२ तथा १३।२२)

जयस्तम्भ–विजय मनाने के लिए वनाया गया स्तम्भ। यथा–'निचखान जयस्तम्भान् गङ्गास्रोतोऽन्तरेषु सः'॥ (रघु०४।३६)

जयन्त–देवराज इन्द्र का पुत्र। यथा–'यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ'। (रघु०३।२३) 'पौलोमीसम्भवेनैव जयन्तेन पुरन्दरः'। (विक्रम०५।१४)

जया–तपस्या करते समय पार्वती के साथ रहने वाली उसकी सखी का नाम।

जलकुक्कुट–जलमुर्गा, मुर्गावी। यह पानी में डुवकी लगाकर मछली को पकड़कर खाता है।

जागर–जागरण, जागना। यथा–'रात्रिजागरपरो दिवाशयः'। (रघु०१९।३४)

जागरूक–जागरणशील, जागता हुआ। यथा–'स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव'। (रघु०१०।२४)

जातकर्म–वालक के जन्मकाल में किया जाने वाला कर्म। नालछेदन, जिह्वानिर्लेखन आदि।

जानकी–राजा जनक की धर्मपुत्री, सीता, श्रीरामचन्द्र की पत्नी।

जानपद–देहाती, गँवार, ग्रामीण, किसान, देहातों में पाले गये पशु। यथा–'आमृश्यते जानपदैर्न कच्चित्'। (रघु०५।९)

जाह्नवी–गंगा नदी का एक पर्याय, यह हिमालय के गंगोत्री स्थान से निकलती है, इसी को गंगा या भागीरथी भी कहते हैं। सुहोत्र के पुत्र राजा जह्नु ने गंगा नदी को अपनी पुत्री के रूप में गोद लिया था। यथा–'जलनिधिमनुरूपं जह्नुकन्यावतीर्णा'। (रघु०६।८५) 'शैलराजावतीर्णा, जह्नोः कन्यां'। (पूर्वमेघ०५०)

ज्योतिष्मत्–आलोकमय, देदीप्यमान, ज्योतिर्मय। यथा–'नक्षत्रताराग्रहसङ्कुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः'। (रघु०६।२२)

'त'

तक्षक–कश्यप और कद्रु के पुत्रों में से एक सुप्रसिद्ध नाग, जिसके दंश से महाराजा परीक्षित की मृत्यु हुई थी। ये आठ नाग कहे जाते हैं–१. अनन्त, २. वासुकि, ३. पद्म, ४. महापद्म, ५. तक्षक, ६. कर्कोटक, ७. शंख तथा ८. शेष।

तन्वी–सुकुमारी, कोमलांगी, कृशोदरी। यथा–'इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी'। (शा०१।२०)

तपस्विनी–तपस्या करने मे तत्पर स्त्री, गरीव, दयनीय, असहाय। यथा–'सा तपस्विनी निर्वृता भवतु'। (शा०४)

तपोवन–ऋषि-मुनियों द्वारा तपस्या करने के लिए आश्रित वन। यथा–'तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम्'। (रघु०२।१८)

तमस्–अन्धकार। यथा–'किं वाऽभविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता'। (शा०७।४; विक्रम०१।७; पूर्वमेघ०३७)

तमसा–एक नदी-विशेष, जिसे 'टोंस' भी कहा जाता है। वन जाते समय श्रीराम ने सीता, लक्ष्मण के साथ पहली रात्रि यहीं वितायी थी। यह नदी अयोध्या

के पश्चिम से निकलकर बलिया के पास गंगा नदी में मिल जाती है।

तमाल—मस्तक पर लगाने का तिलक तथा एक वृक्ष विशेष, जो कवि-सम्प्रदाय द्वारा आदृत एवं बहुचर्चित है। इसके वृक्ष समुद्र तट पर विशेष रूप से पाये जाते हैं। यथा—'तमालतालीवनराजिनीला'। (रघु०१३।१५)

तमोगुण—तीन (सत्त्व, रज, तम) गुणों में से अन्तिम गुण। यथा—'रजसोऽपि परं तमः'। (कुमार०६।६०)

तर्पण—पितृयज्ञ, मरे हुए पितरों की तृप्ति के लिए जौ, तिल, कुश सहित किया जाने वाला कर्म।

ताडका—एक राक्षसी, सुकेतु की पुत्री, सुन्द की पत्नी, मारीच की माता। यथा—'ताडका चलकपाल-कुण्डला'। (रघु०११।१५) इसी को 'ताटका' भी कहते हैं।

ताण्डव—नृत्य-विशेष। 'ताण्डवं नटनं नाट्यं लास्यं नृत्यं च'। (अमरकोष) शिवजी का ताण्डव प्रसिद्ध है। इसे उन्माद नृत्य भी कहते हैं।

तात—पिता, पुत्र, मित्र, प्रिय के लिए इस सम्बोधन का प्रयोग किया जाता है। यथा—'हा तातेति क्रन्दितमाकर्ण्य विषण्णाः'। (रघु०९।७५)

ताम्रपर्णी—मलय पर्वत से निकलने वाली एक नदी, जो मोतियों की प्राप्ति के लिए प्रसिद्ध है। यथा—'ताम्रपर्णी समेतस्य मुक्तासारं महोदधेः'। (रघु०४।५०) मतभेद— १. यह नदी मद्रास प्रान्त के तिन्नेवेलि जिला में है। २. बम्बई प्रान्त के अन्तर्गत बेलगाँव जिले की एक नदी।

तारकजित्—तारकारि, यह 'कार्तिकेय' का विशेषण है। इन्होंने ही तारकासुर का वध किया था।

तारका—तारा, आँख की पुतली। यथा—'सन्दधे दृशमुदग्रतारकम्'। (रघु०११।६९)

ताल—ताड़ का वृक्ष, तालियाँ बजाना, काँसे का बना हुआ एक वाद्य, तालों द्वारा मापा गया, लयात्मक संगीत में मात्राकाल, झाँझ-करताल, नापने का एक परिमाण (प्रादेश, ताल आदि)। मूलतः 'ताल' शब्द की उत्पत्ति शिवजी के 'ताण्डव' और पार्वतीजी के 'लास्य' के प्रथमाक्षरों से हुई है। यह ताल दो प्रकार का होता है—१. मार्गी और २. देशी। आचार्य भरत ने इसके अनेक भेद-उपभेदों का वर्णन किया है।

तिरस्करिणी—परदा। यथा—'तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति'। (कुमार०१।१४; मालवि०२।१)

तिल—यह सफेद, काला भेद से दो प्रकार का होता है। इसके लड्डू गणेशजी तथा उनके भक्तों को प्रिय हैं। यह मृदुल तथा स्वादिष्ट होता है, अतः जाड़ों में 'तिलकुट' का पर्याप्त सेवन किया जाता है। इसका प्रयोग देव तथा पितृ कार्यों में किया जाता है। माघ मास में 'षट्तिला' एकादशी को इसका विविध प्रकार से सेवन करने का इस प्रकार शास्त्र का निर्देश है—

'तिलस्नायी तिलोद्वर्ती तिलहोमी तिलोदकी।
तिलभुक् तिलदाता च षट् तिलाः पापनाशकाः'॥

तिलक—लोध का वृक्ष, चन्दन, रोली, केसर, कस्तूरी मिलाकर माथे पर किये गये प्रयोग को तिलक कहते हैं। (देखें—'मालविका०३।५)

तिलाञ्जलि—पितरों की आत्मा को शान्ति प्रदान करने के लिए जौ-तिल मिलाकर मन्त्रपूर्वक जल दिया जाता है।

तीर्थ—नदी में उतरने का स्थान या घाट, पवित्र स्थान, गुरु। यथा—'तीर्थाभिषेकजां शुद्धिम्'। (रघु०१।८५) 'मया तीर्थादभिनयविद्या शिक्षिता'। (विक्रम०१)

तुङ्ग—ऊँचा, उन्नत। यथा—'तुङ्गं नगोत्सङ्गमिवा-रुरोह'। (रघु०६।३; ४।७०)

तुमुल—जहाँ कोलाहल हो रहा हो, भीषण, क्रोधी, घबड़ाया हुआ, व्याकुल, अव्यवस्थित। यथा—'बभूव युद्धं तुमुलं जयैषिणोः'। (रघु०३।५७) 'सेनानिवेशं तुमुलं चकार'। (रघु०५।४९)

तुषार—ठण्डा, शीतल, ओस से युक्त, कोहरा, पाला। यथा—'पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणाम्'। (रघु०२।१३ तथा१।४८४; कुमार०१।६; ऋतु०४।१)

तूणी—तूणीर, तरकस, बाण रखने की झोली। यथा— 'तूणीमुखोद्धृतशरेण विशीर्णपङ्क्तिः'। (रघु०९।५६)

तूर्य–वाद्ययन्त्र-विशेष जो मुँह से बजाया जाता है, तुरही। यथा–'सतूर्यमेनां स्नपयाम्बभूवुः'। (कुमार०७।१०)

त्रयी–तीन (ऋग्, यजुः, साम) वेदों की समष्टि।

त्रिकूट–तीन शिखरों वाला पर्वत। ऐसा एक पर्वत सीलोन (लंका) में है, जहाँ प्राचीन काल में रावण की राजधानी थी तथा जहाँ भगवती रूपसुन्दरी निवास करती है। एक कल्पित पर्वत, जो सुमेरुपर्वत का पुत्र कहा जाता है। दूसरा क्षीरसमुद्र में है और तीसरा गुजरात प्रदेश में 'गिरिनार' पर्वत के नाम से प्रख्यात है। इसी को पार करके राजा रघु सिन्ध की ओर दिग्विजय करने गये थे। यथा–'त्रिकूटमेव तत्रोच्चैर्जयस्तम्भं चकार सः'। (रघु०४।५९)

त्रितय–तीन का समूह। यथा–'श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत्समागतम्'। (शा०७।२९; रघु०८।७८)

त्रियामा–रात्रि, तीन प्रहर वाली। यथा–'सङ्क्षिप्येत क्षण इव कथं दीर्घयामा त्रियामा'। (उत्तरमेघ०४५; रघु०९।७०; कुमार०७।२१)

त्रिशङ्कु–राजा हरिश्चन्द्र के पिता, अयोध्या-निवासी सूर्यवंशी राजा थे। इनकी दुराग्रहपूर्ण कथा प्रसिद्ध है।

त्रिशूल–भगवान् शिवजी का प्रधान अस्त्र। इसी को 'तिरसूल' भी कहते हैं।

त्रेता–चार युगों में दूसरा युग। मनुस्मृति के अनुसार इस युग में मनुष्य की आयु ३०० वर्ष की होती थी। तीन यज्ञीय अग्नियों का समूह। यथा–'त्रेताग्निधूमाग्रमनिन्द्यकीर्तेः'। (रघु०१३।३७)

त्रोटक–नाटक का एक भेद, जिसमें ५, ७, ८ या ९ अंक हों, स्वर्ग तथा भूलोक का वर्णन हो, जिसका नायक कोई लोकोत्तर पुरुष हो और जिसमें विदूषक पात्र भी हो उसे त्रोटक कहते हैं। जैसे. कालिदासविरचित 'विक्रमोर्वशीय' नाटक।

'द'

दंश–डसने वाले कीड़े, वर्रे, भौंरें, ततैया, विच्छू, सर्प आदि। यथा–'दंशनिवारणैश्च'। (रघु०२।५)

दंष्ट्रा–बड़ा दाँत, दाढ़। यथा–'दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन्'। (रघु०२।४६)

दक्ष–कुशल, चतुर, विशेषज्ञ, सक्षम, सुप्रसिद्ध दक्षप्रजापति, जिनकी अनेक कन्याएँ थीं। यथा–'मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे'। (कुमार०१।२; रघु०१२।११)

दक्षिण–कुशल, दिशा-विशेष, दक्षिणाग्नि, दक्षिणायन, दक्षिणनायक, दक्षिणपवन।

दक्षिणा–कुशल स्त्री का विशेषण, ब्राह्मणों को यज्ञ आदि कर्म के अन्त में दी जाने वाली धन-सम्पत्ति। यथा– 'पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा'। (रघु०१।३१)

दण्ड–डंडा, लाठी, अपराध करने पर दिया जाने वाला शारीरिक कष्ट या अर्थदण्ड, दण्डनीति, उपनयन संस्कार के समय ब्रह्मचारी को दिया गया विल्व, पलाश आदि का डंडा, संन्यासी का डंडा, कमलदंड, राज्यदंड। यथा–'यथापराधदण्डानाम्'। (रघु०१।६)

दन्तक्षत–यह नायक-नायिका के रतिकाल का परस्पर व्यवहार है। स्त्रियों को इस व्यवहार से सुख मिलता है, यह कामशास्त्र का वचन है। यह स्तनों, गंडस्थलों तथा ऊपर-नीचे के होंठों में सावधानी से करना चाहिए।

दयालु–कृपालु, कृपा करने वाला। यथा–'यशःशरीरे भव मे दयालुः'। (रघु०२।५७)

दर्भ–काश, कुश, वल्वज (उलूप), ईख, तीक्ष्णरोमश, मूंज, शाद्वल–इनको दर्भ कहा गया है। (देखें–वायुपुराण ६५।१०४)

दशपुर–एक प्राचीन नगर का नाम, जिसे 'दसोर' या मन्दसोर कहा जाता है। राजा रन्तिदेव की राजधानी यहीं थी। यथा–'पात्रीकुर्वन् दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम्'। (पूर्वमेघ०४७)

दशार्ण–विन्ध्य के पूर्व-दक्षिणस्थ एक देश का नाम। यहाँ 'दशान' नाम की एक नदी बहती है। यहाँ की राजधानी विदिशा (भिलसा) कुछ लोग इसे 'छत्तिसगढ़' देश का एक अंश मानते हैं।

दाक्षायणी–दक्षप्रजापति की पत्नी, महर्षि कश्यप की स्त्री, इन्द्र तथा अदिति की माता।

दाम–डोरी, धागा, रस्सी, फूलों का गजरा या हार। यथा–'विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानाम्'। (पूर्वमेघ०२७) 'आद्ये बद्धा विरहदिवसे या शिखा दाम हित्वा'। (उत्तरमेघ०२१)

दिक्पति–ज्योतिषशास्त्र के अनुसार दिशा और विदिशाओं के स्वामी सूर्य आदि ग्रह।

दिक्पाल–पूर्व आदि दस दिशाओं के रक्षक देवता। पूर्व के इन्द्र, आग्नेय के अग्नि, दक्षिण के यम, नैर्ऋत्य के निर्ऋति, पश्चिम के वरुण, वायव्य के मरुत, उत्तर के कुबेर, ईशान के शिव, ऊपर के ब्रह्मा और नीचे के अनन्त।

दिग्गज–दिशाओं के रक्षक हाथी। क्रमशः–१. ऐरावत, २. पुण्डरीक, ३. वामन, ४. कुमुद, ५. अंजन, ६. पुष्पदन्त, ७. सार्वभौम, ८. सुप्रतीक।

दिग्विजय–अपने पराक्रम से राज्यों को अपने वश में करके पुनः उन राजाओं को अधिकार लौटा देना।

दिव्यलोक–वैकुण्ठ, गोलोक, स्वर्ग आदि स्थान, जिनमें देवता निवास करते हैं।

दिव्यास्त्र–देवता, ऋषि, मुनियों से प्राप्त अस्त्र, जिनका प्रयोग मन्त्रशक्ति से किया जाता है।

दुन्दुभि–बड़ा ढोल या नगाड़ा। यथा–'विजयदुन्दुभितां ययुरर्णवाः'। (रघु०९।११)

दुर्वासा–एक क्रोधी मुनि। इनका जन्म शिवजी के अंश से हुआ था, ये अत्रि ऋषि के पुत्र थे। इन्होंने शकुन्तला को शाप दिया था। (देखें–शा०४।१)

दुष्यन्त–यह पुरुवंश के राजा 'दुष्मन्त' का ही दूसरा नाम है, जो दुष्यन्त की अपेक्षा अप्रसिद्ध है।

दूषण–यह 'खर' का भाई था।

देव–स्वर्गलोक के निवासी इन्द्र आदि को 'देव' कहते हैं। इनमें निमेष-उन्मेष क्रिया नहीं होती और न ये कभी भूतल का स्पर्श ही करते हैं।

देवगिरि–देवताओं का प्रिय पर्वत। यथा–'देवपूर्व गिरिं ते'। (पूर्वमेघ०४९) सामान्य दृष्टि से 'कैलास' तथा 'सुमेरु' को देवगिरि कहा जाता है, किन्तु मेघदूत में प्रयुक्त देवगिरि को कुछ विद्वान् 'दौलताबाद' कहते हैं और कुछ विद्वानों का कथन है कि झाँसी नगर के नैर्ऋत्य कोण के तीन कोस के अन्तर्गत यह पर्वत है।

देवदारु–देवदार, सुगन्धित काष्ठ, पीतदारु, सुरदारु। यथा–'अमुं पुरः पश्यसि देवदारुम्'। (रघु०२।३६)

देवसेना–स्कन्द की स्त्री, देवताओं की सेना। यथा–'स्कन्देन साक्षादिव देवसेनाम्'। (रघु०७।१)

देवांगना–उर्वशी, मेनका, रम्भा, तिलोत्तमा आदि को अप्सरा भी कहते हैं।

देवोत्थान–कार्तिक शुक्लपक्ष की एकादशी को भगवान् विष्णु शेषशय्या से उठते हैं। इसी दिन कुबेर-भृत्य यक्ष का शाप समाप्त होता है। यथा–'शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ'। (उत्तरमेघ०४७)

दैत्य–दिति तथा कश्यप के औरस पुत्र, देवशत्रु।

दोहद–गर्भवती स्त्री की इच्छा। यथा–'उपेत्य सा दोहददुःखशीलताम्'। (रघु०३।६,७) तथा 'प्रजावती दोहदशंसिनी ते'। (रघु०१४।४५)

दौर्हृद–गर्भावस्था के लक्षण। यथा–'सुदक्षिणा दौर्हृदलक्षणं दधौ'। (रघु०३।१)

'ध'

धनुर्ज्या–धनुष की डोरी। यथा–'अनवरतधनुर्ज्याऽऽस्फालनक्रूरवर्ष्मा'। (शा०२।४)

धनुषयज्ञ–सीता के स्वयंवर के लिए राजा जनक ने इसे रचाया था।

धर्म–कर्तव्य, जाति तथा सम्प्रदाय आदि के प्रचलित आचार का पालन, आत्मरक्षा के लिए धर्मरक्षा की जाती है। यथा–'षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः'। (शा०५।४)

धर्मासन–न्यायाधीश, सरपंच या राजा जिस आसन पर बैठकर न्याय (फैसला) करता है।

धातु–क्रिया का मूल रूप भू, गम् आदि। शरीर का मूलतत्त्व, जिसे शुक्र भी कहते हैं। ब्रह्मा।

धूम–धुँआँ, वाष्प। यथा–'धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः'। (पूर्वमेघ०५)

धूमकेतन–पुच्छलतारा, यह तारा शिखावान् तथा पुच्छयुक्त भी होता है। यथा–'धूमशेष इव धूमकेतनः'। (रघु०११।८१)

ध्रुव–स्थिर, दृढ़, अचल, अटल। यथा–'इति ध्रुवेच्छामनुशासती सुताम्'। (कुमार०५।५; रघु०१७।३५)

ध्वज–झंडा, पताका। यथा–'मत्स्यध्वजावायुवशाद् विदीर्णैः'। (रघु०७।४)

'न'

नक्षत्र–अश्विनी आदि सत्ताईस नक्षत्र, अभिजित् के सहित अट्ठाईस। यथा–'नक्षत्रताराग्रहसङ्कुलापि'। (रघु०६।२२)

नखक्षत–रतिक्रीडा के अवसर पर नायक-नायिका का कामोन्मादज व्यवहार।

नटी–नट या सूत्रधार की पत्नी, अभिनेत्री, वेश्या या रंडी।

नड्वल–सरकंडों से व्याप्त, सरकंडों का ढेर। यथा–'यो नड्वलानीव गजः परेषाम्'।(रघु०१८।५)

नदी–सरिता, दरिया। यथा–'रविपीतजला तपात्यये पुनरोघेन हि युज्यते नदी'। (कुमार०४।४४)

नन्दन–प्रसन्न करने वाला। यथा–'वभूव भावेषु दिलीपनन्दनः'। (रघु०३।४१)

नन्दनद्रुम–इन्द्र के वगीचे के वृक्ष। यथा–'अभिज्ञाश्छेदपातानां क्रियन्ते नन्दनद्रुमाः'। (कुमार० २।४१; रघु०८।९५)

नन्दिग्राम–अयोध्या नगरी से चार कोस दूर स्थित एक गाँव, जहाँ रहकर भरत ने अयोध्या के राज्य का संचालन किया था।

नन्दिनी–कामधेनु की पुत्री। यथा–'अनिन्द्या नन्दिनी-नाम धेनुराववृते वनात्'। (रघु०१।८२ तथा २।६९)

नन्दी–शिवजी का वाहन तथा द्वारपाल, गणविशेष और उसके भेद–१. कनकनन्दी, २. गिरिनन्दी तथा ३. शिवनन्दी।

नमुचि–एक दैत्य, जिसका वध देवराज इन्द्र ने किया था। यथा–'वनमुचे नमुचेररये शिरः'। (रघु०९।२२)

नमेरु–रुद्राक्ष या सुरपुन्नाग वृक्ष। यथा–'गणा नमेरु-प्रसवावतंसाः'। (कुमार०१।५५; ३।४३; रघु०४।७४)

नम्र–झुकी हुई, विनीत। यथा–'स्तोकनम्रास्त-नाभ्याम्'। (उत्तरमेघ०२२)

नरकट–दलदल में पैदा होने वाली एक प्रकार की घास, जिसे नरकुल भी कहते हैं।

नर्तक–नाचनेवाला, अभिनेता, नट। यथा–'नर्तकीरभिनयातिलङ्घिनीः'। (रघु०१९।१४)

नर्म–कौतुकजनक। यथा–'नर्मपूर्वमनुपृष्ठसंस्थितः'। (रघु०१९।२८)

नर्मदा–रीवाँ राज्य के अमरकण्टक पहाड से निकलकर भडौंच के पास अरवसागर में गिरती है।

नव–नया, थोड़ा, अल्प-अवस्थावाला। यथा–'क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते'। (कुमार०५।८६)

नलकूबर–कुवेर के एक पुत्र का नाम। इसके भाई का नाम 'मणिग्रीव' है।

नलगिरि–उज्जयिनी के राजा चण्डप्रद्योत का तेजी से दौड़ने वाला हाथी।

नवमल्लिका–चमेली, नेवारी, एक पुष्प-विशेष।

नाग–हाथी, सूर्य। कश्यप तथा कद्रू की सन्तान–अनन्त, वासुकि, कम्वल, कर्कोटक, पद्म, महापद्म, शंख, कुलिक, अपराजित–ये सभी पाताल लोक के रमणीयक द्वीप में निवास करते हैं।

नागकन्या–नाग जाति की कन्या। पुराणों में नागकन्याओं के सौन्दर्य की अत्यन्त प्रशंसा की गयी है।

नागकेशर–सफेद, सुगन्धियुक्त फूलोंवाला एक सदावहार पेड़, इसकी लकड़ी वड़ी कड़ी होती है। नागचम्पा, वज्रकाठ।

नागपाश–वरुण का प्रमुख अस्त्र। मेघनाद ने हनुमान् को पकड़ने में इसका प्रयोग किया था।

नान्दी–नाटक के आरम्भ में मंगलाचरण के रूप में प्रयुक्त आशीर्वादात्मक श्लोक।

नायक–मार्गदर्शक, नेता, निर्देशक। नाटकों में प्रयुक्त नायक प्रमुखरूप से चार प्रकार के होते हैं–१. धीरोदात्त, २. धीरोद्धत, ३. धीरललित और ४. धीरप्रशान्त।

नायिका–स्वामिनी, पत्नी, काव्य या नाटक में प्रयुक्त नायिका, रूपयौवनसम्पन्न स्त्री, दुर्गा की आठ शक्तियाँ। भेद–स्वीया, परकीया, साधारण आदि।

नारद–देवर्षि, कलहप्रिय, पुराणों में वहुचर्चित पात्र। ये ब्रह्माजी के मानस पुत्र कहे जाते हैं।

नाराच–लोहे का वाण। यथा–'तत्र नाराचदुर्दिने'। (रघु०४।४१)

नारायण–जलशायी भगवान् विष्णु, एक प्राचीन ऋषि का नाम, जिन्होंने अपनी जंघा से उर्वशी को जन्म दिया। यथा–'ऊरूद्भवा नरसखस्य मुनेः सुरस्त्री'। (विक्रम०१।४)

नाहुष–नहुष राजा का पुत्र राजा ययाति।

निचुल–जलवेतस, हिज्जलफल। यथा–'स्थाना-दस्मात् सरसनिचुलात्'। (पूर्वमेघ०१४)

नितम्ब—चूतड़, स्त्री का पिछला उभरा हुआ भाग। योनि प्रदेश, कूल्हा। यथा—'यातं यच्च नितम्बयोर्गुरुतया'। (शा०२।१; रघु०८।५२; ६।१७; पूर्वमेघ०४१; मालविका०२।७ तथा विक्रम०४।२६)

निदर्शन—दृश्य, अन्तर्दृष्टि, संकेत करना, बतलाना। यथा—'ननु प्रभुरेव निदर्शनम्'। (शा०२)

निदाघ—गर्मी, ग्रीष्मऋतु, गर्मी का मौसम। यथा—'निदाघकालः समुपागतः प्रिये'। (ऋतु०१।१)

निदान—प्रमुखकारण, आदि कारण। यथा—'निदानमिक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेः'। (रघु०३।१)

निधान—खजाना। यथा—'निधानगर्भामिव सागराम्बराम्'। (रघु०३।९)

निपान—जलाशय, पोखरा। यथा—'गाहन्तां महिषा निपानसलिलम्'। (शा०२।६ तथा रघु०१।५३)

निपुण—चतुर, बुद्धिमान्, कुशल। यथा—'वयस्य निसर्गनिपुणाः स्त्रियः'। (मालविका०३)

निभृत—छिपा हुआ, भरा हुआ। यथा—'नभसा निभृतेन्दुना'। (रघु०८।१५) 'अनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु'। (उत्तरमेघ०७)

निमि—इक्ष्वाकु की एक सन्तान। मिथिला में राज्य करने वाले राजाओं के पूर्वज।

निमेष—आँख का झपकना। यथा—'पपौ निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिः'। (रघु०२।१९)

निम्ननाभिः—गहरी नाभि वाली। यथा—'चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः'। (उत्तरमेघ०२२)

नियन्तृ—सारथि, चालक। यथा—नियन्तुर्नेमिवृत्तयः'। (रघु०१।१७ तथा १५।५१)

नियमन—रोक लगाना, नियन्त्रण करना, दमन करना। यथा—'नियमनादसतां च नराधिपः'। (रघु०९।६)

नियोग—किसी काम में लगाना। यथा—'मनोनियोगक्रिययोत्सुकं मे'। (रघु०५।११) 'आज्ञापयतु को नियोगोऽनुष्ठीयतामिति'। (शा०१)

नियोज्य—कार्यभार संभालने वाला, अधिकारी, सेवक। यथा—'सिद्ध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः'। (७।४)

निरस्त—दूर फेंका हुआ, निष्कासित। यथा—'अहाय तावदरुणेन तमो निरस्तम्'। (रघु०५।७१) तथा 'कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता'। (रघु०१४।८४)

निराकरिष्णु—प्रत्याख्यान करने वाला, निकाल बाहर करने वाला। यथा—'निराकरिष्णोर्वृजिनादृतेऽपि'। (रघु०१४।५७)

निर्वाण—परमानन्द, पूर्ण सन्तोष। यथा—'अये लब्धं नेत्रनिर्वाणम्'। (शा०३; मालविका०३।१; विक्रम० ३।२१)

निर्विन्ध्या—विन्ध्यपर्वतश्रेणी से निकली हुई एक नदी। यथा—'निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः'। (पूर्वमेघ१।२८)

निर्वृति—तृप्ति, प्रसन्नता, सुख। यथा—'व्रजति निर्वृतिमेकपदे मनः'। (विक्रम०२।९; रघु०९।३८ तथा १२।६५; शा०७।१९)

निवपन—मृत पितरों के निमित्त जो पदार्थ दिये जाते हैं। यथा—'को नः कुले निवपनानि नियच्छतीति'। (शा०६।२५)

निवाप—तर्पण-जल। यथा—'निवापाञ्जलयः पितृणाम्'। (रघु०५।८ तथा १५।९१)

निःशेष—पूर्ण, समस्त, पूरा। यथा—'निःशेषविश्राणितकोषजातम्'। (रघु०५।१)

निष्ठ्यूत—थूका हुआ, चूआ हुआ। यथा—'निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित्'। (शा०४।५; रघु०२।७५)

नीचगिरि—विन्ध्यपर्वत की एक चोटी, जिसका नाम 'नीच' है। (देखें—पूर्वमेघ०२५)

नीचैः—नीचे, नीचे की ओर। यथा—'नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण'। (उत्तरमेघ०५२)

नीति—निर्देशन, दिग्दर्शन। यथा—'काले खलु समारब्धाः फलं बध्नन्ति नीतयः'। (रघु०१२।६९)

नीप—कदम्ब वृक्ष, राजाओं का एक कुल। यथा—'नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशम्'। (पूर्वमेघ०२२) 'नीपान्वयः पार्थिव एष यज्वा'। (रघु०६।४६)

नीवार—तृण-धान्य, जो बिना जोते-बोये पैदा हो। यथा—'नीवारपाकादि कडङ्गरीयैरामृश्यते जानपदैर्न कश्चित्'। (रघु०५।९; १।५०) 'नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः'। (शा०१।१४)

नीवी—धोती की कमर में लगायी हुई गाँठ, नाड़ा, कमरबन्द। यथा—'प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीविम्'। (रघु०७।९)

नूपुर—पायजेब, पैरों में पहने जाने वाला आभूषण।

नृग–वैवस्वत मनु का पुत्र, जो ब्राह्मण के शाप से छिपकली बना।

नेमि–परिधि, पहिये का घेरा। यथा–'नियन्तुर्नेमिवृत्तयः'। (रघु०१।१७) 'उदधिनेमिमधिज्यशरासनः'। (रघु०९।१०)

नैर्ऋत–राक्षस, नैर्ऋत्यकोण के दिक्पाल।

नैर्ऋतघ्नमस्त्र–महर्षि विश्वामित्र की कृपा से श्रीराम ने उक्त अस्त्र को प्राप्त किया था। यथा–'नैर्ऋतघ्नमथ मन्त्रवन्मुनेः'। (रघु०११।२१)

नैर्ऋत्य–दक्षिण-पश्चिम के मध्य भाग में स्थित एक विदिशा का नाम।

नैमिषारण्य–एक पवित्र वन-प्रदेश, जो सीतापुर जिले में है। यहाँ गोमती नदी बहती है। जहाँ ऋषि-मुनि निवास करते थे। महर्षि गौरमुख ने यहाँ निमिषमात्र में असुरों का वध किर दियां, अतएव इस वन का नाम 'नैमिषारण्य' पड़ा। दूसरा कथानक इस प्रकार है–एक बार कलिकाल के भय से ऋषिगण ब्रह्माजी के समीप गये, तब उन्होंने एक मनोमय चक्र ऋषियो को देकर उनसे कहा–इसे आपलोग ले जाइये, जहाँ यह विशीर्ण हो जाय वहीं आपलोग निवास करें। यह एक पवित्र तीर्थ है।

नैमिषालय–इसी स्थान पर महर्षि शौनक आदि की प्रार्थना पर सूतजी ने मुनियों को भागवत की कथा सुनायी थी।

नैश–रात से सम्बन्ध रखने वाला। यथा–'नैशस्यार्चिर्हुतभुज इव च्छिन्नभूयिष्ठधूमा'। (विक्रम०१।८)

नैष्ठिक–अन्तिम, निष्ठापूर्वक। यथा–'विदधे विधिमस्य नैष्ठिकम्'। (रघु०८।२५)

नैसर्गिक–स्वाभाविक, प्राकृतिक। यथा–'तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम्'। (रघु०५।३७;६।४६)

न्यङ्कु–एक प्रकार का बारहसिंगा। यथा–'सद्यो हतन्यङ्कुभिरस्रदिग्धम्'। (रघु०१६।१५)

न्यस्त–डाला हुआ, अन्तर्हित, प्रयुक्त। यथा–'न्यस्ताक्षरा धातुरसेन'। (कुमार०१।७)

न्यासः–रखना, धरोहर। यथा–'तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुं'। (रघु०२।२) 'प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा'। (शा०४।२१)

'प'

पक्व–पका हुआ या पकाया हुआ। यथा–'पक्वबिम्बाधरोष्ठी'। (उत्तरमेघ०१९)

पक्ष–पन्द्रह दिन का समय, शुक्ल तथा कृष्ण पक्ष, वरपक्ष, कन्यापक्ष, अपना पक्ष, पराया पक्ष, काकपक्ष, चिड़िया आदि के पंख, दोनों ओर। यथा–'पक्षच्छेदोद्यतं शक्रम्'। (रघु०४।१०) 'स्तम्बेरमा उभयपक्षविनीतनिद्राः'। (रघु०५।७२)

पङ्क्ति–कतार, श्रेणी, सिलसिला। यथा–'दृश्येत चारुपदपङ्क्तिरलक्तकाङ्का'। (विक्रम०४।६) पक्ष्मपंक्ति। (रघु०२।१९)

पङ्क्तिरथ–राजा दशरथ का पर्याय। यथा–'पङ्क्तिरथो विलङ्घ्य यत्'। (रघु०९।७४)

पञ्चतत्त्व–१. पृथ्वी, २. जल, ३. तेज, ४. वायु तथा ५. आकाश। इन्हीं के संयोग से सृष्टि होती है।

पञ्चबाण–कामदेव के पाँच बाण–१. उन्मादन, २. तापन, ३. शोषण, ४. स्तम्भन, ५. सम्मोहन और–१. कमल, २. अशोक, ३. आम, ४. नवमल्लिका (चमेली), ५. नीलकमल।

पञ्चवटी–पाँच वटवृक्षों का समूह या वट-प्रधान पाँच वृक्षों का समूह। यथा–बरगद, पीपल, बेल, हरड़ तथा अशोक। दंडकारण्य का एक भाग, जहाँ से गोदावरी नदी निकली है। इसी स्थान पर वनवास काल मे श्रीराम सीता, लक्ष्मण के साथ रहे। यह स्थान नासिक के पास है।

पताका–झंडा, ध्वजा, यह शब्द नाटकों में वर्णित 'पताकास्थानक' के लिए भी प्रयुक्त होता है। (देखे–'साहित्यदर्पण'।)

पद्मराग–एक रत्न-विशेष, जो लाल वर्ण का होता है। इसे सूर्यग्रह की शान्ति के लिए धारण किया जाता है। इसी को 'माणिक्य' कहते हैं। यथा–'स पद्मरागः फलितो विभाति'। (रघु०१३।५३; १७।२३ तथा कुमार०३।५३)

पद्मासन–बांये जंघा के ऊपर दाहिना जंघा चढ़ाकर जो आसन लगाया जाता है, उसे पद्मासन कहते हैं।

पम्पासर–दण्डकारण्य का एक सरोवर। यथा–'अमूनि पम्पासलिलानि दृष्टिः'। (रघु०१३।३०)

पयोष्णी–ऋक्ष पर्वत से निकलने वाली एक नदी। यहाँ किया हुआ पितरों का श्राद्ध अक्षय फल देता है।

परमानन्द–इसी को 'ब्रह्मानन्द' भी कहते हैं। निर्विकल्पक समाधि के समय जब योगी पुरुष को त्रिपुटी में परा ज्योति का प्रकाश दिखलायी देने लगे, वही वास्तविक परमानन्द की स्थिति है।

परशुराम–जमदग्नि तथा रेणुका के पुत्र। एक प्रसिद्ध ब्राह्मणयोधा। इन्हें विष्णु का छठा अवतार माना जाता है। इन्होंने २१ वार अपने पराक्रम से क्षत्रियों का संहार किया था।

परश्वध–कुल्हाड़ी, कुठार, फरसा। यथा–'धारां सितां रामपरश्वधस्य सम्भावयत्युत्पलपत्रसाराम्'। (रघु० ६।४२)

परा–नाभिरूपी मूलाधार चक्र से निकलने वाली वाणी को 'परा' कहते हैं। उपनिषद् में कही हुई 'ब्रह्मविद्या'।

पराग–धूलि। यथा–'प्रतापोऽग्रे ततः शब्दः परागस्तदनन्तरम्'। (रघु०४।३०)

पराङ्मुख–विमुख, विपरीत, उदासीन, कतराने वाला। यथा–'श्रियोऽप्यासीत् पराङ्मुखः'। (रघु०१२।१३) 'प्रवृत्तिपराङ्मुखो भावः'। (विक्रम०४।२०)

परासु–निर्जीव, मृत, मृतक। यथा–'प्राक् परासुर्द्विजात्मजः'। (रघु०१५।५६)

परिखा–खाई, नगर या किले के चारों ओर वनी नाली या गड्ढा। यथा–'परिखीकृतसागराम्'। (रघु०१।३०)

परिणेतृ–पति। यथा–'परिणेतुः प्रसूतये'। (रघु०१।२५ तथा १४।२६; कुमार०७।३१; शा०५।१७)

परिताप–सन्ताप, झुलसा देने वाली गर्मी। यथा–'शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्'। (शा०५।७)

परितोष–पूर्ण सन्तोष। यथा–'आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्'। (शा०१।२)

परित्राण–संरक्षण, प्रतिरक्षा, मुक्ति, छुटकारा। यथा–'रामापरित्राणविहस्तयोधम्'। (रघु०५।४९)

परिदेवन–विलाप, विलखना। यथा–'अथ तैः परिदेविताक्षरैः'। (कुमार०४।२५ तथा रघु०१४।८३)

परिधि–परिवेश, मेड़, वाड़, घेरा। यथा–'परिधेर्मुक्त इवोष्णदीधितिः'। (रघु०८।३०)

परिमेय–थोड़े, सीमित। यथा–'परिमेयपुरःसरौ'। (रघु०१।३७)

परिवह–वायु के सात भागों में से छठा। यथा–'वायोरिमं परिवहस्य वदन्ति मार्गम्'। (शा०७।६) सात मार्ग– १. आवह, २. प्रवह, ३. उद्वह, ४. संवह, ५. सुवह, ६. परिवह तथा ७. परावह।

परिहास–हँसी-मजाक, ठट्ठा। यथा–'तथागतायां परिहासपूर्वम्'। (रघु०६।८२) 'परिहासविजल्पितं सखे'। (शा०२।१८)

पर्णकुटी–पत्तों से छायी गयी ऋषि-मुनियों का निवासस्थान।

पलाश–ढाक, किंशुक, टेसू। यथा–'वभ्रुः पलाशान्यतिलोहितानि'। (कुमार०३।२९)

पवन–वायु। ये पाँच प्रकार के होते हैं–प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान। शरीर में इनके भिन्न-भिन्न स्थान होते हैं। प्रलयकाल में इनकी संख्या ४९ कही गयी है।

पश्यन्ती–मूलाधार से परा के वाद निकलने वाली एक वर्णध्वनि।

पांशुल–धूलधूसरित, कलंकी, कलुषित। यथा–'दारत्यागी भवाम्याहो परस्त्रीस्पर्शपांशुलः'। (शा०५।२८)

पाटल–पीतरक्त, गुलावी, पाटलवृक्ष। यथा–'कपोलपाटलादेशि वभूव रघुचेष्टितम्'। (रघु०४।६८) 'पाटलसंसर्गि सुरभिवनवाताः'। (शा०१।३)

पाण्ड्य–एक देश का नाम, वर्तमान तिरुवरांकुर, मद्रास का दक्षिणी भाग। पाण्ड्य देश के निवासी। यथा–'तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे'। (रघु०४।४९) 'पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्वहारः'। (रघु०६।६०)

पाताल–पृथ्वी के नीचे स्थित सात लोकों में से सातवाँ लोक। उनके नाम–१. अतल, २. वितल, ३. सुतल, ४. रसातल, ५. तलातल, ६. महातल, ७. पाताल। यथा–'भुजङ्गपिहितद्वारं पातालमधितिष्ठति'। (रघु०१।८० तथा १५।८४) शव्दरत्नावली में पाताल के भी सात भेद दिये हैं।

पातिव्रत–अपने पति में देवता का भाव रखकर उसकी कायेन, वाचा, मनसा सेवा करना, यह स्त्रियों का प्रमुख धर्म है।

पाथेय–वह चना, चवेना या भोज्यसामग्री जिसे यात्री राह में खाने के लिये साथ ले जाता है। अथवा मार्गव्यय। यथा–'विसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः'। (पूर्वमेघ०११; विक्रम०४।१५)

पादुका–खड़ाऊँ, जूता। यथा–'ययाचे पादुके पश्चात् कर्तुं राज्याधिदैवते'। (रघु०१२।१७) तथा 'व्रज भरत गृहीत्वा पादुके त्वं मदीये'। (भट्टि०३।५६)

पारसीक–फारस देश, फारस देश का घोड़ा, पारस, ईरान या फारसदेश के निवासी। यथा–'पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना'। (रघु०४।६) ईरान देश के निवासी पहले अग्निदेव के परम उपासक थे, अब वे मुसलमान हो गये हैं।

पारिजात–समुद्रमन्थन से उत्पन्न वृक्षविशेष। नन्दनवन के पाँच वृक्षों में से एक। श्रीकृष्ण ने इन्द्र से छीन कर इस वृक्ष को सत्यभामा नामक अपनी पत्नी के बगीचे में लगाया था। यथा–'कल्पद्रुमाणामिव पारिजातः'। (रघु०६।६)

पारिपार्श्विक–सेवक, नाटक में सूत्रधार का सहायक, नान्दी-पाठ के अवसर पर प्रस्तुत होने वाला एक पात्र-विशेष।

पारिप्लव–चंचल, डाँवाडोल, अस्थिर। यथा–'ननन्द पारिप्लवनेत्रया नृपः'। (रघु०३।११)

पार्थिव–पृथिवी सम्बन्धी, धूल। यथा–'यतो रजः पार्थिवमुज्जिहीते'। (रघु०१३।६४)

पार्थिवी–पृथिवी की पुत्री सीता। यथा–'पार्थिवीमुदवहद्रघूद्वहः'। (रघु०११।४५)

पार्वतीय–पहाड़ी, एक जाति-विशेष। यथा–'तत्र जन्यं रघोर्घोरं पार्वतीयैर्गणैरभूत्'। (रघु०४।७७)

पाश–डोरी, शृंखला, वेड़ी, फन्दा। यथा–'पाणौ पाशः प्रचेतसः'। (कुमार०२।२१)

पिण्डदान–मृत पितरों की तृप्ति के लिए दिया जाने वाला जौ के आटे का अथवा भात का पिण्ड (ग्रास)।

पिनाकिन्–शिवजी की एक उपाधि, क्योंकि उनके धनुष का नाम पिनाक है। यथा–'न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः'। (कुमार०५।७७)

पुंसवन–'पुमान् सूयते अनेन इति'। स्त्री में गर्भलक्षण प्रकट होने पर किया जाने वाला संस्कार। यथा–'यथाक्रमं पुंसवनादिकाः क्रियाः'। (रघु०३।१०)

पुंस्कोकिल–पुरुष या नर कोयल। यथा–'पुंस्कोकिलो यन्मधुरं चुकूज'। (कुमार०३।३२)

पुत्रेष्टि–सन्तान की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला यज्ञ। यथा–'आरेभिरे जितात्मानः पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः'। (रघु०१०।४)

पुनर्वसु–आरम्भ से सातवाँ नक्षत्र। यथा–'गाङ्गताविव दिवः पुनर्वसू'। (रघु०११।३६)

पुरन्ध्री–विवाहिता स्त्री। यथा–'प्रायेणैवं विधे कार्ये पुरन्ध्रीणां प्रगल्भता'। (कुमार०६।३२)

पुरु–यह शब्द व्यक्तिसूचक संज्ञाओं के आरम्भ में उसकी महत्ता बढ़ाने के लिए भी प्रयुक्त होता है। चन्द्रवंशी राजाओं में छठा राजा, यह ययाति तथा शर्मिष्ठा का सबसे छोटा पुत्र था 'पुरु'। यथा–'ययातेरिव शर्मिष्ठा····मैव पूरुमवाप्नुहि'। (शा०४।६)

पुरूरवा–बुध और इला का पुत्र, चन्द्रवंशी राजकुल का प्रवर्तक, इसकी पत्नी का नाम 'उर्वशी' था। (देखें–'विक्रमोर्वशीयनाटक')

पुरोहित–श्रुति-स्मृति द्वारा निर्दिष्ट यज्ञानुष्ठान आदि को जानने वाला ब्राह्मण।

पुलस्त्य–सप्तर्षियों में एक, ये ब्रह्मा के मानस पुत्र थे। ये विश्रवा के पिता, कुबेर तथा रावण के पितामह थे।

पुष्करावर्तक–प्रलयकारक मेघ (पुष्कर=जल, आवर्तक=भौंरी से उत्पन्न होने वाला बादल)। यथा–'जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानाम्'। (पूर्वमेघ०६)

पुष्पक–'पुष्पम् एव पुष्पकम्, स्वार्थे कन्'। फूल, कुबेर का विमान, इसे रावण ने कुबेर से छीन लिया था।

पुष्य–पौष्टिक कर्मों में प्रयुक्त होने वाला आरम्भ से आठवाँ नक्षत्र-विशेष। इसे 'तिष्य' भी कहते हैं।

पूर्वराग–आरम्भिक प्रेम, श्रवण-दर्शन आदि के कारण परस्पर उत्पन्न होने वाला प्रेम।

पृतना–सेना की टुकड़ी, जिसमें २४३ हाथी तथा रथ, ७२९ घोड़े एवं १२१५ पैदल सैनिक होते हैं।

पृथु–चौड़ा, विस्तृत, प्रशस्त। यथा–'तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुम्'। (पूर्वमेघ ५०)

पृषत्क–बाण। यथा–'धनुर्भृतां हस्तवतां पृषत्काः'। (रघु०७।४५)

प्रणव–ओंकार, पवित्र अक्षर, अ+उ+म् का संयुक्त रूप। यथा–'प्रणवश्छन्दसामिव'। (रघु०१।११)

प्रतिपद्–शुक्लपक्ष अथवा कृष्णपक्ष की पहली तिथि। यथा–'प्रतिपच्चन्द्रनिभोऽयमात्मजः'। (रघु०८।६५)

प्रतिष्टम्भ–अवरोध, रुकावट, विरोध। यथा–'बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युः'। (रघु०२।३२)

बला–वला, अतिवला ये दो मन्त्रविद्याएँ हैं। इनका उपदेश मुनि विश्वामित्र ने राम-लक्ष्मण को अपने आश्रम की ओर ले जाते समय दिया था। इन विद्याओं के प्रभाव से इन्हें थोड़ा भी कष्ट नहीं हुआ। यथा–'तौ वलातिवलयोः प्रभावतः'। (रघु०११।९)

बलाहक–'वारिवाहकः वलाहकः'। मेघ, वादल। यथा–'वलाहकच्छेदविभक्तरागाम्'। (कुमार०१।४)

बलि–देवता आदि के लिए समर्पित द्रव्य को वलि कहते हैं। यज्ञ आदि में पशु आदि के समर्पण को वलि या वलिदान कहते हैं तथा राजकर को भी वलि कहते हैं। प्रह्लाद के पौत्र, राजा विरोचन के पुत्र का नाम 'वलि' था। ये महान् प्रतापी तथा दानी राजा थे। वामनावतार में इन्होंने भगवान् वामन को तीन पग पृथ्वी दान दी थी, जिसमें वलि को पाताललोक का राज्य मिला। यथा–'अतिदानाद् वलिर्वद्धः'। (चाणक्यनीति) तथा 'प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो वलिमग्रहीत्'। (रघु०१।१८)

बिम्ब–सूर्य या चन्द्रमंडल, मंडलाकार, गोल, कुंदरू नामक एक फल। यथा–'विम्वाधरालक्तकः'। (मालविका०३।५; कुमार०३।६७)

बालखिल्य–ब्रह्मा के रोम से उत्पन्न, अंगूठे के समान आकारवाली दिव्यमूर्तियाँ, जिनकी संख्या ६०००० मानी जाती है। यथा–'विरराज रथप्रष्ठैर्वालखिल्यैरिवांशुमान्'। (रघु०१५।१०)

बाली–सुग्रीव के वड़े भाई वानरराज। इसका वध श्रीराम ने किया, अतएव इन्हें 'वालिहन्ता' कहते हैं।

बुध–नौ ग्रहों में चौथा ग्रह। चन्द्रमा तथा गुरुपत्नी तारा का पुत्र। (देखें–'रघु०१।२७)

बृहस्पति–नौ ग्रहों में पाँचवाँ ग्रह। इन्हें देवगुरु भी कहते हैं। ये देवताओं की वुद्धि के स्वामी हैं।

ब्रह्म–निर्गुण, निराकार परमात्मा। वेदान्तियों के अनुसार दृश्यमान जगत् का यही उपादान कारण है।

ब्रह्मचर्य–चार आश्रमों में पहला आश्रम, जन्म से प्रथम २५ वर्ष की इसकी सीमा है। यह विद्याध्ययन काल है।

ब्रह्मतेज–ब्राह्मण स्वाध्याय आदि नियमों के आचरण से इस तेज को प्राप्त करता है।

ब्रह्मर्षि–ब्राह्मण ऋषि को ही ब्रह्मर्षि कहते हैं। राजर्षि विश्वामित्र अपने जीवन में ब्रह्मर्षि होना चाहते थे।

ब्रह्मावर्त–हस्तिनापुर के पश्चिमोत्तर में सरस्वती तथा दृषद्वती नदियों का मध्यभाग। (देखें–मनु०२।१७ तथा पूर्वमेघ ४८)

ब्रह्मास्त्र–ब्रह्मा से अधिष्ठित एक अमोघ अस्त्र। यथा–'ब्राह्ममस्त्रं प्रियाशोकशल्यनिष्कर्षणौषधम्'। (रघु०१२।९७)

'भ'

भगीरथ–सूर्यवंशी राजा का एक नाम, ये राजा सगर के प्रपौत्र थे। कपिलमुनि के शाप से जले हुए सगर के पुत्रों को तारने के लिए ये अपने तपोवल से देवगंगा को भूलोक में ले आये, तभी से उस गंगा को 'भागीरथी' कहते हैं।

भद्र–भला, सुखद, समृद्धिशाली। यथा–'पप्रच्छ भद्रं विजितारिभद्रः'। (रघु०१४।३१)

भद्रकाली–भगवती दुर्गा का एक नाम। महिषासुर का वध इन्होंने ही किया था।

भद्रपीठ–राजसिंहासन, राजगद्दी। यथा–'उपतस्थुः प्रकृतयो भद्रपीठोपवेशितम्'। (रघु०१७।१०)

भरत–दुष्यन्त-शकुन्तला का पुत्र, जो चक्रवर्ती राजा था। दशरथ-कैकेयी का पुत्र। नाट्य तथा संगीत शास्त्र के प्रवर्तक भरतमुनि।

भरतवाक्य–नाटक के अन्त में दिया गया आशीर्वादात्मक पद्य।

भवानी–पार्वती, शिवजी की अर्धांगिनी। (देखें–कुमार०७।८४ तथा पूर्वमेघ०४०)

भागीरथी–गंगा। यथा–'भागीरथीनिर्झरसीकराणां वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः'। (कुमार०१।१५)

भाण–नाट्य काव्य का एक भेद, इसमें रंगमंच पर धूर्त चरित्रवाला एक ही पात्र होता है, इस नाटक में अंक भी एक ही होता है।

भारत–भरत से सम्वन्धित या भरतपुत्र, भारतवर्ष, हिन्दुस्तान, वेदव्यास द्वारा लिखित 'महाभारत'।

भिद्य–वेग से वहने वाली नदी, एक विशेष नद का नाम। यथा–'तोयदागम इवोद्ध्यभिद्ययोः'। (रघु० ११।८)

भीरु–डरपोक स्त्री। यथा–'त्वं रक्षसा भीरु! यतोऽपनीता'। (रघु०१३।२४)

भुज–भुजा, वाहु। यथा–'ज्ञास्यसि कियद्भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणाङ्क इति'। (शा०१।१३)

मन्त्र–'मननात् त्रायते यस्मात् तस्मान्मन्त्रः प्रकीर्तितः'। वैदिक सूक्त अथवा जिनका जप किया जाय।

मन्द–धीमा, सुस्त, मटरगस्ती करने वाला। यथा–'भिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्यः'। (कुमार०१।११)

मन्दर–धीमा, मन्दराचल। यथा–'पृषतैर्मन्दरोद्भूतैः'। (रघु०४।२७) मन्दराचल पर्वत से समुद्रमन्थन किया गया था, जिससे १४ रत्न निकले थे।

मन्दराचल–देखें–मन्दर।

मन्दसौर–देखें–दशपुर। यहाँ जुलाहों के संघ ने एक प्राचीन सूर्यमन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था।

मन्दाकिनी–गंगा नदी। यथा- 'मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे'। (रघु०१३।४८; कुमार०१।२९; उत्तरमेघ ६)

मन्दार–इन्द्र के नन्दनवन में स्थित पाँच वृक्षों में से एक। (देखें–रघु०६।२३; कुमार०५।८०; शा०७।२)

मयूख–प्रकाश की किरण। यथा–'विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखैः'। (शा०३।२; रघु०२।४६)

मयूर–मोर नामक एक सुप्रसिद्ध पक्षी। यथा–'फणी मयूरस्य तले निषीदति'। (ऋतु०१।१३)

मरकत–पन्ना। (देखें–ऋतु०३।२१)

मरीचि–प्रकाश की किरण। (देखें–रघु०९।१३ तथा १३।४; ऋतु०१।१६; विक्रम०३।१०)

मरीचिका–मृगतृष्णा। इसी को मृगमरीचिका भी कहते हैं।

मलय–भारत के दक्षिण में स्थित एक पर्वत-शृंखला, जहाँ चन्दन के वृक्ष पाये जाते हैं।

मलय-दर्दुर–पश्चिमी घाट की दो छोटी पहाड़ियाँ, जो कावेरी नदी के दक्षिण में विराजमान हैं। यथा–'स्तनाविव दिशस्तस्याः शैलौ मलयदर्दुरौ'। (रघु०४।५१)

मलयवायु–कविसम्प्रदाय सुखद अवसरों पर मलय पर्वत से वहने वाली वायु का वर्णन करता है, क्योंकि यह, वायु नीलगिरि के चन्दन वृक्षों की स्वाभाविक एवं मादक सुगन्ध को लेकर वहता है।

मलयाचल–देखें–मलय।

मल्लिका–एक प्रकार की चमेली या वेला। यथा–'वनेषु सायन्तनमल्लिकानाम्'। (रघु०१६।४७ तथा १६।५०)

महाकाल–शिव का एक नाम। उज्जैन में महाकाल का सुप्रसिद्ध मन्दिर है। (देखें–रघु०६।३४; पूर्वमेघ०३८) महाकालेश्वर के दर्शन करने से करोड़ों अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है।

महाक्रतु–महायज्ञों में अश्वमेध की गणना की जाती है। (देखें–रघु०३।४६)

महेन्द्र–देवराज इन्द्र। (देखें–रघु०१३।२०; कुमार० ५।५३)

मागधी–मगधदेश की भाषा, मगध देश की राजकुमारी, दिलीपपत्नी। यथा–'राजा राज्ञी च मागधी'। (रघु०१।५७) 'स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधी'। (रघु०३।५)

मातलि–देवराज इन्द्र का सारथी। (देखें–रघु०१२।८६)

मातृ–इनकी संख्या ७ अथवा ८ देखी जाती है। कर्मकाण्ड प्रकरण में इनकी १६ संख्या भी मिलती है। चाणक्य ने पाँच प्रकार की माताओं की गणना की है।

माधव–विष्णु, वैशाख। यथा–'भास्करस्य मधुमाधवाविव'। (रघु०११।७)

माधवी–वासन्ती लता। यथा–'पत्राणामिव शोषणेन मरुता स्पृष्टा लता माधवी'। (शा०३।१०)

मानस–मन से सम्बन्ध रखने वाला, मानसिक। यथा–'किं मानसी सृष्टिः'। (शा०४)

मानसरोवर–हिमालय के उत्तर में कैलास पर्वत के दक्षिण में यह सरोवर है। इसे स्वर्गीय सरोवर कहा गया है। (देखें–पूर्वमेघ०६२)

माया–कपट, धोखा, जादूगरी, इन्द्रजाल। यथा–'स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु'। (शा०६।७)

मायामृग–मिथ्याहरिण, छायामृग या भ्रमात्मक मृग।

मायूरी–मयूर से सम्बन्ध रखने वाली विद्या।

मारिष–नाटक में सूत्रधार द्वारा आदरपूर्वक प्रयुक्त एक सम्बोधन, आदरणीय, श्रद्धेय।

मारीच–सुन्द राक्षस तथा ताड़का का पुत्र, यह रावण की प्रेरणा से सुवर्णमृग बनकर सीता को ठगने गया था। इसका वध श्रीराम ने किया।

माल–बंगाल के दक्षिण-पश्चिम में स्थित एक जिले का नाम। यथा–'क्षेत्रमारुह्य मालम्'। (पूर्वमेघ०१६)

मालती–एक प्रकार का सफेद पंखुड़ियों वाला फूल, चमेली। यथा–'शिरसि वकुलमालां मालतीभिः समेताम्'। (ऋतु०२।२४)

मालव–मालवा, देश-विशेष का नाम, इसकी स्थिति मध्यभारत में है।

मालिनी—सुन्दर, झूलने वाली, एक छन्द का नाम, एक नदी, जो गढ़वाल जिले में बहती है। इसी के तट पर महर्षि कण्व का आश्रम था।

माल्यवान्—एक पर्वत, जो बम्बई के रत्नागिरि जिले में वर्तमान है। यथा—'एतद्गिरेर्माल्यवतः पुरस्तात्'। (रघु०१३।२६)

माहिष्मती—हैहयवंशीय राजाओं की परम्परागत राजधानी। यथा—'माहिष्मतीवप्रनितम्बकाञ्चीम्'। (रघु०६।४३)

मिथिला—विदेहराज की सुप्रसिद्ध राजधानी।

मीन—मछली। यथा—'मृतमीन इव ह्रदः'। (रघु०१।७३)

मुकुल—कली। यथा—'मुकुलजालमशोभत किंशुकैः'। (रघु०९।३१) 'आम्रस्य चूतमुकुलम्'। (शा०६।३) 'आविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्चानुकच्छम्'। (पूर्वमेघ०२२)

मुक्ता—मोती। इसकी उत्पत्ति अनेक स्रोतों से बतलायी गयी है। यथा—'करीन्द्रजीमूतवराहशङ्खमत्स्याहिशुक्त्युद्भववेणुजानि। मुक्ताफलानि प्रथितानि लोके तेषां तु शुक्त्युद्भवमेव भूरि'॥ (मल्लिनाथ)

मुग्धा—वह भोली-भाली नायिका जिसे अपनी जवानी का आभास न हो। यह स्वीया तथा परकीया भेद से दो प्रकार की कही गयी है। यथा—'मुग्धाम् तपस्विकन्याम्'। (शा०१।२५)

मुञ्ज—मूँज, एक प्रकार की घास, इसी की त्रिवृत्त के लिए मौञ्जी बनायी जाती है। धारापति राजा मुंज।

मुण्डन—चूड़ाकर्म संस्कार का दूसरा नाम। इसका क्रम इस प्रकार है—चूड़ाकर्म, कर्णवेध, अक्षरस्वीकार, उपनयन (यज्ञोपवीत)।

मुग्ध—भोला या मूर्ख। (देखें—कुमार०६।८१ तथा मालविका०१।२२)

मुरला—केरल देश से बहने वाली एक नदी। यथा—'मुरलामारुतोद्धूतमगमत् कैतकं रजः'। (रघु०४।५५)

मुष्टि—मुट्ठी। यथा—'निविडोऽपि मुष्टिः'। (रघु०७।५८) 'श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति'। (शा०४।१४)

मुस्ता—मोथा या नागरमोथा। यथा—'विश्रब्धं क्रियतां वराहततिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले'। (शा०२।६; रघु०९।५९)

मूर्च्छना—मूर्च्छित या बेहोश होना। संगीत में २१ प्रकार की मूर्च्छनाएँ होती हैं। यथा—'मूर्च्छनां विस्मरन्ती'। (उत्तरमेघ०२६)

मूलप्रकृति—सांख्यों का प्रधान या प्रकृति।

मृगया—शिकार (मृग आदि) का पीछा करना। यथा—'मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः'। (शा०२।५)

मृणाल—कमल की तन्तुमय जड़। यथा—'पूर्वं मृणालमिव राजहंसी'। (विक्रम०१।१० तथा ३।१३; ऋतु०१।१९)

मृदङ्ग—ढोल, मृदंग या डफली।

मृन्मय—मिट्टी का बना हुआ। यथा—'स मृन्मये वीतहिरण्मयत्वात्'। (रघु०५।२)

मेघनाद—इसके पिता का नाम रावण था। यह मेघ के समान गरजता था।

मेनका—एक अप्सरा, शकुन्तला की माता।

मेना—हिमालय की पत्नी का नाम। यथा—'मेनां मुनीनामपि माननीयाम्'। (कुमार०१।१८)

मैथिल—मिथिला का राजा। यथा—'तं न्यमन्त्रयत सम्भृतक्रतुर्मैथिलः'। (रघु०११।३२)

मैनसिल—देखें—मनःशिला।

मैनाक—हिमालय और मेना का पुत्र, जो इन्द्र के वज्र से डर कर समुद्र में छिप गया था।

मोक्ष—स्वतन्त्र करना, मुक्त करना। यथा—'लङ्कामोक्षान्तरमेयात्'। (रघु०१३।२०)

मोघ—असफल, निष्फल। यथा—'याच्ञा मोघा वरमधिगुणे'। (पूर्वमेघ०६)

'य'

यक्ष—एक देवयोनि-विशेष, जो देवताओं के धनाध्यक्ष कुबेर के सेवक हैं।

यजमान—नियमित रूप से यज्ञ करने वाला। शिवजी की आठ मूर्तियों में से एक।

यज्ञ—याग, मख, अध्वर, सवन। इसके पाँच भेद होते हैं—१. भूतयज्ञ, २. मनुष्ययज्ञ, ३. पितृयज्ञ, ४. देवयज्ञ तथा ५. ब्रह्मयज्ञ। इन्हें 'पञ्चमहायज्ञ' कहते हैं।

यज्ञशाला—वह घर जिसके भीतर प्रतिदिन यज्ञ किया जाता है।

यज्ञोपवीत—जनेऊ तथा यह एक संस्कार-विशेष भी है, जो द्विजातियों का किया जाता है।

यदृच्छा–अपनी इच्छा, स्वतन्त्रता, संयोगवश। यथा–'वशिष्ठधेनुश्च यदृच्छयाऽऽगता'। (रघु०३।४२) 'यदृच्छया किम्पुरुषाङ्गनानाम्'। (कुमार०१।१४; विक्रम०१।१०)

यम–सभी इन्द्रियों के साथ मन को अपने वश में किये रहना, इसी को 'संयम' भी कहते हैं। पाप-पुण्य का विचार कर दण्ड देने वाला यमराज, इसी को धर्मराज भी कहते हैं।

यमराज–देखें–यम।

यमुना–एक प्रसिद्ध नदी, जो यमराज की वहन मानी जाती है। यह सूर्य की कन्या है। (देखें–पूर्वमेघ५१)

ययाति–नहुष राजा का पुत्र, ये चन्द्रवंशी राजा थे। इनकी स्त्री देवयानी शुक्राचार्य की पुत्री थी।

यवन–ग्रीस या यूनान देश का निवासी, मुसलमान।

यवनिका–यवनस्त्री, जवनिका, पर्दा।

युवराज–राज्य का उत्तराधिकारी राजा का पुत्र।

यूथिका–जूही, एक प्रकार की चमेली। (देखें–विक्रम०४।२४; पूर्वमेघ०२६)

योग–चित्तवृत्तियों का निरोध करना। इसके आठ भेद होते हैं।

योगनिद्रा–युग की समाप्ति में विष्णु की निद्रा का नाम, अर्धनिद्रित अवस्था, अर्धचिन्तन, लघुनिद्रा।

योगवल–भक्ति की शक्ति, भावचिन्तन की शक्ति, अलौकिक शक्ति।

यौतक–'युते विवाहकाले समधिगतं वित्तादिकम्'। विवाह के अवसर पर कन्या को उपहार में दिया गया धन, यौतक या यौतुक।

'र'

रंह–वेग। यथा–'न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः'। (रघु० २।३४)

रघु–एक प्रसिद्ध सूर्यवंशी राजा दिलीप का पुत्र।

रजोगुण–प्रसिद्ध तीन गुणों में से एक, धूल। 'रजो रागात्मकं विद्धि'। (गीता)

रति–प्रेम, आनन्द, सन्तोष, कामदेव की पत्नी।

रन्तिदेव–चन्द्रवंशी सुप्रसिद्ध राजा, भरत के वाद छठी पीढ़ी में इनका जन्म हुआ था। इनके द्वारा यज्ञ में वलि दिये पशुओं के रक्त से जो नदी निकली उसीका नाम 'चर्मण्वती' नदी है।

रन्ध्रम्–छेद, विवर, खाई, दरार। यथा–'रन्ध्रेष्विवालक्ष्य नभःप्रदेशाः'। (रघु०१३।५६)

रस–सार, जल, आयुर्वेद में छः रस, साहित्य में आठ या नौ रस। यथा–'सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः'। (रघु०१।१९)

रसायन–जरा, व्याधि नाशक औषध-विशेष।

राक्षस–दैत्य, राक्षस, पिशाच, निशाचर, भूत, प्रेत, वेताल, दानव।

राग–वर्ण, रंग, रंगने की वस्तु। यथा–'अधरः किसलयरागः'। (शा०१।२१)

राजन्य–राजकीय व्यक्ति, क्षत्रिय जाति का पुरुष। यथा– 'राजन्यान् स्वपुरनिवृत्तयेऽनुमेने'। (रघु०४।८७)

राजन्वत्–राजा से युक्त। यथा–'राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्'। (रघु०६।२२)

राजराज–कुवेर, शिवजी का मित्र, देवताओं का खजांची।

राजहंस–हंस, मराल। यथा–'सम्पत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः'। (पूर्वमेघ०११)

राज्याभिषेक–राजा का राजतिलक या सिंहासनारोहण।

रामगिरि–एक पहाड का नाम, जिसे चित्रकूट पर्वत कहते हैं। यथा–'स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु'। (पूर्वमेघ०१)

रावण–विश्रवा तथा कैकसी का पुत्र, लंका का राजा, सवको रुलाने वाला। इसका वध श्रीराम ने किया। (देखें–रघु०१२।८७)

राशि–राशियाँ वारह होती हैं। यथा–'मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ, मीन।

रुद्र–भयानक, डरावना, शिव। इनकी संख्या ११ है।

रुद्राक्ष–एक वृक्ष, इसी के फलों को रुद्राक्ष कहते हैं। शिवभक्तों को इसकी माला धारण करनी चाहिए। इसको धारण करने से हृदयरोग शान्त होता है।

रुरु–मृगविशेष, इसे कस्तूरी मृग भी कहते हैं।

रेवती–२७ नक्षत्रों में अन्तिम नक्षत्र, वलराम की पत्नी।

रेवा–नर्मदा नदी का नाम। यह विन्ध्य के पूर्व में स्थित मेकल पर्वत (अमरकंटक) से निकलने वाली नदी है। इसका विस्तार ८०० कोस माना जाता है। (देखें–रघु०६।४३ तथा पूर्वमेघ०२०)

रोहित–लाल रंग, मछली की एक जाति 'रोहू'।

रौरव–रुरु मृग के चर्म से वना हुआ। यथा–'त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवीम्'। (रघु०३।३१)

'ल'

लकार–व्याकरणशास्त्र के अनुसार दस लकार होते हैं, उनमें पाँचवा 'लेट्' लकार वेद में प्रयुक्त होता है। इनके प्रयोग कालभेद के अनुसार होते हैं।

लक्षण–चिह्न, निशानी, संकेत। यथा–'वधूदुकूलं कलहंसलक्षणम्'। (कुमार०५।६७)

लक्ष्मी–सौभाग्य, समृद्धि, विष्णुप्रिया, आभा, कान्ति। यथा–'मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति'। (शा०१।२०)

लक्ष्य–देखने योग्य दृश्य, संकेतित। यथा–'प्रवेपमानाधरलक्ष्यकोपया'। (कुमार०५।७४)

लङ्का–यह रावण की राजधानी थी। यह स्थान भारत के दक्षिण में श्रीलंका नाम से सुविदित है।

लभ्य–प्राप्त होने के योग्य। यथा–'प्रांशुलभ्ये फले लोभाद्'। (रघु०१।३)

ललित–प्रिय, सुन्दर, प्रांजल। यथा–'विधाय सृष्टिं ललितां विधातुः'। (रघु०६।३७)

लव–सीता-राम के युगल पुत्रों में से एक।

लवणासुर–मधु का पुत्र, इस नाम का एक असुर। इसका वध शत्रुघ्न ने किया था।

लवली–एक प्रकार की लता। इसके फल को 'हरफ़ारेवड़ी' कहते हैं।

लास्य–नाचना, नृत्य। यह गीत वाद्य के साथ किया जाता है। इसकी जन्मदात्री पार्वतीजी को माना गया है।

लोक–संसार, भुवन। यथा–'स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः'। (शा०५।७)

लोकपाल–आठों दिशाओं के अलग-अलग लोकपाल होते हैं।

लोकालोक–काल्पनिक पर्वत, जो इस पृथ्वी को घेरे हुए हैं। इनके आगे घोर अन्धकार है, इस ओर प्रकाश है। यथा–'प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकालोक इवाचलः'। (रघु०१।६८)

लोध्र–यह लोध तथा पठानीलोध के भेद से दो प्रकार का होता है। यथा–'लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम्'। (रघु०२।२९)

लोपामुद्रा–विदर्भराज की कन्या अगस्त्यमुनि की पत्नी।

लौहित्य–इसी नदी को ब्रह्मपुत्र भी कहते हैं। यथा–'चकम्पे तीर्णलौहित्ये तस्मिन् प्राग्ज्योतिषेश्वरः'। (रघु०४।८१)

'व'

वंश–कुलपरम्परा। यथा–'क्व सूर्यप्रभवो वंशः'। (रघु०१।२)

वज्र–दधीचि की अस्थियों से वनाया गया एक अस्त्र। यथा–'आशंसन्ते समितिषु सुराः सक्तवैरा हि दैत्यैरस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरुहूते च वज्रे'। (शा०२।१५)

वडवानल–समुद्र के भीतर रहने वाली अग्नि।

वत्स–प्रयाग के चारों ओर की भूमि, जिसकी राजधानी प्रतिष्ठानपुरी थी, जिसे आजकल झूंसी कहते हैं।

वत्सतर–वछड़े से अवस्था में कुछ वड़ा। यथा–'महोक्षतां वत्सतरः स्पृशन्निव'।(रघु०३।३२)

वत्सराज–वत्स देश का राजा 'उदयन'।

वदान्य–वाग्मी, वोलने में कुशल, उदार दाता। यथा–'गतो वदान्यान्तर इत्ययं मे माभूत्परीवादनवावतारः'। (रघु०५।२४)

वनायु–अरव देश, जहाँ के घोड़े प्रसिद्ध होते हैं। यथा–'निद्रां विहाय वनजाक्ष ! वनायुदेश्याः'। (रघु०५।७३)

वन्दी–सूत, मागध, भाट आदि, जो अपने राजा की स्तुति किया करते हैं।

वप्रक्रीडा–दुर्गप्राचीर, मिट्टी की दीवाल। यथा–'स वेलावप्रवलयाम्'। (रघु०१।३०)

वरतन्तु–कौत्स के गुरु, जिन्होंने शिष्य के दुराग्रह से क्रुद्ध होकर १४ करोड स्वर्णमुद्राएँ गुरुदक्षिणा में माँगी थीं।

वरदा–हिमालय से निकली हुई एक नदी, जिसके तट पर अठारह भुजाओं वाली देवी की मूर्ति विराजमान है।

वराह–भगवान् विष्णु का तीसरा अवतार, जिसने समुद्र में डूवी हुई पृथ्वी का उद्धार किया था।

वर्ण–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र भेद से ये चार होते हैं।

वर्णमाला–इसमें स्वर तथा व्यञ्जनों का संग्रह होता है।

वल्कल–चीर, वल्कल। ये पेड़ की छाल के वनाये जाते थे, जिन्हें ऋषि-मुनि धारण करते थे।

वल्मीक–'सातपो मेघः'। 'भुवः प्रभवः' सूत्र के जागदीशी व्याख्यान में तथा दशम शती के काश्मीरी विद्वान् वल्लभदेव ने मेघदूत पर अपनी टीका में इस अर्थ का प्रयोग किया है। यथा–'वल्मीकाग्रात् प्रभवति धनुः खण्डमाखण्डलस्य'। (पूर्वमेघ०१५)

वशिष्ठ–सूर्यवंशीय राजाओं के कुल-पुरोहित, अनेक वैदिक सूक्तों के द्रष्टा, वशिष्ठस्मृति के रचयिता।

वषट्–किसी देवता को आहुति देते समय उच्चारण किया जाने वाला शब्द। यथा–'इन्द्राय वषट्'। ऐसे ही शब्द और भी है–श्रौषट्, वौषट् तथा स्वाहा।

वसन्तोत्सव–वसन्त ऋतु (चैत-वैशाख) में मनाया जाने वाला उत्सव। यथा–'सर्व प्रियं चारुतरं वसन्ते'। (ऋतु०६।२)

वानीर–एक प्रकार का वेत। यथा–'स्मरामि वानीर-गृहेषु सुप्तः'। (रघु०१३।३५)

वामन–विष्णु का पाँचवाँ अवतार।

वायव्यास्त्र–मन्त्र द्वारा चलाया गया अस्त्र। यथा–'सोऽस्त्रमुग्रजवमस्त्रकोविदः सन्दधे धनुषि वायुदैवतम्' ॥ (रघु०११।२८) इसके प्रभाव से बड़ी जोर की आँधी चलती है।

वारुणास्त्र–मन्त्र द्वारा चलाया हुआ यह अस्त्र घोर जल-वर्षा कर देता है।

वार्त्ता–खेती, वैश्य का व्यवसाय। यथा–'ते सेतु-वार्त्तागजबन्धमुख्यैरभ्युच्छ्रिताः कर्मभिरप्यवन्ध्यैः'। (रघु०१६।२)

वाल्मीकि–रामायण के रचयिता आदिकवि, प्रचेता ऋषि के वंश में उत्पन्न दसवें पुरुष। इनका आश्रम तमसा तट पर था।

वासवदत्ता–अवन्ती नगरी के राजा चंडप्रद्योत की कन्या, जिसे वत्सराज उदयन हर ले गया था। यथा–'प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे'। (पूर्वमेघ०३५)

वासुकि–इसके पिता का नाम कश्यप, माता का नाम कद्रू था। (देखें–कुमार०२।३८।)

वास्यति–वहेगा। यथा–'नीचैर्वास्यत्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णा' ॥ (पूर्वमेघ०४६)

विक्रम–शूरता, नायक की वहादुरी। यथा–'अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः'। (विक्रम०१; रघु०१२।८७)

विजयादशमी–आश्विन शुक्ल पक्ष की दशमी, राजाओं की दिग्विजय यात्रा का प्रसिद्ध शुभदिन।

विदर्भ–एक देश का नाम, जहाँ की वैदर्भी रीति प्रसिद्ध है। वर्तमान में इसे 'बरार' कहते हैं।

विदिशा–यह दशार्ण देश की राजधानी है। (देखें–पूर्वमेघ२४) इसे 'भिलसा' भी कहते हैं।

विदूरभूमि–जिस भूमि पर वैदूर्य मणि उत्पन्न होते हैं। यथा– 'सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी'। (रघु०१३।४८) 'विदूरभूमिर्नवमेघशब्दादुद्भिन्नया रत्नशलाकयेव'। (कुमार०१।२४)

विद्याधर–देवयोनि-विशेष, जिसके अन्तर्गत गन्धर्व, किन्नर आदि आते हैं।

विन्ध्याचल–भारतवर्ष के अन्तर्गत पूरव से पश्चिम तक फैली हुई पर्वतशृंखला।

विराध–एक वलवान् राक्षस। इसे लक्ष्मण ने मारा था। इसके माता-पिता का नाम शतह्रदा तथा सुपर्जन्य था।

विल–उच्चैःश्रवा घोड़ा।

विवर्ण–विना रंग का, निष्प्रभ, फीका। यथा–'नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः'। (रघु०६।६७)

विशाखा–२७ नक्षत्रों में से १६वाँ नक्षत्र। इसके स्वामी इन्द्र और अग्नि हैं।

विशाला–समृद्ध, भरीपूरी। यथा–'श्रीविशालां विशा-लाम्'। (पूर्वमेघ०३२)

विश्राणन–देना, समर्पित करना, दान देना। यथा–'विश्राणनाच्चान्यपयस्विनीनाम्'। (रघु०२।५४)

विश्राणित–दिया गया, अर्पित किया गया। यथा–'निःशेषविश्राणितकोषजातम्'। (रघु०५।१)

विश्व–सम्पूर्ण, दस देवों का समूह। यथा–वसु, सत्य, क्रतु, दक्ष, काल, काम, धृति, कुरु, पुरूरवा, माद्रव, विश्वेदेव। देखें–आप्टे का कोश।

विश्वकर्मा–देवता का शिल्पी, शिल्पशास्त्र के आविष्कारक।

विश्वजित्–यज्ञ का नाम, इस यज्ञ में राजा अपना सर्वस्व ब्राह्मणों को दक्षिणा में दे देता है। यथा–'तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशं निःशेषविश्राणितकोष-जातम्'। (रघु०५।१)

विश्वामित्र–एक सुप्रसिद्ध ऋषि। ये कन्नौज के राजा थे। इनके पिता का नाम गाधि था।

विश्वावसु–अमरावती के निवासी एक गन्धर्व का नाम।

विष्कम्भक–अवरोध, रुकावट, नाटकों के अंकों के प्रारम्भ में संक्षेप में जो विषय कहा जाता है, उसे विष्कम्भक कहते हैं। यह शुद्ध तथा मिश्र भेद से दो प्रकार का होता है।

विष्णु–तीन देवताओं में से एक। ये पालन के प्रतिनिधि देव हैं।

विस्तार–फैलाव। यथा–'विलोकयन्त्यो वपुरापुरक्ष्णां प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः'। (रघु०२।११) 'मध्ये श्यामस्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः'। (पूर्व-मेघ०१८)

वीणा–सारंगी, वीणा। नारद की वीणा का नाम 'महती' है।

वीरासन–योगाभ्यास करते समय एक विशेष मुद्रा। वीर पुरुष धनुष-वाण चलाते समय इस आसन का प्रयोग करते हैं।

वेतस्–नरसल, नरकुल, वेत। यथा–'वेतसगूढं प्रभवं सः'। (रघु० ९।७५)

वेत्र–वेत, नरसल, छड़ी। यथा–'वामप्रकोष्ठार्पित-हेमवेत्रः'। (कुमार०३।४१)

वेत्रवती–एक नदी का नाम। वेतवा नदी, जो मालवा से निकलकर कालपी के पास यमुना में मिलती है।

वेद–ऋक्, यजुः, साम एवं अथर्व नाम से ये प्रसिद्ध हैं। इन्हीं को 'श्रुति' भी कहते हैं।

वेदाङ्ग–शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्यौतिष। ये छः होते हैं।

वेदान्ती–वेदान्त को जानने वाला। छः दर्शनों में अन्तिम दर्शन। वेदान्तदर्शन का अनुयायी।

वेदी–यज्ञ के लिए स्वच्छ एवं परिष्कृत भूमि। जिसकी चौड़ाई तथा लम्बाई का मान निर्धारित होता है।

वेलानिल–लहरों की हवा। यथा–'वेलानिलाय प्रसृता भुजङ्गाः'। (रघु०१३।१२)

वैखरी–कण्ठ से निकलने वाली वाणी, जो स्पष्ट रूप में सुनायी देती है।

वैजयन्ती–माला, हार। इसकी लम्बाई घुटनों तक होती है। इस माला को भगवान् विष्णु धारण करते हैं।

वैतसीवृत्ति–विनम्रभाव। यथा–'आत्मा संरक्षितः सुह्मैर्वृत्तिमाश्रित्य वैतसीम्'। (रघु०४।३५)

वैतालिक–भाट, चारण, जादूगर, वाजीगर, वेताल का भक्त।

वैदूर्य–विदूर भूमि में पैदा होने वाला, वैदूर्य मणि। (देखें–कुमार०७।१०) इसे वोलचाल में लहसुनिया कहते हैं। केतुग्रह की वाधा को दूर करने के लिए इसे धारण करते हैं। कोषकारों ने इसे 'नीलम' भी कहा है, जो विचारणीय है।

वैयाकरण–व्याकरणशास्त्र का ज्ञाता।

वैवस्वत–विवस्वत मनु का पुत्र, सातवाँ मनु, जो वर्तमान युग का अधिष्ठाता है। यथा–'वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम्'। (रघु०१।११)

वैष्णव–विष्णु सम्वन्धी, विष्णुभक्त। (देखें-रघु०११।८५)

व्यूढ–फुलाया हुआ, विकसित, विशाल। यथा–'व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः'। (रघु०१।१३)

व्यूह–सैनिक-विन्यास, सेना-दल, टुकड़ी। यथा–'व्यूहावुभौ तावितरेतरस्मात्'। (रघु०७।५४)

व्रत–भक्ति या साधना का धार्मिक कृत्य, प्रतिज्ञा, पण। यथा–'अभ्यस्यतीव व्रतमासिधारम्'। (रघु०१३।६७)

व्रीड–लज्जा। यथा–'व्रीडमावहति मे स सम्प्रति'। (रघु०११।७३) तथा–'व्रीडादमुं देवमुदीक्ष्य मन्ये'। (कुमार०७।६७)

'श'

शंस–प्रशंसा करना, स्तुति करना, कहना। यथा–'न मे ह्रिया शंसति किञ्चिदीप्सितम्'। (रघु०३।५)

शकार–राजा की रखैल का भाई अर्थात् राजा की उस स्त्री की सन्तान, जिससे विधिवत् विवाह न किया गया हो।

शकुन–सगुन, शुभ-अशुभ वतलाने वाला लक्षण।

शकुन्तला–महर्षि विश्वामित्र तथा मेनका की सन्तान। इसका गान्धर्व विवाह राजा दुष्यन्त के साथ हुआ, इनका पुत्र 'भरत' था।

शक्ति–वल, योग्यता। यथा–'ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ'। (रघु०१।२२) एक अस्त्र-विशेष जिसे वर्छी कहते हैं। 'ततो विभेद पौलस्त्यः शक्त्या वक्षसि लक्ष्मणम्'। (रघु०१२।७७)

शक्रावतार–गंगा के तट पर वह तीर्थस्थान जहाँ शकुन्तला की अँगूठी गिरी थी।

शची–इन्द्राणी, इन्द्रपत्नी, यह दानवराज पुलोम की कन्या थी, अतएव इसे 'पौलोमी' कहते हैं।

शतघ्नी–'शतघ्नी च चतुस्ताला लोहकण्टकसञ्चिता'। अथवा–'अयःकण्टकसञ्छन्ना शतघ्नी महती शिला'। (रघु०१२।९५)

शब्दवेधी–शब्द सुनकर अदृश्य निशाना लगाने वाला। यथा–'शब्दपातिनमिषुं विससर्ज'। (रघु०९।७३)

शमी–एक वृक्ष, जिसकी पत्तियों को मिलाकर वधू लाजा होम करती है। इस वृक्ष के भीतर आग रहती है। यथा–'शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम्'। (रघु०३।९) तथा 'अग्निगर्भा शमीमिव'। (शा०४।२)

शम्बूक–अनधिकार तपस्या करता हुआ एक शूद्र, जिसका वध श्रीराम ने किया। यथा–'आत्मानं शम्बुकं नाम शूद्रं सुरपदार्थिनम्'। (रघु०१५।५०)

शरण्य–रक्षा करने के योग्य, शरण देने वाला। यथा–'असौ शरण्यः शरणोन्मुखानाम्'। (रघु०६।२१)

शरद्–ऋतु-विशेष, आश्विन-कार्तिक का मौसम। यथा–'यात्रायै चोदयामास तं शक्तेः प्रथमं शरद्'। (रघु०४।२४)

शरभ–आठ पैरों वाला एक प्राणी, जो सिंहघाती होता है। यथा–'शरभकुलमजिह्मं प्रोद्धरत्यम्बुकूपात्'। (ऋतु०१।२३)

शरभंग–श्रीराम ने वनवास काल में इनका दर्शन आश्रम में जाकर किया।

शर्मिष्ठा–महाराज ययाति की पत्नी।

शल्लकी–चीड का पेड़, जिसके तना में से छिलके (वल्कल) निकलते रहते हैं।

शस्त्र–आयुध, हथियार। यथा–'न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति'। (रघु०२।४०)

शस्त्री–असिपुत्री, छुरिका, छुरी, चाकू। यथा–'शस्त्र्या युयुधतुः कौचित्'। (कुमार०१६।४५)

शातकर्णि–इन्होंने पञ्चाप्सर के तट पर तप किया था, तपस्या काल में ये घास चरा करते थे।

शान्तिजल–यज्ञ, पूजन आदि के अन्त में जो कलशोदक पुरोहित द्वारा यजमान-परिवार के ऊपर छिड़का जाता है।

शाप–फटकार, अवक्रोश। यथा–'शापेनास्तङ्गमित-महिमा वर्षभोग्येण भर्तुः'। (पूर्वमेघ०१)

शार्ङ्ग–सींग से बना हुआ धनुष। इसे विष्णु भगवान् धारण करते हैं, अतएव उन्हें 'शार्ङ्गधन्वा' कहते हैं।

शाल–एक बहुत लम्बा वृक्ष। यथा–'शालप्रांशुः'। (रघु०१।१३ तथा १।३८)

शाल्मली–सेमल का पेड़, पाताल लोक की एक नदी, एक नरक का नाम।

शास्त्र–धार्मिक ग्रन्थ, वेद, धर्मशास्त्र। यथा–'शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिः'। (रघु०१।१९)

शितिकण्ठ–शिव का विशेषण। यथा–'तस्यात्मा शितिकण्ठस्य सैनापत्यमुपेत्य वः'। (कुमार०२।६१)

शिप्रा–शिप्र नामक सरोवर से निकली एक नदी, जिसके तट पर उज्जयिनी नगरी बसी हुई है। यथा–'शिप्रा-वातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः'। (पूर्वमेघ०३३)

शिरीष–सिरस का फूल। यह अपनी सुगन्ध तथा सुकोमलता से महाकवि कालिदास एवं परवर्ती समस्त कवियों को अत्यन्त प्रिय है। (देखें–रघु०१६।४८; कुमार०१।४१ आदि)

शिल–ऋषि-मुनियों की एक वृत्ति (आजीविका प्रकार) का नाम है। ऐसा ही एक नाम और है–'उञ्छ'। इनमें क्रमशः बालें तथा अन्नकणों को बीन कर आजीविका की जाती है।

शिलाजीत–इसी को 'शिलाजतु' भी कहा जाता है। यह पत्थरों से निकलने वाली गोंद है। आयुर्वेद में इसे रसायन कहा है।

शिशिरदीधिति–चन्द्रमा। यथा–'शिशिरदीधितिना रजन्यः'। (ऋतु०३।२)

शुक्र–नवग्रहों में से एक, दैत्यगुरु, इसकी अनुकूल स्थिति होने पर पुरुष में कवित्व शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इन्हीं को 'शुक्राचार्य' भी कहते हैं।

शुभंयु–मंगलमय, भाग्यशाली। यथा–'अधिकं शुशुभे शुभंयुना'। (रघु०८।६)

शूरसेन–मथुरा के समीप में स्थित एक देश। यथा–'सा शूरसेनाधिपतिं सुषेणम्'। (रघु०६।४५)

शूर्पणखा–रावण की बहन, विश्रवा-कैकसी की पुत्री, श्रीराम के संकेत से लक्ष्मण ने इसको कुरूप बनाया।

शूली–इस पर चढ़ाकर अपराधियों को प्राणदंड दिया जाता था।

शृङ्गबेरपुर–प्रतापगढ़ जिला के अन्तर्गत सिंगरौरा नामक एक गाँव है। यह प्रयाग के उत्तर-पश्चिम की ओर १८ मील दूर गंगा के तट पर बसा है। (देखें–उत्तर०१।२१)

शृङ्गार–प्रणयरस, कामोन्माद, रतिरस। साहित्यिक रसों में इसे प्रथम स्थान प्राप्त है। यह 'सम्भोग' तथा 'विप्रलम्भ' भेद से दो प्रकार का होता है।

शेफालिका–इसके पर्याय–निर्गुण्डी, मेवड़ी, सिंवाली, नीलिका, सिंधुवार।

शेषनाग–एक सुप्रसिद्ध नाग, जिसकी हजार फणों का वर्णन मिलता है। इसी की शय्या पर भगवान् विष्णु देवशयनी से प्रबोधिनी एकादशी तक चार मास शयन करते हैं। यही सम्पूर्ण पृथ्वी के भार को अपने फणों पर उठाये रखता है।

शेषशय्या–देखें–शेषनाग।

श्येन–बाज पक्षी।

श्राद्ध–मृत पितरों के निमित्त उनकी मृत्युतिथि पर किया गया दानादि कर्म।

श्रीवत्स–विष्णु का विशेषण। विष्णु की छाती पर भृगुलाञ्छन या दक्षिणावर्त भौंरी का चिह्न।

श्लाघा–प्रशंसा, स्तुति, सराहना। यथा–'त्यागे श्लाघाविपर्ययः'। (रघु०१।२२)

श्लेष्मातक–लिसोड़े का पेड़ तथा फल।

'ष'

षड्ज–सात स्वरसमूह में चौथा स्वर। यथा–निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड्ज, मध्यम, धैवत।

षाड्गुण्य–राजा द्वारा प्रयुक्त राजनीति के छः उपाय तथा उनका प्रयोग करना।

षाण्मातुर–छः माताओं का पुत्र 'कार्तिकेय'।

'स'

संस्कार–शारीरिक अशुद्धि को दूर करने का उपाय। शास्त्रों के अनुसार १६ संस्कार होते हैं।

सगर–विषैला, विषयुक्त, एक सूर्यवंशी राजा, कपिल मुनि के शाप से इनके साठ हजार पुत्र भस्म हुए थे।

सञ्जीवनी–जिला देने वाली औषधि। एक विद्या, जिससे मृत पुरुष पुनः जीवित हो जाता है। इसके ज्ञाता शुक्राचार्य थे।

सत्त्वगुण–सत्त्व, रजस्, तमस् तीन गुणों में से प्रथम। सत्त्वगुणी पुरुष साधुस्वभाव वाला होता है।

सन्धि–व्याकरण के नियमानुसार की गयी सन्धि। नाटक की पाँच सन्धियाँ–१. मुख, २. प्रतिमुख, ३. गर्भ, ४. विमर्श, ५. निर्वहण।

सन्निपात–एक साथ मिलना। यथा–'धूमज्योतिः-सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः'। (पूर्वमेघ०५) वात, पित्त, कफ दोषों का मिलना।

संन्यास–छोड़ना, त्यागना, वैराग्य, सांसारिक वस्तुओं तथा वासनाओं का परित्याग।

सप्तपर्ण–सप्तच्छद, सप्तपत्र, छतिवन, एक वृक्ष का नाम, जिसकी गोंद से हाथी के मद की-सी गन्ध आती है।

सप्तर्षि–कश्यप, अत्रि, भरद्वाज, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि, वसिष्ठ तथा अरुन्धती।

समिधा–यज्ञीय समिधाएँ (लकड़ियाँ)। (देखें–कुमार०१।५७ तथा ५।३३)

समुद्र–सागर या महासागर, चार की संख्या।

सम्पाति–एक पक्षी, गरुड़ का पुत्र, जटायु का बड़ा भाई। इसी ने हनूमान्‌जी को सीता लंका में है, यह बतलाया था।

सम्पृक्त–एकीकृत, मिश्रित, संयुक्त। यथा–'वागर्थाविव सम्पृक्तौ'। (रघु०१।१)

सम्मोहन–अस्त्र-विशेष, जिसे चलाने से सब जड़वत् हो जाते हैं। शापवश गजरूपधारी प्रियंवद नामक गन्धर्व ने राजा अज के बाण से मरकर पुनः अपना रूप धारण किया; तब उसने प्रसन्न होकर अज को मन्त्र सहित यह अस्त्र दिया। इसे चलाने और वापिस बुलाने के अलग-अलग मन्त्र थे। (देखें–रघु०५।५९ तथा कुमार०३।३६)

सरघा–मधुमक्खी। यथा–'तस्तार सरघाव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव'। (रघु०४।६३)

सरस्वती–वाणी और ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी, ब्रह्मा की पत्नी। यथा–'उच्चचार पुरस्तस्य गूढरूपा सरस्वती'। (रघु०१५।४६ तथा पूर्वमेघ०४९)

सर्ज–साल का वृक्ष, सर्जरस, साल की राल।

सहस्रबाहु–राजा कार्तवीर्य का विशेषण।

सह्य–सात प्रधान पर्वतश्रेणियों में एक, समुद्र से कुछ दूरी पर पश्चिमी घाट का कुछ भाग। यथा–'रामास्त्रोत्सारितोऽप्यासीत् सह्यलग्न इवार्णवः'। (रघु०४।५३)

सांयुगीन–युद्ध सम्बन्धी, रणकुशल। यथा–'सांयुगीनमभिनन्द्य विक्रमम्'। (रघु०११।३०)

सारङ्ग—चितकवरा, रंग-विरंगा, चित्रमृग, कुरंग। यथा-'एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा'। (शा०१।५ तथा पूर्वमेघ०२२)

सारस—सरोवर सम्वन्धी, हंस। यथा-'सारसैः कल-निह्लदैः क्वचिदुन्नमिताननौ'। (रघु०१।४१)

सारिका—एक पक्षी, जिसे 'मैना' कहते हैं। यथा-'सारिकां पञ्जरस्थाम्'। (उत्तरमेघ०२५)

साहित्य—विद्वानों द्वारा समय-समय पर लिखित विविध प्रकार का वाङ्मय।

सिञ्जित—झनकार, झनझनाहट। यथा-'आदित्सु-भिर्नूपुरसिञ्जितानि'। (कु०१।३४)

सिद्धि—इनकी संख्या आठ है। यथा-१. अणिमा, २. महिमा, ३. लघिमा, ४. गरिमा, ५. प्राप्ति, ६. प्राकाम्य, ७. ईशित्व तथा ८. वशित्व।

सिन्धु—समुद्र, सिंधु नदी के चारों ओर का देश, मालवा में वहने वाली एक नदी का नाम।

सिन्धुवार—देखें-शेफालिका।

सुग्रीव—वाली का भाई, वानरों का राजा।

सुतीक्ष्ण—एक ऋषि का नाम। जिनका दर्शन वनवास काल में श्रीराम ने किया था। यथा-'नाम्ना सुतीक्ष्णश्चरितेन दान्तः'। (रघु०१३।४१)

सुप्रतीक—ईशानकोण का दिग्गज।

सुबाहु—मारीच का भाई। यह ताड़का के साथ राम से लड़ने के लिए गया था।

सुमन्त्र—राजा दशरथ के सारथी। वनवास के समय श्रीराम, लक्ष्मण तथा सीता को रथ पर वैठाकर ये ही छोड़ने आये थे।

सुमित्रा—राजा दशरथ की पत्नी, लक्ष्मण-शत्रुघ्न की माता।

सुमेरु—इसी नाम से प्रसिद्ध एक पर्वत, माला के ऊपरी छोर पर गुँथा हुआ मणि।

सुलोचना—रावणपुत्र मेघनाद की पत्नी, यह पतिव्रता थी।

सुह्म—एक राष्ट्र-विशेष का नाम, जिसकी स्थिति सम्प्रति वंगाल के आगे है। यथा-'आत्मा संरक्षितः सुह्मैर्वृत्तिमाश्रित्य वेतसीम्'। (रघु०४।३५)

सूत—सूत, मागध, वन्दी, सारथी। क्षत्रिय पुरुष से व्राह्मण स्त्री में उत्पन्न पुरुष को 'सूत' कहते हैं।

सूतिकागृह—जच्चाघर, प्रसूतिगृह।

सूत्रधार—नाटक का सञ्चालन करने वाला।

सूर्य—सूरज। यथा-'सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा'। (रघु०५।१३)

सूर्यकान्त—एक प्रकार का मणि, जिसे विल्लौरी पत्थर कहते हैं।

सेतु—पुल, ऊँचा मार्ग, वाँध। यथा-'नलिनीं क्षत-सेतुवन्धनः'। (कुमार०४।६) तथा 'मत्सेतुना फेनिलमम्वुराशिम्'। (रघु०१३।२)

सोमतीर्थ—कन्नड देश के पिण्डपुरी के पास यह तीर्थ है। यहाँ 'सोम' ने तपस्या की थी।

स्कन्द—देखें-कार्तिकेय।

स्थण्डिल—यज्ञ के लिए चौकोर किया हुआ भूखंड, वेदी। 'निषेदुषी स्थण्डिल एव केवले'। (कुमार०५।१२)

स्फटिक—विल्लौर, काचमणि। यह मणि पारदर्शक होता है।

स्फ्य—यज्ञों में प्रयुक्त होने वाला तलवार के आकार का एक काष्ठ का उपकरण।

स्मय—आश्चर्य, अचम्भा, घमंड, गर्व। यथा-'तस्मै स्मयावेशविवर्जिताय'। (रघु०५।१९)

स्मृति—याद, प्रत्यास्मरण। यथा-'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः'। (तर्कसंग्रह)

स्रुव—यज्ञ के लिए निर्मित लकडी का चमचा।

स्वगत—मन ही मन मे कही जाने वाली वार्ता।

स्वधा—मृत पितरों के निमित्त दी गयी हुई आहुति। यथा-'स्वधासङ्ग्रहतत्पराः'। (रघु०१।६६) और भी-'पितृभ्यः स्वधा'।

स्वयंवर—क्षत्रिय राजा अपनी युवती कन्या का विवाह रचाने के लिए देश-विदेश के राजकुमारों को आमन्त्रित करते हैं। राजकुमारी उनमें से अपने योग्य वर का वरण करती है, यही स्वयंवर का क्रम है।

स्वरित—यह तीसरा स्वर है, आदिम दो स्वर हैं-उदात्त और अनुदात्त।

स्वर्ग—नन्दनवन, कल्पवृक्ष, विमान, अप्सराओं से युक्त देवलोक।

स्वस्ति—क्षेम, कल्याण, आशीर्वाद, जय-जयकार, प्रणाम। यथा-'स्वस्त्यस्तु ते'। (रघु०५।१७)

स्वागत–शुभागमन, सुखद आगमन। यथा–'प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार'। (पूर्वमेघ०४)

स्वाहा–देवताओं को आहुति देते समय प्रयुक्त होने वाला मन्त्र। इसी अर्थ में श्रौषट्, वौषट् तथा वषट् का भी प्रयोग होता है।

स्मित–मुस्कानयुक्त, प्रफुल्लित। यथा–'सप्तर्षिभिस्तान् स्मितपूर्वमाह'। (कुमार०७।४७)

'ह'

हंस–राजहंस, मराल। यथा–'हंसो हि क्षीरमादत्ते'। (शा०६।२७)

हण्डा–चेटी आदि स्त्रियों में प्रयुक्त होने वाला शब्द। इसी प्रकार के शब्द ये भी हैं—हंजे, हला आदि।

हनुमान्–पवन तथा अंजना पुत्र, महावीर, बुद्धिमानों में श्रेष्ठ तथा रामभक्त।

हरताल–एक पीतवर्ण वाला खनिज द्रव्य। उस समय तिलक आदि में इसका प्रयोग किया जाता था। इसे ताल, आल, तालक भी कहते हैं। विशेष गुण-धर्म के लिए निघण्टु ग्रन्थों का अवलोकन करें।

हरिचन्दन–एक प्रकार का पीला चन्दन। यथा–'ततः प्रकोष्ठे हरिचन्दनाङ्किते'। (रघु०३।५९) स्वर्ग के पाँच वृक्षों में से अन्यतम।

हरिण–बारहसिंगा, मृग-विशेष। 'अपि प्रसन्नं हरिणेषु ते मनः'। (कुमार०५।३५)

हरिश्चन्द्र–सूर्यवंश के त्रिशंकु राजा के पुत्र, जो सत्यवादी तथा परमधार्मिक थे।

हर्म्य–प्रासाद, महल, धनिकों का निवासस्थान। (देखें–रघु०६।४७; कुमार०६।४२; ऋतु०६।११)

हल्लीश–अठारह प्रकार के उपरूपकों में से एक। एक प्रकार का एकांकी नाटक, जिसमें प्रधानतः आठ नायिकाएँ होती हैं, जो नाच-गाना में भाग लेती हैं।

हवनकुण्ड–यज्ञ करने के लिए कुण्ड अथवा वेदी का निर्माण किया जाता है। जिसका प्रमाण यज्ञीय पद्धतियों मे मिलता है।

हविर्भुज–अग्नि। प्रत्येक यज्ञ की अग्नि का भिन्न-भिन्न नाम होता है। यथा–'अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम्'। (रघु०१।५६)

हव्यवाह–हवन की हुई आहुतियों का देवताओं तक पहुँचाने वाला, अग्नि।

हस्तावाप–हथरखा, दस्ताना, हस्तत्राण, हाथों को ऊपर से लगाकर भोजन पदार्थों का निषेध करना। यथा–'हस्तावापे पुनर्दद्यात्'। (सूक्ति)

हस्तिनापुर–राजा हस्तिन् द्वारा बसाया गया नगर। इसके अन्य नाम–गजाह्वय, नागसाह्वय, नागाह्व, हास्तिन।

हस्तिनी–कामशास्त्र में वर्णित चार प्रकार की स्त्रियों में से एक। चार प्रकार की स्त्रियों की संज्ञाएँ–पद्मिनी, शंखिनी, चित्रिणी तथा हस्तिनी हैं।

हाव-भाव–पुरुषों को आकृष्ट करने के लिए की जाने वाली स्त्रियों की विशिष्ट चेष्टाएँ। जिन्हें नाज-नखरा कहते हैं।

हिमालय–हिम का घर, पर्वत-विशेष, पार्वती के पिता। यथा–'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः'। (कुमार०१।१ तथा पूर्वमेघ०५२)

हिरण्यगर्भ–वह ज्योतिर्मय अण्ड (पिण्ड) जिससे ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई और ब्रह्मा ने सम्पूर्ण जगत् की रचना की।

हूण–एक अशिक्षित विदेशी जाति। यथा–'तत्र हूणावरोधानाम्'। (रघु०४।६८)

हेमकूट–हिमालय के उत्तर में स्थित एक पहाड़ का नाम।

हेममाली–खर राक्षस का सेनापति। माया और विश्रवा का पुत्र। यह शूर्पणखा का भाई था। शूर्पणखा की नाक कट जाने पर यह राम से युद्ध करने गया था। अन्त में श्रीराम ने इसे मार डाला।

हैयङ्गवीन–पिछले दिन के दूध से निकाला गया नवनीत (मक्खन)। यथा–'हैयङ्गवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान्'। (रघु०१।४५)

हैहय–यदु के प्रपौत्र का नाम। एक देश और उसके अधिवासियों का नाम। (देखें–रघु०११।७४)

होता–होम करने वाला। इन प्रधान ऋत्विजों के नाम इस प्रकार हैं–१. होता, २. अध्वर्यु; ३. उद्गाता और ४. ब्रह्मा।

रघुवंशमहाकाव्यम्

(श्लोकानुक्रमणिका)

कुमारसम्भवमहाकाव्यम्

(श्लोकानुक्रमणिका)

मेघदूतम्

(श्लोकानुक्रमणिका)

ऋतुसंहार

(श्लोकानुक्रमणिका)

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

(श्लोकानुक्रमणिका)

विक्रमोर्वशीयम्

(श्लोकानुक्रमणिका)

मालविकाग्निमित्रम्

(श्लोकानुक्रमणिका)

सम्पादकस्य परिचयः

माद्यद्दुद्दामविघ्नौघद्विरेफकुलतर्जकम् ।
सिन्दूरारुणशोभाऽऽढ्यं स्मेरास्यं हृदि भावये ॥ १ ॥

राराज्यते भारतभूर्महार्है रत्नैरशेषैरभितः प्रकीर्णैः ।
यत्रागमाय स्पृहयन्ति देवाः स्वर्गीयसौख्यानि विहाय सद्यः ॥ २ ॥
तत्रैकदेशे यशसां निधानो विराजते **गुर्जरदेश** एषः ।
यत्राभवद् **गौतमगोत्रजन्मा सत्सामवेदी कुथुमाऽऽख्यशाखी** ॥ ३ ॥
लोकोत्तरज्ञानविकीर्णभाभिर्भास्वत्तनुः कोऽप्यवताररूपः ।
श्रीमान् सुधीर्नीतिविदां वरिष्ठः षट्शास्त्रवेत्ता विबुधावतंसः ॥ ४ ॥
चन्द्रश्रिया भूषितसर्वकायः **श्रीचन्द्रनामा** प्रथितस्त्रिपाठी ।
युगाब्धिरामैकशकाब्दमध्ये विख्यातकीर्तिर्नृपतिर्बभूव ॥ ५ ॥
उद्यानचन्द्रः सुजनाभिरामः **कूर्माचलीयो**ऽभिनवः स चन्द्रः ।
राज्ये तदीये **शुकदेवनाम्ना श्रीचन्द्रदेवः** स्वसुतेन साकम् ॥ ६ ॥

कूर्माद्रिर्मुकुटे निसर्गरुचिरे **कोसी-सुँवालाऽऽवृते**
श्रीग्वल्ला-गणनाथ-सैममहिते नन्दाऽऽख्यदेव्या युते ।
देवैः सिद्धमहर्षिभिर्बुधजनैः संसेविते प्राक्तनैर्-
अल्मोडानगरे चिराय ससुखं वासं स्वकीयं व्यधात् ॥ ७ ॥

धरामूर्ध्नि रम्ये हिमाद्रेः प्रसारे समेषां जनानां मनोदृग्विहारे ।
चिरात्पावने सर्वदा निर्विकारे निवासं स चक्रेऽथ चौसार-सारे ॥ ८ ॥
स्वीकृत्य वासं नृपतेर्निदेशान्मन्त्रागमज्ञाननिधिः प्रभावान् ।
अभ्यर्च्य देवान् कुलदेवतां स तत्रत्य भूमिं सजलामकार्षीत् ॥ ९ ॥
प्रसन्नेन राज्ञा तदा भूसुराय प्रपूज्याथ भूमिं धनं पुष्कलञ्च ।
समाहूय दत्तं सपुत्रेण तेन श्रितं सादरं मत्सभापण्डितेन ॥ १० ॥
सम्मानसीमामधिरुह्य धीरः सद्धर्मनिष्ठः श्रुतिशास्त्रसम्मतान् ।
गृह्यान् बहून् यज्ञविधीन् विधाय पुत्रे समारोप्य गृहस्य भारम् ॥ ११ ॥
विशेषसंन्यासविधानतो यः संन्यस्तदेहः स चिरं चकास्ति ।
वंशे तदीये गुणगौरवाऽऽढ्ये जाता अनेके विदुषां वरेण्याः ॥ १२ ॥
तस्मिन्सुधांशुविमले सुकुले यशस्वी श्रीमान्सतां गुणधरो **मुरलीधरो**ऽभूत् ।
यस्यावदातचरितान्यधुनापि मर्त्या आदर्शवद् व्यवहरन्ति न विस्मयोऽत्र ॥ १३ ॥
तस्माद् वभूव सुदिने स्वकुलावतंसः प्राज्ञः प्रतापविमलो द्विजकर्मनिष्ठः ।
पित्रोर्मनोरथशतैः सुकृतैरनेकैर्मान्यो **मनोरथ** इति प्रथिताभिधानः ॥ १४ ॥
जातास्ततो बलपराक्रमशीलयुक्ताः पुत्राः कुशाग्रधिषणास्त्रय एव योग्याः ।
तेष्वग्रिमः सुविदितो **हरिदत्तनामा** स्वल्पायुरेव सुरलोकमगात्स्वपुण्यैः ॥ १५ ॥
तस्यानुजः सच्चरितः सुरूपः **श्रीकृष्णनामा** महनीयकीर्तिः ।
भाषानुरागात्स गतो विदेशं स्निग्धान् स्वकीयान्प्रविहाय बन्धून् ॥ १६ ॥

भ्राता चित्रकलासु तस्य निपुणः सङ्गीतवित्सात्त्विकः
सद्वैद्यः सुकृती परोपकरणो गृह्यागमे पारगः ।
नित्यं शम्भुपदारविन्दयुगले श्रद्धासमृद्धाशयस्-
तारादत्तबुधस्त्रिपाठिकुलजः सम्मानसीमाञ्चितः ॥ १७ ॥

पत्नी तदीया शुभशीलयुक्ता **खष्टीति** नाम्नी पतिभक्तिनिष्ठा ।
कन्याऽथ **पाण्डेयशिरोमणेः** सा प्रासूत कन्ये सुतमेकमीड्यम् ॥ १८ ॥

दिवङ्गता पञ्चखशून्ययुग्मे सद्वैक्रमे श्रावणमासि कृष्णे ।
गौरीतिथौ पुण्यवती शनौ सा कुटुम्बहार्दं सहसा विहाय ॥ १९ ॥

त्रिरामशून्यद्वयवैक्रमेऽब्दे माघे सिते सूर्यतिथौ मनीषी ।
तारादिदत्तः सुकृतैरनेकैः स्वर्ङ्गगतः शम्भुपदैकनिष्ठः ॥ २० ॥

तत्सूनुर्जननीवियोगवशतः स्वाध्यायबुद्ध्या गृहात्
काशीम्प्राप्य भिषग्गुरोरधिजगे **श्रीलालचन्द्राभिधात्** ।
आयुर्वेदमितः परं गुरुवरात् **खिस्तेऽन्ववायोद्भवाद्**
ब्रह्मानन्दबुधोऽपठत् सुललितां साहित्यविद्यामपि ॥ २१ ॥

ज्यौतिःशास्त्रमधीत्य तत्र विविधा ग्रन्थाः कृताः प्राक् ततो
मान्यानां गुणिनां **महाकविवरश्रीशेवडे** धीजुषाम् ।
सान्निध्यादुपदेशसारवचनैर्ज्ञानप्रदैर्नित्यशः
प्रौढिम्प्राप्य चकास्त्ययं बुधवरः काश्यां सुधीमण्डले ॥ २२ ॥

सोऽयं सुधीमण्डललालिताङ्घ्रिर्विद्यावदातो यशसा समृद्धः ।
ग्रन्थाननेकान् क्रमशो विरच्य ख्यातिङ्गतः सद्विदुषां समाजे ॥ २३ ॥

तत्पत्नी सकलाकलासु कुशला **ताराऽभिधा** श्रीमती
पुत्रान् सा सुषुवे क्रमेण चतुरो द्वे कन्यके प्राक्ततः ।
पुत्राः संस्कृतवाङ्मयं पुनरिमे पाश्चात्यविद्यामपि
श्रीविश्वेशकृपाकटाक्षवशतः सर्वे पठन्त्यादरात् ॥ २४ ॥

कन्या श्री**विमला**प्रसादसुमुखी तत्पूर्वजा **निर्मला**
तत्पश्चान्**मदनो** ललामचरितः साहित्यशास्त्रे सुधीः ।
प्रेयाञ्श्री**जयकृष्ण**संज्ञकसुतो योगादिसद्दर्शने
शालीनो लघु **सञ्जयोऽथ** **तरुणो** जीयासुरेतेऽखिलाः ॥ २५ ॥

कूर्माद्रौ **नयनीसरोवरमिति** ख्यातञ्च यन्मण्डलं
तस्यैवास्ति समीपवर्तिसुमहद् **भीमाभिधानं** सरः ।
प्राक्तस्यास्ति **शिलावटीति** विदितो ग्रामोऽभिरामो द्विजै-
स्तस्मिन् **ब्रह्मकुटी** तदीयवसतिः पुष्पोच्चयैः शोभिता ॥ २६ ॥

त्रिपाठिकुलवर्य्याणां सदाचारपरायणा ।
सद्धर्मकर्मनिष्णाता राजिरेषा विराजताम् ॥ २७ ॥

कृतिनः कालिदासस्य कृतीनामावली नवा ।
सम्पादिता यथाशक्ति ब्रह्मानन्दत्रिपाठिना ॥ २८ ॥